सद्गुरवे नमः

सद्गुरु कबीर विरचित

बीजक

व्याख्याकार- अभिलाष दास

कबीर की वाणी दहकती आग है। उसमें किसी कूड़े-कचड़े का बचा रह जाना संभव नहीं है। उन्होंने जितने पद कहे हैं वे सब जीवंत हैं। उन्होंने कमरे के भीतर या पेड़ के नीचे बैठकर लिखा नहीं है, किन्तु जनता के बीच कहा है "दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।"

एकांत में लिखा लेख उतना प्राणवान नहीं होता जितना सभा या जनता में दिया गया व्याख्यान होता है। एकांत में तो वह लिखा जाता है जो उस समय मन में होता है, परन्तु जनमानस में वह बोला जात[illegible] सामयिक जनता की आवश्यकता होती है[illegible] सद्गुरु कबीर ने लिखने पर नहीं, कहने [illegible] किया। उन्होंने बारंबार दोहराया—"कहहिं [illegible] भाई साधो", "कहहिं कबीर पुकारि के" [illegible] कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो ले[illegible] इत्यादि। वे सदैव संतों से, अवधूतों से, पं[illegible] आम जनता से बात करते हैं। वे ईश्वर [illegible] बैठकर कलम नहीं चलाते, किन्तु आम जनत[illegible] बात करते हैं। वे किसी देव या ईश्वर क[illegible] लिए उससे बात नहीं करते, किन्तु आम [illegible] करते हैं। कबीर की दृष्टि कल्पित भगवान पर नहीं, प्रत्यक्ष इनसान पर है, परोक्ष परमात्मा पर नहीं अपरोक्ष आत्मा पर है। वे मनगढ़ंत स्वर्ग पर नहीं सजीव धरती पर दृष्टि रखते हैं।

मन की जो शक्ति सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है, परन्तु हमने तो अंधविश्वास को श्रद्धा नाम दिया है। लोगों को सत्यासत्य, जड़-चेतन एवं कर्तव्याकर्तव्य पर विचार करने की राय दी जाय तो वे इससे कतराते हैं। वे अपने मन की सुविधा के अनुसार किसी परंपरा-पोषित सड़ी-गली बात को मानकर तथा उसकी पूंछ पकड़कर चलना चाहते हैं। परन्तु यह निश्चित समझ लो जिसे बौद्धिक, चारित्रिक एवं आत्मिक संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा है उसे विचारवान बनना ही होगा।

सद्गुरवे नमः

सद्गुरु कबीर विरचित

बीजक

व्याख्याकार – अभिलाषदास

समर्पित

उन साधु-सज्जनों एवं देवियों के कर-कमलों में,
जो अपने मत के विरोधी बातों को सुनने
में भी सक्षम, निष्पक्ष विचारक
एवं सत्यान्वेषी हैं।

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ तथा आलोचक विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की सम्मति

मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि अभी तक मैं श्री अभिलाष साहेब जी की अनुपम टीका "पारख प्रबोधिनी" को पढ़कर उसके विषय में कुछ लिख नहीं पाया था। वास्तव में उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को प्रति प्राप्त करते ही, मैंने देख लिया था और सोचा था कि पूरा ग्रन्थ पढ़ जाने पर कभी अपने विचार प्रकट करूंगा। परन्तु अपना कार्यक्रम प्रायः व्यस्त रहने के कारण ऐसा आज तक भी नहीं कर पाया। पूर्ण ग्रन्थ अवश्य पढ़ जाऊंगा। मैंने जितना देखा है उसके आधार पर भी मैं कह सकता हूं कि प्रस्तुत कार्य बड़े मनोयोगपूर्वक सम्पन्न किया गया है। इसके अन्तर्गत जो कुछ भी कथन किया गया दिखता है वह तर्कसंगत एवं साधार लगता है जिस कारण मुझे आशा है यह कृति "कबीर बीजक" के गम्भीर अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण देन सिद्ध होगी।

बलिया
२-२-७०

आपका
परशुराम चतुर्वेदी

कबीरपंथ जगत के मूर्द्धन्य विद्वान
पंडित श्री रामेश्वरानंद साहेब जी की सम्मति

आपकी भेजी हुई बीजक टीका समय पर मिल गयी थी, प्राप्ति की सूचना राजादरवाजा वाराणसी को भेज दी गयी थी। पुनरपि अनेक धन्यवाद।

शिक्षण प्रारम्भ में श्री गुरुदयाल साहेब, श्री रामरहस साहेब तथा श्री पूरण साहेब के विचार से परिचित हुआ था। इसके उपरान्त श्री काशी साहेब के विचार भी यथामति मनन किया था। बाकी पारखी संतों के विचार बहुत कम जानने को मिले हैं, जिन लोगों के विचार पर दृष्टि करने का अवसर मिला है उनमें आपके विचार परम उदार प्रतीत हुए, आशा ही नहीं परम विश्वास है कि आप से साधु समाज को बड़ा लाभ होगा, इस समय भी है। टीका के कई अंशों पर दृष्टि पड़ी, प्रायः सर्वत्र सत्य, शिव, सुन्दर का साक्षात्कार-सा हुआ। स्थाली पुलाक न्याय से मैं मानता हूं कि इस टीका से पारखी जगत सर्वाधिक लाभान्वित होगा। ब्रह्म, राम, हरि आदि शब्दों में समन्वय दृष्टि स्तुत्य है। भाषा प्रांजल तथा मनोरम है, विमत दार्शनिकों पर कटाक्ष कोमलता और शिष्टता के साथ है। आचारांश अधिक प्रशंसनीय है। भावव्यंजना में राग-द्वेष की तीव्रता का अभाव नितांत आकर्षक है। ग्रंथ-रत्न भेजकर मुझे आपने प्रेमानुगृहीत किया है।

पानी दरवाजा, बड़ोदा
१२-३-७०

आपका
रामेश्वरानंद

दो शब्द

पारख सिद्धान्त के गम्भीर चिंतक, ज्ञान-वयोवृद्ध, विरक्त संत श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी के उद्‌गार

सर्व के सच्चे सुहृद, विनम्र, निष्पक्ष विवेक-युक्त सत्य सिद्धान्त का चित्रण करने में अद्‌भुत लेखक साहेब जी ने सुवर्ण-कसौटी एवं तुलनात्मक दृष्टि से मूल ग्रन्थकर्ता गुरुवर कबीर देव के हृदिभाव को खूब ही तौला है। इसमें जो आपका अथक प्रयत्न है वह अनन्त साधुवाद के योग्य है। एक तो इसकी टीका अविभंग युक्तियुक्त है, दूसरे गुरुजन सम्मत है, तीसरे असद् मत का निरसन करते हुए भी विनम्रता-सहित जो सर्वोचित मर्यादा रक्षत्व के दृष्टिकोण से आपका प्रवचन हुआ है वह तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। मैं क्या, कोई भी पाठक टीका पढ़ते-पढ़ते इसके रस से जब ज्ञानमग्न होगा तब वह भी मुक्तकण्ठ से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि हां, टीका द्वारा बहुत कुछ मूल के सद्‌भाव का समदर्शन किया गया है। टीका पढ़कर सिद्धान्त-रहस्य का चित्र हृदयपट पर आकर्षक ढंग से उभर आता है। उसमें श्रद्धा, विवेक तथा सत्संग जोड़ दिया जाय तो वह सजीव होकर पाठकगण के आदर्श-जीवन का प्रकाशस्तम्भ बन सकता है।

सुस्वादिष्टता के साथ सुपाच्य तथा सुपाच्य के साथ बलप्रद व्यंजन हो तो क्या पूछना! प्रस्तुत टीका कुछ ऐसे ही बन पड़ी है। यह प्रियकर है, ग्राह्य है तथा मानवमात्र के लिए कल्याणकारक है। मानवमात्र के कल्याण की पुनीत दृष्टि तथा उदार चेतृत्व भावना से प्रेरित होकर एवं सक्रिय तत्परतापूर्वक टीका लिखकर तथा प्रकाशन कराकर जनता के सामने जो यह अलौकिक सिद्धान्तव्यंजन उपस्थित किया गया है, इसके लिए पाठकवृन्द का स्वाभाविक (मेरे बिना कहे ही) टीकाकार की प्रतिभा और समाज के प्रति उनकी अनन्त उपकारता सोचकर साधुवाद की ओर ध्यान गये बिना रह नहीं सकता।

प्रस्तुत टीका की भाषा में धारावाहिकता है। कथनशैली में स्पष्टता तथा मधुरता है। आलोचनात्मक होते हुए भी सर्व शुभ मर्यादाओं का संरक्षण है। सबके दोषों का परिहार करते हुए, गुणों का समादर है। सामाजिक ऐक्य तथा उन्नति पर गम्भीर चिंतन है। भौतिकीय साम्यवाद से हटकर चैतन्यपक्षीय साम्यवाद का समर्थन है। सद्‌गुरु कबीर के मौलिक पारख-सिद्धान्त का स्पष्ट निदर्शन है। मानव-जीवन का जो परम या चरम लक्ष्य है—विश्वसंघर्ष ज्वाला से रहित परमशान्ति—पारख—ज्ञानस्वरूप की स्थिति; उसका इसमें विशद विवेचन हुआ है।

मननकर्ताओं से मेरा अन्तिम निवेदन यह है कि ग्रन्थमूल एवं टीकाकार के सद्भाव पर ध्यान देकर इसका मनन करें तथा सर्वगुणग्राही बनकर स्वयं तरण-तारण बनें।

'दो शब्द ही लिख दीजिये' इस प्रेम भरे सद्भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने हृदिभाव को यथा-तथा कह डाला है। आशा है टीकाकार साहेब जी इतने ही में बहुत कुछ सन्तोष मानेंगे और ग्रन्थ मनन करने वाले साधु-सज्जन भी प्रमुदित होंगे।

टीकाकार के सुशील, विनम्र प्रेमयुक्त
सद्भावना का पोषक
प्रेमदास

महामानव-अभिनन्दन

ऐ हो उदार चेता, मानव महान प्रानी।
तू ही तो सर्व हेता, अतिशय महान ज्ञानी॥ टेक॥
तू ही तो ऋषि मुनी हो, मन्थन विवेक कर कर।
मथ मथ के घीव काढ़े, विज्ञान ज्ञान खानी॥ १ ॥
तू ही तो आगे शोधा, जड़भास को निरोधा।
होकर कबीर रविवत, तू ही महान दानी॥ २ ॥
तेरी उदार दृष्टी, सबके लिये सुअवसर।
सब के ही प्रति सुमंगल, सद्भाव प्यार आनी॥ ३ ॥
तू सत्य शान्त पावन, निर्मल रुचिर सुहावन।
व्यक्तित्व, तेरी रचना, उत्थान सब प्रदानी॥ ४ ॥
तू ही विशाल होकर, गुरु संत रूप दर्शे।
तेरी ही शरण जाकर, जन प्रेम नित अघानी॥ ५ ॥

भूमिका

१. सद्गुरु कबीर की महत्ता

हिन्दी संत-कवि ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत कवियों में कबीर का अन्यतम स्थान तो है ही, पूरे विश्व की संत-परंपरा में भी वे शीर्ष स्थानीय हैं। उनका अवतरण मध्यकाल में हुआ था। यह वह काल था जब उदात्त भारतीय चिन्तन सरणी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवहमान धारा से हटकर परंपरावाद एवं शास्त्र-प्रमाण की संकीर्ण पंकिल भूमि तक ही सिमट गयी थी। इस काल में धार्मिक संकीर्णता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक उन्माद एवं सामाजिक भेदभाव चरमसीमा पर थे। तत्कालीन शासकों के साथ मिलकर पंडे-पुजारी और मुल्ला-मौलवी सामान्य जनता का हर तरह से शोषण कर रहे थे। आम जनता की स्थिति "दो पाटन के बीच में, साबुत गया न कोय" जैसी थी। रक्षक ही भक्षक बन रहा था।

मध्ययुग के उस संक्रमण काल में अद्भुत प्रतिभा, साहस एवं व्यक्तित्व लेकर कबीर का अवतरण हुआ। उनकी मर्मभेदी दृष्टि धार्मिक पाखंड एवं अंधविश्वासों के कुहासों को चीरकर शाश्वत सत्य एवं मानवता को देख लेने में पूर्णरूपेण सक्षम थी। धार्मिक जड़ता, जाति-व्यवस्था एवं वर्णाभिमान के समर्थकों को उन्होंने खुली चुनौती दी और धार्मिक स्वतंत्रता तथा मानव-समानता पर आधारित समाज-संरचना पर बल दिया। किसी भी प्रकार के असत्य और पाखंड के साथ समझौता करना तो वे सीखे ही नहीं थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रानुमोदित परंपरा-पोषित सुखद मार्ग को नहीं अपनाया, अपितु मानवता के उद्धारार्थ सत्य के कंटीले रास्ते को चुना और उस पर वे इकला चल पड़े। उनकी दृष्टि में सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनका साध्य था और साधन भी।

२. जन्मकाल और जीवन-वृत्त

सद्गुरु कबीर ने अपना कोई जीवन-वृत्त नहीं लिखा है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निर्धारित हुआ है कि उनका जन्म विक्रम संवत १४५५ में हुआ था और मृत्यु वि० सं० १५७५ में। परन्तु जिस तरह श्रद्धेया मां सीता के माता-पिता का पता नहीं चलता, उसी तरह सद्गुरु कबीर के माता-पिता का भी पता नहीं चलता। जिस तरह राजा जनक ने सीता जी को शिशुरूप में खेत में पाया था, उसी तरह नीरू-नीमा नामक जुलाहे दंपती ने कबीर को लहरतारा तालाब के किनारे पाया था। सीता जी एवं कबीर साहेब—दोनों के माता-पिता का पता न चलने के कारण श्रद्धालुओं द्वारा दोनों के जीवन में चमत्कारपूर्ण कथानक जोड़कर दोनों को अलौकिक बताया गया, यद्यपि ऐसा करना सत्य का अपलाप करना है। भले ही श्रद्धेयां मां सीता एवं सद्गुरु कबीर दोनों के माता-पिता का पता न चलता हो, परन्तु दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं। लेकिन यह ज्वलंत सत्य है कि हर इनसान मां-बाप से ही पैदा होता है। नीरू-नीमा जुलाहे दंपती के यहां पाले-पोषे

जाने के कारण कबीर साहेब के मन में किसी प्रकार की हीन-भावना बिलकुल ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने अपने को अनेक जगह जोलाहा कहकर ही व्यक्त किया है, यथा 'जोलहा दास कबीरा हो', 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा' आदि। अपनी प्रारंभिक युवावस्था तक वे कपड़ा बुनने का काम करते रहे हों, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

३. वे विरक्त संत थे

समस्त कबीर साहित्य में सद्गुरु कबीर का विरक्त रूप ही झलकता है, परन्तु उनके नाम से पायी जाने वाली अनेक वाणियां जो रूपकों एवं प्रतीकों में कही गयी हैं तथा श्लेषात्मक हैं, उनके वास्तविक अर्थ को न समझकर उनका शाब्दिक अर्थ करते हुए अनेक लेखकों ने कबीर साहेब को गृहस्थ ही नहीं सिद्ध किया बल्कि किसी ने तो उनकी दो पत्नियां होने का फतवा दे दिया, परन्तु समस्त कबीरपंथ के साथ-साथ अनेक विद्वान जो उनकी वाणियों के आध्यात्मिक रूपक एवं कथन-शैली को समझते हैं, वे इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। कबीर-वाणी में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'लोई' शब्द जो आम जनता तथा 'लोग' का वाचक है और जो इसी अर्थ में कबीर के पूर्ववर्ती गोरखनाथ तथा नाथपंथियों की वाणियों में भी प्रयुक्त हुआ है, उस 'लोई' शब्द को घसीटकर अनेक विद्वानों ने उसे कबीर की पत्नी बना डाला। परन्तु यह ज्वलंत सत्य है कि कबीर साहेब बाल-ब्रह्मचारी आजीवन विरक्त संत थे।

४. उनका राम

कबीर-वाणी में जितनी बार 'राम' शब्द का प्रयोग हुआ है, उतनी बार किसी और शब्द का नहीं। अकेले बीजक में इसका प्रयोग लगभग १७० बार हुआ है। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि जहां इसका प्रयोग घट-घटवासी चेतन तत्त्व, स्वसत्ता के अर्थ में है वहां पर यह विधिपरक है और जहां आत्मतत्व से भिन्न किसी लोकवासी के लिए है वहां निषेधपरक। दाशरथि राम का अनेक स्थलों पर उल्लेख करते हुए भी कबीर ने कहीं पर भी उन्हें अपना इष्ट या उपास्य नहीं माना है, बल्कि दाशरथि राम को उपास्य मानने वालों की उन्होंने आलोचना की है। यथा—"दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[१] इसी तरह अनेक पदों में भी देखा जा सकता है। यहीं पर स्वामी रामानन्द से उनका विरोध भी दिखाई पड़ता है। किंवदंती के अनुसार स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु माने जाते हैं। हो सकता है अपने प्रारंभिक साधनाकाल में कबीर ने स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व स्वीकारा हो, परंतु आगे चलकर सैद्धांतिक अन्तर पड़ने से उन्होंने उनकी आलोचना की है। क्योंकि स्वामी रामानन्द दाशरथि राम के प्रेम में मतवाले थे[२] और कबीर साहेब किसी शरीरधारी को संसार का हर्ता-कर्ता मानकर उसे अपना उपास्य मानने एवं उसके प्रेम में मतवाले रहने के सख्त खिलाफ थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं भी रामरस पीने

---

१. शब्द-१०९।

२. रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके। (शब्द ७७)

की सलाह दी है, यथा—कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे (बीजक-शब्द-२०)। परन्तु यहां उनका रामरस दाशरथि राम या किसी कल्पना लोकवासी राम का प्रेमरस नहीं, अपितु आत्माराम, जो स्वचेतन सत्ता के रूप में प्रत्येक घट में विराजमान है, उसका प्रेमरस है। कबीर-वाणी के अध्येताओं को इस अन्तर को ख्याल में रखना चाहिए।

५. वेद-कितेब पर उनकी दृष्टि

लोक प्रचलित धारणा है कि कबीर साहेब ने वेद-शास्त्रों का केवल खंडन ही किया है, परन्तु यह धारणा पूर्णतः सही नहीं है। पहले यह याद रखना होगा कि कबीर साहेब किसी के खिलाफ नहीं थे, यदि खिलाफ थे तो अंधविश्वास, पाखंड एवं असत्य के। जब समाज के मार्गदर्शक कहे जाने वाले मुल्ला और पंडित समाजहित-विरोधी पाखंडपूर्ण अलीक धारणाओं को वेद-कितेब समर्थित बताकर एवं उन्हें जनसमाज पर जबर्दस्ती थोपकर जनता को गुमराह कर रहे थे, तब कबीर साहेब को कहना पड़ा—"नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना" (शब्द-११३), "वेद-कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा" (शब्द-३२) आदि। बीजक में 'वेद' शब्द ५२ बार उल्लिखित हुआ है और अनेक जगह आदर के साथ भी—यथा—"लोक वेद मों देउँ देखाई" (रमैनी-३७), 'आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव' (साखी-१३१), 'जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय। सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय' (साखी-१२३) आदि। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि कबीर साहेब ने आंख मूंदकर कहीं भी वेद-कुरान का समर्थन नहीं किया है।

६. शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण

तथाकथित ईश्वर और ईश्वर-वाणी के नाम पर अंधविश्वास, भ्रम एवं पाखंड फैलाकर मानव समाज का वंचन तो किया ही जा रहा था, मानव-मानव के बीच ईर्ष्या, घृणा एवं सांप्रदायिक भेदभाव की दीवार खड़ी की जा रही थी। अदृश्य ईश्वर के नाम पर प्रत्यक्ष ईश्वर इनसान के खून की होली खेली जा रही थी और निर्जीव पानी-पत्थर के सामने सजीव प्राणियों की बलि दी जा रही थी। कबीर की अन्तरात्मा यह सब देखकर तिलमिला उठी। धर्म के ऐसे ठेकेदारों को उन्होंने आड़े हाथों लिया। परन्तु कबीर की अन्तरात्मा इस बात से सबसे ज्यादा दुखी थी कि ईश्वरीय-वाणी का पाखंड रचकर पुरोहितों द्वारा समाज के विशालतम अंग को अछूत तथा शूद्र घोषितकर उसके समस्त मानवीय अधिकारों से उसे वंचित किया जा रहा था। तथाकथित नीची मानी गयी जाति में पैदा होने से कोई मनुष्य नीच, अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज है, इसलिए उसे अमुक-अमुक क्षेत्र में उन्नति करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा फतवा देना जघन्य अपराध है और यह अपराध समाज के मुट्ठीभर तथाकथित उच्चवर्ग के लोग ईश्वर और ईश्वर-वाणी का आधार लेकर हजारों वर्षों से करते चले आ रहे थे। कबीर साहेब ने इसका खुलकर विरोध किया और कहा मानव समाज में उत्पन्न सारे भेदभाव घृणित स्वार्थ बुद्धि की देन हैं। उनकी दृष्टि में मानव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि न होकर केवल मानव है और मानव मात्र को सब दिशा में उन्नति करने का समान अधिकार है।

७. विश्वसत्ता की समझ

ज्यादातर धार्मिकों ने संसार को समझने के लिए विवेक-बुद्धि का नहीं, अपितु भावुकता एवं श्रद्धा का सहारा लिया है। इसलिए संसार के बारे में उनका दृष्टिकोण एवं चिंतन सत्य से बहुत दूर चला गया है। वस्तुतः संसार को समझने के लिए हमें संसार में ही झांकना होगा। संसार जड़-तत्त्वों के असंख्यात परमाणुओं का संव्यूहन है। जड़ द्रव्यों की स्वभावसिद्ध गतिशीलता से ही यहां नानाविध वस्तुओं के उत्पाद-विनाश अनवरत होते रहते हैं और इस प्रकार संसार अबाध गति से निरंतर चल रहा है। जड़ दृश्यों के स्वयंसिद्ध गुण-धर्मों को न समझकर उनके संचालन के लिए किसी पृथक सुप्रीम सत्ता की कल्पना करना वस्तुतथ्य एवं सत्य से दूर हो जाना तथा अन्धकार में हाथ-पैर मारना है। जड़ द्रव्यों की न तो किसी काल-विशेष में नये सिरे से सृष्टि होती है और न ही प्रलय। संसार सृष्टि-प्रलय से रहित अनादि-अनंत है। कबीर साहेब की दृष्टि में संसार मन का प्रतिबिम्ब एवं गंधर्वनगर की भांति असत्य न होकर अपने क्षेत्र में ठोस एवं सत्य है। हां, संसार से हमारा संबंध औपाधिक एवं स्वप्नवत अवश्य है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा है—"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार। तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार" ।। र०सा० ६० ।।

८. माया की परिभाषा

साधारण जनता ही नहीं विद्वत जगत में भी यह धारणा घर कर गयी है कि माया दुस्तरा है, वह अघटित घटना पटीयसी तथा दुरत्यया है। दार्शनिक जगत में तो माया की ऐसी उलझी हुई व्याख्या की गयी है कि वह अबूझ पहेली बनकर रह गयी है। माया को किसी ईश्वर की ऐसी शक्ति बतायी गयी है कि उससे पार पाना बहुत ही मुश्किल है। जिस मनुष्य पर किसी प्रभु की कृपा हो वही माया से बच सकता है, दूसरा नहीं। इस सम्बन्ध में कबीर साहेब का दृष्टिकोण बहुत ही सरल, सटीक और सहज बोधगम्य है। उन्होंने कहा कि 'संतो आवै जाय सो माया।' वस्तुतः मनुष्य का मन जिसमें मोहित हो जाय वही उसके लिए माया है। मन का मोह ही माया है और माया मन का ही स्वरूप है। बीजक के ५९ वें शब्द में माया का बहुत ही सटीक चित्रण कबीर साहेब ने किया है। माया से बचने के लिए किसी प्रभु की कृपा नहीं, अपितु विवेक-विचार की आवश्यकता है। इसके लिए साखी १०४ से १०७ तक की व्याख्या देखें।

९. बीजक उनका सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीजक के अतिरिक्त कबीर साहेब के नाम से प्रचलित अन्य वाणियां उनके द्वारा ही कही गयी हैं, क्योंकि उनमें प्रक्षेपों की भरमार है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि १२० वर्ष के लम्बे जीवन में उन्होंने बीजक के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं है। बीजक के अतिरिक्त भी उनकी बहुत-सारी वाणियां हैं; परन्तु उनकी समस्त वाणियों में बीजक सर्वाधिक प्रामाणिक है। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त नाभादास जी महाराज ने कबीर साहेब की प्रशंसा करते हुए जो छप्पय कहा है, उसकी एक पंक्ति है—"हिंदू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।" रमैनी, शब्द और साखी का यह

क्रम किसी और कबीर-वाणी में नहीं, अपितु बीजक में ही है। बीजक ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कबीर साहेब का क्रांतिकारी स्वरूप पूर्णरूपेण उभरा है।

१०. बीजक पदों का गूढ़त्व और सूत्रत्व

बीजक में कबीर साहेब ने अपने नामवाची कबीर, कबिरा, कबीरा, कबिरन, कबीरन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया, स्पष्टरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ टीकाकारों के ख्याल से ये सभी शब्द एकार्थबोधक हैं और कबीर साहेब ने इन सबका प्रयोग अपने लिए ही किया है, केवल छंद प्रवाह बनाये रखने के लिए मात्राओं में हेर-फेर है। कुछ अन्य टीकाकारों के ख्याल से उपरोक्त सभी शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। परन्तु दोनों दृष्टि एकांगी हैं। उपर्युक्त सभी शब्द हर जगह कबीर साहेब के नाम एवं व्यक्तित्व से भिन्न अर्थ रखते हैं, ऐसी बात नहीं है, परन्तु हर जगह इन सबका एक ही अर्थ किया जाय तो पूरे अर्थ की संगति ही नहीं बैठ सकती। उदाहरणार्थ—भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरै उदास; कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई; कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय; झूठा खसम कबीरन जाना; कबिरा बनौरी गावै; तथा तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा आदि। केवल ८६ वें शब्द में १ बार 'कबिरा', ४ बार 'कबीरा' कहकर छठीं बार 'कहहिं कबीर' का प्रयोग हुआ है।

बीजक हमें बरबस ही सूत्र ग्रन्थों की याद दिलाता है, जिसमें छोटा-सा वाक्य बहुत बड़े अर्थगांभीर्य एवं भाव को छिपाये रहता है। बीजक में रूपक, प्रतीक, अन्योक्तिकथन, उलटवांसी शैली, कहीं पूर्वपक्ष की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए कहे गये वचन आदि होने से हर सिद्धांत के मानने वालों को अपने दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना के लिए जगह मिल जाती है।

११. बीजक की अनेक टीकाएं

देशी-विदेशी अनेक विद्वानों द्वारा बीजक को प्रामाणिक कबीर साहित्य मानकर उसकी अब तक दर्जनों टीकाएं हो चुकी हैं तथा आज भी होती जा रही हैं। बीजक की अब तक हुई अनेक टीकाएं ऐसी हैं जिनकी भाषा-शैली पुरानी होने से वह आज सबकी समझ में ठीक से नहीं आती। कुछ में तो अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट एवं भ्रामक हो गया है। और कुछ टीकाएं तो ऐसी हुई हैं जिनमें सारे पाखंड एवं कुरीतियों को जलाकर राख कर देने वाला कबीर का क्रांतिकारी विदग्धात्मक रूप ही ओझल हो गया है और वहां पर कबीर को परम्परापोषित भक्तकवि बनाकर रख दिया गया है तथा उन्हें किसी अदृश्य, अज्ञात शक्ति के आगे गिड़गिड़ाने वाला भावुक भक्त बना डाला गया है।

कोई भी ग्रन्थ चाहे वह मौलिक हो या टीका, यदि वह मनुष्य के आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास को न जगाकर उसे सदैव किसी दूसरे का सहारा पकड़ने एवं उसकी कृपा पाने के लिए रोने-गिड़गिड़ाने की सीख देता है, तो वह मानव समाज की उन्नति में सहायक न होकर बाधक ही बनेगा। इसके विपरीत जो ग्रंथ मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से उठाकर उसे मानवीय धरातल तक लाता है एवं परमुखापेक्षिता तथा परावलंबन की बैसाखी छुड़ाकर स्वावलंबन की ओर प्रेरणा देता है, वही मानव-समाज की

उन्नति में सहायक हो सकता है।

१२. बीजक की क्रांतिकारी टीकाएं तथा यह व्याख्या

कबीर साहेब के क्रांतिकारी विचार उभारने वाली सद्गुरु श्री रामरहस साहेब की भावात्मक टीका 'पंचग्रन्थी' तथा सद्गुरु श्री पूरण साहेब की व्याख्यात्मक टीका 'त्रिज्या' आदि से लेकर कई अन्य टीकाएं हुई हैं। इसी संदर्भ में पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की 'पारख प्रबोधिनी टीका' आज से बीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी और अब तक उसके चार संस्करण निकल भी चुके हैं। परन्तु बहुत दिनों से टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी यह महसूस कर रहे थे कि उस टीका का संशोधन कर उसे और सर्वांगीण, स्वाभाविक तथा समीचीन बनाया जाय। इसके लिए आवश्यक था पूरी टीका नये सिरे से पुनः लिखी जाय, लेकिन ऐसा करना श्रम तथा समय साध्य था। अनेक नये ग्रन्थों के सृजन तथा अन्य कारणों से यह कार्य काफी समय के लिए रोक देना पड़ा, यद्यपि उनके मन में इसकी रूपरेखा काफी पहले बन गयी थी। अंततः लगभग डेढ़ वर्ष के अथक परिश्रम से यह टीका 'पारख प्रबोधिनी व्याख्या' के नाम से १४ अक्टूबर १९८८ को लिखकर पूरी हुई। अधिक विस्तृत होने से यह टीका दो खंडों में रखी गयी है। रमैनी तथा शब्द प्रकरण प्रथम खंड में एवं ज्ञान चौंतीसा से साखी प्रकरण तक दूसरे खंड में।

कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो उसके सारे के सारे विचार सबको एक समान ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकते। प्रस्तुत टीका के लिए भी यही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह टीका मूल पदों के अधिकतम निकट रखी गयी है तथा उनके भावों को प्रकट करने में अधिक सक्षम है। वर्ण्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाणों से संयुक्त यह टीका इतना आकर्षक बन गयी है कि इसका पूर्ण समर्थन न करने वाले भी इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

इस व्याख्या के सभी प्रकरण के आदि-अंत में हेतु छंद के रूप में एक छंद तथा दोहा एवं फल छंद के रूप में एक छंद तथा चौपाई दिये गये हैं, जो प्रथम संस्करण से हैं। ये सभी छंद, दोहा तथा चौपाई परम श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी की रचना हैं।

टीकाकार-द्वारा टीका के प्रथम संस्करण के समय विस्तृत भूमिका लिखी गयी थी, जो पूर्व के चारों संस्करणों तक छपती रही और जो अब संक्षिप्त बीजक-टीका में छपी है तथा 'सन्त सम्राट सद्गुरु कबीर' के नाम से स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार में छपी है। अबकी बार पूरी टीका ही विवेचनात्मक एवं विस्तृत होने से वह भूमिका इस संस्करण में नहीं रखी गयी और टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी द्वारा मेरे लिए आज्ञा हुई कि इस संस्करण के लिए भूमिका लिख दी जाय। उनकी आज्ञा एवं कृपा पाकर यह विनम्र प्रयास किया गया है। आशा है यह व्याख्या सभी वर्ग के पाठकों के लिए समान उपयोगी तथा जाति, वर्ण एवं वर्ग विहीन समाज-संरचना की दिशा में प्रेरणादायी होगी और आध्यात्मिक बोध एवं शांति की प्राप्ति के लिए साधन बनेगी।

कबीर संस्थान, इलाहाबाद
५ नवंबर, १९८९

विनम्र
धर्मेन्द्र दास

विषयानुक्रमणिका

रमैनी

	विषय		पृष्ठ
	ग्रंथ की प्रस्तावना	......	३३
१.	अन्तर ज्योति शब्द एक नारी	......	,,
	जीव और जीव की इच्छा रूपी नारी गायत्री	......	४३
२.	जीव रूप एक अन्तर बासा	......	,,
	सृष्टि कहां से हुई और राम कौन है	......	४७
३.	प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ	......	,,
	परखकर जाल से बचने वाला ही निर्मल होता है	......	४९
४.	प्रथम चरण गुरु कीन्ह बिचारा	......	,,
	हंसदशा भ्रांतियों से परे है	......	५४
५.	कहलौं कहौं युगन की बाता	......	,,
	कल्पनाएं छोड़कर मन को शून्य करो	......	५८
६.	वर्णहु कौन रूप औ रेखा	......	,,
	सृष्टि अनादि तथा अनंत है	......	५९
७.	तहिया होते पवन नहिं पानी	......	,,
	तत्त्वमसि-विचार	......	६३
८.	तत्त्वमसी इनके उपदेशा	......	,,
	स्वयं बंधे देवताओं की उपासना से बन्धन नहीं कटेगा	......	६६
९.	बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता	......	,,
	वासनाओं का त्याग अमृतस्थिति है	......	६९
१०.	राही लै पिपराही बही	......	,,
	भ्रांति और विषय-वासनाओं की नींद तोड़ो	......	७२
११.	आँधरि गुष्टि सृष्टि भई बौरी	......	,,
	माया से बचो	......	७६
१२.	माटिक कोट पषाण को ताला	......	,,

	निस्सार भोगों को त्यागो	......	७९
१३.	नहिं परतीत जो यह संसारा	......	,,
	पुरोहितों की मानवता-विरोधी व्यवस्था की भर्त्सना	......	८३
१४.	बड़ सो पापी आहि गुमानी	......	,,
	अज्ञान-रात्रि में मनुष्य का भटकाव	......	८८
१५.	वोनई बदरिया परिगौ संझा	......	,,
१६.	चलत-चलत अति चरण पिराना	......	,,
	तुम स्वयं महान हो, अपने रामरूप का स्मरण करो	......	९१
१७.	जस जिव आपु मिले अस कोई	......	,,
	संशय-पशु को मारो	......	९४
१८.	अद्‌बुद पन्थ वरणि नहिं जाई	......	,,
	भ्रांति छोड़ो, राम में रमो	......	९७
१९.	अनहद अनुभव की करि आशा	......	,,
	मन के विकारों से हटकर अविनाशी राम में रमो	......	९९
२०.	अब कहु राम नाम अविनाशी	......	,,
	राम के ज्ञान से ही दुखों से छुटकारा है	......	१०२
२१.	बहुत दुःख दुख दुख की खानी	......	,,
	मोह-मन्दिर में मत घुसो	......	१०५
२२.	अलख निरंजन लखै न कोई	......	,,
	विषयसुख अल्प है, आत्मसुख नित्य है	......	१०९
२३.	अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता	......	,,
	तुम स्वयं सर्वोच्च सत्ता हो	......	११२
२४.	चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई	......	,,
	जिसे खोजते हो वह तुम स्वयं हो	......	११५
२५.	चौंतिस अक्षर का इहै विशेषा	......	,,
	निज चेतनस्वरूप को पहचानने वाला सर्वोच्च है	......	११७
२६.	आपुहि कर्ता भये कुलाला	......	,,
	संसार प्रकृति-पुरुषमय है	......	१२१
२७.	ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मण्डा	......	,,
	कर्म-पट बीनने वाला जीव-जोलाहा	......	१२२
२८.	अस जोलहा काहु मर्म न जाना	......	,,
	रजोगुण से उठकर स्वरूपज्ञान में स्थित होओ	......	१२४
२९.	बज्रहुँ ते तृण खिन में होई	......	,,

	अविनाशी का बोध पाखंड से बाहर है	......	१२८
३०.	औ भूले षट दर्शन भाई	......	,,
	क्या धर्मशास्त्रज्ञ होने का फल अहंकार, पाखंड और शोषण है?	......	१३१
३१.	सुमृति आहि गुणन को चीन्हा	......	,,
	विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र निरर्थक हैं	......	१३५
३२.	अन्ध सो दर्पण वेद पुराना	......	,,
	शास्त्रजाल का बन्धन	......	१३७
३३.	वेद की पुत्री सुमृति भाई	......	,,
	मोक्ष-विचार	......	१४२
३४.	पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई	......	,,
	विद्याभिमान तथा वर्णाभिमान का निराकरण	......	१४६
३५.	पण्डित भूले पढ़ि-गुनि वेदा	......	,,
	जीव ही राम तथा श्रेष्ठ है	......	१५१
३६.	ज्ञानी चतुर बिचक्षण लोई	......	,,
३७.	एक सयान सयान न होई	......	१५४
	आत्मसंतोष जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है	......	१५९
३८.	यहि बिधि कहौं कहा नहिं माना	......	,,
	सत्य संप्रदाय तथा जाति-पांति से ऊपर है	......	१६२
३९.	जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया	......	,,
४०.	आदम आदि सुधि नहिं पाई	......	१६६
	दुखमय संसार-समुद्र और सुखस्वरूप राम	......	१७०
४१.	अम्बु कि राशि समुद्र की खाई	......	,,
	अद्वैत-मीमांसा	......	१७४
४२.	जब हम रहल रहल नहिं कोई	......	,,
	स्वेच्छाचारिता का फल पतन	......	१७९
४३.	जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा	......	,,
	कुसंग तथा मन की मलिनतारूपी नरक से बचो	......	१८२
४४.	कबहुँ न भयउ संग औ साथा	......	,,
	संसार की नश्वरता तथा माया-मोह के खतरे के दर्शन	......	१८४
४५.	हरणाकुश रावण गौ कंसा	......	,,
४६.	बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई	......	१८८
४७.	जरासिन्धु शिशुपाल संघारा	......	१९३

मुसलिम मुल्लाओं से निवेदन २०२

४८. मानिकपुर कबीर बसेरी ...... ,,

४९. दर की बात कहो दरबेसा २०५

बन्धनों का मूल ममता २०८

५०. कहइत मोहि भयल युगचारी ...... ,,

स्वरूपस्थिति रहनी का विषय है २१२

५१. जाकर नाम अकहुवा रे भाई ...... ,,

परमतत्व को अपनी आत्मा से अलग खोजना भ्रम है २१५

५२. जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी ...... ,,

५३. महादेव मुनि अन्त न पाया २१७

देहधारी मरणधर्मा है २२०

५४. मरिगौ ब्रह्मा काशी को बासी ...... ,,

५५. गये राम औ गये लछमना २२२

विषयी जीवन की सारहीनता २२६

५६. दिन दिन जरै जलनी के पाऊ ...... ,,

स्वर्ग आकाश में नहीं, मन की पवित्रता में है २२९

५७. कृतिया सूत्र लोक एक अहई ...... ,,

सद्‌गुरु की असीम अनुकम्पा २३२

५८. तैं सुत मान हमारी सेवा ...... ,,

दृश्य से हटकर अपने द्रष्टास्वरूप में लौटो २३८

५९. चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी ...... ,,

विषय-वैराग्य २४०

६०. छाड़हु पति छाड़हु लबराई ...... ,,

धर्म, ईश्वर और शास्त्र पर विवेक २४४

६१. धर्म कथा जो कहतहि रहई ...... ,,

ऊंच-नीच-रहित मानव समान है २५०

६२. जो तू करता बर्ण बिचारा ...... ,,

६३. नाना रूप वर्ण एक कीन्हा २५७

काल्पनिक सिद्धियों का व्यामोह छोड़कर आत्म-परख करो २६४

६४. काया कंचन जतन कराया ...... ,,

मुख्य मानवीय-गुण विचार है २६९

६५. अपने गुण को अवगुण कहहू ...... ,,

	जीवन में सन्मार्ग और परोपकार की महत्ता	......	२७४
६६.	सोई हित बन्धू मोहि भावै	......	,,
	भक्ति क्या है ?	......	२८०
६७.	देह हलाय भक्ति नहिं होई	......	,,
	स्वरूपस्थिति सुख	......	२८३
६८.	तेहि वियोगते भयउ अनाथा	......	,,
	साधु-वेषधारियों का व्यामोह	......	२८७
६९.	ऐसा योग न देखा भाई	......	,,
	वाणी-सुधार	......	२९०
७०.	बोलना कासो बोलिये रे भाई	......	,,
	निर्लिप्तवाद का दिखावा	......	२९४
७१.	सोग बधावा जिन्ह सम कै माना	......	,,
	माया का आश्चर्यजनक तथा पतनकारी रूप	......	२९७
७२.	नारी एक संसारहि आई	......	,,
७३.	चली जात देखी एक नारी	......	३०१
	मानव की एकता मौलिक है, भेदभाव भ्रमजन्य है	......	३०५
७४.	तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया	......	,,
	मोक्ष के आदर्श बोधवान संत हैं, संसारी अवतार नामधारी नहीं	......	३०९
७५.	तेहि साहेब के लागहु साथा	......	,,
	विवेक-द्वारा माया से मुक्त होकर स्वरूप-राम में रमण	......	३१३
७६.	माया मोह सकल संसारा	......	,,
	स्व-स्वरूप की पहचान	......	३१६
७७.	एकै काल सकल संसारा	......	,,
	देहाभिमान की निन्दा	......	३२१
७८.	मानुष जन्म चूकेहु अपराधी	......	,,
	तुम्हारा लक्ष्य तुमसे अलग नहीं	......	३२४
७९.	बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी	......	,,
८०.	बहुतक साहस करु जिय अपना	......	३२८
	उपासना मलिन देवों की नहीं, निर्मल सन्तों की करो	......	३३१
८१.	देव चरित्र सुनहु हो भाई	......	,,
	सुख के लिए बनायी गयी दुनिया का व्यामोह	......	३३३
८२.	सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया	......	,,

राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षत्रियत्व पर विचार ३३८
८३. क्षत्री करे क्षत्रिया धर्मा ...... ,,
दुखदायी माया-मोह को छोड़ो ३४३
८४. ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार ...... ,,

शब्द

गुरु-भक्ति, माया-विरति तथा असंगता ३५३
१. सन्तो भक्ति सतोगुर आनी ...... ,,
सावधानी ही साधना है ३५९
२. सन्तो जागत नींद न कीजै ...... ,,
घर के झगड़े का सुलझाव ३६६
३. सन्तो घर में झगरा भारी ...... ,,
धार्मिक भ्रांतियों पर विचार ३६८
४. सन्तो देखत जग बौराना ...... ,,
माया के भटकाव से बचो ३७३
५. सन्तो अचरज एक भौ भारी ...... ,,
६. सन्तो अचरज एक भौ भारी ३७६
स्वस्वरूप-ज्ञान और सहज समाधि ३७८
७. सन्तो कहौं तो को पतियाई ...... ,,
अवतार-मीमांसा ३८२
८. सन्तो आवै जाय सो माया ...... ,,
व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा ३९४
९. सन्तो बोले ते जग मारे ...... ,,
हिन्दू, मुसलमान तथा मानव मात्र का एक ही रास्ता अहिंसा एवं संयम ४००
१०. सन्तो राह दुनों हम दीठा ...... ,,
पूजा के नाम पर हत्या करने वाले पुरोहितों की भर्त्सना ४०३
११. सन्तो पाँड़े निपुण कसाई ...... ,,
नाना मतों के भक्तों की मस्ती ४०६
१२. सन्तो मते मातु जन रंगी ...... ,,
माया-मोह की सारहीनता ४१६
१३. राम तेरी माया दुन्द मचावै ...... ,,

	संशय-छेदन	......	४२०
१४.	रामुरा संशय गाँठि न छूटै	......	,,
	भवसागर से अपने आप को बचाओ	......	४२६
१५.	रामुरा चली बिनावन मा हो	......	,,
	हठयोग की कल्पनाओं की परख	......	४३०
१६.	रामुरा झीझी जन्तर बाजे	......	,,
	पुरोहित-मीमांसा	......	४३३
१७.	रामहि गावै औरहि समझावै	......	,,
	अवतार-समीक्षा	......	४३९
१८.	राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो	......	,,
	राम-भजन	......	४४१
१९.	ये तत्तु राम जपो हो प्राणी	......	,,
	रामरस-पान	......	४४५
२०.	कोई राम रसिक रस पीयहुगे	......	,,
	तीर्थ, मंत्रादि के पाखंड एवं विषयों को छोड़कर राम में रमो	......	४४८
२१.	राम न रमसि कौन डण्ड लागा	......	,,
	उच्चतम एवं परमपद की दशा	......	४५४
२२.	अवधू छाड़हु मन विस्तारा	......	,,
	माया की लीला	......	४५८
२३.	अवधू कुदरत की गति न्यारी	......	,,
	हठयोग का वर्णन	......	४६२
२४.	अवधू सो योगी गुरु मेरा	......	,,
	हठयोग की उपलब्धि माया के भीतर	......	४६४
२५.	अवधू वो तत्तु रावल राता	......	,,
	सत्य का पथिक विरला है	......	४६६
२६.	भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये	......	,,
	स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति	......	४६९
२७.	भाई रे अदूबुद रूप अनूप कथ्यो है	......	,,
	मनोवृत्ति की स्थिति	......	४७६
२८.	भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है	......	,,
	विषय-निवृत्ति से ही निजस्वरूप की स्थिति	......	४८२
२९.	भाई रे नयन रसिक जो जागे	......	,,

	अनेकता में एकता	......	४८६
३०.	भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया	......	,,
	अविवेक से उलटी गति	......	४९०
३१.	हंसा संशय छूरी कुहिया	......	,,
	भ्रामक गुरुओं का परदाफाश एवं युगों का ऐतिहासिक अध्ययन	......	४९३
३२.	हंसा हो चित चेतु सकेरा	......	,,
	हंस को चेतावनी	......	५०१
३३.	हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय	......	,,
	हंस दशा का चित्रण, हरि और राम शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन	......	५०३
३४.	हरिजन हंस दशा लिये डोले	......	,,
	जीव न किसी की पत्नी है न अंश, वह स्वयं पूर्ण है	......	५०९
३५.	हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया	......	,,
३६.	हरि ठग-ठगत ठगौरी लाई	......	५११
३७.	हरि ठग ठगत सकल जग डोलै	......	५१३
	व्यक्ति का निजात्मस्वरूप ही हरि है	......	५१५
३८.	हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा	......	,,
	सत्य को असत्य परास्त नहीं कर सकता	......	५१८
३९.	ऐसो हरि सो जगत लरतु है	......	,,
	रट्टू सुग्गा मत बनो, राम को पहचानो	......	५१९
४०.	पण्डित बाद बदे सो झूठा	......	,,
	छुआछूत पर विचार तथा उसका ऐतिहासिक अध्ययन	......	५२३
४१.	पण्डित देखहु मन में जानी	......	,,
	मोक्ष-विचार	......	५२७
४२.	पण्डित शोधि कहो समुझाई	......	,,
४३.	पण्डित मिथ्या करहु विचारा	......	५३१
	माया-विचार	......	५३३
४४.	बुझ बुझ पण्डित करहु विचारा	......	,,
	देह सबकी नाशवान है, वासना-त्याग ही अमरत्व है	......	५३८
४५.	को न मुवा कहो पण्डित जना	......	,,
	हिंसक और मांसाहारी पण्डितों से प्रश्न	......	५४०
४६.	पण्डित एक अचरज बड़ होई	......	,,
	छुआछूत का धोखा	......	५४४
४७.	पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी	......	,,

	अनेकता में एकता के सूत्र	......	५५३
४८.	पण्डित देखहु हृदय बिचारी	......	,,
	समाधि एवं मोक्षतत्व का वर्णन	......	५५७
४९.	बुझ बुझ पण्डित पद निर्बान	......	,,
	संसार-वृक्ष से छुटकारा लो	......	५६४
५०.	बुझ बुझ पंडित बिरवा न होय	......	,,
	मनोदशा का वर्णन	......	५६७
५१.	बुझ बुझ पण्डित मन चितलाय	......	,,
	ब्रह्मज्ञानियों को चेतावनी	......	५७३
५२.	बूझ लीजै ब्रह्मज्ञानी	......	,,
	संसार-वृक्ष और एषणा-लता	......	५७८
५३.	वै बिरवा चीन्हे जो कोय	......	,,
	निजस्वरूप से पृथक परमतत्व खोजने वालों पर व्यंग्य	......	५८१
५४.	साँई के संग सासुर आई	......	,,
	मनुष्य की विपरीतता पर व्यंग्य	......	५८६
५५.	नर को ढाढ़स देखो आई	......	,,
	सच्चा पथ जानो	......	५८९
५६.	नर को नहिं परतीत हमारी	......	,,
	दूसरों की सेवा और आत्मशोधन ही हरि भजन है	......	५९३
५७.	ना हरि भजसि न आदत छूटी	......	,,
	मनोविकारों की दावाग्नि बुझाओ	......	६००
५८.	नरहरि लागि दौं बिकार बिनु इन्धन	......	,,
	माया ठगनी का परदाफाश	......	६०५
५९.	माया महा ठगिनी हम जानी	......	,,
	सद्गुरु-भगवान ही मोह-पाश से छुड़ा सकता है	......	६०८
६०.	माया मोह मोहित कीन्हा	......	,,
	देहाभिमानी की दुर्गति	......	६१२
६१.	मरिहो रे तन का लै करिहो	......	,,
	स्वरूपस्थिति एवं सहज समाधि की रहनी	......	६१६
६२.	माई मैं दूनों कुल उजियारी	......	,,
	गगन-मंडल के फूल	......	६२१
६३.	मैं कासों कहौं को सुने को पतियाय	......	,,

	साधारण लोगों को उपदेश	......	६२४
६४.	जोलहा बीनहु हो हरि नामा	......	,,
	योगियों पर विचार	......	६२७
६५.	योगिया फिरिगौ नगर मँझारी	......	,,
६६.	योगिया के नगर बसो मति कोई	......	६२८
	जगत के उपादानस्वरूप ब्रह्म मान्यता की समीक्षा	......	६३१
६७.	जो पै बीज रूप भगवान	......	,,
	भवचक्र-चरखे का वर्णन	......	६४१
६८.	जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै	......	,,
	शरीर-वीणा का वादक चेतन श्रेष्ठ है	......	६४४
६९.	जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजे	......	,,
	जीव-वध और मांसाहार त्याज्य है	......	६४७
७०.	जस मास पशु की तस मास नर की	......	,,
	ढूंढ़ो मत, ठहरो	......	६४८
७१.	चातृक कहाँ पुकारो दूरी	......	,,
	देहाभिमान छोड़कर राम-भजन करो	......	६५३
७२.	चलहु का टेढ़ो-टेढ़ो-टेढ़ो	......	,,
७३.	फिरहु का फूले-फूले-फूले	......	६५७
	योग के नाम पर प्रपंच तथा अ-समीक्षा	......	६६०
७४.	ऐसो योगिया बदकर्मी	......	,,
	जाति, धर्म और अध्यात्म की एकता	......	६६४
७५.	ऐसो भरम बिगुर्चन भारी	......	,,
	हम अपने स्वरूप को स्वयं भूल गये हैं	......	६६८
७६.	आपन पौ आपुहि बिसर्यो	......	,,
	अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो	......	६७१
७७.	आपन आश कीजै बहुतेरा	......	,,
	हरिबाजी से हटकर आत्माराम में रमो	......	६७६
७८.	अब हम जानिया हो	......	,,
	निजस्वरूप-स्थिति ही परम प्राप्तव्य है	......	६७८
७९.	कहहु हो अम्मर कासों लागा	......	,,
	अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो	......	६८१
८०.	बन्दे करिले आप निबेरा	......	,,

	परोक्ष-भक्तिरूपी चुनरी का चित्रण तथा ऐतिहासिक अध्ययन	......	६८४
८१.	ऊतो रहु ररा ममा की भाँती हो	......	,,
	हठयोग का दिग्दर्शन, मन के संयम से शांति	......	६९१
८२.	तुम यहि विधि समझो लोई	......	,,
	धर्म के नाम पर हत्या करना निंदनीय है	......	६९५
८३.	भूला बे अहमक नादाना	......	,,
	एक मानव जाति, एक मानवता धर्म बाह्याचार में ढक गये हैं	......	६९९
८४.	काजी तुम कौन कितेब बखानी	......	,,
	देह-गेह तुम्हारे नहीं हैं	......	७०३
८५.	भूला लोग कहैं घर मेरा	......	,,
	तुम्हारा प्राप्तव्य तुम्हारी हृदय-गुहा में ही विद्यमान है	......	७०७
८६.	कबिरा तेरो घर कन्दला में	......	,,
	हठयोग-द्वारा षटचक्र वेधन का स्वरूप	......	७१६
८७.	कबिरा तेरो बन कन्दला में	......	,,
	तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं	......	७२२
८८.	सावज न होइ भाई सावज न होई	......	,,
	जीवन क्षणभंगुर है, शीघ्र भव-बंधनों से मुक्ति लो	......	७२५
८९.	सुभागे केहि कारण लोभ लागे	......	,,
	वीतराग संतपुरुष तथा निजात्मदेव ही उपासनीय है	......	७२८
९०.	संत महंतो सुमिरो सोई	......	,,
	आशा-तृष्णा-वश सब देहधारी दुखी हैं	......	७३२
९१.	तन धरि सुखिया काहु न देखा	......	,,
	मन के पारखी बनो	......	७३६
९२.	ता मन को चीन्हो मोरे भाई	......	,,
	संसार की विपरीतता	......	७३९
९३.	बाबू ऐसो है संसार तिहारो	......	,,
	बाहर ब्रह्म की कल्पना में क्यों भटकते हो	......	७४३
९४.	कहो हो निरंजन कौने बानी	......	,,
	जग की उलटी रीति	......	७४५
९५.	को अस करे नगर कोटवलिया	......	,,
	मोह-काल से सावधान	......	७४८
९६.	काको रोवों गैल बहुतेरा	......	,,

	साम्प्रदायिकता-विहीन सत्य	......	७५१
९७.	अल्लाह राम जियो तेरी नाँई	......	,,
	बाह्याडंबर छोड़कर सारतत्व पर ध्यान दो	......	७५९
९८.	आव बे आव मुझे हरि को नाम	......	,,
	जीवन की नश्वरता	......	७६३
९९.	अब कहाँ चलेउ अकेले मीता	......	,,
	तुम समर्थ हो, माया-मोह की दीनता छोड़ो	......	७६५
१००.	देखउ लोगा हरि केर सगाई	......	,,
	मन की विपरीतता को समझकर उसे छोड़ो	......	७६९
१०१.	देखि-देखि जिय अचरज होई	......	,,
	हृदय-घर के स्वामी आत्मदेव को पहचानो	......	७७२
१०२.	हो दारी के ले देउँ तोहि गारी	......	,,
	क्या काशी क्या मगहर ऊसर	......	७७५
१०३.	लोगा तुमहीं मति के भोरा	......	,,
	बगुला भक्तों से सावधान	......	७८२
१०४.	कैसे तरो नाथ कैसे तरो	......	,,
	भूत-प्रेत-योनि केवल भ्रम है	......	७८५
१०५.	ये भ्रम भूत सकल जग खाया	......	,,
	भूलभुलैया में जीवन मत बिताओ	......	७८८
१०६.	भँवर उड़े बग बैठे आई	......	,,
	विषयों को छोड़कर अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होओ	......	७९०
१०७.	खसम बिनु तेली को बैल भयो	......	,,
	अपरिपक्व साधक का मनोभाव	......	७९४
१०८.	अब हम भैलि बहुरि जल मीना	......	,,
	दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना	......	७९६
१०९.	लोग बोले दूरि गये कबीर	......	,,
	कोई देव तुम्हारा कर्म-बंधन नहीं काट सकता	......	८०३
११०.	आपन कर्म न मेटो जाई	......	,,
	दैवासुर सम्पदा	......	८१२
१११.	है कोई गुरु ज्ञानी	......	,,
	मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है	......	८१६
११२.	झगरा एक बढ़ो राजाराम	......	,,

	साथियों की चिंता न कर सत्य के उपासक बनो	......	८२०
११३.	झूठेहि जनि पतियाउ हो	......	,,
	सारशब्द एवं निर्णय वचनों से ही कल्याण है	......	८२५
११४.	सार शब्द से बाँचिहो	......	,,
	सभी की भूल-व्याधि की औषध पारख है	......	८३१
११५.	सन्तो ऐसी भूल जग माहीं	......	,,

बीजक-महिमा

यह बीजक ज्ञान कबीर गुरु का, बन्ध नशाने वाला है।
सब जीवों के हित मारग को, स्पष्ट बताने वाला है॥ टेक ॥

सब जीव सदा से भूले ही, विषयों में रमते आये हैं।
उस रमते राम के बन्धन को, कहि विविध 'रमैनी' टाला है॥ १ ॥

खानी वाणी के शब्द जाल में, जीव सभी उलझाये हैं।
कहि 'शब्द' सैन अति अनुभव से, सब बन्धन काटि निकाला है॥ २ ॥

विद्वानों के वाणी मद को, हरि 'ज्ञान चौंतिसा' से लीन्हा।
विप्रों की मति-गति शुद्धि हेतु, कहि 'विप्रमतीसी' आला है॥ ३ ॥

'कहरा' कहि कहर हरे जिव का, कहि 'बसन्त' विषयासक्ति हरे।
मन माया के तम हरे आप, कहि 'चाचर' ज्ञान उजाला है॥ ४ ॥

अन्तः में स्थिर परम रमैया राम, 'बेलि' में आप कहे।
खानी वाणी की विरह व्यथा, 'बिरहुली' विवेक विशाला है॥ ५ ॥

अविनाशी जीव कर्म के वश, जन्मादि हिण्डोले में झूले।
परकरण 'हिण्डोला' कहि विधिवत, पारख पद दिया निराला है॥ ६ ॥

जड़ साक्ष्य दृश्य से सदा पृथक, साक्षी चिद्रूप सदा अपना।
'साखी' कहि सकल ज्ञान खानी, मत पथ द्वन्द्वों का काला है॥ ७ ॥

ग्यारह परकरणों से भूषित, है पारख ज्ञान भरा 'बीजक'।
रविवत इसके परकाश किरण, तम मोह नशाने वाला है॥ ८ ॥

अति गूढ़-अगूढ़ द्विविधि पद्यों, शैली युक्ती से भरा ग्रन्थ।
विद्वान भी हैं टक्कर खाते, 'अभिलाष' अल्प मति वाला है॥ ९ ॥

गुरु सन्त पारखी के द्वारा, गुरुमुख पढ़ने से भेद खुले।
बोधक "सूरत" की कृपा दृष्टि से, पाया बोध उजाला है॥१०॥
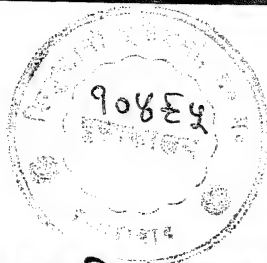
गुरु-उपकार स्मृति तथा वन्दना

जिन गुरु कबीर कृपालु के, सच्चिद स्व पारख बोध से।
सब ग्रन्थ पन्थ अनन्त, नाना वेष के परिशोध से॥
भ्रम तम फट्यो, भव भय मिट्यो, निज पद डट्यो अविरोध से।
तिन गुरु कबीर महान के, पद कंज नमूँ प्रमोद से॥१॥

अविकार अक्षय अकाम चेतन, राम जो निज रूप है।
तेहि आप आप बिसारि, मानव भ्रमत भ्रम तम कूप है॥
जड़ मानना जड़ की क्रिया, जड़ दृश्य भास विरूप है।
सबका प्रकाशक भास्कर, पारख स्व चेतन रूप है॥२॥

सन्तुष्ट है नित तृप्त है, नित बोधमय प्रज्ञान है।
जेहि जानता तेहि से पृथक, द्रष्टा स्वरूप सुजान है॥
निज बोध बिन इत उत भ्रमै, निज बोध पाय महान है।
इमि गुरु कबीर निदेश से, लहि परम पारख थान है॥३॥

सब सन्त हैं श्रद्धेय मन- क्रम-वचन जे संयम लिये।
तिन मध्य पारख प्राप्त जे, शिरमौर गुरु सम नित जिये॥
उन सर्व के पद कमल में, करबद्ध नत मस्तक हिये।
बलिहार बारम्बार जो उपकार शुचि सन्तन किये॥४॥

जिनकी कृपा से बोध लहि, सन्देह भ्रम सबही गये।
अरु भेद बीजक का मिल्यो, पद-अर्थ-भाव मनन भये॥
उन प्रेरणा के स्रोत, 'सूरत देव' बोधक चरण में।
करबद्ध नत मस्तक नमूँ, लीजे निभा निज शरण में॥५॥

बीजक समुद्र समान, अवगाहन कठिन तिसका करन।
करता प्रवेश ये दास, प्रभु कीजै कृपा अशरन शरन॥
निर्भ्रान्त निर्भय पक्ष-रहित, कबीर—गुरु के बैन की।
व्याख्या सरस शुचि बोधगम्य, घहौ सुअंजन नैन की॥६॥

रमैनी

हेतु छन्द

भ्रम मान्यता के ऐन में,
ये जीव सब परवश रहे।
इह ऐन-बन्धन बाध्य कर,
ऐनी ये जिव पद किमी लहे।
निज भूल-वश रमते अहो,
दुख मूल जड़ मग में ढहे।
इहि विधि विलोकि व्यथा विध्वंसक,
प्रभु रमैनी तब कहे।

दोहा

दुख दुरूह दुर्मति सबन, दावानल सद्बोध।
सो कबीर गुरु धन्य प्रभु, दिव्य परख अविरोध।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

[पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित]

प्रथम प्रकरण : रमैनी

ग्रंथ की प्रस्तावना

रमैनी—१

अन्तर ज्योति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥ १ ॥
ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता॥ २ ॥
बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा॥ ३ ॥
हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ॥ ४ ॥
तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा॥ ५ ॥
पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया॥ ६ ॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती॥ ७ ॥
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ ८ ॥
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा॥ ९ ॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥१०॥
अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी॥११॥
जो मुख होय जीभ दश लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा॥१२॥

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार।
राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ १ ॥

शब्दार्थ—अन्तर = भीतर। ज्योति = ज्ञान-ज्योति, चेतन। शब्द = वाकशक्ति। नारी = कल्पना, माया। त्रिपुरारी = तीन पुर के शत्रु, तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली के पुरों को नष्ट करने वाले महादेव। बाखरि = बखारी, कोठी, संग्रहालय।

पाट = विस्तार, फैलाव। महन्तो = महान। सुन्नति = खतना। नारी मोचित = नारी के पेट से खिंचकर। गर्भ प्रसूती = गर्भस्थ बच्चा पैदा होता है। स्वांग = वेष, दिखावा। करतूती = कर्मकांड। तहिया = गर्भ में। जनी = स्त्री, माया। जना = उत्पन्न किया हुआ; उत्पत्ति। भौ = भव, उत्पन्न। अविगति = अज्ञात। ई = इहलोक, मोटी माया, खानी-जाल। ऊ = परलोक, झीनी माया, वाणी-जाल। राम = हृदय-निवासी चेतन तत्त्व।

भावार्थ—सभी देहधारियों के भीतर एक ज्ञान-ज्योति है, जिसे जीव, चेतन या आत्मा कहते हैं। मानव विवेकशील प्राणी है। उसके पास शब्द-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति की विशेषता है। मानव अपनी अंतर्ज्योति एवं ज्ञान-शक्ति से कल्पना का विस्तार करता है तथा अपनी मनःकल्पना को शब्दों में व्यक्त करता है। मानव की मनःकल्पना और शब्द-योजना रूपी नारी या माया से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की उत्पत्ति (स्थापना) हुई।[१] अर्थात सृष्टि को समझने के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की कल्पना की गयी ॥१॥ इन तीनों ने बहुत-से पुत्री-पुत्र पैदा किये, परन्तु ये भी सृष्टि का आदि और अंत नहीं जान सके॥२॥ ब्रह्मा रजोगुणी होने से क्रियाशील थे, इसलिए उन्होंने तात्कालिक वाणियों का एक बड़ा संग्रह तैयार किया, जिसका पीछे से चौदह विद्याओं के रूप में विस्तार हुआ॥३॥ विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा महान प्रसिद्ध नाम वाले हुए। इन्होंने क्रमशः तीन गांव बसाये जिन्हें विष्णुपुर, शिवपुर तथा ब्रह्मपुर कह सकते हैं, अथवा इन्होंने क्रमशः भक्ति, ज्ञान और कर्मकांड चलाये॥४॥ फिर इन्होंने ब्रह्मांड को खंडों में बांटा। अर्थात पृथ्वी पर विभागपूर्वक राज्य स्थापित किये। अथवा वाणी का विविध विषयों में विभाजन किया। फिर छह दर्शन और छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ॥५॥

माता के पेट से कोई न तो वेद पढ़कर आया है जो अपने आपको जन्मजात ब्राह्मण कह सके तथा न कोई सुन्नत कराकर आया है कि वह अपने आपको जन्मजात मुसलमान कह सके॥६॥ माता के पेट से पैदा होने के बाद ही लोग नाना स्वांग तथा कर्मकांड करते हैं॥७॥ माता के पेट में तो हम और तुम एक ही प्रकार रज-वीर्य से बने हैं, एक ही प्रकार सब में प्राण व्याप्त हुए हैं तथा एक ही प्रकार सब वहां मूढ़ता में पड़े रहे हैं॥८॥ एक ही प्रकार माता से संसार के सभी लोग जन्म लेते हैं, फिर किस ज्ञान से भिन्न वर्ण और जाति की कल्पना कर ली जाती है!॥९॥ एक ही द्वार से बालक रूप में सब पैदा होते हैं, जिससे पैदा होते हैं उसी में आसक्त होकर पुरुष कहलाते हैं॥१०॥ अज्ञात की दशा का किसी को पता नहीं है। कितना विवरण देकर कहूं एक मनुष्य जीव ही श्रेष्ठ है[२] ॥११॥ यदि किसी के मुख में दस लाख जीभ हों, तो ऐसा महान पुरुष भले आकर अज्ञात की बातें कह सके॥१२॥

---

१. अंतर्ज्योति, शब्द और एक नारी से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हुए यह एक सरल अर्थ है, परन्तु जादुई है। इससे मानवीय बुद्धि से कोई मतलब नहीं है।

२. अनेक मूल बीजक में इस प्रथम रमैनी की ग्यारहवीं पंक्ति में "एक जीभ कित कहूँ बखानी।" पाठ है, परंतु मैंने मूल बीजक के जिस पाठ को लिया है वह निर्णय मंदिर बुरहानपुर तथा महाराज राघव साहेब का पाठ है। और इन दोनों पाठों में "एक जीव कित कहूँ बखानी" है। इसलिए इस पाठ के अनुसार अर्थ किया है।
वैसे "एक जीभ कित कहूँ बखानी" से अर्थ होगा कि एक जीभ से मैं कितनी व्याख्या करूं।

सद्गुरु कबीर पुकारकर कह रहे हैं कि मनुष्य लोक-परलोक, खानी-वाणी एवं मोटी-झीनी माया के व्यवहार को लेकर उसमें उलझ गया है। राम ऐसा नाम किसका है, रामतत्त्व क्या है, इसे जाने बिना संसार के लोग भ्रांति-सागर में डूब रहे हैं॥१॥

व्याख्या—पहले यह समझ लेना है कि 'बीजक' का अर्थ क्या है! सद्गुरु कबीर की इस महान रचना का नाम 'बीजक' है। उन्होंने स्वयं इसका नामकरण करने के साथ अर्थ भी बता दिया है। अतएव 'बीजक' का अर्थ जानने के लिए 'बीजक' से बाहर नहीं जाना है। सद्गुरु ने ३७ वीं रमैनी की साखी में कहा है—

बीजक वित्त बतावै, जो वित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

अर्थात बीजक उस धन को बताता है जो कहीं गुप्त रूप से गड़ा हो। इसी प्रकार बीजक के शब्द जीव के वास्तविक स्वरूप को बतलाते हैं, परन्तु इसे कोई बिरला समझता है।

पहले समय में बैंक तो होते नहीं थे। उस समय लोग अपने धन को चांदी, सोने, रत्नादि के रूप में करके और धातु के ही पात्र में रखकर किसी गुप्त स्थान पर गाड़ देते थे और उसे समझने के लिए ताम्र आदि किसी धातु पत्र पर सांकेतिक शब्दों (कोडवर्ड) में लिख देते थे, जिसे उनके परिवार तथा अनुगामी लोग ही पढ़कर समझ पाते थे। उसे ही 'बीजक' कहा जाता था। इसलिए बीजक के शब्द गूढ़ एवं रहस्यात्मक कहे जाते थे। सांकेतिक शब्दों में धन का परिचय देने वाला वह ताम्रपत्र ही 'बीजक' कहलाता था। जैसे वह बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बतलाता था, वैसे सद्गुरु कबीर का 'बीजक' ग्रंथ इस शरीर में छिपे हुए जीव-तत्त्व का बोध कराता है और जगत के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसलिए इसका नाम 'बीजक' है। और इस ग्रंथ में जगह-जगह गूढ़ प्रयोग भी हैं, इसलिए भी इसका 'बीजक' नाम सार्थक है।

साखी प्रकरण की २७ वीं साखी में सद्गुरु कहते हैं—

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोइ पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥

बीजक ग्रंथ के अंत में किसी बीजक-मर्मी संत ने पाठफल के रूप में नौ साखियां बनाकर अलग से रख दी हैं, जो प्राचीन-काल से चली आ रही हैं। उनमें कहा गया है "बीजक का अर्थ है धन का पता एवं संदेश देने वाला। जिस जगह आत्मा रूपी धन है, कबीर साहेब के बीजक-वचनों के द्वारा वहीं का उपदेश है। अतएव जो अपने हाथों में बीजक लेकर उसे पढ़ेगा, वह आत्म-धन को शोध लेगा। इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम बीजक है, क्योंकि इसमें आत्मा तथा माया-मन का ज्ञान होता है। आत्मा राम (जीव) सत्य है और मायाकृत मन-मानंदी असत है। बीजक के गुरुमुख वचनों से इसकी यथार्थ परख करना चाहिए। इस ग्रंथ का नाम बीजक है। इसमें सारशब्द (निर्णय वचन) हैं तथा यह टकसार (प्रामाणिक) है। गुरु-कृपा से बीजक-द्वारा सत्यासत्य की परख होती है। यहां कबीर साहेब की वाणी पूर्ण होती है।" यथा—

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबीर उपदेश॥
देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥
अस्ति आतमा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥
सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु की दया से परख भई, बचन कबीर तमाम॥

आज भी व्यापारी लोग जब किसी सामान की बिक्री करते हैं, उसका बिल बनाते हैं, जिसे 'बीजक' कहा जाता है। अतः सम्पत्ति की सूचना बीजक में ही होती है।

बीजक छिपे हुए धन को बताने वाला सार, सत्य एवं गूढ़ वचन है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए मानसमर्मज्ञ श्री जयरामदास दीन जी गीता प्रेस से प्रकाशित 'मानस-शंका-समाधान' में लिखते हैं—"श्री रामचरित मानस ग्रंथ में श्री ग्रन्थकार के शब्द कहीं-कहीं 'बीजक' के तौर पर भी पाए जाते हैं, जिनकी खोज मर्मी जनों को प्राप्त होने से ही यथार्थ तत्त्व का ज्ञान होता है, जिससे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है।" (पृष्ठ ९४)

सद्गुरु कबीर-रचित 'बीजक' कोई किस्सा-कहानी की पुस्तक एवं प्रबंध-काव्य नहीं है, जिसमें नाना प्रकार के विषय-रस का वर्णन होता है। 'बीजक' का राम वैसा संकुचित नहीं है जिसके हाथ, छाती, आंख, मुख आदि के लिए कमलों तथा कामदेव की उपमा देकर उसका श्रृंगारिक वर्णन किया जा सके। कबीरदेव का बीजक सार्वजनिक, सार्वभौमिक स्वस्वरूप-राम का परिचायक है तथा उसके ऊपर लगे हुए भ्रमजालों को छिलके की तरह उखाड़ फेंकने वाला है, जो सार निर्णयों और गूढ़ प्रयोगों से भरा है। इसका भेद कोई मर्मी पारखी पुरुष ही देते हैं।

इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि पूरा बीजक ग्रन्थ गूढ़ प्रयोगों से ही भरा है। पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक, राष्ट्रीय एवं साधनात्मक विषय जो सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, अत्यन्त सरल शब्दों में वर्णित हैं। इन्हें बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, पढ़-अपढ़—सब समझ सकते हैं। अब इसके आगे हम मूल रमैनी की व्याख्या पर विचार करें।

"अन्तर ज्योति" इस रमैनी का महत्वपूर्ण शब्द है। अन्तर का अर्थ भीतर तथा ज्योति का अर्थ ज्ञान है। देहोपाधि में ही अन्तर या भीतर शब्द का प्रयोग हो सकता है। यह व्यक्ति के लिए ही कहा जा सकता है कि उसके भीतर ज्ञान-ज्योति है। सद्गुरु ने अगली रमैनी में कहा है "जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा।" यहां भी अन्तर ज्योति व्यक्ति वाचक ही है। तात्पर्य है कि मनुष्य के भीतर ज्ञान-ज्योति है। यह ज्ञान-ज्योति जीव का गुण है।

वैसे सभी जीव ज्ञानस्वरूप हैं; परन्तु खानियों के अनुसार उनमें बाह्य ज्ञान का संकोच एवं विस्तार होता है। सभी खानियों में केवल मनुष्य एक ऐसी खानि है जहां

शब्द-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति विकसित हैं। "शब्द एक नारी" में शब्द और नारी—ये दोनों महत्वपूर्ण शब्द हैं। शब्द अर्थात शब्द-शक्ति, वाक-शक्ति और नारी अर्थात कल्पना-शक्ति। यहां नारी शब्द माया का प्रतीक है और माया मन की इच्छा एवं कल्पना ही है। "इच्छा रूपि नारि अवतरी" अगली रमैनी में कहा गया है तथा ७२ वीं रमैनी में "नारी एक संसारहिं आई" कहकर यही भाव व्यक्त किया गया है। इसके लिए ९०, ९४, १०४ तथा १०५ साखियां भी देखने योग्य हैं। कबीर साहेब के ख्याल से माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। वह केवल मन की कल्पना या मोह है। ५९ वें शब्द में भी "माया महा ठगिनी हम जानी" कहकर मन के मोह एवं कल्पना का ही संकेत है। मनुष्य को पशु से अलग करने वाली ये दो ही प्रमुख शक्तियां हैं—कल्पना-शक्ति तथा शब्द-शक्ति। सारे ज्ञान-विज्ञान का विकास, भूत-प्रेत, देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म, लोक-परलोक, पुनर्जन्म-कर्मफलभोग, बंध-मोक्ष आदि की कल्पना मनुष्य ही करता है। पशु, पक्षियों एवं कीड़ों में इन कल्पनाओं की कोई गुंजाइश नहीं है।

ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न मानव जीव अपने मन की कल्पना तथा शब्द-योजना से नाना विचार प्रकट करता है। मानव की इसी कल्पना-शक्ति तथा शब्द-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की स्थापना हुई है। 'वृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो वह ब्रह्म। प्राचीन आर्य लोग अग्नि को ब्रह्म मानकर पूजते थे। ब्रह्म (अग्नि) के चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण कहलाया। फिर यज्ञ के बड़े पुरोहित को ब्रह्मा कहा गया तथा उसके साथ अन्य तीन को होता, उद्‌गाता तथा अध्वर्यु कहा गया। इसके बहुत बाद ब्रह्मा नाम के एक देवता की कल्पना कर ली गयी और उसे सृष्टि का देवता माना गया।

वैदिक काल में सूर्य प्रधान देवता था। वही आगे विष्णु नाम ग्रहण कर व्यक्ति-देवता बन गया।[1] पहले अनार्य जातियों में योनि तथा लिंग की पूजा व्याप्त थी। उसे आगे चलकर आर्यों के वैदिक रुद्र से मिलाकर महादेव एवं शिव के रूप में समर्थ देवता की कल्पना कर ली गयी। वैदिक रुद्र तूफान का देवता है। पीछे वह महादेव के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रलय का देवता बन गया। वह सिर पर अर्ध चंद्र एवं गंगा-लहर-धारी, पार्वती-पति तथा बैल पर सवारी करने वाला हो गया। यह सब मनुष्यों की मनःकल्पनाओं और शब्दों के विकास का फल है।

"ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता।" पुराणों में बताया गया कि इन तीनों ने, अर्थात ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने बहुत-से नर-नारी पैदा किये, परन्तु वे स्वयं संसार का आदि-अन्त नहीं जान सके। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव व्यक्ति रूप रहे हों या केवल कल्पना के जीव रहे हों, कोई फरक नहीं पड़ता। इतना सच है कि जगत का आदि और अन्त नहीं है। जगत अनादि तथा अनंत है।

"बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।" सैकड़ों वर्षों के अंतराल में परपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, गुरु तथा शिष्यों-द्वारा वेद-मंत्र बनते रहे और इन्हें लोग सुनाते-सुनते तथा कंठ करते रहे। इन सबका समय से संपादन हुआ। इस संपादन का श्रेय ब्रह्मा को दिया गया। इसलिए उनके चार मुख बना दिये गये, क्योंकि वे

---

१. डॉ० रांगेय राघव, महायात्रा गाथा २/२/२८१-२८२।

चारों वेदों के संपादक थे। ब्रह्मा ने वेद-मन्त्रों की बखारी बना दी। उन्होंने उन्हें चार वेदों के रूप में एक बड़ा संग्रह किया।

फिर तो उस वाणी ने "चौदह ठहर पाट सो लीन्हा" अपना विस्तार चौदह विद्याओं में किया। वेदों के सहित चौदह विद्याओं का विस्तार इस प्रकार है—'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) और चारों वेद।'[१] चौदह विद्याएं इस प्रकार भी गिनायी जाती हैं—'ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र में प्रवीणता, नाटक-चाटक तथा चातुरी।'[२]

"हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ।" पुराणों में कहा गया कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव—ये महान नामधारी हुए। इन्होंने तीन गांव बसाये—ब्रह्मपुर, विष्णुपुर तथा शिवपुर। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने स्वर्ग, पाताल तथा पृथ्वी को आबाद किया। इनके द्वारा धर्म के प्रसिद्ध तीन कांडों को चलाये जाने की भी बात कही गयी, जैसे ब्रह्मा ने कर्मकांड, विष्णु ने भक्तिकांड तथा महादेव ने ज्ञानकांड चलाया।

"तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा।" कहा जाता है कि उन त्रिदेवों ने ब्रह्मांड का खंड किया। खंड तो समझ में आता है कि वह टुकड़ा है; परन्तु ब्रह्मांड क्या है, इसे समझना है। ब्रह्मांड पूरे विश्व को कहते हैं और पूरा विश्व कितना है, इसे कोई नहीं जानता। देश अनंत है, अतः विश्व भी अनंत है। ब्रह्मादि किसी व्यक्ति-द्वारा उसके खंड, टुकड़ा तथा विभाग करने की बात एक घोर कल्पना है। हां, इस पृथ्वी को, या कहना चाहिए कि पृथ्वी के जितने हिस्से को वे जानते थे, उसे ब्रह्मांड मानकर उन्होंने उसका राज्यों में विभाजन किया होगा, यह कहा जाय तो ठीक है।

यहां 'ब्रह्मांड' का लाक्षणिक अर्थ वेद मानकर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मा ने वेद का विभाग किया और उसी को आधार मानकर पीछे छह दर्शन तथा छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ। योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण[३]—ये छह दर्शन हैं। इनमें विभेद इस प्रकार है—दस संन्यासी, बारह योगी, चौदह दरवेश, अठारह ब्राह्मण, अठारह जंगम तथा चौबीस सेवड़ा (जैनी या बौद्ध)।[४]

---

१. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

२. ब्रह्मज्ञानरसायनं च कविता वेदस्तथा ज्योतिषं।
व्याकरणं सधनुर्धरं जलतरं सङ्गीतकं वैद्यकम्॥
अश्वारोहणकोकशास्त्रनिपुणं नाट्यं तथा चातुरी।
विद्या नाम चतुर्दश प्रतिदिनं शेषाः कलाः कीर्तिताः॥

३. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
छठवाँ कहिये ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश॥

४. दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान॥ *(पंचग्रन्थी, मानुष विचार)*
जैनों में चौबीस तीर्थंकर तथा बौद्धों में चौबीस बुद्ध माने जाते हैं।

गिरी, पुरी, भारती, वन, पर्वत, आरण्य, सरस्वती, सागर, आश्रम तथा तीर्थ—ये दसनामी संन्यासी हैं। औघड़, नाथ आदि भेद से चौदह प्रकार योगी हैं। इसी प्रकार मुसलिम फकीरों में भी चौदह भेद हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों, शैवों तथा सेवड़ों में अपने-अपने भेद-प्रभेद हैं। अब कर्मकांडों एवं पाखंडों का विस्तार केवल छानबे में नहीं रहा, किन्तु उनकी गणना करना कठिन होगा। संसार का कोई पंथ, संप्रदाय एवं समाज नहीं है जिसमें पाखंड नहीं घुस आये हैं। पाखंड का अर्थ है ढोंग, ढकोसला, छलावा आदि। सभी संप्रदायों का कर्तव्य है कि वे अपने-अपने मतों में घुस आये पाखंडों का त्याग करते रहें।

इस प्रकार इस प्रथम रमैनी की प्रथम पांच पंक्तियों में सद्गुरु ने हिन्दू परम्परा-द्वारा मान्य त्रिदेवों, वेदों, विद्याओं एवं कर्मकांडों के विस्तार का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय दिया। अब आगे वे मानव एकता के महासूत्र कह रहे हैं—

पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया।।
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती।।
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू।।
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा।।
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया।।

महा मानवतावादी कबीर उक्त पांच पंक्तियों में निर्भीकतापूर्वक घोषणा करते हैं कि मानव मूलतः समान है। माता के पेट में से ही न तो कोई यज्ञोपवीत संस्कार कराकर, वेद पढ़कर तथा ब्रह्मज्ञानी एवं ब्राह्मण बनकर आता है और न तो कोई सुन्नत कराकर एवं मुसलमान बनकर आता है। पैदा होने के बाद जब संसार के भेद-भाव की हवा लग जाती है, तब मनुष्य कल्पित ऊंच-नीच एवं नाना वेषों के स्वांग तथा कर्मकांडों का पाखंड करता है।

तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान या अन्य लोगों की माताएं एक समान गर्भ धारण करती हैं, एक समान बच्चे पैदा करती हैं, एक समान सबके बच्चे मैले में लिपटे पैदा होते हैं, एक समान सबके बच्चे साफ किये जाते हैं, एक समान दूध पिलाये जाते हैं और एक समान पाले जाते हैं। कोई न तो मूड़ से पैदा होता है, न गोड़ से। सब तो एक ही द्वार से पैदा होते हैं। सभी वर्ग के लोग विषय-वासनाओं में डूबे देखे जाते हैं। सभी वर्गों में पवित्र विचार के नर और नारी भी होते हैं।

चतुर लोगों ने मानवता के साथ छल किया। उसके लिए एक विराट पुरुष (ईश्वर) की कल्पना की। छलावा का काम करने के लिए ईश्वर, धर्म आदि बड़े अच्छे हथकंडे बनते हैं। हर छल के लिए इन्हें आगे रखा जाता है। तो एक प्रभु बनाया गया। कहा गया उसके मुख, हाथ, जंघे तथा पैर से लोग पैदा हुए, जिनमें क्रमशः पहले वाले उच्चतम, पीछे वाले उत्तम एवं उससे पीछे वाले अधम हुए। प्रभु ने यह ऊंच-नीच का भेद स्वयं बनाया है, ऐसा धर्मशास्त्रों में लिख दिया गया। लिखने वालों को त्रिकालज्ञ एवं आप्त होने का फतवा दिया गया। यह ऊंच-नीच की मानसिकता मनुष्य के मन में बहुत गहरे में बैठा दी गयी। वह निरंतर गहराती गयी। कुछ वर्ग के लोग आचरण भ्रष्ट होने पर भी पूजे जाते रहे और कुछ वर्ग के लोग ज्ञान तथा सदाचार संपन्न होने पर भी नीच दृष्टि से देखे जाते

रहे; और मानवता तथा सत्य के साथ अपराध करने वाले लोग तपःपूत ऋषि, त्रिकालज्ञ, संतशिरोमणि, आप्त एवं समाज के नायक कहलाते रहे। जन्म से ही किसी वर्ग को नीच या ऊंच कहना सबसे बड़ा पाप है और यह पाप करने वाले सबसे बड़े पुण्यात्मा माने गये। स्वतंत्रचेता कबीर साहेब को यह अत्याचार सहन नहीं हुआ और वे उन्हीं लोगों के बीच में निर्भीकतापूर्वक जोर से बोल पड़े "पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया।" और ये तुरुक भी तो अपने को राहेखुदा तथा दूसरे को काफिर समझते हैं, क्योंकि इन्होंने सुन्नत करवा रखी है, इसलिए ये मुसलमान हो गये हैं। परन्तु यह भी प्राकृतिक नहीं है। पेट में से सुन्नत कराकर नहीं आये हैं। ये सब बाहरी हैं। जनेऊ के समान सुन्नत भी बाहरी स्वांग है। इससे कोई बड़ा नहीं होता। पैदा होने में तो सभी मानव एक समान हैं। ज्ञान तथा आचरण के नाते ही मानव का अपना स्तर बनता है। जन्म से सबका स्तर समान है।

"भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया।" सद्गुरु कबीर अखंड वैराग्यवान संत थे। अतः इस पंक्ति में उन्होंने बड़ी तीव्रता से अपना वैराग्यभाव व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जिससे पैदा होता है उसी का उपभोग करके पुरुष होने की डींग मारता है। कबीर साहेब के वैरागी ख्याल से सच्चा पुरुष वह है जो नारी मात्र को माता मानकर जीवन पर्यंत विरक्त रहे।

अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी।।
जो मुख होय जीभ दस लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा।।

अज्ञात एवं लापता की बात कोई नहीं जानता। कोई ऐसा महान हो जिसके मुख में लाखों जीभ हों वही चाहे कुछ कह सके—यह एक व्यंग्य है। अज्ञात की बात तो लाखों जीभ वाला ही कहता है। आदमी पहले लाखों मुख एवं जीभ वाले की कल्पना करता है, फिर आकाश-पाताल की बातें उसी से कहलायी जाती हैं। तथाकथित धार्मिक संप्रदाय वाले पहले किसी अतिमानवीय शक्ति की कल्पना करते हैं। उसके पश्चात उन्हें अपने कल्पित स्वार्थ की सिद्धि जिन बातों में दिखती है उन बातों को वे अपनी किताबों में लिख लेते हैं और कहते हैं कि यह विराट पुरुष, सुप्रीम पावर एवं जगन्नियंता-प्रभु का कथन है। जगन्नियंता-प्रभु का नाम सुनते ही मनुष्य गाय बनकर अपने सिर झुका देते हैं। क्योंकि उनकी आत्म-शक्ति कुचल दी गयी है। वे प्रश्न करें तो नास्तिक और काफिर कहे जायं। इसलिए धर्म के नाम पर सारी अतिशयोक्तियां, चमत्कार, अवैज्ञानिक प्रस्थापनाएं, भेदभावनाएं आदि चुपचाप स्वीकार ली जाती हैं। अन्य क्षेत्र में बात समझ में न आये तो प्रश्न कर सकते हो, किन्तु धर्मक्षेत्र में प्रश्न नहीं कर सकते; क्योंकि धर्म की सारी बातों को हजार और लाख मुख वाले ने कहा है। उसमें प्रश्न करना ही बेजा है।

परन्तु यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि कोई हजार तथा लाख मुख वाला नहीं है जिसने मानव के ज्ञान तथा आचार के विषय में आज तक कुछ कहा हो। ज्ञान करने वाला तथा मानव की आचार-संहिता बनाने वाला केवल मानव है। "एक जीव कित कहूँ बखानी" कितना वर्णन करके कहूं, एक मानव-जीव ही ज्ञान-विज्ञान-वेत्ता है। यही अतिमानवीय-शक्ति का कल्पित परदा लगाकर लोगों को छलता है, यही छला जाता है।

यही सुधर जाय तो सब सुधर जाय। यदि मानव विवेकशील हो जाय, वह एक दूसरे को न ठगे, स्वयं सत्पथ पर चले, तो उसका कल्याण है, समाज का कल्याण है, देश का तथा विश्व का कल्याण है। जिसका पता नहीं, उस ईश्वर से प्रेम करने का दिखावा और मनुष्य जो प्रत्यक्ष है, उसके साथ छलावा—यह पोंगापंथी धर्म मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता। जो कल्पित आकाशीय स्वर्ग से दृष्टि घुमाकर पृथ्वी पर सत्कर्म के बल पर स्वर्ग बसाना चाहता है तथा अज्ञात ईश्वर के पीछे दौड़ना छोड़कर ज्ञात मानव एवं प्राणियों के साथ प्रेम तथा करुणा का व्यवहार करता है, वही सच्चा धार्मिक है। वही सत्य को समझता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार। राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य 'ई' और 'ऊ' के व्यवहार में उलझा है। 'ई' से अभिप्राय सांसारिक विषयों से है तथा 'ऊ' से स्वर्ग और ईश्वर से है। विषयासक्ति, स्वर्ग की कल्पना तथा ईश्वर की कल्पना छोड़े बिना कोई सही रास्ता नहीं पा सकता। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

राह हक़ हरगिज़ न याबी, ता न गीरी चार तर्क।
तर्क दुनिया तर्क उक़बा, तर्क मौला तर्क तर्क।।[1]

अर्थात—मनुष्य को सही रास्ता तब तक नहीं मिल सकता जब तक दुनियादारी, स्वर्ग की कामना और ईश्वर की कल्पना का त्याग तथा इन तीनों के त्याग के अहंकार का त्याग नहीं कर देता।

संस्कृत में 'इहामुत्र' अर्थात 'इह' तथा 'अमुत्र' शब्द लोक और परलोक के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कबीर साहेब अपना काव्य हिन्दी में कहते हैं, इसलिए वे उन्हें 'ई' तथा 'ऊ' कहते हैं। कबीर साहेब पुकार-पुकार कर कहते हैं कि संसार के लोग इस दुनिया के रागरंग में उलझे हैं या परलोक तथा परोक्ष कल्पित देवी-देवता एवं ईश्वरादि की कल्पना में उलझे हैं। कुल मिलाकर वे सत्य एवं सुख को अपने से बाहर ही खोजते हैं। यही जीवन का भटकाव है।

"राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" अर्थात राम ऐसा नाम किसका है, राम किसे कहते हैं, इस तत्त्व को समझे बिना लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं।

कबीर साहेब के समय से सैकड़ों वर्षों के पूर्व से ही राम शब्द का प्रचलन हो चला था जिसके अर्थ अयोध्याधीश दशरथ-सुत राजाराम तथा परमतत्त्व एवं आत्म-अस्तित्त्व प्रचलित थे। राम शब्द को लेकर ये सारे भाव मिश्रित रूप से चलते थे और जनता में उलझन थी कि वस्तुतः राम शब्द से व्यक्त वह कौन-सा तत्त्व है जो जीव का परम प्राप्तव्य है। लोग राम-राम तो कह रहे थे, परन्तु रामतत्त्व क्या है इसे जानने का प्रयत्न नहीं करते थे।

सद्गुरु कबीर ने ३६ वीं रमैनी की साखी में कहा है "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।" अर्थात राम ऐसा नाम अपना ही समझकर खोटी वस्तु छोड़ दो।

---

१. याबी = प्राप्त होना। ता = तक। न = नहीं। गीरी = पकड़ना, कर लेना। तर्क = त्यागना। उकबा = स्वर्ग। मौला = ईश्वर।

निज चेतन स्वरूप से जो कुछ पृथक है, सब खोटी वस्तु है। यदि व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग राम है तो वह राम नहीं है, किन्तु राम के नाम पर केवल कल्पना है। हम राम, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड या इसी ढंग के अन्य अनेक शब्द गढ़ लें, परन्तु अपनी चेतन आत्मा से अलग कुछ नहीं हो सकता जो हमारा परम विश्राम का निधान हो। हमारी चिरस्थिति हमारे अपने चेतन स्वरूप में ही होगी, अतएव निज चेतन स्वरूप ही राम है।

उक्त भावों को लेकर ही श्रुतियों में अहं ब्रह्मास्मि[१], तत्त्वमसि[२], अयमात्मा ब्रह्म[३] तथा प्रज्ञानं ब्रह्म[४] कहे गये हैं, जिनके सरल अर्थ "मैं ब्रह्म हूं, तू वही है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है" होते हैं। गीता में भी महाराज श्री कृष्ण से कहलाया गया है "इस देह में निवास करने वाला प्रकृति से परे जो चेतन पुरुष है वही द्रष्टा, अनुमंता (प्रेरक), भर्ता, भोक्ता, महान ईश्वर तथा परमात्मा है।"[५] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं "कहा जाता है कि सबके घट में राम है, फिर किसलिए बाहर खोजा जाता है। यह तो लज्जाजनक कुमति है।"[६] वे और कहते हैं "मैं वही हूं यह अखंडवृत्ति ही विज्ञान दीप की परम प्रचंड शिखा है।[७] बाबा रघुनाथ दास जी भी कहते हैं "जीव और ईश्वर में कितना अन्तर है? उत्तर है मात्र इतना ही अन्तर है कि बंधनों की दशा में उसी को जीव कहा जाता है और जब उसके बंधन कट गये, तब वही शिव हो गया।"[८] जनाब मीर साहेब भी कहते हैं "सिर से पैर तक इच्छाओं में लिपटे हुए होने से हम गुलाम हैं, अन्यथा यदि हम हृदय से इच्छारहित होते तो स्वयं ईश्वर थे।"[९] "जो यह कहता है कि जीव से ईश्वर अलग है वह अधकचरा ज्ञान वाला है। जो आत्मा में परमात्मा का बोध करा दे वही सच्चा गुरु है।"[१०] श्रुति कहती है "वह तो शरीर के भीतर अपना आत्म स्वरूप है। उसे वह समझता है जो दोषों

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१०।

२. छांदोग्य उपनिषद् ६/८/७।

३. मांडूक्य उपनिषद् २।

४. ऐतरेय उपनिषद् ३/१/३।

५. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ *गीता १३/२२॥*

६. कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥ *(तुलसी सतसई)*

७. सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥ *(मानस)*

८. जीव ईश में भेद किं, इतनो अहै सदीव।
बद्धदशा में जीव कहि, मोक्ष दशा में शीव॥ *(विश्रामसागर)*

९. सरापा आरजू होने ने बंदा कर दिया मुझको।
वगर्ना हम खुदा थे गर दिले बेमुद्दवा होते॥

१०. कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
दिखला दे खुद ही में खुदा, पीर उसे कहते हैं॥

से मुक्त हो गया है।''[1]

सार यह है कि मनुष्य की आत्मा के अलावा राम कुछ नहीं है। निज आत्मस्वरूप ही राम है। हमारा चिर विश्राम-स्थल निज चेतन स्वरूप ही राम है, खुदा है, ईश्वर है, ब्रह्म है। इसके अलावा खोजना भ्रम है।

इस प्रकार यह प्रथम रमैनी जो इस ग्रन्थ का पहला छंद है, इस ग्रन्थ की प्रस्तावना एवं भूमिका रूप है। पूरे ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उसे सार रूप में इस रमैनी में बता दिया गया है और इसके बाद मानो पूरा ग्रन्थ इस एक रमैनी की व्याख्या है।

सद्गुरु ने ''अन्तर्ज्योति'' कहकर मनुष्य की अन्तश्चेतना को प्रथम एवं मुख्य स्थान दिया है। फिर पांच पंक्तियों में भारतीय ढंग से ब्रह्मादि त्रिदेवों, सृष्टि की अनंतता, वेद, चौदह विद्याएं, तीन लोक, तीन कांड, छह दर्शन, छानबे पाखंड आदि को इंगित किया है।

इसके बाद छठीं से नवीं चौपाई तक मानवीय एकता पर प्रकाश डाला है जो उनके मुख्य विषयों में से एक है। इसके आगे दसवीं चौपाई में वैराग्य की तीव्रता का वर्णन है। फिर अगली दो चौपाइयों में मानव जीव की विशेषता तथा इससे पृथक अज्ञात बातों की उलझी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है। अंत में साहेब ने इस रमैनी की साखी में इस बात पर जोर दिया है कि लोग राम-राम तो कहते हैं, परन्तु उसको तत्त्वतः नहीं समझते और लोक-परलोक के मायाजाल में उलझे रहते हैं। वस्तुतः निज स्वरूप ही राम है। इस तरह यह प्रथम रमैनी इस ग्रन्थ का सार एवं प्रस्तावना स्वरूप है।

जीव और जीव की इच्छा रूपी नारी गायत्री

रमैनी—२

जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा॥ १ ॥
इच्छा रूपि नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥ २ ॥
तेहि नारी के पुत्र तीनि भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ॥ ३ ॥
फिर ब्रह्मै पूछल महतारी। को तोर पुरुष केकरि तुम नारी॥ ४ ॥
तुम हम हम तुम और न कोई। तुमहि से पुरुष हमें तोरि जोई॥ ५ ॥

साखी—बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय॥ २ ॥

शब्दार्थ—अन्तर ज्योति = ज्ञान-प्रकाश। बियाय = पैदा करना। सपूत = सुपुत्र। धाय = दौड़कर, खोजकर।

भावार्थ—जीवस्वरूप निजतत्त्व मनुष्य के भीतर निवास करता है। उसने अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है॥१॥ मनुष्य के मन से इच्छा रूपी नारी का अवतरण हुआ,

---

१. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। *(मु० उ० ३/१/५)*

अर्थात उसने इच्छा प्रकट की और उसका नाम गायत्री रखा गया।।२।। गायत्री, जो जीव की इच्छा रूपी नारी है, उससे तीन पुत्र पैदा हुए, जिनके नाम हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव।।३।। ब्रह्मा रजोगुणी क्रियाशील होने से उन्होंने माता से पूछा कि तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किनकी नारी हो? ।।४।। गायत्री ने उत्तर दिया कि तुम और हम तथा हम और तुम—बस, यही हैं, अन्य नहीं। तुम्हारे सरीखे पुरुष हैं और हम ही तुम्हारी पत्नी हैं।।५।।

पिता और पुत्र की पत्नी एक ही नारी-जाति की होती है और एक ही माता-जाति से पिता-पुत्र पैदा होते हैं। ऐसा योग्य पुत्र नहीं देखा जाता, जो खोज करके पिता को पहचाने।।२।।

व्याख्या—इसका खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है कि सबके भीतर में बसने वाला जीव ही परम तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है और वही ज्ञान का प्रकाश करने वाला है। किन्तु जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह अपने आप में अपूर्णता का आरोप करता है और कल्पना करता है कि मुझे कहीं अलग से तृप्ति मिलेगी। अतः वह ध्यान, योग, कर्म आदि-द्वारा अपने से अलग कहीं पूर्णत्व का आधार खोजता है। इसी भ्रम में पड़कर मनुष्यों ने अनेक देवी-देवताओं की कल्पनाएं की हैं।

वैदिक-काल में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मान लिया गया और उनकी प्रार्थनाओं में हजारों मंत्र बने, जो वेदों में भरे हैं। वैदिक ऋषियों ने सभी प्राकृतिक शक्तियों में अग्नि को सर्वोच्च स्थान दिया। इसीलिए प्राचीनतम वेद ऋग्वेद का पहला मंत्र 'अग्नि' शब्द से शुरू किया गया। अग्नि का महा समुच्चय सूर्य है, अतएव सूर्य की उपासना में प्रसिद्ध गायत्री मंत्र बना।

जैसे हिन्दी में सवैया, कवित्त, अरिल, चौपाई, दोहा आदि छंदों के नाम हैं, वैसे वेदों में गायत्री, जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, वृहती, अनुष्टुप् तथा उष्णिक्—ये सात प्रकार के मुख्य छंद हैं। इनके अतिरिक्त भी शक्करी, अष्टि, धृति आदि अनेक प्रकार के छंद हैं।

वेदों में गायत्री छंद हजारों की संख्या में हैं, परन्तु जो द्विजातियों-द्वारा मुख्य उपासनीय एवं प्रसिद्ध गायत्री है, वह विश्वामित्र की रचना है तथा ऋग्वेद के तीसरे मंडल के बासठ (६२) वें सूक्त का दसवां मंत्र है, जो इस प्रकार है—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

गायत्री छंद में चौबीस (२४) अक्षर होते हैं। इसमें पूरे अक्षरों को गिना जाता है, आधे को नहीं। उक्त प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में चौबीस अक्षर न होकर तेईस ही हैं, अतएव इस छंद में छांदिक दोष है; परन्तु बड़े पुरुषों-द्वारा छंदों में किये गये अशुद्ध प्रयोग को 'आर्ष प्रयोग' कहकर उसे दोष नहीं माना जाता।

उक्त गायत्री में तेईस अक्षर इस प्रकार हैं—"तत्, स, वि, तुर्, व, रे, ण्यं, भ, र्गो, दे, व, स्य, धी, म, हि, धि, यो, यो, नः, प्र, चो, द, यात्।" कुछ विद्वान 'वरेण्यं' में 'ण' को पूरा 'ण' बनाकर 'वरेणियं' पढ़ लेते हैं और इस प्रकार अपनी ओर से चौबीस अक्षर बना लेते हैं।

उक्त गायत्री मंत्र का अक्षरशः अर्थ यह है—"हम उस सविता (सूर्य) देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"

ऋग्वेद में उक्त स्थल पर गायत्री मंत्र में "ॐ भूर्भुवः स्वः" नहीं है। बहुत पीछे के काल में उसमें इसे मिलाकर गायत्री का अर्थ ईश्वरपरक बनाया गया है। पीछे गायत्री की महिमा बहुत बढ़ायी गयी और कहा गया कि गायत्री ही वेदों की मां है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सबके भीतर निवास करने वाला चेतन जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसी की इच्छा, उसी की कल्पना गायत्री है। गायत्री स्वयं में कोई बड़ी वस्तु नहीं है, किन्तु जो गायत्री की रचना करने वाला है, जिसकी इच्छा से गायत्री निर्मित हुई है, वह जीव श्रेष्ठ है। किसी दिन विश्वामित्र ने गायत्री की रचना प्रकाशस्वरूप सूर्य से सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए की थी, पीछे से मनुष्य के अज्ञानवश वह पुत्र, धन, राज्य सब कुछ का देने वाली तथा सारे पापों को भस्म करने वाली बन बैठी। हजारों वर्षों से गायत्री का घोर दुरुपयोग किया जा रहा है। आज तो वह मंत्र (शब्द-योजना) से प्रतिमा बन गयी।

प्रश्न होता है कि गायत्री कोई शरीरधारी नारी तो नहीं है जो उससे शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हो जाते। गायत्री तो मनुष्य जीव की इच्छा रूपी नारी है, अर्थात गायत्री केवल जीव की इच्छा से रचित एक वैदिक मंत्र है; अतः उससे किसी शरीरधारी का पैदा होना सर्वथा असंभव है। अर्थ वही होना चाहिए जो सृष्टिक्रम, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं लोक-नियम के अनुसार हो। ऐसी स्थिति में शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर गायत्री के उपासक माने जा सकते हैं और इसलिए उन्हें गायत्री के पुत्र कह दिया जा सकता है। जो गायत्री वेदों की मां मान ली गयी, उसे यदि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने अपनी मां मानकर उसकी घोर उपासना की हो और उसका जनमानस में जोरदार प्रचार किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं लगता। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि ब्रह्मादि गायत्री के पुत्र हुए।

"फिर ब्रह्मै पूछल महतारी······" गायत्री एक मंत्र है, उससे कुछ पूछना ही असंगत है और उसके द्वारा उत्तर दिया जाना असंभव है। तब आखिर यहां का अभिप्राय क्या हो सकता है?

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव में ब्रह्मा श्रेष्ठ थे। वे रजोगुणी होने से अधिक क्रियाशील एवं उत्साही थे। उन्होंने मानो अपनी उपास्या मांस्वरूपा गायत्री से पूछा हो कि हे मां! तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किसकी नारी हो? इसके बाद मानो गायत्री ने उत्तर दिया हो कि तुम और हम तथा हम और तुम को छोड़कर बीच में अन्य कोई नहीं है। तुम्हारे ही सरीखे पुरुष हैं और हमारी ही सरीखी नारियां हैं।

अभिप्राय है कि ब्रह्मादि जैसे जीव ही ने तो गायत्रीरूपी नारी को अपनी इच्छा से पैदा किया है। अतः गायत्री-जैसे अनेक मंत्रों, धारणाओं, कल्पनाओं का जन्मदाता परम पुरुष जीव ही है और जीव ही अपनी इच्छारूपी नारी में, कल्पनाओं में विमोहित होकर

फंस जाता है। गायत्री ब्रह्मा को मानो उत्तर दे रही हो कि तुम-जैसे चेतन पुरुष ही हम-जैसी कल्पनाओं के जन्मदाता हैं और उन्हीं में फंसकर स्वस्वरूप को भूल जाने वाले हैं।

"बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय। ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय॥" लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि पिता और पुत्र—इन दो पदों में ही संसार के सारे पुरुष हैं और इनकी पत्नियां एक जाति की नारी ही हैं। इस दृष्टि से "बाप पूत की एकै नारी" कहना सार्थक है। इसी प्रकार "एकै माय बियाय" का भी अभिप्राय है। एक माता-जाति से ही तो सबका जन्म होता है।

आध्यात्मिक अर्थ होगा कि जीव की इच्छारूपी जो नारी है, वह उलटकर उसको विमोहने वाली है। अर्थात समस्त जीवों को व्यामोहित करने वाली एक इच्छारूपी नारी है। एक ही माया-मोह रूपी माता से सभी जीवों की जन्मादि संसृति चलती है। वही पुत्र सुपुत्र है जो खोज करके पिता को पहचाने। अर्थात वही देहधारी मानव प्रशंसनीय है जो संसृतिस्वरूपा इच्छारूपी नारी के जन्मदाता पिता को पहचाने। इच्छारूपी नारी का जन्मदाता पिता कौन है? इसे समझने के लिए अलग नहीं जाना है। इसी रमैनी के आरम्भ में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तर में निवास करने वाला जीवस्वरूप चेतन ही इच्छारूपी नारी का जन्मदाता है।

सद्गुरु कबीर इस रमैनी में बताते हैं कि घट-घट वासी जीव ही परम चेतन तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है। वह अपने आप को भूलकर इच्छारूपी नारी को जन्म देता है। यह इच्छा चाहे मलिन विषय-वासनाओं के लिए हो और चाहे कल्पित देवी-देवताओं के लिए हो, दृश्य-भास ही में फंसाकर जीव को अपने स्वरूप से भटकाने वाली है। वही मनुष्य प्रशंसनीय है जो इच्छा के जन्मदाता—जीव के शुद्धस्वरूप को पहचानकर इच्छा का त्याग करे और अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित हो।

बीजक एक गहन गम्भीर सागर-जैसा ग्रन्थ है। इसमें जो जितना ही गोता लगाये, वह उतने ही रत्न पाये। इसमें सरल पद भी हैं और गूढ़ार्थ भरे पद भी। इसमें कितने ही शब्द श्लेषात्मक हैं, जिससे सरलता से अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं। इसीलिए भिन्न विचार वालों को बीजक में सरलता से स्थान मिल जाता है। यह गुण बीजक के आयाम को व्यापक बनाता है।

पंडितों का मन दैवी चमत्कारों से भरा है। वे धर्मग्रन्थों के अधिकतम पदों का अर्थ यथासंभव चमत्कारपूर्ण करते हैं, जो कारण-कार्य-व्यवस्था एवं प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध होता है। वे अपने पंडिताऊ तथा चमत्कारिक अर्थों की सिद्धि के लिए पुराने धर्मग्रन्थों के उदाहरणों का जाल तो बिछा देते हैं, किन्तु ऐसी युक्ति नहीं दे पाते जिससे मानव मन को दुनिया की मिट्टी से स्पर्श करता हुआ सरल बोध हो। जब तक जड़-चेतन के स्वाभाविक स्वरूपों, विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य की व्यवस्थाओं को हम ठीक से नहीं समझ लेते और धर्म तथा अध्यात्म पर लगे हुए दैवीकरण के जाल को काटकर जब तक उन पर मानवीकरण नहीं हो जाता, तब तक हमारा अर्थ-बोध शास्त्रों के स्वप्न का राज्य

ही होगा। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिकों एवं आध्यात्मिकों को इस पर ध्यान देना चाहिए। उन्हें शास्त्रप्रमाणों के जाल में न उलझना चाहिए।

इस रमैनी में बताया गया कि गायत्री एक मंत्र है जो जीव की ही इच्छारूपी नारी है। जीव की इच्छा से जीव श्रेष्ठ है। गायत्री कृत्रिम शब्द-योजना है। जीव उसका कर्ता है। अतएव जीव को चाहिए कि वह अपने ही बनाये जालों में न फंसे। वह अपनी गरिमा को पहचाने।

सृष्टि कहां से हुई और राम कौन है?

रमैनी–३

प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठयऊ॥ १ ॥
प्रगटे ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। प्रथमें भक्ति कीन्ह जिव उक्ती॥ २ ॥
प्रगटे पवन पानी औ छाया। बहु विस्तार के प्रगटी माया॥ ३ ॥
प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा। पृथ्वी प्रगट कीन्ह नौखण्डा॥ ४ ॥
प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी। ई सब लागि रहे अविनासी॥ ५ ॥
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी। तेहि के खोज परे सब हारी॥ ६ ॥

साखी—जीव शीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आरम्भ = उत्पत्ति। ठयऊ = स्थान। शक्ति = माया, नारी। उक्ति = कथन, अंदाज, कल्पना। छाया = अग्नि; अमर कोश में छाया के चार अर्थ हैं—सूर्यप्रिया, कांति, प्रतिबिंब तथा छांह (३/३/१५८)। नौखण्डा = इंद्र, नाग, वरुण, गभिस्त, ताम्र, ब्रह्म, भरत, सौम्य एवं कसेरु खंड। दूसरे प्रकार से नौ खंड इस प्रकार गिनाये जाते हैं—कुरु, हिरण्यक, रम्यक, इला, हरि, केतुमाल, भद्रास्व, किन्नर तथा भरत खंड। झारी = सब-के-सब।

भावार्थ—पहले-पहल किसकी उत्पत्ति हुई? दूसरा प्रश्न यह है कि वह कौन जगह है जहां पर ठहरकर किसी ने सृष्टि की? ॥१॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव शक्ति (किसी नारी) से पैदा हुए और जीव पूर्व कथनानुसार अपने अनुमान से भक्ति करने लगे॥२॥ पवन, पानी और अग्नि प्रकट हुए। बहुत विस्तार से माया प्रकट हुई॥३॥ अंड, पिंड और ब्रह्मांड प्रकट हुए तथा नौ खंडों के सहित पृथ्वी प्रकट हुई॥४॥ सिद्ध, साधक, संन्यासी, सुर, नर, मुनि आदि जितने संसार में जन्म लिए, सब किसी अविनाशी तत्त्व की खोज में लगे रहे, और उसी में थक-हारकर परेशान हो गये॥५-६॥

जीव से ही शिव (ईश्वर) देवादि की कल्पना प्रकट हुई। पीछे वे कल्पित पदार्थ ही स्वामी बन बैठे और कल्पनाकर्त्ता जीव उनके दास बन गये। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं और कुछ नहीं जानता, मुझे केवल उस आत्म-स्वरूप का ही आशा-भरोसा है, जिसका नाम राम है अर्थात मेरा निरंतर विश्राम स्वस्वरूपराम में ही है॥३॥

व्याख्या—जो लोग सृष्टि का आरम्भ मानते हैं, सद्गुरु कबीर ने उनसे प्रश्न किया है कि सर्वप्रथम किसकी सृष्टि हुई है? आगे सातवीं रमैनी में इस विषय का खुलासा है। किसी ग्रन्थ की एक-दो पंक्ति से सिद्धांत नहीं स्थिर किया जा सकता, किन्तु पूरे ग्रन्थ एवं पूर्वापर का विचार करना पड़ता है। सद्गुरु कहते हैं 'सृष्टि कब, किससे और कहां पैदा हो गयी?' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हुआ कि सद्गुरु सृष्टि को अनादि मानते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव यदि देहधारी जीव हैं तो ये किसी नारी से ही पैदा हुए होंगे, इसीलिए शक्ति का अर्थ नारी किया गया है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि शरीरधारी नर-नारी के बिना केवल शक्ति से, ऊर्जा से कोई मनुष्य पैदा नहीं हो जाता। सृष्टि में जो क्रम आज नहीं दिखता, वह पहले रहा होगा, यह केवल कल्पना है और अस्वाभाविक तो है ही।

इस रमैनी के पूर्व, अर्थात दूसरी रमैनी में ब्रह्मादि-द्वारा की गयी उपासना-भक्ति की चर्चा हो चुकी है। यहां कहना है कि प्रथम कथनानुसार ब्रह्मादि जीवों ने अपने अनुमान से भक्ति की। 'उक्ति' का अर्थ कहा हुआ होता है और तजबीज, अंदाज, अनुमान, कल्पना आदि भी होते हैं। ब्रह्मादि जीव किसी सृष्टिकर्ता की कल्पना कर उसकी भक्ति करने लगे।

"प्रगटे पवन पानी औ छाया........" छाया से अभिप्राय यहां अग्नि है। बिना अग्नि के प्रकाश नहीं तथा बिना प्रकाश के छाया की सिद्धि नहीं।

आपाततः यही लगता है कि कबीर साहेब यहां यही कह रहे हैं कि वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, अंड, पिंड, ब्रह्मांड सब पैदा हुए; किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसका खुलासा सातवीं रमैनी में किया जायेगा।

बीजक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अनेक मतवादियों की बातें बताकर बीच-बीच में उनकी परीक्षा की गयी है।

मनुष्य अपने शुद्धस्वरूप चेतनदेव को न समझकर बाहर देव खोजता है। जीव स्वयं अविनाशी तत्त्व है, किन्तु किसी दूसरे अविनाशी ब्रह्म को खोज रहा है। जीव से पृथक यदि कोई मन, बुद्धि, वाणी से परे वस्तु है, तो उसका मिलना जीव की दुराशा ही है। जो इन्द्रिय और मन-बुद्धि में नहीं आता, उससे मुलाकात कैसे होगी? वस्तुतः ऐसी वस्तु की केवल कल्पना की जा सकती है। न उसकी प्राप्ति हो सकती है, न बोध। इसीलिए ऋषि थककर स्वयं कहते हैं—"ब्रह्म को जो नहीं जानता, वही जानता है तथा जो उसे जानता है वह नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और नहीं जानने वालों के लिए ज्ञात है।"[१] तात्पर्य यह है कि उसे जाना नहीं जा सकता है। इसीलिए जो कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वही उसे जानता है। अतएव सद्गुरु कबीर का यह कहना सार्थक ही है कि 'तेहि के खोज परे सब हारी' उस ब्रह्म की खोज में सब हार गये। श्री निर्मल साहेब भी कहते हैं—

---

१. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ *(केन उपनिषद् २/३)*

मन बुद्धि वाणी परे बतावें। पुनि तेहि दर्शन को ललचावें।।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

अलख कहैं देखन चहैं, ऐसे परम प्रवीन।
तुलसी जग उपदेशहीं, बनि बुध अबुध मलीन।।

तो क्या साधक को निराश हो जाना चाहिए? निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जीव जिस परम तत्त्व, परम ब्रह्म एवं परम सुखसागर को खोज रहा है, वह स्वयं है। अतएव साधक को मन की कल्पनाओं से लौटकर अपने चेतनस्वरूप के बोध एवं स्थिति की ओर मुड़ना चाहिए।

"जीव शीव सब प्रगटै, वै ठाकुर सब दास। कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस।।" जीव न होता तो शिव की कल्पना कौन करता? अतः यह कहावत सच है कि 'हम न होते तो खुदा न होता'। अफसोस है कि जीव अपनी कल्पना को ही शिव मान बैठता है, जबकि वह स्वयं शिव है। जीव अपनी कल्पित धारणाओं को ही स्वामी मानकर उसके सामने घुटने टेकता है। उसे अपने गरिमामय महत्व का भान ही नहीं होता।

'कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस' इसका यह स्थूल अर्थ करना कि "कबीर और कुछ नहीं जानते। उन्हें केवल राम-नाम की ही आशा है" चिंत्य है। महातार्किक कबीर इतने भोले नहीं हैं कि वे केवल राम-नाम की आशा कर बैठ जायेंगे और अन्य कुछ जानने की चेष्टा ही नहीं करेंगे। यदि वे ऐसे भोले भक्त होते, तो पूरा बीजक राम-नाम की महिमा का ग्रन्थ होता। हां, वे यह अवश्य कहते हैं कि "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि" (रमैनी, साखी ३६) राम ऐसा नाम तुम अपना ही समझो और खोटी वस्तुएं (बाह्य कल्पनाओं को) छोड़ दो। यदि कबीर का कोई उपासनीय राम है, तो वह अपना चेतन-स्वरूप ही है।

परखकर जाल से बचने वाला ही निर्मल होता है।

रमैनी–४

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा। कर्ता गावै सिरजनहारा।। १ ।।
कर्महि के के जग बौराया। सक्ति भक्ति के बाँधिनि माया।। २ ।।
अदूबुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी।। ३ ।।
गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।। ४ ।।
जो चीन्हैं ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा।। ५ ।।

साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह।
आदि अन्त उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह।। ४ ।।

शब्दार्थ—प्रथम चरण = वेद रचने के पूर्व। गुरु = ऋषिगण या ब्रह्मा। कर्ता = ईश्वर। कर्महि = कर्मकांड, यज्ञादि। सक्ति = शक्ति, बल, शक्तिसंपन्न जीव। अदूबुद = अद्भुत। जाति = सिद्धांत, संप्रदाय। रमैनी = प्रार्थना। आपूही = मनुष्य स्वतः।

भावार्थ—ऋषियों तथा ब्रह्मादि गुरुओं ने वेद रचना के प्रथमारंभ में संसार पर विचार किया और वे जगत-रचयिता-कर्ता का गुणगान करने लगे॥१॥ गुरुओं ने जीवों को कर्मकांड के जाल में फंसाकर उन्हें उन्मत्त कर दिया और भक्ति की माया में बलपूर्वक बांध दिया, अथवा भक्ति की माया में शक्तिमान जीव को बांध दिया॥२॥ इन संप्रदायों की वाणियां अद्भुत रूप हैं। इन्हें सुनकर मनुष्यों के मन में विरह उत्पन्न हुआ और वे उस कल्पित धारणा के लिए प्रार्थना करने लगे॥३॥ चाहे कोई गुणी हो चाहे अनगुणी, चाहे कोई विद्वान हो चाहे अविद्वान, वे कथित 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ नहीं समझ सके। अधिकतम लोग इस मन के भुलावे को नहीं समझ सके॥४॥ जिन्होंने इस माया को पहचान लिया, उनका मन निर्मल हो गया, और जो बे-पारखी रहे, वे माया-मोह की आग में पतिंगे के समान जलकर नष्ट हो गये॥५॥

हे पगले! परखो! परखो! बिना परख किये वाणी को क्या गाते हो? तुम वाणीजाल की परख नहीं कर सके। जगत के आदि-अंत तथा उत्पत्ति-प्रलय की बातें तो तुमने अपने आप ही कल्पना कर-करके कह डाली है॥४॥

व्याख्या—सृष्टि की सुन्दर धुंधुली कल्पना ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। यह विषय अपने आप आगे सातवीं रमैनी में आयेगा, अतः इसका विवरण यहां नहीं दिया जा रहा है।

अनंत देश-काल-व्यापी अनंत ब्रह्मांड को देखकर मनुष्य का मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह भावुक होकर इसके रचयिता किसी देवता की कल्पना करता है। मनुष्य जगत के मूल द्रव्यों तथा उनके अभिन्न गुण-धर्मों का अध्ययन नहीं करता, जो उत्पत्ति-नाश-रहित अनादि तथा अनंत हैं। वह भावुक बनकर किसी देव को इसका रचयिता मान लेता है।

ऋषियों ने सोचा, काल (समय), स्वभाव, नियति (भाग्य या भवितव्यता), यदृच्छा (स्वयं हो जाना), भूत (तत्त्व), योनि (खानि या कर्म-बीज), पुरुष (चेतन जीव) तथा संयोग—क्या ये आठ संसार के होने में कारण हैं? उत्तर दिया गया कि यह चिंत्य है, विचारणीय है, संदेहयुक्त है; क्योंकि इनमें सात तो सर्वथा जड़ हैं और आठवां पुरुष चेतन तो है, परन्तु सुखी-दुखी होने से असमर्थ है।[१] अतः इन आठों से पृथक एक सर्वसमर्थ देव है जो संसार-सृष्टि का कारण है।[२] उपनिषद् की ये पंक्तियां वैदिक-काल के बहुत पीछे लिखी गयी हैं, परन्तु ये विचार तो बहुत पहले से होते रहे।

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, संयोग तथा पुरुष—इन आठों को ऋषि जो चिंत्य कहते हैं, ये ही वस्तुतः जगत के कारण हैं। परन्तु उक्त मूलाधारों से जगत की व्याख्या पेश करने के लिए मनुष्य को कठोर वैज्ञानिक धरातल पर उतरना पड़ता है। उसे निरस दिखने वाले विवेक की कसौटी पर चढ़ना पड़ता है; अतएव इन तथ्यों से आदमी

---

१. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वनात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥ *(श्वेताश्वतर उप० १/२)*

२. वही १/३-४।

कतराकर और बच्चों-सरीखा भावुक बनकर किसी देव की, ब्रह्म की कल्पना करता है और कहता है कि उसी ने संकल्प की फूंक से अनंत ब्रह्मांड को बनाकर खड़ा कर दिया।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि अनुभव-गम्य उपलब्ध अनादि जड़-चेतन में उनके अपने अनादि स्वभावसिद्ध गुण-धर्म हैं, जिनसे यह अनंत ब्रह्मांड अनादिकाल से विद्यमान है और अनंतकाल तक विद्यमान रहेगा। जड़-चेतन मूल हैं, क्योंकि वे अनादि-अनंत एवं नित्य हैं। मूल का अन्य मूल नहीं होता। मूल स्वयं अ-मूल होता है—"मूलेमूलाभावाद् मूलममूलम्" (सांख्य १/६७)। मूल द्रव्य के अपने गुण-धर्म भी अनादि ही होते हैं। अतः उनसे यह जगत भी अनादि ही है। जगत को "लीलावत्तु कैवल्यम्" कहकर किसी जादूगर की फूंक से इसके खड़े हो जाने की व्याख्या एक भोलापन है।

पूर्व के अनेक ऋषियों एवं गुरुओं ने जगत की व्याख्या जगत के गुण-धर्मों में घुसकर नहीं की, प्रत्युत भावुक देववाद लादकर मनुष्य की चिंतनधारा को सुखा दिया और वे जगत से भिन्न किसी जगत-रचयिता के गीत गाने लगे। सद्गुरु कबीर कितना मधुर व्यंग्य करते हैं—"कर्ता गावै सिरजनहारा"—ये लोग जगत-रचयिता किसी कर्ता को गा रहे हैं।

सद्गुरु कबीर यहां उन्हीं गुरुओं को उद्धृत कर रहे हैं जिनसे देववाद का भ्रम फैल रहा है। वैसे भी वैदिक ऋषि हैं जो जगत में ही जगत की व्यवस्था खोजते हैं और आत्मा को ही परमात्मा रूप में पाते हैं। एक उदाहरण लें—"द्यावा, पृथ्वी, समस्त लोक, समस्त दिशाएं एवं स्वर्गलोक को सब ओर से समझकर वह तत्काल ही ऋत के फैले हुए तन्तुओं को चीर डालता है। फिर उसको देखता है, वही हो जाता है, क्योंकि वह वही है ही।"[1]

ऋषि द्यावा, पृथ्वी, लोक, दिशा, स्वर्ग—सबके साथ 'परि' विशेषण लगाकर सम्पूर्ण सृष्टि पर संकेत करता है। यहां कहा गया है कि सारे विश्व में ऋत के तन्तु फैले हैं। ऋत विश्वसत्ता के मूल द्रव्यों का गुण-धर्म है, जिससे सारा संसार निरंतर चल रहा है। वैसे वेदों में ऋत के तीन अर्थ लिये गये हैं[2]—

(१) प्रकृति-गति, अखिल ब्रह्मांड में एक सदृश सामान्य क्रम।

(२) यज्ञ के संदर्भ में—देवताओं की पूजा में सम्यक एवं व्यवस्थित विधि।

(३) मानव का नैतिक आचरण।

इनमें पहला और तीसरा बहुत महत्वपूर्ण है। जड़-क्षेत्र में उनके गुण-धर्मों से कारण-कार्य की व्यवस्था तथा मानव के नैतिक-क्षेत्र में पवित्र आचरण, यही ऋत है।

---

१. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ *यजुर्वेद ३२/१२॥*

२. ऋग्वेद ४/२३/८-१० में बारह बार ऋत का नाम आया है। और ऋत के लिए देखिए ऋग्वेद–१/९०/६; १/१०५/१२; १/१२१/४; १/१२३/९; १/१२३/१३; १/१२४/३; तथा १/१३६/२/

यहां ऋषि कहता है कि जो विश्व में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था रूपी ऋत को देखता है और फिर उसके फैले हुए तन्तुओं को चीरकर जड़-क्षेत्र से पार होकर आत्मतत्त्व को समझ लेता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ऋषि इसके लिए कथन की तीन उड़ानें करता है—उसको देख लेता है—(तदपश्यत्), वही हो जाता है—(तदभवत्) तथा वही था ही—(तदासीत्)। उसको देख लेता है; यह कथन अपने से, आत्मा से अलग की ओर संकेत करता है, परन्तु संसार के लोगों के परमुखापेक्षी स्वभाव को देखते हुए ऋषि पहले ऐसा ही कहता है। वह पीछे अपने कथन को आत्मतत्त्व के निकट लाता है—वही हो जाता है। किन्तु इसमें भी भ्रम है। हो जाना एक नकलीपन है। अतः ऋषि अन्त में निर्भय होकर कह देता है कि वह तो वही है ही। अर्थात जिस सत्य को, ब्रह्म को, परमात्मा को व्यक्ति खोज रहा है, वह स्वयं वही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर साहेब की चिंतनधारा के सत्पुरुष पहले से भी होते आये हैं। इसके प्रमाण वेदों, उपनिषदों तथा शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनको जड़-चेतन का एवं स्व-पर का ठीक बोध नहीं है, वे कर्ता सिरजनहार के ही गीत गाते हैं।

"कर्महि कै कै जग बौराया। सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया।" सूर्य, चन्द्र, मरुत, अग्नि, बादल, वर्षा आदि प्राकृतिक शक्तियों को देव मान लिया गया और समझा गया कि ये देव आकाश से हमें क्रोध या दया की दृष्टि से झांक रहे हैं। यदि हम हवन-द्वारा इन्हें सन्तुष्ट रखेंगे, तो ये हमारे ऊपर क्रोध न कर दया करेंगे। इस विश्वास को लेकर हवन का खूब दौरदौरा चला। अग्नि में घी, समिधा के साथ-साथ पशु, पक्षी आदि का हवन किया जाने लगा। गोमेध, अश्वमेध, नरमेध तक यज्ञ चले। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६२ तथा १६३ दोनों सूक्तों के पूरे पैंतीस (३५) मंत्र देखने योग्य हैं, जिनमें अश्वमेध का वर्णन है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में अनेक बलि-पशुओं का ही वर्णन है। शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ; आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़ आदि श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में यज्ञविधियां सविस्तार वर्णित हैं।

कहा गया कि "हजारों ब्राह्मणों का वध तथा अरबों गर्भ-हत्या का पाप कोटि आहुतियों का होम करने से नष्ट हो जाता है।"[१] यहां तक "ब्राह्मणों का मारने वाला, विश्व के लोगों का सामूहिक वध करने वाला तथा गाय का मारने वाला भी अश्वमेध करने से शुद्ध हो जाता है।"[२] कहा गया कि सारी ऋद्धियां-सिद्धियां, राज्य, पुत्र, स्वर्ग, विजय यज्ञ करने से मिलते हैं। यह सारा-का-सारा एक महाभुलावन ही है, जिसमें जीवों का भटक जाना स्वाभाविक है। इसीलिए साहेब ने कहा "कर्महि कै कै जग बौराया।"

---

१. ब्रह्महत्या सहस्राणि भ्रूणहत्या अर्बुदानि च।
कोटि होमेन नश्यंति यथावच्छिव भाषितम्॥ *(मत्स्य पु० ९३/१३८)*

२. द्विजहा विश्वहागोघ्नो वाजिमेधेन शुद्धयति॥ *(गर्ग सं० १०/७)*

दूसरी बात, भक्ति भी माया है जिसमें जीव बंधे हैं। सत्पुरुषों तथा सत्यबोध के प्रति भक्ति कल्याणकारी है; परन्तु जड़ मान्यताओं या एक अज्ञात कल्पित धारणा में जीव को भावविभोर कर उलझा देना, यह भक्ति के नाम पर माया ही है। 'सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया' में सक्ति का अर्थ यदि साक्तमत लगाया जाय, तो भी अर्थ में विसंगति नहीं होगी। तब पूरी चौपाई का अर्थ होगा कि कर्मकांड, हिंसक साक्त साधना तथा कल्पित धारणा के प्रति भक्ति—ये तीनों ही जीव को बांधने के लिए माया हैं।

"अद्‌बुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी।" जो इतिहास में न हो, संसार में न हो, जिसकी कहीं कोई सत्ता न हो, ऐसे व्यक्ति तथा वस्तु की व्याख्या कवि लोग ऐसे रसात्मक एवं प्रभावी ढंग से कर देते हैं कि आम समाज उन्हें सत्यवत एवं प्रत्यक्षवत मानकर मनोगत भावधारा में बहने लगता है। इसमें कवियों की कला तो अवश्य महत्वपूर्ण होती है, परन्तु वे सत्य का हनन कर मनुष्य को विपथगामी बना देते हैं। भावना का महत्व थोड़ी दूर तक ही है। सत्य की अनुभूति केवल भावना से नहीं, बोध से होती है।

"गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।" सद्‌गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध की सर्बक पानी" (रमैनी ४५)। कोई आदमी सदाचारी हो सकता है और विद्वान भी, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसे सत्य का बोध भी हो। अतएव 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ गुणी-अनगुणी, विद्वान-अविद्वान कोई नहीं समझ सका। इसे तो कोई पारखी ही समझ सकता है।

"जो चीन्हें ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा।।" गुरुजनों का मोह, परम्परा का मोह, शास्त्रों का मोह, मन की कल्पनाओं का मोह परख लेना और उनसे ऊपर उठ जाना, बहुत बड़ी बात है। जो बंधनों को देखता है, वही मोक्ष को भी देखता है। जिसे बंधनों की परख नहीं, वह मोक्ष को क्या समझ सकता है।[१] गुरु, परम्परा तथा शास्त्र सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। गुरु, परम्परा तथा शास्त्र की सत्य बातों से ही अपना तथा अन्य का कल्याण हो सकता है।

सद्‌गुरु कबीर चीन्हने एवं परखने पर जोर देते हैं, केवल मान लेने पर नहीं। परखने वाले निर्मल होते हैं। न परखने वाले पतिंगे के समान नष्ट हो जाते हैं।

"चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह। आदि अंत उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह।।" गुरु की वाणी है, संत की वाणी है, शास्त्र की वाणी है, परम्परा की वाणी है, इस श्रद्धातिरेक में पड़कर मनुष्य उनकी वाणियों पर कसौटी लगाना नास्तिकता एवं पाप समझता है। जब तक मनुष्य में सत्य के लिए निष्ठा नहीं जग जाती, तब तक वह शास्त्रों की वाणियों पर परीक्षा की कसौटी नहीं लगा सकता। और जब तक ऐसा नहीं

---

१. बन्धन छिपै न जाहि से, मुक्ति ताहि की दृष्टि।
बन्धन जेहि अनुभव नहीं, तेहि को मुक्ति अदृष्टि।। *(मुक्तिद्वार ६/११)*

होता, तब तक सत्य का मोती नहीं मिल सकता। सद्गुरु कहते हैं कि जगत के आदि-अंत, उत्पत्ति-प्रलय की कल्पना करने वाले भी तुम्हीं हो और ऐसी-ऐसी वाणियों को लिख-पढ़कर उनका प्रचार करने वाले भी तुम्हीं हो, और "आपुहि बरि आपन गर बंधा" (रमैनी ३३) के अनुसार तुम स्वयं अपने वाणीजाल में उलझे हो।

'चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे' इस अंश का अर्थ अन्य ढंग से भी हो सकता है। इसके पहले सद्गुरु ने कहा है कि "जो वाणी को चीन्ह लिया वह निर्मल हो गया और जो नहीं चीन्ह सका, वह पतिंगे के समान जलकर मर गया।" तो मानो लोगों ने कहा हो कि "हम भी वाणी को चीन्हते हैं, पहचानते हैं।" यह सुनकर सद्गुरु ने मानो उत्तर दिया हो कि हे पगले! तुम चीन्ह-चीन्ह कर क्या गाते हो? तुम्हारा चीन्हना, पहचानना धोखे में है। तुमसे वाणी का जाल पहचाना नहीं जा सका।

हंसदशा भ्रांतियों से परे है

रमैनी–५

कहलौं कहौं युगन की बाता। भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा॥ १ ॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अक्षर लै युक्ति बनाई॥ २ ॥
बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना। अनहद शब्द ज्योति परमाना॥ ३ ॥
अक्षर पढ़ि गुनि राह चलाई। सनक सनन्दन के मन भाई॥ ४ ॥
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैल गैल मन अगम अपारा॥ ५ ॥
चहुँ युग भक्तन बाँधल बाटी। समुझि न परलि मोटरी फाटी॥ ६ ॥
भय भय पृथ्वी दहुँ दिश धावै। अस्थिर होय न औषध पावै॥ ७ ॥
होय बिहिस्त जो चित न डोलावै। खसमहि छाड़ि दोजख को धावै॥ ८ ॥
पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप सन्धि बूझै कोई॥ ९ ॥
भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा॥१०॥

साखी—बिनु गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात।
युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बाटा = रास्ता। भाई = अच्छी लगी। बिबि अक्षर = दो अक्षर—ओ + म्, सो + हं। बँधाना = विधान, नियम, परिपाटी। अनहद शब्द = अनाहतनाद, खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकार। ज्योति = मस्तिष्क की गरमी, आंखों की गरमी। परमाना = सत्य। गैल = गया। बाटी = बाट, भक्ति मार्ग। मोटरी फाटी = भ्रम की गठरी फट पड़ी। औषध = पारख, बोध। बिहिस्त = स्वर्ग, मोक्ष। खसमहि = पति, स्वस्वरूप। दोजख = नरक, विषय-वासना। पूरब दिशा = ज्ञान-दिशा, ज्ञान, परखबुद्धि। हंसगति = विवेक की दशा, स्वरूपस्थिति।

भावार्थ—युगों की बातें कहां तक कहूं, संसार के लोग ब्रह्म के स्वरूप को भूल गये, सही रास्ता नहीं परख सके। अर्थात ब्रह्म की वास्तविकता क्या है, यह नहीं समझ

सके।।१।। विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा के मन में भी यही बात अच्छी लगी और वे ओ+म्, सो+हम् आदि दो अक्षर मिलाकर ब्रह्म की व्याख्या करने तथा संसार-सागर से तरने का उपाय बताये।।२।। इस प्रकार ब्रह्म को व्याख्यायित करने के लिए दो अक्षरों की परिपाटी बनायी, और अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन को ब्रह्म का प्रामाणिक साक्षात्कार मान लिया।।३।। शास्त्रों को पढ़-गुनकर सम्प्रदाय चलाये गये और सनक-सनंदनादि को भी ये मार्ग अच्छे लगे।।४।। वेदों और किताबों का बहुत विस्तार हुआ। इन अगम-अपार वाणियों एवं शब्दजाल में मनुष्यों का मन बिखरकर उलझ गया।।५।। भक्तों ने चारों युगों में भक्ति-मार्ग की योजनाएं बनायी हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आयी कि हमारे ऊपर भ्रम की मोटरी फट पड़ी है।।६।। संसार के मनुष्य भयभीत होकर दसों दिशाओं में भटकते हैं। न वे स्थिर होते हैं और न उन्हें बोध एवं शांति-रूपी औषध मिलती है।।७।। यदि मनुष्य अपने मन को चंचल न करे, तो उसको तत्काल स्वर्ग का सुख प्राप्त हो। परन्तु मन तो अपने चेतनदेव प्रभु को छोड़कर विषय-वासना रूपी नरक में दौड़ता है।।८।। हंस की स्थिति ज्ञानपरक दशा में है। यह तत्त्व सबके पास है, परन्तु इसका रहस्य कोई विरला समझता है।।९।। भक्त लोग भक्ति का श्रृंगार करते हैं और सब संसार-सागर में डूबकर मरते हैं।।१०।।

बिना गुरुज्ञान के ही यह झगड़ा मचा है। भक्तजन लोगों से मिलकर जीव के ऊपर किसी भिन्न खसम की बात बताते हैं। इस प्रकार के उपदेश युगानुयुग से चले आ रहे हैं और उन्हीं के प्रभाव में लोग प्रभावित हैं। सही बात मानने वाला कोई नहीं है।।५।।

व्याख्या—ब्रह्म का सीधा सादा अर्थ है 'बड़ा'—वृहत्वात् ब्रह्म। अपने शुद्ध चेतन स्वरूप का भाव लेकर यह मानना कि मैं ब्रह्म हूं, शुद्ध-बुद्ध हूं, जिस परमतृप्ति की मुझे भूख है, वह मेरे ही अपने शुद्ध-स्वरूप में निहित है—यह अध्यात्म का उच्चतम बोध और स्थिति है। परन्तु जब यह मान लिया जाता है कि सारा विश्व-ब्रह्मांड ब्रह्म है और वह मैं ही हूं तब हम एक ऐसी भावुकता में बह जाते हैं जिसका साक्षी बोध नहीं है। मैं अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, यह किसी का अनुभव नहीं है; किन्तु एक भावुकतापूर्ण जोशीली धारणा है जिसमें सत्य का रास्ता खो जाता है। मैं सबका साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह अनुभव तथ्य है। फिर इसके साथ मैं में ब्रह्म शब्द जोड़ देना कोई बुरा नहीं है। सावधानी यही होनी चाहिए कि मैं में जगत न जोड़ा जाय। अतएव सद्गुरु जड़-चेतन-अभिन्नता बोधक ब्रह्म को ध्यान में रखते हुए यह ठीक ही कहते हैं कि 'भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा'। जहां जड़-चेतन का विवेक ही खो गया, जहां चेतन को जड़ से अलग नहीं किया जा सका, वहां निश्चित ही सही रास्ते की पहचान नहीं हुई। वस्तुतः ब्रह्मवादी वास्तविक ब्रह्म को भूल गये। वे चेतन मात्र का बोध और स्थिति छोड़कर अग-जग-व्यापक जड़-चेतन-अभिन्न मान लिये।

ओम्, सोहं, राम आदि मनुष्यों-द्वारा कल्पित नाम हैं। इनके जपादि, किसी परिपाटी के साधक के लिए साधना में कुछ दूर तक सहायक हो सकते हैं, परन्तु ये नाम किसी साधक का लक्ष्य नहीं हो सकते।

इसी प्रकार अनाहत शब्द और ज्योति की बात है। कान आदि छिद्रों को बन्द करने तथा एकाग्रता होने पर जो सिर के भीतर ध्वनि सुनाई देती है उसे अनाहतनाद कहते हैं। वह तत्त्व, प्रकृति एवं नसों की झनकार होने से श्रोत्र का श्राव्य है, जड़ है। इसी भांति

आंख मीचने, नस दबाने, त्राटक करने या सहज आंख बन्द कर आंखों के भीतर ही गरमी पर ध्यान देने से कुछ समय में ज्योति दिखाई देती है। यह भी दृश्य होने से जड़ है। इस प्रकार शब्द, ज्योति आदि को ब्रह्म एवं अपना स्वरूप मान लेना अपने को धोखे में डालना है।

केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"जिसे आंखें नहीं देखतीं, किन्तु जिसकी सत्ता से आंखें देखतीं हैं, उसी को ब्रह्म जान, और आंखों से देखकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे कान नहीं सुनते, किन्तु जिसकी सत्ता से कान सुनते हैं, उसे तू ब्रह्म जान और कानों से सुनकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।"[१]

किसी परिपाटी का साधक अपने मन की एकाग्रता के लिए क्रियायोग के रूप में अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन कर सकता है, परन्तु इसको बीच की ही साधना मानना चाहिए, लक्ष्य नहीं। अनाहतनाद, सारशब्द, ज्योति आदि इस प्रकार जितने नाम लिये जाते हैं सब जीव के भास, दृश्य एवं कल्पित हैं। ये मन के संयमन में सहायक हो सकते हैं, वस्तुस्थिति नहीं। समाधि में जब मन की सत्ता ही समाप्त हो जाती है, तब मन से चित्रित शब्द, ज्योति आदि का कहां अस्तित्व! वहां तो स्वस्वरूप चेतन की शुद्ध सत्ता मात्र है और गहरी शांति है।

भारत में चार वेद बने, पीछे अनेक ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शास्त्र, महाकाव्य, पुराण, उपपुराण आदि असंख्य ग्रन्थ बने। विदेश में तौरेत, जबूर, इंजील, कुरान, हदीस, जिंदावेस्ता आदि असंख्य ग्रन्थ बने। नाना विद्वान और महात्मा नाना ढंग से अपने विचार रखे। इन सबमें पड़कर मनुष्य का मन फैल गया। स्वस्वरूपबोधक वाणियां तो बहुत ही कम होती हैं। इसके बिना कहां बोध और कहां शांति!

हर समय में मनुष्य के मन में भक्ति की भावना रही है। चाहे भय और स्वार्थ लेकर और चाहे किसी के गुणों से प्रभावित होकर प्रेम-वश। अधिकतम मनुष्य भय तथा स्वार्थवश होकर ही भक्ति करते आये हैं, जो घटिया है। भक्तों ने भक्ति-विस्तार के लिए सदैव अनेक रोचक और मिथ्या कथाएं गढ़ी हैं। भक्ति के जोश में मन की धारणाएं ही सर्वोच्च बन बैठीं। यहां तक कि आग, पानी, पत्थर, नदी, पेड़ मनुष्य के कल्याणदाता सर्वश्रेष्ठ बन गये और स्वयं मनुष्य, जिसने इन जड़ पदार्थों को मान्यता दी, इनके सामने घुटने टेकने लगा। मनुष्य समझता है कि मैं भक्ति करता हूं। वह यह नहीं समझता कि मेरे ऊपर भ्रांति की मोटरी फट पड़ी है। वह भयभीत होकर दसों-दिशाओं में भटकता है। वह पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, मोक्ष एवं भगवान को पाने के लिए नदियों, पहाड़ों एवं तीर्थों की खाक छानता है। भक्ति का जोश उसे स्थिर नहीं होने देता। उसे सब जगह भगवान के सपने दिखते हैं। किन्तु "ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि" (साखी २७९)। शून्य के रोटी, दाल, भात से पेट कैसे भरेगा? मन के क्षणिक आनन्द के लिए भावना का

---

१. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ *(केन उप० १/६-७)*

भगवान ठीक है, किन्तु सच्चा भगवान तो अपना चेतन-स्वरूप है, जिसके बोध एवं स्थिति से अनन्त शांति होती है। यही भवव्याधि की औषध है। परन्तु मन के स्थिर हुए बिना यह औषध कैसे मिलेगी!

चित्त की स्थिरता ही स्वर्ग है, मोक्ष है, परमानन्द है और परमपद है। सद्गुरु कहते हैं हे मनुष्य! यदि तू स्वर्ग चाहता है, तेरे को मोक्ष इष्ट है, तो तू अपने मन को स्थिर कर। तेरा परमप्रभु तो तेरे अपने हृदय में विराजमान तेरा अपना चेतन-स्वरूप ही है। तू अपने मन को उसी में लगा। विषय-वासना जो नरक है, उसमें न ले जा।

"पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई।।" जिस दिशा में सूर्य उगता है उसे पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाश स्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व दिशा का अर्थ ज्ञान की दिशा है। लोकोक्ति के अनुसार हंस नीर-क्षीर-विवेकी होता है। वह जल को छोड़कर केवल दूध लेता है। गति के अर्थ गमन, ज्ञान, प्राप्ति, मोक्ष आदि हैं। अभिप्राय हुआ कि जो ज्ञानपरक बुद्धि वाला एवं विवेकी है वही मन की धारणाओं एवं जड़ाध्यासों को छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होता है। 'अहम्' और 'सः' इन दो पदों के जोड़ से 'हंस' शब्द बना है। हंस में अ तथा विसर्ग लुप्त हो गये हैं। अहम् + सः—मैं + वह, अर्थात जिसे मैं खोज रहा हूं वह मैं ही हूं, यह हंस का हंसत्व है। मिट्टी के खिलौने बेचने वाले हीरे की परख नहीं कर सकते। परोक्ष कल्पित वस्तु की भक्ति-भावना में बहने वाले लोग वस्तुपरक हंस दशा का न बोध प्राप्त कर सकते हैं और न उसमें स्थिर हो सकते हैं। विवेकज्ञान में ही हंसदशा की प्राप्ति होगी। विवेकज्ञान की भूमिका सबके निकट है। निकट कहने का भी एक तरीका है। वस्तुतः सब मनुष्य के हृदय में विवेकज्ञान का बीज है। उसे समझना चाहिए और उसका उपयोग कर स्वरूपस्थिति प्राप्त करना चाहिए।

"भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा।।" भक्ति हृदय की एक कोमल भावना है, जो सत्यबोध एवं सत्य में स्थित होने के लिए आवश्यक है। परन्तु यह जब कल्पित मन की धारणाओं एवं जड़ उपासनाओं में उलझ जाती है, तब सत्य का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है। कहा जाता है "ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर"। वही जब गाल में लग जाता है तब कारिख कहलाता है और जब आंखों में लगता है तब काजल कहलाता है। जिस भक्ति का फल आत्मज्ञान और आत्मस्थिति है, वह उच्च है और जिस भक्ति का फल केवल भावनाओं के जगत में बहना है, वह संसार-सागर में ही डुबाने वाली है।

"बिन गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात। युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात।।" खसम का अर्थ पति या मालिक है। सभी ज्ञान-विज्ञान का पति यह जीव ही है, किन्तु "कहलौं कहीं युगन की बाता" और "युग युग सो कहवैया" सदा से ऐसे ही अधिक होते आये हैं जो जीव के ऊपर अन्य खसम सिद्ध करते हैं और उसकी भक्ति-भावना का शृंगार कर मन की धारा में डूबते हैं। इस झगड़े के मूल में है गुरुज्ञान का अभाव। लोग भक्ति के सम्मोहन में ज्ञान का तिरस्कार करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "काहु न मानी बात" किसी ने बात नहीं मानी। परन्तु यदि कोई न मानता, तो विवेकमार्ग संसार में कैसे चलता रहता? वस्तुतः वे भ्रांतियों के जोर पर प्रकाश डाल रहे हैं। सच है, सत्य का रास्ता अकेले का है। इसीलिए विश्वकवि टैगोर जी कहते हैं 'एकला चलो रे'।

कल्पनाएं छोड़कर मन को शून्य करो

रमैनी–६

बर्णहु कौन रूप औ रेखा। दूसर कौन आहि जो देखा॥ १ ॥
वो ॐकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥ २ ॥
नहिं तारागण नहिं रवि चन्दा। नहिं कछु होते पिता के बिन्दा॥ ३ ॥
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरे नाम हुकुम को बरना॥ ४ ॥
नहिं कछु होते दिवस निजु राती। ताकर कहहु कौन कुल जाती॥ ५ ॥

साखी—शून्य सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक ज्योत।
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होत॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रेखा = चिन्ह, लक्षण। आदि = मूल। कुल = संपूर्ण। बिन्दा = वीर्य। बलिहारी = प्रशंसा, धन्यवाद। निरालम्ब = निराधार, असंग।

भावार्थ—किस रूप और लक्षण का वर्णन करते हो? तुम्हारे अतिरिक्त उसे किसने देखा है? ॥१॥ उस प्रणव का मूल तो वेद भी नहीं जानते हैं, बताओ! उसका संपूर्ण रहस्य क्या है? ॥२॥ कहते हैं "पहले तारागण, सूर्य, चन्द्रमा, पिता के वीर्य, जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि नहीं थे। फिर किसने नाम रखा और इन सबको उत्पन्न होने की आज्ञा दी? जिस ब्रह्म के निज स्वरूप में दिन-रात, ज्ञान-अज्ञान कुछ नहीं थे, उसके कुल और जाति अर्थात गुणात्मक लक्षण क्या वर्णन करते हो? ॥३-५॥

सहज मन से स्मरण करते हुए जब संकल्पों का शून्यत्व हुआ तब हृदय में ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई। मैं उस पुरुष की प्रशंसा करता हूं जो असंग हो जाता है ॥६॥

व्याख्या—"बर्णहु कौन रूप औ रेखा......" अपने चेतन स्वरूप को छोड़कर जो लोग अलग ब्रह्म खोजते हैं, उनसे सद्गुरु पूछते हैं कि तुम्हारे माने हुए ब्रह्म के क्या रूप और लक्षण हैं? यदि उसका कोई बाह्य लक्षण है, तो वह भौतिक है और यदि वह चेतन मात्र है, तो मेरे अपने स्वरूप से भिन्न नहीं। यदि भिन्न है, तो सजाति मात्र है। ऐसी दशा में मेरी स्थिति मेरे अपने चेतन-स्वरूप में ही होगी, न कि अन्य सजाति चेतन में। हर हालत में स्वरूप से भिन्न सत्य का खोजना एक भ्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम अलग ब्रह्म खोज रहे हो, तो दूसरा कौन है जो उसे देख रखा है और तुम्हें दिखा देगा।

कहते हैं उसका नाम 'ॐ' अर्थात 'प्रणव' है; परन्तु यह नाम भी मनुष्यों का ही बनाया है। अन्तिम दौड़ वेदों तक है, परन्तु वेद भी उसका भेद नहीं जानते। वे भी नेति-नेति कहकर मौन हो जाते हैं। जो केवल कल्पना का विषय है, उसका निर्धारण कैसे हो सकता है!

जिन्हें नित्य विद्यमान सत्ता के दो मूल तत्त्वों जड़ और चेतन के मूल स्वरूपों का विवेक नहीं है और जो किसी ब्रह्म-द्वारा अवर्तमान से इस वर्तमान जगत का प्रादुर्भाव मानते हैं, वे संसार के सारे लोग यही कहते हैं कि "पहले चांद, सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि नहीं थे। किसी दिन शुद्ध ब्रह्म ने स्फुर्णा की और इन असंख्य विशाल ब्रह्मांडों को तुरन्त क्रम से खड़ा कर दिया।" जगत को समझने में मनुष्य की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। सद्गुरु प्रश्न करते हैं कि जब यह नानाविध संसार नहीं था, तब किसकी आज्ञा से यह उपस्थित हो गया? जिसने अवस्तु से जगत-वस्तु बना दी, उसका ॐ या प्रणव नाम किसने रखा? क्योंकि उसके अतिरिक्त तो अन्य कोई था नहीं। जगत के जीव तो जगतकर्ता से मिल नहीं सके, तो यह सिद्धान्त कैसे स्थिर किया गया? जो ज्ञान-अज्ञान से परे तथा त्रिगुण से परे है, उसके कौन-से लक्षण तुम्हें ज्ञात हैं?

"शून्य सहज मन सुमिरते……" जब मन सहज, सरल एवं निर्ग्रंथ हो जाता है तब स्व-स्वरूप का स्मरण करते-करते एक अवस्था ऐसी आती है जहां सारे विचार, सारे संकल्प एवं सारे स्मरण समाप्त होकर चित्त शून्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। संकल्प स्वरूपज्ञान को ढाकते हैं। संकल्पों के हट जाने पर स्वरूपज्ञान का उद्घाटन होता है। यह स्वरूपज्ञान ही वह ज्योति है जिसमें सारे अज्ञान का अन्त होता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उसकी प्रशंसा करता हूं जो सारे दृश्यों से असंग होकर अपने आप रह जाता है। श्रुति भी कहती है "असंगो ह्ययं पुरुषः।"

सृष्टि अनादि तथा अनंत है

रमैनी–७

तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी॥ १ ॥
तहिया होते कली नहिं फूला। तहिया होते गर्भ नहिं मूला॥ २ ॥
तहिया होते विद्या नहिं वेदा। तहिया होते शब्द नहिं स्वादा॥ ३ ॥
तहिया होते पिण्ड नहिं बासू। नहिं धर धरणि न पवन अकासू॥ ४ ॥
तहिया होते गुरू नहिं चेला। गम्य अगम्य न पन्थ दुहेला॥ ५ ॥

साखी—अविगति की गति का कहो, जाके गाँव न ठाँव।
गुण बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव॥ ७ ॥

शब्दार्थ—तहिया = सृष्टि के प्रथम। गम्य = सरल। अगम्य = कठिन। दुहेला = कठिन, दो। अविगति = अज्ञात।

भावार्थ—उस समय वायु और जल नहीं थे तो सृष्टि किसने बना दी? उस समय न कली थी न फूल, न गर्भ था न उसका मूल वीर्य, उस समय न विद्या थी न वेद, न शब्द था न स्वाद। न तो तब शरीर था और न उसमें जीव का निवास। उस समय न पर्वत, न पृथ्वी, न हवा थी न आकाश। उस समय गुरु और शिष्य भी नहीं थे। उस समय सरल और कठिन—दोनों मार्ग भी नहीं थे॥१-५॥

फिर जिसका पता-मुकाम कुछ नहीं है उस अज्ञात की बातें क्या करते हो? इस गुणविहीन दर्शन में कर्ता-कारण के क्या नाम कहोगे? ॥७॥

व्याख्या—जिनको नित्य और अनादि जड़-चेतन के नित्य और अनादि गुण-धर्मों से नित्य एवं अनादि जगत का बोध नहीं होता, वे प्रायः यही कहते हैं कि कभी ऐसा था कि यह संसार नहीं था। संसार के विभिन्न कोनों में इस प्रकार की भावना वाले लोग हुए हैं। भारत के ही नहीं, प्रत्युत विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एक उलझी हुई, धुंधली, विनम्र एवं मनोरम कल्पना आयी है, जो इस प्रकार है—

"उस समय असत नहीं था न सत ही था। न पृथ्वी थी और न उसके ऊपर आकाश था। आवरण भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या गहन गम्भीर जल था? ॥१॥ उस समय न मृत्यु थी और न अमरता थी। रात और दिन का भेद भी नहीं था। वह एक निर्वात अपने स्वभाव से स्थित था। उसके अलावा कुछ नहीं था॥२॥ उस समय अन्धकार से अन्धकार ढका था अर्थात सर्वत्र अन्धकार था। और यह सब जलमय था। एक अंकुर था जो त्विष (भूसी) से ढका हुआ था, वह तपस् (उष्मा) की शक्ति से पैदा हुआ॥३॥ पहले काम उत्पन्न हुआ और मन से वीर्य पैदा हुआ। मनीषी कविगण अपने हृदय में विचार कर असत के साथ सत के बन्धन का पता लगाये॥४॥ उसकी किरणें जो सर्वत्र फैली थीं, ऊपर थीं कि नीचे? वीर्य (बीज) को धारण करने वाले थे और महिमाएं (शक्तियां) भी थीं। आत्मशक्ति नीचे थी और इच्छाशक्ति ऊपर थी॥५॥ यह सृष्टि कहां से आयी, कैसे बनी, इसे कौन निस्संदेह जानता है और कौन इसकी निर्भ्रान्त घोषणा कर सकता है? देवता लोग भी सृष्टि होने के बाद ही पैदा हुए हैं, फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहां से हुई? ॥६॥ ये सृष्टियां कहां से हुईं किसने पैदा कीं, किसने नहीं पैदा कीं—यह सब वही जानता होगा जो इसका अध्यक्ष अंतरिक्ष में स्थित है और हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो॥७॥"[1]

---

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२॥
तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतकम्॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥५॥
को अद्धा वेद कं इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबिभूव यदि वा वेद यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥७॥

(ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १२९)

प्राप्त इतिहास में हमारे पूज्य वैदिक ऋषियों की सृष्टि के विषय में यह पहली कोमल कल्पना है। ऋषि उलझी हुई बातें करते हैं। वे कल्पना की उड़ानें भरते हैं कि पहले सत, असत, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ नहीं था। फिर वे जल, किरणें आदि का होना मान लेते हैं। वे पहले कामना तथा मन के स्पंदन से रेत (वीर्य) उत्पन्न होना मान लेते हैं। परन्तु यह सब शरीरधारी से ही संभव है, जिसका होना उस तथाकथित शून्य काल में सर्वथा असम्भव है। ऋषिगण व्योम में, आकाश एवं अंतरिक्ष में इन सबका एक अध्यक्ष (मालिक) भी मान लेते हैं और कहते हैं कि हो सकता है वही इस सृष्टि को जानता हो कि यह कहां से तथा किससे उत्पन्न हुई है। ऋषि अन्त में यह भी कह देते हैं कि हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो। ऋषि यह कहकर कि हो सकता है वह भी न जानता हो 'न वेद' अध्यक्ष को अल्पज्ञ जीव बना देते हैं। इन महत्वपूर्ण मन्त्रों से कई बातें उभरकर सामने आती हैं।

१. पहले संसार नहीं था, सब शून्य था।
२. यह कहां से आया, किसने क्या लेकर बनाया, इसे देवता और अध्यक्ष (ईश्वर) भी शायद नहीं जानते हैं।
३. इससे ईश्वर अंतरिक्ष में रहने के कारण एकदेशी है और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिमान है ही।
४. मंत्रों में ऋषियों की सृष्टि में अनिश्चयता और ईमानदारी टपकती है।

इस सूक्त के बनते तक ईश्वर की कल्पना पुष्ट नहीं हुई थी। उसे एक देवता के समान अंतरिक्ष से नीचे की ओर झांकने वाला असहाय और अल्पज्ञ जैसे ही मान लिया गया है। ऋषि सृष्टि के विषय में एक कोमल कल्पना करते हैं, परन्तु वे दावा नहीं करते कि जो मैं कहता हूं, पक्का है। पुराण और महाकाव्यों के लेखकों की भांति वैदिक ऋषि मिथ्या साहस और दावा नहीं करते हैं कि सृष्टि अमुक देवता के पेट या मूड़ से निकल आयी या अमुक व्यक्ति ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर आ गया और उसकी इच्छा से सब बन गया। वैदिक ऋषि तो यहां तक अपनी सरलता व्यक्त कर देते हैं कि "मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूं, मेरा उलझा हुआ मूढ़ मन इधर-उधर भटकता है।"[१]

अब मूल बात पर आना है। प्रस्तुत सातवीं रमैनी में सद्गुरु मानो नासदीय सूक्त पर प्रश्न पेश करते हैं और कहते हैं कि जब पहले कोई तत्त्व एवं पदार्थ नहीं था तब सृष्टि कहां से आ गयी? अर्थापत्ति प्रमाण से सद्गुरु कबीर कहना चाहते हैं कि जब वस्तुएं नहीं थीं, तब कहां से आ गयीं? 'असत की सत्ता नहीं तथा सत का अभाव नहीं।'[२]

विज्ञान भी मानता है कि मैटर (मूल द्रव्य) न बनता है और न मिटता है। वह अनादि, अनंत एवं नित्य है। मूल द्रव्यों के जिन गुण-धर्मों से आज सृष्टि संपादित हो रही

---

१. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। *(ऋग्वेद, १/१६४/३७)*

२. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। *(गीताः २/१६)*

है उन्हीं गुण-धर्मों से पीछे अनादिकाल से सृष्टि का संपादन होता आया है। क्योंकि अनादि मूल द्रव्यों में सृष्टि-उत्पत्ति के गुण-धर्म बीच में कहीं शून्य से नहीं आ गये हैं, किन्तु उनमें मूलतः अनादि से समवाय-सम्बन्धरूप में हैं। अनादि मूल द्रव्यों में अनादि गुण, धर्म, क्रिया हैं जिनसे अनादिकाल से सृष्टि विद्यमान है। भौतिक कणों का अलग-अलग बिखर जाना तथा एकजुट होकर दृश्य पदार्थ बन जाना—यह प्रक्रिया अनादिकाल से है। क्या अनादि मूल द्रव्य अपने गुण, धर्म, क्रिया छोड़कर पहले स्थिर रहे? कि गुण, धर्म, क्रिया से रहित रहे और बीच में कहीं बाहर से आकर मूल द्रव्यों में गुण, धर्म, क्रिया मिल गये? ये सारी बातें तर्कहीन हैं। अतएव मूल द्रव्य नित्य हैं, उनमें उनके गुण, धर्म तथा क्रिया नित्य हैं और उनसे जगत-सृष्टि नित्य है।

इसी प्रकार असंख्य जीव (चेतन सत्ता) भी नित्य हैं। उनके कर्म-प्रवाह भी अनादि हैं। अतएव सृष्टि भी अनादि है। सद्गुरु कहते हैं कि नित्य विद्यमान जगत के प्रति नये सिरे से उत्पन्न होने की ऐसी अज्ञात की बातें मत करो जिसका गांव-ठांव कुछ नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कबीर साहेब, जो 'मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहीं नहिं हाथ' कहते हैं, वेदों को क्या जानें और वे नासदीय सूक्त के विषय पर तर्क कैसे कर सकते हैं!

वस्तुतः अनेक विद्वान अनेक विषयों पर बहुत छिछली मीमांसा देने लगते हैं। 'मसि कागद छूवों नहीं' को लेकर अनेक विद्वान यही कहने लग गये कि कबीर साहेब तो पढ़े-लिखे नहीं थे। यह ठीक है कि सत्य ज्ञान के लिए लिखना-पढ़ना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि निष्पक्ष प्रगल्भ बुद्धि, संवेदनशीलता, विवेक एवं अंतरात्मा की गहराई में उतरना। ये सारी शक्तियां कबीर साहेब के पास थीं। श्रोताओं, वक्ताओं से शास्त्रों की बहुत-सारी बातें सुनकर उन पर तर्क या विचार किया जा सकता है। परन्तु उक्त "मसि कागद छूवों नहीं" साखी के आधार पर यह नहीं सिद्ध होता कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे।

वे उक्त साखी की पहली पंक्ति के बाद कहते हैं "चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात।" वे अपनी बातों को बताने के लिए कलम, कागज तथा स्याही नहीं छूते। वे मुख से ही बोलते थे और शिष्य लोग लिख लेते थे। कहा जाता है कि वेदव्यास महाभारत अपने मुख से बोलते गये हैं और उसे गणेश जी ने लिखा है। आज कितने ही विद्वान मुख से बोलकर अपने कर्मचारियों से लिखवाते हैं। पारख सिद्धान्त के प्रसिद्ध और सिद्ध सन्त श्री विशाल साहेब ने एक अक्षर अपने हाथों से नहीं लिखा। पूरा विशाल वचनामृत आपके मुख से निकला है और शिष्यों ने लिखा है; किन्तु उसमें एक अक्षर भी दूसरे की मिलावट नहीं है।

कबीर साहेब जैसे प्रतिभा के धनी तथा संवेदनशील पुरुष तात्कालिक शास्त्रों की भाषा कामचलाऊ पढ़ लिए हों तो इसमें क्या आश्चर्य है। भले, वे व्याकरणाचार्य न रहे हों। उनका बीजक देखने से ही उनके शास्त्रज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अलावा पूर्वपक्ष की बातें सुनकर भी उन पर तर्क किया जा सकता है।

तत्त्वमसि-विचार

रमैनी—८

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद कहैं सन्देशा॥ १ ॥
ई निश्चय इनके बड़भारी। वाहिक वर्णन करें अधिकारी॥ २ ॥
परमतत्त्व का निज परमाना। सनकादिक नारद शुक माना॥ ३ ॥
याज्ञवल्क्य औ जनक सम्बादा। दत्तात्रेय वोहि रस स्वादा॥ ४ ॥
वोहि बात राम बसिष्ठ मिलिगाई। वोहि बात कृष्ण उद्धव समुझाई॥ ५ ॥
वोहि बात जो जनक दृढ़ाई। देह धरे विदेह कहाई॥ ६ ॥

साखी—कुल मर्यादा खोय के, जीवत मुवा न होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तत्त्वमसि = वह तू है। इनके = अद्वैत वेदांतियों के। अधिकारी = योग्य पात्र। परमतत्त्व = सर्वोच्च सत्यता, ब्रह्म। परमाना = सत्य।

भावार्थ—वह-तू-है, यही इनके उपदेश हैं। उपनिषदें यही संदेश देती हैं॥१॥ इनको इसका बड़ा भारी निश्चय है। अधिकारी सत्पात्र मिलने पर ये इसी की व्याख्या करते हैं॥२॥ यही इनका प्रामाणिक परमतत्त्व है। सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, शुकदेव आदि ने इसी सिद्धांत को माना है॥३॥ याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद इसी पर हुआ है। दत्तात्रेय जी ने इसी का रसास्वादन किया है॥४॥ राम और वसिष्ठ ने परस्पर इसी बात पर बहस की है। इसी बात को कृष्ण ने उद्धव को समझाया है॥५॥ जनक को इसी बात का निश्चय कराया गया है। वे देह में रहते हुए भी विदेह कहलाये हैं॥६॥

परन्तु केवल कुल की मर्यादा छोड़ देने से कोई जीते जी मुरदा नहीं हो जायगा। जो देखते हुए भी अनदेखा करता है, वह विवेक नेत्रों से रहित ही कहलायेगा॥८॥

व्याख्या—'तत्त्वमसि' शब्द में तीन खंड हैं—तत्-त्वम्-असि। 'तत्' का अर्थ है 'वह', 'त्वम्' का अर्थ है 'तू', 'असि का अर्थ है 'होना' अर्थात 'वह तू है'। 'तत्' का अर्थ तत्त्व, सार, सत्य भी होता है; अर्थात तू सत्य है, सार है।

जिस सत्य, सार एवं परम तत्व को तू खोज रहा है, वह तू ही है—यह अध्यात्म का निचोड़ है। छांदोग्य उपनिषद् के छठें प्रपाठक के सोलहों खंडों में ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसी तत्त्वमसि का उपदेश विस्तार से किया है। उन्होंने बारंबार कहा है—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'—हे श्वेतकेतो! वह आत्मा, वह तू ही है। सनत्कुमार ने छांदोग्य उपनिषद् के सातवें प्रपाठक के छब्बीस खंडों में यह विषय नारद को विस्तार से समझाया है। उन्होंने कहा है भूमा में, निरतिशय में, अनंत में, सत्य में वह सुख है, अल्प में नहीं।[1] यही बात शुकदेव स्वामी ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत में समझाया है।[2] इसी विषय पर वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद

---

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति॥ *(छां० उ०, प्रपाठक ७, खंड २३)*

२. श्री मद्भागवत, स्कंध २, अध्याय ९, श्लोक ३२-३५, चतुःश्लोकीभागवत।

हुआ है।[१]

श्री मद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दतात्रेय जी ने भी इसी का रसास्वादन किया है, जहां उन्होंने अपने चौबीस गुरुओं का वर्णन किया है। महर्षि वसिष्ठ ने श्री राम को इसी तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश योगवासिष्ठ ग्रन्थ में किया है जो बत्तीस हजार श्लोकों में रचित अद्वैतवेदांत का अनूठा ग्रन्थ है। इसी तत्त्वमसि का उपदेश श्रीकृष्ण जी ने भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी को बहुत विस्तार से दिया है। श्री कृष्ण जी ने कहा है—हे उद्धव! "विश्वमेकात्मकं पश्यन्"[२]—सदैव अद्वैत दृष्टि रखो। याज्ञवल्क्य और अष्टावक्र ने जनक के मन में इस तत्त्वमसि वाक्य के सार को इतना दृढ़ कर दिया था कि वे देहधारी होकर भी विदेह नाम से कहे गये।

जिस ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य, परमानन्द, परमशांति को तू खोजता है, वह तू ही है—तत्-त्वम्-असि। यह सचमुच ही अत्यन्त महत्वपूर्ण वाक्य एवं भाव है। परन्तु उपनिषद्, भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में इसकी व्याख्या इतनी उलझी हुई है कि उनमें इसका सही समाधान होना ही असम्भव है।

जिस तत्व को मैं खोजता हूं, वह मैं ही हूं; यहां तक तो तथ्य है; परंतु जब यह कहा जाने लगता है "अहमेवेदं सर्वम्[३]—अहम् एव इदम् सर्वम्"—यह सब कुछ मैं ही हूं; यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड मैं ही हूं; तब आत्मज्ञान का अतिरेक किया जाता है, जिससे विवेकज्ञान से कोई मतलब नहीं रहता। कहा जाता है कि सर्वोच्च स्थिति में जाने के लिए आनुभविक जगत से ऊपर उठना ही होगा, परन्तु यह आनुभविक जगत से ऊपर उठना तो नहीं हुआ, प्रत्युत उसमें उलझ जाना हुआ। मनुष्य आनुभविक जगत से तो तब ऊपर उठता है जब वह सारे संकल्पों को त्यागकर समाधि में पहुंच जाता है। 'सारा विश्व-ब्रह्मांड मैं ही हूं'—यह तो मन का अयथार्थ व्यायाम है जो जिज्ञासु को भ्रम में डालने वाला तथा ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के नाम पर जगत में उलझाने वाला है। आत्मज्ञान का सच्चा स्वरूप तो यह है कि साधक विवेक-द्वारा अपने आप चेतन-तत्त्व को जड़ जगत से सर्वथा निकाल ले; परंतु यदि वह अपने आपको सबमें मिलाकर जड़-चेतन एक समझने लगा, तो जानो वह संसार में उलझ गया।

ऊपर, नीचे, दायें, बायें, आगे, पीछे मैं ही हूं[४]—इस धारणा का साक्षी न विवेकबुद्धि है और न यह समाधि का विषय ही है। यह आत्मज्ञान की एक भावुकता है जो स्वरूपज्ञान के जिज्ञासु एवं विद्यार्थी को केवल भ्रम में डालती है।

इसीलिए सद्‌गुरु कबीर इसको नहीं स्वीकारते हैं। वे कहते हैं "तत्त्वमसी इनके उपदेशा"। 'इनके' शब्द ध्यान देने योग्य है। सद्‌गुरु कहना चाहते हैं कि यह मेरा मत नहीं है, किन्तु 'इनका—अद्वैतवादियों का' मत है। और "ई निश्चय इनके बड़भारी"

---

१. देखिये वृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरा तथा चौथा अध्याय।

२. श्री मद्‌भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २८, श्लोक १।

३. छांदोग्य उ०, प्रपाठक ७, खंड २५, मन्त्र १।

४. छां० उ० ७/२५/१।

कहकर उन पर करारा व्यंग्य करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनका यह "बड़ा भारी" निश्चय है कि अनंत विश्व-ब्रह्माण्ड सब मैं ही हूं। "बड़भारी" शब्द अधिक ध्यान देने योग्य है। व्यंग्य का पूर्ण जोर इसी शब्द पर पड़ता है। इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र कहा है "सनकादिक भंवरे पुष्पित वाणी की सुगंधी में भूल गये।"[1]

ब्रह्मज्ञान की सात भूमिकाएं मानी गयी हैं—सुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना तथा तुर्यगा (तुरीय)।

सुभेच्छा—मोक्ष के इच्छापूर्वक शास्त्र और गुरु की वाणियों का पठन-मनन।

विचारणा—सदाचार में प्रवृत्ति होना।

तनुमानसा—अनासक्त रहना या निदिध्यासन।

सत्त्वापत्ति—आत्माकार वृत्ति रखना।

असंसक्ति—समाधि में आरूढ़ होना।

उपर्युक्त पांच भूमिकाएं तो बुद्धिपूर्वक हैं। छठीं "पदार्थभावना" में पहुंचकर कहते हैं कि उसकी गाढ़ी सुषुप्ति के समान स्थिति हो जाती है। दूसरे के प्रेरित करने पर ही उसे बाहरी भान होता है। और "तुर्यगा (तुरीय)" में पहुंचकर तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। उसमें श्वास अवश्य चलता है, परन्तु उसे बारम्बार जगाने पर भी उसका जागरण नहीं होता।[2] यह निश्चित ही एक अनुभवहीन काल्पनिक आदर्श है।

सद्गुरु कबीर यथार्थवादी संत हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई कुल-गोत्र का अहंकार त्यागकर आत्मज्ञान में रमने लगा तो ऊंचा काम है; परन्तु वह जीवित आदमी मुरदा के समान अचेत नहीं हो सकता 'जीवत मुवा न होय'।

विवेक से देखने पर जड़ अलग है और चेतन, उसका द्रष्टा अलग है। दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। इसी प्रकार आसक्तिविहीन ज्ञानी अचेतन नहीं हो सकता। आत्मज्ञान कोई क्लोरोफार्म नहीं है कि उसे सूंघते ही आदमी अचेत हो जाता है। इन तथ्यों को देखते-समझते हुए इनको अनदेखा कर भावुकतापूर्ण काल्पनिक धारणा बनाये रखना, विवेकसंमत बात नहीं है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है "कबीर बहुत-कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।"[3] डॉ० द्विवेदी जी कबीर-अनुयायियों तथा कबीर-प्रेमियों के लिए लिखते हुए कहते हैं—"इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा है कि अपने इर्द-गिर्द के समाज में कोई यह न कह सके कि इनका अमुक काम सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। अर्थात विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गयी, सुलह और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया।"[4]

---

१. सनकादिक भूले भँवर बोय। *(बीजक, बसन्त १/५)*

२. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८।

३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २५ अगस्त १९८५ ई०, पृ० १९।

४. अशोक के फूल, घर जोड़ने की माया।

बीजक की वाणियों का अनुवाद करते हुए ऐसा कर दिया जाता है। कहा जाता है कि कबीर साहेब का मत सनकादि तथा नारद, याज्ञवल्क्यादि से अलग हो नहीं सकता। कबीर साहेब इन महापुरुषों के विचारों की आलोचना कर ही नहीं सकते। निश्चित ही यह समझौता कबीर देव के प्रज्वलित सत्य पर पानी डाल देता है।

परम्परा, गुरुजन तथा शास्त्रों पर श्रद्धा रखने का अर्थ यह नहीं है कि हम सारासार का विचार ही न करें। स्वयं औपनिषदिक ऋषियों का वैदिक कर्मकांड के प्रति विद्रोही स्वर प्रसिद्ध है। कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे विवेकरहित ज्ञान तथा झूठे आदर्श के विरोधी हैं।

मैं सारा विश्व-ब्रह्मांड हूं—विवेक-रहित बात है। आत्मज्ञानी अचेती में रहता है—झूठा आदर्श है। मैं सबका द्रष्टा जड़ से सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हूं—विवेकज्ञान है। प्रकृति-माया से अनासक्त रहना मात्र—जीवत मृतक होना है। ज्ञानी समाधिकाल में संकल्प-शून्य होता है, अचेत नहीं।

स्वयं बंधे देवताओं की उपासना से बन्धन नहीं कटेगा

रमैनी–९

बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता। यम बाँधे अँजनी के पूता॥ १ ॥
यम के बाहन बाँधे जनी। बाँधे सृष्टि कहाँ लौं गनी॥ २ ॥
बाँधेउ देव तैंतीस करोरी। सँबरत लोह बन्द गौ तोरी॥ ३ ॥
राजा सँबरे तुरिया चढ़ी। पन्थी सँबरे नाम ले बढ़ी॥ ४ ॥
अर्थ बिहूना सँबरे नारी। परजा सँबरे पुहुमी झारी॥ ५ ॥

साखी—बन्दि मनावै ते फल पावै, बन्दि दिया सो देय।
कहैं कबीर सो ऊबरै, जो निशिबासर नामहिं लेय॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सूता = रस्सी, बन्धन। अंजनी = माया। जनी = पैदा हुई सृष्टि। सँबरत = स्मरण करते। राजा = ब्रह्मज्ञानी।

भावार्थ—कष्टदायी आठ-नौ रस्सियों में जीव बंधे हैं। वासना ने माया के गुलामों को बांध लिया है॥१॥ वासना के हाथों सभी देहधारी बंधे हैं। कहां तक गिनाऊं सारी सृष्टि ही बंधी है॥२॥ संसारियों को जिनके स्मरण से कठिन बन्धन के टूट जाने का भरोसा है, वे तैंतीस करोड़ देवता स्वयं बंधे हैं॥३॥ ब्रह्मज्ञानी जन तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं और नाना संप्रदाय के लोग अपने-अपने मान्य नाम का स्मरण करते हुए अपने साधना-पथ में बढ़ रहे हैं॥४॥ अपने में नारीत्व की कल्पना कर माधुर्यभक्ति करने वाले धनादि की कामना से रहित होकर केवल कल्पित पति की प्राप्ति के लिए उसका स्मरण करते हैं। इस प्रकार पृथ्वी की पूरी प्रजा किसी-न-किसी प्रकार किसी देवता की पूजा एवं स्मरण-वन्दन करती है॥५॥

जो बंधे हुए की वन्दना करेगा, वह फल में बन्धन ही पायेगा, क्योंकि बंधा हुआ बन्धन ही दे सकता है। गुरु कहते हैं कि उपासकों की यही धारणा है कि जो रात-दिन नाम जपेगा वही संसार-सागर से पार होगा।।९।।

अथवा वंदि का अर्थ यदि वन्दना माना जाय तो अर्थ होगा कि जो वन्दना कर भगवान को प्रसन्न करेगा वही मुक्ति पायेगा, क्योंकि जिसने बन्धन दिया वही मुक्ति दे सकता है। तुम्हीं ने दर्द दिया, तुम्हीं दवा देना। अतः रात-दिन नाम जपने वाला ही उद्धार पायेगा (यह उपासकों का मत है)।

व्याख्या—पूरी रमैनी पर सरसरी निगाह डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे जीव बन्धनों में बंधे हैं और उनसे छूटने के लिए वे उनकी ही वन्दना कर रहे हैं जो खुद बन्धनों में बंधे हैं, या वे नाम-जपादि छिछली साधना में पड़े हैं।

कष्टदायी आठ और नौ सूतों-रस्सियों में जीव बंधे हैं। ये आठ-नौ शब्द संख्यावाचक हैं; परन्तु इन शब्दों से सद्गुरु किन बन्धनों की संख्या बताना चाहते हैं, स्पष्ट नहीं है। इसलिए इनके अर्थ में टीकाकार जो भी संख्या दें, सर्वसम्मत बन्धन के रूप होना चाहिए। आठ का अर्थ पांचतत्व तथा तीन गुण की अष्टधा प्रकृति भी हो सकता है, आठ सिद्धि[1] और हठयोग के आठ अंग[2] भी हो सकते हैं। इसी प्रकार और कुछ। नौ की संख्या में पांच विषय और चतुष्टय अंतःकरण लिए जा सकते हैं, नौ निद्धियां[3] तथा नौधा भक्ति[4] भी ली जा सकती है।

अष्टधा प्रकृति तथा अष्टसिद्धि तो बन्धनरूप हैं, परन्तु हठ योग के आठ अंग भी अध्यात्म-चिन्तन से हटाकर केवल शारीरिक व्यायाम में लगाते हैं इसलिए बन्धनरूप ही हैं। हां, योगदर्शन के अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि कल्याणप्रद हैं। पंच विषय और चतुष्टय अन्तःकरण की नौधा तथा नौ निद्धियां बन्धनप्रद हैं ही, किन्तु स्वरूपज्ञान से दूर रखनेवाली नौधा भक्ति भी बन्धनरूप ही है। भक्त लोग दिन भर भगवान (मूर्तियों) को जगाने, नहलाने, कपड़ा पहनाने, खिलाने, आरती उतारने, सुलाने आदि के बालवत खटपट में ही रत्नतुल्य समय बिता देते हैं।

यम उसे कहते हैं जो जीव को बन्धन दे। मन की अविद्या एवं विषय-वासनाएं ही जीव को बांधती हैं; अतः यही यम हैं। अंजनी का अर्थ है माया। जो अंजनी का पूत है, माया का गुलाम है, वही यम के हाथों, वासनाओं के हाथों में बंधता है। यदि साधक सावधान न रहे तो वे नर-नारी भी बन्धनों में बांधने वाले यम हो जाते हैं जो अविद्या और वासनाओं में डूबे हैं। अविवेकी दूसरों को बन्धन ही देता है।

---

१. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।

२. लय, तारक, अमनस्क, सांख्य, लंबिका, राज, कुण्डली तथा हठ।

३. पद्म, महापद्म, कच्छप, नील, मकर, मुकुन्द, शंख, खर्ब और कुंद। *(अमर कोष)*

४. श्रवण, कीर्तन, नाम स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास भाव, सखापन तथा आत्मनिवेदन।

'जनी' का अर्थ है पैदा हुई। अर्थात पैदा हुई सारी सृष्टि के मनुष्य यम के हाथों एवं वासनाओं के पाशों में बंधे हैं।

लोग देवताओं की प्रार्थना, उपासना एवं पूजाकर अपने कठिन बंधनों से मुक्त होना चाहते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं वे सब देवता स्वयं वासनाओं के बन्धन में बंधे हैं। गुलामों की सेवा कर किसने मुक्ति पायी है।

पुराणों के अनुसार तैंतीस कोटि देवता हैं[१] किन्तु वे सब वासनाओं के अधीन हैं। वाल्मीकि जी कहते हैं—"देवलोक की तो यही स्थिति है और देवताओं का यह शाश्वत मत है कि किसी अप्सरा का कोई पति नहीं होता और देवता भी एक स्त्री से बंधकर नहीं रहते।"[२] देवताओं के राजा स्वयं इन्द्र ने पुलोम नामक दानव की सुन्दरी कन्या शची का अपहरण कर उसे अपनी पत्नी बना ली और शची के संभावित पति की तथा उसके पिता पुलोम की हत्या कर दी। सभी देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु वृन्दा के साथ छलपूर्वक यौनाचार करते हैं और जब वृन्दा जान जाती है तब उन्हें कुपित होकर शाप देती है। पुराणों को देखिये प्रायः सारे देवता वासना के अधीन होकर क्या-क्या कर्म करते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं इनके पूजा-जप से मनुष्यों के बन्धन टूटेंगे नहीं, प्रत्युत दृढ़ होंगे।

ब्रह्मज्ञानी, जो अपने आपको ज्ञानियों में श्रेष्ठ मानते हैं, तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं, परन्तु वे अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप को जड़ जगत से पृथक नहीं समझते। वे चराचर विश्व को अपना ही स्वरूप मान कर बन्धनों में उलझ जाते हैं। लोग अपने-अपने संप्रदाय की सीमित मान्यताओं में ही अपनी बुद्धि बांध देते हैं। मान्यताओं से ऊपर उठकर सबके मानने वाले अपने चेतन स्वरूप को न समझ पाते हैं और न उसमें स्थित हो पाते हैं।

कुछ ऐसे भी अजीबोगरीब साधक होते हैं जो अपने ऊपर एक पति की कल्पना करते हैं और स्वयं को नारी या उसकी पत्नी मानते हैं। वे 'अर्थ बिहूना' भक्ति करते हैं। अर्थात धन की इच्छा छोड़कर केवल उस कल्पित पति को पाना चाहते हैं। 'अर्थ बिहूना

---

१. शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवता तैंतीस हैं–आठ वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अग्नि, वायु, प्रत्यूष तथा प्रभास); ग्यारह रुद्र (हर, बहुरूप, अम्बक, अपराजित, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, वृषाकपि, शंभु, शर्व और कपाली); बारह आदित्य (धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान, पूषा, क्रतु, अंश, भग, त्वष्टा तथा विष्णु); इन्द्र एवं प्रजापति। इनमें एक देवता के पीछे निन्यानबे लाख, निन्यानबे हजार, नौ सौ निन्यानबे की संख्या अधिक जोड़कर लोगों ने देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ कर डाली। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चन्द्रमा और नक्षत्रगण–आठ वसु हैं। दस इन्द्रियां या दस प्राण तथा मन–ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इन्द्र है। यज्ञ प्रजापति है। ये ही तैंतीस देवता हैं।

२. देवलोकस्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता।
पतिरप्सरसां नास्ति न चैकस्त्रीपरिग्रहः॥ *(वाल्मीकीय रामायण ७/२६/३९-४०)*

सँबरे नारी' का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये पुरुष होकर भी नारी बने भक्त लोगों का सुमिरन-भजन 'अर्थ बिहूना' अर्थात निष्प्रयोजन है।

अपने आपको किसी कल्पित पति की पत्नी मानना भक्ति मार्ग में बहुत घटिहा ही नहीं, दूषित चिन्तन है और रसिक मन वालों द्वारा गढ़ा गया है। 'हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया' इस बीजक के ३५वें शब्द की सभी पंक्तियों पर पूर्ण ध्यान न देने से आलोचक लोग कबीर साहेब को भी रसिक भक्ति में सम्मिलित कर देते हैं, जबकि उन्होंने यह शब्द कुसंस्कार-जनित तथाकथित इस भक्ति का खण्डन करने के लिए ही कहा है। श्री मदन साहेब भी ऐसे लोगों की चुटकी लेते हुए कहते हैं—

सुनो सखी एक बात मोरि तुम, कहां खसम ठहरायव जी।।"[1]

इस रमैनी में दो मुख्य विषयों पर प्रकाश पड़ता है—बन्धन और बंधे हुए की वंदना। अभिप्राय है इन दोनों का त्याग करना। बन्धनों से छुटकारा विवेकज्ञान तथा विषय-वासनाओं के त्याग से होता है, किसी दूसरे के स्मरण और नाम-जप से नहीं।

वासनाओं का त्याग अमृतस्थिति है

रमैनी–१०

राही ले पिपराही बही। करगी आवत काहु न कही।। १ ।।
आई करगी भौ अजगूता। जन्म जन्म यम पहिरे बूता।। २ ।।
बूता पहिरि यम कीन्ह समाना। तीन लोक में कीन्ह पयाना।। ३ ।।
बाँधेउ ब्रह्मा विष्णु महेशू। सुर नर मुनि औ बाँधु गणेशू।। ४ ।।
बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू।। ५ ।।
साँच मंत्र बाँधे सब झारी। अमृत वस्तु न जानै नारी।। ६ ।।

साखी—अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय।। १० ।।

शब्दार्थ—राही = कर्मी जीव। करगी = माया। अजगूता = आश्चर्य। अमृत वस्तु = अमर जीव।

भावार्थ—हिलते हुए पीपल के पत्ते के समान चंचल मन, कर्मों की राह पर चलने वाले जीवों को लेकर बह गया। परन्तु यह किसी ने नहीं कहा कि यह माया का आक्रमण है।।१।। आश्चर्य हुआ कि माया ने आकर जीव को ढक लिया। जन्म-जन्मान्तरों से या कहना चाहिए अनादिकाल से मन रूपी यम ने वासना का शक्तिशाली जामा पहन रखा है।।२।। अविद्या का बलपूर्ण जामा पहनकर मन सब में समाया हुआ है और त्रिगुणी जीवों के अंतःकरणों में उसी का निरंतर गमनागमन होता रहता है।।३।। इसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि और गणेश को भी बांध लिया है।।४।। प्राणायाम साधने वाले योगी,

१. शब्द विलास, संस्करण १९६५।

अग्नि पूजक कर्मकांडी, तीर्थादि जल का आचरण करने वाले उपासक, इतना ही नहीं, कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी रूपी दो वीरों को भी मन ने बांध रखा है।।५।। मनःकल्पित शब्दों के मंत्रजाल ने समस्त जीवों को बांध रखा है। नारी बने लोग अमृत वस्तु से अजानकार हैं।।६।।

लोग अमृत वस्तु नहीं जानते, विषय-वासनाओं में डूब रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जीव ही अमृत वस्तु है। न उसमें कामना है और न मृत्यु; अथवा कामना त्याग देने पर जीव अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है।।१०।।

व्याख्या–राही जीव हैं, जो कर्मपथ पर अनादिकाल से भटक रहे हैं। मन पिपराही है, पीपल के पत्ते के समान तनिक-से वासना-वायु में हिलने वाला। यह चंचल मन जीवों को लेकर रात-दिन बहता रहता है। साधारणतया कौन समझता है कि मन का वासनात्मक बहाव करगी है—माया है।

आप करगी का अर्थ चाहे बाढ़ करें, चाहे कर से, हाथ से बनाये हुए बन्धन करें, चाहे और कुछ; परन्तु करगी बांधने वाले को ही कहा गया है। अतएव सारतः करगीं का अर्थ माया या बन्धन ही है।

यह बात अचरज की है कि समर्थ चेतन जीव उस मन में बंधा है जिसका स्वरूप ही भासमात्र एवं कल्पनामात्र है। यह कल्पित मन जीव पर कैसे हावी हो गया, सद्गुरु इसका समाधान करते हैं "जन्म-जन्म यम पहिरे बूता" यह मन ही यम है। यह जन्म-जन्मान्तरों से विषय की खुराक पाते-पाते बलवान हो गया है। इसने बूता का, साहस का एवं बल का जामा पहन लिया है। अर्थात अनादिकाल के विषय-अभ्यासवश मन की वासनाएं बलवान हो गयी हैं।

विषय-वासना के मजबूत बख्तर पहनकर मन सब में घुसा है। मन विषय-वासनाओं के कारण बलवान है और सबके अन्दर विद्यमान है। वह रजोगुणी और तमोगुणी जीवों को तो नचाता ही है, स्वरूपज्ञान-रहित सतोगुणी जीवों को भी नचाता है। तीन लोक का अर्थ तीन गुण हैं, जिनके प्रभाव में जीवों की तीन श्रेणियां हैं। जो स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में आड़े आये, रोड़ा बने, वह सात्विक कर्म भी मन का बन्धन ही है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेशादि समस्त देवसंज्ञक जन की क्रियाएं भी मन के जाल से बाहर नहीं हैं, फिर ऋषि-मुनि और साधारण मनुष्यों की बातें तो कहना ही क्या!

सारे देवता मन की कल्पना की उपज हैं, परन्तु पुराणों में देवताओं का जहां व्यक्तिकरण किया गया है, वहां उनके चरित्र सर्वथा उज्ज्वल नहीं हैं। अधिकतम ऋषि-मुनियों की भी यही बातें हैं। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सब मन के बन्धनों में बंधे हैं।

"बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू।" इस चौपाई में पवन, पावक, नीर, चांद और सूर्य के नाम हैं जो सर्वथा जड़ हैं। ये अपने प्राकृतिक नियमों में बंधे हैं। इनमें न चेतना है और इसलिए न मन है। अतः इन पर वासना या मन का बन्धन बन नहीं सकता। वैसे पुराणों में पवन, अग्नि, वरुण (जल), चन्द्रमा और सूर्य

नाम के व्यक्तिदेवता का भी चित्रण है। सद्गुरु कहते हैं इन्हें भी मन की वासनाओं ने बांध रखा है। इनके चरित्र-चित्रण भी प्रायः उज्ज्वल नहीं हैं।

बीजक की अपनी विलक्षण शैली है। यहां पवन से अभिप्राय है पवन रोकने वाले, प्राणायाम साधने वाले योगी। पावक से अभिप्राय है अग्नि पूजक, एवं हवन-तर्पण करने वाले कर्मकांडी। नीरू का अभिप्राय है नीर—गंगा, यमुना, नर्मदादि नदियों के जल में स्नान कर पापों से छूटने की इच्छा रखने वाले तथा तीर्थ और देवादि की पूजा करने वाले भक्त। सद्गुरु कहते हैं ये सब मन के ही आयाम में बंधे हैं। स्वरूपबोध एवं आत्मबोध में जो पहुंच जाता है, वह मन के आयाम से, मन के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है।

"चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू" यहां चांद और सूर्य क्या है? चांद शीतल है और सूर्य गरम। चांद का अर्थ कर्मयोगी तथा सूर्य का कर्म संन्यासी किया गया है। कर्मयोग का अर्थ है कर्म करते हुए अनासक्त रहना और यह काफी सरल रास्ता है, इसलिए इसे चांद शब्द से व्यक्त किया गया, और कर्म संन्यास का अर्थ है कर्म करना ही नहीं। यह कठिन पथ है, इसलिए इसे सूर्य शब्द से व्यक्त किया गया।

सद्गुरु कहते हैं कि यदि अपने अमृत स्वरूप का बोध नहीं है तो उक्त दो वीर कर्मयोगी तथा कर्मसंन्यासी भी मन के जाल में बंधे हैं।

अंततः सद्गुरु कहते हैं कि सत्य को शब्दों के जाल ने बांध रखा है! "साँच मंत्र बाँधे सब झारी।" मननात् मन्त्रः, जो मनन से, विवेक से सिद्ध हो, वह मंत्र है, परन्तु मंत्रों के नाम पर बकवास शुरू हो गया। जिनसे विवेक तथा विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भावों को व्यक्त करने के लिए मनमाने शब्द गढ़ लिये गये और वे मंत्र के नाम पर चलाये जाने लगे। यहां मंत्र का अभिप्राय है ईश्वर-वचन, शास्त्र-वचन, आप्त-वचन तथा प्रमाण-वचन। चतुर मनुष्यों-द्वारा प्रभु-वचन तथा शास्त्र-वचन के नाम पर जनता की बुद्धि का शोषण किया जाने लगा। सत्य ज्ञान तथा मानवता के बिलकुल विरोधी बातों को ईश्वर-वचन और शास्त्र-वचन कहकर मनुष्यों पर बलात थोपा जाने लगा। उन वचनों पर विचार करने वालों को नास्तिक, काफिर, नापाक आदि कहा जाने लगा। मनुष्य अपने ही बनाये वाणीजाल में उलझ गया। "आपुहि बरि आपन गर बंधा"[१] सत्य चेतन को उसी के बनाये मंत्र ने, शब्द-जाल ने बांध लिया।

"अमृत वस्तु न जानै नारी" नारी बने हुए लोग अपने अमृतस्वरूप को नहीं समझ सकते। 'मृत' में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अमृत' शब्द बना है। मृत कहते हैं जड़ को। उसमें 'अ' उपसर्ग लग जाने पर उसका उलटा अर्थ हो जाता है 'चेतन'। चेतन ही अमृत है, अमर है, अपना शाश्वत स्वरूप है। परन्तु जो लोग किसी कल्पित पुरुष को अपना पति मानकर अपने आपको उसकी नारी या पत्नी मानते हैं, उन्हें खाक अपने अमृतस्वरूप का बोध होगा! वे तो स्वरूपज्ञान के विरोधी एक कुसंस्कार लेकर जीते हैं। इसलिए सद्गुरु इस रमैनी में कहते हैं—

१.　बीजक, रमैनी ३३।

अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥

जो मन की कल्पित मान्यताओं में डूबे हैं वे अपने गरिमामय अमृतस्वरूप को नहीं समझ सकते। जो कल्पित देवताओं का पशु बना है, जिसे घुटने टेककर रोना-गिड़गिड़ाना ही भाता है, जो पत्नी बनने का घृणित स्वांग भरता है, वह अपने सर्वोच्च अमृतपद को क्या समझ सकता है! अपनी महत्तम दशा को समझने के लिए मन-यम के बनाये सारे जालों को तोड़ना पड़ेगा। सारे देवता और पति मानव की अपनी हीनभावना से पैदा हुए मन के ही विकार हैं। इनसे ऊपर उठे बिना अपने अमृतस्वरूप में स्थित नहीं हुआ जा सकता।

"कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय" जीव के शुद्धस्वरूप में कामना-मल नहीं है और उसका मरण नहीं होता। यह है क्रमशः व्यवहार और सिद्धांत। जीव का मरण नहीं होता, वह अमृत है, यह अमृत का सिद्धांत है और कामनाओं का त्याग कर देना, यह अमृत का व्यवहार है।

सिद्धांततः जीव का स्वरूप अमृत है; परन्तु व्यवहारतः कामनाओं, विषयवासनाओं का त्याग करना अमृत है। हमें अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान तो है, परन्तु हम कामना-विजयी नहीं हैं, हमने वासनाओं पर विजय नहीं पायी है, तो हमें अमृतत्व का अनुभव नहीं होगा।

पहली बात है अपने पूर्ण स्वतन्त्र चेतन-स्वरूप का बोध और दूसरी बात है स्वस्वरूप से भिन्न सारी कामनाओं का त्याग—बस यही है अमृत-तत्व। यही है मनुष्य का चरम एवं परम लक्ष्य।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें उभरकर आती हैं, एक है वासनाओं की प्रबलता में त्रिगुणी जीवों के बहने का चित्रण, और दूसरा है वासनाओं से ऊपर अपने अमृत चेतन-स्वरूप की पहचान तथा स्थिति।

भ्रांति और विषय-वासनाओं की नींद तोड़ो

रमैनी–११

आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी। तीन लोक में लागि ठगौरी॥ १ ॥
ब्रह्मा ठगो नाग कहँ जाई। देवता सहित ठगो त्रिपुरारी॥ २ ॥
राज ठगौरी विष्णु पर परी। चौदह भुवन केर चौधरी॥ ३ ॥
आदि अंत जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी॥ ४ ॥
वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा॥ ५ ॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमृत कहत गँवारा॥ ६ ॥
विष के संग कौन गुण होई। किंचित लाभ मूल गौ खोई॥ ७ ॥
विष अमृत गौ एकै सानी। जिन जानी तिन विष कै मानी॥ ८ ॥

काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा। बिन परिचय जग बूड़न बुद्धा॥ ९ ॥
मति के हीन कौन गुण कहई। लालच लागी आशा रहई॥१०॥

साखी—मुवा है मरि जाहुगे, मुये की बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल॥ ११ ॥

शब्दार्थ—गुष्टि = गोष्ठी, सभा। जलक = ब्रह्मा। सहिदानी = पहचान।

भावार्थ—सभा अंधी है और दुनिया पगली है। सत, रज, तम तीनों गुणों के मनुष्य ठगे जा रहे हैं॥१॥ ब्रह्मा ठगे गये, नाग ठगे गये और देवताओं के सहित महादेव जी ठगे गये॥२॥ चौदह भुवनों के चौधरी विष्णु पर राज-काज चलाने की राजनीतिक ठगौरी पड़ी॥३॥ जिसका आरम्भ और अंत ब्रह्मा नहीं जान सके, उसका भय तुम क्यों मानते हो!॥४॥ वह ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जलने वाले पतिंगे हो। तुमने अपनी आत्मा को यम के घर में झोंक दिया है॥५॥ जैसे नीम के कीड़ों को नीम ही प्यारा लगता है, वैसे मूढ़ जीव विषयों को, जो विषतुल्य हैं, अमृत कहता है॥६॥ विषयों के भोगों में क्या लाभ होगा। उसमें क्षणिक इंद्रिय-सुख का भ्रम-जन्य लाभ दिखता है, किन्तु आत्मशांति रूप मूलधन खो जाता है॥७॥ अविवेकी आदमी विष और अमृत को एक ही में मिला देता है; किन्तु जिसको सही परख हो जाती है वह विषयों को विष के समान समझकर उन्हें त्याग देता है॥८॥ तथाकथित ऊंच और नीच जातियों में पैदा होने से क्या हुआ; बिना सत्यासत्य परख हुए जगत के बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वान भी मोह-सागर में डूब रहे हैं॥९॥ विवेकहीन आदमी सद्गुणों का क्या विचार करेगा! उसे तो विषयों की लालच और आशा लगी रहती है॥१०॥

पहले के लोग मर चुके हैं, तुम भी आज-कल में मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बनकर बजता है। संसार तो स्वप्न में मिले हुए मित्र की तरह एक धोखा है। मनुष्य के मर जाने के बाद उसके विषय में अच्छी और बुरी चर्चा ही, कुछ दिनों के लिए उसकी पहचान रह जाती है॥११॥

व्याख्या—"आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी"—गुष्टि का अर्थ है गोष्ठी, सभा, मंडली, समाज, समूह, वार्तालाप आदि। सद्गुरु कहते हैं कि अनेक जगह देखा जाता है कि धर्म के नाम पर पूरी सभा ही विवेक छोड़कर अंध-समर्थन में जुट जाती है। सद्गुरु ने जब उक्त पंक्ति कही है, तब से आज तक पांच सौ वर्ष बीत गये। आज विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर है। आश्चर्य होता है कि आज भी धर्म के नाम पर चलने वाले अनेक समूह, सभा और समाज गहरे अंधविश्वास में डूबे हैं। धर्मगुरु लोग ऐसी-ऐसी बातें डंके की चोट पर चलाते हैं, जिनका विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता। छूमंतर के बल पर सारा काम कर देने का झांसा देकर समाज को जो बेवकूफ बनाया जा रहा है, वह चिंताजनक है। ईश्वर के नाम पर तो संसार को पागल बना दिया गया है। हर मजहब के अपने ईश्वर हैं, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर तथा पुत्र हैं। हर मजहब के ईश्वर, भगवान एवं देव प्रार्थना और पूजा के घूस पाकर अपने भक्तों के पापों को माफ करते तथा स्वर्ग के टिकट देते हैं। लोग कर्मों के

नियमों को झुठलाने में लगे हैं। चमत्कार, जो एक छल-कपट एवं बेईमानी है, उसी के बल पर मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों चाहते हैं। यह संसार का पागलपन नहीं तो क्या है! इस छलावे में तमोगुणी, रजोगुणी तथा सतोगुणी सभी मारे जा रहे हैं। अच्छे-अच्छे तथा ईमानदार साधक भी विवेक न होने से अन्धविश्वास में ठगे जा रहे हैं।

मन के भ्रम, अविद्या, मोह तथा राग में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, देवता, नाग, वरुण, यक्ष, राक्षस आदि सब ठगे गये। इनकी कथाएं महाकाव्यों तथा पुराणों में पढ़कर इसके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

"आदि अन्त जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी ॥" इस पंक्ति में आया हुआ 'जलक' शब्द ब्रह्मा का वाचक लगता है। 'जनक' पैदा करने वाले को कहते हैं और पुराणों ने ब्रह्मा को सबका जनक कहा है। 'जनक' से ही कहीं पाठभेद होकर 'जलक' हो गया हो तो आश्चर्य नहीं है। वैसे 'क' का अर्थ भी ब्रह्मा माना जाता है। जल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना ने जलक शब्द ब्रह्मा के लिए उपयुक्त बनाया हो, तो उचित ही है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका आदि और अन्त ब्रह्मा नहीं जानते हैं उसका भय तुम क्यों करते हो!

ऋग्वेद-काल के भी पूर्व जब लोगों ने देखा कि वर्षा, आंधी, भूचाल, अवर्षण, अतिवर्षण, जलप्लावन, दावाग्नि, अवस्था परिवर्तन, प्रियवियोग, मरण आदि ऐसी घटनाएं हैं जो हमारी बुद्धि और बल के बाहर हैं। इसी प्रकार चांद, सूर्य, असंख्य सितारे, विशाल ब्रह्मांड इन्हें भी नहीं समझ पाते कि ये कब, कैसे, कहां से आ गये! ऋग्वेद का ऋषि भी कह बैठा—"को अद्धा वेद कं इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः"[1] अर्थात कौन पूरा जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से आयी!

अतएव मनुष्य ने कल्पना की, कि आकाश में ऐसे देवता बैठे नीचे की ओर हमें झांक रहे हैं जो हम पर कोप और दया कर सकते हैं। यदि हम उन्हें खुश कर सकें तो बहुत-से उपद्रवों से बचकर सुख पा सकते हैं। फलतः मनुष्य हवन, तर्पण, बलि आदि के द्वारा उन कल्पित देवताओं की पूजा-उपासना करने लगा। जब आदमी और सभ्य हुआ तब उन सारे देवों को एकबद्ध कर एक महान देव को मान लिया और उसकी पूजा-सेवा कर उसकी नाराजगी से बचने तथा उसके आशीर्वाद को प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा।

कबीर साहेब पवित्र कर्म, नैतिकता तथा आत्मज्ञान के बल से बलवान थे। वे तत्त्वदर्शी तथा निर्भीक पुरुष थे। अतएव वे कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस कल्पित देव का आदि-अंत एवं वास्तविकता ब्रह्मा तक नहीं समझ सके उसका भय तुम क्यों करते हो? विश्व में एक कारण-कार्य व्यवस्था है। भौतिक जगत अपने नियमों से चल रहा है और जीव अपने अच्छे-बुरे कर्मों से सुख-दुख पाते हैं। तुम्हें दुख और सुख देने वाला कोई देव नहीं है। अपने ऊपर देव की कल्पना ही अज्ञान से उत्पन्न है। उठो, स्वरूपज्ञान में जागो, अपने कर्मों को सुधारो, किसी का भय मत करो!

---

१. ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १२९, मंत्र ६।

"वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा।।" वे तुम्हारे कल्पित देव अग्नि की ऊंची शिखाएं बन गये और तुम उनमें कूद-कूदकर जलने वाले पतिंगे। तूने अपने आप को यम के घर में झोंक दिया। वासना, कल्पना, अज्ञान ही यम हैं और तू इन्हीं में पड़ा है। किसी कल्पित देव के भय की छाया में तुम्हारा आत्म-विकास नहीं हो सकता। देवों की गुलामी से छूटे बिना न स्वरूपज्ञान हो सकता है और न उसमें स्थिति।

बंधन दो प्रकार का होता है—वाणीजाल तथा खानीजाल। सद्गुरु ने बीजक भर में इनको परखाया है। इस रमैनी की उक्त पांच चौपाइयों में आपने वाणीजाल का निराकरण किया। अब आगे खानीजाल का निराकरण करते हैं।

नीम के कीड़ों को नीम ही प्रिय है, गोबरैले कीड़े गोबर तथा मल को ही प्रिय मानते हैं। विषयों में डूबे हुए जीवों की दशा यही है। उन्हें इन्द्रियों की उत्तेजना तथा मलिन विषयों का सेवन ही अमृत लगता है। परन्तु इनमें भासता हुआ सुख भ्रमजन्य एवं क्षणिक है और इसके फल में घोर आत्मपतन है। यह अनोखा जीवन मलिन विषयों के सेवन के लिए नहीं है। यह आत्मानन्द का अमृतरस पीने के लिए है। पूज्य श्री रामरहस साहेब की भाषा में आनन्द का सागर वही होता है जो विषयों की अहंता से रहित होता है 'आनंदसिंधु अहंतातीता।'

लोग विष और अमृत के भेद को नहीं समझ पाते। भूल से विषय-विष को ही अमृत माने रहते हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, पूजनीय तथा वंदनीय हैं, जो विषयों को विषतुल्य समझकर उनका सर्वथा त्याग करते हैं। शुद्ध और अशुद्ध जाति कहलाने से क्या होता है, बिना विवेक सब विषयों की मलिनता में डूब रहे हैं। अथवा 'काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा' शुद्ध मानव शरीर पाकर क्या हुआ, जब वह अशुद्ध विषयों में ही लीन है। बड़े-बड़े विद्वान तथा बुद्धिमान भी बिना यथार्थ परख के घिनौने कर्मों के सागर में गोते लगा रहे हैं और संसार में हास्यास्पद हो रहे हैं। यही है विवेकहीनता। ऐसे जीव विषयों के लोभ और आशा की रस्सी में बंधे हुए संसार भवाटवी में भटकते हैं।

विषयों के प्रति घृणा दिखाकर सद्गुरु चेतावनी देते हैं—हे मानव! जाग! देख, पहले के सभी लोग मर चुके हैं। बड़े-बड़े नामी-ग्रामी नहीं रहे। जिनकी हांक से दुनिया कांपती थी, उनका कहीं चिन्ह नहीं दिखता। इसी प्रकार तू भी मरेगा। सपने में बहुत-कुछ मिला, परन्तु आंखें खुलने पर सपने का सारा राज्य गायब हो जाता है। सपने के प्रेमी से क्या लेना-देना! संसार के सारे प्राणी-पदार्थ सपने में मिले हुए के समान बिछुड़ जाने वाले हैं, अतः इनकी मोह-नींद से जागो!

तुम्हारे मर जाने पर समय रूपी बालुका पर तुम्हारे पद-चिन्ह कुछ दिनों के लिए रह जायेंगे। अतः तुम ऐसे पद-चिन्ह छोड़ो जिस पर चलकर लोग अमृतधाम स्वरूपस्थिति की तरफ पहुंच सकें। यही तुम्हारे जीवन का फल है।

लांगफेलो की महान तथा प्रसिद्ध सूक्ति याद आती है—"सभी महापुरुषों की जीवनियां हमें याद दिलाती हैं कि हम भी अपने जीवन को महान बना सकते हैं। जब

हम महान बनकर संसार से जायेंगे, तब समय रूपी बालू पर अपने पदचिन्ह छोड़ जायेंगे।"[१]

इस रमैनी में अन्धविश्वास और विषयों के मोह का निराकरण कर वैराग्य की प्रेरणा है।

माया से बचो

रमैनी–१२

मातिक कोट पषाण को ताला। सोइक बन सोई रखवाला॥ १ ॥
सो बन देखत जीव डेराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥ २ ॥
ज्यों किसान किसानी करई। उपजे खेत बीज नहिं परई॥ ३ ॥
छाँड़ि देहु नर झेलिक झेला। बूड़े दोऊ गुरू औ चेला॥ ४ ॥
तीसर बूड़े पारथ भाई। जिन बन डाहे दवाँ लगाई॥ ५ ॥
भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक सियार से भयऊ॥ ६ ॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय॥ १२ ॥

शब्दार्थ—झेलिक झेला = वाणी का धकापेल, प्रापंचिक वाणी। पारथ = पारधी, शिकारी। दवाँ = दावाग्नि। कूकुर = वाचिकज्ञानी। सियार = डरपोक, आचरणहीन।

भावार्थ—जड़ शरीररूपी किला में जड़बुद्धि का ही ताला लगा है। यह जंगल जीव का ही बनाया है और वही इसका रखवाला है॥१॥ इस अपने बनाये वन-विस्तार को देखकर इसके सम्भावित विनाश एवं बन्धनों से जीव भयभीत हो गये और उससे उद्धार पाने के लिए ब्राह्मणों और वैष्णवों के पास गये, किन्तु ब्राह्मणों और वैष्णवों को एक ही प्रकार देवी-देवादि की कल्पनाओं में उलझे हुए समझो॥२॥ जैसे किसान खेती करता है और उसकी अनभिज्ञता से खेत में डंठल तो खूब पैदा हों, परन्तु उनमें दानें न लगें, इसी प्रकार गुरुओं के वाक्यजाल का विस्तार तो बहुत हो जाय, किन्तु उसमें तत्त्वबोध एवं स्व-स्वरूपज्ञान न हो, तो वाक्यजाल निरर्थक ही है॥३॥ अतएव हे कल्याणेच्छुक! केवल रोचक वाक्यजाल का धकापेल छोड़ो। इसमें पड़कर तो गुरु और चेले दोनों डूब जाते हैं॥४॥ हे भाई! तीसरे वे वंचक उपदेशक रूप शिकारी भी डूबते हैं जो संसार रूपी वन में अज्ञान की अग्नि लगाकर उसे भस्म कर रहे हैं॥५॥ वंचक गुरु श्वानवत भूंक-भूंककर मरते हैं, किन्तु डरपोक गीदड़ क्या क्रांति करेंगे!॥६॥

---

१. Lives of greatmen all remind us.
We can make our lives sublime.
And departing leave behind us.
Footprints on the sands of time.

कहो भला, बिल्ली के साथ में चूहे की जान कैसे बच सकती है? अर्थात जीव माया से सम्बन्ध कर कैसे सुरक्षित रह सकता है? हे सन्तो! एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है, अर्थात मन-माया जीव को पतित कर रही है।।१२।।

व्याख्या—यह शरीर मिट्टी का कोट है और इसमें पत्थर का ताला लगा है। शरीर तो जड़ है ही और जब इसमें बुद्धि भी जड़ रहती है, तब कल्याण की क्या उम्मीद की जा सकती है! आदमी ने अपने जड़ शरीर में जड़बुद्धि का ताला लगा रखा है। जड़बुद्धि का अर्थ है बिना विवेक किये कुछ भी मान लेना। कितने लोग सोचना, विचारना, चिन्तन करना पाप समझते हैं। चोर सूरज से इसलिए नफरत करता है कि उसके उगने पर चोर का प्यारा अंधकार गायब हो जायगा और उसे चौरत्व कर्म करने की गुंजाइश नहीं रह जायेगी। कितने लोग निर्णय वचन तथा तत्त्व-विवेकपूर्ण सत्संग एवं सद्ग्रन्थों से इसलिए दूर रहते हैं कि इनसे उनका कर्मकांड उड़ जायेगा।

जड़ता मृत्यु है एवं गतिशीलता जीवन। अंधविश्वास जड़ता है, चिंतन गतिशीलता है। सद्गुरु कहते हैं कि जड़बुद्धि का ताला मत लगाओ। सदैव विवेक एवं परख को श्रेय दो। हर जगह असत्य का त्याग तथा सत्य का ग्रहण करो।

"सोइक बन सोई रखवाला" यह शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित घर, धन, परिवार तथा मन की मान्यताएं एक महान वन है, जो जीव का सृजा हुआ है। जीव ही इस वन का पोषक और रक्षक है। परन्तु अपने ही बनाये इस महारण्य को देखकर जीव भयभीत होता है। भय के दो कारण हैं, नाश होने की संभावना और बन्धन।

शरीर नाशवान है, धन नाशवान है, परिवार नाशवान है। जितनी भौतिक चीजें हैं, जो कुछ जीव का बनाया जाल है, वन है, सब तो नाशवान है। इनके नाश की संभावनाओं को लेकर जीव भयभीत हो जाता है। जिनकी थोड़ी शुद्ध-बुद्धि होती है वह इन्हें बन्धनों के रूप में देखता है। वह इनमें बन्ध जाने के भय से भीत होता है।

भयभीत जीव ब्राह्मणों के पास जाते हैं, वैष्णवों के पास जाते हैं कि वे कुछ कृपा कर देंगे और हमारे प्राणी-पदार्थ सुरक्षित रहेंगे या हमारे भवबन्धन कट जायेंगे। परन्तु ब्राह्मण और वैष्णव एक ही इल्लत में गिरफ्त हैं। दोनों ही थोड़ा भेद रखते हुए वही कर्मकांड, वही दैववाद, वही चमत्कार और महिमा में भूलने और भुलाने वाले हैं। सारासार की सर्वथा परख, सारे अवलम्बनों को तोड़कर स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की समझ वहां कहां है?

किसान के खेत में पौधे तो खूब उगें, डंठल बहुत हो जायं और उनमें दानें न पड़ें, तो खेत में डंठलों का बोझ होने से क्या लाभ! इसी प्रकार शास्त्र बहुत बढ़ जायं, बड़े-बड़े महाकाव्य और पुराण बन जायं, वचनों की सर्वत्र झड़ी लग जाय; परन्तु उनमें सच्चा स्वरूपबोध न हो, तो वाक्यजाल से क्या हुआ। सद्गुरु कहते हैं कि सर्वत्र वाक्यजाल का विस्तार है, किन्तु कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है। धर्म के नाम पर साधक को परमुखापेक्षी ही बनाया जा रहा है। जीव को दैव-गोसैयां का मुहताज बनाकर अपने स्वरूपज्ञान से वंचित ही रखा गया है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं—ऐ साधक नर! तू इस वाणीजाल के झेलिक-झेला को, धकापेल को छोड़ दे। तू वाणीजाल की धकाधुकी में क्यों पड़ता है! मिथ्या महिमा की सारी वाणियां तुम्हें फंसने के जाल हैं। ऐसे वाणीजाल में फंसकर गुरु और चेले दोनों अज्ञान-सागर में डूबे हैं।

"तीसर बूड़े पारथ भाई" यहां पारथ का अर्थ है 'पारधी'। पारधी का अपभ्रंश 'पारथ' है।[१] पारधी का अर्थ है शिकार करने वाला, बधिक। तात्पर्य है धोखेबाज उपदेशक। पुराकाल से आजपर्यन्त ऐसे अनेक उपदेशक हुए और हैं जो जानबूझकर समाज को बेवकूफ बनाने में लगे रहे और लगे हैं। आगे भी वंचक उपदेशक होंगे। ऐसे लोग बुद्धि और प्रतिभा के सागर होते हैं और वे अपनी सारी बुद्धि एवं प्रतिभा जनता को बेवकूफ बनाने में लगाते हैं। वे अनेक जालसाजी अपनाकर वाचासिद्धि, कर्मसिद्धि आदि के झूठे तमाशे सत्यवत दिखाते हैं। वे अपनी वाचाली से लोगों को प्रभावित कर अपना स्वार्थ साधते हैं और जनता को सत्पथ से दूर रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे बधिक जंगल में आग लगाकर शिकार को घेर लेते हैं और उन्हें मारते हैं, वैसे ये वंचक उपदेशक हैं। ये संसार-वन में आग लगाने वाले और लोगों को विदग्ध करने वाले हैं।

आचरणहीन वक्ता केवल भूंक-भूंककर मरते हैं। रहनी के बिना बक-बक करना श्वानवत भूंकना ही है। अथवा कुत्ते जरा-जरा सी बातों में भूंकते हैं। भ्रमोपदेशक जरा-जरा-सी बातों में हवाई महल बनाते हैं। सार यह है कि ऐसे लोग बातें तो बहुत करते हैं, परन्तु उनमें सार बहुत कम या कुछ नहीं रहता।

'काज न एक सियार से भयऊ' गीदड़ की तरह डरपोक आदमी कौन-सी उन्नति का काम कर सकता है! डरपोक व्यक्ति न गलत बातों के प्रति विद्रोह कर सकता है और न सही रास्ते पर चलने के लिए साहस कर सकता है। ऐसा आदमी कोई भी उन्नति का काम इसलिए नहीं शुरू करता कि उसके असफल होने का भय लगा रहता है। ऐसे लोग सत्य और उन्नति-पथ के राही नहीं होते।

जैसे बिल्ली के साथ रहकर चूहे का कल्याण नहीं है, वैसे माया के साथ रहकर जीव का कल्याण नहीं है। कितने ही ज्ञानी यह समझते हैं कि भोग और योग साथ-साथ बन जायेंगे। वे राजा जनक का काल्पनिक उदाहरण देते हैं। भोगों में लगे आदमी का विवेक सो जाता है। वह योग कैसे साध सकता है! पूर्ण योग के लिए भोगों का सर्वथा त्याग करना ही पड़ेगा। कुसंग में संयम का रह पाना कठिन है। जिन प्राणी, पदार्थों, स्थान, देश, समाज आदि के संपर्क में रहने से मन में विकार आने की सम्भावना हो, उनसे दूर रहकर ही अपनी स्वरूपस्थिति बन सकती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है। संसार में यह देखा जाता है कि सिंह हाथी को मार खाता है, परंतु यहां तो हाथी ही सिंह को

---

१. वृहत् हिन्दी कोश (ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी) में 'पारथ' शब्द पद्य में प्रयुक्त होने वाला 'पारधी' वाचक माना गया है, जिसका अर्थ होता है शिकारी। "घर-घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई" (बीजक, शब्द ३१ में भी 'पारथ' पारधी के लिए है)।

मारकर खा रहा है। मन हाथी है, सिंह जीव है। जीव मन को अपने अधीन रख सकता है, परन्तु उलटा हो रहा है, मन ही जीव को पतित कर रहा है।

हे समर्थ जीव! तू अपनी शक्ति को पहचान। तेरे तेज-प्रकाश के सामने मन-माया रूपी अंधकार कहां टिक सकता है! तू अपने महत्व को नहीं समझता, इसलिए माया-मन बलवान लगते हैं। जब तू अपने महान बल को समझकर सावधान हो जायेगा तब माया मर जायेगी और मन तुम्हारे अधीन हो जायेगा।

निस्सार भोगों को त्यागो

रमैनी–१३

नहिं परतीत जो यह संसारा। दर्ब की चोट कठिन कै मारा॥ १ ॥
सो तो शेषो जाय लुकाई। काहू के परतीत न आई॥ २ ॥
चले लोग सब मूल गमाई। यम की बाढ़ि काटि नहिं जाई॥ ३ ॥
आजु काज जो काल अकाजा। चले लादि दिगन्तर राजा॥ ४ ॥
सहज बेचारे मूल गमाई। लाभ ते हानि होय रे भाई॥ ५ ॥
ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई। त्रिकुटी संगम स्वामी बसई॥ ६ ॥
तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई॥ ७ ॥
तब सनकादिक तत्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥ ८ ॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥ ९ ॥
देखत उतपति लागु न बारा। एक मरै एक करै विचारा॥१०॥
मुये गये की काहु न कही। झूँठी आश लागि जग रही॥११॥
साखी—जरत जरत ते बाँचहू, काहु न कीन्ह गोहार।
विष विषय के खायहू, राति-दिवस मिलि झार॥ १३ ॥

शब्दार्थ—शेषो = अंत में। लुकाई = छिप जाना, नष्ट हो जाना। बाढ़ि = प्रवाह। चन्द्रमा = मन। पारा = पाया। बारा = देरी।

भावार्थ—संसारी मनुष्यों को यह समझ नहीं पड़ती कि माया की मार कठिन है।।१।। यद्यपि वह अन्त में लुप्त हो जाने वाली है, तथापि किसी को ऐसा विश्वास नहीं होता।।२।। मनुष्य की मौलिकता है विवेक-विचार से जीवन बिताना; परन्तु माया के मोह में पड़कर लोग इसे खो देते हैं। लोग वासना के प्रवाह को काट नहीं पाते।।३।। हे मानव! आज तू अपना कल्याण कर सकता है। यदि तू उसे कल के भरोसे पर छोड़ता है, तो अपना अकल्याण कर रहा है। संसार के बड़े-बड़े राजे-महाराजे सारी माया यहीं छोड़कर और केवल अपने कर्मों की गठरी लादकर यहां से चले गये।।४।। माया की भूल-भूलैया में पड़कर बेचारे सहज ही विवेक खो बैठते हैं। हे भाई! माया के लाभ के व्यामोह में पड़ने से आत्मकल्याण की हानि ही होगी।।५।। योगी लोग मानते हैं कि परमतत्त्व का निवास त्रिकुटी के मध्य में रहता है और उसको पाने के लिए वे योगसाधना करते हैं,

परन्तु उनमें से जिनकी बुद्धि मलिन रहती है, उनका मन विषयों में लीन हो जाता है।।६।। ऐसे लोगों को विष्णु जी ने या सदाचारियों ने कहा कि तुम लोग पहले जाकर अष्टमैथुनों एवं विषयासक्ति का पूर्णतया त्याग करो।।७।। तब सनकादिकों ने तत्त्वविचार किया। वे इस प्रकार खुश हुए जैसे गरीब को पड़ा हुआ अपार धन मिल जाय।।८।। संसार में उनकी मर्यादा तथा महिमा हुई और उन्हें बड़ा सुख लगा। इस हिसाब से मानो उनके सारे भ्रम मिट गये।।९।। परन्तु विवेक से देखने पर पता चलता है कि इस तत्त्वविचार से जन्म-मरण का दुख नहीं दूर हो सकता। माया के मोह में पड़कर एक आदमी मर रहा है, और दूसरा उसी में उलझने के लिए सोच रहा है।।१०।। यह कोई नहीं बतलाता कि "जो लोग माया-मोह की भूल-भुलैया में पड़कर मर गये, वे धोखे में चले गये।" जो लोग जीवित रहते हैं, उनको जगत-भोगों की झूठी आशा लगी रहती है।।११।।

जन्म-मरण के ताप में जलते-जलते यह जीव बचने की भूमिका मानव-शरीर में आता है; परन्तु कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता, बल्कि लोग विषस्वरूप विषयों को ही रात-दिन जमकर भोगने में लगे रहते हैं।।१३।।

व्याख्या—दर्ब है द्रव्य, अर्थात धन-दौलत। जब किसी तरह इसका नाश होता है तब मोहग्रस्त आदमी को बड़ी चोट लगती है। इच्छित वस्तु के नाश की चोट बड़ी करारी होती है। धन की मार से आदमी रात-दिन घुलता रहता है। परन्तु संसारी आदमी को यह समझ नहीं आती कि ऐसी दुखदायी माया में हम आसक्त न हों। धन तो सदुपयोग करने की वस्तु है, मोह करने की नहीं। धन-दौलत एवं संसार के प्राणी-पदार्थों में हम चाहे जितनी ममता करें, परन्तु "सो तो शेषो जाय लुकाई" वे तो अन्त में नष्ट होंगे ही। "सारे संग्रहों का अन्त विनाश में है, सारी उन्नतियों का अन्त पतन में है, सारे संयोगों का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मरण में है।।"[1] इसे कौन रोक सकता है! परन्तु आदमी इस सम्भावित विनाश पर विश्वास नहीं करता। वह घर में लगी आग को नहीं देख पाता।

'मननात् मनुष्यः" मनन करने से यह प्राणी मनुष्य है। मनन का अर्थ है विचार-विवेक। अतः मनुष्य की मौलिकता उसके विवेक में है। मनुष्य जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का विवेक कर ऐसा जीवन जीये जो उसके तथा दूसरे के लिए कल्याणकारी हो, यही मनुष्य की मौलिकता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। परन्तु माया-मोह तथा इन्द्रियों के भोगों में उलझकर मनुष्य अपने को खो देता है 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' वाली कहावत चरितार्थ करता है। ऐसे लोग 'यम की बाढ़ि' कैसे काट सकते हैं! वासना यम है, बाढ़ि उसका प्रवाह है। जो विवेकहीन होकर दुनियादारी में उलझेगा, उसकी वासना का प्रवाह कहां रुक सकता है! भोगी बनकर आशा-तृष्णा से कहां छुट्टी!

---

१. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।। (*वाल्मीकीय रामायण ७/५२/११*)

'आजु काज जो काल अकाजा' यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। भूत चाहे जितना आकर्षक रहा हो, वह मर चुका है और भविष्य का हमें कुछ पता नहीं है, वर्तमान ही हमारे हाथों में है। हमें चाहिए कि हम वर्तमान में अपना कल्याण करें।

आज हम अपनी कल्याण-साधना कर सकते हैं, आने वाले कल के भरोसे में तो अपने को खोना है। कौन जानता है कि कल क्या होगा! इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"जो कल करना है, उसे आज करो और जो आज करना है उसे अभी करो। पल में तो प्रलय हो जायेगा, फिर कब करने का अवसर आयेगा!"[१]

बड़े-बड़े राजे-महाराजे संसार से चले गये। वे क्या ले गये? पूछा गया कि पुराण क्यों लिखे गये? उत्तर दिया गया—"जिसने सूर्यवंश और चन्द्रवंश के इक्ष्वाकु, जन्हु, मांधाता, सगर और रघु के, जो सबके सब नाश को प्राप्त हो चुके हैं; ययाति, नहुष और उनके वंशजों के जो अब नाम शेष रह गये हैं और उन महा बलशाली दुर्धर्ष-विक्रम और अपरिमित वैभव वाले राजर्षियों के, जिन्हें और भी उग्रशक्ति वाले काल ने पचाकर केवल कथा मात्र बना दिया है, चरित सुने हैं, उस व्यक्ति के मन में ज्ञान का उदय होगा और वह अपनी संतान, स्त्री, गृहद्वार, भूमि और धन में ममता न करेगा।"[२]

मोहग्रस्त बने ये दीन जीव सहज ही अपनी विवेकशक्ति खो देते हैं। आत्मकल्याण और परकल्याण के लिए मानव जीवन के क्षण-क्षण दोहन करने योग्य हैं; परन्तु ऐसे रत्न समय को मनुष्य अनर्थकारी विषयस्वाद और बकवाद में गंवा देते हैं। जो संसार का ज्यादा लाभ लेना चाहेगा, उसकी हानि होनी ही है। जो संसार को समेटकर रखना चाहेगा, वह अपने आपको खो देगा। भोगों के मिथ्या आनन्द का इच्छुक चिरंतन आनन्द से वंचित रहेगा ही। विषय-विरक्त व्यक्ति "सो जन सदा अनन्दा" रह सकता है।

नाक के ऊपर तथा दोनों भौहों के बीच को त्रिकुटी कहते हैं। योगी लोग कहते हैं कि यहां ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—तीनों नाड़ियों का संगम है। यौगिक भाषा में यही त्रिवेणी है। योगी लोग मानते हैं कि यहां परम तत्त्व का निवास है; अतः वे त्राटक-मुद्रा[३] कर यहां ध्यान लगाते हैं। अपने चेतनस्वरूप से पृथक त्रिकुटी में किसी परमतत्त्व की बात है तो केवल कल्पना ही; परन्तु उसमें एकाग्रता भी उसी की होगी, जो विषयों से विरक्त है।

ओछी मति वालों का चन्द्रमा डूब जाता है। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है; अतः चन्द्रमा से मन अर्थ है। अभिप्राय है कि विषयों में प्रियता ओछी मति का लक्षण है और ऐसे विषयासक्तों का मन विषयों में लीन होगा ही। विषयलीन व्यक्ति साधनलीन नहीं हो सकता। कहा है "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति करु, भावै विषय कमाव।।"

---

१. काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलय होयगा, बहुरि करोगे कब्ब।।

२. विष्णु पुराण ४/२४०; हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १६१।

३. त्राटक मुद्रा का अर्थ है किसी स्थान विशेष में अपने नेत्र लगाकर एकटक देखना।

इसीलिए विष्णु भगवान ने साधकों से कहा कि तुम पहले अष्ट मैथुनों को जीतो। "विषय स्मरण, विषय प्रशंसा, विषयोत्तेजक क्रीड़ा, विषयासक्ति पूर्वक देखना, विषयों के प्रति गुप्तवार्ता, विषयसंकल्प, विषयों के लिए निरंतर यत्न तथा स्थूल विषय क्रिया[१]—ये अष्टमैथुन हैं। जब इन सभी से साधक छूट जाता है, तब उसका मन साधना में लग सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि विष्णु जो गृहस्थ थे और जो सदैव लक्ष्मी को साथ लेकर रहते थे, वे साधकों को अष्टमैथुन जीतने के उपदेश देने के अधिकारी कहां थे? वस्तुतः अच्छी राय तो कोई किसी को भी दे सकता है। गृहस्थ भी साधु को उन्हें अपने पथ से भटकते देखकर चेतावनी दे सकते हैं।

"रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर सतोगुणी हरि होई"[२] उक्ति अनुसार सतोगुणी व्यक्ति ही विष्णु है। कोई भी सतोगुणी ब्रह्मचर्य की राय दे सकता है।

उक्त उपदेश को मानकर सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि ऋषियों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया और तत्त्वविचार भी किया। तत्त्व-विचार का अर्थ है अंतिम सत्य की समझ। सद्गुरु कहते हैं "सनकादिकों ने जो अंतिम सत्य समझा, उससे उन्हें पड़े हुए धन मिल जाने के समान बड़ा लाभ लगा। संसार में उनकी मर्यादा भी हुई। उन्हें अपनी मर्यादा में आनन्द भी आया और उनकी समझ से मानो उनके सारे भ्रम दूर हो गये। परन्तु उनका 'तत्त्व विचार' बंधनों का सर्वथा निवारण करने वाला नहीं है।" यह सब कहकर सद्गुरु कबीर एक क्रांति की बात करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि सनकादिकों का तत्त्व विचार उनकी दृष्टि से भ्रमनिवारक है, परन्तु वस्तुतः भ्रमनिवारक है नहीं। मूल पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें पहली चौपाई की अर्धाली "तब सनकादिक तत्त्व विचारा" है। इसके बाद आगे की डेढ़ चौपाइयां सनकादिकों के तत्त्व विचार पर व्यंग्य है। व्यंग्य पर पूर्ण जोर पड़ता है दूसरी चौपाई की अंतिम अर्धाली पर "यहि लेखे सब संशय भागा"—इस हिसाब से मानो इनके सब संशय भाग गये। इसका और स्पष्टीकरण होता है अगली चौपाई की पहली अर्धाली में "देखत उतपति लागु न बारा" विचार से देखने पर इस तत्त्वविचार में जन्मादि चक्कर पड़ने में देरी नहीं लगती।

सनकादिकों का तत्त्वविचार क्या है जिस पर कबीरदेव व्यंग्य करते हैं और कहते हैं कि वह पूर्ण ज्ञान नहीं है तथा वह सर्वथा भ्रम से रहित नहीं है?

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥ दक्षस्मृति ७/३१॥

२. बीजक, शब्द ७५।

वस्तुतः पीछे आठवीं रमैनी में इस पर विस्तार से विचार कर आये हैं। आत्मा की चराचर व्यापकता की अवधारणा तथा जड़-चेतन की अभिन्नता की प्रकल्पना ने सनकादिकों तथा उपनिषदों के तत्त्वविचार को गड्डमड्ड कर दिये हैं। आत्मा व्यापक है इस शब्द का अर्थ महिमापरक है, वस्तुपरक नहीं। एक आत्मा की व्यापकता के अवरोधक अन्य आत्माएं तथा जड़-तत्त्व हैं। संसार में कोई भी परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो ही नहीं सकती। यदि एक परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो, तो न दूसरे किसी जड़-चेतन की सत्ता होगी और न प्रवहमान जगत होगा। जड़-चेतन की अभिन्नता की धारणा तो अविद्यामूलक ही है।

कबीर देव खानी और वाणी दोनों जालों को साथ-साथ परखाते चलते हैं, यह उनकी पारखी-दृष्टि की खूबी है। वे कहते हैं कि माया-मोह एवं अविद्या में पड़कर एक मर रहा है और दूसरा उसी में फंसने के लिए सोच रहा है।

इस संसार से सबको जाना है। किसी का अपना माना हुआ कुछ भी नहीं बच रहता। जो लोग मरकर चले गये, उनका आज क्या रह गया! तो, जो लोग आज जी रहे हैं, उनकी माया की आशा क्या झूठी नहीं है!

मुक्तिदायी साधनधाम मानव-शरीर पाकर कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता। तात्पर्य है कि कम लोग मुमुक्षु होते हैं। लोग पतिंगे के समान विषयों में ही उलझते हैं।

इस रमैनी में माया की निस्सारता और दुखरूपता बतायी गयी है। साथ-साथ तत्त्वबोध के भ्रम पर व्यंग्यात्मक संकेत है। अंततः मुमुक्षु को निर्देश किया गया है कि वह विषयों का मोह छोड़कर सद्गुरु की शरण में लग जाय।

पुरोहितों की मानवता-विरोधी व्यवस्था की भर्त्सना

रमैनी–१४

बड़ सो पापी आहि गुमानी। पाखण्ड रूप छलेउ नर जानी॥ १ ॥
बावन रूप छलेउ बलि राजा। ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा॥ २ ॥
ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी। ब्राह्मण ही को लागल खोरी॥ ३ ॥
ब्राह्मण कीन्हों वेद पुराना। कैसेहु कै मोहि मानुष जाना॥ ४ ॥
एक से ब्रह्मै पन्थ चलाया। एक से हंस गोपालहि गाया॥ ५ ॥
एक से शम्भू पन्थ चलाया। एक से भूत-प्रेत मन लाया॥ ६ ॥
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा॥ ७ ॥
कोई काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना॥ ८ ॥
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता। सत्य कबीर सत्य है वक्ता॥ ९ ॥
आपुहि देव आपु है पाँती। आपुहि कुल आपू है जाती॥१०॥

सर्व भूत संसार निवासी। आपुहि खसम आपु सुखवासी॥११॥
कहइत मोहिं भयल युगचारी। काके आगे कहौं पुकारी॥१२॥

साखी—साँचहि कोई न माने, झूठहि के संग जाय।
झूठेहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय॥ १४ ॥

शब्दार्थ—खोरी = दोष। हंसगोपालहिं गाया = कृष्ण को ब्रह्म कहा। हटा = समझाना, रोकना। खसम = स्वामी। खेहा = धूल।

भावार्थ—वह बड़ा पापी है जो अपने को जन्मजात पवित्र मानकर घमण्ड करता है। उसने पाखण्ड का रूप बनाकर साधारण मनुष्यों को छल लिया है॥१॥ एक ब्राह्मण ने अपना वामन रूप बनाकर धर्मात्मा राजा बलि को छल लिया। ब्राह्मणों ने किसका कल्याण किया? ॥२॥ सारी चोरियां ब्राह्मणों ने ही की हैं, इसलिए उन्हीं के मत्थे सारे दोष भी लगे॥३॥ ब्राह्मणों ने इस ढंग से वेद-पुराण एवं शास्त्रों की रचना की कि किसी प्रकार भी लोग हमें अच्छा मनुष्य समझें॥४॥ इन्होंने अनेक पुराण तथा शास्त्र लिखे। एक से ब्रह्म अथवा ब्रह्मा का पन्थ चलाया। एक से कृष्ण के अवतार की महिमा की॥५॥ एक से शिव का माहात्म्य कर उनका पन्थ चलाया। एक से भूत-प्रेत का ही प्रचार किया॥६॥ एक से जैनियों की पूजा का विस्तार किया। एक से झुक-झुककर नमाज पढ़ने का प्रचलन किया॥७॥ कोई किसी का कहा नहीं माना। लोगों ने अपने झूठे स्वामित्व का प्रदर्शन किया, अथवा असत्य को ही अपना मालिक मान लिया, या जिसे अपना आराध्य माना उसकी असत्यता न समझ पड़ी॥८॥ मेरे सज्जनो! अपने तन, मन, वचनों को पवित्र करो। कबीर सत्य का उपासक है, और सत्य का ही वक्ता॥९॥ सबके भीतर निवास करने वाले ये चेतन अपने आप देवता हैं और इनके पूजने के लिए वे अपने आप फूल-पत्ते हैं तथा अपने आप उत्तम कुल-जाति हैं॥१०॥ संसार में निवास करने वाले सब जीव अपने आप अपने स्वामी हैं और अपने स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति को पाकर स्वयं आनन्दकन्द हैं॥११॥ मेरे-जैसे लोगों ने संसार को यह संदेश सभी युगों में दिये हैं। अब किसके आगे पुकारकर कहूं! ॥१२॥

सत्य को कोई नहीं मानता, सब झूठी बातों का समर्थन कर झूठे के ही साथ जाते हैं। झूठे गुरु तथा झूठे चेले मिल रहे हैं और अन्त में अज्ञानी धूल फांकते हैं॥१४॥

व्याख्या—इस रमैनी में कबीर देव का क्रांतिकारी रूप जाज्वल्यमान होकर सामने आया है। धर्म के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले गुरुओं की यहां धज्जियां उड़ायी गयी हैं।

झूठे वर्ण और जाति के आधार पर किसी को ऊंच तथा किसी को नीच मानना सचमुच बहुत बड़ा पाप है। जन्मजात किसी को अछूत मानना घोर नैतिक अपराध है।

मानव मात्र का जन्म एक ढंग से होता है। लोग कर्मों से उत्तम-मध्यम हुआ करते हैं। परन्तु ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग ने अपने आप को जन्म से उत्तम मान लिया और एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र कहकर उन्हें तिरस्कृत कर डाला। जिसने हमें मिट्टी या धातु के बरतन बनाकर दिये, जिसने हमारे कपड़े बुने तथा सिले, जिसने हमारे बाल बनाये,

कपड़े धोये, घर बनाये, जिसने हमारे लिए अन्न पैदा किये, तेल पेरे, जिसने हमारी टट्टी फेंकी, उन सबको हमने शूद्र कहकर नीचा माना, यह कितना बड़ा अपराध है।

ब्राह्मणों ने वेद-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार अपने पास रखा। क्षत्रियों को केवल पढ़ने की छूट दी, वैश्यों को और नीचे स्तर पर रखा और शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के लिए तो भाषा पढ़ने का भी अधिकार नहीं रखा, वेद-शास्त्र पढ़ना तो उनके लिए पाप हो गया। कहा गया—"शूद्र निस्संदेह चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के पास वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।[१] ब्राह्मण शूद्र को वेद का ज्ञान न दे।[२] शूद्र यदि निकट आकर वेद सुन ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ रांगा या लाख भर दे। यदि उसने वेदों का पाठ कर लिया हो तो उसकी जिह्वा काट दे और उसने यदि वेद-मन्त्रों को याद कर लिया हो, तो उसके शरीर को काट दे।[३] शूद्र वह है जो दूसरे की सेवा करे, जिसे सवर्ण जब चाहे उखाड़ फेंके और जब जितना चाहे उसका वध कर दे।"[४]

वसिष्ठ ने कहा, "विधाता ने गायत्री छन्द से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छन्द से क्षत्रियों को तथा जगती छन्द से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छन्द से नहीं बनाया; इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत संस्कार के लिए अयोग्य है।"[५] कैसी-कैसी षड्यन्त्र भरी बातें लिखी गयीं! यह सर्वविदित है कि मानव का कोई वर्ग किसी छन्द से नहीं पैदा होता है, किन्तु सब माता-पिता के रज-वीर्य से एक समान पैदा होते हैं। यह जन्मजात उच्चता का पाखण्ड कितना झूठ और कितना बड़ा पाप है, विचारते ही बनता है। कहा गया है "यह शूद्र असत से पैदा हुआ है।"[६] श्री भगवत शरण उपाध्याय ने सच ही लिखा है—"मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, शंख, लिखित, नारद तथा वृहस्पति—सभी ने अपने मन्त्र-पूत वाणी से शूद्रों की सुकाट्य गरदन नापी है।"[७]

---

१. श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पादचारिणः।
तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥ *(वासिष्ठ० १८/१३)*
पद्यु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।

२. न शूद्राय मतिं दद्यात्। *(मनुस्मृति ४/८०)* *(वेदांत १/३/३८ पर शांकर भाष्य)*

३. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौतम धर्मसूत्र २/१२/४, शांकर भाष्य में भी, इस विषय में और भी देखें—गौतम धर्मसूत्र १६/१८/१९; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/३/९/९; याज्ञवल्क्य १/१४८; आदि पर्व ६४/२०।

४. अनस्य प्रेष्यः; कामोत्थाप्यः यथाकामवध्यः। *(ऐतरेय ब्राह्मण ३५/३)*

५. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। *(वसिष्ठ ४/३)*

६. असतो वा एव सम्भूतः यच्छूद्रः। *(शतपथ ब्राह्मण)*

७. खून के छीटें इतिहास के पन्नों पर, पृष्ठ १०३।
यह विचारणीय विषय है कि भेदभावग्रस्त पण्डितों ने मनु, याज्ञवल्क्य आदि के नाम से अनेक विषमता भरी वाणियां लिखी हैं; परन्तु नाम बदनाम होते हैं मनु आदि के। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है कि वाल्मीकीय रामायण में कबन्ध-वध के समय श्रीराम ने शूद्र कहे जाने

शंबूक शूद्र होकर भी तप कर रहा था, इसलिए श्रीराम ने उसकी हत्या कर दी,[१] तथा सूत शूद्र होकर भी नैमिषारण्य में कथा बांच रहे थे, इसलिए बलराम ने उनकी हत्या कर दी[२]—ऐसी षड्यन्त्र भरी कल्पित कहानियां भी शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के शोषण के लिए रची गयीं।

ब्राह्मणों-द्वारा जितने धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण, महाकाव्य आदि रचे गये, सबमें उन्होंने अपने स्वार्थ की बातें लिखीं और अपने स्वार्थ के लिए ही अन्य वर्ग को पशु के समान जीने के लिए विवश किया। विद्या, धर्मशास्त्र, धर्मकृत्य, ऊंचे पद, संन्यास आदि का अधिकारी अपने को माना और अन्य को, ज्यादातर तथाकथित शूद्रों को इनसे सर्वथा दूर रखा। यह सब पुरोहितों के द्वारा की जाने वाली चोरियां ही हैं। ब्राह्मणों के भेदभाव की नीति ने हिन्दू-समाज को कमजोर बनाकर रख दिया है। जाति-पांति का जहर हिन्दू धर्मग्रन्थों में उसी प्रकार समाया है जैसे दूध में पानी। आज भी उसका प्रभाव हिन्दू समाज पर छाया है।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मण नाम का एक वर्ग है और संसार में किसी भी वर्ग के सारे लोग गलत नहीं होते हैं। ब्राह्मण वर्ग में रहे हुए पुरोहितों ने ही भेदभाव तथा छल-छद्म की नीति अपनायी है। इससे पूरा ब्राह्मण-समाज दोषी नहीं है। ब्राह्मणों में भी सदा-सर्वदा से कुछ ऐसे मानवतावादी चिन्तक होते आये हैं, जो ब्राह्मण पुरोहितों की भेदभाव-जनित व्यवस्था के घोर विरोधी तथा मानव-समानता के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-समाज में भी ब्राह्मण-व्यवस्था-विरोधी आग यत्र-तत्र सदैव सुलगती रही है, जिसके परिणाम में आचार्य वृहस्पति ने भौतिकवादी पक्ष लेकर ब्राह्मणों के कर्मकांडों की धज्जियां उड़ायी थीं। ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोधी स्वर उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। ब्राह्मण समाज की संतान जैन, बौद्ध, सिद्ध-नाथ, कबीरपंथ तथा निर्गुणीधारा के नाना संप्रदायों में दीक्षित होकर ब्राह्मणवादी भेदभाव नीति का सदा घोर विरोध करती रही और भविष्य तो अधिक

वाले बन्धुओं को कुछ भी भला-बुरा नहीं कहा है। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी के मन में ऐसी बातें थीं, अतः उन्होंने श्रीराम के मुख से कबन्ध के सामने कहलवा दिया—"शापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥ पूजिय विप्र सील गुण हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना॥" इसमें दोष श्री राम का नहीं है, किन्तु गोस्वामी जी का है जिन्होंने श्री राम के कंधे पर बन्दूक रखकर पीछे से स्वयं शूद्रों पर दागी है। इसी प्रकार मनुस्मृति ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग की रचना है, परंतु मनु नाम के महापुरुष ईसा के हजारों वर्षों के पूर्व हुए हैं।

१. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, सर्ग ७३ से ७६।

२. श्री मद्भागवत *(१०/७८)*।

नोट—सूतहत्या तथा शंबूकहत्या संकुचित ब्राह्मण पुरोहितों की कल्पना मात्र है। इसमें श्रीराम तथा बलराम को घसीटकर कलुषित ब्राह्मणों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है। इसके लिए पढ़िये लेखक की 'कबीर पर : शुक्ल की और मेरी दृष्टि' नाम की पुस्तक।

उज्ज्वल है। सद्गुरु कबीर ने तो उन्हीं ब्राह्मणों की यहां आलोचना की है जो विषमताजनित व्यवस्था के संस्थापक तथा परिपोषक रहे हैं। कबीर साहेब का उद्देश्य ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग को न दुखाना है और न चिढ़ाना है। संत किसी को दुखाते नहीं। वे ब्राह्मणों को एक तथ्य सुझा रहे हैं। उन्हें सावधान कर रहे हैं। वे समझें और अपने आपको जाति और वर्णविहीन शुद्ध मानवतावादी स्तर पर लाने का प्रयत्न करें। इसी की आवश्यकता सब समय थी, आज तो अत्यावश्यक है ही।

केवल ब्राह्मण पुरोहित ही दोषी हों, ऐसी बात नहीं है, जहां कहीं भी, किसी भी परम्परा में पुरोहित होगा वह ऊंच-नीच का भेदभाव डालना शुरू ही करेगा। किसी पुराण में ब्रह्मा की महिमा की गयी, तो किसी पुराण में कृष्णगोपाल को ब्रह्म माना गया, किसी में शिव को सर्वोपरि कहा गया, तो किसी में भूत-प्रेतों की महिमा गायी गयी। जैनियों ने अपने तीर्थंकरों की महिमा कर उनकी पूजा का विधान किया, तो मुसलमानों ने अपनी पद्धति चलाकर नमाज पढ़ना आरम्भ किया। इसी तरह और अनेक गुरुओं-पुरोहितों के मार्ग निकले और वे अपने-अपने को मोक्ष तथा ईश्वर के एकाधिकारी घोषित करते रहे। कोई किसी का 'हटा' रोकना नहीं माना। ''झूठा खसम कबीरन जाना'' जीवों ने झूठे खसम को सही मान लिया। खसम का अर्थ है मालिक एवं स्वामी। झूठी प्रधानता को सही मान ली। या ''झूठा खसम कबीर न जाना'' कबीर साहेब कहते हैं कि लोग यह न समझ सके कि यह स्वामी या श्रेष्ठ बनना झूठा है। ''ऊंच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी।।''[१] यहां मूलतः ''कौन ऊंच है कौन नीच है, सब में एकी आतमा।''

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं सत्य की उपासना करता हूं और सत्य की राय देता हूं। हे मानव! तू जड़ देवी-देवताओं के सामने घुटने टेककर गिड़गिड़ा मत। अपने मन, वाणी, कर्मों को पवित्र कर। तू स्वयं देवों का भी देव महादेव है। तेरे सद्गुण ही तेरी पूजा के लिए फूल-पत्ते हैं। तेरे कुल-गोत्र और जाति-वर्ण सब परमदेव चेतनमय स्वयं है। संसार में रहने वाले सभी जीव अपने आप में स्वरूपतः परमदेव हैं। वे स्वयं अपने कर्त्ता, विधाता और परमात्मा हैं। उनके अपने ऊपर कोई अन्य देव नहीं। सब जीव स्वयं शुद्ध-बुद्ध कल्याण स्वरूप हैं। उन्हें सत्संग-विवेक द्वारा अपनी पहचान करना चाहिए और अपनी स्थिति में आना चाहिए। मानव-मानव में ब्राह्मण-शूद्र कौन है?

ब्राह्मण पुरोहितों का भारतीय समाज पर पुराकाल से वर्चस्व रहा है और उन्होंने अनेक काम अच्छे करते हुए भी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मिथ्या दंभ, असत्य, झूठी महिमा, घमंड आदि का आश्रय लेकर समाज को अपनी पकड़ के अन्दर रखने की कोशिश की है। उन्होंने सबके कल्याण की चाबी अपने हाथों में रखने का दावा किया। जैसे ऊपर कहा गया है कि यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु दुनिया के सारे सम्प्रदायों के पुरोहितों का है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां ब्राह्मणों के साथ अनेक पौराणिकों, जैनियों, मुसलमानों के भी नाम लिये हैं। इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई आदि सभी

---

१. विप्रमतीसी।

सम्प्रदायों के पुरोहितों को समझ लेना चाहिए। कबीरपंथ में भी कतिपय ऐसी शाखाएं हैं जो जीवों की मुक्ति की चाबी अपने हाथों में समझती हैं और वे यही मानती हैं कि हमारे नियम संस्कार के अनुसार चलने से ही जीव की मुक्ति होगी। वे यहां तक मिथ्या दावा करती हैं कि कबीर साहेब ने स्वयं हमारी शाखा को जीवमुक्ति का एकाधिकार दिया है। कबीर साहेब जीवन भर जिसका विरोध करते रहे, उनके कतिपय अनुगामी उसी का जोरदार समर्थन करते हैं और इस ढंग से कि मानो ऐसा कबीर साहेब ने ही इन्हें आज्ञा दी है। कैसा आश्चर्य है! कबीर साहेब ने जैसे ब्राह्मण पुरोहितों तथा अन्य पुरोहितों को खरी-खोटी सुनायी है, यदि वे आज आ जायें, तो कबीरपंथी पुरोहितों को भी उसी प्रकार अवश्य लताड़ेंगे।

भेदभाव उत्पन्न करने वाले पुरोहितों की धारा जैसे पुराकाल से रही है वैसे शुद्ध मानवतावादी, क्रांतिकारी, आत्मचिन्तक विवेकी सन्तों एवं विद्वानों की धारा भी पुराकाल से रही है। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर अनेक नाम लिये जा सकते हैं; और उपनिषद् के ऋषि भी इसी उदार मानवतावादी तथा आत्मवादी पंक्ति में आते हैं। इनमें थोड़ी दार्शनिक व्याख्या का दोष हटा देने पर मानवतावादी तथा आत्मवादी दृष्टिकोण में सर्वथा साम्य हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं—"कहइत मोहि भयल युग चारी" यहां 'मोहि' से कबीर का व्यक्तित्व अर्थ नहीं लेना चाहिए और न 'युग चारी' से केवल कल्पित चार युग लेना चाहिए। इस अर्धाली का अर्थ है कबीर जैसी चिन्तनधारा की देश-काल-व्यापी प्रवहमानता। प्रायः सब समय स्वतन्त्र, मानवतावादी तथा आत्मवादी चिन्तनधारा के महापुरुष रहे हैं और उनके विचार समाज को आंदोलित करते रहे हैं।

अज्ञान-रात्रि में मनुष्य का भटकाव

रमैनी–१५

बोनई बदरिया परिगौ संझा। अगुवा भूला बन खण्ड मंझा॥ १॥
पिय अन्ते धन अन्तै रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥ २॥

साखी—फुलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सों रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय॥ १५॥

रमैनी–१६

चलत-चलत अति चरण पिराना। हारि परे तहाँ अति रे सयाना॥ १॥
गण गन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धन्धे लाया॥ २॥
गहनी बन्धन बाण न सूझा। थाकि परे तहाँ किछउ न बूझा॥ ३॥
भूलि परे जिय अधिक डेराई। रजनी अन्ध कूप होय आई॥ ४॥
माया मोह उहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पवन अपूरी॥ ५॥
बरसै तपै अखण्डित धारा। रैन भयावन कछु न अधारा॥ ६॥

साखी—सबै लोग जहँड़ाइया, अन्धा सबै भुलान।
कहा कोई ना माने, सब एकै माहिं समान॥ १६ ॥

शब्दार्थ—बाण = रास्ता, लक्ष्य। दादुर = मेढक। अपूरी = अपूर्व, प्रचंड। जहँड़ाइया = खो दिया।

रूपक—बहुत-से नर-नारी सौदा लेन-देन के लिए किसी दूर-दराज बाजार चले। कुछ दूर चलने पर उन्होंने देखा कि घनघोर बादल झुक आये हैं तथा रिमझिम बारिश शुरू हो गयी है और चारों ओर संध्या बेला का दृश्य उपस्थित हो गया है। रास्ते में विराट जंगल है, इसलिए अंधियारी घनी हो गयी है। उस भीड़ के पथ-प्रदर्शक लोग स्वयं रास्ता भूल गये। उस भीड़ में कम्बल का व्यापार करने वाली नारियां भी हैं। उनके साथ उनके पति नहीं हैं, इसलिए वे ज्यादा भयभीत हो गयी हैं। उन्होंने कम्बल के गट्ठे सिर पर ले रखे हैं। उनमें एक फुलवा नाम की स्त्री है। वह अधिक सुकुमारी होने से सिर पर रखे हुए कम्बलों के गट्ठे को नहीं सम्हाल पा रही है और रोकर सखियों से अपनी व्यथा कहती है 'ज्यों-ज्यों कम्बल भीगते हैं, त्यों-त्यों उनका वजन बढ़ता जाता है।'

चलते-चलते उनके पैर बहुत दुख गये हैं। बड़े-बड़े लोग भी थक गये हैं। उनमें गंधर्वगण (नचैये-गवैये) भी हैं और मुनि (मननशील-समझदार) भी हैं। वे भी जंगल का छोर नहीं पा रहे हैं। वर्षा-पानी से जंगल के पथ खो गये हैं। सब उनकी खोज में लगे हैं। सबके लिए यह गहन बन्धन हो गया। किसी को रास्ता नहीं सूझता। सब थक गये। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें। सब भटक गये। सब का जी डर गया। अब रात का अन्धा-कुप्पा हो गया। सब अपने घर, परिवार, सन्तान इत्यादि की याद कर माया-मोह में निमग्न हो गये। मेढक 'कर्रकों' की आवाज करते हैं, बिजली कड़कती तथा चमकती है और भयंकर हवा चलती है। अखंड धारा से बारिश हो रही है और सभी प्रथिक मानसिक ताप में तप रहे हैं। रात्रि भयावनी है। जंगल से निकलने का किसी को कोई आधार नहीं मिल रहा है। सभी लोगों ने अपने को बरबाद किया। सब अन्धे होकर भटक गये। कोई किसी का कहा नहीं मानता है। सब एक ही गलत रास्ते पर जा रहे हैं।

भावार्थ—मनुष्य के मन में अज्ञान और भ्रम के बादल झुक आये और अन्तःकरण में घोर अन्धकार छा गया। विविध शास्त्रों की वाणियों के जंगल में पथ-प्रदर्शक गुरु लोग स्वयं भटक गये॥१॥ जीव अज्ञानवश परमात्मा को अपने से अलग मानकर जीवनपर्यंत उसे खोजता रहा; और बाल, कुमार, युवा एवं वृद्ध—चार अवस्था वाले शरीर रूपी कम्बल; अथवा अज्ञान एवं विषयासक्ति से बोझिल चतुष्टय अन्तःकरण रूपी कम्बल के बोझ को ढोता रहा॥२॥

जब शरीर में बुढ़ापा आ घेरता है और अंग जर-जर हो जाते हैं, तब फूल का भी भार लेना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य परस्पर मित्रों से रोकर कहता है कि जैसे-जैसे कम्बल भीगता है वैसे-वैसे वह भारी होता है; अर्थात जैसे-जैसे काया निर्बल होती है, वैसे-वैसे वह असमर्थ होती है॥१५॥

परमात्मा को आत्मा से अलग मानकर उसकी खोज में लोग थक जाते हैं और बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी हताश होकर बैठ जाते हैं।।१।। गंधर्वगण, मुनिगण आदि भी उसका भेद नहीं जान सके। उसे अपने से दूर और गायब समझकर उसकी खोज के धन्धे में पड़े हैं।।२।। अपना गंतव्य अपने से अलग मानना ही कठिन बन्धन या बन्धन ग्रहण करना है। ऐसे लोगों को अपना लक्ष्य नहीं सूझता। ईश्वर के विषय में लोग हार मानकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।।३।। नाना मतों के शास्त्रों की वाणियों में लोग भटक गये, और गुरुओं की इस घोषणा से अत्यन्त भयभीत हो गये कि यदि शास्त्रों की वाणियों में शंका एवं विचार करोगे, तो नास्तिक हो जाओगे। इस तरह लोगों की अज्ञानरात घनी हो गयी।।४।। भ्रांति और मूढ़ता से हृदय पूर्ण हो रहा है। वर्षाती मेढकों की टरटराहट के समान नाना मतवादों के बकबक हो रहे हैं, नाना मतों के वाक्यजाल की चमक-दमक में लोग चौंधिया रहे हैं और कल्पनाओं एवं वाणियों की प्रचण्ड झंझा लोगों को झकझोर रही है।।५।। इस प्रकार कल्पित वाणियों की उत्तप्त और अखण्डधारा बरस रही है और ऐसे अज्ञान की भयावनी रात में जीव को कुछ नहीं सूझ रहा है।।६।।

विवेक की आंखें न होने से सभी जीव अपने स्वरूप को भूल गये हैं और अपनी महत्ता को खो चुके हैं। विवेक की बात को कोई नहीं मानता। सब 'अन्धे अन्धा ठेलिया' की तरह एक ही भ्रांति में डूब रहे हैं।।१६।।

व्याख्या—सद्गुरु ने यहां बादल, वर्षा, बिजली, तूफान, अन्धकार, रास्ता, जंगल, बटोही आदि का बड़ा मनोहर चित्र खींचा है। जैसे बादल आने से अन्धकार छा जाता है, वैसे अज्ञान से हृदय विमोहित हो जाता है। अपने लक्ष्य को अलग खोजना ही अज्ञान है। पांचों विषय जीव से अलग हैं, अतः जीव का लक्ष्य विषय नहीं है; इसी प्रकार यदि शिव की कल्पना, जीव से अलग है, तो वह भी विषय ही है।

लोगों ने जीव को पत्नी तथा उससे पृथक परमात्मा की कल्पना कर उसे पति मान रखा है। इस भावना में बड़े-बड़े पथ-प्रदर्शक भटके हुए हैं। ऐसे लोगों को लक्ष्य रखकर कबीर देव उन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं 'पिय अन्ते धन अन्तै रहई' पति अलग है और पत्नी अलग, फिर कैसे तृप्ति होगी! आत्मा से पृथक परमात्मा खोजना बहुत बड़ा मानसिक भ्रम है।

'चौपरि कामरि माथे गहई' चार परत का कम्बल क्या है? वस्तुतः बाल, कुमार, युवा और वृद्ध इन चार अवस्थाओं वाला शरीर ही चार परत का कम्बल है जो निरंतर क्षीण एवं अशक्त होता है। अथवा मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार का चौहरा मनोमय विषयासक्ति, मोह एवं भ्रम से जीव के लिए दुखप्रद हो जाता है। भटकते हुए जीव के लिए उसके तन और मन भार स्वरूप ही हैं।

नाना प्रकार के कल्पित कर्म-उपासनाओं के भ्रम में लोग भटकते हैं। ईश्वर को अपने से कहीं दूर सातवें आसमान पर या गायब मानते हैं। ऐसे लोग कल्याण की तरफ न चलकर गहन बन्धन में उलझ जाते हैं; क्योंकि उन्हें 'बाण' नहीं सूझता, उन्हें 'लक्ष्य' नहीं दिखाई देता।

'भूलि परे जिय अधिक डेराई' बहुत महत्वपूर्ण पंक्ति है। लोग अपने स्वरूप को, अपनी गरिमा एवं तत्त्व को भूल गये। फतवा और व्यवस्था देने वाले पुरोहितों एवं गुरुओं की वाणियों से मनुष्य अधिक भयभीत हो गये। इनकी स्वतन्त्र बुद्धि छिन गयी। मतवादी थोड़ी-थोड़ी बातों में अन्य को नास्तिक, काफिर, बेदीन एवं अपवित्र कहने लगते हैं, अतएव मनुष्य शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों की वाणियों पर विचार नहीं कर पाता। उन्हें आंख मूंदकर मानने की परिपाटी ने मनुष्य को अन्धा बना दिया है। जो लोग एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चलने वाले हैं वे स्वतन्त्र चिंतन की बात नहीं मानते। इसके परिणाम में उनका अविवेक बढ़ता जाता है।

भावुकतावश एवं धर्माचार्यों के डर से हम शुद्ध तर्क, अन्वीक्षण, चिंतन एवं विचार जितना छोड़ते जा रहे हैं, उतना विवेकहीन एवं अन्धे होते जा रहे हैं। जड़-चेतन का भेद, कार्य-कारण-व्यवस्था की परख, विश्व के शाश्वत नियमों की पहचान और स्वस्वरूप का ज्ञान न होने से लोग धर्म और भगवान के नाम पर मूढ़ बना दिये गये हैं। श्रद्धा और भक्ति का बहुत बड़ा मूल्य है; किन्तु विवेकज्ञान खोकर नहीं।

तुम स्वयं महान हो, अपने रामरूप का स्मरण करो

रमैनी—१७

जस जिव आपु मिले अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदया होई॥ १ ॥
जासु बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निरबही॥ २ ॥
एके भाव सकल जग देखी। बाहर परे सो होय विवेकी॥ ३ ॥
विषय मोह के फन्द छुड़ाई। तहाँ जाय जहाँ काट कसाई॥ ४ ॥
अहै कसाई छूरी हाथा। कैसहु आवै काटौं माथा॥ ५ ॥
मानुष बड़ा बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया॥ ६ ॥
पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥ ७ ॥

साखी—सुमिरण करहू राम का, छाड़हु दुख की आस।
तर ऊपर धै चापिहैं, जस कोल्हू कोटि पिचास॥ १७ ॥

शब्दार्थ—गोई = छिपाना। बिगोई = नष्ट। पिचास = पचास, तात्पर्य में असंख्य।

भावार्थ—जैसा अपना जीव सिद्धांत है यदि वैसा उसे समझने वाला कोई सत्पात्र मिले; अथवा जैसा अपना परमार्थ-प्रेमी दिल है, वैसे प्रेमी जिज्ञासु मिले, तो सच्चर्चा हो और हृदय में धर्मजनित बड़ा सुख हो॥१॥ जिससे अविनाशी राम की बात कही जाती है, कोई उस पथ के प्रेम को नहीं निभाता है॥२॥ संसार के सारे लोगों को देखा जाता है कि वे अविद्या एवं माया-मोह की एक ही भावधारा में डूब रहे हैं; परन्तु जो इससे बाहर होता है, वही विवेकी है॥३॥ जो मुमुक्षु विषय-वासनाओं के बन्धनों को काटकर आगे बढ़ते हैं, वे वहां पहुंच जाते हैं, जहां उनके आत्मभाव का वध करने वाले भोले गुरु हैं॥४॥ ऐसे भोले गुरुओं के हाथों में तो स्वरूपज्ञान-विरोधी छूरी सदैव विद्यमान रहती है और वे मानो

कल्याण हो जायेगा।" तो हम उसकी वैचारिक हत्या करते हैं, और यह भाव मनुष्य को जड़ से निकम्मा बनाकर रख देता है। यदि हम बारम्बार किसी को कहते हैं कि "तुम दुर्बल हो, कुछ नहीं कर सकते।" तो हम उसकी बहुत बड़ी हत्या करते हैं। जो विचार एवं उपदेश मनुष्य को परमुखापेक्षी एवं गुलाम बनायें, वे विष के समान त्याज्य होने चाहिए।

"मानुष बड़ा-बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया।।" यह पंक्ति बड़ी मर्मभेदी है। प्रतिभावानों एवं बुद्धिमानों की कमी संसार में न पहले थी न आज है। दुनिया में बड़े-बड़े मनुष्य हुए हैं; परन्तु सभी मत के पुरोहित-पंडितों ने उन सबको प्रायः एक ही बात का पाठ पढ़ाया 'तुम तुच्छ हो और तुम्हारा उद्धार किसी दूसरे देवी-देवता के हाथों में है।' इस प्रतिगामी उपदेश ने मानव-मन को पापी, कुण्ठित, हतप्रभ, गुलाम एवं दीन-हीन बना दिया है। जो उपदेश मनुष्य को अपने कदमों पर खड़ा होने की प्रेरणा न देकर उलटे परमुखापेक्षी बनावे, वह मानव समाज के लिए घातक है। गुरुओं-द्वारा गलत दिशा पाकर बुद्धिमान एवं प्रतिभावान भी जड़ संस्कारों में फंसकर पंगु बन जाते हैं।

"पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।।" सद्गुरु कहते हैं कि गुरुजनों, विद्वानों, पण्डितों, सब में श्रद्धा रखो। सबकी विद्याओं एवं उपदेशों का आदर से श्रवण करो और पढ़ो; परन्तु उनकी छान-बीन करो, सभी गुरुजनों की वाणियों को परख की कसौटी से कसो। उनमें जो सार एवं सत्य हो वही ग्रहण करो, शेष को छोड़ दो। यदि ऐसा नहीं करते हो, केवल परम्परा एवं श्रद्धा के जोश में आंखें मूंदकर सब कुछ मानते जाते हो, तो निश्चय ही खो जाओगे; 'नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।' स्वयं परख-दृष्टि के अभाव में धर्म के नाम पर फैले शास्त्रों के वाणीजाल में मनुष्य अपनी गरिमा खो देता है।

हे साधक! अपने चेतन स्वरूप का स्मरण करो। वही राम है। राम तुमसे अलग नहीं है जिसके सामने तुम्हें रोना पड़े। तुम स्वयं राम हो, 'हृदया बसे तेहि राम न जाना' यह कबीर देव का अमर संदेश है। वे कहते हैं स्वस्वरूप-राम का स्मरण करो और दुखदायी भोगों एवं परावलंबता की आशा छोड़ दो।

संशय-पशु को मारो

रमैनी–१८

अद्भुद पन्थ वरणि नहिं जाई। भूले राम भूलि दुनियाई।। १ ।।
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई।। २ ।।
शब्द न माने कथै ज्ञाना। ताते यम दियो है थाना।। ३ ।।
संशय सावज बसे शरीरा। तिन खायो अनबेधा हीरा।। ४ ।।

साखी—संशय सावज शरीर में, संगहि खेले जुआरि।
ऐसा घायल बापुरा, जीवहि मारे झारि।। १८ ।।

शब्दार्थ—अद्‌बुद = अद्‌भुत, विचित्र। दुनियाई = संसार सम्बन्धी, व्यावहारिकता। यम = वासनाएं। सावज = पशु। जुआरि = जुआ।

भावार्थ—संसार में विचित्र सम्प्रदाय हैं जिनका वर्णन करना कठिन है। उनमें पड़कर लोग राम को तो भूल ही जाते हैं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं।।१।। हे भाई! यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा जीव को वासनाएं भटकायेंगी।।२।। लोग निर्णय वचनों को नहीं मानते, केवल परम्परा-पोषित बातों को ही ज्ञान मानकर उनका व्याख्यान करते रहते हैं, इसीलिए उनके मन में वासनाएं स्थान बनाकर जम गयी हैं।।३।। संशय रूपी पशु मनुष्य के हृदय में बसता है, उसने अखण्ड हीरा रूपी जीव को पथभ्रष्ट कर दिया है।।४।।

संशय-पशु शरीर में रहता है और जीव के साथ में जुआ खेलता है। जीव बेचारा अनेक चोटों से यों ही आहत है, संशय-पशु उसे और जलाकर मार रहा है।।१८।।

व्याख्या—'अद्‌बुद' शब्द अद्‌भुत का अपभ्रंश है। अद्‌भुत कहते हैं विचित्र एवं विस्मयकारक को, जिसको देख-सुनकर आश्चर्य होता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार में ऐसे-ऐसे पंथ एवं संप्रदाय हैं जिन्हें देख-सुनकर आश्चर्य होता है। ऐसे संप्रदायों एवं पंथों की बातों में आकर लोग राम को अर्थात अपने आत्म स्वरूप को भूल जाते हैं। निज-स्वरूप के शोधन की बात ही उनमें नहीं होती, किन्तु मन-मस्तिष्क आदि के भास-अध्यास एवं अनुमान-कल्पना को ही वे परम तत्त्व मान बैठते हैं। परम तत्त्व तो राम है और वह व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन है। उसे जान-बूझकर उसमें स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग केवल राम को ही नहीं भूल जाते हैं, किन्तु दुनियाई-दुनियावी एवं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं। "भूले राम भूलि दुनियाई।" दुनियाई एवं संसार की व्यावहारिकता को भूल जाना क्या है? प्रत्यक्ष है कि सांप्रदायिकता का जहर जब मनुष्य पर चढ़ जाता है, तब वह भाईचारे का व्यवहार भी भूल जाता है। सांसारिक व्यवहार का मूल तत्त्व यही है कि हम अन्य लोगों से अपने लिए अच्छा व्यवहार चाहते हैं, तो यह समझ सकते हैं कि हमारा व्यवहार भी दूसरे के लिए अच्छा होना चाहिए। सांप्रदायिकता का सारा झगड़ा है मर जाने के बाद की स्थिति को लेकर, जो परोक्ष है। और जीवन-काल के जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, मानवता, सदाचार एवं भाईचारे के व्यवहार की बात प्रत्यक्ष है उसकी अवहेलना की जाती है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि विचित्र-विचित्र सम्प्रदायों में फंसकर लोग अपने स्वरूप-राम को तो भूल ही जाते हैं, सांसारिक व्यवहार जो परस्पर का भाईचारा एवं सदाचार है उसे भी भूल जाते हैं।

"भूले राम भूलि दुनियाई" में दूसरे अर्थ में हम ऐसा भी समझ सकते हैं कि विचित्र सम्प्रदायों में संसार के साधारण लोग तो भूल ही गये, राम भी भूल गये हैं। राम के लिए तथा दुनियाई के लिए 'भूले' शब्द का प्रयोग अलग-अलग है, इसलिए दोनों के भूलने की बात है। इस स्थिति में राम का अर्थ दशरथ-सुत महाराज श्री राम से जोड़ा जा सकता है। ऐसी स्थिति में निम्न प्रकार से विचार रखा जा सकता है।

जड़ और चेतन को कभी अलग-अलग मानना और कभी दोनों को एक ही मानना यह अद्वैत ब्रह्मवाद ही अद्‌भुत पंथ है। योगवासिष्ठ में लिखा गया है "ब्रह्म ही जगत है और जगत ही ब्रह्म है।"[१] यहां जड़-चेतन का कोई निर्णय नहीं है। सांख्य और योग के ख्याल से तथा मानव के सहज विवेक से भी जड़-चेतन की अभिन्न-दृष्टि ही अविद्या है और इसी को अद्वैतब्रह्मवाद में ज्ञान मान लेना एक विस्मयकारक अवधारणा है। योगवासिष्ठ जो बत्तीस हजार श्लोकों का ब्रह्मवादी ग्रन्थ है, इसी मत का प्रतिपादन करता है। यह वसिष्ठ और राम के संवाद के रूप में रचा गया है। इसमें वसिष्ठ ने राम को उपदेश दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार श्री राम ने जड़-चेतन-अभिन्न अद्वैत ब्रह्मवाद स्वीकार लिया है। यह सब लक्ष्य रखकर यदि सद्‌गुरु ने कहा हो कि इसमें संसार के लोग तो भूले ही, श्री राम भी भूल गये, तो प्रासंगिक है। क्योंकि ब्रह्मवाद की आलोचना करते हुए ग्रन्थकार पीछे आठवीं रमैनी में कह आये हैं 'वोहि बात राम वसिष्ठ मिलि गाई।'

यह भी सच है कि योगवासिष्ठ के लेखक ने श्री राम को बलात घसीटकर अद्वैतब्रह्मवादी बनाया है, क्योंकि रामकथा के प्राचीनतम महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण में इसकी गंध भी नहीं है। वाल्मीकि के अनुसार श्री राम की सोलह वर्ष की उम्र में शादी होती है और योगवासिष्ठ के अनुसार इसी उम्र में उनको वैराग्य होता है, जो काल्पनिक है। रामकथा एक प्रिय काव्य हुआ है। इसलिए विभिन्न लेखकों ने उसे अपने मतानुसार घुमाकर ढाला है। मूल वाल्मीकीय रामायण को देखते हुए कहना पड़ता है कि चाहे योगवासिष्ठ के लेखक हों, चाहे अध्यात्म-रामायण के लेखक और चाहे रामचरित मानस के लेखक गोस्वामी तुलसीदास जी हों, सभी ने मूल रामकथा के साथ घोर मनमानी की है और उसे इच्छानुसार घसीटा है और जिसका जितना मन कहा है मूल रामकथा से हटकर नये-नये प्रसंग जोड़े हैं। कबीर साहेब यहां योगवासिष्ठ के अनुसार ही आलोचना करते हैं। किन्तु योगवासिष्ठ के जड़-चेतन अभिन्नवाद का दोष श्री राम पर नहीं मढ़ा जा सकता। यह योगवासिष्ठकार का अपना दोष है। योगवासिष्ठ का रचना-काल ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच है।[२]

योगवासिष्ठ में प्रथम के वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण बड़े महत्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ प्रशंसनीय है, किन्तु इसमें जड़-चेतन की अभिन्नता ही अंतिम सिद्धांत है एवं व्यवहार में योग-भोग मिला दिये गये हैं जो कल्याण के लिए घातक है।

---

१. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग ४६।

२. एम० विंटरनित्स तथा एस० एन० दास गुप्त योगवासिष्ठ को आठवीं शताब्दी ई० का मानते हैं, लेकिन डा० वी० राघवन के अनुसार उसकी रचना ११०० ई० और १२५० ई० के बीच में हुई थी।

देo क्रमशः हि० ई० लि० भाग ३, पृष्ठ ४४३ और हि० इं० फिलॉसफी भाग २, पृष्ठ २३०। तथा दे० जर्नल ऑव ओरियेंटल रिसर्च, भाग १३, पृष्ठ १००-१२८। शिवप्रसाद भट्टाचार्य इसे अभिनन्द (१० वीं श० ई०) की रचना मानते हैं। दे० इं० हि० क्वा० भाग २८, पृष्ठ २०१-१२। (फादर कामिल बुल्के की रामकथा पृष्ठ १६५ से उद्‌धृत)।

'जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई।।' यहां आये हुए 'यम' का अर्थ 'वासना' है। यदि मनुष्य विषय-भोगरूप खानीजाल से तथा सांप्रदायिक भ्रांतिरूप वाणीजाल से सावधान होकर उनसे अपने आपको मुक्त नहीं किया तो उसे वासनाएं संसार में भटकाती रहेंगी। अपने चेतन स्वरूप से हटकर जहां तक दृश्य की वासनाएं हैं 'यम' हैं।

"शब्द न माने कथै ज्ञाना" अर्थात लोग निर्णय शब्द नहीं मानते, परंपरा-प्राप्त अवधारणाओं को ही ज्ञान मानते हैं और उसी की कथा करते हैं, उसी पर बल देते हैं। लोग तर्कयुक्त निर्णय सुनना नहीं चाहते। लोग उन्हीं बातों को सुनना चाहते हैं, जिन्हें वे परम्परा से सुनते आये हैं। ऐसी स्थिति में सत्यज्ञान का होना असम्भव है।

'सावज' अथवा 'साउज' उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाय। 'संशय' सावज है, शिकार है। उसे सब ज्ञानी मारना चाहते हैं, परन्तु वह सावज ही शिकारी को मारता है। संशय अनबेधा हीरा को वेध रहा है। अनबेधा हीरा अविनाशी अखण्ड जीव है। जीव से ही उत्पन्न संशय जीव को खा रहा है। लोक में शिकारी शिकार को मारता है, परन्तु यहां शिकार ही शिकारी को मार रहा है। यह कबीर साहेब की उलटवासी है; परन्तु अर्थ सीधा है। उनकी सारी उलटवासियों का अर्थ सीधा होता है। संशय रूपी सावज पशु एवं शिकार को सब ज्ञानी रूपी शिकारी मारना चाहते हैं, किन्तु होता यह है कि ज्ञानी संशयों से स्वयं घिरे रहते हैं। ज्ञानी संशय-पशु के शिकार हो रहे हैं।

हर मनुष्य के हृदय में संशय-पशु निवास करता है और जीव से जुआ खेलता है। आध्यात्मिक संशय और व्यावहारिक संशय से हर मनुष्य हर समय पीड़ित रहता है। मैं कौन हूं, संसार क्या है, कोई ईश्वर है कि नहीं, मेरे कल्याण का रास्ता क्या है, मरने के बाद क्या होगा इत्यादि आध्यात्मिक संशय है।

पत्नी, बच्चे, माता, पिता, भाई-बन्धु, सम्बन्धी, पड़ोसी, मित्र—सबके प्रति मनुष्य के मन में संशय, संदेह, आशंका, भ्रम बने रहते हैं कि वे हमारे लिए क्या ख्याल रखते हैं, वे हमें धोखा तो नहीं दे रहे हैं इत्यादि, यह व्यावहारिक संशय है।

मनुष्य जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, अपने चरित्र को पवित्र नहीं करता, आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मजित नहीं होता, तब तक संशयों का शिकार होता है। जिस दिन व्यक्ति अपने स्वरूप को पहचानकर आत्मविश्वासपूर्वक मानवीय चरित्र की ऊंचाई पर पहुंच जाता है, उसके सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। दूसरे पर सन्देह, संशय, भ्रम आदि का मूल अपने स्वरूप का अज्ञान तथा नैतिकता की कमी ही है।

भ्रांति छोड़ो, राम में रमो

रमैनी–१९

अनहद अनुभव की करि आशा। ई विपरीत देखहु तमाशा।। १ ।।
इहै तमाशा देखहु रे भाई। जहँवाँ शून्य तहाँ चलि जाई।। २ ।।
शून्यहि बंछे शून्यहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ।। ३ ।।
संशय सावज सकल संसारा। काल अहेरी साँझ सकारा।। ४ ।।

साखी—सुमिरण करहू राम का, काल गहे हैं केश।
ना जानों कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश॥ १९ ॥

शब्दार्थ—अनहद = अनाहतनाद। बंछे = वांछा, अभिलाषा।

भावार्थ—लोग अनाहतनाद के अनुभव से कल्याण की आशा करते हैं, यह उलटा तमाशा तो देखो।।१।। हे भाई! यह इनका तमाशा देखो कि शून्य में जा रहे हैं।।२।। ये शून्य की अभिलाषा रखने वाले शून्य ही में जाते हैं और हाथ में आये हुए कल्याणदायी अवसर को खोकर धोखा खा रहे हैं।।३।। संशय-पशु शिकारी-काल बनकर रात-दिन संसार के सारे लोगों को मार रहा है। अथवा संशय-पशु संसार के सारे लोगों के मन को पीड़ित कर रहा है और मृत्यु-शिकारी देहधारियों की देहों को छीनने के लिए रात-दिन उनके पीछे लगा है।।४।।

हे मानव! तू अपने अन्तरात्मा-राम का स्मरण कर, तेरी चोटी को काल ने पकड़ रखा है। घर में हो या परदेश में, पता नहीं वह कब तुम्हें मार गिराये।।१९।।

व्याख्या—'अनहद' का शुद्ध शब्द 'अनाहत' है। 'आहत' कहते हैं 'चोट खाये हुए को'। 'अन' उपसर्ग है, जो शब्द का अर्थ उलट देता है। अन-आहत-अनाहत = जो बिना चोट का हो। यहां 'अनाहत' से अर्थ है 'अनाहतनाद'। अभिप्राय है वह शब्द जो बिना चोट के पैदा होता है।

हठयोगी लोग कान आदि छिद्रों को बन्दकर खोपड़ी में होती हुई आवाज को सुनते हैं। वे उसका नाम 'अनाहतनाद' रखते हैं। वे उसे ब्रह्मध्वनि मानते हैं, अतः उसके सुनने से मोक्ष मानते हैं। वे अनाहतनाद का अनुभव करते हैं। 'अनु' कहते हैं 'पीछे' को, 'भव' कहते हैं 'पैदा होने' को; अतएव 'अनुभव' का अर्थ है प्रयोग के पीछे पैदा हुआ ज्ञान। कान आदि छिद्रों को बन्द करने पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकारें उसी प्रकार सुनाई पड़ती हैं जिस प्रकार तार के खंभों के पास खड़े होने पर तार में दौड़ती विद्युत से निकलती हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस ध्वनि में योगी लोग शंख, घंटा, मृदंग, झांझ, करताल, बांसुरी आदि की ध्वनियों की कल्पना कर इसी में मस्त रहते हैं और इसे वे 'अनहद अनुभव' कहकर और इसी में लीन होकर कल्याण की आशा करते हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह हठयोगियों की उलटी बुद्धि का तमाशा है। बिना आघात के शब्द-ध्वनि आदि का पैदा होना ही असंभव है। विश्व में कहीं भी स्वन, शब्द एवं ध्वनि के पैदा होने का कारण है चोट एवं आघात। शरीर के नसों में किसी प्रकार की क्रियाशीलता, गति आदि से ही उनमें झनकारें उठती हैं। गति का कारण स्वाभाविक धक्का एवं चोट है तभी आवाज होती है। इसलिए योगी लोग जिसे अनाहतनाद कहते हैं, वह वस्तुतः आहतनाद है और जड़ ध्वनि है। उसको कुछ समय के लिए आलंबन मानकर उसमें मन रोका जा सकता है। अर्थात उसे मन रोकने का साधन बनाया जा सकता है; परन्तु वह साधक का लक्ष्य एवं प्राप्तव्य नहीं हो सकता। शब्द से शब्द का श्रोता बड़ा होता है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव!"[1] वस्तुतः शब्द से उसका श्रोता जीव बड़ा है।

---

१. साखी २२।

अनेक मतों-द्वारा अनाहतनाद, सबद, सारशब्द आदि कहकर जिसे व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है, वह श्राव्य एवं जड़ ध्वनि है। इससे ऊपर उठकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होना साधक का परम लक्ष्य है।

नाद-श्रवण को ही परम लक्ष्य मानकर उलझे हुए साधक लक्ष्य-शून्य हो जाते हैं। अथवा कुछ साधक शून्य को ही अपना लक्ष्य मानकर शून्य में ही लीन होने का उपक्रम करते हैं। यह सब स्वस्वरूप के अज्ञान का फल है और अपने सुनहले अवसर को खोकर धोखा खाना है।

वस्तुतः अन्तरात्मा की आवाज को ही अनाहतनाद कहा जा सकता है। मनुष्य का मन जितना स्वच्छ एवं शांत होता है, अन्तरात्मा की आवाज उतनी ही साफ सुनाई देती है। अन्तरात्मा की आवाज का अर्थ है अन्दर में उठता हुआ ज्ञान। यदि मनुष्य इसको ठीक से सुने और तदनुकूल आचरण करे, तो महान हो जाय। परन्तु कुछ साधक खोपड़ी की नसों की झनकारों को अनाहतनाद नाम देकर उसको अपना लक्ष्य मान बैठते हैं, जो एक भ्रम है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां उसका खण्डन किया है।

'अनहद' का अर्थ हद-रहित व्यापक भी होता है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग "अनहद अनुभव की करि आशा" अर्थात अपनी आत्मा की व्यापकता के अनुभव की आशा करते हैं जो कभी पूरी होने वाली नहीं। यह किसी को अनुभव नहीं होता कि मैं सर्वत्र परिपूर्ण व्याप्त हूं। सद्गुरु कहते हैं कि "ई विपरीत देखहु तमाशा" यह उलटा तमाशा है। आत्मा व्यापक है यह महिमापरक शब्द है। इसका अर्थ है आत्मा सर्वोच्चतत्व है। कबीर साहेब ऐसी बातें नहीं मानते जो अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। आत्मा सभी काल में विद्यमान रहती है यह तो ठीक है, क्योंकि नित्य वस्तु अक्षुण्ण रहती है; किन्तु एक परिनिष्ठित आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, यह न अनुभव का विषय है और न व्यावहारिक है। ऐसी अवधारणा करना अपनी आत्मा को शून्य में भटकाना है। मैं साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह आनुभविक स्थिति ही तथ्यपूर्ण है।

सद्गुरु हठयोग और नाद-श्रवण आदि दृश्य-भासों तथा व्यापकवाद के भ्रम से साधक को हटाकर उसे सहज राम का स्मरण बताते हैं। उनका राम अपना शुद्ध चेतन स्वरूप है। वे साधकों को सावधान करते हैं कि तुम भ्रम में मत रहो। जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। घर में, पथ में, वन में, देश में, विदेश में, कहीं भी काल आ सकता है। तुम्हारी चोटी काल ने पकड़ रखी है। तुम सारा प्रमाद छोड़कर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप राम का स्मरण करो।

मन के विकारों से हटकर अविनाशी राम में रमो

रमैनी–२०

अब कहु राम नाम अविनाशी। हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी॥ १ ॥
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥ २ ॥
रामनाम लौलायसु लीन्हा। भृंगी-कीट समुझि मन दीन्हा॥ ३ ॥

भौ अस गरुवा दुख के भारी। करु जिय जतन जो देखु विचारी॥ ४ ॥
मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ ५ ॥

साखी—इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार।
कहैं कबीर हरि शरण गहु, गौ खुर बछ विस्तार॥ २० ॥

शब्दार्थ—गरुवा = कठिन। बोहित = जहाज। बछ = बछड़ा।

भावार्थ—अब अविनाशी राम का नाम कहो। हे जीव! हरि को छोड़कर कहीं अन्यत्र मत जाओ॥१॥ अन्यत्र जहां जाओगे वहां तुम्हारी दशा अग्नि में कूदकर मरने वाले पतिंगे की भांति होगी। अतः हे जीव! तथ्य को समझो और विषयों के साथ पड़कर जलो मत॥२॥ लोक कहावत के अनुसार जैसे भृंगीकीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुना कर उन्हें अपने समान बना लेता है, वैसे साधक रामनामवाची आत्मतत्त्व का चिन्तन करते-करते अपने मन को राममय बना लेते हैं। उनका मन सदैव आत्माराम चेतन स्वरूप में ही लवलीन रहता है॥३॥ संसार की आसक्ति ऐसा कठिन एवं भारी दुख है जिससे बचना विवेकवान का काम है। हे जीव! इसे विचार कर समझो और इससे छूटने के लिए यत्न करो॥४॥ मन की बातें तो विकारी तरंगें हैं, उनमें पड़कर जीव को वारपार नहीं सूझता॥५॥

जीव इच्छा करके ही संसार-सागर में पड़ता है। अथवा इच्छा करना ही संसार-सागर है। इससे बचने के लिए परमाधार है स्वस्वरूप-राम का विचार रूपी जहाज। कबीर देव कहते हैं कि समस्त अज्ञान को हरने वाले सद्गुरु रूपी हरि की शरण पकड़ो, फिर संसार-सागर का पार करना गो-बच्छ की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल हो जायेगा॥२०॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर-द्वारा प्रतिपादित राम हाथ, पैर, मुख, माथा वाला व्यक्ति-विशेष नहीं है जो किसी एक संप्रदाय-द्वारा भावुकतापूर्वक मान लिया गया हो। उनका राम अविनाशी चेतन है, जो सबके हृदय में निवास करता है।

सद्गुरु कबीर बीजक में यत्र-तत्र 'अब कहु राम नाम' या 'राम नाम भजु' आदि जनभाषा में कह देते हैं। इसका अर्थ राम-नाम रटना मात्र न समझ लेना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा है—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।[१] या—राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।[२] वे अविनाशी जीव को राम मानते हैं और उस पर विचार करने की राय देते हैं। आत्मचिन्तन एवं स्वरूपचिन्तन ही राम-भजन है।

'हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी' वस्तुतः हरि क्या है? जो हमारे दोषों, विकारों एवं अज्ञान को हरणकर दूर कर दे, वही हरि है। ऐसे हरि सद्गुरु और सन्त को छोड़कर कोई नहीं है। हम किसी लोकविशेष में या अदृश्य विभु एवं व्यापक रूप में हरि की केवल कल्पना करते हैं, प्रत्यक्ष या अपरोक्ष बोध नहीं। काल्पनिक आदर्श से काल्पनिक क्षणिक

---

१. बीजक, रमैनी-साखी ३३।
२. बीजक, शब्द ४०।

सन्तोष भले हो जाय, सकारात्मक बोध एवं कार्य नहीं हो सकता। नाना मतों-द्वारा सर्वज्ञ-सर्वत्र-सर्वशक्तिमान हर्ता-कर्ता का काल्पनिक आदर्श बहुत दिनों से रखा जा रहा है, परन्तु उसी के नाम पर सदैव से हत्या, दुराचार एवं सांप्रदायिक क्रूरता का बरताव भी किया जा रहा है; परन्तु उसके द्वारा इसका कोई समाधान कभी नहीं किया जाता। इसलिए काल्पनिक आकाशीय उड़ान छोड़कर हमें व्यवहार की धरती पर उतरना चाहिए। अज्ञान और विषयासक्ति से पूर्ण निवृत्त सद्गुरु-सन्त ही हमारे उद्धार के लिए प्रेरक हो सकते हैं। वे ही हरि हैं। उन्हीं की शरण से कल्याण है।

अंततः हरि अपना चेतन-स्वरूप एवं आत्मदेव है। अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप के स्मरण एवं स्थिति में ही सारे विकारों का अन्त है। अतएव साधकों के लिए सद्गुरु, सन्त एवं स्व-स्वरूपविचार छोड़कर कहीं अन्यत्र कल्याण का स्थान नहीं है। इनसे हटकर अलग जाने का अर्थ है पतिंगे के समान विषय-वासनाओं की आग में जलना।

लोक कहावत है कि भृंगी-कीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुनाकर उन्हें अपना रूप बना लेता है। बिहारी कवि लिखते हैं—"डरियतु भृंगी कीट लौं मत वहई ह्वै जात।" परन्तु यह सर्वथा काल्पनिक है। वस्तुतः भृंगी, जिसे बिलनी भी कहते हैं, दूसरे छोटे-छोटे कीड़ों को पकड़कर खाने के लिए बिल में लाती है। आवाज करते रहना उसका स्वभाव है। उसके बिल से उसके बच्चे निकलते देखकर लोग भ्रमवश मान लेते हैं कि वे पकड़े गये कीड़े ही भृंगी बन गये हैं। यहां तो उदाहरण से केवल सार यह लेना है कि साधक अपने मन को राम की, निजस्वरूप चेतन की भावना देकर उसे राममय, चेतनमय बना लेते हैं। अर्थात सच्चे साधक के मन में केवल निजस्वरूप चेतन की स्थिति रहती है।

'भव' का अपभ्रंश 'भौ' है जिसका अर्थ है जन्म, होना, संसार, संसृति आदि। सद्गुरु कहते हैं कि भव का भारी दुख है। भव एवं संसार का मुख्य दुख है 'राग'। जहां का सब कुछ छूटने वाला है, वहां राग करना केवल दुखों को निमंत्रित करना है। इसलिए गुरुदेव कहते हैं 'करु जिय जतन जो देखु विचारी' विचार कर देखो और दुखों से छूटने का यत्न करो, साधना करो। यदि मनुष्य इस क्षणभंगुर जीवन में दुखों से रहित रहना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह यत्नपूर्वक सबके मोह का अन्त करे। आदमी यत्नपूर्वक विद्या पढ़ता है, धन कमाता है, परिवार वृद्धि करता है, सम्मान पाने का कार्यक्रम करता है; परन्तु वह राग से छूटने का प्रयास नहीं करता। इसलिए संसार की सारी चीजों से सम्पन्न होने पर भी दुखों में डूबा रहता है। वैराग्य और अनासक्ति ही दुख-रोग को दूर करने की परम औषध है।

राग होने से ही द्वेष होता है और राग-द्वेष में आबद्ध मनुष्य का मन विकारों से भरा होता है। मन की विकारी-लहरों में आत्म-दर्शन होना असंभव है। "मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥" मन की विकारी-लहरों का शांत हो जाना ही भव की शांति एवं संसार से पार हो जाना है।

"इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार" सांसारिक इच्छाएं भवसागर हैं और राम का आधार लेना ही बोहित है। बोहित कहते हैं जहाज को। राम अपना चेतन-स्वरूप है। अपने आप से पृथक कोई ऐसा राम नहीं है जिसका आधार पकड़ा जा सके।

स्व-स्वरूपानुसंधान ही राम का आधार पकड़ना है। प्रथम गुरु-सन्त ही हरि हैं और अंततः अपना आत्मस्वरूप हरि है। साधक को गुरु की शरण में, संतों की शरण में जाना चाहिए और अंततः उसे अपनी ही शरण में जाना है। जो साधक वैराग्यवान सद्गुरु-सन्तों की शरण में रहकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसके लिए संसार-सागर को पार करना गौ के बछड़े की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल है। बाहर सत्संग का पवित्र वातावरण और भीतर वैराग्य एवं बोध का चिंतन साधकों के कल्याण का सरलतम मार्ग है।

राम के ज्ञान से ही दुखों से छुटकारा है

रमैनी—२१

बहुत दुःख दुख दुख की खानी। तब बचिहो जब रामहि जानी॥ १ ॥
रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई॥ २ ॥
युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥ ३ ॥
कनक कामिनी घोर पटोरा। सम्पति बहुत रहै दिन थोरा॥ ४ ॥
थोरी सम्पति गौ बौराई। धर्मराय की खबरि न पाई॥ ५ ॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई। अमृत धोखे गौ विष खाई॥ ६ ॥

साखी—मैं सिरजौं मैं मारौं, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल महियाँ रमि रहौं, मोर निरंजन नाँव॥ २१ ॥

शब्दार्थ—घोरा = घोड़ा। पटोरा = रेशमी वस्त्र। धर्मराय = मृत्यु। खबरि = सन्देश।

भावार्थ—विषयासक्ति एवं अज्ञान अत्यन्त दुखों का उत्पत्ति-स्थान है। इनसे तभी बचोगे, जब राम को जानोगे॥१॥ जो व्यक्ति सद्गुरु-सत्संग में राम को ठीक से जानकर युक्तिपूर्वक चलता है, वह विषयासक्ति के बन्धनों में नहीं पड़ता॥२॥ वैसे संसार के सभी लोग अपनी-अपनी समझ से युक्तिपूर्वक ही चलते हैं; परन्तु वे गुरु के परिनिष्ठित विचार नहीं मानते॥३॥ कनक, कामिनी, घोड़ा आदि वाहन; रेशमी वस्त्र आदि सम्पत्ति चाहे जितने बटोर लें, किंतु संसार में रहना तो बहुत थोड़े दिन है॥४॥ लोग छूटने वाली थोड़ी सम्पत्ति पाकर उसके मद में उन्मत्त हो जाते हैं और मौत के सन्देश नहीं समझ पाते॥५॥ अन्ततः मौत का दुख देखकर देहाभिमानी मनुष्य का मुख सूख जाता है। सच है, मनुष्य अमृत के भ्रम में विष खाता है॥६॥

धर्मराय कहता है—मैं ही बनाता हूं, मैं ही मारता हूं, मैं ही जलाता हूं और मैं ही खा जाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रम रहा हूं। मेरा नाम निरंजन है॥२१॥

व्याख्या—ग्रन्थकार विषयासक्ति एवं बेसमझी को दुखों की खानि बतलाते हैं। खानि कहते हैं किसी चीज के उत्पत्तिस्थान को। विषयासक्ति में केवल दुख ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए वे तीन बार दुख का नाम लेते हैं—"बहुत दुःख दुख दुख की खानी।" किसी बात पर जोर डालने के लिए उसे तीन बार कहा जाता है। असन्तोष सबसे बड़ा दुख है और इसका मूल विषयासक्ति है। विषयासक्ति के वशीभूत होकर ही जीव जन्म-मरण के

चक्कर में घूमता है और संसार के सारे दुखों को सहता है। गरीब से धनी, अविद्वान से विद्वान, प्रजा से राजा तक जन्म, बुढ़ापा, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, अभाव, असन्तोष एवं मृत्यु के दुख से पीड़ित हैं। इसीलिए गीताकार ने कहा है 'दुखालयं अशाश्वतम्' अर्थात संसार दुख का घर और क्षणभंगुर है। शास्त्र तो तथ्य की छाया हैं। सब जीव स्वयं रात-दिन अभाव एवं दुखों का अनुभव करते हैं। जवानी और विषयों के संयोग के प्रमाद में अविवेकी आदमी इठलाता है; किन्तु कुछ दिनों में उसे भी दीन होकर दुख भोगना पड़ता है। किसी ने सच कहा है—"अरे मन, अब तो समझ धार अभी बाकी है, पार अभी बाकी है, जीत की हार अभी बाकी है।" अन्ततः सारे दुखों का कारण है अज्ञान एवं नासमझी। क्योंकि मन का दुख सबसे बड़ा दुख है और इसका कारण अज्ञान है।

सद्‌गुरु कहते हैं "तब बचिहो जब रामहि जानी।" दुखों से बचने का रास्ता है राम को जानना। मनुष्य का अपना असली एवं सारस्वरूप शुद्ध चेतन है। वही राम है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि मैं शरीर नहीं हूं, चेतन हूं, अविनाशी राम हूं, तब उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसे विषयासक्ति से घृणा हो जाती है। तब वह पर-विषयों से हटकर स्व-राम में रमता है। विषय क्षणभंगुर हैं, राम अविनाशी है। विषय जड़ तथा पराये हैं और राम चेतन तथा अपना स्वरूप है। जो अविनाशी स्वस्वरूप राम में रमता है, उसकी दृष्टि में विषय-भोग तुच्छ होते हैं। इसलिए उसको विषयों से वैराग्य होता है। उसके हृदय में किसी प्राणी-पदार्थ के लिए लोभ और मोह नहीं होते। इसलिए उसे कभी अभाव और असन्तोष की खटक नहीं होती। वह सदैव अपने अमृतधाम स्वस्वरूप-राम में ही निमग्न रहता है। देहाभिमान छोड़ देने से उसे बुढ़ापा तथा रोग का भी भय नहीं होता। बुढ़ापा तथा रोग आने पर वह सदैव सम रहता है। वह समझता है कि जिस पर बुढ़ापा तथा रोग व्याप्त हो रहा है वह शरीर मैं नहीं हूं। मैं शुद्ध चेतन हूं। न मेरा क्षय है, न मेरी मृत्यु। मैं तो अविनाशी सदैव कल्याण रूप हूं। वह समझता है कि पचास-सौ वर्षों की अवधि से सीमित शारीरिक जीवन मेरा असली जीवन नहीं है। मेरा असली जीवन तो अनादि-अनन्त है। श्री पूरण साहेब के वचनों में वह अपने को समझता है 'तू अविनाशी सुख में कहिए'। इस प्रकार राम को जानने पर ही दुखों का अन्त हो सकता है।

"रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई।।" सद्‌गुरु कबीर यहां केवल राम को जानने की बात नहीं करते हैं, किन्तु राम को जानकर युक्तिपूर्वक चलने को कहते हैं। 'युक्ति' के अनेक अर्थ हैं—मिलन, तर्क, उचित, विचार, हेतु, नीति, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति तथा एक अलंकार जिसमें अपना भेद छिपाने के लिए किसी क्रिया या उपाय-द्वारा दूसरे को धोखा दिया जाय। इस अलंकार के सन्दर्भ में कहा गया है 'युक्ति प्रायः छलात्मिका' अर्थात युक्ति प्रायः छलपूर्ण होती है। परन्तु इस रमैनी के सन्दर्भ को देखते हुए युक्ति के अर्थ तर्क, विचार, उचित और उपाय ही लगते हैं। यहां विषयों से हटकर राम को जानने की बात है। इसमें तर्क तो चाहिए ही। कबीर का राम कोई व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु सबका आत्मस्वरूप है, यह तर्कयुक्त बात है। विषय जड़स्वरूप एवं पर हैं और राम चेतनस्वरूप एवं स्व है, यह विचार है। उचित का अर्थ है ठीक-ठाक, सन्तुलन एवं अपनी दशा में रहना। राम को जानने का

मतलब है स्वस्वरूप को जानना और युक्ति से चलने का अर्थ स्वरूपस्थिति की दशा में रहकर चलना।

'युक्ति' का अर्थ है 'उपाय' जो बहुप्रचलित है। कठिन काम भी युक्ति एवं उपाय से करने पर सहज हो जाता है और बिना युक्ति के सरल काम भी कठिन हो जाता है। यह युक्ति और उपाय का ही फल है जो हजारों तथा लाखों मन का वजन लेकर ट्रेन, हवाई जहाज, जल जहाज एवं बसें दौड़ती रहती हैं। बे-तरीके चार किलो वजन लेकर चलना भी कठिन हो जाता है। युक्ति से बात करने पर बिगड़ा काम बन जाता है और बिना युक्ति से बात करने पर बना काम बिगड़ जाता है। हाथ तथा छूरी में तेल लगाकर कटहल की सब्जी बनाने से उसका लासा हाथ तथा छूरी में नहीं लगता और बिना उपाय के, यों ही कटहल की सब्जी बनायी जाय तो हाथ और छूरी, दोनों लसफस हो जायेंगे। कांटों के झुंड में फंसे हुए अपने वस्त्रों को युक्तिपूर्वक ही छुड़ाया जा सकता है। जोर से जल्दीबाजी में खींचने से वस्त्र फट जायेंगे। अनादिकाल से जीव विषयों में फंसा है। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी कोई हठपूर्वक बन्धनों से नहीं छूट सकता। युक्तिपूर्वक, उपाय से चलने पर ही जीव बन्धनों को तोड़ सकता है। युक्ति से मोटे-मोटे पेड़ भी काटकर गिरा दिये जाते हैं और बिना युक्ति के हठपूर्वक एक छोटा पौधा उखाड़ने में कठिन हो जाता है। अतएव राम को, स्वस्वरूप को जान लेने पर युक्तिपूर्वक चलकर जीव अपने को बन्धनों से जीवन भर बचाये रख सकता है। 'युक्तिहु ते फंदा नहिं परई' यह वचन बहुत वजनदार है।

"युक्तिहिं युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा।।" संसार के सभी लोगों को यह अहंकार है कि हम तर्क, विचार, उपाय एवं संयम से ही चल रहे हैं। अर्थात हम युक्तिपूर्वक एवं ठीक ही चल रहे हैं। परन्तु यदि लोग ठीक ही चल रहे हैं, तो उनके जीवन में दुख क्यों है? यदि आदमी को सच्चा ज्ञान हो जाय और उसी ज्ञान के मुताबिक जीवन में आचरण करे, तो वह दुखी नहीं हो सकता। मनुष्य की समझ और आचरण गलत होते हुए भी वह उनके प्रति अच्छा होने का अहंकार करता है। वह गुरुजनों की बातों पर ध्यान नहीं देता। 'निश्चय कहा न मानु हमारा' का अर्थ है मनुष्य गुरु के सच्चे उपदेशों पर ध्यान नहीं देता।

जिनके लोभ और मोह में पड़कर मनुष्य गुरुजनों की सच्ची बातों पर ध्यान नहीं देता, वे धन, ऐश्वर्य, परिवार, मान-प्रतिष्ठा बहुत-थोड़े दिन रहने वाले हैं। संपत्ति और समाज तो हम चाहे जितने जुटा लें किन्तु इनके साथ हमें बहुत ही कम समय रहना है। फिर इनका प्रमाद कैसा! थोड़ा ऐश्वर्य, सम्मान एवं जन-समाज पाकर आदमी अहंकार के नशा में पागल हो जाता है। उसे मौत की याद नहीं रहती, जो एक ही क्षण में सबसे वियोग करा देगी। उसे मौत की खबर नहीं। बाल पकना, दांत टूटना, आंखों की रोशनी घट जाना और चश्मा लगाने के लिए विवश होना, चाम में सिकन आना आदि मौत की अनेक सूचनाएं हैं। लेकिन विमोहित मानव उन्हें पढ़ नहीं पाता। मौत की खबर एवं संदेश का उसे भान नहीं। इस भूतल पर बड़े-बड़े राजे-महाराजे होकर चले गये। आज उनके नाम-निशान भी नहीं हैं। सद्गुरु कबीर साखीग्रन्थ में कहते हैं—

ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल।
दिन दस के व्यौहार में, झूठे रंग न भूल॥
कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह।
दिवस चार का पेखना, अंत खेह की खेह॥
कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरा लाल।
दिवस चार का पेखना, बिनसि जायगा काल॥
सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥
मरोगे मरि जाहुगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाइ बसाहुगे, छोड़ि बसंता गाम॥
कबीर जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल।
चेत सकै तो चेति ले, मीच परी है ख्याल॥

जिसने पहले से ही देहाभिमान एवं मायाभिमान नहीं छोड़ा है, ऐसे मोहासक्त जीव के सामने जब मृत्यु का समय आता है, वह भयभीत हो जाता है। वह देखता है कि मेरा सारा अपना माना हुआ छूट रहा है। जमीन, मकान, रुपये, परिवार, समाज, सम्मान जिन्हें वह अपना मान रखा था उनके छूटने की बात सोचकर मुख सूख जाता है। तब उसे लगता है कि मैंने स्वप्न की संपत्ति के लिए घोर पाप कर डाले हैं। आज सूझ पड़ती है कि मैंने अमृत के धोखे में विष खा लिया। परन्तु "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत।" आदमी जीवन भर अमृत के धोखे में विष खाता है। विष पंच विषय हैं, अमृत जीव है, जिसे इस रमैनी में राम कहा गया है। व्यक्ति विषयों में डूबा रहता है जो दुखों के कारण बनते हैं। वही समझदार है, जो विषयासक्ति छोड़कर अपने चेतनस्वरूप अमृत में स्थित हो।

इस रमैनी के अन्त की साखी में कहा गया है "मेरा नाम निरंजन है। मैं ही जन्माता, मारता, जलाता और खाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रमता हूं।" यह निरंजन कौन बला है? निरंजन का शाब्दिक अर्थ है मायातीत एवं निर्दोष। निरंजन ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस रमैनी तथा अगली रमैनी में प्रयुक्त होने वाला 'निरंजन' शब्द दो अर्थों वाला है। एक अर्थ है काल और दूसरा अर्थ उस उलटी हुई ब्रह्म-धारणा के लिए है जिसमें सारी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माना गया है।

मोह-मन्दिर में मत घुसो

रमैनी–२२

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब लोई॥ १ ॥
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा बचन साँच कै माना॥ २ ॥
धन्धा बन्दा कीन्ह ब्यवहारा। कर्म विवर्जित बसै निन्यारा॥ ३ ॥

षट आश्रम और दर्शन कीन्हा। षटरस बास षटै वस्तु चीन्हा॥ ४ ॥
चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी। विद्या अगणित गनै न जानी॥ ५ ॥
औरों आगम करे विचारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ ६ ॥
जप तीरथ ब्रत कीजे बहु पूजा। दान पुण्य कीजे बहु दूजा॥ ७ ॥

साखी—मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय।
जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय॥ २२ ॥

शब्दार्थ—धन्धा = व्यवहार। बन्दा = गुलाम। चारि वृक्ष = चार वेद। छौ शाखा = छह वेदांग।

भावार्थ—उस अदृश्य निरंजन की कोई परीक्षा नहीं करता, जिसके बन्धन में सब लोग बंधे हैं॥१॥ जिस असत्य धारणा में सब अबोधी जीव बंधे हैं, उस झूठी बात को उन्होंने सत्य समझकर मान रखा है॥२॥ यद्यपि जीव का शुद्धस्वरूप कर्मों से सर्वथा रहित है और उसकी स्थिति जड़ से नितांत भिन्न निराधार एवं असंग है, तथापि अपने स्वरूप की भूल से वह गुलामी का धन्धा उठा रखा है और विवशता का व्यवहार कर रहा है॥३॥ मनुष्यों ने छह आश्रम और छह दर्शनों की रचना की और छह रस का आस्वादन किया और छह सिद्धांतों का निरूपण किया॥४॥ चार वेद रूपी चार वृक्ष तैयार किये और उसमें छह वेदांग रूप छह शाखाओं का विस्तार किया। इतना ही नहीं, मनुष्यों ने अगणित विद्याओं का प्रवर्तन किया, जिनका एक व्यक्ति के लिए जानना असंभव तो है ही, उनकी गणना करना भी सरल काम नहीं है॥५॥ लोग इसके आगे भी आगम शास्त्रों का विचार करते हैं, जिसमें वार-पार नहीं सूझता॥६॥ लोग जप, तीर्थ, व्रत, पूजा, दान-पुण्य आदि करते हैं तथा इसके भी अतिरिक्त नाना कर्म करते हैं॥७॥

जिस मन्दिर में आदमी कैद होता है वह तो स्नेह एवं मोह का है। हे कल्याणार्थी! उसमें कोई दौड़कर मत घुसो। जो इस मोह-मन्दिर में दौड़कर घुसेगा, वह व्यर्थ में अपना सिर कटा बैठेगा॥२२॥

व्याख्या—अलख निरंजन अदृश्य काल है। काल के दो रूप हैं एक समय की अवधि तथा दूसरा मन की कल्पना। इस रमैनी में मन की कल्पित अवधारणाओं को ही अलख निरंजन कहा गया है। सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि लोगों के मन की जो रेखरूपरहित कल्पित अवधारणाएं हैं, उन्हें वे परखने की कोशिश नहीं करते। आदमी का बन्धन उसकी अपनी गलत अवधारणाएं एवं कल्पनाएं ही हैं। आदमी रस्सी, लोह की जंजीर या काष्ठ आदि में बंधा हो, तो उसे अपने बन्धन दिखाई दें, किन्तु बन्धन तो अदृश्य हैं। वे आदमी को सहज दिखाई भी नहीं देते। मन के अदृश्य बन्धनों को तो कोई पारखी ही देखता है।

"जेहि झूठे सब बाँधु अयाना" बन्धन झूठे हैं, किन्तु जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे इस झूठे बन्धन को ही सच मान रहे हैं और खुशी-खुशी इसमें बंधे हैं। मोह में बुद्धि भ्रमित होती ही है। "धन्धा बन्दा कीन्ह व्यवहारा" बन्दा ही बन्धन का धन्धा एवं व्यवहार करता है। बन्दा का अर्थ ही है वशवर्ती एवं गुलाम। स्वतन्त्र जीव मन के मिथ्या बन्धन में पड़कर गुलाम हो गया है।

सद्गुरु कहते हैं "कर्म विवर्जित बसै निन्यारा" जीव कर्मों से अलग और जड़ प्रकृति से सर्वथा पृथक एवं असंग है। अपने असंगत्व का बोध न होने से जीव सब में फंसा है। अपने आप को दृश्यों में मिला देना पीड़ा है और अपने असंगत्व का सदैव भान रहना ही अमृतत्व है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध असंग जीव सब में मिल-मिलकर बंधा है।

इन बन्धनों से छूटने के लिए मनुष्यों ने छह आश्रम, छह दर्शन, छह रस एवं छह वस्तुओं की अवधारणाएं कीं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनमें हंस एवं परमहंस जोड़कर छह आश्रमों की अवधारणाएं हुईं। योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी-बौद्ध), संन्यासी, दरवेश (फकीर) और ब्राह्मण ये छह दर्शन हैं।

"षटरस बास", छह रसों का आस्वादन है। यहां प्रसिद्ध षड्रस—मीठा, नमकीन, कड़वा, तीता, कसैला तथा खट्टा अर्थ नहीं है; किन्तु छह नामों का जप है। ब्राह्मणों का 'ॐ', संन्यासियों का 'सोऽहं', दरवेशों-सूफियों का 'हू अल्ला हू', योगियों का 'महीनाद', सेवड़ा का 'तत्वनाम' एवं जंगमों का 'निरंजन' जप है। इस प्रकार षड्दर्शनों के छह जप हैं और भक्त-जन अविनाशी राम-नाम जप करते हैं।[1] ये सब अपने-अपने नाम-जप का आस्वादन करते हैं। इनके अलावा भी अनेक प्रकार नाम एवं मंत्रादि के जप हैं।

"षटै वस्तु चीन्हा" इन्होंने अपने-अपने सिद्धांत का अलग-अलग निरूपण किया है। ब्रह्मचारी ब्राह्मणों का अद्वैत परमात्मा, संन्यासियों का अहंब्रह्मास्मि, फकीरों का वायु का वायु में मिल जाना, योगियों का पिंड से उठकर ब्रह्मांड में पहुंचना, जैनियों का ऊपर अलोकाकाश में चन्द्रशिला पर मुक्त होकर रहना, जंगमों (शिवाचारियों) का आकाशवत परमात्मा शिव में मिलना—यह छह दर्शनों के सिद्धांत हैं और भक्तों का यह विलक्षण सिद्धांत है कि राम पुरुष है और सब जीव नारिरूप हैं ऐसा मानकर माधुर्य भक्ति करना।[2] इसके अतिरिक्त भी नाना मतों द्वारा नाना सिद्धांतों का निरूपण किया गया है।

"चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी" चार वृक्ष छौ शाखा चारों वेद एवं छहों वेदांग के लिए रूपक हैं। मनुष्यों के कल्याण के लिए ही चारों वेद ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व की और छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष की रचना की गयी।

---

१. ॐकार ब्राह्मण उपासी। सोहं ब्रह्म इष्ट संन्यासी॥
हू अल्लाहू सुफी अधारा। महीनाद योगी विस्तारा॥
तत्वनाम सेवड़ा परवाना। नाम निरंजन जंगम ध्याना॥
षड्दर्शन षड्अंग उपासी। राम नाम भक्ता अविनाशी॥ *(पंचग्रंथी)*

२. अदेव मूल श्रवण को कहिये। अहं ब्रह्म संन्यासी लहिये।
वायु शेख योगी सो धरणी। शशी अमीरस जाने जैनी॥
महा अकाश जंगम के होई। षट सिद्धान्त जग जानेहु सोई।
पुरुष राम सब नारि स्वरूपा। यह सिद्धान्त है भक्ति अनूपा॥

(पंचग्रंथी, मानुष विचार का अन्त)

यहां 'अदेव मूल श्रवण को कहिये' आया है। यहां अदेव से देवरहित नहीं किंतु अद्वैत परमात्मा अर्थ है तथा श्रवण श्रमण नहीं किन्तु ब्राह्मण है।

जो वेदाध्ययन तथा वेद मंत्रों के विनियोग एवं संस्कारों में सहायक होते हैं, उन्हें वेदांग कहा जाता है, वे उक्त छह हैं। वेद-मंत्रों के उच्चारण का विज्ञान बताने वाला ही 'शिक्षा' अंग है। कर्मकांड या अनुष्ठान पद्धति और यज्ञों, संस्कारों की विधियां 'कल्प' में बतायी गयी हैं। 'व्याकरण' वह वेदांग है जिसमें भाषा के शब्दों, उनके रूप, प्रयोगों आदि पर विवेचन है। 'निरुक्त' वह ग्रन्थ है जिसमें वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है। ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शती के यास्क मुनि की प्रसिद्ध रचना 'निरुक्त' है। छन्दों का रूप बताने वाला 'छन्द' है। 'ज्योतिष' का अर्थ है नक्षत्र विद्या या गणित।

"विद्या अगणित गनै न जानी" विद्याएं असंख्य हैं। इतिहास, पुराण, उत्पात-शास्त्र, निधि विद्या, तर्क विद्या, भूत विद्या, धनुर्विद्या, संगीत विद्या, प्राणि विद्या, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, कहां तक कहा जाय, गिनकर समाप्त करना कठिन, एक व्यक्ति का सबका जानना असंभव। एक घटना याद आयी। गत दिसम्बर (१९८६) कलकत्ता में प्रेम प्रकाश जी के यहां निवास था। ११ दिसम्बर को कलकत्ता का म्यूजियम देखने गया। दो घण्टे देखने पर भी आधा ही में घूम सका। देखना तो उसे नहीं कह सकते। एक साथी ने कहा कि इसमें सारी चीजें देखने और समझने के लिए चार घण्टे चाहिए। मैंने कहा इसे देखने के लिए महीनों चाहिए और जानने के लिए असंख्य जन्म चाहिए। परन्तु इन्हें गहराई से जानकर करेंगे क्या? बस इतना देख लिया, हो गया। अपने को देखो, अपने को जानो और अपने में स्थित होओ। यहीं विश्रांति है।

"औरों आगम करे विचारा" मनुष्य और भी आगे बहुत शास्त्रों का विचार करता है। 'आगम' कहते हैं वेदादि मान्य ग्रन्थ, शास्त्र, दर्शन, तंत्रशास्त्र आदि को। 'वाराही तंत्र' नामक ग्रन्थ के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षटकर्म (शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन तथा ध्यान-योग इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को 'आगम' कहते हैं।[1] इस प्रकार लोग असंख्यात विद्याओं का विचार करते हैं। वाणी-जाल का इतना विस्तार है कि उसमें मनुष्य को 'वारपार' नहीं सूझता। "ते नहिं सूझै वार न पारा" बड़ा वजनदार वचन है। वारपार सूझने का मतलब है अपने लक्ष्य का दिखाई दे जाना। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को न देख सका तो बहुत विद्याएं पढ़कर क्या हुआ! इसलिए सद्गुरु का महानिर्देश है "सार सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।"

लोग कल्याण के लिए ही नाना नाम एवं मंत्रों का जप करते हैं। देश के बहुत या सभी तीर्थों में बारम्बार भ्रमण करते हैं। एकादशी, अष्टमी, चन्द्रायण इत्यादि व्रत-उपवास करते हैं। पेड़, पहाड़, पानी, पाषाण आदि में देवी-देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं।

---

१. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥ *(बल्देव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५२९)*

अनेक प्रकार दान-पुण्य करते हैं। ठीक है, अपनी-अपनी समझ-शक्ति के अनुसार कुछ कर्म-धर्म करना अच्छा है। किन्तु इससे भी कुछ आगे है, इसे सत्संग-विवेक द्वारा समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

"मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय। जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय।।" बहुत महत्वपूर्ण साखी है। सद्गुरु कहते हैं कि मोह के मन्दिर में दौड़कर मत घुसो। उपर्युक्त वर्णित सारी विद्याएं एवं सारे खटकरम मोह के मन्दिर हैं। इनमें दौड़-दौड़कर मत घुसो। मोह के मन्दिर में घुसने से मनुष्य का सिर कट जाता है। अर्थात जो मोह से आवृत होता है उसका विवेक सो जाता है। धन-सम्पत्ति का मोह, जमीन-मकान का मोह, परिवार-समाज का मोह, मान-प्रतिष्ठा का मोह, शास्त्र-परम्परा का मोह, विद्या-वाणी का मोह, संप्रदाय-मान्यता का मोह, रस्म-रिवाज का मोह, देह तथा मन के संकल्प-विकल्पों का मोह, कहां तक गिनाया जाय! यह दृश्य मात्र का मोह ही तो गले की फांसी है। जिसने मोह का परित्याग किया वह अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित हुआ। वह अपने असंगत्व में प्रतिष्ठित हुआ। वही सच्चे अर्थ में मानवता का उन्नायक है 'कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।'

विषयसुख अल्प है, आत्मसुख नित्य है

रमैनी–२३

अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता। मन भुलान मैगर मै मन्ता॥ १ ॥
सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूँठ निज धावै॥ २ ॥
अनल ज्योति डाहै एक संगा। नैन नेह जस जरै पतंगा॥ ३ ॥
करहु विचार जो सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥ ४ ॥
लालच लागी जन्म सिराई। जरा मरण नियरायल आई॥ ५ ॥

साखी—भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।
मानुष जनम पायके, नर काहे को जहँड़ाय॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मैगर = हाथी। मै = समान। मन्ता = उन्मत्त।

भावार्थ—विषयों में सुख थोड़ा है और दुख आदि से अन्त तक भरा है; किन्तु मनुष्य का मन उन्मत्त हाथी के समान उनमें भूला है।।१।। यद्यपि सुख की उपेक्षा कर मुक्ति कहां मिल सकती है! परन्तु सुख के सच्चे और झूठे स्वरूप को समझना होगा। मनुष्य सच्चे एवं स्वरूपस्थितिजनित चिरंतन सुख को छोड़कर असत्य विषय-सुख को ही सच्चा मानकर उसी का ध्यान करता है, उसी के लिए दौड़ता है।।२।। मनुष्य विषयों में कूदकर उसी प्रकार अपना विनाश करता है जैसे नैन-नेह एवं रूपासक्ति में पड़कर पतिंगे अग्निशिखा में अपने आपका हवन कर देते हैं।।३।। हे कल्याणार्थी! विचार करो और झूठे विषयों के मोह का परित्याग करो, जिससे सारे दुख दूर हों।।४।। विषयों के लालच में लगकर तुम्हारा जीवन बीता जा रहा है और जरा-मृत्यु निकट आ रही है।।५।।

इस प्रकार जीव विषय-सुख-भ्रम में बन्धा हुआ बारम्बार जन्म-मरण में आता-जाता रहता है। हे मनुष्य! विवेकप्रधान मानव जन्म पाकर तू अपने आपको क्यों पतित कर रहा है? ॥२३॥

व्याख्या—शैशवकालीन माता के गोदजनित सुख, बाल्यकालीन खेलकूद-जनित सुख, तरुणाई के पढ़ने-लिखने का सुख, जवानी के राग-रंग का सुख—सब तो क्षणिक हैं। और केवल क्षणिक ही नहीं, दुखमिश्रित हैं। रसभरी जवानी, वैवाहिक उत्सव, सुहागरात के दिन आखिर कितने दिन तक चलेंगे! शासन, स्वामित्व एवं अधिकारत्व की गद्दी कब तक रह सकती है! और जब तक है, इन सब में तो चिन्ता की भट्ठी जलती है, सुख है कहां!

संसार में सबसे बड़ा सुख काम-भोग मान रखा है, जिसमें है क्षणिक उत्तेजना, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय, मलिनता, शक्तिहीनता और बेवकूफ बनकर पीछे पछताना, यही तो है संसार का माना हुआ सबसे बड़ा सुख! इसी के पीछे जीवन भर की गुलामी! इसी के लिए मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी तैयारी में लगाता है और शेष आधी जिन्दगी इसके दुखद परिणाम को झेलने में। फिर इसे सुख कहें तो दुख किसे कहें!

यह ठीक है कि एक-दो सन्तान के लिए गृहस्थ को एक-दो बार इस भूल में अपने आप को उतारना चाहिए। किन्तु जो अपना पूर्ण कल्याण चाहे वह इससे एकदम बरी रहे। फिर आज की दुनिया में जहां सन्तानों की भीड़ से शासन विचलित हैं, अधिक से अधिक नर-नारियों को अविवाहित एवं ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बनकर रहना चाहिए।

प्रसंग यहां यह नहीं है कि संसार की सामयिक स्थिति क्या है। प्रसंग एक ज्वलंत विषय पर है कि जड़ पंच विषयों के जितने सुख हैं, सब क्षणभंगुर हैं। उनके भोग से इच्छाएं बनकर मनुष्य के चित्त को सदैव उद्वेगित करती रहती हैं जिससे वह सदैव पीड़ित रहता है। विषयों के निरंतर सेवन से मनुष्य की विवेकशक्ति सो जाती है और वह अन्धा बनकर विषयों के उन्माद में ही प्रमत्त रहता है।

उपर्युक्त सुख का खंडन सुनकर कोई घबरा सकता है कि मुक्ति के चक्कर में पड़कर यदि जीवन में सुख का ही खंडन हो जाय, तो रहा ही क्या! हर प्राणी दुख से भागता है और सुख चाहता है। सद्गुरु कहते हैं "सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै" सुख को भूलकर, सुख की उपेक्षाकर कोई मुक्ति कहां से पावेगा! साहेब कहते हैं कि मैं सुख का खंडन नहीं करता हूं, किन्तु 'सुख-भ्रम' का खंडन करता हूं। "परिहरि साँच झूँठ निज धावै" मनुष्य जो सच्चे सुख को छोड़कर झूठे सुख के लिए दौड़ता है, उसका खंडन करता हूं। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है—"झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद। जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।" मनुष्य क्षणिक विषयों में सुख कहता है और उसी के उपभोग में आनन्द मानता है। संसार के लोग तो काल के आहार हैं। काल किसी को अपने मुख में ले लिया है और किसी को गोद में ले रखा है और अब मुख में डालने ही वाला है।

विषय के सुख क्षणिक हैं और परिणाम में दुख और बन्धन उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए इनका त्यागा जाना आवश्यक है। सच्चा सुख आत्मजनित है जो चिरंतन है। ऐसा सुख पाना ही मोक्ष पाना है। जब मन में किसी प्रकार के आग्रह, ग्रन्थि, वासना, राग-द्वेष

आदि नहीं रहते, तब हर्ष-शोक समाप्त हो जाते हैं, सांसारिक प्राणी-पदार्थ एवं परिस्थितियों के मिलने-बिछुड़ने में कोई मानसिक द्वन्द्व नहीं सताता, हृदय में निरंतर शांति का सागर लहराता रहता है; यही मोक्ष है। यही सच्चा सुख है। यह सच्चा सुख और मोक्ष अलग-अलग चीज नहीं है। ऐसे सुख की उपेक्षाकर मोक्ष क्या वस्तु है जो मिलेगी! अतएव गुरुदेव मनुष्य को तुच्छ एवं बंधनदायी सुखों से छुड़ाकर अनन्त सुख का रास्ता बताते हैं।

मोह का अर्थ ही है दुख पाते हुए तथा अपना पतन देखते हुए भी उस रास्ते को न छोड़ना। पतिंगे अग्नि-शिखा में रूप के मोह से चिपकते हैं। अग्नि के पास जाने पर उनके पंख जलते हैं, परन्तु वे उससे हटने की अपेक्षा उसमें और चिपककर जल मरते हैं। मोहग्रस्त संसारियों की यही दशा है। मोह-माया और विषय-वासनाओं में अपना पतन देखते हुए भी, उनसे दूर होने की अपेक्षा दिनोदिन उन्हीं में चिपकते जाते हैं और अपने आपको अन्धकार में डुबाते जाते हैं।

सद्गुरु कबीर ने बीजक में कई जगह 'सब दुख' से छूटने तथा 'सब सुख' पाने की बातें कही हैं। "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास" तथा "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग 'सब सुख' नाहिं।" वे इस रमैनी में कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" सद्गुरु के ख्याल में 'बन्धन' ही 'सब दुख' है तथा 'मोक्ष' ही 'सब सुख' है। इसको सरल बनाकर कहें तो मन की पीड़ा, मन का असंतोष, मन की उलझन ही 'सब दुख' है और मन की शांति ही 'सब सुख' है। 'सब दुख' दूर होकर 'सब सुख' कैसे मिलेगा? इसके लिए सद्गुरु कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" विचार ही सब दुखों से मुक्त होने का रास्ता है। पानी से प्यास का दुख दूर होता है, भोजन से भूख का और दवाई से रोग का दुख दूर होता है; किन्तु सब दुख सांसारिक साधनों से नहीं दूर होते। यदि सांसारिक साधनों से सब दुख दूर हो जाते तो धनी लोग सभी दुखों से मुक्त होते।

सब जीव पथिक हैं, स्वभाव से स्वतन्त्र हैं, अधिकतम लोग मन के वश हैं। उन पर हमारी क्या स्ववशता है! भले वे पत्नी, बच्चे, भाई, शिष्य कुछ भी हों। यह विचार करने पर मोह तथा दूसरे को विवश करने का दुराग्रह दूर हो जाता है और ऐसा हो जाने पर किसी मनुष्य के प्रति मन में क्षोभ नहीं होता।

शरीर की रक्षा के लिए रोटी तथा कपड़े के कुछ टुकड़े चाहिए। इसके अलावा धन की सार्थकता तो उसे दूसरे की सेवा में लगाने में ही है। यह विचार होने से लोभ अपने आप तिरोहित हो जाता है।

शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, न विचार करने से वह रमणीय लगता है। थोड़ा विचार कीजिए तो वह हाड़-मांस का ढांचा दिखेगा। थोड़ा और विचार कीजिए तो मिट्टी का पिंड। विचार की गहराई में उतरिए तो इलेक्ट्रॉन एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह मात्र है। शरीर नाम की स्वतन्त्र चीज ही नहीं है। ऐसे सारहीन शरीर में अविद्या-वश ही कामादि वितर्क उत्पन्न होते हैं, जिनका परिणाम इच्छा, वासना, तृष्णा, उद्वेग एवं अशांति है। ऐसे विचार में काम की कहां गुंजाइश!

शरीर नाशवान है, मैं अविनाशी हूं, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं असंग चेतन हूं, इस विचार के आते ही दुख का लेश भी कहां रहेगा! सद्गुरु कबीर कहते हैं विचार करो जिससे सारे दुख दूर हों।

कोई कह सकता है कि मैं तो विचार करता हूं। सद्गुरु कहते हैं कि विचार की कसौटी है "परिहरि झूठा केर सगाई।" असत्य का मोह छूट जाना विचार का फल है। कोई सांसारिक राग-रंग में डूबा हो और कहे कि मैं विचारवान हूं, तो यह उसका अपने आपको धोखा देना है। विचार उदय होने पर मोह शेष नहीं रहता।

"लालच लागी जनम सिराई" आदमी लालच में जीवन बिता देता है। कुछ और खा लूं, कुछ और देख लूं, कुछ और कर लूं, कुछ और पा लूं, यह तृष्णा नहीं मिटती। इसी में बुढ़ापा आ जाता है और मौत आ धमकती है। विवेकप्रधान कल्याणदायी मानवजीवन का सुनहला अवसर माया की मिथ्या लोलुपता में बीत जाता है। इससे बड़ा प्रमाद और क्या हो सकता है!

"भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। इस प्रकार जगत के जीव भ्रम में बंधे हुए आते-जाते हैं। करने, भोगने, देखने, सुनने, खाने, जीने की लालसा रखकर जो शरीर छोड़ेगा, उसे पुनः करने, भोगने आदि के लिए शरीर धारण करना ही पड़ेगा। इच्छा का रह जाना ही लौटने का कारण है। विषय-प्रपंचों में सुख का भ्रम होने से उसके लिए आज मन भटकता है और यही पुनः जन्म धारण करने का कारण बनता है।

सद्गुरु अन्त में सावधान करते हैं "मानुष जनम पाय के, नर काहे को जहँड़ाय" विचारप्रधान कल्याण-साधन-सम्पन्न तन पाकर हे मानव! तू क्यों उसे खो रहा है! आज के सुनहले अवसर को मत खो। सत्संग, सद्विचार एवं सत्साधना में लगकर अपना कल्याण कर।

तुम स्वयं सर्वोच्च सत्ता हो

रमैनी–२४

चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई॥ १ ॥
चारि अवस्था सपनेहु कहई। झूठो फूरो जानत रहई॥ २ ॥
मिथ्या बात न जानै कोई। यहि बिधि सब गैल बिगोई॥ ३ ॥
आगे दै दै सबन गमाया। मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया॥ ४ ॥
चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप-पुण्य जानेगा सोई॥ ५ ॥

साखी—सोई कहन्ता सोइ होउगे, तैं निकरि न बाहिर आव।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, तैं क्यों धोखे जन्म गमाव॥ २४ ॥

शब्दार्थ—मानुषबुद्धि = स्वतन्त्र विवेक। आगे = भविष्य काल या भूत काल। चौंतिस अक्षर = क से क्ष तक अक्षर, वाणीजाल।

भावार्थ—गुरुओं ने उपासकों को यह बताकर कि जैसे चकोर चन्द्रमा में ध्यान लगाता है, वैसे तुम आत्मा से पृथक परमात्मा मानकर उसमें ध्यान लगाओ, मनुष्य की बुद्धि उलट दी।।१।। एक तरफ कहते हैं कि चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं, दूसरी तरफ असत्य को ही सत्य मानते रहते हैं।।२।। लोग झूठी बातों को झूठी करके नहीं जानते। इस प्रकार सबने अपने अपनत्व को खोया एवं खोते हैं।।३।। भविष्य की आशा दे-देकर सबने अपने कल्याण को खोया तथा दूसरे के पतन में सहायक हुए। इसलिए ऐसे लोगों को स्वप्न में भी मनुष्य की बुद्धि नहीं मिली।।४।। जो व्यक्ति चौंतीस अक्षरों अर्थात शास्त्रप्रमाण के मोह-जाल से निकलेगा, वही यह समझेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा सत्य क्या है और असत्य क्या है।।५।।

जो कहोगे, वही हो जाओगे। तू जाल से निकलकर क्यों नहीं बाहर आता! मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तू स्वयं हुजूर है, सम्राट है। तू अपने जीवन को धोखे में क्यों खो रहा है! ।।२४।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस बात पर बारम्बार जोर देते हैं कि तुम अपना लक्ष्य अपने से अलग मानकर भटको मत। इस रमैनी में कबीर साहेब उन गुरुओं की आलोचना करते हैं जो जीव का लक्ष्य उससे अलग मानते हैं। चकोर चन्द्रमा का प्रेमी होता है। वह चन्द्रमा को एकटक देखता है। वह उसी में ध्यान लगाता है। जो गुरुजन अपना लक्ष्य अपने से अलग मानते हैं, और कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है, वे अपने श्रोताओं एवं जिज्ञासु-भक्तों को यही बताते हैं कि तुम उस परमात्मा में ध्यान लगाओ। फिर वे मन से परमात्मा का एक रूप गढ़ते हैं। चार हाथों वाला, आठ हाथों वाला, हजार हाथों वाला, मुरली वाला, धनुष वाला, ज्योति रूप, नाद रूप, शब्द रूप या सर्वत्र व्याप्त रूप, किसी प्रकार की मानसिक अवधारणा बनाते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई" गुरुओं ने लोगों की मानुषबुद्धि, मननशीलता, विचार एवं विवेकबुद्धि को पलटकर उन्हें न सोचने की स्थिति में ला दिया। पशु प्रायः स्वयं विचारकर काम नहीं कर सकता, वह दूसरों द्वारा हांका जाकर काम करता है। इसी प्रकार गुरुओं ने मनुष्य को पशु बना दिया। उनके सोचने की क्षमता छीन ली। 'मानुषबुद्धि है' स्वतन्त्र चिन्तन, विचार एवं विवेक। हम मन से जितनी अवधारणाएं बनाते हैं, सब मन की उपज होती हैं। साधारण साधक किसी अवधारणा का आलम्बन लेकर मन को एकाग्र करता है, यह आरम्भ के लिए किसी हद तक ठीक है; परन्तु वह अवधारणा मनुष्य का अपना लक्ष्य नहीं हो सकती। चकोर से चन्द्रमा सर्वथा पृथक है। इसलिए चकोर को चन्द्रमा के विषय में कभी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अलग की वस्तु अलग ही रह जाती है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के भिन्नत्व की दृष्टि रखकर साधक कभी तृप्त नहीं हो सकता। जो गुरुजन साधकों को स्वरूपज्ञान न देकर उसे कहीं बाहर कल्पित परमात्मा में लटकाते हैं, वे स्वयं विवेक का पथ छोड़ चुके हैं और दूसरे का भी छुड़ाते हैं। मन की अवधारणा हमारा लक्ष्य कैसे हो सकती है! विवेकज्ञान यह है कि मन के शांत हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वह स्व-चेतन तत्त्व ही अपना स्वरूप है और वही अपना लक्ष्य है।

"चारि अवस्था सपनेहु कहई" गुरुजन यह भी कहते हैं कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं। जब ये चार अवस्थाएं तथा इनके व्यवहार स्वप्नवत हैं, तब जिस मन की अवधारणा को परमात्मा मानकर उसमें चन्द्र-चकोरवत ध्यान लगाने की बात करते हैं, क्या यह स्वप्नवत नहीं है! यह तो "झूठो फूरो जानत रहई" की बात हुई। अर्थात असत्य को सत्य समझने की बात हुई।

"मिथ्या बात न जाने कोई" सद्गुरु कहते हैं कि असत को असत समझना तथा उसे असत ही कहना कोई मामूली बात नहीं है। हजारों वर्षों से जिस अवधारणा की मन में लीक पड़ी हुई है, उसको काटना विवेक और वीरता का काम है। दीर्घ अभ्यास से असत्य भी सत्य प्रतीत होता है। सभी मनुष्य अपने-अपने मन से अलग-अलग परमात्मा बना लेते हैं। उनका उनमें मोह हो जाता है। इसलिए उन्हें वे सत्य लगते हैं। जब विवेकी-पारखी की संगत से व्यक्ति को विवेक होता है, तब मन की कल्पनाएं क्षीण होती हैं और स्वस्वरूप का ज्ञान होता है। जब विवेक-द्वारा मन और उसकी अवधारणाओं एवं कल्पनाओं को अलग समझ लिया जाता है तथा समाधि में मन को शून्य कर दिया जाता है, तब परोक्ष उपासना की लकीर कटती है। तब लगता है कि आत्मा से परमात्मा अलग नहीं। जीव से शिवत्व पृथक नहीं। स्वरूपस्थिति ही जीवन का लक्ष्य है। जो ऐसा नहीं समझते वे अपने महत्व को खो देते हैं।

"आगे दै-दै सबन गमाया" आगे परमात्मा या मोक्ष मिलेगा, लोगों को ऐसी आशा दे-देकर गुरुओं ने उन्हें सान्त्वना दी; किन्तु इस आशा में लोग अपने दावं को हार चले। आगे की आशा में पड़े हुए वक्ता-श्रोता दोनों धोखे में हैं। ये दोनों मानवीय-बुद्धि एवं विचार-विवेक से दूर हैं। विवेकसम्मत बात है अपने लक्ष्य को वर्तमान में ही प्राप्त करना। "जियत न तरेउ, मुये का तरिहो" (शब्द १४)।

'आगे' का अर्थ पीछे भी होता है। जैसे आगे के लोग कह गये हैं। इससे अर्थ होगा कि पीछे के पुरुषों एवं शास्त्र-वचनों का प्रमाण दे-देकर लोग अपनी कल्पित धारणाओं का समर्थन करते हैं। "मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया।" वे भूलकर भी विवेक की बात नहीं करते। धार्मिकक्षेत्र की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि लोग शास्त्र-प्रमाण के आगे विवेक-बुद्धि को बलि चढ़ा देते हैं। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय हैं, परन्तु विवेक-बुद्धि की बलि चढ़ा कर नहीं। हम शास्त्रों की बातें भी बुद्धि से ही समझ सकते हैं। ज्ञान प्राप्ति का साधन मनुष्य की विवेकबुद्धि ही है। केवल शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देना निष्पक्ष जिज्ञासु को सन्तोष नहीं दे सकता।

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।।" देवनागरी लिपि में क से क्ष तक चौंतीस अक्षर होते हैं। यहां चौंतीस अक्षर से मतलब है वाणी-जाल एवं शास्त्र-प्रमाण का अन्धाधुन्ध जाल। जो इससे निकलेगा वही समझ सकेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा असत्य क्या है और सत्य क्या है। प्रत्यक्ष है कि शास्त्र-प्रमाण के जोर से अनेक सम्प्रदाय वाले यज्ञ, बलि, कुर्बानी आदि नाम से जीवहत्या को पुण्य कहते रहे और आज भी कहते हैं। इसी प्रकार केवल शास्त्र-प्रमाण के नाम पर असत्य धारणाएं सत्य का जामा पहनाकर खड़ी की जाती हैं। शास्त्र-प्रमाण के

बल पर ही जाति-वर्ण आदि का पाखण्ड फैलाकर मानव-मानव के बीच भेदभाव की भित्ति खड़ी की गयी। "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।।" बहुत मार्मिक वचन है। शास्त्र-प्रमाण का मोह छोड़े बिना कोई सत्य ज्ञान नहीं पा सकता।

"सोई कहन्ता सोइ होउगे" अर्थात जैसा कहोगे, वैसा हो जाओगे। चोरी की चर्चा करते-करते आदमी चोर बनता है। पर-स्त्री की चर्चा करते-करते व्यभिचारी बनता है। राग की चर्चा करते-करते रागी एवं वैराग्य की चर्चा करते-करते आदमी वैरागी बनता है। क्योंकि चर्चा मन की उपज होती है। बात पहले मन में आती है, तब चर्चा, फिर क्रिया होती है। किसी विषय में बारम्बार बात करने से मन में उसका अध्यास जमता है।

यह मनुष्य की विशेषता है जो वह वर्णात्मक वाणी बोलता है और सुनकर समझता है। वाणी का मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि आदमी बार-बार यही कहता और सोचता रहे कि मैं तुच्छ हूं, तो वह निश्चित ही अपने आप को तुच्छ मानकर और कमर पकड़कर बैठ जायेगा। यदि आदमी शास्त्रों के प्रमाण के चक्कर में पड़कर बारम्बार अपने आप को अल्पज्ञ, अंश, प्रतिबिम्ब, तुच्छ आदि ही कहता रहा और अपना पूर्णत्व बाहर खोजता रहा, तो निश्चित ही उसका पतन है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तैं निकरि न बाहिर आव" तू प्रतिगामी विचारों एवं शास्त्र प्रमाणों के दलदल से निकलकर बाहर आ न!

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह आत्मज्ञान और आत्मविश्वास का सर्वाधिक जोरदार वचन है। सद्गुरु कहते हैं, मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो। हुजूर अरबी भाषा का शब्द है। यह बड़ों के लिए सम्बोधन में कहा जाता है। मनुष्य की चेतना से बड़ा तो कुछ भी नहीं। यह जीव, यह आत्मा चेतन होने से सर्वोच्च सत्ता है। सद्गुरु कहते हैं, हे चेतन देव! तू अपनी सर्वोच्चता को समझ। तू किसी चन्द्रमा का चकोर मत बन। सर्वाधिक प्रकाश और शीतलता तेरे पास ही है। चैतन्य ही तेरा अपना सहज स्वरूप है और अपनी स्वरूपस्थिति में रहना सर्वाधिक सहज साधना एवं तथ्य है।

जिसे खोजते हो वह तुम स्वयं हो

रमैनी–२५

चौंतिस अक्षर का इहै विशेषा। सहस्रों नाम याहि में देखा।। १ ।।
भूलि भटकि नर फिर घट आया। होत अजान सो सबन गमाया।। २ ।।
खोजहिं ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती।। ३ ।।
खोजहिं गण गंधर्व मुनि देवा। अनन्त लोक खोजहिं बहु भेवा।। ४ ।।

साखी—जती सती सब खोजहीं, मनहिं न मानै हारि।
बड़-बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि।। २५ ।।

शब्दार्थ—चौंतिस अक्षर = क से क्ष तक अक्षर, वाणी।

भावार्थ—चौंतीस अक्षरों (वर्णात्मक शब्द) की यही विशेषता है कि व्यक्ति-वस्तुओं के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं।।१।। जीव संसार में भटकते हुए पुनः मानव शरीर में

आते हैं; परन्तु सत्यज्ञान से रहित होने से सब अपने जीवन को व्यर्थ में खो देते हैं।।२।। शास्त्रों के जाल में पड़कर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता आदि तथा इनके अलावा भी अन्य लोग बड़ी भक्तिभावना तथा नाना प्रकार साधनों से अनन्त लोकों की कल्पना कर अपने लक्ष्य को खोजते हैं।।३-४।।

त्यागी, सत्यव्रतधारी एवं पतिव्रताएं भी अपने लक्ष्य की खोज में पड़े हैं। वे मन में हार नहीं मानते। कबीर साहेब उच्च स्वर में कहते हैं कि बड़े-बड़े जीव इस भ्रमचक्र से नहीं बचते।।२५।।

व्याख्या—ग्रन्थकार २४ वीं रमैनी में कह आये हैं "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।।" "चौंतीस अक्षर" का लाक्षणिक अर्थ है वाणीजाल। सद्गुरु ने कहा कि जो इनसे निकलेगा वही सत्य समझ सकेगा। अभिप्राय है जो हर जगह शास्त्रों की दोहाई देने की आदत छोड़कर स्वतन्त्र विवेक रखेगा, वही सत्य-असत्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद को समझ सकेगा।

प्रश्न हो सकता है कि क्या चौंतीस अक्षरों अर्थात वर्णात्मक शब्दों की आवश्यकता नहीं है? साहेब कहते हैं उनकी आवश्यकता का अस्वीकार कौन कर सकता है! ये सारे वाक्य भी तो चौंतीस अक्षरों में ही लिखे जा रहे हैं। चौंतीस अक्षरों की यही विशेषता है कि जड़-चेतन के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं। सहस्रों नाम का अर्थ भी लाक्षणिक है। अर्थ है जड़-चेतन के असंख्य नाम इन्हीं चौंतीस अक्षरों में पाये जाते हैं। अन्य प्राणियों से मानव की यही विशेषता है कि उसके पास विकसित मन और वाणी हैं। यदि मनुष्य इनका सदुपयोग करे तो वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दशा के उच्चतम शिखर पर चढ़ जाये, और दुरुपयोग करे तो सर्वाधिक पतित हो जाये।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं वाणी का महत्व मानता हूं, उससे काम लेता हूं और काम लेने की राय देता हूं; परन्तु उसके जाल से बचने के लिए लोगों को सावधान करता हूं।

संसारी जीव इस भवाटवी में अनादिकाल से भटकते हैं। उनमें से कुछ जीव मानव शरीर में आते रहते हैं। मानव शरीर जो प्रकाशरूप एवं ज्ञानरूप है, जहां सारे अज्ञानों का नाश होकर कल्याण हो सकता है, वहीं भटकने का भी खूब साधन है। खानीजाल अर्थात विषय-वासना का प्रबल बन्धन है ही, वाणीजाल का भी कम बन्धन नहीं है। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है "खानी-बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

वाणी-जाल का अर्थ है शास्त्र-जाल, सांप्रदायिक-जाल। वाणी-जाल देवत्व, ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्षत्व जीव से बाहर बताता है और उसके लिए जीव को भटकाता है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता, यती, सती, साधारण मनुष्य सब अपने लक्ष्य को, परमात्मा एवं मोक्ष को बाहर खोज रहे हैं। कितने लोग बड़े सच्चे दिल से भावविह्वल होकर बहुत तरह से परमात्मा को खोजते हैं। परमात्मा और मोक्ष को खोजना, इससे अधिक भोलापन क्या होगा! बाहर खोजने से तो भौतिक वस्तुएं मिलती हैं। जब खोजना छूट जाता है, तब स्वस्वरूप का बोध होता है। सारी इच्छाओं के शांत हो जाने पर अपने आप में ही तृप्ति मिलती है। इससे अधिक परमात्मा या मोक्ष का पाना क्या हो सकता है! बाहर कहीं ऐसा मोक्ष या परमात्मा नहीं, जो मिलता

हो। परन्तु शास्त्रों के वचनों के बहकावे में पड़कर भक्तजन उसकी खोज में पड़े हैं। "मनहिं न मानै हारि" यह कबीर साहेब का उनके लिए व्यंग्य है। "बड़-बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि।" सद्गुरु कहते हैं इस धोखे से बड़े-बड़े जीव नहीं बचते हैं। बड़े-बड़े विद्वान, तपस्वी एवं नामी-ग्रामी लोग भगवान के दर्शन पाने के लिए लालायित हैं। वे अपनी अवधारणाओं के प्रतिबिम्ब अपने मन में देख लेते हैं, यही परमात्म-दर्शन मान लेते हैं। किन्तु जो सारी अवधारणाओं का जनक, उनका द्रष्टा एवं ज्ञाता है, वह चेतन देव ही अपना स्वरूप है। उसके अलावा सब भुलावा है।

निज चेतन स्वरूप को पहचानने वाला सर्वोच्च है

रमैनी–२६

आपुहिं कर्ता भये कुलाला। बहु बिधि बासन गढ़े कुम्हारा॥ १ ॥
बिधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ। अनेक जतन के बने कनाऊँ॥ २ ॥
जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली॥ ३ ॥
बहुत जतन के बाहर आया। तब शिव शक्ती नाम धराया॥ ४ ॥
घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना॥ ५ ॥
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही॥ ६ ॥
गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा॥ ७ ॥
झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥ ८ ॥
साखी—जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधारि।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रवन्तहि लेहि निहारि॥ २६ ॥

शब्दार्थ—आपुहि = जीव ही। कुलाला = कुम्हार। बिधि ने = नियम ने, कर्म ने। कनाऊँ = वृक्ष, तात्पर्य में शरीर। शिव-शक्ती = पुरुष-स्त्री। घर का सुत = मन। पुन्ही = पुनः। चित्रवन्तहि = चितेरा, चेतन जीव।

भावार्थ—जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर चाक पर बहुत प्रकार के बरतन बनाता है, वैसे स्वयं जीव वासना-वश कर्ता बनकर गर्भाशय में शरीरों की रचना करता है॥१॥ शरीर-रचना के नियम ने माता के गर्भ में सब सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक अंगों से सम्पन्न शरीर की रचना होने लगी॥२॥ माता के प्रज्वलित पेट की अग्नि में बच्चे का शरीर पकता एवं बढ़ता है। उसमें जीव के अपने कर्म ही उसके शरीर के प्रतिपालक होते हैं॥३॥ माता के सजग रहन-सहन, पेट के रेचन तथा दाई और वैद्य-डॉक्टरों के बहुत यत्न से बच्चा बाहर आता है, तब उसके लिंग जानकर उसके पुरुष या स्त्री वाचक नाम रखे जाते हैं॥४॥ यदि अपने घर का लड़का एवं अपना पुत्र अज्ञानी हो और वह अज्ञानयुत काम करता हो, तो उसके साथ गलत कर्म में सयाने पिता को नहीं जाना चाहिए। तात्पर्य है कि यदि मन गलत चीजों में भागता है, तो जीव को उसके साथ नहीं जाना चाहिए॥५॥ मैंने अपनी सच्ची बात कह दी; किंतु लोग दूसरे की भ्रामक बातें सुनकर उन्मत्त हो रहे हैं॥६॥ गाय और भैंस के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो,

दूध का प्रकार एक ही है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या बाहर पैदा होकर इनसान का तत्त्व एक ही है। फिर किसको ब्राह्मण कहा जाय और किसको शूद्र।।७।। अतः मिथ्या अहंकार में कोई मत भूलो। हिन्दू और मुसलमान दोनों कुल असत्य हैं।।८।।

जिसने इस शरीर तथा इसके झूठे जाति, वर्ण एवं नाना कल्पनाओं के चित्र बनाये हैं, वह शरीर के भीतर बैठा सूत्रधार अविनाशी चेतन ही सत्य है। सद्गुरु कहते हैं कि वे ही लोग समझदार हैं जो सारे चित्रों के रचयिता चेतन को समझ लेते हैं।।२६।।

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु कुम्हार, बरतन, आंवा आदि का आकर्षक रूपक प्रस्तुत कर मानव-शरीर की रचना का प्रारूप बताते हैं। इसके बाद वे क्रमशः तीन महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालते हैं—(१) मन के बुरे पथ में न जाना, (२) मानव मात्र में तात्त्विक एकता एवं (३) सारे दृश्य-चित्रों से द्रष्टा चेतन स्वस्वरूप की सर्वोपरि महत्ता। हम इन बातों पर खुलासा विचार करें।

"आपुहि कर्ता भये कुलाला" यह अविनाशी जीव स्वयं उसी प्रकार शरीर-रचना का कर्ता बनता है जैसे कुम्हार बरतन बनाता है। कुम्हार का उदाहरण उपलक्षण मात्र है। कुम्हार तो मिट्टी लेकर अलग से बरतन बनाता है, परन्तु जीव वासना-वश माता के गर्भ में आकर और रज-वीर्य में सम्मिलित होकर शरीर बनाता है। जीव गर्भ में कोई विचारपूर्वक शरीर नहीं बनाता, किंतु उसके वहां रहने से उसके साथ ही कर्म-वासनाओं के संयोग से रज-वीर्य से शरीर की रचना स्वयं होती है। मिट्टी, जल, प्रकाश, उष्मा, वायु आदि साधक तत्त्वों को पाकर बीज से अंकुर स्वयमेव फूटते हैं। उसके लिए अलग से किसी देवता की प्रेरणा की जरूरत नहीं होती। इसी प्रकार जीव, जीव के साथ कर्मवासनाएं, माता-पिता के रज-वीर्य एवं समस्त उपयुक्त साधन पाकर देह की रचना स्वयं होती है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "बिधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" यह विधि क्या है? वस्तुतः यहां 'विधि' का अर्थ है 'नियम'। पौराणिक बुद्धि वाले विधि शब्द मन में आते ही ब्रह्मा नाम के किसी व्यक्ति एवं तथाकथित देवता की कल्पना करने लगते हैं, किन्तु विधि एवं ब्रह्मा नाम का कोई देवता न था और न है जो सबकी रचना करता हो। वस्तुतः जड़ और चेतन के संयोग से शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के उनमें अपने नियम हैं। वे नियम ही 'विधि' हैं। सद्गुरु ने कहा "बिधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" सृष्टि के नियमों ने शरीर-रचना की सारी सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक प्रकार के अंगों के सहित शरीर बनने लगा।

जो लोग जड़-चेतन के धर्म-स्वभाव तथा कारण-कार्य-व्यवस्था को नहीं समझते, वे भोले मानते हैं कि माता के गर्भ में कोई देव या ईश्वर बैठकर बच्चे के शरीर को बनाता है। चारों खानियों में असंख्य जीवों के शरीरों की रचना हरक्षण होती है। एक ईश्वर कहां-कहां बैठकर किसका-किसका शरीर बनाता रहेगा? वस्तुतः सृष्टि-नियम ही शरीर-रचना में कारण हैं। जो एक ही काल में असंख्य जीवों की शरीर-रचना करने में समर्थ हैं। हिरन के सींग को कौन ऐंठ देता है? पत्तों में नसें, असंख्य वस्तु और प्राणियों की देहों में आकृति और रंग, मयूर के पंखों में विचित्रता कौन करता है? ये सब होने के अपने-अपने नियम हैं। बीजी असर हैं। यही 'विधि' है और यही 'नियम' है।

"जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली।।" जिस जठराग्नि में रोटी, पूरी, साग, चबैना आदि कठोर-कठोर खाद्य पदार्थ भी गलकर पच जाते हैं, उसमें जीव का शरीर पकता और बढ़ता है। यह ठीक है कि भोजन पचने की आंत अलग होती है और बच्चादान अलग, परंतु वे दोनों पेट में ही रहते हैं। उसमें उसकी कौन रक्षा करता है? स्वयं जीव के अपने कर्म ही उसके रक्षक हैं। यदि कहो ईश्वर रक्षक है, तो कितने ही गर्भस्थ शिशु अपंग हो जाते हैं या मृत पैदा होते हैं। वहां ईश्वर रक्षक नहीं रहा। वस्तुतः जीव के जैसे अपने कर्म होते हैं, वैसे गर्भ से लेकर जन्म, जीवन, बुढ़ापा, मृत्यु एवं पुनः गर्भवास में उसे सुख-दुखों की प्राप्ति होती है। यही तथ्य है और यही सिद्धान्त मनुष्यों को कर्म सुधार के लिए प्रेरित कर सकता है।

"बहुत जतन कै बाहर आया" समझदार गर्भवती माता गर्भकाल में बड़ी सावधानी से एवं बहुत यत्न से रहती है। यत्न कहते हैं साधन या तरीके को। पुरुष से अलग रहना। सुपाच्य, सात्विक और स्वल्प भोजन करना। अच्छे विचार रखना। अच्छी वाणी बोलना। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग कर अच्छे संस्कार बनाना आदि अनेक यत्नों से माता अपने गर्भ का सेवन करती है। गर्भवती माता का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना है। गर्भधारण करना नारी की बहुत बड़ी जिम्मेदारी का काम है। समझदार गर्भवती बहुत यत्न से रहती है। फिर बच्चा के पैदा होने में दाई तथा डाक्टरों के भी सहयोग हुआ करते हैं।

"तब शिव शक्ती नाम धराया" पैदा होने पर ही पता लगता है कि लड़का है या लड़की। पश्चात उसके शिव या शक्ति, अर्थात नर या नारी-व्यंजक नाम रखे जाते हैं।

शिशु अवस्था तो प्रायः बेभान की रहती है। बाल्यकाल और किशोरावस्था में वह संस्कारों को ग्रहण करता और सीखता है। जवानी आते ही वह अपने जीवन में अनेक हस्तक्षेप करने लगता है। उसका मन संसार के विषयों में चलने लगता है। सद्गुरु कहते हैं—"घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना।।" जैसे घर के बच्चे यदि कहीं बाहर जाकर झगड़ा कर लें या कोई खोटा कर्म कर लें तो घर के सयाने तथा समझदार लोग उन बच्चों के झगड़े एवं खोटे कर्मों का पक्ष नहीं लेते; बल्कि उन्हें समझाकर सही रास्ते पर लाते हैं; वैसे यह मन घर का सुत है। अर्थात यह मन शरीरधारी जीव का बच्चा है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारा मन कहीं गलत जगह में जाये, तो तुम भी उसके साथ मत बह जाओ।

जीवन को काममय देखने वाले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ही नहीं, सब समय में ऐसे विचार के लोग रहे तथा आज भी हैं, जो यह कहते पाये जाते हैं कि मन में जो कुछ उठे उसे कर लेने से मन में कोई ग्रन्थि, पीड़ा एवं पाप नहीं रह जाते। परन्तु वे स्वयं मन के अनुसार एक दिन भी चलने लगें तो समाज उनका कचूमर निकाल दे। मनुष्य के मन में पता नहीं कैसे-कैसे ऊलजलूल विचार क्षण-क्षण उठ पड़ते हैं। यदि मनुष्य उनके अनुसार काम करने लगे, तो न वह समाज में जी सकता है और न समाज उसे क्षमा कर

सकता है। ऐसे लोग समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हो जायेंगे। आदमी एकांत में चुपचाप बैठ जाय और मन में जो-जो संकल्प उठें, उन्हें एक कागज पर नोट कर ले, तो उस कागज को वह दूसरे को नहीं दिखा सकेगा। फिर उसके अनुसार वह आचरण करके कैसे जी सकता है? अतएव सद्गुरु का यह कथन अत्यन्त आदरणीय है कि मन के बहकावे में समझदार को नहीं जाना चाहिए। सदैव मन को देखना चाहिए। उसकी निगरानी रखना चाहिए और उसे अपने वश में रखना चाहिए। यही सुख से जीने तथा समाज के साथ न्याय करने का तरीका है।

सद्गुरु कहते हैं "साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही।।" मैंने अपनी सच्ची बातें कह दी हैं। अब दूसरे की प्रमादी बातें सुनकर लोग दिवाने बनते हैं, तो उनके सुधारने का क्या चारा है! "पुन्ही" शब्द पुनः के लिए प्रयुक्त है।

"गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा।। झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।।" ये दोनों चौपाइयां बड़ी मार्मिक हैं। तथाकथित बड़े-बड़े विद्वान, मुल्ला, पण्डित जिस भेदभाव को 'शिव-चाप' समझकर उसके निकट नहीं फटकते, उसे कबीर साहेब तृण के समान तोड़ कर फेंक देते हैं। दूध चाहे गाय के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो, एक ही समान है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या पैदा होने के बाद, मानव एक समान है। सबकी चेतना का गुण एक है। सबके शरीर में लगे तत्त्व एक से हैं। सबके शरीर माता के गर्भ में रज-वीर्य से बनते हैं। सभी माताएं बच्चों को एक ढंग से पैदा करती हैं, मल साफ करती हैं, दूध पिलाती हैं तथा रक्षा करती हैं। इस प्रकार सभी मानव एक ही समान हैं, फिर इनमें किसको मूलतः ब्राह्मण कहा जाय, किसको शूद्र, किसको हिन्दू कहा जाय और किसको मुसलमान!

गुरुदेव कहते हैं "झूठे गर्भ भूलो मति कोई" ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान होने का अहंकार झूठा है। इस मिथ्याभिमान में कोई मत भूलो। मनुष्य को ब्राह्मण, शूद्र एवं हिन्दू, मुसलमान की दृष्टि से न देखो। एक दूसरे को मानव की दृष्टि से देखो। सब मानव केवल मानव हैं। सबके साथ प्रेम का व्यवहार करना मानवता है।

"जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधारि" बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। ये ब्राह्मण-शूद्र के चित्र, हिन्दू-मुसलमान के चित्र, नाना मान्यताओं के चित्र और अन्ततः कर्मवश शरीर रूप चित्र जिसने बनाया है, वह चेतन जीव ही सच्चा सूत्रधार है। परदे के भीतर बैठकर सूत्र के सहारे कठपुतलियों को नचाने वाले को सूत्रधार कहते हैं, अथवा नाट्यशाला के व्यवस्थापक एवं प्रधाननट को सूत्रधार कहते हैं। शरीर के भीतर बैठकर स्मृति-सूत्र के आधार पर इन्द्रिय-मन को नचाने वाला जीव ही सूत्रधार है। मान्यताओं के सारे चित्र यही बनाता है। ज्ञान-विज्ञान का जहां तक फैलाव है, सबका सूत्रधार मनुष्य जीव है। सद्गुरु कहते हैं वे ही भले हैं "जो चित्रवन्तहि लेहि निहारि।" चित्र रचयिता अपनी रचना में भूल गया है। वही ज्ञानी है, जो अपने चेतन-स्वरूप को पहचान ले। सबका कल्पक, ज्ञाता, बोद्धा, साक्षी चेतन-स्वरूप तुम्हारा है। इसे समझो! सार यह है कि मानव की आत्मा ही सर्वोच्च है।

संसार प्रकृति-पुरुषमय है

रमैनी–२७

ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मण्डा। सप्त दीप पुहुमी नौ खण्डा॥ १ ॥
सत्य सत्य कहि विष्णु दृढ़ाई। तीन लोक मा राखिन जाई॥ २ ॥
लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती खीलि रसातल दीन्हा॥ ३ ॥
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीन लोक मोहा सब झारी॥ ४ ॥
दुतिया नाम पार्वती को भयऊ। तप कर्ते शंकर कहँ दियऊ॥ ५ ॥
एकै पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारी॥ ६ ॥
सर्वन बर्वन देव औ दासा। रज सत तम गुण धरति अकाशा॥ ७ ॥
साखी—एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार॥ २७ ॥

शब्दार्थ—सर्वन = शर्मा, ब्राह्मण। बर्वन = वर्मा, क्षत्रिय। देव = वैश्य। दासा = शूद्र।

भावार्थ—अष्टांगी आद्या ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड दिया, जिसमें यह सात द्वीपों एवं नौ खण्डों वाली पृथ्वी है॥१॥ उसने विष्णु को सत्यवादी पाया और उनके सत्यव्रत की प्रशंसा कर तीसरे लोक (स्वर्ग) में उनको स्थान दिया॥२॥ तब शंकर ने अपना लिंग रूप बनाकर उसे पृथ्वी में गाड़ दिया और वह पृथ्वी के निचले हिस्से तक चला गया। फलतः रसातल ही उनको स्थान मिला॥३॥ फिर अष्टांगी ने तीन कुमारियां रचीं सरस्वती, लक्ष्मी एवं सती। इन्हें देखकर तीन लोक के सभी लोग मोहित हो गये अथवा तीनों गुणों के संयुक्त ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर अत्यन्त मोहित हो गये॥४॥ सरस्वती और लक्ष्मी क्रमशः ब्रह्मा तथा विष्णु की पत्नी बनकर उनके साथ सदैव रहीं, और सती महादेव की; किन्तु सती दक्षप्रजापति के यज्ञ में जल मरने से दूसरे जन्म में पार्वती नाम से प्रसिद्ध हुईं, और उन्हें तपस्यालीन शंकर को दे दिया गया॥५॥ वस्तुतः पुरुष रूप एक चेतनकोटि है तथा नारीरूप एक प्रकृतिकोटि है। इन्हीं से चारों खानियों की रचना है। अथवा एक नारी और पुरुष के पारस्परिक आसक्ति वश ही जीव चारों खानियों में भटकते हैं॥६॥ इस धरती और आकाश के बीच में सतोगुणी ब्राह्मण, रजोगुणी क्षत्रिय, रजतम युक्त वैश्य एवं तम गुण सहित शूद्र का निर्धारण हुआ॥७॥

कहते हैं ओंकार ही एक अंड एवं बीज रूप है और उसी से सारे विश्व का फैलाव हुआ। कबीर साहेब कहते हैं कि सब उपासक लोग उस राम एवं ओम को अविचल पुरुष पति मानकर उसकी पत्नी बन रहे हैं॥२७॥

व्याख्या—उक्त रमैनी में पौराणिक कथा का वर्णन है। इस ढंग से हिन्दू पुराणों में अदल-बदल कर अनेक कथाएं आयी हैं। जो लोग तथाकथित दैवीशक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं उनके ख्याल से अष्टांगी आद्या या देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, शंकर पैदा होते हैं। उस देवी ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड या पृथ्वी का राज्य और विष्णु को स्वर्ग का राज्य दिया। इन दोनों को अहंकार हुआ, तब उसने शंकर को लिंग रूप बनाकर पृथ्वी में गाड़ दिया।

उस लिंग की अनंतता को देखकर ब्रह्मा और विष्णु का अहंकार दूर हो गया, और आद्या ने पाताल ही शंकर का निवास दे दिया।

एक ओंकार ही अंड है, बीज है और उसी से सारे संसार की उत्पत्ति है। राम पति है और सब जीव उसकी पत्नियां हैं। यह सारी बातें पौराणिक एवं भावुक उपासकों की कल्पनाएं हैं। कबीर साहेब व्यंग्य में कहते हैं "कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार" ये भावुक लोग अपने से पृथक किसी अविचल पुरुष को अपना भ्रतार मानकर उसकी पत्नी बनते हैं, जो एक कुसंस्कार है। बीजक में जगह-जगह सद्गुरु ने दूसरों की कल्पित बातें इसलिए रखी हैं कि उनकी वास्तविकता की परख की जा सके। सद्गुरु ने ज्ञान चौंतीसा के शुरू में ही कहा है कि ओंकार को लिखकर जो उसे काट सकता है वह मानव उससे श्रेष्ठ है। किसी तथाकथित पति की पत्नी बनने की बात का खण्डन शब्द ३५ तथा ३६ में सद्गुरु ने स्वयं किया है।

सृष्टि का नये सिरे से उत्पन्न होने का खंडन सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में प्रश्नवाचक चौपाइयां कहकर स्वयं कर दिया है "तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी।।" अर्थात जड़-चेतन स्वयंभू एवं अनादि हैं। उनके गुण-धर्म भी उनमें अनादि हैं और उनसे सृष्टि भी अनादि है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। पूरा बीजक पढ़ लेने पर इन बातों का खुलासा हो जाता है।

इसी रमैनी की छठीं चौपाई से साफ हो जाता है कि नारी-पुरुष से ही सृष्टि होती है। अथवा पुरुष-प्रकृति, चेतन-जड़ के गुण-धर्मों से संसार-चक्र चलता है।

"सर्वन, बर्वन देव औ दासा" अर्थात शर्मा (ब्राह्मण), वर्मा (क्षत्रिय), देव (वैश्य) और दास (शूद्र) को क्रमशः सतोगुण, रजोगुण, रजो-तमो मिश्रित एवं तमोगुण युक्त मान लिया गया। परन्तु देखा जाता है सभी तथाकथित वर्णों में सभी गुण वाले मनुष्य हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जो विशेष सतोगुणी है, वह ब्राह्मण है। वह भले ही किसी कुल में पैदा हो। इसी प्रकार जो रजोगुणी है वह क्षत्रिय है, जो रज-तम मिश्रित है वह वैश्य है तथा जो तमोगुणी विशेष है वह शूद्र है, फिर ये किसी भी कुल में पैदा हुए हों।

तथ्य तो यह है कि आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम युगबाह्य हो गये हैं। आज इन नामों की कोई आवश्यकता नहीं है। आज तो हर व्यक्ति को अच्छा आदमी बनना चाहिए।

कर्म-पट बीनने वाला जीव-जोलाहा

रमैनी–२८

अस जोलहा काहु मर्म न जाना। जिन्ह जग आनि पसारिनि ताना।। १ ।।
धरती-अकाश दोउ गाड़ खँदाया। चाँद-सूर्य दोउ नरी बनाया।। २ ।।
सहस्रतार ले पूरनि पूरी। अजहूँ बिने कठिन है दूरी।। ३ ।।
कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी।। ४ ।।

शब्दार्थ—जोलहा = जीव। गाड़ = गड्ढा।

भावार्थ—ऐसे जोलाहा का भेद कोई नहीं जान सका जिसने जगत में आकर ताना फैलाया॥१॥ उसने धरती और आकाश दोनों को गड्ढा बनाया, और चांद तथा सूर्य को नरी बनाया॥२॥ और हजार सूत लेकर भरना करने लगा। वह आज भी बीनता है। उसकी यह आदत दूर होना कठिन है॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जोलाहा कर्म के बन्धन को जोड़कर अच्छे-बुरे कर्म रूप सूत को अच्छी तरह बुन रहा है॥४॥

व्याख्या—विषयों के अध्यास में जकड़ा हुआ संसारी जीव ही जोलाहा है, जो बारम्बार जगत में जन्म लेकर कर्मों के ताना-बाना फैलाता है। परन्तु वह खुद अपने जोलाहेपन को, अर्थात कर्मजाल को नहीं समझ पाता, न वह अपने शुद्ध चेतन स्वरूप को समझता है कि मेरी क्या गरिमा है और न यही समझता है कि मैं क्या कर रहा हूं। मैं ही अपने कर्मजाल का बीनने वाला तथा तोड़ने वाला हूं, इस रहस्य को नहीं जानता। इसीलिए अनादिकाल से कर्मों का पट बुनता जा रहा है।

सद्‌गुरु जोलाहे के करघे का सुन्दर रूपक उपस्थित करते हैं। वस्त्र बुनने का करघा जहां स्थापित किया जाता है, वहां नीचे गड्ढा होता है, जिसमें पैर डालकर जोलाहा बैठता है और पट बुनता है। 'नरी' उस लकड़ी को कहते हैं जिसमें भरना के लिए सूत लपेटा रहता है। जैसे प्रकृति ने मानो सृष्टि-पट बुनने के लिए पृथ्वी तथा आकाश को गड्ढा खुदाया हो और चांद तथा सूर्य को एवं रात और दिन को नरी बनाया हो; वैसे कर्मी जीव शरीर का अधोभाग रूपी पृथ्वी एवं ऊर्ध्व एवं शिरोअंग रूपी आकाश के गड्ढे खुदाये हैं, और इडा तथा पिंगला को नरी बनाकर जीवन तथा कर्म रूपी वस्त्र बुन रहा है। नाक के बायें छिद्र के श्वास को इडा तथा चन्द्र नाड़ी कहते हैं और दांयें छिद्र के श्वास को पिंगला तथा सूर्य नाड़ी कहते हैं। "चाँद सूर्य दोउ नरी बनाया" का अभिप्राय है इडा तथा पिंगला नाड़ी को नरी बनाया। इसी से जीवन का वस्त्र बुनता है और कर्मों का वस्त्र तैयार होता है।

"सहस्रतार ले पूरनि पूरी" यहां 'सहस्र' का अभिधा अर्थ एवं शब्दार्थ नहीं लेना चाहिए, किन्तु लक्षणा अर्थ लेना चाहिए। सहस्र का लक्षणा अर्थ है असंख्य। जैसे प्रकृति मानो असंख्य तारों एवं नक्षत्रों से सृष्टि-पट सम्पन्न करती है; वैसे जीव असंख्य श्वासों से जीवन-पट सम्पन्न करता है तथा असंख्य कर्मों से कर्मजाल का वस्त्र बुनता एवं भरनी भरता है।

"अजहूँ बिने कठिन है दूरी" सद्‌गुरु का यह वाक्य प्रपंची जीवों के मोह तोड़ने के लिए मर्मभेदी है। जीव अनादिकाल से कर्मों का वस्त्र बुन रहा है; किन्तु आज भी इसका मोह नहीं गया है। आज भी यह कर्मों का जाल बुनता जाता है। करने, खाने, देखने, सुनने, पाने आदि की तृष्णा समाप्त ही नहीं होती। सद्‌गुरु कहते हैं "कठिन है दूरी" इसका दूर होना कठिन है। विषयों का राग इतनी गहराई में गड़ा है कि वह निकल ही नहीं रहा है। जब तक चित्त से राग नहीं निकलता, तब तक कर्मों का वस्त्र बुनना बन्द नहीं हो सकता।

किसी साधक को इसलिए साहसहीन नहीं होना चाहिए कि सद्‌गुरु तो स्वयं कहते हैं कि "कठिन है दूरी" अर्थात यह कर्म-बन्धन दूर होना ही कठिन है। यहां सद्‌गुरु संसारियों की राग-लिप्सा पर प्रकाश डालते हैं। सद्‌गुरु के इस बीजक में साहस के सैकड़ों वचन हैं। केवल एक साखी लें—

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर।। (साखी, २०५)

पूर्ण ज्ञान होने पर कर्मों का जाल भस्म हो जाता है।

"कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी।।" सद्‌गुरु कहते हैं कि यह कर्मी जीव रूपी कोरी, अर्थात जोलाहा अपने आपको निरन्तर कर्मों से जोड़े रखता है और 'सूत कुसूत' अर्थात अच्छे और बुरे—सभी कर्मों का वस्त्र बुनता रहता है। इस चौपाई में आया हुआ 'भल' शब्द कर्मवस्त्र बुनने का क्रिया विशेषण है। जोलाहा अच्छे-बुरे सूत को लेकर वस्त्र निपुणता से बुनता है। अर्थात जीव शुभाशुभ कर्मों के धागे को लेकर भव बन्धन का वस्त्र अच्छी तरह बुनता है और इसी में सदैव उलझा रहता है।

सद्‌गुरु ने इस रमैनी में जोलाहा, करघा, गड्‌ढा, नरी, सूत आदि का सुन्दर रूपक दिया है और प्राकृतिक धरती, आकाश, चांद, सूर्य आदि का उदाहरण पेश किया है। गुरुदेव के अनेक वचन श्लेषात्मक, द्वयर्थक एवं अलंकार युक्त होते ही हैं। किन्तु इस रमैनी में सद्‌गुरु मुख्य बात यह बताना चाहते हैं कि जीव बारम्बार अपने बनाये हुए कर्मजालों में उलझ रहा है। वह आज भी नहीं जाग रहा है। आज भी अच्छे-बुरे कर्मों में उलझा है। उसे अपनी सत्ता और महत्ता का भान नहीं है। मैं ही अपने कर्मों का कर्ता तथा विधाता हूं। मेरे बन्धन मेरे ही बनाये हैं और मैं ही उन्हें तोड़ सकता हूं, इसका उसे पता नहीं है। "अस जोलहा काहु मर्म न जाना" इसी भाव का उद्‌भावक है। नाना मत के गुरु लोग भी प्रायः जीव को हरि-इच्छा-अधीन बताकर उसको स्वस्वरूपशोधन एवं पौरुष से दूर ही करते रहते हैं। जब तक जीव स्वयं नहीं जगेगा, उसका बन्धन नहीं छूट सकता।

रजोगुण से उठकर स्वरूपज्ञान में स्थित होओ

रमैनी–२९

बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई।। १ ।।
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्म का बाँधा लालच करिया।। २ ।।
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठा नाम साँचले धरिया।। ३ ।।
रजगति त्रिविधि कीन्ह परकाशा। कर्म धर्म बुधि केर बिनाशा।। ४ ।।
रवि के उदय तारा भौ छीना। चर बीहर दोनों में लीना।। ५ ।।
विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै।। ६ ।।

साखी—अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय।। २९ ।।

शब्दार्थ—खिन = क्षण। निझरू नीरु = जलप्रपात। चर-बीहर = जंगम-स्थावर, चल-अचल। गारुड़ = सांप का जहर दूर करने वाली औषध, तात्पर्य में सत्योपदेश या सद्गुरु।

भावार्थ—यह मन क्षण में वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देता है।।१।। इसलिए विवेकीजन मन को निर्झर-प्रपात समझकर और इसके द्रष्टा बनकर इसका त्याग करते हैं। परन्तु कर्म-बन्धनों में बन्धे हुए लोग भोगों के लालच में जीवन खोते हैं।।२।। वे कर्म, धर्म, मति और बुद्धि की उपेक्षा करते हैं, और झूठे नाम को सत्य समझकर उसी की माला फेरने लगते हैं।।३।। ऐसे लोगों के मन में रजोगुण की गति तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम हो जाती है, उसमें उनके कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश हो जाता है।।४।। जिस प्रकार चर-अचर में लीन होकर उन्हें प्रकाशित करने वाला तारों का प्रकाश सूर्य के उदय होने पर नष्ट हो जाता है; इसी प्रकार स्वस्वरूपज्ञान होने पर लौकिकज्ञान का अहंकार नष्ट हो जाता है।।५।। विष का प्रभाव पुनः विष खाने से नहीं मिटता। विष को दूर करने वाली औषध उसे कहते हैं, जो विष के प्रभाव से प्रभावित मरणासन्न व्यक्ति को पुनः जीवन दे दे। अर्थात वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहला सकता जो भवव्याधि को बढ़ाये, किन्तु उसे मिटाने वाला ही ज्ञान है।।६।।

मनुष्य के लक्ष्य में जो अगम-अगोचर की अवधारणा है, उसी में वह डंसा एवं मारा जा रहा है। यदि अज्ञान विष को दूर करने वाले सत्योपदेश रूपी मन्त्र को व्यक्ति नहीं मानता है, तो सत्योपदेश या उपदेष्टा गुरु क्या करेगा! ।।२९।।

व्याख्या—"बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई।।" यह मन की कल्पना वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देती है। कभी-कभी मन इस प्रकार सुलझे हुए ढंग से सोचने लगता है कि विकट प्रतीत होने वाली समस्या अत्यन्त सरल दिखने लगती है, और कभी-कभी वह सरल दिखने वाली बात को बड़ी उलझी हुई एवं दुर्गम मान लेता है। मन की दशा ऐसी है कि "कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" (शब्द ५१)। मन क्षण में अविवेकपूर्ण कल्पना से दुखों का पहाड़ खड़ा कर लेता है और क्षण में कुछ ऐसी बातें सोच लेता है जिससे हृदय खुशी से भर जाता है।

इसलिए विवेकवान पुरुष "निझरू नीरु जानि परिहरिया" मन को एक निर्झर-प्रपात के समान देखते हैं। मन सुषुप्ति तथा समाधि के अतिरिक्त समय में झरने के समान निरन्तर बहता रहता है। विवेकवान मन के प्रवाह को देखकर उसके हर्ष-शोक का त्याग करते हैं। दुखों से छूटने का तरीका यही है कि अपने आपको शुद्ध चेतन समझकर मन से अलग कर लिया जाय।

दूसरे लोग "कर्म का बाँधा लालच करिया" भोगों के लोभ में पड़े रहते हैं, इसलिए वे कर्मों के बन्धनों में बंधे रहते हैं। सारे कर्मों के बन्धनों की जड़ लालच है। वे ही कर्म जीवों को बांधते हैं, जिनमें लालच, लोभ एवं सकाम भावना है। सकामी मनुष्य "कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया" कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबका मानो त्याग कर देता है। लालची एवं सकामी मनुष्य न कर्म के स्वरूप को ठीक से समझकर उसे कर सकता है, न धर्म के तत्व को ठीक से समझकर उसका आचरण कर सकता है और न उसकी विवेकवती बुद्धि तथा मति ही होती है।

"बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा"

तात्कालिक विषयों पर समीक्षा करने वाली मानसिक शक्ति बुद्धि है और भविष्य के विषय में सही निर्धारण कर लेने वाली मति है। लालची एवं सकामी मन इतना भावुक एवं धुन्ध भरा होता है कि वह वर्तमान और भविष्य दोनों के विषय में सही निर्णय कम कर पाता है। जब बुद्धि और मति ही दिग्भ्रमित हो तो उनसे कर्म और धर्म के सच्चे स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है! सकामी मन निष्काम कर्म समझने से रहा। सकामी मनुष्य का कर्म भी व्यापार होता है और धर्म भी व्यापार होता है। इस प्रकार लालची आदमी कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबकी उपेक्षा करता है।

"झूठा नाम साँच ले धरिया" कहा जाता है वह क्या है, जो सब में है और उसमें कुछ नहीं है? उत्तर है 'नाम'। सारी वस्तुओं को समझने के लिए उनके नाम रख लिये जाते हैं; परन्तु नाम अपने आप में कुछ नहीं है। सारे नाम काल्पनिक हैं। कोई भी नाम-जप एक साधारण साधन है, परन्तु कितने ही लोग कर्म, धर्म, मति-बुद्धि का परित्यागकर झूठे एवं काल्पनिक नाम को ही परम सत्य मान रात-दिन उसी के जपने में दृढ़ हो जाते हैं। अथवा अविवेकी मनुष्य ऐसी झूठी धारणाओं को मन में स्थान दिये रखता है जिनके केवल नाम हैं, किन्तु उनका तथ्य कहीं नहीं है और नाम अपने आप में स्वयं काल्पनिक है। वाणी-जाल को देखिए तो भूत-प्रेत, देवी-देवादि-व्यंजक कितने ही नाम हैं जो मानवीय वातावरण में गूंजते रहते हैं, परन्तु उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

"रजगति त्रिविधि कीन्ह परकाशा" सत, रज, तम तीन गुणों में 'रजगुण' क्रिया-प्रधान है। रजगुण की क्रिया के तीन प्रकार हैं—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम। जितनी रजगुण की तीव्रता होती है उतनी ही जीव की बहिर्मुखता होती है। रजोगुण से काम, क्रोध और लोभ पैदा होते हैं। रजोगुण जितना बढ़ता है, उतना ही काम, क्रोध और लोभ के उग्ररूप होते हैं। ये तीनों जितना उग्र होते हैं, उतना ही "कर्म धर्म बुधि केर बिनाशा" होता है। पवित्रभाव से लोकमंगलकारी कर्म ही कर्म हैं। धर्म है विश्व के नियम और मानव के कर्तव्य, जिनसे 'स्व' और 'पर' का कल्याण होता है। बुद्धि है अच्छी समझदारी। जहां रजोगुण की वृद्धि में काम, क्रोध तथा लोभ का प्राबल्य है वहां उक्त कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश ही है। रजोगुण की वृद्धि से कामादि और कामादि से आत्मपतन, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

रात में तारागण का प्रकाश चर और बीहर में अर्थात गतिशील और गतिहीन सृष्टि में लीन रहता है और वह प्रकाश स्थावर-जंगम को उद्भासित करता है। किन्तु रवि के उदय होने पर वह क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार रजोगुण का प्रकाश सांसारिक वस्तुओं को प्रकाशित करता है। एक अति रजोगुणी व्यक्ति को कहो कि समाधि लगाओ, तो यह उसके मान की बात नहीं है। वह तो एक जगह स्थिर होकर कुछ समय बैठ भी नहीं पायेगा। परन्तु उसको रुपये का एक कोष दे दो और कह दो कि यह-यह काम करो, कराओ, तो वह खुशी से करेगा। रजोगुणी मन सांसारिक वस्तुओं को अधिक महत्व देता है। किन्तु जब उसमें स्वरूपज्ञान रूपी सूर्य उदय होता है, तब स्थावर-जंगमात्मक संसार में डूबा रजोगुण शांत हो जाता है। जीव का शुद्ध चेतनस्वरूप अचल है और रजोगुण

क्रियाशील है। अतएव अचल स्वरूप के ज्ञान एवं स्थिति से क्रियाशील रजोगुण का अन्त होना ही है। इसलिए "रवि के उदय तारा भौ छीना" वचन तथ्यपूर्ण है। स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से रजोगुण शान्त होता है और जितना रजोगुण शान्त होता है, उतनी स्वरूपस्थिति परिपक्व होती है।

"विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै॥" बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि किसी ने विष खा लिया हो और वह उससे प्रभावित होकर मरणासन्न हो, तो क्या उसे पुनः विष खिला देने से उसका विष दूर होगा? वह तो और बढ़ेगा। संसार के लोग स्वरूपज्ञान से रहित रजोगुण एवं विषय-भोगों में उन्मत्त होकर काम, क्रोध, लोभादि में डूबे हैं। यदि वे पुनः उन्हीं विषयों में डूबते हैं तो उनका उद्धार कहां है!

स्थूल बुद्धि वाले स्थूल भोगों में डूबते हैं। किन्तु स्वरूपज्ञान के बिना सूक्ष्म बुद्धि वाले सूक्ष्म विषयों में उलझ जाते हैं। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "स्वरूप के बाद सारा विषय जान।" अर्थात अपने शुद्धस्वरूप चेतन के अलावा जहां तक इन्द्रिय गोचर और मनोगत है, सब विषय हैं। बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध तो विषय हैं ही, देवी-देवादि से लेकर ईश्वर-ब्रह्म की अवधारणाएं भी विषय हैं। क्योंकि अवधारणाएं मन के रूप ही होती हैं जो विषय हैं। अतएव उच्चतम लक्ष्य से देखा जाय तो मन की अवधारणाओं में उलझे रहने से कोई अमृतपद स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता है। कितने ही गुरु लोग परमतत्व के नाम पर जितना उपदेश करते हैं सब मन की अवधारणाएं ही होती हैं। सद्गुरु कहते हैं "गारुड़ सो जो मरत जियावै" 'गारुड' वह है जो मरते हुए को जिला ले। सर्प-विष के उतारने वाले मन्त्र[1] को गारुड कहते हैं। यहां शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। तात्पर्य है कि विषय-विष को दूर करने वाला ही सच्चा उपदेश है जो स्थूल-सूक्ष्म सारे विषयों का निषेधकर व्यक्ति को स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की ओर प्रेरित करता है।

लोग अपनी आत्मा से अलग कहीं अलख अदृश्य ब्रह्म मानते हैं और उसी में पलक लगाते हैं। अर्थात ऐसी अवधारणा को अपना लक्ष्य समझते हैं। पलक लगाना, देखना, तात्पर्य में लक्ष्य लगाना है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पलक में ही, अर्थात ऐसे लक्ष्य में ही जीव डंसा जाता है। अपने स्वरूप से अलग लक्ष्य लगाना ही अपना आत्मिकपतन है। अतएव सद्गुरु का यह मार्मिक वचन "अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।" समझने योग्य है।

"विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय।" विषहर कहते हैं विष को दूर करने वाले को, मन्त्र का अर्थ है राय, सम्मति एवं उपदेश। जो स्थूल तथा सूक्ष्म सारे विषयों के विष को दूर करते हैं, ऐसे सत्योपदेश को यदि व्यक्ति नहीं मानता है तो इसमें न उपदेश

---

१. यहां 'गारुड' शब्द उदाहरण मात्र है। तात्पर्य में सत्योपदेश, पारख वचन एवं पारखी गुरु है। मन्त्र से झाड़ने पर सर्पदंश का विष उतरता है, यह एक भ्रम है। सर्पदंश में आपरेशन, दवाई इत्यादि काम करते हैं। 'चल छू' मन्त्र नहीं।

का दोष है और न उपदेष्टा का। यह तो उस व्यक्ति का ही अपने जड़-संस्कारजनित दोष है। उसे स्वयं ही निष्पक्ष होकर पारखी-वचनों पर ध्यान देना चाहिए। पारख ही 'भरमगढ़' तोड़ सकता है।

अविनाशी का बोध पाखंड से बाहर है

रमैनी–३०

औ भूले षट दर्शन भाई। पाखंड भेष रहा लपटाई॥ १ ॥
जीव शीव का आहि नशौना। चारिउ वेद चतुर्गुण मौना॥ २ ॥
जैनि धर्म का मर्म न जाना। पाती तोरि देव घर आना॥ ३ ॥
दवना मरुवा चम्पा के फूला। मानहु जीव कोटि सम तूला॥ ४ ॥
औ पृथ्वी के रोम उचारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ ५ ॥
मन्मथ बिन्दु करै असरारा। कल्पै बिन्द खसे नहिं द्वारा॥ ६ ॥
ताकर हाल होय अदबूदा। छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा॥ ७ ॥

साखी—ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूरि।
जो जाने ताके निकट है, नहिं तो रहा सकल घट पूरि॥ ३० ॥

शब्दार्थ—षटदर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, फकीर और ब्राह्मण। शीव = शिव, कल्याण। असरारा = भेद, रहस्य, लगातार, दुष्ट व्यवहार, अमरौली-बज्रोली क्रिया। बिगुर्चा = धोखा, उलझन।

भावार्थ—और हे भाई! षटदर्शन सम्प्रदाय के लोग अपने टंट-घंट में भूल गये। ये अपने-अपने सम्प्रदाय के पाखण्ड और भेष में लिपटे हैं॥१॥ यह सब पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है। चारों वेदों के भी अपने-अपने गुण हैं परमतत्व के विषय में मौन रहना॥२॥ जैनी लोग धर्म के रहस्य को नहीं जानते। वे फूल-पत्ती तोड़कर देव मन्दिरों में लाकर अपने तीर्थंकरों की मूर्तियों को चढ़ाते हैं॥३॥ दौना, मरुवा, चंपा आदि के फूलों को तोड़कर जब मूर्तियों को चढ़ाते हैं, तब उनको यह नहीं समझ पड़ता कि हम मानो करोड़ों जीवों की हत्या करने के समान पाप करते हैं, क्योंकि जैनमत में फूल-पत्तियों में असंख्य जीवों के होने की कल्पना की गयी है॥४॥ और पार्थिव शरीर के, अर्थात सिर-मुख आदि के बाल उखाड़ते हैं, यह भी एक प्रकार आत्महिंसा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही अपने जीवन को खो रहे हैं॥५॥ बज्रोली-क्रियारूप मन्मथ व्यवहार कर वीर्य को साधते हैं। मन में वीर्य के गिरने की कल्पना होती है, परन्तु बज्रोली-अभ्यास के प्रभाव से वह गिरने नहीं पाता॥६॥ ऐसे लोगों की दशा अद्भुत है। छह दर्शनी वेषधारियों में जो एक जैनी हैं, इनकी स्थिति ज्यादा उलझनपूर्ण है॥७॥

ज्ञानस्वरूप चेतन ही परमपद है। वह षटदर्शनों के पाखण्ड से बाहर है। वह निकट होते हुए पाखण्ड के कारण दूर-सा हो गया है। जो उसे तत्व से जानता है उसके निकट है। (निकट भी कहने का एक तरीका है। वस्तुतः वह स्वयं स्वरूप ही है।) जो उसे नहीं

जानता, उसके मन में तो कल्पना ही परिपूर्ण हो रही है। अथवा न जानने पर भी वह सभी घटों में विद्यमान है ही।।३०।।

व्याख्या—योगी, जंगम (शिवाचारी), सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, दरवेश (फकीर) तथा ब्राह्मण—ये छह[1] दर्शन हैं। इनके छानबे[2] भेद माने जाते हैं। कबीर साहेब ने जब ये पंक्तियां कही हैं तब से आज तक षटदर्शनों के भेद बढ़े ही हैं। सद्गुरु कहते हैं कि षटदर्शन वेषधारी सांप्रदायिक टंट-घंट, पाखण्ड एवं वेष-बाना के चक्कर में आत्मकल्याण तथा लोककल्याण की बातें भूल गये। आज भी एक ही सम्प्रदाय के हर अखाड़ा, गद्दी और शाखा वाला अपने को बड़ा तथा दूसरे को छोटा मानता है। फिर अलग-अलग सम्प्रदायों के नखरों का कहना ही क्या! किस सम्प्रदाय, अखाड़ा, गद्दी एवं शाखा वाले का कैसा तिलक है, कैसी माला एवं कंठी है, कैसा वस्त्र, उसके पहनने का ढंग और पूजा आदि कैसे-कैसे नियम हैं, बड़ी बारीकी से इनका विचार होता है और सभी अपने-अपने वेष और नियमों को उच्च तथा दूसरों को तुच्छ बताते हैं। उनके वेष, बाह्याचार एवं गद्दी का इतना जोर हो गया है कि उसमें वे अपने असली स्वरूप को ही भूल गये हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "जीव शीव का आहि नशौना" अर्थात जीव के शीव का नशौना है। 'शिव' कल्याण को कहते हैं। यह पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है।

"चारिउ वेद चतुर्गुण मौना" चारों वेदों में भी कर्मकांड का काफी विस्तार है। स्वरूपज्ञान के विषय में वे भी प्रायः मौन हैं। अर्थात चारों वेदों के अपने गुण हैं आत्मज्ञान के विषय में प्रायः मौन रहना। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है—"(दो विद्याएं हैं 'अपरा' तथा 'परा') उनमें 'अपरा' विद्या है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा छह वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, और जिससे अविनाशी आत्मतत्त्व का बोध होता है वह 'परा' विद्या इन वेद-वेदांगों से परे है।"[3] इसीलिए गीताकार ने कहा—"हे अर्जुन! सभी वेद त्रिगुणात्मक जगत का ही ज्ञान कराते हैं। अतएव तुम इनसे रहित निर्द्वंद्व, नित्य सत्य स्वरूप में स्थित, योग-क्षेम (संग्रह-रक्षा) से उदासीन एवं आत्मपरायण हो जाओ।"[4]

जैनी लोग अहिंसा धर्म पर जोर देते हैं। उनके जीव की व्याख्या में काफी अतिवाद है। वे मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु के कण-कण में जीव मानते हैं। फूल-पत्तों में असंख्य

---

१. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
छठवां कहिए ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश।।

२. दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान।। *(पंचग्रन्थी, मानुष विचार)*

३. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। *(मुंडक उप० १/२)*

४. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। *(गीता २/४५)*

जीवों का निवास मानते हैं। साहेब कहते हैं जैन मतानुसार उन फूल-पत्तों को तोड़कर देवमन्दिरों की मूर्तियों पर चढ़ाना हिंसा है और ऐसी हिंसा करना धर्म नहीं है।

जैनी साधु सिर, दाढ़ी, मूंछ आदि के बाल उखाड़ते हैं और अपने साधु-शिष्यों के बाल उखड़वाने में सहयोग करते हैं। यह भी एक हिंसा है। "औ पृथ्वी के रोम उचारे" का यही अभिप्राय है।

जैनी साधु कच्चा पानी नहीं पीते। कहते हैं पानी के सारे कण जीवधारी हैं। उनके भक्त पानी उबाल देते हैं, भोजन पका देते हैं, तब वे उन्हें ग्रहण करते हैं जिससे उन्हें हिंसा का पाप न लगे। भक्तों को यह भी कहना पड़ता है कि यह गरम जल या भोजन हमारे लिए है, तब साधु लेते हैं। इससे साधु लोग यह मानते हैं कि यह सारा दोष भक्तों पर गया। यदि भक्त साधुओं से कह दें कि आपके लिए है तो पकाने-गरमाने में हुई हिंसा का पाप साधुओं पर चला जाएगा। वर्षा चौमासा में जैनी साधु इकट्ठा रहते हैं। उनके लिए रोज पुष्कल पानी गरमाया जाता है और रोज भक्तों को कहना पड़ता है कि यह हमारे लिए है। यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है! जीवन-निर्वाह सबको करना पड़ता है। उसको सरलता से स्वीकारना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए दूसरे को हिंसक बनाकर हम हिंसा के पाप से मुक्त नहीं हो सकते। आडम्बर और दिखावा छोड़कर सरलता ही कल्याण में हेतु है। बड़ा मुश्किल है। धर्म के नाम पर बनी रूढ़ि पत्थर की लकीर बन जाती है। विवेकप्रधान जैनदर्शन मिथ्याचार में उलझा रहे, यह शोभा नहीं देता। आधुनिक युवा जैन साधुओं को इस पर विचार करना चाहिए और हानिकारी रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ना चाहिए।

'असरार' शब्द अरबी है। इसका अर्थ होता है भेद एवं रहस्य। असरार का अर्थ लगातार भी होता है। सद्गुरु कहते हैं 'मन्मथ बिन्दु करै असरारा" अर्थात काम के वश में होकर वीर्य-स्तम्भन करने का रहस्यात्मक एवं गुप्त अभ्यास करते हैं या लगातार अभ्यास करते हैं। टीकाकारों ने असरार का अर्थ दुष्ट व्यवहार भी माना है। इस प्रसंग में ये सभी अर्थ उपयुक्त लगते हैं।

'बज्रोली' एक हठयोग की क्रिया है। इसको साधने वाले विशेष क्रियाद्वारा जननेन्द्रिय से क्रमशः पानी, दूध और शहद खींच लेते हैं। अभ्यास परिपक्व होने पर ऐसे लोग स्त्री का संग करते हुए वीर्य गिरने नहीं देते। इस बज्रोली को भोग तथा मोक्ष का साधन मानते हैं। यह सब वासना-तृप्ति का एक साधन है और कल्याणार्थी साधकों का पतनपथ है। ऐसे लोग अपने आप को सिद्ध योगी बतलाते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग त्याग का दिखावाकर भोगपरायण और मलिन हैं। साधकों को ऐसे-ऐसे मन के धोखे से सदैव दूर रहना चाहिए।

"छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा" बिगुर्चा एवं बिगूचना का अर्थ है उलझन। सद्गुरु कहते हैं कि योगी-जंगमादि छह दर्शनियों में जैन जो सेवड़ा भी कहलाते हैं ज्यादा उलझे हुए हैं। अर्थात अन्य पांच दर्शनी तो उलझे ही हैं, किन्तु जैनी अधिक उलझे हैं। इसका यह अर्थ न समझकर किसी टीकाकार ने छह दर्शन का अर्थ वैदिक-छह दर्शन-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त लिया है, और अर्थ माना है कि जैनी इन छहों

दर्शनों में उलझे हैं। फिर उन्होंने टिप्पणी की है "कबीर यहां भूल करते हैं, क्योंकि जैनी सांख्यादि छह वैदिक दर्शनों को मानते ही नहीं, तो वे उनमें उलझेंगे क्यों?" परन्तु भूल कबीर की नहीं, टीकाकार की है। इस रमैनी के शुरू की ही चौपाई है "औ भूले षटदर्शन भाई। पाखण्ड भेष रहा लपटाई ॥" इत्यादि। ऊपर इसका खुलासा हो गया है।

"ज्ञान अमर पद बाहिरे" ज्ञान ही अमर पद है जो षटदर्शन के साम्प्रदायिक जंजाल, वेष, बाह्याचार एवं अहं-हीनत्व से परे है। हर मनुष्य के भीतर ज्ञान की एक अखण्ड ज्योति निरन्तर जलती रहती है। 'मैं हूं' यह भाव सबको सब समय बना रहता है। मैं स्वयं ही ज्ञानस्वरूप हूं। सबके भीतर का 'स्व' ही ज्ञान है और ज्ञान ही 'स्व' है। वह अमरपद है। अमरपद का अर्थ अविनाशी स्वरूप है। चेतन का लक्षण जड़तत्त्व से सर्वथा पृथक एवं स्वतन्त्र है। जड़-तत्त्वों में चेतना गुण न होने से चेतन जड़ से सर्वथा भिन्न है। जो स्वतन्त्र है, वह नित्य है। जो नित्य है वह अमर है। इसीलिए कहा जाता है कि जीव एवं आत्मा अमर है। सद्गुरु कहते हैं यह ज्ञानस्वरूप चेतन अमर है और इस स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति को पाने के लिए षटदर्शन के पाखण्ड की जरूरत नहीं है। साम्प्रदायिक पाखण्ड तो इसके अवरोधक हैं। अतएव यह ज्ञान पाखण्ड के बाहर की वस्तु है। इसके लिए तो निष्पक्षता, विवेक, सदाचार, वैराग्य, भक्ति, सरलता आदि की आवश्यकता है।

यह अमरपद निकट होते हुए भी विषयासक्ति, पाखण्ड, पक्षपात आदि में उलझे हुए लोगों के लिए दूर है—"नियरे ते है दूरि।" यहां 'नियरे' पद का प्रयोग लाक्षणिक है। क्योंकि अपना ज्ञानस्वरूप चेतन व्यक्ति के 'स्व' से अलग नहीं है। इसलिए वह नियरे नहीं, किन्तु स्वयं है। 'नियरे' तो एक कहने का तरीका है। सद्गुरु कहते हैं "जो जानै ताके निकट है" जिसने समझ लिया कि परमतत्त्व मुझ से अलग नहीं है, उसके लिए वह निकट हो गया है। तात्पर्य में सरल हो गया। अन्यथा "नहिं तो रहा सकल घटि पूरि" जिन्हें स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं है, उन सबके घट में तो भ्रांति ही भरी है कि परमतत्त्व मुझ से अलग है। अथवा अविनाशी चेतन सब घटों में विद्यमान होते हुए भी अनुभवरहित होने से अविद्यमान के समान है। शराब पी लेने से गले का कंठा भी खोया जैसा लगता है। अतएव हमें साम्प्रदायिक बाह्याडंबर से हटकर अपने स्वरूप का ज्ञान तथा स्थिति प्राप्त करना चाहिए। यही इस सन्दर्भ का सार है।

क्या धर्मशास्त्रज्ञ होने का फल अहंकार, पाखंड और शोषण है?

रमैनी–३१

सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य को मारग कीन्हा॥ १ ॥
सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥ २ ॥
पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥ ३ ॥
पढ़ें शास्त्र जीव बध करई। मूँड़ि काटि अगमन के धरई॥ ४ ॥

साखी—कहहिं कबीर ई पाखंड, बहुतक जीव सताव।
अनुभव भाव न दरशै, जियत न आपु रखाव॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—असरारा = (असरार) भेद, रहस्य; लगातार।

भावार्थ—स्मृतियां एवं धर्मशास्त्र गुण-दोषों की पहचान करते हैं और पाप-पुण्य के मार्गों का निर्धारण करते हैं।।१।। लोग वेदों और धर्मशास्त्रों को लगातार पढ़ते हैं तथा उनका भेद जानने की भी उन्हें अहंमन्यता होती है और वे पाखण्ड का रूप खड़ाकर उनका अहंकार करते हैं।।२।। लोग वेद पढ़ते हैं और अपने वेदाध्ययन की बड़ाई करते हैं, परन्तु उस पर भी उनके सन्देह की गांठ नहीं खुलती है।।३।। यहां तक पण्डितों का चरित्र है कि शास्त्र पढ़कर एवं शास्त्रोक्त मन्त्र उच्चारण करते हुए बलि के नाम पर जीववध करते हैं और पशुओं के सिर काटकर जड़-मूर्तियों के सामने चढ़ाते हैं।।४।।

सद्गुरु कहते हैं इस धर्म के पाखण्ड ने बहुत जीवों को कष्ट दिया है और आज भी दे रहा है। ऐसे लोग अपनी अनुभूत पीड़ा को सामने रखकर दूसरे को दया की दृष्टि से नहीं देखते। जाग्रत जीवन पाकर भी अपनी रक्षा नहीं करते।।३१।।

व्याख्या—वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ बने, फिर आरण्यक। उसके बाद सूत्रग्रन्थ। सूत्रग्रन्थ श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र हैं। उसके बाद स्मृति ग्रंथों का एक लम्बा क्रम है। जैसे मनुस्मृति, गौतमस्मृति, पराशरस्मृति, नारदस्मृति[1] आदि। पहले थोड़ी ही स्मृतियां थीं। पीछे बढ़ती गयीं। फिर १८-२० हो गयीं। उसके बाद १०० तक पहुंच गयीं। कुछ स्मृतियां ईसा की चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक बनती रहीं।

मनुस्मृति में श्रुति और स्मृति के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—"वेदों को श्रुति तथा धर्मशास्त्रों को स्मृति जानना चाहिए।"[2] मनु, गौतम, आपस्तम्ब, पराशर आदि स्मृतियों में वर्णाश्रम-व्यवस्था, सभी वर्णों एवं आश्रमों के कर्तव्य, राजकाज, विधान-कानून आदि का वर्णन है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप-पुण्य को मारग कीन्हा।।" स्मृतियां वर्णों, आश्रमों एवं राजकाज के गुणों की पहचान करती हैं। वे निर्धारण करती हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के क्या गुण हैं। उन्हें क्या करना चाहिए। पाप और पुण्य क्या हैं; इसका भी वे विधान करती हैं। स्मृतियों में मानवहित की बहुत-सारी बातें हैं, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे निष्पक्ष नहीं हैं।

कहा जाता है कि जब वर्णव्यवस्था हुई थी तब केवल काम का बटवारा हुआ था। आपस में कोई भेदभाव नहीं था। उस समय जो हो, परन्तु वर्णव्यवस्था का वर्णन जहां तक शास्त्रों में है उसको देखते हुए कहना पड़ता है कि यह मानवता के लिए निष्पक्ष नहीं था। यहां तक कि कहीं-कहीं क्रूर था। आगे चलकर तो यह कमजोर वर्ग के शोषण का एक हथकंडा मात्र बनकर रह गया।

धर्मशास्त्रों-द्वारा मानव के गुणों की पहचान में कितनी खोट थी, यह इसी से पता लग जाता है कि शूद्र और स्त्री वेद नहीं पढ़ सकते। कोई भी मनुष्य जब संस्कृत भाषा पढ़

---

१. मुख्य स्मृतिकार हैं—मनु, वृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तंब, हारीत। उपस्मृतिकार अन्य बहुत हैं। *(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४१)*

२. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। *(मनुस्मृति २/१०)*

लिया हो और बुद्धि रखता हो, तो वेदों को क्यों नहीं पढ़ सकता? वसिष्ठ के मुख से कहलाया गया है—"विधाता ने गायत्री छंद से ब्राह्मण को बनाया, त्रिष्टुप छंद से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को; परन्तु उसने शूद्र को किसी भी छन्द से नहीं बनाया। अतः शूद्र संस्कार के योग्य नहीं है।"[१] इसलिए वह वेद नहीं पढ़ सकता। स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों के उच्च और नीच गुणों का निर्धारण कुल-परम्परा से किया, उनकी योग्यता से नहीं। और धीरे-धीरे शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को नीच-गुण का बनाये रखने के लिए उनके विद्यादि पढ़ने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह भी अद्भुत बात है कि शुक्ल वेद पढ़ सकते थे, शुकुलाइन नहीं, तिवारी वेद पढ़ सकते थे, तिवराइन नहीं। अतएव धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों के गुणों को पहिचानने में काफी गलतियां ही नहीं की हैं, अपराध भी किया है।

उसने पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सर्वथा ज्ञानपूर्ण एवं निष्पक्षता से नहीं किया है। धर्मशास्त्रों में यज्ञ, बलि आदि के नाम पर मूक प्राणियों को मारना धर्म बताया। मनुस्मृति में कहा गया—"ब्रह्मा ने पशुओं को यज्ञ में वध करने के लिए ही बनाया है। यज्ञ समस्त प्राणियों के हित के लिए है; इसलिए यज्ञ में पशुवध करना वध नहीं है।"[२] शूद्र न न्यायाधीश हो सकता है और न धर्म की घोषणा कर सकता है।[३] क्षत्रिय की हत्या करने पर छह वर्ष का ब्रह्मचर्य और एक हजार गायों का दान प्रायश्चित है। किन्तु वैश्य की हत्या करने पर तीन वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन एवं सौ गाय-बैलों का दान करना चाहिए। किन्तु शूद्र की हत्या करने पर केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य तथा दस गायों का दान काफी है।[४] आपस्तम्ब ने तो यहां तक कह डाला है कि शूद्र की हत्या करने पर केवल उतना ही पाप लगता है जितना कौआ, गिरगिट, मोर, चकवा, हंस, भास, मेढक, नेवला, छछून्दर आदि की हत्या करने पर लगता है।[५] अतएव स्मृतियों में पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सब जगह ठीक नहीं है। हां, इन ग्रन्थों में बहुत-सी बातें मानवमात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। मनुष्य को नीर-क्षीर विवेकी बनकर सार का ग्रहण तथा असार का त्याग करना चाहिए।

परन्तु लोग ऐसा करते नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं "सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥" धर्मशास्त्रों के पक्षधर लोग वेद-स्मृति तो लगातार पढ़ते हैं; और उनका घमण्ड भी रहता है कि हम इनके रहस्य जानते हैं, परन्तु वे उनके प्रमाण देकर

---

१. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या
वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (*वसिष्ठ ४/३*)

२. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ (*मनु० ५/३९*)

३. मनु (८/९ एवं २०) याज्ञ० (१/३) एवं कात्यायन।

४. गौतम (२२/१४-१६), मनु (११/१२६-१३०), याज्ञवल्क्य (३/२६६-२६७)।

५. आपस्तम्ब (१/९/२५/१४ तथा १/९/२६/१)। धर्म-शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६५-१६६।

अपनी मिथ्या वरीयता का अहंकार करते हैं। 'पाखण्ड' कहते हैं बनावटीपन या धोखा को। जन्म के आधार पर छोटा-बड़ा मानना तथा जीव-हत्या को धर्म मानना पाखण्ड है। धर्मशास्त्रों में जीवदया तथा मानवता की बातें भी जगह-जगह कही गयी हैं; परन्तु स्वार्थी लोग ऐसे वचनों पर ध्यान नहीं देते। वे ऐसे ही वचनों को लेते हैं जिनमें उनके मलिन स्वार्थ की पूर्ति है।

"पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई।।" लोग वेद पढ़ते हैं और अपनी बड़ाई हांकते हैं कि हम वेदों के ज्ञाता एवं विद्वान हैं। परन्तु उनका जीवन देखा जाय, तो वे नाना संशयों में ग्रसित हैं। वे भूत-प्रेत, देवी-देवता, झाड़-फूंक, लग्न-मुहूर्त, शकुन-अपशकुन आदि तक की सारी भ्रांतियों से ग्रसित हैं। वे स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध से वंचित होकर केवल शास्त्रज्ञान का बोझा लिये घूमते हैं। जीवन में कैसी रहनी रहने से शांति मिल सकती है, न इसका उन्हें ज्ञान है और न आचरण।

विद्वान के तीन प्रकार हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। जो वेदों के छंदों के सारे लक्षण जानकर उनको याद कर ले, वह छंदोविद् एवं छंदों का ज्ञाता है। जो वेदों का अर्थ जानता हो, वह वेदविद् है और जो जानने योग्य को जानता हो वह 'वेद्यविद्' है। अतएव वेद के छंदों एवं अर्थों को जानना मात्र श्रेष्ठता का सूचक नहीं है; किन्तु जीवन में जो जानने योग्य है उसे जानना चाहिए और उसका जीवन में आचरण करना चाहिए। इसी प्रकार सारे शास्त्रों को समझना चाहिए। केवल शास्त्रज्ञान एक बोझा तथा घमण्ड बढ़ाने का कारण है। मनुष्य वेद-शास्त्र एवं ग्रन्थों को पढ़े बिना भी अपने विवेक तथा सत्संग से जानने योग्य को जान सकता है। शास्त्र एवं ग्रन्थ अध्ययन उसमें सहायक अवश्य हैं; परन्तु विवेक तथा आचरण करने पर।

"पढ़ें शास्त्र जीव वध करई" यदि शास्त्र पढ़कर धर्म के नाम पर जीव वध किया जाता है; तो यह शास्त्राध्ययन हास्यास्पद है। जानदार प्राणियों का वध करना तथा बे-जान देवताओं की पूजा करना शास्त्र-अध्ययन का दिवाला पिट जाना है। धर्म का नाम लेकर जीव का वध करना सर्वाधिक पाखंड है। यह पाखंड संसार के अधिकतम मतों में व्याप्त है और इसने बहुत जीवों को दुखाया तथा आज भी दुखाता है।

"अनुभव भाव न दरशै" लोगों को रात-दिन का अनुभव है कि पीड़ा किसी जीव को सहन नहीं है। परन्तु उसी भाव से वे दूसरे को नहीं देखते। 'जीयो और जीने दो' का मानवीय विचार जिसके हृदय में होगा, वह अपने ही समान जानकर अन्य प्राणियों को तकलीफ नहीं देगा।

"जियत न आपु रखाव" साखी का अन्तिम अंश बहुत महत्वपूर्ण है। जीते तक जो अपनी रक्षा नहीं करता, उसकी रक्षा मरने पर क्या होगी! यह मानव शरीर जाग्रत भूमि है। इसकी सफलता अहिंसा में है। जो दूसरे प्राणी को कष्ट नहीं देता, वही अपने आपकी रक्षा करता है। जो दूसरे को कष्ट देता है वह मानो अपने को असुरक्षित कर रहा है। हमारे जीवन का फल यही है कि दूसरे को पीड़ा न दें। इसी में हमारी सुरक्षा है। हम दूसरे को पीड़ा देने से बचकर ही, स्वयं पीड़ा से रहित हो सकते हैं।

विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र निरर्थक हैं

रमैनी—३२

अन्ध सो दर्पण वेद पुराना। दर्बी कहा महारस जाना॥ १ ॥
जस खर चन्दन लादेउ भारा। परिमल बास न जानु गँवारा॥ २ ॥
कहहिं कबीर खोजे असमाना। सो न मिला जो जाय अभिमाना॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दर्बी = करछुली, चम्मच। खर = गधा। परिमल बास = चंदन की सुगन्धी। असमाना = आकाश। सो = वह, विवेकज्ञान एवं सच्चा बोध।

भावार्थ—जैसे अन्धे आदमी के लिए दर्पण निरर्थक है; वैसे विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र पढ़ना निष्प्रयोजन है। करछुली नाना व्यंजनों में फिरती हुई भी उनके षटरसों को क्या जाने! ॥१॥ जैसे व्यापारी का गधा चन्दन का बोझा ढोता है; परन्तु वह मूढ़ पशु चन्दन की सुगन्धी नहीं जानता, वैसे कितने पढ़-पशु शास्त्र-अध्ययन का बोझा ढोते हुए भी आत्मज्ञान से वंचित बने रहते हैं॥२॥ सद्गुरु कहते हैं कि विद्या और शास्त्र के प्रमादी लोग आकाश नापते हैं। अथवा ये लोग अपना लक्ष्य आकाश में खोजते हैं। इन्हें वह विवेकज्ञान नहीं मिलता जिससे इनका शास्त्र-मद दूर हो॥३॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर यहां वेदों तथा पुराणों का आदर करते हैं। वे कहते हैं कि वेदों और पुराणों में बहुत काम की बातें हैं, परन्तु जिनकी आंखें ही फूटी हैं, वे उनसे क्या ले सकते हैं! यहां उनका उन लोगों पर व्यंग्य है जो शास्त्रों एवं ग्रन्थों को तो बहुत पढ़ते हैं परन्तु आचरण की जगह पर कोरे रहते हैं। करछुली सभी व्यंजनों में फिरती है, परन्तु वह उनके रसों को कब जान सकती है! कुछ मनुष्य भी करछुली होते हैं। वे खूब पढ़ते हैं। नाना शास्त्रों को मथ डालते हैं। परन्तु जीवन के स्तर पर कोरे-कोरे रह जाते हैं। पुस्तकों के भीतर कीड़े भी निवास करते हैं; परन्तु वे क्या जानें कि इनमें क्या है। जो शास्त्रों के कीड़े बन जाते हैं, उनकी भी यही दशा है।

गधा चन्दन का बोझा ढोता है। वह उसका महत्व नहीं जानता। इसी प्रकार कुछ लोग विद्या और शास्त्र पढ़ने का मद ढोते हैं। एक पण्डित जी संतों की मण्डली में पहुंचे। उन्होंने अन्य सन्तों से प्रमुख सन्त के विषय में पूछा "महाराज के शास्त्र-अध्ययन की कितनी उपाधियां हैं? उनके पास विश्वविद्यालय से प्राप्त कितनी डिग्रियां हैं?" उन्हें संतों द्वारा अपने मन के अनुकूल उत्तर नहीं मिला, इसलिए मुख्य सन्त के पास पहुंचने पर भी उन्होंने उनका नमस्कार नहीं किया, और उनके पास बैठते ही असंबद्ध श्लोकों की झड़ी लगाने लगे। ऐसे लोग सत्संग में पहुंचकर भी क्या पा सकते हैं!

"कहहिं कबीर खोजे असमाना।" सद्गुरु कबीर ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश नापते हैं। असंभव कार्य के लिए आकाश नापना एक मुहावरा है। शास्त्र-अध्ययन का अहंकार कर जो मनुष्यत्व-बोध एवं शांति चाहता है, वह असंभव को संभव बनाना चाहता है।

अथवा शास्त्रों का प्रमाद धारण करने वाले लोग सत्य, परमात्मा एवं मोक्ष को आकाश में खोजते हैं। परन्तु आकाश में न कोई परमात्मा है और न परमात्मा का लोक

एवं धाम है। सद्गुरु ने ७९ वें शब्द में भी कहा है "जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं।" जब तक सच्चा बोध नहीं मिलता, तब तक शास्त्राभिमान नहीं जा सकता। श्रुति भी कहती है "जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे अविवेकमय निविड़ अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।"[1]

"जिसको स्वयं विवेक-शक्ति नहीं है, उसके लिए शास्त्र किस काम के! नेत्रहीन व्यक्ति दर्पण लेकर क्या करेगा! चारों वेद तथा बहुत शास्त्र पढ़ लिये, किन्तु ब्रह्मज्ञान न हुआ, तो वह वैसे है जैसे व्यंजनों में घूमती हुई करछुली। जैसे गधा केवल चंदन का भार ढोता है न कि उसकी गंध से लाभ ले सकता है, उसी प्रकार वह विद्वान है जो है तो छहों शास्त्रों का ज्ञाता, परन्तु सद्ज्ञान से हीन है और गधे के तुल्य विद्या-मद ढो रहा है।"[2]

इस रमैनी की प्रथम दो पंक्तियां उक्त तीन श्लोकों के भावों एवं शब्दावलियों से पूर्णतया प्रभावित हैं। यह तथ्य है कि कोई मौलिक-से-मौलिक रचनाकार भी अपनी पूर्व परम्परा से सर्वथा अछूता नहीं रह सकता। विचार तो ग्रहण होते ही हैं, शब्द, शैली आदि भी यत्र-तत्र ग्रहण हो जाते हैं। गोस्वामी जी का महाकाव्य इस ढंग के प्रभाव से तो अधिकतम प्रभावित है, कबीर साहेब भी बिलकुल अछूते नहीं हैं। वस्तुतः कोई भी अपनी पुरानी परम्परा से अछूता नहीं रह सकता।

कहा जा सकता है कि रचनाएं दो ढंग की होती हैं अनुभवजन्य एवं अध्ययनजन्य। चिंतन की गहराई तथा चिंतन से परे समाधि में पहुंचकर और बाह्य जगत की घटनाओं को देखकर जो विचार बनते हैं वे अनुभूत विषय होते हैं। ऐसे विषय जब काव्य और निबन्ध में व्यक्त किये जाते हैं, तो यह अनुभवजन्य रचना कही जा सकती है। परन्तु इसमें भी दो रचनाकारों के अनुभव कभी-कभी समान रूप से मिल जाते हैं, जबकि वे एक दूसरे को जानते नहीं।

दूसरी अध्ययनजन्य रचना वह होती है जो पुस्तकें पढ़कर विचार बनते हैं और वे लिखे जाते हैं। जब रचनाकार अध्ययन किये हुए विषयों को अपने में पचाकर उसे अपने ढंग से लिखता है तो उसमें उसकी अपनी मौलिकता आ जाती है और जब वह ज्यादा परिश्रम नहीं करना चाहता या अधीत विषयों की उत्तम युक्तियों को उन्हीं रूपों में रखना

---

१. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। *(ईशावास्योपनिषद्, ९)*

२. यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति ।।
अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मत्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ।।
यथाखरश्चन्दनभारवाही भारस्यवेत्ता न तु चंदनस्य।
तथैव विप्राः षटशास्त्रयुक्ता सद्ज्ञानहीनाः खरवद् वहन्ति ।।

चाहता है, तब वह बहुत स्थूल रूप में प्रकट होती है। जिसकी रचनाएं बहुव्यापी एवं विस्तृत होती हैं, उनमें दोनों प्रकार की रचनाएं होती हैं और कहीं-कहीं ऐसी भी होती हैं जो दूसरे ढंग की स्थूलतम विधा है।

शास्त्रजाल का बन्धन

रमैनी—३३

वेद की पुत्री सुमृति भाई। सो जेवरी कर लेतहि आई॥ १ ॥
आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा॥ २ ॥
बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥ ३ ॥
हमरे देखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा॥ ४ ॥
साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।
सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—सुमृति = स्मृति। जेवरी = रस्सी, बन्धन। काल = कल्पना, अज्ञान। दुनियाई = संसार के लोग। दास कबीर = उपासक। रौंस = घट्ठा, निशान, छाले। हौंस = हौस, हौसला, लालसा।

भावार्थ—हे भाई! स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं। वे लोगों को बांधने के लिए मानो रस्सी लेकर आयी हैं॥१॥ मनुष्यों ने अपने हाथों से रस्सी बटकर अपने गले को बांध लिया है। वेद-शास्त्र ईश्वरकृत हैं इसलिए बिना विचार किये उनको स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिए, यह मोह व्यर्थ है और कल्पना का फंदा है, गले की फांसी है॥२॥ मनुष्य नित्य नये-नये बन्धनों से अपने को बांधते-बांधते भली-भांति बंध तो जाता है; परन्तु उन बन्धनों को वह खोलकर फेंक नहीं पाता। संसारी लोग विषयों एवं देह ही को अपना रूप मानकर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप को भूल गये॥३॥ मेरी समझ से तो संसार के सारे लोग माया-द्वारा लूटे गये हैं। परन्तु उपासक लोग राम-राम कहकर छूटने की आशा करते हैं॥४॥

किन्तु राम-राम कहते-कहते इनकी जीभ में घट्ठे एवं छाले पड़ गये। ये पात्र में रखा हुआ शुद्ध जल नहीं पीते, कुआं खोदकर पीने की लालसा रखते हैं॥३३॥

व्याख्या—३१वीं रमैनी की व्याख्या के आरम्भ में भी बताया गया है कि वेदों के बाद ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ बने। इनके पश्चात स्मृति-ग्रन्थ बनने लगे। ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के हजार वर्ष बाद तक भी स्मृति-ग्रन्थ बनते रहे। यद्यपि मनुस्मृति के पहले भी स्मृति-ग्रन्थ बन चुके थे, तथापि लगभग ई० पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी के बीच में बनी मनुस्मृति अधिक सर्वांगीण है; अतः उसी का पठन-पाठन अधिक होता रहा। ऋग्वेद में मनु को मानव-जाति का पिता कहा गया है।[1] तैत्तिरीय संहिता एवं तांड्य

---

१. ऋग्वेद १/८०/१६; १/११४/२; २/३३/१३।

महाब्राह्मण में[1] तथा महाभारत में[2] मनु का आदर से नाम लिया गया है। निश्चित है मनु ऋग्वेद-काल के भी पूर्व के महापुरुष हैं। यह नाम पहले से ही प्रतिष्ठित था, इसलिए इस नाम पर किसी लेखक ने ईसा के सौ-दो सौ वर्ष पहले मनुस्मृति रच डाली। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं "मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है। इसके प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा रखा, यह कहना दुष्कर ही है। हो सकता है कि इस महान ग्रन्थ को प्राचीनता एवं प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा गया है। वर्तमान मनुस्मृति में १२ अध्याय एवं २६९४ श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं धाराप्रवाह शैली में प्रणीत है। इसका व्याकरण अधिकांश पाणिनि-संमत है। इसके सिद्धांत गौतम, बोधायन एवं आपस्तंब के धर्मसूत्रों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इसके बहुत-से श्लोक वसिष्ठ एवं विष्णु के धर्मसूत्रों में भी पाये जाते हैं। भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत-कुछ समानता है।"[3]

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं और वे अपने हाथों में रस्सी लेकर लोगों को बांधने के लिए आयी हैं। क्या सचमुच स्मृतियां लोगों को बन्धन ही देती हैं? क्या वे मनुष्यों के पतन के लिए ही बनायी गयी हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि बिलकुल ऐसी बातें नहीं हैं। मनुस्मृति आदि स्मृतियों में धर्म, आचार, राजनीति, दंडविधान, चारवर्ण एवं चार आश्रमों के कर्म आदि पर बृहत् प्रकाश डाला गया है। जब शृंगारिक एवं जासूसी उपन्यासों में अच्छी-अच्छी बातें मिल जाती हैं, तब जो धर्मशास्त्र के रूप में हैं उन स्मृतियों में अच्छी एवं काम की बातें क्यों नहीं होंगी!

स्मृतियों में बहुत-सारी भ्रांतियों के साथ दो प्रबल दोष हैं, वर्णव्यवस्था के नाम पर मानव-मानव के बीच में दीवार बनाने की प्रक्रिया तथा कर्मकांडों की उलझन। ऋग्वेद (१०/९०) में पीछे से मिलाये हुए पुरुष सूक्त में जब एक बार कह दिया गया कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए, तो इसका विकास पीछे के ग्रन्थों में होना ही था; और शूद्र को पैर से केवल पैदा होने की ही नहीं, उन्हें पैर से रगड़ने की बात की गयी। इन बातों की चर्चा १४वीं एवं ३१वीं रमैनी की व्याख्या में कर आये हैं।

स्मृतियां प्रायः पुरोहित-पंडितों की लिखी हैं और उनमें घोर पक्षपात की बातें कही गयी हैं। शूद्रों के नाम भी घृणित रखने की राय दी गयी जैसे झाड़ू, झाखर, बेकारू आदि। उन्हें श्मशान के तुल्य अशुद्ध कहा गया। उन्हें सवर्णों का गुलाम बताया गया और राय दी गयी कि सवर्ण जब चाहे तब शूद्र को उखाड़ फेंके, उन्हें पीट दे या उनका वध भी कर दे।[4] यह स्मृतियों का ही प्रभाव है जो सवर्ण नामधारी लोगों की नाक में शूद्रों की

---

१. तांड्य महाब्राह्मण २३/१६/१७।

२. महाभारत, शांतिपर्व २१/१२; ५७/४३।

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४३-४४।

४. देखें चौदहवीं रमैनी की व्याख्या में उद्धरण।

दुर्गंधी समायी हुई है और वे आज भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही लिखा है—"स्मृति और पुराण सीमित बुद्धि वाले व्यक्तियों की रचनाएं हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेष भाव से परिपूर्ण हैं। पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं।"[1] वेद की पुत्री स्मृतियों की जेवरी में जगत के लोग ऐसे बंधे हुए हैं कि आज भी उनसे पूर्ण छुटकारा नहीं मिला है।

जातिवाद की रस्सी से भी मजबूत रस्सी कर्मकांडों की है। ब्राह्मणग्रंथ, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति—ये ग्रंथ तो कर्मकांड के विस्तार में बने ही हैं, पुराण तथा महाकाव्यों में भी कथा के माध्यम से भ्रमजनित नाना कर्मकांडों का पचड़ा गाया गया है। धर्मशास्त्रों में अश्वमेध, गोमेध, पशुबंध, अग्निष्टोम, राजसूय, सौत्रामणी, दर्श-पूर्ण-मास आदि अनेक यज्ञों का वर्णन है जिनमें पशुओं का वध तथा पुरोहितों की ऊलजलूल क्रियाएं हैं। सैकड़ों ग्रन्थों में फैले अनेक यज्ञों की सैकड़ों विधियों का न यहां वर्णन करने की जगह है और न आवश्यकता। पशुवध और निष्प्रयोजन क्रियाओं के थोड़े उदाहरण लें; "अग्निष्टोम यज्ञ में एक 'प्रवर्ग्य' नाम कृत्य है। इसमें "मिट्टी का एक पात्र बनाया जाता है जिसकी 'महावीर' संज्ञा है। इसमें एक छिद्र होता है जिसके द्वारा तरल पदार्थ गिराया जाता है। इसी प्रकार दो अन्य महावीर पात्र होते हैं। 'पिनवन' नामक अन्य दो दुग्ध पात्र होते हैं और 'रौहिण' नामक दो प्यालियां होती हैं जिनमें रोटियां पकायी जाती हैं। महावीर, पिनवन एवं रौहिण गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित घोड़े के गोबर की अग्नि में तपाये जाते हैं (कुछ लोगों के मत से ये पात्र दक्षिणाग्नि में तपाये जाते हैं)। रौहिण में दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायं दिन तथा रात्रि के लिए आहुति रूप में दिये जाते हैं। महावीर पात्र को मिट्टी से बने उच्च स्थल पर रखकर उसके चतुर्दिक अग्नि जलाकर उसमें घी छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्र को प्रथम पात्र माना जाता है। अन्य दो महावीर पात्रों को वस्त्र से ढककर सोम वाले स्थान से उत्तर दिशा में बड़ी आसन्दी[2] पर रख दिया जाता है। प्रमुख पात्र के उबलते हुए घी में गाय तथा बकरे वाली बकरी का दूध मिलाकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार से मिश्रित गर्म दूध को 'घर्म' कहा जाता है जो अश्विनौ, वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति एवं यम को आहुति रूप में दिया जाता है। यजमान (पुरोहित लोग केवल गन्ध लेते हैं) शेष दूध को उपयमनी से पी जाता है। यह सब करते समय 'होता' मंत्रों का पाठ करता है और प्रस्तोता साम-गान करता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कृत्य को 'प्रवर्ग्य' कहते हैं।"[3]

कात्यायन, शतपथ, आपस्तंब, बौधायन आदि धर्मग्रन्थों में यज्ञ के लिए 'महावेदी' बनाने का जो विधान है, अद्भुत है। कैसे कितनी-कितनी दूरी पर कितनी खूंटियां गाड़नी चाहिए और कैसे रस्सी बांधनी चाहिए, वह सब नपा-तुला है। एक क्रिया 'सवनीय पशु की आहुति' देकर इस संदर्भ को समाप्त करेंगे।

---

१. विवेकानंद साहित्य, खंड ६, पृष्ठ ३२६।

२. आसन्दी तकियेदार आराम कुर्सी को कहते हैं। यहाँ अभिप्राय आसन होना चाहिए।

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५४८।

"सवनीय पशु की आहुति—अग्निष्टोम में सोमरस निकालने के दिन अग्नि के लिए बकरे की बलि दी जाती है। उक्थ्य यज्ञ में इंद्र एवं अग्नि के लिए एक बकरे की बलि होती है। षोडसी यज्ञ में एक तीसरा पशु (कात्या० ९/८/४ के मत से मेष तथा आपस्तंब १२/१८/१३ के मत से बकरा) काटा जाता है। अतिरात्रि में सरस्वती के लिए बकरा काटा जाता है। इन चार पशुओं को 'स्तोमायन' (कात्यायन ८/७/९) एवं ऋतु पशु (आश्वलायन ५/३/४) कहा जाता है। इन पशुओं की बलि निरूढ़ पशुबन्ध के समान ही की जाती है। सभी पुरोहित एवं यजमान सदो में प्रवेश करते हैं और औदुंबरीस्तंभ के पूर्व एवं अपने कतिपय आसनों (धिष्ण्याओं) के पश्चिम भाग में बैठ जाते हैं। वे सभी अपने-अपने सोमरस पात्रों एवं तीनों द्रोणियों, अर्थात अधवनीय, पूतभृत एवं द्रोण कलश तथा घृत पात्रों की ओर मन्त्रों के साथ दृष्टि फेरते हैं। यजमान मन्त्रों (आपस्तंब १२/१९/५) के साथ इन सभी पात्रों का सम्मान करता है। इसके उपरांत प्रतिप्रस्थाता पांचों सवनीय आहुतियां—यथा इंद्र के लिए ग्यारह कपालों पर बनी रोटी, इंद्र के दोनों हरि नामक घोड़ों के लिए धाना (भुना हुआ जौ), पूषा के लिए करंभ (दही से मिश्रित जौ का सत्तू), सरस्वती के लिए दही एवं मित्र तथा वरुण के लिए पयस्या लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियों को सजाकर एक पात्र में रखता है। इन आहुतियों को देने के उपरांत सोमाहुतियां द्विदेवत्व ग्रहों को अर्थात इंद्र एवं वायु, मित्र एवं वरुण तथा दोनों अश्विनों को (दो-दो देवों के साथ-साथ) दी जाती है। इसके उपरांत चमसोन्नयन कृत्य होता है।"[१] इन स्मृति-विचारों का ही परिणाम है जो दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में तीन सौ पशु कटवाये जाते हैं तथा श्रीराम द्वारा चित्रकूट में गृहशांति के नाम पर मृग मरवाकर उसका हवन कराया जाता है।[२]

ग्रह-बाधा, प्रेत-बाधा, शकुन-अपशकुन आदि बहुत सारे भ्रम खड़ाकर उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का प्रपंच खड़ा किया गया, उसमें मनुष्य को उलझा दिया गया है।[३] कहा गया बच्चे पैदा करो, तभी श्राद्धकर्म एवं पिंडोदकक्रिया चलेगी और पितरों का स्वर्गवास होगा, अन्यथा वे नरक में जायेंगे। इन सबके पीछे हैं पुरोहितों के लिए दक्षिणा की बातें। पुरोहितों के अज्ञान, भ्रम एवं प्रलोभन ने ऊलजलूल कर्मकांडों का इतना विस्तार करवाया कि उनमें पूरा हिन्दू समाज डूब गया।

अद्‌भुत, उत्पात और निमित्त—तीन प्रकार के अनिष्ट माने गये हैं। इसे हम सरल ढंग से कह सकते हैं कि भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि प्राकृतिक उथल-पुथल अद्‌भुत है, गिद्ध, कपोत, कौआ आदि का घर में घुस जाना, पशुओं-पक्षियों का विचित्र आवाज करना, छिपकली का शरीर पर गिर जाना तथा अन्य माने गये अपशकुन आदि उत्पात है और पुरुष के बायें तथा नारी के दायें अंगों का फड़कना आदि निमित्त है। इन सब में

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५५२।

२. वाल्मीकीय रामायण बालकांड, सर्ग १४ तथा अयोध्याकांड सर्ग ५६ श्लोक २२-३०।

३. देखिये विप्रमतीसी प्रकरण की व्याख्या में डेढ़ दर्जन तक शांति कराने का घनचक्कर।

भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि अवश्य अनिष्ट हैं, परन्तु पशु-पक्षी की बोली तथा उनका घर में घुसने एवं अंग फड़कने आदि में अनिष्ट मानना अज्ञान है। अंग फड़कने का कारण वायु है। उससे न हानि है न लाभ। भूचाल, बाढ़, अनावृष्टि आदि अनिष्टकर अवश्य हैं, परन्तु पूजा करने से उन अनिष्टों का हटना असंभव है।

भावी कल्पित अनिष्ट-निवारण आदि के चक्कर में पड़कर आज के युग में भी जज, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर, मन्त्री आदि कहलाने वाले लोग भी उसकी शांति के लिए पुरोहितों से हवन-तर्पण पूजा-पाठ कराने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

"आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा।।" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्यों ने इन बन्धनों की रस्सी अपने हाथों से बटी है और अपने गले में फांसी लगा ली है। पुरोहित-पंडितों ने केवल दूसरों को ठगने के लिए ही कर्मकांड का जाल नहीं फैलाया है, किन्तु वे स्वयं अज्ञान एवं भ्रम में रहे हैं। इसके परिणाम में उन्होंने स्वयं उसमें उलझकर अपना आध्यात्मिक अहित किया है। परिवार, समाज, राष्ट्र तथा प्राणिमात्र के हित के लिए अपना कर्तव्यपालन रूप कर्म तो मानव मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु कर्मकांड के नाम पर चलाये गये प्रपंच मानव के कल्याण के रास्ते में अत्यन्त अवरोधक हैं। कर्मकांड ने मनुष्यों के मन को अत्यन्त कमजोर बना दिया है। इससे मनुष्य कापुरुष बनकर भयभीत बना जगह-जगह सिर पटकता है। कल्पित अनिष्टों से बचने के लिए तथा सांसारिक सुखों एवं काल्पनिक स्वर्गीय सुखों के लिए जीव दीन-हीन बना कर्मकांड की रस्सी में बंधा घसिटता जा रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मोह झूठा है। यह काल का फंदा है जिसमें तुम लटके हो। लोगों को यह मोह है कि वेद-शास्त्र ईश्वरकृत या आप्तकृत हैं, इसलिए उनके वचनों को बिना सोचे-विचारे मान लेना चाहिए। साहेब कहते हैं कि यह मिथ्या मोह है, यह गले की फांसी है।

"बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई।।" मनुष्य ने बांधते-बांधते अपने आपको बहुत बांध लिया है। मान लो, कोई आदमी अपने शरीर में एक रस्सी रोज बांध लिया करे, तो उसका शरीर साल भर में ३६५ रस्सियों से बंध जायेगा; और यदि वह ८० वर्ष जीता है, तो २९,२०० रस्सियों से बन्ध जायेगा। मनुष्य की दशा यही है। वह संसार में आकर जब से होश सम्हालता है नित्य नये-नये बन्धनों में अपने आपको बांधता जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि अपने आपको बांधते जाने में तो सरलता है, परन्तु उन बन्धनों को तोड़ने में कठिनाई होती है। विवाह कर बाल-बच्चे पैदा कर लेना सरल है, परन्तु इन बन्धनों को तोड़ना मामूली बात नहीं है। खैर, यह तो बड़ा बन्धन है, पान-तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट, गांजा-भांग आदि साधारण वस्तुओं की आदत डाल लेने में देरी नहीं लगती, परन्तु इनकी पड़ी भई आदतों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में पक्का निश्चय एवं बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

सद्‌गुरु कहते हैं "विषय स्वरूप भूलि दुनियाई" संसारी लोग विषयों के जाल में पड़कर अपने चेतन-स्वरूप को भूल गये। 'मैं कौन हूं' और इन विषयों तथा कर्मकांडों से मेरा क्या प्रयोजन है, इसका मनुष्य को ध्यान ही नहीं रहा। मनुष्य ने देह तथा विषयों को ही अपना स्वरूप मान लिया जबकि उसका अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है जो पूर्णकाम, पूर्ण सन्तुष्ट एवं अजर-अमर है। ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप का बोध न होने से जीव नाना कर्मकांडों एवं विषयों में भटक रहा है।

"हमरे देखत सकल जग लूटा।" सद्‌गुरु कहते हैं कि मेरी दृष्टि में, मेरी समझ में संसार के सारे लोगों के बोध एवं शांति-धन लुट गये हैं। जो अपनी सत्ता और महत्ता को न समझ सके, जो पदे-पदे भयभीत होकर घुटने टेकता फिरे, जिसे अपने आप का बोध न हुआ हो और जो अपने आप में तृप्त न हो, वह निश्चित है कि लुट गया है। किसी कल्पित देवता एवं ईश्वर की गुलामी भी तो गुलामी ही है। मनुष्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उसे दूसरे की आवश्यकता का बोध होता है। पूर्ण तृप्त होने पर, "छाँड़ सकल की आस" की दशा आने पर ही "सब सुख तेरे पास"[१] हो सकता है।

"दास कबीर राम कहि छूटा" उपासकों पर व्यंग्य है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो ईश्वर के दास हैं वे राम का नाम लेकर माया के बन्धनों से छूट जाना चाहते हैं। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥" राम-राम रटते-रटते जीभ में छाले भले ही पड़ जायं, परन्तु इससे न तो स्वरूपज्ञान मिलेगा और न स्वरूपस्थिति होगी। जो सामने पात्र में रखे स्वच्छ एवं शीतल जल को छोड़, कुआं खोदकर पीना चाहता है, वह कितना भोला है! राम तो अपना चेतन-स्वरूप ही है, उसको जबान से रटने की क्या जरूरत है! मन के विकारों को विचारों से हटाओ और अपने राम-स्वरूप में शांत हो जाओ। अथवा अपने राम-स्वरूप में शांत होओ, मनोविकार अपने आप समाप्त हो जायेंगे।

बीजक भर में 'दास कबीर' जहां कहीं आया है प्रायः खंडनपरक है। इसमें अपवाद कहीं-कहीं हो सकता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर साहेब ने अपने शारीरिक नाम का प्रयोग मनुष्यों के सम्बोधन में एवं उन्हें समझाने में किया है। केवल एक ८६वां शब्द लिया जा सकता है, जिसमें पांच बार सद्‌गुरु ने 'कबीरा' शब्द कहकर सामान्य जीवों को सम्बोधित किया है और छठवीं बार में 'कहहिं कबीर' अपने आपको वक्ता के रूप में रखा है।

मोक्ष विचार

रमैनी–३४

पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहो समुझाई॥ १ ॥
कहाँ बसै पुरुष कौन सा गाऊँ। सो पण्डित मोहि सुनावहु नाऊँ॥ २ ॥
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना॥ ३ ॥

१. बीजक, साखी २९८।

दान-पुण्य उन बहुत बखाना। अपने मरण की खबरि न जाना॥ ४ ॥
एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥ ५ ॥

साखी—चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुरुष = ईश्वर या ब्रह्म। गाऊँ = लोक, धाम। ठाना = मन में निश्चय किया, स्थापित किया। चिउँटी = चींटी, वाणी। राई = राई का दाना, बुद्धि। गम = पता, पहुंच। दास कबीरा = उपासक।

भावार्थ—हे पण्डितो! तुम शास्त्रों को पढ़-पढ़कर अपनी बड़ी बुद्धिमानी दिखाते हो और दूसरों के सामने मुक्ति की रोचक व्याख्या करते हो, परन्तु यह तो किताबी और बौद्धिक बात हुई, तुम मुझे यह समझाओ कि तुम्हारा अपनी मुक्ति का क्या अनुभव है।।१।। जिस ईश्वर या ब्रह्म से मिलकर तुम मुक्ति मानते हो, वह पुरुष कहां निवास करता है, उसका लोक या धाम कहां है, हे पण्डित! इसका परिचय दो।।२।। ब्रह्मा ने चारों वेदों को संसार में विशेषरूप से स्थापित किया, परन्तु मुक्ति का रहस्य उन्होंने भी नहीं जाना।।३।। उन्होंने दान-पुण्य करने की बात बहुत कही, परन्तु अपनी मृत्यु क्या है इसका पता उन्हें न लगा।।४।। ॐ इत्यादि किसी एक नाम को अगम और गंभीर मानकर उसमें उपासक लोग स्थिर होते हैं।।५।।

जहां चींटी नहीं चढ़ सकती और राई का दाना नहीं ठहर सकता, अर्थात जहां वाणी और बुद्धि का प्रवेश नहीं होता और आने-जाने की पहुंच नहीं है, वहां सारा संसार जाना चाहता है।।३४।। यह लोकांतर में मुक्ति मानने वालों पर व्यंग्य-कथन है।

व्याख्या—पण्डित शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों के ज्ञाता होते हैं। शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ बहुत हैं। वे उनके अध्ययन के आधार पर जनता में मुक्ति के विषय में व्याख्यान देते रहते हैं। यहां पण्डित का अभिप्राय कर्मकांडी एवं कथावार्ता करने वाले पुरोहित-पण्डितों से है। पंडित शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में लगे रहते हैं। वे प्रायः साधना पर ध्यान नहीं देते। वे शास्त्रों का उदाहरण देकर जनता को मोक्ष-विषय समझाते हैं, परन्तु स्वयं मोक्ष-अनुभव से शून्य होते हैं। पंडित जानता कुछ अन्य है, मानता कुछ अन्य है तथा करता कुछ दूसरा ही है। पंडित विद्या-बुद्धि एवं शास्त्रों के अध्ययन के बल पर मोक्ष का वर्णन करता है। सद्गुरु कहते हैं कि शास्त्रों के बल पर बताया गया मोक्ष तो बुद्धिविलास तथा वाक्यचातुरी मात्र है। हे पंडित! तुम अपना अनुभव बताओ। तुम्हें मोक्ष का अपना अनुभव क्या है? दूसरों की गायें गिनने वाला, दूध चखने का अनुभव क्या कर सकता है! बातों या चित्रों के दीपक से प्रकाश कैसे होगा! अतएव शास्त्रों के बल पर मुक्ति का व्याख्यान पर्याप्त नहीं है, किन्तु विषयों को त्यागकर और वासना-हीन होकर स्वयं मुक्ति का अनुभव करना चाहिए।

पंडित लोग धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों एवं पुराणों के आधार पर श्रोताओं को यह बताते हैं कि अंतरिक्ष में भगवान के विविध लोक एवं धाम हैं। भगवान की उपासना करते-करते शरीर छोड़ने पर उपासना के अनुसार जीव उन लोकों में जाता है, जैसे शिव-उपासक

शिवलोक में, राम-उपासक साकेत-धाम में, कृष्ण-उपासक गोलोक में आदि। इस प्रकार भगवान के धाम में पहुंचकर उपासक मोक्ष का अनुभव करता है।

पंडितों-द्वारा कही गयीं उक्त सारी कहानियां मनोरंजन मात्र एवं उनकी बाललीला है। इन कथनों को आड़े हाथों लेते हुए सद्गुरु उनसे पूछते हैं कि हे पंडित! बताओ, वह भगवान एवं ब्रह्म-पुरुष कहां निवास करता है? उसका गांव कहां है? यदि वह किसी गांव में, लोक एवं धाम में निवास करने वाला है, तो वह देहधारी व्यक्ति है। व्यक्ति होने से उसने जन्म लिया होगा और आखिर में वह मरेगा भी। फिर ऐसे ईश्वर से तुम्हें पूर्णता कैसे मिलेगी! किसी देश और काल में जाकर तथा किसी दूसरे ईश्वर-ब्रह्म से मिलकर मोक्ष मानने की बात, मोक्षतत्त्व से पूर्ण अनभिज्ञता का फल है।

"चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना।।" ब्रह्मा ने समाज में चारों वेदों की स्थापना की और उसका खूब प्रचार किया; परन्तु मुक्ति का रहस्य वे भी नहीं जान सके। वेदों को रचने वाला एक व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है। वेदों की हर ऋचा पर देवता, ऋषि और छन्दों के नाम हैं। अर्थात किस देवता की प्रार्थना में किस ऋषि ने, किन छन्दों की रचना की है, इसका विवरण है। पुलस्त्य, कक्षीवान्, भरद्वाज, वामदेव, अगस्त्य, कण्व, विश्वामित्र, अंगिरस, वसिष्ठ, पराशर, अत्रि, सदापृण, स्वस्ति, श्यावाश्य, ऋजिश्वा, नारद, प्रियमेध, कवष, बन्धु, सप्ति, सुमित्र आदि बहुत ऋषि हैं जिन्होंने वेदों की ऋचाओं को रचा है। ये सैकड़ों या कहना चाहिए हजारों वर्षों के क्रम में पीढ़ी-दर-पीढ़ी के पिता, पितामह, परपितामह एवं पुत्र, पौत्र, परपौत्रों द्वारा प्रणीत हुई हैं। गुरुओं ने या पिताओं ने रचकर शिष्यों एवं पुत्रों को सुनाया। लोग कंठस्थ करते और गाते रहे। जब उनकी परंपरा में लिखने का ज्ञान हुआ, तब चाम, कपड़े, काष्ठ, वृक्ष के छाल आदि पर लिखने लगे और वे समय-समय से वनवासी झोपड़ियों में आग लगने पर उनकी भेंट चढ़ती रहीं। बचे-खुचे अंश कभी ऋषियों-पंडितों की सभा में संपादित हुए, और वेद नाम से प्रचलित हुए। पहले ऋक्, यजु, साम तीन ही वेद स्वीकृत हुए, पीछे अथर्व भी वेद मान लिया गया। कहा जाता है ब्रह्मा चारों वेदों के प्रचारक तथा वेदव्यास उसके अंतिम संपादक हुए।

सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेदों को ब्रह्मा ने 'निज ठाना' अर्थात उन्होंने वेदों में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट कर उनका प्रचार किया। चारों वेदों का प्रचारक होने से रूपक में उनके चार हाथ बना दिये गये और चारों हाथों में चारों वेद पकड़ा दिये गये। और चार मुख बना दिये गये जिससे वे उनसे उनकी व्याख्या कर सकें। जैसे दुर्गा नाम की कोई वीर महिला पहले रही हो और वह तलवार, धनुष-बाण, भाला, परशा, पाश आदि कई अस्त्र-शस्त्रों से लड़ना जानती रही हो तो रूपक में उसके चित्र में बहुत हाथ बनाकर उन सारे अस्त्र-शस्त्रों को एक ही बार में पकड़ा दिया गया।

कबीर साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा वेदों के प्रचारक भले हुए हों, किन्तु मोक्ष का रहस्य उन्हें भी ज्ञात नहीं था। इस कथन की परख आप वेदों को पढ़कर ही कर सकते हैं। वेदों में कर्मकांडों का जाल बुना हुआ है। अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनको खुश करने के लिए अधिकतम ऋचाएं एवं सूक्त बने हैं। वेदों के ऋषि बारम्बार

उन कल्पित देवताओं से पुत्र, धन, निरोग्यता, अनिष्टों एवं शत्रुओं से रक्षा, दीर्घायु आदि मांगते हैं। वे मिथ्या अवधारणाओं से संबलित क्रियाबाहुल्य यज्ञ करते हैं, छककर सोमरस पीते हैं और यज्ञ में अर्पित बलि का प्रसाद खाते हैं तथा गाते-बजाते और मस्त रहते हैं। वैदिक ऋषि इस लोक में छककर भोग भोगना चाहते हैं तथा मर जाने के बाद स्वर्ग में भी वही सब चाहते हैं। फिर इन वेदों का प्रचारक ब्रह्मा मुक्ति के रहस्य को क्या जान सकता है। वैदिक ऋषि और ब्रह्मा कल्पित देवताओं की उपासना तथा कर्मकांडों में ही लीन हैं। इसलिए वे प्रायः मोक्षतत्त्व से दूर हैं। ब्रह्मा कर्मकांड के ही प्रचारक थे, इसलिए उन्होंने दान-पुण्य करने की ही बात बहुत की। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है कि चारों वेद तथा छहों वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं और जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।[१]

"अपने मरण की खबरि न जाना।" यह बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। अपने अविनाशी स्वरूप का बोध न होना और विषयों में ही उलझे रहना यही अपनी आध्यात्मिक मौत है। कर्मकांडी लोग विषय-लोलुप होते हैं। उनकी सदैव देहबुद्धि बनी रहती है। उन्हें अपनी आध्यात्मिक मौत का बोध नहीं होता।

"एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा।।" कर्मकांडियों ने ॐ को ही एक अगम गंभीर नाम माना है। प्रसंग वही होने से यहां ॐ ही लिया जाना ज्यादा ठीक लगता है। वैसे भिन्न-भिन्न उपासक अपने मतों द्वारा कल्पित नामों को ही सर्वोपरि एवं अगम गंभीर मानते हैं। हर उपासक अपने कल्पित नाम में दृढ़ रहने, उसे जपने आदि में कल्याण मानता है। नाम में स्थिर होने का अर्थ है किसी नाम विशेष में मन लगाना। सारे नाम तो शब्द हैं। परन्तु 'शब्द बड़ा की जीव'[२] सारे शब्दों एवं नामों की रचना करने वाला जीव ही श्रेष्ठ है। हां, यह बात दूसरी है कि अपने चंचल मन को थोड़ा संयत करने के लिए किसी निर्धारित नाम को कुछ समय जपना लाभदायक हो सकता है। परन्तु कोई भी नाम या शब्द जीव की स्थिति का निधान नहीं हो सकता। जीव की स्थिति का निधान जीव ही है। जीव की स्वरूपस्थिति ही उसकी वास्तविकता है। 'जीव पाव निज सहज स्वरूपा" यह गोस्वामी जी का वचन परम आदरणीय है।

इस रमैनी की प्रथम चार चौपाइयां कर्मकांडी पंडितों से संबंध रखती हैं तथा पांचवीं चौपाई नाम-उपासकों पर व्यंग्य में कही गयी लगती है।

"चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय। आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय।।" चींटी प्रायः कहीं भी चढ़ जाती है और राई का दाना पतले आधारबिन्दु पर भी ठहर जाता है। परन्तु जहां चींटी भी न चढ़ सके और राई का दाना भी न टिक सके, वह बड़ा सूक्ष्म पदार्थ होता है। चींटी वाणी का प्रतीक है तथा राई का दाना बुद्धि का। मोक्ष न वाणी का विषय है और न बुद्धि का। पंडित लोग वाणी और बुद्धि के ही जोर से मोक्ष की व्याख्या करना चाहते हैं, यह उनका कितना भोलापन है! मोक्ष में आवागमन

---

१. मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक १, मन्त्र ४-५।
२. बीजक, साखी २२।

की भी गम नहीं है। अर्थात वहां आने और जाने का पहुंच मार्ग नहीं है। आश्चर्य है 'तहाँ सकलो जग जाय।' वहां सारा संसार जाना चाहता है।

पंडित जन बताते हैं कि जीव मुक्त होकर अमुक लोक में जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यह आना-जाना सांसारिक कार्य है। मोक्ष में आना-जाना नहीं होता। इस प्रकार सद्गुरु बताते हैं कि मोक्ष केवल वाणी और बुद्धि के जोर से व्याख्या करने की वस्तु नहीं है। वह रहनी-गहनी की बात है। वाणी और बुद्धि से हम रसगुल्ला का केवल वर्णन कर सकते हैं। इससे न हमारी जीभ में मिठास लगेगी और न सुनने वाले की जीभ में। किसी को भी रसगुल्ला की मिठास तभी अनुभव में आयेगी, जब वह उसे खायेगा। इसी प्रकार वाणी और बुद्धि के जोर से हम केवल मुक्ति की महिमा का कथन और श्रवण कर सकते हैं। उसका अनुभव तब होगा जब सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आप में स्थिति होगी।

मुक्ति का न तो कोई गांव है और न ठांव है और न वहां कोई ईश्वर-ब्रह्म बैठा है जो मुक्त जीवों की व्यवस्था देखता है। मन की सारी वासनाओं का छूट जाना ही मोक्ष है। जो सब तरफ से अनासक्त है, वही मुक्त है। मुक्ति मरने के बाद नहीं, जीवन में ही होती है। जो जीते-जीते मुक्त है, वही मरने पर भी मुक्त है। जीव अविनाशी है। वह वासना-वश भटकता है। वासनाओं के छूट जाने पर जब आज वह अपने स्वरूप में स्थित हो गया, तो शरीर छूट जाने पर भी अपने स्वरूप में स्थित रह जायेगा।

विद्याभिमान तथा वर्णाभिमान का निराकरण

रमैनी–३५

पण्डित भूले पढ़ि-गुनि वेदा। आप अपन पौ जानु न भेदा॥ १ ॥
संझा तर्पण औ षट कर्मा। ई बहु रूप करे अस धर्मा॥ २ ॥
गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥ ३ ॥
और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा॥ ४ ॥
ई गुण गर्व करो अधिकाई। अधिके गर्व न होय भलाई॥ ५ ॥
जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी॥ ६ ॥
साखी—कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान।
अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—आप = स्वयं। अपन पौ = स्वरूप-भाव। संझा = संध्योपासना। तर्पण = तृप्त करने की क्रिया; देवताओं, ऋषियों और पितरों को तिल या चावल मिश्रित जल देने की क्रिया। षटकर्मा = छह कर्म—विद्या पढ़ना तथा पढ़ाना, दान देना तथा लेना और यज्ञ करना तथा कराना। इसके अतिरिक्त स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम—नित्य छह कर्म हैं। ई = ब्राह्मण। बहुरूप = अनेक प्रकार के। छिये = छूने से। छींचा = जल छिड़कना। सहारी = सह सकना। निर्बान = निर्वाण, बुझा हुआ, वासनाओं का बुझ जाना, मोक्ष। अंकुर-बीज = अहंकार-वासना।

भावार्थ—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उन्हीं के मद में भूल गये और अपने आत्मस्वरूप के रहस्य को न समझ सके ॥१॥ वे संध्या, तर्पण और छह कर्म करते हैं और बहुत प्रकार-से क्रिया-कांड को धर्मरूप मानकर करते हैं ॥२॥ कहते हैं गायत्री-जप से ही कल्याण है और इस पर अधिकार केवल द्विजों का है, स्त्री तथा शूद्र गायत्री नहीं जप सकते। पंडित लोग द्विज नामधारियों को चारों युगों से गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु जाकर द्विजों से पूछो कि केवल गायत्री जपने से किसने मुक्ति पायी है? ॥३॥ हे पंडितो एवं द्विज नामधारियो! जब कोई तुम्हें शूद्र नामधारी छू लेता है तब तुम अपने ऊपर पानी के छींटे मारकर पवित्र होने के लिए मन्त्र पढ़ते हो "ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः"। परन्तु मैं पूछता हूं कि कहो भला, तुमसे नीच कौन है? ॥४॥ हे द्विजो! अपने विद्या, वर्ण एवं जाति का अहंकार ज्यादा न करो। अधिक मद करने से किसी की भलाई नहीं होती है ॥५॥ जिसका नाम ही गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा? वस्तुतः संसार में एक स्वतः कारण-कार्य-व्यवस्था है। जिसके अनुसार हर जीव को अपने कर्म-फल मिलते हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता ॥६॥

पहले के महापुरुषों ने कुल-वर्ण की मर्यादा और उनके अहंकार का त्यागकर मोक्ष-पद की खोज की थी, वे नर-रत्न जाति-वर्ण एवं विद्यादि के अहंकार और वासनाओं को ध्वंसकर विदेह-स्थल एवं मोक्ष को प्राप्त किये थे ॥३५॥

व्याख्या—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उसी के अहंकार में फूले-फूले घूमते हैं। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि शास्त्र-अध्ययन बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अपने आपको ठीक से समझना और अपने आपका उद्धार करना। यदि वे 'आप अपनपौ का भेद नहीं जानते' तो वेद-शास्त्रों को पढ़ने का मतलब क्या हुआ? "आप अपन पौ जानु न भेदा" बड़ा महत्वपूर्ण वाक्य है। अपन पौ-अपनापन-अपने स्वरूप का महत्व—मैं कौन हूं—यदि यह न जाना गया, तो बहुत विद्या पढ़ी, वेद-शास्त्र सब पढ़ डाले, तो क्या पढ़ा?

जैसे पहले भी कहा गया है कि ज्ञाता तीन प्रकार के होते हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। वेदों के छंदों के सारे भेद जानकर जो उनको कंठ कर लेता है वह छंदोविद् है, छंदों का ज्ञाता है; जो व्यक्ति छंदों का अर्थ समझता है, वह वेदविद् है, और जो जानने योग्य को जानता है वह 'वेद्यविद्' है। 'वेदविद्' श्रेष्ठ नहीं है किन्तु 'वेद्यविद्' श्रेष्ठ है। जो जीवन में जानने योग्य को जानता है, वही श्रेष्ठ है। सर्वोच्च जानने योग्य विषय है 'अपने आप का भेद'।

मैं शुद्ध चेतन हूं। मैं न किसी का अंश हूं न अंशी, न कारण हूं न कार्य। मैं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड शुद्ध चेतन, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं स्वरूपतः तृप्त हूं। इस प्रकार अपने आप के भेद को समझकर सारी वासनाओं का त्याग करना ही वास्तविक विद्वता है।

यह तो शुद्ध आध्यात्मिक ढंग से अपने आप का भेद जानना हुआ। हमें व्यावहारिक ढंग से भी अपने आप का भेद जानना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि हमारे स्वभाव में कितनी त्रुटियां हैं। मन में कितने विकार हैं। गत वर्ष से आज तक हमारे मन के

विकार बढ़े हैं कि घटे हैं। यदि बढ़े हैं तो ग्लानि कर उन्हें निकालने का प्रयत्न करना और यदि घट गये हैं, तो अवशेष विकारों को भी निकाल देने का प्रयास करना चाहिए।

आत्म-शोध एवं आत्म-उद्धार ही सच्ची विद्या है। प्राचीन नीतिकार अप्पयदीक्षित ने कहा है—"नीति शास्त्र के विद्वान, ज्योतिषी, चतुर्वेदी, शास्त्री और ब्रह्मज्ञानी बहुत मिलते हैं; परन्तु ऐसा विरला मिलता है जो अपने अज्ञान को जानता हो।"[१] युधिष्ठिर भी कहते हैं "पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्रों के चिंतन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं, जो आचरण-सम्पन्न है, वह पंडित है।"[२] गीता भी कहती है "सभी वेदों का सार है अपने आप को जानना।"[३]

पंडित लोग संध्या, तर्पण, षटकर्म तथा यज्ञ-यागादि बहुत-से धर्मकृत्य करते रहते हैं और गायत्री जपते रहते हैं। उनको यह अहंकार है कि इन सबका विशेषाधिकार हमें ही मिला है, शूद्र और स्त्री तो इन सब के निकट भी नहीं जा सकते। विशेषतः गायत्री मन्त्र तो शूद्र और स्त्री को जपने का सर्वथा अधिकार ही नहीं है। तरस आता है पंडितों की बुद्धि पर जो यह घोषणा करते फिरते हैं कि वेद तथा गायत्री में स्त्री तथा शूद्रों का अधिकार नहीं है। स्त्री और शूद्र भी मनुष्य हैं। जब द्विज लोग वेद तथा गायत्री से लाभान्वित हो सकते हैं, तब स्त्री और शूद्र क्यों नहीं हो सकते!

पंडित लोग कहते हैं गायत्री ही मुक्तिदायिनी है और उस पर अधिकार द्विजों का ही है, स्त्री और शूद्र का नहीं, अतएव वे मुक्ति से वंचित ही रहेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि पंडित लोग चारों युगों से द्विजों को गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु उनसे जाकर पूछो कि गायत्री-जप मात्र से किसने मुक्ति पायी है? यह एक धोखा है कि गायत्री जपो और मरने के बाद मुक्त हो जाओगे। मुक्ति तो जीवन की वस्तु है। "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै।"[४] जो व्यक्ति इस जीवन में मुक्त नहीं हुआ है, वह मरने पर क्या तरेगा?

"गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥" यह बड़ा मार्मिक वचन है। वेदों में अनेक प्रकार के छंद हैं—जैसे जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, वृहती आदि। उसी में एक प्रकार का छंद गायत्री है जो वेदों में हजारों की संख्या में हैं। जिस गायत्री छंद की उपासना पीछे बड़े जोरों से चली, उसका अभिप्राय इतना ही है "हम उस सविता (सूर्य) देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"[५] यह छंद विश्वामित्र का रचा है। इसमें प्रकाशस्वरूप सूर्य

---

१. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
   ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥

२. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
   सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ *(महाभारत)*

३. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो॥ *गीता १५/१५॥*

४. बीजक, शब्द १४।

५. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। *(ऋग्वेद ३/६२/१०)*

से बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने की बात कही गयी है। बात अच्छी है। परन्तु मुक्ति-प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप का ज्ञान चाहिए। विषय-बन्धनों का त्याग चाहिए। अन्य अनेक नाम तथा मन्त्र-जप, जैसे बच्चों को क्षणिक सन्तुष्ट करने के लिए चटुवा मुंह में दे दिया जाता है, वैसे हैं, मन के थोड़ा परिमार्जन के लिए हैं। मोक्ष तो गुरु-भक्ति, बोध एवं वैराग्य का फल है, जिसमें मानव मात्र का अधिकार है। गायत्री छंद की रचना मनुष्य जीव ने की है। गायत्री एक शब्द-समूह है जो कृत्रिम है। मानव उसका कर्ता है। गायत्री से मानव की आत्मा श्रेष्ठ है। मानव को चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने और अपने आप को विकारों से ऊपर उठाये।

"और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा।।" शूद्र तथा अवर्ण कहे जाने वाले लोग चाहे नहा-धोकर स्वच्छ वस्त्र पहनकर आयें और स्वच्छ हाथों से पंडितों को छू लें, तो कर्मकांडी पंडित अपने आप को अशुद्ध हुआ मान लेते हैं और शुद्ध होने के लिए अपने शरीर पर पानी छिड़कते हैं तथा मन्त्र पढ़ते हैं। सद्‌गुरु कबीर पंडितों से पूछते हैं कि तुमसे नीच कौन है? दूसरे का शरीर हाड़-मांस से बना है, तो तुम्हारा शरीर भी उन्हीं से बना है। दूसरे के शरीर में टट्टी-पेशाब भरी है, तो तुम्हारे शरीर में भी वही भरी है। जैसे दूसरों में सदाचारी-दुराचारी होते हैं, वैसे ब्राह्मण नामधारी में भी सदाचारी-दुराचारी होते हैं। दूसरे और तुम्हारे में क्या अन्तर है?

निश्चित ही छुआछूत का अपना महत्व है और उसका आधार है आचार। इससे कल्पित वर्ण और जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। भंगी, मुसलमान तथा क्रिश्चियन का बच्चा भी आचार-विचार से पवित्र है, तो वह भोजन पकाने का अधिकारी है और ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज का बच्चा हो, परन्तु आचारहीन है, तो वह रसोई घर में जाने का अधिकारी नहीं है। जिस समय जो व्यक्ति अपवित्र है, उस समय वह अछूत है, जो पवित्र है वह अछूत नहीं।

'हे पंडित! दूसरे के छूने से तुम छींटे मारकर पवित्र होने का उपक्रम करते हो, भला बताओ, तुमसे कौन नीच है?' यह कितना बड़ा व्यंग्य है, कितना दिल को छूने वाला है! इस वाक्य में कितनी मानवता भरी है! मानवता की महामूर्ति कबीर के हृदय ने कितना मर्माहत होकर यह पंक्ति कही होगी! जो इतनी भी बात नहीं समझ सके क्या उसे पंडित कहना चाहिए! मानव को अछूत कहना कितना नैतिक अपराध है! पंचगव्य के नाम पर गाय के दूध, दही तथा घी के साथ उसके मल और मूत्र को भी खा लेने में अपने आपको पवित्र होना मानना, और सर्वोच्च प्राणी मनुष्य के बच्चे को अछूत मानना बुद्धि का दिवाला निकल जाना है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि अपने विद्यादि गुणों का तथा कल्पित वर्णादि का अहंकार मत करो। अहंकार तो किसी चीज का ठीक नहीं है। अहंकार से किसी का भला नहीं हुआ है। अहंकार तो पतन का कारण है। हिन्दू-समाज के पतन में वर्ण-जाति का अहंकार मुख्य कारण रहा है, जिसके कारण शूद्र कहलाने वाले एक बड़े समाज को पशु के समान जीने के लिए विवश किया गया।

"जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी।।" जिसका नाम गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा! सामान्यतया लोग एक ऐसे व्यक्तिचेतन की कल्पना करते हैं जो सर्वशक्तिमान है और वही गर्वप्रहारी है। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। वस्तुतः संसार में एक स्वचालित कारण-कार्य-व्यवस्था है। उस व्यवस्था के अनुसार जो अहंकार करेगा, उसका पतन रखा-रखाया है। आज (१९८७ ई०) से साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व कबीर साहेब की कही हुई बात आज चरितार्थ हो रही है। आज सर्वाधिक पतन ब्राह्मण-समाज का है। अहंकार का परिणाम ही पतन है।

"कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान। अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान।।" सद्गुरु कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर निर्वाण-पद की खोज की थी। उन्होंने जाति, वर्ण एवं समस्त भौतिक वरीयता के अंकुर तथा बीज, अर्थात अहंकार एवं वासना को नष्ट कर मोक्ष-दशा की प्राप्ति की थी।

एक बच्चा था 'सत्यकाम'। उसने अपनी मां से पूछा—मेरा गोत्र क्या है? मैं किसी गुरु के पास पढ़ने जाऊंगा, वे गोत्र पूछेंगे, तो मैं क्या बताऊंगा? माता ने कहा—मुझे यह पता नहीं है कि तुम्हारा गोत्र क्या है; क्योंकि मैं अपनी जवानी में विचरती हुई बहुत-से पुरुषों की सेवा करती थी। अनेकों का संयोग हुआ था। उसी बीच में गर्भ रहा। तू पैदा हुआ। बस, इतना कह सकती हूं कि तू मेरा पुत्र है। मेरा नाम 'जबाला' है और तेरा नाम 'सत्यकाम'। गुरुजी से अपना नाम 'सत्यकाम जाबाल' बता देना। मेरा नाम ही तेरे गोत्र का आधार है।[१] सत्यकाम ने ऋषि गौतम के पास माता की कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों बता दीं। गौतम बहुत खुश हुए और उन्होंने कहा—"अ-ब्राह्मण इस तरह सत्य नहीं बोल सकता।" अर्थात जो सत्य बोलता है वह ब्राह्मण है। बेटा, तू ब्राह्मण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पचास ऐसे ऋषियों के नाम हैं जिनके पिता का पता नहीं है, केवल माता का पता है।[२] 'व्यास, कर्ण, शिवि, अष्टक, प्रतर्दन और वसुमान अपनी माताओं से कुंआरी अवस्था में पैदा हुए।'[३] पाणिनि ने कहा है कि पिता का पता न होने से पुत्र का गोत्र माता के नाम से होता है।[४] धीवरी तनय व्यास, भंगिनी पुत्र पराशर, वेश्यापुत्र वसिष्ठ, दासी पुत्र नारद, शूद्र पुत्र सूत अपने ज्ञान के नाते ही महान थे। महावीर, सिद्धार्थ, भर्तृहरि, गोपीचंद जाति-वर्ण के पक्ष को छोड़कर जन-जन के कल्याण के लिए निकल पड़े थे। राजरानी मीरा देवी ने चमार कहे जाने वाले कुल में पैदा हुए संत रैदास की शिष्यता स्वीकारी थी।

सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है 'कुल-वर्ण' के अभिमान को छोड़ देने से सब प्रकार से उद्धार होता है और उनका अहंकार रखने से सब प्रकार से अपना पतन होता है। 'राम' तो नि-कुल है। यह आत्मा, यह चेतन जीव किसी कुल का नहीं है। अतएव जिसने

---

१. छांदोग्य उपनिषद, ४/४/२।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण ६ तथा अध्याय ४, ब्राह्मण ६।

३. गणपति शंकर, मंथन, भाग १, पृष्ठ २३८।

४. पाणिनि ४/१/१४।

राम को पाया, अर्थात अपने आत्मतत्त्व का बोध ग्रहण किया, उसके सारे कुल-वर्ण के अहंकार नष्ट हो गये।[1]

महाभारत-वर्णित युधिष्ठिर के यज्ञ में पंडितों के भोजन करने से घंटा नहीं बजा, श्वपच भक्त के खाने से घंटा बजा—यह उपाख्यान यही दर्शाने के लिए लिखा गया है कि विद्याभिमान एवं वर्णाभिमान से कल्याण नहीं हो सकता। उसके लिए चाहिए विनम्र एवं शुद्ध हृदय।

पुराकाल के ऋषि-मुनि यदि वर्णाभिमानी होते तो सत्यकाम, व्यास, वसिष्ठ, पराशर, भरद्वाज, नारद, सूत, अगस्त्य, वाल्मीकि आदि को महिमावान एवं पूज्य न मानते, क्योंकि ये सब तथाकथित अ-ब्राह्मण कुल के ही नहीं, किन्तु इनमें कुछ अंत्यज कुल के भी थे। परम वैष्णव शठकोपाचार्य, तिरुभंगै आदि अंत्यज कुल के कहे जाने वाले लोग थे जो परम पूज्य थे। अतएव कबीर साहेब ठीक ही कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर ही निर्वाणपद की खोज की थी और उसके अंकुर-बीज को भी नष्ट कर दिये थे। यह तो बीच के पुरोहित-वर्ग ने ऊंच-नीच की भावना के विष-बीज बोये हैं।

जीव ही राम तथा श्रेष्ठ है

रमैनी–३६

ज्ञानी चतुर बिचक्षण लोई। एक सयान सयान न होई॥ १ ॥
दूसर सयान को मर्म न जाना। उत्पति-परलय रैनि-बिहाना॥ २ ॥
बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥ ३ ॥
हरि अस ठाकुर तजियो न जाई। बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई॥ ४ ॥
साखी—ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।
राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—चतुर = बुद्धिमान। बिचक्षण = सूक्ष्मदर्शी। एक = अद्वैत ब्रह्म। सयान = श्रेष्ठ, सत्य। दूसर = ईश्वर। हरि = ईश्वर। ठाकुर = स्वामी। बालहि = बालकतुल्य, अबोधी। बिहिस्त = स्वर्ग। दुलहाई = दूल्हा (ईश्वर) से मिलने का गीत। घोंटि = सिर मूड़ देना, घोल कर पिला देना, गला घोंट देना, हत्या कर देना।

भावार्थ—हे ज्ञानियो, बुद्धिमानो तथा सूक्ष्मदर्शियो! यह कहना कि सत्ता केवल एक ही तत्त्व की है, सच्चाई नहीं है॥१॥ जड़-चेतन से पृथक जो दूसरे ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है कि उसी के द्वारा उत्पत्ति-प्रलय और रात-दिन होते हैं, यह ईश्वर के रहस्य को न समझना है॥२॥ जीव से अलग एक ईश्वर मानकर सभी मतवालों ने उससे मिलने के लिए अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार नाना प्रकार के नियम, धर्म और संयम का व्यापार बना रखा है॥३॥ ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि उसे अब त्यागा जाना कठिन हो गया।

---

१. कुल छोड़े कुल ऊबरे, कुल राखे कुल जाय।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय॥ साखीग्रन्थ॥

भक्त लोग अबोधी बालक बनकर और ईश्वर को एक दूल्हा के रूप में स्वर्ग में मानकर उससे मिलने के लिए गीत गाते हैं।।४।।

उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने निज स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित ईश्वर की चासनी घोंट कर पिलायी थी। अतएव हे कल्याणार्थियो! राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु—भिन्न ईश्वरादि की कल्पना छोड़ दो।।३६।।

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु मुख्य दो सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं—अद्वैत ब्रह्मवाद की और ईश्वरवाद की। इसको समझने के लिए वे ज्ञानियों, बुद्धिमानों तथा सूक्ष्मदर्शियों को निमंत्रित करते हैं। ऐसे लोग ही धैर्यपूर्वक ऐसे तत्त्वचिन्तन के विषय को समझ सकते हैं। जो भक्ति-भावना में विह्वल भावुक हैं, उन्हें इस विषय को समझना कठिन है।

सद्गुरु पहली बात उठाते हैं "एक सयान सयान न होई" अर्थात एक तत्त्व सत्य नहीं हो सकता। कुछ लोगों की धारणा है कि संसार में केवल एक ही तत्त्व की सत्ता है जो अखंड, अजर, अमर और सर्वत्र व्याप्त है। उसको ब्रह्म नाम दिया गया है। दूसरा नाम भी रखा जा सकता है। नाम चाहे जो रखा जाय, परन्तु यह बात सत्य नहीं हो सकती है। क्योंकि एक अखंड व्याप्त सत्ता में क्रिया, संचालन, स्फुर्ण, परिवर्तन, विकार, गति, निर्माण कुछ नहीं हो सकता। देखा जाता है कि प्रत्यक्ष संसार इन्हीं सबका समुच्चय है। गति एवं क्रिया ही संसार का स्वरूप है। क्रिया न होती तो संसार न होता।

प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है कि जड़ और चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़ में अनेक तत्त्व हैं और चेतन भी एक दूसरे से भिन्न और असंख्य हैं। देहधारी चेतन वासना-वश गतिशील हैं तथा अनेक जड़ तत्त्वों के सूक्ष्म कण निरन्तर गतिशील हैं। इनके बीच में अबाध गति से सृष्टि चल रही है। इन सारी बातों से आंखें मीचकर यह कहना कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है, अपने आप में हास्यास्पद है।

सर्वत्र एक ही अखंड तत्त्व के व्याप्त होने पर दूसरे की सत्ता ही नहीं हो सकती; और प्रत्यक्ष है कि सत्ता अनेक की है। गति, सृष्टि, जन्म-मरण, कहना-सुनना, बंध-मोक्ष एक ही तत्त्व में संभव नहीं है। हैकल जैसे भौतिकवादी जब कह देते हैं कि विश्व में सर्वगत एक ही तत्त्व की सत्ता है, तब ब्रह्मवादी बहुत खुश हो जाते हैं कि अब भौतिकवाद भी अद्वैत ब्रह्मवाद की तरफ आ रहा है। परन्तु यह ब्रह्मवादियों की भूल है। भौतिकवादियों का परिभाषित जो एक तत्त्व है, वह गतिशील अणुरूप एवं निरा जड़ है। भौतिकवादी कहते हैं कि सारे जड़ तत्त्व अन्त में सूक्ष्म अणुरूप एवं ऊर्जा रूप हैं। भौतिकवादी चेतन की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में कुछ निर्णय ही नहीं कर पाते हैं। अतएव भौतिकवादियों के तथाकथित एक तत्त्व के समर्थन में पड़ना अद्वैत ब्रह्मवादियों के लिए घाटे का सौदा होगा।

साधक जब संकल्पों को छोड़कर समाधि में पहुंच जाता है, तब वह अकेला रह जाता है। यह जीव का अकेलापन कैवल्य है, असंगत्व है और इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। यह विवेकसंमत है। सारे जड़-चेतन को एक अखंड तत्त्व बताना अद्वैतवाद की भावुकता है, अतएव असत्य है।

दूसरी बात है जो अनेक जड़ तत्त्व तथा असंख्य चेतन जीव अनुभूत सत्य हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा कर्ता-धर्ता मानना। सद्गुरु कहते हैं कि यह भी सत्य नहीं है। जड़ और चेतन दोनों अपने-अपने में मूल तत्त्व हैं; और "मूलेमूलाभावाद् मूलममूलम्[1]" अर्थात मूल का मूल न होने से मूल अ-मूल होता है। जड़ और चेतन दोनों मूल होने से उनका कोई रचयिता नहीं है। इस प्रकार जड़-चेतन मूल तथा अनादि हैं। उन्हें कोई रचता नहीं है और उनके गुण-धर्मों से सृष्टि चल रही है, फिर तीसरे ईश्वर की कल्पना क्यों की जाय कि उसी से उत्पत्ति-प्रलय तथा रात-दिन हो रहे हैं।

जहां तक आत्मकल्याण के लिए ईश्वर की कल्पना का प्रश्न है, वह हममें दुर्बलता ही उत्पन्न करेगा। हम ईश्वर की कल्पना खड़ी कर लेते हैं और हर भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए उसके सामने रोने-गिड़गिड़ाने की आदत बना लेते हैं और पुरुषार्थ में आलसी हो जाते हैं। वही सिद्धान्त मनुष्यों के लिए कल्याणकर है, जो उन्हें उनके अपने कदमों पर खड़ा करे, उन्हें स्वावलंबी बनाये। ईश्वरवाद हमें परावलंबी एवं परमुखापेक्षी बनाकर दुर्बल करता है।

नाना मत के गुरुओं ने अपना-अपना एक भगवान खड़ा कर तथा उसको खुशकर नाना लाभ पाने के लिए नियम, धर्म, संयम के नाम पर व्यापार चला रखा है। "बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥" इस पंक्ति में 'बनिज' शब्द ध्यान देने योग्य है। ईश्वर एक धार्मिक व्यापार का माध्यम बन गया है। ईश्वर के नाम पर चढ़ावा चढ़ता है। ईश्वर के नाम पर भोग लगता है। ईश्वर के नाम पर रास-रंग होता है तथा मन्दिरों में वेश्याएं नाचती हैं। ईश्वर के नाम पर मुसलमान ऊंट, गाय, बकरे, मुरगे काटते हैं। ईश्वर के नाम पर हिन्दू भैंसे, बकरे, मुरगे, सूअर आदि काटते हैं। ईश्वर के नाम पर एक मजहब वाले दूसरे मजहब वालों का गला काटते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़े-बड़े चंदे कर सांप्रदायिक भावना भड़काने का साधन जुटाते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़ी-बड़ी जागीरें खड़ी कर मुकदमें चलाते हैं। ईश्वर का नाम लेकर चोर सेंध मारते हैं तथा डाकू डाका डालते हैं। ईश्वर का नाम लेकर साहुकार बिस्तर पर जाता है कि ईश्वर उसे चोरों से बचाये। बड़े-बड़े पाप करके ईश्वर के नाम से उनसे छूटने के लिए प्रार्थना की जाती है। सारा दुराचार कर कह दिया जाता है कि हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह हमें जैसे नचाता है, हम वैसे नाचते हैं। अतः हमारे द्वारा जो कुछ हो रहा है ईश्वर ही करता है। ईश्वर का नाम लेकर तांत्रिक, फलित ज्योतिषी, सोखा-ओझा, पंडे-पुजारी आदि समाज का वंचन करते हैं। अन्य व्यापार फेल हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर के नाम पर चलाया गया व्यापार कभी फेल नहीं होता; क्योंकि वह भावना से जुड़ा है। मनुष्य की भावनाओं को दुर्बलता की तरफ मोड़कर उसका निरन्तर शोषण हो रहा है।

"हरि अस ठाकुर तजियो न जाई।" अर्थात हरि ऐसा ठाकुर हो गया एवं ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि मनुष्यों-द्वारा उसका त्यागा जाना कठिन हो गया। एक काल्पनिक बात को मन में प्रश्रय देते-देते सत्य-सी प्रतीत होने लगी। उसके विरोध में बातें करने

---

१. सांख्य दर्शन १/६७।

वाला नास्तिक कहा जाने लगा। मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धारणा आस्तिक बन बैठी तथा उसे स्वावलंबी तथा सबल बनाने वाला तथ्यपूर्ण सिद्धांत नास्तिक कहा जाने लगा।

"बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई" सद्गुरु कहते हैं कि लोग भक्ति के नाम पर बालक के समान भोला-भाला बन गये और कल्पना करने लगे कि ऊपर सातवें आकाश या तपक पर स्वर्ग, बैकुण्ठ एवं बिहिश्त हैं। वहां भगवान एवं ईश्वर रहता है। वही हमारा दूल्हा है। हम उसकी दुलहिन हैं। ईश्वरभक्त लोग दुलहिन बनकर उस काल्पनिक स्वर्गस्थ दूल्हा से मिलने के लिए गीत गाने लगे, प्रार्थना-वन्दना करने लगे। सबल चेतन पुरुष होते हुए अविद्यावश दुर्बल-दुलहिन बन गये। स्वस्वरूपबोध एवं आत्मबोध के मार्ग में यह भावना महाविघ्नकारक एवं कुसंस्कार बन गयी।

सद्गुरु ऐसे लोगों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं—"ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।" अर्थात उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई, जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने अपने स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित वस्तु की चासनी घोलकर पिलायी थी। अपने चेतन-स्वरूप से अलग ईश्वर मानकर उसकी वन्दना-प्रार्थना एक सात्विक भावना को जन्म देती है, एक क्षणिक आनन्द एवं सात्विक मनोरंजन हो जाता है, परन्तु पूर्ण सन्तोष, पूर्ण तृप्ति एवं जीव की स्वरूपस्थिति उसमें होना असंभव है। क्योंकि आत्म-भिन्न ईश्वर केवल कल्पना है, केवल मन की अवधारणा है।

इसलिए सद्गुरु अन्त में कहते हैं—"राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।।" अर्थात राम, भगवान, ईश्वर, ब्रह्म जितने चेतनपरक नाम लिये जाते हैं, उनकी चरितार्थता तुम्हारे में ही हो सकती है। सद्गुरु कहते हैं हे जीव! "राम नाम निजु जानि के" तू राम ऐसा नाम अपना ही समझ! तू ही राम है, तू ही भगवान है, तू ही ईश्वर और ब्रह्म है। तुमसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है! तू ने ही तो ईश्वर-ब्रह्म जैसे नाम रखे हैं। तू ही सारे ज्ञान-विज्ञान का निधान है। तू अपनी भूल से गीदड़ बना है, अन्यथा तू सिंह है। तू किसी की दुलहिन नहीं है, किन्तु तू ही सबका दूल्हा है। यदि राम, ईश्वर, ब्रह्म तुझसे अलग है तो वह सब तेरी कल्पना होने से उसका तू ही दूल्हा है। क्योंकि तू ने ही उसकी कल्पना की है। वस्तुतः तू ही राम है, भगवान है, ब्रह्म है। तू अपने श्रेष्ठत्व को समझ और अपने आप में तृप्त हो।

रमैनी–३७

एक सयान सयान न होई। दूसर सयान न जाने कोई।। १ ।।
तीसर सयान सयानहिं खाई। चौथे सयान तहाँ ले जाई।। २ ।।
पँचयें सयान जो जानेउ कोई। छठयें माँ सब गयल बिगोई।। ३ ।।
सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक बेद मों देउँ देखाई।। ४ ।।

साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय।। ३७ ।।

शब्दार्थ—एक सयान=अद्वैत ब्रह्म। दूसर सयान=ईश्वर। तीसर सयान=त्रिगुण। चौथे सयान=चतुष्टय अंतःकरण या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार। पँचयें

सयान = पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच विषय। छठयें = मन। सतयाँ = जीव। बीजक = सांकेतिक शब्दों में गुप्त धन का परिचय कराने वाला ताम्रपत्र आदि अभिलेख; खरीदार को दी जाने वाली माल की सूची; बीज का तत्त्व; यह ग्रन्थ।

भावार्थ—एक ही तत्त्व की सत्ता मानना सत्य नहीं है। इस प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतनात्मक जगत के ऊपर दूसरा कर्ता मानने की बात एक अनुमान है न कि उसे कोई जानता है॥१॥ तीसरा सयान सत, रज तथा तम तीन गुण हैं या त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच है। इनकी श्रेष्ठता मान कर इनमें आसक्त होने से मनुष्य का अपना सयानापन, अपनी समझदारी नष्ट हो जाती है। चौथा सयान चतुष्टय अंतःकरण है या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। इस अहंकार की श्रेष्ठता जीव को भ्रम में ही ले जाती है॥२॥ जो लोग पांच विषयों तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों के भोगों को ही श्रेष्ठ समझते हैं, वे और अधिक भोले हैं। छठें मन के चक्कर में पड़कर तो सब अपने आप को खो चुके हैं॥३॥ हे भाई, यदि तुम लोग सातवें जीव को श्रेष्ठ जानते-मानते हो, तो मैं उसे लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित कर दिखा दूंगा, अर्थात बोध करा दूंगा॥४॥

बीजक उस धन को बताता है जो कहीं जमीन आदि में गाड़कर गुप्त रूप से रखा हो। इसी प्रकार इस बीजक ग्रन्थ के शब्द जीवरूपी धन को बताते हैं जो शरीर में गुप्तरूप विद्यमान है; परन्तु इसे कोई विरला ही समझता है॥३७॥

व्याख्या—३६वीं रमैनी में आप पढ़ आये हैं कि एक तत्त्व संसार में नहीं है और जड़-चेतन के ऊपर दूसरा कर्ता मानना भी उपयुक्त नहीं है। इसे समझने के लिए पूरी ३६वीं रमैनी बड़ी मार्मिक है। इस प्रकार ३६वीं रमैनी के एक सयान तथा दूसर सयान के निराकरण को इस ३७वीं रमैनी में भी लेते हुए सद्गुरु ने पहले से छठां सयान तक निषेध में कहा है। आप एक से छठां तक का कुछ भी अर्थ लगायें, परन्तु इतना साफ है कि वे सब रहेंगे निषेध में ही।

वाणी तो ऐसी मोम की नाक होती है कि उसे चाहे जिस तरफ घुमा दो, वह घूम जाती है और जहां सांकेतिक वर्णन हो, वहां शब्दों के अर्थ घुमाने में काफी सरलता रहती है। परन्तु किसी शब्द का अर्थ करने में उसके कर्ता का लक्ष्य तथा वर्तमान प्रकरण देखना चाहिए। कबीर साहेब इस रमैनी में एक से छह तक के संकेतित विषय को सयान, श्रेष्ठ एवं सत्य नहीं मानते हैं; किन्तु सातवें को वे सत्य मानते हैं, जिसकी प्रामाणिकता के लिए वे लोक तथा वेद दोनों के प्रमाण देने के लिए प्रस्तुत हैं और इसी को वे खुलकर साखी में बतलाते हैं, वह है 'जीव'।

पहले और दूसरे के विषय में ३६वीं रमैनी में बहुत-कुछ कहा गया है। हम तीसरे सयान से लेते हैं।

"तीसर सयान सयानहि खाई" सद्गुरु कहते हैं कि तीसरे सयान ने सयान को खा लिया है। सयान का अर्थ होता है समझदार, वृद्ध, श्रेष्ठ आदि। यहां सयान का अर्थ 'सत्य' भी है। यहां तीसर सयान का अर्थ उन सारी तीन बातों में से किसी भी त्रिपुटी के लिए होगा जिसको जीवन का परम सत्य मान लेना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जैसे सत, रज, तम या काम, क्रोध, लोभादि। क्योंकि मूल पद में है कि जो तीसर को

सयान एवं सत्य मानता है उसका सयानपन एवं उसकी समझदारी समाप्त हो जाती है। अतएव तीसर का यहां सत, रज, तम—त्रिगुण अर्थ करना ज्यादा उपयुक्त है। अर्थात जो त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच को ही परम सत्य मान लेते हैं, उनकी बुद्धि मारी जाती है।

"चौथे सयान तहाँ ले जाई।" अर्थात चौथे में अपना सयानपन दिखाने से, वह भी हमें उसी भ्रम में ले जाता है। यहां चौथे से मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार का चतुष्टय लिया जा सकता है। जो लोग विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति में ही सदैव लगे रहते हैं और बुद्धि-विलास में डूबे रहते हैं, वे भ्रम में है। चौथे से केवल अहंकार भी लिया जा सकता है। ज्ञान चौंतीसा में आया है "चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खर खाई।।" मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। जब किसी विषय का मनन, चिंतन एवं निश्चय परिपक्व होता है, तभी उसमें अहंकार होता है। मन से मनन, चित्त से चिंतन एवं अनुसंधान तथा बुद्धि से निश्चय होता है, तब जाकर उस विषय में अहंकार होता है। जो लोग बुद्धि विलास तथा संस्कारों में अहंकार कर लेते हैं वे उसी प्रकार भ्रम में जाते हैं जैसे इसके पहले वाले भ्रम में रहे हैं। इस प्रकार संस्कारों में अपना तादात्म्य करने वालों को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

"पँचयें सयान जो जानेउ कोई" जो लोग पांचवें या पांच को सत्य समझते हैं या उसी में अपना सयानपन दिखाते हैं, वे भी समझदारी की बात नहीं करते। पांच के अर्थ में यहां पांच विषय एवं पांच ज्ञानेंद्रियों के भोग लिए जा सकते हैं, जो अत्यन्त प्रासंगिक हैं। जो कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध में आसक्त हैं और इन भोगों को ही परम सत्य मानकर इनके भोगने में अपनी सयानी-समझदारी दिखा रहे हैं; उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। विषयलम्पट को स्वरूपज्ञान कहां!

"छठयें माँ सब गयल बिगोई।" यहां छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी लाक्षणिक रूप में छ या छठां कहा गया है, प्रायः मन का अर्थ है। पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। पांच ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा पांचों विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण के बाद उनके संस्कार जहां रह जाते हैं, वही मन है। इसीलिए बौद्धों ने पांच ज्ञानेन्द्रिय के साथ छठे मन को लेकर 'षडायतन' कहा है। ऊपर कहा गया कि बीजक में लाक्षणिक अर्थ में छठां का अर्थ मन होता है। इसके लिए कुछ उदाहरण लें—

"छठयें माँह दरश सो पावै"[1] अर्थात वह मन में दर्शन पायेगा। "छठीं तुम्हारी हौं जगा"[2] छठें-मन में तुम्हें अहंकार जगा। "छप्पर बाँचे घर जरे"[3] पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठे मन के ऊपर जो जीव है, वह बच गया, उसका कल्याण हो गया और अहंकार का घर जल गया। इस रमैनी में है "छठयें माँ सब गयल बिगोई" अर्थात मन के चक्कर में पड़कर सब नष्ट हो गये।

---

१. बीजक, रमैनी ५२।

२. बीजक, साखी १।

३. बीजक, साखी ६८।

मनुष्य का मन अधिक विकासशील है। उसका संयम हो तो मनुष्य महान हो जाय और उसका दुरुपयोग हो तो मनुष्य का पतन हो जाय। संसार में ज्यादा यही देखा जाता है कि लोग अपने मन में उलझे हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "छठयें माँ सब गयल बिगोई" मन के भंवर में पड़कर सबने अपने को खो दिया है। मन के कुहासे में जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान रहा है।

"सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥" पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठां मन और इनके ऊपर सातवां जीव है। सद्गुरु सातवें को अपना विधि-वाक्य एवं प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। उसे वे लोक तथा वेद के प्रमाणों से दिखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। अगली साखी में उनका प्रतिपाद्य विषय जीव है और उसी जीव की तरफ सतयां कहकर पहले संकेत है।

जीव की प्रामाणिकता के विषय में लोक और वेद दोनों प्रमाण हैं। लोक में देखा जाता है कि जब जीव शरीर छोड़ देता है, तब अनाड़ी-से-अनाड़ी आदमी भी मृत देह को जलाकर, गाड़कर या पानी में फेंककर उसका त्याग कर देते हैं। यहां तक कि जीव की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का बोध पशु-पक्षी को भी हो जाता है।

यहां वेद का अर्थ शास्त्र-प्रमाण से है। शास्त्रों में यह बातें जगह-जगह भरी ही हैं कि जीव देह से पृथक एवं नित्य है।

"बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" यह साखी इस ग्रन्थ का प्राण तत्त्व है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सद्गुरु ने इस ग्रन्थ का नाम स्वयं बीजक रखा था और नाम की परिभाषा भी इस साखी में स्वयं कर दी थी।

बीजक के प्रसिद्ध इंगलिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने बीजक की अपनी भूमिका में लिखा है—

This collection of hymns in various metres contains the most authoritative record of Kabir's teaching. The word itself has three distinct meanings—(1) an invoice, (2) essence or seed, (3) a document by which a hidden treasure can be located. The title given to this collection seems to be derived from the third of these uses of the word. In early days near the Benares state there lived a race called Baroh : the district they inhabited is still called Badohi, a corruption of the original Barohi. An aboriginal race of India, when conguered by the Rajputs and forced to do menial work, they buried their treasures out of sight, carefully marking the place of concealment by secret signs on a carefully preserved chart. This chart they called a Bijak or key. When in need of money, they recovered their treasure by means of this Bijak, taking care never to disclose its secret signs to any but their heirs. Kabir himself spoke the dialect of the Mirzapur and Gorakhpur district, and no doubt was familiar with this use of the word, to

which he directly refers in the sakhi of the 37th Ramaini."[१]

अर्थात—यह पदों का संग्रह कई प्रकार के छंदों में है और कबीर की शिक्षाओं का सबसे अधिक प्रामाणिक दस्तावेज है। इस (बीजक) शब्द के भी तीन स्पष्ट अलग-अलग अर्थ हैं। १. बीजक, २. बीज का तत्त्व, ३. एक दस्तावेज जिससे गुप्त धन के स्थान का पता लगाया जा सके। इस संग्रह का शीर्षक इस शब्द के तीसरे व्यावहारिक अर्थ से लिया गया मालूम होता है। पूर्वकाल में बनारस की रियासत के पास एक जाति रहती थी, जिसको बरोह कहते थे। जिस जगह में वे बसे हुए थे अब भी भदोही कहलाता है जो कि आरम्भिक शब्द बरोही का अपभ्रंश है। भारत की एक आदिम जाति को जब राजपूतों ने जीत लिया और उनको निम्न श्रेणी का कार्य करने के लिए बाध्य किया तो उन्होंने अपनी मूल्यवान वस्तुओं को नजर से दूर जमीन में गाड़ दिया और छिपाने की जगहों पर सावधानी से गुप्त चिन्ह बना दिये और उसका मानचित्र सावधानी से सुरक्षित रख दिया। इस मानचित्र को उन्होंने बीजक अथवा कुंजी नाम दिया। जब रुपये की आवश्यकता पड़ती तब वे मानचित्र की सहायता से अपना धन निकाल लेते थे और यह सावधानी रखते थे कि उसके गुप्त चिन्ह उनके उत्तराधिकारियों को छोड़कर और किसी को पता न लगे। कबीर स्वयं मिर्जापुर तथा गोरखपुर जिलों की बोली बोलते थे और इसमें कोई शंका नहीं है कि वे इस शब्द के व्यवहार से परिचित थे जिसका उन्होंने ३७वीं रमैनी की साखी में सीधा वर्णन किया है।

एक सेठ ने करोड़ों रुपये एक स्थल पर गाड़कर अपने बीजक में सांकेतिक शब्दों में लिख दिया "चैत्र शुक्ल पूर्णिमा के मध्यान्हीय, साठ फीट ऊंचे शिवालय के अन्तिम शिखर पर धन रखा है।"

सेठ के मर जाने पर उसके लड़के ने बहुत दिनों के पश्चात उस बीजक में उपर्युक्त वाक्य पढ़ा और बिना विचार किये रुपये के लिए शिवालय का शिखर तोड़वा दिया। परन्तु धन न पाया। कुछ दिनों में एक महात्मा आये, उस बीजक के वाक्य को देखकर थोड़ा विचार करते ही वे समझ गये। उन्होंने सोचा यदि शिवालय के शिखर में सेठ रुपये रखता तो इतना ही लिखता "शिवालय के शिखर में रुपये रखे हैं" महीना, पक्ष, तिथि, समय और शिवालय की ऊंचाई लिखने की कुछ आवश्यकता ही नहीं थी। अतएव विचार से यही सिद्ध हुआ कि 'चैत्र महीने शुक्ल पक्ष पूर्णमासी के दोपहर को साठ फीट ऊंचे शिवालय के शिखर की परिछाई जहां जावे वहीं धन होगा।' अतएव शिवालय पुनः साठ फीट ऊंचा बनवा दिया गया और उक्त महीने, पक्ष, तिथि के आने पर दोपहर को शिवालय की जहां परिछाईं पड़ी उस जमीन को खोदवाया गया और धन मिल गया।

जैसे बाहरी बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बतलाता है, वैसे सद्गुरु कबीर का यह बीजक ग्रन्थ शरीर के भीतर छिपे हुए जीव का परिचय कराता है। "ऐसे शब्द बतावै जीव

---

१. The Bijak of Kabir, p. 29
Asian publication services. A 28, East of Kailash, New Delhi-110024, India.

को।'' जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान एवं सिद्धान्तों का मूल है। इस साखी में बीजक का नामकरण करते समय सद्गुरु कबीर अपने मूल सिद्धान्त का भी परिचय दे देते हैं। उनका मूल सिद्धान्त जीव है। जीव मूल है। इसे आत्मा तथा राम भी कहा गया है। बीजक-पाठ-फल में कहा गया ''बीजक उसे कहते हैं जो धन का साक्षी दे, धन का संदेश बताये। आत्मा रूपी धन जिस जगह है कबीर-बीजक के वचनों का संकेत उसी ओर है। आत्मा राम की नित्य सत्ता है और मन-माया कृत जो कुछ है वह नाशवान है। बीजक की वाणियों को गुरुमुख से पढ़कर इसकी परख करें।''[1] साखी प्रकरण में सद्गुरु ने स्वयं कहा है ''पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार।'' पंचग्रंथी, जो बीजक की भावात्मक टीका मानी जाती है, श्री रामरहस साहेब ने उसमें कहा है—

वचन बसावहु पारखी, बीजक है सो नाम।
अक्षर अक्षर गुरु से लखहु, संशय मेटहु तमाम॥

कोई भी विचारक, दार्शनिक एवं सिद्धांती अपने सिद्धान्त का एक वचन में भी खंडन नहीं करता। यदि कबीर साहेब के विचार में जीव एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानने की बात होती, तो वे रमैनी ३६ एवं शब्द १०, २२, ३२, ३६, ३७, ११५ आदि के भाव न व्यक्त करते। अतएव वे स्वस्वरूप चेतन देव को ही परम तत्त्व मानते हैं।

इस रमैनी में तीसरे, चौथे, पांचवें तथा छठें सयान में क्रमशः त्रिगुण, चतुष्टय अन्तःकरण, पंचविषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन माना गया है और यह बताया गया है कि ये श्रेष्ठ नहीं हैं। वस्तुतः इनके ऊपर श्रेष्ठ है जीव, जो सातवां है। पहले और दूसरे सयान में आत्मभिन्न ब्रह्म और ईश्वर लिया गया है कि वे श्रेष्ठ नहीं हैं, जो ३६वीं रमैनी के अनुसार प्रकरण-संगत है। परन्तु उन्हें हटाकर उनकी जगह पर क्रमशः देह और माया लेकर इस रमैनी को इस तरह भी समझा जा सकता है। जैसे—

१. देह, २. माया, ३. त्रिगुण, ४. चतुष्टय अंतःकरण, ५. पांच विषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा छठां मन से श्रेष्ठ जीव है। इसमें पहले के छह तक सयाने या श्रेष्ठ नहीं हैं, किन्तु सातवां जीव ही श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले के छह जड़ हैं और सातवां जीव चेतन है।

आत्मसंतोष जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है

रमैनी–३८

यहि बिधि कहौं कहा नहिं माना। मारग माहिं पसारिनि ताना॥ १ ॥
राति दिवस मिलि जोरिन तागा। ओटत-कातत भरम न भागा॥ २ ॥

---

१. बीजक कहिये साख धन, धन का कहै सन्देश।
आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश॥
अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ *(बीजक पाठफल)*

भरमहि सब जग रहा समाई। भरम छोड़ि कतहूँ नहिं जाई॥ ३ ॥
परै न पूरि दिन्हु दिन छीना। तहाँ जाय जहाँ अंग बिहूना॥ ४ ॥
जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥ ५ ॥

साखी—यह संदेशा फुरकै मानेहु, लीन्हेउ शीस चढ़ाय।
सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—मारग = कल्याण-मार्ग। ताना = सूत, वाणी-जाल। ओटत-कातत = रुई से बिनौले निकालते तथा सूत कातते; तात्पर्य में बातों को बारंबार दोहराते, वाद-विवाद करते। भरम न भागा = अज्ञान नहीं गया। परै न पूरि = संतुष्ट एवं आप्तकाम नहीं होते। अंग बिहूना = शून्य, उपाय-रहित। आदि अन्त = पहले से आज तक। फुरकै = सत्य करके।

भावार्थ—३७वीं रमैनी का संदर्भ रखते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार कहता हूं, परन्तु लोग कहा नहीं मानते और अपने कल्याण-मार्ग में वाणी-जाल का ताना फैलाकर उसी में उलझ जाते हैं॥१॥ वे रात-दिन वाणी के तागे जोड़ते हैं; परन्तु बारम्बार उन्हीं बातों को दोहराते तथा वाद-विवाद करते हुए भी इनके मन का अज्ञान नहीं दूर होता॥२॥ संसार के सारे लोग भ्रम में डूबे हैं। ये भ्रांति को छोड़कर वास्तविकता में नहीं जाते॥३॥ इसलिए इनके मन में संतोष नहीं आता। ये दिन प्रतिदिन क्षीण एवं ज्ञानहीन होते जाते हैं और अन्त में वहां पहुंचते हैं जहां शून्य है। अर्थात अंततः उपायरहित दशा को पहुंच जाते हैं॥४॥ जो भ्रांतिपूर्ण विचार पहले से आज तक फैलते हुए चले आये हैं, उन्हीं बातों को भ्रांत गुरु लोग विवरणपूर्वक लोगों को सुनाते हैं॥५॥

संसार के लोग उन्हीं भ्रांत विचारों को सत्य करके मान लेते हैं और उन्हें सिर पर चढ़ा लेते हैं। परन्तु हे सन्तो! स्वरूप-सन्तोष एवं आत्म-सन्तोष में शाश्वत सुख है। यदि स्वस्वरूप में सन्तुष्ट हो रहो, तो हृदय शीतल हो जायेगा॥३८॥

व्याख्या—सद्गुरु वाणी-जाल की उलझनों को समझाने के लिए जुलाहे के ताने-बाने आदि का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जुलाहे रुई को ओटकर उससे बिनौले निकालते हैं, फिर सूत कातते हैं और किसी मार्ग के लंबान या खुले स्थान में सूत के ताने फैलाते हैं। इसी प्रकार मतवादी लोग भी रात-दिन वाणी को ओटते-कातते हैं, बारम्बार उन्हीं वाणियों को दोहराते हैं, वाद-विवाद करते हैं, अपने कल्याण-मार्ग में उसके ताने फैला लेते हैं और उन्हीं में उलझ जाते हैं।

सद्गुरु ने ३६वीं और ३७वीं रमैनी में बतलाया है कि मनुष्य का अपना मूल स्वरूप चेतन है जिसको हम सरल ढंग से जीव कहते हैं और उसी को राम भी कहते हैं "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥" बस यही अपनी परम सत्ता है। यह जीव, यह अपनी चेतना, यह अपना रामरूप आत्मा, यही अपना परम निधान, परम प्राप्तव्य, परमस्थिति की भूमिका है। इसके अलावा पंच भौतिक शरीर तथा भोग-विषय तुच्छ हैं एवं परोक्ष में भटकना भी गलत है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मैं अनुमान-कल्पना एवं कर्मकांड के सारे जालों को काटकर जीव के अपने स्वरूप की ओर सबको प्रेरित करता हूं; परंतु लोग तो विषय-भोगों

में एवं नाना देवी-देवताओं में उलझे हैं। वे अपने निधान को अपने जीव एवं अपनी आत्मा से पृथक खोजते हैं। जीव के अपने स्वरूप से कहीं दूर एवं पृथक परमात्मा, मोक्ष एवं कल्याण है—इस भावना में संसार के प्रायः अधिकतम लोग डूबे हैं। इस प्रकार की ही नाना वाणियां बनी हैं। लोग उन्हें ही ओट-कात रहे हैं, वाद-विवाद कर रहे हैं। लोग अपने कल्याण-मार्ग में भ्रामक वाणियों का ताना-बाना फैला रखे हैं। मकड़ी के जाला के समान वाणी-जाल बनाकर लोग उसी में उलझ रहे हैं।

"ओटत-कातत भरम न भागा" बड़ा हृदयस्पर्शी वचन है। लोग नाना कथा-वार्ता सुनते हैं, स्वयं बड़ी-बड़ी पोथियों को बांचते हैं, आत्मा-परमात्मा पर वाद-विवाद करते हैं, परन्तु उनकी भ्रांति नहीं जाती। बहुत कुछ जान-समझ लेने के बाद भी परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग ही खोजते हैं।

"भरमहि सब जग रहा समाई" सारा संसार भ्रम में डूबा है। पलटू साहेब भी कहते हैं 'भूला एक न दोय, सकल संसार है।' लोग पेड़, पत्थर, पानी में सिर पटकते तथा उनमें देवता खोजते हैं फिर आकाश में लोक-लोकांतरों की कल्पना कर उनमें भगवान का पता लगाना चाहते हैं। यह भोला मानव बाहर सब जगह भगवान खोजता है, परन्तु अपने हृदय में नहीं खोजता। इनसान पेड़, पत्थर, पानी तथा मन की कल्पनाओं का महत्व मानता है, किन्तु अपने आप का महत्त्व नहीं जानता। वह जगह-जगह घुटने टेकता है, परन्तु यह नहीं सोचता 'मैं कौन हूं'। अपनी सत्ता और महत्ता का बोध हुए बिना वह दर-दर भटकता है।

इसीलिए "परै न पूरि दिनहु दिन छीना" मनुष्य को पूर्णता नहीं मिलती। वह संतुष्ट नहीं होता। वह आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम नहीं हो पाता। भला, अपने जीवतत्त्व को, अपने चेतन-स्वरूप एवं आत्माराम को छोड़कर कहां पूर्ण शांति, पूर्ण आनन्द, परमतृप्ति एवं निरन्तर संतोष मिलेगा! जो अपने आपको नहीं पाया, अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह कहां तृप्ति पायेगा! आत्म-अस्तित्व के बोध एवं तृप्ति के बिना आदमी बाहर भोगों एवं कल्पनाओं में भटकते-भटकते दिन-प्रतिदिन विवेकहीन होता जाता है। कल्पनाओं में दौड़ने वाला अन्त में वहां पहुंचता है जहां 'अंगबिहूना' दशा है। जहां गुरुओं-द्वारा निर्गुण-निराकार, अदेख-अलेख कहकर शून्य में धकेल दिया जाता है। इसी भ्रांति में जीवन का अन्त आ जाता है और आदमी उपायरहित हो जाता है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, उसको भटकने के सिवा कुछ नहीं है।

"जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥" पहले से आज तक सर्वत्र यही मत तो फैला है कि भगवान या मोक्ष कहीं अलग मिलता है। गुरु लोग अबोधी बनकर स्वयं भटक रहे हैं और दूसरों को भटका रहे हैं। इन भ्रामक उपदेशों को लोग सत्य मानकर उन्हें सिर पर चढ़ा रहे हैं, फिर मनुष्य का कैसे कल्याण होगा!

"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥" सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सन्तोष में सुख है। यदि तुम सन्तुष्ट हो जाओ तो तुम्हारा हृदय शीतल हो जायगा। तुम मन को बाहर भटकाने वाली बातों को मत मानो। न भोगों में भटको और न मन की नाना कल्पनाओं में। सारी कल्पनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में सन्तुष्ट होओ। तुम्हारे

आत्माराम से पृथक न कहीं भगवान है और न कहीं मोक्ष। तुम अपने स्वरूप में संतुष्ट होओ, फिर सदैव कृतार्थरूप हो जाओगे। सद्गुरु साखी प्रकरण में कहते हैं "यदि तुम मुझे चाहते हो, मेरी बातों को मानते हो, तो सारी आशाओं को छोड़कर मेरे समान निष्काम बन जाओ। बस, सब सुख तुम्हारे पास उपस्थित हो जायेगा।"[१] महाराज श्री-कृष्ण कहते हैं "जो व्यक्ति अपनी आत्मा में ही प्रेम करता है, आत्मा में ही तृप्त होता है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उसको कुछ करना बाकी नहीं रहता।"[२] महात्मा बुद्ध कहते हैं "आत्मा ही आत्मा का स्वामी है तथा आत्मा ही आत्मा की गति है। इसलिए अपनी आत्मा को संयमी बनावे, अपनी आत्मा में तृप्त हो; जैसे सुन्दर घोड़े को बनिया अपने वश में करता है।"[३] यह जीवन का सर्वोच्च सूत्र याद रखो—"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥"

सत्य संप्रदाय तथा जाति-पांति से ऊपर है

रमैनी–३९

जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया। कुदरत खोज तिन्हुँ नहिं पाया॥ १ ॥
कर्मत कर्म करे करतूता। वेद कितेब भये सब रीता॥ २ ॥
कर्मत सो जग भौ अवतरिया। कर्मत सो निमाज को धरिया॥ ३ ॥
कर्मत सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ॥ ४ ॥

साखी—पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात।
शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—कलमा = मुसलमानों के विश्वास का मूलमन्त्र 'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह'—अल्लाह के अलावा कोई पूज्य नहीं, और मुहम्मद अल्लाह का संदेशवाहक है। कुदरत = प्रकृति। कर्मत = कर्म के मत से, कर्म से। रीता = खाली, व्यर्थ। भौ = हुआ। अवतरिया = जन्म। भेऊ = भेद। पानी पवन = रजवीर्य और प्राण, या लक्षणा अर्थ से समग्र जड़ तत्त्व। संजोय = एकत्र। उतपात = झंझट। सुरति = लक्ष्य, मन। शून्यहि सुरति समोय के = मूर्ख बनकर। जात = जाय या जात-पांत।

भावार्थ—जिन्होंने कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाया, वे भी प्रकृति की शक्ति की खोज नहीं कर सके॥१॥ हिन्दू और मुसलमान कर्मकांड के मत खड़ा कर एक के बाद दूसरे कर्म करते चले जाते हैं। इनके लिए वेद और कुरान ज्ञान से

---

१. जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ *(साखी २९८)*

२. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ *(गीता ३/१७)*

३. अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रंव वाणिजो॥ *(धम्मपद २५/२१)*

खाली ही रह गये ।।२।। नाना सकाम कर्मों में उलझ कर ही जीव बारम्बार संसार में जन्म धारण करता है। पांच वक्त नमाज पढ़ना कर्मकांड का ही रूप है ।।३।। यह कर्मकांड का ही बखेड़ा है जो मुसलमान पेशाब-इंद्रिय की खलड़ी कटाते हैं और हिन्दू द्विज लोग जनेऊ पहनकर गायत्री जपते हैं। ये दोनों ही धर्म के सच्चे रहस्य को नहीं जानते ।।४।।

कर्माध्यास-वश ही जीव रज-वीर्य और प्राण अथवा जड़तत्त्वों के संयोग से शरीर धारण करता है, जो जीव के लिए एक झंझटरूप खड़ा होता है। यह किससे कहा जाय कि मनुष्य अपने मन को शून्य में खो रहा है।

अथवा पानी-पवन के संयोग से यह झंझट रूपी शरीर खड़ा होता है। मूर्ख बनकर इसे किस जाति का कहा जाय! ।।३९।।

व्याख्या—मुसलमानों को यह गर्व है कि कुरान खुदाई किताब है, इसलाम खुदाई मत है तथा मुहम्मद खुदाई दूत हैं। इन तीनों की शरण में ही संसार की सच्चाई जानी जा सकती है और इनसान को स्वर्ग मिल सकता है। केवल अल्लाह ही पूज्य है तथा उसका रास्ता बताने वाला मात्र मुहम्मद है। सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि कलिकाल में हजरत मुहम्मद तथा उनके पीछे के मुल्लाओं ने लोगों को कलमा पढ़ा-पढ़ाकर उन्हें मुसलमान तो अवश्य बनाया; परन्तु वे स्वयं कुदरत एवं विश्व-सत्ता का रहस्य नहीं जान सके।

विश्व अनन्त देश-काल-व्यापी है। अर्थात देश भी अनन्त है और काल भी अनन्त है। हम एक यान में चलें, जो एक सेकेंड में अरबों किलोमीटर चलता हो और वह अरबों वर्ष चलता रहे, तो भी देश की—शून्याकाश की सीमा नहीं आयेगी। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है, और ऐसे भी तारे हैं जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायं। परन्तु वह तारा भी मानो एक-दो फर्लांग की दूरी पर ही है; क्योंकि देश (शून्याकाश) अनन्त है। इसी प्रकार खरबों वर्ष भी महाकाल के बीच में एक सेकेंड के तुल्य हैं। देश और काल अनन्त हैं और अनन्त देश-काल-व्यापी विश्व भी अनन्त है। इस अनन्त विश्व के सामने हमारी पृथ्वी एक कण के तुल्य है। इस पृथ्वी पर का कोई मत यह कहे कि इस अनन्त विश्व को चलाने वाली शक्ति उसी के मजहब की धरोहर है, अथवा उस शक्ति ने उसी के मजहब के आदि पुरुष को संसार भर को तारने के लिए भेजा है तो यह सब कुदरत एवं विश्व-सत्ता को न समझने का परिणाम है। जितने मत तथाकथित ईश्वर के एकाधिकारी ठेकेदार बनते हैं, यदि वे किसी एक दूसरे लोक में चले जायं, जहां मनुष्य रहते हों तो वें देखेंगे कि उनके मत का, उनके ग्रन्थ का तथा उनके परिभाषित धर्म का वहां चिन्ह एवं पता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई मत यह कहे कि हमारे मजहब, पुरुष एवं ग्रन्थ ही मनुष्य के कल्याणकारी हैं, शेष नास्तिकता के मार्ग पर हैं तो यह कुदरत एवं विश्वसत्ता को कहां समझा गया!

दाढ़ी, चोटी, खतना, जनेऊ, रोजा, नमाज, पूजा, मन्दिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे, छापा, तिलक, राम, रहीम, गॉड आदि शब्द, ये सारे कर्मकांड के विस्तार मनुष्यों ने किये हैं। इनके द्वारा जीवन में एक संयम-सदाचार का बीजारोपण हो सकता है; परन्तु इन्हीं को परम सत्य मानकर और मूलधारा जो मानवीय विवेक एवं मानवीय गुण है उनसे हटकर मनुष्य का कल्याण कैसे हो सकता है! कर्मकांडों को ही परम सत्य मान लेने से वे मनुष्य

को विभाजित करते हैं। खतना और जनेऊ को मुसलमान तथा हिन्दुओं ने लोह की कितनी पक्की लकीर मान ली है! विश्व की सत्ता वही है, मनुष्य वही हैं, परन्तु अपने-अपने कुछ काल्पनिक परिभाषित शब्द एवं कर्मकांडों को लेकर एक मत वाला दूसरे मत वाले से कितना दूर अपने को मानकर अलग खड़ा है। यह सब देखकर सत्यद्रष्टा कबीर कह बैठते हैं "हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ।" हिन्दू-तुरुक कबीर साहेब के सामने प्रासंगिक थे। परन्तु यह कहकर वे मानो सारे मतवादियों को कह देते हैं। कबीर साहेब का यह कथन उन सबके लिए समझना चाहिए जो स्थूल नाम-रूपों एवं कर्मकांडों को लेकर सत्य को खण्डित करने लगते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों के लिए वेद, कुरान, बाइबिल आदि सब सत्यज्ञान से खाली के खाली हैं। जो सार्वभौमिक सत्य को नहीं समझ सकता, उसके लिए वेद-कितेब रीते ही हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव नाना कर्माध्यासों एवं मान्यताओं में फंसकर इस संसार में भटक रहा है। उसे और मान्यताओं एवं कर्मकांडों के बन्धनों में मत डालो।

"पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात। शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥" यहां पानी से अर्थ रज-वीर्य तथा पवन से प्राण है, जिनके संयोग से इस उपद्रव रूप शरीर की रचना होती है। लक्षणा दृष्टि से पानी-पवन से सारे जड़ तत्त्व का अर्थ माना जा सकता है। अर्थात जड़तत्त्वों से शरीर की रचना होती है। हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य नामधारी, मानव मात्र के शरीर की रचना का प्रकार एक ही है। सबके शरीर में वही जड़ तत्त्व लगे हैं और सबके अन्दर वही एक-सा चेतन है। परन्तु इन वास्तविकताओं को न समझना अपनी सुरति को शून्य में समोना है। अर्थात अपने मन को नकारात्मक स्थिति में ले जाना है। उसे मूढ़ बनाना है। परन्तु यह सब किससे कहा जाय! समझने वाले से ही कहा जा सकता है, जो नहीं समझता उसके आगे सिर मारने से क्या होगा!

"शून्यहि सुरति समोय के, कासो कहिये जात॥" का दूसरा अर्थ थोड़ा भिन्न किया गया है। 'शून्यहि सुरति समोय के' का अभिप्राय है मूढ़ होना। अपने मन को शून्य, जड़ एवं मूढ़ बना देना है यदि मानव में विभिन्न जाति-पांति की कल्पना की जाती है तो। अर्थात मूर्ख बनकर मनुष्य को किस जाति का कहा जाय! सार यह है कि एक मानव जाति में भिन्न-भिन्न जातियों की कल्पना करना मूढ़ता है। मानव की केवल एक जाति है।

इस रमैनी के आरम्भ में "जिन कलमा कलि माहिं पढ़ाया" हजरत मुहम्मद का संकेत है। उन्होंने ही कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाना शुरू किया था। अतएव उनके विषय में यहां संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें—

हजरत मुहम्मद

अरब के प्रधान नगर मक्का में 'अब्दुल्लाह' की पत्नी 'आमना' से विक्रमी सम्वत् ६१७ में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ। जब वे गर्भ में थे, तभी उनके पिता का देहावसान हो गया था। हजरत मुहम्मद के बाल्यकाल में उनकी माता (आमना) का भी देहावसान हो गया। आठ वर्ष की अवस्था से ही अपने चाचा 'अबूतालिब' पर वे अवलंबित हो गये।

हजरत मुहम्मद एक गरीब घर के बच्चे थे, परन्तु प्रतिभावान पुरुष थे। व्यक्ति के धन, जाति, विद्या आदि का महत्व नहीं होता, महत्व होता है उसके ज्ञान, आचरण, प्रतिभा एवं मानवता का।

कुरैश वंश की एक धनवान विधवा 'खदीजा' नाम की स्त्री के यहां उन्होंने पचीस वर्ष की अवस्था में नौकरी कर ली। पीछे से 'खदीजा' ने उन्हें पति रूप में वरण कर लिया। इस प्रकार यह उनका पहला विवाह हुआ।

चालीस वर्ष की अवस्था से उन्होंने कुरान बनाना आरम्भ किया, और दुराचरण तथा मूर्ति-पूजा का विरोध कर सदाचार तथा ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करना आरम्भ किया। इसीलिए विरोधी मत वाले उनके शत्रु बन गये, परन्तु जब तक उनके चाचा 'अबूतालिब' जीवित रहे तब तक उनको कोई खुलकर सता न सका। हजरत मुहम्मद की जब तिरपन वर्ष की अवस्था हुई, तब उनके चाचा का देहावसान हो गया; अतः विरोधी लोग हजरत को बहुत सताने लगे। इस स्थिति को देखकर वे मदीना चले गये। मदीना जाने के तीन वर्ष पूर्व ही उनकी पहली पत्नी 'खदीजा' की मृत्यु हो चुकी थी।

हजरत मुहम्मद की कुल पत्नियां बारह बतलाई जाती हैं, वे इस प्रकार हैं—

१.	खुदैजा-तुल-कुबरा	(खुबैलिद की पुत्री)
२.	आयशा	(अबूबक्र की पुत्री)
३.	सूदा	(ज़मअः की पुत्री)
४.	हफ़्सा	(उमर की पुत्री)
५.	जैनब	(ख़जीयः की पुत्री)
६.	जवेरिया	(हारस की पुत्री)
७.	उम्मेहबीबया	(अबू सुफ़यान की पुत्री)
८.	सफ़ीया	(सरदार हुय्यी बिन अख्तब की पुत्री)
९.	मारया कबतीया	(मिस्र के बादशाह द्वारा नजराने में प्राप्त)
१०.	मैनूना	(हारस की पुत्री)
११.	उम्मेसलमा	(अबी उम्मयः की पुत्री)
१२.	रेहाना	(यजीद की पुत्री)[१]

उपर्युक्त स्त्रियों में से 'जैनब' हजरत मुहम्मद के पोष्य पुत्र 'जैद' की पत्नी थी, परन्तु दोनों में न पटती देखकर परिस्थितिवश हजरत मुहम्मद ने उससे अपना विवाह कर लिया। वे पहले यह करने में सकुचाते थे कि लोग कहेंगे कि मुहम्मद ने पतोह से विवाह कर लिया। उनके सन्देहशमन के लिए कुरान में खुदा की आयत (मन्त्र) उतरी, वह इस प्रकार है—

---

१. मध्यकालीन हिंदी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय—डॉ० अब्दुल बिसमिल्लाह। (प्रकाशक—हिंदुस्तान एकैडमी इलाहाबाद)

"भगवान से डर, तू जो कुछ अपने भीतर छिपाना चाहता था, भगवान उसे प्रकाशित करना चाहता है। तू मनुष्यों से डरता है, किन्तु परमेश्वर से डरना ही सर्वोत्तम है। जब 'जैद' की उससे इच्छा पूर्ण हो गयी तो हम (ईश्वर) ने उसे (जैनब को) तुझे ब्याह दिया। यह इसलिए कि मुसलमानों पर अपने मौखिक (पुत्रों) की स्त्रियों से ब्याह करने में हरज न हो।"[1]

इस प्रकार अरब देश में इसलाम का पर्याप्त प्रचार कर तिरसठ (६३) वर्ष की अवस्था में हजरत मुहम्मद ने अपनी जीवनलीला समाप्त की।

हजरत मुहम्मद के जमाने में अरब में चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि अत्याचार व्याप्त थे। अतः उन्होंने नरक का भय तथा स्वर्ग और ईश्वर-प्राप्ति का लालच देकर लोगों को बुरे मार्ग से छुड़ाकर बहुत-कुछ अच्छे मार्ग पर लाया। उस जमाने के लिए उनका ज्ञान काफी था, परन्तु वर्तमान में प्रिय मुसलमान भाइयों को सत-असत का स्वतन्त्र विवेक करना चाहिए। पुरानी या नयी किताबों के हरफों में अपनी अक्ल को श्रद्धा की जंजीर से बांध नहीं रखना चाहिए। श्रद्धा की दीवार में जब तक विवेक के झरोखे नहीं खोले जायेंगे, तब तक न सत्य के दर्शन होंगे और न मानवता आयेगी।

रमैनी–४०

आदम आदि सुधि नहिं पाई। मामा हवा कहाँ ते आई॥ १ ॥
तब नहिं होते तुरुक औ हिन्दू। माय के रुधिर पिता के बिन्दू॥ २ ॥
तब नहिं होते गाय कसाई। तब बिसमिल्ला किन फुरमाई॥ ३ ॥
तब नहिं होते कुल और जाती। दोजख बिहिस्त कौन उतपाती॥ ४ ॥
मन मसले की सुधि नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना॥ ५ ॥

साखी—संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।
जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय॥ ४० ॥

शब्दार्थ—आदम = यहूदियों, इसाइयों तथा मुसलमानों-द्वारा माना हुआ (हिन्दुओं के ब्रह्मा के समान) आदि सृष्टि का प्रथम मानव। आदि = सृष्टि का आरम्भ। सुधि = पता। मामा = माता, अरबी में 'मामा' का अर्थ माता या सेविका होता है। हवा = हव्वा (जगज्जननी), आदम की पत्नी। फुरमाई = आज्ञा देना। मन मसले = मनःकल्पित कहावत, कहानी। रवै = प्रकट या विकास होना। जाय = नष्ट।

भावार्थ—आदम स्वयं अपने जन्म का पता नहीं जानते थे। वे तो इतना भी नहीं जानते थे कि उनकी पत्नी हव्वा कहां से आ गयीं॥१॥ सृष्टि के आदि में मुसलमान और हिन्दू नहीं थे और न नारी का रज था एवं न पुरुष का वीर्य था॥२॥ उस समय न गाय थी और न कसाई था। तब बिस्मिल्ला कहकर जीव-वध करने की आज्ञा किसने

1. (३३ : ५ : ३) (इसलाम धर्म की रूपरेखा)

दी? ।।३।। उस समय न कुल-परम्परा थी और न कोई जाति एवं मजहब थे, तब नरक[1] और स्वर्ग का निर्धारण किसने किया कि अमुक मजहब वाला स्वर्ग में जायेगा तथा बाकी नरक में जायेंगे।।४।। वस्तुतः लोग अपने मन की कल्पित कहानियों का रहस्य नहीं समझ सके, इसलिए बुद्धि भ्रमित हो गयी और एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली।।५।।

अपनी उपयुक्त योग्यता एवं संयोग पाकर किसी कार्य का संपादन होता है और उसके अपने गुणों का प्रकटीकरण तथा विकास होता है। और जब योग्यताओं का बिखराव हो जाता है तब वह कार्य एवं उसके गुण विलीन हो जाते हैं। लोगों ने अपने जीभ-स्वाद के लिए बलि-कुर्बानी आदि नाना उपाय कर रखे हैं।।४०।।

व्याख्या—यहूदी, इसाई, इसलामी आदि यह मानते हैं कि हमारे महापुरुष पैगंबर हैं, ईश्वर के संदेशवाहक हैं, हमारी किताबें ईश्वरीय हैं तथा हमारे मजहब ईश्वरीय एवं राहे-जन्नत हैं, स्वर्ग-पथ हैं। हमारे बाद सारे मजहब वाले नरक के राही हैं। इस संकुचितता से ब्राह्मण-परम्परा भी नहीं बची है। इस संकुचितता के मूल में है विश्व-सत्ता की समग्रता को न समझना।

---

१. मुसलमानों के स्वर्ग-नरक हिन्दुओं के समान ही वर्णन किये गये हैं। स्वर्ग में उत्तम बाग होंगे। मधु आदि मधुर पेय पदार्थों की नहरें होंगी। उत्तम-उत्तम भवन तथा बिस्तर होंगे। सुन्दर-सुन्दर तरुणियां और तरुण भी सेवा में लगे होंगे, इत्यादि।

नरक तो बड़ा भयंकर होगा, वहां सदैव दहकती हुई आग होगी, पापी जीव उसमें जलाये जायेंगे। एक विद्वान ने मुसलमानों के नरक का थोड़ा नमूना इस प्रकार दिया है—

"इसलाम में नरक और स्वर्ग बड़े महत्व की वस्तु माने गये हैं। मुसलिम नरक का वर्णन बड़ा भयानक है। इसके सरदार को मलिक कहते हैं। उसकी सहायता के लिए उन्नीस फरिश्ते हैं। इन फरिश्तों के हर एक के दाहिनी तरफ सत्तर हजार और बायीं तरफ सत्तर हजार हाथ हैं। हर हाथ में सत्तर हजार हथेलियां हैं और हर हथेली पर सत्तर हजार उंगलियाँ हैं। हर उंगली पर एक-एक अजगर हैं। हर अजगर के सिर पर एक-एक साँप हैं। हर साँप की लम्बाई सत्तर हजार वर्ष की राह है। हर साँप के सिर पर एक बिच्छू है। यदि यह बिच्छू नरकवासियों को एक बार काट खाये, तो सत्तर हजार वर्ष तक दर्द रहे। बायें हाथ की उंगली पर एक-एक आग का खंभा भी है। नरक के सात द्वार हैं। एक द्वार से दूसरे द्वार तक सत्तर हजार वर्ष की राह है। नरक की आग के बारे में यह बताया गया है कि एक हजार वर्ष तक वह दहकायी गयी, तो लाल हुई, फिर एक हजार वर्ष धौंकी गयी तो सफेद हो गयी, फिर एक हजार वर्ष सुलगायी गयी तो काली हो गयी और कयामत तक ऐसी ही रहेगी।" (सरिता, ११/१९५५)

वास्तव में जैसे दृश्य-जड़ पदार्थ नित्य हैं वैसे द्रष्टा चेतन पदार्थ भी नित्य हैं। कर्मवासना-वश जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मानुसार वे उत्तर-उत्तर के जन्मों को तथा उनमें सुख-दुखों को पाते रहते हैं। यह सुख ही स्वर्ग है और दुख ही नरक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक का वर्णन केवल कल्पित है।

उक्त मताभिमान के मर्दन के लिए सत्यद्रष्टा कबीर साहेब सभी मतावलंबियों को उनकी मान्यताओं के मूल तथा विश्व-सत्ता के मूल एवं सहजदशा की ओर ध्यान दिलाते हैं। पीछे ३९वीं रमैनी में आप कह आये हैं कि कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाने वाले हजरत मुहम्मद भी विश्व-सत्ता के रहस्य को नहीं जान सके। अन्यथा उनका मजहब यह नहीं कहता कि इसलाम ही स्वर्ग का पथ है, बाकी मतावलंबी काफिर एवं नरकगामी हैं और प्रलय तक मुहम्मद की ही पैगंबरी रहेगी। ये सारी संकुचित विचारधाराएं विश्व-सत्ता एवं ज्ञान की विशालता को न समझने का फल है। इसके बाद कबीर साहेब ने मानव-समाज में विभाजक रेखा पारने वाले कर्मकांडों की भी कसौटी की। उन्होंने खतना तथा जनेऊ को भी मानव-कल्पित बताया।

अब इस रमैनी में वे और पूर्व की परम्परा को लेते हैं जिसमें इसलामियों के साथ-साथ यहूदी तथा इसाई भी आ जाते हैं। यहूदी, इसाई तथा इसलामियों का सबसे पहला पैगंबर आदम माना जाता है जैसे हिन्दुओं में ब्रह्मा। बाइबिल में लिखा है कि यहोवा परमेश्वर ने छह दिनों में दुनिया बनायी तथा सातवें दिन विश्राम किया और उस दिन को पवित्र ठहराया। उसके बाद उसने मिट्टी लेकर आदम को बनाया और उसकी नाक में प्राण फूंक दिये। आदम जीवित हो गया। उसके बाद उसने पशु-पक्षी आदि बहुत प्राणी बनाये, किन्तु उनमें कोई आदम के साथ रहने योग्य नहीं था। तब उसने आदम को गहरी नींद में डालकर उसकी बायीं पसली से एक नारी बनायी और उसे आदम को दिया। उसका नाम हव्वा रखा।[1]

कबीर साहेब बाइबिल के अनुसार ही उन्हें बताना चाहते हैं कि जो तुम लोगों का प्रथम पैगंबर है, वह अपनी उत्पत्ति तो जानता ही नहीं था, अपनी पत्नी की उत्पत्ति भी नहीं जानता था। यह कहकर सद्‌गुरु यह बताना चाहते हैं कि संसार का कोई भी महापुरुष हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, आदम, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि सब मानव के बच्चे हैं। सब अबोध होकर पैदा होते हैं। इस संसार में आकर वे सीखते-समझते हैं तथा अपनी-अपनी मति के अनुसार अपने विचार रखते हैं। उनमें से कोई भी आकाश से आया हुआ पुरुष नहीं है। कोई भी अतिमानवीय नहीं है।[2] अतिमानवीय की कल्पना ही मानव के साथ छल करना है, जिसमें सारी सांप्रदायिक विषमताएं फैलती हैं, और ज्ञान की जगह पर अज्ञान फैलता है।

यहूदी, इसाई, मुसलमान तथा हिन्दू अपने-अपने ढंग से सृष्टि का आरंभ मानते हैं और बतलाते हैं कि कोई ऐसा समय था, जब सृष्टि नहीं थी। एक समय सृष्टि शुरू हुई। ईश्वर ने संसार तथा मनुष्यादि को बना दिया। सद्‌गुरु कहते हैं कि क्या ईश्वर भी सबका अलग-अलग था। यदि ईश्वर एक ही था, तो उसने एक ही प्रकार मनुष्य बनाया होगा। उसने हिन्दू-मुसलमान, यहूदी-इसाई बनाकर उन्हें आपस में लड़ने के लिए तो नहीं तैयार

---

१. बाइबिल, उत्पत्ति प्रकरण, पृष्ठ १-४।

२. कबीर साहेब स्वयं को भी दूसरे के समान मानव ही बताते हैं। यथा—
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ *(रमैनी १)*

किया होगा। कोई भी समझदार पिता यह नहीं चाहता है कि उसके बच्चे आपस में लड़ें और वे एक दूसरे को नरकगामी बतावें। फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र व्याप्त कहा जाने वाला ईश्वर कब ऐसा चाहा होगा कि मानव-समाज में नाना संप्रदाय बन जायं और हर संप्रदाय को मैं अलग-अलग किताबें दे दूं और उनके यहां अलग-अलग पैगंबर एवं अवतार भेज दूं, उनके विचार एक दूसरे से न मिलें तथा वे एक दूसरे का विरोध भी करें और एक दूसरे को नास्तिक, काफिर तथा नापाक भी कहें, और इतना ही नहीं, वे एक दूसरे का गला भी काटने के लिए तैयार रहें।

सृष्टि के शुरू में तुरुक और हिन्दू नहीं थे, कुल और जाति नहीं थे, संप्रदाय और मजहब नहीं थे, तब स्वर्ग-नरक की व्याख्या किसने की, कि मेरे मजहब वाले स्वर्ग में जायेंगे तथा बाकी लोग नरक में! उस समय गाय और कसाई भी नहीं थे, तब बिस्मिल्ला कहकर कुर्बानी के नाम पर जीवहत्या करने की आज्ञा किसने दी? यदि परस्पर विद्वेषात्मक संप्रदायवाद तथा बलि एवं कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या का विधान ईश्वर ने ही कर दिया था, तब यह रोग असाध्य है। सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यदि यह सब मानवकृत है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी इन गलतियों को स्वीकारे और इनका सुधार करे।

सद्गुरु कहते हैं कि मानव की जातीय एकता, उसकी धार्मिक एकता तथा उसकी आध्यात्मिक एकता परम सत्य है। इस सत्य को विखण्डित करने वाली सांप्रदायिक विभिन्नता, विरोध एवं संकुचितता और धर्म के नाम पर जीव-हत्यादि मनुष्य के अज्ञान का फल है। सद्गुरु कहते हैं "मन मसले की सुधि नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना।।" मनुष्यों ने अपने मन-मसले की खबर नहीं पायी। इसलिए उसने अपने मन के भुलावे में पड़कर एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली। कबीर साहेब के सामने हिंदू और मुसलमान—इन दो दीनों के द्वंद्व थे। इसलिए वे दो दीन कहते हैं। परन्तु उनके व्यापक अर्थ में यहां दो दीन का शाब्दिक अर्थ न कर उसका लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। दो दीन से अर्थ है अनेक मजहब। वैसे अनेक संप्रदाय होना बुरा नहीं है; किन्तु जब वे यह समझें कि संप्रदाय की उपयोगिता इतना ही है कि एक संप्रदाय में बहुत-से लोग एक साथ मिलकर सत्य की खोज करें एवं साधना करें। यह नहीं कि वे अपने संप्रदाय को सत्य का एकाधिकारी ठेकेदार मान लें, और शेष को नरकगामी।

पूरे मानव की एक जाति है मानव, पूरे मानव का एक धर्म है मानवता तथा पूरे मानव में एक ही प्रकार की आत्मा है चेतन। अतः संप्रदायों, मजहबों एवं मतों की भिन्नता नकली है। सत्यज्ञान एवं सदाचार ही मानव के लिए कल्याणदायी हैं।

संसार के जितने मूल द्रव्य हैं, वे नित्य हैं। न उनकी उत्पत्ति होती है और न उनका विनाश होता है। वे अनादि हैं तथा अनन्त हैं। अर्थात वे पीछे सदा से रहे हैं और आगे सदा रहेंगे। सद्गुरु कहते हैं "संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।" अर्थात किसी क्षेत्र में उन मूल द्रव्यों का उचित संयोग होना सृष्टि है और उनका वियोग होना प्रलय है। न तो नये सिरे से सृष्टि होती है और न सब कुछ का प्रलय होता है। मूल जड़ तत्त्व एवं द्रव्य नित्य हैं। उनमें क्रिया एवं गुण-धर्म नित्य हैं। इसलिए उनके द्वारा सृष्टि भी नित्य है।

मूल जड़ तत्त्वों का उचित संयोग हुआ तो वर्षा हो गयी, उनकी योग्यताओं का अभाव हो गया, वर्षा नहीं हुई। उपयुक्त योग्यता पाकर वनस्पतियां उग आयीं, योग्यताओं का वियोग हो गया, वनस्पतियां सूख गयीं। बस, सृष्टि का यही काम है कि संयोग से गुणों का विकास होता है तथा वियोग से उनका बिखराव होता है। परन्तु योग्यता-अयोग्यता, गुणों एवं कार्यों के उद्‌भव-विनाशादि सब मूल द्रव्यों में ही तो होंगे। उनके रहे बिना यह सब कहां होगा! समुद्र है तो उसमें ज्वार तथा भाटे आते हैं। यदि समुद्र ही न हो तो ज्वार-भाटे कहां आयेंगे! इसी प्रकार मूल द्रव्य जड़ और चेतन न हों तो सृष्टि की घटना कहां घटेगी! जीव अपने कर्म-वश देह धरते हैं तथा प्रकृति अपने स्वभाववश संयोग-वियोग करती है और इसी में सृष्टि फलती है।

"जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय।।" परन्तु लोग अपने जीभ-स्वाद-वश अपनी-अपनी कल्पना पेश करते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि कर दी है। उसने मनुष्यों के खाने के लिए अन्य जानवरों को बना दिया है कि वे उनकी बलि या कुर्बानी के नाम पर हत्या करें और देव तथा ईश्वर को अर्पित कर उन्हें खा जायें। यह सब जीभ-स्वाद का चक्कर एवं जंगलीपन है।

दुखमय संसार-समुद्र और सुखस्वरूप राम

रमैनी–४१

अम्बु कि राशि समुद्र की खाई। रवि-शशि कोटि तैंतीसों भाई।। १ ।।
भँवर जाल में आसन माँड़ा। चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा।। २ ।।
दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया।। ३ ।।
आपुहि बाउर आपु सयाना। हृदया बसै तेहि राम न जाना।। ४ ।।
साखी—तेही हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।
ना यम भया न जामिनि, भामिनि चली निरास।। ४१ ।।

शब्दार्थ—अम्बु कि राशि = पानी की ढेरी, जड़ द्रव्यों का समूह। भँवर = पानी का चक्कर, माया का चक्कर। माँड़ा = जमाया, सजाया। बाउर = पागल। यम = संयम। जामिनि = जामिन, जमानत करने वाला, जिम्मा लेने वाला। भामिनि = भामिनी, अपने आपको ईश्वर की पत्नी मानने वाला।

भावार्थ—जैसे समुद्र की गहराई में पानी का अथाह सागर भरा होता है, वैसे अनंत विश्व-ब्रह्मांड जड़ प्रकृति-कणों से भरा है। अर्थात यह संसार एक विशाल सागर है। हे भाई! इसमें सूर्य, चंद्रमा और तैंतीस करोड़ देवता भी चक्कर काट रहे हैं।।१।। सभी जीवों ने संसार-सागर के भंवर-जाल में आसन जमा रखा है। वे चाहते तो हैं सुख, परन्तु दुख उनका साथ नहीं छोड़ता।।२।। कोई यह नहीं समझ पा रहा है कि दुख का रहस्य क्या है, एवं दुख क्यों हो रहा है। जगत के जीव अनेक प्रकार से उलझे हुए भटक रहे हैं।।३।। मनुष्य अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं पागल बना हुआ है और जब अपने

स्वरूप को समझ लेता है, तब वह स्वयं ज्ञानी हो जाता है। लोग यह नहीं समझते कि जो हृदय में चेतन निवास करता है, वही राम है।।४।।

वही हरि है, वही स्वामी है और वही भूलवश अपने से अलग हरि मानकर उसका सेवक बनता है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा से भिन्न कोई ऐसा हरि नहीं जो मिलता हो। इसलिए ऐसे लोगों की लक्ष्यप्राप्ति में न उनका संयम काम देता है और न इस विषय में जमानत करने वाले एवं जिम्मा लेने वाले गुरु काम देते हैं। फलतः अपने आपको ईश्वर का दास एवं उसकी बहुरिया मानने वाले भावुक जीव संसार से निराश होकर चल देते हैं।।४१।।

व्याख्या—आप जानते हैं कि समुद्र अम्बु की राशि है, जल का महान समूह है। इसी प्रकार यह संसार जड़प्रकृति का महासागर है। प्रमेय से प्रमाण सदैव बड़ा होता है। जैसे किसी जल से भरे हुए बड़े तालाब को देखकर लोगों के मुख से निकल पड़ता है कि यह तो सागर की तरह लहरा रहा है। परन्तु यहां प्रमेय से प्रमाण छोटा है। प्रमेय संसार है तथा प्रमाण समुद्र है। संसार अनंत है, समुद्र बहुत बड़ा होने पर भी सीमित है। आखिर समुद्र भी तो संसार का एक अंश ही है। परन्तु संसार के लिए समुद्र को छोड़कर दूसरा उदाहरण है ही नहीं। इसीलिए सदा से विचारक 'संसार-समुद्र' कहते आये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार-सागर में चांद, सूर्य तथा तैंतीस कोटि देवता भी चक्कर काट रहे हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चंद्रमा और नक्षत्र गण—ये आठ वसु हैं। दस इंद्रियां (या दस प्राण) तथा मन—ये ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इंद्र है, यज्ञ प्रजापति है। ये तैंतीस देवता हैं। कोटि का अर्थ श्रेणी भी होता है। अर्थात तैंतीस श्रेणी के देवता। उपर्युक्त जो तैंतीसों देवता माने गये हैं, निरे जड़ हैं।

पुराकाल में लोग चांद, सूर्य एवं तारों को देवता मानते थे। इसके अलावा मनुष्यों की एक जाति थी जिसको देवता कहते थे। ये शायद भारत के उत्तरी छोर हिमालय की तराइयों में बसते थे और बहुत विलासी होते थे। सद्गुरु कबीर का कथन दोनों के लिए ही उपयुक्त है। चांद, सूर्य, तारे आदि भी संसार-सागर के भंवर में घूम रहे हैं और देवता नाम से विदित मानव भी संसार-सागर में भटकने वाले ही थे।

सद्गुरु ने साखी प्रकरण में "भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत। कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक।।"[1] कहकर "भँवरजाल' तथा 'बगुजाल' दो जालों का वर्णन किया है। 'भँवरजाल' का अर्थ है स्थूल प्राणी-पदार्थों का मोहजाल तथा 'बगुजाल' का अर्थ है वाणीजाल एवं शास्त्र-जाल। जीव भंवरजाल में पड़कर विषयी होता है तथा बगुजाल में पड़कर नाना कल्पनाओं में भ्रांत होता है। भंवरजाल खानीजाल तथा बगुजाल वाणीजाल है। यहां सद्गुरु कहते हैं "भँवरजाल में आसन माँड़ा" अर्थात विषय-वासनाओं के जाल में जीव ने आसन जमा रखा है। यहां का 'भंवरजाल' व्यापक अर्थ लिए हुए है।

---

१. बीजक, साखी ९२।

गहरे पानी में जगह-जगह भंवर होते हैं। वहां का पानी गोलाई में चक्कर काटता रहता है। इस संसार-सागर में जड़ परमाणुओं की क्रिया रूपी भंवर में नाना पदार्थों का निरंतर निर्माण एवं विनाश होता रहता है। जैसे समुद्र में निरंतर लहर एवं ज्वार-भाटे उठते रहते हैं, वैसे संसार में निरंतर क्रिया, परिवर्तन एवं निर्माण-विनाश की लीला चलती रहती है। यदि हम शरीर तथा संसार के सारे पदार्थों को रासायनिक दृष्टि से देख पाते तो हमें दिखाई देता कि वे एक भंवर के समान नाच रहे हैं जिनसे अरबों कण निरंतर निकलते और मिलते हैं। जिन अपने या अपने प्रियजनों के शरीरों को हम बड़ा सत्य मानते हैं, वे जड़ कणों के एक भंवर हैं। प्राणियों के सारे शरीर, मकान, मशीन एवं सारे दृश्यमान पदार्थ असंख्य सूक्ष्म जड़कणों के भंवर हैं। अतएव हमारे जितने सांसारिक सुख के साधन हैं, सब तो भंवर की तरह बदलने वाले हैं और इन्हीं में हमने अपना आसन जमा रखा है। इसलिए "चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा" हम चाहते तो हैं सुख, लेकिन दुख हमारा पिंड नहीं छोड़ता।

कल्पना करें कि 'हहा हहा' करते हुए अथाह समुद्र की निरंतर लहरों के झकझोर में हम पड़ जायें तो हमारी क्या दशा होगी? परन्तु इससे कहीं अधिक जीव संसार की लहरों में पड़ा नाच रहा है। अविद्या-वश उसको कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सुख कहां है? जहां सब कुछ क्षण-भंगुर है, वहां पर जमकर जो बैठना चाहेगा और उन समुद्र के फेन सदृश भोगों से स्थायी सुख चाहेगा, उसको केवल दुख मिलने हैं।

"दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया।।" सद्गुरु कहते हैं कि कोई यह भेद नहीं जान पाता कि मैं सुख चाहते हुए भी दुख क्यों पा रहा हूं। हर नवयुवक को यह आशा रहती है कि धन, मकान, पत्नी, बच्चे आदि इकट्ठे हो जाने पर मैं पूर्ण सुखी हो जाऊंगा। इस आशा से आदमी आधी जिन्दगी इनको पाने की तैयारी में लगाता है। वह पढ़ता-लिखता है। इसके बाद इन चीजों का संग्रह करता है। संग्रह हो जाने के बाद वह देखता है कि सुख की अपेक्षा दुख बहुत अधिक बढ़ गया है। सामान्य की बात ही छोड़िए, कितने धनी लोग कहते हैं 'हम बहुत दुखी हैं।' उनसे पूछा जाता है 'किस बात का दुख है?' वे इसका उत्तर नहीं दे पाते। वे कहते हैं 'यह समझ में नहीं आता कि दुख क्यों है। मन अशांत है इसलिए दुख है।' 'मन क्यों अशांत है?' इसका उत्तर भी उन्हें नहीं सूझता।

वस्तुतः मन की अशांति सबसे बड़ा दुख है और मन इसलिए अशांत होता है, क्योंकि हमें हर समय हर प्राणी-पदार्थ के विनाश का भय है। प्रिय लोग विमुख न हो जायं, वे मर न जायं, शरीर में रोग न लग जाय, व्यापार रुक न जाय, नौकरी छूट न जाय, खेती डूब न जाय, धन का नाश न हो जाय, कोई एक्सीडेंट न हो जाय, सारे अनुकूल पदार्थ बढ़ते क्यों नहीं हैं, इत्यादि सदैव सब कुछ की विनश्वरता का भय लगा रहता है। भोगों को भोगते हैं। उनमें मन तृप्त नहीं होता। भोगों की आदतें बनकर मन विषयों की ओर अधिक विवश करता है। इच्छाओं की ज्वाला धधकती रहती है। भोग-पदार्थों को भोगने से इच्छाएं बनती तथा पुष्ट होती हैं और इच्छाओं के वशीभूत होकर

जीव पुनः भोगों की क्रियाओं की धारा में बहता है। यह मृगतृष्णा जीव को निरंतर भटकाती है। इसलिए उसका मन सदैव अशांत रहता है। अतएव विषय-भोगों की इच्छा तथा अपने माने गये प्राणी-पदार्थों की विनश्वरता के भय से जीव अशांत रहता है और अशांति ही दुख है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस दुख का रहस्य कोई अबोधी जीव नहीं जान सकता। केवल प्राणी-पदार्थों का संग्रह सुख का साधन नहीं है। अच्छी समझदारी और यथार्थ बोध से ही मनुष्य दुख से छूट सकता है अथवा सच्चे अर्थ में सुखी हो सकता है। परन्तु इसके अभाव में वह संसार में केवल भटकता है। "बहुत भाँति के जग भरमाया" जीव अनेक उलझनों में उलझकर भटकता है। जिसका मन उलझा हो, वह हर जगह उलझता रहता है, अन्दर-बाहर, परिवार में, समाज में हर जगह उसके लिए भटकाव है।

प्रश्न होता है कि क्या इस जीव को कोई शैतान भटका दिया है और क्या कोई भगवान इसे ज्ञानी बना देगा? सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी बातें नहीं हैं। "आपुहि बाउर आपु सयाना" यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं विषयों के लिए पागल बना भटकता है और सत्संग-विवेक से जग जाय तो स्वयं ज्ञानी हो जायगा। जीव अपने स्वरूप के अबोधवश स्वयं जाल रचकर उसमें फंसा है, और यदि उसकी अपनी दृष्टि अपनी ओर घूम जाय, तो स्वयं बोधवान होकर कृतार्थ हो जाय। अबोध तो अनादिकाल से है। बारम्बार जीव भूल-वश उसकी पुष्टि करता रहता है। बोध होने के कारण दो होते हैं। एक कारण है कि विवेकवान सन्त-सद्गुरु मिल जायं और जीव के अपने शुद्ध संस्कार-वश उसकी दृष्टि गुरुजनों के उपदेश में लग जाय और दूसरा कारण है कि कोई अनेक जन्मों का बड़ा शुद्ध संस्कारी हो और उसे अनेक घटनाओं के झकझोर में स्वयं की दृष्टि स्वतः अपनी ओर घूम जाय और 'मैं कौन हूं' इस तत्व को जानकर स्थिर हो जाय। यह घटना हजारों वर्षों के दरमियान में किसी पर घट सकती है। सरल पथ है गुरुजनों की शरण में बोध प्राप्त करना।

क्या राम कहीं बाहर है जो मिलता है? सद्गुरु कहते हैं "हृदया बसै तेहि राम न जाना" अर्थात जो हृदय में बसता है, लोग नहीं जानते कि यही राम है। हृदय में कौन बसता है? यह बताने की आवश्यकता नहीं कि सबके हृदय में चेतन निवास करता है, जो ज्ञानस्वरूप है। वही रात-दिन कहता रहता है कि मैं यह काम करूंगा तथा यह काम नहीं करूंगा। 'मैं हूं' यह अस्तित्व-बोध जिसको होता है, वही है चेतन। उसके नाम जीव, आत्मा, रूह, सोल आदि हैं। सद्गुरु कहते हैं उसी को मैं राम भी कहता हूं। अब प्रकारांतर से उसी को कोई ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि भी कह सकता है। जो लोग कहते हैं कि इस हृदय में एक 'जीव' है और उसके अलावा दूसरा 'राम' है, तो ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि एक ही हृदय में जीव तथा राम अलग-अलग हैं, तो कितना प्रतिशत जीव है और कितना प्रतिशत राम है? वस्तुतः विवेक से समझने पर यह साफ हो जाता है कि सबके अपने-अपने हृदय में एक ही चेतन तत्त्व का बोध होता है। 'मैं हूं' यह सबका अपना बोध है। यह हृदय-निवासी मैं तत्त्व ही राम है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरि है। यही स्वामी है। यही सारे ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है।

"तेही हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।" अर्थात यह हृदय-निवासी जीव ही राम है, हरि तथा ठाकुर है। परन्तु यही अपने भूलवश अलग हरि मानकर उसका दास बनता है। मैं चेतन हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, यह तो स्वयं प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष अनुभव का विषय है। परन्तु मुझसे अलग कोई मेरा निधान है यह एक मिथ्या धारणा है। अलग चाहे कोई कितनी ही सुन्दर वस्तु हो, वह मेरा निधान नहीं बन सकती। किसी वस्तु का निधान उसका अपना स्वरूप ही हो सकता है। अतएव अपने लक्ष्य एवं निधान को अलग मानने वाले भावुकों को अंततः यहां से निराश होकर ही जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में न उनका संयम काम देता है और न साधना तथा न वे गुरु लोग काम देते हैं जो ईश्वर-दर्शन कराने या ईश्वर से मिलाने के लिए जमानतदार बने थे।

लोग अपने से अलग ईश्वर मानकर अपने आपको उसकी पत्नी होने की कल्पना करते हैं। सद्गुरु उन पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'भामिनि' कहते हैं और बताते हैं कि उनको अंततः निराश होकर संसार से जाना पड़ता है—"भामिनि चली निरास।"

कुछ विद्वान इस साखी का यह अर्थ करते हैं—'वही हृदय निवासी राम हरि है, वही स्वामी है, वही स्वामी का सेवक है। इस ज्ञान के होने पर न यमवासना रहती है और न जामिनि-अज्ञान की रात रहती है। फलतः भामिनि माया निराश होकर चली जाती है।' अर्थ मनोरम है। परन्तु 'भया' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'न यम भया' भया शब्द साथ देने वाले के लिए प्रयोग किया जाता है, दूर हट जाने वाले के लिए नहीं। दूर हट जाने वाले के लिए 'रहा' शब्द अधिक उपयुक्त होता है। जैसे 'न यम रहा'। परन्तु 'भया' शब्द होने से—'न यम भया' का उचित अर्थ 'नहीं साथ दिया' अधिक ठीक जंचता है। दूसरी बात मूल पद 'जामिनि' है 'यामिनी' नहीं। 'जामिन' जमानत करने वाले, जिम्मा लेने वाले को कहते हैं। रात के लिए 'यामिनि' शब्द का प्रयोग होता है।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें हैं जीव दुखी क्यों है और उससे छुटकारा कैसे होता है? सद्गुरु ने बतलाया कि जीव इसलिए दुखी है, क्योंकि वह संसार-समुद्र के भंवरजाल में पड़ा है। उसने क्षणभंगुरता के भंवर में आसन जमा रखा है। वह नश्वर भोगों में अनुरक्त है।

सद्गुरु ने दुखों से छूटकर चिरंतन सुख-शांति का रास्ता बताया कि तुम्हारे अपने हृदय में निवास करने वाला तुम्हारा अपना चेतन-स्वरूप ही राम है। वह अविनाशी है। वही परमात्मा है। वही अपने आपका स्वामी है, अतः तुम क्षणभंगुर विषयों का राग छोड़कर अपने अविनाशी राम एवं स्वस्वरूप चेतन में रमो।

अद्वैत-मीमांसा

रमैनी–४२

जब हम रहल रहल नहिं कोई। हमरे माहिं रहल सब कोई॥ १ ॥
कहहु राम कौन तेरि सेवा। सो समुझाय कहो मोहि देवा॥ २ ॥
फुर-फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई॥ ३ ॥
आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा॥ ४ ॥

यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥ ५ ॥
कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई॥ ६ ॥

शब्दार्थ—जब = सृष्टि के प्रथम। हम = ब्रह्म। नहिं कोई = जगत। राम = ब्रह्म। फुर-फुर = सत्य। दिठियार = आंखवाला, विवेकी। हंस = विवेकी। मुसकाई = हंस कर। दुष्ट = दोषयुक्त, रुष्ट।

भावार्थ—(अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं—) सृष्टि के प्रथम जब मैं शुद्ध रूप में स्थित था, तब अन्य जगत आदि कुछ भी नहीं था। हां, यह कहा जा सकता है कि सारा विश्वप्रपंच वट-बीज न्याय मेरे में निहित था॥१॥ (सद्गुरु कहते हैं—) हे ब्रह्म! हे देव! यह मुझे समझाकर बताओ कि उस समय किसने तुम्हारी सेवा कर तुमको विकसित किया और ब्रह्म से जगत के रूप में लाया?॥२॥ यदि सही-सही बात कहता हूं, तो सब कोई मारने दौड़ते हैं। झूठे लोग दूसरे झूठे लोगों के साथ में बैठकर झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं॥३॥ बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देख लिया है। वहां आंख वाले बैठकर उनके मुख देखते हैं और आश्चर्य करते हैं॥४॥ मैं तो इस प्रकार कहता हूं कि जैसे मुख से कथन हो वैसे हृदय में हो और इस प्रकार कथनी और करनी की एकता को कोई माने॥५॥ कबीर साहेब विवेकियों से मुसकराकर कहते हैं कि मेरे सत्य कहने पर बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं॥६॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवाद के ख्याल से यह माना जाता है कि एक समय ऐसा था जब सृष्टि नहीं थी या विश्व-प्रपंच नहीं था। उस समय केवल एक ब्रह्म था और यह वर्तमान में दिखता हुआ विश्व-प्रपंच उस ब्रह्म में उसी प्रकार निहित था जैसे वट के दाने में वट-वृक्ष सूक्ष्म रूप में रहता है। वट-बीज समय से जल-मिट्टी का संयोग पाकर अंकुरित हो जाता है और एक दिन वही अंकुर एक विशाल वृक्ष के रूप में खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में पहले सारा विश्व सूक्ष्म रूप में लीन था, पीछे से यह सारा संसार प्रकट हो गया।

सद्गुरु इस पर प्रश्न करते हैं कि वट का दाना अनेक परमाणुओं का समूह और विकारी है। जब वह मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु सब तत्त्वों का संयोग पाता है, तब विशाल वृक्ष बनता है। परन्तु ब्रह्मवाद के ख्याल से ब्रह्म के अलावा तो कुछ नहीं था, तब उसकी किसने सेवा की, जिसमें उसमें से संसार-वृक्ष निकल पड़ा? ब्रह्म निरवयव है। सजाति, विजाति तथा स्वगत भेद से रहित एक, अखंड, ठोस और निर्विकार है, फिर उसमें विकारी, जड़ संसार कैसे रहा? एक अखंड ब्रह्म कैसे फूटकर जगत हो गया? जिसमें परमाणु होते हैं, वह दूसरे तत्त्वों का संयोग पाकर क्रियाशील होता है। एक अखंड अद्वैत में विकार, स्फूर्ति और संचालन होना असंभव है। फिर अद्वैत ब्रह्म जगत कैसे बन गया? जब वह सर्वसमर्थ, शुद्ध, शांत एवं मुक्त था, तब उसे दुखमय जगत के रूप में फूटने में क्यों प्रसन्नता हुई? सद्-चिद्-आनन्द ब्रह्म असद्-जड़-दुख रूप संसार कैसे बन गया?

गति, क्रिया, स्फूर्ति तथा संचालन के बिना किसी प्रकार का निर्माण नहीं होता और क्रिया तभी होती है जब असंख्य क्रियाशील द्रव्य हों। इतना ही नहीं, एक दूसरे के

विरोधी तत्व हों। एक अखण्ड ब्रह्म में यह सब असंभव है। केवल वट का दाना जो स्वयं भी विकारी तथा असंख्य परमाणुओं का योग है, तब तक पेड़ नहीं बन सकता, जब तक उससे पृथक जड़ प्रकृति में असंख्य परमाणुओं के ढेरीस्वरूप अनेक तत्त्व न हों और उनका उपयुक्त संयोग उस दाने को न मिले। बीज से वृक्ष होने में मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि रूप प्रकृति ने बीज की सेवा की, तब बीज वृक्ष बना। सद्गुरु अद्वैत ब्रह्म से पूछ रहे हैं कि हे देव! तुम्हारे अलावा तो कोई था नहीं, तो तुम्हारी किसने सेवा की जिससे ब्रह्म से जगत बन गये, निरवयव से सावयव बन गये?

सद्गुरु कहते हैं "फुर फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई।।" यदि जैसे जगत है, अनेक जड़ तत्त्व तथा जड़ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न अनेक जीव, वैसे ही कहा जाय, तो ये लोग असंतुष्ट होते हैं। जब आदमी कोई धारणा बना लेता है, तब उसके विपरीत बातें सुनकर उसे असन्तोष होता है। हम संसार को देखते हैं कि इसमें अनेक जड़ तत्त्व हैं और सारे तत्त्व असंख्य परमाणुओं के समूह हैं। उनमें अंतर्निहित क्रिया तथा गुण हैं। हर मौलिक तत्त्व नित्य होता है। अतएव संसार का एक कण भी मिटाया नहीं जा सकता और एक भी नया कण बनाया नहीं जा सकता। अनेक जड़ तत्त्व अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से निरन्तर गतिशील हैं। इसलिए संसार में निरन्तर उत्पाद और विनाश लगा रहता है। न नये सिरे से अनन्त विश्व-ब्रह्मांड की उत्पत्ति होते दिखती है और न सबका सर्वथा प्रलय होते दिखता है। बस, जड़ तत्त्वों में निरन्तर क्रिया है और उन क्रियाओं में उत्पाद-विनाश अपने आप फलते रहते हैं।

जड़ तत्त्वों से भिन्न असंख्य चेतन जीव हैं। जड़ तत्त्वों में चेतना के किंचित भी लक्षण न होने से, चेतन जीव उनसे निर्मित नहीं माने जा सकते। अतएव चेतन जीव अपने मूल रूप में जड़ से सर्वथा भिन्न तथा अविनाशी हैं। जैसे जड़ तत्त्वों की न सर्वथा उत्पत्ति है न विनाश, वैसे जीवों की न उत्पत्ति है और न विनाश। जीव वासना-वश शरीर धरते-छोड़ते हैं और कर्म करते तथा उनके फल भोगते हैं। जो जीव ज्ञान-द्वारा कर्मों की आसक्ति छोड़ देता है, वह इसी जीवन में कृतार्थ हो जाता है। यह सब प्रत्यक्ष जगत की वास्तविकता है। इस प्रकार मान लेने में क्या अड़चन है! परन्तु लोग बैठकर आपस में झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं, जैसे जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं। जगत तीनों काल में नहीं है। केवल एक ठोस ब्रह्म है आदि।

अद्वैतवाद पर तीखा प्रहार करते हुए सद्गुरु कहते हैं—"आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा।।" बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देखा है। वहां आंख वाले उनके मुंह देखकर और उनकी बातें सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। आंखें बन्द कर लेने पर केवल एक काला दिखता है और आंखें खोलने पर विभिन्नता भरा संसार अपनी वास्तविकता में दिखता है। अर्थात आंखें खोलने पर सारा जड़-चेतन अलग-अलग दिखता है। विवेकियों को यह देख-सुनकर हैरानी होती है कि जो जड़-चेतन को एक मानता है, भोग-योग को एक मानता है, उसे लोग ज्ञानी कहते हैं। यह कैसे कहा जाय कि जिसने आंखें बन्द कर ली हैं, जिसको केवल एक काला-काला दिखता है, वह सत्य का ज्ञाता है। सत्य का ज्ञाता तो वह होता है जो आंखें खोलकर देखता है। उसे ही

सब कुछ की वास्तविकता दिख सकेगी। विवेकज्ञान से ही जड़-चेतन के भेद को समझकर तथा जड़ की आसक्ति छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित हुआ जा सकता है। जहां जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं, वहां भोग-योग भी एक ही हं। वहां बन्ध-मोक्ष के भेद का प्रश्न ही नहीं। विधि-निषेध भी कुछ नहीं। फिर सदाचार का भी अवलम्ब नहीं। इन सबको ज्ञान कहना घोर आश्चर्यजनक है।

सघन बादलों से ढकी हुई भादों की घोर रात में अपने हाथ भी नहीं दिखते। वहां केवल एक कालापन दिखता है। सुबह का प्रकाश होते ही अनेकता पूर्ण संसार ज्यों-का-त्यों दिखता है। कौन समझदार कहेगा कि एक दिखाने वाला घोर अंधकार ज्ञान है और अनेक तथा तथ्यपूर्ण दिखाने वाला प्रकाश अज्ञान है। अतएव जड़-चेतन की एकता मानना ज्ञान नहीं है। यही तो योग दर्शन की भाषा में अविद्या है। वस्तुतः जड़-चेतन का भिन्न विवेक ही ज्ञान है। यह ज्ञान होने पर ही जड़ का मोह छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थिति होती है।

"यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई।।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता बतलाता हूं। यदि कोई इसे समझ सके तो माने। सच्चा ज्ञान वही है जो दिल और जुबान पर एक हो। हम हृदय से जैसे संसार को जान रहे हैं वैसे उसे वाणी से व्यक्त करना चाहिए। जड़ संसार अपने आप में स्वतः अनादि-अनन्त एवं परिवर्तित होते हुए भी तीनों काल में विद्यमान है। हम इस तरह उसे नित्य देखते हैं, अतएव हमें मुख से भी ऐसे ही कहना चाहिए। परन्तु यदि हम इसे कहें कि यह तीनों काल में मिथ्या है, जड़ संसार है ही नहीं, तो यह अनुभव कुछ है तथा कथन कुछ और ही है। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी के बड़े-बड़े मठ-मन्दिर बनते हैं। शंकराचार्यों में गद्दी के लिए मुकदमें तक होते हैं, फिर यह कहना कि जगत है ही नहीं, कितनी गलत बात है।

इन पंक्तियों का लेखक काशी में निवास कर रहा था। अद्वैत विचार के एक सेवामुक्त डिप्टी कलेक्टर मिलने आये। उन्होंने अभिवादन के बाद छूटते हुए कहा—"क्या स्वामी जी, आप जगत को सत मानते हैं? मैंने आपकी जगन्मीमांसा नाम की पुस्तक पढ़ी है। उससे मुझे आभास हुआ कि आप संसार को सत मानते हैं।" मैंने उनसे तुरन्त कहा—"आप ईमानदारी से बताइए, ये पृथ्वी, चांद, सूर्य, सितारे सच दिखते हैं कि नहीं?" वे हंसने लगे।

मैंने कहा देखिए डिप्टी साहब! हर पदार्थ अपने आप में सत तथा दूसरे पदार्थ में असत होता है। घड़ा अपने में सत है, परन्तु कपड़े में असत है। इसी प्रकार जड़ जगत परिवर्तनशील रहते हुए अपने आप में सत् है, परन्तु चेतन के स्थान पर वह असत है। तात्पर्य यह है कि जगत, जगत में सत है, परन्तु वह हमारे चेतन-स्वरूप में सर्वथा असत है।

आदि शंकराचार्य ने भी जगत की सत्यता के प्रश्न को उठाया है। उन्होंने कहा है—"यदि जगत को उसके अपने क्षेत्र में सत्य मान लिया जाय, तो उससे हमारे आत्मतत्त्व की अनन्तता की हानि होती है, जगत को मिथ्या कहने वाले वेद अ-प्रमाणित हो जाते हैं,

और वेद रचयिता ईश्वर मिथ्यावादी सिद्ध होता है। इसलिए वेद को अ-प्रमाणित, ईश्वर को मिथ्यावादी तथा जगत को सत्य कहना—ये तीनों बातें किसी महात्मा को पसन्द नहीं है।"[१]

आश्चर्य होता है स्वामी शंकर के इस कथन पर कि वेद जगत को मिथ्या कहते हैं। वेदों में तो कहीं पता नहीं चलता कि उनमें जगत को मिथ्या कहा गया है। वेदों की तो ऋचा-ऋचा में जगत की सत्यता के ही दर्शन होते हैं। सच है जिस व्यक्ति की जो मान्यता सिद्धांत का रूप ले लेती है, उसे उसी के अनुसार सब कुछ दिखता है। स्वामी शंकराचार्य को वेदों में जगत का मिथ्यात्वकथन दिखता है[२] तथा गोस्वामी तुलसीदास को वेदों में श्रीराम का अवतारकथन मिलता है; परन्तु इन दोनों धारणाओं का वेदों में चिन्ह भी नहीं है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि हमें ईमानदार होना चाहिए। हृदय से जो सत्य लगे, वैसा मुख से कहना चाहिए। इसमें शास्त्र-प्रमाण, गुरु-परम्परा एवं लोक-वेद कुछ भी आड़े आये, तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। मनुष्य का विवेक सर्वोपरि है। मनुष्य ही गुरु है, मनुष्य की रचना ही शास्त्र है, अतएव मनुष्य-विवेक सर्वोपरि है।

"कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" सद्‌गुरु कबीर हंसों से मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, हमारी विवेकपूर्ण बातों से बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं। यहां हंस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया हुआ लगता है। हंस नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक माना जाता है। कहावत है कि यदि पानी और दूध एक में मिला हो, तो हंस पानी छोड़कर उसमें से केवल दूध ले लेता है। उसमें पानी और दूध को अलग करने की शक्ति होती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति विवेकशील होता है, वह मिले हुए-से लगते जड़-चेतन का विवेक कर, उनमें से अपने चेतन स्वरूप को अपना समझकर उसकी स्थिति करता है और जड़ को छोड़ देता है।

चावल-कंकड़, दुष्ट-सज्जन, पाप-पुण्य, विधि-निषेध, कर्तव्य-अकर्तव्य, खाद्य-अखाद्य, बंध-मोक्ष का विवेक कर जैसे विवेकवान चावल, सज्जन, पुण्य, विधि, कर्तव्य, खाद्य, मोक्ष लेकर दूसरों को छोड़ देता है; वैसे ही विवेकवान जड़ को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप को अपना स्वत्व समझकर उसमें स्थित होता है। यही हंसत्व है। ऐसे हंसों, विवेकियों की ओर देखकर सद्‌गुरु मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, विवेक की बातें सुनकर कोई रुष्ट होता है तो उसको ख़ुश करने का क्या उपाय है! रुष्ट होना तो अपनी कमजोरी का प्रदर्शन है। युक्ति-प्रमाण एवं विवेक से बात कट जाने पर रुष्ट होना अपने आग्रह को प्रकट करना है।

---

१. सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम्॥ *(विवेक चूड़ामणि, २३४)*

२. हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में जगत के मिथ्या होने के विचार का कोई आधार नहीं है। *(सर राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग १, पृष्ठ ९४)*

"हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" में 'दुष्ट' का अर्थ 'रुष्ट' है। हो सकता है मूल पाठ 'रुष्ट' ही रहा हो, लिखते-पढ़ते 'दुष्ट' हो गया हो। किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

कहीं-कहीं छपे बीजक में पाठभेद है। 'हमरे कहल दुष्ट बहु भाई' की जगह पर 'हमरे कहल छूटि हौ भाई' है। इसका अर्थ होगा कि हे भाई, हमारे उपदेश को मानकर ही छूटोगे। छूटना दूसरे से होता है। एक ही तत्त्व में न बंधना होता है और न छूटना। छूटना तो जड़ बंधन से है और वह विवेकपथ पर चलकर ही सम्भव है।

प्रश्न होता है कि क्या 'अद्वैत' तथा 'जगत-मिथ्यात्व' ये दोनों सिद्धांत सर्वथा असत्य हैं? उत्तर है कि न सर्वथा सत्य हैं और न सर्वथा असत्य। किन्तु सापेक्ष सत्य तथा सापेक्ष असत्य हैं। जड़-चेतनमय विश्व एक ही परिनिष्ठित अखण्ड सत्ता नहीं है। किन्तु जड़ अलग है और चेतन अलग है। जड़ में भी कई तत्त्व हैं और एक-एक तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। और चेतन भी असंख्य हैं। वस्तुतः साधक जब सारी वासनाओं एवं संकल्पों को छोड़कर समाधि में असंग हो जाता है, तब वह अकेला हो जाता है जैसे कि उसकी वास्तविकता है। बस यही 'अद्वैत' है। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि मैंने सबको भुला दिया तो जगत ही मिट गया, बल्कि मैं अपने आप में अद्वैत हो गया।

इसी प्रकार जगत के मिथ्यात्व को समझने का प्रयत्न करें। जैसा पहले भी कह आये हैं जगत अपने क्षेत्र में नित्य एवं सत्य है। किन्तु वह हमारे चेतन स्वरूप में सर्वथा असत्य है। जड़ में चेतन नहीं तथा चेतन में जड़ नहीं। दोनों अपने-अपने स्वरूप में हैं। अतः चेतन में जगत तीनों काल में असत्य है। बस, इतना ही जगत-मिथ्यात्व का अर्थ हो सकता है।

स्वेच्छाचारिता का फल पतन

रमैनी—४३

जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा। नरक गये तेहि नरकहि बासा॥ १ ॥
आवत जात न लागे बारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥ २ ॥
चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा॥ ३ ॥
जाने जीव को परा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा॥ ४ ॥
संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा॥ ५ ॥

साखी—गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार।
ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यों लौं चन्द्र दिवाकार॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—आवत-जात = जन्मते-मरते। बारा = देर। अहेरी = शिकारी। मरण = मृत्यु, पतन। जाने जीव = चतुर लोग। सँदेसा = उपदेश। असरारा = असरार, भेद; लगातार; दुष्ट व्यवहार। उबहै = उलीचता है। मोट = चाम का मोट (कुएं से पानी निकालने का थैला)। मन्मुखी = स्वेच्छाचारी। दिवाकार = दिवाकर, सूर्य।

भावार्थ—गुरु, सत्संग तथा विवेक की अवहेलना कर जिन्होंने अपनी स्वेच्छाचारिता पर ही विश्वास कर लिया है, समझ लो कि वे नरक में गये और उनका आगे नरक में ही निवास होगा॥१॥ ऐसे लोगों को जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। अर्थात ऐसे लोग क्षणजीवी कृमि-कीटादि योनियों में भटकते हैं। काल शिकारी बनकर उनके पीछे रात-दिन लगा रहता है॥२॥ ऐसे मन्मुखी लोग स्वयं चौदहों विद्याएं[1] पढ़कर दूसरों को भले विधिवत समझाते रहें, परन्तु उन्हें अपने पतन का पता नहीं रहता॥३॥ धोखेबाज गुरु लोग संसार में झूठी बातों का प्रचार करते हैं और ऐसी बातें सुनकर चतुर लोग भी संशयग्रसित हो जाते हैं॥४॥ लोग अच्छी संगत छोड़कर दुष्ट व्यवहार करते हैं और इतने दुष्कर्मों में लीन रहते हैं कि मानो वे मोट से नरक उलीचते हैं॥५॥

चाहे स्त्री हो या पुरुष, जो गुरु-द्रोही और स्वेच्छाचारी है, विचारकर देखो, वे जब तक चांद और सूरज हैं, तब तक चौरासी चक्कर में भटकते रहेंगे॥४३॥

व्याख्या—पहले इस बात को समझ लेना चाहिए कि यहां सद्गुरु 'आत्मविश्वास' का खंडन नहीं कर रहे हैं। कबीर साहेब आत्मविश्वास में अटल थे। उन्होंने हमें पदे-पदे आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है।

"जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा।" का अर्थ है अपने मनमानी पर विश्वास। जो मन के उन्माद में, स्वेच्छाचारिता में एवं उच्छृंखलता में विश्वास करता है, वह नरक में ही गिरता है। नरक है पतन। पतन है अपने विवेक, विचार, पवित्र आचार, अच्छी संगत एवं अच्छे रास्ते से अलग होकर कुसंग-कुकर्म में चले जाना।

परिवार में जो लोग पारिवारिक नियम तथा बड़े-बूढ़ों की राय न मान कर तथा उन्मादी होकर मनमाना काम करते हैं, उनका शीघ्र ही पतन हो जाता है। इसी प्रकार साधु-समाज में जो साधक सद्गुरु, सन्त तथा सन्त-समाज के नियमों का उल्लंघन करने लगता है और मनमानी बरताव करने लगता है, यदि उसका यह रवैया बदला नहीं, तो वह धीरे-धीरे पतन की तरफ चला जाता है। एक-दो की नहीं, उन्मादी स्वभाव वाले सभी लोगों की यही दशा है।

अनुशासित जीवन में ही व्यवस्थित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वतन्त्रता, स्वच्छंदता बहुत प्यारे शब्द हैं, परन्तु गुरु या समाज के अनुशासन का पालन किये बिना कोई अपने जीवन का समुचित विकास नहीं कर सकता है। यह ठीक है कि धोखेबाज गुरु तथा गंदे समाज से हटना चाहिए, परन्तु सच्चे गुरु तथा सही संतसमाज के अनुशासनों का पालनकर अपने जीवन को बनाना चाहिए।

जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। काल शिकारी बनकर तो रात-दिन पीछे पड़ा ही है। कीड़े-मकोड़े भी जन्मते-मरते रहते हैं। अतः जीवन की सफलता है शांति की प्राप्ति में। जो व्यक्ति उन्मादी होकर उच्छृंखल व्यवहार करेगा, वह संसार में भटकने की ही तैयारी करेगा।

---

१. पहली रमैनी की व्याख्या एवं टिप्पणी में देखें।

"चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा।।" बड़े-बड़े विद्वान होते हैं। चौदह विद्याओं के ज्ञाता, कई भाषाओं के मर्मज्ञ, बहुत-से शास्त्रों में पारगत शास्त्री, आचार्य, वेदाचार्य, सर्वदर्शनाचार्य, महामहोपाध्याय, पी-एच० डी० तथा और न जाने किन-किन उपाधियों से भूषित, बैठते-चलते-फिरते उनके मुख से सरस्वती फूटी पड़ती है। अहंकार इतना है कि वे दूसरे को कौड़ी भर भी नहीं समझते। परन्तु वे केवल बांस के पोंगा हैं। न उनकी बुद्धि में वस्तु-बोधजनित स्थिरता है और न मन में शांति। फिर क्या हुआ ज्यादा पढ़ने-लिखने से!

इसका यह अर्थ नहीं है कि जो ज्यादा पढ़े-लिखे होते हैं, वे सब-के-सब ऐसे ही चंचल होते हैं। यहां कहने का अर्थ है कि यदि ज्यादा पढ़-लिखकर जीवन में अस्थिरता, अबोध, संशय, अशांति आदि ही का उपार्जन किया गया, तो क्या पाया गया!

विद्वान लोग दूसरों को चौदह विद्याएं पढ़कर समझाते हैं, परन्तु अपनी मृत्यु की खबर नहीं पाते। 'अपने मरण की खबरि न पावा।' का अभिप्राय क्या हो सकता है? जो बतला दे कि मैं कब मरूंगा, और अपने बतलाये हुए समय पर ही शरीर छोड़े, वह ज्ञानी है—यहां का यह अर्थ मान लेना छिछिलापन है। प्रायः ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई नहीं जानता कि मेरी मृत्यु कब होगी। किसी के अपने विषय में कहे गये मृत्युकथन के समय का तुक बैठ गया हो, यह अलग बात है। इसमें कोई विशेषता भी नहीं है।

वस्तुतः अपनी मृत्यु की खबर उसी को मिली है, जो मृत्यु के डर से छूट गया है। व्यक्ति का पतन ही मृत्यु है। जिसका पतन होना बन्द हो गया, वह मृत्यु से छूट गया। हम क्षण-क्षण काम में, क्रोध में, लोभ में, मोह में, ईर्ष्या-द्वेष में पतित होते रहते हैं। यही व्यक्ति की मौत है। आदमी कितना ही विद्वान हो जाय, जब तक वह विवेक एवं साधना का अवलम्ब नहीं लेता, उसे अपने इस पतन की खबर नहीं रहती कि मैं पतित हो रहा हूं। जो क्षण-क्षण अपने पतन को देखता है, वही अपने आप को पतन से बचा लेता है। जिसका किसी क्षण पतन नहीं होता, उसको मृत्यु-भय कहां! वह समझता है कि मैं रोज सोता हूं, और सोने में बड़ा आनन्द मानता हूं। एक दिन ऐसा सोऊंगा कि पुनः उठना नहीं होगा। जब छोटी नींद आनन्दप्रद है, तब बड़ी नींद आनंदप्रद क्यों नहीं! वस्तुतः मौत होती है शरीर की, आत्मा की नहीं। जीव तो अमर है। फिर मृत्यु-भय क्यों!

गुरुपद अत्यन्त श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक कल्याण के लिए गुरु चाहिए ही, व्यावहारिक बातों के बोध के लिए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु की यह महिमा देखकर संसार में नकली गुरुओं की भरमार हो गयी है। असली सोना से नकली सोना जैसे ज्यादा चमकता है, वैसे असली गुरु से नकली गुरु ज्यादा चमकते हैं। धोखेबाज गुरुओं ने सदैव अपनी धर्म की दूकानों की उन्नति की है। तन्त्र तथा चमत्कार उनके व्यापार के प्राणतत्त्व होते हैं। चमत्कार, जो एक छलावा है, झूठे गुरुओं का सर्वस्व होता है। ऐसे लोग सनसनीखेज तथा चमत्कार की बातें फैलाते हैं। इनके जाल में बड़े-बड़े चतुर कहलाने वाले फंस जाते हैं। शिक्षित तथा अशिक्षित में कोई खास फरक नहीं होता है। दोनों में वज्र मूढ़ होते हैं तथा दोनों में विवेकी होते हैं। प्रसिद्ध गुरुघंटालों के जाल में तो शिक्षित-मूढ़ ही फंसते हैं। डॉक्टर, वकील, जज, इंजीनियर, प्रोफेसर, राजनेता, सेठ गुरुघंटालों द्वारा अधिक मूढ़

बनाये जाते हैं। अतएव "जाने जीव को पड़ा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा।।" यह पंक्ति चरितार्थ होती है। भ्रामक गुरुओं का ऐसा प्रचार होता है कि समझदार कहलाने वाले भी संदेह में पड़ जाते हैं, और धीरे-धीरे उनके जाल में फंस जाते हैं।

"संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा।।" जहां से सच्चा बोध मिले, सदाचार की प्रेरणा मिले, ऐसे नम्र संतों की संगत में ऐसे लोग नहीं जाते, बल्कि वे उससे दूर भागते हैं और रात-दिन दुराचरणों में लीन रहते हैं। जैसे लोग चाम के मोट से पानी उलीचते हैं, वैसे वे लोग जीवन में नरक उलीचते हैं। मलिन चिंतन, मलिन वचन तथा मलिन आचरण—यही नरक उलीचना है। साधु-संगत, सत्साहित्य-अध्ययन एवं सद्विचार छोड़कर कुसंग में बहने से जीवन में मलिनता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है!

"गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार। ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यौं लौं चंद्र दिवाकार।।" कबीर साहेब कहते हैं कि भ्रामक गुरुओं से सावधान रहना, परन्तु यथार्थ सद्गुरु का अनादर न करना। यथार्थ सद्गुरु के अनादर का अर्थ होता है विवेक तथा सदाचार की बातों को न मानना। जो विवेक तथा सदाचार का त्याग करता है, वही गुरुद्रोही है, वही मन्मुखी है, वही स्वेच्छाचारी है। ऐसे लोग चाहे स्त्री हों या पुरुष, उन्हें संसार-नगर में भटकना ही है। उन्हें कब तक भटकना है? यदि वे सत्पथ पर नहीं आते, तो जब तक चांद-सूरज रहेंगे, अर्थात जब तक संसार का अस्तित्व रहेगा, तब तक भटकना है। संसार तो अनंत है। वह सदा ही रहेगा और उनका भटकना भी सदैव रहेगा। हां, यदि वे जग जाते हैं, गुरु-मार्ग पकड़ लेते हैं, तो भटकाव से बच सकते हैं।

अतएव हम भ्रामक गुरुओं से सावधान रहें, परन्तु विवेकी गुरु की विनम्रतापूर्वक शरण पकड़ें। स्वेच्छाचारिता छोड़कर अनुशासित जीवन बितायें। इसी में हमारा कल्याण है।

कुसंग तथा मन की मलिनता रूपी नरक से बचो

रमैनी—४४

कबहुँ न भयउ संग औ साथा। ऐसेहि जन्म गमायउ आछा।। १ ।।
बहुरि न पैहो ऐसो थाना। साधु संगति तुम नहिं पहिचाना।। २ ।।
अब तोर होइहैं नरक महँ बासा। निसिदिन बसेउ लबार के पासा।। ३ ।।
साखी—जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार।। ४४ ।।

शब्दार्थ—ऐसेहि = व्यर्थ में। आछा = अच्छा, उत्तम। थाना = स्थान, मानव-जीवन। लबार = झूठा; गप्प मारने वाले लंपट। जात = पतित होते, नरक में जाते। धार = डाका।

भावार्थ—हे मानव! तूने विवेकी सद्गुरु एवं सन्तों का संग-साथ नहीं किया। इस उत्तम मानव-जीवन को व्यर्थ में खो दिया।।१।। चूक जाने पर ऐसा उत्तम जन्म शीघ्र नहीं

मिलेगा। यह तुम्हारी गहरी भूल है कि तुमने सन्तों की संगत में जाकर अपने आप की परख नहीं की ॥२॥ अब तुम्हारा नरक में निवास होगा; क्योंकि तुम रात-दिन झूठे और लंपटों के पास रहते हो ॥३॥

कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि मैं देखता हूं कि सभी लोग अपने जीवन को धोखे में खोकर नरक में जा रहे हैं। यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा दिन ही में डाका पड़ रहा है। नर-जन्म के उजाले में ही तुम लुटे जा रहे हो ॥४४॥

व्याख्या—प्राणिमात्र में मानव प्राणी सर्वश्रेष्ठ है। यह मानव-शरीर विवेकसंपन्न होने से यहां कल्याण का कार्य संपादित हो सकता है। मानव-जीवन के एक-एक क्षण का जो मूल्य है उसको हीरे-मोती से आंका नहीं जा सकता। मानव सुपथ पर चलकर इसी जीवन में परम शांति का लाभ ले सकता है। परन्तु खेद है कि मानव केवल कमाने, खाने, भोगों को भोगने एवं व्यर्थ बात-चीत में अपने अनमोल जीवन को खो देता है। यह कभी भी विवेकी संतों एवं गुरुजनों की संगत में नहीं बैठता। बिना सत्संग के किसी का जीवन नहीं सुधरता। परन्तु कितने लोग ऐसे अभागे हैं कि पास में भी सत्संग पाकर वहां नहीं बैठते।

'बार-बार न पाइये, मानुष जन्म की मौज' यह उत्तम नर जन्म शीघ्र-शीघ्र मिलना सहज नहीं है। हमारे जीवन का समय सबसे कीमती है। हम अपने जीवन के समय में धन, विद्या, परिवार, कीर्ति आदि पैदा कर सकते हैं, परन्तु इन सबके बल से अपने जीवन के समय को एक क्षण भी बढ़ा नहीं सकते। अतः हमारा पहला काम है कि हम अपने मन, वाणी और शरीर को पवित्र करें। वह व्यक्ति पर-सेवा क्या कर सकता है जिसने अपने आपको पवित्र नहीं किया है।

हे मानव! यदि तूने साधु-संगत में जाकर अपने आपकी परख नहीं की कि मैं कौन हूं, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरे जीवन में शांति कैसे आ सकती है इत्यादि, तो तूने क्या किया? बड़े-बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, विद्वान, धनवान अपने जीवन के समय को खो देने के बाद पश्चाताप करते हैं; परन्तु पीछे पछताने से तो कुछ नहीं होता। यह मानव जीवन केवल पेट तथा भोग के लिए नहीं है। पेट तो शाम तक शूकर-कूकर भी भर लेते हैं और वे भोग भी मनमानी भोग लेते हैं। यह विवेक संपन्न जीवन तो अपने आपकी पहचान के लिए है, अपने आपको सारी बुराइयों, विकारों, मलिनताओं तथा दुखों से बचाकर परम शांति-सागर में निरन्तर निमज्जन करने के लिए है। मनुष्य की यह गहरी भूल है कि ऐसा सुनहला अवसर पाकर वह इसे पशु-सदृश खाने-भोगने में बिता रहा है।

आदमी झूठों-लंपटों, गप्पबाजों एवं विवेकहीनों के पास बैठता है। जहां बैठने से बुद्धि खराब हो, वहां तो वह बैठता है, परन्तु वहां नहीं बैठता जहां बैठने से उसको अच्छे संस्कार मिलें। गंदे विचार वालों के पास बैठकर आदमी गंदे संस्कार ग्रहण करता है। गंदे संस्कार ही नरक हैं। अतएव ऐसे लोग नरक में ही निवास करते हैं। जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, छल, दंभ, चिन्ता, शोक, विकलता एवं अशांति है, उसके मन में नरक है। इन बुराइयों में लिपटे रहना नरक में निवास करना है। कुसंग में जाना नरक में प्रवेश करना है तथा कुसंस्कार एवं कुकर्म में लीन होना नरक में डूब जाना है।

"जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार। चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं चिल्लाकर कह रहा हूं कि सब लोग नरक में जा रहे हैं। आप चौंकिए मत! अपने भीतर झांककर देखिए। आपके मन में कब काम-वासना की मलिनता आती है? जरा मन में देखिए, कब दूसरे के लिए ईर्ष्या की आग लग जाती है? कब क्रोध आकर आपके हृदय-मन्दिर की रोशनी बुझा देता है? जरा देखिए मन को, कब लोभ की मलिनता आपके हृदय को दूषित कर देती है? अपने मन में झांकिए और देखिए कि कब-कब चित्त चिन्ता, शोक, मोह एवं विकलता में डूबा है। जरा मन की इन घटनाओं के प्रतिक्षण का एक कागज पर लेखा-जोखा कीजिए, तो देखिएगा कि आप अपनी जाग्रत-अवस्था के सोलह-अठारह घण्टे में कितने प्रतिशत नरक में रहते हैं और कितना उससे हटकर!

इस प्रकार बारीकी से अपने मन का निरीक्षण करना तथा नरक में फिसलकर गिरने की दुर्घटनाओं से अपने आपको बचाते जाना जीवन की सबसे बड़ी साधना है। मनुष्य जीवन में और सब कुछ करता है, परन्तु केवल यही काम नहीं करता। इसलिए वह बाहर का सब कुछ पाकर भी भीतर की मलिनता के कारण निरन्तर दुखी रहता है। आदमी ताल ठोंककर दूसरों को बुरा कहता है; क्योंकि वह अपने मन की बुराइयों को देख नहीं पाता।

सद्गुरु कहते हैं कि जागना हो तो जाग जाओ, दिन में ही डाका पड़ रहा है। यह मानव-जीवन दिन है। यहां तुम्हें विवेक का प्रकाश मिला है, सत्संग का प्रकाश मिला है। यदि इनसे तुमने स्वयं अपनी आंखें मीच ली हैं, तो उन्हें खोलने के लिए दूसरे का कोई अधिकार नहीं है।

जागो, तुम्हारे ऊपर बाहर-भीतर दोनों तरफ से हमले हो रहे हैं। बाहर के संसारी-बुद्धि के शूरवीर लोग तुम्हें कुसंग, कुकर्म एवं विषय-वासनाओं में डालकर नरक में गिराना चाहते हैं और भीतर मन की मलिनताएं तुम्हें नरक में गिराने के लिए प्रतिक्षण तत्पर हैं। तुम इन सबसे सावधान हो जाओ।

संसार की नश्वरता तथा माया-मोह के खतरे के दर्शन

रमैनी–४५

हरणाकुश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि बंसा॥ १॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बड़ सब गये जे रहल सयाना॥ २॥
समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥ ३॥
रहिगौ पन्थ थकित भौ पवना। दशों दिशा उजारि भौ गवना॥ ४॥
मीन जाल भौ ई संसारा। लोह की नाव पषाण को भारा॥ ५॥
खेवैं सबै मर्म हम जानी। तैयों कहैं रहे उतरानी॥ ६॥

साखी—मछरी मुख जस केंचुआ, मुसवन महँ गिरदान।
सर्पन माहिं गहेजुआ, ऐसी जात देखि सबन की जान॥ ४५॥

शब्दार्थ—निर्बक = शुद्ध। सर्बक = पूरा। पन्थ = मार्ग। पवना = प्राणवायु। दशोंदिशा = दसों इंद्रियां। उजारि = सूनसान। केंचुआ = बरसाती लम्बे कीड़े जो जमीन में रहते हैं। गिरदान = गिरगिट। गहेजुआ = छछूंदर।

भावार्थ—हिरण्यकश्यपु, रावण और कंस चले गये। श्री कृष्ण जैसे प्रभुताशाली पुरुष चले गये, तथा देवता, मनुष्य और मुनियों के वंशज भी संसार से उठ गये॥१॥ जीवन का रहस्य जाने बिना ब्रह्मा चले गये। वे सब चले गये जो बड़े चतुर या समझदार कहलाते थे॥२॥ राम की कहानी समझ में नहीं आयी कि वह शुद्ध दूध है या केवल पानी है॥३॥ सबके चले हुए रास्ते एवं अच्छे-बुरे आचरणों की केवल चर्चा रह गयी, परन्तु उनके प्राण थककर उड़ गये और दसों इंद्रियों के संयुक्त इस शरीर को सूनसान कर जीव चला गया॥४॥ जैसे मछलियों को फंसाने के लिए जाल होता है, वैसे मनुष्यों को फंसाने के लिए यह संसार जाल हो गया। मनुष्य अज्ञानवश लोह की नावका में पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। अर्थात अज्ञान की नावका में अहंता-ममता तथा सकाम कर्मों का बोझा लादकर पार जाना चाहता है॥५॥ वे सब अपनी अज्ञानरूपी लोह की नावकाएं खेय रहे हैं और कहते हैं कि हम इसका रहस्य जानते हैं। वे भवसागर में डूब रहे हैं, परन्तु उन्हें अहंकार है कि हमारी नावकाएं तैर रही हैं॥६॥

बंसी में लगे हुए केंचुए को मुख में लेकर जैसे मछली अपना गला फंसा लेती है, जैसे चूहा अपने मुख में गिरगिट लेकर और सांप अपने मुख में छछूंदर लेकर अपने को संकट में डाल लेते हैं, मैं देखता हूं कि वैसे मनुष्य संसार के आकर्षक दिखने वाले भोगों में उलझकर अपने जीवन को संकट में डाल लेते हैं॥४५॥

व्याख्या—यहां पर सद्गुरु संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि यहां से बड़े-बड़े नामी-ग्रामी चले गये, फिर हमें इस संसार के पदार्थों और शरीर का क्या अहंकार करना चाहिए। पुराणों के अनुसार हिरण्यकश्यपु बहुत प्रतापवान था, परन्तु वह भी इस संसार में न रह गया। रावण की महिमा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है जिसके सामने सारा संसार नतमस्तक होता था। उसको भी अपने परिवार तथा समाज के साथ संसार से जाना पड़ा। कंस भी बली और प्रतापी राजा थे। वे भी न रहे। महाभारत के अनुसार श्रीकृष्ण महान प्रतापवान शासक और राजनेता थे; परन्तु उनका पूरा परिवार गृहयुद्ध करके उनके सामने समाप्त हो गया और वे स्वयं भी संसार से चले गये। सुर, नर, मुनि भी अपने-अपने वंशजों के साथ चले गये।

"ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना" इस पंक्ति को पढ़कर चौंकने की आवश्यकता नहीं है कि क्या ब्रह्मा भी जीवन या सत्य का मर्म नहीं जान सके? इसके समाधान के लिए तो पुराण ही काफी हैं। पुराणों ने ब्रह्मा को जगह-जगह काम, मोह तथा क्रोधग्रस्त बताया है। ब्रह्मा को कर्मकांडों का ही प्रतिष्ठाता माना गया है जिससे ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं।

"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥" इस रमैनी में पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम होने से यहां 'राम की कहानी' का अर्थ दशरथसुवन श्री रामचंद्र जी महाराज की कथा से ही लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि यह बात लोगों की समझ में नहीं आयी कि श्री राम की कथा शुद्ध दूध है या केवल पानी है। अर्थात श्री राम ऐतिहासिक पुरुष हैं या केवल वाल्मीकीय महाकाव्य के काल्पनिक नायक!

श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता तो निर्विवाद है; क्योंकि उनके विषय में ऋग्वेद[१] तथा छांदोग्य उपनिषद्[२] जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में पूर्ण लक्षण मिलते हैं। परन्तु श्री राम के विषय में वेदों तथा उपनिषदों में ऐसा कुछ नहीं मिलता। ऋग्वेद (१०/९३/१४) में राजा दुःशीम, पृथु तथा वेन के साथ एक नाम 'असुर राम'[३] का आता है जिसका अर्थ 'बलवान राम' होता है। परन्तु इस राम के साथ दाशरथी राम के कोई अन्य लक्षण जैसे दशरथ-पुत्र, सीता-पति, अयोध्याधीश, रावण-अरि आदि नहीं आते हैं। ऋग्वेद (१०/६०/४) में राजा इक्ष्वाकु का नाम आता है और ऋग्वेद (१/१२६/४) में ही 'दशरथ' शब्द आता है, परन्तु वह दस संख्या में 'रथ' का अर्थ प्रकट करता है। जनक ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा प्रामाणिक उपनिषदों में व्याप्त हैं, परन्तु सीता या राम के नाम का वहां कोई उल्लेख नहीं मिलता।[४]

वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्व तथा वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र), प्रामाणिक उपनिषद् जिस पर शंकराचार्य आदि आचार्यों ने भाष्य किये हैं, तथा वैदिक छह दर्शनशास्त्र सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, ब्रह्मसूत्र आदि में कहीं भी राम-कथा का उल्लेख नहीं है। इसलिए कितने ही विद्वान मानते हैं कि राम-कथा केवल वाल्मीकीय महाकाव्य का विषय मात्र है। यह कोई ऐतिहासिक नहीं हैं।[५] परन्तु इसके विपरीत बहुत-से लोग रामकथा को प्रामाणिक ऐतिहासिक मानते हैं।

---

१. ऋग्वेद ८/८५/१३-१६। ऋग्वेद के जिस संस्करण में ११ सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त आठवें मण्डल में ९६वां सूक्त पड़ता है।

२. छांदोग्य उपनिषद् ३/१७/६।

३. 'असु' कहते हैं 'प्राण' को तथा 'असुर' कहते हैं 'प्राणवान' को। प्राणवान का अर्थ बलवान है।

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/१०/९), शतपथ ब्राह्मण (११/३/१/२-४); (११/४/३/२०); (११/६/२/१-१०); (११/६/३/१); जैमिनि ब्राह्मण (१/१९); (२/७६-७७); वृहदारण्यक उपनिषद् (३/१/१-२); (४/१/१) से (४/४/७); (५/१४/८); (२/१/१); कौषीतकी उपनिषद् (४/१); शांखायन आरण्यक (६/१) आदि में 'जनक' की विशद चर्चा है। (फादर कामिल बुल्के; रामकथा, पृष्ठ ४-५ से उद्धृत)।

५. वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, चौबीसवीं पीढ़ी में सीता तथा चालीसवीं पीढ़ी में श्री राम पड़ते हैं। एक पीढ़ी पचीस वर्ष की मानी जाय तो रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के चार सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। परन्तु विद्वान लोग रामायण की अपेक्षा पुराणों की वंशावली ज्यादा प्रामाणिक मानते हैं। उसके अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, साठवीं पीढ़ी में राम तथा चौबीसवीं पीढ़ी में सीता ठहरती हैं। इसके अनुसार रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के नौ सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। इन तीनों की एक काल में विद्यमानता कैसे हुई? यह एक समस्या है। देखिए 'रामायण रहस्य' के पहले अध्याय में राम, सीता तथा रावण की वंशावली से कालवैषम्य। तथा रजनीकांत शास्त्री कृत मानसमीमांसा, पृष्ठ ६३।

हो सकता है कि श्रीराम ऐतिहासिक पुरुष हों, परन्तु वे अपने जीवन-काल में लोगों-द्वारा बहुत श्रेय न पाये हों और वेद तथा वैदिक साहित्य के लेखकों ने उनका ज्यादा महत्व न समझा हो। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में राम-कथा का संकेत नहीं किया। परन्तु राम-कथा लोकगीत के रूप में जनमानस में चली आयी हो, और ईसा पूर्व करीब तीसरी शताब्दी में वाल्मीकि मुनि ने अपने सुन्दर काव्य के माध्यम से उसे जनता की प्रिय वस्तु बना दी। फिर तो वाल्मीकीय रामायण जैसे सुन्दर महाकाव्य से, जिसमें श्री राम का उदात्त चरित वर्णन है, प्रेरणा पाकर अनगिनत कवियों ने विभिन्न भाषाओं में उनका गुणगान किया। इसलिए भारत तथा भारतेतर देशों में भी राम-कथा प्रेरणाप्रद एवं प्रिय कथा सिद्ध हुई।

सारतः तो कोई कैसा ही महापुरुष हो, इस संसार से सबको जाना पड़ता है। सबके पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति ही रह जाती हैं, जो जनमानस में अच्छी तथा बुरी प्रेरणा के स्रोत बनती हैं।

इस संसार में आकर अपने आपको बन्धनों में न बांधना एवं स्वतन्त्र रखना बहुत बड़ी बात है। ऐसा होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि लोग माया के आकर्षण से अपने आप को बचा नहीं पाते और फंस जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं "मीन जाल भौ ई संसारा।" यह संसार तो मनुष्यों के फंसने के लिए 'मीनजाल' हो जाता है। जैसे भोली मछलियां जाल में फंस जाती हैं, वैसे भोले मानव माया के जाल में फंस जाते हैं। उठती जवानी ही कुछ करने योग्य समय है। इसी अवस्था में भक्ति, सेवा, स्वाध्याय, साधना, वैराग्य फलित हो सकते हैं, और इसी समय में मनुष्य के ऊपर माया का आक्रमण होता है। माया का अर्थ है मन का विषयों के प्रति आकर्षण, जो एक भ्रांति है। जवानी-रत्न को विषयों में खो देने के बाद फिर व्यक्ति के अपने पास बचता ही क्या है? मुकदमा से हारे आदमी के समान उसकी दयनीय स्थिति होती है। अपनी जवानी की उष्मा को खोना और पत्नी-बच्चों में फंसकर संसार में जीवनभर के लिए उलझ जाना—यही तो विषयों एवं माया के आकर्षण का फल है।

"लोह की नाव पषाण को भारा।" मानव लोह की नावका पर पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। वह रात-दिन ऐसे ही कर्म करता जाता है जिससे संसार-सागर में निरंतर नीचे ही डूबता जाय, परन्तु आशा करता है कि हम उबर जायेंगे। यही तो व्यामोह है। लोह की नावका में पत्थर भरकर सब उसे खेय रहे हैं। मोह की नावका में सकाम कर्मों की लादी लादकर पार जाना चाहते हैं। विमोहित मानव संसार-सागर में डूब रहा है; परन्तु उसे गर्व है कि हम तर रहे हैं।

रमैनी के अन्त की साखी में सद्गुरु मछली, चूहा तथा सांप के मार्मिक उदाहरण देते हैं। मछली चारा के लोभ में बंसी (कटिया) में फंसती है और मारी जाती है। गिरगिट अनेक रंग बदलने वाला जंतु होता है। कहा जाता है जब चूहा उसे फल आदि खाने की वस्तु समझकर खाने चलता है, तो गिरगिट चूहे के मुंह पर फूंक मार देता है और चूहा अन्धा हो जाता है। तीसरा उदाहरण सांप का है। सांप चूहे खाता है। परन्तु यदि कभी चूहे के आकार में दिखते हुए छछूंदर को चूहा समझकर मुख में पकड़ता है, तो सांप के

ऊपर संकट आ जाता है। कहा जाता है कि यदि सांप छछूंदर को खा ले तो वह उसके जहर से मर जाता है और यदि मुख में पकड़े हुए छछूंदर को छोड़ दे, तो अंधा हो जाता है।[१] इसीलिए कहा गया है—"भई गति सांप छछूंदर केरी। लीलत उगिलत पीर घनेरी।।"[२]

जैसे खाने के लोभ में पड़कर मछली, चूहा तथा सर्प अपनी जान को जोखिम में डालते हैं, वैसे विषयों के लोभ में पड़कर मनुष्य अपने आप को बन्धनों के संकट में डालता है।

मीन-जाल, लोह की नाव तथा पत्थर का भार, मछली-केंचुआ, चूहा-गिरगिट तथा सांप-छछूंदर के कैसे-कैसे मार्मिक उदाहरण देकर सद्गुरु हमें जगा रहे हैं। इस पर भी नींद न खुले, तो हमारी अकर्मण्यता है। सद्गुरु इस रमैनी में नाना उदाहरण और युक्ति देकर हमें सांसारिक माया-मोह से वैराग्य कराना चाहते हैं। वे इस रमैनी के शुरू में ही कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, कृष्ण, सुर, नर, मुनि आदि अपने-अपने परिवार-कुटुम्ब सहित इस संसार से चले गये। हम यहां कब तक रहेंगे! हम यहां जिस माया-मोह में भूलते हैं, वह तो 'मीन-जाल' है। हम जिस अहंता-ममता की नावका पर बैठे हैं, वह लोह या पत्थर की है और हमें डुबाने वाली है। हम जिन भोगों में विमोहित हैं, वे हमारी शांति, स्वतन्त्रता एवं कल्याण का वध करने वाले हैं। इतने मार्मिक, इतने हृदयस्पर्शी वक्तव्य से हमारे हृदय की मोह-रस्सी नहीं टूटेगी, तो हमारा कब छुटकारा होगा!

रमैनी–४६

बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई। बिनसे कपटी औ शत भाई।। १ ।।
बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा। बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा।। २ ।।
बिनसे अग्नि पवन औ पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी।। ३ ।।
विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाँहीं।। ४ ।।

साखी—मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर।। ४६ ।।

शब्दार्थ—गनी = गणना करना। अहेर = शिकार।

भावार्थ—नागों का विनाश हो गया और नागों को खाने वाले गरुड भी गलकर मिट्टी में मिल गये। छल-छद्म करने में निपुण शकुनि तथा सौ भाई दुर्योधन भी विनष्ट हो गये।।१।। इस संसार में पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले भी मरते हैं। सगुण की उपासना करने वाले इस संसार से चले जाते हैं, तो जिन्होंने निर्गुणतत्त्व को पहचाना है उन्हें भी यहां से जाना होता है।।२।। अग्नि, पवन, पानी आदि भौतिक तत्त्वों

---

१. कहा जाता है कि यदि सांप मुख में पकड़े हुए छछूंदर को पानी में डूबकर छोड़े तो वह अंधा होने से बच जाता है।

२. रामचरित मानस।

से बनी सारी चीजें नष्ट होती हैं। एक-एक चीज कहां तक गिनायी जाय, सृष्टि की सारी निर्मित चीजें नष्ट होती हैं।।३।। विष्णु-लोक भी क्षण में नष्ट हो जाता है। मैं सारे दृश्य को प्रलय की छाया में देखता हूं।।४।।

मनुष्य मछली को सरलता से मार लेता है, परन्तु मछली ही मनुष्य पर आक्रमण कर उसे मार दे, आश्चर्य है। इसी प्रकार माया केवल मन का मोह है, उसे साधक विवेकज्ञान से नष्ट कर सकता है; परन्तु मनुष्य के पास विवेक न होने से माया ही बलात मनुष्य का शिकार कर जाती है। माया के आक्रमण से विष्णु, महादेव और ब्रह्मा भी नहीं बचे, फिर देवता, मनुष्य और मुनि किस खेत की मूली हैं।।४६।।

व्याख्या—शरीर और संसार की चीजों के प्रति हमारे मन में अत्यन्त मोह, आसक्ति तथा अहंकार हैं और ये ही दुखों के कारण हैं। इसलिए इन्हें ध्वंस करने के लिए सद्गुरु बारम्बार संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हैं। पूर्व रमैनी में इस पर विस्तार से कह आये हैं। इस रमैनी में विशेषतः यह दिखाते हैं कि जिसे तुम देव-योनि या विष्णु-धाम कहते हो उनका भी विनाश निश्चित है।

"बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई।" यहां नाग और गरुड की नश्वरता की चर्चा है। नाग और गरुड कौन थे? इस पर विचार लें।

नाग—अनन्त, वासुकि, कवल, कर्कोटक्र, पद्म, महापद्म, शंक, कुलिक तथा अपराजित—ये सब नाग कहलाते हैं। इनके पिता का नाम कश्यप तथा माता का नाम कद्रु था। अनन्त, वासुकि आदि नागों के वंशजों की बहुत वृद्धि हुई और ये बहुत क्रूर-कर्मी हुए, प्रजा ने जाकर ब्रह्मा से इनके दोष कथन किये। ब्रह्मा ने नागों को बुलाकर समझाया, जब वे नहीं माने तब ब्रह्मा ने कहा—जैसे तुम मेरी प्रजा का नाश करते हो, वैसे अपनी माता के शाप से तुम सब स्वयं नष्ट हो जाओगे।

एक बार कद्रु तथा विनता में विवाद हुआ कि सूर्य के घोड़े की पूंछ काली है कि उजली? विनता कहती उजली है और कद्रु कहती काली है। अन्त में शर्त यह हुई कि जिसकी बात झूठी हो वह दूसरी की दासी बनकर रहे। कद्रु से नागों ने कहा कि पूंछ तो उजली है। कद्रु ने कहा अब क्या होगा? नागों ने कहा उपाय करेंगे। फलतः प्रातःकाल होते ही सूर्य के रथ के घोड़े उच्चैश्रवा की पूंछ में नाग जाकर लिपट गये। जिससे दूर से पूंछ काली दिखती थी। यह रहस्य विनता जान गयी और उसने नागों को छल के परिणाम में शाप दिया कि तुम सब नष्ट हो जाओ। फिर जनमेजय के यज्ञ में सर्प मारे गये।

जनमेजय के पिता राजा परीक्षित को जब तक्षक अर्थात सर्प ने काट खाया था, तब जनमेजय ने क्रोधित होकर और ब्राह्मणों से सम्मति लेकर एक सर्प-यज्ञ किया। ऋत्विकों (यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों) ने मन्त्र पढ़कर सब सर्पों को हवनकुण्ड में भस्म कर दिया था। आस्तीकि ऋषि ने जनमेजय को समझाया, तब उन्होंने केवल एक सर्प को छोड़ा था।

मनुष्य रूप कश्यप तथा कद्रु से सर्पों का जन्म लेना, मनुष्य-जैसी बात करना, सूर्य के रथ और घोड़े होना, जनमेजय के यज्ञ में मन्त्र पढ़ देने मात्र से सर्पों का अग्निकुण्ड में आ गिरना—यह सब कपोल कल्पित है। वस्तुतः भारत में नाग नाम की मनुष्य की एक जाति

थी, जो सुसभ्य और उन्नत थी, आर्यों से उनकी मुठभेड़ होती थी। आर्यों ने उनका सामूहिक दाह किया था। इसी को पीछे सर्पयज्ञ कहा गया।

गरुड—कश्यप की दूसरी पत्नी विनता के पुत्र गरुड थे। ये सब पक्षियों के राजा माने जाते हैं। ये विष्णु के वाहन भी माने जाते हैं। परन्तु मनुष्य से पक्षी का होना यह भी असम्भव कल्पना है।

कहा जाता है कि किसी काल में अमेरिकावासी मनुष्य नाग नाम से पुकारे जाते थे। ये बड़े बलवान थे। ये अत्याचार करने से नष्ट हुए होंगे। ये ही संभवतः कश्यप के वंशज रहे होंगे। इसी प्रकार यदि विनता से पैदा हुए तो गरुड भी मनुष्य ही रहे होंगे।

पुराणों के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां थीं। उनमें दिति से दैत्य, अदिति से देवता, दनु से दानव, कद्रु से नाग, विनता से गरुड, इसी प्रकार किसी से कोई तथा किसी से कोई जाति के लोग पैदा हुए। जब कश्यप मनुष्य थे तो उनकी पत्नियां भी मनुष्य ही रही होंगी, तभी उनसे बच्चे पैदा हुए होंगे। अतएव देवता, दैत्य, दानव, नाग, गरुड आदि सब मानव थे।

पुराणों के अनुसार नाग लोग पाताल में रहते थे। इसलिए कुछ लोग कल्पना करते हैं कि अमेरिकावासी नाग कहलाते थे। नग कहते हैं पर्वत को जो न गमन करे वह न-ग=नग और पर्वतों पर रहने वाले लोग नाग। इसीलिए भारत के पूर्वी छोर पर नाग लोग बसते हैं और वहां नागालैंड प्रदेश ही बन गया है। बंगाल में कुछ जाति के लोग हैं जो अपने को नाग कहते हैं। आसाम क्षेत्र के पर्वतों में अभी भी नाग लोग बसते हैं। विदर्भ में बसा हुआ नागपुर नगर को नागवंशियों का बताया जाता है। भारत के अन्य क्षेत्रों के नाग लोग हिन्दू समाज के चारों वर्णों में मिल गये।

डॉ० रांगेय राघव ने लिखा है—"विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नाग जाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका प्रसिद्ध राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था। नाग जाति के लोग सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।"[१]

"जो नागवंशीय भारतीय समाज में अंतर्भुक्त हो गये, वे सुसभ्य थे। भोगवती (इलाहाबाद) उनकी बड़ी राजधानी थी। वह वासुकि नाग के अधीन थी।......कायस्थों में अस्थाना हैं जिनका संबन्ध संभवतः अहिस्थान से ही है; क्योंकि अस्थाना अपनी परम्पराओं में नाग को मामा मानते हैं। वे मानते हैं कि नाग उन्हें नहीं काटते।"[२]

"नागों ने ही शायद तक्षशिला विश्वविद्यालय स्थापित किया था। महाभारत में तक्षशिला विश्वविद्यालय का नाम नहीं है। बुद्ध और चाणक्य के समय में तक्षशिला विश्वविद्यालय था। तक्षशिला में नागों को मारने जनमेजय गया था। यदि यह माना जाय कि भारत में आर्य ईसा से केवल पंद्रह सौ वर्ष पूर्व आये थे, तब विचारकों के मत को देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी तक्षशिला विश्वविद्यालय

---

१. रांगेय राघव; महायात्रा गाथा (१/२/६१)।

२. वही, (१/३/११७)।

का उल्लेख नहीं है। पांच सौ ईसा पूर्व के लगभग या उससे कुछ पहले छांदोग्य उपनिषद् माना जाता है। उसमें बुद्धकालीन तक्षशिला विश्वविद्यालय का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। यह कैसे हो सकता है कि दुनिया भर के ब्रह्मचर्य करने वाले उस स्थान का वर्णन तक न करते जहां चाणक्य जैसे विद्वान पढ़कर तैयार हुए थे।''[१]

भारत की प्राचीन मानव जातियां हैं—देवता, दैत्य, दानव, पिशाच, नाग, वरुण, गरुड, गंधर्व, किन्नर, मय, पणिय, वानर, रीक्ष आदि। इनके वंशज आज के हिन्दू-अहिन्दू कहे जाने वाले भरतवंशियों में अंतर्भुक्त हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि इस संसार में कोई क्या गर्व करता है। प्राचीन काल के प्रसिद्ध एवं प्रतापी नागवंशी एवं गरुडवंशी लोग अपनी सत्ता शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पूर्व ही खो चुके हैं। महाभारत को पढ़िये तो छल-कपट करने में कौरव तथा पांडव दोनों ने कसर नहीं रखी थी। स्वयं महाराज कृष्ण ने भी इसमें विशेष रूप से हाथ बटाया था। परंतु जुआ खेलने में शकुनि ने ज्यादा छल-कपट किया था। सद्‌गुरु कहते हैं कि कपट करने में निपुण शकुनि चले गये और सौ भाई दुर्योधन भी न रहे।

''बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा'' पाप करने वाले मर जाते हैं, तो यह कोई अहंकार न करे कि पुण्य करने वाले नहीं मरेंगे। उनको भी मरना हैं 'आये हैं सो जायंगे, राजा रंक फकीर।' फरक इतना ही है 'एक सिंहासन चढ़ि चला, बांधे जात जंजीर।' पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले मरते हैं। अंतर यही रहता है कि पुण्य करने वाला सिंहासन पर बैठकर जाता है और पाप करने वाला जंजीर में बंधकर जाता है। पवित्र संस्कारों से संपन्न रहकर प्रसन्नतापूर्वक जाना सिंहासन पर बैठकर जाना है, तथा गंदे संस्कारों में लिपटकर दुखपूर्वक जाना जंजीर में बंधकर जाना है। यही तो जीवन का सबसे बड़ा अंतर है।

''बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा।'' कोई सगुणवादी है और कोई निर्गुणवादी। लोग कहते हैं कि कबीर निर्गुणवादी हैं। सच पूछा जाय तो कबीर सगुणवाद-निर्गुणवाद के ऊपर हैं। वे कितनी निष्पक्षता से कहते हैं कि जो सगुण की उपासना करते हैं वे भी मरते हैं और जो निर्गुण को पहचानते हैं, वे भी इस संसार से जाते हैं। अतएव सगुणवादी तथा निर्गुणवादी को भी इस संसार की वस्तुओं का अहंकार करने की गुंजाइश नहीं है।

यहां प्रसंगवश सगुण तथा निर्गुण के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए। जहां तक भौतिक तथा मानसिक जगत है, सब सगुण है; क्योंकि इनमें सत, रज तथा तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। भौतिक जगत में निर्माण रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है, और मानसिक जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है, ज्ञान तथा प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। इस प्रकार भौतिक तथा मानसिक जगत सगुण है। इनमें जितनी उपासनाएं होती हैं, सब सगुण-उपासना है। स्थूल प्रतीक-उपासना, मानसिक प्रतीक-उपासना, गुरु-उपासना—सब सगुण उपासनाएं हैं।

---

१. वही, (१/३/११८)।

शुद्ध चेतन तीनों गुणों से परे होने से वह निर्गुण है। संकल्प समाप्त होने पर साधक की अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थिति हो जाती है, यही निर्गुण दशा है और यही कबीर साहेब का अंतिम सिद्धांत है। परन्तु यहां तक पहुंचने के लिए पहले सगुण-उपासना की उपयोगिता है। गुरु-उपासना के बाद ही स्वरूपस्थिति होती है। अतएव सद्गुरु कबीर निर्गुणवादी होते हुए भी मताग्रही नहीं हैं, किन्तु सगुण के पक्ष को भी समझते हैं। सद्गुरु यहां तो यह बताना चाहते हैं कि इस संसार से सगुणवादी, निर्गुणवादी सभी को जाना है। 'का कोइ गर्व कराय।'

"बिनसे अग्नि पवन और पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी।।" क्या मिट्टी, पानी, आग, हवा तत्त्व भी नष्ट हो जाते हैं? विज्ञान की दृष्टि से चारों तत्त्व भी अनेक सूक्ष्म तत्त्वों के योग हैं। फिर भी ये चारों महाभूत हर समय विद्यमान रहते हैं। संसार में कारण-कार्य की एक अटूट श्रृंखला है। मूल जड़ तत्त्व कारण हैं। उनमें अन्तर्निहित स्वाभाविक क्रियाएं हैं। उन क्रियाओं से अनेक कार्य-पदार्थ निरंतर निर्मित होते तथा विनशते रहते हैं। मूल जड़ तत्त्वों में अवाध गति से क्रिया होती है। उन्हीं क्रियाओं में निर्माण तथा विनाश अपने आप घटते रहते हैं। यह धारा अनादि है तथा अनन्त भी, अतएव उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ यही है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्वों से निर्मित समस्त सृष्टि ही परिवर्तनशील है। अतएव कोई भी कार्य पदार्थ स्थिर नहीं है।

"विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाहीं।।" सगुण उपासक लोग पुराणों की महिमापरक बातों से प्रभावित होकर आशा लगाये बैठे हैं कि विष्णुलोक में जाकर हम सदैव के लिए सुखी हो जायेंगे; क्योंकि वह अजर-अमर है। सद्गुरु कहते हैं कि पुराण ही उन्हें नाशवान बताते हैं। गीता कहती है "ब्रह्मलोक से लेकर सारे लोक ऐसे हैं जहां से पुनरागमन होता है। परन्तु हे कुंतीपुत्र! मुझ तक पहुंच जाने के बाद पुनः जन्म नहीं होता।' 'मामुपेत्य'—मेरे को पाकर अर्थात अपनी आत्मा को पाकर पुनर्जन्म नहीं होता।"[१]

वैसे विष्णुलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सत्यलोकादि सब काल्पनिक हैं। मनुष्य इस लोक में तृप्त नहीं होता है, तो अपनी अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति के लिए अन्य सर्वसंपन्न लोकों (स्वर्ग) की कल्पना करता है; जो केवल दिवास्वप्न एवं मन को बहलाने का चिद्विलास है। दुर्जनतोष न्याय अन्य कोई लोक मान भी लें तो वहां जाकर भी मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता, जब तक वह अपने मन की भोग-इच्छाओं को नहीं त्याग देता; और यदि भोग-इच्छाओं को त्याग दे तो इसी पृथ्वी पर वह पूर्ण सुखी हो जायेगा।

सद्गुरु ने यहां इतना ही कहा है कि तुम जहां तक भोग के साधन मान रखे हो, सबका नाश अवश्यंभावी है। "हौं देखा परलय की छाँहीं" मैं सब कुछ को प्रलय की छाया में देखता हूं। प्रलय की छाया का अर्थ है "नश्वरता के भीतर।"

---

१. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। *(गीता ८/१६)*

"मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।" संसार में देखा जाता है कि शिकारी मछली को सहज ही मार लेता है; परन्तु यहां आश्चर्य की बात हुई कि मछली ने ही बलपूर्वक शिकारी के ऊपर धावा बोल दिया। कबीर साहेब के कहने का तरीका चौंकाने वाला होता है। वे इतने संवेदनशील हैं कि जगत की आश्चर्यमय स्थिति को देख लेते हैं। उनका कथन केवल चौंकाने वाला नहीं है, किन्तु वास्तविकता वही रहती है।

'माया' कोई स्वतन्त्र सत्ता की वस्तु नहीं है। मन का मोह ही माया है। किसी मनुष्य ने बीड़ी पीने में आसक्ति बना ली, अब उसे बीड़ी पीये बिना रहा नहीं जाता। हम जिन-जिन प्राणी-पदार्थों से नहीं जुड़े होते हैं, उनके विषय में हमें कोई बन्धन नहीं होता; और जब नये प्राणी-पदार्थों से जुड़ जाते हैं और उनमें आसक्ति कर लेते हैं, तब उनके बिना रह नहीं पाते। इसी प्रकार सारे मोह मेरे कल्पित होते हैं। अतएव मोह की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है जिसे हम न मिटा सकें। साधक को ठीक से बोध हो जाय कि मैं शरीर, मन एवं सारे दृश्यों से भिन्न शुद्ध चेतन हूं और काम, मोह, लोभ आदि जितने मनोविकार हैं, मेरे मनःकल्पित हैं, मोहादि विकार मेरे शांति के शत्रु हैं, तो उन्हें पूर्णतया ध्वंस कर देने में वह परम समर्थ है। मन का मोह रूप माया अभावात्मक अहंकार मात्र है, जो साधक के स्वरूपज्ञान के तेज के आगे टिक नहीं सकती। परन्तु मनुष्य को स्वस्वरूपज्ञान न होने से वह दीन बना है और तुच्छ माया उस पर बलात हमला कर उसका शिकार करती है। अर्थात माया जीव को भटकाती है।

मछली दीन होते हुए भी वह चेतन प्राणी है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। माया तो ऐसा कुछ नहीं है। मछली का उदाहरण माया के लिए उपलक्षण मात्र है। माया तो केवल मन का मोह है जो विवेक के प्रकाश में समाप्त हो जाती है। विवेक न जगने से माया बलवान-सी लगती है। किसी गुफा में लाख वर्षों से अंधकार हो, प्रकाश जलाते ही उसका पता न लगेगा कि वह कहां गया। क्योंकि वह कुछ था ही नहीं। वह तो प्रकाश का अभाव मात्र था। वह अंधकार लाठी, डंडे तथा तलवार-बन्दूक से नष्ट होने वाला नहीं था; किन्तु प्रकाश लाने से उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार विवेकज्ञान के अभाव से मोह होता है और यही है माया, जो विवेक आने पर समाप्त हो जाती है।

रमैनी–४७

जरासिन्धु शिशुपाल सँघारा। सहस्रार्जुन छल सो मारा॥ १ ॥
बड़ छल रावण सो गौ बीती। लंका रहल कंचन की भीती॥ २ ॥
दुर्योधन अभिमाने गयऊ। पाण्डव केर मर्म नहिं पयऊ॥ ३ ॥
माया के डिम्भ गयल सब राजा। उत्तम मध्यम बाजन बाजा॥ ४ ॥
छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना॥ ५ ॥
कहाँ लों कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगरा एक भयऊ॥ ६ ॥

साखी—ई माया जग मोहिनी, मोहिन सब जग झारि।
हरिचन्द सत्त के कारणे, घर घर सोग बिकाय॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—जरासिन्धु = जरासंध। डिम्भ = दंभ, अहंकार, पुत्र। छौ चकवे = छह चक्रवर्ती—जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, पांडव; या वेन, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, सहस्त्रार्जुन; या पृथु, मांधाता, नहुष, सुहोत्र, शिवि तथा मरुत।

भावार्थ—माया-मोह के आवरण और घमंड में पड़कर ही जरासंध तथा शिशुपाल मार डाले गये। छल-बल के कारण ही सहस्रार्जुन मारा गया॥१॥ रावण बड़ा छली था, और ऐश्वर्य-बल इतना कि उसकी लंका नगरी की दीवारें सोने की बतायी जाती हैं; परन्तु वह भी मारा गया॥२॥ दुर्योधन अभिमान में पड़कर परिवार सहित नष्ट हो गया। उसने प्रमादवश पांडव का रहस्य नहीं जाना कि इनके रक्षक कूटनीति-निपुण शूरवीर श्रीकृष्ण हैं॥३॥ माया के अहंकार में पड़कर सब राजे-महाराजे चले गये। पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति चर्चा का विषय बनी रही॥४॥ छह सार्वभौम सम्राट जो समुद्र पर्यंत पृथ्वी के अधिपति थे, मरकर जमीन में मिल गये; परन्तु मोह-माया की ऐसी महिमा है कि एक आदमी भी शरीर की नश्वरता पर विश्वास नहीं करता। वह अपनी देह को अजर-अमर ही माने बैठा रहता है॥५॥ कहां तक कहूं, लोग असावधानी ही में संसार से चले जाते हैं। कौन सावधान है कौन असावधान है यह झगड़ा बना रहता है; क्योंकि सब तो अपने आप को सावधान मानते हैं॥६॥

यह माया जगत के लोगों को मोहने वाली है। इसने संसार के सारे लोगों को मोह लिया है। हरिश्चंद भी सत्य के कारण मायावश काशी की गली-गली में बिकते फिरे॥४७॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु ने जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, आदि बड़े-बड़े नरपतियों का नाम लेकर बताया है कि ये प्रसिद्ध राजे माया-मोह एवं अहंकारवश मारे गये। ये बड़े-बड़े कहलाने वाले जीवन भर दूसरों को दुख दिये और अन्त में स्वयं भी दुखी होकर संसार से विदा हुए। यही है प्रमाद का फल। इन राजाओं के विषय में थोड़ा विवरण देखें—

जरासंध

जरासंध मगध[1]-नरेश वृहद्रथ का पुत्र था। जब जरासंध राजगद्दी पर बैठा तब यह बड़ा प्रतापवान निकला। इसने बहुत-से राज्यों को जीतकर उनके राजाओं को कैद कर रखा था। शिशुपाल जरासंध का सेनापति था। कुरूष देश तथा पश्चिम के मुर तथा नरक देश के यवन राजा जरासंध के अधीन थे। वंग, पुंड्र, किरात देश के राजा जरासंध की शरण में थे। कृष्ण के सगे श्वसुर रुक्मिणी-पिता भीष्मक भी जरासंध के अनुगामी बने थे। उत्तर दिशा के अधिपति अठारह भोज-परिवार जरासंध के भय से पश्चिम की ओर भाग गये थे। शूरसेन, भद्रकार, शाल्व, योध, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिंद, कुंति, शाल्वायन, दक्षिण पंचाल, पूर्व कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि देशों के राजा जरासंध के डर से अपने-अपने राज्य छोड़कर पश्चिम तथा दक्षिण की ओर भाग गये थे।

---

१. बिहार में गंगा एवं पटना के दक्षिण स्थित क्षेत्र।

जरासंध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति दानवराज कंस को व्याही थीं। कंस मथुरानरेश उग्रसेन का पुत्र तथा श्रीकृष्ण का चचेरा मामा था। कंस के दुराचार से कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया था। कंस की हत्या हो जाने पर उसकी दोनों पत्नियां अपने पिता मगधनरेश जरासंध के पास चली गयीं। जरासंध को अपने दामाद कंस की हत्या सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की। परन्तु वह स्वयं कृष्ण को बच्चा समझकर उनसे न युद्ध कर बलराम से किया। उसकी सेना कट गयी। अतः वह मगध लौट गया। इस प्रकार उसने तेईस-तेईस अक्षौहिणी[1] सेना लेकर मथुरा पर सत्रह बार हमला किया और सेना कट जाने से मगध लौटता रहा।

श्रीकृष्ण ने यादवों के सहित मथुरा में रहना खतरे से खाली नहीं देखा, अतः उन्होंने सुदूर समुद्र के पास द्वारका नगर बसा लिया और परिवार के बहुत-से लोगों को वहां भेज दिया। इधर कालयवन ने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा को घेर लिया जो जरासंध से अलग शायद पश्चिम देशीय शूरवीर था। बलराम तथा कृष्ण उसके डर से भाग निकले। कालयवन ने उन्हें खदेड़ा। एक पर्वत में दोनों छिप गये। बीच में मुचुकुंद और कालयवन से मुठभेड़ हो गयी जिसमें कालयवन मारा गया।

श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा लौट आये और कालयवन की सेना का तहस-नहस कर उसे खदेड़ दिया तथा मथुरा से धन-दौलत मनुष्यों और बैलों पर द्वारका ले जाने की तैयारी होने लगी। इसी बीच अठारहवीं बार जरासंध पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर आ धमका। श्रीकृष्ण तथा बलराम जरासंध के भय से वहां से भाग खड़े हुए। जरासंध ने हंसते हुए उनका पीछा किया। श्रीकृष्ण तथा बलराम एक 'प्रवर्षण' नामक पर्वत पर चढ़कर छिप गये। जब जरासंध-द्वारा बहुत ढूंढ़ने पर भी वे नहीं मिले, तब उसने पर्वत पर चारों ओर से आग लगवा दी। जरासंध ने समझा कि श्रीकृष्ण तथा बलराम जल मरे होंगे; परन्तु वे दोनों भी कच्चे गोइयां नहीं थे। वे पर्वत से कूदकर द्वारका भाग गये।[2] इधर जरासंध मगध लौट गया।

श्रीकृष्ण के मन में जरासंध के प्रति वैर बना था ही। इन सब घटनाओं के बहुत दिनों बाद जब युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे, श्रीकृष्ण ने उन्हें जरासंध के वध करने के लिए उकसाया। युधिष्ठिर ने हिम्मत नहीं की। परन्तु श्रीकृष्ण के बल देने से उन्होंने स्वीकृति दी। श्रीकृष्ण भीम तथा अर्जुन को लेकर मगध की ओर चल दिये। ये तीनों मगधनरेश के किले में पीछे से घुसकर जरासंध के पास पहुंच गये और कृष्ण ने उसे युद्ध के लिए ललकारा। जरासंध अपने मंत्रियों को पुत्र सहदेव का राजतिलक करने की आज्ञा देकर मल्लयुद्ध में डट पड़ा। श्रीकृष्ण ने भीम को भिड़ा दिया। काफी हाथापाई के बाद भीम-द्वारा जरासंध मारा गया। श्रीकृष्ण ने भीम और अर्जुन के साथ जाकर जरासंध-

---

१. चतुरंगिणी सेना के एक परिमाण को अक्षौहिणी कहते हैं, जिसमें १,०९,३५० पैदल; ६५,६१० घोड़े; २१,८७० रथ और २१,८७० हाथी होते थे।

(बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि०, कबीर रोड, वाराणसी)

२. रण छोड़कर भागने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम रणछोड़ पड़ गया।

द्वारा कैद किये गये सारे राजाओं को बंदीगृह से छुड़वाया।[1]

शिशुपाल

गंगा और नर्मदा के बीच का क्षेत्र चेदि देश कहलाता था। इसके राजा दमघोष थे। शिशुपाल दमघोष का पुत्र था। शिशुपाल मगधनरेश जरासंध का सेनापति भी था।

विदर्भ देश (आज के नागपुर का क्षेत्र) का राजा भीष्मक था। उसकी पुत्री रुक्मिणी थी और उसके पांच पुत्र थे जिसमें बड़े पुत्र का नाम रुक्मी था। रुक्मिणी के अन्य भाई-बन्धु चाहते थे कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से हो; क्योंकि स्वयं रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण को ही अपना पति मन से चुन लिया था। परन्तु बड़ा भाई रुक्मी श्रीकृष्ण से वैर रखता था। उसने चेदि-राजपुत्र शिशुपाल से अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह रचा।

रुक्मिणी यह सब जानकर घबरा गयी और उसने गुप्तरूप से एक ब्राह्मण को द्वारका भेजकर श्रीकृष्ण से अपने मन की बात बता दी। श्रीकृष्ण इस बात को पहले सुन रखे थे कि रुक्मिणी मुझे चाहती है। इधर शिशुपाल अपने सैकड़ों मित्रों, जरासंध आदि बड़े-बड़े नरेशों एवं सेना के सहित बरात लेकर विदर्भ पहुंचा। उधर श्रीकृष्ण-बलराम अपनी सेना के सहित रुक्मिणी के संदेशानुसार उन्हें हरण करने के लिए विदर्भ पहुंचे। विदर्भनरेश भीष्मक ने समझा कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी और शिशुपाल का विवाह देखने आये हैं। उन्होंने तथा अन्य नरेशों ने श्रीकृष्ण का स्वागत किया। जब रुक्मिणी देवी-पूजन के लिए नगर के बाहर गयीं, तब रुक्मिणी के योजनानुसार श्रीकृष्ण उन्हें रथ पर बैठाकर भाग निकले।

शिशुपाल आदि क्षत्रियों को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कहा 'हम क्षत्रियों के रहते हुए ये ग्वाले[2] रुक्मिणी को उड़ाये जा रहे हैं, हमें धिक्कार है।' वे उनके पीछे लड़ने दौड़े, परन्तु श्रीकृष्ण की सेना ने उन्हें परास्तकर खदेड़ दिया। इसके बाद रुक्मी बहुत उत्तेजित होकर तथा एक अक्षौहिणी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया। उसकी सेना भी मारी गयी। अन्त में श्रीकृष्ण ने रुक्मी का वध करना चाहा, परन्तु रुक्मिणी ने भातृ-स्नेह-वश छोड़वा दिया। तब श्रीकृष्ण ने रुक्मी को उसके ही दुपट्टे से बांधकर उसकी दाढ़ी, मूंछ तथा सिर के बाल यत्र-तत्र कटवा दिये। बलराम जब वहां आये तब उन्होंने श्रीकृष्ण को डांट कर रुक्मी को छुड़वा दिया और कहा कि ऐसा विरूपण किसी राजपुरुष को नहीं करना चाहिए। रुक्मी ने लज्जावश विदर्भ न जाकर एक अलग 'भोजकट' नाम की नगरी बसायी और वहां रहने लगा। उधर द्वारका जाकर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी का विवाह हुआ। इसे राक्षस-विवाह कहते हैं।[3]

चेदिनरेश दमघोष श्रीकृष्ण के फूफा थे। उनकी बूआ का नाम 'सुप्रभा' था जो शिशुपाल की माता थीं। शिशुपाल का दूसरा भाई दंतवक्र था। कहा जाता है जब सुप्रभा

---

१. भागवत, स्कंध १०, अध्याय ५०-५२ तथा हरिवंश विष्णु पर्व, ५६।

२. गोपैर्हतं (भागवत १०/५३/५७)।

३. राक्षसेन विधानेन *(भागवत १०/५२/१८)*।

की कोख से शिशुपाल पैदा हुआ, तब उसके चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। इसे देखकर सुप्रभा डर गयीं; परन्तु आकाशवाणी हुई कि डरो मत, यह लड़का बड़ा बली तथा श्रीमान होगा। सुप्रभा ने आकाशवाणी से पूछा कि इसकी मृत्यु किसके हाथों होगी? आकाशवाणी ने बताया कि जिसकी गोद में जाने से इसके दो अतिरिक्त हाथ तथा तीसरा नेत्र लुप्त हो जायगा, उसी के हाथों यह मरेगा।

शिशुपाल को देखने बहुत-से नरेश जाते थे। सुप्रभा उसे सबकी गोद में रखती थी। जब श्रीकृष्ण उसे देखने गये, तब उनकी गोद में रखने से शिशुपाल के दोनों अतिरिक्त हाथ तथा एक अतिरिक्त नेत्र लुप्त हो गया। सुप्रभा श्रीकृष्ण से डर गयी। उसने श्रीकृष्ण से शिशुपाल के अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने सुप्रभा से कहा 'बूआ जी, मैं अपने फुफेरे भाई शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा कर दूंगा।'

युधिष्ठिर के अपने अनुष्ठित राजसूय-यज्ञ में जब सभा जुड़ी, तब उन्होंने सभासदों से पूछा कि पहली पूजा किसकी हो? इस पर भीष्मपितामह ने श्रीकृष्ण की पूजा करने की राय दी। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा देखकर शिशुपाल क्रोधित हो गया और वह भीष्मपितामह तथा युधिष्ठिर को धिक्कारते हुए श्रीकृष्ण को खरी-खोटी सुनाने लगा। शिशुपाल ने कहा—बड़े-बड़े नरपति सम्राटों के रहते हुए उनके सामने कृष्ण अग्रपूजा के पात्र नहीं हैं। पांडव बालक के तुल्य हैं। भीष्मपितामह सठिया गये हैं। कृष्ण कोई राजा नहीं है। यह सम्मान उनके अयोग्य है। वृद्ध वसुदेव, द्रुपद, द्रोणाचार्य, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास, भीष्मपितामह, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कृप आदि योग्य पुरुषों के रहते हुए कृष्ण की पूजा करना सबका अपमान करना है। हम नरेश लोग तो इसलिए यहां आये कि यह भोलाभाला युधिष्ठिर सम्राट हो जाय तो अच्छा ही है, तो आप लोग हम लोगों का अपमान करने लगे।

शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए कहा—"कृष्ण, मैं मानता हूं कि पांडव बेचारे डरपोक और तपस्वी हैं, इन्होंने यदि ठीक-ठीक नहीं समझा तो तुम्हें जना देना चाहिए था कि तुम किस पूजा के अधिकारी हो। यदि कायरता और मूर्खतावश इन्होंने तुम्हारी पूजा कर भी दी तो तुमने अयोग्य होकर उसे स्वीकार क्यों किया? जैसे कुत्ता लुक-छिपकर जरा-सा घी चाट ले और अपने को धन्य-धन्य मानने लगे, वैसे ही तुम यह अयोग्य पूजा स्वीकार कर अपने को बड़ा मान रहे हो। तुम्हारी इस अनुचित पूजा से हम राजाओं का कोई अपमान नहीं होता। ये पांडव तो स्पष्ट रूप से तुम्हारा ही तिरस्कार कर रहे हैं। नपुंसक का व्याह कराना, अन्धे को रूप दिखाना, राज्यहीनों को राजाओं में बैठा देना जिस प्रकार उन्हीं का अपमान है, वैसे ही तुम्हारी यह पूजा भी तुम्हारा अपमान है। हमने युधिष्ठिर, भीम और तुमको देख लिया! तुम सब एक-से-एक बढ़कर हो।" ऐसा कहकर शिशुपाल अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और कुछ राजाओं को साथ लेकर वहां से जाने के लिए तैयार हो गया।"[1]

---

१. संक्षिप्त महाभारत अंक, खंड १, पृष्ठ १९८, गीता प्रेस गोरखपुर।

इसके बाद युधिष्ठिर ने शिशुपाल के पास जाकर मधुर वाणी में उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं समझा। शिशुपाल अन्य विरोधी राजाओं को लेकर यज्ञ तथा युधिष्ठिर का यज्ञान्त-अभिषेक नहीं होने देना चाहता था।

इसके पश्चात भीष्म ने शिशुपाल को भला-बुरा कहा। पीछे पुनः शिशुपाल श्रीकृष्ण की बहुत कटु शब्दों में आलोचना करता रहा। उसने कहा—"भीष्म! तुम भाट के समान कृष्ण का क्या गुणगान करते हो। दूसरे राजाओं का गुणगान क्यों नहीं करते?·······तुम अपने मन से भोजपति कंस के चरवाहे दुरात्मा कृष्ण को ही सब कुछ मानकर बातें बघार रहे हो?·······कृष्ण! मैं तुम्हें ललकारता हूं। आओ मुझसे भिड़ जाओ।"[१]

श्रीकृष्ण ने कहा—"राजाओ! यह (शिशुपाल) हम लोगों का संबंधी है। फिर भी हमसे बड़ी शत्रुता रखता है। इसने हम यदुवंशियों का सत्तानाश करने में कोई कोरकसर नहीं की। इस दुरात्मा ने मेरे प्राग्ज्योतिषपुर[२] चले जाने पर बिना किसी अपराध के द्वारकापुरी जला देने की चेष्टा की। जिस समय भोजराज रैवतक पर्वत पर विहार करने के लिए गये हुए थे, इसने उनके सभी साथियों को मार डाला अथवा बांधकर अपनी राजधानी में ले गया। जब मेरे पिता अश्वमेध कर रहे थे, तब इस पापात्मा ने उसमें विघ्न डालने के लिए यज्ञीय अश्व को पकड़ लिया था। यदुवंशी तपस्वी वभ्रु की पत्नी जिस समय सौवीर देश के लिए जा रही थी, यह उन्हें देखकर मोहित हो गया और बलपूर्वक हर ले गया। इसकी ममेरी बहन भद्रा करूषराज के लिए तपस्या कर रही थी, परन्तु इसने छल से रूप बदलकर उसे हर लिया। इस सबको देख-सुनकर मुझे बड़ा कष्ट होता था, परन्तु अपनी बूआ की बात मानकर मैं अब तक सहता रहा। आज यह दुष्ट आप लोगों के सामने ही विद्यमान है। यहां इसने भरी सभा में मेरे प्रति जैसा व्यवहार किया है, यह आप लोग देख ही रहे हैं।"[३] अन्ततः श्रीकृष्ण ने चक्र से शिशुपाल का वध कर दिया।

सहस्रार्जुन

हैहयवंशी क्षत्रिय सहस्रार्जुन बड़ा प्रतापी राजा था। कहा जाता है कि यह दत्तात्रेय के वर से हजार हाथों वाला हो गया था। तात्पर्य है कि यह बहुत बली था। यह एक बार शिकार खेलने वन में गया। वहां जमदग्नि का आश्रम पड़ा। जमदग्नि ने अर्जुन का सेना सहित आदर किया। जमदग्नि के पास एक गाय थी। उस पर अर्जुन ने लोभ किया और उसे बलपूर्वक अपनी 'राजधानी' ले गया। जब परशुराम अपने पिता जमदग्नि के पास आये, तब यह घटना सुनकर बहुत दुखी हुए। परशुराम क्रोधित होकर और जाकर अर्जुन की सेना का नाश कर अर्जुन को भी मार डाला।

एक बार जमदग्नि अपनी यज्ञशाला में बैठे यज्ञ कर रहे थे। सहस्रार्जुन के लड़के बदला की भावना से प्रेरित होकर आये और उनका सिर काटकर लेकर अपनी राजधानी

---

१. संक्षिप्त महाभारत, खंड १, पृष्ठ २०१।

२. आज के आसाम प्रान्त के गोहाटी का पुराना नाम प्राग्ज्योतिषपुर था।

३. संक्षिप्त महाभारत १/२०१।

चले गये। परशुराम जब पिता का वध जान पाये तब वे अर्जुन की राजधानी माहिष्मती में जाकर अर्जुन के पुत्रों तथा वहां के लोगों के सिर काटकर नगर के बीच में कटे हुए सिरों का एक पर्वत खड़ा कर दिये, और वे हैहयवंशी क्षत्रियों का इक्कीस बार सामूहिक वध करते रहे।"[१]

रावण

ब्रह्मा का पुत्र पुलस्त्य, पुलस्त्य का विश्रवा तथा विश्रवा का पुत्र रावण है। इस प्रकार रावण ब्रह्मा का पनाती है। सुमाली राक्षस की लड़की केकसी थी। केकसी और विश्रवा के संयोग से रावण पैदा हुआ था। माता राक्षस तथा पिता ब्राह्मण होने से रावण ब्राह्मण तथा राक्षस दोनों कहा जाता है। श्री राम अपने चौदह वर्ष के वनवासकाल में जब दक्षिणी भारत के दंडकारण्य में रहने लगे थे, तब रावण-शासित उस प्रदेश के लोग श्री राम से शंकित हो गये थे। इसी बीच श्रीराम-द्वारा शूर्पणखा-विरूपण तथा खरदूषण-वध आदि से रावण उत्तेजित हो गया था।

रावण ने जब सीता की सुन्दरता का बखान सुना तो वह सब भूलकर उन्हें हरण कर ले गया और विभीषण तथा अपने सहयोगियों के लाख समझाने पर भी सीता को श्री राम के पास नहीं लौटाया। विभीषण की पत्नी सरमा ने सीता से कहा "बूढ़े मंत्रियों तथा माता के बहुत समझाने पर भी रावण तुम्हें उसी प्रकार नहीं लौटाना चाहता जैसे लोभी धन को नहीं त्यागना चाहता। रावण युद्ध में मरे बिना तुम्हें छोड़ने का साहस नहीं करता।"[२] रावण ने माल्यवान के समझाने पर उससे कहा "मैं सुन्दरी सीता को वन से लाकर अब मात्र राम से भय खाकर उसे लौटा नहीं सकता।"[३] रावण ने पुनः कहा—"मैं टूटकर दो टुकड़े भले हो जाऊं, परंतु किसी के सामने झुक नहीं सकता। यह मेरा सहज दोष है और स्वभाव को जीतना असंभव है।"[४]

इस प्रकार काम, मोह, क्रोध तथा अहंकार के वश होकर रावण श्रीराम-द्वारा मारा गया।

दुर्योधन

वेदव्यास जी ने अपनी माता सत्यवती की आज्ञा से स्वर्गीय विचित्रवीर्य की दो विधवा पत्नियों तथा एक दासी का गर्भाधान किया और अंबिका से धृतराष्ट्र, अंबालिका से पांडु और दासी से विदुर को जन्म दिया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र बताये जाते हैं जिसमें ज्येष्ठ दुर्योधन थे।

---

१. भागवत, स्कंध ९, अध्याय १५-१६। महाभारत, शांति पर्व, अध्याय ४९।

२. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग ३४, श्लोक २३, २४।

३. वाल्मी० युद्ध० सर्ग ३६, श्लोक ८।

४. द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग ३६, श्लोक ११)

पांडु रोगी थे। उनकी पत्नी कुंती और माद्री ने पांडु की आज्ञा से पुत्र उत्पन्न किये। कुंती ने धर्मराज से युधिष्ठिर, पवन से भीम और इन्द्र से अर्जुन को पैदा किया तथा माद्री ने अश्विनीकुमारों से नकुल तथा सहदेव जुड़वा लड़का पैदा किया। आगे चलकर युधिष्ठिर को युवराज पद दिया गया। युधिष्ठिर का गुण-प्रभाव बढ़ने से धृतराष्ट्र को चिन्ता हो गयी। कूटनीति कर पांडवों को वारणावत भेजा गया। उन्हें लाक्षागृह में जलाने की भी योजना बनी। परन्तु पांडव बच निकले। उसके बाद पांचालनरेश द्रुपद की पोष्य पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने सफलता पायी। बात धृतराष्ट्र तक गयी। उन्होंने दुर्योधन के विरोध करने पर भी पांडवों को बुलाकर हस्तिनापुर से अलग इन्द्रप्रस्थ में उनकी राजधानी बनवा दी।

पीछे युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें कौरव भी सम्मिलित हुए। उसमें जो राजाओं-द्वारा चढ़ावा आया, उसे तथा युधिष्ठिर की अन्य कीर्ति देखकर दुर्योधन ईर्ष्या से जल-भुन गया।

दुर्योधन के इस दुख को देखकर उसके मामा शकुनि ने उसे समझाया और कहा युधिष्ठिर बड़े जुआड़ी हैं। मैं उनको जुआ में निमंत्रित कर उन्हें छल से हराकर उनका सर्वस्व तुम्हें जिता दूंगा।

जुआ हुआ। जुआ में युधिष्ठिर सर्वस्व हारकर बारह वर्ष के लिए वनवास तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में चले गये। दुर्योधन ने यही शर्त रखी थी, कि तेरह वर्ष के बाद आने पर राज्य दिया जा सकेगा। परन्तु पांडवों के आने पर भी दुर्योधन ने उन्हें राज्य नहीं लौटाया और कहा कि बिना युद्ध के सूई के अग्र बराबर जमीन भी नहीं लौटाऊंगा। श्रीकृष्ण ने बहुत समझाया कि पांचों पांडवों को केवल पांच गांव दे दो। परन्तु दुर्योधन ने नहीं माना, सो नहीं माना। अंततः कौरव-पांडव में अठारह दिन का युद्ध हुआ और दोनों पक्षों का घोर विनाश हुआ। दुर्योधन तो परिवार सहित नष्ट हो गया।

उपर्युक्त कहानियों में आकाशवाणी, हजार हाथ आदि काल्पनिक हैं तथा जरासंध का तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना अठारह बार लेकर धावा करना, कालयवन का तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा घेरना आदि अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

सद्‌गुरु तो यह बतलाना चाहते हैं कि ये प्रतापी कहलाने वाले रजवाड़े माया-मोह एवं अहंकार-वश जीवन भर स्वयं मनस्ताप में जलते रहे, खून-खराबा करते रहे तथा स्वयं भी मारे जाते रहे। सद्‌गुरु कहते हैं कि सारे राजे-महाराजे माया के दंभ तथा अहंकार में नष्ट हो गये। उनके मरने के बाद उनके अच्छे-बुरे कर्तव्यों के बाजे बजते रहे। उनकी अच्छी-बुरी चर्चाएं होती रहीं।

"छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना।।" भू-मंडल के छह चक्रवर्ती सम्राट मरकर जमीन में गल गये। छह चक्रवर्ती ही क्यों, अनगिनत राजे-महाराजे एवं सारे प्राणी तो मर-मरकर पृथ्वी में समाये हैं। मिश्र के पिरामिड हजारों वर्ष पूर्व के

ऐश्वर्यशाली राजाओं की नश्वरता की साक्षी दे रहे हैं। पुरातत्त्व विभाग की खुदाई में कितने ही विशाल राजभवनों, बौद्ध-अवशेषों एवं प्राचीन संस्कृतियों के साक्ष्य मिलते हैं, जिन सबके निर्माताओं एवं उपभोक्ताओं के नाम तक का पता नहीं चलता। ऐसे क्षणभंगुर संसार में रहकर भी हम यह नहीं ध्यान देते कि हमें भी आज-कल में यहां से जाना है। यही है माया-मोह का प्रमाद!

सद्गुरु कहते हैं कि नाम लेकर कहां तक गिनाया जाय, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी लोग माया के उन्माद में पड़कर असावधानी ही में चले गये। परन्तु "चेत अचेत झगरा एक भयऊ" अर्थात संसार में एक झगड़ा है कि चेत कौन है, अचेत कौन है? कौन सावधान है और कौन असावधान है, यह जनमानस में विवाद का विषय है। जो अपने जीवनभर धन, स्त्री, राज्य के लिए या अपने अहंकार में ठेस लगने से मार-काट करता रहा, उसे भी बहुत-से लोग ज्ञानी, योगी तथा मुक्तात्मा मानते हैं, और कितने ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न पूर्ण अहिंसाव्रत में रहने वाले सन्त पुरुष को अपने मत से भिन्न मानकर बंधमान मानते हैं। अतएव कौन सावधान (ज्ञानी) है तथा कौन असावधान (अज्ञानी) है, इसका सर्वसंमत निर्णय न हुआ है न होगा। परन्तु निष्पक्ष होकर समझा जा सकता है कि जो सांसारिक चीजों के लिए या अहंकारवश उलझा हो, क्रोध, हिंसा, काम, लोभ, मोह में ग्रस्त हो, वह असावधान है, वह चाहे जो हो। सावधान वही है जो मोह-माया तथा अहंकार को त्यागकर स्वरूपस्थिति में शांत है।

यह माया जग-मोहिनी है। यह सबको मोहती है। जो इसके मोह में न पड़े वही श्रेष्ठ है। हरिश्चंद सत्य-पालने के चक्कर में बहुत दुखी हुए। यह भी एक माया-मोह ही था।

हरिश्चंद

अयोध्या-नरेश हरिश्चंद से विश्वामित्र ने एक ब्राह्मण का रूप बनाकर उनका सारा राज्य अपने लिए दान करवा लिया। पीछे विश्वामित्र ने ढाई भार सोना दक्षिणा मांगी। उसको देने के लिए हरिश्चंद ने अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित को काशी में एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया तथा स्वयं को एक भंगी के हाथों बेचा।

सद्गुरु कहते हैं कि हरिश्चंद को ब्राह्मण नामधारी को दान से खुशकर स्वर्ग जाने का मोह था, फिर वह ब्राह्मण चाहे कितना ही छली हो। इस चक्कर में पड़कर वे अपनी तथा अपने बच्चों की बिक्री करने के लिए काशी की गलियों में भटकते फिरे और शोकित रहे। विवेकी पुरुष को कोई भी जालसाज हरिश्चंद के समान बेवकूफ नहीं बना सकता। सत्यपालन का अर्थ यह नहीं है कि अपने को बुरी तरह ठगा दे। हरिश्चंद का सत्यपालन कम, भोलापन ज्यादा था जो इस मोह को लेकर था कि जैसे-कैसे ब्राह्मण को दान से खुशकर स्वर्ग जाना है। कहीं-कहीं लिखा मिलता है कि हरिश्चंद ने यह सब स्वप्न में देखा था। वस्तुतः यह सब ब्राह्मणों-द्वारा दान की महिमा में रची गयी काल्पनिक कथा है।

मुसलिम मुल्लाओं से निवेदन

रमैनी–४८

मानिकपुर कबीर बसेरी। महति सुनी शेखतकि केरी॥ १ ॥
ऊजै सुनी जौनपुर थाना। झूसी सुनी पीरन को नामा॥ २ ॥
एकइस पीर लिखें तेहि ठामा। खतमा पढ़ें पैगम्बर नामा॥ ३ ॥
सुनी बोल मोहिं रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥ ४ ॥
हबी नबी नबी के कामा। जहँ लों अमल सो सबै हरामा॥ ५ ॥

साखी—शेख अकर्दी शेख सकर्दी, मानहु बचन हमार।
आदि अन्त औ युग युग, देखहु दृष्टि पसार॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—मानिकपुर = एक कस्बा, जो इलाहाबाद-कटनी रेलवे लाइन पर पड़ता है; दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद-रायबरेली लाइन पर पड़ता है जिसका रेलवे स्टेशन गढ़ी मानिकपुर है। महति = प्रशंसा। शेखतकि = शेखतकी, प्रसिद्ध सूफी संत, सिकन्दर लोदी का गुरु। जौनपुर = वाराणसी के पश्चिमोत्तर दिशा में वाराणसी-लखनऊ रेलवे लाइन पर स्थित एक शहर। झूसी = प्रयाग (इलाहाबाद) संगम के पूर्व तरफ का एक कस्बा। पीरन = पीर (गुरु) का बहुवचन। खतमा = खुत्बः, धर्मोपदेश, भाषण, नमाज का खुत्बः, प्रार्थना। पैगम्बरनामा = पैगंबरों की नामावली। मुकर्बा = मकबरा, कब्र। हबी (हबीब) = अतिशय प्रेम करने योग्य, मित्र, खुदा या नबी। नबी = ईश्वर का दूत, पैगंबर, मुसलमानी शास्त्रों के रचयिता, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने वाले। अमल = कार्य, अच्छे या बुरे कृत्य, लोकाचार; जप, मिस्मरेजम का अमल, यहां का अर्थ बाह्याचार जप आदि है। हरामा = हराम, वर्जित। शेख अकर्दी शेख सकर्दी = दो सूफी सन्तों के नाम। शेख = शैख, फकीरों का महंत, दरगाह का अधिपति। युग युग = सब समय।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहां पर रहते हुए मैंने शेखतकी की प्रशंसा सुनी॥१॥ वहीं पर मैंने यह भी सुना कि उनके निवास-स्थान जौनपुर और झूसी हैं तथा वहां पर बहुत-से पीरों के नाम प्रसिद्ध हैं॥२॥ झूसी में इक्कीस पीरों के नाम कब्रों या दीवारों में खुदे हैं और वहां पर मुल्ला लोग पैगंबरों के नाम लेकर खुत्बः पढ़ते हैं। उनकी प्रशंसा में स्तुति करते हैं॥३॥ यह सब सुनकर मुझसे सहन नहीं हुआ और मैं वहां गया तथा उनसे बोला—'तुम लोग (हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा को तो नरक का द्वार बतलाते हो और स्वयं) जड़ कब्रों को देखकर भूल गये और इन्हीं बेजानों की प्रार्थना करने में लग गये हो!॥४॥ प्यारे नबियों ने क्या यही कर्तव्य-शिक्षा दी है? वस्तुतः सत्यप्रेमी के लिए सारे बाह्याचार वर्जित हैं। अथवा चाहे प्यारे नबियों के ही काम हों, जहां तक जड़-पूजन संबंधी बाह्याचार हैं, सब त्याज्य हैं॥५॥

हे शेख अकरदी तथा शेख सकरदी मठाधीशो! मेरी बातों को मानो, और अपनी आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली नाशवान वस्तुएं क्या हैं तथा युग-युग रहने वाली नित्य वस्तु क्या है? वस्तुतः सारी भौतिक चीजें आदि-अन्त वाली एवं नाशवान हैं,

अतएव वे उपासनीय नहीं हो सकतीं। उपासनीय तो सब समय रहने वाला अविनाशी आत्मस्वरूप ही है ।।४८।।

व्याख्या—यह ४८ वीं रमैनी ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। प्रथम पंक्ति में अन्य पुरुष के रूप में कबीर साहेब की प्रस्तुति है जो प्रबन्ध में कहने का एक प्रकार है। वस्तुतः अन्य पुरुष के रूप में सद्गुरु कबीर स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहीं पर रहते हुए शेखतकी की प्रशंसा सुनी।

यह मानिकपुर कौन हो सकता है, साफ नहीं है। जैसे कि शब्दार्थ में बताया गया है कि एक मानिकपुर इलाहाबाद-कटनी रेलवे लाइन पर है तथा दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद-रायबरेली लाइन पर है। ये दोनों ही प्राचीन हैं। कहा जाता है कि पनिका जाति के एक प्राचीन ग्रन्थ 'मानिक खंड' में भी यह बात लिखी है और पनिका जाति में यह माना जाता है। पनिका जाति मध्यप्रदेश की एक जाति है जो पूरी कबीरपंथी होती है। ये जन्मजात शाकाहारी एवं शुद्ध आचार-विचार के होते हैं। ये अपने आपको 'मानिकपुरी' भी कहते हैं। 'मानिकपुरी' इनकी प्रसिद्ध उपाधि है।

'जौनपुर' उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध शहर है। कहा जाता है कि १३९४ से १४९३ ई० अर्थात १०० वर्षों तक बदायूं और इटावा से लेकर बिहार तक फैला हुआ देश स्वतन्त्र मुसलिम राज्य की जौनपुर राजधानी था। कहा जाता है कबीर साहेब के समय में सिकन्दर लोदी ने जौनपुर पर हमला कर इसे हड़प लिया था। इसके शासन काल में विद्रोह और उथल-पुथल था। जौनपुर में मुसलमानों के पीर रहा करते थे।

झूसी जो प्रयाग गंगा-यमुना-संगम के पूर्व छोर पर है, आज के कस्बा के पास दक्षिण तरफ खंडहर तथा कब्र विद्यमान हैं। लगता है शेखतकी जौनपुर तथा झूसी दोनों जगहों में रहा करते थे। उनके ज्यादा रहने की बात झूसी ही में बतायी जाती है।

इस रमैनी के अनुसार कबीर साहेब ने मानिकपुर में रहते-रहते शेखतकी तथा वहां के सूफी सन्तों के विषय में प्रशंसा सुनी थी। परन्तु साथ-साथ यह भी सुना कि दरगाहों के मठाधीश लोग कब्रों की प्रार्थना तथा अनेक कर्मकांड में लगे रहते हैं। कबीर साहेब ने झूसी तथा जौनपुर की यात्रा की थी। इस रमैनी की यह चौपाई "सुनी बोलि मोहि रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई।।" ध्यान देने योग्य है। कबीर साहेब ने जब मुल्लाओं की कब्रों के प्रति अधिक उपासना-भक्ति देखी, तब उनसे सहन नहीं हुआ। जो मुल्ला बुतपरस्ती को नरक का रास्ता बताये वही खुद कबरपरस्ती करे, यह कहां का ज्ञान है! उन्होंने कहा 'तुम लोग कब्रों को देखकर भूल रहे हो।' यह एक विडंबना ही है कि जो मूर्ति-पूजा का विरोध करे, वह स्वयं कब्र पूजे, मक्का में जाकर काबे के पत्थर को चूमे, कागज के ताजिये बनाकर उनकी पूजा करे और इस प्रकार के अनेक कर्मकांडों में लिपटा रहे। जनाब अमीर मीनाई ने भी क्या खूब कहा है—"मुल्ला-मौलवी लोग ब्राह्मणों को शैतान या काफिर कहते हैं और ब्राह्मण उनको नास्तिक या म्लेच्छ कहते हैं। परन्तु मैं देखता हूं तो काबा और हिन्दू-मन्दिरों में पत्थर का जवाब पत्थर है। अर्थात हिन्दू-

मुसलमान दोनों पत्थर पूजने वाले हैं।"[१]

"हबी नबी नबी के कामा। जहाँ लों अमल सो सबै हरामा।।" सद्गुरु कहते हैं कि प्यारे नबियों के क्या यही कर्त्तव्य-निर्देश हैं? सत्य-प्रेमी को तो सारे जड़-पूजन वर्जित होने चाहिए। शब्दार्थ में अमल के कई अर्थ बताये जाते हैं। यहां का अर्थ केवल बाह्याचार है। जितना जड़-पूजन का आडंबर है सभी त्याज्य होने चाहिए। अथवा कबीर साहेब कहते हैं कि भले ही प्यारे नबियों ने करने के लिए बताया हो, परन्तु अनात्म वस्तु की उपासना वर्जित होना चाहिए। सत्य इच्छुक को निष्पक्ष और उदार होना चाहिए।

रमैनी के अन्त की साखी में अकरदी तथा सकरदी दो शेखों के नाम आये हैं। शैख का अर्थ मुसलमानों की एक जाति भी होता है, जैसे शेख, सैयद, मुगल तथा पठान। परन्तु शैख मसजिद, दरगाह एवं फकीरों के अधिपति एवं महंत को भी कहते हैं। लगता है जब कबीर साहेब ने झूसी या जौनपुर जाकर अपना वक्तव्य दिया था, तब ये अकरदी-सकरदी दो बड़े मुल्ला एवं महंत वहां थे जो शैख की उपाधि से जाने जाते थे। कबीर साहेब ने इन्हें जोर देकर कहा था "मानहु वचन हमार" मेरी बातों को मानो। उन्होंने जो अपनी बात कही वह निचली पंक्ति में है "आदि अन्त औ युगयुग, देखहु दृष्टि पसार।" इस पंक्ति का भाव बड़ा गंभीर है। सद्गुरु कहते हैं कि आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली वस्तुएं कौन-कौन-सी हैं और युगयुग रहने वाली कौन-सी वस्तु है! जो कुछ निर्मित होता है उसका आदि तथा अन्त है। वह नाशवान है। अतएव सारे भौतिक कार्य-पदार्थ नाशवान हैं। अर्थात बनने-बिगड़ने वाले हैं। अतएव वे उपासनीय नहीं हैं। उपासनीय तो वह वस्तु है जो 'युगयुग' रहती है। यहां 'युगयुग' से नित्यता का भाव निकलता है। सब समय एकरस रहने वाली अपनी आत्मा है। सारी चीजें छूटती हैं। सारे संयोगों का आदि है और अन्त है, परन्तु अपनी आत्मा का न आदि है और न अन्त है। वह नित्य है। अपनी आत्मा अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकती। अतएव सारे जड़ पदार्थ संयोग वाले होने से आदि-अन्त वाले हैं। उनसे उपरत होकर युग-युग रहने वाले अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ।

"आदि अन्त और युगयुग" को हम एक दूसरे ढंग से भी समझने की चेष्टा करें। शरीर आदि-अन्त वाला है और जीव युगयुग रहने वाला। हमारा एक शारीरिक जीवन है जिसका आदि-अन्त है। यह जीवन बारंबार मिलता तथा छूटता है। परन्तु आत्मिक जीवन युगयुग रहने वाला है और उसका वियोग कभी नहीं होता। मुल्ला लोग इस बात को नहीं समझना चाहते कि जीव बारंबार शरीर धारण करता तथा छोड़ता है। अर्थात वे पुनर्जन्म नहीं मानते। परन्तु पुनर्जन्म सिद्धांत को मानें बिना आज के बुद्धिमान-बुद्धिहीन, कोढ़ी-सर्वांग-सम्पन्न आदि विषमताओं का समाधान कर ही नहीं सकते। यह कहने से काम नहीं चल सकता है कि खुदा परीक्षा ले रहा है। यह अनावश्यक परीक्षा क्यों। "न्याय न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिन कीन्हें लिखि दीन्ह बुराई।।"

---

१. शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सक्त।
काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब।।

'इसलाम धर्म की रूप-रेखा' नामक पुस्तक में राहुल जी ने लिखा है—"हिन्दी धर्म वालों (जैन, बौद्ध, ब्राह्मणधर्मी) ने जिस प्रकार अन्याय रूपी दोष-पात होने के कारण अनेक जन्मों को स्वीकार किया है, वैसे यद्यपि सारे मुसलमानों का मत नहीं है; किन्तु तो भी इसलाम में ऐसे भी संप्रदाय हैं जो पुनर्जन्म मानते हैं। संसार-प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक महात्मा रूमी अपनी 'मस्नुई' में लिखते हैं—

"हम चु सब्ज़ा बारहा रोईद अम्।
हफ्त सद् हफ्ताद क़ालिब दीद अम्॥

अर्थ—मैं उगा नव सस्यवत कितनी ही बार,
सात सौ सत्तर शरीरें देख लीं।

कुरान शरीफ में भी आता है—"जिन पर परमेश्वर कुपित हुआ उनमें से कुछ को वानर और सूअर बना दिया।" (कुरान ५/९/४; ७/२१/३)

जिन पर खुदा कुपित हुआ वे जीव शरीरधारी ही रहे होंगे। आगे उन्हें बन्दर तथा सूअर योनियों में जाना पड़ा, इससे पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

रमैनी–४९

दर की बात कहो दरबेसा। बादशाह है कौने भेसा॥ १ ॥
कहाँ कूच कहाँ करे मुकामा। मैं तोहि पूछौं मूसलमाना॥ २ ॥
लाल जर्द की नाना बाना। कौन सुरति को करो सलामा॥ ३ ॥
काजी काज करहु तुम कैसा। घर घर जबह करावहु भैंसा॥ ४ ॥
बकरी मुरगी किन्ह फुरमाया। किसके कहे तुम छुरी चलाया॥ ५ ॥
दर्द न जानहु पीर कहावहु। बैता पढ़ि पढ़ि जग भरमावहु॥ ६ ॥
कहहिं कबीर एक सैय्यद बोहावै। आप सरीखा जग कबुलावै॥ ७ ॥

साखी—दिन को रहत हैं रोजा, राति हनत हैं गाय।
यह खून वह बन्दगी, क्यों कर खुशी खुदाय॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—दर = द्वार, पता। दरबेसा = दरवेश, फकीर, सिद्ध संत। बादशाह = अल्लाह, खुदा। जर्द = पीला। नाना = बहुत प्रकार। बाना = वेष। सुरति = सूरत, शक्ल, रूप। काजी = मुसलिम न्यायाधीश। जबह = किसी प्राणी का गला रेतकर काटना, हत्या। फुरमाया = आज्ञा। पीर = गुरु। बैता = बैत, शेर, कविता। बोहावै = पुकारना, बोझा उठाकर दूसरे के सिर पर रखना।

भावार्थ—हे फकीरो! यह बात बताओ कि अल्लाह का पता क्या है, वह कहां रहता है और किस वेष में रहता है? ॥१॥ वह कहां से प्रस्थान करता है तथा कहां स्थान करता है? हे मुसलमानो! मैं तुमसे पूछता हूं कि ॥२॥ वह लाल वेष में रहता है या पीले वेष में अथवा अनेक वेषों में रहता है? तुम किस शक्ल-सूरत का सलाम करते हो? ॥३॥ हे काजी साहब! तुम भी कैसा काम करते हो, जो घर-घर में भैंसे कटवाते

फिरते हो? ।।४।। तुम किस ईश्वर की आज्ञा से मासूम बकरी-मुरगी आदि जानवरों के गले पर छूरी चलाते हो? ।।५।। प्राणियों की पीड़ा को जानते नहीं हो और पीर कहलाते हो तथा शेर, कविता पढ़-पढ़कर जगत के लोगों को भ्रम में डालते हो कि कुर्बानी नाम से जीववध करना धर्मानुकूल है।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि मुसलमानों में एक सैयद जाति के लोग होते हैं जो अपने आप को श्रेष्ठ मुसलमान मानते हैं। वे अपनी मान्यताओं का बोझा दूसरों पर बलात लादते हैं। वे लोगों से अपने इसलाम-मत को बलपूर्वक स्वीकार कराना चाहते हैं।।७।।

मुसलमान बन्धु रमजान महीने में दिन को रोजा रहते हैं, अन्न-पानी छोड़कर उपवास करते हैं और रात होते ही गाय काटते हैं या बकरी-मुरगी काटते हैं। एक तरफ खुदा के नाम पर जीव-हत्या करना और दूसरी तरफ खुदा की प्रार्थना करना, कितना विरोधी काम है? खुदा कैसे खुश हो सकता है? ।।४९।।

व्याख्या—मुसलमान बन्धु समझते हैं कि हमने ईश्वर का पता लगा लिया है; अतः हम लोग स्वर्ग में जायेंगे, बाकी जो गैर-मुसलमान हैं, वे नरक में जायेंगे। इस धारणा को लेकर वे काफी अहंकार में रहते हैं और गैर-मुसलिमों को काफिर एवं नरकगामी कहते हैं। इस धारणा से ही इनमें पुराकाल में, या कहना चाहिए कबीर साहेब के काल में गैर-मुसलमानों को जबर्दस्ती भी मुसलमान बनाने का दुराग्रह था और इसको लेकर वे दूसरे का खून-खराबा भी कर देते थे। इसी भाव को लेकर सातवीं पंक्ति में कहा गया है "आप सरीखा जग कबुलावें।" अतएव इन मिथ्या धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु मुल्ला और फकीरों से पूछते हैं कि यदि आप लोग ईश्वर के दरवाजे का पता पा गये हैं कि वह अमुक जगह रहता है, तो जरा हमें भी बतलाइए जिससे हम भी उससे मुलाकात कर सकें। यदि वह एक जगह न रहता हो तथा प्रस्थान एवं स्थान करता हो तो उसका भी पता बताइए? उसके वेष को भी बतला दीजिए जिससे वह शीघ्र पहचानने में आ जाय?

ये सारी-की-सारी बातें ईश्वर-ज्ञान के अभिमान पर व्यंग्य है। जड़ और चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था अबाध गति से चल रही है, यह बात समझ में आती है; परन्तु एक ज़ोरावर अल्लाह एवं ईश्वर कहीं बैठा है और वह जो कुछ चाहता है कर सकता है और करता रहता है और उस तक हमारा ही मजहब पहुंचा है, जो हमारे मजहब एवं सम्प्रदाय से चलेगा वही वहां तक पहुंचेगा, हमारी किताब उसी की भेजी है, यह सब एक मिथ्या धारणा तथा झूठा अहंकार है। ईश्वर का पता तो आज तक किसी ने पाया नहीं, परन्तु उसके लिए नाना मतावलंबी यह झगड़ा करने लगे कि उस ईश्वर के हम ही ठेकेदार हैं। इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है! कुछ लोगों एवं कुछ मजहब वालों को यह अहंकार है कि केवल वे ही उस ईश्वर को समझ सके हैं और उन्हीं के द्वारा जनता उस तक पहुंच सकती है। यह दोष प्रायः सभी ईश्वरवादियों का है। इनमें कुछ नरम भी होते हैं; परन्तु मुसलिम-मुल्लाओं को यह पूरा गर्व है कि ईश्वर उन्हीं के द्वारा मिल सकता है। इसी पर साहेब का व्यंग्य है कि यदि आप उससे मुलाकात कर चुके हैं, तो उसके स्थान, पता, वेष आदि बताइए क्या हैं?

इस रमैनी में दूसरी उनकी मुख्य बात है ईश्वर के नाम पर मूक, निर्दोष एवं निरीह प्राणियों के वध का विरोध करना। यह एक जंगलीपन है जो पुराकाल से करीब समस्त ईश्वरवादी एवं देववादियों के मत में रहा है। प्राचीन मत में जैन और बौद्ध, मनुष्य के अलावा कोई पूजनीय ईश्वर या देवता नहीं मानते, इसलिए इनके नाम पर इन मतों में जीव-हिंसा करने की बात ही नहीं उठती। ये दोनों अहिंसावादी होते हैं।

ईश्वर और देवता के नाम पर मूक प्राणियों की हत्या करना धर्म का दुरुपयोग है। कबीर साहेब मुल्लाओं से प्रश्न करते हैं कि ईश्वर के नाम पर जीववध करने की आज्ञा किसने दी? यदि किसी पुस्तक में ऐसी बात लिखी है तो उसका लेखक मनुष्य ही है जो अपने अल्पज्ञतावश ऐसा लिखा है। यदि कहो किसी ईश्वर ने आज्ञा दी, तो इसका क्या प्रमाण है!

कुरान-शरीफ में खुदा की तरफ से कहलवा लिया गया है—"हमने तुम्हारे लिए कुरबानी के ऊंटों को उन चीजों में कर दिया है जो खुदा के साथ नामजद की जाती हैं। उनमें तुम्हारे लिए फायदे हैं तो उनको खड़ा रखकर उन पर खुदा का नाम लो[१], फिर जब वह किसी पहलू पर गिर पड़े तो उनमें से खाओ और सब्र वालों और फकीरों को खिलाओ। हमने यों तुम्हारे बस में इन जानवरों को कर दिया है ताकि तुम शुक्र करो।"[२] कहना न होगा कि यह सब किसी ईश्वर ने नहीं कहा है, बल्कि मनुष्य ने कहकर अपनी बात चलायी है। लेकिन इसके आगे यह भी लिखा है "खुदा तक न तो इनके गोश्त ही पहुंचते हैं और न इनके खून, बल्कि उस तक तुम्हारी परहेजगारी पहुंचती है।" पहले कुरबानी का खून काबा की दीवारों पर छिड़कते थे। मुसलमानों को ऐसा करने से रोका गया और बताया गया कि खुदा तक केवल परहेजगारी ही पहुंचती है।

पीर (गुरु) तो वह है जो दूसरे के पीर (पीड़ा) को जाने। जो दूसरे की पीड़ा को नहीं समझता, वह तो बे-पीर काफिर है।[३] ईश्वर के नाम पर व्रत रखना तथा उसी के नाम पर जीव-हत्या करना दोनों में कोई मेल नहीं खाता।

जनाब अमीर मीनाई ने ठीक ही कहा है—"कर्तव्य बताने वाले काजी तो बरहना सर (गंजासिर) अर्थात अविवेकी हैं और मुहतसिब (आचरण-निरीक्षक) जख्मी यानी अंधे हैं। ये अविवेक से ग्रसित बादाखोर (शराबी) शायद आजकल ज्यादा शराब पी गये हैं।"[४] जनाब हाली साहब कहते हैं—"खुदा के पास रहने वाला फरिश्ता (देवता) ही

---

१. ऊंट के हलाल करने का तरीका यह है कि उसको काबे की ओर खड़ा करते हैं, फिर उसकी छाती पर भाला मारते हैं ताकि उसका सारा खून निकल जाय और जब गिर पड़ता है तब काटते हैं।

२. हिन्दी कुरान, पृष्ठ ३३९, श्री प्रभाकर साहित्य लोक, रानी कटरा, लखनऊ।

३. कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥

४. काजी बरहना सर है, तो जख्मी है मुहतसिब।
शायद कि पी गये हैं, बहुत बादाखोर आज॥

क्यों न हो, परन्तु वह इंसान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें थोड़ी-बहुत दया न आ जाय। खुदा ने इंसान को इसलिए दुनिया में पैदा किया है कि वह दूसरे प्राणियों पर दया करे। नहीं तो ताअत (प्रार्थना) करने के लिए खुदा के पास कर्रेबयां (फरिश्ते) कम नहीं थे।"[१] दूसरे इंसान को पीड़ा देना धर्म नहीं है। किसी ने कैसा अच्छा कहा है— "धर्मयुद्ध उसे नहीं कहते कि जिसमें मानव का रक्तपात हो। जो अपने नफ्स (बुरी इच्छा) रूपी काफिर (शैतान) को मारता है, वही गाजी (वीर) है।"[२]

इस रमैनी का सार दो बातों में है जैसा कि पहले भी बताया गया है। पहली बात है कि ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा है। अब उस अवधारणा को किसी प्रकार का रूप-रंग देकर किसी स्थान-मकान लोक या आकाश पर उसे अवस्थित कर और केवल अपनी भाषा, रीति-रिवाज आदि में उसे बांधकर कोई उसका एकाधिकारी ठेकेदार बने, तो यह निरा भोलापन है। दूसरी बात उसको खुश करने के लिए मूक प्राणियों की हत्या करे, यह दोहरा भोलापन है। वस्तुतः व्यक्ति की अपनी आत्मा ही परमात्मा है और दूसरों पर करुणा करना ही उसे प्रसन्न रखने का तरीका है। जो दूसरे की आत्मा को दुखाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न नहीं हो सकती। परन्तु जो दूसरे की आत्मा के प्रति करुणा रखता है, उसकी अपनी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है।

बन्धनों का मूल ममता

रमैनी–५०

कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥ १ ॥
बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया। भरम भूल नर धन्धे परिया॥ २ ॥
हस्ति के फन्दे हस्ती रहई। मृगा के फन्दे मृगा रहई॥ ३ ॥
लोहे लोह जस काटु सयाना। त्रिया के तत्व त्रिया पहिचाना॥ ४ ॥

साखी—नारि रचन्ते पुरुषा, पुरुष रचन्ते नार।
पुरुषहि पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥ ५० ॥

शब्दार्थ—बंसहि = बांस में। सयाना = समझदार, चतुर। तत्त्व = स्वभाव। रचन्ते = रुचते, प्रिय लगना, प्रेम करना। रचे = प्रेम करे।

भावार्थ—मुझ-जैसे लोगों को उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये; परंतु जो लोग 'मेरा पुत्र, मेरी पत्नी तथा मेरे धन-घर' कहकर और मानकर उनमें आसक्त हैं, वे समझते नहीं॥१॥ आदमी उसी प्रकार अपने मन के अन्दर उत्पन्न हुए माया-मोह की आग में जल

---

१. हो फरिश्ता तो भी नहीं इन्सा, दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें॥
दर्द दिल के वास्ते पैदा किया इनसान को,
वर्ना ताअत के लिए कर्रेबयां कुछ कम न थे।

२. जहाद उसको नहीं कहते कि होवे खून इन्सा का।
करे जो कत्ल अपने नफ्से काफिर को वो गाजी है॥

मरता है, जैसे बांस की कोठी अपने ही बांसों की रगड़ से जलकर भस्म हो जाती है। लोग स्थूल पदार्थों तथा मन की कल्पनाओं में भ्रमित होकर तथा अपने स्वरूप को भूलकर कर्म-बन्धनों के व्यापार में फंस जाते हैं ।।२।। जैसे सिखायी हुई हथिनी और मृगी के बन्धनों में जंगली हाथी और मृग फंस जाते हैं; जैसे चतुर लोग एक लोहा से दूसरे लोहे को काट देते हैं, जैसे एक स्त्री का स्वभाव दूसरी स्त्री-द्वारा पहचाने जाने के कारण, कुटनी एवं मायावी स्त्रियों-द्वारा सीधी स्त्रियां गलत काम करने के लिए फंसा ली जाती हैं, वैसे मनुष्य अपने माने हुए लोगों द्वारा ही भवबन्धनों में फंसाया जाता है। अथवा अपने मन का मोह ही उसे भवबन्धनों में डालता है ।।३-४।।

स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में प्रेम करता है। परन्तु जो पुरुष-ही-पुरुष (स्वस्वरूप चेतन) में प्रेम करता है, वह संसार में विरला है ।।५०।।

व्याख्या—सद्गुरु ने इस रमैनी में यह बतलाया है कि तुम्हें अपने मन के मोह तथा अपने माने हुए प्राणियों से ही बन्धन प्राप्त होते हैं।

"कहइत मोहि भयल युगचारी।" चौपाई की इस प्रथम अर्धाली का आपाततः अर्थ पौराणिक[1] विचार वालों के अनुकूल है। उनको यहां अपने भावुक विचारों के समर्थन में अर्थ लगाने में सरलता है। वे अर्थ लगा सकते हैं 'कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये।' परन्तु ऐसा अर्थ करने वालों को समझना चाहिए कि वे अपनी भावुकता में कबीर साहेब को भी अत्यन्त भावुक बना देना चाहते हैं।

दूसरे ऐसे विद्वान लोग हैं जो बीजक में प्रक्षेप की टोह में रहते हैं। वे इस स्थूल अर्थ को मानकर इसे उन कबीरपंथियों-द्वारा किया हुआ प्रक्षेप मानेंगे, जो कबीर साहेब को युग-युग में अवतार लेने वाला मानते हैं। परन्तु इसमें पहली धारणा श्रद्धातिरेक है और दूसरी धारणा बुद्धि-अतिरेक है।

"कहइत मोहि भयल युगचारी" में 'मोहि' शब्द उत्तम पुरुष कर्त्ता के रूप में कबीर साहेब के लिए होते हुए भी, उसका अर्थ केवल उन्हीं में सीमित नहीं है। किन्तु युगयुगों से होते आये सभी गुरुजनों के लिए है। क्योंकि संसार में सभी गुरुजन इस एक सामान्य विषय पर उपदेश देते आये हैं कि संसार की मोह-माया ही जीव के लिए बंधन है, इसलिए इसे तोड़ो। यह अर्थ स्वाभाविक है तथा इस अर्थ से कबीर साहेब के मन में अनादिकाल से होते आये सभी गुरुजनों के प्रति आदर का भाव भी झलकता है। अतएव इस प्रकार इस चौपाई का अर्थ हुआ कि मुझ-जैसे लोग चारों युगों से उपदेश करते आ रहे हैं; परन्तु पत्नी-बच्चों में मेरा-मेरा भाव रखने वाले लोग इस बात को नहीं समझते।

"समुझत नाहिं मोर सुत नारी।।" इस अर्धाली में, जो विद्वान कबीर साहेब को गृहस्थ सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें अपने ढंग का अर्थ सूझेगा। वे कहना चाहेंगे "इस

---

१. पौराणिक कबीरपंथी मानते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर नाम से अवतार लेते हैं।

अर्धाली से कबीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं कि मेरे बच्चे तथा पत्नी समझ नहीं रहे हैं। अतएव कबीर पत्नी-बच्चे वाले थे। वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को समझाते थे, परन्तु वे उनकी बातें समझते नहीं थे।'' परन्तु ऐसे बहादुर विद्वानों से पूछना चाहिए कि कबीर के वे पत्नी-बच्चे क्या चारों युगों से उनके साथ थे? क्योंकि वे कहते हैं ''कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥'' कबीर साहेब ने यहां सहज भाव से कहा है कि मुझ जैसे लोग सदैव से संसार की असारता को समझाते रहे हैं, परन्तु जो सुत-नारी में मेरी-मेरी भावना रखने वाले हैं, वे इस बात को नहीं समझ पाते। कबीर साहेब अखंड बालब्रह्मचारी विरक्तात्मा संत थे। उनके सामान्य उपदेश को उनके ऊपर लगाना अ-समीक्षात्मक बुद्धि का फल है। बीजक के कुछ पाठों में ''समुझत नाहिं मोर सुत नारी'' में 'मोर' शब्द की जगह पर 'मोह' पाठ है। लगता है यही सही पाठ है, परंतु लिखावट के दोष से कभी किसी ने 'मोह' की जगह पर 'मोर' लिख लिया। फिर भी अर्थ में कोई फर्क नहीं है।

''बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया'' अर्थात बांस अपनी ही रगड़ से जल जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने माने हुए लोगों-द्वारा उठाये हुए राग-द्वेष के रगड़े में जलकर राख हो जाता है। मनुष्य अपने मन के माया-मोह तथा अपने माने हुए प्राणी-पदार्थों के राग-द्वेष की आग में ही रात-दिन जलता है। हमारे चारों ओर फैले हुए हमारे माने गये प्राणी-पदार्थ, हमारे ही दुरुपयोग से हमारे लिए बन्धन बन जाते हैं। हम अविवेक-वश उनमें राग करते हैं और मन की अनुकूलता न होने पर उनसे द्वेष करते हैं। बस ये ही राग-द्वेष हमारे जी के जंजाल बन जाते हैं। ये ही हमारे गले की फांसी हो जाते हैं।

''भरम भूल नर धन्धे परिया'' इस अर्धाली में 'भ्रम' तथा 'भूल' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। भ्रम का अर्थ है कुछ का कुछ प्रतीत होना; जैसे रस्सी में सांप, सीपी में चांदी, चांदनी या धूप की लहरियों में पानी आदि! इसी प्रकार विषयों में सुख-भास महाभ्रम है। अनुकूल माने गये विषय-भोगों में मनुष्य को सुख का भ्रम होता है कि इसमें आनन्द है। यह शरीर मेरा है, ये प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, यह भी भ्रम ही है। क्योंकि यह सब कुछ भी तो साथ नहीं रह जाता है। मेरी अपनी आत्मा से अलग कोई परमात्मा है, उसी से परमानंद मिलेगा, यह सबसे बड़ा भ्रम है। भूल का अर्थ है अपने आपा को न जानना। मैं शुद्ध चेतन हूं, यह एक वास्तविकता है। इसे न समझकर मैं देह हूं, यह भूल है। संक्षेप में कहें तो जो कुछ अपने से अलग है उसमें सुख तथा स्वत्व का भास भ्रम है और अपने अविनाशी चेतन स्वरूप को न समझना भूल है। इस भ्रम तथा भूल के कारण जीव 'धन्धे परिया' कर्म बन्धनों का व्यापार करता है। भ्रम तथा भूल को हम विषयासक्ति तथा अज्ञान कह सकते हैं। इन्हीं के कारण तो जीव भटक रहा है! कैसे अपने अन्दर की अज्ञान-अग्नि से आदमी जलता है, इसके लिए ऊपर बांस की रगड़ से बांस जलने का उदाहरण दिया गया है। आगे हस्ती, मृगा, लोह और स्त्री—इन चार उदाहरणों से सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि तुम्हारे बंधन तुम्हारे मन से या तुम्हारे स्वजनों-द्वारा ही बनते हैं। लोग सिखायी हुई हस्तिनी तथा मृगी-द्वारा हाथी तथा मृग को फंसा लेते हैं, लोह से

लोह काट देते हैं तथा कुटनी स्त्री-द्वारा सीधी स्त्रियों को फंसा लेते हैं। इन चारों उदाहरणों में अपनी जाति ने ही अपनों को खाया। इसी प्रकार तुम्हारे अपने ही माने गये माता, पिता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, मित्र, गोत्र, सगे-संबन्धी लोग तुम्हारे लिए बन्धनों का जाल बुनते हैं। जो जाल से बाहर होना चाहता है उसे समझा-बुझा कर फंसाते हैं। कितने ही मनुष्य अपने स्वजनों को विषय-वासना, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि का पाठ पढ़ाते हैं। किसी के सामने कोई बात बारंबार दोहरायी जाय तो उसका प्रभाव उस पर पड़ने लगता है।

यह परम सत्य है कि यदि आदमी सतत सावधान रहे, तो उसे कोई दूसरा मनुष्य बंधन नहीं दे सकता। मुख्य बंधन तो अपने भीतर की मोह-माया एवं अहंता-ममता है। जैसे लोहा से उत्पन्न मोरचा उसी लोहे को खा जाता है, वैसे हमारे अपने से उत्पन्न हुए अज्ञान एवं भ्रम हमें खा जाते हैं।

जैसे अपनों-द्वारा सुख-सुविधाएं मिलती हैं, वैसे ही अपने लोगों-द्वारा दुख तथा बंधन भी मिलते हैं। इसे हम ऐतिहासिक ढंग से भी समझ सकते हैं। राजा दशरथ को अपनी ही प्रिय पत्नी कैकेयी-द्वारा मरणांतक कष्ट हुआ। अपने ही भाई विभीषण-द्वारा शत्रु पक्ष को भेद देने से रावण का विध्वंस हुआ, 'घर का भेदिया लंका ढावै'' कहावत हो गयी। प्रचलित धारणानुसार राजा जयचंद विदेशियों से मिलकर देश का घातक हुआ। बादशाह शाहजहां अपने ही पुत्र औरंगजेब द्वारा जेल में डाला गया। यह लिस्ट बड़ी लंबी बनायी जा सकती है।

अंततः साखी की प्रथम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में। अर्थात स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर में मोह करते हैं जो एक मृगतृष्णा है। यदि स्त्री के शरीर में आनन्द होता तो स्त्री अपने शरीर के आनन्द को लेकर सुखी रहती, परन्तु वह पुरुष के शरीर में आकर्षित है और यदि पुरुष के शरीर में आनन्द होता, तो वह अपने शरीर का आनन्द लेकर तृप्त रहता; परन्तु वह स्त्री के शरीर में आकर्षित है। इसलिए न स्त्री के शरीर में आनन्द है तथा न पुरुष के। स्त्री-पुरुष दोनों ही देहाध्यास की मृगतृष्णा में दौड़ रहे हैं और इस रेगिस्तान में वे दोनों ही जीवन भर प्यासे मर रहे हैं।

''पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥'' यह बड़ा महत्वपूर्ण वाक्य है। यहां का 'पुरुष' कोई स्थूल पुरुष की देह नहीं है। किन्तु 'पुरि शेते इति पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में शयन करता है, वह पुरुष है। सांख्यदर्शन ने जड़ प्रकृति से भिन्न शुद्ध चेतन को पुरुष कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/७) ने भी 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो' कहकर चेतन के लिए ही पुरुष कहा है। अतएव सद्गुरु कहते हैं ''पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार'' जो केवल पुरुष-ही-पुरुष में प्रेम करता है, अर्थात जो केवल अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में ही लीन है, वह संसार में विरला है। सारी विषयासक्ति मिट जाने पर ही अपने शुद्ध-चेतन में रति होती है। आत्मरति, आत्मप्रेम, आत्मतृप्ति जीवन की सर्वोच्च दशा है। जिनकी देहासक्ति सर्वथा मिट जाती है, वही अपने शुद्ध पारख चेतन-स्वरूप में स्थित होता है।

स्वरूपस्थिति रहनी का विषय है

रमैनी–५१

जाकर नाम अकहुवा रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥ १ ॥
कहें तात्पर्य एक ऐसा। जस पन्थी बोहित चढ़ि बैसा॥ २ ॥
है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहे चला पुनि जाता॥ ३ ॥
रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ। मन अस्थिर नहिं बोलै काहू॥ ४ ॥

साखी—तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—अकहुवा = कथन में न आने वाला, अनिर्वाच्य। रमैनी = प्रशंसा-प्रार्थना, कीर्तन। तात्पर्य = आशय, मतलब। बोहित = नावका, जहाज। काहू = किसी से। राता = आसक्त। एकै = एकाग्रता। हंस = विवेकी, स्वस्वरूपस्थ।

भावार्थ—हे भाई! जिसका नाम ही कथन में नहीं आता, उसकी क्या कथा, कीर्तन एवं वंदना करते हो? ॥१॥ विवेकीजन उसका इस प्रकार एक आशय कहते हैं कि जैसे पथिक नावका पर बैठकर पार हो जाता है उसी प्रकार उसकी स्थिति समझो॥२॥ स्वरूपस्थिति की प्राप्ति तो एक रहनी-गहनी की बात है। जैसे नावका में बैठे-बैठे मनुष्य अपने गंतव्य को चला जाता है, वैसे रहनी में रहने वाला साधक स्वयमेव शांति को प्राप्त कर लेता है॥३॥ साधक को चाहिए कि वह शरीर में बहुत छापा-तिलक आदि वेष का स्वांग न रचे, मन शांत रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे॥४॥

जहां शरीर आसक्त रहता है, वहां मन चला जाता है और जहां मन आसक्त रहता है वहां शरीर चला जाता है। जब शरीर और मन एकाग्र एवं संयत होकर एक स्वरूपस्थिति की रहनि में ही लग जाते हैं, तब जीव हंस हो जाता है। अर्थात वह सत्य और असत्य का पारखी एवं स्वरूपस्थ हो जाता है॥५१॥

व्याख्या—मनुष्य अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजता है, उसे वह अपना निधान ठहराता है और कहता है कि वह 'अकहुआ' है। 'अकहुआ' ग्रामीण शब्द है। इसका संस्कृतनिष्ठ शब्द 'अनिर्वचनीय' है। इन दोनों समानार्थक शब्दों का अभिप्राय है 'जो कहने में न आये'। एक तरफ तो कहा जाता है कि वह कथन में नहीं आ सकता, दूसरी तरफ उसके नाम की कल्पना, उसका जप, कथा, कीर्तन, वंदना आदि सब करने का प्रयत्न किया जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका नाम ही अकहुआ है, उसकी क्या वंदना, प्रार्थना एवं कीर्तन करते हो? वंदना-कीर्तन आदि केवल सात्विक मनोरंजन हैं। जिस दशा की प्राप्ति होने पर मनुष्य पूर्ण कृतार्थ हो जाता है, वह वंदना, कीर्तन का विषय नहीं है, और फिर उसकी वंदना, जिसका नाम ही अकहुआ हो, एक हास्यास्पद विषय है। मूल चौपाई कितनी व्यंग्यात्मक है, व्यंजना से भरी है "जाकर नाम अकहुआ रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥"

परमात्मा, भगवान, मोक्ष, निर्वाण आदि सारे शब्दों का एक ही तात्पर्य है दुखों से अत्यन्त छुटकारा। और यह रहनी-गहनी की बात है। 'रहनी' का अर्थ है पवित्र आचरण

में रहना और अंततः मन का स्थिर हो जाना और 'गहनी' का अर्थ है कल्याण के साधक अंगों को ग्रहण करना। इस प्रकार रहनी-गहनी जोड़वा शब्द प्रायः एक ही भाव को प्रकट करते हैं। 'गहनी' पकड़ है, और 'रहनी' आचरण है। कल्याण की समझ एवं साधक-अंगों को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना 'गहनी' है और उनका आचरण करना 'रहनी' है।

जिनसे दुख उत्पन्न होते हैं, ऐसे मन, वाणी, इंद्रियों के भाव तथा आचरणों का त्याग करने से सद्गुण तथा शांति स्वयं आते हैं। और जिनसे सहज सुख उत्पन्न होता है ऐसे दिव्य गुणों—दया, शील, क्षमा, धैर्य, विवेक, वैराग्य, विनम्रता तथा अपने अविनाशी चेतन-स्वरूप के स्मरण और व्यवहार से स्वतः चिरंतन शांति की अनुभूति होती है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञान 'रमैनी गाने, कीर्तन करने' का विषय नहीं है, किन्तु 'रहनी-गहनी' का विषय है। रहनी-गहनी का भावार्थ ज्ञान एवं जानकारी को आचरण में लाना है। यह कठिन पड़ता है। इसमें मन-इंद्रियों को वश में करने की बात है। कीर्तन में सरलता है। नाम-जप में सारे पापों का नाश भी मान लिया गया है। आदमी सरलता की ओर जाना चाहता है। चाहे उसका उसमें विनाश ही हो जाय। परन्तु सरल मार्ग सदैव हितकर नहीं होता। कहावत है 'महंगा रोवै एक बार, सस्ता रोवै बार-बार।

आजकल कीर्तन और अखंड पाठ का नशा बहुत बढ़ गया है। ढोल, मजीरा, हारमोनियम लेकर तथा लाउडस्पीकर लगाकर एक-दो घंटे नहीं, तीन-चार घंटे नहीं; चौबीस-चौबीस घंटे कानफाड़ू आवाज में कीर्तन तथा अखंड पाठ किया जाता है। यह मानवता के साथ शत्रुता करना है। सबकी शांति एवं नींद हराम की जाती है। पाप धोने के लिए पाप बटोरा जाता है। एक बाजार में तो नित्य के लिए लाउडस्पीकर से अखंड पाठ चल रहा था। इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से तथा इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से पाठ करने वालों को मेहनताना मिलता था। सेठों को तो अपने पाप धोने रहते हैं। पता नहीं आस-पास वाले अनइच्छुक श्रोताओं के कौन-से पाप के फल रहते हैं जिससे उनकी शांति और नींद छीन ली जाती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष, परमशांति एवं परमतत्त्व कीर्तन एवं पाठ का विषय नहीं है। यह आचरण का विषय है। यदि आदमी अपनी प्राप्त जानकारी का आदर करता है, अर्थात वह जो कुछ जानता है, उसका आचरण करता है, तो वह अपने स्थान पर बैठे-बैठे अपने गंतव्य को उसी प्रकार पहुंच जाता है, जैसे जहाज पर बैठा व्यक्ति अपने गंतव्य पर पहुंच जाता है।

चलकर मिलने वाली मंजिल भौतिक होती है। यदि हमें कलकत्ता, दिल्ली या इसी प्रकार अन्य किसी स्थल पर जाना है, तो चलना पड़ेगा, परन्तु यदि हमें अपने निधान में, अपने आश्रय-स्थान में जाना है, तो चलना नहीं है, केवल रहनी-गहनी की आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक तथा विवेकसंमत तथ्य है कि किसी भी मौलिक वस्तु का निधान (आश्रय स्थल) उसके अपने स्वरूप से अलग नहीं होता। निज चेतन-स्वरूप मौलिक एवं शाश्वत है। अतएव मेरा निधान मेरा अपना स्वरूप ही है। इसलिए मुझे कहीं अलग पहुंचना नहीं है। रहनी-गहनी ठीक न होने से, मैं अपने आप से अलग पड़ा हुआ-सा हूं। जिस दिन व्यक्ति त्याग करने योग्य को त्याग देता है तथा ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर

लेता है, उसी दिन वह अपने आप को पा लेता है, अपने आप की भूमिका में पहुंच जाता है। यह "है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता" का मर्म है।

"रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ" सद्गुरु कहते हैं कि साधक को चाहिए कि वह अपना स्वांग रचने वाला स्वभाव न बनावे। वह अपने शरीर पर दिखाऊ वेष न बनावे। कितने साधक बहुत माला, चंदन, रंग-बिरंगे कपड़े, जटाजूट आदि बनाकर अपने आप को बहुत बड़ा भक्त, साधक एवं संत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अपने आप को समाज से बहुत अधिक भिन्न प्रदर्शित करने के लिए ही तड़क-भड़क के वेष बनाये जाते हैं और ये साधक के पूजे जाने के साधन बन सकते हैं, कल्याण के नहीं। अतएव साधक जिस श्रेणी में हो साधु या गृहस्थ, उसी के भीतर मध्यवर्तीय वेष रखे।

"मन अस्थिर नहिं बोलै काहू" अर्थात साधक को चाहिए कि वह अपना मन स्थिर रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे। इस अर्धाली में बड़ी महत्वपूर्ण बात बतायी गयी है; वह है मन और वाणी का संयम। मन की शांति के लिए वाणी के संयम की बड़ी आवश्यकता है। जो व्यक्ति अधिक बोलता है, वह असत्य बोले बिना रह नहीं सकता। उससे कटु तथा परनिंदा के वचन निकलेंगे ही। इस प्रकार असंयत बोलने वाले के मन में शांति नहीं आ सकती। वाणी के संयम से बहुत-सारे उपद्रव अपने आप शांत हो जाते हैं। जिसका मन संतुलित है और वाणी पर जिसका अधिकार है, उसके आचरण पवित्र रहेंगे ही। जिसके मन, वाणी और कर्म तीनों संतुलित हैं, उसके जीवन में केवल पवित्र संस्कारों का मधु होता है। वह सदैव प्रसन्न रहता है। वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

"तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।" जहां शरीर तथा इंद्रियां आसक्त हैं, वहां मन दौड़ता है और जहां मन आसक्त है, वहां शरीर जाता है, इंद्रियां उधर ही दौड़ती हैं। इंद्रियों की विषयासक्ति मन को घसीटती है तथा मन की आसक्ति इंद्रियों को घसीटती है। तन-मन के विषयों में आसक्त आदमी जीवन भर संसार-बाजार का टट्टू बना लादी लादता है। उसके जीवन में शांति कहां है! परन्तु—

"तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय" अर्थात जिसके तन-मन 'एकै' हो जाते हैं, वह हंस हो जाता है। 'एकै' का अर्थ है 'एकाग्रता'। जिस साधक के शरीर और मन उसके वश में हैं, वह हंस कहलाता है। बीजक में हंस शब्द बारम्बार आता है। हंस एक पक्षी होता है। वह स्वच्छ तालाब में रहता है। उसके लिए कहावत है कि वह नीर-क्षीर विवेक करता है। यहां तात्पर्य यह है कि जो मन और शरीर पर विजयी है, वही जड़-चेतन, सत्य-असत्य, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, स्व-पर आदि की परख कर सकता है। स्वच्छ तन-मन वाला ही तो पारखी होता है।

जैसा कि इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी बताया गया है कि 'हंस' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसमें दो पद हैं 'अहम्-सः।' अ तथा विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बन गया है। इसका अर्थ होता है 'मैं-वह'। अर्थात मैं वही हूं जिसे मैं परमात्मा, ब्रह्म, राम, खुदा, अल्लाह, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों के आधार में खोज रहा हूं। शब्द तो सारे कृत्रिम हैं, किन्तु मैं उनका कर्ता अ-कृत्रिम हूं।

इस रमैनी में मुख्य चार बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है, जीव की स्वरूपस्थिति कीर्तन, वंदना आदि का विषय नहीं है। दूसरी बात है कि वह रहनी-गहनी का विषय है। तीसरी बात है कि साधक को अपना वेष बहुत विलक्षण नहीं बनाना चाहिए। और चौथी बात है जिसने अपने तन और मन पर विजय पायी है उसी ने हंसत्व पाया है। वही असार को परखकर त्याग देता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, जो सार एवं सत्य है।

परमतत्व को अपनी आत्मा से अलग खोजना भ्रम है

रमैनी–५२

जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी। अंग विभूति लाय भौ योगी॥ १ ॥
शेष सहस्र मुख पार न पावै। सो अब खसम सही समुझावै॥ २ ॥
ऐसी विधि जो मोकहँ ध्यावै। छठये माँह दरश सो पावै॥ ३ ॥
कौनेहु भाव देखाई देहों। गुप्तहि रहों स्वभाव सब लेहों॥ ४ ॥

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै बिचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—वियोगी = प्रिय से बिछुड़ा हुआ, विरही। खसम = पति, मालिक, ब्रह्म। ध्यावै = ध्यान करे। छठये माँह = पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठें मन में। भ्रमजार = भ्रम का जाल।

भावार्थ—जिस परमतत्त्व के लिए शिव जी योगी बनकर शरीर में राख लगाये लोक धारणानुसार आज तक घूमते हैं, परन्तु अभी भी उससे वियोगी बने हैं, आज भी उसे नहीं पा सके हैं॥१॥ और शेष जी अपने हजार मुखों से वर्णन कर भी उसका पार नहीं पाये, उसी कुल-मालिक को आज के गुरु लोग सही-सही समझाने का दावा करते हैं॥२॥ वे कहते हैं कि इस प्रकार जो मेरा ध्यान करेगा, अथवा मेरी बतायी हुई प्रक्रिया से ध्यान करेगा, वह अपने मन में दर्शन पायेगा॥३॥ मैं किसी प्रकार दिखाई दूंगा। मैं गुप्त रहकर तुम्हारे मन के स्वभाव की सारी जानकारी रखूंगा॥४॥

कबीर साहेब सबके बीच में जोर देकर कहते हैं कि सबका यही विचार है कि गुरु भगवान के दर्शन करा देता है। मेरी इस बात को लोग मानते नहीं कि मन में जो कुछ दर्शन होते हैं वह माया है, फिर इनका भ्रमबंधन कैसे छूटे॥५२॥

व्याख्या—जिस ब्रह्म एवं मालिक की खोज करते-करते शिव-शेष आदि हार गये और उसके विषय में कोई निर्धारित निर्णय नहीं दे सके तथा न उसको पा सके, आज के गुरु लोग उसके दर्शन झट से करा देने का दावा करते हैं। "सो अब खसम सही समुझावै" वे कहते हैं कि हम उस मालिक की वास्तविकता को जानते हैं और उसको सही-सही समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रक्रिया से हम तुम्हें ध्यान करने के लिए बता रहे हैं उसके अनुसार ध्यान करो, तो अपने मन में उसके दर्शन पाओगे।

"मो कहँ ध्यावै, दिखाई देहों, गुप्तहि रहों, स्वभाव सब लेहों"—इन चारों वाक्यांशों में प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मेरा ध्यान करो, मैं दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहूंगा तथा तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा—वर्णन है। यह प्रथम पुरुष की क्रिया गुरु तथा ब्रह्म—दोनों के लिए उपयुक्त अर्थ प्रकट करती है। भावुकता से भरे हुए भावनावादी गुरु लोग कहते हैं 'हे शिष्य! मेरा ध्यान करो, मैं तुम्हें मन में किसी भी वेष या रंग-रूप में दिखाई दूंगा और गुप्तरूप से रहकर तुम्हारे मन की सारी जानकारी रखूंगा।' गुरुओं के इस भावुक उपदेश से शिष्यों का कुछ भावनात्मक हित हो सकता है, परन्तु उनका विवेक नहीं जग सकता।

इन उपदेशों को ब्रह्म के प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मानकर कहा जा सकता है कि मानो ब्रह्म कह रहा हो कि मेरा ध्यान करो, मैं नाद, ज्योति, शब्द आदि किसी रूप में दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहकर तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा, इत्यादि।

सब मिलाकर इसका अभिप्राय यही है कि जिस ईश्वर या ब्रह्म का पता शिव-शेष नहीं पाये, उसका सत्यवत स्वरूप बताने के लिए आज के गुरु लोग दावा करते हैं। गुरु लोग शिष्यों को ध्यान करने की राय देते हैं। वे अपनी कल्पित प्रक्रिया बताते हैं। कोई कहता है कि उसे चार भुजा वाला समझो। कोई कहता है कि उसे अमुक शक्ल में समझो। कोई कहता है उसे प्रकाश-रूप, ज्योति-रूप, नाद एवं शब्द-रूप में समझो। जब तुम्हें नाद सुनाई दे, समझ लो वही ब्रह्म है। जब तुम्हें ज्योति दिखाई दे, समझ लो वही ईश्वर या ब्रह्म है। तुम कल्पना करो कि तुम्हारे चारों तरफ ब्रह्म फैला है, इत्यादि।

कहना न होगा कि उक्त सारी बातें मन की अवधारणाएं हैं, मनःकल्पित हैं। यह कह सकते हैं कि इन अलीक धारणाओं से भी मनुष्य का कुछ-न-कुछ हित है। परन्तु यह सब सत्य नहीं है। यह सब तो मन का व्यापार है। अपनी आत्मा, अपने चेतन-स्वरूप से अलग परमात्मा खोजना एक भ्रम है और यह भ्रम पुराकाल से चला आया है। यदि शेष-महेश को भी यह भ्रम रहा हो, तो यह सत्य तो नहीं हो सकता।

"कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै बिचार।" कबीर साहेब निर्भयतापूर्वक हल्लाकर कहते हैं कि 'संसार में प्रायः सबका यही विचार है कि गुरु शिष्य को ईश्वर-दर्शन करा देता है और शिष्य कृतार्थ हो जाता है।' परन्तु इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है? वस्तुतः गुरुओं के उपदेशानुसार मनुष्य अपने मन में जो कुछ धारणा बना लेता है, उसे ही ध्यान में देखता रहता है और वह उसे ही ईश्वर-दर्शन मान लेता है। परन्तु व्यक्ति जो कुछ मन में देखता है वह सब मन की अवधारणाएं एवं कल्पनाएं हैं। सच्चा ध्यान तो है संकल्पों का त्याग, और संकल्पों के त्याग हो जाने पर कोई ईश्वर नहीं बचता जिसके दर्शन हों, क्योंकि सारे ईश्वर तो मन की कल्पनाएं हैं और संकल्पों के त्याग में मन ही शांत हो जाता है। इसलिए सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं। फिर रह जाता है चेतन आत्मदेव जो 'स्व' के रूप में विद्यमान रहता है और उसके साथ रहती है शांति, जो उसका अभिन्न स्वरूप है।

"कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार।।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं कहता हूं कि मन के व्यापार को छोड़ो और अपने स्वरूप में स्थित होओ; परन्तु लोग मन के व्यापार के बाहर नहीं होते, तो इनके भ्रम-बन्धन कैसे कटेंगे!

रमैनी–५३

महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया।। १ ।।
उनहूँ ते सिध साधक होई। मन निश्चय कहु कैसे कोई।। २ ।।
जब लग तन में आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई।। ३ ।।
तब चेतिहो जब तजिहो प्राना। भया अयान तब मन पछताना।। ४ ।।
इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटै भाई।। ५ ।।

साखी—तीन लोक मुवा कौवाय के, छूटि न काहु कि आस।
एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात।। ५३ ।।

शब्दार्थ—अन्त = रहस्य, वास्तविकता, कल्पना का अन्त। सोई = प्राण। अयान = अज्ञानी। तीन लोक = त्रिगुणी जीव। एकै अंधरे = अविवेकी मन। निपात = पतन, नीचे गिरना।

भावार्थ—महादेव मुनि ने अपनी पत्नी उमा के साथ जीवन गवां दिया, किन्तु वे ईश्वर या ब्रह्म का रहस्य नहीं समझ सके।।१।। क्या उनसे भी अधिक कोई सिद्ध या साधक ईश्वर का खोजी हो सकता है! जब महादेव जैसे योगी ब्रह्म के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सके, तब पीछे के कहे जाने वाले सिद्ध-साधकों के मन में ब्रह्म के विषय में क्या निश्चय हो सकता है? ।।२।। जब तक शरीर में प्राण चलते हैं, यदि तब तक कोई सावधान होकर वास्तविकता की परख नहीं करता है, तो क्या वह तब जग सकेगा, जब प्राण छोड़ने पर तत्पर होगा। तब तो वह मूढ़ बनकर अपने पूरे जीवन के लेखा-जोखा को लेकर मन में पश्चाताप करेगा।।३-४।। सत्संग और शास्त्रों की इतनी सारी ज्ञान की बातें सुनते-गुनते हुए मौत निकट आ जाती है, परन्तु हे भाई, लोगों के मन के विकार नहीं छूटते।।५।।

संसार के सारे लोग जीवन-पर्यन्त उसी प्रकार असंबद्ध प्रलाप करते हुए मरते हैं, जैसे मनुष्य स्वप्न में कौआता है; क्योंकि स्वात्म-भिन्न कुछ पाने की आशा मिटती नहीं। एक अविवेकी मन ने संसार के सारे लोगों को ग्रस रखा है। इसी में सबका पतन होता है।।५३।।

व्याख्या—कबीर साहेब ने सत्य कहने में कभी भय नहीं किया। महादेव की नगरी काशी में रहकर उन्होंने कहा—"महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया।।" ब्रह्म को अपने से अलग मानकर उसकी कल्पना का अन्त हो ही नहीं सकता। मनुष्यों-द्वारा अपनी आत्मा से भिन्न ब्रह्म या ईश्वर के जितने रूप मन से गढ़े जायेंगे, वे सब मन के स्वप्न होंगे। उनमें वास्तविकता का बोध असंभव है।

साधारण साधकों की बात तो जाने दीजिए, बड़े-बड़े कहलाने वाले सिद्ध-साधकों के मन डगमगाते रहते हैं। वे ऊपर से ईश्वर-ब्रह्म कहते-सुनते हुए भी भीतर से संदेहशील बने रहते हैं। क्योंकि संसार में नाना अत्याचार एवं विषमताओं को देखते हुए उसकी सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता का भी उन्हें प्रदर्शन नहीं होता, और मन के आभासों के अलावा उसका कोई वास्तविक बोध, दर्शन एवं पाना भी नहीं होता।

भावुकों-द्वारा लिखी या कही हुई बातों को सुनकर दूसरे भावुकों के मन उद्वेलित होते हैं और वे अपने से अलग आकाश में, बादलों में, बिजली की चमक तथा समुद्र की लहरों में, चांद में, सूरज में या मन की उड़ानों में ईश्वर या ब्रह्म को खोजते हैं। ऐसे लोग मन की कल्पनाओं में आंदोलित होते हुए जीवन को खो देते हैं, और कहीं के नहीं रह जाते।

"जब लग तन में आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई।।" बड़ा मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में सांस चल रही है, तब तक ही सावधान होकर सत्य को देखने का प्रयास करना चाहिए। इस सुनहले अवसर को पाकर कोई चेतकर देखता नहीं है। "तब लग चेति न देखै कोई" इस अर्धाली में चेतना और देखना—ये दो शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं। कोई सावधान होकर नहीं देखता कि वास्तविकता क्या है। 'देखने' शब्द का प्रयोगकर जिस वास्तविकता की तरफ सद्गुरु संकेत करते हैं वह बीजक में छिपा नहीं है, किन्तु सर्वत्र उजागर है। उनका संकेत है तुम अपनी ओर लौटो। तुम सोचो कि परमात्मा या ब्रह्म को कौन पाना चाहता है? तुम कौन हो? क्या तुमसे भिन्न कोई परमात्मा या ब्रह्म है जो मिलेगा? तुम बाहर की सारी आशाओं को छोड़कर अपने आपको क्यों नहीं समझते तथा अपने आप में क्यों नहीं तृप्त होते हो?

"तब चेतिहो जब तजिहो प्राना" प्राणांत के समय कोई चांस नहीं रह जायेगा चेतने का। स्वस्थ जीवन विषय-वासनाओं की मलिनताओं में तथा मन की भ्रांतियों में पड़कर भटकने में बिता दिया जाता है। जब शरीर का आखिर आ जाता है, जब पैर डगमगाते हैं, हाथ हिलते हैं, आंखों से दिखता कम है, कानों से सुनाई कम देता है, मन से बातें भूल जाती हैं, इस प्रकार जब जीवन की संध्या-बेला आ जाती है, प्राण अब निकले कि तब निकले होता रहता है, तब जागने का कोई अवसर नहीं रह जाता। इस अवस्था में तो "भया अयान तब मन पछताना" मनुष्य मूढ़ बना रहता है और अपने पूरे जीवन के अच्छे-बुरे कर्मों को लेकर उठाव-पटक में पड़ा रहता है। यदि उसने जीवन में अधिकतम अच्छे कर्म किये हैं, तब तो ठीक, अन्यथा अपने गलत कर्मों को लेकर उसकी अंतरात्मा उसे कचोटती रहती है। जिसने स्वस्थ अवस्था में अपने आपको नहीं सम्हाला, वह जरजर अवस्था में पछताने के सिवा क्या करेगा!

"इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटै भाई।।" कितने लोग बहुत-से शास्त्रों, पुराणों एवं धर्मग्रन्थों के विचार, कथा एवं महात्माओं के प्रवचन सुन डालते हैं और इसी में उनके जीवन का आखिर आ जाता है, परन्तु उनके मन के विकार नहीं छूटते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि कुछ करने की बात है तो यही है कि मनुष्य अपने मन के विकारों को छोड़े। सब शास्त्र पढ़े-सुने, अनेक प्रकार के सन्तों के सत्संग किये तथा

बहुत कुछ धार्मिक कृत्य किये; परन्तु केवल मन के विकार नहीं छूटे, तो क्या हुआ! मन के विकारों को छोड़ देना ही संतत्त्व है, जिसका मन निर्मल है, वह जगतीतल पर धन्य है।

"तीन लोक मुवा कौवाय क़े, छूटि न काहु की आस।" यह वाक्य हृदय को झकझोर देने वाला है। कुछ लोग स्वप्न में अनुकूल तथा प्रतिकूल दृश्य देखकर आवाज करने लगते हैं। वे स्वप्न में अपने मित्र तथा शत्रु से बातें करते हैं और उनकी बातें मुख से शब्द के रूप में फूट पड़ती हैं। परन्तु वे बातें स्वप्न की हैं। उनमें कुछ सार नहीं है। मान लो, कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने मित्र से मिला हो और उसके मित्र ने उसे एक लाख रुपये दिये हों और उसकी चर्चा के हर्षातिरेक में उसके मुख से बातें निकल रही हों, तो क्या उन स्वप्न दृश्यावलियों तथा उन बातों से उसे कोई लाभ है! कोई लाभ नहीं है। अथवा स्वप्न में किसी दुखातिरेक में वह भयभीत होकर हल्ला करता हो और उसी में उसके मुख से आवाज निकल रही हो, तो उसकी उसमें वस्तुतः हानि भी नहीं है।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य जीवनभर हानि और लाभ, शत्रु और मित्र, अनुकूल और प्रतिकूल, सुख और दुख मान-मानकर कौआता है। वह रात-दिन व्यर्थ में बक-बक करता है। सद्गुरु कहते हैं "तीन लोक मुवा कौआता के।" तीन लोक का सहज अर्थ होता है पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं पाताल। अर्थात ऊपर, नीचे और मध्य। भावार्थ है प्राणिमात्र। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण मानो यही तीन लोक हैं। सभी प्राणी इन तीनों गुणों में बरतते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी तो कौआते ही हैं, सतोगुणी भी कौआ रहे हैं। क्योंकि "छूटि न काहु कि आस।" किसी की कुछ प्राप्ति की आशा नहीं छूटती है। मनुष्य का मन हर समय कुछ पाने की ललक रखता है। यही इसके मोक्ष में अवरोधक है। "कुछ खाने-पीने-पहनने की चीजें मिल जायं, कुछ जमीन, मकान या रुपये मिल जायं, कुछ मान-बड़ाई मिल जाय, ईश्वर-परमात्मा मिल जाय।" हर समय कुछ पाने की आशा मन में बनी रहती है और यही बंधन का कारण है। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश पद, सुनु वैराग्य निधान।।" मुक्ति की आशा लगी है, तो इसका अर्थ है कि अभी मुक्ति हुई नहीं है, तो बंधन है ही। जब जीव मुक्त हो जायेगा, तब उसे मुक्ति की आशा नहीं रहेगी। मुक्ति पाने की वस्तु नहीं है; क्योंकि जीव से अलग वह कुछ नहीं है। वासना का क्षय ही मोक्ष है।

"छूटि न काहु कि आस।" यह वाक्यांश अबोध के सूक्ष्म स्वरूप का पर्दाफाश करता है। जो कुछ अपनी आत्मा से, अपने चेतन-स्वरूप से अलग है, चाहे वह द्रव्यात्मक हो या भावनात्मक हो, उसको पाने की ललक 'आशा' है और यही जीव का बंधन है। सांसारिक चीजों को पाने की आशा जीव के लिए जितना बंधन है, उतना ही बंधन है ईश्वर-परमात्मा पाने की आशा। जब हम ईश्वर-परमात्मा पाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यही होता है कि हम उसे अपने से अलग मानते हैं और अलग मानना घोर अज्ञान है। इसीलिए सद्गुरु पिछली रमैनी में कह आये हैं "जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी।" पृथक की वस्तुओं में सदैव वियोग की भावना बनी ही रहेगी। यदि हम अपनी आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु की आशा करते रहेंगे, तो उसके विषय में हमें कौआकर मरना ही होगा।

भौतिक वस्तुएं, जितना चाहो, एक तो सब मिलती नहीं, और जो मिलती भी हैं वे छूट जाती हैं, और ईश्वर-परमात्मा आदि जो कुछ अपने से भिन्न भावनात्मक रूप में मान रखा है, उनका कभी मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि आत्म-भिन्न उनका कोई तथ्य ही नहीं है। अतएव हम जब तक अपनी आत्मा से अलग कुछ भी आशा रखेंगे, कौआकर मरते रहेंगे, भटकते रहेंगे।

"एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात।।" एक ही अंधे ने सबको खा लिया है और सबका पतन हो गया है। एक अंधा यह अविवेकी मन है। हमारा बनाया अबोधी मन हमारे पतन का कारण बना हुआ है। हम मन को जीतें, मन के व्यापार से ऊपर उठें, बस स्वरूपस्थिति। सबको परखकर छोड़ देना और अपने पारख स्वरूप में स्थित हो जाना, यही तो जीवन का सार है, यही तत्त्व-सार है।

काम-वासना, स्त्री-पुत्रादि-वासना, धन-वासना, प्रसिद्धि-वासना, लोक-लोकान्तर-वासना, विद्या-वासना, ईश्वर-ब्रह्म-वासना—स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त जहां तक वासनाएं हैं—सबका त्यागकर स्वतः चेतन पद में जब तक स्थिर नहीं होता, तब तक जीव का कल्याण नहीं। जीवन क्षणभंगुर है, मायामोह के भुलावे में फंसना उचित नहीं। आसक्ति बंधन ने जीव को भीतर-बाहर से जकड़ रखा है। तत्परतापूर्वक उसी को काटना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम आदि शरीर से अमर हैं। इसलिए उनसे मिलने के लिए लोग तपस्या करते हैं। इस भ्रम के निवारणार्थ आगे की दो रमैनियां कहते हैं।

देहधारी मरणधर्मा है

रमैनी—५४

मरिगौ ब्रह्मा काशी को बासी। शीव सहित मूये अविनासी।। १ ।।
मथुरा को मरिगौ कृष्ण गोवारा। मरि मरि गये दशों अवतारा।। २ ।।
मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी।। ३ ।।

साखी—नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे काल के फाँस।। ५४ ।।

शब्दार्थ—अविनाशी = विष्णु जी। गोवारा = गोपाल। दशों अवतारा = मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। नाथ मछन्दर = मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ के गुरु। दत्त = दत्तात्रेय। व्यास = वेदव्यास।

भावार्थ—ब्रह्मा जी, काशी के निवासी शिव जी के सहित अविनाशी कहलाने वाले विष्णु जी शरीर छोड़कर संसार से चले गये।।१।। मथुरा के गोपाल श्री कृष्ण जी नहीं रहे और दस अवतारों में जिनकी गणना की गयी है वे सब शरीर त्याग-त्याग कर चले गये।।२।। जिन्होंने इनकी भक्ति की और सगुण में ही निर्गुण तत्त्व की कल्पना की, वे सब यहां से चले गये।।३।।

मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ और दत्तात्रेय-जैसे योगी तथा वेदव्यास-जैसे महापण्डित कालबली से नहीं बचे। कबीर साहेब घोषणा कर कहते हैं कि ये सब काल के फांस में पड़ गये ।।५४।।

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव बड़े देवता माने जाते हैं; श्री राम, श्री कृष्ण आदि अवतार माने जाते हैं; मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ तथा दत्तात्रेय सिद्धयोगी माने जाते हैं और वेदव्यास त्रिकालदर्शी महर्षि माने जाते हैं। इन सबके लिए प्रायः जनता में यह भ्रम है कि ये शरीर सहित अमर हैं, या ये जब जहां चाहें तब प्रकट हो सकते हैं।

कबीर साहेब धर्म, देवता, ईश्वर, योगी, महर्षि आदि के नाम पर चलाये जाने वाले सारे अंधविश्वासों को दूर कर देना चाहते थे। कोई ऐसा देवता नहीं है जो अदृश्य रूप में रहता हो और जब चाहे तब प्रकट होकर जो चाहे सो कर सकता हो या उसकी वन्दना-पूजा करने से मनुष्यों को वह ऋद्धि-सिद्धि देता हो। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि कभी रहे होंगे, तो वे निश्चित ही मनुष्य रहे होंगे और अपने काल के महापुरुष रहे होंगे। अब वे नहीं हैं।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि—ये दस अवतारों की कल्पना है। इनमें राम, कृष्ण तथा बुद्ध ही ऐतिहासिक पुरुष लगते हैं, शेष सब काल्पनिक प्रतीत होते हैं। राम, कृष्ण तथा बुद्ध के जीवन एवं वचनों से प्रेरणा लेना चाहिए। परन्तु ये सब मनुष्य थे। कभी थे। अब उस रूप में नहीं हैं। उनसे हम केवल सत्प्रेरणा ले सकते हैं, अन्य कुछ भी उनसे मिलने वाला नहीं है। परन्तु सत्प्रेरणा ही तो जीवन के लिए सब कुछ है।

लोग मानते हैं गुरु गोरखनाथ देह से अमर हैं, दत्तात्रेय अमर हैं। यह सब भ्रम है। कोई भी शरीर से अमर नहीं होता। इसी प्रकार ऋषि-महर्षि भी शरीर से अमर नहीं। सबसे हमें केवल सत्प्रेरणा लेना चाहिए। उनसे ऋद्धि-सिद्धि तथा मुफ्त में मोक्ष पाने की आशा मिथ्या भ्रम है।

"मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी।।" किसी देहधारी को सगुण ब्रह्म कहकर उसकी भक्ति की गयी और उसे ही सगुण के रूप में निर्गुण ब्रह्म, जगन्नियंता एवं सुप्रीम पावर मान लिया गया। यह सब श्रद्धातिरेक है। वस्तुतः सभी मनुष्यों की आत्माएं पूर्णतया समान हैं। उनमें से अनेक जन्मों की शुद्ध संस्कारी आत्माएं महानता को लेकर जन्म लेती हैं जैसा कि दूसरी आत्माएं भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति द्वारा वैसे तथा उससे भी बढ़कर उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकती हैं। स्वरूपस्थिति तो सबकी समान होती है, परन्तु भौतिक प्रतिभा गुण-कर्मों में एक-से-एक घट-बढ़ रूप जीवों की होती रहती है। इन देहधारी मनुष्यों में, भले उनमें से किसी का नाम अवतार रख लिया हो, कोई समस्त विश्व का नियंता नहीं होता। विश्व तो जड़-चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से निरंतर चल रहा है। उससे अलग किसी नियंता की अवधारणा वस्तु-विवेक के अभाव का परिणाम है। और फिर किसी देहधारी को अनन्त विश्व का नियंता मान लेना महा भोलापन है।

पाठकों के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक उठ सकता है कि कबीर साहेब ने तो सभी बड़े-बड़े लोगों को कह दिया कि ये सब मर गये, तो क्या कबीर स्वयं नहीं मर गये? वे भी तो मर गये। पाठकों को विदित होना चाहिए कि यदि कोई यह कहता है कि कबीर साहेब अपने पूर्व शरीर से आज भी कहीं स्थित हैं या वे जब चाहें तब आकर संसार में जो चाहें वह कर सकते हैं। वे परब्रह्म हैं। विश्व के नियंता हैं। तो ये सारी बातें काल्पनिक हैं। निश्चित है जैसे ब्रह्मादि, कृष्णादि, गोरखादि मर गये, वैसे कबीर भी मर गये। उनका तो यह अमर वाक्य है "आये हैं सो जायंगे, राजा रंक फकीर। एक सिंहासन चढ़ि चला, बांधे जात जंजीर॥" और भी "मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय। ऐसा होय के न मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥"

इस रमैनी की विषय-वस्तु ही यही है कि अलौकिकता नाम की कोई चीज नहीं है। मनुष्य अपने आप को धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले चमत्कार एवं अतिशयोक्तियों से बचाये तथा मानवीय बुद्धि का विकास करे। मानवीय विवेक एवं वस्तुपरक बुद्धि के अभाव में धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मानव का मानसिक, आर्थिक हर प्रकार का शोषण हो रहा है।

रमैनी–५५

गये राम औ गये लछमना। संग न गई सीता ऐसी धना॥ १ ॥
जात कौरवे लागु न बारा। गये भोज जिन्ह साजल धारा॥ २ ॥
गये पाण्डव कुन्ता ऐसी रानी। गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी॥ ३ ॥
सर्व सोने की लंका उठाई। चलत बार कछु संग न लाई॥ ४ ॥
जाकर कुरिया अन्तरिक्ष छाई। सो हरिश्चन्द देखल नहिं जाई॥ ५ ॥
मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई॥ ६ ॥
ई न जानै अपनेउ मरि जैबे। टका दश बिढ़ै और ले खैबे॥ ७ ॥

साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—धना (धन) = युवती, सुन्दरी वधू। धारा = धार या धारा नगरी। अन्तरिक्ष = आकाश। मनुसा = मनुष्य। सँजोई = संग्रह। बिढ़ै = वृद्धि करना, बढ़ाना।

भावार्थ—लक्ष्मण जी चले गये, श्री राम जी भी चले गये, परन्तु उनके साथ सीता जी-जैसी सुन्दरी युवती या पतिव्रता पत्नी न जा सकीं॥१॥ अपार कौरव दल को जाते विलंब न लगा। संपत्ति एवं कला से धारा नगरी को सजाने वाले राजा भोज भी चले गये॥२॥ वीर पांडु चले गये और कुन्ती-जैसी उनकी महारानी चली गयीं और बुद्धि तथा मति के अगाध भंडार सहदेव जी भी चले गये॥३॥ कहा जाता है प्रसिद्ध प्रतापी महाराज रावण ने लंका के सारे महल सोने के बनवाये थे, परन्तु चलते समय वे भी कुछ न ले जा सके॥४॥ जिनके राज-प्रासाद आकाश चूम रहे थे, वे अयोध्याधीश महाराज हरिश्चन्द्र दिखाई नहीं देते॥५॥ मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करता है। स्वयं तो मौत के कगार पर है,

परन्तु दूसरे स्वजनों के लिए रो रहा है ।।६।। यह नहीं जानता कि अन्यों की तरह मैं भी मर जाऊंगा, बल्कि सोचता है कि दस टके धन और बढ़ जाय और उसे लेकर भोग लूं ।।७।।

सांसारिक प्राणी-पदार्थों को 'मेरा-मेरा' मानकर सब मर गये, परन्तु किसी के साथ कभी कुछ भी नहीं गया। रावण भी 'मेरा-मेरा' कर चले गये और राजा दशरथ भी 'मेरा-मेरा' कर चले गये ।।५५।।

व्याख्या—आदमी जब तक जीता है, तब तक वह सांसारिक प्राणी-पदार्थों के लिए नामालूम कितने पाप-पुण्य कर्म करता है। वह सारे संसार को मानो समेटकर रख लेना चाहता है। परंतु मनुष्य की अंतिम दशा क्या होती है यह सब जानते हैं। जब शरीर भी जीव से अलग होकर यहीं रह जाता है तब उसके साथ और क्या जायेगा। हम-तुम जैसे साधारण लोग ही नहीं, अपने जीवन-चरित से दुनिया का इतिहास बनाने वाले लोग भी एक दिन खाली हाथों चले जाते हैं। फिर यहां किस वस्तु को अपनी मानकर अहंकार किया जाय !

इसी संदर्भ में लक्ष्मण, राम, सीता, कौरव, पांडु या पांडव, भोज, सहदेव, हरिश्चन्द्र, रावण, दशरथ आदि प्रसिद्ध नाम गिनाये गये हैं कि इन सबके जाने में देरी नहीं लगी। इनमें से कई के परिचय पीछे ४७ वीं रमैनी में आ चुके हैं। यहां कुछ के परिचय प्राप्त करें—

राजाभोज

भोज उज्जैन के धर्मवान राजा थे। इनके बालकपन में ही इनके पिता का देहावसान हो गया। उस समय इनके चाचा 'मुंज' राजगद्दी पर प्रतिष्ठित थे। पहले मुंज के मन में कुमार भोज के प्रति अगाध स्नेह था। एक दिन राजा पाठशाला में गया, वहां पर अध्यापकों एवं छात्रों-द्वारा कुमार भोज की प्रशंसा सुनी और स्वयं भी उसकी प्रतिभा को देखकर वह धीरे-धीरे मन में उसके प्रति ईर्ष्या करने लगा।

राजा मुंज सोचने लगा कि कुमार भोज प्रतिभावान है। आगे यह हमारी गद्दी ले-न-ले; अतः पहले इसे ही समाप्त करा दिया जाय। फिर अपने मंत्रियों के साथ में कुमार भोज को वन में भेज दिया और मंत्रियों से कह दिया कि इसका सिर काटकर लाना। जब वन में ले जाकर मंत्रियों ने भोज का सिर काटना चाहा, तब भोज ने चाचा मुंज के लिए एक श्लोक लिखा; जिसका अर्थ यह था—"सत्युग के राजा मान्धाता, त्रेता के श्री राम तथा द्वापर के युधिष्ठिर आदि अनेक प्रतापवान राजा काल के गाल में चले गये, परन्तु पृथ्वी किसी के साथ नहीं गयी, अब कलियुग में स्यात् चाचा मुंज के साथ (पृथ्वी) जाये।"

यह श्लोक देखकर मंत्रीजन प्रभावित हो गये और कुमार भोज को कहीं छिपाकर और नकली सिर ले जाकर मुंज को दिखा दिये और साथ-साथ वह श्लोक भी दिखलाये। श्लोक पढ़कर मुंज ने बड़ा पश्चाताप किया और आत्महत्या करने को तत्पर हो गया। फिर मंत्रियों ने सच्ची बातें कह सुनायीं और कुमार भोज को लाकर मुंज को सौंप दिया। मुंज ने कुमार भोज से क्षमा मांगी, तथा उसे राजगद्दी देकर स्वयं विरक्त हो गया।

राजा भोज ने अपनी राजधानी धारा नगरी में स्थापित की। राजा भोज का राज्य-प्रबंध अत्यन्त उत्तम था। धारा नगरी में विशाल रमणीय भवन थे। सुन्दर सड़कें, विभिन्न विद्याओं के अध्ययन के लिए विभिन्न विद्यालय, अनेक औषधालय, अनाथालय तथा प्रत्येक के प्रबंध के लिए पृथक-पृथक समितियां भी। राजा भोज की प्रजा सन्तुष्ट थी। राजदरबार में विद्वानों का बड़ा आदर था। संस्कृत भाषा की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी।

पाण्डव

युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, भीम और अर्जुन—ये पांचों पाण्डव कहलाते हैं। ये कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से उत्पन्न राजा पाण्डु के पुत्र कहे जाते हैं। ये बड़े वीर थे। श्री कृष्ण की सहायता से इन्होंने महाभारत में विजय पायी थी।

जब यदुवंशियों का सर्वनाश हो गया और श्री कृष्ण भी बधिक के बाण से विधकर मारे गये, तब यह सुनकर पाण्डवों के मन में बड़ा वैराग्य हुआ और परीक्षित को राज्य देकर द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े और हिमालय में जाकर सब गल गये। कहा जाता है केवल युधिष्ठिर बच सके थे, वही इन्द्र के विमान पर बैठकर स्वर्ग में गये; परन्तु यह तो कोरी कल्पना है। वास्तविकता यह है कि सबको गलना पड़ा।

सहदेव

ये पांचों पाण्डव में से एक हैं, और सबसे छोटे हैं। कहा जाता है ये अश्विनी के वीर्य से तथा माद्री के गर्भ से पैदा हुए थे। ये विद्वान तथा बुद्धिमान माने जाते हैं।

"गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी" इस अर्धाली में बुद्धि और मति दो शब्द आये हैं जो पुनरुक्ति जैसे लगते हैं, क्योंकि दोनों का अर्थ सरसरी तौर पर एक ही लगता है। स्थान-भेद से उक्त दोनों का अर्थ एक माना जा सकता है, परन्तु विद्वानों ने इनके अलग-अलग अर्थ माने हैं, वह इस प्रकार है—"मन की वह शक्ति जो वर्तमान में निर्णय देती है 'बुद्धि' है, भविष्य के लिए निर्णय देने वाली 'मति' है और बुद्धि में नये-नये भावों का उदय होते रहना 'प्रतिभा' है।"[१]

कहते हैं रावण की नगरी लंका सोने की बनी थी। इसका अर्थ है कि वह धन-धान्य से संपन्न थी। जिस क्षेत्र में ज्यादा दूध होता है, लोग कहते हैं कि वहां तो दूध की नदी बहती है। बस इतना ही अर्थ है।

सद्गुरु कबीर इन महान संपदाशाली राजाओं का विनाश बताकर हमें यह समझाना चाहते हैं कि बताओ, तुम कब तक यहां रहोगे? किसलिए पाप-पर-पाप किये जा रहे हो? किसलिए ममता-मोह में जलते हुए अपना रत्न-जीवन खो रहे हो? वे कहते हैं—"मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई।।" यह मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करने में लगा है। स्वयं तो मौत के निकट पहुंच चुका है; परन्तु कुटुम्बियों के लिए रो रहा

---

१. बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते।।

है कि वे क्या खायेंगे, क्या भोगेंगे? मूढ़ मानव! सबके पुरुषार्थ और प्रारब्ध उनके साथ हैं। तू उनके लिए क्या कर सकता है? "पूत सपूत तो का धन संचै। पूत कुपूत तो का धन संचै।।" कु-पुत्र के लिए धन संचय करना बेकार है। वह शराब-कबाब तथा गलत रास्ते में उसे नष्ट कर देगा। और यदि सु-पुत्र है तो उसकी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। वह स्वयं कमाकर खायेगा।

आदमी अपने मरने की बात ही नहीं सोचता है कि आज-कल में हमें यहां से जाना है। यदि आदमी अपनी मौत का ख्याल रखे, तो वह भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक कमाई करे जो जीवन की सच्ची पूंजी है। वह तो इन बातों से बेहोश है। वह तो इस फिक्र में है "टका दश बिढ़ै और ले खैबे" हमारा धन कुछ और बढ़ जाय और उसे लेकर और भोग-विलास कर लूं। यहां 'दस टका' का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। मतलब है कुछ धन। आदमी अधिक से अधिक ब्याज लेकर, कालाबाजारी, घूस, चोरी, डाका आदि नाना कुकर्म करके भी धन बढ़ाने तथा उन्हें भोगने की लालसा में डूबा रहता है। परन्तु देखते-देखते उसे काल उठा ले जाता है। तृष्णा की विशेषता का चित्रण करते हुए संत कवि सुन्दर दास जी कहते हैं—

जो दस बीस पचास भये शत, होय हजार तो लाख मंगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी।।
स्वर्ग पताल कै राज करौ, तृष्णा अधिकी अति आगि लगैगी।
सुन्दर एक संतोष बिना शठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी।।

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

निर्धनिक कछु धन चहै, धनिक चहै विशेष।
विशेषहू विशेष चहै, होवन चहै नरेश।।
नरेश चहै इन्द्रपद, इन्द्र चहै रणजीत।
असुर चहै सुरपति बनन, यह तृष्णा की रीति।।

"अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ। अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ।।" संसार के प्राणी-पदार्थों को सब अपना-अपना कहकर यहां से चले जाते हैं, परन्तु किसी के साथ कुछ नहीं जाता। "इकट्ठे कर जहां के जर, सभी मुल्कों के माली थे। सिकन्दर ज़ब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे।"

रावण और दशरथ—इन दोनों राजाओं के आदर्शों में बड़ा अंतर है; परन्तु दोनों ही सांसारिकता में डूबकर और ममता-मोह में फंसकर, हाय-हाय कर चले गये। उनके साथ क्या गया?

अतएव जीवन क्षणभंगुर है। यहां का सब कुछ यहीं रह जायेगा। शरीर भी तो छूटकर जल जाता है या सड़-गल जाता है। हमें इसकी ममता एवं मोह त्यागकर अपने आपका कल्याण करना चाहिए। महाकवि जौक कहते हैं—

ऐ जौक गर है होश तो दुनिया से दूर भाग।
इस मयकदे[1] में काम नहीं होशियार का॥

विषयी जीवन की सारहीनता

रमैनी–५६

दिन दिन जरै जलनी के पाऊ। गाड़े जाय न उमँगे काहू॥ १ ॥
कन्धन देइ मसखरी करई। कहुधौं कौन भाँति निस्तरई॥ २ ॥
अकर्म करै औ कर्म को धावै। पढ़ि गुनि बेद जगत समुझावै॥ ३ ॥
छूँछे परै अकारथ जाई। कहहिं कबीर चित चेतहु भाई॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जलनी = जलाने वाली। पाऊ = पैर, अधीनता, आसक्ति। उमँगे = उबरना। कन्धन देइ = गला मिलाकर आलिंगन करना। धौं = भला। अकर्म = बुरे कर्म। कर्म = अच्छे कर्म के फल। छूंछे = खाली। अकारथ = व्यर्थ।

भावार्थ—जीव कनक-कामिनी की आसक्ति में पड़कर प्रतिदिन मनस्ताप में जलते हैं। उन्हें मानो कोई उत्तरोत्तर उन्हीं विषय-वासनाओं में गाड़ता जा रहा हो। प्रायः किसी को उससे निकलते नहीं देखा जाता॥१॥ नर-नारी यहां तक बेशर्म हो जाते हैं कि शील और मर्यादा छोड़कर सरेआम एक दूसरे का आलिंगन करते हुए हंसी-मजाक करते हैं। कहो भला, ऐसे लोगों का कैसे कल्याण होगा!॥२॥ लोग बुरे कर्म करते हैं और अच्छे कर्मों के फल के लिए इच्छा रखते हैं, और वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार के लोगों को अच्छे कर्म करने का उपदेश देते हैं॥३॥ ऐसे लोगों के जीवन कल्याण से खाली रह जाते हैं और व्यर्थ चले जाते हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं—हे भाई, मन में सावधान हो जाओ॥४॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बतलाया था कि सभी प्राणी-पदार्थ काल के चबैना हैं। फिर भी मनुष्य छूटने वाले प्राणी-पदार्थों को मेरा-मेरा करके पचता है। इस रमैनी में सद्गुरु विषय-वासनाओं के अधीन हुए लोगों की दयनीय दशा का वर्णन करते हैं।

"दिन दिन जरै जलनी के पाऊ" जलनी का अर्थ है जलाने वाली। जलाने वाली मन की विषय-वासना है। इसका प्रतीकात्मक शब्द कनक-कामिनी है। कनक से अर्थ केवल सोना नहीं, किन्तु धन-दौलत है और कामिनी से अर्थ केवल कामनायुक्त स्त्री नहीं, किन्तु कल्याणार्थी नारियों को दृष्टि में रखते हुए कामनाबद्ध पुरुष भी है। कामिनी बन्धन है पुरुष के लिए, तो कामी बंधन है नारी के लिए। वस्तुतः दोनों के लिए विषय-कामना ही बंधन है। स्त्री पुरुष की कामना में जलती है और पुरुष स्त्री की कामना में जलता है। वे एक दूसरे के मिलन में क्षणमात्र के लिए भ्रम-वश तृप्ति का अनुभव करते हैं, परन्तु वह तृप्ति नहीं, बल्कि इच्छित विषय में वृत्ति की स्थिरता तथा शक्ति की क्षीणता है। जैसे

---

१. मयकदे = मदिरालय।

दौड़ता हुआ आदमी थककर रुक जाता है और थोड़ा सुस्ताकर दौड़ने की शक्ति अर्जित कर लेता है और पुनः दौड़ता है। इसी प्रकार भोगों की इच्छा वाले आदमी का मन सदैव विषय-चिंतन में दौड़ता है। कुछ काल के लिए भोग-क्रियाओं में रुककर उसे तृप्ति लगती है, परन्तु वह तृप्ति नहीं है बल्कि अतृप्त इच्छाओं के वेग को बढ़ाने वाली शक्ति-अर्जन-क्रिया है। भोग-क्रिया के जिस क्षण को मन तृप्ति समझता है, उसी की आसक्ति मन में दृढ़ होकर पीछे उसी के लिए पुनः रात-दिन बेचैनी होती है। बीड़ी-तम्बाकू आदि सेवन के समय लगता है कि मन तृप्त हो गया, परन्तु वह तो बीड़ी-तम्बाकू की तृष्णा बढ़ाने का साधन है। भोगों को भोगने से उसकी तृष्णा की ज्वाला निरंतर बढ़ती है।

अतएव यह काम-वासना, लोभ-वासना, पुत्र-वासना, लोक-वासना एवं विषयों की तृष्णा जीवों के लिए ''जलनी'' है, जलाने वाली है। आग में घी डालने से आग कभी ठंडी नहीं होती, इसी प्रकार संसार के भोगों में पचने वाले कभी काम-ज्वाला से बच नहीं सकते।

''गाड़े जाय न उमँगे काहू'' संसार के प्रायः सारे लोग मानों इस काम-वासना के दलदल में बलात गाड़े जा रहे हैं। न चाहते हुए भी जीव को कौन वासनाओं में डुबा देता है? दूसरा कोई डुबाने वाला नहीं है। जीव ही ने अपने आप को भूलकर वासनाओं को बलवान बना रखा है और अब वे ही वासनाएं उसे उसी प्रकार बलात खींचती हुई लगती हैं जिस प्रकार झूले में वेग भर देने पर झूलने वाले को न चाहते हुए वह कुछ समय तक झुलाता रहता है। परन्तु यदि झूले वाला व्यक्ति पुनः झूले में वेग न भरे तो झूला कुछ क्षण में अपने आप रुक जायेगा और झूले से मनुष्य सहज उतरकर उससे मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य यदि भोग-क्रिया रूपी वेग मन में न भरे, तो धीरे-धीरे वासनाएं शांत हो जायेंगी और जीव वासनाओं से मुक्त हो जायेगा।

सद्‌गुरु कहते हैं ''न उमँगे काहू'' कोई इन विषयों के दलदल से निकलता नहीं। प्रश्न होता है कि क्या कोई नहीं निकलता? यदि कोई न निकलता, तो संसार में त्यागी कैसे देखे जाते? उत्तर है कि यहां का लक्षणा अर्थ है कि कोई विरला ही इस दलदल से निकलता है। शेष सब तो उसी में धंसे जा रहे हैं। लोग पढ़ते हैं, लिखते हैं, और अपनी आधी जिंदगी तक तैयारी करते हैं उसी संसार के दलदल में धंसने के लिए। कोई विरला ही इस दलदल में न धंसकर या यदि उसमें पैर पड़ गये हैं, तो झिटककर भाग खड़ा होता है।

पामर नर तथा नारी धीरे-धीरे निर्लज्ज हो जाते हैं। वे सबके बीच में ऐसे हाव-भाव, हंसी-मजाक करते हैं जो सामाजिक मर्यादा को तोड़ने वाले होते हैं। इन भद्दी क्रियाओं का दूसरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे लोगों के संस्कार बिगड़ते हैं। कहा जाता है कम्युनिस्ट देश सोवियत रूस में गाय-भैंस को गर्भवती करने के लिए बन्द जगह होती है। वहां खुली जगह में ऐसा कराना वर्जित हैं, क्योंकि इससे लोगों पर तथा अधिकतर किशोरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जो पति तथा पत्नी अपने बच्चों या अन्य लोगों के सामने श्रृंगारिक चर्चा, कुत्सित अंगचालन एवं भद्दी बातें करते हैं, वे यह नहीं समझते कि इससे उनके बच्चे तथा दूसरों

में बुरे संस्कार जमेंगे तथा उनकी दृष्टि में वे श्रद्धास्पद नहीं रह जायेंगे। कितने ही माता-पिता अपनी खुली कामुक प्रवृत्ति के कारण ही अपने बच्चों-द्वारा घृणा के पात्र हो जाते हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध का हेतु है संतान। इसे जल-भोजन की तरह जीवन की आवश्यकता नहीं समझना चाहिए। भोगी होने पर रोगी, शोकी बनकर जीवनभर तृष्णा में जलना ही फल होगा।

साधु-ब्रह्मचारी को तो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उन्हें मन से भी विषय-चिंतन नहीं करना चाहिए। परन्तु गृहस्थों को भी यह समझ लेना चाहिए कि वैवाहिक जीवन का अर्थ काम-भोग की चक्की में जीवन भर पिसना नहीं है। मूढ़ मन जिसको परम सुख मानता है वह काम-भोग क्या है, बस, तृष्णा की ज्वाला में जलते हुए दो अस्थि-मांस के पिंजरों का सम्मिलन, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय और परिणति—मूढ़ता एवं पश्चाताप। विषयी जीव की विवेकशक्ति खो जाती है। वह सांसारिकता में डूबा हुआ बच्चों की तरह बिलबिलाता है, ऐसे मनुष्यों को जीवन में कहां शांति?

"अकर्म करे औ कर्म को धावै। पढ़ि-गुनि बेद जगत समुझावै।।" अकर्म का अर्थ है निष्क्रियता अर्थात कर्मों का अभाव और दूसरा अर्थ है बुरे कर्म। यहां अकर्म का अभिप्राय बुरे कर्म ही है। विषयी-पामर आदमी बुरे कर्म करता है। विषयों का ऐसा प्रमाद है कि यह जितना बढ़ता है उतना ही व्यक्ति को व्यभिचार, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी एवं सारे पाप कर्मों की ओर ले जाता है। विषय-वासनाओं से अविवेक तथा अविवेक से सारे पाप होते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य सारे दुष्कर्म करते हुए भी चाहता है कि इनके फल अच्छे हों। वह आग छूकर शीतलता तथा जहर पीकर जीवन चाहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि यह मत समझिए कि ऐसे कर्म केवल अनपढ़-अनाड़ी करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े शिक्षित, विद्वान ही नहीं, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता भी करते हैं, जो रात-दिन वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार को उपदेश देते फिरते हैं। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में भी कहा है—"पढ़ना गुनना चातुरी, औरों बात सहल्ल। काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल।।" संसार में लबरे विद्वानों की कमी नहीं है। वे ऊपर से तो विद्या और धर्म के अवतार बने बैठे रहते हैं, किन्तु भीतर घोर मलिनता में डूबे रहते हैं। पामर विद्वानों का सारा शास्त्र-ज्ञान अपने भोगों की सिद्धि के लिए ही होता है। वे प्राप्त ज्ञान से अपने दोषों को ढकने का प्रयत्न करते हैं। वे मसालची के समान दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं अंधियारे में रहते हैं।

"छूँछे परै अकारथ जाई" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग छूंछे हैं। ऐसे लोग जीवन भर रोते ही रह जाते हैं। जिनमें ईमानदारी एवं सत्यता नहीं है, जो विषयों से ऊपर उठकर संतोष में तृप्त नहीं हुआ है, जिसके भीतर शांति नहीं है, जो शुभाचार से नहीं चलता, ऐसा आदमी खाली-का-खाली है। बाहर से कोई भरा दिखे, परन्तु भीतर से खाली हो, तो क्या मतलब! संतोष रूपी धन से जो तृप्त है, वह धनी है। वही भरा है। जो भीतर-भीतर काम-वासना, तृष्णा एवं दुष्प्रवृत्तियों से जलता है, वह बाहर से सम्पन्न भी हो, तो भी वह छूंछा ही है। असली धन तो मनुष्य के भीतर है जो पवित्र संस्कारों का है।

सुव्यवस्थित व्यक्तित्व, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, संतोष एवं आत्म-तृप्ति—ये ही सच्चे धन हैं। जो इनसे सम्पन्न है वह भरा-भरा है। बाकी लोग तो छूंछे हैं। इसलिए उनका जीवन अकारथ है, व्यर्थ है। "आया क़बीरा फिर गया, झूठा है हंकार।"

सद्गुरु अन्त में चेतावनी देते हैं "चित चेतहु भाई" हे भाई! मन में सावधान हो जाओ। ज्ञान-प्रकाश में जागो। विषयों की नींद छोड़ो। इसमें तुम लुट जाओगे। तुम्हारी विद्या कुछ काम न आयेगी। तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान विषयों के त्याग बिना केवल भूसी पछोरना है। अतः सावधान!

स्वर्ग आकाश में नहीं, मन की पवित्रता में है

रमैनी—५७

कृतिया सूत्र लोक एक अहई। लाख पचास की आयू कहई॥ १ ॥
विद्या-वेद पढ़े पुनि सोई। बचन कहत परतक्षै होई॥ २ ॥
पैठी बात विद्या की पेटा। वाहुक भरम भया संकेता॥ ३ ॥

साखी—खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।
बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—कृतिया = कृत्रिम, बनावटी, कल्पित। सूत्र = वाणी, मन्त्र। सोई = वही कल्पित। पेटा = अंतःकरण। वाहुक = सामान्य लोगों को। संकेता = इशारा। खग = पक्षी। पाछे = भूतकाल। बिन परचै = बिना परख।

भावार्थ—धर्मग्रन्थों की कृत्रिम वाणियों ने यह बयान दिया है कि आकाश में एक स्वर्ग-लोक है, जिसमें रहने वालों की आयु पचास लाख वर्षों की होती है अर्थात स्वर्गीय लोग बहुत दिनों तक जीते हैं॥१॥ ऐसे ही धर्मग्रन्थों की कल्पित वाणियों को पढ़कर नाना मत के गुरु लोग ऐसा बढ़ा-चढ़ा कर स्वर्ग का वर्णन करने लगे कि मानो वे स्वयं प्रत्यक्ष देखकर आये हैं॥२॥ धर्मग्रन्थों की ऐसी कल्पित बातें साधारण जनता के मन में पैठ गयीं। भ्रामक गुरुओं के इशारे से जनता भ्रम में पड़ गयी॥३॥

सद्गुरु कहते हैं कि तुम स्वर्ग रूपी कल्पना के उस पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़े हो जिसके विषय में पीछे के पण्डितों ने अगम-अपार वाणियां कही हैं। परन्तु बिना परख के तुम इसकी वास्तविकता कैसे जान सकोगे? तुम्हारा स्वर्ग का अहंकार झूठा है॥५७॥

व्याख्या—सूत्र उस वाणी को कहते हैं जो अपनी विषय-वस्तु को संक्षेप में बता दे। यहां सूत्र का सरल अर्थ मंत्र तथा वाणी है। कृतिया का अर्थ है कृत्रिम एवं बनावटी। धर्मग्रन्थों में यह बनावटी तथा नकली बातें हैं कि आकाश में एक स्वर्गलोक है। यह सूत्र कृतिया है, अर्थात यह वाणी नक़ली है कि एक स्वर्गलोक है और उसमें रहने वाले पचास लाख वर्ष जीते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि यहां भारतीय स्वर्ग की कल्पना की ही आलोचना है; क्योंकि भारतीय स्वर्गवादी ही यह मानते हैं कि स्वर्गस्थ जीव चाहे कितने

ही युग स्वर्ग में रह ले, उसे पुनर्जन्म में इस पृथ्वी पर आना ही है। अभारतीय स्वर्गवादी जैसे इसाई, मुसलमान आदि पुनर्जन्म न मानने से वे यह मानते हैं कि जो जीव एक बार स्वर्ग या नरक में गया वह वहां का सदा निवासी हो गया। अतएव उन्हें स्वर्ग से लौटने की बात ही नहीं है। यह तो भारतीय मूल पौराणिकों के स्वर्ग से जीव संसार में आते हैं, वे चाहे ब्राह्मण के स्वर्ग के हों या श्रमण के।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कबीर साहेब इसाई, मुसलमानादिकों के स्वर्ग का खण्डन नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि से इस लोक से अलग स्वर्ग की कल्पना ही व्यर्थ है, वह चाहे जिसके द्वारा की गयी हो। भारतीयों के स्वर्ग की समीक्षा यहां इसलिए है, क्योंकि वे भारतीयता, एवं विशेषतर हिंदू संस्कृति, धर्म एवं पौराणिक माहौल में पले थे। उन्होंने इन्हें ही निकट से जाना-समझा था, इसलिए सारी बातें इन्हीं को लेकर अधिकतर कहा था।

नाना मतों-द्वारा स्वर्ग की कल्पना क्यों की गयी? क्या इस धरती के बाहर कहीं स्वर्गलोक का अस्तित्त्व है?

वस्तुतः इस धरती पर रहने वाले मनुष्यों की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि ही स्वर्ग है। मनुष्य इस पृथ्वी पर अल्पायु है। उसकी अपने जीने की इच्छा पूरी नहीं होती, इसलिए उसने कल्पित स्वर्गलोक में लाखों वर्ष जीते रहने की धारणा कर ली। इस धरती पर जवानी बहुत थोड़े काल की है, सुन्दरता भी मनोनुकूल नहीं, पत्नी की जवानी तथा सुन्दरता भी क्षणभंगुर, भोगने की अन्य वस्तुएं भी बहुत थोड़ी, पृथ्वी भी अनसुहाती धूल, कीचड़, कांटे-खोभरों से भरी। इसलिए मनुष्यों ने कल्पना की कि आकाश में एक लोक है। वह दिव्य तथा चमकता हुआ है। वहां के भवन हीरे-मोती आदि के बने हैं। सड़कें भी चमकती धातुओं की हैं। वहां के रहने वाले लाखों-करोड़ों वर्ष जीते हैं और वे सदा जवान रहते हैं। उनको बड़ी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां मिलती हैं जिनके रूप, सौंदर्य एवं जवानी स्थिर रहते हैं। वहां इच्छानुसार भोगों को भोगते रहो, कभी इन्द्रियां शिथिल नहीं होतीं इत्यादि। यह सब विषयी मन की कल्पना की उपज है। अविवेकी मनुष्य विषयों में लीन है। वह इन्हीं विषयों का उत्कर्ष रूप कल्पित स्वर्ग में भोगना चाहता है जो मलिन ही हैं। शूकर-शूकरी का भोग तथा इन्द्र-इन्द्राणी का भोग—दोनों एक ही समान मलिन हैं। परन्तु पामर जीव उनका इतना बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं कि मानो वही जीवन का लक्ष्य हो। वस्तुतः इस पृथ्वी से अलग न कहीं स्वर्गलोक है, न वहां देवता हैं और न दिव्य भोग हैं। यह सब विषयी मनुष्य का मनोराज्य मात्र है।

मुसलमानों के स्वर्ग में तो पानी की नदियां, शराब की नदियां, बड़े-बड़े बाग, हूरें (सुन्दरियां) तथा गिल्में (सुन्दर युवक) मिलते हैं। अरब में ही मुसलमानों के स्वर्ग कल्पे गये। अरब में पानी तथा पेड़ दोनों का काफी अभाव है। इसलिए स्वर्ग में उनका भी प्रबंध कर लिया गया। महाकवि ग़ालिब जन्नत का मजाक उड़ाते हुए लिखते हैं—

यों तो मालूम है हमें भी जन्नत की हक़ीक़त।
लेकिन दिल को बहलाने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।।

जितने स्वर्गवादी पण्डित, मुल्ला, पादरी, महंत आदि हैं वे स्वर्ग की कल्पित कहानियों को पढ़-पढ़कर भक्तों के सामने उनका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। वे उसका इतना भावुक होकर वर्णन करते हैं कि मानो वे प्रत्यक्ष देखकर आये हैं।

इस कल्पित वाणी की बात आम जनता के मन में पैठ गयी है। जब धार्मिक क्षेत्र के अगुवा मुल्ला-पण्डित ही दिग्भ्रमित हैं तब साधारण जनता बेचारी क्यों न भटकाव में आ जाय। इसी झूठे स्वर्ग की कामना को लेकर वैदिक कर्मकांडियों ने हजारों वर्षों से यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की निर्मम हत्याएं की हैं। इसी के विरोध में भौतिकवादी ऋषि आचार्य वृहस्पति, उपनिषद् के अनेक ऋषि, तथागत बुद्ध तथा महात्मा महावीर ने अपने-अपने अभियान चलाये थे। भारतीय परंपरा विचारों में उदार होने से उसने यज्ञ में हिंसा का त्याग कर दिया; परन्तु मुसलिम समाज में विचारों की उदारता न होने से वह आज भी कुर्बानी के नाम पर प्रतिवर्ष लाखों पशु काट डालता है, जो अत्यन्त जघन्य है।

सद्गुरु कहते हैं "खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।" अर्थात पीछे हो चुके पण्डितों की स्वर्गविधायक अगम-अपार वाणियों को सुनकर हे मनुष्य! तुम कल्पना के पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़ गये हो। स्वर्ग एक कल्पना का पक्षी है।

अथवा खग का अर्थ आकाश भी माना जा सकता है। ख = आकाश, ग = गति = दशा—जिस स्वर्ग की दशा आकाश के समान अभावात्मक—शून्य है, तुम उसकी खोज के पीछे पड़े हो, जो अगम-अपार मन की कल्पना मात्र है।

"बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥" सद्गुरु कहते हैं कि तुम बिना परख के स्वर्ग का मिथ्यात्व नहीं समझ सकते हो। जिनको वस्तु-विवेक है, वे ही समझ सकते हैं कि स्वर्ग मन की एक उड़ान एवं शेखचिल्ली की कहानी है। अतएव तुम्हें यदि यह अहंकार है कि हम अमुक प्रकार तप, दान, यज्ञ, वध या कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या कर स्वर्ग जायेंगे, तो यह तुम्हारा अहंकार मिथ्या है।

श्री कृष्ण ऋग्वैदिक काल में एक महान क्रांतिकारी पुरुष थे, जिसने आर्यों के नेता इन्द्र से लोहा लिया था। आर्य लोग यज्ञों के नाम पर पशु-वध करते थे, और पशुपालक श्री कृष्ण को यह सब गलत लगता था। ऋग्वेद के अनुसार श्री कृष्ण वन्यजाति की दस हजार सेना के नायक थे। उन्होंने आर्यों के इस कृत्य का विरोध किया और इन्द्र से युद्ध किया था।[१] गीता श्री कृष्ण की रचना तो नहीं है, परन्तु गीता लेखक ने यह ध्यान रखा है कि कृष्ण के स्वर कहीं-न-कहीं उसमें अवश्य आयें। कृष्ण का मौलिक स्वर आप गीता के दूसरे अध्याय में देख सकते हैं—

"हे अर्जुन! जो अज्ञानी हैं, वेद के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं; वे इस प्रकार की सेमलफूल जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना

---

१. ऋग्वेद, मंडल ८, सूक्त ८५, मन्त्र १३ से १६। ऋग्वेद के जिस संस्करण में ११ सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त ८५ की जगह ९६ में पड़ता है।

प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बतलाती हैं। उपर्युक्त वेद-वाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का संबंध तीनों गुणों की क्रियाओं से है, अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपनिमग्न हो जा। जब सब ओर से जल ही जल भरा हो तब छोटी तलैया से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मज्ञानी को सभी वेदों से रहता है।"[१]

उक्त उदाहरणों को पेश करते हुए लब्धप्रतिष्ठ विद्वान आचार्य चतुरसेन लिखते हैं— "इन उदाहरणों से आप एक ही निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि कृष्ण अवैदिक अनार्यों का नेता तथा वैदिक देवों के नेता इन्द्र का विरोधी और प्रतिस्पर्धी है तथा गीता में वेद-विरोधी अनार्य तत्त्व है। दान और यज्ञ का वह विरोधी है। स्वर्ग और कर्मविधि का विरोधी है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ पूजार्ह कहता है।"[२]

वस्तुतः मन की पवित्रता, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, अहिंसा, करुणा, समता का बरताव, जीव मात्र पर दया, दूसरे की यथाशक्ति सेवा, अनासक्ति और थोड़े में कहें तो मानवमात्र के प्रति प्रेम और जीव मात्र के प्रति दया का भाव ही मनुष्य के मन के अन्दर का स्वर्ग है। यह जितना ही विकसित होता जाय और जितने लोगों में विकसित होता जाय, पृथ्वी पर स्वर्ग होता जाएगा। मन की बातें ही व्यवहार में आती हैं। मन पवित्र होगा, तो व्यवहार पवित्र होगा, फिर घर, समाज, देश तथा संसार स्वर्ग बन जायंगे। यही कबीर साहेब चाहते हैं।

सद्गुरु की असीम अनुकम्पा

रमैनी–५८

तैं सुत मान हमारी सेवा। तो कहँ राज देउँ हो देवा।। १ ।।
अगम-दृगम गढ़ देउँ छुड़ाई। औरों बात सुनहु कछु आई।। २ ।।

---

१. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भौगैश्वर्यगतिं प्रति।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।
यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। *(गीता २/४२-४६)*

२. वैदिक संस्कृति पर आसुरी प्रभाव, पृष्ठ २११।

उतपति परलय देउँ देखाई। करहु राज सुख बिलसो जाई॥ ३ ॥
एकौ बार न होइहैं बाँको। बहुरि जन्म न होइहैं ताको॥ ४ ॥
जाय पाप सुख होइहैं घना। निश्चय बचन कबीर के मना॥ ५ ॥

साखी—साधु संत तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।
आदि अंत उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—सुत = शिष्य। राज = स्वरूपस्थिति। अगम = अगम्य, देखने-जानने में न आने वाला, परोक्ष दैवीकल्पना। दृगम = दृष्टिगोचर, प्रत्यक्ष विषय। गढ़ = किला, आवरण। उतपति परलय = निर्माण-विनाश, जन्म-मरण। आदि अन्त = जन्म-मरण।

भावार्थ—हे प्रिय शिष्य! मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तू उसे स्वीकार कर! हे देव! मैं तेरे को स्वरूपस्थिति का राज्य दे रहा हूं॥१॥ मैं तुम्हें परोक्ष और प्रत्यक्ष एवं देववाद तथा विषयासक्ति के कारावास से छुड़ा दूंगा। हे प्रिय शिष्य! तुम निकट आकर कुछ बातें और सुनो॥२॥ तुम्हें जन्म-मरण के रहस्य दिखला दूंगा, जिससे तुम उससे छूटकर अपरोक्ष स्वरूपस्थिति के स्वराज्य-सुख में सदैव निमग्न रहोगे॥३॥ फिर तो तुम्हारा एक बाल भी बांका न होगा। तुम जीवनपर्यंत जीवन्मुक्ति के आनन्द में विहरते हुए अन्त में जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्त हो जाओगे॥४॥ तुम्हारे सारे कल्मष धुल जायेंगे और तुम्हें आत्यन्तिक सुख की अनुभूति होगी। कबीर की यह पक्की बात तुम मानो॥५॥

वे ही साधु हैं, वे ही सन्त हैं, जिन्होंने मेरी बातों को स्वीकार किया है। मैं तुम्हारे लिए जन्म-मरण और उत्पत्ति-प्रलय का रहस्य ऐसा स्पष्ट समझा दूंगा कि तुम विवेक की आंखें खोलकर उसे ठीक से देख सकोगे॥५८॥

व्याख्या—समीक्षक व्यक्ति इस रमैनी को पढ़ने के बाद यह कह सकता है कि यह पूरी रमैनी कबीर की गर्वोक्ति है। परन्तु गुणातीत, अनासक्त एवं स्वरूपस्थिति में सिद्ध पुरुष ऐसा बड़े सहज ढंग से कह सकते हैं। कुछ ऐसे अधिकृत पुरुष होते हैं जो कह सकते हैं "मामेकं शरणं व्रज।"[१] अर्थात तू एक मेरी शरण में आजा। वैसे महापुरुष का सारा संसार अपना है; परन्तु जो उनके निकट हैं, उन्हें समर्पित हैं, उनके लिए वे ऐसा कह सकते हैं। यह दूषण नहीं, किन्तु भूषण है। यह साधक को दृढ़ आधार देना है।

"तैं सुत मान हमारी सेवा" सद्गुरु ने शिष्य के लिए कितना प्यारा वचन कहा है। सद्गुरु का वात्सल्य-हृदय यहां शिष्य के लिए करुणा से छलक पड़ा है। गुरु शिष्य की सेवा करने के लिए तैयार हैं। गुरु-द्वारा जो शिष्य की सेवा की जाती है वह अद्भुत है। गुरु शिष्य को स्नेह देकर उसकी सब प्रकार की रक्षा तो करता ही है, परन्तु शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु-द्वारा किया गया योगदान अनन्त फल वाला है। शिष्य तो बेचारा गुरु की भौतिक सेवा ही कर सकता है, परन्तु गुरु शिष्य की आध्यात्मिक सेवा करता है।

---

१. गीता १८/६६।

खेद है, ऐसे गुरु कम होते हैं जो शिष्यों को स्नेह देते हैं और हर प्रकार उनको उन्नतपथ पर अग्रसर कर आध्यात्मिक प्रेरणा देते हैं। अधिकतम गुरु तो ऐसे होते हैं जो जैसे-कैसे लोगों को बिना परीक्षा किये शिष्य के रूप में बटोरते जाते हैं, परंतु उन्हें शुद्ध स्नेह न देकर, कुछ दिनों में उनसे उलझने लगते हैं। साधारण गृहस्थ जैसे अपने पुत्रों से खीजता तथा झींखता रहता है, वैसे अधिकतम गुरु लोग अपने शिष्यों से जीवनभर उलझते रहते हैं। वे सदैव शिष्यों की शिकायत ही में पड़े रहते हैं। यदि शिष्यों को बटोरने में जीवन में अशांति ही आये, तो यह गुरुत्व बेकार है। वही काम करना चाहिए जो शांतिप्रद हो।

परमार्थ-पथ के—जिज्ञासा, मुमुक्षुत्व, साधुत्व, संतत्व—चार स्तरों के बाद गुरुत्व पद आता है। पहले मनुष्य को सत्यज्ञान की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है। जान लेने के बाद मुमुक्षा एवं मोक्ष की इच्छा होती है। तब साधना करते हुए साधक साधुत्व जीवन बिताता है। इन तीन स्तरों के बाद संतत्व आता है जो निष्कामदशा एवं जीवन्मुक्ति स्थिति है। यह स्थिति संसार से पूर्ण अनासक्ति दशा की है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर साधक को कोई बन्धन नहीं रहता। ऐसा पुरुष महान सद्गुरु है। यह अवस्था प्राप्त हो जाने पर जो महान पुरुष शिष्यों को शरण में लेता है, वह उन्हें ठीक से निभाता है, उनको शुद्ध स्नेह देता है, परन्तु उनमें उलझता नहीं। वह पूर्ण अनासक्त होने से उसे द्वन्द्व आ ही नहीं सकते।

जो लोग अनासक्त हुए बिना अर्थात अपने में पूर्ण निर्बंध हुए बिना शिष्यों को बटोरने लगते हैं उनका जीवन अशान्त होता है। वे शिष्यों से रात-दिन कलह करते हुए जीवन को अशान्ति में बिता देते हैं।

गृहस्थ शिष्य भी अपने गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं, और जो घर-दुवार छोड़कर विरक्त शिष्य गुरु के पास जीवनभर के लिए आ जाते हैं, वे तो निश्चित ही गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं। अतएव विरक्त शिष्यों को सम्हालना कोई मामूली बात नहीं है। जब तक गुरु स्वयं पूर्ण नहीं होगा, तब तक वह विरक्त शिष्यों को शान्तिपूर्वक नहीं सम्हाल सकता।

गुरु को "मां हृदय" होना चाहिए। उसके हृदय का प्यार शिष्यों के लिए सदैव छलकता रहे। इससे कोई यह भ्रम न कर ले कि उसे ममतालु बनने के लिए कहा जा रहा है। वस्तुतः पूर्ण अनासक्त गुरु ही शिष्यों को प्यार दे सकता है। आसक्त व्यक्ति तो कुछ समय ममता करता है, और मन में विघ्न पड़ने पर द्वेष करता है। शुद्ध एकरस प्यार उसी के मन में हो सकता है जो सर्वथा अनासक्त है। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह गलत शिष्य को भी बटोरे रहेगा। वह शिष्यों को स्नेह देने वाला होते हुए भी अपने साधुत्व नियम में पक्का रहेगा। बराबर अन्यथा करने वाले शिष्य को दंडित भी करेगा, उनका त्याग भी करेगा। अनुशासन के बिना तो समाज भ्रष्ट हो जायेगा।

अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में एक बड़ा सुन्दर मन्त्र आता है। ऋषि कहते हैं "आचार्य (गुरु) ब्रह्मचारी (शिष्य) को उपनयन (विवेक नेत्र) देने के लिए उसे अपने गर्भ

में ले लेता है।''[1] मां का खाना, पीना, सांस लेना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना तथा सांस लेना है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु मां को पूर्ण समर्पित होता है। इसी प्रकार जो सद्गुरु को पूर्ण समर्पित होता है, जो शिष्य गुरु का गर्भ बन जाता है, पूर्णतया गुरु के इशारे पर नाचने लगता है, उसका जीवन शीघ्र ही आध्यात्मिक दिशा में उन्नत हो जाता है। बस, दोनों का बानक यही होना चाहिए कि गुरु पूर्णतया निष्काम तथा अपने पद में स्थित हो, और शिष्य निष्कपट भाव से समर्पित हो।

सद्गुरु कहते हैं हे पुत्र, हे शिष्य, मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तुम्हें स्वरूपस्थिति का स्वतन्त्र राज्य देना चाहता हूं। तुम मेरी तरफ ध्यान दो। हे देव, तुम अपने स्वरूप को समझो।

कितने लोग शिष्यों को तुच्छ समझते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। जो कल्याण की इच्छा लेकर गुरु के पास है, वह तुच्छ कैसे है! वह तो देवता है। शिष्य देवता है। गुरु को चाहिए कि वह अपने हृदय में शिष्यों के प्रति आदर का भाव रखे। कबीर साहेब शिष्य को देव कह रहे हैं।

''अगम-दृगम गढ़ देउँ छुड़ाई।'' अगम है अदृश्य, मन-वाणी तथा समस्त पकड़ से रहित परोक्ष कल्पित पदार्थ के प्रति अवधारणा। ऐसा ईश्वर, ऐसा ब्रह्म तथा ऐसा मोक्ष जिन्हें हम नहीं जान सकते, ऐसी वस्तुओं की कल्पना अपने मन में पाले रखना एक मानसिक कारावास है। यह गढ़ है, किला है, जेलखाना है, जिसमें हमारा मन कैद है। यह परोक्ष कारावास है, न दिखने वाला जेलखाना है, इसमें संसार के बड़े-बड़े लोग बन्द थे, आज भी बन्द हैं!

दूसरा गढ़, जेलखाना, कारावास दृगम है, जो 'दृग' से 'गम' हो। अर्थात जो इन्द्रियों से दृश्यमान हो। यह प्रत्यक्ष पांच विषय है। सारे प्राणी-पदार्थ एवं मोटी माया दृगम है। शरीर, परिवार, धन, घर, पांच विषयों के भोग, यह प्रत्यक्ष का पसारा दृगम है। यह दूसरा कारावास है। इसमें सब जीव बन्द हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मैं तुम्हें इन दोनों कारावासों से छुड़ा दूंगा। तुम मेरी बातों पर ध्यान दो। हम अगम और दृगम अर्थात परोक्ष और प्रत्यक्ष—इन दोनों कारावासों में बन्द हैं। इन्हें ही क्रमशः कहा जाता है वाणी और खानी। इन दोनों बन्दीखानों से जो छूट जाय वही भाग्यशाली है। जब तक साधक परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के कैद से नहीं छूटता तब तक अपरोक्ष बोध, अपरोक्षस्थिति नहीं होती।

परोक्ष, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष—ये तीन विषय हैं। अपनी आत्मा से भिन्न माने गये ईश्वर-ब्रह्म परोक्ष हैं, जड़ पांच विषय प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं दोनों में हमारा मन बंधा है। इन्हें छोड़कर हमारा अपना चेतन-स्वरूप अपरोक्ष है। अपनी चेतना, अपनी आत्मा, अपना ज्ञानस्वरूप चेतन, व्यक्ति के भीतर बैठा परखने वाला 'मैं' ही तो अपरोक्ष है, स्वयं-प्रत्यक्ष है। जड़ विषय तो पर-प्रत्यक्ष हैं, परन्तु अपनी चेतन-सत्ता स्वयं-प्रत्यक्ष अर्थात अपरोक्ष है।

---

१. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। *(अथर्ववेद ११/५/३)*

सद्गुरु कहते हैं तुम मेरी बातों को मानो, तो मैं तुम्हें अगम-दुगम के दोनों जेलखानों से छुड़ा कर तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति के रास्ते को बता दूंगा।

"उतपति परलय देउँ देखाई" मैं तुम्हें ऐसी दिव्य दृष्टि दूंगा कि तुम उत्पत्ति-प्रलय को देख सकोगे। यहां कोई जादुई दिव्यदृष्टि के चक्कर की बात नहीं है जैसा कि गीतादि धर्मग्रन्थों में जगह-जगह कहा गया है जो सर्वथा काल्पनिक है। वास्तव में जब तत्त्वचिंतन-द्वारा मनुष्य को विवेक जग जाता है तब वह सारे दृश्य पदार्थों को निरन्तर उत्पत्ति-प्रलय की लीला में देखता है। यदि हम रासायनिक दृष्टि से जगत को देख पाते, तो देखते कि संसार का हर निर्मित पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था को छोड़कर, दूसरी अवस्था में हरक्षण जा रहा है। शिशु को बालक, कुमार, युवा, अधेड़, वृद्ध तथा जरजर के रूप में हम लम्बे अन्तर में देख पाते हैं। हम विवेक से देखें तो वह क्षण-क्षण बदलकर ही उन विलक्षण दृश्यों एवं रूपों में पहुंचता है।

हम स्थूल दृष्टि से एक मकान को देखते हैं, तो उसका बाहरी ठोस रूप ही दिखता है। परन्तु विवेक से जब हम उसे देखने लगते हैं तब वह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी, मिट्टी आदि का ढेर लगता है। जब हम उसे थोड़ी और गहराई में देखते हैं तब वह मिट्टी का एक धूह लगता है। और यदि हम उसे अधिकतम सूक्ष्म दृष्टि से देख पाते तो देखते कि वह सारा मकान सूक्ष्म कणों का एक कांपता हुआ पुंज है।

गुरुविवेक और चिंतन से वे सारी स्थूल चीजें खो जाती हैं, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर मोहने वाली लगती हैं। हमें निर्मित कार्य-पदार्थों में ही तो मोह होता है और वे असली नहीं हैं, किन्तु मायिक हैं। सत तो इकाई है, योग नहीं। योग ही दिखता है, मोहता है, जो असत्य है और इकाई दिखती नहीं, जो सत्य है। सद्गुरु कहते हैं कि सब कुछ सब समय बदल रहा है 'ददा देखहु बिनसनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥'[1]

"करहु राज सुख बिलसो जाई" जो सारे दृश्यों को क्षणभंगुर समझ कर अपने अविनाशी स्वरूप में निमग्न है, उसी का स्वराज्य है, सुराज्य है। भौतिक राजकाज तो सदैव द्वंद्वमय है। यह स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, पारखस्थिति द्वंद्वातीत है, निष्कंटक राज्य है। जो परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के मोह से मुक्त होकर अपरोक्ष स्वरूप में स्थित है, वह कृतार्थ है, निर्भय है और सदैव आनंदमय है। वह 'आनन्द सिन्धु अहंतातीता' है।

"एकौ बार न होइहैं बाँको" जिसने नाशवान देहादि पदार्थों का राग छोड़ दिया है और जो अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है, उसकी इस संसार में क्या हानि है! जिसने अपनी हानि करना छोड़ दिया है उसकी हानि कोई दूसरा कैसे कर सकता है! नाशवान पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना अपनी हानि करना है। जो सांसारिक वस्तुओं में रात-दिन आसक्त है, उसी को सर्वत्र हानि-लाभ के भाव प्रदर्शित होते हैं। जिसने मोह, द्वेष, आसक्ति, लालसा-कामना आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी इस नश्वर संसार में क्या हानि हो सकती है! अनासक्त तथा स्वरूपस्थ पुरुष ही जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। सद्गुरु कबीर जड़ प्रकृति से भिन्न आत्म-अस्तित्त्व, पुनर्जन्म, कर्म-फल-भोग

---

१. बीजक, ज्ञानचौंतीसा।

तथा वासना-त्याग से मोक्ष मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं "बहुरि जन्म न होइहैं ताको।" वे केवल जीवन्मुक्ति ही नहीं विदेहमुक्ति भी मानते हैं।

"जाय पाप सुख होइहैं घना" अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप, सारे कल्मष भाग जाते हैं। आसक्ति ही तो पाप है और अनासक्ति ही पुण्य है, यही परम सुख है।

संसार के सारे पाप—चोरी, हत्या, व्यभिचार, अभक्ष सेवन, ठगाई आदि आसक्ति के कारण ही होते हैं। जो विषयों में आसक्त है वही पाप करता है और जो जितनाधिक आसक्त है वह उतनाधिक पाप करता है। सद्गुरु कहते हैं कि अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप उसी प्रकार गायब हो जाते हैं जैसे सूर्य उगने पर अन्धकार। बस यही घना सुख है, निष्पाप जीवन ही तो आनन्द का सागर है।

धर्म के छूमन्तर से जो जीवन में अनन्त सुख चाहते हैं वे भ्रम में हैं। सद्गुरु कबीर सब क्षेत्र में तथ्य रखते हैं। उनके सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक भवन कंक्रीट सत्य के धरातल पर खड़े होते हैं। वे हवा में बातें नहीं करते। वे कहते हैं कि पूर्ण निष्पाप जीवन ही पूर्ण सुखी जीवन होता है।

आनन्द से भरा जीवन सब चाहते हैं। परन्तु दिग्भ्रमित आदमी इसे विषयों की मलिनता में खोजता है। और इसके लिए सारा छल-छद्म करता है। दूसरे के हक को मारकर ही तो संसार का ज्यादा सुख मिल सकता है! और निश्चित है कि वह सुख का नहीं, दुख का रूप धारण करता है। तुम निश्चय समझ लो कि दूसरे को दुखी बनाकर सुखी नहीं हो सकते हो।

जीवन जितना निष्पाप होता जाता है उतना सुखी होता जाता है और जब वह पूर्ण निष्पाप हो जाता है, तब पूर्ण सुखी हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं "निश्चय बचन कबीर के मना" कबीर की यह बात निश्चय करके मानो। प्रबन्ध में ग्रन्थकार-द्वारा अपने लिए अन्य पुरुष के रूप में कहने का प्रचलन पुराकाल से है। यदि कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरी बात पक्की करके मानो कि निष्पाप जीवन ही सुखी जीवन है, तो यह कथन क्या बुरा है! यही तो तथ्य है और तथ्य पर जोर देना ठीक ही है और फिर सत्पात्र शिष्यों के लिए यह और स्वाभाविक है।

"साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।" वही साधु है, वही सन्त है जो मेरी बातों को मानता है। हो सकता है कबीर साहेब ने अपने सामने उपस्थित शिष्यों पर सत्यज्ञान एवं सदाचार का जोर डालने के लिए ऐसा कहा हो, जो अनवस्थान में गर्वोक्ति जैसा लगता है और अपने स्थान में ठीक ही रहा हो। परन्तु इस पंक्ति का इतना संकुचित ही अर्थ नहीं है। वस्तुतः कबीर साहेब ऐसे विराट पुरुष थे कि उनका व्यक्तित्व घुलकर गुरु का समष्टि रूप हो गया था। वे अपने में सारे सद्गुरुओं को तथा सारे सद्गुरुओं में अपने को देखते थे। उनके कहने का अर्थ लगता है कि वही साधु है, वही संत है, जो सद्गुरु के वचनों को स्वीकारता है, अनुशासन में चलता है और उनके उपदेश के अनुसार जीवनयापन करता है। यहां सद्गुरु कबीर गुरु के समष्टि रूप हैं। निष्काम सद्गुरु के शरणागति, अनुशासन, उपदेश, प्यार, संरक्षण में चलकर ही साधु, संत एवं भक्त सबका कल्याण है।

"आदि अन्त उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार।।" जब तुम सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण कर लोगे, तब तुम्हारी ढंपी दृष्टि खुल जायेगी। तुम अपनी विवेक-दृष्टि से जन्म-मरण के रहस्य तथा संसार के उत्पत्ति-प्रलय को अर्थात इसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता को देख सकोगे। तब तुम्हें पता लगेगा कि तुम केवल अचल हो, और तुम्हारे चारों तरफ समुद्र की तरंगों की तरह शेष सारी चीजें परिवर्तित हो रही हैं, उस समय तुम अपने आप को निर्विकार तथा शेष सारी जड़ वस्तुओं को परिवर्तनशील समझकर शोक से मुक्त हो जाओगे।

दृश्य से हटकर अपने द्रष्टास्वरूप में लौटो

रमैनी–५९

चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी। मन नहिं जाने केकरि चोरी।। १ ।।
चोर एक मूसै संसारा। बिरला जन कोइ बूझनहारा।। २ ।।
स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी। एकै राम सकल रखवारी।। ३ ।।
साखी—पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन के चित्र।
जासो कियउ मिताइया, सो धन भया न हित।। ५९ ।।

शब्दार्थ—भँड़हर = बरतन, शरीर। चोर एक = अज्ञान। बारी = फुलवारी, बाग, विश्व। पाहन = अविवेकी।

भावार्थ—हठयोगी लोग प्राणायाम क्रिया-द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में चढ़ाते हैं और श्वास-द्वारा स्वयं को भी मानते हैं कि हम ब्रह्मांड में चढ़ जाते हैं। इसी स्थूल खेल में वे शरीर-भांड़े को फोड़ देते हैं और जीवन समाप्त हो जाता है। उनका मन जीवन में यह नहीं जान पाता कि यह किसकी की हुई चोरी है।।१।। अज्ञान एक चोर है जो संसार के सारे लोगों के हृदय-घर से स्वरूपज्ञान-धन को चुराता है। कोई विरला व्यक्ति इसकी परख कर पाता है।।२।। स्वर्ग-पाताल से लेकर भूमि तक की प्रकृति की इस फुलवारी में एक स्वात्मराम ही अपना रक्षक है।।३।।

स्वरूपज्ञान बिना केवल शारीरिक साधना कर सब अविवेक में ही जीवन खो दिये। निराधार चित्र बनाने के समान वे शून्य में अपने लक्ष्य को खोजते रहे। उन्होंने जिससे मित्रता की, वह धन उनका कल्याणकारी नहीं हुआ।।५९।।

व्याख्या—हठयोगी लोग प्राणायाम-क्रिया-द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में नियोजित करते हैं। इसके लिए वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों को वेधते हुए ब्रह्मांड में प्राण ले जाते हैं। वे बताते हैं कि तब जीव पिंड छोड़कर ब्रह्मांड में पहुंच जाता है और ब्रह्मांड में स्थित ज्योतिस्वरूप ब्रह्म में मिल जाता है। वस्तुतः वे प्राण को जीव तथा ज्योति (गरमी) को ही ब्रह्म मान लेते हैं। इस प्रकार प्राण तथा ज्योति की चमक-दमक जो हठयोग नाम से शारीरिक व्यायाम का विकार है जीव-ब्रह्म का मिलन मान लेते हैं। इसी अवधारणा में उनका जीवन बीत जाता है, परन्तु वे यह नहीं जान पाते कि

हम लोग योग के नाम पर ठगे गये हैं। उन्हें अपने रमैया राम स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वे यह नहीं जान पाते कि प्राण, ज्योति आदि का द्रष्टा अपना चेतन-स्वरूप उनसे श्रेष्ठ है।

अज्ञान एक चोर है जो सबके हृदय-घर में चोरी करता है, यह कहने का एक तरीका है। अज्ञान कोई स्वतन्त्र सचैतन्य नहीं है जो चोरी करे। अभिप्राय यह है कि अपने स्वरूप का ज्ञान न होना व्यक्ति का लुट जाना है। जो अपनी सत्ता और महत्ता को नहीं समझता वह दर-दर भटकता ही है। जिसका धन चुरा गया हो वह कितना दुखी होता है! और अज्ञान-द्वारा जिसकी आत्मा ही चुरा गयी हो, उसकी क्या दशा होगी? 'मैं कौन हूं?' जिसे इसका ही पता नहीं है, वह मानो सब तरफ से लूट लिया गया है। अपनी सत्ता और महत्ता का भान होना और अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित रहना जीवन की सबसे बड़ी उंचाई है। और जिसको इसका पता न हो, उसके पास क्या रखा है? सद्गुरु कहते हैं "बिरला जन कोई बूझनहारा" इसे कोई विरला समझता है।

"स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी" हम जिस पर रहते हैं वह भूमि है, भू-मंडल है। इसके नीचे जो कुछ हो वह पाताल है और इसके ऊपर जो कुछ हो वह स्वर्ग है। इसको हम स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक भी कहते हैं। यह सब कहने का तरीका है। सार यह है कि हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं इसे हम देखते हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। इसके ऊपर हम आकाश में देखते हैं तो बहुत-सारे गोले चमकते हैं। वे भी कुछ हमारी पृथ्वी की तरह हैं। हम जिस भूमंडल पर बैठे हैं, अपने पैर के नीचे पृथ्वी ही है, उसके नीचे क्या होगा, हम नहीं जानते। उधर भी हमारी पृथ्वी के बाद शून्य में गोले चमकते होंगे। यह सब मिला कर हम क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल कहते हैं। स्वर्ग, भूमि तथा पाताल कहने का तरीका मात्र हुआ। अर्थ है समस्त प्रकृति की यह फैली फुलवारी। इसमें जीव जहां कहीं भी रहता है "एकै राम सकल रखवारी" एक राम ही सब जगह इसका रक्षक है। यह भी कहने का एक तरीका ही है; क्योंकि जीव और राम दो नहीं हैं। आत्मा-परमात्मा को दो मानना ही गहरी भूल है।

यहां का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति कहीं भी रहे, जीव कहीं भी चला जाय उसके रक्षक उसके अपने कर्म ही होते हैं। अपनी आत्मा ही राम है। आत्मा ही स्वयं का रक्षक है। यदि आत्मा से अलग कोई सर्वसमर्थ राम मान लिया जाय, तो वह लोगों की रक्षा क्यों नहीं करता! कितने देहधारी गर्भ में से ही अपंग होकर पैदा होते हैं। वहां सर्वसमर्थ राम की शक्ति कहां गयी! वस्तुतः उस जीव के कर्म ही ऐसे थे कि वह अपंग होकर पैदा हुआ। यदि उस जीव के कर्म अच्छे होते, तो स्वस्थ पैदा होता। यह आत्मा राम ही अपना रक्षक है। यदि इसने अपनी रक्षा नहीं की है, इसने बुरे कर्म किये हैं, तो इसे दुख भोगना ही होगा। बाहर का कोई कल्पित राम इसकी सहायता नहीं कर सकता।

राम यह जीव है, अपनी आत्मा है। यह अपने कर्मों का कर्ता और विधाता है। यह जैसा करेगा, वैसा भरेगा। यदि इसने बुरे कर्म कर लिये हैं, तो बाहर के हजार भगवान इसको सुख नहीं दे सकते और यदि इसने अच्छे कर्म किये हैं, तो इसे हजार शैतान दुख नहीं दे सकते।

अतएव हम चाहे पृथ्वी पर रहें, पाताल में रहें या ऊंचे स्वर्ग में अर्थात किसी अन्य लोक में रहें, सकल जगह, सभी स्थानों पर राम ही हमारा रक्षक है। अपनी अंतरात्मा ही हमारा अपना निधान है। यदि हमने अपने रामरूप को समझा है, अपने कर्म को सुधारे हैं, अपने राम-स्वरूप में रमते हैं, तो हम सब जगह सुरक्षित हैं, चाहे भूमि से लेकर स्वर्ग-पाताल कहीं हो।

परन्तु "पाहन ह्वै ह्वै सब गये" लोग तो अविवेक-वश पत्थर हो-होकर संसार से जा रहे हैं। वे केवल हठयोग-जैसे शारीरिक व्यायाम से उत्पन्न नाद, ज्योति आदि को परमात्मा मान बैठते हैं। भीत के बिना, फलक के बिना कहीं चित्र बनाया जा सकता है! परन्तु लोग फलक के बिना ही चित्र बना रहे हैं। अर्थात अपनी आत्मा से अलग कहीं शून्य में परमात्मा या राम खोज रहे हैं। परन्तु शून्य में कल्पित राम हमारा अपना धन नहीं होगा। वह हमारा कल्याणकारी नहीं हो सकता। हमें मानसिक और शारीरिक विकारों से उत्पन्न भास, अध्यास, कल्पना, अनुमान आदि को अपना स्वरूप न मान लेना चाहिए। हमें जड़ दृश्यों को छोड़कर अपने द्रष्टा राम में स्थित होना चाहिए।

इस रमैनी में हठयोग से तथा नाना कल्पित अवधारणाओं से हटकर स्व-स्वरूप-राम में स्थित होने का निर्देश है।

विषय-वैराग्य

रमैनी—६०

छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान टूटि तब जाई॥ १ ॥
जिन ले चोरी भिक्षा खाई। सो बिरवा पलुहावन जाई॥ २ ॥
पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै॥ ३ ॥

साखी—झूठ झूठा के डारहू, मिथ्या यह संसार।
तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥ ६० ॥

शब्दार्थ—पति = स्वामी[1], स्वामीपन, मालिकत्व, साख-रोब, दबदबा, मान-मर्यादा। बिरवा = वृक्ष, संसार-वृक्ष, भवबंधन। पलुहावन = हरा-भरा, पल्लवित। धावै = दौड़ना, ध्यान करना।

---

१. अपने ऊपर जो कल्पित पति मान रखा है उसे छोड़ दो और उसको सिद्ध करने वाली लबरी बानी को भी छोड़ दो। जीव का पति शिव है यह एक लबराई ही है। क्योंकि जीव स्वयं शिव है। जब अपने ऊपर लगी ईश्वर की कल्पना तथा उसको सिद्ध करने वाली लबरी वाणी को छोड़ दोगे, तब तुम्हारे मन का सांप्रदायिक अहंकार समाप्त हो जायेगा। जो तुम्हारे आत्मधन की चोरी करते हैं तुम्हें दीन-हीन सिद्ध कर तुम्हारे ऊपर एक कल्पित पति सिद्ध करते हैं और तुम्हीं से भिक्षा तथा दान-दक्षिणा लेकर अपने पेट पालते हैं वे ही मानो तुम्हारे भवबन्धन के वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। फिर संपत्ति और मर्यादा के लिए वे संसार में दौड़ते हैं, यह वासना उन्हें संसार में घसीटती है। अथवा जो कोई सांसारिक संपत्ति और मान-मर्यादा का दास होता है, वह संसार में भटकता है। इसलिए सद्गुरु सांसारिक चीजों को झूठ, मिथ्या आदि कहकर जीव के मन में इन सबसे वैराग्य कराना चाहते हैं।

भावार्थ—सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति अपने स्वामित्व की भावना, मान-मर्यादा और इन सबको लेकर बड़ी-बड़ी डींगे मारना छोड़ दो, तब तुम्हारे मन के अहंकार का बंधन टूट जाएगा।।१।। जो लोग चोरी का माल खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं; वे मानो भवबन्धन के वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित करते हैं।।२।। और जो लोग दुनियवी धन-दौलत, स्वामित्व एवं मान-मर्यादा के लिए ही रात-दिन ध्यान लगाये रखते हैं और उन्हीं के लिए दौड़ते रहते हैं, उनकी वासना उन्हें पुनः संसार-वृक्ष का पक्षी बनाती है।।३।।

संसार की भौतिक वस्तुएं अन्ततः झूठी हैं, इसलिए इन्हें झूठी समझकर इनका लोभ छोड़ दो। यह संसार मिथ्या है। मिथ्या इसलिए कहता हूं कि तुम इसका राग छोड़ दो और तुम्हारा उद्धार हो जाय।।६०।।

व्याख्या—"छाड़हु पति छाड़हु लबराई" मनुष्य अपने आप को ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों का स्वामी मानता है, जो उसके बिलकुल ही नहीं हैं। एक सेठ जी ने करोड़ों की लागत से विशाल भवन बनाया। उनको उसका, अपने बहुत धन का तथा परिवार का बड़ा गर्व था। गृह-भोज हो गया था। घूर पर पड़े पत्तल और कुल्हड़ का अन्न अभी कुत्ते और कौए खा रहे थे। सेठ जी बीमार हुए। अस्पताल ले जाये गये। वहां चार घण्टे में मर गये। घर पर उनकी लाश लाते शाम हो गयी। बच्चों ने कहा मकान के ऊपर ले जाने की झंझट करना निरर्थक है। आखिर सुबह श्मशान ले जाना ही है। सेठ की लाश को मोटर-गाड़ी के गैरेज में रख दिया गया। शटर बन्द कर दिये। सुबह ले जाकर श्मशान में फूंक आये। यह है संसार की मालिकी के अहंकार का परिणाम!

माया के मद में अंधा आदमी समझता है कि मैं युवक हूं, सुन्दर हूं, विद्वान हूं, धनवान हूं, सुन्दर युवती तथा सन्तान से संपन्न हूं, मेरे बहुत-सारे मित्र हैं, मेरी बड़ी मर्यादा और सम्मान है, मेरे समान कौन है इत्यादि। परन्तु उस विमोहित व्यक्ति को यह पता नहीं है कि इनके समाप्त होते तथा छूटते देरी नहीं लगेगी। सद्गुरु कहते हैं कि इनके प्रति जो तुम्हारे मन में स्वामित्व की भावना है कि मैं इन सारे प्राणी-पदार्थों का मालिक हूं, इसे छोड़ दो। इतना ही नहीं, जो इन मायावी वस्तुओं के मद में लबराई करते हो, गप्पबाजी, झूठी बातें एवं लम्बी-चौड़ी डींगे हांकते हो, इन्हें भी छोड़ दो।

एक सज्जन के यदि दो सौ मन धान पैदा होता, तो गांव वालों से कहते कि चार सौ मन हुआ है। गांव के बाहर वालों से हजार मन तथा दूर जाने पर दो या तीन हजार मन बतलाते थे।

एक बार एक गांव में जाना हुआ। वहां सत्संग कार्यक्रम था। एक युवक सज्जन आये। उन्होंने कहा—"साहेब, क्या कहूं। प्रधानी के लिए चुनाव में खड़ा हो गया था। लोग जालसाजी से मुझे हरा दिये। मैंने दावा दायर किया। उसमें सत्ताइस सौ रुपये खर्च हो गये।"

वे सज्जन चले गये। उनका बड़ा भाई आया। उसने कहा—"साहेब, छोटा भाई धन बेकार में फूंक रहा है। उसने अभी दावा दायर करने में पांच सौ रुपये खर्च कर दिये।"

इसके बाद वह चला गया। उन दोनों के पिता आये। उन्होंने दुखी होकर कहा—"साहेब, क्या कहें, छोटा लड़का बिना काम का काम करता है। उसने प्रधानी के चुनाव में हार जाने के कारण दावा दायर कर दिया। उसमें उसने बेकार के पचास-साठ रुपये खर्च कर दिये।"

वे तीनों मीटिंग कर तय कर लेते कि सबको इतनी रकम बताना है और सब सत्ताइस सौ बताते तो अच्छा होता। परन्तु असत्य बात के लिए मीटिंग करना भी बड़ा मुश्किल है। हमारे असत्य के लिए हमारे लोग ही घृणा करते हैं, भले ही वे अलग-अलग अनमिल असत्य बोलते रहें। असत्य अनमिल होता ही है। एकता तो केवल सत्य में है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम छूटने वाली, क्षणभंगुर माया की डींगे न मारो। इस प्रकार जब माया के मालिकत्व, माया का रोब और उसकी डींग हांकना छोड़ दोगे, तब तुम्हारे मन का अहंकार समाप्त हो जायेगा। अहंकार समाप्त होने पर स्वामीपन का रोब तथा झुठाई भी छूटते जायेंगे। इन दोनों का पारस्परिक संबंध है। इनमें से एक के समाप्त होने पर दूसरा अपने आप समाप्त हो जाता है।

"जिन ले चोरी भिक्षा खाई" जो चुराकर खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं, वे दोनों डूबे हैं। वे अपने भवबंधनों को हरा-भरा करते हैं।

चोरी और भिक्षा कोई उपार्जन नहीं है। जीवन में पहली आवश्यकता अन्न की है। एक सम्राट, एक पदुमपति सेठ भूख से तड़पता हो, तो वह अपना सब कुछ देकर एक रोटी पाना चाहेगा। अतएव अन्न के उपार्जन करने वाले कृषक का सबसे बड़ा महत्व है। कृषक—कर्षक-खींचने वाला, अर्थात खेत और बीज से खींचकर अन्न पैदा करने वाला कृषक है। अन्न पहली आवश्यकता है जिसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके बिना जीवन चल नहीं सकता। इसलिए कृषक विष्णु भगवान है, जगतपालक है। वह उपार्जन करता है। इसके बाद खानों तथा कारखानों से कर्षण कर, खींचकर और वस्तुओं को परिपक्व तथा उपयोगी बनाकर समाज को देने वाले भी कृषक हैं।

मनुष्यों के भीतर से विद्या एवं कला-शक्ति का कर्षण कर, खींचकर उनके व्यक्तित्व पर उन्हें फैला देने वाले नाना विषयों के शिक्षक कृषक ही हैं। शिक्षकों के बिना मनुष्यों की अधिकतम शक्ति सोयी ही रहेगी। इतना ही नहीं, मनुष्यों के भीतर की आध्यात्मिक शक्ति, बोध, मानवीय गुणादि का कर्षण कर, खींचकर उन्हें उनके व्यावहारिक जीवन के अंग बना देने वाले आध्यात्मिक गुरु-संत महान कृषक हैं। भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय शक्ति का कर्षण कर, खींचकर जो उन्हें व्यक्ति और समाज के कल्याणकारी उपयोग के लिए उपस्थित कर दे, वह कृषक है। वह उपार्जन करने वाला है। वह दूसरों-द्वारा कुछ पाने का अधिकारी है। परन्तु जो दूसरे की किसी भी वस्तु की चोरी कर उसका उपभोग करता है या समर्थ रहते हुए भीख मांगकर खाता है, वह मानवता के प्रति द्रोह करता है। वह अपने आप को गड्ढे में ले जाता है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं कि व्यर्थ का अन्न खाने वाला असावधान है। मैं सत्य कहता हूं वह अपना विनाश कर रहा है। जो न पूज्यों को खिलाता है और न मित्रों को, प्रत्युत केवल स्वयं

खाता है वह केवल पाप ही खाता है।[1]

तुम समाज को भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक कोई कल्याणकारी वस्तु दो, तब तुम उससे कुछ पाने के अधिकारी हो। चोरी करके खाने वाले पापी हैं और समर्थ रहते हुए मांगकर खाने वाले भी पापी हैं। ऐसे लोग अपने मानसिक संसार-वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। ऐसे लोगों का मन वासनाहीन नहीं हो सकता। ऐसे लोग तो अकर्तव्य कर तथा कर्तव्यहीन होकर अपने मन को मलिन बनाते हैं, अपने भव-बंधनों को दृढ़ करते हैं। भिक्षावृत्ति पर रहने वाले वीतराग सन्तों पर यह भ्रम न होना चाहिए। वे तो समाज को बहुत बड़ा अध्यात्म धन देते हैं। वे अपने निर्मल दर्शन एवं पवित्र ज्ञान से समाज का बहुत बड़ा हित करते हैं। वे तो ज्ञानोपार्जन करने वाले कृषक ही हैं।

"पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै।।" जो लोग बारम्बार संसार के धन, दौलत तथा स्वामित्व के लिए दौड़ते रहते हैं, उन्हीं का ध्यान करते हैं, उनके लिए भला-बुरा सब करते रहते हैं, वे उन्हीं वासनाओं में बंधे आज तो भटकते ही हैं, आगे भी उन्हें वे वासनाएं संसार में भटकायेंगी।

कितने विमोहित लोग धन को जीवन-निर्वाह की वस्तु न समझकर उसे विलास, मर्यादा और स्वाभिमान की वस्तु समझते हैं। ऐसे लोग धन के लिए पाप भी करते हैं। लोग धन के लिए माता-पिता का गला काटते हैं, गुरु को मारते हैं, भाई का अधिकार छीनते हैं और किन्हीं भी दूसरों को ठगते हैं।

पति, साख, मर्यादा, स्वामित्व, मालिकत्व के लिए झूठ, फरेब, दगाबाजी, जालसाजी आदि का तांडव राजनीतिज्ञों में खुलासा देखा जा सकता है। संपत्ति और स्वामित्व के लिए लोग सारे पाप करने के लिए तैयार हो जाते हैं। दूसरों को पद से हटाकर स्वयं गद्दी पर आने के लिए ये राजनेता नामधारी सांप्रदायिक भावना उभड़वाकर दंगे करवाते हैं, निर्दोषों की हत्या करवाते हैं, विदेशी एजेंटों से मिलते हैं और पता नहीं क्या-क्या पाप करने के लिए तैयार रहते हैं।

इस संपत्ति और पति के मोह में साधु नामधारी गद्दी-महंती के लिए मुकदमें लड़ते हैं, हत्याएं करवाते हैं और सारा पाप करते हैं। जो इतने अभद्र नहीं हैं वे ऐसा जघन्य कृत्य तो नहीं करते, परन्तु अपने धन तथा गद्दी-मर्यादा के अहंकार में रात-दिन डूबे रहते हैं। विरले विवेकवान सन्त इनके मद-मोह से दूर अपने तथा समाज के कल्याण-कार्य में रहते हैं। अतएव यह संपत्ति, मर्यादा एवं स्वामित्व का मोह जीव से सारे पाप करवाता है और उसे लोक-परलोक में भटकाता है। यह मन का संसार-वृक्ष जीव को पुनः-पुनः जगन्नगर में लाकर भटकाता रहता है। संसार की अहंता-ममता ही संसार में भटकाने का कारण है।

"झूठा झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार।" संसार झूठा है, मिथ्या है, इसे छोड़ दो। क्या सचमुच संसार झूठा तथा मिथ्या है? क्या ये भूमंडल, चांद, सूरज, सितारे सब झूठे

---

१. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि बध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। *(ऋग्वेद १०/११७/६)*

हैं? उत्तर है कि भौतिक सत्ता अपने आप में सत्य है। यह सब मिथ्या और झूठा नहीं है। परन्तु हमारे अपने माने गए सारे प्राणी, पदार्थ, पद, मर्यादा, नाम, रूप पानी के बुलबुले के समान मिट जायेंगे। परन्तु जब तक उनका अस्तित्त्व है वे भी तब तक के लिए सत्य हैं। हमारा शरीर एक दिन नहीं रह जायेगा। इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परन्तु जब तक है तब तक सत्यवत ही है, इसलिए इसका व्यवहार सत्यवत करना पड़ता है। यदि भूख-प्यास लगी हो और हम साथियों से जल-भोजन मांग रहे हों और वे हमसे कहें कि शरीर तो झूठा है, एक दिन नहीं रह जायेगा, फिर जल-भोजन क्या करेंगे, तो यह सुनकर हमें बुरा लगेगा। अरे भाई! जब शरीर मिटेगा तब वह सर्वथा झूठा होगा। आज तो वह सत्य है। भूख-प्यास प्रत्यक्ष पीड़ित कर रही हैं। अभी तो भोजन-जल चाहिए। मर जाने के बाद हमारा माना हुआ सारा व्यवहार हमारे लिए मिथ्या हो जाता है। परन्तु जब तक जीवन है, वह एकदम सत्य है। उसकी अवहेलना संभव नहीं है।

तब सद्गुरु ने उसे एकदम झूठा और मिथ्या मानकर उसे छोड़ देने के लिए क्यों कहा? सद्गुरु ने स्वयं इसका उत्तर अगली पंक्ति में दिया है "तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार।।" मैं इसे झूठा और मिथ्या समझकर इसलिए छोड़ देने के लिए कहता हूं जिससे तुम्हारा उद्धार हो। तुम संसार के बन्धनों से छूट जाओ। हमें जो कुछ मिला है और उसका जितना व्यवहार है, सब एक दिन छूट जाने वाला है। आज-कल में आंखें ढपने पर हमारा और इसका व्यवहार रत्ती भर भी नहीं रह जायेगा। हम इन सबको कुछ भी नहीं जानेंगे। शरीर सत्य है कुछ समय के लिए, परंतु आज-कल में नष्ट हो जाने पर यह सदैव के लिए झूठा हो जायेगा। इस प्रकार इसकी सत्यता क्षणिक है और असत्यता अनंत। अतएव इनके मोह को हमें छोड़ देना है। मोह तभी छूटेगा, जब हम इसे अंततः झूठा समझेंगे।

बहुत सावधानी से हमें यहां संसार के प्रति झूठा और मिथ्या का अर्थ करना होगा। यहां शांकर मतानुसार संसार को मिथ्या एवं आकाश-पुष्पवत असत्य नहीं माना गया है। सद्गुरु का यह मत नहीं है कि संसार तीन काल में नहीं है। वस्तुतः संसार अपने क्षेत्र में नित्य है। वह परिवर्तनशील है। जीव से सर्वथा भिन्न है। जीव में जड़ तीनों काल में मिथ्या है। चेतन की अपनी सर्वथा भिन्न सत्ता है। मेरे चेतन-स्वरूप में जड़ सत्ता तीनों काल में नहीं है। इसलिए विवेक-द्वारा हम जड़ सत्ता को अस्वीकार कर अपने चेतन स्वरूप में स्थित हों। यही शांति का पथ है।

धर्म, ईश्वर और शास्त्र पर विवेक

रमैनी–६१

धर्म कथा जो कहतहि रहई। लाबरि उठि जो प्रातहि कहई।। १ ।।
लाबरि बिहाने लाबरि संझा। एक लाबरि बसे हृदया मंझा।। २ ।।
राम्हु केर मर्म नहिं जाना। ले मति ठानिनि बेद पुराना।। ३ ।।
बेदहु केर कहल नहिं करई। जरतइ रहे सुस्त नहिं परई।। ४ ।।

साखी—गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।
माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहिं पवन समाय॥६१॥

शब्दार्थ—लाबरि = झूठी बातें। सुस्त = शांत। गुणातीत = गुणों से परे, निर्गुण। गँवाय = खोय।

भावार्थ—जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे तो मानो सुबह से उठकर झूठी-झूठी बातें ही करते रहते हैं॥१॥ वे सुबह झूठी बातें करते हैं और शाम को झूठी बातें करते हैं। अर्थात वे सुबह से शाम तक मानो झुठाई ही हांकते रहते हैं, क्योंकि उनके हृदय में ही मिथ्या मान्यताएं बसी हुई हैं॥२॥ वे राम-राम तो बहुत कहते हैं, परन्तु उसका भी रहस्य नहीं समझते। वे वेद-पुराणों के उदाहरणों से अपना मत पक्का करते हैं॥३॥ परन्तु वेदों के कथनानुसार भी नहीं चलते। राग-द्वेष, अहंकार-कामना में सदैव जलते रहते हैं, क्षण मात्र भी शांत नहीं होते॥४॥

ये गुणातीत ब्रह्म का गीत गाते-गाते स्वयं को ही गवां बैठे हैं। अंत में शरीर छूट जाता है और मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है तथा हवा हवा में लीन हो जाती है॥६१॥

व्याख्या—यह रमैनी आजकल के प्रगतिवादियों का आधरस्तंभ बन सकती है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म-कथा कहते हैं, वे तो मानो झूठी बातें करने के लिए ठेका ही ले लिये हैं। एक व्यापारी तथा वकील जितना झूठ नहीं बोलता, उतना झूठ एक तथाकथित धार्मिक बोलता है। दूसरे लोग झूठ बोलने से बुरे माने जाते हैं, किन्तु धार्मिक जामा पहनकर यदि झूठ बोला जाय तो उस पर फूल-मालाएं चढ़ती हैं। कोई साधारण आदमी कह दे कि एक स्त्री के पेट से आज दस बच्चे पैदा हुए हैं, तो उसे लोग गप्पी कहकर मजाक में उड़ा देंगे; परन्तु जब एक धार्मिक व्यक्ति कथा की गद्दी पर बैठकर कहता है कि राजा सगर की पत्नी सुमति से एक ही साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये[१], तब उसे गप्प कहने की हिम्मत होना बड़ा कठिन है।

यदि एक आदमी कहे कि एक बैलगाड़ी जा रही थी। उसके पहिए की लकीर से बीस फीट चौड़े तथा तीस फीट गहरे नाले बन गये, तो इसे कोई नहीं मानेगा, परन्तु व्यासगद्दी पर से कहा जाता है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए की लीक से पृथ्वी पर

---

१. सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः॥
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन्।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे॥ *(वाल्मीकीय रामायण १/३८/१७-१८)*

अर्थात—विश्वामित्र श्री राम से कहते हैं कि हे पुरुषसिंह राम! सगर की रानी सुमति ने अपने गर्भ से एक तुम्बा पैदा किया। उसको फोड़ने से उसमें से साठ हजार बच्चे निकले। धायों ने उन्हें घी से भरे घड़ों में डालकर उनका पालन किया। जब काफी समय बीत गया, तब वे सब बच्चे जवान हो गये।

सात समुद्र बन गये[1], तो यह धर्म की बात होती है। क्योंकि यह धर्म की किताब में लिखी है। इसको अस्वीकारना धर्म का उल्लंघन होगा। यदि कोई कहे कि एक आदमी पांच सौ वर्ष से जीवित है, तो आप इसे झूठा मानेंगे और झूठा मानना ही चाहिए। परन्तु जब धर्म की गद्दी से कहा जाता है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज किये[2], तब इसे झूठा कहकर कौन अधर्मी बने!

हनुमान जी ने पृथ्वी से तेरह लाख गुणा बड़ा दहकते हुए सूरज को निगल लिया था। सूरज एक महीने के लिए रुककर अयोध्या में श्री राम-जन्मोत्सव देखने लगा था। श्री राम की सेना में अठारह पद्म सेनापति थे। भरत जब चित्रकूट के तीर्थदर्शन में चले तब पृथ्वी ने कांटे-कंकड़ों को अपने पेट में समेटकर तल कोमल कर दिया। सारे पेड़ फल गये। शीतल, मंद, सुगंध वायु चलने लगा। पक्षी बोलकर तथा पशु देखकर भरत का स्वागत करने लगे। वृत्रासुर के शरीर की चौड़ाई सौ योजन (करीब बारह सौ किलोमीटर) एवं उसके शरीर की ऊंचाई तीन सौ योजन (करीब छत्तीस सौ किलोमीटर) थी।[3] श्री कृष्ण के सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियां थीं, परन्तु गर्ग संहिता के अनुसार खरबों पत्नियां थीं। जिनकी महाभारत में चर्चा नहीं है।

अमुक महात्मा की आज्ञा से काठ की चौकी तथा दीवार चलने लगी, बैल-भैंसे वेद-मन्त्र उच्चारण करने लगे। उन्होंने मुरदे को जिला दिया। वे कहीं सूक्ष्म तथा कहीं विराट रूप धारण कर लिये। संत ईसा ने दस-पांच रोटियों से कई हजार लोगों को पेट भर खिला दिया। हजरत मुहम्मद ने अपनी उंगली चमका कर क्षण मात्र के लिए चांद के दो टुकड़े कर दिये। अमुक ऋषि-मुनि के शाप से मनुष्य, नगर, जंगल जल गये और आशीर्वाद से संतान, धन, राज-काज मिल गये। मंत्र के बल पर सारी सिद्धियां मिल जाती हैं। तन्त्र के बल पर किसी का विनाश तथा किसी का लाभ किया जा सकता है। राम, कृष्ण, कबीर अनंत ब्रह्मांडनायक ब्रह्म हैं, ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, मुहम्मद ईश्वर के संदेशवाहक हैं। कहां तक गिनाया जाय। चमत्कार जो छलावा है, धर्म के नाम पर व्याप्त है। बुद्ध और महावीर आदि तीर्थंकरों की बड़ाई में बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में जो मिथ्या महिमाओं तथा ढोंग-ढकोसलों से पूर्ण उपाख्यान भरे हैं, उन्हें पढ़-सुनकर शर्म लगती है।

जब पंडित, मुल्ला, पादरी, ज्ञानी जी, महात्मा जी धर्मोपदेश की गद्दी पर बैठते हैं, तब वे धर्म (मानवता तथा वस्तुपरक ज्ञान) का उपदेश कम, जादुई बातें, चमत्कार और

---

१. ये वा उ ह तद्-रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः। (भागवत ५/१/३१)

अर्थात—राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए से खुदकर उस समय जो लीकें बनीं वे ही सातों समुद्र बन गये। इससे पृथ्वी पर सात द्वीप बन गये।

२. जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहत्। *(भागवत ५/१/२९)*

अर्थात—राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अरब वर्षों तक निर्विघ्न शासन किया।

३. विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः। *(वाल्मीकीय रामायण ७/८४/५)*

अर्थात—वृत्र असुर सौ योजन चौड़ा तथा तीन सौ योजन ऊंचा था।

ढकोसले की बातें ज्यादा करते हैं, "हमारे गुरुजी या महात्मा जी एक ही साथ कई जगह दिखाई देते हैं। वे अपने आशीर्वाद से सब कुछ कर सकते हैं। हमारे गुरुजी भगवान के अवतार हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं और पता नहीं क्या-क्या हैं।"

कबीर साहेब ने सारे पाखंडों एवं चमत्कारों का खंडन किया, तो उनके नाम पर बने पंथ और परंपरा में—नानक, दादू, दरिया, घीसा, पलटू, जगजीवन आदि सब सन्तों के साथ भक्तों-द्वारा खूब चमत्कार जोड़ा गया। धार्मिक नामधारियों की मानो चमत्कार ही रोटी है। आप कहीं धार्मिक कथा-उपदेश की मंडली में बैठ जाइए, तो मंच पर चाहे व्यास जी हों या रामायणी जी, महात्मा जी हों या ज्ञानी जी, पंडित जी हों या मुल्ला जी, या पादरी जी—ये सब एक दूसरे के भाई बिरादर हैं। प्रायः सारी धर्मकथाओं में एक ही जैसे ढोंग-ढकोसले, चमत्कार, आशीर्वाद-शाप, तर्क-विवेक एवं बुद्धि के विरुद्ध अवैज्ञानिक मान्यताओं का बोलबाला देखेंगे।

आजकल तो चतुर लोगों का एक बड़ा दल अवतार बन बैठा है। अधिकतम राजनेता नामधारी दिग्भ्रमित हैं। वे तन्त्र-मन्त्र के ढकोसलों में फंसे एक-एक तांत्रिक तथा ज्योतिषी नामधारी को लिये घूमते हैं और धूर्त अवतारों के यहां सिजदा पड़ते हैं। सोखा-ओझा, तांत्रिक आदि के जन्म का मूल यह अंधविश्वासपूर्ण धर्म-कथा ही है।

यज्ञ के नाम पर आग में घी, मेवे, अन्न फूंकने से बड़ी-बड़ी उपलब्धियां मानी गयीं। पहले समय में पशु भी काटकर होमे जाते थे। आज भी ईश्वर तथा देवता के नाम पर मुसलमानों तथा हिन्दुओं के यहां पशु मारे जाते हैं। शकुन-अपशकुन, चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धि आदि सब धर्म-कथा के फल हैं।

धर्मग्रन्थ एवं धर्मकथा की ऊटपटांग बातों पर कोई प्रश्न न कर दे, इसके लिए तथाकथित धार्मिक लोग बड़े सावधान रहते हैं। वे पोथियों को उस तथाकथित ईश्वर-रचित या उसके भेजे हुए मानते हैं, जिसका पता-लता आज तक किसी को नहीं मिला है। या कहते हैं कि धर्मशास्त्र त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ ऋषियों की रचनाएं हैं। वस्तुतः सारी किताबें मानव-रचित हैं वे चाहे वेद हों या बाइबिल, कुरान हो या अन्य धर्मग्रन्थ। अतएव कोई भी किताब स्वतः प्रमाण नहीं। सारी किताबों की सारी बातों पर मनुष्य का विचार करना उसका कर्तव्य एवं अधिकार है।

संसार के मूल द्रव्य जड़ और चेतन में अन्तर्निहित अपने-अपने गुण-धर्म हैं। वे ही विश्व के शाश्वत नियम हैं। सर्वत्र कारण-कार्य-व्यवस्था है जो मूल द्रव्यों के स्वभावगत है। इसलिए संसार में कहीं भी चमत्कार की गुंजाइश नहीं है। इस जड़-चेतन के अलावा कोई भगवान या शैतान नहीं जो कुछ-का-कुछ कर दे। चमत्कार एवं अतिमानवीय सारी बातें मानव-समाज के साथ एक छलावा है।

सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे महिमा के नाम पर झूठी बातें ही करते रहते हैं। क्योंकि उनके मन में वे ही बातें हैं। जब वक्ता स्वयं निर्भ्रांत नहीं होगा, तब वह समाज को निर्भ्रांत विचार कैसे दे पायेगा। अज्ञान, अंधविश्वास, भ्रम एवं स्वार्थ-वश बड़े-बड़े विद्वान नामधारी व्यासगद्दियों पर अजीबोगरीब बातें करते हैं।

"रामहु केर मर्म नहिं जाना" यहां 'राम' शब्द से 'रूढ़ राम' का ही अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु यहां राम का अभिप्राय है 'ईश्वर'। लोग बात-बात में ईश्वर की दोहाई देते हैं—"ईश्वर जो चाहेगा वही होगा। हम कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह मुझसे जो कराता है वही हम करते हैं। प्रभु की इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। हम तुच्छ ना-चीज।" तब क्या इन धारणाओं से यह साफ नहीं हुआ कि समाज में चोरी, व्यभिचार, हत्या, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, घूस, धर्मोन्मादकृत मासूमों का वध—सब कुछ ईश्वर ही करा रहा है। यदि आदमी तुच्छ है, तो श्रेष्ठ कौन है?

राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्ला-अल्ला, गॉड-गॉड कहो, बस सारे पाप कट जायेंगे। उसकी खुशामद तथा प्रार्थना करने से वह हमारे लिए सारी सुखद व्यवस्था कर देगा; यह सब राम को, ईश्वर को न समझना है। पहली बात तो मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई राम-रहीम नहीं है। दूसरी बात संसार के नियमों को देखकर जो उससे अलग नियामक का भ्रम होता है, वह वस्तुबोध न होने का फल है। संसार के सारे नियम वस्तुगत हैं। अधिक खाने से पेट खराब होगा ही। इससे बचने के लिए प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भोजन में संतुलन की आवश्यकता है। राग-द्वेष, पर-दोष-दर्शन, पर-पीड़ा, स्वार्थांधता एवं विषयासक्ति रखने से मन में अशांति रहेगी ही। यह अशांति पूजा, प्रार्थना, गंगास्नान, तीर्थाटन, मंदिर-दर्शन आदि से नहीं जायेगी। इन सब में क्षणभर के लिए सात्विक आनन्द आ जायेगा, परन्तु पीछे वैसी की वैसी अशांति बनी रहेगी। स्थायी शान्ति के लिए तो राग-द्वेषादि दोषों को मन से सर्वथा निकाल देना होगा।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम-राम तथा ईश्वर-ईश्वर तो कहते हैं, परन्तु उसका रहस्य नहीं समझते। उसका रहस्य है आत्मज्ञान, जगत के नियमों का बोध एवं जीवन में पवित्राचरण। यह न कर "ले मति ठानिनि बेद पुराना" अर्थात धर्मशास्त्रों की भावुक बातों का उदाहरण देकर ईश्वर-सम्बन्धी उलटी-सीधी बातों को पुष्ट करते हैं।

यहां 'वेद पुरान' का शाब्दिक अर्थ न लेकर लक्षणा अर्थ समझना चाहिए 'सारे धर्मग्रन्थ'। हजारों वर्षों से दुनिया के धर्मग्रन्थों में ईश्वर के विषय में इतनी भावुकतापूर्ण बातें लिखी गयी हैं कि जिसने मनुष्य समाज को विवेक, तत्त्वचिंतन, वस्तुज्ञान, आत्मबोध तथा सदाचार से हटाकर अकर्मण्य बना दिया है। जब नाम-जप मात्र से सारे पाप कटते, सारे काम बनते तथा लोक-परलोक सुधरते हैं तब तत्त्वचिंतन, स्व-स्वरूपज्ञान एवं सदाचार की आवश्यकता ही क्या है! सभी लोग सस्ते में सब काम चाहते हैं। काहिलों ने ईश्वर की रचना ही इसीलिए की है, कि उसे स्वयं कुछ न करना पड़े। बस, ईश्वर की थोड़ी खुशामद कर या एक-दो लड्डू उसे चढ़ाकर उससे सारे काम करा लिए जायं। और ऐसी बातें संसार के सभी ईश्वरवादी धर्मग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। अतएव सभी मतवादी यह दोहाई देते फिरते हैं कि हमारे शास्त्रों में ऐसा लिखा है।

"वेदहु केर कहल नहिं करई" यहां भी वेद से अभिप्राय सभी धर्मग्रन्थ हैं। सद्गुरु कहते हैं लोग अपने मान्य धर्मग्रन्थों के सही आदेशों का भी पालन नहीं करते। क्योंकि कोई भी धर्मग्रंथ हो, उसमें केवल काल्पनिक बातें ही नहीं भरी रहती हैं, किन्तु जगह-जगह सचाइयां और नैतिकता की बातें भी रहती हैं, परन्तु लोग उन पर न ज्यादा ध्यान

देते हैं न उनका आचरण करते हैं। उन्हें "ना काहुइ कोइ सुख दुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता।।" तथा "स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते" आदि तथ्यपूर्ण विचारों से वास्ता नहीं रहता। उन्हें तो चाहिए "तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगलमूल। पत्ते भी हिलते नहीं, खिले न कोई फूल।।" तथा "चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा।।" या "नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं" आदि। इसलिए—

"जरतइ रहे सुस्त नहिं परई" लोग धर्म, ईश्वर तथा धर्मग्रन्थों के भक्त होते हुए भी सत्यज्ञान और सदाचरण के अभाव में सदैव मनस्ताप में जलते रहते हैं। धार्मिक पाखंड, ईश्वर की भक्ति तथा धर्मशास्त्रों की पक्षधरता बहुत बढ़ गये हैं। यदि कुछ घटा है तो वह है तत्त्वचिंतन, कार्यकारण-व्यवस्था का ज्ञान, स्वरूपबोध, पवित्र आचरण और शान्ति। क्योंकि "रोग कछु और दवा कछु औरे" हो रहे हैं। चाहिए आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा आत्मशुद्धि का प्रयास करना, तो हम बाहर एक देव खड़ाकर उसके सामने माथा टेककर सारी सफलताएं चाहते हैं।

"गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।" बड़ी मार्मिक पंक्ति है। कोई भी द्रव्य बिना गुण के नहीं रहता। यदि ईश्वर या ब्रह्म गुणातीत है, उसमें कोई गुण नहीं है, तो वह कोई द्रव्य नहीं है। जब वह कोई द्रव्य नहीं है, तब वह केवल मन की कल्पना ही है। ऐसे गुणातीत के गीत गाते-गाते लोग स्वयं को ही खो देते हैं। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां आंखें नहीं पहुंचतीं, न वाणी तथा मन ही पहुंचते हैं। हम उसे नहीं जानते, इसलिए नहीं समझते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात से परे है। बस, हम इतना ही कह सकते हैं कि हमने अपने से पहले होने वाले ज्ञानियों-द्वारा उसकी ऐसी ही व्याख्या सुनी है।"[१]

यदि ब्रह्म हमसे अलग है और उक्त कथनानुसार हमारे मन, बुद्धि तथा वाणी से परे और अज्ञात है, तो उसका हमारा सम्बन्ध कैसे हो सकता है! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म का गीत गाते-गाते लोग स्वयं खो जाते हैं। वे अपनी सत्ता-महत्ता को भूल जाते हैं। लोग जीवनभर ब्रह्म के गीत गाते हैं, उसकी तलाश करते हैं जिससे किसी की मुलाकात नहीं हुई और न हो सकती है और जो स्वस्वरूप चेतन तत्त्व है उस पर लोग सोचते ही नहीं। यह कितना आत्मघात है! गुणातीत एवं शून्य को खोजते-खोजते अपने आप के विषय में असावधान बने रहना अभाग्य है।

वस्तुतः अपनी आत्मा, अपनी चेतना, अपना चेतन-स्वरूप मन, बुद्धि, वाणी से परे है और उनका प्रकाशक है और यदि इसे ही ब्रह्म कहा जाय तो इसे खोजना नहीं है। इसके लिए कोई संदेह नहीं है। यह तो मैं ही हूं। परन्तु लोग एक गुणातीत ब्रह्म अपने से अलग मानते हैं और उसकी कल्पना में पड़ कर अपने आप का बोध खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने आप को समझो। तुमसे बड़ा कोई ब्रह्म नहीं है। यदि कल्पना के

---

१. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। *(केन उपनिषद् १/३)*

ब्रह्म के चक्कर में पड़ोगे तो इसी में जीवन बीत जायेगा और तुम्हारा शरीर मिट्टी में मिल जायगा, परन्तु तुम्हें कुछ हाथ नहीं लगेगा—"माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहि पवन समाय ॥"

इस रमैनी में सद्गुरु कबीर ने धर्म, ईश्वर और शास्त्र के नाम पर चलते हुए अन्धविश्वास एवं बेहूदेपन का खंडन किया है। उनके ख्याल से मानवता ही धर्म है, आत्मा ही परमात्मा है और शास्त्रों के वचनों की कसौटी मानव-विवेक है।

ऊंच-नीच-रहित मानव समान है

रमैनी–६२

जो तू करता बर्ण बिचारा। जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा॥ १ ॥
जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा॥ २ ॥
जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया॥ ३ ॥
जो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया॥ ४ ॥
कारी-पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई॥ ५ ॥
छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंगपानी॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तीन दण्ड = ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुमार के लिए क्रमशः पलाश, गूलर तथा बेल के दण्डे। अनुसारा = प्राकृतिक अवस्था। कृतम = कृत्रिम, बनावटी। धन्दा = व्यवसाय। सुन्नति = सुन्नत, खत्नः, पुरुष की पेशाब इंद्रिय के अग्रभाग की खाल कटाना, मुसलमानी। भजु = भज्, बांटना; स्वीकारना; छांटना-चुनना, जैसे 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' (मालविकाग्नि १/२)—संत परीक्षा करके चुनते हैं; सेवा करना; स्मरण करना। सारंगपानी = हाथ में धनुष धारण करने वाला।

भावार्थ—यदि तुम वर्णव्यवस्था का विचार करते हो कि यह ईश्वरीय है, तो जन्मते ही ब्राह्मण के बच्चे को पलाश का, क्षत्रिय के बच्चे को गूलर का तथा वैश्य के बच्चे को बेल का दण्डा लेकर प्राकृतिक अवस्था में आना चाहिए, या दण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत इन तीनों को, जो त्रिवर्ण द्विजातियों के चिन्ह हैं पैदा होने के साथ ही माता के पेट से लेते आना चाहिए था॥१॥ परन्तु तथ्य यह है कि हर बच्चा जन्मकाल में संस्कार-रहित अशुद्ध शूद्र रहता है तथा मरने पर भी संस्कार-विहीन अशुद्ध शूद्र हो जाता है। केवल बीच में बनावटी जनेऊ गले में डालकर अपने व्यवसाय करते हैं॥२॥ यदि तुम्हें अहंकार है कि हम जन्मजात ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणी से पैदा हुए हैं तो तुम किसी दूसरे रास्ते मुख आदि से क्यों नहीं आ गये, जिससे "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्"[1] सिद्ध हो जाता॥३॥ और हे मुसलमानो! यदि तुम्हें अपने आप के विषय में जन्मजात मुसलमान होने का गर्व है और तुम यह समझते हो कि तुम मुसलमानिन से जन्म लिये हो, तो माता के गर्भ में से

---

१. ऋग्वेद १०/९०/१२।

ही सुन्नत कराकर क्यों नहीं आये? ।।४।। काले रंग की गाय तथा पीले रंग की गाय को दुहकर दूध पात्र में रख लो, तो क्या उन दोनों दूधों के स्वरूपों को भिन्न-भिन्न बता सकोगे? गाय किसी रंग की हो, सबका दूध सफेद रहता है, इसी प्रकार ब्राह्मण-शूद्र तथा हिन्दू-मुसलमान नाम कुछ भी हो, सबके शरीर के तत्त्व एक-से तथा सबके भीतर चेतना एक-सी है।।५।। अतएव हे मनुष्यो! अपने आप को जन्मजात श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए जो तुम कपट और ज्यादा चालाकी करते हो, उन्हें छोड़ दो और सारंगपाणि का भजन करो।।६।।

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि वर्णव्यवस्था ईश्वरकृत या स्वयंभू है। वे मानते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ, क्षत्रिय उससे नीच, वैश्य उससे नीच तथा शूद्र सबसे नीच बनाकर भगवान ने भेजा है। वेद, गायत्री, यज्ञोपवीत आदि में अधिकार केवल प्रथम त्रिवर्ण को है, शूद्र को नहीं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है—"ईश्वर ने गायत्री छंद से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छंद से राजन्य (क्षत्रियों) को और जगती छंद से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छंद से नहीं बनाया। इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत-संस्कार के लिए अयोग्य है।"[1] यह सब कितने पक्षपाती तथा अज्ञानपूर्ण वचन हैं। आज के युग में यह सब समझ सकते हैं कि मानव मात्र की पैदाइश एक ढंग से है। कोई इनसान छंद से नहीं बनाया जाता है, किन्तु माता-पिता के रज-वीर्य से माता के गर्भाशय में बनकर पैदा होता है।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि यदि वर्णव्यवस्था स्वयंभू है, तो "जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा" ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के बच्चे जन्मते ही स्वाभाविक ढंग से द्विजातियों के चिन्ह अपने दण्ड लेकर क्यों नहीं पैदा हुए?

वैदिक धर्मशास्त्रों में बताया है कि गर्भाधान काल से लेकर जब ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष का, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष का तथा वैश्य का बारह वर्ष का हो, तब उनके उपनयन संस्कार हों। वैसे क्रमशः सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्ष की उम्र तक भी हो सकते थे।[2] यज्ञोपवीत-संस्कार काल में हर ब्रह्मचारी को एक दण्ड (डंडा) धारण करना पड़ता था। उसमें भी भेद था। आश्वलायन गृह्यसूत्र[3] के अनुसार ब्राह्मण-बालक पलाश का दंड धारण करे, क्षत्रिय-बालक गूलर का तथा वैश्य-बालक बेल का। इसमें अन्य गृह्यसूत्रों का मतभेद है।

आप देख रहे हैं कि इस वर्णव्यवस्था के कुचक्र ने केवल शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को ही अलग नहीं रखा, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के बच्चों में भी हर बात में अन्तर बनाये रखा, जिससे कि इनमें भी ब्राह्मणों की वरीयता बनी रहे।

---

१. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। *(वसिष्ठ धर्मसूत्र ४/३)*

२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/१९/१-६।

३. वही १/१९/१३ तथा १/२०/१।

आपने ऊपर देखा ही है कि तीनों वर्णों के बच्चों के उपनयन संस्कार[१] भिन्न-भिन्न अवस्था में होना चाहिए। सबके दंड भी एक लकड़ी के नहीं होने चाहिए। इतना ही नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के दंड एक बराबर नहीं होने चाहिए। ब्राह्मण का दंड सिर तक, क्षत्रिय का मस्तक तक और वैश्य का नाक तक।[२] किन्तु शांखायन ने इसे उलटकर कहा है कि ब्राह्मण का दंड छोटा, क्षत्रिय का उससे बड़ा तथा वैश्य का उससे भी बड़ा होना चाहिए।[३] इन दंडों की उपयोगिता ठीक बतायी गयी है—"ये दंड सहारे के लिए, गुरु की गायों को नियंत्रित रखने के लिए तथा अंधियारे में सुरक्षा के लिए या नदी आदि जलाशयों में होकर निकलने पर रास्ता टटोलने के लिए रखे जाते थे।[४]

सद्गुरु कहते हैं कि त्रिवर्ण जन्मजात द्विज हैं, तो ये पैदा होते ही अपने दण्ड लेकर माता के पेट से क्यों नहीं निकले?

उक्त त्रिवर्ण के यज्ञोपवीत में चार चीजें मुख्य थीं—वस्त्र, दंड, मेखला तथा यज्ञोपवीत। परन्तु सबमें भेद रखा जाता था। ब्रह्मचारी को दो वस्त्र धारण करना होता था। एक 'वासस्' (कमर से पहना जाने वाला कपड़ा-लुंगी) तथा दूसरा 'उत्तरीय' (कंधे से ओढ़ा जाने वाला)। ब्राह्मण के वस्त्र पटुआ के सूतों का, क्षत्रिय के वस्त्र सन के सूतों का तथा वैश्य के वस्त्र मृगचर्म होते थे।[५] कुछ के मतों के अनुसार सभी वर्णों के आधे वस्त्र रुई के सूतों के होने चाहिए, परन्तु वे ब्राह्मणों के लिए लाल रंग, क्षत्रियों के लिए मजीठ[६] रंग और वैश्यों के लिए हल्दी रंग होना चाहिए। इन लेखकों के इनमें विमत भी है।

'मेखला' कमर में पहनते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए क्रमशः तीन वस्तुओं से बने भिन्न प्रकार के मेखला होते थे। वे क्रमशः इस प्रकार थे—मूंज से बना, मौर्वी (जिससे धनुष की डोरी बनती है) से बना तथा पटुआ से बना।[७]

यज्ञोपवीत द्विजातियों के लिए मुख्य चीज मानी गयी। उसमें भी सबके लिए अन्तर है—ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कपास की रुई से बने हुए सूतों का हो, क्षत्रियों का सन के

---

१. उपनयन का पहला अभिप्राय है 'पास ले जाना' अर्थात गुरु के पास ले जाना। दूसरा अभिप्राय है विधिवत यज्ञोपवीत करना। तीसरा अर्थ है उप = दूसरा + नयन = नेत्र—ज्ञान का नेत्र।

२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/१९/१३; गौतम १/२५; वसिष्ठ धर्मसूत्र ११/५५-५७; पारस्कर गृह्यसूत्र २/५; तथा मनु २/४६। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१३।

३. शांखायन गृह्यसूत्र २/१/२१-२३।

४. तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बनं गवादिनिवारणं तमोवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि। *(अपराक)*

५. आपस्तंब धर्मसूत्र १/१/२/३९; १/१/३/१-२।

६. मजीठ एक लता है जिसे उबालकर उसका रंग निकाला जाता है।

७. गौतम १/१५; आश्वलायन गृह्यसूत्र १/१९/११; बौधायन गृह्यसूत्र २/५/१३; मनुस्मृति २/४२; काठक गृह्यसूत्र ४१/१२; भारद्वाज १/२।

सूतों का तथा वैश्यों का भेड़ से बने सूतों का होना चाहिए।[१] अर्थ यह कि हर जगह द्विजातियों में भी भेदभाव की दीवार बनाये रखना जरूरी था।

यज्ञोपवीत पर थोड़ा विचार कर लें। वेदों को पढ़ने से यज्ञोपवीत का पता नहीं लगता। ऐसा लगता है कि पहले समय में आर्य लोग उत्तरीय (चादर) ओढ़कर यज्ञ करते थे। वे क्रमशः भारत के गरम क्षेत्र में फैलते गये और तब यज्ञ में कुछ लोग बिना चादर ओढ़े बैठने का प्रयास करने लगे। इसलिए बुजुर्गों ने डांटा होगा और लोगों का यह प्रयास बराबर देखकर समाज से समझौता किया होगा कि भाई, यदि चादर नहीं ओढ़ सकते तो कंधे पर एक सूत डाल लें। तब से यह प्रचलित हुआ होगा। यशस्वी पंडित एवं लेखक भारतरत्न, महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"अतः ऐसी कल्पना करना उचित ही है कि बहुत प्राचीन काल में सूत्र धारण नहीं किया जाता था; आरम्भ में उत्तरीय (चादर) ही धारण किया जाता था। आगे चलकर सूत्र भी, जिसे हम जनेऊ कहते हैं प्रयोग में आने लगा।"……"यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं, जिनमें प्रत्येक सूत्र में नौ धागे (तन्तु) होते हैं जो भली-भांति बटे एवं माजे हुए होते हैं। देवल में नौ तन्तुओं के नौ देवताओं के नाम लिखे हैं, यथा—ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं विश्वेदेव।"[२]

यज्ञोपवीत धारण करते समय जिस प्रसिद्ध मंत्र का उच्चारण किया जाता है "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं……" वह पहले-पहल बौधायन गृह्यसूत्र में मिलता है जो ईसा के चार सौ वर्ष के पूर्व काल की रचना है। वहीं से पीछे बैखानस में आया।[३] पारसी लोग भी कमर में लुंगी तथा गले में मेखला पहनकर उपासना करते हैं। मक्का में कमर में सफेद लुंगी पहनकर तथा ऊपर सफेद उत्तरीय (चादर) ओढ़कर ही उपासना करने का रस्म है।

ये रस्म मनुष्य समय-समय से अपने विचार एवं सुविधा के अनुसार बनाते हैं। ये संस्कार, वेष, विधान आदि न स्वयंभू होते हैं न अजर-अमर होते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि कोई माता के पेट से ही द्विज तथा ब्राह्मण बनकर संस्कार-वेष के सहित नहीं पैदा हुआ है। किसी उदार पंडित ने भी कहा है—"जन्म से सब शूद्र होते हैं, संस्कार ग्रहण करने पर द्विज कहलाते हैं, विद्याध्ययन कर लेने पर विप्र तथा ब्रह्मज्ञ हो जाने पर ब्राह्मण हो जाते हैं।"[४]

---

१. मनुस्मृति २/४४।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१७-२१८।

३. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।
(बौधायन गृह्यसूत्र २/५/७-८ तथा बैखानस २/५)

४. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

सद्गुरु कहते हैं "जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा।।" जन्मकाल में अबोध और मलिनता में लिपटा हुआ द्विज या ब्राह्मण नामधारी का भी बच्चा शूद्र ही रहता है और जब जीव शरीर से निकल गया, तब पुनः वही दशा आ गयी मलिनता की। केवल बीच में बनावटी जनेऊ पहनकर संसार में कर्मकांड का व्यवसाय किया जाता है और रोब गांठा जाता है कि हम द्विज एवं ब्राह्मण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा तो कोई भी मनुष्य कर सकता है। द्विजत्व तथा ब्राह्मणत्व कुछ वर्ग की ही ठेकेदारी में क्यों? अतएव पूरे मानव की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं है।

"जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया।।" सद्गुरु कबीर यहां मिथ्या वर्णाभिमान को झकझोर देते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम स्वयंभू ब्राह्मण हो और ब्राह्मणी से पैदा हुए हो, तो जिस रास्ते से सभी लोग पैदा होते हैं, उसी से क्यों पैदा हुए? तुम माता के मुख आदि दूसरे रास्ते से पैदा हो जाते, तो तुम्हारी ज्यादा प्रामाणिकता होती।

वर्णव्यवस्था को तथाकथित ईश्वरप्रदत्त सिद्ध करने के लिए लोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का मंत्र ठोक देते हैं और कहते हैं देखिए साहेब, हमारे ईश्वररचित वेद में लिखा है—"उस विराट पुरुष ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए।"[1] पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि कोई पुस्तक कोई ईश्वर नहीं बनाता है। सारी पुस्तकें मानवकृत हैं। दूसरी बात है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक आर्यों को यह बात नहीं सूझी थी कि मनुष्यों में चार फांक किया जाय। वे अपने आप को आर्य और दूसरों को अनार्य उसी तरह मानते थे, जैसे विजेता अंग्रेज अपने को श्रेष्ठ तथा काले भारतीयों को हेय। परन्तु मूल आर्यों में कोई वर्णव्यवस्था नहीं थी। यह बात जब पीछे सूझी तब पहले एक विराट पुरुष की कल्पना की गयी और फिर उसके मुख, हाथ, जंघे एवं पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को पैदा कर दिया गया। और इस आशय का एक सूक्त बनाकर जिसमें सोलह मंत्र हैं ऋग्वेद के दसवें मंडल में पीछे से रख दिया गया, जो ९० वां सूक्त हो गया। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस सूक्त के सारे मंत्रों को आप पढ़ डालिए तो आपको पता लगेगा कि इस पुरुष सूक्त के सारे मंत्र कितने सरल हैं। ऋग्वेद की भाषा कठिन है। आदमी अपनी सुविधा के लिए भाषा को कठिनता से सरलता की तरफ ले जाता है। वेदों में ही जो अंश पीछे काल में बने अपेक्षया सरल होते गये। उपनिषद् आदि वेदों से बहुत सरल हैं। उपनिषदों से गीता, रामायण, महाभारतादि सरल हैं। अतएव जब लोगों को पीछे वर्णव्यवस्था सूझी, तब पुरुष सूक्त गढ़कर ऋग्वेद में रख दिया गया। उसके मंत्र आप पढ़िए तो पाइयेगा कि अन्य बहुत-सारे मंत्रों की अपेक्षा वे काफी सरल हैं। यहां टिप्पणी में पुरुष सूक्त के सोलह मंत्रों में से केवल एक मंत्र मूल रूप में दिया गया है, उसे पढ़ कर आप स्वयं समझ जायेंगे कि कितना सरल है। एक हिन्दी का अच्छा ज्ञाता उसका अर्थ सहज कर सकता है। परन्तु ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। ऋग्वेद १०/९०/१२।

का अर्थ करने में बड़े-बड़े व्याकरणाचार्य कांपते हैं। भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे जी भी लिखते हैं "बहुत लोगों का कहना है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में कालांतर में जोड़ा गया है।"[१]

यद्यपि पुरुष सूक्त के इस मंत्र का अर्थ लाक्षणिक है, तथापि स्वार्थियों-द्वारा इसे विभाजक रेखा का आधारस्तंभ बना लिया गया। उक्त मंत्र का अर्थ है कि यह मानव समाज एक विराट पुरुष है। इसमें मुखस्थानीय ब्राह्मण है, हस्तस्थानीय क्षत्रिय, जांघस्थानीय वैश्य तथा पैरस्थानीय शूद्र।

मुख पूरे शरीर के लिए खाता है, इस प्रकार जो परोपकारी हो; मुख से ज्ञान का प्रवचन होता है, मुख के ही आस-पास अधिक ज्ञानेन्द्रियां हैं जैसे जीभ, आंख, कान, नाक; मस्तिष्क ज्ञान-भंडार है ही, इस प्रकार जो ज्ञानभंडार तथा ज्ञान दाता हो; मुख सदैव खुला रहता है, परन्तु ज्यादा चमकता है, इस प्रकार जो तपस्वी रहकर चमकता हो; कहीं भी मुख सहित सिर ही किसी के सामने झुकता है, इस प्रकार जो विनम्र हो, वह ब्राह्मण है। अर्थात जो परोपकारी, ज्ञानी, ज्ञानदाता, तपस्वी, प्रसन्न रहने वाला तथा विनयी है, वह ब्राह्मण है। समाज में ऐसा कोई भी हो, वही ब्राह्मण है।

हमारे शरीर पर कहीं कोई आघात लगे, मक्खी तक बैठती हो, तो वहां उसके निवारण के लिए हाथ पहुंच जाते हैं। 'क्षत' से 'त्राण' पहुंचाना ही तो क्षत्रियत्व है। हम हाथ से दान करते हैं, दूसरे का अभिनंदन करते हैं। यह सब लक्षण जिसमें हों, वह क्षत्रिय है।

जंघे के बल पर ही धन कमाया जाता है। जब कोई जवान लड़का पिता को आंखें दिखाता है, तब पिता कहता है 'देखो बेटा, आंखें मत दिखाओ। अभी हमारे जंघा में बल है। हम कमा कर खा सकते हैं।' अतएव कृषि, गौरक्ष एवं वाणिज्य करके जो धन पैदा करे वह वैश्य है।

पैर पर ही सारा शरीर स्थिर है। इसी प्रकार कर्मकरों तथा श्रमिकों पर सारा समाज स्थिर है। अतएव कर्मकर एवं श्रमिक शूद्र हैं। अब जरा आप नजर घुमाइए, तो ये सारे काम आज के सभी मनुष्यों में पाइएगा, तब वर्ण जातिगत कहां रहा! ब्राह्मण कहलाने वालों के लड़के फौज तथा पुलिस में भर्ती होने से क्षत्रिय हैं। खेती-पशुपालन तथा व्यापार करने से वैश्य हैं और मजदूरी, नौकरी आदि करने से शूद्र हैं। और शूद्र कहे जाने वालों के लड़के शिक्षादाता, ज्ञानी, परोपकारी, विनयी, तपस्वी होने से ब्राह्मण हैं। वस्तुतः आजकल वर्णव्यवस्था बिलकुल समाप्त है। सब मनुष्यों को सब दिशा में छूट है। सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपनी उन्नति करें। सब आपस में बिना भेदभाव के हिलमिल कर रहें। यही मानवता है। यही आज की शुभधारा है। न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र। और यह आज सद्गुरु कबीर के विचारों की सच्ची विजय है।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ११०।

"जो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया।।" सद्गुरु कबीर पैनी दृष्टि वाले, उदार और निष्पक्ष थे। उन्हें किसी के भी जन्मजात बड़प्पन के ढकोसले पर नफरत थी। वे यहां कहते हैं कि मुसलमान बन्धुओ! यदि तुम सच्ची मुसलमानिन से पैदा हुए सच्चे मुसलमान हो और तुम्हारा मुसलमान होना ईश्वरीय या कुदरती है, तो तुम्हें माता के पेट में से ही सुन्नत कराकर आना चाहिए। पूरा शरीर मां के गर्भ में बन सकता है, तो क्या पेशाब इन्द्रिय की थोड़ी खाल नहीं कट सकती? ईश्वर को यह अक्ल नहीं आयी, तो तुम उसकी अक्ल ठीक कर रहे हो? अतएव यह भी एक ढकोसला है कि पेशाब इन्द्रिय की खाल काटने पर कोई मुसलमान होता है। मुसलमान तो वह है जिसके पास मुसल्लम ईमान हो, जो सत्य के रास्ते पर चले।

काली-पीली आदि अनेक रंगों की गायों के दूध एक समान सफेद होते हैं, वैसे काले, गोरे, पीले रंग के मनुष्य या हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य अंत्यज कहलाने वाले सभी मनुष्यों के शरीर में लगे जड़-तत्त्व मिट्टी, जल, अग्नि, वायु आदि एक समान होते हैं तथा सभी जीव एक समान चेतन होते हैं। सबको भूख-प्यास, सुख-दुख एक समान लगते हैं। सबको मानसिक विकारों से अशांति होती है तथा सबको मनोविकारों को छोड़ देने पर शांति मिलती है। इस प्रकार तथ्य में अन्तर न होने से मानव मात्र मूलरूप में एक समान है। वे अपने ज्ञान तथा आचरण के अनुसार ऊंच-नीच तथा अच्छे-बुरे बनते हैं।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंगपानी।।" हे मनुष्य! अपने आपको श्रेष्ठ तथा दूसरों को नीच सिद्ध करने के हथकंडे, कपट, चालाकी तथा धूर्तता छोड़ दो। मनुष्य का कोई वर्ण किसी तथाकथित ईश्वर के मूड़ से पैदा हुआ है, कोई पैर आदि से, यह मानना और इसका प्रचार करना एक कपट तथा धूर्तता है। किसी का कोई अंग कटा लेने से तथा अमुक ग्रन्थ-पंथ मान लेने से वह स्वर्ग के पथ में है, आस्तिक है, शेष नास्तिक तथा नरक के पथ में हैं यह सब कपट तथा वंचना है। कबीर साहेब कहते हैं कि कपट-चालाकी छोड़कर सारंगपाणि का भजन करो।

यह सारंगपाणि कौन हो सकता है? सारंगपाणि का अर्थ है जो अपने हाथों में धनुष धारण करता हो। इसका रूढ़ अर्थ है विष्णु तथा दशरथ-सुवन-श्रीराम। कबीर साहेब इन दोनों को इष्ट नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[१] तथा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[२] इन दोनों महापुरुषों के विषय में इस आशय के बीजक में बहुत उदाहरण हैं। फिर कबीर साहेब विधिरूप में इन्हें भजने के लिए कैसे कह सकते हैं! वे हिन्दू और मुसलमान, दोनों को उपदेश करते हैं, तो मुसलमानों को यह कैसे कह सकते हैं कि तुम विष्णु तथा श्रीराम का भजन करो? वस्तुतः कबीर साहेब के संस्कार हिन्दू समाज से मिले थे। इसलिए वे हरि, राम,

---

१. बीजक, साखी १४९।

२. बीजक, शब्द १०९।

सारंगपाणि आदि शब्दों का उल्लेख अपनी वाणी में जगह-जगह करते हैं। यहां सारंगपाणि का कोई गहरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है।

यहां कबीर साहेब हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मणादि कहलाने वाले लोगों से कहना चाहते हैं कि तुम लोग ऊंच-नीच की भावना छोड़ो और अपने-अपने ढंग से जो कुछ तुम उपासना करते हो, उन्हें करते हुए सत्य का चुनाव करो जो सबमें सम है। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते"[1] विवेकवान परीक्षा करके चुनाव करते हैं। इस पूरी रमैनी का अभिप्राय मानवीय एकता है, किसी देवता की उपासना नहीं। इसके तो वे विरोधी हैं। वे तो सन्त, गुरु तथा अंततः आत्मस्वरूप की उपासना मानते हैं। अतएव यह निज स्वरूप चेतन ही सारंगपाणि एवं विष्णु है। सारे अहंकार छोड़ कर निज स्वरूप चेतन में रमण करो।

रमैनी–६३

नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा॥ १ ॥
नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥ २ ॥
नष्ट गये जिन्ह बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना॥ ३ ॥
बिमलख करे नैन नहिं सूझा। भया अयान तब किछउ न बूझा॥ ४ ॥

साखी—नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख॥ ६३ ॥

शब्दार्थ—नाना रूप = नाना जातियां। वर्ण = चतुर्वर्ण। एक = मनुष्य। वै = मनुष्य। कर्ता = मनुष्य। औरहि = मानव से भिन्न। बखाना = व्याख्यान, भाष्य, टीकादि। बिमलख = विमलाक्ष, दिव्यदृष्टि। अयान = अज्ञानी। अविनाशी = अमर चेतन जीव। शेख = शेखतकी, एक प्रसिद्ध सूफी सन्त जो सिकंदर लोदी के गुरु थे और प्रयाग के पास झूसी में रहते थे।

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण एवं मुराव, तेली, धोबी, नाई, चमार आदि नाना जातियों का निर्धारण केवल मनुष्यों ने ही किया है। परन्तु पीछे के लोगों ने इस तरह इसकी परख नहीं की॥१॥ इन वर्णों एवं जातियों का कल्पनाकर्ता निर्धारक मनुष्य ही है ऐसी पहचान जिसे नहीं हुई वे नष्ट हो गये। उन्होंने अपने आपको अधिक नीचे गिरा लिया जिन्होंने वर्णों और जातियों का कर्ता मानव के अतिरिक्त किसी अन्य अतिमानवीय शक्ति ईश्वरादि मान लिया और कहा कि यह वर्ण-जाति का भेदभाव प्रभुप्रदत्त है॥२॥ वे भी नष्टबुद्धि के हो गये जिन्होंने वेदमंत्रों की कल्पित वर्ण-जाति सम्बन्धी भेदभावपरक व्याख्याएं कीं। वे वेद तो पढ़ते हैं, परन्तु उनका रहस्य नहीं समझते॥३॥ उन्हें यह अहंकार है कि यह ऊंच-नीच का भेदभाव दिव्यदृष्टि सम्पन्न ईश्वर या ऋषियों का प्रावधान है और उसके विषय में हमारी भी विमल दृष्टि है; परन्तु आदमी जब स्वार्थ तथा अहंकार में अन्धा हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता। ऐसे लोग कल्पित अतिमानवीय दिव्यदृष्टि का आधार लेकर जनमानस को ठगते हैं॥४॥

---

१. कालिदास, मालविकाग्नि १/२।

ऐसे बुद्धि के सागर, किन्तु मन के छली लोग जनता को नाना प्रकार के गलत आदेश देकर उन्हें नचाते हैं और स्वयं नट-वेष की तरह स्वांग बनाकर नाचते हैं। हे शेख़तकी! तुम ध्यान दो, सभी के दिलों में अविनाशी चेतन निवास करता है॥६३॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पीछे की रमैनी में मानवीय एकता के आधार पर विस्तृत चर्चा की है और बताया है कि वर्णादि भेदभावपरक बातें कल्पित हैं। उसी क्रम में यह रमैनी भी है। सद्गुरु इस रमैनी में कहते हैं कि जाति और वर्ण सब मनुष्य के बनाये हैं। हम इस पर कालक्रमानुगत ऐतिहासिक अध्ययन कर लें।

कहा जाता है कि भारत में आदिम जातियां निवास करती थीं। पूरा भारत प्रायः जंगलों से ढका था। आर्य लोग कैस्पियन[1] सागर के आस-पास रहते थे। वे वहां से किसी कारण-वश दक्षिण बैबिलोन में बढ़ आये जिसे आजकल ईराक कहते हैं। यहां की संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव आर्यों पर पड़ा और वेद मंत्रों के कितने ही ऐसे शब्द हैं जो बैबिलोन भाषा के हैं, इसीलिए सायण जैसे समर्थ भाष्यकार उनका अर्थ नहीं समझ पाये।[2] आर्य लोग बैबिलोन से फारस आये जो आजकल ईरान कहलाता है। यहां आर्य लोग बस गये? उनके यहां बसने से ही आर्यन से ईरान नाम पड़ा। इनमें एक महान तेजस्वी पुरुष जरथुस्त्र हुए जिनसे पारसी मत चला जो अन्य आर्यों की तरह अग्निपूजक थे। शेष आर्य ईरान से बढ़कर सिन्ध की तरफ आ गये और पंचनद (पंजाब) में बस गये। वेदों के अधिक मन्त्र यहीं बने। यह मत ज्यादा मान्य है।

कुछ लोगों का कहना है कि आर्य लोग हिमालय की चोटियों पर रहते थे। उसकी चोटियां पहले नीची थीं और उन पर असहनीय ठण्ढक नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे चोटियां ऊंची होती गयीं और ठंढक बढ़ते जाने से उन पर रहना कठिन हो गया। अतएव वे पर्वतों से उतरकर पंचनद (पंजाब) में आ गये।

अब हम मुख्य प्रसंग पर आवें। आर्यों में पहले न कोई वर्णव्यवस्था थी और न जाति-भेद था। वे अपना सब काम अपने हाथों से करते थे। उपासना की दृष्टि से वे प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानते थे तथा उनमें श्रेष्ठ देवता अग्नि को मानकर उसमें हवन करते थे। अग्नि थोड़ी जलाने से बढ़ जाती है इसलिए उसे ब्रह्म कहा गया। 'वृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो, वह ब्रह्म। और उसके चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण। इस प्रकार वे अपने को ब्राह्मण कहने लगे। जब शताब्दियों में

---

१. कैस्पियन सागर एशिया-योरप के मध्य, आज के सोवियत रूस के दक्षिणी छोर पर पड़ता है। वहीं से आज का ईराक देश शुरू होता है जो पहले बैबिलोन कहा जाता था। बैबिलोन से पूर्व ईरान है तथा ईरान से पूर्व अफगानिस्तान तथा भारत है।

२. अब इस बात में संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति पर बैबिलोनियन संस्कृति का भारी प्रभाव है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं बैबिलोनियन भाषा से मिलती हैं। जिन ऋचाओं का अर्थ सायण आदि भाष्यकार नहीं लगा सके उन पर बैबिलोनियन ऋचाओं से काफी प्रकाश पड़ता है। यथा "सृण्येव जर्फरी तुर्फरीतू' (ऋग्वेद १०/१०६/६)। (आचार्य चतुरसेन कृत वयंरक्षामः, भाष्यम् पृष्ठ २४१)

उनका समाज बहुत बड़ा हो गया, तब उसकी रक्षा के लिए तथा सरदारी के लिए उन्हीं में से चुनावकर एक दल तैयार किया गया जिन्हें वे 'राजन्य' कहने लगे। जब और समाज बढ़ा, तब पशुपालन के साथ-साथ खेती का विकास हुआ और वस्तुओं का आदान-प्रदान बढ़ने से क्रय-विक्रय बढ़ा। इसलिए उन्हीं में से एक दल तैयार किया गया जिन्हें 'विश' कहा गया। ईराक-ईरान तथा भारत के बहुत-सारे निवासियों को, जो मय, दानव, दैत्य, असुर, पणिय, वानर, रीक्ष, नाग आदि कहलाते थे आर्यों ने जीतकर अपना सम्राज्य कायम किया। ईराक-ईरान से लेकर भारत तक पहले असुरों के अधिकार में था। इसका विवरण रामायण, महाभारत तथा पुराणों में मिलता है।[१]

इस प्रकार जब आर्यों का दल बढ़ गया, तब उन्होंने पेशे के ख्याल से ब्राह्मण, राजन्य तथा विश तीन खेमों में समाज को विभक्त किया। हवन आदि धार्मिक कृत्य करने-कराने वाले ब्राह्मण; शासक राजन्य तथा कृषि, पशुपालन, व्यापारादि करने वाले विश कहलाये। राजन्य तथा विश ही आगे चलकर क्षत्रिय तथा वैश्य कहलाने लगे। इन तीन वर्णों में पहले आपस में केवल काम का बटवारा था। परन्तु उनके आपसी व्यवहार में तथा रोटी-बेटी में कोई भेदभाव नहीं था। आगे चलकर मजदूर एवं श्रमिक दल को शूद्र नाम देकर घोषित किया गया। परन्तु उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। वे बड़े-बड़े भोजों में भंडारी रहते थे तथा भोजन पकाते थे और उनकी लड़कियां भी ले ले जाती थीं।

पीछे काम बढ़ते गये और बाल बनाने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले, धातु तथा मिट्टी के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले इत्यादि लोगों की संतानों में उन कामों में स्वाभाविक गति एवं रुचि बढ़ती गयी और उन सबकी अलग-अलग जातियां बनती गयीं। दिन बढ़ते गये और जातियां बनती गयीं और वे एक दूसरे से अपने आपको अलग मानती गयीं। दुर्भाग्य यह कि अन्न पैदा करने वाले, कपड़े बुनने वाले, बाल बनाने वाले, तेल पेरने वाले आदि कर्मकर श्रमिक जो समाज के हाथ-पैर हैं, माई-बाप हैं, उन्हें शूद्र कहकर उनका तिरस्कार किया गया।

'जाति' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है पैदा होना। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए मानव मात्र की जाति एक है। बैल-घोड़ी से, बकरा-शूकरी आदि से बच्चे नहीं पैदा होते, इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं। परन्तु मानव मात्र के नर तथा नारी से बच्चे पैदा होते हैं। इसलिए पूरा मानव एक जाति है। वर्ण विभाजन भी

---

१. तस्मिन् प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च॥
अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः।
स राज्यं तादृशं भुङ्क्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम्॥ *(वाल्मीकीय रामायण ७/८४/७-८)*
अर्थात—वृत्र असुर के राज्य में पृथ्वी सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली थी। उस समय फूल, फल, मूलादि सब रस से भरे रहते थे। महात्मा वृत्रासुर के शासन काल में पृथ्वी बिना जोते-बोये अन्न पैदा करती थी और सम्पत्ति से पूर्ण रहती थी। इस प्रकार असुरराज वृत्र महान ऐश्वर्यशाली एवं आश्चर्यजनक राज्य का उपभोग करते थे।

एक दिन काम का बटवारा लेकर हुआ था तथा पीछे विभिन्न कल्पित जातियां भी विभिन्न काम करने से बन गयीं। इन सबका विभाग तथा निर्धारण करने वाले मनुष्य ही हैं।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा।।" एक मनुष्य ने ही नाना कल्पित जातियों के रूप खड़ा किये तथा चार वर्णों का विभाजन किया। जिस समय वर्णव्यवस्था की गयी होगी, हो सकता है उस समय वह स्वस्थ, कल्याणप्रद तथा जनहितकारी रही हो। परन्तु आगे चलकर तो उसमें चालाकी, धूर्तता, दुर्बल वर्ग का शोषण तथा फूट डालकर स्वार्थ सिद्ध करने की भावना ही फैलती गयी। पुरोहित ब्राह्मणों ने शास्त्र नाम पर ऐसा जाल रचा, जिसमें पदे-पदे यही बताया गया कि यह सब ऊंच-नीच का भेदभाव प्रभु का किया हुआ है। इसलिए "चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा" सामान्य मनुष्य यह नहीं समझ सके कि चार वर्णों का प्रपंच मनुष्य का बनाया है।

"नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा।।" इन भेदभावों का कर्ता कौन है? किसने ऊंच-नीच का पाखंड बढ़ाया है? उत्तर है चतुर मनुष्यों ने ही। मनुष्य ही इसका कर्ता है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आयी। उन्हें तो कुछ और ही बताया गया कि यह सब करने वाला ईश्वर है, प्रभु है।

मनुष्य की आत्मा के अलावा न कोई ईश्वर है, न प्रभु है। ईश्वर दुर्बल-हृदय की सृष्टि है। किन्तु इस ईश्वर का दुरुपयोग समाज के शोषण में खूब किया गया है। पहले एक काल्पनिक निराकार ईश्वर बनाया गया और कुछ लोगों ने किसी-किसी मनुष्य को ईश्वर बनाया और उनके मुख से जो जी चाहा अपने रचित ग्रन्थों में अपनी लेखनी-द्वारा कहलवा लिया और कहा कि यह प्रभुवचन है। आचरण-भ्रष्ट भी ब्राह्मण पूज्य है तथा सद्गुणसम्पन्न भी शूद्र पूज्य नहीं है—यह प्रभुवचन है। प्रभु ने स्वयं तपस्वी शूद्र शम्बूक की तथा धर्म-प्रवक्ता सूत की[1] हत्या की थी। इसलिए शूद्र यदि तपस्या एवं धर्मोपदेश करे तो उसकी हत्या कर देना प्रभु-समर्थित है। यह सब मानव के एक बृहत् वर्ग के साथ हमने छलावा किया।

'नष्ट गये जिन बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना।।" वे नष्ट हो गये जिन्होंने वेदों का यह अर्थ निकाला "एक मनुष्य जाति में कोई मौलिक अन्तर है। कुछ लोग वेद, धर्म, संन्यास तथा मोक्ष के अधिकारी हैं। कुछ लोग नीच कर्म करें तो भी पूजे जायं, और कुछ लोग अच्छे कर्म करें तो भी उनकी हत्या कर दी जाय तथा उन्हें अछूत समझा जाय।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग वेद भले पढ़ते हों, परन्तु वे वेदों का रहस्य नहीं समझते। कबीरदेव यह बहुत बड़ी बात कह देते हैं। हम इस पर थोड़ा विचार करें।

धर्मशास्त्रों में लिखा है—जैसे पशुओं में घोड़ा, वैसे मनुष्यों में शूद्र है, अतः वह यज्ञ के योग्य नहीं है (तैत्तिरीय संहिता ७/१/१/६), शूद्र एक चलता-फिरता श्मशान है,

---

१. शंबूकवध तथा सूतवध दोनों काल्पनिक हैं और शूद्रद्वेषियों-द्वारा लिखी गयी मनगढ़ंत कहानियां हैं। इसके लिए पढ़िए लेखक की लिखी पुस्तक 'कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि'।

उसके पास वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[1] शूद्र को ज्ञान न दे (मनुस्मृति ४/८०)। यदि शूद्र वेद-मंत्र सुन ले तो उसके कान में पिघलाया हुआ रांगा भर दे, वह वेद-मंत्र उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट दे और उसने अपने हृदय में वेद-मंत्र मनन कर लिया है तो उसकी हत्या कर दे (गौतम धर्मसूत्र १/१२/१३) तथा शांकर भाष्य में भी)। इसी प्रकार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र कहे जाने वाले ग्रन्थों में भेदभाव, घृणा तथा क्रूरता के वचन हैं। इन सबके लेखक अपने आपको वेदों के मर्मज्ञ होने का दावा करते हैं। आज के भी पंडित कहते हैं कि ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति आदि धर्मग्रन्थों के लेखक वेदों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने वेदों के व्याख्या-स्वरूप ही धर्मशास्त्र लिखे हैं। यह ठीक है कि उनमें बहुत-सारी बातें मानव समाज के लिए बड़े काम की हैं, परन्तु उक्त भेदभाव एवं द्वेषपूर्ण वचन किस वेद के किस मंडल, सूक्त, अध्याय, मंत्र के व्याख्यास्वरूप हैं? इसका उत्तर पंडितों के पास नहीं है। वेदों में शूद्रों को कहां अछूत, वर्जित तथा घृणित कहा गया है? बल्कि वेद मंत्र यह अवश्य कहता है कि "समानी प्रपा सहवो अन्न भागः" अर्थात हमारी पौशाला एक हो तथा हम साथ-साथ भोजन करें आदि।

ऋग्वैदिक काल में जातिवाद को लेकर क्रूरता नहीं थी। ऋग्वेद प्रथम मंडल के ११६ से १२६ तक—११ सूक्त, जिनमें १५३ मंत्र हैं कक्षीवान की रचना है जो शूद्र हैं। इन्हीं की पुत्री घोषा ऋग्वेद (१०/३९ तथा ४०) की ऋषिका हैं, जो शूद्रा ही हैं। ऋग्वेद (१०/१६९) के ऋषि शबर शूद्र ही हैं।[2] विचारना यह है कि जब शूद्र के बच्चे वेद के मंत्र बना सकते थे तब उनके प्रति क्रूरता की बात करना और कहना कि यह वेद का मर्मज्ञ होना है कहां तक संगत है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़ा ही दूरदृष्टि वाला है कि वेदों की ऐसी व्याख्या करना जिसमें मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना तथा शूद्र कहे जाने वालों को पशु से भी नीच देखने की भावना हो, वेदों को न समझना है और अपना तथा समाज का पतन करना है। वस्तुतः वेद-भक्तों ने ही वेदों पर कालिख पोती है। संस्कृति के कवियों से लेकर हिन्दी के कवियों तक ने जो जातिवादी संस्कार के थे, वेदों की जा-बे-जा दोहाई दे देकर शूद्र कहे जाने वाले बंधुओं को नीचा दिखाने की चेष्टा की है। सद्गुरु कहते हैं कि वेदों की ऐसी व्याख्या करने वाले नष्टबुद्धि हैं। वे वेद भले पढ़ते हों, परन्तु उनका रहस्य नहीं जानते।

महाभारत में जाति शब्द मानवमात्र के अर्थ में प्रयुक्त है। नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर कहते हैं—"हे महामति सर्प! यहां जाति शब्द का प्रयोग पूरे मनुष्य के लिए किया गया है। सभी वर्णों एवं जातियों का इतना मिश्रण हो गया है कि इसमें एक दूसरे से अलग कर उनकी परख करना दुष्कर कार्य है। सदा से सभी वर्णों एवं जातियों के पुरुष सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा करते आये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने

---

१. वेदांत १/३/३८ पर शांकरभाष्य से उद्धृत।

२. देखिए इन सूक्तों का सायण भाष्य तथा स्वामी भगवदाचार्य रचित सामवेद और यजुर्वेद की प्रस्तावना, पृष्ठ ३५।

शील (सदाचार) को सर्वोच्च माना है।"[1]

"बिमलख करे नैन नहिं सूझा" अर्थात लोग तो अहंकार करते हैं दिव्यदृष्टि का; परन्तु उनको स्थूल नेत्रों से भी नहीं सूझता। अहंकार है त्रिकालदर्शी होने का, परन्तु उन्हें वर्तमान भी नहीं दिखाई पड़ता। ऐसे लोगों पर कबीर साहेब की बहुत बड़ी फटकार है जो अभिमान तो रखते हैं सर्वज्ञता का और मानवीय व्यवहार भी नहीं समझ पाते। सच है, जब आदमी स्वार्थ में मूढ़ हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता—"भया अयान तब किछउ न बूझा।" मनुष्य के हृदय में सच्चे विचार तभी उदित हो सकते हैं जब वह अपने देहस्वार्थ को जीत ले तथा सब तरफ से निष्पक्ष हो जाय। कबीर साहेब के सच्चे विचार का मूल यही है। वे न कहीं आसक्त थे और न कहीं किसी के पक्ष में चिपके थे।

"नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।" अर्थात जो अतिमानवीय कल्पना करते हैं और कहते हैं कि मानव से अलग आकाश में बैठा कोई देव है, वे उसी के आदेश का छलावा कर मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना पैदा करते हैं। अपने आप को ऊंच तथा दूसरों को नीच कहते हैं और अपने को दीनदार तथा दूसरों को काफिर कहते हैं। ऐसे लोग संसार के लोगों को नाना कल्पित आदेश देकर उन्हें अपनी उंगुली पर नचाते हैं। ऐसे लोग जनमानस का बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण करते हैं। और वे स्वयं भी नाना स्वांग बना कर नाचते हैं। वे अपने आपकी झूठी वरीयता बनाये रखने के लिए नट की तरह पाखंडपूर्ण वेष बनाते हैं। वे दूसरों को नीच तथा अपने आप को ऊंच सिद्ध करने के लिए नाना पाखंड तथा छलावा करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "घट-घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख।" हे शेखतकी! सुनो, सबके दिल में एक-सा ही अविनाशी चेतन देव निवास करता है। यहां मूल रूप से कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

कबीर साहेब के कहने की यह विधा है कि जब वे मानवसमाज पर प्रकाश डालते हैं, तब समसामयिक प्रचलित हिन्दू और मुसलमानों—दोनों पक्षों को लेते हैं। हिन्दू सवर्णनामधारी अपने जाति-वर्ण के मिथ्या अभिमान में अहं-हीनत्व की भावना फैला रहे थे तथा मुल्ला-मौलवी अपने तथाकथित इलहामी एवं खुदाई कुरान और इसलाम का अहंकार लेकर गैर-मुसलमानों को काफिर, बेदीन, नरकगामी आदि के रूप में देख रहे थे। निष्पक्ष कबीर को दोनों के पाखंड अखरते थे। वे कहते हैं कि अविनाशी परमात्मा से मुलाकात करने के लिए किसी ऐसे बिचौलिए की आवश्यकता नहीं है जो अपने मत, किताब तथा महापुरुष को अतिमानवीय कल्पनाओं से जोड़कर स्वयं के मत को ईश्वर का ठेकेदार कहता है और दूसरों के मतों को नास्तिकों या काफिरों का रास्ता बतलाता है। सद्गुरु कहते हैं कि वह अविनाशी परमात्मा आत्मा के रूप में घट-घट में बसता है। वह तो

---

१. जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्वदर्शिनः॥ *(महाभारत, वनपर्व १८०/३१-३३)*

स्वसंवेद्य है। उसका निर्देश करने के लिए केवल पहुंचे हुए सद्गुरु की आवश्यकता है और सद्गुरु केवल विवेकसम्पन्न मानव होता है। न उसे झूठे जाति-वर्ण की आवश्यकता रहती है और न अहंकारपूर्ण ईश्वरीय मत की। वह सद्गुरु तो विवेक-वैराग्य से पूर्ण होता है। वह केवल दीपक से दीपक जलाता है। सबके अन्दर तो अविनाशी निवास करता है। उसे किसी ईश्वरीय या दीनदार के मजहब से पाने का प्रश्न क्या है? जो नित्य प्राप्त है, उसको कोई ईश्वर का ठेकेदार प्राप्त कराने का ढकोसला करे तो वह समाज को केवल गुमराह ही तो कर रहा है!

हम अपने अन्दर निवास करने वाले अविनाशी स्वरूप को भूले हैं। अन्दर कहना भी केवल देहोपाधि से है। वह अविनाशी चेतन देह में निवास करता है। वही तो हम हैं। हम अपने स्वरूप को केवल भूले हुए हैं। सद्गुरु, जो अपने स्वरूप में जगा हुआ है, हमें भी जगा देता है कि अरे, तू जिस परमात्मा को खोज रहा है वह तू ही है। और इसका ध्यान आते ही हम भी जग जाते हैं। बस, काम हो जाता है।

अब विचारिये! कौन-सा ईश्वर आकाश में या किसी अन्य लोक में या परोक्ष है जिसने कोई किताब भेजी हो, अपने अवतार, पुत्र या पैगंबर भेजे हों और उसी के द्वारा हमें उस तक पहुंचना हो। ये सारी बातें मनुष्य के साथ छल करना है। अविनाशी तो घट-घट में ही है, तो इसमें सद्गुरु के अलावा किस मध्यस्थ की आवश्यकता है! क्या मनुष्य की आत्मा से अलग कोई परमात्मा होता है जिससे मिलाने के लिए मजहबी लोग चौधराना करते हैं!

सद्गुरु कहते हैं कि इस जीव, इस आत्मा, इस अपने अविनाशी चेतन स्वरूप के अलावा कहीं कोई ईश्वर, परमात्मा, गॉड, खुदा आदि नहीं है जिसे पाना है।

यहां सद्गुरु ने शेखतकी को सम्बोधित कर यह साखी कही है। हो सकता है इस साखी की रचना के समय शेखतकी और कबीर साहेब आमने-सामने विद्यमान रहे हों। कबीर साहेब ने जितने पद कहे हैं वे सब जीवंत हैं। अर्थात उन्होंने कमरे के भीतर या पेड़ के नीचे बैठकर लिखा नहीं है, किन्तु जनता में कहा है। उसे शिष्यों ने लिख लिया। सद्गुरु साखी प्रकरण में स्वयं कहते हैं—"दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।"[1] अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन वर्तमान स्थिति को देखकर उसके समाधान के लिए अपने पद कहता हूं।

एकांत में लिखा लेख उतना प्राणवान नहीं होता जितना सभा या जनता में बोला गया व्याख्यान होता है। एकांत में तो हम वह लिखते हैं जो उस समय हमारे मन में होता है; परन्तु जनमानस में हम वह बोलते हैं जो समसामयिक जनता की आवश्यकता होती है। इसीलिए सद्गुरु ने लिखने पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने कहने पर विश्वास किया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा "सत्य कहौं लिखि कागद कोरे" परन्तु कबीर साहेब ने बारम्बार दोहराया "कहहिं कबीर सुनो भाई साधो"—"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।" कबीर साहेब सन्तों से, अवधूतों से, पंडितों से तथा आम

---

१. बीजक, साखी ३२०।

जनता से बातें करते हैं। वे ईश्वर की गद्दी पर बैठकर कलम नहीं चलाते, किन्तु आम जनता में पहुंचकर बात करते हैं। वे किसी देव या ईश्वर को रिझाने के लिए भी उससे बातें नहीं करते, किन्तु आम जनता से करते हैं। कबीर की दृष्टि कल्पित भगवान पर नहीं, प्रत्यक्ष इनसान पर है, परोक्ष परमात्मा पर नहीं, अपरोक्ष आत्मा पर है। वे मनगढ़ंत स्वर्ग पर नहीं, सजीव धरती पर दृष्टि रखते हैं।

काल्पनिक सिद्धियों का व्यामोह छोड़कर आत्म-परख करो

रमैनी—६४

काया कंचन जतन कराया। बहुत भाँति के मन पलटाया॥ १ ॥
जो सौ बार कहौं समुझाई। तैयो धरो छोरि नहिं जाई॥ २ ॥
जन के कहे जन रहि जाई। नौ निद्धी सिद्धी तिन पाई॥ ३ ॥
सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई॥ ४ ॥
जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥ ५ ॥

साखी—ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।
जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं, मिलि रहे धूतहि धूत॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—पल्टाया = घुमाया। धरो = पकड़ रखा है। जन = योगी जन। जन = योगमार्गी शिष्य जन। नौ निद्धी = कुबेर की नौ निद्धियां (खजाने)—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकंद, कुंद, नील तथा वर्च। सिद्धी = अष्ट सिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।[1] अन्तै = अलग, अनात्म। बाउर = मूर्ख। काल = कल्पना, अज्ञान। सोच = चिंता, विचार। धूत = धूर्त, छली।

भावार्थ—कुछ साधक काया को कंचन के समान देदीप्यमान तथा सदा जवान बनाये रखने के लिए काया-कल्प आदि बहुत यत्न करते हैं। मैंने उनको बहुत प्रकार से समझाकर तथा उनके मन को उधर से घुमाकर आत्म-शोधन में लाना चाहा॥१॥ परन्तु सौ बार भी समझाकर कहता हूं, तो भी उन्होंने उसको इतनी मजबूती से पकड़ रखा है, कि वे उसे छोड़ नहीं सकते॥२॥ योगियों के कहने से ये साधकजन यदि उसी भ्रम में पड़े रह जाते हैं, तो इनको क्या मिलेगा? बहुत हुआ तो उनके कथनानुसार ये नौ निद्धियां तथा अष्ट सिद्धियां पायेंगे। अर्थात थोड़ा सांसारिक लाभ इनको मिल जायेगा। परन्तु वह सब नाशवान है॥३॥ जिसके हृदय में सदैव सच्चा धर्म निवास करता है वह अपने आप को अन्तरात्मा की कसौटी पर कसता रहता है कि मैं कौन हूं तथा मेरी स्थिति क्या

१. अणिमा—छोटा रूप धारण करना। महिमा—संसार में कीर्ति प्राप्त करना। लघिमा—कपास वत हल्का रूप धारण करना। गरिमा—पर्वताकार बड़ा रूप धारण करना। प्राप्ति—जहां चाहे वहां चला जाना। प्राकाम्य—मनोरथ पूर्ण करना। दर्शित्व—गुप्त-प्रकट सब वस्तु देखना। वशित्व—जिसे चाहे उसे अपने वश में कर लेना। ये सारी सिद्धियां काल्पनिक हैं। निद्धियां भी काल्पनिक हैं। निद्धि-सिद्धि का सरल अर्थ सांसारिक लाभ है।

है।।४।। परन्तु जो अन्तरात्मा की कसौटी छोड़कर अपने आपकी परख के लिए कोई बाहरी मानदंड मानेगा और अपने उद्धार के लिए दूसरे की आशा करेगा, वह मूर्ख अपने आप पागल हो जायेगा।।५।।

लोग अपनी अंतरात्मा की कसौटी छोड़कर बाहर कल्पित देवी-देवताओं एवं ऋद्धि-सिद्धियों में दौड़ते हैं, इसीलिए सबके गले में अज्ञान की फांसी लगी है। हे मनुष्य! तू अपने कल्याण की चिंता कर न! जहां संत होते हैं, वहां संत जाते हैं और धूर्त लोग धूर्तों से मिलकर अपनी दलबंदी करते हैं।।६४।।

व्याख्या—हठयोगियों के बहकावे में आकर कुछ साधक इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि काया-कल्प आदि यत्न करने से जवानी सैकड़ों वर्ष बनी रहेगी और शरीर अमर भी हो सकता है। लोग प्रसिद्ध हठयोगी गोरखनाथ को आज भी जीवित रहने का भ्रम करते हैं और कहते हैं कि वे शरीर से अमर हैं। इन मिथ्या महिमाओं के जाल में पड़कर कुछ लोग नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक आदि करते हैं। वे खान-पान तथा अन्य बातों में बहुत संयम कर शरीर को स्थिर बनाये रखने का भ्रम पाले रहते हैं। इसके साथ यह भी भ्रम जुड़ा रहता है कि जो योगसिद्ध हो जायेगा, वह अष्ट सिद्धि-नौ निद्धि पायेगा।

सद्गुरु कहते हैं कि यह सब मन का मोह है और सर्वथा भ्रमपूर्ण है। संयम-नियम से रहने से शरीर स्वस्थ रहता है और कुछ ज्यादा दिनों तक युवा-जैसा रहता है। परन्तु शरीर तो बदलने वाला है। वह क्षण-क्षण बदल रहा है। चाहे कोई कितना ही योग करे, परन्तु बुढ़ापा तथा मृत्यु का आना निश्चित है। आज भी ऐसे साधु मिलते हैं जो मुश्किल से सत्तर-पचहत्तर वर्ष के होते हैं, परन्तु बताते हैं कि हम योगसाधना से चल रहे हैं, इसलिए एक सौ चालीस वर्ष के हो गये हैं, तो भी कम उम्र के दिखते हैं। परन्तु यह सब व्यामोह है। इसमें महत्त्व नहीं है कि आदमी कितने दिन जीता है, परन्तु महत्त्व है कि वह अपने जीवन में क्या करता है।

ऋद्धि-सिद्धि केवल मन के धोखे हैं। सिद्धि का अंधविश्वास ऋग्वैदिक काल से ही रहा है "मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं।.....मुनि लोग वायु मार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं......।"[१] पातंजल योगदर्शन में लिखा गया "योगी त्रिकालज्ञ हो जाता है, सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा जान लेता है। हाथी के समान बलवान, परदे के भीतर की वस्तुओं का ज्ञाता, समस्त लोकों का ज्ञाता, भूख-प्यास से मुक्त आदि हो जाता है। दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। आकाश में उड़ता है। अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है।"[२] ये सारे अंधविश्वास जनमानस में फैले थे। उन्हें योगदर्शन के लेखक ने अपने सूत्रों में संचित कर दिया। पीछे के लोग शास्त्र-वचन त्रिकालज्ञ ऋषियों के हैं मानकर उन सारे अंधविश्वासों को मन में पालते हैं। इससे दो प्रकार की हानियां होती हैं। पहली हानि यह है कि हम अंधविश्वासी

---

१. ऋग्वेद १०/१३६/४-५।

२. पातंजल योगदर्शन ३/१४-४९।

बनते हैं और कारण-कार्य-व्यवस्था के बोध से वंचित रहते हैं। इसलिए कोई भी जाल-साज हमें योग का पाखंड दिखाकर ठगता है। दूसरी हानि है कि कुछ लोग सिद्धिलाभ के चक्कर में पड़कर अपने रत्नतुल्य जीवन को हठयोग में व्यतीत करते हैं, जिसमें आध्यात्मिक लाभ कुछ नहीं, बल्कि भटकाव है।

सद्गुरु कबीर के युग में हठयोगी खूब थे। लगता है कि कबीर साहेब ने स्वयं भी हठयोग साधा था। परन्तु उसे व्यर्थ जानकर छोड़ दिया था और फिर उसका बीजक में जगह-जगह खंडन किया।

सद्गुरु यहां बताते हैं कि मैं इन लोगों को बारम्बार समझाकर स्वरूपज्ञान पर लाना चाहता हूं; परन्तु ये तो उसे ऐसा मजबूत पकड़ रखे हैं कि उसे छोड़ने का नाम भी नहीं लेते।

"सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई।।" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। जिसके हृदय में सदैव धर्म बसता है, वह अपने आपको 'राम-कसौटी' में कसता रहता है। "राम-कसौटी' है अंतरात्मा की कसौटी। इस पंक्ति में दो शब्द महत्वपूर्ण हैं एक 'धर्म' और दूसरा 'राम-कसौटी'। इन दोनों शब्दों पर हम खुलासा विचार कर लें।

हम पहले 'धर्म' को लें। धर्म है वस्तु का स्वभाव तथा उसके नियम। एक भौतिक क्षेत्र है तथा दूसरा मानसिक क्षेत्र है। मूल द्रव्यों में उनके अपने स्वभाव तथा नियम हैं जो उनमें अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की सृष्टि निरंतर चलती है। मूल जड़तत्त्व दूसरे जड़तत्त्वों का उपयुक्त संयोग पाकर अपने अंतर्निहित नियमों से नये-नये कार्य बनाते रहते हैं। जैसे खेत वर्षा, उपयुक्त ऋतु तथा बीज पाकर फसल उगल देता है। लोग कहते हैं "संसार के नियम देखकर उससे भिन्न नियामक की कल्पना करना पड़ता है।" यह ज्ञान से पलायनवाद है और प्रकृति के नियमों पर एक अ-समीक्षात्मक भोले देव को थोपना है, जिससे जब चाहा जाय अपनी इच्छित वस्तु की भीख मांग ली जाय। यदि पानी नहीं बरस रहा है तो उससे पानी की वर्षा मांगी जाय। संतान, धन, निरोग्यता, पदोन्नति न मालूम कितनी चीजों की भीख इनसान मांगता है, उस देव से जिसे उसने स्वयं गढ़ा है। देववाद ने विवेकज्ञान को सुला दिया है। जब मूल द्रव्यों में नियम देख ही रहे हो तब उससे भिन्न नियामक की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? जब देख रहे हो कि बीज, पानी, प्रकाश, वायु, मिट्टी आदि की अपनी सारी योग्यताएं मिलकर पौधे तैयार हो गये और उनमें फूल खिल आये, तब यह कहने की क्या आवश्यकता कि इन फूलों को किसी देव ने खिला दिया है। अतएव प्रकृति अनादि है। उसके स्वभाव तथा नियम उसमें अनादि अंतर्निहित हैं और उनसे जगत का सम्पादन नित्य होता है। भौतिक पदार्थों में ये अंतर्निहित स्वभाव, गुण, नियम आदि उनके धर्म हैं। हमें चाहिए कि हम विवेक तथा परख-द्वारा उन्हें पहचानें और उनके मंगलदायी कार्यों में अवरोधक न बनें तथा अनिष्टकारी कार्यों को रोकने का भरसक प्रयत्न करें। आग लगने पर हम उसे पानी, मिट्टी आदि से बुझाने का प्रयत्न करें, देवता की प्रार्थना नहीं कि वह उसे बुझा देगा। आग का स्वभाव है जलाना चाहे उसमें ददरिया की किताब पड़े या धार्मिक ग्रन्थ, चाहे दुष्ट पड़े या सन्त। व्यापार में गिरावट हो रही है, खेती में सफलता नहीं हो रही है, नौकरी नहीं

मिलती या छूट गयी है, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है, तो हमें इनके कारणों को पहचानना चाहिए और उन्हें भरसक दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन सबके सुधार के लिए किसी तांत्रिक, पण्डित या महात्मा नामधारी से पूजा कराने की आवश्यकता नहीं है।

तुम्हें जिनसे सुख-दुख मिलते हैं, वे तुम्हारे चारों तरफ फैले जड़-चेतन हैं। उन्हें और उनके स्वभाव को पहचानने की आवश्यकता है और उनके ग्रहण-त्याग तथा सदुपयोग करने की आवश्यकता है। पेट खराब रहता है तो उसके लिए न भभूत झड़ाने की आवश्यकता है और न पूजा करने की, किन्तु अपनी आंत को पहचानने की आवश्यकता है कि वह क्या और कितना ठीक से पचा सकती है। बस, उतना ही खाओ, फिर सुखी रहोगे।

भौतिक क्षेत्र से भी तुम्हारे ज्यादा निकट मानसिक क्षेत्र है। उसके स्वभाव एवं नियमों को पहचानने का प्रयत्न करो। तुम्हें तुम्हारा मन क्यों परेशान करता है? इसे पहचानो। मन का क्या स्वभाव है? उसे परखो। क्रोध, ईर्ष्या, काम, लोभ, मोह आदि विकारों में लिप्त रहोगे तो तुम्हारा मन अशांत रहेगा ही। हजार पूजा, जप, तीर्थ, देवाराधन करो, उनसे तुम्हें क्षणिक संतोष भले मिल जाय, परन्तु मन की उलझन नहीं मिट सकती। वह तो मन को परख कर उससे सारे विकारों को दूर करने से ही होगी। तुमने जिसको तकलीफ दी है, उसी के पास जाकर और पूर्ण विनयावनत होकर उससे क्षमा मांगने से जो तुम्हें शांति मिलेगी, वह शांति तुम्हें तथाकथित तैंतीस कोटि देवता तथा उनके महाराजा ईश्वर से भी क्षमा मांगने से नहीं मिल सकती।

नैतिकता के नियमों का मूल मन में है और भौतिक गतिविधियों के नियमों का मूल प्रकृति में है। यही इनके धर्म हैं। इन दोनों को ठीक से समझकर जो अपने जीवन में ठीक नियमों से चलता है, वही धर्म को समझता है। उसी के हृदय में सच्चे धर्म का निवास है। पूजा करने तथा नमाज पढ़ने वाला धर्मी है, यह बहुत ऊपर-ऊपर की बात है। सच्चा धर्मी वह है जो अपने मन को सदैव देखता है कि उसमें क्या उठ रहा है और उसके विकारी विचारों को दूर करता है।

'धर्म' संस्कृत भाषा का शब्द है और 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, सहारा देना, सम्हाल रखना। ये पदार्थों के नियम तथा स्वभाव ही तो सृष्टि को धारण करते हैं। इन्हीं के सहारे तो विश्व चलता है। अतः यही धर्म है। मानसिक क्षेत्र में नैतिकता ही धर्म है, यही जीवन को धारण करती है। इसके लिए ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग कई बार आया है। वेदों में ऋत के तीन अर्थ हैं—यज्ञों के नियम, प्रकृति के नियम तथा नैतिकता के नियम। पीछे वाले दोनों अर्थ सारगर्भित हैं। प्रकृति और मन के स्वभाव को पहचान कर नियमों से चलना यही ऋत के या धर्म के अनुसार चलना है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं "ऋत के पथ पर अर्थात प्रकृति के नियमों से चलने वालों के लिए हवाएं मधु ढोती हैं, नदियां मधु बहाती हैं तथा वनस्पतियां मधु बरसाती हैं।"[१]

---

१. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ *(ऋग्वेद १/९०/६)*
(ऋग्वेद के चौथें मंडल के २३ वें सूक्त में बारह बार ऋत का प्रयोग हुआ है।)

ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है "मन से वस्तु का यथार्थ चिंतन करना ऋत है तथा वाणी से वस्तु का यथार्थ कथन करना सत्य है।"[१]

इस प्रकार जड़-चेतन के भेद एवं उनके गुण-धर्मों को ठीक से जानकर तथा निर्भ्रांत दृष्टि रखकर नैतिकता से चलना धर्म के पथ पर चलना है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में यथार्थ वस्तु-बोध एवं तत्त्वबोध है और जो पवित्र रहनी से चलता है उसके हृदय में मानो धर्म बसता है। ऐसा सत्यज्ञान तथा पवित्र मन वाला व्यक्ति अपने आप को 'राम-कसौटी' में कसता है। राम अपना चेतन स्वरूप है, अपनी अंतरात्मा है। पवित्र मन वाला व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनता है। यहां कोई यह न समझ ले कि अंतरात्मा से कोई शब्द उठता है। तात्पर्य है कि जीव ज्ञानस्वरूप है। जब वह मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाता है, तब उसका ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। ऐसा शुद्ध जीव अपने आप को क्षण-क्षण समझता रहता है कि मैं कौन हूं, क्या कर रहा हूं। उसके मन के सामने थोड़ी भी भ्रांति आये, उसे देख लेता है। उसका निर्मल ज्ञान उसके लिए क्षण-क्षण कसौटी का काम करता है। धर्माचरण-द्वारा हृदय निर्मल होने से भीतर सब कुछ साफ समझ में आता है। पवित्र व्यक्ति की चेतना उसे क्षण-क्षण रास्ता दिखाती है। यही अंतरात्मा की आवाज है और यही 'राम कसौटी'[२] है।

"जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥" अर्थात जो व्यक्ति अपनी कसौटी तथा अपने आप की निरख-परख अपने अंतर्ज्ञान से न कर किसी काल्पनिक देव से निवेदन करता है "हे देव! तू ही समझ कि मैं कौन हूं और मेरा उद्धार कैसे होगा! मैं तो अल्पज्ञ हूं, असमर्थ हूं। तू ही सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ है! तू ही मेरी देख-रेख कर तथा मेरा उद्धार कर!" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा प्रलाप करने वाला मूर्ख है। वह अपने आपको भूलकर स्वयं पागल बन गया है।

किसी काल्पनिक देवता से तो कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। हां, इसके लिए सच्चे सद्गुरु तथा संतों की संगत अवश्य सहयोगी है। इसके बिना काम होना असंभव है। परन्तु सद्गुरु तथा सत्संग का आधार लेकर व्यक्ति को आत्म-शोधन अपने अंतर्ज्ञान से ही करना पड़ेगा। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप चेतन स्व-संवेद्य है। वह पर-संवेद्य कभी नहीं हो सकता। मैं को मैं ही ठीक से जान सकता हूं। इसलिए मेरी कसौटी राम-कसौटी ही है। जो अपने आप को ठीक से नहीं जानता वह कुछ नहीं कर सकता। दैववाद तथा ईश्वरवाद ने आत्मशोधन, राम-कसौटी, स्वसंवेद्य, अंतर्ज्ञान एवं स्वतः परख के ऊपर परदा डाल दिया है। तुम पारख रूप हो। तुम अपने आप को स्वयं परखो। टेनीसन ने क्या खूब कहा है—"आत्मविश्वास, आत्मज्ञान तथा आत्मसंयम—ये तीनों

---

१. मनसा यथा वस्तुचिन्तनमृतशब्दाभिधेयं वाचा यथावस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्।

(ऐतरेय ब्राह्मण १/६)

२. बीजक शब्द ३६ में सद्गुरु ने 'राम-ठगौरी' भी कहा है। 'राम-ठगौरी' का अर्थ है राम के नाम पर मिथ्या विश्वास।

जीवन को परम शक्ति संपन्न बना देते हैं।"[१]

परन्तु जो स्वयं अपने अंतर्ज्ञान तथा परख की अवहेलना कर जगह-जगह देवी-देवताओं की प्रार्थना करता घूमता है, वह केवल भटकता है। सद्गुरु कहते हैं "ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।" इसलिए कल्पना तथा अज्ञान की फांसी तुम्हारे गले में पड़ी है और तुम्हारी हत्या हो रही है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं समझा और अपने आप का उद्धार अपने पुरुषार्थ से नहीं किया और किसी देव के भरोसे बैठा रहा, उसने मानो आत्महत्या कर ली। इसलिए सद्गुरु चेतावनी देते हैं "करहु न आपन सोच"—अपने आप को इस अज्ञान तथा परावलम्बन की फांसी से छुड़ाने के लिए अपनी चिन्ता करो न! जब तुम स्वयं अपने आप में जागोगे, तभी तुम्हारे गले की फांसी कटेगी। बिना तुम्हारे अपने आप में जगे साधु-गुरु भी तुम्हारी सहायता नहीं कर पायेंगे।

"जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं" संत के पास संत जाते हैं। सद्गुरु उसे भी संत मानते हैं जो सत्य का जिज्ञासु है और जो अपनी आंखें खोलकर संत के पास पहुंचता है। सत्य के इच्छुक को चाहिए कि वह पारखी संतों के पास जाये और आत्मनिरीक्षण के लिए उनसे परख की कला सीखे। जहां सत्यासत्य परखने-परखाने की संगत है वही सत्संग है और निष्पक्ष परख करने-कराने वाले महापुरुष ही सन्त हैं।

"मिलि रहै धूतहि धूत" धूर्त कहते हैं वंचक को। जो दूसरों को धोखा दे, वह धूर्त है। जो छलावा की बातें करते हैं, वे ऐसी ही संगत में जाते हैं जहां लोग स्वयं को तथा दूसरों को छलते हैं।

सद्गुरु इस रमैनी में बतलाते हैं कि ऐसे योग में मत फंसो जिसका फल काया को टिकाऊ बनाने का व्यामोह है। तुम सत्य-असत्य की परख करो। अपनी आत्मा को पहचानो और उसमें स्थित होओ। इसके लिए पारखी संतों के पास जाकर सत्य पारख ग्रहण करो।

मुख्य मानवीय-गुण विचार है

रमैनी–६५

अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥ १ ॥
तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥ २ ॥
चातृक जलहल आसै पासा। स्वांग धरै भवसागर की आसा॥ ३ ॥
चातृक जलहल भरै जो पासा। मेघ न बरसे चले उदासा॥ ४ ॥
राम नाम इहै निजु सारा। औरो झूठ सकल संसारा॥ ५ ॥
हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा॥ ६ ॥

---

१. Self Reverence, Self Knowledge, Self Control these three alone lead life to Sovereignty.—Tenyson

किंचित है सपने निधि पाई। हिय न समाय कहाँ धरौं छिपाई॥ ७ ॥
हिय न समाय छोरि नहिं पारा। झूठा लोभ किछउ न विचारा॥ ८ ॥
सुमृति कीन्ह आपु नहिं माना। तरुवर तर छर छार हो जाना॥ ९ ॥
जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे बार न पारा॥१०॥

साखी—अन्ध भया सब डोलै, कोइ न करै विचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रमजार॥ ६५ ॥

शब्दार्थ—अपने गुण = मानवीय गुण, विचारशक्ति। संच = सुख। चातृक = चातक पक्षी। जलहल = जलधर, समुद्र, जलाशय। स्वांग = नाना वेष, नकल। उतंग = उत्तुंग, ऊंचा। यम = वासना। निधि = खजाना। किछउ = थोड़ा भी। सुमृति = मनु आदि स्मृतियां, धर्मशास्त्र। छर = नाश। छार = राख, धूल। वार पार = समाधान। भ्रमजार = भ्रमजाल।

भावार्थ—हे मानव! तुम अपने मानवीय गुण विचार-शक्ति को अवगुण कहते हो। यह तुम्हारा दुर्भाग्य है जो विचार-विवेक की अवहेलना करते हो॥१॥ हे जीव! स्वरूप-विचार को छोड़कर तूने बहुत दुख पाया। भला, ऐसी कौन मछली होगी जो जल के बिना सुखी रह सके। इसी प्रकार ऐसा कौन मनुष्य होगा जो आत्म-विचार से अलग होकर सन्तुष्ट हो सके॥२॥ चातक पक्षी के आस-पास ही स्वच्छ-शीतल भरा हुआ जलाशय रहता है, परन्तु वह स्वाति-बूंद की आशा में प्यासा ही रह जाता है। यदि स्वाति नक्षत्र नहीं बरसता तो चातक निराश होकर उड़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का शांति-सागर एवं आनन्द-सागर उसके हृदय में ही निवास करने वाला उसका अपना चेतन-स्वरूप ही है, परन्तु यह उधर न ध्यान देकर मन से रचित कल्पित वस्तु की आशा करता है और उसे पाने के लिए नाना स्वांग बनाता है जो मन का ही विलास होने से भवसागर रूप है॥३-४॥

राम-नाम से कहा जाता हुआ यह चेतन आत्मदेव ही व्यक्ति का अपना सारस्वरूप है। शेष तो सारा संसार एक दिन छूट जाने से अपने लिए झूठा ही सिद्ध हो जाता है॥५॥ व्यक्ति के अपने चेतन-स्वरूप से अलग माना हुआ हरि तो मनःकल्पित होने से एक ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम भावुक लोग उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। जिसने स्वरूप-विचार एवं आत्म-विचार छोड़कर मनःकल्पित वस्तु को ही ईश्वर मानकर उसी में विश्राम माना है, उसने मानो अपने आप को वासनाओं के घर में डाल दिया है। वह स्वरूपस्थिति छोड़कर वासनाओं में बह रहा है॥६॥

जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में थोड़ा धन पा जाये, तो इतना हर्षित हो कि फूलकर कुप्पा हो जाय और वह सोचे कि मैं इस धन को कहां छिपाकर रखूं!॥७॥ वैसे मनुष्य संसार के धन-दौलत को पाकर उसमें फूला-फूला घूमता है। परन्तु उन्हें न तो बाहर सुरक्षित रख सकता है और न अपने हृदय को फाड़कर उसमें रख सकता है और न उसका लोभ छोड़ पाता है। मनुष्य थोड़ा भी विचार नहीं करता कि इन स्वप्नवत मिले प्राणी-पदार्थों में लोभ करना मेरा भ्रम है॥८॥ मनु आदि स्मृति एवं धर्मशास्त्र तो बने हैं जिनमें मनुष्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य के अच्छे विधान भी हैं, परन्तु जब मनुष्य उन्हें स्वयं नहीं मानता है तो

शास्त्र क्या करेंगे! मनुष्य तो ऐसा विवेकहीन हो गया है कि वह पेड़ की शीतल छाया में जाकर भी जलकर राख होना ही अपना कर्तव्य समझता है, अर्थात शास्त्रों का पक्षधर होकर भी पतित बना रहता है॥९॥ मनुष्य अपनी गलत बुद्धि के कारण संसार में भटकता है और उसे समाधान नहीं सूझता॥१०॥

सब विवेकहीन होकर भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। मैं कहता हूं कि आंख मूंदकर मानना छोड़ो, हर बात में विचार कर ग्रहण-त्याग करो, परन्तु मेरी इन बातों को लोग नहीं मानते, तो इनका भ्रमजाल कैसे छूटेगा!॥६५॥

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणी दहकती हुई आग है। उसमें किसी कूड़े-कचड़े का बचा रह जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥" मानव का अपना मौलिक गुण विचार है। 'मननात् मनुष्यः' मनन एवं विचार करने के कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। मनुष्य में यदि विचार न हो, तो वह पशु से भी गया-बीता है। प्रकृति की तरफ से ही मनुष्य का हृदय विचार-शक्ति-सम्पन्न बना है। परन्तु दुर्भाग्य है कि मनुष्य अपनी विचार-शक्ति की अवहेलना करता है।

श्रद्धा का मूल्य कम नहीं है। सत्य बात पर भी यदि हम श्रद्धा नहीं रखते, तो उससे हम लाभ नहीं उठा पाते। परन्तु विचार को छोड़कर श्रद्धा केवल भावुकता है जिसको कड़ी भाषा में कहें तो मूढ़ता है। लोग श्रद्धा का गलत अर्थ लगाते हैं। वे समझते हैं कि परम्परा की हर बात आंख मूंदकर मान लेना श्रद्धा है, परन्तु यह धारणा श्रद्धा को न समझने का फल है। जैसा कि पीछे बता भी आये हैं कि श्रद्धा में दो पद हैं 'श्रत्' और 'धा।' 'श्रत' का अर्थ है सत्य तथा 'धा' का अर्थ है धारण करना। तात्पर्य हुआ सत्य को धारण करना। मन की जो शक्ति सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है। परन्तु हमने तो अन्धविश्वास को श्रद्धा नाम दिया है।

लोगों को सत्यासत्य, जड़-चेतन एवं कर्तव्याकर्तव्य पर विचार करने की राय दी जाय तो वे उससे कतराते हैं। वे अपने मन की सुविधा के अनुसार किसी परम्परा-पोषित सड़ी-गली बात को मानकर तथा उसकी पूंछ पकड़कर चलना चाहते हैं। परन्तु यह निश्चय समझ लो कि जिसे बौद्धिक, चारित्रिक एवं आत्मिक संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा है उसे विचारवान बनना चाहिए और यह अभिलाषा सबको है।

"तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥" सद्गुरु करुणा-विगलित होकर कहते हैं कि हे जीव! तू विचार को छोड़कर और जहां-तहां खाई-खंदक में गिरकर बहुत दुख पाया। काम, मोह, लोभ, विषयासक्ति, भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र, शकुन-अपशकुन, भावी कल्पित इष्ट-अनिष्ट आदि के भ्रमजाल में तू इसीलिए भटकता है, क्योंकि तू विचार का प्रयोग नहीं करता है। यह तो तेरा अविचार ही है कि तू अपने स्वरूप को नहीं समझता है। इसलिए दर-दर भटकता है। यदि मछली को पानी से अलग कर दिया जाय तो उसको विश्रांति कैसे मिलेगी! यदि जीव आत्म-विचार से अलग रहता है, तो वह सच्चे अर्थों में सुखी कैसे हो सकता है! जो अपनी आत्मा को

नहीं समझता और अपनी आत्मा में सन्तुष्ट नहीं होता, वह बाहर से सम्पन्न होकर भी सुखी नहीं हो सकता।

चारों तरफ स्वच्छ, शीतल एवं गहरा जलाशय भरा हो। उसके बीच में भी रहकर चातक स्वाति-बूंद की आशा करता है और स्वाति नक्षत्र के न बरसने से वह उदास होकर उड़ जाता है। यही भूल जीव की है। स्वरूपविचार-आत्मविचार परम शांति का सागर है और वह उनके निकट ही है। निकट कहना भी कथन का एक तरीका मात्र है। यह चेतनदेव स्वयं ही तो सुख-सागर है। परन्तु विचार-विवेक के अभाव में जीव मलिन विषयों के चिंतन एवं क्रिया में लगा रहता है या तो अपने आप से दूर किसी देव या ईश्वर की कल्पना में डूबा रहता है। चातक को तो स्वाति-बूंद मिल भी सकती है; परन्तु अपनी आत्मा से अलग माना हुआ परमात्मा कभी नहीं मिल सकता; क्योंकि वह केवल मन की कल्पना है। जो व्यक्ति अपने स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति को छोड़कर बाहर से कुछ भी पाने के लिए नाना कर्मकांडों एवं वेष का स्वांग बनाता है, वह मानो भवसागर की ही आशा करता है। स्थूल विषय-भोग भवसागर है; परन्तु मन की कल्पनाएं उससे गहरा भवसागर है।

"राम नाम इहै निजु सारा" इस अर्धाली का अर्थ यह नहीं है कि राम का नाम जपना ही अपना सारतत्त्व है। कबीर साहेब की शैली तथा उनका सिद्धांत समझ लेने पर यह भ्रम नहीं हो सकता। वे बीजक में जहां कहीं भी 'राम-नाम' या 'राम' कहकर विधेयात्मक ढंग से उसे स्वीकारते हैं, वहां उनका अभिप्राय अन्तरात्मा के लिए ही है। अतएव यहां का अभिप्राय यही है कि राम नाम से अभिहित स्वस्वरूप चेतन ही अपना सार है। 'निज-सार' अर्थात अपनी वास्तविकता अपना चेतन-स्वरूप है। उसी को राम शब्द से भी जाना जाता है। नाम तो सारे ही काल्पनिक होते हैं, किन्तु लक्ष्य है व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी अन्तरात्मा रूपी राम ही तुम्हारा सार स्वरूप है। वही तुम्हारे साथ है। अपनी आत्मा अपने से कभी अलग नहीं होती। अलग होने की गुंजाइश ही नहीं है; क्योंकि अपने आप से अपने आप को कोई अलग नहीं कर सकता। परन्तु अपनी आत्मा से अलग की सारी चीजें क्षण-क्षण छूटती जाती हैं और एक दिन सारा संसार छूट जाता है। इसलिए संसार अपनी जगह पर प्रवाह रूप नित्य होते हुए भी हमारे लिए झूठा ही है, क्योंकि यह हमसे एक दिन सर्वथा दूर हो जाता है—"औरों झूठ सकल संसारा।"

"हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा।।" यह पंक्ति बहुत बड़ी क्रांति की भाषा में है। यह एकदम चौंका देने वाली पंक्ति है। सद्गुरु कहते हैं कि हरि ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। हरि तो आराध्य होता है, फिर वह जलने वाली अग्नि-शिखा कैसे? सद्गुरु कहते हैं यदि तुम अपनी आत्मा से अलग हरि की कल्पना करते हो, तो वह तुम्हारे मन का एक कल्पित नक्शा होता है और तुम जीवन भर के लिए उस नक्शे में उलझ जाते हो। अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वाला स्वरूप-शोधन नहीं कर सकता। वह तो तथाकथित ईश्वर के सगुण या निर्गुण रूपों की कल्पना कर उन्हीं में पतिंगे वत विमोहित रहता है।

पतिंगे को अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वह अग्नि-शिखा में समर्पित होकर जल मरता है। इसी प्रकार अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वालों को अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। वे अपने मन से बनाये कल्पित रूप पर अपने आप को न्योछावर कर विवेक-शून्य हो जाते हैं।

तुम मन से जो कुछ सोचते हो चाहे जड़ विषय और चाहे ईश्वर—सब वासना ही है। वासनाओं को छोड़ देने से चेतन-स्वरूप मात्र रह जाता है और अपने चेतन-स्वरूप से अलग जहां तक पसारा है सब विषय है और वासना है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम जो मन से खड़ा किये गये ईश्वर में समर्पित होते हो, वह वासना में ही समर्पित होते हो 'यम घर कियहु जीव को संगा'। तुम अपने स्वरूप के भाव को छोड़कर जहां कहीं भी भटकोगे, अपना पतन करोगे।

"किंचित है सपने निधि पाई······" संसार के धन-ऐश्वर्य तुच्छ हैं। वे स्वप्न में मिले हुए के समान हैं। अतः सांसारिक प्राणी-पदार्थों की उपलब्धि में फूलना घोर बालकपन है। संसार के प्राणी-पदार्थों को तुम बटोरकर सुरक्षित नहीं रख सकते हो। तुम्हारा सबसे नजदीकी दिखने वाला शरीर जब क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन सर्वथा छूट जाएगा, तब बाहर के प्राणी-पदार्थों के प्रति लोभ-मोह करना भ्रम नहीं तो क्या है!

"सुमृति कीन्ह आपु नहिं माना" व्यक्ति और समाज के बरतने के लिए मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति, नारद स्मृति आदि बहुत-सारी स्मृतियां बनीं। ये हिन्दू-समाज के कानूनों की डायरियां हैं। इनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर मनुष्यों के बीच में उठाई जाने वाली घृणा की दीवारें बहुत हैं; परन्तु समाज के काम लायक बहुत सारी चीजें भी हैं; परन्तु आदमी स्वयं जब उन्हें नहीं मानता है, तब वे धर्मशास्त्र क्या करेंगे!

प्रश्न हो सकता है कि स्मृति नाम के तो प्रायः सारे ग्रन्थ मानवताविरोधी हैं। उनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के लिए क्रूरता का प्रदर्शन है। फिर कबीर साहेब ने उनसे समाज को शिक्षा लेने की प्रेरणा क्यों दी? उत्तर में समझना चाहिए कि कबीर साहेब कोई कुंठाग्रस्त आदमी नहीं थे कि किसी की किताब में कुछ बुराई देखकर उनकी अच्छाइयों को न लेने की राय दें। व्यक्ति पत्थर में से सोना, भूसी में से चावल तथा मिट्टी में से पानी निकाल लेता है, उसी प्रकार विचारवान सभी शास्त्रों में से ग्रहण करने की बातों को ले लेते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि स्मृति आदि धर्मग्रन्थ बनाये गये, परन्तु उनके अनुयायी स्वयं उनके कल्याणकारी कानूनों पर नहीं चलते। बस, इतनी अक्ल रही है कि धर्मशास्त्र रूपी पेड़ की शीतल छाया के नीचे रहते-रहते दुष्कर्मों की आग में जलकर राख हो गये। तात्पर्य है कि अहंकार तो शास्त्र-पक्षधरता का है, परन्तु आचरण का घोर पतन है।

"जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥" मनुष्य नासमझी से संसार में भटकता है। जीवन में भटकाव क्यों है? क्योंकि अच्छी समझ का अभाव है। जो विचार करता है उसी की समझ अच्छी रहती है और अच्छी समझ रहने से मनुष्य विचार करता है। सद्गुरु विचार और समझ पर ज्यादा जोर देते हैं। अच्छे और बुरे मनुष्य में कोई दूसरा अन्तर तो नहीं रहता। सभी के शरीर में वही तत्त्व लगे हैं, सभी के भीतर

एक ही समान जान है। यदि अन्तर है तो केवल समझ का।[1] इसी में 'मनुष्य मनुष्य अन्तर। कोई हीरा कोई कंकर' हो जाते हैं।

विवेकहीन आदमी संसार में भटकता है। भटकने का मतलब है गलत आचरण कर ठोकर खाता है। "ते नहिं सूझे वार न पारा" ऐसे लोगों को 'वारपार' नहीं सूझता। अर्थात उनको अपने जीवन में कोई समाधान का रास्ता नहीं मिलता। जो पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक समाधान नहीं कर पाता वह जीवन में हारा हुआ आदमी माना जाता है। त्याग, प्रेम और सेवा के बल पर पारिवारिक तथा सामाजिक समाधान होता है; संतोष से मानसिक समाधान; तत्त्व चिंतन से बौद्धिक समाधान तथा स्वरूप-विवेक से आध्यात्मिक समाधान होता है। और इन सबके मूल में अच्छी समझदारी है। दुर्मति-जीव तो भटकता है।

"अन्ध भया सब डोलै, कोइ न करै विचार।" अर्थात सब जीव विषय-वासनाओं तथा जड़ परम्पराओं की मूढ़ता में अन्धे बने भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। इस रमैनी की प्रथम पंक्ति में ही यह प्रेरणा दी गयी है कि मनुष्य को विचारशील होना चाहिए। जब आदमी विचार करता है, तत्त्व-चिंतन करता है, तब सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। अंधविश्वास, अज्ञान, उलझन, अशांति सबके मूल में अविचार है। विचार आने पर ये सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रमजार॥" मैं विचार का रास्ता बताता हूं और मनुष्य केवल मोह तथा परम्परा के अनुसार चलना चाहता है। परम्परा की अच्छी बातें कल्याणकारी हैं। यह बात नहीं कि परम्परा में सब बुरी ही बातें होती हैं। परम्परा से तो मनुष्य के लिए बहुत कल्याणकारी बातें मिलती हैं; परन्तु उनसे अनर्थ की बातें भी मिल सकती हैं। इसलिए उस पर भी विचार करो कि परम्परा की कौन-सी बात वर्तमान में उपयुक्त है और कौन-सी युगबाह्य है, या परम्परा में कौन-सी बात निरर्थक, अज्ञानपूर्ण तथा त्याज्य है।

मैं कौन हूं, मेरा क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरी स्थिति क्या है? इन बातों पर विचार करना और सारे बन्धनों से अपने आपको छुड़ा लेना, यही जीवन की सफलता है।

जीवन में सन्मार्ग और परोपकार की महत्ता

रमैनी–६६

सोई हित बन्धू मोहि भावै। जात कुमारग मारग लावै॥ १ ॥
सो सयान मारग रहि जाई। करै खोज कबहूँ न भुलाई॥ २ ॥
सो झूठा जो सुत को तजई। गुरु की दया राम ते भजई॥ ३ ॥
किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥ ४ ॥

---

१. फेर परा नहिं तत्व में, नहि इंद्रिन के माहिं।
फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवार्यो नाहिं॥ पंचग्रन्थी॥

साखी—दिया न खता न किया पयाना, मंदिर भया उजार।
मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार।। ६६ ।।

शब्दार्थ—सयान = श्रेष्ठ, समझदार। सुत = ज्ञान, ज्ञान जीव से पैदा होने से उसे पुत्र कहा। ते = वे, वही। तेज = माया की रोशनी, चमकदमक। मन्दिर = शरीर, भवन। उजार = ध्वस्त, सूनसान।

भावार्थ—वही मित्र है, वही बन्धु है और वही मुझे प्रिय लगता है, जो गलत रास्ते पर जाने वालों को अच्छे रास्ते पर लाने का प्रयास करता है।।१।। और वह भी समझदार है जो किसी की अच्छी सलाह मानकर अच्छे मार्ग में चलने का निश्चय करता तथा उसमें चलता है। वह केवल दूसरों के आदेशों का पालन नहीं करता, किन्तु शंका उपस्थित होने पर स्वयं भी सत्य की खोज करता है और विवेक से सत्पथ का निर्धारण कर उस पर चलता है, और अपने सत्पथ को कभी नहीं भूलता है।।२।। जो व्यक्ति विवेकज्ञान छोड़ देता है वह अपने को झुठलाता है, परन्तु वही व्यक्ति जब गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश को समझ जाता है तो स्वरूप-राम को पहचानता और उसका भजन करता है।।३।। आदमी तुच्छ माया की चकाचौंध में भूल जाता है, और धन, पुत्र आदि को देखकर उनका अभिमान करने लगता है।।४।।

सांसारिकता में डूबे हुए कितने लोग ऐसे सूम तथा मक्खीचूस होते हैं कि वे न तो दूसरों को देते हैं, न स्वयं उसका उपभोग करते हैं और चार दिनों के बाद संसार से चल बसते हैं, और उनका घर-मकान वीरान या ध्वस्त हो जाता है। मरने वाले तो चले ही जाते हैं, जो बचे रहते हैं वे उनके छोड़े हुए धन का उपभोग करते हैं। अथवा मानो वे ही संसार से मर गये जिन्होंने धन और जीवन का सदुपयोग नहीं किया और जिन्होंने इनका सदुपयोग किया और इन्हें स्व तथा पर के कल्याण में लगाया वे मानो मरने पर भी जीवित ही हैं।।६६।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर आत्मीय भावना से 'जित देखो तित प्राण हमारो'[1] के अनुसार जीव मात्र को अपने प्राण-प्रिय मानते हैं, परन्तु मनुष्यों में वे सर्वाधिक उसे अच्छा मानते हैं जो स्वयं सत्पथ पर चलता है और दूसरों को सत्पथ पर लाने की कोशिश करता है। मानव-समाज के लिए यह बहुत बड़ा काम है। संसार में डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, क्लर्क, अफसर, राजनेता सबकी आवश्यकता है, परंतु इन सबकी अपेक्षा ऐसे लोगों की कहीं अधिक आवश्यकता है जो स्वयं पवित्र आचरण एवं विश्वबंधुत्व की भावना से चलते हैं और दूसरों को उस रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं। "सोई हित बन्धू मोहि भावै" सद्गुरु उसी को अपना मित्र तथा भाई मानते हैं और उसी को सर्वाधिक पसंद करते हैं जो कुपथ पर जाने वालों को सुपथ पर ले आता है। वे उन्हीं को साधो तथा सन्तों के नाम से पुकारते हैं और अपनी वाणियों में 'कहहिं कबीर सुनो भाई साधो' या 'सुनो हो संतो' कहकर संबोधित करते हैं।

---

१. बीजक, साखी ३४१।

मानव-कल्याण तथा मानव-उन्नति के लिए जितने भी काम संसार में होते हैं, वे सब प्रशंसनीय हैं। परन्तु उनमें सर्वाधिक प्रशंसनीय काम भटके हुए मनुष्यों को अच्छे रास्ते पर लाना है। आदमी विज्ञान, भौतिक उन्नति, विद्या, अधिकार, सम्मान आदि सारे ऐश्वर्यों से संपन्न हो जाय, परन्तु यदि वह शराब-कबाब, जुआ, व्यभिचार, अन्य नशा-सेवन, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी, परपीड़न, अधिक संचय, जमाखोरी, इन्द्रिय-लंपटता आदि में चूर है तो वह अपना तो नरकवास कर ही लिया है दूसरों को भी नरक में ठेलता है। व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सारी भौतिक सुविधाओं से संपन्न हो जायं, परन्तु यदि उनमें दुराचरणों का बोलबाला हो, तो क्या भौतिक सुविधाएं उन्हें सुख दे पायेंगी? कुमार्गी आदमी अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप है चाहे वह कितना ही विद्वान, धनवान तथा उच्चपदस्थ हो। अतएव भौतिक उन्नति की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता नैतिक उन्नति की है। कम धन तथा कम सुविधाओं में रहकर भी सदाचारी व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सुखी रहते हैं और दुराचारी तथा विपथगामी व्यक्ति, परिवार, समाज और देश दुखी होकर पतित हो जाते हैं।

जो लोग स्वयं अच्छी समझ रखकर तथा सदाचार में चलकर उन्हीं की ओर समाज को लाने का प्रयत्न करते हैं, उनका मानव-समाज के लिए बड़ा भारी कल्याणकारी योगदान है। ऐसे लोगों को कबीर साहेब साधु तथा सन्त कहते हैं और वे चाहते हैं कि ऐसे लोग संसार में फैलकर उसे सही रास्ता दिखायें और उसका कल्याण करें।

"सो सयान मारग रहि जाई" वह भी सयान है, श्रेष्ठ एवं समझदार है जो सन्तों एवं सज्जनों की अच्छी राय मानकर सत्पथ पर चलने लगता है। संतजन उपदेश तो बहुतों को करते हैं, परन्तु 'बहरे को टेर' की तरह यदि उसे वह न सुनाई दे तो उपदेशक क्या करेगा! उपदेशक के उपदेश तभी फलीभूत होते हैं जब लोग उसे सुनें और मानें। उपदेश करना तो सरल है, किन्तु उसे मानना कठिन है। जो सत्योपदेश सुनकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है, वह धन्य है। कबीर साहेब उसको 'सयान' अर्थात श्रेष्ठ कहते हैं। वे तो अन्यत्र उसको गुरु भी कहते हैं—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं इसका अनुभव है कि जब यह सुनता है कि मेरे उपदेश, प्रवचन एवं पुस्तकों को सुन तथा पढ़कर अमुक-अमुक के ज्ञान तथा आचरण में बड़ा सुधार हुआ है, तब बड़ा सन्तोष मिलता है और उसके प्रति आदर का भाव प्रकट होता है।

"करै खोज कबहूँ न भुलाई।।" कबीर साहेब कहते हैं कि मैं उसको अधिक श्रेष्ठ मानता हूं जो सत्योपदेश सुनकर अपने ज्ञान तथा आचरण में तो सुधार करता ही है, परन्तु वह इससे भी आगे बढ़ता है और नयी खोज भी करता है। किसी गुरु-द्वारा प्राप्त उपदेश के बाद भी यदि शंकाएं शेष रह जायं, तो वह चुप बैठा नहीं रहता है कि एक गुरु ने जितना बता दिया है उतने ही में रहना चाहिए और दूसरों के पास ज्ञान के लिए जायेंगे, तो गुरुद्रोह हो जायगा। वह तो खोजी होता है। जहां से सार-सत्य मिले, ग्रहण कर लेता है। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु करने का तात्पर्य बहुत जगहों से सार-ग्रहण करना ही है। उन्होंने—"पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर,

समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरन, मछली, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुआंरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गीकीट[1] से शिक्षा ली थी।'' उन्होंने पृथ्वी से धैर्य और क्षमा, वायु से स्वच्छंदता, आकाश से निर्लिप्तता, जल से कोमलता, स्निग्धता तथा शीतलता, अग्नि से प्रकाश और शुद्धता, चन्द्रमा से सौम्यता, सूर्य से आत्मज्ञान की अखंडता की शिक्षा ली। उन्होंने एक कपोत-कपोती के आसक्तिजनित दुखों से गृहस्थी की दुखरूपता, अजगर से निश्चिंतता, समुद्र से गंभीरता, पतिंगे से मोहजनित दयनीयता, भौंरा या मधुमक्खी से सारग्राहिता और अधिक संग्रह से विध्वंसता, घास से ढके हुए गड्ढे पर रखी हुई कागज की हथिनी के स्पर्श से गड्ढे में गिरे हुए हाथी से कामजनित मूढ़ता, मधु काढ़ने वाले से संचय की निरर्थकता, संगीत-स्वर के विमोहन में बंधे हिरन एवं विषय गीत से बंधनरूपता, चारे के लोभ से बंसी में फंसी मछली से स्वादासक्ति की दुखरूपता, पर-पुरुषों की आशा करने वाली पिंगला वेश्या से आशा की पीड़ारूपता की शिक्षा ली[2] और उन्होंने कुरर पक्षी, जो मांस का टुकड़ा मुख में लिये रहने के कारण बाज पक्षियों-द्वारा मारा जा रहा था, और उसे छोड़ देने पर सुखी हो गया, उसके त्याग से सुख प्राप्ति की शिक्षा ग्रहण की। दत्तात्रेय जी ने बालकों से सरलता की शिक्षा ली और उस नारी से उन्होंने असंगता में निर्विघ्नता की शिक्षा ली जिसके दो चूड़ी तक भी हाथ में रखने से आवाज होती थी। उन्होंने उस बाण बनाने वाले से एकाग्रता की शिक्षा ली जिसके पास से सेना गुजर गयी और वह नहीं जान पाया। उन्होंने सांप से बे-घर के रहने की, मकड़ी से श्रम की तथा भृङ्गीकीट से लक्ष्य की उपलब्धि में सफलता की शिक्षा ली।

उक्त बातें खोज के उदाहरण हैं। खोज से विज्ञान ने कितना कमाल कर दिखाया है ! खोज निरंतर नये आयाम खोलती है। खोज से तत्संबंधी पथ सरल होता जाता है। खोजी आदमी पुराने तथा नये सभी असत्यों से घृणा करता है तथा पुराने तथा नये सभी सत्यों से प्रेम करता है। खोजी जड़ रूढ़ि को नहीं पकड़ता। वह सांप्रदायिक नहीं होता। खोजी सदैव सत्य का समादर करता है। उसका रास्ता आग्रहविहीन, सरल तथा विश्वजनीन होता है। सद्गुरु कहते हैं ''करै खोज कबहूँ न भुलाई'' वह सदैव सत्य की खोज करता है, इसलिए वह कभी भूलता नहीं। उसे कोई भटका नहीं सकता। वह अंधपरंपरा की पूंछ पकड़ कर बैठता नहीं।

---

१. पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः।
मधुहा हिरणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत॥ *(भागवत ११/७/३३-३४)*

२. आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ भागवत ११/८/४४॥
अर्थात—आशा ही महान दुख है तथा नैराश्य होना ही महान सुख है। देखो, पिंगला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तब वह सुख से सो सकी।

"सो झूठा जो सुत को तजई" यहां 'सुत' का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान जीव का पुत्र है। "घर का सुत[1] जो होय अयाना" यहां सुत का अर्थ है मन तथा "तैं सुत[2] मान हमारी सेवा" यहां 'सुत' का अर्थ शिष्य है। एक शब्द का भिन्न स्थलों पर भिन्न अर्थ हो जाता है। गीता में आत्मा का अर्थ भिन्न-भिन्न जगहों पर मन, इन्द्रिय, देह, जीव—सब है।

सद्गुरु कहते हैं कि वह मिथ्यावादी है जो अपने विवेकज्ञान का तिरस्कार करता है। जो अपनी आत्मा में उठते हुए ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपने आपको ही झुठला रहा है। अधिकतम लोग भावुकता-वश अपने विवेकज्ञान एवं अंतर्ज्ञान पर ध्यान ही नहीं देते। ऐसे लोगों को न जीवन में निर्भ्रांत बोध हो सकता है और न शांति मिल सकती है। भक्ति का महत्त्व है, परन्तु भक्ति के जोश में अंतर्ज्ञान का होश ही खो देना जीवन में गहरी भूल तथा घाटा है। अंतर्ज्ञान एवं विवेकज्ञान के बिना हृदय प्रकाशित नहीं हो सकता और न जीवन में चिरंतन शांति आ सकती है।

"गुरु की दया राम ते भजई" वही व्यक्ति गुरु की कृपा से राम का भजन करता है। चौपाई की प्रथम अर्धाली में है कि वह झूठा है जो सुत को, अंतर्ज्ञान को तजता है। चौपाई की दूसरी अर्धाली में बताया गया कि वही व्यक्ति जब गुरु की कृपा की उपलब्धि कर लेता है तब वह राम का भजन करता है। "गुरु की दया राम ते भजई" यहां 'ते' का 'वे' या वही सर्वनाम के अर्थ में प्रयोग है। जो व्यक्ति गुरु-ज्ञान से वंचित होने से अपने अंतर्ज्ञान की अवहेलना कर रहा था, 'वही' गुरु-ज्ञान पाकर राम की अर्थात अपने चेतन स्वरूप की पहचान कर लेता है और उसके भजन में लग जाता है। भजन का अर्थ सेवा, स्मरण, स्वत्व तथा विभाजन है। अपने चेतन-राम को वासनाओं से मुक्त कर लेना ही मानो उसकी बहुत बड़ी सेवा है, और यही सर्वोपरि राम-भजन है। स्वस्वरूप का निरंतर स्मरण राम-भजन है। अपने 'स्वत्व' में सब समय प्रतिष्ठित रहना राम-भजन है और अपना 'स्वत्व' अपनी आत्मा है। 'विभाजन' भजन है, अर्थात अपने चेतन स्वरूप को जड़ से अलग कर लेना राम-भजन है।

राम-भजन है जड़ासक्ति से सर्वथा मुक्त होकर निज स्वरूप चेतन में निरन्तर रमण। जो सब समय स्वरूपाकारवृत्ति में लवलीन है, आत्म-रत, आत्म-लीन एवं आत्मस्थ है, वही मानो राम-भजन कर रहा है। यह गुरुकृपा से स्वरूपबोध पाकर ही संभव है।

"किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना।।" धन, भवन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई आदि देखकर मनुष्य भ्रम-वश उसका अभिमान करने लगता है। माया की तुच्छ और क्षणिक रोशनी में भूल जाता है। यह मनुष्य का घोर प्रमाद है। बादलों की शोभा तथा बिजली की चमक के समान इन मायावी पदार्थों के आते-जाते देरी नहीं लगती। इनका अहंकार करना तो अत्यन्त भोलापन है। 'चार दिन की चांदनी, फेरि अंधेरी रात' वाली बात है।

---

१. बीजक, रमैनी २६।

२ बीजक, रमैनी ५८।

"दिया न खता न किया पयाना, मन्दिर भया उजार।" दानी, उदार और कंजूस—मनुष्य के तीन प्रकार होते हैं। दानी वह है जो समय पड़ने पर स्वयं न खा कर भी दूसरे को खिलाये, उदार वह है जो स्वयं भी खाये तथा दूसरे को भी खिलाये और कंजूस वह है जो न स्वयं खाये और न दूसरे को खिलाये। सद्गुरु यहां कंजूसों के लिए कह रहे हैं कि वे न स्वयं ठीक से खाते हैं न दूसरों को खिलाते हैं। बस, थोड़े दिनों में संसार से कूच कर जाते हैं और उनका भवन उजाड़ हो जाता है। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा—

सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग।।

यह दशा दूसरों की देखते हैं तो भी जो लोग मौजूद हैं उनकी आंखें नहीं खुलतीं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना तथा अपनों का निर्वाह तो करे ही, दूसरों की सेवा में भी लगाये। जीवन और धन उसी के सफल हैं जो उन्हें यथाशक्ति दूसरों की सेवा में लगाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने दान के विषय में बड़े रोचक वाक्य कहे हैं—"श्रद्धा से दो, यदि श्रद्धा नहीं है तो अश्रद्धा से ही सही, परन्तु दो, धन बढ़ा है इसलिए दो, धन ज्यादा नहीं है तो भी लज्जा से दो, भय से दो और विवेक से दो अथवा कह दिये हो तो दो।"[१] धन का उत्तम उपयोग दान है, मध्यम उपयोग भोग है, अन्यथा उसका अधम उपयोग नाश तो रखा-रखाया है।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार।।" धन संचय करने वाले मर जाते हैं। पीछे वाले, जो कुछ दिनों के लिए बचे रहते हैं, उसे उड़ाते हैं। पूर्वजों के संचित धन पीछे वालों-द्वारा प्रायः उड़ाये ही जाते हैं। इसीलिए नीतिज्ञों ने कहा है—"पूत सपूत तो का धन संचय। पूत कुपूत तो का धन संचय।।" अर्थात यदि पुत्र समझदार है तो उसके लिए धन संचय करने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं कमाकर खायेगा और पुत्र बे-समझ है तो उसके लिए भी धन संचय करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह शराब-कबाब आदि दुर्व्यसनों में उसे उड़ा देगा।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार।।" का दूसरा अभिप्राय भी हो सकता है कि जो जीवन और धन को अपने और दूसरे के कल्याण में नहीं लगाते, वे जीते हुए ही मानो मरे हुए हैं और मरने पर तो वे मर ही जाते हैं। पीछे से उनका कोई भी नाम लेने वाला नहीं रहता। लोग उनको दफनाने या जलाने के साथ उनकी याद को भी दफना या जला देते हैं। परन्तु जो लोग अपने जीवन तथा धन को अपने और दूसरों के कल्याण में लगाते हैं, वे जीवित अवस्था में तो जीते ही हैं, शरीर से मरने पर भी मानो जीते हैं। उनकी याद लोगों के दिलों में रहती है तथा उनका नाम लोगों की जुबानों पर रहता है। और वे स्वयं लोक-परलोक में सुख के भागी होते हैं।

---

१. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।
(तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली १, अनुवाक ११)

भक्ति क्या है?

रमैनी—६७

देह हलाय भक्ति नहिं होई। स्वांग धरे नर बहु विधि जोई॥ १ ॥
धींगी धींगा भलो न माना। जो काहू मोहि हृदया जाना॥ २ ॥
मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥ ३ ॥
ते दुख पइहैं ई संसारा। जो चेतहु तो होय उबारा॥ ४ ॥
जो गुरु किंचित निंदा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥ ५ ॥

साखी—लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि भटकि दुख पाव।
कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥ ६७ ॥

शब्दार्थ—देह हलाय = नाचना-कूदना। धींगी धींगा = मन्मती व्यवहार। मोहिं = गुरु तत्त्व, स्वस्वरूप। नीके भाव = अच्छा लगता है।

भावार्थ—बहुत प्रकार-से वेष बनाकर, यहां तक कि पुरुष होकर भी स्त्री का स्वांग रचकर और अपने आप को तथाकथित भगवान की प्रेयसी बताकर जो उनके द्वारा नाचने-कूदने का तमाशा किया जाता है, यह भक्ति नहीं है॥१॥ जो लोग गुरुतत्त्व या आत्मतत्त्व ठीक से समझते हैं, वे इस मन्मती व्यवहार को अच्छा नहीं मानते॥२॥ जिनके मुख में तो चेतन स्वरूप बोधक राम नाम है परंतु हृदय में भौतिक शरीर एवं दृश्य-भास को ही अपना लक्ष्य मान बैठे हैं, वे स्वप्न में भी गुरुतत्त्व तथा स्व-स्वरूप को नहीं समझ सकते॥३॥ वे स्वस्वरूप के ज्ञान तथा स्थिति से दूर पड़े जड़ भास-अध्यास में ही रमने वाले जीव इस संसार में दुख पायेंगे। हे मानव! यदि तू सावधान हो जाता है तो तेरा उद्धार हो जायेगा॥४॥ जो व्यक्ति जड़ विषय एवं मन के भास-अध्यास में आसक्त होकर गुरु की, गुरुबोध एवं स्वरूपबोध की निंदा करता है, वह स्थूल बुद्धि वाला जीव कर्माध्यासवश शूकर-कूकर आदि नाना योनियों में भटकता रहेगा॥५॥

वह चौरासी लाख योनियों में भटक-भटककर दुख पायेगा। सद्गुरु कहते हैं, जो गुरु-भक्ति कर सत्संग-द्वारा निजस्वरूप आत्माराम को ठीक से समझकर उसमें स्थित होता है, वह मुझे प्यारा लगता है॥६७॥

व्याख्या—"देह हलाय भक्ति नहिं होई" पुराकाल से ही भक्ति के नाम पर बड़ा-बड़ा प्रपंच होता रहा है। देश के बड़े-बड़े राज-पुरुषों को पहले भगवान बनाया गया। उसके बाद उनको रसिया बनाया गया। फिर तथाकथित भक्त लोग उनकी पत्नी बन गये और लल्ला-लल्ली बनकर मन्दिरों एवं संगतों में नाचने लगे। इसी पर कबीर साहेब का व्यंग्य है "कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी"[1] ये लोग पुरुष जन्म को धारण कर भी नारी बन रहे हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह स्वांग धारण करना भक्ति नहीं है। यह तो धींगामस्ती है। भक्ति के नाम पर एक उन्माद है।

---

१. बीजक, शब्द ६।

भक्ति का तो मुख्य शब्दार्थ है 'अलग करना'[१], और उसका भावार्थ है विवेक ज्ञान एवं परख-द्वारा जड़ प्रकृति से अपने चेतन-स्वरूप को पृथक करना। अपने चेतन-स्वरूप को सारे जड़ भासों से अलग कर लेना, अपनी असंगता के बोध में स्थित हो जाना, यही भक्ति है। यह ठीक है कि इस उच्चतम स्थिति तक पहुंचने के लिए विवेक-वैराग्य संपन्न सद्गुरु एवं सन्तों के निर्देश, सत्संग और आध्यात्मिक उच्च आदर्श की आवश्यकता है। पहले तो हमें ज्ञान चाहिए जो विवेक-वैराग्य संपन्न सन्तों एवं सद्गुरु से मिलेगा। दूसरी बात हमारे सामने ऐसा उच्च आदर्श चाहिए जिससे हम प्रभावित होकर स्वरूप-ज्ञान-पथ पर चल सकें। ज्ञान की बातें कहने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो उनके अनुसार चलता हो, वह कल्याणार्थियों के लिए उच्चादर्श है। काम-क्रोध से दूर रहना चाहिए—यह कोई भी कह सकता है, परन्तु जो सचमुच काम-क्रोध से दूर है, वह साधकों के लिए प्रकाशस्तंभ है, उपासनीय है। भक्ति का दूसरा अर्थ यही है कि हम ऐसे महापुरुषों के प्रति अनुराग रखें।

इस प्रकार भक्ति का दूसरा अर्थ मन की 'कोमलता' है। वह उच्चज्ञान एवं आचरण संपन्न सन्तों एवं सद्गुरु के प्रति रहेगी ही, किन्तु वह साधक का स्वभाव बन जाने से सबके लिए रहेगी। भक्ति-भाव वाला व्यक्ति सारी सृष्टि के सामने विनम्रभावना वाला होता है। फिर वह विश्व के सभी पवित्रात्माओं तथा सन्तों के प्रति विनम्र होता है इसका कहना ही क्या!

सबका अभिप्राय यह है कि मन स्वभावतः कोमल हो। सन्त-गुरु के प्रति अनुराग एवं समर्पण-भावना हो। उनसे स्वरूपबोध का निर्देश लेकर विवेक ज्ञान-द्वारा अपने चेतन-स्वरूप को सारी जड़ प्रकृति से अलग समझकर अपने असंगत्व में निमग्न हो जाना—भक्ति है। अपने आप को सारे दृश्यों से सर्वथा अलग कर लेना ही भक्ति है।

"जो काहू मोहि हृदया जाना" यहां 'मोहि' का अर्थ इस पंक्ति के कहने वाले कबीर साहेब का व्यक्तित्व मात्र न समझ लेना चाहिए। 'मोहि' के यहां दो अर्थ हैं एक 'गुरु' तथा दूसरा व्यक्ति की अपनी 'आत्मा'। गुरु केवल कबीर साहेब नहीं, किन्तु गुरुपद में स्थित जो कोई जहां भी हों, वे सब गुरु हैं। 'मोहि' के दूसरे अर्थ में समझना चाहिए कि प्रथम पुरुष के रूप में 'मैं-मोहि' कहने वाली सबकी अपनी-अपनी आत्मा है, चेतन है एवं स्वस्वरूप पारख है। अंततः स्व-स्वरूप को ही गुरुपद कहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जो अपने हृदय में मेरे उपदेश को समझता है, कि गुरु-सन्तों के प्रति उपासना रखते हुए उनके निर्देश लेकर अपने चेतन-स्वरूप को जड़दृश्यों से अलग कर लेना ही भक्ति है, वह नाचने-कूदने आदि धींगा-मस्ती को अच्छा नहीं समझता। वह तो विनम्रतापूर्वक गुरु-सन्तों की शरण में जाता है। उनसे बोध प्राप्त करता है और अपने स्वरूप को समझकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास करता है।

---

१. भक्तिः (स्त्री) [भज् + क्तिन्] वियोजन्, पृथक्करण, विभाजन।

(वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश)

"मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥" जो लोग मुख से तो राम-राम कहते हैं और हृदय में राम का अर्थ किसी व्यक्ति विशेष के मुख, ग्रीवा, छाती, हाथ, पैर आदि की सुन्दरता समझते हैं, क्या वे राम को समझ सकते हैं? हम भूल-वश किसी देहधारी को परमात्मा मान लें, उसके अंगों की सुन्दरता के वर्णन में प्रशंसा के पुल बांध दें, तो इससे क्या होगा? जड़ विकारी भास-अध्यास में ही आसक्ति! किसी देहधारी के शरीर के अंगों की सुन्दरता उसकी जवानी के दस-पांच वर्षों की चमक-दमक मात्र है। ऐसे पुरुष यदि बीत चुके हैं, तो उनके शरीर की हड्डी का एक टुकड़ा भी नहीं मिलेगा और वे यदि अभी जीवित हैं तो उनका सौंदर्य देखकर मन थोड़े समय के लिए प्रफुल्लित हो सकता है। परन्तु यह सब क्षणिक एवं विकारी है। यह कोई राम का वास्तविक स्वरूप समझना नहीं हुआ। राम तो हृदय में रमने वाला चेतन है। उसी को परमात्मा, ब्रह्म आदि चाहे जितने शब्दों से संबोधित कर लो। उससे अलग कोई राम या परमात्मा नहीं। अतएव जो राम या परमात्मा का अर्थ किसी देह को या मन से गढ़ी हुई कल्पना को समझता है, उसके मुख में तो जरूर राम है, परन्तु हृदय में जड़ाध्यास मात्र है। मुख में राम, मन में काम (वासना) केवल दुख का रास्ता है। "सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना" वह स्वप्न में भी अपने राम स्वरूप को नहीं समझ सकता।

"ते दुख पइहैं ई संसारा" उन्हें अध्यात्म तथा राम-भक्ति के नाम पर इस संसार में भटकाव ही मिलता है। वे दर्पण की सुन्दरी[1] पकड़ने के चक्कर में जीवन बिता देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जो चेतहु तो होय उबारा" यदि सावधान होकर समझ लो कि इन्द्रिय तथा मन से प्रतीतमान सब जड़दृश्य है, राम तो अपना साक्षी स्वरूप चेतन है; तो तुम्हारा अवश्य उद्धार हो जायेगा।

"जो गुरु किंचित निंदा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥" निंदा तो किसी की भी करना बुरी बात है। फिर गुरु की निंदा करना तो अपने पतन का पथ अपनाना है। यहां का यह भावुक अर्थ न समझ लेना चाहिए कि गुरु कामी हो तो उसे कृष्ण, क्रोधी हो तो उसे परशुराम, मोही हो तो उसे राम, लोभी हो तो उसे वामन समझ कर उसकी पूजा ही करना चाहिए। गुरु कैसा भी भ्रष्ट हो, परन्तु वह देवों का देव है—ऐसा समझना अपनी आंखें फोड़ लेना है। कामी, क्रोधी, लोभी, मोही एवं राग-द्वेष में लिप्त तो पतित जीव है, वह गुरु काहे का! वास्तव में सत्यज्ञान, स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करना ही गुरु-निंदा करना है। जो सद्ज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी से चलता है वह भला सच्चे गुरु एवं सन्तों की निंदा कैसे करेगा जो परमार्थ पथ के अनुशास्ता हैं! अतएव यहां का अर्थ है कि जो स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करता है, उसे संसार नगर में भटकना है। वह आज ही स्थूल बुद्धि वाला पशु बना है। आगे भी उसे वही बनना है।

---

१. जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥ साखी २७९॥

"लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि-भटकि दुख पाव।" यहां सद्गुरु ने भारतीय धर्ममान्यतानुसार चौरासी लाख योनियों में अज्ञानी जीवों को भटकने की बात कही है। हमारे पूर्वजों ने योनियों की गणना कर चौरासी लाख पक्का कर लिया होगा, तब ऐसा कहना शुरू किया होगा या अनुमान के आधार पर चौरासी लाख कहा होगा? लगता है अनुमान के आधार पर ही कहा गया है। कबीर देव ने यहां परंपरया बात कह दी है। यहां शाब्दिक अर्थ न मानकर लाक्षणिक अर्थ मानना चाहिए—जीव नाना योनियों में भटकता है।

"कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव।।" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे वही प्यारा लगता है जो राम को 'जानता' है। संसार में राम को मानने की बात का बड़ा हो-हल्ला है। लोग कहते हैं "हम राम को मानते हैं। अमुक व्यक्ति या अमुक मतवाले राम को नहीं मानते; किन्तु हम और हमारा मत राम को मानते हैं।"

सद्गुरु कहते हैं कि आप लोग राम को मानते तो हैं, परन्तु उसे जानते कितने लोग हैं? जाने बिना मानना एक बाल-मनोरंजन है। यह ठीक है कि बच्चे को पढ़ाया गया क माने कबूतर, तो उसे मान लेना चाहिए, तर्क नहीं करना चाहिए। परन्तु व्यक्ति को हम कब तक बच्चा बनाये रखने का प्रयत्न करें। अंततः उसका मानना तभी सफल होगा जब वह उसे ठीक से जान लेगा।

कबीर साहेब ने बीजक में राम को जानने पर बहुत जोर दिया है—"राम नाम जाने बिना, भव बूड़ि मुवा संसार।।"[1]—"राम नाम निजु जानि कै, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।।"[2] "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव।।"[3]—"आपुहि बाउर आपु सयाना, हृदया बसै तेहि राम न जाना।।"[4] इत्यादि।

स्वरूपस्थिति-सुख

रमैनी—६८

तेहि वियोगते भयउ अनाथा। परेउ कुंज बन पावै न पन्था।। १ ।।
वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने।। २ ।।
नटवट विद्या खेलै जो जानै। तेहि गुण को ठाकुर भल मानै।। ३ ।।
उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं।। ४ ।।
भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै।। ५ ।।

साखी—जेकर शर तेहि लागे, सोइ जानेगा पीर।
लागे तो भागे नहीं, सुख सिन्धु निहार कबीर।। ६८ ।।

---

१. बीजक, रमैनी १।
२. रमैनी ३६।
३. रमैनी ६७।
४. रमैनी ४१।

शब्दार्थ—तेहि = राम, अपना स्वरूप। वियोग = विस्मरण। कुंजबन = घना जंगल, खानी-वाणी जाल। नकल = बनावटी। नटवट = नटवत, नट के समान। विद्या = कला। लेखा = गिनती, महत्व, प्रश्न। भलो = अच्छा, सुखद। पोच = बुरा, दुखद। कैसहु कै = जिस किसी प्रकार, हर प्रकार। जन = साधक, ज्ञानी। पूरा पावै = संतोष प्राप्त करता है, स्वरूपस्थिति प्राप्त करता है। शर = बाण, विवेकवृत्ति।

भावार्थ—(पिछली रमैनी की साखी की आखिरी पंक्ति में सद्गुरु ने कहा है "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव।।" इस रमैनी में उसी संदर्भ को लेकर कहते हैं—) उसी अपने स्वरूप राम के विस्मरण से तुम दीन बनकर खानी-वाणी के महान घने जंगल में उलझ गये हो और समाधान का रास्ता नहीं पा रहे हो।।१।। वेद भी अध्यात्मतत्त्व एवं स्वरूपज्ञान की अभिव्यक्ति न कर अधिकतम यज्ञ-याग आदि नकली बातों के वर्णन से भरे हैं। जो वेद-विहित इन यज्ञों के तत्त्व को जानता है कि कैसे-कैसे इनमें हिंसा का विधान है और यज्ञ के फल में पाप कटने, पुत्र, धन, राज्य, स्वर्ग आदि मिलने के झूठे प्रलोभन हैं, इन सब बातों को जो समझता है, वह वेदोपदेश रूप यज्ञों को अच्छा नहीं मानता।।२।। इसी प्रकार हठयोगियों की भी दशा है। वे नट के समान आसन, मुद्रा, भूमि-समाधि, जल-समाधि आदि दिखाने की कलाबाजी खूब जानते हैं। इस गुण को उनके स्वामी लोग बड़ा अच्छा मानते हैं। परन्तु इसमें दुनिया को रिझाकर धन-यश कमाने के सिवा कोई आत्मकल्याण या लोककल्याण नहीं है।।३।। अतएव वैदिक यज्ञ-याग और हठयोगादि से हटकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में ही जीव का कल्याण है। वे ही राम-रूप चेतन सब घटों में खेल रहे हैं। उनमें दूसरे के अस्तित्त्व का कुछ प्रश्न ही नहीं उठता।।४।। जीवन में भले और बुरे दिन तो आते हैं, परन्तु साधक उन्हें हर प्रकार सहता हुआ स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है।।५।।

यह मार ऐसी है कि जिसका छोड़ा हुआ बाण है उसी को लगता है, इसलिए वही उसकी पीड़ा भी जानता है। अर्थात साधक का विवेक-वृत्तिरूपी बाण उसके हृदय को वेधकर तथा उसे संसार से काटकर अलग कर देता है। इस पीड़ा को वह साधक ही जानता है। यहां पीड़ा शब्द उलटवांसी रूप है; क्योंकि यह पीड़ा नहीं चिरंतन सुख है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसकी विवेकवृत्ति स्वरूपस्थिति में लग गयी है उसे चाहिए कि वह जीवनपर्यन्त सावधान होकर उसी में लगा रहे। साधना और त्याग के भय से उससे भागे नहीं, प्रत्युत उसी स्वरूपस्थिति रूपी सुख-सागर में निरंतर निमग्न रहे।।६८।।

व्याख्या—"तेहि वियोग ते भयउ अनाथा" यहां वियोग का अर्थ बिछुड़ना नहीं है; क्योंकि बिछुड़ना दो के संयोग के बाद होता है। जीव स्वरूपतः असंग है। अतएव यहां वियोग का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। यहां वियोग का लाक्षणिक अर्थ है विस्मरण, भूल जाना। जैसे कोई नशा के कारण गले के हार को भूल गया और दुखी हो गया। नशा दूर होने पर गले में पड़े हुए हार की याद आ गयी और वह खुश हो गया। न हार खोया और न मिला। हार तो गले में सब समय मौजूद ही था। केवल नशा के कारण उसका विस्मरण होने से दुख आ गया था और नशा दूर होने पर उसका स्मरण आ जाने से सुख आ गया।

सद्गुरु कहते हैं कि व्यक्ति अपने अविनाशी आत्मा राम के विस्मरण से दीन बन गया है। परम शक्तिसंपन्न अपने चेतन स्वरूप को न पहचानने से व्यक्ति स्वयं को दीन, अनाश्रय और अनाथ मान लिया है। वह पेड़, पानी तथा पत्थरों के सामने अपने मत्था टेकता है। क्या इनसान पेड़-पत्थरों से भी तुच्छ हो गया है। जो स्वयं सुख का सागर है वह स्वरूपज्ञान के अभाव में दुखों में पड़ा बिलबिला रहा है।

"परेउ कुंज बन पावै न पन्था" वह पेड़, पौधे, लता, बौड़ियों से ढके हुए घोर जंगल में उलझ गया है। देह, अवस्था, नाम, रूप, परिवार, मित्र, स्व-जन, पर-जन, राग-द्वेष, हानि-लाभ, देवी-देवता, शास्त्र-परंपरा कितने नाम गिनाये जायं, यह सब मिलकर महाघोर जंगल है। इस जंगल में जीव उलझ गया है। इसमें ऐसा उलझा कि अपने स्वरूप को पहचानने का रास्ता नहीं मिलता। जीव इन्द्रिय-भोगों तथा संसार के राग-द्वेषों में डूबा रहता है और यदि इससे कुछ निकलता है, तो नाना धार्मिक मान्यताओं में उलझकर अपने स्वरूप की पहचान से दूर ही पड़ा रहता है।

"वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने॥" हमारी भारतीय-परंपरा के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। हमारे पूर्वजों-द्वारा दिये गये वे हमारे लिए मूल्यवान धरोहर हैं। उनमें हमारी पूर्व परंपरा के इतिहास, संस्कृति, रीति-रिवाज, मान्यता, कर्मकांड, सामाजिक नियम, भौतिक-मानसिक स्थिति आदि की झलकियां हैं। हम आशा करते हैं कि वेदों को पढ़कर हमें अपने स्वरूपज्ञान का परिचय हो जायेगा और हमारी सारी आध्यात्मिक जिज्ञासाएं शांत हो जायेंगी। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वेद नकली कर्मकांडों के वर्णन में ही व्यस्त हैं। 'वेदो नकल कहै' अर्थात वेद भी प्रायः नकल कहते हैं। नकल का अर्थ है बनावटी। अमुक यज्ञ करने से पुत्र मिलेगा, अमुक यज्ञ करने से राज्य, अमुक यज्ञ करने से विजय, अमुक यज्ञ करने से स्वर्ग आदि मिलेंगे—यह सब बनावटी बातें हैं। यज्ञों के विस्तार का जिन ग्रन्थों में वर्णन है, वहां पढ़ कर देखिए विवेक-बुद्धि से कोई मतलब नहीं। केवल अंधविश्वास। अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र, अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र पढ़कर अग्नि में जौ, घी, मेवे, औषधियां आदि डालकर हवन करने की बात!

प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उन्हीं की प्रार्थना में लिखे गये मन्त्रों से वेद भरे हैं। बीच-बीच में कहीं सत्योपदेश के हीरे-मोती जैसे मन्त्र टंके हैं और अध्यात्म के मन्त्र तो खोजने पर कहीं मिलते हैं, जिनका भाष्यकारों द्वारा प्रायः कर्मकांडपरक अर्थ किये जाने के कारण जिज्ञासु की रही-सही आशा भी धूमिल हो जाती है।

वैदिक यज्ञों में हिंसा का बोलबाला रहा है। बौद्ध और जैन को छोड़कर प्रायः हर पुरानी धर्म-परंपरा में बलि, कुर्बानी आदि के नाम पर पशुहत्याएं होती रही हैं। वैदिक परंपरा की भी यही बात थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६२ वें तथा १६३ वें सूक्तों के ३५ मंत्रों में अश्वमेध यज्ञ के क्रम में वध किये जाने वाले अश्व का जो वर्णन है, देखने योग्य है। यजुर्वेद (२५/३१-४५) में भी यही बात है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में यही वर्णन है कि किस देवता के लिए किस पशु की बलि दी जाय। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "जो समझै सो भलो न माने।" जो इन सब बातों को

समझता है वह इन्हें अच्छा नहीं मानता। सांख्यवादी ईश्वरकृष्ण ने लिखा है—"जैसे सांसारिक भोग जीव के दुख दूर नहीं कर सकते, वैसे वैदिक कर्मकांड भी अशुद्धि, क्षय तथा सातिशय दोषों से लिप्त होने से कल्याणकर नहीं हो सकते।[१] इसके लिए तो जड़-चेतन का विवेक ही ठीक रास्ता है।"[२]

श्रीमद्भागवत में लिखा है—लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है। क्योंकि वेद-वाक्य भी विशेषतः गृहस्थ-जनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।"[३] मुण्डक उपनिषद् के ऋषि चारों वेदों तथा छहों वेदांगों को अपरा एवं संसारी विद्या बताकर कहते हैं कि जिससे अविनाशी तत्त्व का बोध होता है वह परा विद्या वेदों से परे है।[४]

इन सबका सार यह है कि आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति, स्वस्वरूप की पहचान एवं स्वरूपस्थिति के लिए हमें वेद कोई खास सहायक नहीं हो पाते।

"नटवट विद्या खेलै जो जानै" हठयोगी लोग नट के समान तमाशा दिखाने की विद्या जानते हैं, तो वह विशेष तमाशा ही है। उससे कोई कल्याण नहीं है। कबीर साहेब के समय में हठयोग का बहुत प्रचार था। हठयोगी लोग अपने आसन तथा मुद्रा दिखाया करते थे। हठयोगियों के बाजारूपन को कबीर साहेब ने बहुत नजदीक से देखा था। इसमें शारीरिक व्यायाम तथा लोक-दिखावा कर यश तथा धन पाने की बात ही ज्यादा है। हठयोग स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का पथ नहीं है।

"उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं।।" सद्गुरु कहते हैं सत्संग तथा विवेक-द्वारा अपने स्वरूप को पहचानो। तुम्हारा स्वरूप चेतन है। यह चेतन राम ही सभी घटों में खेल रहा है। जो सब घटों में प्रकाशक हैं, उन चेतन जीवों के अलावा कहीं कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं। अर्थात सब व्यक्तियों का अपना-अपना चेतन स्वरूप ही अपना-अपना परम निधान है।

"भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै।।" जिसे स्वरूपज्ञान हो गया है, वह देहाभिमान छोड़ देता है। जिसका देहाभिमान मिट जाता है, उसे अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुखद सारे अवसर सम हो जाते हैं। वह अनुकूल समय आने पर विशेष हर्षित नहीं होता तथा प्रतिकूल अवसर आने पर शोकित नहीं होता। वह हर प्रकार की स्थिति में अपनी आत्मा को सबसे ऊपर रखता है। जो सारी भौतिक-स्थितियों को क्षणिक समझकर

---

१. यज्ञ हिंसायुत होने से उसमें अशुद्धि है, यज्ञ का फल स्वर्ग नाशवान होने से क्षय-दोषयुक्त है तथा यज्ञ-फल स्वर्ग में लोगों की ऊंची-नीची स्थितियां होने से सातिशयता (विषमता) युक्त है। स्वर्ग केवल कल्पित है, यह बात अलग है।

२. सांख्यकारिका, २।

३. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरुविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः।। *(५/११/२। गीता प्रेस टीका)*

४. मुण्डक १/४-५।

उनमें प्रभावित नहीं होता, वह साधक जीवन में पूर्णता प्राप्त करता है। 'पूरा पावै'— पूर्णता पाना है। पूर्णता पाने का अर्थ है हर समय मन का प्रसन्न रहना, तृप्त रहना। ऐसी दशा में कभी मन में पीड़ा नहीं आती। अखंड सन्तोष, परम तृप्ति जीवन की सर्वोच्च सफलता है। यह आत्मबोध, स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति का ही फल है।

"जेकर शर तेहि लागे, सोइ जानेगा पीर" जब कोई बाहरी बाण चलाता है, तब उसका छोड़ा हुआ बाण दूसरे को लगता है और उसकी पीड़ा भी दूसरे लगने वाले को होती है। परन्तु इस आध्यात्मिक क्षेत्र में उलटी स्थिति है। इसमें तो जिसके छोड़े हुए बाण रहते हैं, उसी को लगते हैं और वही उसकी पीड़ा भी जानता है। यहां साधक बाण चलाने वाला है, उसकी विवेकवृत्ति बाण है और यह बाण लगता भी उस साधक के अपने हृदय में ही है। संसार में जब किसी व्यक्ति को बाण लगता है, तब वह उसके शरीर और प्राण को अलग कर देता है, और यहां साधक के हृदय में बाण लगने पर वह जड़-चेतन की मोहग्रन्थि को तोड़ देता है और जीव देह से भिन्न अपनी असंगता का बोध करने लगता है। इस जड़-चेतन के पृथक्करणजनित सुख को दूसरा कौन जान सकता है। यह भी वही साधक ही जानता है। इस दिव्य सुख को उलटवांसी में पीड़ा शब्द से कहा गया है। विवेकवान का जब इस स्वरूपस्थितिजनित सुख से कभी प्रमाद-वश एक क्षण के लिए भी बिछुड़न हो जाता है, तब उसे मणि-फणि-वियोग[1] इव बेचैनी होती है। पीड़ा का सकारात्मक अर्थ इस अभिप्राय में घट सकता है। वैसे यहां "सोइ जानेगा पीर" में पीर एवं पीड़ा उलटवांसी ही है जिसका अर्थ स्वरूपस्थिति-सुख है। इसका स्पष्टीकरण अगली पंक्ति में हो जाता है—

"लागे तो भागे नहीं, सुखसिन्धु निहार कबीर" यह विवेक का सुखदायी बाण जब साधक के हृदय में लग जाता है, तब साधक इस स्थिति को छोड़कर अलग नहीं जाता। वह सदैव सुख-सागर स्वरूपस्थिति को ही देखता है। यहां देखने का अभिप्राय है कि उसकी दृष्टि में केवल स्वरूपस्थिति सुख का महत्त्व रहता है। वह सदैव स्वरूपस्थिति के आनंदसागर में गोते लगाता रहता है। श्री रामरहस साहेब ने इसी को कहा है—"आनंद लहरि के समुद्र अगाध" तथा "बसै आनंद अटारी।"

साधु-वेषधारियों का व्यामोह

रमैनी–६९

ऐसा योग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥ १ ॥
महादेव को पन्थ चलावै। ऐसो बड़ो महन्त कहावै॥ २ ॥
हाट बजारे लावै तारी। कच्चा सिद्ध माया प्यारी॥ ३ ॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब शुकदेव तोपची जोरी॥ ४ ॥

---

१. सांप के पास मणि होती है यह एक काल्पनिक कहावत कवि-जगत में बातों को समझाने के लिए चलती है।

नादर कब बन्दूक चलाया। व्यासदेव कब बम्ब बजाया॥ ५ ॥
करहिं लराई मति के मन्दा। ई अतीत की तरकस बन्दा॥ ६ ॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना॥ ७ ॥
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चले करोरा॥ ८ ॥

साखी—सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ—गफिलाई = असावधानी। महादेव को पन्थ = शिवदल, शैवमत। हाट = छोटा बाजार। बाजार = बड़ा बाजार। तारी = समाधि। दत्ते = दत्तात्रेय। मावासी = मवासी, किला। तोपची = तोपचालक। बम्ब = जुझाऊ बाजा। अतीत = त्यागी। तरकस बन्दा = तरकश बांधने वाले (तरकश चाम का थैला होता है, उसमें बाण रखकर पीठ पर बांधा जाता है), अस्त्र-शस्त्रधारी। घोरा घोरी = घोड़ा-घोड़ी। करोरा = करोड़पति, धनी। सुन्दरी = स्त्री। सनकादिक = सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार, त्यागी-विरक्त सन्त।

भावार्थ—हे भाई! ऐसा योग नहीं देखा कि योग-सिद्धि के बाद भी असावधान होकर भटकता फिरे॥१॥ लोग महादेव का पन्थ चलाते हैं और इस प्रकार ये बहुत बड़े महन्त कहलाते हैं॥२॥ ये यश और धन के लिए भीड़ भरे हाट-बाजार में समाधि लगाकर संसार को अपने चमत्कार दिखाते हैं। ये माया से मोह रखने वाले कच्चे सिद्ध हैं॥३॥ (ये अपना रोब दिखाने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर जब कुंभ-जैसे मेलों में निकलते हैं, तब इनका उन्मादी स्वभाव देखो। क्या यह विरक्ति है?) दत्तात्रेय जी ने कब किसका किला तोड़ा था? शुकदेव जी ने कब तोप चलाने वाली फौज संगठित की थी? नादर जी ने कब बंदूक चलायी थी, और व्यासदेव जी ने कब जुझाऊ बाजा बजाकर किसी पर हमला किया था?॥४-५॥ ये मंदमति लड़ाई-झगड़े करते हैं। ये त्यागी हैं कि शस्त्रधारी लड़ाकू!॥६॥ दिखाने के लिए विरक्ति का वेष पहन लिये, परन्तु मन से पक्का लोभी बन गये। सोने-हीरे आदि के आभूषण एवं सोने से अलंकृत वस्त्र पहनकर साधु-वेष को लज्जित करते हैं॥७॥ घोड़ा-घोड़ी बटोर लिये तथा रजवाड़ों से गांव दान में पा गये और चल पड़े करोड़पति का ठाट बनाकर॥८॥

कतिपय साधु-संन्यासी तो स्त्रियों को भी साधुनी एवं संन्यासिनी बनाकर साथ में ले लेते हैं अथवा मठों में रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि त्यागियों के साथ में स्त्रियों का रहना शोभा नहीं देता। यदि कोई अपने हाथों में कालिख लगी हंडी लिये रहेगा, तो कभी-न-कभी वह उसको काला दाग लगा ही देगी॥६९॥

व्याख्या—सद्गुरु व्यंग्य भरे शब्दों में कहते हैं "ऐसा योग न देखा भाई।" यह कौन-सा योग है जिसके पीछे माया का प्रलोभन हो! जो अपने विवेक-वैराग्य से असावधान हो, जो लोकरंजन में लगकर हाट-बाजार में समाधि लगाता फिरे, क्या वह योगी है? सच्चा योगी तो अनासक्त होता है। ये तो कच्चा सिद्ध हैं। इनका ध्यान तो माया पर है।

शैवमत वाले साधुवेषधारी लोगों ने पुराकाल में हिन्दू रजवाड़ों-द्वारा जागीरें पायीं थीं। उनमें धनपति महन्त होते थे। वे अस्त्र-शस्त्र भी रखते थे। शैवदल के लड़ाकू साधुओं ने

वैष्णव-साधुओं की हत्याएं भी की थीं। इसलिए वैष्णव लोग हार-थककर नागा दल बनाये थे जो शैवों से लड़ सके। वैष्णव अहिंसावादी होते थे, परन्तु शैवों के दबाव में पड़कर उनको वैरागी-नागाओं का दल खड़ा करना पड़ा था।

ये शैव लोग कुंभ-जैसे मेलों में अपनी शोभायात्रा जब निकालते थे, तब अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते थे और प्रथम स्नान की होड़ में मार-काट तक कर देते थे। चांदी-सोने के अलंकरणों से सजे हुए बड़े राजसी ठाट-बाट से चलते थे। ये अहिंसक वैष्णवों को सताने में आगे रहते थे। इनके इन सब उपद्रवी व्यवहारों को देखकर सद्गुरु ने इनके ठाट-बाट और महन्ती पर व्यंग्य किया है तथा इनके अस्त्र-शस्त्र बांधने पर इनसे प्रश्न किया है कि जिनको आप अपना श्रद्धेय तथा पूर्वज मानते हो, क्या उन्होंने ऐसा किया था? दत्तात्रेय, शुकदेव, नारद, व्यास आदि महापुरुषों ने कब तोप, बंदूक तथा अस्त्र-शस्त्र बांधकर लोगों से लड़ाइयां लड़ी थीं?

साधु को अस्त्र-शस्त्र बांधना, लड़ाई-झगड़े करना, सोना-चांदी आदि के आभूषण धारण करना अशोभनीय है। यदि साधु-महन्तों के पास धन हो तो उनको चाहिए कि उसे जन-कल्याण में लगायें, स्वयं राजसी ठाट न बनायें।

"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" इस पंक्ति से लगता है कि कबीर देव के काल में भी ऐसे साधु-संन्यासी होते थे जो स्त्रियों को साधुनी-संन्यासिनी बनाकर अपने साथ रखते थे। यह बात आज-कल भी कहीं-कहीं देखी जाती है। सद्गुरु ने यहां कितनी मधुर व्यंजना के साथ यह बात कही है—"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" साधु-संन्यासियों के साथ में स्त्री नहीं शोभती। इस खतरे से बचने के लिए उन्होंने कैसा सुन्दर उदाहरण देकर हमें सावधान किया है—"कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ।।" हाथ में कालिख पुती हंडी लेकर चलेंगे, तो वह कभी-न-कभी दाग लगायेगी ही।

उन साधु-संन्यासियों की दयनीय दशा है जो अपने साथ में स्त्रियां रखते हैं। वे अपना विनाश तो करते ही हैं, समाज में भ्रम पैदाकर वेष पर धप्पा लगाते हैं। साधु-संन्यासियों को चाहिए कि वह न तो स्त्रियों को साथ में रखे, न मठ में। यदि स्त्रियां एक जगह रहकर साधना करना चाहें, तो उनका पुरुषों से अलग अपना स्वतन्त्र आश्रम होना चाहिए और उनमें पुरुषों का सम्बन्ध बिलकुल नहीं होना चाहिए।

एक विद्वान ने अपनी पुस्तक में यह प्रश्न उठाया है "कबीर के समय में बन्दूक नहीं थी। अतः 'नारद कब बन्दूक चलाया' इस रमैनी में होने से, यह रमैनी पीछे का प्रक्षेप है।" इस प्रश्न का उत्तर 'कबीर दर्शन' के पहले अध्याय के 'रचना-बीजक' संदर्भ में तथा संक्षिप्त बीजक टीका की भूमिका में दिया जा चुका है। कबीर साहेब के काल से पहले ही बन्दूक बन गयी थी तथा कबीर साहेब जब पचास वर्ष की उम्र से ज्यादा थे, तब काशी के निकट जौनपुर में बन्दूक से लड़ाई हुई थी। इसलिए इस रमैनी पर संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं है।

वाणी-सुधार

रमैनी–७०

बोलना कासो बोलिये रे भाई। बोलत ही सब तत्त्व नशाई॥ १ ॥
बोलत बोलत बाढु विकारा। सो बोलिये जो पड़े विचारा॥ २ ॥
मिलहि सन्त बचन दुइ कहिये। मिलहि असन्त मौन होय रहिये॥ ३ ॥
पण्डित सो बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी॥ ४ ॥
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार ले बोलै॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बोलना = बात। सब तत्त्व = वाणी के सब गुण। पण्डित = सारासार विवेकी। झखमारी = निराश।

भावार्थ—हे भाई! बात किससे की जाय! जो उपयुक्त पात्र नहीं है, उससे ज्ञान-चर्चा करने पर चर्चा के सारे गुण नष्ट होते हैं॥१॥ अनधिकारी आदमी के सामने यदि ज्ञान-चर्चा करते गये, तो उलझन, क्रोध आदि के विकार ही बढ़ेंगे। अतएव बात करने के पहले यह विचार कर लेने की आवश्यकता है कि सामने वाले व्यक्ति की पात्रता क्या है, उसके विचार कैसे हैं और वह क्या समझ सकता है! ॥२॥ संत मिलें, तो उनसे दो बातें कर लो, और यदि असंत मिलें तो उनके सामने चुप रहो॥३॥ कोई पण्डित, समझदार एवं विवेकी मिले तो उससे कल्याण की बातें करो, और मूर्ख के मिलने पर अपना मन मारकर चुप रह जाओ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं जब आधा घड़ा पानी रहता है तब वह छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है तब छलकता नहीं और यदि वह आवाज करता है तो उसकी आवाज गंभीर रहती है॥५॥

व्याख्या—वाणी का बड़ा महत्त्व है। यह मानव का परम सौभाग्य है कि उसे विकसित मन[1] के साथ प्रकृति के द्वारा दूसरा वरदान वाणी की शक्ति मिली है। मानव ऐसा सौभाग्यशाली प्राणी है जो अपने मन की बातें अपनी वाणी-द्वारा दूसरे के सामने व्यक्त करता है तथा दूसरे के अन्तर्मन की बातें उसकी वाणी सुनकर समझता है। परन्तु जो शक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उसका दुरुपयोग करने से वह उतनी ही हानिकारक होती है।

कब, किससे, क्या, कितना और कैसे बोलना चाहिए—इन पांचों सूत्रों को जिसने अपने जीवन में हल कर लिया, उसने अपनी वाणी पर विजय पा ली। (१) 'कब' बात करने के समय का सूचक है, (२) 'किससे' जिससे बात की जाय उस व्यक्ति का सूचक है, (३) 'क्या' वार्ता के विषय का सूचक है, (४) 'कितना' वार्ता की मात्रा का सूचक है तथा (५) 'कैसे' वार्ता की शैली का सूचक है।

(१) कब—हम अगले आदमी से जिस बात की चर्चा करना चाहते हैं उसका उपयुक्त समय कब होगा—इसकी परख होना आवश्यक है। माता, पिता, गुरु, अधिकारी एवं बड़े लोगों से कुछ निवेदन करना है, परन्तु उनका मन यदि तैयार नहीं है, वे यदि

---

१. मन की शक्ति के विषय में साखी प्रकरण की प्रथम साखी की टीका देखें।

प्रसन्न मुद्रा में नहीं हैं, वे तुम्हारी बातों को सुनने के रुख में नहीं हैं या वे किसी अन्य कार्य में व्यस्त हैं, तो हो सकता है उस समय तुम्हारा उनसे कुछ कहना निष्फल जाय। अपने से बड़े लोगों की बात जाने दीजिये; पत्नी, बच्चे, शिष्य तथा नौकर के भी मन को देखना पड़ता है। उनकी स्थिति को देखना पड़ता है। आप अनुकूल समय में बड़ी-से-बड़ी बातें भी दूसरों से मनवा सकते हैं, किन्तु समय की अनुकूलता न होने से छोटी-सी बात भी अगले आदमी से मनवा पाना कठिन हो जाता है। अतएव अपनी बात कहने के लिए अनुकूल समय की परख होना चाहिए। सार्वजनिक भाषण में भी समय की अनुकूलता का अपना बड़ा महत्त्व होता है। किसी भी विषय पर सभी समय नहीं बोला जा सकता।

(२) **किससे**—जिससे हम अपनी बातें कहने जा रहे हैं उसकी योग्यता क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। बहुत भावुक तथा अंध-श्रद्धालु आदमी के सामने लम्बा-चौड़ा चिंतन एवं तर्कपूर्ण विचार रखना अपना तथा उसका समय बरबाद करना है। जो बेसमझ है तथा समझदार होते हुए भी किसी भावना से ग्रसित एवं मताग्रही है, उसके सामने अधिक विचार की बातें करना झख मारना है। 'झख' कहते हैं मछली को। मछुवारे बंसी लेकर जलाशय में मछली मारने जाते हैं। वे कभी-कभी दिन भर प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिए 'झख मारना' एक मुहावरा बन गया। किसी ने किसी से बहुत बातें कीं, परन्तु उसने उसे अपनी बातें नहीं समझा सकीं, तो वह कहता है 'झख मारता रहा और क्या किया।' फिर झख मारने का अर्थ चुप हो जाना भी हो गया।

अपरिचित आदमी से बात करने में तो बहुत सावधान रहना चाहिए। रेलगाड़ी, बस, जलयान, वायुयान आदि साधनों से यात्रा करते समय अपरिचित आदमी मिलते हैं। कभी-कभी उनमें ऐसे लोग मिल जाते हैं कि उनसे किसी बात पर चर्चा छिड़ जाने पर केवल पश्चाताप हाथ आता है; क्योंकि वे उस बात के योग्य नहीं होते। मूर्ख, हठी, अहंकारी, सांप्रदायिक संस्कारों में डूबे, जड़वाद के प्रमादी आदि से रास्ता चलते बातें करना केवल अपना समय खोना तथा अपने मन में अशांति के बीज बोना है। इसलिए यात्रा में तो मौन ही रहना चाहिए।

मनुष्य की पात्रता देखकर तदनुकूल उससे बातें करना चाहिए। आप से जो कोई मिले, वह आपसे कुछ लेकर तथा प्रसन्न होकर जाय, इस पर ध्यान रखना बहुत जरूरी है। जो बहुत योग्य पात्र है, उसके सामने भी सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें पात्रता है तो उससे कुछ मात्रा में चर्चा करना चाहिए। धीरे-धीरे समझते-समझते पात्रता बढ़ती है। पहली बार एवं एक ही बार में ज्यादा बोझा लाद देने से हो सकता है वह हताश हो जाय।

जिससे बात की जानी है, उसके मन को पहले टटोल लेना अति आवश्यक है। हर आदमी के मन में अपने-अपने ढंग के संस्कार भरे होते हैं। अपने संस्कारों के प्रतिकूल बातों से लोगों को अरुचि होती है। इस प्रथम मिलन में कुछ अनुकूल बातें करके ही पीछे से थोड़ी अपनी बातें रखी जा सकती हैं। बिना खेत तैयार किये उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार किसी का हृदय बिना अनुकूल बनाये अपनी बात उससे नहीं मनवायी जा

सकती। श्री रामरहस साहेब ने कहा है "बात इस प्रकार करे जिससे उसका मन दुखी न हो और उसे रास्ते पर ले आवे। जिसका मन जिस मान्यता में बंधा हो पहले उसकी प्रशंसा कर उसके हृदय में प्रेम का स्थान बनाना चाहिए, उसके बाद अपनी बातें कहनी चाहिए।"[१]

चर्चा चाहे आध्यात्मिक हो या व्यावहारिक, यह ध्यान रखना चाहिए कि जिससे हम मिलें या जो मुझसे मिले, मिलन तथा चर्चा के बाद परस्पर स्निग्धता, मधुरता एवं प्रसन्नता उत्पन्न हो। हम किसी को कुछ दे न पायें तो उसका चित न दुखायें। इस संदर्भ में हमें भलीभांति समझ लेना चाहिए कि अगले आदमी का मन प्रसन्न करके ही उसे अपनी बातें मनवा सकते हैं।

(३) **क्या**—हमारी चर्चा का 'विषय' क्या है हमें इसका बोध होना चाहिए। यदि हमें स्वयं अपना विषय स्पष्ट नहीं है तो दूसरे का समय बरबाद कर क्या लाभ होगा! कितने लोग अपना लम्बा-चौड़ा भाषण झाड़ जाते हैं, परन्तु सुनने वाले को यह पता नहीं चलता कि ये महाशय कहना क्या चाहते हैं।

चर्चा का विषय समय और पात्र देखकर भी चुनना पड़ता है। जो स्त्री विवाह में सोहर तथा पुत्रोत्पत्ति-उत्सव में विवाह के गीत गाती है, वह हास्यास्पद बन जाती है। व्यक्तिगत चर्चा में समय और पात्र देखकर 'विषय' चुनना चाहिए, किन्तु सार्वजनिक भाषण में भी समाज देखकर विषय चुनना चाहिए। भोजन परोसने वाले को यह समझ होना चाहिए कि वह इस ढंग से भोजन परोसे कि कोई बिना खाये ही न उठ जाय। थोड़ा-बहुत सभी श्रोताओं को संतोष हो जाय, यह भरसक ध्यान रखना चाहिए।

हमारे मस्तिष्क में बड़े ऊंचे-ऊंचे विचार हैं, परन्तु उन्हें जिसके सामने व्यक्त किया जाय, वैसा पात्र भी तो होना चाहिए। सत्पात्रों का अभाव सदा सबके सामने रहा है। केवल कबीर साहेब ही नहीं कहते हैं 'जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल"[२] किन्तु भर्तृहरि जी भी कहते हैं "किससे छंद-प्रबंध की बातें कही जायं, सुनने वाले नहीं हैं।"[३] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—'तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रीति।' परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि ऊंचे विचारों का कोई पात्र है ही नहीं। समाज में यथासमय ऊंचे विचारों की बातें कहना चाहिए। उनके पात्र अवश्य मिलेंगे। जब तक

---

१. ऐसन विधि तेहि पारख देई। चित नहिं दुखै नीक करि लेई।।
जेहि कर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई।। *(पंचग्रंथी, गुरु. प्र. २१)*

२. बीजक, साखी १८५।

३. पंडित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान।
और जीव या जगत के मूरख महा अजान।
मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।
छंद प्रबंध कवित्त काव्यरस कासो कहिए।
वृद्ध भई मन माहिं मधुर वाणी गुण-मंडित।
अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पंडित। *(भर्तृहरि के श्लोक का अनुवाद)*

बात समाज में रखी नहीं जायेगी, लोग पात्र बनेंगे कैसे! कुछ लोगों में पात्रता के अंकुर होते हैं, परन्तु अवसर न पाने से उनका विकास नहीं होता। जब वे अच्छे विचार पाते हैं, तब पात्र बन जाते हैं। यह रात-दिन का अनुभव है कि हर जगह ऊंचे विचार के पात्र मिलते हैं। यह सब होते हुए भी हमें व्यक्तिगत चर्चा तथा सार्वजनिक भाषण में क्रमशः व्यक्ति तथा समाज की मानसिकता एवं योग्यता देखकर अपनी चर्चा एवं भाषण के विषय चुनने चाहिए। इससे हमें अपने उद्देश्य में ज्यादा सफलता मिलेगी।

(४) **कितना**—हमें अपनी चर्चा तथा भाषण की मात्रा का भी बोध होना चाहिए। थोड़े में ज्यादा बातें भी कही जा सकती हैं और लम्बे-चौड़े भाषण में छोटी बातें उलझी ही रह सकती हैं। व्यक्तिगत चर्चा को लम्बे समय तक खींचकर अपने और दूसरे के समय को व्यर्थ बरबाद मत करो। थोड़ी और संतुलित मात्रा की बात वजनदार होती है। कुछ लोग बात करने के इतने रसिक होते हैं कि केवल अपनी बातें कहते हैं, दूसरे की सुनते नहीं। कुछ लोग सभा में भी ऐसे भाषण-बाज होते हैं कि संचालक घंटी-पर-घंटी बजाते रहें और रोकने का प्रयास करते रहें, परन्तु वे रुकना नहीं चाहते। यह वक्ता की कमजोरी है। चर्चा या भाषण की कितनी आवश्यकता है इसकी परख होनी चाहिए। अगले आदमी तथा समाज की रुचि के भीतर चर्चा होनी चाहिए। आपके द्वारा की जाती चर्चा एवं भाषण किसी को बोझ न बनें, किन्तु चर्चा एवं भाषण को लोग प्रसन्नता से ग्रहण करें, यह ध्यान होना चाहिए और इसके लिए संतुलित मात्रा की महती आवश्यकता है।

(५) **कैसे**—किस ढंग से बात की जाय इस पर ध्यान देना भी बहुत जरूरी है। सारी क्रियाओं में शैली का बहुत बड़ा महत्त्व होता है, फिर बात, चर्चा एवं भाषण में तो शैली प्राण तत्त्व है। कठोर-से-कठोर सत्य ऐसी शैली में कह दिया जा सकता है जिसको लोग बड़ी सरलता से ग्रहण कर लें। और सरल-से-सरल बात भी कथन की गलत शैली से अनसुहाती, उलझी हुई तथा छिछली हो जाती है।

किसी व्यक्ति के मिलने पर चर्चा की शुरुआत विरोधी विचारों से नहीं करना चाहिए। दोनों के विचार जिनमें मिलते हों ऐसी बातें ही चर्चा का विषय बनाना चाहिए। जहां विचार नहीं मिलते हों, ऐसी बातें छोड़ देना चाहिए।

व्यक्तिगत चर्चा में हो या सार्वजनिक मंच पर भाषण में, हम दूसरों की आलोचना न कर अपनी बातें कहें। यदि प्रसंगवशात दूसरों की आलोचना करना पड़े, तो पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिनको हम अपना नहीं मानते, उनकी आलोचना करने का हमारा अधिकार नहीं है। जिन्हें हम अपना मानते हैं, हम उन्हीं की आलोचना भी कर सकते हैं। आलोचना में आदर, अपनत्व और शिष्ट शब्द होने चाहिए। वैसे दूसरों की आलोचना से बचना सबसे उत्तम है।

चर्चा या भाषण में स्वर न बहुत ऊंचे हों न बहुत धीमें, किन्तु जिन्हें हम सुना रहें हैं उन्हें बातें आराम से सुनाई दे जायं इतना ही होना चाहिए। बातें तर्कयुक्त, सत्य, प्रिय, हितकर, यथासंभव थोड़ी और निर्विवाद हों इस पर ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार हम बात करने या भाषण करने में उक्त बातों पर ध्यान रखें, तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

कितने ही लोग असंतुलित बोलकर पहले अपने मन और फिर पीछे दूसरे के मन में अशांति पैदा करते हैं। कई बार हम किसी से बातों में उलझकर अपनी शिष्टता और शांति को हार जाते हैं और उस आदमी पर भी हमारा अच्छा प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार हम किसी से बातों में उलझकर केवल अपने साथी या मिलने-जुलने वाले का विश्वास ही नहीं खोते हैं, किन्तु अपनी शिष्टता और शांति भी खोते हैं। अमुक-अमुक लोगों का विश्वास हमें न प्राप्त हो तो कोई बात नहीं। संसार के सभी लोगों को कोई खुश नहीं कर सकता। परन्तु हमें अपनी शिष्टता और शांति अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए; क्योंकि यही जीवन का मक्खन है।

सद्‌गुरु कबीर ने इस ७०वीं रमैनी में वाणी-सुधार का अमृत रसायन भर दिया है। उन्होंने इस रमैनी में इस बात पर ज़ोर डाला है कि अपात्र के सामने बात करके, विकार बढ़ता है, लाभ नहीं होता। उन्होंने पंडित और सन्त से बात करने की राय दी है। जो लोग कहते हैं कि कबीर साहेब ने तो पंडितों को लताड़ा है, वे उनके कथन के केवल एक पक्ष देख रहे हैं। उनके कथन के दूसरे पक्ष में पंडितों का महती आदर है। "पंडित सो बोलिये हितकारी" यहां कहा ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अन्यत्र कई जगह पंडितों का बड़े आदर से नाम लिया है। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा"[1] यह एक दूसरा वाक्य काफी है। पंडित वही है जो प्रज्ञावान एवं विवेकी है। दूसरे संत हैं जो शीतल तथा निर्मल बुद्धि के हैं। इस प्रकार उन्होंने समझदारों और सज्जनों से बात करने की राय दी।

सद्‌गुरु ने कहा कि आधा घड़ा भरा पानी छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है, तब छलकता नहीं और यदि कभी आवाज करता है, तो गम्भीर। इसी प्रकार हल्की बुद्धि का आदमी पिट्ट-पिट्ट बात करता है। समझदार तथा संयत पुरुष मौन रहते हैं और जब बात करते हैं, तब उनकी बात वजनदार होती है। अतः हमें छिछला नहीं, वजनदार होना चाहिए।

निर्लिप्तवाद का दिखावा

रमैनी–७१

सोग बधावा जिन्ह समकै माना। ताकी बात इन्द्रहु नहिं जाना॥ १ ॥
जटा तोरि पहिरावै सेली। योग युक्ति की गर्भ दुहेली॥ २ ॥
आसन उड़ाये कौन बड़ाई। जैसे कौवा चील्ह मिड़राई॥ ३ ॥
जैसी भीत तैसी है नारी। राज-पाट सब गनै उजारी॥ ४ ॥
जस नरक तस चन्दन जाना। जस बाउर तस रहे सयाना॥ ५ ॥
लपसी लौंग गने एक सारा। खाँड़ छाड़ि मुख फाँके छारा॥ ६ ॥

साखी—इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊँ हेत॥ ७१ ॥

---

१. बीजक, शब्द ५३।

शब्दार्थ—सोग = शोक। बधावा = मंगलाचार, हर्ष-आनंद, खुशी में भेजा हुआ उपहार। सेली = बाल, ऊन एवं रेशम की बनी माला। दुहेली = कठिन, दुखदायी, भारी। पाट = सिंहासन। उजारी = जंगल। बाउर = पागल। सयाना = समझदार, ज्ञानी। लपसी = मीठा। लौंग = कड़वा। एक सारा = एक समान। खाँड़ = शकर, चीनी। छारा = धूल। चेत = सावधानी। हेत = प्रेम।

भावार्थ—(आचरणहीन, किन्तु निर्लिप्तवाद का दिखावा करने वाले साधु-वेषधारियों पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु कहते हैं—) जो शोक और मंगल को एक समान मानने का दावा करते हैं, उनकी जालसाजी का रहस्य छल करने में निपुण इन्द्र भी नहीं जान सकता॥१॥ नाथपंथी लोग वैष्णवों को वादविवाद में हराकर और जटा के बालों को तोड़कर उनकी माला बना उन्हें पहना देते हैं और उन्हें अपने पंथ में मिला लेते हैं। इनको योग-युक्ति का बड़ा भारी अहंकार है॥२॥ ये लोग आसन पर बैठकर योग के बल से आकाश में उड़ने का पाखंड रचते हैं, परन्तु इसमें इनकी क्या विशेषता हुई? कौआ, चील आदि पक्षी भी आकाश में उड़ते रहते हैं। उनसे ये क्या ज्यादा हो गये? ॥३॥ ये कहते हैं 'हमारे लिए दीवार तथा स्त्री बराबर है। हम राजसिंहासन और जंगल को एक समान मानते हैं॥४॥ हमारे ख्याल से नरक और चंदन में कोई अंतर नहीं है। हम पागल और ज्ञानी को भेद दृष्टि से नहीं देखते हैं' ॥५॥ ये मीठी लपसी तथा कड़वी लौंग एक समान मानते हैं। और शकर को छोड़ मुख में धूल फांककर दिखाते हैं कि देखो, मुझे शकर-धूल में कोई अन्तर नहीं लगता॥६॥

इस प्रकार विधि-निषेध-मिलाऊ पाखंडपूर्ण बातों का विचार करते-करते इनकी विवेक-शक्ति तथा सावधानी नष्ट हो गयी। ये जड़-चेतन, विधि-निषेध, खाद्य-अखाद्य एक में मिलाकर अद्वैत ब्रह्म बन रहे हैं। इनकी इस असाध्य मानसिक बीमारी को देखते हुए मैं इनमें से किससे प्रेम करूं?—किसको राय दूं कि यह सब तुम्हारा प्रमाद है॥७१॥

व्याख्या—विवेकवान हर्ष-शोक वाली बातों में सम रहते हैं, यह बात सच है। परन्तु जो इसका दिखावा कर योग-भोग को एक समान बताते हुए तथा इन्द्रिय-भोगों में लंपट रहते हुए अपने को सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे निर्लिप्तवाद की आड़ लेकर जालसाजी करते हैं। वे कहते हैं कि हम चाहे योग करें और चाहे भोग करें, हमें हर्ष-शोक नहीं व्यापते। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे लोग महाजालसाज होते हैं। कहा जाता है कि इन्द्र सबसे बड़ा जालसाज[1] था। इसीलिए तो पीछे से इन्द्रजाल नाम से विद्या ही बन गयी जिसमें केवल जालसाजी है। परन्तु सब कुछ करते हुए निर्लिप्ति का दिखावा करने वाले लोग तो ऐसे जालसाज होते हैं जिनका रहस्य इन्द्र भी न समझ पाये।

कहा जाता है कि नाथपंथी लोग वैष्णवों को वाद-विवाद में हरा देते थे; क्योंकि वे तार्किक होते थे और वैष्णव सरल भक्त होते थे। जब वे वैष्णवों को हरा देते थे, तब उनकी जटा के बालों को तोड़कर तथा उनकी माला बनाकर उन्हें पहना देते थे और

१. ऋग्वेद ६/४७/१८ तथा १०/५४/२ आदि में इन्द्र को मायावी कहा गया है।

अपने पंथ में उनकी भरती कर लेते थे। कहा जाता है कबीर साहेब ने नाथपंथियों को हराकर वैष्णवों की रक्षा की थी।

हठयोगियों को योग-युक्ति का भयंकर अहंकार था। वे जगह-जगह योग के चमत्कार दिखाते थे जो उनका एक अभ्यास होता था। ये सारी बातें दिखावा से भरी होती थीं। उनसे जगत का कोई कल्याण नहीं, किन्तु भ्रांति का विस्तार होता था। कोई कहता हमारे योगी गुरु अपना आसन आकाश में उड़ा देते हैं या स्वयं आसन पर बैठे-बैठे आकाश में उड़ने लगते हैं। कबीर साहेब ने कहा, बड़ी अच्छी बात। परन्तु इसमें उनकी क्या विशेषता हो गयी और इससे जगत का क्या कल्याण हो गया! कौआ-चील आदि पक्षी तो आकाश में मंडराते ही रहते हैं। तुम्हारे गुरु आकाश में उड़ लेते हैं, तो वे कौआ तथा चील से ज्यादा नहीं हैं।

वस्तुतः कोई मनुष्य आकाश में उड़ नहीं सकता। हम, हमारे गुरु तथा योगी आकाश में उड़ते हैं, यह कहना बिलकुल झूठ है। एक महात्मा के शिष्यों ने उनके लिए प्रचार कर रखा था कि हमारे गुरु रात में आकाश में उड़ते हैं। जब अन्य लोगों ने इस बात के विषय में महात्मा से पूछा तब उन्होंने कहा—बेटा, मैं उड़ता नहीं हूं, किंतु चेले उड़ाते हैं।

कुछ ब्रह्मज्ञानियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वे कहते थे कि हमारे लिए दीवार तथा स्त्री एक समान है। यदि दीवार को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! इसी प्रकार स्त्री को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! ज्ञानी को द्वैत नहीं भासता। वह राजगद्दी पर बैठकर चाहे राज्य करे और चाहे जंगल में रहे, एक समान है। ऐसी स्थिति में लोग राजा जनक का उदाहरण ठोंक देते हैं। जिनकी कल्पित कहानी में विरक्त शुकदेव को चिन्ताग्रस्त तथा राजा जनक को अनासक्त बताया गया है। ठीक है, राजा जनक अन्य राजाओं की अपेक्षा अनासक्त रहे होंगे, परन्तु भोगों को भोगते हुए निर्लिप्त होने का ढकोसला अपने आप को तथा संसार को बेवकूफ बनाना है। राजा जनक की कहानी का लोग बहुत दुरुपयोग करते हैं।

सब कुछ एक ब्रह्म मानकर नरक तथा चन्दन को, अभक्ष्य मांस-शराबादि तथा भक्ष्य रोटी-भात आदि को एक मानना ज्ञान का दुरुपयोग है। नरक और चन्दन एक कैसे? क्या कोई ज्ञानी रोटी और टट्टी को एक मानकर उनका समान उपयोग करेगा? और यदि करता है तो वह ज्ञानी कहलाने योग्य है? इसी प्रकार पागल और ज्ञानी भी एक समान नहीं। यह ठीक है कि उन्हीं मूल तत्त्वों से चन्दन-नरक दोनों की उत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का उपयोग समान नहीं हो सकता। इसी प्रकार पागल तथा ज्ञानी मूलतः एक समान मानव हैं; परन्तु दोनों का व्यवहार एक नहीं हो सकता।

इसी प्रकार लपसी-लौंग तथा शकर-धूल का भी अपना व्यवहारतः भेद है। जीवन में कुछ कर्तव्य है, कुछ अकर्तव्य है, कुछ खाद्य है, कुछ अखाद्य है, कुछ ग्राह्य है तथा कुछ त्याज्य है। सब धान साढ़े बाइस पसेरी नहीं हो सकता। योग के ढकोसले में भोग करते हुए निर्लिप्तवाद के दिखावे में विधि-निषेध का त्याग कर तथा अपने आप को हर्ष-शोक से ऊपर प्रदर्शित कर प्रपंच तथा छलावा में डूबे हुए योगी तथा ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले लोग

समाज के लिए अभिशाप हैं। वे धर्म के क्षेत्र में बिगड़ी घड़ी बनकर समाज को पथभ्रष्ट करते हैं।

"इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत" जड़-चेतन एक है, नरक-चन्दन एक है, दीवार-स्त्री एक है, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध कुछ नहीं। ज्ञानी वही है जिसको भिन्नत्व का भास ही नहीं होता है—ऐसा विचार करते-करते इन लोगों की बुद्धिशक्ति नष्ट हो जाती है और गलत कर्मों से बचने के लिए सावधानी नहीं रह जाती। सब कुछ एक मानने के ढकोसले में पड़कर दो महत्त्वपूर्ण गुण नष्ट हो जाते हैं, सद्गुरु ने उन्हें 'बुद्धिबल' तथा 'चेत' कहा है। बुद्धिबल से ही हम जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का निर्णय करते हैं। जो व्यक्ति निरंतर यह सोचता है कि जड़-चेतन, विधि-निषेध आदि कुछ है ही नहीं, सब कुछ एक ही है, उसकी विवेकशक्ति क्षीण होगी ही। और बुद्धिबल तथा विवेकशक्ति क्षीण हो जाने पर, उसके ख्याल से कुछ ऐसा रह ही नहीं जाता है जो बंधनदायी हो और उससे सावधान एवं अलग रहने की बात हो। उसके ख्याल से दीवार तथा स्त्री एक समान होती है। उसके ख्याल से तो 'भोगे युवती सदा संन्यासी'[1] युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है। फिर ऐसे लोगों को सावधानी की क्या आवश्यकता? वे तो समझते हैं—"त्यागहुं विषय कि भोगहु इन्द्रिय, मूंकूं लगै न रंचक रंग।"[2]

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगों को समझाकर रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। वे कहते हैं—"ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक। इन्द्रिय केरे बसि परा, भुगतै नरक निसंक ।।"[3] जो "दुइ मिलि एकै होइ रहा" जड़-चेतन, भोग-योग, विधि-निषेध एक में मिलाकर तथाकथित ब्रह्मज्ञान की ऊंची चोटी पर चढ़ गया, उसको सदाचार के रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। सद्गुरु कहते हैं "मैं काहि लगाऊँ हेत" मैं किससे प्रेम करूं, किसको समझाऊं! अज्ञानी तो समझ सकता है, परंतु ज्ञान के ढकोसले के परदे के पीछे भोगपरायण लोग नहीं समझ सकते।

माया का आश्चर्यजनक तथा पतनकारी रूप

रमैनी–७२

नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई॥ १ ॥
गोड़ न मूँड़ न प्राण अधारा। जामें भभरि रहा संसारा॥ २ ॥
दिना सात ले उनकी सही। बुद अदबुद अचरज का कही॥ ३ ॥
वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥ ४ ॥

साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय॥ ७२ ॥

---

१. २. विचार सागर।

३. साखी ग्रन्थ।

शब्दार्थ—नारी = माया, इच्छा, कल्पना। बापहि = जीव। जाई = पैदा किया। भभरि = भयभीत, भ्रम में पड़ना। दिना सात = रविवार से शनिवार सातों दिन। सही = सत्य, प्रामाणिक। बुद = ज्ञानी, विद्वान। अदबुद = अज्ञानी, अविद्वान। मूस = जीव। बिलाई = माया, इच्छा। हस्ती = मन, माया। सिंह = जीव।

भावार्थ—संसार में इच्छा एवं कल्पना रूपी एक नारी आयी जिसे किसी माता ने नहीं, किन्तु केवल जीव रूपी पिता ने पैदा किया है।।१।। उसके न पैर हैं, न सिर है, न प्राणों का अवलंबन है। अर्थात उसका कोई स्वतः स्वरूप नहीं है। वह केवल मन की कल्पना है। परन्तु उसके लपेट में आकर संसार के सारे लोग भ्रम में पड़ गये हैं।।२।। मैं क्या आश्चर्य की बातें कहूं, विद्वान और अविद्वान सब दिन मानो उसी की सत्यता एवं वरीयता प्रमाणित करने में लगे हैं।।३।। यह बड़ा आश्चर्य होता है कि मूढ़ से विद्वान तक सब उसी की वन्दना करते हैं। सब इच्छा एवं कल्पना रूपी माया की शरण में पड़े हैं।।४।।

कहो भला, चूहा और बिल्ली एक साथ कैसे रह सकते हैं! चूहे को बिल्ली खायेगी ही। माया की संगत कर जीव का पतन होगा ही। हे सन्तो! एक आश्चर्य देखता हूं कि हस्ती सिंह को खा रहा है। अर्थात माया जीव को पथभ्रष्ट कर रही है।।७२।।

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी कई बातें रूपकों, प्रतीकों एवं उलटवांसियों में कहते हैं जो बोधगम्य होने के साथ-साथ रोचक, चौंकानेवाली तथा मार्मिक भी होती हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं "नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई।।" यहां नारी माया का प्रतीक है तथा बाप जीव का। कबीर साहेब माया की परिभाषा यह नहीं देते की माया कोई स्वतंत्र शक्ति है और जीव के ऊपर आकर चढ़ बैठती है या यह अघटित घटना पटीयसी है, दुरत्यया या अनिर्वचनीया है। वे कहते हैं माया मन का मोह[1] है। इसी को इच्छा एवं कल्पना भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर मन का विकार ही माया है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में एक नारी आयी, उसको माता ने नहीं पैदा किया, किन्तु केवल पिता ने पैदा किया। मन की इच्छा-कल्पना माया है और यह केवल जीव रूपी पिता से ही पैदा होती है। सद्गुरु ने दूसरी रमैनी के शुरू में ही कहा है "जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा।। इच्छा रूपि नारि अवतरी।।" यहां भी यही बताया गया है कि जीव द्वारा इच्छा रूपी नारि का अवतरण हुआ। अतः सीधा-सपाट अर्थ यह है कि मनुष्य के मन की इच्छा-कल्पना ही माया है।

इच्छा का अर्थ है चाह और कल्पना का अर्थ है चाह की पूर्ति के लिए मन में गढ़े गये विविध आकार। मनुष्य की चाह है सुख; और सुख के साधन में गढ़े गये रूप हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्राणी-पदार्थों का विस्तार और परोक्ष देवी-देवता, ईश्वर-स्वर्गादि।

मन में इच्छा उत्पन्न होने पर उसके लिए कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। एक व्यक्ति पहले स्त्री की इच्छा करता है। उसके बाद उसके विषय में नाना कल्पनाएं गढ़ता है। कल्पना के बाद वह स्त्री लाकर उसमें उलझता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के विषय में करती है। जो

---

१. बीजक, साखी ९०, ९४, १०४, १०५ भी देखिए।

स्त्री के मन में पुरुष की कल्पना तथा पुरुष के मन में स्त्री की कल्पना है, उसके मूल में उन्हे नित्य सुख पाने की ही इच्छा है। इसी नित्य सुख को पाने के लिए समझ-भेद से भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र, देवी-देवता, तीर्थ-व्रत, ईश्वर-ब्रह्म आदि की भी कल्पना की जाती है।

मकान, मशीनें, छोटी-बड़ी विकास-योजनाएं आदि के मूल में भी इच्छा तथा कल्पनाएं ही होती हैं। इसके मूल में भी सुख-सुविधाएं पाना होता है। भक्ति, वैराग्य, साधनादि में भी परम सुख प्राप्ति की इच्छा ही होती है। बिना इच्छा एवं कल्पना के कोई विस्तार नहीं हो सकता। जो कल्याण तथा जीवननिर्वाह में सहयोगी हैं, वे इच्छाएं एवं कल्पनाएं तो ठीक हैं, परन्तु जो जीव को भटकाव में डाल दें, वे माया रूप हैं।

अपनी आत्मा से अलग जहां तक परम-सुख, मोक्ष या परमात्मा पाने की इच्छा एवं कल्पना है, सब माया है। यह इच्छा या कल्पना जीव से पैदा होती है। इस कल्पना रूपी नारी के हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, प्राण आदि नहीं होते। अर्थात यह जीव की मनःकल्पित होने से, कोई स्वतन्त्र सत्ता वाली नहीं है। यह मनोराज्य मात्र है। परन्तु इसे देखकर संसार के सारे लोग भभर गये हैं। सब भय तथा भ्रम में पड़ गये हैं। मनुष्य की इच्छा और कल्पना के विस्तार में ही तो भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र, लोकांतरों में स्वर्ग-नरक और तरह-तरह के ईश्वर-परमात्मा बनाये गये हैं। मनुष्य की कल्पना के विस्तार में ही तो समस्त मान्यताओं का जाल फैला है, जिसमें जीव स्वयं भटक गया है। स्वयं जीव ने कल्पना-नारी खड़ी की और उसमें स्वयं उलझ गया।

आश्चर्य तब होता है जब देखते हैं कि मूर्ख से विद्वान तक सब दिन अपनी कल्पना की सत्यता प्रमाणित करने में लगे हैं। अपने मन की भूलें, आसक्तियां, कल्पनाएं तथा मान्यताएं ही तो माया हैं जो ख़ुद जीव से ही पैदा हुई हैं और जीव उन्हीं में पड़ा बह रहा है। जीव उन्हीं को प्यार दे रहा है। इस क्रिया से जीव माया की ही सत्यता सिद्ध कर रहा है।

''वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥'' यह बड़ा आश्चर्य होता है कि केवल मूर्ख नहीं, विद्वान भी उसी माया की वन्दना करने में लगे हैं। मूर्ख-विद्वान मलिन विषयों में, झूठ-छल, चोरी-हत्या तथा नाना दुराचार में लीन हैं। मूर्ख से विद्वान तक भूत-प्रेत, देवी-देवता, तन्त्र-मन्त्र की मान्यता में उलझे हैं, अपने स्वरूप को न समझकर वे बाहर परमात्मा या मोक्ष खोज रहे हैं। उसके लिए निर्जीव पानी-पत्थर, पेड़-पहाड़ पूज रहे हैं। यह सब उसी माया-नारी की वन्दना, पूजा एवं उपासना है। यह माया-कल्पना-नारी संसार को भटकाने वाली है। लैंगिक दृष्टि से नर तथा नारी-शरीर में जीव तो एक समान हैं। उन सभी जीवों को यह माया-कल्पना-नारी भटकाती है।

''मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।'' सद्गुरु कहते हैं कि यदि चूहा बिल्ली के साथ रहकर अपनी सुरक्षा चाहे तो क्या उसकी सुरक्षा हो सकती है? यदि जीव माया के साथ में अपना कल्याण मानता है, तो उसकी भूल है। जीव माया का संग कर, उसमें आसक्त होकर दिनोंदिन दुखी होगा। विषयों में एवं नाना जड़ मान्यताओं में डूबकर जीव का कल्याण कहां!

"अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय।।" सद्गुरु अंत में इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि सिंह हाथी को मार देता है, परन्तु यहां हाथी ही सिंह को मार रहा है। अभिप्राय है कि जीव महान समर्थ है। वह माया को मार सकता है। परन्तु आश्चर्य है कि माया ही जीव को मार रही है।

माया, माया की उत्पत्ति, माया से भटकाव, माया की प्रबलता, मूर्ख से विद्वानों तक की उसके सामने दीनता आदि का चित्रण कितने सुन्दर और सटीक रूपकों एवं प्रतीकों-द्वारा यहां किया गया है। कबीर साहेब के चिन्तन में माया कोई दैवी चमत्कार नहीं है। वह कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो जीव के अपने स्वरूप की भूल से पैदा हुई एक कल्पना है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह-ममता मनःकल्पना ही तो हैं। देवी-देवता, मन्त्र-तन्त्र मनःकल्पना ही हैं। जीव के अपने चेतन स्वरूप से पृथक ईश्वर या मोक्ष एक मनःकल्पना ही है। यह कल्पना ही वह नारी है जो माया के लिए प्रयुक्त है। यह मनुष्य से ही पैदा हुई है और मनुष्य इसे पैदा कर स्वयं इसमें भभर गया है। स्वयं भयभीत तथा भटक गया है। अपने स्वरूप को न समझकर अपनी ही कल्पना के सामने व्यक्ति घुटने टेक रहा है। वह कितना पढ़ा-लिखा हो, किन्तु यदि अपनी कल्पनाओं की ही पूजा कर रहा है, कल्पना-कर्त्ता अपने समर्थ चेतन-स्वरूप को नहीं समझ रहा है तो यह उसकी कितनी बड़ी नादानी है! मूर्ख और पंडित अपने ही बनाये जाल से भयभीत हैं।

इस रमैनी की साखी की प्रथम पंक्ति में सद्गुरु ने साधक को सावधान किया है कि तुम विषयासक्ति एवं भ्रांतिवश चूहे के समान दुर्बल बन गये हो, तो देखना, माया-बिल्ली से सावधान रहना। प्रमाद नहीं करना, कुसंग का सेवन नहीं करना। तुम अपने अनादि-कालीन विषयासक्ति, अज्ञान एवं भ्रम की दुर्बलता को ध्यान में रखना। ऐसा न हो कि कुसंग में पड़कर, माया की संगत एवं राग में पड़कर पुनः वही दुर्बलता उदित हो जाय। इसलिए माया के संग से सतत सावधान रहना। उसका त्याग करते रहना।

सद्गुरु ने साखी की निचली पंक्ति में साधक को साहस दिया है कि तुम अपने को सचमुच चूहा मत मान लेना। तुम तो समर्थ सिंह हो। तुम बिल्ली को क्या, हाथी को भी मार सकते हो। आश्चर्य है तुम माया-हाथी से मारे जा रहे हो। जागो, अपने समर्थ चेतन स्वरूप को समझो। तुम्हीं ने अपने बलवान चेतन-स्वरूप को भूलकर माया-कल्पना का सृजन किया है। तुम अपनी सत्ता-महत्ता को समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, तो माया समाप्त! तुम सूर्यवत हो, माया अंधकारवत। सूर्य का अभाव ही अंधकार है। इसी प्रकार स्वरूप की भूल ही माया है। भूल गयी, माया गयी। श्री निर्मल साहेब ने कहा है—

निज स्वरूप को भूल पड़ा जो, माया तुम्हैं प्रतीत भई।
निज स्वरूप पर लक्ष्य गया, तो खोजो माया कहां गई।।

रमैनी–७३

चली जात देखी एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥ १ ॥
चली जात वह बाटहि बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥ २ ॥
जाड़न मरे सफेदी सौरी। खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी॥ ३ ॥
साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥ ४ ॥
वाही के रस निस-दिन राँची। पिया सो बात कहै नहिं साँची॥ ५ ॥
सोवत छाँड़ि चली पिय अपना। ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥ ६ ॥

साखी—अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।
की चित जाने आपना, की मेरो जन गाय॥ ७३ ॥

शब्दार्थ—नारी = मनोवृत्ति। पनिहारी = पानी भरने वाली, मनोवृत्ति। बाटा = रास्ता, मार्ग। खाटा = खाट, शय्या, षट विकार। सफेदी सौरी = सफेद सौर, उज्ज्वल चादर या रजाई, अच्छा ओढ़ना। खसम = पति, चेतन। घरणि = घरनी, गृहणी, पत्नी, मनोवृत्ति। बौरी = पगली। सँबरें = स्मरण करना। लगवारे = लगवार, उपपति, जार, नाना देवी-देवादि। रस = मोह। राँची = आसक्त। पिया = निज आत्मस्वरूप। अपनी जाँघ उघारि के = अपनी बुराई खोलकर।

रूपक—मैंने एक स्त्री को पानी भरने के लिए जाते हुए देखा, तो तमाशा यह था कि घड़ा तो नीचे था, और वह पनहारिन-स्त्री स्वयं घड़े के ऊपर थी। वह रास्ते-रास्ते जा रही थी और थककर सो गयी, तो देखा कि वह स्वयं नीचे है और खाट उसके ऊपर है। उसने अच्छी रजाई ओढ़ रखी थी, परन्तु ठंडी से कांप रही थी। वह उन्मत्ता स्त्री अपने पति को नहीं पहचान रही थी और पागल बनी इधर-उधर भटक रही थी। वह सांझ-सुबह दीपक जलाकर अपने यार को खोजती थी और अपने पति को छोड़कर लगवार की ही याद में निरंतर रहती थी। वह दीवानी उसी जार के मोह में रात-दिन लीन रहती थी, अपने पति से कपट रखती थी। उससे अपनी सच्ची बातें नहीं कहती थी। एक दिन तो अति हो गया। वह अपने पति को सोते समय छोड़ कर जार के साथ भाग निकली। यह दुख भला अब किससे कहा जाय? अपनी कमजोरियां सब के बीच में खोलकर स्वयं नहीं कही जातीं। उन्हें तो अपना चित्त ही जानता है, या अपने अंतरंग लोगों से कहा जा सकता है।

भावार्थ—स्वरूपबोध से भटकी हुई मानव की मनोवृत्ति एक नारी है, सद्गुरु कहते हैं कि मैंने देखा कि वह नारी अपनी प्यास मिटाने के लिए जा-बेजा भटक रही है। आश्चर्य है कि पानी का घड़ा नीचे है और पानी लाने तथा पीने की इच्छा रखने वाली पनहारिन ऊपर है। स्मरण रहे, पानी के घड़ा के नीचे हाथ करके पानी पीया जा सकता है। मनुष्य की मनोवृत्ति अहंकार में डूबी हुई सत्संग एवं शरीर रूपी घड़े से ऊपर प्रमाद और बाह्य विषयों में भटकती है॥१॥ वह मनोवृत्ति रूपी नारी नाना मार्गों में निरन्तर चलती रहती है। जब वह विश्राम भी करती है, तब उसकी विपरीत गति होने के कारण खाट उसके ऊपर रहती है। अर्थात वह मलिन विषयों में सोती है और काम, क्रोध,

लोभ, मोह, मद, मत्सर—षट-विकार रूपी खाट उसके ऊपर सवार रहती है।।२।। वह मानव-शरीर रूपी उत्तम रजाई ओढ़कर भी अज्ञान की ठंडक से प्रभावित होकर ठिठुरती है। यह मनोवृत्ति रूपी अबला ऐसी पगली हो गयी है कि जीव रूपी अपने पति को नहीं पहचानती।।३।। यह जड़ देवी-देवताओं के सामने सुबह-शाम दीपक जलाकर उनकी पूजा करती है। यह अपने चेतन देव रूपी पति को त्यागकर किसी कल्पित लगवार का स्मरण करती है।।४।। यह मानव की व्यभिचारिणी मनोवृत्ति कल्पित लगवार के मोह में ही रात-दिन लीन रहती है। यह अपने आत्मदेव रूपी पति के सामने कभी भी अपने आप को खोलकर नहीं रखती। अर्थात मानव की मनोवृत्ति स्वरूप-उन्मुख न होकर विषय-उन्मुख या कल्पना-उन्मुख ही बनी रहती है।।५।। इस प्रकार अज्ञान की नींद में सोते हुए अपने आत्मदेव-पति को छोड़कर मनोवृत्ति रूपी नारी कल्पित जार के साथ बह जाती है। भला, इस आत्मप्रवंचना के दुख को किससे कहा जाय!।।६।।

लोगों के बीच में अपनी जांघ उघारकर अपनी बुराई नहीं कह मिलती। इस दुख को व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है या मेरे संतजन इसकी कसरखोट परखाकर लोगों को सत्पथ पर लाते हैं।।७३।।

व्याख्या—कबीर साहेब बड़ी प्रगल्भ बुद्धि वाले एवं प्रतिभा के धनी थे। वे रूपक और अलंकार गढ़ने में बड़े कुशल थे। यहां उन्मादिनी और व्यभिचारिणी नारी के रूपक में साधारण मानव की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर तथा सटीक चित्रण है, सोचते ही बनता है। जगह-जगह उनकी उलटवांसी तो रहती ही है। वे कहते हैं "चली जात देखी एक नारी" एक नारी को मैंने चले जाते हुए देखा। यह मनुष्य की मलिन मनोवृत्ति निरंतर तो भटकती है। वह सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु उसे वह बाहर खोजती है।

"तर गागरि ऊपर पनिहारी" संसार में देखा जाता है कि पनहारिन पानी का घड़ा अपने सिर पर रखकर चलती है। परन्तु यहां उलटा है। घड़ा नीचे है और पनहारिन ऊपर है। अर्थात शरीर रूपी घड़ा पृथ्वी पर पड़ा है और मनोवृत्ति रूपी पनहारिन आकाश में दौड़ती है।

अथवा कोई व्यक्ति पानी तभी पी सकता है, जब पानी पिलाने वाले के पात्र के नीचे अपने हाथ रखे। यदि पानी पीने की इच्छा वाला पानी के घड़े के ऊपर हो, तो वह पानी कैसे पी सकता है? प्रायः लोगों की मनोवृत्ति इसी तरह है। सत्संग ज्ञान-जल का घड़ा है। उससे ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब विनय-भाव एवं सेवा-भाव हो। जो अहंकारी होकर रहेगा, वह कहीं से कुछ भी नहीं सीख सकता। कितने लोग सत्संग में जाकर भी अपनी मनोवृत्ति की अकड़बाजी नहीं छोड़ पाते। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।"[१] जहां ग्रहण करने की बुद्धि होती है, वहां अहंकार नहीं होता और जहां अहंकार होता है, वहां ग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती। "नन्हा होय के पीव"[२] बच्चा बनकर मां का दूध पीया जाता है, जवान बनकर

---

१. बीजक, साखी २८९।
२. साखी ग्रन्थ।

नहीं। अतएव यह मनुष्य की अहंकारी मनोवृत्ति "तर गागरि ऊपर पनिहारी" वचन को चरितार्थ करती है।

"चली जात वह बाटहि बाटा" भटकी हुई मनोवृत्ति निरंतर चलती है। विषयों के अनेक रास्ते हैं ही, धार्मिक भ्रांतियों के भी अनेक रास्ते हैं। खानी-वाणी के इन्हीं विविध पथों में मनुष्यों की मनोवृत्ति निरंतर भटकती रहती है। जब तक पारखी सद्गुरु नहीं मिलते, तब तक सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं।

"सोवनहार के ऊपर खाटा" कोई व्यक्ति खाट ऊपर छोड़कर नीचे सो रहा हो, यह आश्चर्यजनक ही होगा, और उस सोने वाले की बुद्धि भी हास्यास्पद होगी। मनुष्य की भटकी हुई मनोवृत्ति की यही दशा है। वह अज्ञान की प्रगाढ़ नींद में सोयी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर—यह षट विकार ही खाट है जो जीव के ऊपर चढ़ी है। मनोवृत्ति वासना की ग्रन्थि में उलझी हो, वासना से दबी हो तो कहां सुख की नींद आ सकती है? सारी बाह्य संपन्नता होने पर भी यदि मनुष्य वासनाओं से दबा है, उसकी ग्रन्थि में उलझा है, तो सुखी नहीं हो सकता।

पानी का घड़ा ऊपर चाहिए और प्यासे के हाथ नीचे तथा शय्या नीचे चाहिए और सोने वाला ऊपर। सद्गुरु कहते हैं ये दोनों ही उलट गये हैं। प्यासा अपने हाथ घड़े के ऊपर रखे हुए है तथा सोने वाला शय्या के नीचे पड़ा हुआ है। आदमी अहंकारी तथा विषयी होने से न उसे ज्ञान मिलता है न शांति।

"जाड़न मरे सफेदी सौरी" आदमी अच्छी रजाई ओढ़कर भी ठंडी से मर रहा है। मूलतः इतना विवेकसंपन्न उत्तम मानव-शरीर पाकर भी जीव की मनोवृत्ति अज्ञान की ठंडी से पीड़ित है। मनुष्य का मन हर समय कांप रहा है। वह सोचता है कि व्यापार में घाटा न हो जाय, वह बन्द न हो जाय। नौकरी छूट न जाय। खेती नष्ट न हो जाय। परिवार के लोग विमुख न हो जायं। मेरे शरीर में रोग न लग जाय। मौत न आ जाय। और पता नहीं किन-किन भावनाओं की कंपकंपी लगी रहती है। मनुष्य हर समय कांपता रहता है। उसे अज्ञान की ठंडी हर समय पीड़ित कर रही है। किसी के घर में हीरे-जवाहरात भरे हों, परन्तु वह उन्हें भुनाकर जीवन-धारणोपयोगी वस्तुएं नहीं लेता और जीवन में उनका उपयोग नहीं करता, तो हीरे-मोती क्या करेंगे! इसी प्रकार जो मानव-जीवन पाकर इसमें विवेक नहीं जगाता, तो उसका अज्ञान कैसे दूर होगा!

"खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी" घर की मालकिन पगला गयी। वह अपने पति को पहचानती ही नहीं है। मनुष्य की मनोवृत्ति मनुष्य के सार स्वरूप चेतन देव को नहीं पहचानती। मनुष्य की मनोवृत्ति इस तरह भटक गयी है कि वह कल्पना करके तो नाना पति खड़ा कर लेती है; परन्तु जो उसका असली पति आत्मदेव है, उसे नहीं पहचानती। मनोवृत्ति का स्वामी जीव ही है, किन्तु उसका उसे परिचय नहीं है। वह बाहर नाना स्वामी की कल्पना करती है।

"साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥" आप अपने आस-पास देखते होंगे कि लोग सुबह-शाम बेजान देवताओं के पास दीपक जलाते हैं। वे उन्हें अपना रक्षक तथा स्वामी मानते हैं। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खियों को नहीं उड़ा सकते,

अपने आप को चोरी से नहीं बचा सकते, वे अपने पूजने वालों की क्या रक्षा करेंगे! क्या आदमी पत्थर से भी गया बीता है? यह आदमी की मनोवृत्ति का ही भटकाव है कि वह अपने चेतनात्मा पति को छोड़कर जड़ या कल्पित देवताओं को अपना लगवार बनाती है और उसी का निरंतर स्मरण करती है। स्वस्वरूप-विस्मरण तथा पर-स्मरण ही मनोवृत्ति का व्यभिचार है।

"वाही के रस निस-दिन राँची।" प्रायः मनुष्यों की ऐसी ही मनोवृत्ति बन गयी है कि वह किसी देव-पुरुष की कल्पना करती है। उसका कोई मानसिक रूप गढ़ती है। फिर उसकी पत्थर या धातुओं पर आकृति देती है या केवल मनोमय रूप ही रखती है। उसी के रस में रात-दिन लीन रहती है। जो कभी नहीं खाते, ऐसे भगवान को खिलाने, पिलाने, सुलाने, जगाने में या विनय-प्रार्थना में उसके समय बीतते हैं।

"पिया सो बात कहै नहिं साँची॥" मनुष्य की मनोवृत्ति जितना जड़ देवी-देवताओं तथा मनःकल्पित अवधारणाओं में रस लेती है, उतना अपने आत्मदेव के सामने नहीं खुलती। यही उसकी अविद्या है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारी मनोवृत्ति बाहर जितना लगेगी, उतना भटकेगी। स्वस्वरूप चेतन को छोड़कर तो सब विजाति है। मनुष्य का कल्याण तभी होता है जब उसकी मनोवृत्ति बाहर से सिमिट कर अपने चेतन देव के सामने खुल जाती है। अर्थात जब वह स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति में रम जाती है। परन्तु दुर्भाग्य यह कि वह आत्माभिमुख न होकर कल्पनाभिमुख एवं विषयाभिमुख रहती है।

"सोवत छाड़ि चली पिय अपना।" अपने स्वरूप को न समझकर जड़-भास-अध्यास एवं मोह में पड़े रहना जीव का सोना है। स्वरूप का अज्ञान ही नींद है। स्वरूपज्ञान न होने से ही तो मनोवृत्ति बाहर भटकती है। जीव-पति अज्ञान में सोता है, इसलिए मनोवृत्ति उसे छोड़कर विषयों तथा कल्पित अवधारणाओं में बहती है। "ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥" यह मन के विचलन का दुख किससे कहा जाय! कहकर क्या होगा!

"अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।" यह बड़ी मार्मिक कहावत है। अपनी भटकी हुई मनोवृत्ति की दशा दूसरों के सामने कहना मुश्किल है। तुम अकेले में बैठ जाओ और तुम्हारे मन में जो कुछ उठता रहे, वह सब एक कागज पर लिखते जाओ। ऐसा केवल एक घंटा करो। उसके बाद उठ जाओ। तो क्या तुम उस कागज को लोगों को दिखा सकोगे? एक घंटे के अकेलेपन में तुम्हारी मनोवृत्ति ने पता नहीं कौन-कौन-सी पागलपन की बातें तुम्हारे सामने लायी हों। अपनी पत्नी के दुराचार को दूसरे से कैसे कहा जाय! इसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति के भटकाव का परदाफाश कैसे किया जा सकता है! यह जीव मनोवृत्ति का पति है, परन्तु जीव की कमजोरी के कारण उसकी मनोवृत्ति भटकती रहती है। इस भटकती हुई मनोवृत्ति की दुर्दशा का दुख व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है "की चित जाने आपना"।

"की मेरो जन गाय" या तो मेरे संतजन इस मनोवृत्ति की कसर-खोट का परदाफाश कर इसका सुधार करते हैं। साधक वह है जो अपने मन की कमजोरियों को देखता है। यदि उनसे छूटने का रास्ता वह स्वयं नहीं पाता, तो विशेषज्ञ तथा साधनसंपन्न संतों के पास अपनी मनोवृत्ति की सारी बातों को रखकर उनसे मुक्ति पाने की युक्ति पूछता है।

सद्गुरु कहते हैं कि 'मेरो जन' अर्थात मेरे संतजन इस चपला मनोवृत्ति की एक-एक कुचाल का बारीकी से ज्ञान रखते हैं और उनका साधकों में वर्णन कर उन्हें उनसे सावधान करते हैं।

इस प्रकार इस रमैनी में सद्गुरु ने पति-विमुखा पतिता नारी से साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति की तुलनाकर एक मनोरंजक दृश्य खींचा है, जो उपदेशप्रद, मार्मिक तथा उद्‌बोधक है। पूरी रमैनी का सरल भाव यही है कि मानव की मनोवृत्ति भटकी हुई तथा सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु वह अविद्यावश कल्पना-विलासिनी, अहंकारिणी है एवं विषयलीन है। वह विवेकसंपन्न उत्तम मानवजीवन का सदुपयोग नहीं कर रही है। वह आध्यात्मिक बोध से भटकी हुई निरंतर कल्पना तथा विषयों में बहती है। यह सब जीव के लिए अत्यंत दुखप्रद एवं लज्जायुक्त है। संतजन इन सबका भेद बताकर जीव को इनसे मुक्त करते हैं।

मानव की एकता मौलिक है, भेदभाव भ्रमजन्य है

रमैनी–७४

तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया। न ताके सोग ताकि पै माया॥ १ ॥
कँवल पत्र तरंग एक माहीं। संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥ २ ॥
आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई॥ ३ ॥
निराधार आधार ले जानी। राम नाम ले उचरी बानी॥ ४ ॥
धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥ ५ ॥
ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा॥ ६ ॥
फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पंथ नहिं जोहै सोई॥ ७ ॥

साखी—भरम का बाँधा यह जग, कोई न करै विचार।
एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—तहिया = गर्भावस्था के प्रारम्भ काल में। ताके = जीव के। पै = परन्तु। माया = वासना। आस = वासना। ओस = शीत, माता का रज। अण्ड = पिता का वीर्य। निराधार = जीव का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन। उचरी = उच्चारण करना, कहना। धर्म = हिन्दू धर्मशास्त्र। पानी = जल। ढोर = पशु। पतंग = पक्षी, शलभ, टिड्डी। घरियारा = घड़ियाल। फन्द = बंधन। जोहै = देखना।

भावार्थ—माता के गर्भ में जीव प्रवेश कर गुप्तरूप से उपस्थित होता है। गर्भाधान-काल में स्थूल-काया नहीं रहती। जीव उस समय शोक-चिंता से रहित रहता है, क्योंकि उसके साथ साधन-इंद्रियां नहीं रहतीं। परन्तु उसके साथ वासना रूपी माया अवश्य रहती है॥१॥ गर्भाधान-काल में जीव माया के साथ रहते हुए भी उससे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार जल-तरंगों के साथ रहते हुए कमल-पत्र उससे निर्लिप्त रहते हैं॥२॥ उस समय जीव वासनाओं के साथ माता-पिता के सम्मिलित रज-वीर्य में निवास करता है। रज-वीर्य के मूल रूप को कोई अगणित प्रकार का नहीं कहता॥३॥ गर्भ के परिपक्व होने

पर बच्चा पैदा होता है। इसके बाद हम निराधार चेतन-आत्मा को देह के आधार में जानते हैं। हम अपनी वाणी में उसे 'राम' नाम से भी कहते हैं।।४।। हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी से ही सम्बन्ध रखता है। अर्थात अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी पीना तथा अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी न पीना ही धर्म है। सभी जातियों के मन में पानी की छूत-अछूत का भ्रम लगा है।।५।। परन्तु गंगादि नदियों के पानी में तो पशु, पतंग, घड़ियाल आदि मरकर सड़ते हैं, और उसी पानी को लेकर बड़े-बड़े पंडित पवित्राचार करते हैं, परन्तु तथाकथित दूसरी जातियों के हाथों के पानी को नहीं पीते।।६।। इस भ्रमजन्य छुआछूत के बंधन को तोड़कर जो इससे अलग हो जाता है, वह फिर ऐसे रास्ते में नहीं जाता जहां मनुष्य-मनुष्य के बीच में मिथ्या जाति को लेकर भेदभाव माना जाय।।७।।

यह सारा संसार भ्रम के बंधनों में बंधा है। कोई इस पर विचार नहीं करता। हरि की भक्ति क्या है, इस एक बात को न समझकर लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं और कहते हैं कि यह भेदभाव सब प्रभु की देन है और जो इसे नहीं स्वीकारता, वह हरि-भक्ति से विमुख है।।७४।।

व्याख्या—सद्गुरु इस रमैनी में सभी जीवों के मौलिक चेतन स्वरूप की समान शुद्धता तथा गर्भवास में सबके शरीरों की एक ही प्रकार के रज-वीर्य से समान रचना बताकर सबकी मौलिक एकता बताते हैं और मानव-मानव के बीच में काल्पनिक जातियों के आधार पर बने हुए भेदभाव तथा छुआछूत का निराकरण करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया" जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है, उस समय वह गुप्त रहता है। क्योंकि वहां उसकी स्थूल काया निर्मित हुई नहीं रहती। विद्वानों का विचार है कि जीव नर के वीर्य में मिलकर नर-नारी के संयोग-काल में नारी के गर्भाशय में पहुंचता है। वहां बुंद से क्रमशः पिंड बनता है। जीव गर्भावस्था में प्रायः सुषुप्त की तरह रहता है। "न ताके सोग ताकि पै माया" वहां जीव को कोई शोक-मोह नहीं रहता, परन्तु उसके साथ माया रहती है। माया है वासना। यही तो आगे चलकर शोक-मोह का कारण बनती है। वह माया के साथ रहते हुए भी वहां उससे कैसे निर्लिप्त रहता है, इसके लिए जल में कमल-पत्रवत का उदाहरण बहुत सटीक दिया गया है। यह सब कहकर साहेब दर्शाते हैं कि सभी जीव गर्भावस्था में देह धारण करने के पूर्व एक समान शोक से रहित होते हैं। सभी जीवों का स्वरूप एक समान शुद्ध है। परन्तु कर्म के चक्कर में पड़े हुए सभी जीव माया में समान रूप से बंधे हैं। वे आगे बताते हैं—

"आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई।।" 'आस' वासना है, 'अण्ड' कहते हैं वीर्य को, हम 'ओस' का अर्थ प्रकरणानुसार रज ले सकते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीव वासना के युक्त उस समय माता-पिता के रज-वीर्य में रहता है। हम रज-वीर्य के मूलतत्त्व को अनेक प्रकार नहीं कह सकते। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है "एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा।" क्या हिन्दू नर-नारी के भिन्न प्रकार के रज-वीर्य होते हैं और मुसलमान नर-नारी के भिन्न प्रकार, या तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र नर-नारी

के भिन्न प्रकार? वस्तुतः कल्पित वर्ण, जाति और मजहब के अनुसार नर-नारियों के रज-वीर्य में कोई अन्तर नहीं होता। यदि नर-नारी के रज-वीर्य में कोई अन्तर होता होगा, तो वह केवल उनकी शारीरिक प्रकृति के कारण, जिसमें कल्पित वर्ण-जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव ब्राह्मण, भंगी, मुसलमानादि सबके रज-वीर्य समान ही होते हैं। रज-वीर्य गंदी चीजें हैं। उन्हीं से सबके शरीर बनते हैं, और सब एक ही दरवाजे से पैदा होते हैं।

"निराधार आधार लै जानी। राम नाम ले उचरी बानी।।" चेतन स्वतः स्वतन्त्र होने से निराधार है और अदृश्य भी है। जब वह देह धारणकर प्रकट होता है तब हम देह के आधार से उसको जानते हैं।

मैं चेतन हूं, यह मुझे अनुभव है। जब मैं देखता हूं कि एक दूसरा देहधारी सामने खड़ा है और वह भी मेरी तरह चेतना व्यक्त करता है, तब मैं उसकी देह के आधार में ही उस निराधार चेतन का अनुमान करता हूं जो उसमें अपनी चेतना प्रकट कर रहा है। सार कथन है "निराधार आधार लै जानी" हम निराधार को आधार लेकर ही जानते हैं। "राम नाम ले उचरी बानी" अर्थात हम इसी चेतन को 'राम' नाम से भी कहते हैं।

इस प्रकार प्रथम चार चौपाइयों में सद्गुरु बतलाते हैं कि मानव मात्र के शरीर एक समान गंदे रज-वीर्य से बनते हैं और सबके शरीरों में एक समान स्वरूपतः निर्मल जीव निवास करते हैं जिन्हें हम राम भी कहते हैं। फिर इनमें मूलतः कौन छोटा तथा कौन बड़ा है? कौन छूत है तथा कौन अछूत है?

"धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई।।" हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी में है। अर्थात किस वर्ण एवं जाति के हाथ का पानी पीना चाहिए और किस वर्ण और जाति के हाथ का नहीं पीना चाहिए—इसका विचार करना सबसे बड़ा हिन्दू-धर्म है। पानी का शाब्दिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। यहां 'पानी' शब्द में समस्त खान-पान की व्यंजना है। वैसे जब मनुष्य परस्पर मिलते हैं, तब प्रथम पानी का ही आदान-प्रदान करते हैं। इसलिए हिन्दुओं में प्रथम मिलन में यही बात होती है कि भाई, किसका पानी चलता है और किसका नहीं चलता है!

सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" अर्थात जितने जातिवादी विचार वाले हैं, सबके मन में पानी का 'भ्रम' समाया हुआ है। सवर्णों में कुम्हार-धोबी आदि का पानी नहीं चलता, तो कुम्हार-धोबी आदि में चमारों का पानी नहीं चलता, तो चमारों में मेहतरों का पानी नहीं चलता। केवल ब्राह्मणों को दोष देना बेकार है। सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" सभी जातिवादी भावनावालों में पानी का भ्रम अर्थात छुआछूत का भ्रम समाया है। केवल ब्राह्मण नहीं, भारत में इस विषय में सब उनचास हाथ हैं। भारत में सबसे बड़ा सनातन धर्म है कि हम अमुक-अमुक जाति के हाथों का छुआ पानी नहीं पीते।

"ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा।।" सद्गुरु कहते हैं कि जिस पानी को लेकर इतना पाखंड चलता है, पहले उसकी दशा तो देखो। गंगादि नदियों का जल बड़ा पवित्र माना जाता है। परन्तु इन नदियों में मेंढक, मछली, कछुआ, घड़ियाल तथा अनेक जलचर जीव निवास करते हैं, उसी में प्रजनन करते हैं, उसी में टट्टी-पेशाब

करते हैं, उसी में अपने मुख का पानी उगलते हैं और मर जाने पर सड़-गलकर उसी में मिल जाते हैं। बाहर से मनुष्यों एवं पशुओं की लाशें उसमें फेंकी जाती हैं जो सड़कर उसी में मिलती हैं। संसार भर के नदी, नाले तथा नारकीय नालियां एवं कूड़े-कचड़े तो आकर उसमें मिलते ही हैं। कुएं की भी दशा बड़ी अच्छी नहीं है। उसमें भी जल-जन्तु रहते ही हैं और आखिर उनके भी जन्म, जीवन तथा मरण उसी में होते हैं। आजकल बोरिंगों-नलों में चाम के वायसर लगे ही रहते हैं, जिनसे छनकर पानी आता है। इतने सारे दोष हम सह सकते हैं। कहते हैं प्रकाश तथा वायु पानी को शुद्ध करते रहते हैं। चलो, यह भी बात ठीक है। परन्तु एक साफ-सुथरा आदमी हाथ और पात्र शुद्ध मांज-धोकर तथा स्वच्छ जल कपड़े से छानकर हमें दे दे, तो उसके पीने में क्या हर्ज है? भले ही वह ऐसे घर में पैदा हुआ हो जिसे हम मेहतर, चमार या और कुछ कहते हैं। हम पानी की उक्त सभी गंदगियों को सह लें और किसी मनुष्य के स्वच्छ हाथ से छू लेने मात्र से उसे न सह सकें, तो इससे अनाड़ीपन क्या होगा! सद्गुरु व्यंग्य करते हैं कि पशु, पतंग, घड़ियाल आदि जिसमें सड़ते हैं, उस गंगा जल को लेकर धार्मिक लोग अपना पवित्राचार करते हैं और पवित्र मनुष्य-द्वारा छू जाने के डर से उससे दूर भागते हैं।

"फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई।।" मनुष्यों को जन्मजात ऊंच-नीच मानना, उनमें छुआछूत मानना—यह सब मिथ्या अहंकार का एक जाल है। इस जाल को तोड़कर जो इससे निकल जाता है, वह इस रास्ते की तरफ कभी नजर उठाकर देखता भी नहीं।

आज केवल ब्राह्मणवाद नहीं है, किन्तु क्षत्रियवाद, गुप्तावाद, कायस्थवाद, कुर्मीवाद, मुराववाद, यादववाद, जाटवाद, साहूवाद, नाम कितने गिनाये जायं। हिन्दूवाद, मुसलिमवाद, सिखवाद, इसाईवाद तो हैं ही, और भी बहुत वाद हैं। एक वाद के भीतर कई वाद हैं जैसे मुसलिमवाद के भीतर शियावाद तथा सुन्नीवाद। वर्णवाद, वर्गवाद, जातिवाद तथा संप्रदायवाद को लेकर पहले भी वैमनस्य थे। आज इन्हें दूसरी तरह उभाड़कर समाज को तोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। यहां तक कि जातिवाद और छुआछूत को गाली देने वाले दूसरी तरह जातिवाद और छुआछूत जगा रहे हैं। शुद्ध मानव बनने के लिए कबीर बनना पड़ेगा जिसने अपना घर जलाकर दूसरे से भी कहा था कि यदि मेरे साथ चलना है तो अपना घर जलाकर आओ। सब तरफ से निष्पक्षता आये बिना न व्यक्ति का कल्याण है न समाज और देश का।

"भरम का बाँधा यह जग, कोई न करै विचार।" सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सारे लोग तो भ्रम में बंधे हैं। भ्रम तभी टूट सकता है जब लोग विचार करें। परन्तु विचार करने के लिए कोई तैयार नहीं। यदि आदमी स्वच्छ है और स्वच्छता से पानी लाया है, तो उसके पीने में क्या हर्ज है, यह विचार लोग नहीं करते। भ्रम यह है कि पानी लाने वाला अमुक जाति का आदमी है। अरे भले आदमी! मानव जाति तो एक ही होती है। शुद्धता देखो, झूठी जाति के भ्रम में क्यों पड़ते हो!

सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, प्रतिष्ठानों एवं संस्थानों में भी जो अधिकारी बैठे हैं वे यदि वर्मा हैं तो वर्मा को भरती करना चाहते हैं, शर्मा हैं तो शर्मा को, यादव हैं तो यादव

को। इसी प्रकार इसको बढ़ाकर आप एक-दो पृष्ठ लिखकर स्वयं समझ लीजिए। क्या यह सब भ्रम नहीं है। मनुष्य में विचार कब उदय होगा! क्या इन प्यारे मनुष्यों को देखकर बोध नहीं हो जाता है कि ये सब हमारे भाई हैं! हे मानव! विचार कर, भ्रम में बंधा मत रह!

"एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।।" कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग कहते हैं कि हरि एवं प्रभु ने ही वर्ण-व्यवस्था बना दी है। उसने स्वयं ऊंच-नीच बना दिये हैं। जो प्रभु की आज्ञा नहीं मानता, वह हरि-द्रोही है। यदि शूद्र स्वयं अपने आप को नीच तथा भ्रष्ट-ब्राह्मण को भी ऊंच नहीं मानता, तो वह हरि-द्रोही है। हरि-भक्ति तथा प्रभु-वचन का आड़ा देकर कैसी-कैसी जालसाजियां रची गयी हैं! कुछ मनुष्यों का मन अहंकारी तथा कुछ मनुष्यों का मन हीनग्रंथि-ग्रसित बनाने का कुचक्र यदि हरि-भक्ति है, तो हरि-द्रोह क्या है?

मनुष्य से अलग हरि कहां है, जिसने अपनी कुछ आज्ञाएं दी हों। सारे ग्रंथ, सारे नियम एवं विधान मनुष्य के बनाये हैं। अतः जो मानव के कल्याण के लिए ठीक हों उन्हें मानना उचित है और जो मानवता-विरोधी हों उन्हें तृणवत त्याग देना चाहिए, चाहे वे किसी के भी कहे हों और किसी भी ग्रन्थ में लिखा हो। मानव की सेवा ही हरि-भक्ति है। मानव में ऊंच-नीच भावना का विष फैला कर और निराधार छुआछूत का पाखंड रचकर मानव के साथ दुर्व्यवहार करना हरि-द्रोह है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग हरि-भक्ति नहीं समझते, किन्तु हरि-भक्ति के नाम पर हरि-द्रोह कर रहे हैं।

मोक्ष के आदर्श बोधवान संत हैं, संसारी अवतार नामधारी नहीं

रमैनी–७५

तेहि साहेब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटि के होहु सनाथा।। १ ।।
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया।। २ ।।
नहिं देवकी के गर्भहि आया। नहीं यशोदा गोद खेलाया।। ३ ।।
पृथ्वी रवन-धवन नहिं करिया। पैठि पताल नहीं बलि छलिया।। ४ ।।
नहिं बलिराजा सो माँड़ल रारी। नहिं हरणाकुश बधल पछारी।। ५ ।।
बराह रूप धरणी नहिं धरिया। क्षत्री मारि निक्षत्री नहिं करिया।। ६ ।।
नहिं गोबर्धन कर गहि धरिया। नहिं ग्वालन संग बन बन फिरिया।। ७ ।।
गण्डुकी शालिग्राम नहिं कूला। मच्छ कच्छ होय नहिं जल डोला।। ८ ।।
द्वारावती शरीर नहिं छाड़ा। ले जगन्नाथ पिंड नहिं गाड़ा।। ९ ।।

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, वै पन्थे मति भूल।
जेहि राखेउ अनुमान कै, सो थूल नहीं अस्थूल।। ७५ ।।

शब्दार्थ—साहेब = स्वामी। साथा = संगत। दुइ दुख = खानी-वाणी, स्थूल-सूक्ष्म, जन्म-मरण। सनाथा = कृतार्थ। राव = राजा रावण। रवन = रमण। धवन = दौड़-धूप, युद्ध।

कूला = तट। मच्छ = मत्स्यावतार। कच्छ = कच्छपावतार। द्वारावती = द्वारिका। थूल = स्थूल। अस्थूल = सूक्ष्म।

भावार्थ—उस स्वामी की संगत करो जो राग-द्वेष से रहित पूर्णकाम है। उसकी उपासना तथा सेवाकर स्वरूपज्ञान प्राप्त करो और विषयों की वासनाओं तथा मन की नाना अवधारणाओं से मुक्त होकर तथा स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ होकर कृतार्थ हो जाओ।।१।। जिसकी संगत, सेवा तथा उपासना से तुम्हारा कल्याण होना है उसने न दशरथ-कुल में अवतार लिया है और न लंका के राजा रावण की हत्या की है।।२।। न वह देवकी के गर्भ में आया है और न उसे यशोदा ने अपनी गोद में खेलाया है।।३।। न वह पृथ्वी पर रमण-रास आदि किया है, न युद्ध किया है और न पाताल में घुसकर राजा बलि को छला है।।४।। न उसने राजा वाली से द्वेष कर उसको छिपकर मारा है और न उसने हिरण्यकश्यपु की ही हत्या की है।।५।। न उसने शूकर रूप बनकर पृथ्वी को अपने मुख में धारण किया है और न परशुराम बन इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन बनाया है।।६।। उसने अपने हाथों पर न गोवर्धन पर्वत धारण किया और न वह ग्वाल-बालों के साथ वन-वन में घूमा है।।७।। न वह शापित होकर गंडकी नदी में शालग्राम पत्थर बनकर लुढ़कता रहा, और न मछली तथा कछुआ बनकर जल में डोलता रहा।।८।। न उसने द्वारका में शरीर छोड़ा और न उसके शरीर को जगन्नाथ में गाड़ा गया।।९।।

कबीर साहेब खुलासा कर कहते हैं कि उक्त पंथों में कोई मत भूलो। अनुमान करके जिसको तुमने ईश्वर का रूप गढ़ा है, वह न स्थूल है और न सूक्ष्म।।७५।।

व्याख्या—जीव दुखों से पीड़ित हैं। दुख दो हैं, जिन्हें हम स्थूल रूप में जन्म और मरण कहते हैं। परन्तु इनके मूल सरल बोधगम्य दो दुख हैं खानी और वाणी के अध्यास। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोला में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" खानी-जाल है स्थूल प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह तथा पांच-विषयों की आसक्ति और वाणी-जाल है अपने कल्याण और शांति को कल्पित परोक्ष देव, ईश्वर आदि में खोजना। कुल मिलाकर अर्थ हुआ कि चिरस्थायी सुख को विषय-भोगों में या अपनी आत्मा से अलग मनःकल्पनाओं के ईश्वर में खोजना, ये दो दुख हैं। स्थूल बुद्धि वाले स्थूल इन्द्रियों के भोगों में सुख खोजते और दुख भोगते हुए जीवन बिता रहे हैं। जो जितना विषय-लंपट होता है, वह उतना ही तृष्णावश रात-दिन मानसिक तापों में जलता है तथा रोगी बनकर शारीरिक तापों में भी जलता है। और जो भ्रमवश यह मानता है कि परमात्मा या मोक्ष मुझ से अलग है, वह उसको पाने के लिए शून्य में हाथ-पैर मारते-मारते जीवन खोता है, और मानसिक-तापों में जलता है कि अभी परमात्मा नहीं मिला।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे स्वामी की संगत करो जो विवेक-वैराग्य-संपन्न हों। जो घट ही में राम लखाकर अपने स्वरूप का बोध करा दे और सारी भ्रांतियों से छुड़ा दे, ऐसे स्वामी हैं पूर्णकाम सद्गुरु। उनके स्वरूपबोध और उच्च रहनी के प्रभाव से जब तुम्हें भी अपने स्वरूप का बोध हो जायेगा और सारी भ्रांतियों और विषयासक्तियों से निवृत्त होकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे, तब तुम सनाथ, स्वयं स्वामी, स्वयं परमात्मा हो

जाओगे। स्वरूप को पहचानकर तथा सारी दुर्बलताओं को छोड़कर यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है।

यहां प्रसंग उपासना का है "तेहि साहेब के लागहु साथा" ऐसे स्वामी की उपासना करो, जिससे तुम सारे दुखों से मुक्त होकर स्वयं कृतकृत्य एवं पूर्णकाम हो जाओ। आग की उपासना करने से गरमी मिलती है, पानी की उपासना करने से ठंडी। विषयी लोगों की उपासना करने से अर्थात संग-साथ एवं उनसे प्रेम करने से मन में विषय-विकार बढ़ते हैं और वैराग्यवान-बोधवान संतों की उपासना करने से मन निर्मल होकर चिरंतन शांति मिलती है। इसलिए प्रथम उपासनीय बोध-वैराग्य-संपन्न संत-गुरु हैं और अंततः तो अपना स्वरूप ही उपासनीय है। शुद्ध-चेतन जिसे हम राम या आत्मा आदि भी कहते हैं, वह मेरा स्वरूप है। देहाभिमान छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

इधर पौराणिक काल में राम, कृष्ण, परशुराम, नृसिंह, वराह, मत्स्य, कच्छप आदि की कल्पना अवतारों के रूप में हुई, जो अवैदिक तो है ही, अवैज्ञानिक भी है। सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कहा जाने वाला ईश्वर मनुष्य, पशु, मछली, कछुआ, सूअर आदि बनकर जीवनभर रोता-धोता रहे, स्त्रियों के साथ रंग-रास एवं शत्रुओं के साथ युद्ध करता रहे और जीवन भर लोगों को मारता-काटता रहे, फिर लोक के लिए कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न देकर अपना नाटक दुखांत रूप में समाप्त करे, यह कैसा तमाशा है!

माने गये अवतारों में राम तथा कृष्ण ही पूजे जाते हैं। शेष परशुराम, मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आज पर्यन्त पूज्य नहीं बन सके। परशुराम के कोई अच्छे आदर्श नहीं दिखते, इसलिए उनका पूज्य बनना संभव न हुआ। मत्स्य, कच्छपादि तो निरे कल्पित ही हैं। फिर पशु, कृमि आदि से तो मनुष्य स्वयं श्रेष्ठ है। राम और कृष्ण राजपुरुष एवं राजनेता हैं और गृहस्थ हैं। इनके कई आदर्श अच्छे हैं और कई अच्छे नहीं हैं। पीछे भक्ति के नाम पर विषय-भोगों का छककर उपभोग करने की इच्छा रखने वाले अंध भक्तों ने हरिवंश, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहितादि में श्री कृष्ण के चरित में तथा काकभुशुंडि रामायण, कौशल खंड, हनुमतसंहितादि में श्री राम के चरित में रंग-रास भरकर दोनों महापुरुषों की कथाओं के आदर्श को अत्यन्त खराब कर डाला है। पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्री कृष्ण एवं श्री राम की प्राचीनतम मूल कथाओं में न उनके अवतार होने का उल्लेख था न रंग-रास करने का। वे अपनी प्राचीन कथा के अनुसार मनुष्य थे, राजनेता एवं शूरवीर थे। उनके कई आदर्श अच्छे हैं। वे हमारे पूर्वज एवं राष्ट्रीय पुरुष होने से श्रद्धेय हैं।

श्री राम का माता-पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष के लिए कठोर जीवन स्वीकारना, जीवनभर एक पत्नीव्रती रहना, भाई के लिए राज्य त्याग देना आदि उत्तम आदर्श हैं जो गृहस्थी जीवन के लिए अनुकरणीय हैं। यहां प्रसंग है जीवन के उच्चादर्श-जीवन्मुक्ति का। हम जीवन्मुक्ति चाहते हैं तो हमारे लिए जीवन्मुक्त का आदर्श चाहिए। सांसारिकता में डूबे, लड़ाई-भिड़ाई तथा उसके लिए भी छल-छद्म करते हुए जीवन बिताने वाले राजनेता पुरुष जीवन्मुक्ति के आदर्श नहीं हो सकते हैं। वे राज-काज के आदर्श हो सकते हैं।

सबका महत्त्व अपनी-अपनी जगह पर है। डॉक्टर का महत्त्व है रोगी की चिकित्सा करने में, इंजीनियर का महत्त्व उसके अपने क्षेत्र में है। इसी प्रकार राजपुरुषों का महत्त्व उनके अपने क्षेत्र में है। परन्तु अध्यात्म सर्वोच्च क्षेत्र है। आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़े हुए संतों के चरणों में राजे-महाराजे भी लोटते हैं। वाल्मीकीय रामायण पढ़िये। श्री राम सभी ऋषियों के आश्रम में जाकर उनके चरण-स्पर्श करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। यह तो गोस्वामी तुलसीदास जी की कृपा है, जो उन्होंने मानस की रचना कर श्री राम के चरणों में सभी ऋषियों को झुका दिया है, यहां तक कि उत्तरकांड में गुरु वसिष्ठ को भी।

राम, कृष्ण, परशुरामादि कितने ही अवतार कहे जाने वाले या इनसे भिन्न किसी क्षेत्र में बढ़े-चढ़े हुए महापुरुष हों, वे सब आप्तकाम, निष्काम, अकाम, पूर्णकाम जीवन्मुक्त संत पुरुषों के चरणों में जाकर ही आध्यात्मिक कल्याण की प्रेरणा पा सकते हैं।

इस रमैनी की चौथी चौपाई में आया है 'पृथ्वी रवन'। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उसने पृथ्वी पर रमण-रास नहीं किया, और दूसरा है कि उसने पृथ्वी से रमण नहीं किया। भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता में लिखा है कि कृष्ण ने हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास किया। गर्गसंहिता के अनुसार तो अरबों-खरबों स्त्रियों के साथ रंग-रास करने की बात है। हनुमत्संहिता में राम को हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास करने की बात लिखी है।

देवी भागवत के नवम स्कंध में लिखा है कि वराह भगवान जब हिरणाक्ष को मारकर पृथ्वी को ऊपर लाये, तो उसे देखकर उनका मन मोहित हो गया। अतः वराह ने पृथ्वी के साथ एक दिव्य वर्ष तक विषय-विलास एवं रमण किया। फिर तभी पृथ्वी से मंगल नामक ग्रह ने जन्म लिया।

पृथ्वी मिट्टी का पिंड होने से उससे वराह का रमण नहीं बन सकता। यह तो पूरा गपसड़ाका है ही, श्री कृष्ण तथा श्री राम के विषय में लगायी गयी रासलीला पूरा काल्पनिक है और विषयी पंडितों की देन है। सद्गुरु कहते हैं कि रमण-वमण करने वाले जीवन्मुक्ति के आदर्श एवं उपासनीय नहीं हो सकते।

पुराणानुसार विष्णु ने सती-वृन्दा से छलपूर्वक यौनाचार किया था। जब वृन्दा को वास्तविकता का पता लगा, तब उसने विष्णु को शाप दिया कि जाओ इतने मतिभ्रष्ट हो तो पत्थर हो जाओ। फिर विष्णु काले पत्थर बनकर गंडकी नदी में लुढ़कने लगे। यह नदी हिमालय से निकलकर नेपाल में होती हुई और पथ में मिली अनेक छोटी-छोटी नदियों को लेती हुई पटना के पास गंगा में मिल जाती है। इसमें काले रंग के पत्थर मिलते हैं। वृन्दा के शाप से विष्णु ही काले पत्थर के रूप में हो गये हैं ऐसी पौराणिक कल्पना है जो निराधार है। किसी के शाप से कोई व्यक्ति पत्थर नहीं बनता। हां, विष्णु की बुद्धि पत्थर अवश्य बन गयी जो उन्होंने एक सती के साथ छल किया। विष्णु मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं हो सकते, यह तो उनके चरित्र से ही उजागर है।

लोग कहते हैं कि श्री कृष्ण परमात्मा के अवतार थे। उन्होंने जब द्वारका में शरीर का त्याग किया तब उनका शरीर ही जगन्नाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इसलिए जगन्नाथ की मूर्ति भी अवतार है। साहेब कहते हैं कि यह सब कपोलकल्पना है। श्री कृष्ण महामानव थे, और जगन्नाथ-मूर्ति जड़ पिंड है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे सांप्रदायिक बवंडर में मत पड़ो। जिसको मनुष्यों ने अनुमान कर कल्पना से गढ़ रखा है वह ईश्वर तथा अवतार न स्थूल है और न सूक्ष्म है। अर्थात वह न जड़दृश्य है और न चेतन द्रष्टा है। वह तो मनुष्यों के मन की कल्पना है। मनुष्य ही इनका कल्पक होने से वह स्वयं श्रेष्ठ है।

विवेक-द्वारा माया से मुक्त होकर स्वरूप-राम में रमण

रमैनी–७६

माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा॥ १ ॥
माया मोह कठिन है फंदा। करे विवेक सोई जन बन्दा॥ २ ॥
राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥ ३ ॥
साखी—राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।
आदि अन्त औ युग युग, मोहि रामहि ते संग्राम॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—बंदा = बंदः, दास, भक्त, आज्ञाकारी, उपासक। बेरा = बेड़ा, लकड़ियों का गट्ठा, जिस पर बैठकर छोटे-छोटे नदी-नाले पार किये जाते हैं, जहाज। आदि = बोध-काल का आरम्भ, जब ज्ञान हुआ हो। अन्त = जीवन का अंत। युगयुग = नित्य, शाश्वत। संग्राम = युद्ध; परन्तु यहां का तात्पर्य है लक्ष्य।

भावार्थ—संसार के सारे प्राणी माया-मोह से ग्रसित हैं; परन्तु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई विचार नहीं करता॥१॥ माया-मोह का बंधन बलवान है, जो विवेककर इसे काट दे वही गुरु का सच्चा भक्त है॥२॥ राम ऐसा नाम जिस आत्मतत्त्व का है उस निज स्वरूप के बोध-जहाज में बैठकर साधक संसार के प्रवाह-धारा से पार हो जाता है॥३॥

राम-नामवाची निजस्वरूप-बोध बड़ा दुर्लभ है। यह जिसे सद्गुरु-संतों की संगत में मिल जाता है, उसके अन्य सारे विषयों की कामनाएं छूट जाती हैं। उसके मन में यह निश्चय हो जाता है कि बोध-काल के आदि से लेकर जीवन के अन्त तक मेरा लक्ष्य शाश्वत आत्मा-राम ही है॥७६॥

व्याख्या—माया के मोह में संसार के सारे लोग डूबे हैं। माया मन का धोखा है और मोह एक मूर्च्छा है। संसार के अनुकूल प्राणी-पदार्थों के मिलने पर लगता है कि यह सब ऐसा ही सदैव रहेगा। जवानी, सौंदर्य, सम्मान, शासन, स्वामित्व लगते हैं कि ये सब इसी प्रकार बने रहेंगे। यह मन का धोखा है, भ्रम है और इसी भ्रम में मूढ़ बनकर आदमी आत्म-कल्याण से बेभान बना रहता है। वह मिले हुए प्राणी-पदार्थों, अवस्था-परिस्थितियों, सम्मान-सुखों में रमता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके मन में जड़ाध्यास जमता जाता है। वह सत्संग, साधु-सेवा, स्वाध्याय, साधना आदि पर ध्यान नहीं देता। वह कभी नहीं सोचता कि मैं कौन हूं, यहां मेरा क्या है, इन सबका सम्बन्ध कब तक के लिए है!

मायावी पदार्थों में मोहमूढ़ बना मानव थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए दूसरों को धोखा देता है, छल करता है, हिंसा-हत्या करता है। झूठ, दुर्व्यसन, व्यभिचार, तथा दुस्स्वभावों में

डूबा अपने आपको वह संसार के गहन अंधकार-कुएं में डालकर सन्मार्ग से दूर हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा।।" सारा संसार मोह की माया में मूढ़ बना है। इसका कोई विचार नहीं करता है कि इन मायावी पदार्थों का सम्बन्ध कितने दिनों तक है। इसके आगे वे कहते हैं "माया मोह कठिन है फन्दा।" माया-मोह की फांसी कठोर है। लग जाने पर उसका कटना सरल नहीं है। आप देखते हैं कि जो आदमी बीड़ी-तम्बाकू का सेवन करने लगता है और जब उनका आदती हो जाता है, तब उनमें हानि देखते हुए भी उन्हें छोड़ नहीं पाता। वह कहता है "एक समय भोजन न मिले तो कोई अकाज नहीं, किन्तु बीड़ी-तम्बाकू मिलना चाहिए।" यह उसकी मोह-मूढ़ता है। जब ऐसी तुच्छ और गंदी चीजों के मोह में आदमी इतना मूढ़ हो जाता है, तब स्त्री, पुत्र, धन, घर, मान, बड़ाई आदि में आसक्त हो जाने पर उसके मन में कितनी कायरता आ सकती है, यह सहज समझा जा सकता है। माया-मोह केवल मन का भ्रम है। उसको तोड़ देना बड़ा सरल है। वह कठिन बंधन नहीं है, फिर कठिन क्यों हो जाता है; क्योंकि आसक्ति हो जाने पर आत्मबल का विस्मरण हो जाता है। यह केवल मन की बे-समझी है। एक लड़के को किसी लड़की से मोह हो जाता है। वह कहता है कि मैं उस लड़की के बिना रह नहीं सकता। यदि वह मुझे नहीं मिली, तो मैं अपनी जान खो दूंगा। वह उसी के पीछे दीवाना हो जाता है। परन्तु जब उसे एक दिन यह पता लगता है कि वह लड़की तो किसी दूसरे लड़के के साथ हो गयी है और वह मेरी हत्या करने का षड्यंत्र रच रही है, तो उस लड़के का मन उस लड़की से तुरन्त फट जाता है, और उलटकर उसके प्रति द्वेष बन जाता है। फिर उसके प्रति उसके मन में कोई मोहजनित आकर्षण नहीं रह जाता। वह जिसके लिए मर रहा था, अब क्षण ही में उससे एकदम विरत क्यों हो गया? क्योंकि उसकी बुद्धि बदल गयी। इसलिए जाना जाता है कि सारा मोह भ्रम-जनित है। मूढ़ता के कारण एवं आसक्तिवश उसका तोड़ना कठिन लगता है।

"करे विवेक सोई जन बन्दा" यह अर्धाली बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि वही गुरु का सच्चा सेवक एवं भक्त है जो विवेककर माया-मोह का त्याग करे। हृदय में शुद्ध विवेक उदय हो जाने पर माया-मोह का त्याग करना नहीं पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव हो जाता है। सूर्य उदय होने पर अन्धकार हटाना नहीं पड़ता, किन्तु सूर्य के उपस्थित हो जाने पर अन्धकार स्वयं नहीं रहता। सूर्य के न होने से ही अन्धकार है। सूर्य सकारात्मक है और अन्धकार नकारात्मक। इसी प्रकार मनुष्य के मन में माया-मोह है ही इसीलिए, क्योंकि उसके हृदय में विवेक नहीं है। विवेक उदय होने पर माया-मोह का अस्तित्त्व रह ही नहीं सकता। विवेक है वस्तुस्थिति की समझ। हम शरीर को एक आकर्षक वस्तु के रूप में देखते हैं, इसलिए उसमें मोह करते हैं। जब हमारे हृदय में विवेक उदय होता है, तब शरीर हड्डी का ढांचा, मांस का लोथड़ा, टट्टी-पेशाब का थैला तथा तीन तापों से तपता हुआ तवा लगता है। तब हम इसे केवल आत्मकल्याण तथा जनकल्याण का साधन मानते हैं, भोगों का साधन नहीं। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार देख लेना विवेक है। विवेक उदय होने पर हमें लगता है कि मिले हुए अनुकूल-से-अनुकूल प्राणियों के पास भी मन

है। उनके मन में अन्तर हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यहां किससे मोह किया जाय! यहां कौन अपना है। बहुत प्यारा समर्पित व्यक्ति भी तो रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु के अधीन है। विवेक बताता है कि सारा संग्रह विनशता है, उन्नति के बाद पतन प्रकृति का स्वभाव है, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग ध्रुव है तथा जिसका जन्म हुआ है, उसे मरना है चाहे वह कितना बड़ा आदमी हो। संसार का स्वभाव है खिलने के बाद मुरझा जाना, चुनने के बाद ढह जाना।

मैं शुद्ध चेतन हूं, शरीर जड़ है। मैं अविनाशी हूं, शरीर नाशवान है। मेरा तथा संसार का सम्बन्ध मान्यता मात्र है। इस संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा केवल मैं हूं। मैं से मैं कभी अलग हो नहीं सकता, शेष सर्वथा अलग ही है। विषय-वासनाओं को छोड़कर मैं सदैव पूर्णकाम, आप्तकाम, अकाम, निष्काम एवं अमृतधाम हूं। यह विवेक-प्रकाश जिसके हृदय में उदय हो जाता है वह सदैव कृतकृत्य, मंगलमय एवं सुख-सागर हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं "करे विवेक सोई जन बन्दा" जो विवेक करे, वही गुरुभक्त है, वही सच्चा उपासक है और वही धर्म का अनुयायी है।

"राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥" यहां राम नाम के सस्ते जहाज से पार जाने की बात न सोच लेना चाहिए। कबीर साहेब अपनी बातें तात्कालिक जनभाषा में कहते हैं, परन्तु उनकी बातों का रहस्य गम्भीर होता है। वे केवल यांत्रिक राम-नाम जप को भव-बंधन काटने का शस्त्र नहीं मानते। उनका संकेत है स्वरूपज्ञान के लिए। व्यक्ति का जो अपना शुद्ध चेतन-स्वरूप है, जिसे हम राम-नाम से भी जानते हैं, उसका ज्ञान एवं बोध ही वह जहाज है जिससे कोई भी संसार-सागर से पार जा सकता है। संसार-सागर की धारा मन है। हम मन-द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं वह सब नाम-रूपात्मक संसार है। जब हमें अपने चेतन-स्वरूप का बोध होता है, तब हम मन की मान्यताओं से मुक्त हो जाते हैं। 'स्व' चेतन है 'पर' संसार है। 'स्व' का बोध ही 'पर' से मुक्त होने का साधन है। यह 'स्व' ही राम है। स्व-राम में रमण ही संसार-सागर से पार जाने का जहाज है। जिसे संसार-सागर से मुक्त होना हो, वह अपने चेतन-स्वरूप-राम में रमण करे। आत्मबोध, आत्मरति तथा आत्मतुष्टि ही कृतकृत्यता है।

"राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।" जिसे हम राम-नाम से जानते हैं, उस स्व-स्वरूप का बोध बड़ा दुर्लभ है। यह कैसा आश्चर्य का विषय है कि जो नित्यप्राप्त अपना स्वरूप है, उसी का ज्ञान, उसी का बोध पाना कठिन हो गया है। यह प्रकृति का स्वभाव है कि अत्यन्त निकट की वस्तु देखना कठिन होता है। हम अपनी जिन आंखों से दूर-दूर के ग्राम, पर्वत, वन, बादल आदि को साफ देख लेते हैं, उन्हीं से अपनी आंखों के पास फैले अपने मुंह को नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख पाते। ध्यान देने योग्य बात है कि हम अपनी आंखें भले नहीं देख पाते हैं, परन्तु थोड़ा विवेक करने से यह साफ हो जाता है कि मेरी आंखें हैं। अपनी आंखों से ही तो मैं देखता हूं। आंखें न होतीं तो मैं कैसे देखता! इसी प्रकार मैं न होऊं तो सबका ज्ञाता कौन हो? मैं ही तो दृश्यों को जानता हूं। जानने वाला जानी हुई चीजों से अलग होता है। अतः मैं सबका ज्ञाता, सबसे भिन्न शुद्ध चेतन-स्वरूप हूं। जीव दृश्य-विषयों में उलझा

है, इसलिए उसे अपने स्वरूप का ज्ञान दुर्लभ हो गया है, परन्तु जब वह विषयों से उलटकर अपनी ओर देखता है, तब स्वरूपबोध सहज होता है। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है "प्रतिबोध से जाने हुए ज्ञान से ही अमरता मिलती है।"[1] यहां 'बोध' का अर्थ है दृश्य-विषयों को जानना, और 'प्रतिबोध' का अर्थ है विषयों से लौटकर अपनी ओर ध्यान देना कि विषयों को किसने जाना! फिर यह ज्ञान हो जायेगा कि जड़-विषयों को जानने वाला मैं चेतन हूं। इस प्रकार विषयों से लौटकर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित होने से ही अमरता मिलती है। अपनी अमरता का बोध हो जाना ही अमरता की प्राप्ति है। अमर तो जीव है ही। उसे न जानकर अपने को मरणधर्मा समझता है और मृत्यु से भयभीत रहता है। जब स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति हो जाती है, तब जीव निर्भय हो जाता है।

ऐसी दशा में पहुंचकर फिर "औरे ते नहीं काम" की स्थिति हो जाती है। जिसने सारे विषयों को परखकर त्याग दिया, वह अपने पारख स्वरूप में निमग्न रहता है। उसकी दृष्टि में अन्य सारे विषय तुच्छ हो जाते हैं। उसे किसी से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो ऐसी दशा प्राप्त होने के समय से जीवन के अंत तक इसी में रमता है। शाश्वत राम-स्वरूप चेतन ही उसका लक्ष्य हो जाता है। "मोहि रामहि ते संग्राम" यहां संग्राम का अर्थ युद्ध नहीं है। यहां संग्राम का लाक्षणिक अर्थ है लक्ष्य। बोधवान अपने पूरे जीवन में राम को ही अपना लक्ष्य मानता है। वह सदैव स्वरूप-राम में ही रमता है।

स्व-स्वरूप की पहचान

रमैनी–७७

एकै काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा॥ १ ॥
त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्बरूप जग रहा समाई॥ २ ॥
रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुवा जाय न तौली॥ ३ ॥
भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं। दुख सुख रहित रहै तेहि माहीं॥ ४ ॥

साखी—अपरं परं रूप मगुरंगी, आगे रूप निरूप न भाय।
बहुत ध्यान कै खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय॥ ७७ ॥

शब्दार्थ—काल = समय, अन्त, मृत्यु, मनःकल्पना। एक नाम = राम, आत्मा, चेतन जीव। सर्वरूप = सभी देहों में। निरूप = रूप रहित। तेहि माहीं = स्वरूप में। अपरं परं = सर्वोच्च। रूप = चेतन स्वरूप। मगुरंगी = उसी मार्ग में लीन होओ, स्व-स्वरूप में स्थित होओ। रूप = चेतन स्वरूप। निरूप = निरूपण, अन्वेषण, खोज। भाय = भाई। तेहि = चेतन। संख्या = तरीका, गणना।

भावार्थ—संसार के सारे उत्पन्न पदार्थों को एक ही काल विनष्ट करता है, और एक ही मनःकल्पना जीवों को भटकाती है। संसार में एक आत्मअस्तित्त्व ही सभी जीवों को

---

१. प्रतिबोधविदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते। *(केन उपनिषद् २/४)*

प्रिय है ।।१।। उस चेतन-स्वरूप राम को न स्त्री कहा जा सकता है और न पुरुष; क्योंकि वह स्वयं लिंग-रहित शुद्ध चेतन है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि सभी रूपों-शरीरों में प्रविष्ट होकर अपनी सत्ता का आभास देता है ।।२।। उसका कोई भौतिक रूप-रंग नहीं है; परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि वह रूप-रहित है, अर्थात द्रव्यत्व-रहित है। क्योंकि वह ज्ञानरूप है ही। उसका हलका-गरुआ वजन नहीं किया जा सकता ।।३।। उसे न भूख लगती है और न प्यास; न उसे धूप की आवश्यकता है और न छाया की। क्योंकि सुख-दुख द्वंद्वों से रहित उसकी स्थिति उसके मूल स्वरूप में ही है। अथवा बोधवान को ऐसे निर्द्वंद्व स्वरूप में स्थित रहना चाहिए ।।४।।

उसका स्वरूप सर्वोच्च है, अतः उसी निज स्वरूप में नित्य रमण करो। हे भाई! इसके आगे उसके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। बड़ी एकाग्रता से उस पर विचार करने के बाद यह निर्णय हुआ कि अनुभव के अलावा उसको समझने का अन्य कोई तरीका नहीं है, या वह गुण में एक होने पर भी व्यक्तित्त्व में अनेक होने से उसकी गणना नहीं की जा सकती—'पुरुष बहुत्वं सिद्धम्' ।।७७।।

व्याख्या—"एकै काल सकल संसारा" संसार की सारी वस्तुओं को एक काल बदलता रहता है। काल क्या है? एक महाकाल है दूसरा खंडकाल है। महाकाल का रूप अनादि-अनन्त है। अर्थात उसकी न शुरुआत है और न आखिर। खंडकाल क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, प्रहर, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष आदि हैं। वैशेषिक दर्शन ने काल को द्रव्य माना है जो विचारणीय है। देश और काल के आयाम में ही सारी वस्तुएं गति करती हैं। इसी में परिवर्तन होता है जिसे हम निर्माण और विनाश के रूप में देखते हैं। जैसे पत्ता खेलने वाले पत्ते को तर-ऊपर बारम्बार करते हुए फेरते हैं और उसको वे पीसना कहते हैं, वैसे काल संसार की सारी चीजों को पीसता है। सद्गुरु का महावाक्य है "दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय।"[१]

ज्ञानी पुरुष विचार के उत्तुंग शिखर पर बैठकर देखता है तो उसे लगता है कि देश और काल के दो पाटों की चक्की में सारा संसार निरंतर पीसा जा रहा है। संसार की बड़ी-बड़ी हस्तियों को काल पीसकर रख देता है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, यदुवंश आदि के बड़े-बड़े राजे-महाराजे और उनके विशाल राज्य, संपत्ति तथा ऐश्वर्य कहां गये! कितनों के तो कोई नाम भी नहीं जानता है। अभी आपके नगर या गांव में सौ वर्ष के पुराने घर मिलना मुश्किल है। आपके घर में सौ वर्ष की पुरानी वस्तु मिलना मुश्किल है, जबकि इस महाकाल के मध्य में सौ वर्ष एक सेकेंड से भी कम है।

सद्गुरु कबीर इस रमैनी की प्रथम पंक्ति की प्रथम अर्धाली में सभी भौतिक वस्तुओं को निरंतर पीसने वाले काल की याद दिलाकर संसार से वैराग्य कराते हैं और अगली अर्धाली में अविनाशी स्वरूपबोध की सर्वप्रियता का स्मरण दिलाकर मनुष्य के मन में ज्ञान जगाते हैं। संसार की क्षणभंगुरता जाने बिना वैराग्य नहीं होता, और विषयों से वैराग्य हुए बिना अविनाशी स्वरूप का शोधन नहीं होता।

---

१. बीजक, साखी १२९।

काल की दूसरी व्यंजना है मन की कल्पनाओं के लिए। यह काल जीव को भटकाता है। संसार के सारे जीवों को मन की कल्पना रूपी काल भटका रहा है, जो जीव का ही पैदा किया हुआ है, परन्तु उसी की भूल से वह उसी को निरंतर पीड़ित करता है। जीव के मन की कल्पनाएं ही जीव को मलिन विषयों में, राग-द्वेष में, मोह-शोक में तथा परोक्ष अवधारणाओं में भटकाती हैं। यह बाहरी काल से अधिक भयंकर है।

समय रूपी काल तो चलता रहेगा और उससे शरीरादि जड़ पदार्थ विनशते रहेंगे, तो उसमें जीव का कोई अकल्याण नहीं, किन्तु मनःकल्पना रूपी काल जीव के गले की फांसी है! इससे बचना उसका काम है। काल की पहली व्यंजना में जहां संसार की नश्वरता का दिग्दर्शन है, वैराग्य है; और दूसरी व्यंजना में जहां जीव के बन्धन हैं, सावधानी है। इस प्रकार वैराग्य और सावधानी के साथ अब आगे स्वरूपज्ञान के क्षेत्र में उतरना है।

"एक नाम है जगत पियारा" कौन-सा नाम पूरे जगत को प्यारा है? विचार करके देखा जाय, तो संसार का कोई भी नाम संसार के सभी लोगों को प्रिय नहीं है। राम, अल्ला, शिव कोई भी नाम हो सबको पसंद नहीं है। किसी मसजिद में कह दीजिए राम या शिव, देखिए आफत आ जायेगी। इसी प्रकार किसी मन्दिर में अल्ला कहकर देख लीजिए। अतएव संसार में एक भी ऐसा नाम नहीं है जो सबको प्रिय हो।

सद्गुरु ने यहां "एक नाम है जगत पियारा" कहकर व्यक्ति के अपने अविनाशी आत्मस्वरूप का संकेत किया है। कबीर साहेब की वाणी में शाब्दिक अर्थों से हटकर लाक्षणिक अर्थों की भरमार है। अतः यहां 'एक नाम' से अर्थ है एक आत्मतत्त्व जो सबको प्रिय है। हर जीव को सबसे प्यारा क्या है? अपनी आत्मा, अपना आपा।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का एक सुन्दर उदाहरण है। ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं, एक का नाम था मैत्रेयी तथा दूसरी का नाम था कात्यायनी। ऋषि ने दोनों को धन बांटकर दे दिया और स्वयं संन्यास लेने के लिए घर छोड़कर चलना चाहा। कात्यायनी तो साधारण बुद्धि की थी, वह कुछ न कह सकी; परन्तु मैत्रेयी समझदार थी। उसने पूछा और याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

'क्या मैं इस धन को पाकर अमर हो जाऊंगी?'[1]

'धन से अमरता की आशा नहीं करना चाहिए।'[2]

'तो मैं जिससे अमरता न पा सकूं, उसको लेकर क्या करूंगी?'[3]

'तो ले सुन, मैं तेरे को अमरता का रास्ता बताता हूं। पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है; पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, ऐश्वर्य तथा अन्य सारी चीजों को

---

१. कथं तेन अमृता स्याम्।

२. अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन। बृह० २/४/२।

३. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। बृ० २/४/३।

हम उन-उन के लिए प्यार नहीं करते, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए ही प्यार करते हैं। जिस आत्मा के लिए हम सब कुछ को प्यार करते हैं, वह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करने योग्य है। हे मैत्रेयी! आत्मा को देखने, सुनने, समझने और जानने से मनुष्य मानो सब कुछ जान जाता है और सब कुछ पा लेता है।'[१]

अतएव व्यक्ति का जो सबसे प्यारा है वह अपनी आत्मा है। आत्मा का अर्थ है अपने आप, चेतन जीव एवं स्व। 'एक नाम है जगत पियारा' की जगह हम समझ लें 'एक जीव है जगत पियारा'—'एक आत्मा है जगत पियारा'—'एक राम है जगत पियारा'—'एक चेतन है जगत पियारा'—'एक स्व-स्वरूप है जगत पियारा'।

बाहर की वस्तुएं चाहे जितनी प्रियकर हों, उनका एक दिन छूट जाना निश्चित है; किन्तु जीव अपने आपा से, अपने स्वरूप से कभी अलग नहीं हो सकता। बाहर की चीजें चाहकर भी सदा के लिए अपने पास रखी नहीं जा सकतीं तथा अपना आपा चाहकर भी हम अपने से अलग नहीं कर सकते। इसलिए जगत के सभी जीवों को सर्वाधिक प्रिय 'आपा' है, आत्मा है, चेतन स्वस्वरूप है।

'त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्व रूप जग रहा समाई।।'' हम अपनी आत्मा को, सभी देहों में रमने वाले अविनाशी चेतन को स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं कह सकते। क्योंकि स्त्रियत्व, पुरुषत्व, नपुंसकत्व देह के लक्षण हैं, जीव के नहीं। जीव तो सभी प्रकार के देहों में, यहां तक कि पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि में भी समान चेतन मात्र है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"यह जीव आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उस से जुड़ जाता है।"[२]

"रूप निरूप जाय नहिं बोली" अर्थात उसका कोई रूप नहीं कह सकते हैं। कैसे कहा जाय कि जीव लाल, पीला, काला, उजला आदि रंग या अमुक आकृति वाला एवं रूप वाला है। संसार के सारे दृश्यमान रूप भौतिक हैं। चेतन आत्मा का रूप नहीं बता सकते। अब यदि कहा जाय कि वह नि-रूप है, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जीव सत्तावान नित्य द्रव्य है, तो उसको नि-रूप—अ-द्रव्य कैसे कह सकते हैं। इसलिए चेतन को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। इस आत्मा को कोई तौल नहीं सकता कि यह बताये कि वह हलका है या वजनदार।

"भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं" भूख-प्यास लगना देह का काम है, जीव के शुद्ध स्वरूप में भूख-प्यास लगने की कोई बात ही नहीं उठती। धूप और छाया की आवश्यकता देह को लगती है। देह में ठंडक लगने पर धूप-सेवन की आवश्यकता होती है तथा धूप लगने पर छाया की। जो देहातीत शुद्ध-चेतन है उसमें जैसे भूख-प्यास की गुंजाइश नहीं,

---

१. ....आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

(बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण ४, मन्त्र ५)

२. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीमादत्ते तेन तेन स युज्यते।। *(श्वेताश्वतर उप० ५/१०)*

वैसे उसमें ठंडी-गरमी लगने की गुंजाइश न होने से उसे धूप तथा छाया की आवश्यकता नहीं। चेतन का स्वरूप अभौतिक होने से वह मूलतः सुख-दुख द्वन्द्वों से परे है। अतएव बोधवान को चाहिए कि वह ऐसे निर्मल शुद्ध स्वरूप चेतन में ही सदैव स्थित रहे।

सद्गुरु ने ऊपर जीव के शुद्ध लक्षण बताये कि वह न स्त्री है न पुरुष, न रूपवान है न शून्य, न हलका है न गरुआ, न उसमें भूख-प्यास है न ठंडी-गरमी और न सुख-दुख। वह तो बस, केवल चेतन है। साधक को चाहिए कि वह इन लक्षणों को अपने लक्ष्य में रखकर देहाभिमान से दूर हो। वह हर समय यह समझे कि मैं स्त्री-पुरुष नहीं हूं, मैं काला-गोरा नहीं हूं। मुझे भूख-प्यास, ठंडी-गरमी नहीं लगती। मैं तो देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध-चेतन हूं। यह बोध-मनन शांति-स्वास्थ्य के लिए अमृत-टानिक है। स्वस्वरूप-ज्ञान की निरन्तर स्थिति से ही निर्भयता आती है। निर्भयता ही अमरता है। निर्भयता ही अमृत है।

"अपरं परं रूप मगुरंगी" इस प्रकार मेरा अपना चेतन स्वरूप 'अपरं परं' सर्वोच्च है। स्व-चेतन ही में तो सबका बोध होता है। सबका बोध करने वाला सबको जानने वाला ही तो सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं 'मगुरंगी' इसी मार्ग में रंगो। इसी स्वरूप-विचार में निरन्तर तन्मय रहो। "आगे रूप निरूप न भाय" हे भाई, इसके आगे अपने स्वरूप का अन्य कोई निरूपण, निर्धारण एवं विवरण नहीं हो सकता। शब्दों में अधिक विवरण दिया ही नहीं जा सकता। उसको अपरोक्ष जानने का तरीका अनुभव ही है। हम जैसे विषयों से लौटते हैं, वैसे आत्मसत्ता का बोध होता है। 'मैं हूं' इसके लिए अन्य विवरण की क्या आवश्यकता! इसलिए ज्यादा शब्दजाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। सदैव स्व-अस्तित्त्व एवं आत्म-अस्तित्त्व में निमग्न रहना चाहिए।

"बहुत ध्यान कै खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय॥" सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने बहुत ध्यान देकर, बहुत एकाग्र होकर इस विषय पर चिंतन किया है, परन्तु स्व-स्वरूप को जानने का कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता। इसका एकमात्र तरीका है ध्यान, समाधि। जब सारे दृश्य निवृत्त हो जाते हैं, तब शेष द्रष्टा रहता है। जब तक मन है, विचार उठते हैं, तब तक दृश्य है; जब मन शून्य हो गया, निर्विचार अवस्था में पहुंच गया तब स्व-चेतन मात्र रह गया। बस, यही आत्म-अस्तित्त्व का पूर्ण बोध है। परखकर जब सारा दृश्य त्याग दिया, तब स्वयं पारख स्वरूप चेतन रह गया। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है—

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहां होय रहु स्थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥ (त्रिज्या, अंत स्तुति)

"नहिं तेहि संख्या आय" यह वचन बहु जीववाद एवं 'पुरुष बहुत्वं' को व्यंजित करता है। सभी जीवों का गुण एक चेतना है, परन्तु व्यक्तित्त्व सबका अलग-अलग है, तभी सबके कर्म-फल-भोग एवं बंध-मोक्ष की व्यवस्था बनती है। जीव, आत्मा, चेतन, हंस कुछ भी कहो, असंख्य हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संसार का व्यवहार है। सबमें गुणात्मक एकता है। सबका एक गुण ज्ञान है। परन्तु सभी जीव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न अस्तित्त्व

रखते हैं। अतएव "नहिं तेहि संख्या आय" का सरल भावार्थ 'पुरुष बहुत्वं' का बोध कराता है।

देहाभिमान की निन्दा

रमैनी–७८

मानुष जन्म चूकेहु अपराधी। यहि तन केर बहुत हैं साझी॥ १ ॥
तात जननि कहैं पुत्र हमारा। स्वारथ जानि कीन्ह प्रतिपारा॥ २ ॥
कामिनि कहै मोर पिउ आही। बाघिनि रूप गिरासा चाही॥ ३ ॥
सुत-कलत्र रहैं लौ लाई। यम की नाँई रहैं मुख बाई॥ ४ ॥
काग गिद्ध दोउ मरण विचारें। सीकर-श्वान दोउ पन्थ निहारें॥ ५ ॥
अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥ ६ ॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥ ७ ॥
तेहि घर को घर कहै गँवारा। सो बैरी होय गले तुम्हारा॥ ८ ॥
सो तन तुम आपन कै जानी। विषय स्वरूप भूलेउ अज्ञानी॥ ९ ॥
साखी—इतने तन के साझिया, जन्मों भरि दुख पाय।
चेतत नाहिं मुग्ध नर बौरे, मोर मोर गोहराय॥ ७८ ॥

शब्दार्थ—साझी = हिस्सेदार। तात = पिता। जननि = माता। कामिनि = कामोन्मादिनी, रखैल। पिउ = प्रियतम। कलत्र = विवाहिता पत्नी। लौ = कामना। सीकर = सियार। मुग्ध = विमोहित। बौरे = पागल। गोहराय = पुकारना।

भावार्थ—हे मानव! यह तेरा बहुत बड़ा अपराध है जो विवेक-संपन्न मानव-जीवन पाकर भी तूने इससे कल्याण-साधना नहीं की और देहाभिमान के धोखे में पड़ा रहा। जिस शरीर को तू अपना मानता है, उसके बहुत हिस्सेदार हैं॥१॥ तेरे शरीर को माता-पिता कहते हैं कि यह मेरा पुत्र है। तुम्हारे शरीर से अपना स्वार्थ-लाभ जानकर वे इसका पालन-पोषण करते हैं॥२॥ तुम्हारी कामोन्मादिनी प्रेमिका तुम्हारे शरीर को अपना प्रियतम बतलाती है; परन्तु वह सिंहनी बनकर तुम्हें खा जाना चाहती है॥३॥ स्त्री, पुत्रादि परिवार के अन्य लोग भी तुम्हारे शरीर से बहुत-सारी कामनाएं रखते हैं और यम की तरह मुख फैलाये तुम्हारा सब कुछ हड़प कर जाना चाहते हैं॥४॥ कौआ, गिद्ध, सियार और कुत्ते तुम्हारे शरीर की मरण-कामना करते हैं और तुम्हारी लाश का रास्ता देखते हैं कि कब यह खाने को मिलेगी॥५॥ अग्नि कहती है मैं इस शरीर को पाऊं तो इसे जलाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं, और पानी कहता है कि मैं इसे जलने से बचाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं॥६॥ धरती कहती है यह शरीर मेरे अन्दर आये तो मैं इसे अपने में मिला लूं और पवन कहता है कि यह मुझे मिले तो मैं अपने अंश को उड़ा ले चलूं॥७॥ मूढ़ मानव! ऐसे साझी के घर को तू अपना घर कहता है! आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में इस शरीर को न लगाकर इसके द्वारा विषयासक्ति और दुष्कर्म करने से तो यह

शत्रुरूप होकर तुम्हारे गले लग गया है॥८॥ ऐसे साझी के जड़ तथा नश्वर शरीर को तूने अपना करके मान रखा है। हे आत्मज्ञान से विहीन अज्ञानी मानव! तू विषयरूप शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर इसी में भूल गया है॥९॥

ऊपर कथित शरीर के इतने हिस्सेदार हैं। इसके आसक्तिवश तू जीवन भर दुख पाता है। हे विमोहित पागल मानव! तिस पर तू सावधान नहीं होता और इस शरीर तथा परिवार को मेरा-मेरा कहकर चिल्लाता है॥७८॥

व्याख्या—कबीर साहेब का हृदय तीव्र संवेदनशील था। वे जिस विषय पर कहते हैं अपने श्रोताओं एवं पाठकों के मन को मथ देते हैं। इस रमैनी में उन्होंने देहाभिमान पर करारी चोट की है। वे कहते हैं जो इतना उत्तम विवेक संपन्न मानव-शरीर पाकर आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में नहीं लगता, बल्कि केवल सूअर की तरह पेट भरता और बन्दर की तरह भोगों को भोगता रहता है, वह अपराधी है। वह दण्ड का पात्र है। उसको प्रकृति-द्वारा दण्ड मिलना है।

व्यक्ति अविवेकवश समझता है कि मैं देह हूं। वह निरन्तर देह के ही मोह में पड़ा हुआ इसी को पालने तथा इसके द्वारा भोगों को भोगने में लगा रहता है और इसी के अहंकार में डूबा रहता है। शरीर का पालना बुरा नहीं है। मनुष्य का पहला काम है कि वह अपने शरीर को संतुलित आहार-विहार से स्वस्थ रखे। परन्तु यह ध्यान रहे कि शरीर साध्य नहीं, किन्तु साधन मात्र है। मनुष्य का साध्य है आत्मकल्याण। आत्मकल्याण है पूर्ण शांति। पूर्ण शांति होती है वासनाहीन मन में। अतएव जो कुछ छूटने वाला है देह से संसार तक, सबकी वासना, कामना तथा मोह छोड़कर ही शांति मिलेगी। वासना छोड़ने का मतलब कर्तव्य त्यागना नहीं है, किन्तु मोह त्यागना है जो कर्तव्य-पथ में भी रोड़ा बनता है।

दृष्टिकोण के अंतर से प्राप्त-शक्ति के सदुपयोग तथा दुरुपयोग का अंतर होता है। 'मैं' शरीर हूं। जीवन का लक्ष्य शरीर से अधिक-से-अधिक भोगों को भोगना है। यह अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण है, और इसका फल काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यभिचार, हत्या, दूसरे के अधिकार का हरण, मन की उलझन तथा अशांति है। 'मैं' शरीर नहीं, शुद्ध चेतन हूं। शरीर तो जड़ तथा नाशवान है। यह केवल आत्मकल्याण एवं लोककल्याण का साधन है। यह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण है। इसका फल अनासक्ति, वासना-हीनता, पर-सेवा तथा पूर्ण शांति है। जीवन दोनों दृष्टिकोण वाले जीते हैं। एक अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप बनता है तथा दूसरा अपने और दूसरों के लिए वरदान बनता है।

जो धन को उद्देश्य समझता है, वह जिस किसी प्रकार धन बटोरकर केवल उसे जमा करता है; और जो धन को साधन समझता है वह नीतिपूर्वक संग्रह करते हुए उसको जनकल्याण में खर्च करता है। धन से दोनों जुड़े होते हैं, परन्तु दोनों के जीवनस्तर में महान अंतर होता है। एक धन का गुलाम बना जीवनभर नरक भोगता है। दूसरा धन का सदुपयोग कर शांति और सुयश का भागी होता है। अतएव आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण के लिए देह, परिवार, धन आदि समस्त प्राप्त-शक्तियों की आसक्ति का त्याग

करना अत्यन्त आवश्यक है। आसक्त आदमी के कर्तव्य उज्ज्वल नहीं होते। उसी के कर्म उज्ज्वल होते हैं जो सर्वत्र अनासक्त है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी! जिस शरीर का तू अहंकार करता है उसके बहुत साझीदार हैं। एक ही तेरा शरीर किसी का पिता है, किसी का पुत्र, किसी का साला है, किसी का जीजा, किसी का मामा, किसी का भांजा, किसी का मित्र है तथा किसी का शत्रु। अंततः यह शरीर तेरा नहीं है। जिस देहाभिमान में पड़कर तू लूट-खसोटकर अपने माने हुए परिवार को संपन्न बनाने का पाप कर रहा है, उसका क्षण मात्र का ठिकाना नहीं है। ये परिवार के लोग तेरे कितने दिन के साथी हैं! अंततः किसका कौन है!

जिस शरीर पर तुम्हें गर्व है, उसे चारों तरफ से नोच-नोचकर खाने वाले लगे हैं, परिवार के लोग दूसरी तरह नोचते हैं और हिंसक जन्तु दूसरी तरह। जीव के निकल जाने पर तो यह शरीर सियार, कुत्ते, चील, गीध का आहार बनेगा, या कीड़ों का खाद्य या मछली-कछुओं का भोजन या आग का अंगार।

हर समय शरीर में असंख्य जड़-कण संयुक्त होते हैं तथा उससे असंख्य जड़-कण निकलकर बाहर विकीर्ण होते हैं। विज्ञान के अनुसार सात वर्ष में शरीर के सारे कण बदल जाते हैं। जो शरीर क्षण-क्षण बनता और बिगड़ता है और एक दिन प्रकृति में लीन होकर आकाश-कुसुम के समान शून्य हो जाता है, उसका मोह कर विषयासक्ति के कीचड़ में पड़े रहना बहुत बड़ी नादानी है।

शरीर छूटते ही यह मिट्टी, पानी, आग, हवा में मिल जायेगा, क्योंकि यह इसी से बना है। यहां 'अगिन कहै·····पानी कहै·······धरती कहै········तथा पवन कहै' जो कथन है यह कहने का एक तरीका है! अग्नि आदि जड़ तत्त्व हैं, अचेतन हैं। ये न कुछ जानते हैं और न कुछ कह सकते हैं। जैसे कोई कहे कि घर गिरना चाहता है। तो घर कोई सचेतन तो है नहीं जो गिरना चाहेगा। तात्पर्य है घर गिरने वाला है; क्योंकि कमजोर दिखता है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चार ही तत्त्व द्रव्य हैं। इन्हीं में क्रिया, गुण तथा स्वभाव हैं। द्रव्य का मुख्य लक्षण है क्रिया, जो इन्हीं चारों में है। आकाश कोई द्रव्य नहीं है, अतः उसमें कोई क्रिया नहीं है। न उससे कुछ निर्माण होता है और न उसका कोई परिणाम होता है। इसलिए सद्गुरु ने इस रमैनी में जहां अगिन, पानी, पृथ्वी तथा पवन के नाम लिए वहां आकाश का नाम नहीं लिया। वैसे अन्यत्र जहां तत्त्वों के नाम लिए वहां पांच कहा, जैसे 'पांच तत्त्व का पूतरा'·······'पांच तत्त्व ले या तन कीन्हा' आदि।

आकाश क्रियाहीन है, इसीलिए गीताकार ने भी जहां कहा "आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता तथा वायु सुखा नहीं सकता।"[१] वहां आकाश का उल्लेख नहीं किया। गीता के इंगलिश अनुवादक स्वामी चिद्भावानंद ने भी लिखा है कि पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है, इसलिए

---

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ *(गीता २/२३)*

उसका वर्णन यहां नहीं किया गया है।[1]

अब हम अपने मूल स्थान पर आवें। सद्गुरु कहते हैं, हे गंवार! तू असंख्यात कणों के जोड़ शरीर को अपना स्वरूप मानकर उसमें आसक्त होता है। जो अंततः तेरा नहीं है उसे अपना मानता है। शरीर विषय रूप है। यह तेरा स्वरूप नहीं है। तेरा स्वरूप तो शुद्ध चेतन है। तेरे को अपने आपा का भान नहीं रहा और तू देह ही को अपना आपा मान लिया और उसके मलिन भोगों में लिपटकर सारे दुर्गुणों, दुर्वासनाओं का शिकार हो गया।

इस रमैनी का सार यह है कि यह शरीर अपना नहीं है। फिर शरीर सम्बन्धी परिस्थिति, प्राणी तथा पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं? राग, द्वेष, वैर, विश्वासघात, हत्या, शोक, मोह आदि सभी दोषों के हेतुभूत विषयासक्ति, सुखाध्यास एवं जड़ पदार्थों की ममता है। बिना इनकी निवृत्ति हुए न दोषों का अन्त होगा और न दुखों का। बड़े-बड़े विद्वान, धनवान तथा श्रेष्ठ अधिकारी भी एक विषयासक्ति के कारण नाना दुराचार कर कुवासनावश रात-दिन मन-ही-मन जलते हैं। घर में, ग्राम में, मोहल्ले में, समाज में, राष्ट्र में तथा विश्व में जो सर्वत्र उपद्रव दिखते हैं—सबका कारण विषयासक्ति है। मनुष्य इन्हें नहीं छोड़ता, प्रत्युत सुख के लिए अन्य-अन्य उपाय करता है। परन्तु जब तक विषयासक्ति तथा देहाभिमान का अन्त नहीं होगा, तब तक मनुष्य का कल्याण कहां? अतएव इनके मोह-मदिरा से जागो और स्वरूप-विचार में पागो। विशाल देव कहते हैं—

उतपति होय न जाहि की, सदा अकेले आप।
मोह करे सो काहि सो, जहाँ न कोई मिलाप।। (भवयान, अपनाबोध, साखी ५)

तुम्हारा लक्ष्य तुम से अलग नहीं

रमैनी–७९

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी। परखत खरी परखावत खोटी।। १ ।।
केतिक कहौं कहाँ लौं कही। औरो कहौं पड़े जो सही।। २ ।।
कहे बिना मोहि रहा न जाई। बिरही ले-ले कूकुर खाई।। ३ ।।

साखी—खाते-खाते युग गया, बहुरि न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहि जाय।। ७९ ।।

शब्दार्थ—खरी = सत्य। खोटी = असत्य। बिरही = विरही, बिछुड़ा हुआ, प्रिय से वियुक्त, एकाकी। कूकुर = कुत्ता, मन।

भावार्थ—भोगों को भोगते जाने से वासनाएं बढ़ती जाती हैं और उन्हें छोड़ते जाने से वासनाएं घटती जाती हैं। अपनी स्थूलबुद्धि से देखने पर हमारी अपनी अनेक मान्यताएं तथा मन की नाना कल्पनाएं सत्य लगती हैं, परन्तु जब किसी विवेकी-पारखी संत से उन्हें

---

1. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. *(Shri Ramkrishna Tapovanam. Tirupparaitturai)*

परखाते हैं, तब वे झूठी सिद्ध होती हैं।।१।। कितना कहूं, समझाने की भी एक मर्यादा होती है। यदि लोगों को भला लगे तो मैं और भी कहने के लिए तैयार हूं।।२।। मुझे कहे बिना रहा भी नहीं जाता है। अपने लक्ष्य से बिछुड़े हुए जीवों को मन भटका रहा है।।३।।

मन के छलावे में भटकते-भटकते जीव के युगों बीत गये। हे मानव! आज भी तू सावधान नहीं हो रहा है। कबीर साहेब खुलासा कहते हैं कि यह जीव असावधानी में जीवन खो रहा है।।७९।।

व्याख्या—बीड़ी, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, सिनेमा, मैथुन—किसी प्रकार का भी भोग हो उसका निरंतर उपभोग करते रहने से वासनाएं बढ़ती हैं। वासनाएं जितनी बढ़ती हैं, मन उतना अशांत होता है। भोगों को भोगने से वासनाएं बढ़ती हैं तथा वासनाओं के बढ़ने से मनुष्य भोगों में अधिक पतित होता है। इसका घनचक्कर तब तक चलता है, जब तक भोगों का त्याग नहीं किया जाता। जब विवेक कर भोगों का त्याग किया जाता है, तब वासनाएं घट जाती हैं और भोगों के सर्वथा त्याग एवं विवेक की जागृति से वासनाएं एकदम समाप्त हो जाती हैं। इसको इस प्रकार सहज समझ सकते हैं कि पचास वर्ष से तम्बाकू का सेवन करने वाला व्यक्ति जो उसके बिना आधा दिन भी नहीं रह पाता, जब उसे दुखदायी समझकर छोड़ देता है और धीरे-धीरे उसकी आदत मिट जाती है तब उसे तम्बाकू की गंध भी नहीं सहन होती। कोई मनुष्य अविवेकवश किसी मनुष्य में राग करने लगता है, तो निरंतर राग बढ़ाते-बढ़ाते उसे उसको देखे बिना नहीं रहा जाता। परन्तु जब किसी कारणवश या विवेक से उसका राग छोड़ देता है, तब उससे मिलने का मन में कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता। अतएव "बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी" यह महावाक्य आदतों तथा वासनाओं के विषय में अत्यन्त सटीक है। सद्‌गुरु इस अर्धाली को कहकर यह सिद्ध कर देते हैं कि बुरी आदत और वासना जो मुख्य माया है, वह तुम्हारे हाथों में है। तुम चाहो तो वह बढ़ती रहे और चाहो तो घट जाय और समाप्त भी हो जाय। वह न तो किसी भगवान के अधीन है और न शैतान के। वह तुम्हारे ही ज्ञान तथा अज्ञान पर निर्भर है।

"परखत खरी परखावत खोटी" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। हमारी अपनी कितनी मान्यताएं होती हैं जो हमें पूर्ण सच लगती हैं, परन्तु जब हम उन्हें किसी महापुरुष के सामने रखते हैं और वे हमें उनकी परख कराते हैं तब असत्य ठहर जाती हैं। अतएव सत्यज्ञान का जिज्ञासु वही माना जा सकता है जो सदैव विनयी हो। सावधान पुरुष अपनी हर बात को ताल ठोंककर सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। जिसका ज्ञान जितना कम होता है, उसका अपने ज्ञान के प्रति उतना ही अधिक अहंकार होता है। कुछ लोग अपने अधकचरे ज्ञान की डींग हांकते रहते हैं और वे अड़ जाते हैं कि यही सच है, जबकि उन्हें उस विषय में सांच-झूठ का कुछ पता नहीं रहता।

समझदार मनुष्य अपनी भाषा नम्र रखता है। वह किसी विषय में बात चलने पर प्रायः कहता है कि मैं इसे इस प्रकार समझता हूं। वह सबकी राय को विनयपूर्वक सुनता है और उन्हें समझने की चेष्टा करता है तथा उनसे अपनी राय की तुलनाकर उसे शोधता

है। संयत और अनुभवी लोगों से सही राय तो मिलती ही है, अपने से छोटे लोगों से भी सही राय मिलती है, यदि हम विनयपूर्वक सर्वत्र ज्ञान ग्रहण करना चाहें तो।

मनुष्य के अपने आज के कई निष्कर्ष कल उसे ही गलत लगते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञान के विषय में गर्व करने की गुंजाइश कहां है। मनुष्य को जीवनपर्यंत सीखना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपने हर निर्णय को हर समय संदिग्ध समझे। कुछ निर्णय तो चांद-सूरज के समान एकदम प्रकाशस्वरूप होते हैं। उन पर संदेह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं होती। ऐसे निर्णयों पर दृढ़-विश्वास होने पर भी बाहर से उसकी सत्यता की दुंदुभी बजाने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि एक निर्णय सभी को समान प्रिय नहीं होता। सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम अपने निर्णयों के विषय में अनुभवी पुरुषों से राय लेते रहो।

"केतिक कहौं कहाँ लौं कही" संसार में एक तो आध्यात्मिक ज्ञान सुनने की जिज्ञासा कम लोगों में होती है। दूसरी बात, जो लोग सुनते हैं, वे सब अपने जीवन में अपेक्षित सुधार नहीं लाते। इसलिए उपदेष्टा अपने आप पर ही खीज उठता है। वह कहता है कितना बक-बक किया जाय। उपदेश करने की भी तो हद होती है। जब लोग सुनकर भी उसके अनुसार जीवन नहीं बनाते तब अधिक कहकर क्या होगा! परन्तु कबीर साहेब थकते नहीं हैं। वे कहते हैं कि "औरों कहौं पड़े ज़ो सही" यदि तुम्हारे लिए ठीक साबित हो तो मैं आगे भी कहने के लिए तैयार हूं। विवेकवान समझते हैं कि संसार के लोग भोलापन कर रहे हैं। यदि वे अपना अपेक्षित सुधार नहीं करते हैं, तो भी सच्चर्चा से उनका कुछ हित होगा ही। यदि आदमी सुनने की श्रद्धा रखता है, तो इतना भी बहुत है। उसको सुनाना चाहिए। यदि बहुत सुनेगा, तो कुछ तो करेगा ही। यदि कुछ नहीं कर सकेगा, तो जब तक अच्छी बात सुनेगा तब तक तो उसका मन अच्छा रहेगा ही। ऐसे ही धीरे-धीरे आदमी सुधरता है।

"कहे बिना मोहि रहा न जाई" सद्‌गुरु कहते हैं कि मेरी अपनी मजबूरी भी है। मैं किसी का अनर्थ देखकर चुप भी नहीं रह सकता। मैं कहूंगा अवश्य, चाहे अगला आदमी न भी सुनना चाहे। वह नहीं सुनना चाहेगा तो मैं जाते हुए उसे पुकारकर कहे जाऊंगा। तभी तो कबीर साहेब अपनी पूरी वाणियों में बारम्बार कहते हैं "कहहिं कबीर पुकारि के"। संसार के शायद किसी वक्ता ने पुकारकर नहीं कहा है। लगता है दुनिया में केवल कबीर साहेब अकेले हैं जो 'पुकारकर' कहते हैं। संसार में अन्य विद्वान एवं संत प्रायः 'लिखते हैं' किन्तु कबीर साहेब 'कहते' हैं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लिखा जाता है निर्जीव कागज पर, परन्तु कहा जाता है चेतन मानव से। इसलिए लिखने से कहने का वजन ज्यादा होता है। लेखक तो केवल अपने मन की ही बात लिखता है, परन्तु कहने वाला सुनने वाले से भी प्रेरित होकर कहता है। कबीर साहेब कहते हैं मैं कहूंगा अवश्य, चाहे तुम सुनो या न सुनो। बारम्बार कहने पर कभी सुनोगे ही और सुनकर कभी कुछ भी पल्ले पड़ गया, तो तुम्हारा कुछ-न-कुछ कल्याण होगा ही।

"बिरही ले-ले कूकुर खाई" मानो किसी व्यक्ति ने बेरहि (दलभरी पूरी) बनायी थी। उसे ले-लेकर कुत्ता खा गया। यहां दलभरी पूरी तथा साधारण कुत्ते से मतलब नहीं है।

जीव अविवेकवश विरही है। विरही उसे कहते हैं जो अपनी प्रिया के वियोग में पीड़ित हो। जीव की अत्यन्त प्रियतमा शांति एवं मुक्ति है। शांति या मुक्ति न दो चीज है और न जीव से अलग कोई वस्तु है। किन्तु जीव अज्ञानवश समझता है कि शांति से मैं अलग हो गया हूं, परमात्मा, ब्रह्म या मोक्ष मुझसे अलग है। यह सब अज्ञान का फल है। जीव की स्वरूपस्थिति से अलग शांति, मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि सब शब्दजाल हैं। जीव का जो अपना है, वह उससे कभी बिछुड़ा ही नहीं है। बिछुड़ नहीं सकता। जीव अज्ञानवश अपने लक्ष्य को अपने से बाहर खोजता है—कभी विषयों में, कभी मन की अवधारणाओं में। परन्तु जब उसे स्वरूपज्ञान को परखाने वाले पारखी संत मिल जाते हैं और उसे परखा देते हैं कि जिसे तू खोजता है वह तू ही है, तो वह कृतार्थ हो जाता है।

परन्तु जो विरही है, अपने आप को मानता है कि मैं मोक्ष या परमात्मा से अलग हो गया हूं या अलग हूं, उसे ले-लेकर कूकुर खाता है। अर्थात उसे बारम्बार मन भवचक्कर में डालता है। वह मन से एक मोक्षधाम बनाता है या एक ईश्वर का रूप गढ़ता है और फिर उसकी कल्पना में डूबता है। वह केवल मन का व्यायाम होने से बाहर से कुछ प्राप्त नहीं होता और जीव सदैव वियोगजनित पीड़ा में तड़पता है। अच्छे-अच्छे लोग भगवान पाने के लिए रोते हैं। वे व्याकुल होकर कहते हैं कि आज तक मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए। वे कितने भोले हैं। 'परमात्मा के दर्शन' यह कितना झूठा वाक्यांश है। जिसके दर्शन होते हैं वह तो रूप विषय है। यदि मन से कुछ दर्शन होते हैं, तो वह मन की कल्पना है—"जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि। ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहिं"[1] वाली बात है। अतएव विरहियों को, जो अपने आप को परमात्मा या मोक्ष से बिछुड़े हुए मानते हैं, मन सदैव कल्पनाओं में भटकाता है।

"खाते-खाते युग गया" सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मन के भटकावे में तुम्हारा अनादिकाल का समय बीत गया। तुम अपने स्वरूप को न समझकर सदैव परमात्मा खोजने के चक्कर में समय गंवाते रहे। 'बहुरि न चेतहु आय" सद्गुरु कहते हैं अब तो जग जाओ न! कबीर साहेब अपनी स्टाइल में वही बात कहते हैं जिसकी अभी कुछ पूर्व चर्चा कर आये हैं—"कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहिं जाय।।" वे पुकारकर कहे जा रहे हैं कि यह जीव असावधानी ही में समय खो रहा है। वह अलग सुख, शांति एवं परमात्मा खोज रहा है। यह सबसे बड़ी असावधानी है। क्योंकि वह तो दिलदरगाह की वस्तु है। उसे खोजना कहां है! वह तो अपना स्वरूप ही है।

इस प्रकार सद्गुरु इस रमैनी में मुख्य तीन बातें बताते हैं, (१) वासनाएं भोगों को भोगने-न भोगने से बढ़ती-घटती हैं, अतः वे तुम्हारे अधीन हैं। तुम चाहो तो भोगों को त्यागकर वासनाओं से मुक्त हो सकते हो; (२) ज्ञान के लिए सदैव जिज्ञासु रहो, विनयभाव से महापुरुषों से राय लो तथा (३) परमात्मा या मोक्ष बाहर मत खोजो, किन्तु अपने आप को पहचानो।

---

१. बीजक, साखी २७९।

रमैनी–८०

बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥ १ ॥
खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया॥ २ ॥
समुझि न परलि पातरी मोटी। ओछी गाँठि सबै भौ खोटी॥ ३ ॥
कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी॥ ४ ॥

शब्दार्थ—तेहि साहेब = ईश्वर। खरा = सत्य। खोटा = असत्य। मूल = स्वरूपविचार, मानवता। पातरी = झीनी माया, मन की कल्पित अवधारणाएं। मोटी = मोटी माया, सांसारिक प्राणी-पदार्थ। ओछी = तुच्छ। गाँठि = मानसिक ग्रंथि, आसक्ति। खोटी = दोषजनक। खोरी = दोष। झिझि = झीनीमाया, मन का मोह।

भावार्थ—हे मानव! तुम अपना कितना ही साहस करो, परन्तु उस कल्पित ईश्वर से तुम्हारी भेंट स्वप्न में भी नहीं होगी॥१॥ जिन्होंने पारखी संतों से मिलकर सत्य और असत्य की परख नहीं की-करायी, वे भले लाभ चाहते हैं; परन्तु अपना मूल भी खो बैठते हैं॥२॥ क्योंकि ऐसे लोगों को झीनी माया और मोटी माया समझने में नहीं आती। जहां तक मन की ग्रंथियां हैं, राग-द्वेष हैं, सब संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर बनते हैं, वे सब सन्मार्ग में दोषजनक ही ठहरते हैं॥३॥ सद्गुरु कहते हैं तुम उस समय किसके मत्थे दोष मढ़ोगे जब मन की आशा रूपी रस्सी विवशतापूर्वक तोड़कर बिना लक्ष्य प्राप्त किये ही संसार से विदा होने लगोगे!॥४॥

व्याख्या—"बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥" यह बड़ी क्रांतिकारी पंक्ति है। जिस भावधारा में करोड़ों-करोड़ों लोग बह रहे हैं, वह भले ही अलीक हो, उसके विरोध में इतना खुलासा कह देना बहुत बड़ी हिम्मत का काम है। वस्तुतः खुलासा कहे बिना मन का मोह टूटता नहीं। जब तक आदमी गलत दिशा से लौटता नहीं, तब तक उसे सही दिशा मिल नहीं सकती। लोग साहेब को, ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म को बाहर खोजते हैं। वे समझते हैं कि जैसे हम अपने पत्नी, बच्चों, मित्र एवं साथियों से मिलते हैं, उन्हें आंखों से देखते हैं, उनसे गले मिलते हैं, वैसे ईश्वर से भी मिल जायेंगे। उसे आंखों से देख लेंगे। उससे लिपटकर शीतल हो जायेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा साहस मात्र है।

महाकाव्यों और पुराणों में ऐसी बातें लिखी गयी हैं कि अमुक व्यक्ति तप कर रहा था। उसकी तपस्या से ईश्वर प्रसन्न होकर उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तपस्वी दर्शन पाकर उसके चरणों में लिपट गया और कृतार्थ हो गया। भारत में आज से पूर्व करीब दो हजार वर्षों से भगवान आकाश मार्ग से आ-आकर अपने भक्तों को दर्शन दे रहा है। क्योंकि प्रायः ईसापूर्व बने धर्मग्रन्थों में ऐसा लिखा नहीं मिलता कि कोई भगवान या ईश्वर आकर किसी भक्त को दर्शन देता है। ये ईश्वर-दर्शनों की भरमार ईसाकाल के बाद के पौराणिक ग्रन्थों में है। महाकाव्यों, पुराणों तथा भक्तिकाव्यों के माध्यमों से महात्मा तथा पंडितों ने जनता को ईश्वर-दर्शन-सनक की ऐसी घुट्टी पिलायी है कि उसमें जनता दिग्भ्रमित होकर भटक रही है और वह ईश्वर-दर्शन के लिए तावबावला है।

सद्गुरु कहते हैं कि जिसे तुमने ईश्वर मान रखा है, उससे तुम्हें स्वप्न में भी मुलाकात नहीं हो सकती। अर्थात वह कदापि नहीं मिल सकता। दर्शन तथा मुलाकात की बात कहकर हम ईश्वर को भौतिक बना देते हैं। जिसके दर्शन होते हैं वह रूप विषय है और जो कुछ मिलता है वह सब भौतिक है। मान लो, कोई ईश्वर आकर मुझे मिल जाये, तो क्या होगा? वह पुनः लौट जायेगा। क्योंकि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती अवश्य है। मिला हुआ ईश्वर बिछुड़ेगा अवश्य। मुझे पूर्ण तृप्ति ऐसे ईश्वर से मिलेगी जो मुझसे कभी बिछुड़ा ही न हो और इसलिए उससे मिलने के भ्रम को पालना ही न हो। वह ईश्वर है मेरी अपनी आत्मा। अपना स्वरूप अपने से कभी बिछुड़ने वाला नहीं है। हम स्वरूप-विवेक से रहित होने से बाहर ईश्वर खोजते हैं और केवल भटकते हैं।

"खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया।।" सत्य-इच्छुक को चाहिए कि वह विवेकी-पारखी संतों के पास जाये और उनसे चर्चा कर सत्य तथा असत्य की परख करे। जिन्होंने पारखी सद्गुरु-संतों से अपने विचारों के विषय में परख नहीं करवायी, वे धोखे में हैं। तुम अपने सारे विचारों को स्वयं परखो तथा विवेकियों से परखाओ। आंख मूंदकर मानने की आदत छोड़ो, किन्तु हर बात की खूब छानबीन करो। अन्वीक्षण, परीक्षण तथा परख से ही सत्य क्या है तथा असत्य क्या है इसका निर्णय होता है। जो ऐसा नहीं करते वे लाभ तो चाहते हैं, परन्तु उनकी मूल पूंजी भी खो जाती है। वे चाहते हैं कि हमें परमात्मा या मोक्ष मिल जाय, परन्तु वे अपने स्वरूप के विचार से ही वंचित रह जाते हैं। मूल धन न हो तो लाभ किस आधार पर होगा। यदि अपने स्वरूप का ही ज्ञान न हो तो परमात्मा या मोक्ष मिलने का मतलब क्या हो सकता है!

पहले तो मैं यह समझूं कि मैं कौन हूं। मेरे अपने 'स्व' एवं 'आत्म-अस्तित्त्व' का बोध हो जाने पर परमात्मा या मोक्ष उसमें अपने आप घटित हो जायेगा। स्वरूपज्ञान हो जाने पर जब स्वरूपस्थिति होती है, तब यही परमात्मा या मोक्ष का पाना है। क्योंकि व्यक्ति की अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है न मोक्ष। बस, स्वरूपस्थिति ही परमात्मा है, यही मोक्ष है। अतएव स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति हो जाने पर कुछ बाकी नहीं रहता।

"समुझि न परलि पातरी मोटी" जो लोग न स्वयं परख करते हैं और न किसी अनुभवी संत पुरुष से परख कराते हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि मोटी माया तथा झीनी माया क्या है! स्थूल पदार्थ, प्राणी, धन, घर, ऐश्वर्य, मठ, मन्दिर आदि मोटी माया है, यह समझ में भी आ जाय तो भी झीनी माया समझना कठिन है। "मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय। पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय।।" झीनी माया है मन की वे मान्यताएं जिनसे जीव स्वरूप-विवेक छोड़कर बाहर भटकता है। अपने आप को पूर्णकाम शुद्ध चेतन न समझकर, कुछ अन्य समझना झीनी माया है। "मैं अपूर्ण हूं, मेरा मालिक कोई अन्य है, मैं अंश, प्रतिबिम्ब एवं आभास हूं, मैं बुंद हूं और किसी समुद्र में मिलना है, मेरा प्राप्तव्य मेरी आत्मा से अलग है।" इत्यादि मानना झीनी माया है।

झीनी माया की दूसरी भी व्यंजना है जो व्यावहारिक है। धार्मिक क्षेत्र में आकर नाना पद, अधिकार एवं मर्यादा के मान-सम्मान की वासना रखना झीनी माया है। साधु-महंत

स्थूल भोगों को छोड़ देते हैं, परन्तु उनमें से कितने लोग उक्त झीनी माया में इतने उलझ जाते हैं कि उनको क्षण-क्षण मान-अपमान का अनुभव होता रहता है। इसको लेकर वे राग-द्वेष के चक्कर में पड़ जाते हैं और उनका पूरा जीवन बहुत अधिक उलझ जाता है। "भोजन करते समय किसका पाटला एक इंच ऊंचा रहा, भोजन की थाली पहले किनके लिए आयी, पूजा में दांयें तथा बांयें कौन बैठा, आगे एवं पीछे कौन बैठा, अग्रपूजा किसकी हुई?" इनको लेकर केवल मर्यादा के निर्वाह का उद्देश्य नहीं रहता, किन्तु राग-द्वेष, छल-छद्म भी होते हैं, मन में उलझनें ही नहीं, किन्तु समाज में भी उलझनें होती हैं। यह तो भूल ही गया कि मैं एक कल्याण-साधक एवं समाज-सेवक हूं।

मोटी माया स्थूल-इंद्रिय भोग तथा झीनी माया मन की नाना मान्यताएं, इन दोनों को तभी समझकर उनसे बचा जा सकता है जब विवेकवान, अनुभवी एवं रहनीसम्पन्न संतों एवं सद्गुरु से इस पर विचार-विमर्श करते रहें तथा स्वयं अपने मन में सावधान रहें।

"ओछी गाँठि सबै भौ खोटी" सद्गुरु कहते हैं कि उक्त सारी मानसिक ग्रन्थियां तुच्छ हैं और अपने कल्याण-मार्ग में दोषरूप बनकर अवरोधक हैं। सद्गुरु के इन वचनों से मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मोटी-झीनी माया में आसक्त होकर हमारे मन में जितनी ग्रन्थियां बनती हैं, जैसे राग-द्वेष, वैर-मोह आदि सब मेरे विचारों की तुच्छता के द्योतक हैं। अथवा संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर ही तो राग-द्वेषादि की सारी मानसिक ग्रन्थियां बनती हैं। हम भूलवश जीवन भर राग-द्वेष के महान भ्रम पाले रहते हैं। हम माने रहते हैं कि अमुक मेरा बड़ा प्यारा है तथा अमुक बड़ा घृणास्पद है। परन्तु हम यह समझ लें कि यह सब केवल हमारे मन की भ्रमजन्य मान्यताएं हैं। इस जीव का न कोई बैरी है और न मित्र। यह अकेला आया है और अकेला जायेगा। दो दिन के सम्बन्ध में हम किसी से वैर तथा मोह का जंजाल न पालें; किन्तु सबसे शुद्ध प्रेम-भाव का बरताव करते हुए जीवन व्यतीत करें।

"कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी।।" यदि आदमी मानसिक ग्रन्थियों में जीवनभर उलझा रहा और जीवन के आखिर तक यही दशा रही, तो जब यहां से जाने का समय हो जायेगा और मन में लगी हुई सारी आशाओं को विवशतापूर्वक तोड़कर जाना पड़ेगा, तब वह किसको दोष देगा कि अमुक के कारण मेरा कल्याण नहीं हुआ!

आदमी जीवनभर अंधेरे में रहता है। वह संसार से बड़ी-बड़ी लम्बी आशाएं बनाकर रखता है। पति, पत्नी, पुत्र, भाई, माता-पिता, मित्र तथा अन्य अनेक लोगों से पता नहीं क्या-क्या कामनाएं बनाकर रखता है। उसे अपने जीवन में लम्बे-लम्बे सुखों की आशा रहती है। परन्तु इन सब आशाओं पर तो पानी फिरता ही है। ऐसे लोग जीवन के आखिर में बड़े निराश होते हैं। जो व्यक्ति जितना ही माया-मोही होता है, वह उतना ही अन्त में निराश होता है। दुनिया स्वयं नंगी है। यह हमें क्या दे सकती है! जिसने अपने मन की ग्रन्थियों को पहले ही नहीं तोड़ दिया है, वह अन्त समय में पछतायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि अन्त में तुम किसको दोष दोगे? दोष तो तुम्हारा है कि स्ववश अवस्था में

तुम माया के प्रमाद में उन्मादी बने रहे। जीवन की सारी शक्ति विषय-भोग, जगत-प्रपंच तथा राग-द्वेष में क्षीण कर दिये। अब मरते समय क्या बनने वाला है! तस्मात् जाग्रत् जाग्रत्!

उपासना मलिन देवों की नहीं, निर्मल संतों की करो

रमैनी–८१

देव चरित्र सुनहु हो भाई। जो ब्रह्मा सो धियेउ नसाई॥ १ ॥
दूजे कहौं मंदोदरि तारा। जेहि घर जेठ सदा लगवारा॥ २ ॥
सुरपति जाय अहिल्या छरी। सुर गुरु घरणि चन्द्रमें हरी॥ ३ ॥
कहहिं कबीर हरि के गुण गाया। कुन्तिहि कर्ण कुँवारेहि जाया॥ ४ ॥

शब्दार्थ—चरित्र = आचरण। धियेउ = पुत्री को। लगवारा = जार। सुरपति = इन्द्र। सुर गुरु = वृहस्पति। घरणि = गृहणी, पत्नी। हरि = विष्णु या सूर्य।

भावार्थ—हे भाई! देवताओं के चरित्र तो सुनो। जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा थे, उनकी अपनी पुत्री के साथ ही मति भ्रष्ट हुई॥१॥ दूसरी घटना मंदोदरी तथा तारा की है जिनके घर में क्रमशः देवर विभीषण एवं सुग्रीव जेष्ठ-श्रेष्ठ जार बने रहे॥२॥ देवपति इन्द्र ने गौतम का छद्म वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। देवताओं के गुरु वृहस्पति की पत्नी तारा को चन्द्रमा ने अपने घर में बलपूर्वक रखकर उनसे बुध को पैदा किया॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विष्णु का लोग बहुत भजन-पूजन करते हैं, परन्तु उन्होंने पतिव्रता वृन्दा का सतीत्व छल करके नष्ट किया। और सूर्य ने कुंआरी कुन्ती से कर्ण को पैदा किया॥४॥

व्याख्या—श्री मद्भागवत के तीसरे स्कंध के बारहवें अध्याय में ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती पर काम-मोहित होकर पथभ्रष्ट होने का उल्लेख है। मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी ब्रह्मा के लिए कुछ ऐसी ही बातें बतायीं गयी हैं। यह ब्रह्मा की दशा है।

मंदोदरी और तारा

मंदोदरी और तारा को किसी पण्डित ने शायद व्यंग्य में पंचकन्याओं[1] में गिन लिया है। मंदोदरी और तारा दोनों ही पहले रावण तथा वाली के साथ थीं, पीछे विभीषण और सुग्रीव के साथ। गोस्वामी जी ने मानस में राम की दयालुता का वर्णन करते हुए कहा है—

जेहि अघ बध्यो व्याधि जिमि बाली। सोइ सुकंठ पुनि कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

---

१. अहल्या द्रोपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पंचकन्यां स्मरेन्नित्यं महापातक नाशिनी॥
उक्त पांचों ही कन्याएं नहीं थीं, किन्तु स-पतिक थीं और एक से अधिक पुरुषों से जुड़ी थीं।

इन्द्र और अहल्या

अहल्या वृद्धाश्व की पुत्री कही जाती है। यह गौतम ऋषि की पत्नी थी। इसकी सुन्दरता पर मोहकर देवों के राजा इन्द्र ने गौतम की अनुपस्थिति में उन्हीं का वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। यह कथा के रूप में महाभारत, वाल्मीकीय रामायण आदि में प्रचलित है।

चन्द्रमा

चन्द्रमा महर्षि अत्रि के पुत्र हैं और अत्रि ब्रह्मा के। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें बहुत-से लोग निमंत्रण में आये थे। देवों के गुरु वृहस्पति की पत्नी 'तारा' भी निमंत्रण में आयी थीं। चन्द्रमा उनमें मोह गये। यज्ञ हो जाने के बाद जबकि सब निमंत्रित लोग अपने-अपने घर लौट गये थे, वृहस्पति के बहुत कोशिश करने पर भी चन्द्रमा ने तारा को नहीं लौटाया। चन्द्रमा के वीर्य से तारा को गर्भ रह गया।

असुर-गुरु शुक्राचार्य तथा देव-गुरु वृहस्पति में पहले से अनबन रहती थी। शुक्राचार्य ने असुरों को संकेत कर दिया और देवासुर संग्राम छिड़ गया। अंगिरा ने यह बात ब्रह्मा को बतायी। ब्रह्मा ने जाकर अपने पोते चन्द्रमा को बहुत फटकारा और गुरु-पत्नी तारा वृहस्पति को लौटा दी गयी। परन्तु तारा से बुध नाम का बच्चा पैदा हो चुका था। वृहस्पति उसको चाहते थे। किन्तु चन्द्रमा ने बुध को नहीं दिया। भागवत के नवें स्कंध के चौदहवें अध्याय में इसका वर्णन है।

विष्णु

विष्णु ने जलंधर की पतिव्रता पत्नी का सतीत्व छल करके नष्ट किया था। जब वृन्दा को पता चला कि यह मेरा पति नहीं किन्तु विष्णु है, तब वह उस पर कुपित हो गयी और उसने विष्णु से कहा—"हे विष्णु! तेरे परस्त्री गामी रूप आचरण को धिक्कार है। मैं तुम्हें समझ गयी। तुम देखने में साधु, किन्तु आचरण में धूर्त हो। हे दैत्यों के शत्रु, महा अधम तथा दूसरे के सदाचरण बिगाड़ने वाले शठ! मेरे दिये हुए भयंकर शाप को स्वीकार करो।"[१]

कुन्ती

कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि की कृपा से 'देवहूती' नाम की एक विद्या प्राप्त की थी। उस मंत्र से किसी को बुलाया जा सकता था। उसकी परीक्षा के लिए कुन्ती ने सूर्य[२] को

---

१. धिक् तदेवं हरे शीलं परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मयासम्यङ् मायी प्रत्यक्ष तापसः॥
रे महाध्म दैत्यारे परधर्मविदूषकः।
गृहणीस्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥
(रुद्रसंहिता, युद्ध खंड, अध्याय २४, हिन्दू जाति का उत्थान और पतन पृष्ठ १६९, संस्करण १९८१)

२. यहां चन्द्रमा तथा सूर्य के उद्धरण व्यक्ति के रूप में आये हैं। ये आकाश में चमकते हुए जड़ चन्द्रमा-सूर्य नहीं हैं।

निमंत्रित किया। सूर्य आये। कुन्ती ने कहा मैंने केवल अपने मंत्र का परीक्षण करना चाहा था। वह हो गया। कृपया आप जायें। सूर्य ने कहा मेरा आना निष्फल नहीं जाना चाहिए। अंततः सूर्य ने कुन्ती को गर्भवती कर दिया। कुन्ती तब तक कुंआरी थी। उसका विवाह भी नहीं हुआ था। उसको जब बच्चा पैदा हुआ, तब उसने उसको एक पेटी में रखकर नदी में तैरा दिया। उस बच्चे को अधीरथ ने पाया। वह उसे पाला-पोसा। वही बच्चा कर्ण के नाम से प्रख्यात हुआ। इस प्रकार कुन्ती ने कर्ण को अपनी कुंआरी दशा में ही जन्म दिया था। पीछे कुन्ती पांडु को ब्याही गयी। कुन्ती ने धर्मराज से नियोग कर युधिष्ठिर को, वायु से भीम तथा इन्द्र से अर्जुन को जन्म दिया।

शतपथ ब्राह्मण (१/७/४/१) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (१३/९) के अनुसार प्रजापति ने अपनी पुत्री 'उषा' से संभोग किया। इसे विद्वानों-द्वारा एक रूपक अलंकार माना जाता है। प्रजापति सूर्य है। उषा सुबह की लालिमा है। उसके पीछे सूर्य जाता है। सूर्य से ही उषा पैदा होती है और सूर्य के पूर्ण आगमन से उषा पतित (नष्ट) हो जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन भी आलंकारिक ही लगता है।

शतपथ ब्राह्मण (३/३/४/१८) में इन्द्र को अहल्याजार कहा गया है। कुमारिल तथा स्वामी दयानंद सरस्वती आदि विद्वान अहल्या का अर्थ 'रात' करते हैं, जिसमें 'अह' (दिन) 'ल्या' (लीन-समाप्त) रहता है। इन्द्र का अर्थ सूर्य है। जार कहते हैं जीर्ण, अंतर्धान एवं समाप्त करने वाले को। इन्द्र अहल्या पर जार कर्म करता है। अर्थात सूर्य रात को समाप्त करता है। गौतम अहल्या का पति है। इसका अर्थ है चन्द्रमा रात का नायक है। चन्द्रमा को यहां गौतम=तेज चलने वाला कहा गया है।

इस प्रकार प्रजापति (ब्रह्मा) का पुत्री-गमन तथा इन्द्र का अहल्या से जारत्व जैसे कि ऊपर बताया गया है कि कुछ विद्वान उन्हें रूपक मात्र मानते हैं। अतः वे कोई दोषयुक्त घटनाएं नहीं थीं। किन्तु पौराणिक कहते हैं कि इस प्रकार यदि हम पुराणों की कुछ कथाओं को रूपक मानेंगे तो अन्य कथाओं की क्या दशा होगी? वे भी रूपक मात्र बन जायेंगी और सारे पुराण ही स्वप्नलोक की परी-कथा बन जायेंगे। अतः पौराणिकों के ख्याल से इनमें कुछ रूपक नहीं। सब घटी घटनाएं हैं।

कबीर साहेब का कहना है कि यदि देवता रूपक मात्र हैं तो उनकी पूजा का कोई अर्थ नहीं है और यदि देवता व्यक्ति हैं तो उनके उक्त मलिन आचरण को देखते हुए वे पूजा के अयोग्य हैं। मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबकर पतित है। उसे अपने कल्याण के लिए ऐसे की पूजा-उपासना करना चाहिए जो विषयों से विरक्त एवं सदाचार से संपन्न हैं; और वे हैं संत-गुरु जन। अतएव देवी-देवताओं को छोड़ो। निर्मल संत-सद्गुरु के चरणों की सेवा में लगकर अपना उद्धार करो।

सुख के लिए बनायी गयी दुनिया का व्यामोह

रमैनी—८२

सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया। समुझि न परलि विषय कछु माया॥ १ ॥
छौ छत्री पत्री युग चारी। फल दुइ पाप-पुण्य अधिकारी॥ २ ॥

स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई। करि चरित्र सो ताहि समाई॥ ३ ॥
जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया॥ ४ ॥
मोहा बापुरा युक्ति न देखा। शिव शक्ती विरंचि नहिं पेखा॥ ५ ॥

साखी—परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।
जो जानै सो बाँचिहै, नहिं तो होत सकल की हानि॥ ८२ ॥

शब्दार्थ—जगत्र = जगत, दुनिया। छौ छत्री = छः चक्रवर्ती राजे—शिवि, सुहोत्र, मांधाता, नहुष, मरुत तथा पृथु। पत्री = पत्रा-पुस्तक बांचने वाले ब्राह्मण एवं विद्वान। युगचारी = पूर्व के सब काल में। अधिकारी = योग्य, पात्र। चरित्र = आचरण। नटवट = नट एवं अभिनेता के समान। साज = श्रृंगार। बाजिया = बाजी, करतब। बापुरा = बेचारा, दीन। युक्ति = समुचित विचार। पेखा = देखा। परदे-परदे = मोह के आवरणों में। बानि = आदत, स्वभाव।

भावार्थ—मनुष्य अपनी मान्यता की दुनिया बनाकर अपने लिए सुख का एक वृक्ष खड़ा करता है। परन्तु उसे यह नहीं समझ में आता कि यह विषय-वासनाओं में फंसना ही माया का बन्धन है॥१॥ इन विषय-वासनाओं में फंसकर पूर्व-काल में बड़े-बड़े राजे-महाराजे तथा विद्वान लोग भी पाप और पुण्य कर उनके फल में दुख एवं सुखों को भोगने के पात्र होते रहे, फिर साधारण की तो दशा ही क्या है!॥२॥ मनुष्यों का मूढ़ मन विषयों में अनन्त सुख मानता है और उसे वह वर्णनातीत समझता है। अतएव वह अच्छे-बुरे आचरण कर उन्हीं विषयों में सदैव लीन रहता है॥३॥ जो अभिनेता के समान नकली श्रृंगार सजाकर विषय के खेल खेलते हैं और इसी में अपने करतब देखते हैं अर्थात इसी में अपनी विशेषता मानते हैं, वे बेचारे माया में विमोहित हैं। वे समुचित विचार नहीं कर सके। केवल देवी-देवताओं की उपासना से कल्याण समझते हैं। वे यह नहीं समझ सके कि शिव, शक्ति, ब्रह्मादि भी माया में विमोहित होकर पतित हो चुके हैं॥४-५॥

मोह के आवरण में मनुष्य के दुराचरण चलते हैं। विषयासक्तिवश उसे अपने स्वभाव की परख नहीं होती। जो अपने अज्ञान को समझ लेते हैं, वे भव-बन्धनों से बच जाते हैं; अन्यथा सब अपने कल्याण की हानि तो कर ही रहे हैं॥८२॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बतलाया है कि किस तरह बड़े-बड़े देवी-देवता भी विषयों के अधीन होकर नीचे गिरते हैं। वे हमें इस संदर्भ में पुनः सावधान करते हैं। वे कहते हैं "सुख के वृक्ष एक जगत्र[1] उपाया" मनुष्य सुख के लिए अपनी एक दुनिया बनाता है, परन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि यह वैषयिक दुनिया उसके लिए माया एवं छलावा का कारण बन जाती है और वह जीवनभर उसी में छला जाता है।

---

१. यहां जगत की जगह पर जगत्र हो गया है। मालूम होता है कि यहां किसी लिपिकार की गलती से ऐसा हो गया है और पीछे इसकी परंपरा चल पड़ी। कई पाठों में जगत ही है। वैसे अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

मनुष्य पैदा होता है। पहले वह मासूम बच्चा रहता है, खेलता-खाता तथा पढ़ता-लिखता है। जब जवान होता है, तब वह स्वजनों के सहयोग से अपनी एक नयी दुनिया की रचना करना शुरू करता है। इस दुनिया की जड़ पुरुष के लिए पत्नी तथा स्त्री के लिए पति होता है। इसी के साथ साले, श्वशुर, सासु, साली, सरहज आदि होते हैं। फिर यह वृक्ष बढ़ना शुरू होता है और बाल-बच्चे, नाती, पोते, बेटी-दामाद और पता नहीं कहां तक जाता है। घर, धन, जमीन, पद, अधिकार कुछ जीवन के लिए आवश्यक तथा कुछ अनावश्यक प्राणी-पदार्थ बढ़ते जाते हैं। इन सबमें वह ममता तथा वैर के विकार बनाता है जो एक सिक्के के दो पहलू हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा आदि इस सुख-वृक्ष में फल-फूल लगते हैं।

जीव का, जीव को छोड़कर कुछ भी अपना नहीं है। परन्तु यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर अपने से अलग देह तथा देह-सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का जाल बनाता है। जीव जहां तक अहंता-ममता एवं राग-द्वेष बनाता है, तहां तक उसकी अपनी दुनिया होती है। यह दुनिया वह अपने सुख के लिए बनाता है। परन्तु यही दुनिया उसको निरंतर छलती है। अपने माने हुए प्राणी-पदार्थ ही हमें छलते हैं। या कहना चाहिए कि हम विजाति तथा क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता तथा राग-द्वेष की मान्यता बनाकर अपने आप को छलते हैं।

समष्टि संसार सबका एक है, परन्तु व्यष्टि संसार सबका अलग-अलग है। चांद, सूरज, पृथ्वी, हवा आदि तो सबके हैं, परन्तु हर आदमी की अपनी-अपनी दुनिया अलग-अलग होती है। उसकी अपनी बनायी हुई दुनिया ही उसे बांधती है। मनुष्य का मरना संसार की एक सहज घटना है। परन्तु जब कोई अपना माना हुआ मनुष्य मरता है, तब हम व्याकुल हो जाते हैं। सबके मकान टूटते-फूटते रहते हैं, परन्तु हमें वह एक सहज घटना लगती है; परन्तु जब हमारा माना हुआ मकान टूटता है, तब हमें पीड़ा होती है। जैसे मकड़ी अपने बनाये हुए जाल में फंस जाय, वैसे मनुष्य अपनी बनायी हुई मान्यताओं के जाल में फंस जाता है।

एक युवक और युवती रोज आमने-सामने दिखाई देते हैं। परन्तु उनमें कोई लगाव न होने से परस्पर हानि-लाभ में उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते। परन्तु जब वे एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी की मान्यता से जुड़ जाते हैं तब वे एक दूसरे के लिए सुखी-दुखी होने लगते हैं।

''सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया'' मनुष्य जिस मान्यता की दुनिया को बनाता है, वह उसे सुख का वृक्ष समझता है। परन्तु ''समुझि न परलि विषय कछु माया'' यह उसे नहीं समझ पड़ता कि यह सब इन्द्रियों के दृश्यमान विषय हैं। इनमें इच्छा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह बढ़कर हमारे दुख के कारण बनेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यही तो माया है। मन की राग-द्वेष-जनित मान्यता ही तो माया है। यही तो हमें छलती है। संसार के लोग विषयों में सुख मानकर ही तो धोखे में पड़ते हैं और जीवनभर छले जाते हैं। इस माया-मोह की जितनी वृद्धि होती जाती है, उतना ही जीवन में छल, धोखा, हिंसा, हत्या एवं सारे दुराचार बढ़ते हैं।

"छौ छत्री पत्री युगचारी" यहां 'छौ छत्री' से स्थूल अर्थ नहुष, मांधाता, सुहोत्र, पृथु, शिवि तथा मरुत इन क्षत्रिय चक्रवर्ती सम्राटों से है। परन्तु इसकी सूक्ष्म व्यंजना पूर्व के सब समय में होने वाले समस्त राजे-महाराजे की ओर है। पत्री से संकेत विद्वानों से है। युगचारी का अर्थ कल्पित चार युग नहीं, किन्तु पूरे पूर्व समय के लिए इसमें व्यंजना है। अर्थात पुराकाल से होते आये बड़े-बड़े ऐश्वर्य संपन्न क्षत्रिय रजवाड़े एवं पोथी-पत्रा, वेद-शास्त्रों के विद्वान लोग भी इस माया के व्यामोह में पड़े हुए नाना पाप-पुण्य कर्म करते रहे हैं और उनके फल में वे सुख-दुख के भागी होते रहे हैं। "फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी।"

'कृतेन हि भवेदार्यो न धनेन न विद्यया' आदमी धन, पद एवं विद्या से बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है पवित्राचरण में चलने से। कोई राजा, सम्राट, राजनेता, ऊंचा पदाधिकारी एवं बहुत बड़ा विद्वान हो गया, तो इससे क्या होता है! "बड़े आलिम व फाजिल हैं, मगर विषयों के वश होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है।" विशेषता तो उसकी है जो अपने आप को पहचाने, विषय-विकारों को छोड़े, मन के मोह-जाल को तोड़े और अपने स्वरूप में मन जोड़े।

'स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई" भूले मानव ने विषयों का स्वाद वर्णनातीत अनंत मान रखा है। यह मान्यता ही उसे विषयों के गर्त में अधिकाधिक डुबाती है। विषयों में सुख नहीं है, किन्तु सुख का भ्रम है। जिन विषयों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होते ही विवेक खो जाय, चंचलता उत्पन्न हो जाय, किंकर्तव्यविमूढ़ता आ जाय, भोगों के बाद क्षीणता, मलिनता एवं पश्चाताप हो फिर पीछे इच्छा-तृष्णा की ज्वाला निरंतर जीव को झुलसाती रहे, जिससे जीव स्वरूपस्थिति एवं शांति से करोड़ों कोस दूर पड़ जाय, उन विषय-भोगों को सुखरूप मानना घोर अज्ञान के सिवा क्या है! जीवन में स्ववशता सबसे बड़ा सुख है, परन्तु इच्छा के वश नाचने वाला आदमी स्ववश कैसे हो सकता है! अतएव इच्छा रूपी विवशता उत्पन्न करने वाले भोग केवल दुखों के स्वरूप हैं।

"करि चरित्र सो ताहि समाई" जो मलिन-भोगों में सुख-बुद्धि रखता है, उसके सारे चरित्र, सारे आचरण एवं सारे क्रियाकलाप निरन्तर विषय-भोगों के लिए ही होते हैं, वह निरन्तर विषयों में डूबा रहता है। बुद्धि के अनुसार ही इन्द्रियों का आचरण, वाणी का उच्चारण तथा मन का विहरण होता है। इसलिए जीवन में बुद्धि एवं समझ का बहुत बड़ा मूल्य होता है। बुद्धि इन्द्रिय, वाणी तथा मन का संचालक यन्त्र होने से उसको शुद्ध करना मानव का परम कर्तव्य है।

"जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया।।" नट एवं अभिनेता के जितने श्रृंगार एवं सज्जा होते हैं, बनावटी रहते हैं। वह अपने खेल में ही अपना करतब देखता है। वह अनेक छल-कपट से अपने असली रूप को छिपाकर काल्पनिक रूप का प्रदर्शन करता है। माया में लिप्त मनुष्य की दशा कुछ ऐसी ही रहती है। वह सब समय अपनी असलियत को छिपाकर एक बनावटी चद्दर अपने ऊपर ओढ़ रखता है। बनावटी जवानी, बनावटी सौन्दर्य, बनावटी सम्पन्नता, बनावटी मर्यादा, बनावटी श्रेष्ठता आदि अपने मन का गलत आरोपण ही है। दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो जो कुछ दृश्य है, मायिक

है। उसमें कुछ भी जीव का नहीं है। विषय-बुद्धि से जीव उसमें मैं-मेरापन करता है। यह सब भी उसका नकली प्रदर्शन है। 'मैं शरीर हूं' यही नट-साज के समान नकली है। नाटक में नट राजा, भिखारी तथा अन्य अनेक के स्वांग करता है, परन्तु वह स्वयं वह सब नहीं होता। उसके सारे वेष बनावटी होते हैं। इसी प्रकार जीव के शरीर तथा शरीरसंबंधी पिता, पुत्र, पत्नी, पति, साले, श्वशुर आदि के सारे रूप स्वांग मात्र होते हैं। जीव यह सब कुछ नहीं होता। यदि वह समझ पाता कि यह सब स्वांग मात्र है तो वह उनमें प्रभावित न होता। परन्तु वह इन सारे झूठों को सच मानता है, और इसी में अपनी बाजी समझता है। इसी स्वांग में वह खेलता है तथा अपनी बहादुरी मानता है; इसलिए रात-दिन पीड़ित रहता है।

"मोहा बापुरा युक्ति न देखा।" सद्गुरु कहते हैं कि ये बेचारे मनुष्य मोह-मूढ़ हो गये हैं। ये युक्ति नहीं देखते हैं। अर्थात इन्हें समुचित विचार के दर्शन नहीं होते। जिन्हें समुचित विचार के दर्शन हो जाते हैं उनके मन से मोह-माया उड़ जाती है। समुचित विचार का अर्थ है जड़-चेतन की, 'स्व' तथा 'पर' की साफ समझ हो जाना। जिसे जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप का ठीक से बोध हो जायेगा, वह कहीं माया में नहीं मोह सकता।

"शिव शक्ती विरंचि नहिं पेखा" मनुष्य स्वयं विमोहित है ही, वह विमोहित देवी-देवताओं की उपासना करता है। वह यह नहीं समझता कि इन शिव, शक्ति, विरंचि आदि देवी-देवताओं की पूजा तथा उपासना से हमारे विषय एवं मोह नहीं छूटेंगे। क्योंकि पुराणानुसार प्रायः सारे देवी-देवता मायामोह में गर्क हैं। यहां शिव, शक्ति तथा विरंचि के नाम लेकर सभी देवी-देवताओं के प्रति संकेत हैं। सद्गुरु का संकेत है कि निर्मल वैराग्य संपन्न संतों की शरण लो। उनकी उपासना करो। उनसे तुम्हें माया-मोह से छूटने की प्रेरणा मिलेगी। क्योंकि यह उच्चादर्श सन्तों के अलावा कहीं नहीं है।

"परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।" परदा है मोह का आवरण। इसी के भीतर सारे मनोविकार एवं दुराचरण चलते रहते हैं। मोह के कारण ही मनुष्य अपनी गलत आदतों एवं गलत स्वभाव को समझ नहीं पाता। मोह मन की एक भ्रांति है। इस रमैनी की प्रथम चौपाई के अनुसार मनुष्य अपने लिए सुखदायी समझकर जो एक अहंता-ममता की दुनिया बनाता है, वही तो विषय का साज है, वही तो माया है। उसको सुखदायी समझना ही तो मोह है। क्योंकि उस अहंता-ममता की दुनिया से उसे सच्चा सुख न मिलकर, दुख मिलता है। वह अपने स्वविवेक, स्वरूपस्थिति एवं चिरस्थायी शांति से वंचित रह जाता है। ऐसे अपने भयंकर पतन के साज को जो सुखदायी समझता है, उसके समान मोह-मूढ़ कौन होगा!

"जो जानै सो बाँचिहै, नहिं तो होत सकल की हानि।" जो अपने मोह, अज्ञान एवं मूढ़ता को समझ जाते हैं वे उन्हें छोड़कर पतन से बच जाते हैं। शेष लोगों का पतन तो रखा ही है। अपने अज्ञान को जान लेना ही ज्ञानमार्ग में प्रवेश है। किसी ने यूनान के महान दार्शनिक सुकरात से कहा था "आप महान ज्ञानी हैं।' उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया था "मैं अवश्य ज्ञानी हूं; क्योंकि मैं अपने अज्ञान को जान गया हूं।"

सद्गुरु इस रमैनी में यह दर्शाते हैं कि जिन बन्धनों में मनुष्य बंधा है, वे उसी के बनाये हैं। परन्तु उन्हें वह बन्धन न समझकर कल्याणदायी समझता है। यही उसका माया-मोह है। मनुष्य सत्संग तथा विवेक-द्वारा उन्हें समझकर उनसे सर्वथा मुक्त हो सकता है।

राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षत्रियत्व पर विचार

रमैनी–८३

क्षत्री करे क्षत्रिया धर्मा। सवाई वाके बाढ़े कर्मा॥ १ ॥
जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया। ताकर मन ताही ले धाया॥ २ ॥
क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै। पाँचौ मेटि एक कै बूझै॥ ३ ॥
जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ ४ ॥
हाले करे निशाने घाऊ। जूझि परे तहाँ मन्मथ राऊ॥ ५ ॥

साखी—मन्मथ मरै न जीवै, जीवहि मरण न होय।
शून्य सनेही राम बिनु, चले अपनपौ खोय॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—क्षत्रिया धर्मा = युद्ध, क्रूर मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों का निरोध या संहार। अवधू = संन्यासी, त्यागी, यहां का तात्पर्य धर्मगुरु। कुटुम = इंद्रियां तथा काम, क्रोधादि। एक = जीव। हाले = शीघ्र। घाऊ = चोट। मन्मथ = जो मन का मंथनकर पैदा हो काम-क्रोधादि, मन्मथ का रूढ़ अर्थ है काम। अपनपौ = अपना स्वभाव, स्व-सत्ता।

भावार्थ—क्षत्रिय समरक्षेत्र में युद्ध करता है तो उसके पुण्य बहुत बढ़ जाते हैं। वह समर में शत्रु को जीतने पर राज्य पाता है तथा मारे जाने पर स्वर्ग पाता है—यह धर्मगुरुओं के उपदेश हैं॥१॥ वस्तुतः जिन धर्मगुरुओं ने अपने शिष्यों को जिस ढंग से उपदेश दिये, उनके शिष्य श्रद्धा के कारण उन्हीं बातों को लेकर अपने मन में निश्चय कर लिये॥२॥ वास्तविक क्षत्रिय तो वह है जो अपनी इंद्रियों तथा काम-क्रोधादिकों से युद्ध करे और पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में कर इस जीवन में जीव का साम्राज्य स्थापित करे॥३॥ जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे जीवों की हत्या करता है, वह मानो जान-समझकर अपने जीवन की बाजी हार रहा है॥४॥ वह तो थोड़ी-थोड़ी बातों में स्वार्थ-वश या उत्तेजित होकर तुरन्त दूसरे प्राणियों को अपने अस्त्र-शस्त्र का निशाना बनाकर उसको चोट पहुंचा देता तथा हत्या कर देता है। ऐसे उन्मादी राजा बात-बात में दूसरों से युद्ध में भिड़ पड़ते हैं॥५॥

यदि काम-क्रोधादि मर जायं, वे न जीयें, तो जीव को अमरत्व की प्राप्ति हो। परन्तु अन्त में शून्य हो जाने वाले संसार के भोगों के प्रेमी राम को समझे बिना अपने स्वरूप भाव को खो चले। अर्थात स्वस्वरूप ही राम है इस तत्त्व को जाने बिना अपने आपा को विस्मृतकर बाहर राम को खोजते रह गये॥८३॥

व्याख्या—क्षत्रिय एवं राजन्य का धर्म है कि वह प्रजा की रक्षा करे। क्षत (चोट) से त्राण (रक्षा) करना क्षत्रियधर्म है। देश में जो क्रूर मनुष्य हैं या ठग, चोर, बदमाश,

व्यभिचारी आदि दुराचारी लोग हैं, उनका कानून तथा दंड से निग्रह करना, और मनुष्येतर सिंह आदि हिंसक जन्तुओं को जो प्रजा की हानि करने लगते हैं, मारकर प्रजा को निर्भय करना राजन्य का धर्म है। इसके अलावा यदि दूसरे देश का राजा अपने देश पर हमला कर दे, तो राजन्य का धर्म है कि वह वीरतापूर्वक उसका मुकाबला करे। शांति से यदि कोई समझौता नहीं होता और अगला राजा चढ़ाई करता है तो उसका सामना करना राजन्य तथा प्रजा का भी धर्म है। उपर्युक्त वास्तविकता को झुठलाया नहीं जा सकता।

उपर्युक्त कर्तव्यों को राजन्यों के मन में दृढ़ करने के लिए धर्मगुरुओं ने उन्हें यह उपदेश किया कि तुम यदि युद्ध करते या शिकार खेलते हो तो यह तुम्हारा धर्म है। ऐसा करने से तुम्हें राज्य और स्वर्ग मिलेंगे। इससे तुम्हारे धर्म-कर्म बढ़ जायेंगे। राष्ट्र-स्वार्थ के लिए धर्मगुरुओं ने इस उपदेश को बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया। ऐसे उपदेश हर देश में दिये गये और युद्ध को धर्म-युद्ध, जिहाद आदि के नाम से कहकर बात-बात में या राज्य-विस्तार की तृष्णा में निरपराधों का खून बहाया जाने लगा।

भारत में पुराकाल में बहुत-से यज्ञों में बहुसंख्य निरीह पशुओं का वध तो होता ही था। यह पशु-वध यज्ञ के नाम पर अपना पेट-धंधा चलाने वाले पुरोहित लोग क्षत्रियों से कराते थे।

वैदिक कहलाने वाले धर्मगुरुओं ने क्षत्रियों को अश्वमेध करने का उपदेश किया और कहा कि यह राज्य का विस्तार तो करेगा ही, स्वर्ग का देने वाला और समस्त पापों का नाशक भी है। इसमें एक अश्व को आगे कर पीछें राजा की सेना चलती थी और वह अश्व जिस-जिस राज्य में जाता था, वह सब अश्वमेध करने वाले राजा का हो जाता था। जो राजा अश्व को रोकता था, उससे अश्वमेध करने वाला राजा युद्ध करता था। यदि उसको परास्त कर दिया तो उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेता था या उससे कर लेकर अपनी अधीनता स्वीकार करा ली जाती थी। इस प्रकार निरपराध राजाओं तथा उनकी प्रजा को पीड़ित कर तथा लाखों का खून बहाकर पीछे अश्वमेध यज्ञ होता था। तब उस यज्ञ में दिग्विजयी अश्व मारकर उसकी चर्बी से हवन तो होता ही था, तीन सौ[1] अन्य पशुओं को भी यूपों (खूटों) में बांधकर मारा जाता था तथा उनका हवन होता था। यह अश्वमेध यज्ञ पुरोहितों एवं धर्मगुरुओं से प्रेरित क्षत्रियों के लिए लूट का साधन था। इसमें अन्य राजे पीड़ित होते थे, प्रजा तथा सेना तबाह होती तथा मारी जाती थी, यज्ञ में सैकड़ों पशु मारे जाते थे। इस प्रकार यह अश्वमेध यज्ञ पूरा महापाप का रूप होता था। हां, इसमें एक पुण्य होता था कि प्रजा का एकत्रित धन राजा-द्वारा पुरोहितों को मिल

---

१. पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह ।। वाल्मीकीय रामायण १/१४/३२ ।।
अर्थात—राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में तीन सौ पशु तथा उत्तम अश्व-रत्न यूपों (खूटों) में बांधे गये।

जाता था और पुरोहित उसका उपभोग करते थे। यह अश्वमेध के नाम पर लूट-पाट, तबाही, हत्या करना क्षात्रधर्म था।

मुसलमानों ने भी जिहाद के नाम पर यही लूट-पाट तथा हत्या करना अपना राजधर्म माना और उन्होंने पुराकाल में एशिया के बहुत बड़े भू-भाग को रक्तरंजित कर दिया।

विश्व के राजाओं तथा सम्राटों की राज्यलिप्सा को उनके धर्मगुरुओं ने धर्म के नाम पर खूब बढ़ावा दिया और वे आये दिन एक दूसरे से लड़ते रहे तथा खून-खराबा करते रहे। महाभारत युद्ध यदि हुआ है तो निश्चित है कि वह विनशते-विनशते एक गुणात्मक स्थिति को पहुंच गया था। परन्तु धर्मगुरुओं ने गीता में जो उसकी प्रशंसा का पुल बांधा है और नाना छल-छद्मों से पिता, पितामह, भ्राता, पुत्रों, सम्बन्धियों तथा पूज्य गुरुओं की हत्या को धर्म कहा है वह एक चाटुकारिता तथा हत्या को बढ़ावा देना है।

राष्ट्र-रक्षा प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है। परन्तु युद्ध को बढ़ावा देना मानवता के साथ शत्रुता है। युद्ध से कभी किसी का कल्याण नहीं होता। आदमी अपने देश के मरते हैं या दूसरे देश के, आदमी तो आदमी हैं। उनकी रक्षा होनी चाहिए। युद्ध के बाद तो केवल दुख बच रहता है। महाभारत युद्ध को धर्मयुद्ध कहकर जो राग अलापा गया है, उसके बाद बचे हुए कौरवों का केवल रोना था ही, किन्तु पांडवों के पास भी रोने-पछताने के अलावा क्या था! युद्ध के पहले जो अर्जुन ने कहा था कि युद्ध में सारे परिवार को मारकर पाप ही होगा, पुरुषों के न रह जाने पर पीछे से स्त्रियां वर्णसंकर बच्चे पैदा करेंगी इत्यादि। अर्जुन की वही बात अंततः सिद्ध हुई।

युद्ध में अपनी विजय के बाद युधिष्ठिर अनुताप से पीड़ित होकर कहते हैं—"मैं अपने सुहृदों का द्रोही और अविवेकी हूं। वैसे-वैसे श्रेष्ठ सुहृदों का वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धन से कोई प्रयोजन नहीं।[1] हम लोग लोभ और मोह के कारण राज्यलाभ के सुख का अनुभव करने की इच्छा से दंभ और अभिमान का आश्रय लेकर इस दुर्दशा में फंस गये हैं। हाय, हम लोगों ने इस तुच्छ पृथ्वी के लिए अवध्य राजाओं की भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बंधु-बांधवों से हीन हो अर्थ-भ्रष्ट की भांति जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जैसे मांस के लोभी कुत्तों को अशुभ की प्राप्ति होती है उसी प्रकार राज्य में आसक्त हुए हम लोगों को भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिए मांस-तुल्य राज्य को पाना अभीष्ट नहीं। इसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिए।"[2] इस प्रकार युद्ध

---

१. न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा।
तादृशान सुहृदो हत्वा मूढ़स्यास्य सुहृद्द्रुहः॥ *(महाभारत, स्त्रीपर्व १५/२७)*

२. वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया॥
ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान पृथिवीश्वरान्।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः॥
आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम्॥
(महाभारत, शांतिपर्व ७/७, ९, १० टीका गीता प्रेस)

के बाद विजित ही पीड़ित होता है ऐसी बात नहीं, किन्तु विजयी के पास भी केवल अनुताप एवं मानसिक क्लेश रह जाते हैं।

युद्ध में रत रहने वाला राजा देश के लिए रचनात्मक काम नहीं कर पाता। महान कहा जाने वाला सिकन्दर (ईसा पूर्व ३५६-३२३) संसार का सबसे बड़ा लुटेरा तथा हत्यारा था। उसने अनेक देशों को केवल तबाहकर धन लूटा, परन्तु रचनात्मक काम कुछ न कर सका। भारत का सम्राट और भारतीय नेपोलियन कहा जाने वाला समुद्रगुप्त (ईसा चौथी शताब्दी) जीवन भर युद्ध एवं दिग्विजय करता रहा, इसीलिए वह अपने राज्यकाल में विशेष रचनात्मक कार्य नहीं कर सका। परन्तु उसी का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (राज्यकाल ३८०-४१३) कम युद्ध करने से देश में अद्भुत रचनात्मक काम किया तथा उसका राज्य धन-धान्य से सम्पन्न हो गया।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के धर्मगुरुओं के उपदेशों-द्वारा जो राजन्यों में युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ी तथा मनुष्यों का खून-खराबा होता रहा और युद्ध की सफलता के लिए अथवा विजय के उत्साह में जो राजन्यों-द्वारा निरीह प्राणियों का वध कर पूजा, यज्ञ एवं कुर्बानी के नाम पर जघन्य काम होते रहे, यह सब क्षात्र-धर्म का दुरुपयोग है। धर्मयुद्ध, जिहाद, यज्ञ, कुर्बानी आदि के नाम पर धर्मगुरुओं-द्वारा दिये गये उपदेश लोलुप राजाओं की राज्यतृष्णा की अग्नि में घी के काम किये और राजे-महाराजे लुटेरे तथा हत्यारे होते हुए भी धर्मवान भी बने रहे।

आंतरिक दुष्टों का दमन कर तथा बाहरी आक्रमण से रक्षा कर राष्ट्र की सुव्यवस्था बनाये रखना राजन्य का परम कर्तव्य है और इसके लिए प्रजा को राजा का सहयोग करना चाहिए। दुष्टदमन तथा हमलावर शत्रु से युद्ध में भी लोग मारे जाते हैं। मारना पाप है, परन्तु यह पाप राष्ट्र-रक्षा तथा सुव्यवस्था के लिए करना पड़ेगा। इससे स्वर्ग मिलता है, यह सब शब्दजाल है। परन्तु यह किये बिना राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं रह सकता और स्वतन्त्रता के बिना अर्थ तथा धर्म दोनों ही नहीं सध सकते।

इसके आगे सद्गुरु आध्यात्मिक क्षत्रिय का वर्णन करते हैं "क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै।" वे कहते हैं कि क्षत्रिय तो वह है जो अपने कुटुम्बियों से युद्ध करता है और पांच को मारकर एक को सम्राट बना देता है "पाँचों मेटि एक कै बूझै।" यहां कुटुम्ब है इंद्रियां, विषय-वासनाएं। उनमें आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जो क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, स्वाद तथा स्पर्श—इन पांच विषयों के लिए सदैव लालायित रहती हैं। इन्हीं के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय ये पांच विकार उत्पन्न होते हैं। जो इन सब पर विजय कर लेता है वह सच्चा सम्राट है। जिसके आंतरिक शत्रु नष्ट हो जाते हैं उसके जीवन में एक जीव का ही राज्य रहता है। इंद्रिय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के पश्चात ही "एक कै बूझै" वचन चरितार्थ होता है। एक कै बूझना है कैवल्य, असंगता एवं सहजावस्था की प्राप्ति। इंद्रिय-विषयों की तरफ भागना ही तो द्वैत में फंसना है। जब इंद्रिय तथा मन अपने वश में हो गये तब एक स्व-सत्ता ही की प्रतिष्ठा रह जाती है। जीव का स्वतन्त्र, स्वराज्य तथा सुराज्य हो जाता है। बाहर का राज्य भी

तब तक नहीं चलाया जा सकता जब तक राजा ने स्वयं अपने आप पर विजय न पायी हो। विलासी राजाओं का पतन इतिहाससिद्ध है।

"जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥" सद्गुरु कहते हैं कि क्षत्रिय कहलाने वाले लोग तो ऐसे हो गये हैं कि वे दूसरे जीवों को मारकर अपना तथा अपनों का पालन-पोषण करते हैं। निरीह पशु-पक्षियों को मारकर खा जाना, कमजोर वर्ग के अधिकार को छीनकर अपना लेना तथा उन्हें नाना प्रकार से सताना, यह सब क्षत्रियत्व हो गया। ऐसे लोग अपने जीवन को खो रहे हैं। जो कमजोर वर्ग की हिंसा, हत्या एवं उनका शोषण करने में अपनी शूरता दिखाते हैं, उनको क्षत्रिय कहना क्षत्रियत्व की कीमत घटाना है। ऐसे लोग तो "हाले करे निशाने घाऊ" अर्थात जरा-जरा से स्वार्थ, कामना एवं क्रोध में उबलकर दूसरों को शीघ्र चोट पहुंचाते हैं। उनकी सारी बहादुरी दूसरों को चोट पहुंचाना है। उन्मादी क्षत्रिय लोग बात-बात में लड़ाई ठानना जानते हैं।

क्षत्रिय नामधारी सब दोषी नहीं होते। उनमें भी विनम्र, शीलवान तथा परोपकारी होते हैं। यहां तो उनके लिए कहना है जो क्षत्रिय नाम धराकर ऐसा करते हैं। जिनका क्षत्रिय नाम नहीं होता, उनमें भी ऐसे लोग होते हैं जो दूसरों का शोषण एवं उत्पीड़न करना ही अपना धर्म समझते हैं। "जूझि परे तहँ मन्मथ राऊ" मन्मथ का अर्थ है जो मन का मथन करके विकार पैदा हो। मन के सारे विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि मन्मथ हैं। परन्तु यह रूढ़ हो गया है 'काम' में। अर्थात मन्मथ का अर्थ है काम। मन्मथ सारे दोषों तथा सारी मानसिक कमजोरियों का कारण है। जो जितना अधिक कामना-वासना वाला होगा, वह उतना अधिक क्रोध वाला होगा और काम-क्रोधादि में उलझे हुए मनुष्यों का भव-बंधन सदैव मजबूत रहेगा।

"मन्मथ मरै न जीवे, जीवहि मरण न होय।" यहां पर सद्गुरु अध्यात्म की गहरी बात कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब मन्मथ पूर्णतया मर जाता है, अर्थात वह फिर से नहीं जीवित होता, तब जीव का मरण नहीं होता। यहां जीव से अभिप्राय है शुद्ध चेतन। व्यक्ति की कामनाएं जब समाप्त हो जाती हैं और ऐसी समाप्त होती हैं कि वे पुनः नहीं उदित होतीं, तब उसके अन्तःकरण की स्थिति ही दूसरी हो जाती है। उसकी देह-बुद्धि लुप्त होकर स्वरूपज्ञान में स्थिरता हो जाती है। उसके जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।

जीव स्वरूपतः अमर है। उसकी व्यावहारिक अमरता कामना-निवृत्ति है। यह कामना ही जीव को भटकाती है। प्रत्यक्ष है कि जो जितना कामना वाला होता है वह उतना चंचल तथा संसार में भटकने वाला होता है। जिसने अपने जीवन में विषयों की कामनाएं छोड़ दी हैं, वह यहीं मुक्त हो गया। जो आज मुक्त है वह आगे भी मुक्त है। ऐसा मुक्त जीव ही सच्चा क्षत्रिय है। क्योंकि उसने अपने आपका क्षत से त्राण किया है। उसने पांचों को मेटकर एक को बूझा है।

"शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥" एक काम है दूसरा राम है। काम में प्रेम करना शून्य का मोही बनना है, राम में प्रेम करना तथ्य में पहुंचना है। मन्मथ में, काम में एवं भोगों में रमने वाले के सामने अन्त में शून्य है। भोगी मानव के जीवन के

आखिर में क्या रहता है! उसने जो कुछ अपना मान रखा था, बिखर जाता है। भोगी आदमी ने राम को स्वयं छोड़ रखा था और जिन्हें उसने पकड़ रखा था, वे सांसारिक प्राणी-पदार्थ थे। वे अन्त में साथ नहीं चलते। शरीर रहते-रहते वे शून्य हो जाते हैं। हमारे कितने प्राणी-पदार्थ, जिनका हमने जमकर भोगने का अभिमान किया है, आज नहीं हैं। राम तो अपना आपा ही है। आपा के दो रूप होते हैं। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में मैं भाव रखना नकली आपा है। आपा का दूसरा रूप है स्व-स्वरूप, जो शुद्ध चेतन मात्र है। यही जीव का वास्तविक आपा है। आपा का अर्थ है अपना स्वरूप, स्व-सत्ता।

जो अन्त में शून्य हो जाने वाले हैं ऐसे भौतिक भोगों के मोही जीव अपने स्वरूप-राम के बोध बिना अपने आपको खो चले। संसार में बड़े-बड़े राजे-महाराजे हुए। उनका अंत में सब शून्य हो गया। इतिहास की बड़ी-बड़ी विभूतियों के केवल नाम शेष हैं और उनका क्या है! वे कहां कुत्ता-बिल्ली खानियों में भटकते होंगे, कौन बता सकता है! परन्तु जिसने भौतिक प्राणी-पदार्थों की कामना-वासना छोड़कर अपने स्वरूप-राम में स्थिति बना ली, वह धन्य हो गया।

दुखदायी माया-मोह को छोड़ो

रमैनी–८४

ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार॥ १ ॥
माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥ २ ॥
मोर तोर में सबै बिगुर्चा। जननी गर्भ वोद्र मा सूता॥ ३ ॥
बहुतक खेल खेलें बहु रूपा। जन भँवरा अस गये बहूता॥ ४ ॥
उपजि बिनशि फिर जुइनी आवै। सुख को लेश सपनेहु नहिं पावै॥ ५ ॥
दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै। सो न मिला जो जरत बुझावै॥ ६ ॥
मोर तोर में जरे जग सारा। धृग स्वारथ झूठा हंकारा॥ ७ ॥
झूठी आस रही जग लागी। इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी॥ ८ ॥
जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई॥ ९ ॥

साखी—आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।
कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—लोई = लोग। मूल = स्वरूपविवेक, शांति। बिगुर्चा = बिगूचन, उलझन, कठिनाई। रुसवा = बदनाम, लांछित, अपमानित, तात्पर्य में रुष्ट, क्रोधित। निरास्ति = असत्य। अस्ति = सत्ता, सत्य।

भावार्थ—हे जीव! तू अपने आप को उन दुखों से बचा ले, जो सारे संसार में फैला हुआ है॥१॥ सब लोग माया के मोह-बन्धन में बंधे हुए हैं। उनमें विषय-भोगों का क्षणिक लाभ है, परन्तु इस व्यामोह में पड़कर स्वरूपविवेक तथा चिरंतन शांति खो जाते हैं॥२॥ संसार के सारे लोग राग-द्वेष में उलझे हैं। इसी कर्म-वासना-वश वे बारम्बार माता के गर्भ

में सोते हैं और जन्मते हैं।।३।। जीव नाना रूप धारणकर संसार में पाप-पुण्य कर्मों के नाना खेल खेलते हैं, परन्तु वे सब उसी प्रकार विमोहित होकर संसार में पिस जाते हैं, जैसे भंवरे सुमन-संपुट में उसकी रसासक्ति के वश बंद होकर मारे जाते हैं।।४।। जीव कर्माध्यास-वश नाना योनियों में जन्मते-मरते हुए भटकते हैं और स्वप्न में भी किंचित सुख नहीं पाते।।५।। बल्कि दुख, संताप एवं बहुत कष्ट पाते हैं। इन्हें ऐसे सद्गुरु नहीं मिलते जो इनके जलते हुए हृदय को अपने सत्योपदेश-जल से बुझा दें।।६।। राग-द्वेष में सारा संसार जल रहा है। ऐसे स्वार्थ को धिक्कार है और धिक्कार है इसके मूलस्वरूप झूठे अहंकार को।।७।। लोगों को जो संसार के भोगों की आशा लगी है, झूठी है। जो इनसे भागता भी है वह जाकर फिर दूसरी आग में पड़ जाता है, वह आग है धार्मिक उलझन।।८।। लोगों ने जिस कल्याण के लिए मान्यता की एक घेराबन्दी बना रखी है, वह कल्याणकारी न हुआ और उन चतुर लोगों में से कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हुआ।।९।।

लोग झूठी मान्यताओं से अपने आप सावधान नहीं होते। यदि उन्हें सावधान किया जाता है तो वे क्रोधित हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं यदि मनुष्य अपने आप में सावधान नहीं होता, तो भी असत्य मान्यताएं सत्य नहीं हो सकतीं।।८४।।

व्याख्या—सद्गुरु ने प्रथम रमैनी को जैसे पूरे ग्रन्थ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है और बीजक भर में विस्तृत ढंग से कही हुई बातों को प्रथम रमैनी में सूत्र रूप में कह दिया है, वैसे रमैनी प्रकरण के अन्त की इस चौरासिवीं रमैनी में पूरे रमैनी प्रकरण का सार कह दिया है।

"ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार।।" दैहिक, दैविक तथा भौतिक—ये तीन दुख हैं, जिनमें संसार के सारे प्राणी पीड़ित हैं। शारीरिक रोग और मानसिक उलझनों से मिलने वाले दुख दैहिक ताप हैं; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला-पाला या किसी भी जड़ पदार्थ से मिलने वाला दुख दैविक ताप है और प्राणियों-द्वारा मिलने वाला दुख भौतिक ताप है। इन तीन तापों में मुख्य ताप है मानसिक। जड़-पदार्थों द्वारा मिलने वाले दैविक ताप तथा प्राणियों-द्वारा मिलने वाले भौतिक ताप से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए। संयम रखकर दैहिक तापों से भी बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम अपने आपको मानसिक तापों से पूर्णतया बचा सकते हैं। मन की पीड़ा सबसे बड़ी पीड़ा है। जिसके मन की पीड़ा समाप्त हो गयी, वह सदैव सुखी रहता है।

मन से उत्पन्न हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष जीव को आज संताप देते हैं और आगे भव-बन्धन एवं जन्म-मरण-प्रवाह के कारण बनते हैं, जिनके फल में जीव नाना देह धारणकर सभी प्रकार की पीड़ाओं को भोगते हैं। अतएव मुख्य दुख है दुख-मूल काम-क्रोधादि। सद्गुरु कहते हैं कि इस दुख में सारा संसार डूबा है। इससे तुम अपने आपको बचा लो।

"माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई।।" दुखों के उत्पन्न होने का कारण है माया के मोह में बंध जाना। देखा जाता है तो सब जीव माया-मोह में बंधे हैं। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना ही माया-मोह है। विवेक कर देखिए तो अपनी आत्मा के अलावा कुछ भी अपना नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे प्राणी-पदार्थ

'पर' हैं, सब अपनी आत्मा से अलग हैं और इन्हीं में हम अहंता-ममता करके बंधे रहते हैं। इन सुहावने ममता-मोह में भोगों का लाभ दिखता है; परन्तु वह बहुत क्षणिक है और वासना-तृष्णा को उत्पन्न कर असीम दुखों को बढ़ा देने वाला है। संसार में फंसकर हम अपने मूल को खो देते हैं। हमारा मूल है आत्म-अस्तित्त्व। आत्म-अस्तित्त्व तो खो नहीं सकता, परन्तु माया-मोह के कारण उसका विस्मरण हो जाता है। विस्मरण होना ही यहां खोना है। हमारे पास करोड़ों की संपत्ति है; परन्तु वह विस्मृत है, तो वह मानो होते हुए न होने के समान है। इसी प्रकार परम तृप्तस्वरूप स्व-सत्ता है, परन्तु उसे विस्मृत कर हम भटक रहे हैं। अतएव भोगों में लाभ क्षणिक है जो अंततः दुख में बदल जाता है और इस भोगावरण में स्वस्वरूप का विस्मरण हो जाता है, और हम संसार में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भटकते हैं।

"मोर तोर में सबै बिगुर्चा" हम संसार के प्राणी-पदार्थों में जितना आसक्त होते हैं, उतना ही राग-द्वेष में उलझते हैं। कुछ भी अपना मानने से राग उत्पन्न होता है और उसमें विघ्न पड़ने पर द्वेष आता है। राग-द्वेष मनोमय सागर के महान भंवर हैं। इनमें पड़े हुए जीवों को कहां विश्राम। राग-द्वेष ऐसी दावाग्नि है जिसमें सारा संसार जल रहा है। "मोर-तोर में सबै बिगुर्चा" बड़ा मार्मिक वचन है। मन के सारे विकार राग-द्वेष में आ जाते हैं। ये राग-द्वेष में बंधे जीव जन्म-मरण के प्रवाह में भटक रहे हैं।

"बहुतक खेल खेलें बहुरूपा। जन भँवरा अस गये बहूता।।" मनुष्य नाना रूपों में नाना प्रकार के खेल खेलते हैं। मनुष्य चार दिन के जवानी, धन, परिवार, मित्र, अधिकारादि पाकर उनमें भूल जाते हैं, और माया के उन्माद में पड़कर नाना प्रकार के अच्छे-बुरे आचरण करते हैं। अच्छे आचरण करना तो ठीक है, परन्तु वे प्राप्त क्षणिक शक्ति के प्रमाद में दीन-दुनिया को इतना भूल जाते हैं कि दुष्कर्म करने में इति नहीं करते। भोगों में उन्मत्तता, उसके लिए अधिक धन संग्रह करने के चक्कर में छल, चोरी, विश्वासघात, भोगों में विघ्न पड़ने पर हत्या तथा और पता नहीं कितने दुष्कर्म मनुष्य करते हैं। देह के अभिमान में आदमी संसार में छककर खेलता है। इसके परिणाम में उसकी दशा भंवरे की होती है। भंवरे फूलों में बैठकर उनके रस लेते हैं और उनकी आसक्ति के वश होकर भूल जाते हैं कि इनसे अलग होना चाहिए, और इतने में पशु आकर फूलों के सहित उन्हें चरकर अपने मुख में चबा जाते हैं। इसी प्रकार प्रमादी मनुष्य संसार के राग-रंग में डूबकर नाना कर्म करते हुए काल के गाल में चले जाते हैं। "उपजि-बिनशि फिर जुइनी आवै" कर्मी जीवों की यही परिणति है कि जन्मते-मरते हुए संसार में भटकते रहें और स्वप्न में भी सच्चे सुख के दर्शन न पायें।

"दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै" देहधारी जीवनभर दुखों, संतापों, कष्टों एवं विपत्तियों से घिरा रहता है। यहां दुख, संताप, कष्ट तीन शब्द हैं जिनका मोटे रूप में एक ही अर्थ लगता हैं; परन्तु इनके अर्थों में अन्तर है। कोई धूप में चलकर आता है, तो लोग कहते हैं "आपको बड़ा कष्ट हुआ।" किसी की जब कोई बड़ी हानि होती है तब लोग कहते 'उन्हें बड़ा दुख है।' घोर अपमान या प्रतिकूलतादि प्राप्त होने पर मनुष्य को 'संताप' होता है। इस प्रकार कष्ट, दुख एवं संताप क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक दुखदायी हैं। इसी प्रकार

खेद, चिंता, शोक, पीड़ा एवं वेदना में अन्तर है। मित्र का पत्र न मिलने से खेद होता है। काम बिगड़ जाने से चिन्ता होती है। पुत्रादि के मरण से शोक होता है। शरीर में घाव होने पर पीड़ा होती है। गहरी पीड़ा ही वेदना कहलाती है। किसी घटनाविशेष से मन में लगे हुए धक्के से जो उस समय मन की अव्यवस्थित दशा होती है, वेदना कहलाती है। देहोपाधि में पड़कर इन सभी को जीव झेलता है।

"सो न मिला जो जरत बुझावै" मनुष्य के जलते हुए मन को शीतल करने वाला सद्गुरु का ज्ञान है। मनुष्य को जब तक वह नहीं मिलता तब तक जलता रहता है। संसार में दुखों से छुटकारा अन्य जगह कहीं नहीं है। केवल सच्चे सद्गुरु की शरण में ही जीव पूर्ण सुखी हो सकता है।

"मोर तोर में जरे जग सारा" इस अर्धाली में भरी हुई व्यंजना अत्यंत मार्मिक है। सारा मानव-संसार तो 'मोर-तोर' में जल रहा है। थोड़ी-थोड़ी जमीन, रुपये तथा मान-मर्यादा के लिए मनुष्य राग-द्वेष, क्रोध, हत्यादि सब कुछ करता है। भाई-भाई, चाचा-भतीजे, यहां तक पिता-पुत्र भी आमने-सामने मकान में रहते हैं, दोनों के घर से निकलने का प्रांगण एक है; परन्तु वे एक दूसरे से बात नहीं करते। इतना ही नहीं, एक-दूसरे को देखकर जलते हैं। ऐसे दुर्लभ लोग हैं जो अपने पड़ोसी को देखकर प्रसन्न होते हैं।

यह सच है कि कुछ अपना तथा पराया माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। व्यक्ति बाहर से आकर अपने माने हुए मकान में ही घुसता है, किसी भी मकान में नहीं। अन्न एवं द्रव्य कमाकर मनुष्य अपने घर में लाकर अपनी पत्नी एवं बच्चे को ही देता है। वह उन्हें रास्ते भर बांटते हुए नहीं आता। परिवार एवं समाज के कुछ व्यक्तियों के लिए मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी होती है। उस जिम्मेदारी को निभाना बुरा नहीं है। परन्तु आदमी जब ममता एवं स्वार्थ में अन्धा हो जाता है, तब वह अपने माने हुए परिवार एवं स्वार्थ के लिए दूसरे के हक को मारता है। वह दूसरे के धन, जमीन, मकान एवं अन्य चीजों को दबाता, हड़पता तथा उसके लिए पता नहीं, कौन-कौन अघकर्म करता है। और इन सबको लेकर वह अपने मन में स्थायी राग-द्वेष की आग सुलगाये रखता है।

"धृग स्वारथ झूठा हंकारा" सद्गुरु कहते हैं कि अविवेकपूर्ण स्वार्थ को धिक्कार है। यह भी सच है कि स्वार्थ सारे संसार को है। स्वार्थ का काम किये बिना भी नहीं चल सकता। खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, आवास-निवास बहुत सारे स्वार्थ हैं जो ज्ञानी-से-ज्ञानी व्यक्ति को भी आवश्यक हैं। परन्तु यह स्वार्थ विवेकपूर्ण तथा मानवीय होना चाहिए। मंनुष्य के बीच में खाने के लिए रोटी रख दी जाती है, वे उसे बांटकर खाते हैं और कुत्तों के बीच में जब रोटी रखी जाती है तब वे उसे लड़कर खाते हैं। यदि आदमी भी लड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता हो तो यह पशुता है। बांटकर खाना मानवता है। कुत्तों का तो एक स्वार्थ केवल रोटी है और कई जगह देखा जाता है कि वे भी एक जगह रखी हुई रोटियों को मिलकर खाते हैं। परन्तु आदमी के स्वार्थजाल की सीमा नहीं है और वह जीवन में कहीं-न-कहीं अवश्य दूसरों से लड़ता है। लड़ाई भी दो प्रकार की है। अपने हक के लिए लड़ना बुरा नहीं है। परन्तु जब वह दूसरों के हक को मारने के लिए लड़ता है, तब उसे क्या कहा जाय! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे नीच स्वार्थ को धिक्कार है, और

धिक्कार है उस अहंकार को जो इसके नीचे छिपा बैठा है। मनुष्य का जो यह घोर अहंकार है कि ये धन, परिवार मेरे हैं, ऐसे अहंकार को धिक्कार है।

केवल व्यवहार को सम्पादित करने के लिए ही अपना-पराया मानना ठीक है। अन्यथा क्या अपना-पराया है! यह सब तो देह रहते-रहते बदलते तथा विनशते रहते हैं और देह छूट जाने पर तो अपने माने गये सारे प्राणी-पदार्थ उसके लिए आकाश-कुसुम हो जायेंगे। जिस संसार से हमें शरीर भी छोड़कर आज-कल में सदा के लिए चला जाना है, वहां का अहंकार करना कितनी घोर मूढ़ता है। और फिर ऐसा अहंकार जिसमें घृणित स्वार्थ जन्म ले, जिसको लेकर हम दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करें तथा निरंतर राग-द्वेष में जलते रहें।

"झूठी आस रही जग लागी" लोगों को संसार के भोगों में सुख भोगने की जो आशा लगी है वह झूठी है। मैथुन, मोह, ममता, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्त्री, पति, पुत्र, धन, भवन, सम्मान आदि से तृप्ति पाने की आशा घोर मूर्खता है।

एक नट तथा एक धोबी आस-पास बसे थे। दोनों के एक-एक गधा था जिनमें मित्रता थी। धोबी तो स्थायी रूप से घर में रहता था तथा तालाब पर जाकर लोगों के कपड़े धोता था और नट महीनों गांव-गांव घूमकर तथा तमाशा एवं करतब दिखाकर भिक्षा मांगता था, फिर कभी घर पर आता था।

एक बार जब चार महीने पर नट घर पर लौटकर आया, तब नट तथा धोबी के गधे मिलकर एक दूसरे से कुशल समाचार पूछने लगे। धोबी के गधे ने नट के गधे से पूछा—"मित्र, तुम बहुत दुबले क्यों हो?" नट के गधे ने कहा—"मेरा स्वामी मुझे दिन भर गांव-गांव घुमाता है। वह सुबह अपने डेरे से चलकर तथा मेरे ऊपर तमाशा का सामान लादकर एक गांव से दूसरे गांव जाता है तथा तमाशा दिखाकर भिक्षा मांगता है। मुझे पूरा दिन कुछ खाने के लिए नहीं मिलता। वह जब शाम को अपने डेरे पर आता है, तब मुझे चरने के लिए लम्बी डोरी से खूंटे में बांध देता है। क्या करूं मित्र, पेट नहीं भरता। इसलिए दुबला हूं।"

धोबी के गधे ने कहा—"मैं तो सुबह घर से कपड़ों की एक लादी लेकर तालाब जाता हूं। लादी गिरा देता हूं। मेरा मालिक दिन भर तालाब में कपड़े धोता है और मैं तालाब में हरी-हरी घास चरता हूं। शाम धुले तथा सूखे कपड़ों की लादी लाकर घर पर गिरा देता हूं और रात भर आराम से घर में सोता हूं। इसलिए मैं स्वस्थ और सुखी हूं। मित्र जी, तुम भी नट का साथ छोड़कर मेरे स्वामी के यहां आ जाओ।"

नट के गधे ने कहा—"लेकिन मैं आ नहीं सकता। क्योंकि नट के साथ रहने में मुझे एक लम्बे सुख की आशा है। इसलिए उसकी आशा में मैं सारा दुख सहता हूं।"

धोबी के गधे ने पूछा—"वह क्या है?" नट के गधे ने उत्तर दिया—"नट जब किसी गांव में जाकर अपने करतब दिखाता है तब वह मुझे वहीं पास में एक खूंटे में बांध देता है। वह बांस के दो खंभों पर रस्सी बांधकर उस पर अपनी युवती लड़की को चढ़ाकर उसे उसी पर नचाता है, और उससे कहता है 'देख, गिरना नहीं, अन्यथा तेरी

शादी इसी गधे से करूंगा।' मैं वहीं खड़ा होकर यह सब देखता-सुनता हूं। मैं सोचता हूं कि यह हरामजादी किसी दिन तो गिरेगी।''

धोबी के गधे ने हंसकर कहा—''यार, यह कहकर तो नट समाज का मनोरंजन करता है। एक तो लड़की अभ्यस्त है, वह गिरेगी नहीं, और यदि कदाचित कभी गिर भी जाय, तो उसकी शादी तुमसे नहीं हो सकती।''

संसार के भोगों से, प्राणी-पदार्थों एवं मान-सम्मान से चिरंतन एवं नित्य तृप्ति की आशा करना नट के गधे की आशा चरितार्थ करना है। सद्गुरु कहते हैं ''झूठी आस रही जग लागी'' जगत के भोगों से तृप्ति की आशा करना झूठी अवधारणा है।

''इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी'' इस अर्धाली में एक सूक्ष्म दिशा के लिए व्यंजना है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ऐसे लोग होते हैं जो संसार के भोगों को छोड़ देते हैं। यहां तक घर-परिवार से भागकर साधु-संन्यासी हो जाते हैं। परन्तु यदि वे साधु-संन्यासी, मुल्ला-पंडित, ज्ञानी-योगी आदि का धार्मिक या आध्यात्मिक जामा पहनकर भी सांप्रदायिकता की आग में जलते रहते हैं, तो बात घूमकर वही हुई। संसार में भोगों के झूठे स्वार्थ को लेकर राग-द्वेष में जल रहे थे, और यहां धार्मिक नाम रखकर धर्म तथा ईश्वर को लेकर सांप्रदायिकता की आग में जल रहे हैं। यहां अपना देवता, अपना ईश्वर, अपना आचार्य, अपना खलीफा, अपना धर्म, अपने चेले, अपने अनुगामी, अपना प्रचार, अपना संप्रदाय, अपना मजहब आदि को लेकर यदि राग-द्वेष में जलते हैं, तो बात घूमकर वही हो गयी। भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक दिशा की ओर बढ़ने का फल होना चाहिए समता एवं शांति की प्राप्ति।

''जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई।।'' मनुष्य अपना कल्याण समझकर सांसारिक प्राणी-पदार्थों में अपनी आसक्ति बनाता है और वह भूलवश मजहबी भावनाओं तथा धार्मिक जड़ता को भी अपने कल्याण के लिए अपने गले चिपकाता है, और इन सब बातों में वह अपनी सयानी समझता है। वह अपने आपको बड़ा चतुर मानता है। परन्तु इन बातों में जो अपने आपको जितना ही चतुर समझता है, वह उतना अधिक मूढ़ होता है। राग-द्वेष करने, दूसरों को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करने तथा संसार के राग-रंग में अपने आपको महान मानने वाले, पतन से नहीं बच सकते। कुबुद्धि और कुचाल करने में अपने आपको समझदार मानना घोर अज्ञान और पतन का पथ है।

''आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।'' मनुष्य माया-मोह की नींद से स्वयं जागता नहीं। उसे जगाओ तो वह रुष्ट होता है। जिसमें प्रबल आसक्ति हो जाती है, उसमें दोष बताने पर आदमी लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू-गांजा, शराब-मांस जैसे तुच्छ दुर्व्यसन त्यागने के लिए निवेदन किया जाय, तो कितने लोग असन्तुष्ट हो जाते हैं। वे कहते हैं हम बीड़ी-सिगरेट छोड़ दें तो आप अन्न छोड़ दीजिए। साफ जाहिर है कि अन्न नहीं छोड़ा जा सकता है किन्तु नशीले पदार्थों को छोड़कर हर प्रकार से हित है।

चाहे सांसारिक प्राणी-पदार्थों के बारे में हो और चाहे धार्मिक एवं आध्यात्मिक जड़-मान्यताओं के बारे में हो, जहां कहीं भी मनुष्य की आसक्ति हो जाती है उसका छोड़ना कठिन होता है, और यदि कोई उसकी कसर बताकर उसे उससे मुक्त होने की राय दे तो उसे वह सुनना भी नहीं चाहता। जो व्यक्ति अपने में न स्वयं विवेक जगाता है और न दूसरे के अच्छे निर्देश को स्वीकारना चाहता है, उसका कल्याण कैसे होगा!

"कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय।" सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि व्यक्ति स्वयं सावधान नहीं होता, यदि वह अपनी आंखें नहीं खोलता और झूठे मोह तथा मान्यताओं में ही चिपकता रहता है, तो क्या झूठी बातें सच हो जायेंगी! कदापि नहीं। यदि आदमी सांसारिक भोगों, प्राणियों एवं पदार्थों में हठपूर्वक आसक्त ही रहे, तो क्या वे उसके साथ चलेंगे! जो लोग सांसारिक माया-मोह तथा राग-रंग में अपनी बड़ी सयानी दिखा रहे हैं और उन्हें उन सब का खूब अहंकार है, इसलिए वे उनके विरुद्ध कुछ नहीं सुनना चाहते, तो क्या इस प्रकार उनके मोह करने से वे सारी मायावी वस्तुएं जीव के लिए कल्याणदायी हो जायेंगी? असत्य वस्तुओं में मोह करने से वे सत्य नहीं बन सकतीं। इसी प्रकार धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मनुष्यों ने जितने अंधविश्वास, पाखंड एवं प्रतिगामी विचार पाल रखे हैं, उनकी उनमें जड़ता होने से वे सब सत्य तथा मानव के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकते।

अतएव हमें यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि संसार के चाहे स्थूल पदार्थ हों, प्राणी हों या मन की अवधारणाएं, इनमें राग कर हम बंधते हैं। इनके राग से छूटकर हम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कृतार्थ हो जाते हैं। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वरूपस्थिति है। इसके लिए हमें जागरूक होना चाहिए।

फल छन्द

सुनि रमैनी पद परम यह,
जीव अति प्रमुदित भयो।
जो भूल से दुरते न कधि,
वह रिपु प्रभो! क्षण में क्षयो ॥
कर्तव्य जन का अब यही,
पुनि-पुनि मनन गुरुपद ठयो।
गुरुवर प्रसाद प्रबन्ध पारख,
पाय अविचल पद लयो ॥

चौपाई

सब शुभ साधन कर फल येहू।
जेहि ते धोखा धार दुरेहू ॥
सत्य प्रकाश अभूल रहेहू।
गो मन स्ववश रमैनी लेहू ॥

जिज्ञासा

सुना चहहुं प्रभु अग्रहुं केरा। जो कुछ शोधन व्यंजन हेरा ॥
जौ लौं देह तहां लगि मेरा। नित नव अभिरुचि पद सोइ प्रेरा ॥

शब्द प्रकरण

हेतु छन्द

रोचक भयानक काल्पनिक,
भ्रम शब्द का घनघोर था।
मानो निविड़ि तम पथ न सूझै,
द्वन्द्व चारों ओर था।।
कोइ सात्विकी तपसी सुभट,
निज खोज सत्य विभोर था।
वह सत्य रवि उद्योतमय,
निर्णय सजीव सजोर था।।

दोहा

सत्य शब्द निर्णय किये, करुणा-रमण कबीर।
जेहि विचार तत्काल ही, पावत पारख धीर।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

[पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित]

द्वितीय प्रकरण : शब्द

गुरु-भक्ति, माया-विरति तथा असंगता

शब्द—१

सन्तो भक्ति सतोगुर आनी॥ १ ॥

नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ २ ॥

पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी॥ ३ ॥

तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी॥ ४ ॥

उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलैं एकै बानी॥ ५ ॥

वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥ ६ ॥

नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला॥ ७ ॥

कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ ८ ॥

शब्दार्थ—नारी = भक्ति। पुरुष दुइ = ज्ञान तथा वैराग्य। पाहन = पत्थर, विषयासक्ति। गंग = गंगा, भक्ति। दुइ पर्वत = अहंता-ममता। दरिया = समुद्र, संसार-समुद्र। लहर = भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की तरंगें। माखी = विषयासक्तवृत्ति। तरवर = तरुवर, वृक्ष, आत्मज्ञान की उंचाई। एकै बानी = स्वरूपज्ञान की बातें। नारी = माया। पुरुषवै = चेतन जीव। अकेला = असंग, निराधार।

भावार्थ—हे संतो! सद्गुरु साधक के हृदय में भक्ति का अवतरण करता है, अथवा हे संतो! अपने हृदय में सद्गुरु के प्रति भक्ति का अवतरण करो॥१॥ इस भक्ति रूपी नारी ने ज्ञान और वैराग्य रूपी दो पुरुषों को जन्म दिया है। हे पण्डित तथा ज्ञानियो! इसे समझो॥२॥ जैसे हिमालय के पर्वत फोड़ कर गंगा नदी निकली और मैदानी भाग में

आकर उसने सर्वत्र पानी-पानी फैला दिया, वैसे जब मनुष्य के हृदय की विषयासक्ति-शिला टूटकर भक्ति-गंगा का अवतरण होता है तब पूरा जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से आप्लावित हो जाता है।।३।। इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के दो पर्वत डूब जाते हैं, अर्थात इनका नाश हो जाता है। यहां तक कि इस भक्ति की लहर में संसार-सागर ही डूबकर शांत हो जाता है।।४।। जैसे सर्वत्र पानी भर जाने पर मक्खियां जमीन से उड़कर ऊंचे पेड़ पर जा बैठती हैं, वैसे जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से ओतप्रोत हो जाने पर पहले की विषयों में डूबी मनोवृत्ति आत्मज्ञान रूपी उच्चवृक्ष पर जा बैठती है और एक स्वरूपज्ञान की बातें बोलने लगती है।।५।। जैसे बिना नर तथा वीर्य के मादा को गर्भ रह जाय तो आश्चर्य है, वैसे विषयवृत्ति भक्ति के प्रताप से बिना अन्य सहारे के स्वयमेव ज्ञानवृत्ति बन जाती है।।६।। भक्ति-नारी तो कल्याणकारी है, परन्तु दूसरी माया-नारी है जिसने सारे जीवों को पथभ्रष्ट कर रखा है, इसलिए जीव को चाहिए कि वह उसे छोड़कर अकेला हो जाय।।७।। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जो आज इस जीवन में इस सत्य को समझ लेता है वह गुरु हो जाता है, और मैं उसका दास बनने के लिए तैयार हूं।।८।।

व्याख्या—श्रीमद्भागवत पुराण[1] के माहात्म्य के पहले ही अध्याय में एक मनोरंजक कथा है। वह इस प्रकार है—एक सुन्दरी युवती वृन्दावन में बैठी है और उसके सामने दो वृद्ध तथा निर्बल पुरुष लेटे हैं। वहां नारद ने पहुंचकर उस युवती से उसका परिचय पूछा। युवती ने कहा—मेरा नाम भक्ति है। ये सामने लेटे हुए दोनों वृद्ध पुरुष मेरे पुत्र हैं। मैं द्रविड़[2] देश में पैदा हुई, कर्णाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में यत्र-तत्र मेरा सत्कार हुआ, परन्तु गुजरात में मैं बूढ़ी हो गयी। वहां घोर कलियुग के प्रभाव से प्रभावित पाखंडियों ने मेरे अंग-भंग कर दिये। अब मैं वृन्दावन में आ गयी हूं। यहां तो मैं पुनः स्वस्थ युवती हो गयी; परन्तु मेरे दोनों बच्चे ज्ञान-वैराग्य अब भी दुर्बल बने पड़े हैं।

द्रविड़देशीय तमिलभाषी नम्मालवार (शठकोपाचार्य), तिरुभंगै आलवार आदि ने लोकदृष्टि से अंत्यजवर्ग में होकर भी भक्ति की गंगा बहायी और इनके तिरुविरुतम, तिरुवाशिरियम, पेरियतिरुंदादि तथा तिरुवाँयमोलि ये चार ग्रन्थ तमिल भाषा में भक्ति के महान ग्रन्थ हैं। शठकोपाचार्य के बाद नाथमुनि तथा यमुनाचार्य प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हुए। इसके बाद रामानुजाचार्य प्रसिद्ध आचार्य हुए। इस प्रकार द्रविड़ में भक्ति ने जन्म लिया। उसके ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र पैदा हुए। उसने कर्णाटक तथा महाराष्ट्र में विस्तार किया; परन्तु गुजरात में उसे अनुकूल वातावरण न मिला। वृन्दावन में उसे अनुकूल वातावरण मिला, परन्तु ज्ञान-वैराग्य के लिए वहां भी कोई सुविधा नहीं मिली। इस प्रकार भक्ति दक्षिणी भारत में पैदा होकर उत्तरी भारत में आयी।[3]

---

१. पुराण विशेषज्ञों के अनुसार ९०० ई० में भागवत पुराण की रचना हुई है।

२. तमिलनाडु का प्राचीन नाम द्रविड़ है। मद्रास से लेकर दक्षिण कन्याकुमारी तक द्रविड़ देश कहलाता है।

३. भक्ति का मूल उदय उत्तरी भारत में ही हुआ : देखें आगे ८१ वें शब्द की व्याख्या।

कबीर साहेब के साखी-ग्रन्थ में, एक साखी है "भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद। प्रगट करी कबीर ने, सात दीप नौ खंड ।।[१] इस प्रकार मानो कबीर साहेब कह रहे हों कि भक्ति तो दक्षिणी भारत में पैदा हुई; परन्तु सद्गुरु रामानंद ने उसे उत्तरी भारत में लाया।

यह विचार करने योग्य है कि "सन्तो भक्ति सतोगुर आनी में" स्वामी रामानंद का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। कहना चाहिए कि पूरे बीजक में भी उनका वैसा संबंध नहीं है जैसा कि उक्त साखी-ग्रन्थ की साखी है। बीजक में केवल एक जगह स्वामी रामानंद का नाम आया है, वह इस प्रकार है "रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।"[२] इससे सिद्ध होता है कि कबीर साहेब स्वामी रामानन्द के सगुण रामभक्ति से संतुष्ट नहीं थे। इसके साक्ष्य में उनकी सारी वाणियां हैं। यदि भक्ति द्रविड़ से आकर स्वामी रामानन्द द्वारा कबीर की विचारधारा में प्रविष्ट मानी भी जाय तो वह न सगुण अवतारी-भक्ति है और न परोक्ष कल्पित ईश्वर-भक्ति है, किन्तु वह गुरुभक्ति तथा आत्मस्थिति रूपी पराभक्ति है। तब यही कहना पड़ेगा कि वैष्णवों की ईश्वरभक्ति कबीर और कबीरपंथ में गुरुभक्ति तथा स्वरूपस्थिति बन गयी है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कबीर-बीजक तथा कबीरपंथ है।

"सन्तो भक्ति सतोगुर आनी" यह कबीर देव का संतों के लिए आदेश है कि वे सद्गुरु के प्रति भक्ति रखें। संत किसे कहना चाहिए, सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने इस पंक्ति की टीका करते हुए संतों की बड़ी उदार परिभाषा उपस्थित की है—"सन्तो कहिए श्रोता को, सन्तो शांत स्वरूप। सन्तो कहिए जीव को, निरुवारत निजरूप ।।" अर्थात श्रोता, साधु तथा सामान्य मनुष्य जो भी सदुपदेश के ग्राहक हैं, सब संत हैं।

मनुष्य के अस्तित्त्व के साथ ही उसके हृदय में भक्ति है। उसके विकास की आवश्यकता है। वैदिक-साहित्य में शायद 'भक्ति' शब्द पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है—"जिस महात्मा के मन में जैसे देव के प्रति परम भक्ति होती है वैसे गुरु के प्रति भी होती है, उसी के हृदय में सत्योपदेश के अर्थ प्रकाशित होते हैं।"[३] जानी हुई बातों को जीवन में उतारने के लिए समर्थ सद्गुरु के प्रति भक्ति की महती आवश्यकता है। सद्गुरु ही निजस्वरूप एवं आत्मदेव की परख कराने वाला है; इसलिए उसके प्रति अनुराग एवं प्रेम रखना अत्यन्त आवश्यक है और यही भक्ति का प्रथम पक्ष है। इसीलिए कबीरदेव ने यहां सद्गुरु-भक्ति पर जोर दिया है। अंततः भक्ति का मुख्य शाब्दिक अर्थ है—वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन।[४] अर्थात अपनी आत्मा को जड़-देह से अलग समझकर इस असंगभाव में स्थित हो जाना।

"नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी।" भक्ति-नारी ने ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र

---

१. महाराज राघव साहेब-संपादित साखी ग्रंथ, भक्ति को अंग १२।

२. बीजक, शब्द ७७, इसकी व्याख्या देखें।

३. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। *(श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६/२३)*

४. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।

पैदा किये। जिसके हृदय में भक्ति है, उपासना है, विनम्रता है, उसके हृदय में ही समय से ज्ञान तथा वैराग्य का उदय होता है। भक्तिविहीन व्यक्ति के हृदय में ज्ञान-वैराग्य नहीं उत्पन्न हो सकते। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित तथा ज्ञानियो! इस बात को समझो। इस तथ्य को मननपूर्वक ही समझा जा सकता है।

"पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी।" हम देखते हैं कि पत्थरों को फोड़कर नदियां निकलती हैं और मैदानी भाग में आकर सारे दृश्यों को हराभरा कर देती हैं। मनुष्य का हृदय विषयासक्ति से पत्थर बना है। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा फूट पड़ती है उसके हृदय की विषयासक्ति एवं जड़ता की शिलाएं टूट-टूट कर बिखर जाती हैं। उसका पूरा जीवन भक्ति से ओतप्रोत हो जाता है। जिसके जीवन में भक्ति गंगा लहराती है उसके लिए सारी दिशाएं भक्तिमय होती हैं। ऐसा साधक सबसे विनम्र होता है। वह प्राणिमात्र को देवरूप समझकर सबसे विनयी होता है। वह दूसरे का कुछ हरता नहीं, किन्तु अपनी मानी गयी सारी चीजें ही दूसरे की सेवा में लगाने योग्य समझता है।

"तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी।" इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के पर्वत डूब जाते हैं। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा बहती है, जिसके हृदय में भक्ति से उत्पन्न ज्ञान तथा वैराग्य का पूर्ण प्रकाश है, उसके हृदय में अहंता-ममता के बन्धन नहीं रह सकते। जहां अहंता-ममता नहीं है, वहां राग-द्वेष नहीं है। अहंता-ममता ही भयंकर पर्वत हैं। जो इनको लांघ जाता है, वह भव से पार हो जाता है। उसका दरिया लहर में समा जाता है। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की लहरों में उसका संसार-सागर डूब जाता है। यह बाहर का संसार हमें नहीं बांधता। हमें बांधने वाला या डुबाने वाला हमारे मन का समुद्र है। यह मन की वासना ही संसार-सागर है जो भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य से शांत होता है।

"उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलै एकै बानी।" जब वर्षा से पूरी जमीन जलमग्न हो जाती है तब मक्खियां उड़कर ऊंचे वृक्षों पर जा बैठती हैं। इसी प्रकार भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य की बहिया आने पर मन की वृत्ति जो विषयलीन थी वह विषयों से उठकर उच्च स्वरूपज्ञान में तदाकार हो जाती है। आध्यात्मिक साधना का यही फल है कि हमारा मन निम्नस्तर से उठकर उच्चस्तर पर पहुंच जाय, विषयोन्मुख मन आत्मोन्मुख हो जाय। साधक साधना में जितना आगे बढ़ता जाता है उतना वह सांसारिक प्रभाव से ऊपर उठता जाता है। पूर्ण आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ है पूर्ण अप्रभावित जीवन। जिसके मन से मोह-शोक बीत गये हैं वही मानो अपने लक्ष्य को पा गया है। उसका मन "बोलै एकै बानी" एक ही बात बोलता है, उसकी अंतरात्मा में एक ही आवाज उठती है—निज-स्वरूप की स्थिति। वह सदैव आत्माराम होता है।

"वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी।" बिना नर तथा बिना वीर्य के गर्भ रहना एक आश्चर्य है। यहां यही आश्चर्य घटित होता है। यह मलिन मनोवृत्ति बिना अन्य सहयोग के केवल भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के सहारे स्वयमेव बदल जाती है। जो भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य को अपने जीवन में उतार लेता है उसका काग-मन कोयल बन जाता है तथा बकु-चित हंस हो जाता है। यह सर्वविदित है कि विष को शोध लेने पर

वह अमृत-औषध हो जाता है। इसी प्रकार मलिन मन शुद्ध-बुद्ध बन जाता है।

"नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" इस शब्द की दूसरी पंक्ति की नारी तो भक्ति अर्थ वाली है जो ज्ञान-वैराग्य पुत्रों को जन्म देने वाली है। परन्तु इस सातवीं पंक्ति की नारी माया है जो सारे पुरुषों को खाने वाली है। यहां नारी का अर्थ नारी-देह नहीं है; क्योंकि नारी-देह में भी तो चेतन-पुरुष निवास करता है। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात शरीर रूपी पुर में शयन करने वाला चेतन ही पुरुष है। चेतन जीव मात्र पुरुष हैं। उन्हें खाने वाली, अर्थात पथभ्रष्ट करने वाली मनोमालिन्यता रूपी माया है। इस माया ने सबको भटकाया है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि अकेला रहना चाहिए।

यह अकेला हो जाना ही पराभक्ति है। जैसा कि संस्कृत-हिन्दी कोश का उदाहरण देकर ऊपर बताया जा चुका है कि पृथक हो जाना परा भक्ति है। पहली भक्ति तो सत्पथ दिखाने वाले सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा-प्रेम है, परन्तु अंतिमी भक्ति जीव का माया से अलग हो जाना है। माया भी नारी है और भक्ति भी नारी है। माया वह नारी है जो जीवों को बन्धन देती है, और भक्ति वह नारी है जो जीवों को माया से छुड़ाकर असंग, अकेला, केवल, निराधार बनाकर मुक्त कर देती है। इसलिए कल्याणेच्छुक माया से हटकर भक्तिपथ में लगता है। जीव का शुद्ध स्वरूप असंग है। मन के विकार माया है। उससे हटकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होना ही अकेला हो जाना है। सद्गुरु कबीर का यह बहुत मार्मिक वचन है "नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" साधक की भलाई इसी में है कि वह माया से हटकर असंग हो जाय। माया और भक्ति दोनों मानसिक दशाएं हैं। मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों की ओर खिंचता है, माया है; और मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों से सर्वथा पृथक होकर असंग हो जाता है, भक्ति है। इस प्रकार माया और भक्ति दोनों नारी वर्ग है, परन्तु एक अकल्याणकारी है तथा दूसरी कल्याणकारी। सद्गुरु इस पंक्ति में नारी शब्द से माया को लेते हैं और कहते हैं कि इसने सारे पुरुषों को खा लिया है, माया ने सारे जीवों को भटका दिया है; अतः इससे अलग होकर अकेला हो जाना चाहिए।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो साधक सेविका, शिष्या, भक्तिन आदि मानकर मोह-वश नारियों का संग करते हैं, उनकी साधना थोड़े ही दिनों में स्वाहा हो जाती है। साधक या साधु संग-दोष से ही पतित होते हैं। साधिकाओं के लिए पुरुष कुसंग हैं तथा साधकों के लिए नारियां कुसंग हैं। कहना चाहिए विरोधी आलंबन कुसंग है। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। संग-दोष से रहित रहकर साधारण साधक और साधिका भी अपनी साधना में आराम से बने रह सकते हैं और संग-दोष कर बड़े-बड़े उग्र साधक तथा साधिका भी पतन के गर्त में चले जाते हैं। संग-दोष से मोह उत्पन्न होता है और मोह उत्पन्न होने पर मन में भ्रम-सुख का ऐसा भंवर उठता है कि साधक पहले से जाने हुए ज्ञान की हजारों युक्तियां भी भूल जाता है, और वह काम-धारा में बह जाता है। बह जाने के बाद उसे होश होता है। परन्तु तब तक वह अपने आपको खो चुका रहता है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़े काम का है "ताते रहै अकेला।"

तुम शुद्ध चेतन हो, पूर्णकाम तथा पूर्णतृप्त हो। तुम्हें दूसरे की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम मन की कल्पनाओं से गढ़कर दूसरा आधार खड़ा करते हो, यह तुम्हारे भटकने का कारण है। इस कल्पना नारी ने तुम्हें खूब भटकाया है। अब इसे छोड़कर अकेला हो जाओ। मन की कल्पनाएं ही तो द्वैत खड़ा करती हैं। यदि मन की कल्पनाएं न रहें तो जीव अकेला है ही। यह जीव का अकेलापन, कैवल्य, असंगत्व तथा निराधार स्थिति ही तो इसकी वास्तविकता है। तुमसे अलग की वस्तु, तुमसे अलग के कल्पित ईश्वर या भगवान चाहे जितने आनन्द के सागर हों, वे तुम्हारा स्वरूप नहीं बन सकते। तुम अपने से अलग जो कुछ खड़ा करते हो, वह तुम्हारे मन की मान्यता है, अवधारणा है। वही माया है। वही तुम्हें छलती है। उसे छोड़कर अकेला रहने का अभ्यास करो। यह गुरु-वाक्य कभी नहीं भूलो "ताते रहै अकेला।"

"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" यह महाप्रातिभ, ज्ञानसागर, संतशिरोमणि कबीर देव की विनम्र घोषणा है कि जो अबकी—इस नर-जन्म में आज उक्त वास्तविकता को बूझ ले, समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं। जो आज मन की सारी भ्रांतियों को काटकर फेंक दे, मनःकल्पना-नारी की संगत छोड़कर अकेला हो जाय, मन की सारी मान्यताओं के जाल को तोड़कर स्व-स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध में निमग्न हो जाय, वह महान है। मैं उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं। मैं उसके सामने विनम्र हूं।

इन्हीं जैसी पंक्तियों का भावानुवाद करते हुए बीजक की प्रथम भावात्मक टीका लेखक सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"हे शिष्य! जो वास्तविक निर्णय को समझता तथा धारण करता है, वही कृतार्थ हो जाता है। वही व्यक्ति सद्गुरु है, सद्गुरु का शिष्य है, संत है तथा अपने-पराये पर दयालु है।"[१]

जैसे रमैनी प्रकरण की प्रथम रमैनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थों वाली तथा बीजक के मुख्य कथ्यों का सार है, वैसे इस दूसरे प्रकरण के प्रथम शब्द का भाव भी अत्यन्त गंभीर एवं हृदयस्पर्शी है। इस शब्द में पहली बात है कि सद्गुरु ने 'संतो' शब्द से संबोधित कर श्रोताओं को आदेश दिया है कि तुम लोग सच्चे सद्गुरु की भक्ति करो। उनके प्रति विनयी बनो तथा उनके सत्संग से अपने स्वरूप को पहचानो। इसके साथ-साथ छह पंक्तियों तक भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के महत्त्व को प्रकट किया गया है। अंतिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बतलाते हैं कि माया रूपी नारी से हटकर अकेला हो जाओ। मन का माया-मोह त्यागने पर ही जीव असंग होता है; और ऐसे कृतार्थ जीव की प्रशंसा में कबीर देव स्वयं उसका दास बनने के लिए तैयार हो जाते हैं, यह उनकी महान उदारता है। साखी में भी उन्होंने कहा है—

दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।।३२२।।

---

१. हे शिष्य निर्णय जो लखै, तेही भया निहाल।
तेई गुरु तेई शिष्य गुरु, तेई साधु दयाल।। २५८।। *(पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न २०)*

सावधानी ही साधना है

शब्द–२

सन्तो जागत नींद न कीजै॥ १ ॥

काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥ २ ॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै॥ ३ ॥
नौग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिम्ब प्रकासै॥ ४ ॥
बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिनु लोचन जग सूझै॥ ५ ॥
सशंय उलटि सिंह को ग्रासे, ई अचरज कोइ बूझै॥ ६ ॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया॥ ७ ॥
जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादे तरिया॥ ८ ॥
बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै॥ ९ ॥
उलटा बाण पारिधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै॥१०॥
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै॥११॥
नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै॥१२॥
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी॥१३॥
धरती उलटि अकाशहि बेधै, ई पुरुषन की बानी॥१४॥
बिना पियाला अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै॥१५॥
कहहिं कबीर सो युग-युग जीवै, जो राम सुधारस चाखै॥१६॥

शब्दार्थ—कल्प = चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की एक काल्पनिक अवधि। देह = स्वरूप। गंग = सुषुम्णा। समुद्रहि = समुद्र को, शरीर के भीतर सुषुम्णा के पथ में माने गये समुद्र। शशि = इडा, नाक के बांये छिद्र की नाड़ी। सूरहि = सूर्य, पिंगला, नाक के दायें छिद्र की नाड़ी। नौग्रह = पांच ज्ञानइंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी तथा चार अंतःकरण—मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार। रोगिया = योगी। बिम्ब = छाया। संशय = अज्ञान। सिंह = जीव। प्रसादै = कृपा से। पारिधिहि = शिकारी, साधक योगी। सूरा = वीर, निष्पक्ष चिंतक। गायन = गाने वाले मनुष्य जीव। अनबोला = न बोलने वाला ईश्वर। नटवट = नटवत। बाजा = सींगी, सींग का बाजा, जिसे योगी बजाते हैं। पेखनी = मुद्रा। अनहद = अनाहतनाद। हेत = प्रेम। कथनी = बात। बदनी = शर्त रखना, हठाग्रह। जोवै = देखते हैं। राम सुधारस = स्वरूपस्थिति का आनन्द।

भावार्थ—हे संतो! माया से सावधान रहो, मोह-नींद में बेभान नहीं होना॥१॥ तुम्हारे शुद्ध स्वरूप चेतन को काल नहीं खा सकता, न तुम्हारे अनादि तथा अनंत आत्मिक जीवन को कल्प-जैसी बड़ी अवधि व्याप्त सकती है और न तुम्हारे अखण्ड स्वरूप को कभी जीर्णता एवं क्षीणता आ सकती है॥२॥ इस स्वरूपज्ञान, स्वरूपविचार तथा स्वरूपस्थिति को छोड़कर हठयोगी लोग स्थूल क्रिया में पड़े रहते हैं। वे नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को उठाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञाचक्र को वेधते हुए

ऊपर सहस्रसार में पहुंच जाते हैं। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं। सुषुम्णा रूपी गंगा उन्हें सोखती हुई तथा ऊपर पहुंचकर शशि-सूर अर्थात इडा तथा पिंगला को अपने में समेटती हुई शिखरस्थानीय भ्रमरगुफा में पहुंच जाती है, जहां शुद्ध जल से भरे समुद्र से योगी अमृत-रस पान करता है।।३।। भौतिक जल को अमृत-रस मानकर पीने वाले योगी नाम के रोगी पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अंत:करण रूपी नौ ग्रहों को वश में करके योग-समाधि में बैठ जाते हैं और जल में अपने स्थूल शरीर की छाया देखने के समान भौतिक नाद, बिन्दु, ज्योति आदि जो मन की अवधारणा या तत्वों के कार्य होते हैं, उन्हीं को अपना लक्ष्य मान लेते हैं।।४।।

योगी लोग यह डींग हांकते हैं कि हम बिना पैरों के केवल सिद्धि-द्वारा दसों दिशाओं में दौड़ सकते हैं और हमें बिना आंखों के अर्थात आंखें मूंदकर सारा संसार दिखाई देता है।।५।। सद्गुरु कहते हैं कि इस आश्चर्यजनक घटना को कोई विरला ही समझने का प्रयास करेगा कि शशा ने अपने ऊपर हमला करने वाले सिंह को उलटकर खा लिया है। अर्थात अज्ञान का शिकार करने वाले योगी-जीव को अज्ञान ने ही मार गिराया।।६।। उलटे घड़े में पानी नहीं भरता, पानी तो सीधे घड़े में भरता है। अर्थात मन के भास-अध्यास रूपी उलटी बुद्धि से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु स्व-स्वरूपज्ञान रूपी शुद्ध एवं सीधी बुद्धि से प्राप्त होती है।।७।। जिस संसार-सागर से तरने के लिए लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से नाना कर्मकाण्ड, योगकांड आदि प्रपंच करते हैं वह तो गुरुकृपा से आत्मबोध प्राप्त होने पर सहज ही हो जाता है।।८।। योगी लोग कहते हैं कि हम समाधि रूपी गुफा में बैठकर सारे संसार को देखते हैं और बाहर के नेत्रों से तो संसार के लोगों को कुछ भी नहीं दिखाई देता।।९।। सद्गुरु कहते हैं कि योगियों की ऐसी धारणा तो वैसे है जैसे बाण उलटकर शिकारी को ही लग जाय। अर्थात चले थे अज्ञान को मारने, तो उलटकर स्वयं अज्ञानग्रसित हो गये। व्यवहार को झुठलाने वाला ज्ञान, ज्ञान नहीं अज्ञान है। परन्तु इस तरह कोई निष्पक्ष चिंतक ही समझ सकता है।।१०।। अति धार्मिकता की सनक ऐसी है कि मनुष्य, जो सारी वाणियों का कहने वाला है, उसे कहा जाता है कि वह अल्पज्ञ है। वह तो कुछ भी नहीं कह सकता। सद्गुरु कहते हैं कि ये लोग अनबोला-ईश्वर को सारे वेद एवं धर्मशास्त्रों के व्याख्याता बतलाते हैं।।११।। योगी तमाशा दिखाने वाले नटों के समान नाना प्रकार के आसन दिखाते हैं, सींगी बाजा बजाते हैं, मुद्रा देखते हैं, और अनाहतनाद सुनने में प्रेम बढ़ाते हैं।।१२।। वे अपनी बातों का ही हठाग्रह रखते और उन्हें पक्की समझते हैं। उनकी सारी बातें अकथ कहानी अर्थात लालबुझक्कड़ी किस्सा है।।१३।। पूर्व पुरुषों की वाणी सुन-सुनकर धरती के मनुष्यों का मन आकाश को वेध रहा है। अथवा योगी लोग पिंड का श्वास उठाकर ब्रह्मांड को वेधते हैं।।१४।। व्यक्ति के हृदय में स्वरूपज्ञान रूपी सरिता-जल भरा हुआ है, लेकिन हठयोग के भुलावा में पड़कर योगी लोग लम्बिका योग-द्वारा बिना पात्र के ही अमृतपान करते हैं। अर्थात वे टपकती हुई लार को अमृत मानकर लम्बिका योग-द्वारा पीते हैं।।१५।। सद्गुरु कहते हैं कि सदा के लिए अमरत्व तो वही पाता है, जो राम का अमृत-रस पीता है। राम का अमृत-रस है स्वरूपस्थिति।।१६।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर का यह महासूत्र "संतो! जागत नींद न कीजै" साधकों के लिए काफी है। सावधानी ही साधना है। यदि हमारे मन में कामवासना आ गयी, तो हम जाग नहीं रहे हैं। यदि मोह, लोभ, भय, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मन में आ गये, तो हम असावधान हैं। हम जिस क्षण जागते होंगे, हमारे मन में कामादि कोई विकार आ ही नहीं सकता। चिंता, विकलता, दुख क्यों सताते हैं, क्योंकि हम असावधान हैं। निरंतर जाग्रत व्यक्ति के पास मोह, शोक फटक नहीं सकते। इसलिए सद्गुरु कहते हैं, हे संतो! जागते रहो, नींद न करो।

आदमी हानि, वियोग, मृत्यु आदि के भय से सदैव पीड़ित रहता है। सद्गुरु हमें याद दिलाते हैं कि तुम कौन और कैसे हो। वे कहते हैं "काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै।" तुम अविनाशी चेतन हो। तुम्हें काल नहीं खा सकता। जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। तुम शुद्ध चेतन हो। तुम तो अनादि, निर्विकार, अकृत्रिम एवं नित्य हो, फिर तुम्हें काल का डर क्यों होना चाहिए! चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प मान रखा है। ऐसे-ऐसे असंख्य कल्प बीत चुके हैं तथा असंख्य बीतेंगे, परन्तु तुम्हारा अंत नहीं होगा। शारीरिक जीवन तुम्हारा असली जीवन नहीं है। तुम्हारा असली जीवन आत्मिक है। शारीरिक जीवन आदि-अन्त वाला होता है। यह बिजली के समान चमका और गया। परन्तु आत्मिक जीवन अनादि तथा अनंत है। तुम्हारे आत्मिक जीवन के सामने करोड़ों कल्प सेकेंड के तुल्य हैं। अतएव तुम्हारे में "कल्प नहिं ब्यापै" बिलकुल सार्थक है।

इतना ही नहीं "देह जरा नहिं छीजै" तुम्हारी देह को जरा क्षीण नहीं कर सकती। तुम्हारी असली देह तुम्हारा चेतन स्वरूप है। यहां देह का अर्थ यह हाड़-चाम की देह नहीं है, किन्तु चेतनस्वरूप है। तुम्हारा चेतनस्वरूप, तुम्हारा आत्मस्वरूप कभी क्षीण नहीं हो सकता। फिर तुम किसलिए डरते हो? किसकी चिंता करते हो? तुम अमरत्व चाहते हो? तुम्हें पता नहीं है कि तुम अमर ही हो।

उक्त दो पंक्तियों में सद्गुरु अपने सिद्धांत की बातें बताते हैं। वे कहते हैं कि तुम अपने मन के भुलावे से सावधान रहो। तुम बाहर अमरता न खोजो। तुम स्वयं अमृत हो, अमर हो।

कबीर साहेब के जमाने में योगियों का बड़ा बोलबाला था। कुछ आत्माराम में रमने वाले सच्चे योगी भी रहे होंगे, परन्तु ज्यादातर तो दिखावा में फंसे हुए लोग थे। कितने ही योगी हठयोग साधकर कल्पित ऋद्धि-सिद्धि चमत्कार आदि दिखाते थे और काया-कल्प कर शरीर को अमर बनाने के व्यामोह में उलझे थे। लोगों में वहम था कि पहले के बड़े-बड़े सिद्ध योगी शरीर से ही अमर हैं। ऐसे भ्रम में पड़े हुए लोगों को कबीर साहेब सावधान करते हैं, जिसे हम आगे देखें।

योगी लोग कल्पना करते हैं कि गुदा के पास मूलाधार, पेडू में स्वाधिष्ठान, नाभि में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कंठ में विशुद्धि तथा भृकुटी में आज्ञा नाम के चक्र हैं। गुदा से लेकर सिर तक जाने वाली गुरियादार रीढ़ की हड्डी मेरुदंड नाम से जानी जाती है। इसमें इडा बांये से, पिंगला दायें से तथा सुषुम्णा बीच से—इस प्रकार तीनों नाड़ियां ऊपर सिर

से नीचे गुदा के पास तक गयी हैं। "ये नाड़ियां अधोवदना अर्थात नीचे मुखवाली कमलतंतु के सदृश हैं। ये मेरुदंड में लिपटी हुई चंद्र, सूर्य और अग्नि के तुल्य हैं। इडा चंद्रवत, पिंगला सूर्यवत तथा सुषुम्णा अग्निवत है।"[१] ये तीनों नाड़ियां गंगा, यमुना तथा सरस्वती भी कहलाती हैं। इनमें सुषुम्णा गंगा है।

हठयोगी लोग नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके इंद्रियों को साफ करते हैं और सूक्ष्म आहार-व्यवहार कर श्वास को साधते हैं। तब सुषुम्णा रूपी गंगा नीचे से उलटकर ऊपर को बहने लगती है। सुषुम्णा-गंगा चांद-सूर्य को अर्थात इडा-पिंगला को अपने में समेटकर ऊपर को बह चलती है। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं—खारा, मीठा, क्षीर, मदिरा, घृत, दधि तथा जल के। योनिस्थान में खारा, पेडू में मीठा, नाभि में क्षीर, हृदय में मदिरा, कंठ में दधि, त्रिकुटी में घृत तथा शिखरस्थान भ्रमरगुफा में स्वच्छ जल का समुद्र माना है। इन सब जगहों पर द्वीप तथा पर्वत आदि की भी कल्पना की गयी है।[२] योगी-द्वारा परिचालित सुषुम्णा-गंगा उलटकर ऊपर बहती हुई इन समुद्रों को सोखती चलती है और शशि-सूर (इडा-पिंगला) नाड़ी को भी अपने में लय कर लेती है, यही "उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै" का अभिप्राय है।

ब्रह्मरंध्र एवं भ्रमरगुफा जो ऊपर खोपड़ी को कहते हैं, उसमें सातवां समुद्र माना है जिसमें स्वच्छ जल है। वही अमृत-रस है। उसी को पीकर योगी अमर होता है। ऐसी योगियों की धारणा है।

"नौग्रह मारि रोगिया बैठो"—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच ज्ञान इन्द्रियां एवं चतुष्टय अंतःकरण नौग्रह हैं। योगी लोग इनका भी दमन कर समाधि में बैठ जाते हैं। सद्गुरु ने यहां योगियों को व्यंग्य में 'रोगिया' कहा है। क्योंकि इन्हें शारीरिक योग में अमरत्व पाने के व्यामोह का रोग लगा है। योगी लोग जब समाधि में पहुंचकर कभी नाद सुनते, कभी बिन्दु या ज्योति देखते हैं, तब वे उन्हें ही परमात्मा मान लेते हैं। सद्गुरु कहते हैं "जल में बिम्ब प्रकासै" यह तो पानी में पड़ी हुई छाया के समान मन के भास-अध्यास या तत्वों के कार्य हैं। जिन्हें तुम देख और सुन रहे हो, वे परमात्मा कैसे हो जायेंगे? वे तो दृश्य जड़ हैं। परमात्मा-शुद्धात्मा तो स्व-स्वरूप चेतन है, जो स्व के रूप में विद्यमान है।

"बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिनु लोचन जग सूझै।" योगी लोग अपनी सिद्धि का बढ़-बढ़कर वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हम बिना पैरों के सब दिशाओं में दौड़ सकते हैं। हमें आंखें बन्द करने पर समाधि में संसार के सारे गुप्त-प्रकट पदार्थ दिखाई देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह इनका बकवास है। चमत्कारिक ढंग से वर्णन की जाने वाली सारी ऋद्धि-सिद्धियां मिथ्या प्रलाप हैं। ऐसे प्रलाप का प्रचलन वैदिक युग से ही है। जैसे

---

१. नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
षष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ *(शिवसंहिता २/१७)*

२ देखिए विस्तार के लिए पंचग्रन्थी, टकसार, चौपाई २२ तथा २३। जिनमें २८ चौपाइयां तथा चार दोहे हैं।

"मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं। मुनि लोग वायुमार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं।"[1] नाना काल्पनिक सिद्धियों की चर्चा जनमानस में थी, तो महर्षि पतंजलि[2] ने उन अंधविश्वासों को अपने योगदर्शन में सूत्रबद्ध कर विभूतिपाद नाम का एक अध्याय ही लिख दिया, जिसमें बताया गया कि सिद्ध योगी सारे संसार का ज्ञाता, आकाश में उड़ने वाला, छोटा या बड़ा रूप बना लेने वाला आदि हो जाता है।[3]

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "संशय उलटि सिंह को ग्रासे" वाली बात हुई। जैसे कोई सिंह किसी शशा पर शिकार करने के लिए दौड़ा हो और शशा ही उलटकर सिंह को धर दबोचे वैसे योगी लोग संशय, अज्ञान, अविद्या आदि का नाशकर मुक्ति लेने चले तो वे संशय के ही शिकार हो गये। जितनी ऋद्धि-सिद्धियां कारण-कार्य-व्यवस्था का उल्लंघन करने वाली, तर्कहीन तथा चमत्कारी हैं, वे सब मनुष्य को मूढ़ बनाने वाली, संशय, अज्ञान तथा अविद्या में डालने वाली हैं। मैंने कहा शशा ने सिंह को खा लिया। यह आश्चर्यमय कथन है। परन्तु इसे कोई निष्पक्ष विवेकी समझेगा कि संशय और अज्ञान योगियों तथा अन्य जीवों को भटका रहे हैं।

"औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया।" घड़ा औंधा अर्थात उलटा हो तो उसमें पानी नहीं भरा जा सकता। अथवा किसी जलाशय में घड़ा औंधा पड़ा हो तो उसमें पानी नहीं भर सकता। पानी तो उसमें तब भरेगा जब वह सीधा हो जाय। इसी प्रकार उलटी बुद्धि से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए सीधी एवं शुद्ध बुद्धि चाहिए। जो कुछ मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्रतीतमान है उसमें रमने से स्वरूपस्थिति कदापि नहीं हो सकती। योगी लोग विवेक-द्वारा अपने आपको न समझकर नाद, बिन्दु, ज्योति आदि को ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं जो श्रुत या दृश्य विषय हैं। इतना ही नहीं, वे कहीं झूठी ऋद्धि-सिद्धि एवं लोकरंजन में भी उलझे रहते हैं। यह भी सच है कि सच्चे योगी लोकरंजन तथा मिथ्या ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर से दूर होते हैं, परन्तु वे भी अपनी कल्पित अवधारणा के भास-अध्यास से अपने को नहीं मुक्त कर पाते। सभी दृश्यों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही सीधा तथा शुद्ध पथ है।

"जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादै तरिया।" संसार-सागर से तरने के लिए कोई योग करता है, कोई कर्मकांड का अनुष्ठान करता है, कोई नाना देवी-देवताओं की उपासना करता है तथा कोई अन्य अनेक उपायों का आश्रय लेता है। कबीर देव कहते हैं कि यह काम तो गुरु-कृपा से सहज ही हो जाता है। यहां कोई यह अर्थ न लगा ले कि गुरु कृपा कर देगा, आशीर्वाद दे देगा और हम मुक्त हो जायेंगे। गुरु-कृपा है उनके द्वारा शिष्य को स्वरूपज्ञान का उपदेश दिया जाना। गुरु बन्धनों की परख कराता है,

---

१. ऋग्वेद १०/१३६/४-५।

२. पतंजलि का काल ईसा के कुछ पहले या पीछे माना जाता है।

३. विस्तार के लिए देखिए योगदर्शन विभूतिपाद के १४ से ४९ सूत्र। कबीर दर्शन में चौथे अध्याय में योगदर्शन का 'सिद्धियां' शीर्षक देख सकते हैं।

जिसको मुक्त होना है, उस जीव के स्वरूप का परिचय कराता है। जिस रहनी में रहकर पूरा जीवन बिताना चाहिए जिससे जीवन्मुक्ति की सिद्धि हो, इसका वह उपदेश करता है तथा अपनी प्रत्यक्ष रहनी से प्रेरणा देता है। अतएव मुमुक्षु को चाहिए कि वह पूर्ण सद्गुरु की खोज करे। पूर्ण सद्गुरु पाकर उनके चरणों में सर्वथा समर्पित हो जाय। सारी भ्रांतियों से रहित स्वरूपज्ञान तथा निष्काम रहनी से संपन्न पुरुष ही सच्चा सद्गुरु है। ऐसे सद्गुरु की शरण में समर्पित होकर रहने से अपने आप जो होना चाहिए वह होने लगता है। पूर्ण सद्गुरु अमृत-रस टपकता हुआ एक व्यक्तित्व है और शिष्य खुला हुआ पात्र, जिसमें वह रस भरता जाता है। गुरु वह है जो केवल अमृत हो। जिसके पास दुख नाम की वस्तु न हो, जो सदैव कृतकृत्य हो, आनन्दकंद हो। और शिष्य खुलापात्र—निष्कपट व्यक्तित्त्व!

"बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै।" योगी लोग यह ढोल ज्यादा पीटते हैं कि समाधि में बैठकर हम सारे संसार की गुप्त-प्रकट वस्तुओं को देखते हैं। बाहर के चर्मचक्षु से तो कुछ भी नहीं दिखता। यह ठीक है कि समाधि से शांति मिलती है, परन्तु उसमें संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुएं दिखती हैं, यह एक मिथ्या महिमा है। आज तक कोई एक भी ऐसा योगी प्रत्यक्ष में नहीं आया कि वह ध्यान लगाकर यह बता दे कि पृथ्वी में कहां-कहां धातुएं, कोयला, तेल तथा अन्य खनिज पदार्थ हैं। यदि ऐसा कोई ध्यान मात्र से बता दे तो विश्व का बहुत बड़ा कल्याण हो। ध्यान-द्वारा सब कुछ जान जाने की बात यदि सिद्ध हो जाय तो संसार की अधिकतम समस्याएं बड़े सरल ढंग से हल हो जायं। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि यह योगियों-द्वारा सर्वज्ञता की बात करना एक ढकोसला है, छलावा है और अपने आपको बहुत बड़ा या ईश्वर सिद्धकर जनता से पुजवाने की भावना है। अतः ऐसे भ्रम में किसी को नहीं पड़ना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "उलटा बाण पारधिहि लागै" वाली बात हुई। शिकारी ने बाण मारा शिकार पर और वह लौटकर शिकारी को ही लग गया। सत्य ज्ञान के लिए योग किया जाता है और योग का फल हुआ ज्ञान के क्षेत्र में भ्रम पैदा करना। समाधि में उपलब्ध ज्ञान सच्चा है तथा चर्मचक्षु से देखकर प्राप्त हुआ ज्ञान झूठा है—इस कथन का अर्थ इतना ही हो सकता है कि समाधि का फल आत्मज्ञान है और वह उच्चतम है, जीवन का परम फल है, और चर्मचक्षु से देखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भौतिक है, नाशवान है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि समाधि-ज्ञान से जीवन की सारी समस्याएं हल हो जाएंगी और चर्म-चक्षु से प्राप्त ज्ञान निरर्थक है। पहली बात तो समाधि से केवल शांति मिलती है, संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। हां, एकाग्रचित व्यक्ति बाहरी अनुसंधान में भी सफल होता है। चर्म-चक्षु से देखकर ही व्यवहार के सारे काम संपादित होते हैं। अध्यात्म इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि व्यवहार की अवहेलना हो तथा व्यवहार इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि अध्यात्म का तिरस्कार हो। दोनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। हां, यह अवश्य समझना चाहिए कि व्यवहार मात्र साधन है, जीवन का साध्य केवल आध्यात्मिक बोध एवं शांति है। सद्गुरु कहते हैं "सूरा होय सो बूझै" इसे जो कोई निष्पक्षता में शूर-वीर होगा वही समझ सकता है। अंध-परंपरा

से हटकर सत्य तथा असत्य की परख करना और असत्य पक्ष को छोड़कर केवल सत्य की उपासना करना बहुत बड़े साहस तथा शूर-वीरता का काम है।

"गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।" मनुष्य ही सभी वेद-शास्त्रों, कुरान-बाइबिल आदि का गायन करने वाला है। इतना ही नहीं समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान मनुष्य की देन हैं; परन्तु खेद है कि योगी, ज्ञानी, पंडित आदि यही कहते हैं कि मनुष्य तुच्छ है। वह कभी प्रामाणिक बात नहीं कह सकता है। आज के युग में भी कितने विद्वान नामधारी कहते हैं कि हम मनुष्यों की बनायी पुस्तकों पर विश्वास नहीं करते। हम तो ईश्वर-वाणी को ही मानते हैं। उन भोले लोगों को अभी तक इतनी भी अकल नहीं आयी है कि वेद, बाइबिल, कुरानादि सारी पुस्तकें मनुष्यों की रचनाएं हैं और सब में कुछ पक्की तथा कुछ कच्ची बातें हैं। इसलिए सभी वाणियों पर परख की कसौटी लगाना कर्त्तव्य है। गायन करने वाला मनुष्य है, ईश्वर तो अनबोला है। ईश्वर तो मूक है। ईश्वर अपने नाम पर होते हुए रक्तपात पर भी नहीं बोलता, तो उसकी मूकता के लिए अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता! लेकिन ज्ञानी नामधारी यह कहते हैं कि अनबोला ईश्वर ही ज्ञाता-प्रवक्ता है तथा बोलता मनुष्य तुच्छ है। सद्‌गुरु कहते हैं कि मानव का मूल्य गिराकर मानव अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै।" योगी लोग नट के समान हाट-बाजार में चौरासी आसन दिखाते हैं, जमीन में समाधि लेते हैं। यह सब कर संसार के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये सींगी बाजा बजाते हैं। समाधि में अनाहतनाद सुनते हैं, जो खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकारें हैं। उसमें वे शंख, भेरी, शहनाई, मृदंग, करताल, पखावज आदि बाजाओं के बजने की कल्पना कर उसी में मग्न हो जाते हैं। फिर 'पेखनी पेखै' मुद्राएं देखते हैं। खेचरी, भूचरी, चांचरी, अगोचरी, अलक्ष्य आदि मुद्राएं हैं। जिह्वा को उलटाकर तथा तालुमूल में लगाकर खुले नेत्रों से त्रिकुटी (दोनों भौहों के बीच) में देखना, जिसमें मोती झड़ते हुए प्रतीत होते हैं—खेचरी मुद्रा है। दोनों नेत्रों को नासिकाग्र पर रखते हुए नाभिस्थल या पृथ्वी पर देखना जिसमें प्रकाश दिखता है—भूचरी मुद्रा है। हाथ की उंगुलियों से दोनों नेत्रों के पलकों को दबाकर खोलने से चम-चम दिखता है, यह चांचरी मुद्रा है। बाहर से मन समेटकर हृदय में एकाग्र करने से श्वास स्थिर होकर प्रकाश दिखता है, यह अगोचरी मुद्रा है। अंगुष्ट मात्र ज्योति का हृदय में ध्यान करते-करते शरीर का भान भूल जाना—अलक्ष्य मुद्रा है। इस प्रकार की अनेक मुद्राएं योगी लोग साधते हैं और वे अनाहतनाद सुनने में ही ज्यादा प्रेम बढ़ाते हैं। ये सब दृश्य तथा श्राव्य होने से जड़ हैं। जड़ में ध्यान लगाने से कभी स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। पहले चंचल मन को रोकने के लिए कोई जड़ का भी अवलंब लेता है तो बुरा नहीं, किन्तु यदि उसे ही लक्ष्य मान लेता है तो यह अबोध है।

"कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी।" योगी लोग अपनी बातों को शर्तिया समझते हैं। उनके ख्याल से उनकी सारी बातें सच हैं। सद्‌गुरु कहते हैं "ई सब अकथ कहानी" है। इनके घोषित ऋद्धि-सिद्धि तथा नाद, बिन्दु आदि के परम लक्ष्य होने की बात ऐसी कहानी है जो न कहने योग्य है। ये सब थोथे हैं। इन सबके मूल में है

प्राचीन पुरुषों का वाणी-प्रमाण—''ई पुरुषन की बानी'' इसलिए ''धरती उलटि अकाशहि बेधै'' ये योगी लोग नीचे मूलाधार से चलकर ऊपर ब्रह्मांड की भ्रमरगुफा में पहुंचते हैं। और ''बिना पियाला अमृत अँचवै'' खोपड़ी में अमृतवल्लरी का पान करते हैं। जड़ भास को ही अमृत मानने का भ्रम करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि स्वरूपज्ञान का सागर तुम्हारे हृदय में भरा है और तुम मिथ्या अमृत की आशा में खोपड़ी की गलियां छान रहे हो। सद्गुरु अपनी अंतिम बात बताते हुए कहते हैं—

''कहहिं कबीर सो युग-युग जीवै, जो रामसुधारस चाखै।'' योगी तथा अन्य लोग तो यही चाहते हैं कि हम युग-युग जीते रहें, सदा के लिए अमर हो जायं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम स्वाभाविक अमर हो। तुम्हारा स्वरूप तो अमर राम है। अतः देहाभिमान छोड़कर रामामृत-रस का पान करो। नाद, शब्द, बिन्दु, ज्योति आदि का चक्कर छोड़ो। मूर्द्धा-द्वार में टपकते जल को अमृत मानकर लम्बिका योग-द्वारा पीने का प्रपंच त्यागो। हठयोग का चक्कर छोड़कर चित्त को सहज एकाग्र करो और अपने राम में लगाओ। तुम्हारा चेतन स्वरूप राम है, अविनाशी है, अमृत है। उसके विचार में मग्न हो जाओ तथा आगे चलकर विचारों को भी छोड़कर केवल अपने स्वरूप-राम में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति ही रामसुधारस है। इसको चखने वाला अभय है, अमर है, मुक्त है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! जागते रहो, नींद नहीं करना। असावधान नहीं होना। आत्मविचार एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर हठयोगादि के भास-अध्यास में नहीं पड़ना। तुम्हारे स्वरूप को न काल खा सकता है, न उसे समय माप सकता है और न उसका क्षय हो सकता है। तुम अमर हो, पूर्णकाम हो, निर्विकार हो। इस भाव में सावधान रहो।

घर के झगड़े का सुलझाव

शब्द—३

सन्तो घर में झगरा भारी॥ १ ॥

राति-दिवस मिलि उठि-उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी॥ २ ॥

न्यारो-न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी॥ ३ ॥

कोइ काहू का हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी॥ ४ ॥

दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे॥ ५ ॥

कहहिं कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरे॥ ६ ॥

शब्दार्थ—घर = शरीर, हृदय। पाँच ढोटा = पाँच लड़के, पांच ज्ञानेंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी। नारी = वासना, दुर्बुद्धि। हटा = रोकना। मुरादी = इच्छुक। दोहागिन = दुर्भाग्य, बदकिस्मती। चाप = धनुष, दमन। निबेरे = सुलझाये।

भावार्थ—हे संतो! हर आदमी के अपने शरीर में ही भारी झगड़ा मचा रहता है॥१॥ पांच लड़के पांच ज्ञानेंद्रियां हैं और एक नारी दुर्बुद्धि एवं दुर्वासना है। ये उठ-उठकर जीव से रात-दिन लड़ते हैं॥२॥ ये अलग-अलग विषयों के आहार चाहते हैं, क्योंकि पांचों बड़े स्वादासक्त हैं॥३॥ ये पांचों किसी का वर्जना नहीं मानते। ये सब

अपनी-अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में लगे रहते हैं।।४।। अतएव साधक को चाहिए कि वह दुर्बुद्धि को सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझकर उसे नष्ट कर दे, और इन्द्रिय-ढोटों को ज्ञान की चपत लगाकर उन्हें चुप बैठा दे, अर्थात उनका दमन कर दे।।५।। सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी या मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले, अपने हृदय की उलझनों को समाप्त कर दे।।६।।

व्याख्या—कबीर साहेब की संत-मण्डली बैठी है। मानो किसी ने आकर कबीर साहेब से कहा हो कि अमुक-अमुक लोगों में झगड़ा हुआ है। कबीर साहेब ने मानो संतों से कहा हो—हे संतो, भारी झगड़ा तो सबके अपने-अपने शरीर रूपी घर में है। जो मन का झगड़ा है, यह भारी है। सद्गुरु ने हृदय में चलने वाले अविराम झगड़े को भारी विशेषण से संबोधित किया है। मनुष्य हर समय अपने हृदय में उलझा रहता है। संसार के छोटे तथा बड़े झगड़े एवं छोटे से बड़े युद्ध, यहां तक विश्वयुद्ध भी मनुष्य के मन के झगड़े से उत्पन्न होते हैं। संसार के बड़े-बड़े युद्ध भी केवल दो-चार मनुष्यों के मन की मलिनता के फल होते हैं। यदि घर का झगड़ा ठीक हो जाय, तो बाहर का झगड़ा अपने आप ठीक हो जाय। घर का झगड़ा है अपने शरीर में होता हुआ झगड़ा।

"राति दिवस मिलि उठि उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी।" पांच इन्द्रियां रूप लड़के तथा दुर्बुद्धि रूपी नारी—ये छहों रात-दिन उठ-उठकर जीव से झगड़ते हैं। सारे झगड़ों के मूल में दुर्बुद्धि एवं दुर्वासनाएं हैं। मन की गंदगी से ही तो चरित्र गंदा होता है। इन्द्रियों की लंपटता का कारण मन की लंपटता है और मन इसलिए लंपट है, क्योंकि बुद्धि ठीक नहीं है।

"न्यारो-न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी।" आंखें मनोहर रूप देखना चाहती हैं, नाक सुगन्ध सूंघना चाहती है, कान मनभावन शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ षट्रसों का स्वाद लेना चाहती है तथा चमड़ी कोमल स्पर्श चाहती है। ये सारी इन्द्रियां अपने-अपने स्वाद में लीन हैं। पांचों अपने विषयों में बहुत लंपट हैं। ये इन्द्रियां सहजतया नहीं रुकतीं। सभी इन्द्रियां अपने-अपने भोगों की ओर जीव को खींचती हैं। ज्ञान की बातें जान लेने पर भी ये मन तथा इन्द्रियां नहीं रुकते। इसके लिए गहरी विवेक-शक्ति, विषयों की तरफ से ग्लानि, विषयों में दोष-दर्शन, कुसंग का त्याग तथा भोगों का भी त्याग होना चाहिए। त्याग करने से त्याग की शक्ति बढ़ती है। जो कभी एक दिन भी अनशन नहीं रहता, उसे अनशन रहना बड़ा कठिन काम लगता है, परन्तु जो बराबर अनशन रहा करता है, उसे अनशन रहना कोई बड़ी बात नहीं लगती।

आप बीसों भाषाओं के विद्वान हो जायं, दर्शनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र एवं असंख्य शास्त्रों को, सब वेदों, सब नीतियों को जान लें; आप जगतप्रसिद्ध महात्मा, महन्त, आचार्य, प्रवचनकर्ता एवं विज्ञानी हो जायं और चाहे चन्द्रमा पर या मंगलग्रह पर भी पहुंच जायं, परन्तु यदि आपकी इन्द्रियां, आपका मन आपके अधीन नहीं हैं, तो आपका सब मिट्टी है। महाकवि जौक कहते हैं—

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर हो जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा।।

बड़े मोजी को मारा नफ्से अम्मारे को गर मारा।
नहंगो अजदहा औ शेरनर मारा तो क्या मारा।।

अर्थात—आदमी बुराइयों को मारकर उसका भस्म नहीं बनाया जो अपने लिए अक्सीर (अचूक) दवा हो जाती। यदि पारे का भस्म बनाकर शारीरिक रोग के लिए अक्सीर दवा बनायी तो क्या? यदि तू नफ्से अम्मारे (बुरी इच्छाओं) को मार लिया तो जानो बड़े भारी मोजी (घातक) को मार डाला। परन्तु यदि तू नहंगो (घड़ियाल), अजदहा (सांप) और शेरनर (सिंह) को मारा तो क्या मारा?

"दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे।" सद्गुरु कहते हैं कि इस घर के झगड़े को, इस तुम्हारे शरीर में होते हुए फसाद को बन्द करो। जब तक यह बन्द नहीं होगा, तब तक तुम्हें शांति नहीं मिलेगी। बाहरी सारे झगड़े और फसाद का मूल यह तुम्हारे घर का झगड़ा है। इसके लिए सद्गुरु बताते हैं कि तुम्हारे मत्थे दुर्बुद्धि का दुर्भाग्य है। तुम्हारी सबसे बड़ी बदकिस्मती है बेअक्ली, इसको मिटा दो। तुम नहीं समझ पाते हो कि विषयों के भोगों से काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि बढ़ाकर तुम अत्यधिक अशांत होते हो। तुम जितने विषय-लंपट बनते हो, उतनी तुम्हारी आत्मा मलिनता से ढककर पतनोन्मुख होती है। विषय-भोग तुम्हें व्यामोहित बनाकर छोड़ देते हैं। परन्तु दुर्बुद्धि के कारण तुम इस बात को नहीं समझ पाते हो। यही तुम्हारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। इसे मूलतः छोड़ो और पांच ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में करो। खाओ, परन्तु शुद्ध, सात्विक, और उसे भी अनासक्त होकर केवल शरीर-यात्रा के लिए। पहनो, मध्यवर्तीय वस्त्र, परन्तु उससे अनासक्त होकर। देखो, केवल शरीर-निर्वाह एवं आवश्यकतावश, उसमें भी कहीं मोह न हो। ममता, काम-वासना और आसक्ति छोड़कर शरीर की सारी क्रियाएं करो। जब तुम्हारे मन तथा इन्द्रियां तुम्हारे वश में हो जायेंगे, तब तुम्हारा जीवन ही बदल जायेगा।

स्ववश मन-इन्द्रिय वाले व्यक्ति के जीवन में द्वन्द्व नहीं रहता। उसके अन्दर का झगड़ा मिट जाने से उसके जीवन से बाहर भी झगड़े नहीं होते। सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी है, भक्त है तथा मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले। जिसके मन तथा जीवन में झगड़े नहीं हैं, वही सच्चा कबीर-अनुयायी है। वही सच्चा गुरु-पथ-गामी है। वही सच्चा इंसान है।

धार्मिक भ्रांतियों पर विचार

शब्द–४

सन्तो देखत जग बौराना।। १ ।।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।। २ ।।
नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना।। ३ ।।
आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना।। ४ ।।

बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ें कितेब कुराना॥ ५ ॥
कै मुरीद तदबीर बतावैं, उनमें उहै जो ज्ञाना॥ ६ ॥
आसन मारि डिम्भ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना॥ ७ ॥
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्भ भुलाना॥ ८ ॥
टोपी पहिरे माला पहिरे, छाप तिलक अनुमाना॥ ९ ॥
साखी शब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना॥१०॥
हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना॥११॥
आपुस में दोउ लरि-लरि मूये, मर्म न काहू जाना॥१२॥
घर-घर मन्तर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना॥१३॥
गुरू सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछिताना॥१४॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब भरम भुलाना॥१५॥
केतिक कहौं कहा नहिं माने, सहजे सहज समाना॥१६॥

शब्दार्थ—पतियाना = विश्वास करना। पीर = मुसलमानों के गुरु। औलिया = तपस्वी। मुरीद = शिष्य। तदबीर = युक्ति। उहै = भ्रमपूर्ण। डिम्भ = दंभ, दिखावा। गुमाना = घमंड। रहिमाना = दयालु, ईश्वर। सहजे सहज = बड़ी सरलता से।

भावार्थ—हे संतो! विचारकर देखें तो लगता है कि संसार के लोग धर्म के नाम पर पागल हो गये हैं।।१।। यदि मैं सत्य कहता हूं तो लोग मारने दौड़ते हैं और धर्म के ठेकेदारों की कही हुई झूठी बातों में विश्वास करते हैं।।२।। मैंने बहुत-से नियम-धर्म के आचार करने वालों को देखा है। वे प्रातःकाल ही स्नान करते हैं।।३।। परन्तु दुख है कि वे चलते-फिरते जीवधारियों की हत्या कर निर्जीव पत्थर के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इसलिए साफ समझने में आता है कि उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।।४।। मैंने मुसलमानों के बहुत-से पीर-औलियों को भी देखा। वे कुरान शरीफ पढ़ते हैं तथा उसके संबंधित अन्य किताबें भी पढ़ते हैं।।५।। वे लोगों को अपने शिष्य बनाकर ईश्वर या स्वर्ग पाने के लिए उन्हें वही युक्ति एवं साधन बताते हैं जिनमें मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्वक हत्या होती है। इसलिए इनमें भी ज्ञान के नाम पर वही भ्रम है।।६।। कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग आसन लगाकर सिद्ध या ईश्वर-मग्न होने का दिखावा करके बैठते हैं। उनके मन में धार्मिक होने का बहुत बड़ा घमंड रहता है।।७।। परन्तु वे धातु-पाषाण की मूर्ति पूजने लगते हैं और तीर्थों के सेवन से मोक्ष या स्वर्ग मिलेंगे, इस घमंड में भूले रहते हैं।।८।। कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, माला पहनते हैं, शरीर के अनेक अंगों में छाप लगाते हैं, मस्तक पर अनेक प्रकार के तिलक करते हैं और बहुत-से अनुमान-कल्पना में पड़े रहते हैं।।९।। वे साखी तथा शब्दों को गाने में ही भूले रहते हैं। उन्हें अपनी आत्मा, अपने स्वरूप एवं स्वत्व का कुछ भी पता नहीं रहता।।१०।। हिन्दू कहते हैं कि हमें राम प्रिय हैं और मुसलमान कहते हैं कि हमें रहिमान प्रिय हैं।।११।। इसको लेकर वे आपस में लड़-लड़कर मरते हैं; परन्तु उनमें से कोई यह रहस्य जानने की चेष्टा नहीं करता कि राम-रहीम का अभिप्राय एक ही है।।१२।। यथार्थ

ज्ञान तथा गुरुत्व के आचरण से रहित रहकर केवल मिथ्या गुरुत्व के अहंकार में डूबे हुए कितने ही धार्मिक कहलाने वाले घर-घर में मंत्र-दीक्षा देते घूमते हैं।।१३।। ऐसे गुरु लोग अपने सारे शिष्यों को लेकर घोर अंधकार में डूबे रहते हैं, और वे लोग जीवन के आखिर में तब पश्चाताप करते हैं जब उन्हें लगता है कि जीवन में सच्चे धर्म का आचरण नहीं हुआ, केवल धर्म का ढोंग रहा।।१४।। कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब भ्रांति में पड़कर भूले हैं।।१५।। मैं कितना ही कहता हूं, परन्तु ये कहा नहीं मानते, अपने भोलेपन में पड़कर भेड़िया-धसान न्याय भ्रांति में डूबे जा रहे हैं।।१६।।

व्याख्या—एक पागलखाने में यदि होशहवास वाला आदमी पहुंच जाय तो उसे जो अनुभव होगा, वही अनुभव कबीर-जैसे निर्लेप तथा प्रबुद्ध संत पुरुष को इस संसार में आकर होगा। कबीर ऐसी मानसिकता के महापुरुष थे जिनमें कहीं चिपकाहट नहीं थी। सर्वत्र अनासक्त आदमी ही सत्य कह सकता है। कबीर साहेब ने धर्म के नाम पर बाह्याचार तथा पाखंड को बड़े निकट से देखा था और उन्हें उससे बड़ा क्षोभ हुआ था। इसलिए उन्होंने उसके विषय में दो टूक बातें कही हैं।

वे कहते हैं हे सन्तो! देखता हूं तो लगता है कि संसार के लोग पागल हो गये हैं। धर्म के नाम पर जो पागलपन होता है उसका उतरना बड़ा कठिन होता है। यदि सोचा जाय कि सत्य बात बताकर लोगों को प्रेरित किया जाय, जिससे वे अपना पागलपन छोड़ें, तो यह भी सरल कार्य नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।" यदि सत्य कहा जाय तो जगत के लोग मारने दौड़ते हैं, और झूठ कहो तो उस पर विश्वास करते हैं। सदाचार तथा नैतिकता से हटकर जितना कुछ संप्रदायों में बताया जाता है, उसमें अधिक झूठ तथा अंधविश्वास होता है। ईश्वर का भेजा कोई मनुष्य पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र तथा अवतार है, ईश्वर की भेजी हुई किताब है, ईश्वर का भेजा कोई मजहब या संप्रदाय है, मनुष्य के अलावा कोई देवी-देवता हैं, नदियों-तीर्थों आदि में नहाने से पाप कटते हैं, मनुष्य के अपने आपके विवेक, श्रम एवं साधन के अलावा कोई उसका उद्धारक है, ये सारी बातें झूठी हैं। सद्गुरु भी केवल प्रेरक हैं, उद्धारक नहीं। परन्तु ये सारी बातें कही जायं तो बहुत-से लोग परेशान हो जायेंगे। धार्मिक कहलाने वालों का मन चमत्कारों का पक्षधर हो गया है। परन्तु सारे चमत्कार झूठे हैं। कोई ईश्वर या देवी-देवता अपने भक्तों के पाप कर्मों को माफ कर देता है। यह धारणा झूठी तो है ही, पाप बढ़ाने वाली भी है। ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें समझना बहुत जरूरी है, परन्तु लोग जड़ीभूत हैं। समझना नहीं चाहते।

"नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना। आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना।" विचारिए जरा, नियम, धर्म, प्रातः स्नान का क्या अर्थ हुआ, जब जीव को मारकर निर्जीव की पूजा की गयी। सब जानते हैं कि माने गये सारे देवी-देवता, निर्जीव पत्थर हैं या मनःकल्पित हैं, फिर भी उनकी पूजा में जीव मारे जा रहे हैं। जीव मारकर निर्जीव की पूजा, इससे अधिक पागलपन और क्या हो सकता है! जंगली मूढ़ों से लेकर शहरी विद्वानों एवं पंडितों तक में यह भ्रम छाया है कि देव-पूजा में जीव-वध पाप तो है ही नहीं, अपितु पुण्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

यही बात पीर-औलिया की है, किताब-कुरान पढ़ने वालों की है। निहायत रहम करने वाले अल्लाह को खुश करने के लिए निहायत बेरहमी का काम, कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या। कहा जाता है हज के समय मक्के में करीब एक लाख ऊंट अल्लाह को खुश करने के लिए उनके बन्दों-द्वारा मार दिये जाते हैं। भारत में ही बकरीद जैसे धर्म के त्योहार में लाखों बकरों के गले पर खुदा के बन्दों-द्वारा छूरी रेत दी जाती है। उनके पीर-औलिया खुदा से मिलने के लिए यही रास्ता बताते हैं।

अल्लाह और जन्नत (स्वर्ग) की कल्पना भी काबिलेगौर है। अल्लाह ने साफ-पाक रूहों (जीवों) को दुनिया में भेज दिया किसी को कोढ़ी तथा किसी को सर्वांग-संपन्न बनाकर। किसी को दाने-दाने के लिए मुहताज तथा किसी को अरबपति बनाकर। किसी को अटट गंवार तथा किसी को कुशाग्रबुद्धि बनाकर। किसी ने ठीक ही कहा है "उसने न्याय न कर ठकुराई की है और बिना कोई कर्म किये जीवों की तकदीर बना दी और उसमें बुराई लिख दी।"[१]

स्वर्ग-नरक भी कितने बेढंगे हैं। मनुष्यों ने एक बार जीवन में कुछ अच्छा या बुरा किया, और ईश्वर ने उन्हें उनके फल में स्वर्ग या नरक में डाल दिया और वे सदा के लिए उन्हीं में बन्द हो गये। स्वर्ग वाले सदा स्वर्ग भोगें, चलो ठीक है, नरक वाले कभी उससे छूटने का रास्ता ही न पावें। ऐसा है अल्लाह का कानून। और वह स्वर्ग भी बीबी-बच्चों वाला, शराब-कबाब वाला। शरीर जड़ कणों का जोड़ होता है। जुड़ी हुई चीज टूटती है। बना हुआ शरीर बदलेगा, बूढ़ा होगा, विनष्ट होगा। वह अजर-अमर कैसे होगा! परन्तु जन्नत वाले इतना भी नहीं सोच पाते। जन्नत में भोग वही, जो यहां सूअर, वानर, कुत्ते, मानव, कीट-पतंग आदि भोगते हैं। यह है मलिन इन्द्रियों की घृणित विलासिता। मनुष्यों ने अपनी अपूर्ण कामनाओं की सृष्टि जन्नत के रूप में की। वह यहां छककर भोगों को नहीं भोग पाता। अभाव, रोग, बुढ़ापा बहुत-बहुत बाधाएं भोगों में हैं। तो मनुष्यों ने कल्पना कर ली कि चलो, यहां नहीं छककर भोगों को भोग पाते हैं तो जन्नत में भोगेंगे, जो सोलहों आने झूठी बात है। परन्तु पुरोहितों ने उस पर ईश्वर की मुहर लगा दी और कहा अब तो सच मानोगे! यह सब ईश्वर का कहा है। आज भी धार्मिक लोग बड़े जोर-शोर से कहते हैं कि मेरा मजहब खुदा का, मेरी किताब खुदा की तथा मेरा आचार्य खुदा का है। खुदा रूहों (जीवों) को दुनिया-दरिया में डालकर उनकी परीक्षा कर रहा है। किसी ने कितना बढ़िया कहा है "हे ईश्वर! तूने मुझे गहरे दरिया में डालकर एक तख्ते से बांध दिया है। अब कहते हो कि सावधान रह, कपड़ा भीग न जाये।"[२]

---

१. न्याव न कीन्ह ठकुराई।
बिन कीन्हें लिख दीन बुराई॥

२. दरमियाने क़अ़र दरिया तख्ताबंद करदई।
बाज़ में गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

भक्तों का हृदय भी तो आखिर पत्थर नहीं है। उसमें भी तर्क उत्पन्न होता ही है। वह सोचता है कि ईश्वर ने ऐसा अन्याय मेरे साथ क्यों किया। वस्तुतः यह सब दिल बहलाने की बातें हैं। इस जीव को न किसी ने गड्ढे में डाल रखा है और न कोई इसे उबार सकता है। यह अपने अच्छे तथा बुरे कर्मों से ऊंची-नीची गति पाता है। परन्तु मजहबी ख्यालों का बयान अपना-अपना है।

"आसन मारि डिम्भ धरि बैठे·······" कितने लोग दम्भपूर्वक आसन, मुद्रा, योग, ध्यान आदि का प्रदर्शन करते हैं। उन्हें झूठी सिद्धि का घमंड होता है। कितने लोग पीतल-पत्थर पूजकर कहते हैं कि हम देवता पूजते हैं। अपने हाथों से देवी-देवता बनाते हैं, स्वयं उनमें प्राण फूंकने का दिखावा करते हैं और स्वयं उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े होते हैं और उनसे ऋिद्धि-सिद्धि की भीख मांगते हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियां चुरा ली जाती हैं। बेचारे देवी-देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, फिर अपने भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे, इतनी-सी बातें नहीं समझ में आतीं।

कितने लोगों को तीर्थों का बड़ा घमंड होता है। वे कहते हैं कि हमने चार बार चारों धाम, चौरासी तीर्थ घूम डाले हैं, तुम क्या समझते हो। 'जो जाय बद्री सो न आवै वोद्री'—जो बद्री-धाम कर आता है, वह मुक्त हो जाता है। नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से सहस्रों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का नाम लेने से तीन जन्मों के पाप काफूर हो जाते हैं।[१] और साहेब इतना ही क्या, प्रयाग की त्रिवेणी में डूबकर मरने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।[२] यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, कुरुक्षेत्र में दान तथा काशी में मरने की आवश्यकता नहीं।[३] लोक-वचन तथा वेद-वचन की परवाह छोड़कर प्रयाग में मरने का विचार करना चाहिए।[४] तीर्थयात्रा में प्रयाग का स्मरण करते हुए भी मरने पर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[५] चारि खानि के जितने जगत-जीव हैं, अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[६] और वे काशी में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[७] जो रामेश्वर का दर्शन करेगा, वह भगवान के धाम में निवास करेगा।[८] जो रामेश्वर में गंगा जल चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पद प्राप्त करेगा।[९]

---

१. विष्णुपुराण २/८/१२१।

२. त्रिस्थली, षष्ठ ३।

३. नारदीय पुराण, उत्तर ६३/१०४।

४. महाभारत, वनपर्व ८५/८३।

५. मत्स्य पुराण १०५/८-१२। धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड ३, पृष्ठ १३३६। देखिए कबीर दर्शन, अध्याय १, संदर्भ २९, तीर्थ।

६. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥

७. आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥

८. जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥

९. जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं॥ *(मानस)*

"संतो देखत जग बौराना" जगत का पागलपन कितना गिनाया जाय। पंडित-पुरोहितों की ऐसी-ऐसी शूरवीरता की बातें सुनकर लोग "तीरथ गर्भ भुलाना" चरितार्थ करते हैं। मुक्ति, जो आत्मज्ञान तथा वासनातीत की दशा है, जो आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम, अकाम की अवस्था है, उसे पुरोहित लोग पान-तंबाकू के भाव बेच रहे हैं। इतने सस्ते नुस्खे-इतने सस्ते नुस्खे, हद्द हो गयी!

"टोपी पहिरे माला पहिरे......." ऐसे भी लोग हैं जो एक विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, खूब माला पहनते हैं, 'माला पहरी चार', देह भर में छाप लगाते हैं, नाना प्रकार के तिलक करते हैं, साखी-शब्द भी खूब गाते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि मैं कौन हूं! वेष और वाणी का आडंबर खूब बढ़ गया, परन्तु स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान के नाम पर कोरे-के-कोरे हैं। वे स्वर्णिम वरक में लिपटी हुई मिट्टी की मिठाई की तरह हैं। घमंड है उनको साधु, योगी, महंत होने का और घमंड है उनको गुरु-वाणी तथा संत-वाणी कंठ होने का, परन्तु तथ्य-बोध से रहित निरंतर हीरे का वर्णन करते हुए कंकर बटोरते हैं। यह पागलपन नहीं तो क्या है!

"हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।" ज्यादातर झगड़े हरफ के फेर में हैं। कोई कहता है हम राम मानते हैं और कोई कहता है कि हम रहमान मानते हैं। क्या हुआ शब्दों के अन्तर से। दोनों तो एक ही बात कहते हैं। पानी पीयो या वाटर, आब पीयो या जल, क्या फर्क पड़ता है। राम हो या रहीम, इससे जो कुछ ध्वनित होता है वह जड़ से भिन्न चेतन सत्ता है। चेतन केवल चेतन है। नामांतर से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। फर्क तर्जे-इबादत से हम लड़ते हैं। नाम और पूजा के तरीके अलग हैं, इसलिए हम सत्य को भिन्न मान लेते हैं। यह भी पागलपन है।

स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं, पवित्र आचरण नहीं, यहां तक कि मनुष्यता का बोध नहीं, परन्तु महिमा के घमंड में घर-घर मंत्र-दीक्षा देते हुए घूमते हैं। 'अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।' ऐसे गुरुओं की दशा क्या होगी! स्वयं डूबेंगे और शिष्यों को डुबायेंगे। ऊपर भ्रमबुद्धि में पड़कर स्वयं को भूले हुए लोगों का कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। बारम्बार जगाने पर भी मनुष्य भ्रांतियों की ओर ही जाता है। उलटी बुद्धि एवं उलटे आचरण ही मनुष्य के सहज स्वभाव हो गये हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह विवेकवान सन्तों-भक्तों का सत्संग करे। स्वयं अपनी प्रज्ञा को जागृत करे। कारण-कार्य व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों एवं विवेकज्ञान पर ध्यान दे।

माया के भटकाव से बचो

शब्द–५

सन्तो अचरज एक भौ भारी, कहौं तो को पतियाई॥ १ ॥
एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा॥ २ ॥
एकै अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा॥ ३ ॥
एकै नारी जाल पसारा, जग में भया अन्देशा॥ ४ ॥

खोजत-खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा॥ ५ ॥
नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी॥ ६ ॥
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई॥ ७ ॥
आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि-चुनि खाई॥ ८ ॥
कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पतियाई = विश्वास। अण्ड = ब्रह्माण्ड, संसार, वीर्य। नारी = माया, मन की अविद्या, वासना, कल्पना। अन्देशा = चिन्ता, आशंका, दुविधा, खतरा। अन्त = भेद। नाग फाँस = नागपाश, त्रिगुणीपाश, वरुण का अस्त्र, सांपों का फन्दा। मूसेनि = मूसना, चुराना। खड्ग = तलवार। जूझे = लड़ते हैं।

भावार्थ—हे सन्तो! एक बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि मैं उसे कहता हूं तो कौन विश्वास करता है॥१॥ इस बात पर विचार करो कि जीव रूप एक पुरुष कोटि है तथा प्रकृति रूप एक नारी है॥२॥ इन्हीं के गुण-धर्मों से तमाम चौरासी लाख योनियां एक ही संसार में विद्यमान हैं। परन्तु संसार के लोग इस प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक करना छोड़ भ्रम तथा भूल में पड़कर उलझ गये हैं॥३॥ मनुष्य के मन की एक कल्पना रूपी नारी ने जाल फैला रखा है, जिससे संसार के लोगों के मन में एक दुविधा या आशंका पैदा हो गयी है कि आत्मा से अलग कोई परमात्मा है॥४॥ फिर उस परमात्मा को खोजते-खोजते लोगों ने उसका भेद नहीं पाया। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव भी उसका रहस्य जानने में असफल रहे॥५॥ कल्पना-माया रूपी नारी ने त्रिगुण का नागपाश लेकर संसार के सारे लोगों के हृदय में आत्मज्ञान धन की चोरी की और सबके मन को बांध लिया॥६॥ संसार के सारे लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान रूपी तलवार को लिए बिना उस माया-अविद्या से लड़ रहे हैं। इसलिए कोई उसे पकड़कर कैद नहीं कर पाता, एवं उसे मार नहीं पाता॥७॥ यह जीव स्वयं इस माया रूपी फूल-फुलवारी का मूल है। यही अज्ञान-वश इसका विस्तार करता है और इसके फल को स्वयं चुन-चुनकर खाता है। अर्थात विमोहित माया में डूबता है॥८॥ सद्गुरु कहते हैं कि इस माया से वही जीव बच निकलेगा जिसको गुरु ने मोह-नींद से जगा लिया है॥९॥

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि लोग देखते हैं कि प्रकृति-पुरुष एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों से इस विश्व-ब्रह्मांड में सृष्टि हो रही है। फिर भी वे तत्व-बोध को छोड़कर अलग परमात्मा खोजते हैं। 'पुरि शेते पुरुषः' शरीर रूपी पुर में शयन करने वाले ये चेतन जीव ही पुरुष हैं। दूसरा तत्व माया रूपी नारी है उसका एक रूप है जड़-प्रकृति तथा दूसरा रूप है मन की अविद्या, मन की कल्पना। जड़-चेतन के अपने गुण-धर्मों से विश्वसृष्टि चलती है। इन्हें छोड़कर किसी चमत्कारी जादूगर को खोजने की आवश्यकता ही नहीं है। विश्व को समझने के लिए विश्व के मूल तत्वों—जड़ तथा चेतन को और उनके गुण-धर्मों को ही समझना चाहिए। जड़-चेतनात्मक विश्व से अलग विश्व का समाधान नहीं मिल सकता। आश्चर्य यही है कि प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक छोड़कर मनुष्य अनुमान-कल्पना के लोक में भटकते हैं।

स्व-स्वरूप का ज्ञान न होने से मनुष्य के मन की एक अविद्या रूपी नारी कल्पना का जाल फैलाती है। सीधी बात यह है कि जीव अपने आप के महत्व को न समझकर अपने लक्ष्य को अलग खोजता है। जहां तक अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने की बात है, वह सब केवल मन का विस्तार है, मन की कल्पना है। अपने मन की कल्पना के विस्तार में पड़कर ही जीव संदेहों से ग्रसित हो जाता है। मनुष्य के मन का अंदेशा एवं दुविधा उसे भटकाते हैं। "मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय।"[१] अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने के चक्कर ने ही तो सबको भटका रखा है। कबीर साहेब का करारा व्यंग्य है "खोजत-खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा।" ब्रह्मादि गण भी उसकी खोजकर उसका कुछ लता-पता न पाये, तो दूसरों की तो बात ही क्या है!

"नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी।" माया ने नागपाश से सबके मन को बांध लिया है। और सबके भीतर से उनके आत्मज्ञान धन को चुरा लिया है। यह अज्ञान, अविद्या, अपने मन की भूल, यही तो माया है। यही तो सबको बांधती है। अपनी ही भूल अपने को भटकाती है। पुराणों के अनुसार नागपाश वरुण का एक अस्त्र माना जाता है। यहां व्यामोहित करने वाली तीनों गुणों की मनोवृत्तियां या काम, क्रोध, लोभ ही नागपाश हैं। माया इसी से जीव को बांधती है। अर्थात जीव इन्हीं अपने बनाये जालों में मोहवश स्वयं फंसता है।

"ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई।" माया से तो सभी साधक लड़ते हैं, परन्तु ज्ञान की तलवार न होने से वे उससे हार जाते हैं। माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं, जो जीव से लड़ सके। वस्तुतः वह केवल अन्धकारधर्मा है जो ज्ञान के सूर्योदय होते ही लापता हो जाती है। अज्ञान ही तो माया है। अज्ञान से ही तो मन कल्पनाओं का जाल बुनता है और उसी में जीव उलझता है। ज्ञान होने पर यह सब अपने आप निवृत्त हो जाता है।

"आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि-चुनि खाई।" भव-बन्धनों का विस्तार ही फूल-फुलवारी है। उसका मूल स्वयं जीव ही है। यही तो अपने आपको भूलकर माया का विस्तार करता है और स्वयं उसी में उलझकर दुख पाता है। मनुष्य-द्वारा बिछाया हुआ जाल ही तो उसे फंसाता है। मकड़ी स्वयं जाल बुनकर जैसे स्वयं ही उसमें फंस जाय, वैसे ही तो जीव अपने बनाये बन्धनों में बंधता है। जीव को कोई दूसरा बांधता नहीं है। यह स्वयं अपनी भूल से अपने लिए जाल बनाकर उसी में उलझ जाता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि वही उस जाल से उबरता है जिसको गुरु जगा लेते हैं। यह बड़ा मार्मिक वचन है "कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई।" वैसे गुरु तो सब को जगाना चाहते हैं, परन्तु जो अपनी आंखें खोलेगा ही नहीं, उसको गुरु जबर्दस्ती कैसे जगाएंगे! यदि मनुष्य गुरु के वचनों पर ध्यान दे तो गुरु उसे अवश्य मोह-नींद से जगा देंगे। जो जग जाता है, वह बाहर भटकना छोड़कर आत्माराम बन जाता है।

---

१. बीजक, साखी २९।

शब्द—६

सन्तो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी॥ १ ॥
पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी॥ २ ॥
खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी॥ ३ ॥
भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा॥ ४ ॥
ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥ ५ ॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी॥ ७ ॥

शब्दार्थ—पुत्र = जीव। महतारी = माया। पिता = जीव। कन्या = माया। खसम = जीव। ससुर = श्वशुर, अहंकार। भाई = अज्ञान। सासुर = मायावी जगत, सांसारिकता। सासु = संशय। सावत = सौत। ननद भौज = राग-द्वेष। परपंच = प्रपंच, विस्तार, जगत, भवचक्र। समधी = सम+धी, सम = एक, निश्चल, निष्पक्ष; धी = बुद्धि, प्रज्ञा—निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा।

रूपक—हे सन्तो! एक और बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, वह यह कि माता ने अपने पुत्र को पकड़ लिया॥१॥ एक कुंआरी कन्या थी, वह अपने पिता के साथ पगली बन गयी॥२॥ एक ऐसी बावरी नारी थी कि अपने पति को छोड़कर श्वशुर के साथ भाग गयी। इस पर क्यों नहीं विचार करते॥३॥ एक स्त्री ऐसी थी जो अपने भाई के साथ ससुराल चली गयी, तो वहां पर सासु उसकी सौत बनकर उसे पीड़ा देने लगी॥४॥ ननद और भौज ने अपने-अपने नाम की बड़ाई के चक्कर में पड़कर आपस में खूब झगड़ा किया॥५॥ एक ऐसी स्त्री थी जो अपने समधी के साथ नहीं आयी, किन्तु सहज गंवारू रूप में घरबारी बन गयी॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी नारी का जन्म देने वाला केवल पुरुष है॥७॥

भावार्थ एवं व्याख्या—यहां कुलटा नारी के रूपक में माया का चित्रण है। माया है मन में रहे हुए संसार का मोह, अविद्या, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति। माया के अध्यास से ही जीव जन्म लेता है। इसलिए माया माता है और जीव पुत्र है। परन्तु यह माया जीव को पकड़ लेती है "पुत्र धइल महतारी" का यही अभिप्राय है। अथवा जीव माया को पकड़ लेता है। दोनों ओर से इसका अर्थ लगता है।

वस्तुतः जीव ही माया का जनक है। यह मनुष्य जीव ही तो मोह पैदा कर माया का निर्माण करता है। वासना, मोह, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति जो कुछ माया के लक्षण हैं, उनका जनक जीव ही है। जीव अपने स्वरूप की भूल से माया को जन्म देता है। अतः जीव माया का पिता है। माया जीव की कुंआरी कन्या है। कुंआरी इसलिए कि उसे कोई अपनी नहीं बना पाता। खेद है कि यह अपने पिता जीव के साथ पगली बन गयी "पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी।"

"खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी।" एक दृष्टि से देखा जाय तो जीव ही माया का पति है, स्वामी है। परन्तु माया एवं मनोवृत्ति जीव को छोड़कर

अर्थात आत्मस्वरूप-विचार को त्यागकर अहंकार रूप श्वशुर के साथ भाग निकलती है। मनोवृत्ति स्वरूप-विचार में न रमकर अहंकार में पड़ी हुई संसार में भटकती रहती है। मनोवृत्ति अपने आत्मा-पति में न स्थित होकर अपना लक्ष्य अलग खोजती है। इस पर क्यों नहीं विचार करते कि आत्मविचार छोड़कर चित्त का अलग रमना माया का भटकाव ही है।

"भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा।" माया का भाई अज्ञान है, सासुर संसार एवं सांसारिकता है। मनोवृत्ति अज्ञान के साथ सांसारिकता में डूबी रहती है, यही माया का "भाई के संग सासुर गौनी" का तात्पर्य है। परन्तु अज्ञान के साथ डूबी मनोवृत्ति रूपी माया को सासु सौत बनकर दुख देती है। सासु संशय है। जो मनोवृत्ति अज्ञान के साथ रहेगी, वह संशय से पीड़ित रहेगी ही। संशय उसकी सौत बनकर उसको दुखाता रहेगा।

"ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।" ननद-भौज के राग-द्वेष जगत प्रसिद्ध हैं। अतएव यहां ननद-भौज के अर्थ राग-द्वेष समझना चाहिए। ये राग-द्वेष ही प्रपंच रचते हैं। प्रपंच का अर्थ है विस्तार, संसार, भवचक्र। राग-द्वेष ही जीवन में भवचक्र रच देते हैं। जैसे मानो संसार में ननद-भौज आपस में झगड़ती हों और वे एक दूसरी से यह कहती हों कि तूने मेरा नाम लेकर क्यों बुरा कहा? "मोर नाम कहि लीन्हा।" इस प्रकार वे अहंकार-वश एक दूसरे को भला-बुरा कह रही हों। वैसे ही सारे राग-द्वेष के झगड़े मोर-तोर, अहंता-ममता के परिणाम हैं। यह सब माया का ही विस्तार है।

"समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।" 'सम' का अर्थ है एक या निष्पक्ष, 'धी' का अर्थ है बुद्धि एवं प्रज्ञा, ऐसी बुद्धि जो एक हो, निश्चल हो, निष्पक्ष हो, वही समधी है। यह माया, यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि के साथ संसार में नहीं आयी। यह तो "सहज भई घरबारी" गंवारू तथा साधारण विषयों में लगी रहने वाली घर-गृहस्थी वाली हुई। यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल, स्थिर, निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा वाली न होकर विषय-वासना वाली संसारी हुई।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! इस माया एवं मलिन मनोवृत्ति रूपी नारी का जन्म चेतन पुरुष से हुआ है। जीव ही ने तो अपने भूलवश मलिन मनोवृत्ति को जन्म दिया है। इसलिए यह इसे ध्वंस भी कर सकता है।

अथवा सद्गुरु कहते हैं कि मानो पुरुष ने स्वयं नारी का जन्म ले लिया हो। यह जीव मनोवृत्ति में मिल कर स्वयं वही रूप बन जाता है। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन।" जिस क्षण में जीव की जैसी वृत्ति होती है, उस क्षण में जीव अविद्यावश अपने आपको उसी प्रकार समझने लगता है। जीव मन में काम उठने पर अपने आपको काममय, क्रोध उठने पर क्रोधमय, मोह उठने पर मोहमय समझने लगता है। विश्व-सत्ता में चेतन पुरुष ही उच्चतम सत्ता है, परन्तु वह अविद्यावश अपने आपको मायामय बना लेता है, अज्ञानवश स्वयं भटकता है, और दूसरे को भटकाता है—"पुरुष जन्म भौ नारी"।

इस शब्द के अर्थ में माया के सम्बन्ध में जीव को पुत्र, पिता तथा पति के रूप में कहा गया है। प्रश्न हो सकता है कि यह विसंगतिपूर्ण है। वही जीव पुत्र, पिता तथा पति-स्थानीय कैसे हो सकता है? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां अभिप्राय कोई दार्शनिक नहीं, किन्तु भावात्मक है। एक ही माया-जीव के सम्बन्ध को अनेक रूपकों में समझाया गया है। सार अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य के मन के अविद्या, मोह एवं मलिन मनोवृत्ति माया है। जीव की अपनी स्वरूप-भूल से ही इसकी सत्ता है और यही जीव को भटका रही है। अर्थात जीव अपनी भूलजनित गतिविधि में भटक रहा है।

स्वस्वरूप-ज्ञान और सहज समाधि

शब्द—७

सन्तो कहौं तो को पतियाई, झूठ कहत साँच बनि आई॥ १ ॥
लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई॥ २ ॥
चिमिक-चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई॥ ३ ॥
आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई॥ ४ ॥
सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई॥ ५ ॥
जहँ-जहँ देखो तहँ-तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा॥ ६ ॥
परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा॥ ७ ॥

शब्दार्थ—लौके = चमकता है। रतन = रत्न, चेतन तत्व। अबेध = अखंड। चिमिक-चिमिक = प्रकाश, ज्ञान। दृग = आंख। दहुँदिश = दसोंइंद्रियां। अर्ब = धन, संपत्ति, माल, दौलत, तात्पर्य में आत्मरत्न का ज्ञान प्रकाश। छिरियाई = फैला हुआ। सहज समाधी = सहज समाधि, स्वरूपस्थिति। उन्मनि = उन्मनी, स्वरूपाकार-वृत्ति। रघुराई = आत्माराम। मन-मानिक = मनमाणिक्य, मन की मणिका, संकल्पों का प्रवाह। हीरा = जीव, आत्मतत्व।

भावार्थ—हे सन्तो! यदि कहता हूं तो कौन विश्वास करता है! कहने में तो बात झूठी-सी लगती है, परन्तु उस स्थिति में पहुंचकर जब अनुभव किया जाता है, तब वह सच ठहरती है॥१॥ चेतन-आत्मा रूपी एक ऐसा प्रकाशित रत्न है, जो अखंड है और जिसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। उसका न अन्य ग्राहक है और न स्वामी है। वह स्वयं अपने आप का स्वामी है॥२॥ हृदय-स्थित उस आत्म-प्रकाश की किरणें नेत्रादि दसों इन्द्रियों-द्वारा सर्वत्र फैल रही हैं॥३॥ सद्गुरु ने स्वयं किंचित कृपा की और सत, रज तथा तम इन तीनों गुणों से अतीत तथा नेत्रादि इंद्रियों से अगोचर स्वयं चेतन स्वरूप का बोध करा दिया॥४॥ जब उक्त स्वरूपबोध पाकर स्वरूपाकार वृत्ति हो जाती है, तब साधक सहज-समाधि में लीन हो जाता है। फिर मानो सहज ही आत्माराम मिल गया। दृष्टि भर लौटाना था, परमोच्च राम तो जीव स्वयं ही है॥५॥ फिर तो ऐसा साधक जहां-जहां देखता है, वहां-वहां उसी आत्माराम को देखता है। अर्थात वह हस्ती से कीट-पतंग तक सभी प्राणियों में अपना सजाति तत्व देखता है। जैसे माला का धागा सभी मणियों में पिरोया रहता है, वैसे वह साधक हीरा रूपी आत्मचिंतन के धागे में मन-मणियों को

वेधकर स्वरूपस्मरण का जप करता रहता है।।६।। संसार के सभी साधकों अथवा कबीर साहेब का यह उपदेश है कि परमतत्व का बोध गुरु के सत्संग में ही मिल सकता है।।७।।

व्याख्या—संत संसार से लौटकर साधना-द्वारा अपने अंतरतम में डूबे होते हैं। इसलिए उनका अनुभव संसारियों से भिन्न होता है। यदि वे अपने अनुभव को सामान्य संसारियों में कहने लगें, तो लोगों के लिए वह विषय अपरिचित होने से उन्हें वह झूठा ही लगेगा। सद्‌गुरु कबीर मानो समाधि से उठकर और संत-मडली में आकर कह रहे हों—हे संतो! मैं यदि सामान्य लोगों से कहूं तो मेरी बातों पर कौन विश्वास करेगा! स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति की बातें कहूं तो लोग मानेंगे कि यह तो व्यर्थ का बकवास है; क्योंकि उससे वे एकदम अछूते हैं। परन्तु जो साधक स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की साधना में डूबता है उसके लिए उससे अधिक सत्य कुछ है ही नहीं। आत्मज्ञान तथा आत्मस्थिति की बातें सुनने में लोगों को भले बकवास लगें, परन्तु अनुभव में उतरने पर शतप्रतिशत सच हैं। व्यक्ति के आत्म-अस्तित्त्व में ही सारे अस्तित्त्व का भान होता है। अतएव आत्म-अस्तित्त्व का बोध परम सत्यज्ञान है।

"लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई।" जिसे जीव, चेतन, आत्मा, रूह, सोल आदि संज्ञाओं से कहा जाता है, वह चेतन तत्त्व 'स्व' के रूप में सबके अन्दर विद्यमान अमर सत्ता है। वह चेतन-रत्न अखंड होने से अबेध है, अनादि, अनंत तथा नित्य है। उसकी कीमत कुछ नहीं हो सकती है। देह से केवल जीव निकल जाय तो देह चाहे राजा की हो और चाहे महात्मा की हो, अथवा कहना चाहिए चाहे राम, कृष्ण, महान सिकन्दर, बुद्ध, महावीर, ईसा, शंकर, दयानन्द, कबीर, नानक—किसी की भी हो, किसी काम का नहीं है। निर्जीव माता-पिता, निर्जीव गुरु, निर्जीव राजा किस काम के! अतएव जीव एवं चेतन सत्ता अमोलिक है। इसका कोई मूल्य नहीं है। यह सबके घटों में 'लौक' रहा है, चमक रहा है। चेतन की चमक से ही तो जीवन जीवन है। सद्‌गुरु कहते हैं कि इसका न कोई मालिक है और न खरीदार। भला हमारे आत्मअस्तित्त्व का दूसरा कैसे मालिक हो सकता है और उसको दूसरा कोई खरीद भी कैसे सकता है! आत्मा स्वयं अपना स्वामी है और स्वयं अपना ग्राहक है। इन सबका अर्थ यही है कि वह स्वयं है, अपने आप है।

"चिमिक-चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई।" घट भीतर अमर चेतन प्रकाशरूप रत्न ज्ञानालोक से आलोकित है और उसका ज्ञान-प्रकाश नेत्रादि दसों इन्द्रियों के द्वारा बाहर चमचमा रहा है। यह शब्दाडंबर है। इसको हटाकर इसका सरल भाव यही है कि ज्ञानस्वरूप-चेतन शरीर में रहकर हर इन्द्रिय से बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह जो भीतर बैठा अहम-पदार्थ मैं-मैं कहता है, यही देखता है, सुनता है, छूता है, चखता है, सूंघता है। इसी की प्रेरणा से पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं, और सारे अंग गतिशील हैं।

"आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।" आत्मस्वरूप निर्गुण तथा अलख है, इसे सद्‌गुरु ही लखाता है। क्या चेतन निर्गुण है? हमें केवल शब्दों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए, किन्तु मर्म समझना चाहिए। अपना स्वरूप निर्गुण है और सगुण भी

है और निर्गुण-सगुण से परे भी हैं। सत, रज तथा तम ये तीन गुण हैं जो जड़ प्रकृति में विद्यमान हैं। प्रकृति में क्रिया मात्र रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। ये तीनों प्रकृति में निरंतर हैं। दूसरा क्षेत्र मन का है। उसमें भी इच्छा-क्रिया रज है, प्रसन्नता सत है तथा आलस्य, निद्रादि तम है। शुद्ध चेतन में यह सब कुछ नहीं है। इसलिए वह निर्गुण है। उसे हम सगुण इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उसमें ज्ञान-गुण है। उसे हम सगुण तथा निर्गुण से भी परे इस तरह कह सकते हैं कि वह सगुण तो इसलिए नहीं है क्योंकि उसमें त्रिगुण की क्रियाएं नहीं हैं, और निर्गुण इसलिए नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह शून्य तो नहीं है। जिसकी सत्ता है, वह निर्गुण हो ही नहीं सकता। सत्तावान द्रव्य में कोई-न-कोई गुण होगा ही। चेतन में ज्ञानगुण है। अतएव चेतन-अस्तित्त्व निर्गुण है, सगुण है तथा सगुण एवं निर्गुण से परे भी है। यह स्वस्वरूप समझने की एक उदार परिभाषा है। यह सब यहां इसलिए लिखा गया कि कोई किसी शब्द से मोह या घृणा कर अनुदार न बने। ऊपर के विवेचन में कोई भ्रांति नहीं रह गयी है। ऊपर के सारे कथन का सार यही है कि वह जड़ प्रकृति के तीनों गुणों से रहित एवं ज्ञानगुण-युक्त है। इन सबका भेद सद्‌गुरु ही देता है।

"सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई।" सहज समाधि, उन्मनी तथा रघुराई—ये तीन शब्द इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों पर हम यहां विचार कर लें। पहले हम सहज समाधि लें। जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु एवं अवधारणा में मन को रोकते हैं तब इसे हम असहज समाधि कह सकते हैं। हम किसी महापुरुष के चित्र को अपने मन में ले लेते हैं, ज्योति या नाद को ले लेते हैं या कोई भी अवधारणा बना लेते हैं और इनमें से किसी एक में मन को रोकते हैं, तो यह असहज समाधि है। क्योंकि यह सब केवल आरोपित है। किन्तु जब ये सारे समाप्त हो जाते हैं, जब कोई अवधारणा नहीं रह जाती है, तब केवल सत्ता रहती है, चेतन-अस्तित्त्व मात्र है, संकल्प कुछ भी नहीं है, तब यह सहज समाधि है। मुख पर पाउडर, रंग आदि का लेपन असहज एवं बनावटी सौंदर्य है, परन्तु मुख को धो-पोंछकर साफ कर देने पर जो उसमें सौंदर्य निखरता है, वह सहज सौंदर्य है। अपने स्वरूप के अलावा किसी प्रकार के भगवान, ईश्वर एवं ब्रह्म की रचना करना तथा उसमें ध्यान लगाना असहज समाधि है। हम चाहे मन में किसी का चित्र लें, या नाद-बिन्दु लें या यह कल्पना करें कि हमारे चारों ओर परमात्मा व्याप्त है, यह सब मन के ही संकल्प हैं, मन की ही अवधारणाएं होने से कृत्रिम हैं, बनावटी हैं, एतदर्थ असहज हैं। परन्तु जब मन ही समाप्त हो गया, तब उक्त कल्पनाएं भी नहीं रह गयीं। तब केवल रह गयी स्व-सत्ता। यह स्व-सत्ता मात्र का रह जाना ही सहज समाधि है। जब मन सारी अवधारणाओं के सहित शून्य हो जाता है, तब चेतन मात्र रह जाता है। यही सहज समाधि है। हमारा सहज स्वरूप चेतन एवं ज्ञान है। अतएव चेतन एवं ज्ञान मात्र रह जाना ही सहज समाधि है।

उन्मनी का सहज अर्थ है मन का निरंतर आत्माकार एवं स्वरूपाकार वृत्ति में रहना। जिसके मन में देह एवं विषयों का अभिमान नहीं रह जाता, जिसका मन विषयों का चिंतन नहीं करता, अपितु केवल आत्मस्वरूप का ही चिंतन करता है, वही मन उन्मनी-दशा को प्राप्त है।

इस पंक्ति के तीसरे महत्त्वपूर्ण शब्द 'रघुराई' पर विचार कर लेना है। यह तो साफ है कि कबीर साहेब दशरथ-पुत्र रघुराई श्री रामचन्द्र को न परमात्मा मानते हैं और न उन्हें उपासना का लक्ष्य। उन्होंने बीजक में इसके विषय में जगह-जगह काफी कहा है।[१] सहज समाधि का पक्षधर अपना लक्ष्य किसी शरीरधारी को कैसे मान लेगा! अतएव सद्गुरु कबीर का रघुराई आत्माराम है। कबीर साहेब ने रघुराई, राम, हरि आदि शब्द जहां विधेयात्मक ढंग से लिया है, उन सबका अर्थ व्यक्ति की अपनी अंतरात्मा है। उनका महावाक्य है "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[२]

जब साधक की उन्मनी जग जाती है, जब उसका मन निरंतर स्वरूपाकार हो जाता है, तब वह सहज समाधि में पहुंच जाता है। अर्थात मन के संकल्प समाप्त होकर पूर्ण स्वरूपस्थिति हो जाती है। यही रघुराई का मिलना है। व्यक्ति का अपना आत्मस्वरूप ही तो परमात्मा एवं परब्रह्म है अर्थात जीव की स्व-सत्ता ही सर्वोच्च है। इसमें स्थित हुआ व्यक्ति कृतार्थ है।

सहज समाधि का पूर्णरूप संकल्पहीनता होता है, यह ऊपर बताया गया। किन्तु जो कहीं विषयों में न आसक्त होकर स्वरूप-विचार में रमता है वह मानो सब समय सहज समाधि में ही विराजमान है। "जो सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय।" अभ्यासकाल में संकल्प-हीनता तथा व्यवहारकाल में अनासक्ति, यही है सहज समाधि।

"जहँ-जहँ देखो तहँ-तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा।" जो व्यक्ति विषयासक्ति छोड़कर निरंतर आत्मा राम में रमता है, उसकी मनोवृत्ति राममय हो जाती है। वह जितने प्राणियों को देखता है, सब में अपने स्वरूप के ही दर्शन करता है। हस्ती से कीट तक सब जीव तो सजाति हैं। श्री पूरण साहेब के वचनों में "सब तेरे तू सबन का, काको जानि रिसाय।" माला का सूत माला में रही हुई सभी मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है, इसी प्रकार चेतन हीरा रूपी सूत सभी मनःसंकल्प-मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है। अर्थात ऐसे साधक के मन-प्रवाह की मणियां मानो स्वरूप-विचार का ही निरंतर जप करती हैं। क्योंकि स्वरूपज्ञान रूपी हीरा मन-माणिक्य को वेध देता है। उसका मन सदैव स्वरूपज्ञान से ही विधा रहता है। अतएव स्वरूपस्थ साधक सबको अपने समान समझकर राग-द्वेष से मुक्त हो सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। सब में अपने को तथा अपने में सबको देखने की बात यदि कुछ है तो यही है। 'जहँ-जहँ देखो तहँ-तहँ सोई" तथा "खुले नयन हंसि-हंसि पहिचानौं" का भाव एक ही है।

"परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा।" परमतत्व का अर्थ है सर्वोच्च सत्ता। सत्ता के दो प्रकार हैं। एक जड़ तथा दूसरा चेतन। जड़ दृश्य है और चेतन द्रष्टा है। इसलिए जड़ निम्न सत्ता है और चेतन परम सत्ता। यह चेतन ही परम तत्त्व है। अपना चेतन स्वरूप तो नित्य प्राप्त ही है। परन्तु उसका ज्ञान न होने से वह अप्राप्त-सा है।

---

१. देखिए ७५ वीं रमैनी की दूसरी पंक्ति, ८ वें शब्द की १३-१४ वीं पंक्ति, १८ वां शब्द आदि।

२. रमैनी ४१।

अपने ही घर में अपना धन गड़ा है, परन्तु ज्ञान न होने से वह नहीं-सा है। शोधक ने खोजकर बता दिया तो मानो उसने हमें धन दिया। इसी प्रकार मेरा ही आत्मस्वरूप मुझे विस्मृत था। गुरु ने उसे लखा दिया, तो मानो गुरु ने ही आत्म-धन दिया।

इस प्रकार साधारण लोगों में कहने-सुनने में जो व्यर्थ लगता है, वह आत्मस्वरूप का अस्तित्वबोध अनुभव में परम सत्य है। वह अजर, अमर एवं नित्य है। उसका बोध सद्गुरु-सन्तों के सत्संग तथा स्व-विवेक से होता है। बोध हो जाने पर जब साधक उसमें निरंतर रम जाता है तब यही सहज समाधि है। अपना चेतन स्वरूप ही तो अपना सहज स्वरूप है और उसमें निरंतर रमना सहज समाधि है। इसी से मिलता-जुलता हुआ सद्गुरु का प्रसिद्ध पद है—

सन्तो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते, सुरति न अन्त चली।।टेक।।
जहँ-जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, भाव मिटाओं दूजा।। १ ।।
आँख न मूंदों कान न रूँधो, काया कष्ट न धारौं।
खुले नैन हंसि हंसि पहिचानों, सुन्दर रूप निहारौं।। २ ।।
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटे, ऐसी तारी लागी।। ३ ।।
कहत कबीर सहज यह रहनी, सो परगट करि गाई।
सुख दुख से इक परे परम पद, सो पद है सुखदाई।। ४ ।।

अवतार-मीमांसा

शब्द–८

सन्तो आवै जाय सो माया।। १ ।।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया।। २ ।।
का मकसूदन मच्छ-कच्छ न होई, शंखासुर न सँहारा।। ३ ।।
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कौन को मारा।। ४ ।।
वै कर्ता नहिं बराह कहाये, धरणि धर्‌यो नहिं भारा।। ५ ।।
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ कहै संसारा।। ६ ।।
खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।। ७ ।।
हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।। ८ ।।
बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया।। ९ ।।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया।।१०।।

परशुराम क्षत्री नहिं मारे, ई छल माया कीन्हा ॥११॥
सतगुरु भेद भक्ति नहिं जाने, जीवहि मिथ्या दीन्हा ॥१२॥
सिर्जनहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बन्धा ॥१३॥
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अन्धा ॥१४॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आया, कर्ते कंस न मारा ॥१५॥
है मेहरबान सबहिन को साहेब, ना जीता ना हारा ॥१६॥
वै कर्ता नहिं बौद्ध कहावै, नहीं असुर संहारा ॥१७॥
ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया ॥१८॥
वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा ॥१९॥
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त-सत्त सब टारा ॥२०॥
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा ॥२१॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ॥२२॥

शब्दार्थ—आवै जाय = जन्मे-मरे। मकसूदन = मधुसूदन—मधु दैत्य को मारने वाले कृष्ण। बीजक के अनेक संस्करणों में 'मकसूदन' की जगह पर 'मकसूद' है जो अरबी भाषा का शुद्ध 'मक़सूद' शब्द है। इसका अर्थ होता है—उद्देश्य या प्रयोजन। यही प्रासंगिक लगता है। लगता है प्राचीन काल में किसी की लिखावट में मकसूद का मकसूदन हो गया है। पतीजै = विश्वास करना। जाँचे = मांगना। बौद्ध = बुद्ध; यहां शुद्ध पाठ बुद्ध ही है। बुद्ध एक मतप्रवर्तक महात्मा हैं और बौद्ध उनके अनुयायी हैं। निकलंकी = कल्कि। कालिंगहिं = कलिंग देश के रहने वाले राजा या अन्य। जत्त = यती, त्यागी। सत्त = सत्यवती, सती एवं पतिव्रता। टारा = पतित करना। दूजा = संसारी जीव।

भावार्थ—हे संतो! जो शरीर धारण करता और छोड़ता है, जन्मता और मरता है, इस प्रकार आता और जाता है, वह माया में आसक्त संसारी जीव है॥१॥ सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान, सर्वरक्षक आदि ईश्वर के जो लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं, उसके अनुसार वह सब का प्रतिपालक ही हो सकता है। उसका स्वभाव क्रूर नहीं हो सकता। वह सर्वत्र व्याप्त होने से उसे न कहीं जाने की आवश्यकता है और न आने की॥२॥ मत्स्यावतार तथा कच्छपावतार के नाम से उसे मछली तथा कछुआ होने का क्या प्रयोजन हो सकता है? उसने मत्स्यावतार लेकर शंखासुर की हत्या नहीं की॥३॥ सर्वपालक तो दयालु होता है। उसको किसी से द्रोह नहीं हो सकता। कहो भला, वह किसको मार सकता है? ॥४॥ उस ईश्वर ने सूअर बनकर तथा हिरण्याक्ष से पृथ्वी छीनकर अपने मुख में धारण कर लिया और हिरण्याक्ष से बहुत काल तक युद्ध कर अन्त में उसकी हत्या कर दी, यह शूकरावतार का वर्णन ईश्वर का मखौल ही है। वस्तुतः ईश्वर न वराह हुआ न पृथ्वी को मुख में धारण किया। यह सब काम ईश्वर का नहीं हो सकता। संसार के लोग ईश्वर को अवतार लेने वाला बताकर झूठी बातें कहते हैं॥५-६॥ कहते हैं ईश्वर खम्भा फाड़कर तथा नृसिंह अवतार लेकर प्रकट हो गया, और हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़कर उसे मार डाला। इस बात पर बहुत-से भोले विश्वास करते हैं। परन्तु ऐसा नाटक करने

वाला ईश्वर नहीं हो सकता ।।७-८।। ईश्वर ने वामन रूप धारणकर और राजा बलि से तीन पग पृथ्वी मांगकर तथा उन्हें धोखा देकर उनका सारा राज्य ले लिया, यह ईश्वर का काम नहीं है। मांगना-जांचना तो मायावी असमर्थ जीवों का काम है। परन्तु बिना विवेक अवतारवाद के भ्रम में पड़कर संसार के सारे लोग भटक रहे हैं। वस्तुतः मन के माया, कल्पना एवं अज्ञान ने जगत के लोगों को भटका दिया है ।।९-१०।। ईश्वर ने ही परशुराम बनकर हैहय-वंशीय क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्या की है, यह कहना बिलकुल गलत है। परशुराम तो क्रोधी होने से मायावी जीव थे। क्रोधाभिभूत होकर रक्तपात करने वाला तो माया-वश होकर अपने आपको ही छल रहा है। भक्ति का आलंबन तो राग-द्वेष से पूर्णतया मुक्त पुरुष सद्गुरु है, मारकाट करने वाले संसारी जीव नहीं। परन्तु भ्रांत लोग यह रहस्य नहीं जानते और वे जीवों को अवतारवाद का मिथ्या उपदेश देते हैं ।।११-१२।। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड के रचयिता ईश्वर ने दशरथ-पुत्र श्रीराम बनकर सीता से विवाह नहीं किया और न उसने सीता के उद्धार के लिए समुद्र पर पत्थर का पुल ही बनाया ।।१३।। अतएव जो राघवेंद्र श्रीरामचन्द्र को एक ईश्वर मानकर उनका भजन-पूजन करता है, वह विवेक का उपयोग नहीं करता ।।१४।। ईश्वर कृष्ण बनकर गोपी-ग्वालों के बीच गोकुल में नहीं आया और न उसने कंस की हत्या की ।।१५।। क्योंकि ईश्वर तो सबके ऊपर कृपा करने वाला होगा। अतएव उसने न किसी पर विजय पायी और न हार ।।१६।। पंडित लोग कहते हैं कि ईश्वर ने बुद्ध रूप में अवतार लेकर और असुरों को वेद तथा वैदिक कर्मकांड से वंचित कर उन्हें पतित कर दिया। इसका मतलब यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं और बौद्ध पतित असुर हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह बौद्ध मत को गिराने के लिए पंडितों की चाल है। बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहना झूठी बात है। न ईश्वर बुद्ध हुआ और न उसने असुरों को पतित किया ।।१७।। जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का वास्तविक बोध न होने से लोग पहले एक जगतकर्ता ईश्वर का भ्रम खड़ा करते हैं और उसके बाद अपने स्वार्थ साधने के लिए उसके नाना अवतारों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः मनुष्य के मन की माया ने जगत को भ्रमा दिया है ।।१८।। वह ईश्वर तथाकथित कल्कि अवतार नहीं लेगा और न कलिंग देश के राजा की हत्या करेगा ।।१९।। छल करना, जबर्दस्ती करना, यती-सती के चरित्र भ्रष्ट करना, यह सब ईश्वर का काम नहीं है, अपितु मायावी जीवों का काम है ।।२०।। जिन लोगों ने उक्त दसों को अवतार मानकर तथा उनके चरित्र को ईश्वरी माया मानकर, उनकी पूजा की या करते हैं, वे तत्त्वविवेक से रहित हैं ।।२१।। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो पैदा होता और मरता है वह ईश्वर नहीं, किन्तु कर्मवश संसार में भटकने वाला जीव है ।।२२।।

व्याख्या—शास्त्रों में ईश्वर के विषय में कल्पना है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, न्यायी है, दयालु है इत्यादि। ऐसे ईश्वर के रहते हुए भी संसार में चोरी, मिलावटबाजी, व्यभिचार, हत्या, डाका तथा नाना अत्याचार होते हैं। यहां तक कि ईश्वर के ही नाम पर ईश्वरवादियों ने पुराकाल से मानव का खून बहाया है। मूक, मासूम, मानवेतर प्राणी ही नहीं, किन्तु धनबल, जनबल, शरीरबल, विद्याबलादि से कमजोर लोग भी बली अत्याचारियों-द्वारा सदैव पीसे गये हैं और आज भी पीसे जा रहे हैं। ईश्वर सब

जगह बैठा, सब कुछ जानता तथा सारा बल रखता हुआ भी मूकदर्शक बना असहाय की तरह जी रहा है। इस प्रकार ईश्वर के जितने लक्षण बताये हैं उन पर परख की कसौटी लगाने पर वह स्वप्न की तरह ज्ञान की जागृति होते ही उड़ जाता है। परन्तु भावुकों ने उसके अवतार भी पैदा कर लिये हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १, अध्याय ३, श्लोक ५ से २५ तक में अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—

१. सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ब्रह्मचर्य पालन के लिए।

२. सूकर—पृथ्वी को रसातल से लाने के लिए।

३. नारद—उपदेष्टा के रूप में।

४. नर-नारायण—बदरिकाश्रम में तप के लिए।

५. कपिल—सांख्य शास्त्र का उपदेश करने के लिए।

६. दत्तात्रेय—ये भी उपदेशक थे।

७. यज्ञ—रुचिप्रजापति की पत्नी आकूति से उत्पन्न हुए स्वायम्भुव मन्वन्तर की रक्षा के लिए।

८. ऋषभदेव—परमहंस का आदर्श दिखाने के लिए।

९. पृथु—पृथ्वी से औषधियों को दुहने के लिए।

१०. मत्स्य—डूबती हुई पृथ्वी को उबारने के लिए। शंखासुर वेदों को चुरा ले गया था, मत्स्य ने वेदों का उद्धार किया और शंखासुर को मारा।

११. कच्छप—समुद्र मथने में सहयोग करने के लिए।

१२. धन्वन्तरि—समुद्र से अमृत का घड़ा लेकर प्रकट हुए।

१३. मोहनी—देवता-दैत्यों का विवाद मिटाने के लिए।

१४. नृसिंह—हिरण्यकश्यपु को मारने के लिए।

१५. वामन—बलि को छलने के लिए।

१६. परशुराम—क्षत्रियों को मारने के लिए।

१७. व्यास—वेदों का विभाजन करने के लिए।

१८. श्रीराम—रावण को मारने के लिए।

१९.-२०. बलराम, कृष्ण—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

२१. बुद्ध—वेद-विरुद्ध मत चलाने के लिए।

२२. कल्कि—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

उपर्युक्त बाईस अवतारों का उक्त स्थान पर वर्णन है। परन्तु अन्यत्र से 'हंस' और 'हयग्रीव' को मिला देने से चौबीस हो जाते हैं। सनकादिकों को उत्तर देने के लिए 'हंस' अवतार तथा मधुकैटभ को मारने के लिए 'हयग्रीव' अवतार मानते हैं।

"अवतारवाद[1] की भावना हमें पहले-पहल 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलती है। प्रारम्भ में विष्णु की अपेक्षा प्रजापति को इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य (१/८/१/१), कूर्म (७/५/१/५; १४/१/२/११) तथा वराह (१४/१/२/११) का अवतार लिया था। प्रजापति के वराह का रूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय संहिता (७/१/५/१), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१/१/३/६), तैत्तिरीय आरण्यक (१०/१/८) तथा काठक संहिता (८/१) में भी प्रारंभिक रूप में विद्यमान है।"[2]

"इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्य, कूर्म तथा वराह अवतार प्रारम्भ में प्रजापति से सम्बन्ध रखते थे, किन्तु बाद में विष्णु का महत्त्व बढ़ जाने के कारण तीनों विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे। महाभारत के नारायणी उपाख्यान (१२/३२६/७२ तथा १२/३३७/३६) तथा हरिवंशपुराण (४/४१) में वराह तथा विष्णु का सम्बन्ध मान लिया गया है। आगे चलकर तीनों के नाम लेकर एक-एक महापुराण की सृष्टि हुई, जिसमें विष्णु से उनकी अभिन्नता प्रतिपादित है (देखिए मत्स्य, कूर्म तथा वराहपुराण)।[3]

"अन्य मुख्य अवतारों के प्राचीनतम उल्लेख इस प्रकार हैं। वामनावतार तथा नृसिंह अवतार प्रारम्भ से विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं। वामनावतार का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (२/१/३/१), शतपथ ब्राह्मण (१/२/५/५), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१/७/१७) और ऐतरेय ब्राह्मण (६/३/७) में हुआ है। नारायणी उपाख्यान (महाभारत १२/३२६/७५) तथा हरिवंश पुराण (१/४१) में इसका विष्णु के अन्य अवतारों के साथ उल्लेख हुआ है। नृसिंहावतार की कथा पहले पहल तैत्तिरीय आरण्यक के परिशिष्ट (१०/१/६) में मिलती है। नारायणी उपाख्यान (१२/३२६/७३ और ३३७/३६) तथा हरिवंश पुराण (१/४१) में इसका उल्लेख है तथा विष्णु पुराण (१/१६) में नृसिंह की कथा वर्णित है।

"परशुराम विषयक प्रारम्भिक कथाओं में इनके अवतार होने का निर्देश नहीं मिलता (महाभारत ३/११५-११७), किन्तु नारायणी उपाख्यान (१२/३२६/७७), हरिवंश पुराण (१/४१/११२-१२०) तथा विष्णु पुराण (१/९/१४३) में उनको विष्णु का अवतार माना गया है।

"प्रस्तुत सिंहावलोकन का निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणों में तथा अन्य प्राचीन साहित्य में अवतारवाद विद्यमान है, किन्तु उन ग्रन्थों के रचनाकाल में न तो अवतारों की विशेष पूजा की जाती थी और न उसमें विष्णु का प्राधान्य था। कृष्णावतार के साथ-साथ अवतारवाद के विकास में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ—उस समय से लेकर अवतारवाद भक्तिभाव से ओतप्रोत होने लगा।

"वासुदेव कृष्ण भागवतों के इष्टदेव थे। प्रारंभ में उनका तथा विष्णु का कोई भी

---

१. एच० याकोबी : इनकार्नेशन, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ७।
एम० मोनिएर विलियम्स : इं० विजडम, पृष्ठ ३१८ आदि। एच० राय चौधरी : अर्लि हिस्ट्री ऑव वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ ९६।

२. डा० कामिल बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद १४० से उद्धृत।

३. रामकथा, अनुच्छेद १४०

सम्बन्ध नहीं था। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी[1] का अनुमान है कि सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई० पू० से वासुदेव कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई थी। अवतारवाद के इस विकास का कारण प्रायः बौद्धधर्म से जोड़ा जाता है।[2] बौद्ध धर्म तथा भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग दोनों समान रूप से ब्राह्मण साहित्य के कर्मकांड तथा यज्ञ-प्रधान धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न और विकसित हुए। इसके फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार लुप्त हो गया था। बौद्ध धर्म का अधिकाधिक प्रचार देखकर ब्राह्मणों ने भागवतों को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से भागवतों के इष्टदेव वासुदेव कृष्ण को विष्णु-नारायण का अवतार मान लिया है।''[3]

''इससे अवतारवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला, साथ-साथ विष्णु का भी महत्त्व बढ़ने लगा। इस तरह अवतारवाद की सारी भावना धीरे-धीरे विष्णु-नारायण में केन्द्रीभूत होने लगी और वैदिक साहित्य के अन्य अवतारों के कार्य विष्णु में ही आरोपित किये गये।

''एक ओर अवतारवाद की भावना फैलती जा रही थी, दूसरी ओर कई शताब्दियों से राम का आदर्श चरित्र भारतीय जनता के सामने रहा था। रामायण की लोकप्रियता के साथ-साथ राम का महत्त्व भी बढ़ता रहा। उनकी वीरता के वर्णन में अलौकिकता की मात्रा भी बढ़ने लगी। रावण पाप और दुष्टता का प्रतीक बन गया और राम पुण्य और सदाचरण का। अतः इस विकास की स्वाभाविक परिणति यह हुई कि कृष्ण की भांति राम भी विष्णु के अवतार माने जाने लगे। राम तथा विष्णु की अभिन्नता की धारणा कब उत्पन्न हुई, इसका ठीक समय निर्धारित करना असंभव है। फिर भी अवतारवाद उत्तरकांड में इतना व्याप्त है कि इसे उत्तरकांड की अधिकांश सामग्री के पूर्व का मानना चाहिए। अतः बहुत सम्भव है कि पहली शताब्दी ई० पू० से ही रामावतार की भावना प्रचलित होने लगी थी। रामायण के प्रक्षेपों के अतिरिक्त महाभारत तथा वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, मत्स्य, हरिवंश आदि प्राचीनतम पुराणों में अवतारों की तालिका में राम दाशरथि का भी नाम आया है।''[4]

उपर्युक्त लम्बे उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अवतारवाद की कल्पना पहली बार शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में हुई जो ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। इसमें बताया गया कि प्रजापति ने मत्स्य (मछली), कूर्म (कछुआ) तथा वराह (सूअर) का अवतार धारण किया। ये तीनों ही अवतार मात्र काल्पनिक हैं।

---

१. दे० अर्लि हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट, पृ० ६३।
२. दे० एच० चौधरी, वही, पृ० ६३। एम० मोनिएर विलियम्स, वही, पृ० ३२८/ सी० वी० वैद्य, वही, पृ० २५।
३. तैत्तिरीय आरण्यक (१०/१/६) में वासुदेव तथा विष्णु की अभिन्नता का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है।
४. डॉ० कामिल बुल्के: रामकथा, अनुच्छेद १४१ से १४३ तक।

वामन अवतार की कल्पना तैत्तिरीय संहिता में आती है। यह भी ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व की ही रचना मानी जाती है। वामन अवतार की कल्पना ऋग्वेद के प्रथम मंडल के २२वें सूक्त के अन्तिम (१६-२१) छह मंत्रों से उद्भूत मानी जाती है। इसके इस सम्बन्ध में मुख्य दो मंत्रों को यहां उपस्थित किया जाता है। "विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की। उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुक्त पैर से जगत छिप-सा गया। विष्णु जगत के रक्षक हैं। उनको आघात करने वाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मों को धारण कर तीन पैरों का परिक्रमा किया।"[१]

विष्णु कौन था? अर्थात यहां वेद में विष्णु का क्या अर्थ है? उसका तीन पद का विचक्रमण (चलना) क्या है? सहज कहना कठिन है, परन्तु पीछे वालों ने इस सूत्र से एक कहानी बना ली कि विष्णु ने वामन बन राजा बलि को छलकर तीन पद में उनके सारे राज्य (भूमंडल) को नाप लिया था। कथा ऐसी भोड़ी बनायी गयी जिसमें विष्णु को छली सिद्ध किया गया तथा बताया गया कि उसने एक धर्मात्मा राजा बलि के साथ विश्वासघात किया। पुराणों में बताया गया है कि विष्णु इन्द्र के छोटे भाई हैं। उन्होंने अपने बड़े भाई इन्द्र की गद्दी स्थापित करने के लिए बलि को धोखा दिया। इन्द्र तथा विष्णु के सम्बन्ध का भी सूत्र इसी सूक्त में मिल जाता है—"इन्द्रस्य युज्यः सखा।"[२] अर्थात विष्णु इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं। पुराणों के अनुसार कश्यप की एक पत्नी दिति से बलि आदि दैत्य पैदा हुए थे तथा दूसरी पत्नी अदिति से इन्द्र, विष्णु आदि देवता पैदा हुए थे। दैत्य-देवता का अर्थ पापी एवं पुण्यात्मा नहीं है, किन्तु ये गोत्र मात्र थे जो माताओं के नाम पर चले थे। देवता तथा दैत्य दोनों में अच्छे-बुरे होते थे; बल्कि देवता अधिक विषयी-पामर होते थे और दैत्य संयमी। इन्द्र तथा बलि के चरित्र से ही यह जाना जा सकता है।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम जितने भी अवतारों की कल्पना की गयी है, उनमें से कोई भी पूज्य नहीं हुआ। अवतारों के अंतिम छोर में उदित हुए राम तथा कृष्ण ही पूज्य हुए हैं। वस्तुतः श्रमणों (बौद्धों एवं जैनों) के उत्तारवाद की प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने अवतारवाद की कल्पना की। जैनों तथा बौद्धों में महावीर एवं बुद्ध दो महानपुरुष हो गये। जैनों तथा बौद्धों-द्वारा माना गया कि उत्तरवाद के सिद्धांत से महावीर तथा बुद्ध महान एवं पूर्ण पुरुष हो गये।[३] यह स्वाभाविक कथन था। इसके उलटे ब्राह्मण परंपरा में अवतारवाद का विकास हुआ, कि पूर्ण परमात्मा उतरकर साधारण मनुष्य बन गया। पहले कृष्ण को अवतार मान लिया गया और गीता में कृष्णावतार पूर्ण

---

१. इंद्र विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूहलमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्॥ *(ऋग्वेद १/२२/१७-१८)*
टीका रामगोविन्द त्रिवेदी। इण्डियन प्रेस प्रयाग।

२. ऋग्वेद १/२२/१९।

३. उत्तार का अर्थ है सामान्य जीव का ऊपर उठ जाना, दूसरों से बढ़ जाना, मुक्त हो जाना तथा अवतार का अर्थ है कि महान सत्ता का ऊपर से उतरकर नीचे आ जाना।

विकसित हुआ। तब तक राम के विषय में अवतार की मान्यता नहीं थी। उन्हें तब तक केवल वीर धनुर्धारी ही माना जाता था। इसीलिए गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से श्री राम के लिए कहलवाया—"रामः शस्त्रभृतामहम्"[१] अर्थात मैं शस्त्रधारियों में राम हूं। तार्किक अध्येताओं के मतानुसार ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व तक कृष्णावतार की कल्पना हो चुकी थी तथा रामावतार की कल्पना ईसा से सौ वर्ष पूर्व हुई। परन्तु तब तक रामादि चारों भाइयों को विष्णु का केवल अंशावतार माना गया। राम को पूर्ण परब्रह्म तो ईसा के बारह-तेरह सौ वर्ष बाद बनाया गया और उसके फल में अध्यात्म रामायण बनी, फिर ईसा के सोलह सौ वर्ष बाद गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा मानस की रचना हुई, जिसमें श्री राम को सभी ऋषियों-मुनियों का पूज्य तथा अनंत ब्रह्मांड-नायक परब्रह्म मान लिया गया। इस प्रकार अवतारवाद की वेदों में तो कोई गुंजाइश नहीं है। पीछे के साहित्यों में मछली, कछुआ, सूअर, नरपशु आदि की अवतार रूप में कल्पना होती गयी और बहुत पीछे कृष्ण तथा राम को अवतार मानने की बात प्रचलित हुई।

ऊपर का विवेचन साहित्य में अवतारवाद के विकास पर हुआ। अब यह विचारना है कि अवतारवाद तर्क में क्या टिकता है! सद्गुरु ने इस शब्द में यही तो कहा है।

विश्व अनंत देश तथा काल-व्यापी है। विश्व के मुख्य दो घटक जड़ और चेतन हैं। उनमें उनके अपने गुण-धर्म अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की व्यवस्था अनादिकाल से अबाध गति से चल रही है। इसमें इनसे पृथक किसी ईश्वर की कल्पना करना वस्तुतथ्य को न समझने का परिणाम है। परन्तु यदि हम थोड़े समय के लिए मान भी लें कि एक सर्वसमर्थ सर्वव्यापी ईश्वर है, तो उसे अवतार लेकर एवं देह धारणकर संसार में कुछ करने के लिए आने की आवश्यकता नहीं है। जिसके निमेष-उन्मेष से अनंत विश्व-ब्रह्मांड के उत्पत्ति तथा प्रलय माने जायं, उसे किसी कीट सदृश प्राणी को मारने के लिए देह धरकर जीवनभर संसार में उलझना पड़े, यह एक हास्यास्पद धारणा है।

कहते हैं शंखासुर नाम का एक राक्षस था। वह ब्रह्मा के यहां जाकर वेदों को चुरा लाया और उन्हें समुद्र में छिपा दिया। अतएव विष्णु ने वेदों को पुनः प्राप्त करने के लिए मत्स्यावतार धारण किया और समुद्र में जाकर शंखासुर को मार गिराया तथा वेदों को वहां से ले आया। कबीर देव कहते हैं कि यह सब गलत है। ईश्वर तो दयालु बताया जाता है। वह किसी को मारने क्यों जायेगा? उसे किसी से द्रोह नहीं है। वह तो किसी को अपनी सत्प्रेरणा मात्र से बदल सकता है।

पण्डित जन बताते हैं कि हिरण्याक्ष ने इस पृथ्वी को ले जाकर टट्टी में छिपा दिया था। अतएव विष्णु सूअर बनकर अपने थूथन (मुंह) से पृथ्वी को टट्टी से निकाल कर ऊपर ले आये। हिरण्याक्ष सो रहा था। वह जगकर सूकरावतार भगवान से लड़ने लगा। बहुत दिनों तक युद्ध चला। अंत में सूअर भगवान ने हिरण्याक्ष को मार गिराया और पृथ्वी का उद्धार किया। सद्गुरु कहते हैं उस ईश्वर को सूअर बनकर न युद्ध करने की आवश्यकता हो सकती है और न पृथ्वी को मुख में उठाने की। पृथ्वी तो अपनी धारणा

---

१. गीता १०/३१।

एवं गुरुत्वा शक्ति से स्वयं धारित है। सूअर बनना, पृथ्वी उठाना, युद्ध करनादि काम साहेब का नहीं है। संसारी लोग झूठी-झूठी बातें उड़ाते हैं।

कहते हैं हिरण्यकश्यपु अपने पुत्र प्रहलाद को विष्णु की भक्ति करने से रोकता था और वह बलात विष्णु की भक्ति करता था। इसलिए हिरण्यकश्यपु ने अपने पुत्र प्रहलाद को काफी दण्ड दिया। अन्त में उसे लोहे के गरम खंभे में बंधवा दिया, तो ईश्वर नर तथा सिंह का मिलित रूप बनाकर तथा खंभा फाड़कर निकल आया और हिरण्यकश्यपु को मार डाला। कबीर साहेब कहते हैं कि इस कथा पर सबको बड़ा विश्वास है—"खंभ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।" परन्तु "हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।" वह भला सर्वसमर्थ सर्वत्र व्याप्त ईश्वर हो सकता है जो किसी की बुद्धि अपनी सत्प्रेरणा से न बदल सके और नर-पशु बनकर हत्या करना ही उसका चारा रह जाय! ईश्वर ने एक प्रहलाद को बचाने के लिए खंभा फाड़ डाला, परन्तु चंगेज खां, नादिरशाह, गजनवी, मिलावटखोरों, जमाखोरों, घूसखोरों, रक्तचूसकों, शोषकों, निर्बल-पीड़कों आदि को मारकर जनता की रक्षा करने के लिए उसने आज तक कोई खंभा नहीं फाड़ा। कबीर साहेब कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़ने वाला ईश्वर नहीं हो सकता।

"बावन रूप न बलि को जाँचे" ईश्वर वामन रूप बनाकर राजा बलि से भीख नहीं मांगेगा। भीख मांगना, छल करना मायावी मनुष्यों का काम है। ऊपर उदाहरण दे आये हैं कि ऋग्वेद के प्रथम मंडल के बाइसवें सूक्त में जो यह आया है कि विष्णु ने तीन प्रकार से पैर रखे। इसका क्या अर्थ हो सकता है यह एक रहस्य है, परन्तु इससे पौराणिकों को एक वामन-बलि की इस कहानी गढ़ने में सरलता हो गयी, भोले पंडितों ने यह भी नहीं सोचा कि इस कहानी से हम ईश्वर को मंगन तथा छली सिद्ध कर रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि लोग बिना विवेक के अवतारवादी धारणाओं में भटक रहे हैं। माया एवं कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

पुराण कहते हैं कि ईश्वर ने ब्राह्मण परशुराम बनकर क्षत्रियों की अथवा हैहयवंशी क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्याएं कीं। यह भी ईश्वर का एक मखौल और उसे हत्यारा सिद्ध करना है। यह वास्तव में क्षत्रियों की वरीयता की प्रतिक्रिया में गढ़ी गयी कल्पना है। ईश्वर परशुराम बनकर क्षत्रियों को क्यों मारेगा! मारकाट करना तो क्रूर एवं छली मनुष्यों का काम है। ऐसे छली या हत्या करने वालों को ईश्वर वही मानेगा जिसे सद्गुरु की भक्ति नहीं प्राप्त है, जिसने सद्गुरु से यथार्थ का भेद नहीं जाना है। ऐसे लोग ही जीवों के मन में मिथ्या मान्यता का आरोपण करते हैं।

अनंत विश्व-व्यापी जगत-स्रष्टा दशरथ का लड़का बनकर सीता से अपना विवाह करने नहीं आयेगा। उसके वियोग में वह पेड़-पौधों, नदी-पर्वतों से उसका पता नहीं पूछेगा। न वह वाली को छिपकर धोखे से मारेगा, न पत्थरों से पुल बनाकर लंका पर हमला करेगा और न उसको लेकर वह लाखों-करोड़ों का वध करेगा। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता उसकी बुद्धि की क्या प्रशंसा की जाय! क्या ईश्वर को ग्वालों के साथ

गाय चराना, नारियों के साथ रास करना या कंसादि को मारना पड़ सकता है? क्या यह सब काम ईश्वर के हो सकते हैं? क्या यही ईश्वर-लक्षण हैं?

अवतारवाद की भावना जब काफी बढ़ गयी थी, तब अवतारवादियों को बौद्धों को नीचा दिखाने के लिए एक मीठे जहर की युक्ति सूझी। यह युक्ति ईसा के करीब छठीं या सातवीं शताब्दी में सूझी।[1] अवतारवादियों ने कहा कि ईश्वर ने असुरों की बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए बुद्ध का अवतार लिया और उसने असुरों को बताया कि वेदविहित यज्ञ करने पर हिंसा होती है। अतएव यज्ञ मत करो। यह उपदेश सुनकर जितने असुर थे वे अहिंसक एवं यज्ञ-हीन हो गये। वे ही सब बौद्ध कहलाये। इसमें पंडितों की चालबाजी यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं। उनकी हम पूजा करेंगे, परन्तु बौद्ध असुर हैं। वे वेद-विरोधी हैं। उनका नरक होगा। भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार है—"कलियुग आ जाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र रूप में आपका (ईश्वर का) बुद्धावतार होगा।"[2] पुराण लेखक तो सदैव यही लिखते हैं कि अमुक काल में यह होगा, वह होगा; जिससे यह सिद्ध हो कि लेखक सर्वज्ञ एवं त्रयकालदर्शी है। उसने यह सब पहले लिख दिया है। परन्तु उक्त श्लोक का लेखक ऐसा सर्वज्ञ तथा त्रयकालदर्शी था कि इतना भी नहीं जानता था कि बुद्ध गोरखपुर के भी पश्चिमोत्तर लुंबनी में पैदा हुए थे; पूर्व-दक्षिण मगध में नहीं। लेखक बुद्ध को अजन का पुत्र बताता है जब कि वे सुद्धोदन के पुत्र थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि न बुद्ध ईश्वर के अवतार हैं, न उन्होंने दैत्यों की बुद्धि भ्रष्ट की थी और न बौद्ध दैत्य या असुर हैं। यह सब चालाक पंडितों का छलपूर्ण वाक्-जाल है। ऐसा छल केवल बुद्ध तथा बौद्धों के साथ ही नहीं किया गया है किन्तु आदि शंकराचार्य एवं कबीर साहेब के लिए भी किया गया है। शंकराचार्य की प्रतिष्ठा कम करने के लिए प्रसिद्ध वैष्णव माध्वाचार्य के शिष्य त्रिविक्रम (गृहस्थ) के पुत्र नारायण ने मणिमंजरी और मध्वविजय—इन दो ग्रन्थों-द्वारा शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[3] पद्मपुराण का लेखक शिव के मुख से शंकराचार्य को गिराने की चेष्टा करता है। वह शिव के मुख से कहलाता है—"माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धांत है और बुद्धमत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धांत का प्रचार किया था।"[4]

---

१. आर० सी० हाजरा: एनल्स भंडारकर इंस्टिट्यूट, भाग १८, पृष्ठ ३२१। बुल्के: रामकथा, अनुच्छेद १४४।

२. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ *(भागवत, स्कंध १, अध्याय ३, श्लोक २४)*

३. महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ २१५, संस्करण १९६४।

४. मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥ *(पद्मपुराण, उत्तरखंड २३६)*

कबीर साहेब की पैनी तर्कपूर्ण वाणियों से लोगों के अपने बनाये कल्पित जाल जब कटने लगे, तब कितने तथाकथित पंडितों ने कहना शुरू किया कि कबीर के शरीरान्त के बाद उनके शरीर में एक दानव घुस गया था। उसी ने कबीर की शक्ल में उपस्थित होकर खंडन-मंडन की वाणियां कहीं हैं। पण्डित कितना चालाक होता है! वह कबीर का आदर बनाये रखकर उनकी वाणियों को अविश्वसनीय बना देना चाहता है। बुद्ध के साथ भी यही किया गया और शंकराचार्य के साथ भी।

"ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। जिन्हें कारण-कार्य व्यवस्था तथा जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, जिन्हें विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है, वह इस संसार से अलग इसका बनाने वाला एक कर्ता की कल्पना करता है। वह सोचता है कि जैसे घड़ा का बनाने वाला एक कुम्हार है वैसे संसार का बनाने वाला एक ईश्वर है। यह मन की माया-कल्पना से ही उत्पन्न हुआ भ्रम है जिसमें सब भटक रहे हैं।

विश्व में मुख्य दो मूल तत्व हैं एक जड़, दूसरा चेतन, जिन्हें पुराकाल में सांख्य दर्शन ने क्रमशः प्रकृति और पुरुष कहा है। जड़ प्रकृति में अनेक तत्व हैं। वे सब मूलतः अनादि-अनंत हैं। उनमें अपने स्वभावसिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जो अनादि-अनंत हैं। इससे जगत-सृष्टि प्रकृति के अपने स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से सदा से स्वाभाविक चल रही है। इसमें अलग से बनाता कौन, क्या है?

धार्मिकों ने प्रकृति का प्रायः उदारतापूर्वक अध्ययन नहीं किया है। वे कहते हैं प्रकृति तो जड़ है। उसमें स्वयं क्रिया कैसे होगी! अतएव इससे अलग रहने वाला कोई ईश्वर प्रकृति में क्रिया पैदा करता है। उन अक्ल के धनी लोगों को समझना चाहिए कि जड़ प्रकृति के सारे तत्त्व एवं जड़-कण स्वाभाविक क्रियाशील हैं। जड़तत्त्वों में स्वभावसिद्ध एवं अंतर्निहित क्रिया ही तो उनकी सम्पत्ति है, जिससे सृष्टि निरंतर विद्यमान रहती है। पूर्वी या पश्चिमी हवा चलती है, तब इसका अर्थ यह नहीं है कि तथाकथित ईश्वर पूर्व या पश्चिम की तरफ जाकर उधर से हवा को ढकेलता है, किन्तु अपने दाब के नियमों से हवा स्वयं चलती है। पानी बरसने के प्रकृति में जितने नियम हैं उनकी योग्यता होने पर पानी स्वयं बरसता है। इसमें चाहे किसी का लाभ हो या हानि; और जब योग्यता नहीं रहती, तब नहीं बरसता इसमें भी चाहे किसी की हानि हो या लाभ। प्रकृति जड़ है। वह यह नहीं जानती कि वर्षण, अतिवर्षण या अवर्षण से किसी की हानि होती है या लाभ होता है। इस वर्ष १९८७ ई० का अतिवर्षण तथा अवर्षण प्रमाण हैं। जहां उत्तरी बिहार में गांव के गांव बह गये, वहां राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा तथा भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर अवर्षण से त्राहि-त्राहि मची है। क्या यह सब दयालु, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर कर रहा है! भक्त लोग ईश्वर की इतनी दुर्दशा क्यों कर रहे हैं? झरने तथा नदियां ईश्वर की प्रेरणा से बहते हैं, चांद, सूरज, तारे उसी के इशारे पर चमकते हैं, फूल वही खिलाता है, पानी वही बरसाता है, भूचाल, दावाग्नि, ज्वालामुखी सब ईश्वर की प्रेरणा के फल हैं— यह सारी कल्पना के कूड़ा-कबाड़ मनुष्य के अज्ञान, पक्षपात एवं अंधविश्वास के फल हैं। जड़ प्रकृति अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से स्वयं समर्थ है, जिससे सृष्टि-क्रिया निरंतर

चलती रहती है। जड़ प्रकृति से मूलतः सर्वथा भिन्न असंख्य अविनाशी चेतन जीव अपने कर्म-वश देह धरते-छोड़ते रहते हैं। उनमें से जो मानव शरीर में सत्संग-बोध प्राप्तकर पवित्राचरण करते हुए स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लेते हैं, वे इसी जीवन में कृतार्थ एवं मुक्त भी हो जाते हैं। इन सबके लिए अलग से किसी कल्पित ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। परन्तु सद्गुरु का वचन सच है "ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" वास्तविकता के ज्ञानहीन लोग कर्ता के भ्रम में पड़े रहते हैं। इनके मन की माया ने, इनके मन की कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

"वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा।" पंडितों की कल्पना है कि वह ईश्वर कलियुग के अन्त में कलिंगदेश के राजा या दुष्ट रजवाड़ों को मारने के लिए कल्कि नाम से अवतार लेगा और वह तलवार ले तथा घोड़े पर बैठकर दुष्टों पर हमला करेगा। यह सब लिखते समय न मोटर थी न वायुयान, न बन्दूक थी न तोप और न बम। तब केवल तलवार, धन्वाबाण अस्त्र-शस्त्र थे तथा घोड़े, हाथी तथा रथ की सवारी थी। इसलिए पुराण लेखक ने कल्कि भगवान की सवारी घोड़ा तथा शस्त्र तलवार घोषित किये हैं। यदि लेखक बेचारा भविष्यद्रष्टा होता तो वह लिखता कि कल्कि भगवान वायुयान पर बैठकर अणुबम, परमाणुबम आदि की दुष्टों पर वर्षा करेगा। और यदि इन्हें वह ज्यादा खतरनाक समझता तो मशीनगन तथा तोप का प्रयोग कराता। कबीर साहेब कहते हैं ईश्वर को कल्कि नहीं बनना पड़ेगा, और न कलिंगदेशीय व्यक्तियों को मारना पड़ेगा।

"ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा।" सद्गुरु कहते हैं कि अवतार माने गये जितने हैं उनके चरित में छल-बल की बातें ज्यादा हैं। छल करना, बलपूर्वक किसी पर आक्रमण करना यह सब संसारी मनुष्यों के काम हैं। यती, सती-पतिव्रता एवं सत्यवादियों को उनके पथ से हटाकर उन्हें पतित करना, यह सब काम विवेकवान के नहीं हैं। बलि को छलना, वाली को छिपकर मारना, युद्ध में धोखा देकर भीष्म, द्रोणाचार्य, मेघनाद आदि को मारना, वृन्दा का सतीत्व नष्ट करना, परशुराम-द्वारा क्षत्रियों का इक्कीस बार घोर नरसंहार करना आदि सब मायावी मनुष्यों के काम हैं। इन सब को ईश्वर या ईश्वरावतार कहना अत्यन्त भोलापन है। अन्त में सद्गुरु कहते हैं—

"दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा।" अर्थात दस या चौबीस अवतारों की कल्पना करना और उन्हें किसी सर्वसमर्थ ईश्वर की माया बतलाना और उन कल्पित अवतारों की पूजा करना—सब सत्यज्ञान से रहित लोगों के काम हैं। अवतारी (ईश्वर) तथा अवतार दोनों ही मनुष्यों के मन की कल्पनाएं हैं। क्योंकि उपजने-विनशने वाला एवं जन्मने-मरने वाला कभी जगत का कर्ता नहीं हो सकता।

उपर्युक्त चौबीसों में से श्रीराम, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध आदि कुछ महापुरुष तो ऐतिहासिक हैं। शेष काल्पनिक हैं। यों अवतार तो उतरने एवं जन्म लेने को कहते हैं, सभी कर्मी जीवों के अवतार होते हैं। राम-कृष्णादि भी अपने पूर्वजन्मों के कर्म-वश जन्म लिये, सुख-दुख भोगे एवं शुभाशुभ कर्मों में अपनी जीवनलीला व्यतीतकर शरीर त्याग कर गये। वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड का इक्यावनवां सर्ग देखने से श्रीराम का कर्म-फल-

भोग विदित होता है। श्रीकृष्ण भी 'जरा' नामक व्याध के बाण से विंधकर शरीर त्याग करते हैं। *(श्रीमद्‌भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३०)*

अवतारवाद मनुष्य के मन में हीनभावना उत्पन्न करता है। यहां तक देश और धर्म पर संकट आने पर अवतारवादी उसके निवारण के लिए स्वयं यत्न नहीं करता। वह सोचता है हम तुच्छ जीवों में क्या बल है जो कुछ कर सकें, जब अधिक संकट या पाप बढ़ जायेगा, तब ईश्वर अवतार लेकर स्वयं सब काम कर देगा। प्रकट है जब विधर्मियों-द्वारा सोमनाथ के मन्दिर को लुट जाने की संभावना हुई, तब उसके पुजारियों ने अन्य कोई यत्न नहीं किया और भगवान के भरोसे वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह गये। उसका परिणाम हुआ कि करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी, मन्दिर ध्वस्त किया गया और मूर्तियां तोड़ी गयीं।

मनुष्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक यह न समझ ले कि मनुष्य से बड़ा कोई नहीं। किसी ईश्वर, दैव अथवा अवतार के भरोसे सोते रहने का व्यसन बहुत बड़ा अनर्थ उत्पन्न करता है। ईश्वर, दैव और अवतार की कल्पना मनुष्य के मस्तिष्क के उस अन्धकारमय प्रदेश से होती है, जिसमें वह अपनी दुर्बलताओं को संजोकर अवकाश की सांस लेना चाहता है।

वास्तव में यह आत्मा ही जब महात्मा हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। काम, क्रोध एवं राग-द्वेष पर सर्वथा विजयी पुरुष ही 'ईश्वर, परमात्मा, दैव या ब्रह्म है।' श्रीमद्‌भागवत भी कहता है—

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ (११/१९/४४)

"जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है, जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है। समर्थ, स्वतन्त्र और ईश्वर वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयों में आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयों में आसक्त है, वही सर्वथा असमर्थ है।"

व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा

शब्द–९

सन्तो बोले ते जग मारे॥ १ ॥

अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे॥ २ ॥
पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे॥ ३ ॥
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे॥ ४ ॥
दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी॥ ५ ॥
श्वान बापुरा धरिन ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥ ६ ॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अनबोले ते = चुप रहने से। काछे = हटाये। दुन्दुर = मेढक, तामसी, कटु-भाषी। विषहर = विषधर, सर्प, चमचे। खवासी = सेवकाई। श्वान = आचरणहीन। बिल्ली = लोलुप व्यवस्थापक। कार = कर्तव्य। दुकार = अकर्तव्य। कार = कर्तव्य। बैल = विवेकहीन। पटवारी = गुरु। भैंसे = तामसी एवं मूढ़।

उलटवांसी रूपक—हे सन्तो! सत्य बात कहने पर जगत के लोग मारने दौड़ते हैं। परन्तु चुप रहने से कैसे कल्याण होगा! शब्दों पर तो कोई विचार नहीं करता। पुत्र ने पहले जन्म लिया, पीछे पिता का जन्म हुआ। पिता और पुत्र की एक ही नारी है। इस आश्चर्य को कोई समझे। मेढक टीकाधारी राजा बन गया। विषधर सर्प उसकी सेवा करने लगा। बेचारे कुत्ते ने अपनी पूंछ से पृथ्वी को ढक दिया। बिल्ली घर में दासी बनकर सेवकाई करने लगी। कर्तव्य-अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताकर बैल पटवारगीरी करने लगे। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! भैंसे विवाद पर न्याय देने लगे।

व्यावहारिक भावार्थ—हे सन्तो! सत्य कहने से जगत के लोग मारने दौड़ते हैं।।१।। परन्तु चुप रहने से कैसे बनेगा! शब्दों पर कोई विचार नहीं करता।।२।। पहले मनुष्य पुत्र के रूप में जन्म लेता है, वही पीछे कभी पिता बनता है। यदि उसने पुत्रत्व का पार्ट अच्छा अदा किया है तो आगे चलकर वह अच्छा पिता बनेगा।।३।। पिता और पुत्र में ही संसार के सारे लोग होते हैं और ये दोनों एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं; अतएव यदि नारी का सुधार हो जाय, वह सुसंस्कारी हो जाय, तो मानो सारे संसार का सुधार हो जाय। अथवा पिता और पुत्र दोनों एक ही नारी जाति से विवाह करते हैं, अतएव नारी एवं गृहिणी मात्र का सुधार हो जाय तो जगत का सुधार हो जाय। परंतु "बाप पूत की एकै नारी" के आश्चर्यजनक कथन के शब्द-शैवाल को हटाकर कोई उसके मर्म को समझे।।४।। मेढक के समान तामसी और दुर्भाषी लोग तिलक कराकर राजा बन बैठे हैं, और सर्प के समान विषधर स्वभाव के लोग उनकी सेवकाई करने वाले तथा चमचे बन गये हैं, जो दोनों जनता के शोषक हैं।।५।। कुत्ते बेचारे अपनी पूंछ से अपने गुप्तांग तक को नहीं ढक पाते, फिर यदि वे पूरी पृथ्वी को ढकने का उपक्रम करें तो यह हास्यास्पद ही है। वैसे जो लोग अपने ही आचरण को खोये हुए हैं यदि वे जनता के चरित्र-रक्षक बनने का ढकोसला करते हैं तो वे उनके तथा अपने साथ छल करते हैं। बिल्ली घर में दासी बन जाय तो वह घर के सभी खाद्य-पदार्थों पर दिन भर मुंह मारती फिरेगी। सद्‌गुरु कहते हैं कि बिल्ली की तरह लोलुपवृत्ति वाले व्यवस्थापक बन गये हैं। अतएव जनता के कल्याण के लिए राज-कोष से मिले हुए धन का बहुत हिस्सा बीच में ही गटक जाते हैं।।६।। पटवारी जमीन की जांच-पड़ताल कर उसका कागज में लेखा-जोखा रखता है, इसी प्रकार धर्माचार्य एवं गुरु लोग जनता के धर्म की जांच-पड़ताल कर उन्हें धर्म की व्यवस्था देने वाले होते हैं। ये आज के अधिकतम धर्माचार्य और गुरु-रूपी पटवारी बैल के समान विवेकहीन हैं और ये कर्तव्य तथा अकर्तव्य—दोनों को कर्तव्य बताकर गुरुवाई करते हैं तथा लोगों को गलत व्यवस्था देते हैं।।७।। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! भैंसे के समान तामसी एवं मूढ़ प्रवृत्ति के लोग धर्म के क्षेत्र में न्यायाधीश बनकर निर्णय देने का हास्यास्पद कार्य करते हैं।।८।।

भोग विदित होता है। श्रीकृष्ण भी 'जरा' नामक व्याध के बाण से विंधकर शरीर त्याग करते हैं। *(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३०)*

अवतारवाद मनुष्य के मन में हीनभावना उत्पन्न करता है। यहां तक देश और धर्म पर संकट आने पर अवतारवादी उसके निवारण के लिए स्वयं यत्न नहीं करता। वह सोचता है हम तुच्छ जीवों में क्या बल है जो कुछ कर सकें, जब अधिक संकट या पाप बढ़ जायेगा, तब ईश्वर अवतार लेकर स्वयं सब काम कर देगा। प्रकट है जब विधर्मियों-द्वारा सोमनाथ के मन्दिर को लुट जाने की संभावना हुई, तब उसके पुजारियों ने अन्य कोई यत्न नहीं किया और भगवान के भरोसे वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह गये। उसका परिणाम हुआ कि करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी, मन्दिर ध्वस्त किया गया और मूर्तियां तोड़ी गयीं।

मनुष्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक यह न समझ ले कि मनुष्य से बड़ा कोई नहीं। किसी ईश्वर, दैव अथवा अवतार के भरोसे सोते रहने का व्यसन बहुत बड़ा अनर्थ उत्पन्न करता है। ईश्वर, दैव और अवतार की कल्पना मनुष्य के मस्तिष्क के उस अन्धकारमय प्रदेश से होती है, जिसमें वह अपनी दुर्बलताओं को संजोकर अवकाश की सांस लेना चाहता है।

वास्तव में यह आत्मा ही जब महात्मा हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। काम, क्रोध एवं राग-द्वेष पर सर्वथा विजयी पुरुष ही 'ईश्वर, परमात्मा, दैव या ब्रह्म है।' श्रीमद्भागवत भी कहता है—

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ (११/१९/४४)

"जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है, जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है। समर्थ, स्वतन्त्र और ईश्वर वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयों में आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयों में आसक्त है, वही सर्वथा असमर्थ है।"

व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा

शब्द–९

सन्तो बोले ते जग मारे॥ १ ॥

अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे॥ २ ॥
पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे॥ ३ ॥
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे॥ ४ ॥
दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी॥ ५ ॥
श्वान बापुरा धरिन ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥ ६ ॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अनबोले ते = चुप रहने से। काढ़े = हटाये। दुन्दुर = मेढक, तामसी, कटु-भाषी। बिषहर = विषधर, सर्प, चमचे। खवासी = सेवकाई। श्वान = आचरणहीन। बिल्ली = लोलुप व्यवस्थापक। कार = कर्तव्य। दुकार = अकर्तव्य। कार = कर्तव्य। बैल = विवेकहीन। पटवारी = गुरु। भैंसे = तामसी एवं मूढ़।

उलटवांसी रूपक—हे सन्तो! सत्य बात कहने पर जगत के लोग मारने दौड़ते हैं। परन्तु चुप रहने से कैसे कल्याण होगा! शब्दों पर तो कोई विचार नहीं करता। पुत्र ने पहले जन्म लिया, पीछे पिता का जन्म हुआ। पिता और पुत्र की एक ही नारी है। इस आश्चर्य को कोई समझे। मेढक टीकाधारी राजा बन गया। विषधर सर्प उसकी सेवा करने लगा। बेचारे कुत्ते ने अपनी पूंछ से पृथ्वी को ढक दिया। बिल्ली घर में दासी बनकर सेवकाई करने लगी। कर्तव्य-अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताकर बैल पटवारगीरी करने लगे। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! भैंसे विवाद पर न्याय देने लगे।

व्यावहारिक भावार्थ—हे सन्तो! सत्य कहने से जगत के लोग मारने दौड़ते हैं।।१।। परन्तु चुप रहने से कैसे बनेगा! शब्दों पर कोई विचार नहीं करता।।२।। पहले मनुष्य पुत्र के रूप में जन्म लेता है, वही पीछे कभी पिता बनता है। यदि उसने पुत्रत्व का पार्ट अच्छा अदा किया है तो आगे चलकर वह अच्छा पिता बनेगा।।३।। पिता और पुत्र में ही संसार के सारे लोग होते हैं और ये दोनों एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं; अतएव यदि नारी का सुधार हो जाय, वह सुसंस्कारी हो जाय, तो मानो सारे संसार का सुधार हो जाय। अथवा पिता और पुत्र दोनों एक ही नारी जाति से विवाह करते हैं, अतएव नारी एवं गृहिणी मात्र का सुधार हो जाय तो जगत का सुधार हो जाय। परंतु "बाप पूत की एकै नारी" के आश्चर्यजनक कथन के शब्द-शैवाल को हटाकर कोई उसके मर्म को समझे।।४।। मेढक के समान तामसी और दुर्भाषी लोग तिलक कराकर राजा बन बैठे हैं, और सर्प के समान विषधर स्वभाव के लोग उनकी सेवकाई करने वाले तथा चमचे बन गये हैं, जो दोनों जनता के शोषक हैं।।५।। कुत्ते बेचारे अपनी पूंछ से अपने गुप्तांग तक को नहीं ढक पाते, फिर यदि वे पूरी पृथ्वी को ढकने का उपक्रम करें तो यह हास्यास्पद ही है। वैसे जो लोग अपने ही आचरण को खोये हुए हैं यदि वे जनता के चरित्र-रक्षक बनने का ढकोसला करते हैं तो वे उनके तथा अपने साथ छल करते हैं। बिल्ली घर में दासी बन जाय तो वह घर के सभी खाद्य-पदार्थों पर दिन भर मुंह मारती फिरेगी। सद्गुरु कहते हैं कि बिल्ली की तरह लोलुपवृत्ति वाले व्यवस्थापक बन गये हैं। अतएव जनता के कल्याण के लिए राज-कोष से मिले हुए धन का बहुत हिस्सा बीच में ही गटक जाते हैं।।६।। पटवारी जमीन की जांच-पड़ताल कर उसका कागज में लेखा-जोखा रखता है, इसी प्रकार धर्माचार्य एवं गुरु लोग जनता के धर्म की जांच-पड़ताल कर उन्हें धर्म की व्यवस्था देने वाले होते हैं। ये आज के अधिकतम धर्माचार्य और गुरु-रूपी पटवारी बैल के समान विवेकहीन हैं और ये कर्तव्य तथा अकर्तव्य—दोनों को कर्तव्य बताकर गुरुवाई करते हैं तथा लोगों को गलत व्यवस्था देते हैं।।७।। सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! भैंसे के समान तामसी एवं मूढ़ प्रवृत्ति के लोग धर्म के क्षेत्र में न्यायाधीश बनकर निर्णय देने का हास्यास्पद कार्य करते हैं।।८।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने जीवनकाल के समाज की समसामयिक स्थिति का यहां सुन्दर चित्रण किया है, जिसमें कुछ हिस्सा तो आज भी ज्यों-का-त्यों लागू होता है और कुछ हिस्सा थोड़ा रूप बदलकर लागू होता है।

कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। संसार के कवियों में शायद उनकी जितनी उलटवांसी किसी ने न कही हो। उलटवांसी कहकर वे कथन में एक मनोरमता ले आते हैं और कथन के शुरू ही में अपने श्रोताओं एवं पाठकों को चौंकाकर उन्हें उत्साहित कर देते हैं। इसी शब्द में देखिए "सन्तो बोले ते जग मारे। अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे।" ये पंक्तियां कितनी रोचक, चौंकाने वाली तथा कटुसत्य कथन करने की संभावना प्रकट करने वाली हैं। फिर तो इसके आगे उनकी उलटवांसियां चल पड़ती हैं जो शब्द के अंत तक जाती हैं, जो अर्थ समझने में सीधी, चुभने वाली तथा मन को मथने वाली हैं।

उनकी पहली बात है "पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे।" अर्थात पुत्र ने पहले जन्म लिया उसके बाद पिता ने जन्म लिया, यह बात कोई कहेगा तो सुनने वाला मारने दौड़ेगा ही। परन्तु जब वह इन शब्दों का मर्म समझ जायेगा, तब उनकी वाणी पर रीझ जायेगा। किसी को जब बच्चा पैदा होता है तब लोग यही कहते हैं कि अमुक के घर में अमुक को पुत्र हुआ है। आज तक यह किसी को कहते नहीं सुना गया कि अमुक के घर में पिता पैदा हुआ है। व्यक्ति पहले पुत्र के रूप में संसार में जन्म लेता है। वही आगे चलकर वर्षों में किसी दिन पिता बनता है। अतएव अच्छा पिता बनने के लिए अच्छा पुत्र बनना चाहिए। सभी घरों के पिता ही घर के व्यवस्थापक होते हैं। यदि उन्होंने पहले अपने पुत्रत्व रूप को निखारा है तो उनका पितृत्व रूप निश्चित ही निखरेगा। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि अच्छा पिता बनने के लिए पहले अच्छा पुत्र बने।

कबीर साहेब के इस अनुभव से मिलता-जुलता हुआ अनुभव है "बच्चा मनुष्य का पिता है।"[१] बच्चों को जब तक अच्छे संस्कार नहीं मिलते, वे आगे चलकर अच्छे पिता नहीं बन सकते। स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय के उन्मादी बच्चे यदि आगे चलकर अध्यापक बनेंगे, तो उनमें अधिकतम उन्मादी, कर्तव्य-च्युत एवं भ्रष्ट ही होंगे। बचपन में पड़े हुए संस्कार जीवन भर के लिए अमिट होते हैं। जिन्होंने अपने बच्चों को अच्छे संस्कार नहीं दिये, उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी की नींव को बरबाद कर दिया। कबीर देव कहते हैं कि बच्चों में अच्छे संस्कार भरो जिससे वे आगे चलकर अच्छे पिता बनें।

अब बात है माता की एवं नारी जाति की। वे कहते हैं "बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे।" अर्थात बाप तथा पूत का जन्म एक ही नारी-जाति से होता है। अतएव यदि नारी-जाति शुद्ध-संस्कार ग्रहण कर ले, तो पूरी पीढ़ी ही सुधर जाय। पिता और पुत्र में संसार की सारी पीढ़ियां हैं। रमेश्वर पुत्र जगेश्वर। हर जगह केवल वल्दियत चलती है। संसार के सभी मनुष्य पिता-पुत्र में आ जाते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बाप तथा पूत एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं। नारी सांचा है। सांचा ठीक है तो ईंट

---

१. The Child is father of the Man.

ठीक होगी और यदि सांचा टेढ़ा होगा तो ईंट टेढ़ी होगी। हर मनुष्य अपने आरंभिक रूप में माता के पेट में नौ महीने निवास करता है। गर्भकाल में माता का खाना गर्भस्थ शिशु का खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का सांस लेना उसका सांस लेना है और माता का संस्कार ग्रहण करना उसका संस्कार ग्रहण करना है।[१] इसीलिए कहा जाता है कि गर्भवती नारी को बहुत सावधानी से रहना चाहिए। उसके खाना, पीना, पढ़ना, जीवन-व्यवहार तथा उसकी सारी क्रियाएं बड़ी पवित्र होनी चाहिए।

बच्चा पैदा होने के बाद भी माता की ही गोद में पलता है। जब वह खेलता तथा पढ़ता है तब भी माता के ही संरक्षण में रहता है। माता के दिए हुए संस्कार ही बच्चों में जीवनभर के लिए घर बना लेते हैं। माता का कितना महान उत्तरदायित्व है और उसका संतान के ऊपर या कहना चाहिए पूरे मानव समाज के ऊपर कितना बड़ा उपकार है, यह बात सोचते ही बनती है। इसलिए पिता से भी माता का स्थान ऊंचा है यह नीतिमान लोग कहते हैं। नीतिमान कहते हैं कि यदि माता-पिता साथ-साथ बैठे हों तो पहले माता का नमस्कार करो, बाद में पिता का। सीता तब राम, माता तब पिता, यहां तक कि प्रकृति तब पुरुष!

लोग बांस की फट्टी का ढांचा बनाकर उसमें पैरा भर देते हैं। ऊपर से मिट्टी। मिट्टी के ऊपर रंग-रोगन। पश्चात कपड़ा पहनाकर एक नारी का रूप खड़ा कर देते हैं, तब उसे कहते हैं कि यह जगदंबा है। मनुष्य ने ही उसे बनाया है। वह केवल जड़-ठाठ है। वह एक चुहिया भी नहीं पैदा कर सकती। वह जगदंबा कैसे हो गयी? जगदंबा—जगत की माता, ये नारियां हैं, जो जीती-जागती हैं। इन्हीं से जगत के लोग पैदा होते हैं। इन्हीं से सबको संस्कार मिलते हैं। अच्छे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी अच्छी होती है, बुरे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी बुरी होती है। अतएव इन माताओं की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि ये अपनी संतानों को अच्छी शिक्षा दें। उन्हें अपने पवित्र आचरणों से अच्छे संस्कार दें। इसके लिए नारियों की भी अच्छी शिक्षा होनी चाहिए।

कबीर साहेब समसामयिक राजाओं का भी चित्र खींचते हैं। "दुंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।" दुंदुर कहते हैं मेढक को। मेढक राजा बने और विषधर सर्प उसकी सेवकाई करे। यह उलटवांसी है। मेढक तामसी और मूढ़ होता है। उस समय कितने ही राजे-महाराजे लुटेरे, डाकू तथा तामसी होते थे और कितने मूढ़ होते थे जो पिता के मर जाने पर उनकी गद्दी पर बैठाये जाते थे और उनकी सेवकाई करने वाले चमचे आचरण से विषधर होते थे। वे ही राज-काज में रांग-राइट करते रहते थे। कहना न होगा कि आज भी इस चित्र को राज-काज में देखा जा सकता है। आज मंत्री ही राजा

---

१. वेद में एक सुन्दर वचन आता है—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। (अथर्ववेद ११/५/३) अर्थात गुरु ने ब्रह्मचारी-शिष्य को उपनयन देने के लिए, ज्ञानदृष्टि प्रदान करने के लिए उसे अपने गर्भ में ले लिया। मां शिशु को अपने गर्भ में लेकर अपने अंगों से पालती है, वैसे गुरु शिष्य को अपनी शरण में लेकर उसका आध्यात्मिक पालन करता है।

हैं और कितने गलत आचरण वाले आजकल मंत्री बन जाते हैं। कितने तो शिक्षित भी नहीं होते हैं। ऐसे लोगों के लिए विगत पंद्रहवीं शताब्दी में कहा हुआ कबीर साहेब का यह वचन "दुंदुर राजा टीका बैठे" आज भी वैसे ही सटीक है जैसे उस समय था। "विषहर करै खवासी" तो आज के लिए पूर्ववत पूर्णतया चरितार्थ होता है। पूर्व के राजाओं के चाटुकार विषधर चमचे आज के मंत्रियों की शरण में चले गये हैं।

"श्वान बापुरा धरिन ढाकनो" कुत्ते बेचारे ने ढक्कन रख दिया। कुत्ता अपने गुप्तांग को अपनी पूंछ से नहीं ढक पाता है, परन्तु वह अपनी पूंछ से सबकी इज्जत ढाकने का ढोंग करने लगा। यह भी व्यंग्य भरी उलटवांसी है। जो कुत्ता अपनी इज्जत नहीं ढक पाता है वह यदि सारे संसार की इज्जत बचाने वाला बने अर्थात संसार का चरित्र-रक्षक बने तो हास्यास्पद ही है। इसी प्रकार जो राजनेता तथा शासक अपने चरित्र को खोये हुए हैं, वे यदि जनता के चरित्र-रक्षक, चरित्र-निर्देशक एवं आचरण-संहिता के निर्माता हैं तो मानव की चरित्र-नावका संसार-सागर में डूबना ही है। स्वयं चरित्रहीन व्यक्ति दूसरे की चरित्र-रक्षा नहीं कर सकता। जिसने स्वयं को खो दिया है, वह दूसरे को क्या तृप्ति दे सकेगा!

"बिल्ली घर में दासी" यह भी व्यंग्य है। बिल्ली हर खाद्य वस्तु पर मुख मारना चाहती है। बिल्ली की लोलुपता जगत-प्रसिद्ध है और वह यदि घर की दासी एवं व्यवस्थापिका बन जाय तो क्या पूछना! उसको बहार हो जायेगी। कबीर साहेब के जमाने में ऐसा रहा होगा, परन्तु आज तो नजरोनजर देखते हैं कि सरकार के प्रायः हर विभाग रूपी घर में बिल्ली दासी बनी हुई है। लोलुप लोग व्यवस्थापक बने हुए हैं। स्कूली बच्चों के जलपान के लिए आयी हुई सामग्री भी विभागीय लोग चुरा लेते हैं। गरीबों तथा पिछड़ों के लिए सरकार-द्वारा दी गयी सहायता-राशि विभागीय अफसरों एवं कर्मचारियों-द्वारा अधिक-से-अधिक हड़प लेने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार के सारे विभागों में प्रायः "बिल्ली घर में दासी" उक्ति चरितार्थ हो रही है। हर विभाग के व्यवस्थापकगण लोलुप बिल्ली बने दूसरे के हक और जनता की खुराक हड़प रहे हैं। एक बार सूखा के समय सरकार ने गरीब माताओं के बच्चों के लिए बांटने के लिए सूखे दूध के पैकेट भेजवाये। एक कर्मचारी उसमें से निकाल-निकालकर कई दिनों तक खीर बनाकर खाता रहा। कुछ दिनों बाद जब उसका एकलौता लड़का मर गया, तब उसे बड़ी पीड़ा हुई। अपनी करनी का फल तो सब को मिलता है, परन्तु जरा देर लगती है। इसलिए बदहवास आदमी नहीं समझ पाता कि अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है। "बिल्ली घर में दासी" आज के सरकारी विभागों के व्यवस्थापकों पर कैसी करारी चोट है, समझते ही बनता है।

इस शब्द में आठ पंक्तियां हैं। उनमें प्रथम की दो पंक्तियों में कबीर साहेब अपने संभावित कथन के लिए कुतूहल उत्पन्न करते हैं। उसके बाद की दो पंक्तियों में गृहस्थी जीवन के सुधार के लिए बालकों और नारियों के महत्त्व एवं उनके सुसंस्कारित होने के मूल्य का संकेत करते हैं। उसकी अगली दो पंक्तियों में राजा, उनके चमचे, चरित्रनायक तथा व्यवस्थापकों पर करारा व्यंग्य कर उनको सुधरने के लिए प्रेरित किया गया है।

इसके आगे अब सातवीं तथा आठवीं पंक्ति धार्मिक गुरुओं एवं न्याय देने वालों पर व्यंग्यात्मक संकेत हैं।

"कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी।" बैल विवेकहीन के लिए व्यंजना है। पटवारी धर्माचार्यों एवं गुरुओं के लिए है, जो धार्मिक जांच-पड़ताल करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं आज-कल कितने धर्माचार्य एवं गुरु हैं जो स्वयं विवेकहीन हैं और दूसरों के धर्म के अनुशास्ता बने हैं। वे अपने धार्मिक समाज तथा शिष्यों को कर्तव्य तथा अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताते हैं। कितने ऐसे गुरु एवं धर्माचार्य हैं जिनके यहां खाद्य-अखाद्य सब खाद्य है, भोग-योग सब बराबर है। उनके लिए न कुछ विधि है और न निषेध। बहुत बड़े समाज को अपनी ओर प्रभावित करने के लिए क्या-क्या हथकंडे नहीं अपनाये जाते हैं। जिनके उपदेश में करने योग्य कर्म तथा न करने योग्य कर्म सभी करने योग्य हैं, उनके उपदेश से जनता की क्या दशा होगी, यह सहज समझा जा सकता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी।" भैंसे तामसी एवं मूढ़ जीव होते हैं। रास्ते में बैल जा रहे हों, उन्हें एक बार हांक दो, तो वे फरफराकर भागते हुए आगे बढ़ जायेंगे। परन्तु रास्ते में भैंसे चल रहे हों, उन्हें डांटो और डंडे भी मारो तो भी वे टस-से-मस नहीं होंगे। गाय के बछड़े पैदा होते ही उछलने तथा कूदने लगते हैं और भैंस के पड़वे खड़े-खड़े ऊंघते रहते हैं। अतएव भैंसे तामसी, भद्दे एवं मूढ़ होते हैं। कबीर साहेब अपने समय में कह रहे हैं कि आज के न्याय देने वाले अधिकतम धार्मिक नेता भैंसे के स्वभाव के हो गये हैं। वे तामसी हैं। उनके विचार कुंठित हैं। धर्म के प्रति दिये हुए उनके न्याय अविवेकपूर्ण तथा स्वार्थलिप्त हैं। कहना न होगा कि यह बात आज भी उसी प्रकार लागू है। आज शिक्षा बढ़ गयी है, किन्तु बुद्धि तथा आचरण में कोई सुधार नहीं हुआ है। आज अनेक धार्मिक गुरु शिक्षित भैंसे हो गये हैं। यदि उनका ज्ञान वस्तुपरक नहीं है और आचरण मानवतापूर्ण नहीं है, तो पढ़ने-लिखने से क्या हुआ! बल्कि शिक्षित व्यक्ति यदि उलटी खोपड़ी का है तो वह अपनी सारी शिक्षा एवं विज्ञान का दुरुपयोग कर ज्ञान तथा आचरण के क्षेत्र में गलत विचार फैलायेगा, गलत न्याय देगा। कितने गुरु नामधारी धर्म के नाम पर कैसा अपना उल्लू सीधा करते हैं, वे किस तरह धर्म के नाम पर राजनीति के दावं खेलते हैं, वे धर्म के नाम पर लोगों को कैसा बेवकूफ बनाते हैं, यह सब आज भी कोई खूब देख सकता है। कबीर साहेब की व्यंग्यात्मक भाषा में यह सब भैंसे न्याव निवेर रहे हैं। तामसी बुद्धि वाले अपने जजमेंट दे रहे हैं।

इस प्रकार पूरा शब्द व्यंग्य तथा उलटवांसी से भरा है और मानव समाज के हर पहलू के लिए प्रभावी प्रेरणा है।

आध्यात्मिक भावार्थ—हे संतो! सत्य कहने से लोग मारने दौड़ते हैं, लेकिन चुप रहने से कैसे काम बनेगा! कोई शब्दों पर विचार नहीं करता। पहले पुत्र का जन्म हुआ तब पीछे बाप ने जन्म लिया। अर्थात पहले मनुष्य जन्म लेता है तब पीछे वह ईश्वर की कल्पना करता है। मनुष्य ही तो ईश्वर का जन्मदाता है। इसीलिए जितने मनुष्य, उतने प्रकार ईश्वर की कल्पना है और बाप तथा पूत दोनों के लिए एक ही माया रूपी नारी बन्धन बनती है। इस आश्चर्य-जनक स्थिति का कोई विरला ही निवारण करता है।

अर्थात कोई विरला ही माया का त्याग कर जीव का कल्याण करता है। अविवेक ही दुंदुर राजा है, जो मनुष्य के हृदय रूपी राजसिंहासन पर आसीन है, उसकी सेवा में काम, क्रोध, लोभादि विषधर सर्प हैं। दंभ कुत्ता है जो अपनी चतुरता की पूंछ से अपनी बुराइयों को ढाकने के प्रयत्न में रहता है, परन्तु वह कभी नहीं ढकती। बुराइयां तो प्रकट होती ही हैं। विषयासक्ति एवं लोलुपता रूपी बिल्ली हृदय रूपी घर में दासी बनकर बैठी है जो सब समय भोगों का स्मरण कराती तथा भोगों पर झपट्टा मारती रहती है। अज्ञान रूपी बैल कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ को कर्तव्य बताकर पटवारगीरी कर रहा है। अर्थात हृदय में विधि-निषेध रहित अज्ञान एवं भ्रष्टता का साम्राज्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! मनुष्यों के हृदय में तामसी बुद्धि रूपी भैंसे न्याय दे रहे हैं। अर्थात मनुष्य की निर्णय देने वाली बुद्धि तामसी हो गयी है। इसलिए जीवन के सारे ज्ञान एवं कर्तव्य उलझे हुए तथा मानव के लिए दुखदायी हो गये हैं। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि उक्त बातें लोगों से कहीं जायं तो वे नाखुश होते हैं, परन्तु बिना कहे लोगों का कल्याण नहीं होगा, अंतएव कहना है। 'सत्य कहों खुश हो चाहे रूठे।'[1]

हिन्दू, मुसलमान तथा मानव मात्र का एक ही रास्ता है अहिंसा एवं संयम

शब्द–१०

सन्तो राह दुनों हम दीठा॥ १ ॥
हिन्दू तुरुक हटा नहिं माने, स्वाद सबन को मीठा॥ २ ॥
हिन्दू बरत एकादशि साधे, दूध सिंघारा सेती॥ ३ ॥
अन्न को त्यागे मन को न हटके, पारन करे सगौती॥ ४ ॥
तुरुक रोजा-निमाज गुजारे, बिसमिल बाँग पुकारे॥ ५ ॥
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै, जो साँझै मुरगी मारे॥ ६ ॥
हिन्दु की दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट से त्यागी॥ ७ ॥
ई हलाल वै झटका मारें, आग दुनों घर लागी॥ ८ ॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु सोई लखाई॥ ९ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम न कहूँ खुदाई॥१०॥

शब्दार्थ—दीठा = देखा। हटा = रोकना, मना करना। सेती = सहित, द्वारा। हटके = रोके। पारन = पारण, उपवास समाप्त होने पर किया जाने वाला भोजन। सगौती = मांस, गोश्त। तुरुक = तुर्क, तुर्क देश का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान। गुजारे = अदा करते हैं, पेश करते हैं। बिसमिल = बिस्मिल्लाह—ब-इस्म-अल्लाह, ब = सहित, इस्म = नाम, अल्लाह = ईश्वर—ईश्वर के नाम के सहित, मुसलमान किसी काम के शुरू करने पर

---

१. निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर।

बिस्मिल्लाह कहते हैं। इसका अर्थ होता है—शुरू करते हैं ईश्वर के नाम के सहित। बांग =आवाज, अजान। बिहिस्त=बिहिश्त, स्वर्ग। मेहर=मेह्र, दया। हलाल=विहित, जायज, पशु के गले को रेत कर उसे मारना, ऐसे मृत पशु का मांस मुसलमान जायज मानते हैं। झटका=एक ही बार में पशु का गला काट देना, ऐसे मृत पशु का मांस हिन्दू ग्रहण करना उचित समझते हैं।

भावार्थ—हे संतो! मैंने दोनों के रास्ते देख लिये हैं॥१॥ हिन्दू और मुसलमान—दोनों मना करने पर नहीं मानते। दोनों को जीभ का स्वाद मीठा लगता है॥२॥ हिन्दू लोग दूध और सिंघाड़ा आदि का हलुवा तथा बहुत-से फल-कंद आदि खाकर एकादशीव्रत रहते हैं॥३॥ वे उस दिन अन्न तो त्याग देते हैं, परन्तु अपने मन को गलत मार्ग से नहीं रोकते, और दूसरे दिन पारण में मांस तक खाते हैं॥४॥ मुसलमान लोग रमजान के महीने में दिन में खाना छोड़कर रात में खाते हैं। इसे वे रोजा रहना कहते हैं। वे पांच वक्त नमाज पढ़ते हैं। अल्लाह का नाम लेकर मसजिद में बांग पुकारते हैं॥५॥ परन्तु इनको स्वर्ग कैसे मिलेगा जब ये रोजा के दिनों में शाम को मुरगी की हत्या कर उसे खा जाते हैं॥६॥ हिन्दू लोग दया की बड़ी महिमा गाते हैं और मुसलमान लोग मेहर की बड़ी बड़ाई करते हैं। परन्तु इन दोनों ने अपने दिलों से दया और मेहरबानी का त्याग कर दिया है॥७॥ मुसलमान लोग पशु-पक्षियों के गला रेतकर और हिन्दू लोग एक झटके में मारकर उनकी हत्या कर देते हैं। अतएव दोनों के हृदयों तथा मतों में निर्दयता एवं बेरहमी की आग लगी है॥८॥ यदि निर्दयता, बेरहमी एवं हिंसा-हत्या छोड़ दें तो हिन्दू और मुसलमान का रास्ता एक दया, करुणा एवं प्रेम का है। सच्चा सद्गुरु यही बतलाता है॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। अतएव प्राणिमात्र पर दया एवं मानव मात्र पर प्रेम का भाव रखकर अहिंसा के पथ पर चलना ही धर्म का सच्चा पथ है॥१०॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने कभी गलत बातों से समझौता नहीं किया। वे एक साथ प्यार तथा फटकार देना जानते हैं। वह कौन-सा धर्म है जिसमें प्राणियों की हत्या की जाय? सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों भूल में हैं। कबीर साहेब के सामने सन्दर्भ दो का था। इसका अर्थ यह है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, इसाई हो या यहूदी, या अन्य, अपने जीभ-स्वाद के लिए या धर्म के नाम पर यदि कोई जीव-हत्या करता है, तो वह धर्म से लाखों कोस दूर है।

रोज-रोज खाते-खाते पेट खराब हो सकता है। इसलिए कभी-कभी किसी-किसी दिन कुछ न खाना पेट को शुद्ध करने के लिए अच्छा तरीका है। साधारण मनुष्य इसका महत्त्व नहीं समझते। इसलिए लोगों ने धर्म का पुट देकर एकादशी आदि व्रत कायम कर दिया, और उसके करने से स्वर्गादि प्राप्ति के बड़े-बड़े फल बता दिये। इसलिए साधारण लोग एकादशी आदि को अन्न छोड़कर व्रत रहने लगे। परन्तु व्रत का लाभ वे न ले सके। उन्होंने उस दिन अन्न तो छोड़ दिया परन्तु दूध-सिंघाड़ादि के हलुवा तथा कंद-फल आदि डटकर खाने लगे। कितने लोग व्रत के दिनों में ज्यादा मूल्यवान तथा मात्रा में भी ज्यादा भोजन खाने लगे। उनके डोज की क्वालिटी और क्वांटिटी दोनों बढ़ गयीं। इसलिए पेट

शुद्ध होने की अपेक्षा अधिक खराब होने लगा। मनुष्य को पेट शुद्ध करने के लिए जिस दिन उपवास रहना हो, उस दिन कुछ भी नहीं खाना चाहिए। उस दिन केवल जल पीना चाहिए। जल में नींबू का रस या ऋतु के अनुसार एक या दो बार शर्बत लिया जा सकता है।

सच्ची एकादशी तो दस इंद्रियां और ग्यारहवां मन—इन एकादशों को वश में करना है। परन्तु लोग यह तो करते नहीं। वे उपवास रहकर पेट को भी ठीक नहीं रख पाते, बल्कि एकादशी के दिन अल्लमगल्लम खाकर पेट को अधिक खराब कर लेते हैं। और इतना ही नहीं, एकादशी के बाद द्वादशी को सुबह पारण के समय मांस-गोश्त भी गटक जाते हैं। भारत के कुछ क्षेत्र वाले यह पढ़कर चौंक जायेंगे कि क्या कोई हिन्दू पारण में मांस भी खाता है? हां, साहब, बिलकुल खाता है। जब देवी-दुर्गा के नाम पर पशु-पक्षियों को काटकर प्रसाद मानकर खाते हैं, तब उन्हें पारण में मांस खाने से क्या परहेज हो सकता है? कबीर साहेब के समय में तो हिन्दुओं में अधिक मांसाहार था। आज भी इसकी कमी नहीं है। हिन्दू धर्मप्राण नेपाल, भारत के बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रदेश के शुद्ध हिन्दू लोगों में मांस का अधिक प्रचलन है। ब्राह्मणों में यह प्रचलित ही है—"दक्षिणे मातुली कन्या उत्तरे मांसभक्षणम्" भारत के दक्षिण हिस्से में मामा की लड़की से शादी करना तथा उत्तरी भारत में मांस खाना—ब्राह्मणों के लिए वैध है। आदमी को जो मन में भाता है नियम बना लेता है।

सारे व्रत, उपवास तथा बाह्याचार तभी निरर्थक हो जाते हैं जब किसी जीव की हत्या की जाती है। मुसलमानों के रोजा, निमाज, बांग आदि वहीं निरर्थक हो जाते हैं जब वे मुरगी, बकरी, गाय आदि पर छूरी चलाते हैं। दुनिया के सभी मुसलमान बड़ी खुशी से बकरीद त्योहार मनाते हैं। त्योहार के दूसरे दिन प्रायः सभी समाचार पत्रों में छपता है कि बड़ी खुशी, बड़े अमनचैन एवं शांति के साथ बकरीद मनायी गयी। परन्तु मूक पशुओं की तरफ से कोई समाचार पत्र में यह लिखने वाला नहीं रहता कि बकरीद के दिन संसार में करोड़ों पशुओं की हत्या करके वातावरण को पीड़ा से भर दिया गया। ईश्वर के सामने प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मासूम पशुओं की हत्या करना—यह गहरी भूल तथा जंगलीपन आज भी संसार से नहीं गया। जब ईश्वर निहायत रहम वाला है, तब वह बेरहमी के काम से खुश कैसे होगा?

हिन्दुओं, इसाइयों तथा मुसलमानों की किताबों को पढ़िए तो उनमें दया, प्रेम, अहिंसा, रहम आदि शब्दों की भरमार है। आश्चर्य है कि इनके अनुगामी दया तथा मेहर को एकबारगी तिलांजलि देकर मूक प्राणियों के गले पर छूरी रेतते हैं। छूरी से प्राणियों का गला रेतकर कहते हैं कि यह जायज है। अपने जीभ-स्वाद के लिए जो मूक प्राणियों की हत्या करता है, उसके हृदय में कहां धर्म है? और उसका कल्याण कहां है? जीव-हत्या करने वाले वे चाहे अपने को हिन्दू कहें या मुसलमान, इसाई कहें या यहूदी या अन्य कुछ, न उनमें धर्म है, न उनका कल्याण है। वे पतनपथ में हैं; क्योंकि उनके हृदय में निर्दयता की आग लगी है।

सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि सबका रास्ता एक है दया, करुणा, प्रेम, मानवता। सभी मानव मुख से खाते हैं, आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, पैर से चलते हैं और हाथ से काम करते हैं। क्या कोई कान से देखेगा या आंख से सुनेगा? जल-भोजन प्राणिमात्र की प्यास तथा भूख के निवारण करने के लिए समान आवश्यक हैं। रोग लगने पर दवाई सबको चाहिए। इसी प्रकार मानसिक शांति के लिए दया, करुणा, अहिंसा, मानवता सबके लिए समान आवश्यक हैं। मन के उलझाव से सबको दुख होता है तथा मन के सुलझाव से सबको सुख होता है। पर-हिंसा तथा आत्म-असंयम से ही मन उलझता है और अहिंसा तथा संयम से मन सुलझता है। मानव मात्र के लिए यह नियम लागू है। अतएव मानव मात्र का रास्ता एक है। वे औपचारिकताएं एवं बाह्याचार कुछ भी करें, परन्तु बुनियादी बातें सब में एक ही होंगी। कबीर देव कहते हैं कि मानव मात्र के लिए कल्याण का रास्ता एक है अहिंसा और संयम। किसी परम्परा का हो, सच्चा सद्गुरु यही बतायेगा। जीवन में अहिंसा तथा संयम न हो, तो बाह्याचार केवल ढकोसला एवं पाखंड बनकर रह जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, राम न कहूँ खुदाई।" इस पंक्ति का भाव अत्यन्त क्रांतिकारी और परम सत्य है। लोग प्राणियों से अलग ईश्वर, खुदा, अल्लाह, देवी, देवता मानकर उनकी प्रार्थना करते हैं, पूजा करने का उपक्रम करते हैं और प्रत्यक्ष प्राणधारियों की हत्या करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें प्राणधारियों में तो देव तथा ईश्वर नहीं दिखाई देते, इसलिए उनका वध करते हो, और शून्य में तथा पत्थरों में देव तथा ईश्वर दिखाई देते हैं और उन्हें पूजते हो। यह तुम्हारी भूल है। जो शून्य और पत्थर में देव तथा ईश्वर देख ले और चलते-फिरते प्राणियों में देव तथा ईश्वर न देख सके, वह कितने गहरे भ्रम में है, यह सहज समझा जा सकता है। कबीर साहेब कहते हैं कि इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। यदि तुम राम, खुदा या देवता की पूजा करना चाहते हो तो प्राणिमात्र पर दया तथा मेहरबानी का व्यवहार करो। यही परम धर्म है और यही देव तथा ईश्वर की पूजा है।

पूजा के नाम पर हत्या करने वाले पुरोहितों की भर्त्सना

शब्द–११

सन्तो पाँड़े निपुण कसाई॥ १ ॥

बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल में दर्द न आई॥ २ ॥
करि अस्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देवि पुजाई॥ ३ ॥
आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई॥ ४ ॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई॥ ५ ॥
इन्हते दीक्षा सब कोइ माँगे, हँसी आवै मोहि भाई॥ ६ ॥
पाप कटन को कथा सुनावैं, कर्म करावैं नीचा॥ ७ ॥
हम तो दूनों परस्पर देखा, यम लाये हैं धोखा॥ ८ ॥

गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे॥ ९ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कलिमा ब्राह्मण खोटे॥१०॥

शब्दार्थ—पाँड़े = पांडेय, ब्राह्मणों की एक उपाधि, तात्पर्य में ब्राह्मण-पुरोहित। निपुण = चतुर। दर्द = पीड़ा, दया। अधिकाई = विशेषता। दीक्षा = मंत्र। कलिमा = कलियुग में। खोटे = बुरे।

भावार्थ—हे सन्तो! धर्म के नाम पर जीव हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहित चतुर कसाई हैं॥१॥ ये बकरों की बलि देकर भैंसों पर भी टूट पड़ते हैं। इनके हृदय में दया नाम का भाव नहीं है॥२॥ ये लोग स्नान करते हैं, तिलक लगाते हैं और देव-मंदिर में बैठकर विधि-विधानपूर्वक देवी की पूजा करते हैं॥३॥ परन्तु क्षण मात्र में बलि के नाम पर जीवों की हत्या कर देते हैं और रक्त की नदी बहाने लगते हैं॥४॥ इनको लोग अत्यंत पवित्र तथा उच्च कुलोत्पन्न मानते हैं। सभा में इनकी बड़ी विशेषता मानी जाती है॥५॥ सब लोग इनसे दीक्षा-मंत्र मांगते हैं। परन्तु हे भाई, मुझे तो इस अंधविश्वास एवं अज्ञान पर हंसी आती है॥६॥ ये यजमानों के पाप कटने के लिए उन्हें कथा सुनाते हैं और उनसे कर्म कराते हैं नीच हिंसा का। एक तरफ इनकी धर्मकथा और दूसरी तरफ धर्म के नाम पर जीव-वध की बात देखते हुए लगता है कि ये हिंसक पुरोहित यमराज हैं और धर्म-कथा रूपी धोखे की टट्टी लगाकर उसकी आड़ में हत्या करते-कराते हैं तथा जनसमाज को नरकवास में ले जाने का बंदोबस्त करते हैं॥७-८॥ मुसलमान गाय का वध करते हैं। इसलिए उनसे घृणा कर उन्हें तुर्क कहा जाता है। परन्तु क्या ये हिंसक पंडित तुर्कों से कम हैं! राम कहो, पूरे तुर्किया ब्राह्मण हैं॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! कलिकाल में ब्राह्मण नामधारी लोग नीचकर्मी हो गये हैं॥१०॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों में बलि के नाम पर जीव-वध का अधिक प्रचलन था। आज विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में ब्राह्मणों में इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है, परन्तु समाप्त नहीं हुआ है। अभी भी भारत तथा सर्वाधिक हिन्दू धर्मप्राण नेपाल में देवी-देवता के नाम पर ब्राह्मण-पुरोहितों-द्वारा बराबर जीव-हत्या की जाती है। प्राणियों के अलावा देवी-देवता, भगवान-भवानी की कोई सत्ता नहीं है। फिर इन झूठे देवी-देवताओं को खुश करने के भ्रम में पड़कर जीवों का वध करना घोर अविवेक नहीं तो क्या है! दुर्जन-तोष न्याय मान भी लें कि देवी-देवता तथा भगवान-भवानी होते हैं तो क्या वे क्रूर जानवर हैं, जो पशु-पक्षी की बलि चाहते हैं।

प्रज्ञा से पंडा तथा पंडा से पांडेय शब्द बना हुआ लगता है। प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि, मति या विवेक। पंडा का भी यही अर्थ है। सत्य-असत्य का विवेक करने वाली बुद्धि ही पंडा है। जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। पंडा से ही पाण्डेय शब्द बना। पांडेय का ही अपभ्रंश पांडे है, जो ब्राह्मण नामधारियों के एक वर्ग की उपाधि है। ब्राह्मणों में शुक्ल, तिवारी, द्विवेदी, मिश्र आदि बहुत उपाधियां हैं। यहां कबीर साहेब ने पांड़े शब्द ही को क्यों चुना? क्या वे केवल पांडे नामधारी को ही कहते हैं, शुक्ल, तिवारी आदि को नहीं कहते? ऐसी बात नहीं है। वे यहां उस हर ब्राह्मण-पुरोहित को कहते हैं जो देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता है। ब्राह्मण पुरोहितों को गर्व है कि हम पण्डित हैं,

विवेकी हैं और बुद्धि-विवेकपूर्वक काम करते हैं। इसलिए मानो कबीर साहेब विवेक-व्यंजक पांडेय शब्द को चुनकर जनभाषा में उन्हें संबोधित करते हैं कि तुम अपनी प्रज्ञा-पंडा एवं विवेक बुद्धि की परख तो करो! क्या यही विवेक है कि कल्पित देवी-देवताओं के नाम पर मूक पशु-पक्षियों पर छूरी चलाओ! हां, तुम्हारी प्रज्ञा-पंडा एवं पांडित्य इसमें अवश्य सफल है कि तुम निपुण कसाई हो। तुम हत्यारे होकर भी पूज्य बने रहते हो, यह तुम्हारा धार्मिक हथकंडा सफल है।

भारत और नेपाल के अनेक देवस्थानों पर देखा जा सकता है कि वहां चोटी तथा जनेऊधारी पंडित बैठे बलि-पशुओं को पूत-मन्त्रों से अभिषिक्त कर उनका वध कर रहे हैं। बकरे मार रहे हैं, भैंसे मार रहे हैं। ऐसे देवस्थान बूचड़खाना बने हैं। दयालु मनुष्य का वहां ठहरना कठिन है। ये प्रज्ञावान पुरोहित आतमराम की पल में हत्या कर देते हैं। कबीर साहेब ने "आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।" इस पंक्ति में 'आतमराम' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है। सब जीव ही तो रामरूप हैं और सजाति होने से वे आत्मारूप ही हैं। इतनी भी अक्ल जो नहीं रखता है उसे पंडित कहा जाय तो मूर्ख किसे कहा जाय!

अगली पांचवीं तथा छठीं पंक्ति में कबीर साहेब ऐसे ब्राह्मण नामधारियों पर करारा व्यंग्य करते हुए मार्मिक वचन कहते हैं कि इन्हें बड़ा पवित्र और ऊंचे कुल का कहना चाहिए। सभाओं में इनको ऊंचा स्थान देना चाहिए। इनसे लोग दीक्षा-मन्त्र लेकर अपना उद्धार भी चाहते हैं, परन्तु मुझे तो हंसी आती है। जिनमें दया छू नहीं गयी है, जो इतनी-सी अक्ल नहीं रखता कि देव तो चेतन प्राणी है, पत्थर की पिंडी देवता नहीं होती और चेतन को मारकर जड़ की पूजा अक्ल का और दीवाला निकल जाना है। ऐसे गंदे विचार तथा गंदे कर्म वाले लोग पवित्र, श्रेष्ठ तथा पूज्य कैसे हैं? ऐसे लोगों-द्वारा किसी का उद्धार कैसे होगा? फिर भी मूढ़ और अंधविश्वासी जनता इनसे अपना कल्याण चाहती है। कितनी हास्यास्पद है यह स्थिति!

कबीर साहेब ऐसे धार्मिक हत्यारों को यम कहते हैं। यमराज बन्धनप्रद वासना का एक प्रतीकात्मक नाम है। यमराज वह है जो जीव को बांधकर नरक में डाल दे। धर्म के नाम पर जीव-वध करने तथा कराने वाले तथाकथित धार्मिक पुरोहित यमराज हैं। ये एक तरफ पाप काटने के लिए कथा सुनाते हैं और दूसरी तरफ जीवहत्या रूपी नीच कर्म कराते हैं। ये धर्म के धोखे में फंसाकर जीवों को नरक में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहितों को गो-घातक तुर्कों के समकक्ष रखकर इन पर करारा व्यंग्य करते हैं, "गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे।" वही कसाई है जो दूसरे का गला काटे, अब चाहे बकरे का गला काटे, भैंसे का गला काटे या गाय का गला काटे अथवा अन्य प्राणी का।

ध्यान रहे, सद्गुरु ने सभी ब्राह्मणों, पण्डितों एवं सभी पांडेय लोगों को कसाई या खोटे नहीं कहा है। जो लोग जीव-वध करते हैं उन्हीं को कसाई कहा है जो एक वास्तविकता है। कबीर साहेब सच्चे पंडितों का आदर करते हैं। कुछ उदाहरण लें—

पंडित सों बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी।। (रमैनी ७०), कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा। (शब्द ५३), कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पण्डित ज्ञानी। (शब्द ९४)।

नाना मतों के भक्तों की मस्ती

शब्द-१२

सन्तो मते मातु जन रंगी।। १ ।।

पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी।। २ ।।
अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी।। ३ ।।
मूँदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी।। ४ ।।
गोरख दत्त वशिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी।। ५ ।।
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहाँ फिरे अधर कटोरी।। ६ ।।
अम्बरीष औ याज्ञ जनक जड़, शेष सहस मुख फाना।। ७ ।।
कहाँ लौं गनौं अनन्त कोटि लौं, अमहल महल दिवाना।। ८ ।।
ध्रुव प्रहलाद विभीषण माते, माती शेवरी नारी।। ९ ।।
निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागि खुमारी।।१०।।
सुन नर मुनि यति पीर औलिया, जिन रे पिया तिन जाना।।११।।
कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, क्यों कर करे बखाना।।१२।।

शब्दार्थ—मते = नाना मतों में। मातु = मतवाला होना। जन रंगी = भक्त एवं ज्ञानी जन। अर्धे = पिंड, शरीर का निचला हिस्सा। उर्धे = ब्रह्मांड, शिरोभाग। भाठी = मदिरा बनाने का चूल्हा या स्थान। कसारस = कषायरस, सुगन्धयुक्त रस, परिपक्व रस। गारी = निचोड़ना। मूँदे = दमन। मदन = काम। कर्मकस्मल = कर्मकश्मल, कर्म संस्कारों की मूर्च्छा, मोह। सन्तति = संतत, निरंतर। अगारी = आगे, अंतःकरण में। दत्त = दत्तात्रेय। कपि = हनुमान। शुक = शुकदेव। याज्ञ = याज्ञवल्क्य। जड़ = जड़भरत। शेष = शेषनाग। अमहल = त्यागी। महल = गृहस्थ। खुमारी = नशा। यति = त्यागी। पीर = मुसलिम गुरु। औलिया = मुसलमानों के सिद्ध संत।

भावार्थ—हे सन्तो! भक्त एवं ज्ञानी जन अपने-अपने मतानुसार आध्यात्मिक विचारों में मतवाले हैं।।१।। वे मतवाले सत्संगी प्रेम-अमृत-रस के प्याले छकते हैं।।२।। वे साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी भाग को मानो भट्ठी बनाकर अनुभव का परिपक्व रस निचोड़ लेते हैं।।३।। वे काम को जीत लेते हैं और कर्मसंस्कारों की मूर्च्छा तथा मोह को काटकर निर्मल हो जाते हैं। उनके हृदय में निरंतर अनुभव का अमृतरस चूता रहता है।।४।। इस अध्यात्म के अमृतरस को चखने के लिए गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, वेदव्यास, हनुमान, नारद, शुकदेव, मुनिजन, शिव, सनकादि सभा में जुड़कर बैठ चुके हैं और इनके होठों पर वह अमृत-रस की प्रेम-कटोरी फिर चुकी है।।५-६।। इतना ही नहीं,

अंबरीष, याज्ञवल्क्य, विदेहीजनक, जड़भरत, हजार मुख एवं फण वाले शेषनाग—कहां तक गिनाया जाय, असंख्य करोड़ तक त्यागी और गृहस्थ इस अध्यात्म अमृतरस को पीने के लिए दीवाने हुए।।७-८।। ध्रुव, प्रहलाद और विभीषण भी इसमें मतवाले बने, शबरी नारी भी मतवाली बनी।।९।। निर्गुण ब्रह्म ही ने सगुण साकार कृष्ण बनकर वृन्दावन में गोपियों के साथ रास किया है—ऐसा मानकर माधुर्य-भक्ति के रसिक आज भी वृन्दावन में मतवाले बने घूमते हैं और उनको सदैव नशा चढ़ा रहता है।।१०।। देव, मनुष्य, मुनि, त्यागी, पीर, औलिया—जिसने भी इस भक्तिरस एवं अनुभवरस को पिया है वही उसका स्वाद जान सका है।।११।। सद्गुरु कहते हैं कि यदि गूंगा शक्कर खाये तो वह उसके स्वाद की व्याख्या कैसे कर सकेगा! ।।१२।।

व्याख्या—संसार में कुछ सात्विक संस्कार के जीव होते हैं। उन्हें विषय-भोगों में आनन्द नहीं लगता। इन्द्रियों के विषय-भोग क्षणिक हैं। इनमें गंभीर समझ वाले व्यक्ति नहीं रमते। वे दृश्यमान भोगों से विरक्त होकर अविनाशी सुख खोजते हैं। इन्हीं को अध्यात्म-पथ-गामी कहा जाता है। इनमें अनेक देश, क्षेत्र, भाषा, काल, मान्यता एवं संस्कार वाले साधक होते हैं। इसलिए इनकी मान्यताओं तथा बाह्याचारों में काफी अन्तर रहता है और कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी रहता है। परन्तु ये सभी अध्यात्म-पथ के रसिक अपनी-अपनी समझ के अनुसार जड़प्रकृति से भिन्न अविनाशी तत्व एवं चिरंतन सुख की खोज में रहते हैं।

इन नाना मतों के अध्यात्म-रसिकों को सद्गुरु कबीर ने यहां एक ही शब्द में पिरोकर उनके आध्यात्मिक मतवालेपन का रोचक एवं सामंजस्यपूर्ण वर्णन किया है। सद्गुरु कहते हैं कि प्रेम सुधारस के प्याले छकने वाले मतवाले सत्संगी संसारियों के लक्षणों से अलग होते हैं। चाहे जिस मत के साधक हों, उनका यह सार्वभौमिक लक्षण होता है कि वे विषयों से विरत होते हैं और प्राणिमात्र को आत्माराम मानकर सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं। इस लक्षण के परिपाक में परमार्थ-लाभ तो होता ही है, व्यावहारिक जीवन भी इसी में समुज्ज्वल होता है तथा इसी लक्षण में धरती स्वर्ग बन सकती है। भूमंडल के किसी कोने का, किसी देश का, किसी काल का, किसी भाषा का एवं किसी मान्यता का साधक हो, यदि सच्चा साधक है तो वह भोगों का त्यागी होगा ही। जो भोगों का त्यागी होगा, वह विश्वप्रेम का स्वरूप होगा। रागी भोगी-मोही होता है, त्यागी प्रेमी होता है। इसलिए यहां सद्गुरु ने उक्त साधकों को "पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी" कहकर उनको प्रदर्शित किया है।

यहां प्रेम में मतवाला होने की बात है। मदिरा पीने से ही तो लोग मतवाले होते हैं। यहां प्रेम की मदिरा है। मदिरा बनाने की अपनी विधि होती है। रूपकों-द्वारा अपनी बातें कहने में माहिर कबीर साहेब यहां कैसे चूक जाते कि वे मदिरा बनाने का रूपक न कहते। मदिरा बनाने के लिए भट्ठी बनायी जाती है। सड़ाया हुआ महुआ हंडी में भरकर तथा उसके मुख को बन्दकर भट्ठी पर रख दिया जाता है। उस हंडी में एक छेदकर एक नली लगा दी जाती है जिसका दूसरा सिरा दूसरी हंडी में पहुंचा दिया जाता है। भट्ठी में

मंद-मंद आंच दी जाती है, अतः महुआ का रस भाप बनकर नली-द्वारा दूसरी हंडी में इकट्ठा होता जाता है। यही मदिरा है।

"अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी। मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी।" इन पंक्तियों में सद्गुरु कहते हैं कि साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी हिस्से को मानो भट्ठी बना लेते हैं। वे कर्मसंस्कारों के सम्मोह रूपी महुआ को सड़ाकर अर्थात उसे जीर्ण कर तथा मन रूपी हंडी में भरकर और उसके काम रूपी मुंह को बन्दकर भट्ठी पर चढ़ा देते हैं और ज्ञान-भक्ति एवं वैराग्य-रूपी अग्नि प्रज्वलित कर उसके परिपाक रस-प्रेमसुधारस को निचोड़ लेते हैं। उत्तप्त महुआ का रस जैसे नली-द्वारा दूसरी हंडी में निरंतर गिरता रहता है, वैसे ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य की अग्नि से प्रदीप्त अंतःकरण में सदैव प्रेमसुधारस एवं अनुभवरस टपकता रहता है। 'सन्तति चुवत अगारी' में मालूम होता है 'सन्तत' का ही कभी किसी लिपिकार की भूल से संतति हो गया है। संतत का अर्थ निरंतर एवं लगातार है और संतति का अर्थ संतान है। यह संतति संतत ही है। वैसे संतति शब्द का शाब्दिक अर्थ लेने पर संतान एवं शिष्य हो जायगा। अर्थात अनुभवी गुरुओं के आगे बहुत-से शिष्य-प्रशिष्यों का विस्तार होता जाता है। परन्तु संतत-निरंतर अर्थ ही यहां उपयुक्त है।

ज्ञानी, भक्तों एवं साधकों को प्रेम-मदिरा निचोड़ने के लिए शरीर ही भट्ठी है। वे इस शरीर को साधना में कसकर, इसके एक-एक क्षण का दोहन कर मन को साध लेते हैं। जो साधक अपनी अधोगामिनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी बना लेता है, विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त होकर अविनाशी तत्व-बोध में रम जाता है वह मानो जीवन के कषायरस को गार लेता है। कषाय का अर्थ कसैला तथा गन्दा भी होता है और सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस भी होता है। यहां अर्थ सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस है। साधक शरीर एवं मन को साधकर जीवन का परिपाक-रस गार लेता है। सर्वत्र अनासक्त होकर तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जानकर प्रेम में छके रहना ही तो जीवन का रस है। यही वह मदिरा है जिसे पीकर साधक मतवाले रहते हैं। संसार के साधक, भक्तों एवं सन्तों पर दृष्टि दौड़ाइए, देखिए उनके लिए घर और वन, अपना और पराया बराबर हो गया है। जगत से निर्मोह हुए वे मानवता एवं प्रेम के दीवाने मानवता के लिए समर्पित हो गये। उन्होंने 'मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल' मदन का दमन कर दिया है। उनकी कामवासना निवृत्त हो जाती है। काम की तरफ बहने वाली उनकी ऊर्जा राम में लग जाती है। जो मन विषय-चिंतन एवं काम-चिंतन करता था, वही अब राम-चिंतन करने लगता है। जब चित्त निष्काम हो गया, उसमें राम-चिंतन का प्रवाह चलने लगा तब इसकी स्वाभाविक परिणति होती है कर्म-कश्मल का छिन्न हो जाना। कश्मल का अर्थ है मूर्च्छा, सम्मोहन। पाप-पुण्य कर्म-संस्कारों के ही मूर्च्छा एवं सम्मोहन होते हैं, जिसमें मनुष्य सदैव तंद्रित रहता है। जब यह सम्मोह छंट जाता है, तब मन के सामने निरंतर दिव्य अनुभव-रस टपकने लगता है। वह विषय-रस से मुक्त होकर आत्म-अनुभव-रस में सदैव लीन रहता है। गोरख, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, व्यास, हनुमान, शुकदेव, मुनिगण, शिव, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, अम्बरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, शेषनाग, ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, शबरी, विवेकी—स्वरूप-

चिंतक, भावुक माधुर्य भक्ति-रसिक, सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया आदि सभी परमार्थ-प्रेमी अपने-अपने ढंग से इस अमृत-रस, प्रेम-रस, परमार्थ-पियूष के प्रेमी रहे हैं। इन उम्मीदवारों में से जिसने जितनी गहराई में पहुंचकर इस सुधा-रस को जितना पिया हो वही जान सकता है। गूंगे के शक्कर खाने न्याय इसका स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है, ज्यों-का-त्यों बताया नहीं जा सकता।

संसार के जितने भक्त, साधक, योगी, ज्ञानी, साधु, संत आदि हुए हैं अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सब परमार्थ-पथ के पथिक रहे हैं। जितने उच्च कोटि के साधक हुए हैं उनकी सूझ-बूझ अलग-अलग होने से उनकी मान्यताओं में कम तथा ज्यादा अन्तर अवश्य रहा है, परन्तु वे सब अपने साधना-पथ में तीव्र लगन वाले रहे हैं। गोरखनाथ योग के विरही; दत्तात्रेय, जड़भरत, अवधूत, शुकदेव, सनकादि, जनकादि ब्रह्मज्ञान के मतवाले; हनुमान, नारद, अंबरीष, ध्रुव, प्रहलाद, शबरी आदि भक्ति भाव में मतवाले; वसिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्यादि विद्या-द्वारा तत्त्वचिंतक। इसी प्रकार अन्य भी अपने-अपने पथ में दीवाने थे।

किसने कितना सत्य को पाया यह अलग विषय है। व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप ही परम सत्य है। विषयों को त्यागकर जो अपने चेतन स्वरूप में स्थित हुआ, वही वास्तविकता को पाया। जो इसको न समझकर अपने लक्ष्य को बाहर खोजता रहा, वह भटकता रहा। परन्तु जो बाहर भटकने वालों में अपनी भावना एवं अपने मत में मतवाले थे वे भी स्थूल विषय-वासनाओं के जंजाल से मुक्त होकर किसी अविनाशी तत्व की भावना में ही लगे रहे, भले ही वह काल्पनिक रहा हो। काली अपने आप में कुछ नहीं है। केवल काल्पनिक देवी है, परन्तु उसकी भावना में मतवाले हो श्री रामकृष्ण परमहंस वैराग्य में मस्त रहे। राम, कृष्ण, ईसा आदि कभी हुए होंगे। हजारों वर्ष उनके बीते हो गये। वे आज हमारा कुछ भी सहयोग नहीं कर सकते। हम उनके जीवनादर्श एवं पवित्र वचनों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन-सुधार में सहयोग ले सकते हैं। परन्तु उनकी भावना में मतवाले हजारों साधक सांसारिक उलझनों से रहित होकर अपने मत में मतवाले हैं। वे सदाचार में लगे हुए संसार को भी कुछ सदाचार की सुगन्धी बांटते हैं।

भावनाओं में लोग किस प्रकार मतवाले हो जाते हैं, इसके लिए यहां एक उदाहरण काफी होगा। ईसा की लगभग सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के फरीदपुर जिले के कोटालपाड़ा ग्राम के प्रमोदन सुन्दर ब्राह्मण के पुत्र कमलनयन हुए हैं। उन्होंने नवद्वीप के हरिराम वागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया और काशी जाकर दंडी स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम से वेदांत पढ़ा और वहीं संन्यास ले लिया। संन्यास का नाम पड़ा 'मधुसूदन सरस्वती'। इन्होंने अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तविंदु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्नरक्षण, गीता एवं भागवत की व्याख्या तथा प्रस्थान भेद लिखे। ये शास्त्रार्थ के बड़े रसिक थे। शास्त्रार्थ कर पण्डितों को हराते रहते थे। एक वृद्ध दिगंबर परमहंस संन्यासी से प्रेरणा पाकर तथा शास्त्रार्थ छोड़कर श्री कृष्ण के भक्त हो गये। तो श्री कृष्ण की भक्ति में इतने मतवाले हुए कि उनकी दिशा ही बदल गयी। वे कहते हैं—

"ध्यान के अभ्यास से जिनका चित्त वश में हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति को देखते हैं, तो देखा करें। हमारे नेत्रों को तो यमुनापुलिन-विहारी नीले तेजवाला सांवरा ही चिरकाल तक सुख पहुंचाता रहे।[१] जिसके हाथों में वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद-सुन्दर हैं, पीतांबर पहने हैं, जिसके ओठ बिंबफल के समान लाल हैं, जिसका मुखमंडल पूर्ण चन्द्र के सदृश और जिसके नेत्र कमलवत हैं, उस श्री कृष्ण से परे तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।[२] प्रमाणों से निर्णय दिये हुए श्री कृष्ण के अद्‌भुत माहात्म्य को जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।[३] यह ठीक है कि अद्वैतज्ञान के मार्ग पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्तकर मैं स्वराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूं, किन्तु क्या करूं एक कोई गोपवधुओं का प्रेमी शठ है, उसी हरि ने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है।"[४]

मधुसूदन सरस्वती जैसे श्री कृष्ण के अलावा कोई परमतत्त्व नहीं जानते, वही भोलापन की दशा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की है। वे कहते हैं—"हे राम, क्या तुम मानव हो? क्या तुम सर्वत्र व्याप्त ईश्वर नहीं हो? यदि तुम ईश्वर नहीं हो तो मैं निरीश्वर हूं। मुझे ईश्वर क्षमा करे। तुम नहीं रमते हो तो मेरा मन तुम में रमा करे।"[५]

मधुसूदन सरस्वती अपने समय में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और संन्यासी थे। परन्तु उनका अपने मत का मतवालापन कितना अद्‌भुत था। इसीलिए तो कबीर देव कहते हैं "निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागु खुमारी।" श्री कृष्ण को निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण रूप मानकर उनकी भावना में लोग वृन्दावन में आज भी मतवाले बने रहते हैं। यह नशा आज भी नहीं उतरता।

इस शब्द में आये हुए नामों के जीवन-परिचय इस प्रकार हैं—

---

१. ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते। अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥

२. वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
(मधुसूदन, गीता तेरहवें अध्याय के शुरू में)

३. प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्‌भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥ *(मधुसूदन, गीता पंद्रहवें अध्याय के अंत में)*

४. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥
(भक्त चरितांक, पृष्ठ ४९३-४९४, वर्ष २६, सन् १९५२, गीता प्रेस, टीका सहित)

५. राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥ साकेत॥

गोरखनाथ या गोरक्षनाथ

विक्रम की दसवीं शताब्दी में पैदा हुए नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एक प्रसिद्ध योगी महात्मा। इनके बनाये हुए हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थ हैं। चौरासी सिद्धों तथा नौ नाथों में इनका महत्वपूर्ण स्थान हैं। चौरासी सिद्धों के नाम दो सौ पचपनवीं साखी की टीका में हैं। नौ नाथों के नाम ये हैं—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, चर्पटनाथ, मंगलनाथ, चम्बानाथ, घग्घूनाथ, प्राणनाथ और गोपीनाथ।

दत्तात्रेय

ये भागवत के अनुसार एक ब्रह्मज्ञानी थे। ये अत्रि के पुत्र अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनके विषय में भी लोगों ने अवतार होने की कल्पना की है। भागवत के अनुसार इन्होंने चौबीस गुरु किये थे।

वसिष्ठ

एक बार उर्वशी को वरुणालय में क्रीड़ा करते हुए देखकर मित्र-वरुण दोनों देवता कामपीड़ित हो गये। एक घड़े में उन दोनों ने वीर्यपात कर दिये। उसमें से पहले अगस्त्य पीछे वसिष्ठ पैदा हुए (वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, ५५वां सर्ग)।

घड़े से उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है, वास्तव में उर्वशी से उत्पन्न हुए होंगे।

हिन्दू धर्म के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में साफ लिखा है कि मित्र, वरुण तथा उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ जी पैदा हुए (ऋग्वेद ७/३३/११)। वसिष्ठ जी प्रसिद्ध श्री राम जी के गुरु थे।

व्यास

धीमर की कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। वहां पराशरमुनि पहुंच गये। वे सत्यवती को देखकर आसक्त हो गये। उन्होंने उससे अपनी कामना की बात कही। उसने कहा—महाराज! चारों ओर मनुष्य घूम रहे हैं, दिन में ही यह बरताव कैसे होगा? झट पराशर ने कोहरा पैदा कर दिया और चारों ओर अंधेरा छा गया। पराशर से सत्यवती ने कहा—महाराज! ऐसा करने से मेरा कौमार्य नष्ट हो जायगा। पराशर ने कहा—तेरा कौमार्य नष्ट नहीं होगा, तू जो चाहे वर मांग। उसने कहा मेरे शरीर से मछली की-सी गंध आ रही है वह न आये। मुनि ने कहा ऐसा ही होगा। अतः उसी समय से सत्यवती का शरीर सुगंध से पूर्ण हो गया और उसका नाम गन्धवती से योजनगंधा पड़ा। उसके शरीर से चारों ओर सुगंधी बिखरने लगी। फिर पराशर ने अपनी मनोकामना उससे पूरी की; फलतः योजनगन्धा के गर्भ से व्यास जी पैदा हुए (महाभारत)।

कहा जाता है कि व्यास जी ने ही वेदों का सम्पादन और पुराणादि की रचना की।

उक्त कथा में पराशर जी का, कोहरा उत्पन्न करना और सत्यवती का शरीर सुगन्धमय कर देना रूप असम्भव कार्य तो वे कर दिये; परन्तु अपने कामवेग को रोकना जो सर्वथा

सम्भव था, वह नहीं कर सके; कैसा उपहास है! वास्तव में कोहरा और गंध का उत्पन्न करना केवल कल्पित है।

हनुमान

हनुमान जी के पिता का नाम केसरी और माता का नाम अंजनी था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार वायु नाम के एक देवता ने एक समय अंजनी से संबन्ध किया, तब हनुमान जी पैदा हुए तथा पवन-सुत कहलाये। शंकर सुवन होने में यह प्रमाण है कि विष्णु का मोहनी रूप देखकर कामवश शंकर का जब वीर्यपात हुआ तब ऋषियों ने उसे उठा कर एक दोने में रखकर राम जी के कार्य सिद्ध होने के लिए अंजनी में प्रवेश कराया और गर्भ रह गया, फिर हनुमान जी हुए। यह कृत्रिम गर्भाधान का नमूना है।

एक कथन यह भी है कि वायु तथा शंकर का तेज केसरी में पहुंच गया और उसी काल में उन्होंने अपनी पत्नी अंजनी से संबंध किया, फिर हनुमान जी पैदा हुए, इत्यादि। वायु देवता और शंकर का तेज कैसे केसरी में पहुंच गया, यह भी एक कल्पना है। हनुमान जी की श्री राम-भक्ति प्रसिद्ध है।

नारद

ये ब्रह्मा के मानसपुत्र (शिष्य) कहे जाते हैं और दासीपुत्र भी। ब्रह्मा ने इनका स्वभाव जब विरक्त का देखा, तब उनको बुरा लगा; परन्तु कुछ विशेष कह नहीं सके। फिर सनकादि चारों भाई पैदा हुए; नारद ने इनको भी वैराग्य का उपदेश दिया और कहा कि स्त्री के चक्कर में न पड़ना, गृहस्थीजाल बड़ा बन्धनप्रद है। यह सुनकर ब्रह्मा को बड़ा क्रोध हुआ और नारद को शाप दिया कि यदि तू ऐसा वैराग्य छांटता है तो विवाह करके कुछ काल अवश्य ही स्त्री के साथ रहेगा।

कहा जाता है कि जब नारद काम-विजयी हुए तब विष्णु की प्रेरणा से श्रीनगर के राजा शीलनिधि की कन्या मोहनी के स्वयंवर में वे उस लड़की से ब्याह करना चाहे, परन्तु विफल रहे।

महाभारत के अनुसार एक बार नारद जी राजा सृञ्जय के यहां रहे। राजा ने अपनी लड़की को उनकी सेवा करने के लिए नियुक्त कर दिया, तो नारद जी धीरे-धीरे उसमें आकर्षित होकर उससे विवाह कर लिये।

नारद जी भगवत्भक्त कहे जाते हैं।

शुकदेव

शुक पक्षी का टाटेम (गण चिह्न) रखने वाली आदिम जाति की शुकी नाम की स्त्री को वेदव्यास ने गर्भवती कर दिया। इसी से शुकदेव पैदा हुए। इसलिये ये वेदव्यास के पुत्र कहे जाते हैं। लोगों की कल्पना है कि ये संसार के दुख से घबराकर बारह वर्ष या सोलह वर्ष तक गर्भ ही में रह गये, फिर व्यास जी के अनुरोध पर पैदा हुए, परन्तु वन को चल

दिये। ये परम विरक्त थे। इन्होंने राजा परीक्षित को श्री मद्भागवत की कथा सुनायी थी। ऐसा पुराण का कथन है। वैसे भागवत-रचनाकाल से बहुत पहले शुकदेव का काल है।

संसार से कम दुख गर्भवास में नहीं है, प्रत्युत अधिक ही है। बारह या सोलह वर्ष गर्भवास में ही रहना और वेदव्यास के अनुरोध से पैदा होना, यह कल्पना है।

शम्भु

शिव का एक नाम शम्भु भी है। शिव जी की उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएं हैं; अतः एक भी प्रामाणिक नहीं है। इनकी कथाएं पुराणों में विविध भांति से महिमा सहित वर्णित हैं।

सनकादिक

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ये चारों ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे, तथा बालब्रह्मचारी एवं विरक्त थे। कहा जाता है ये चारों महात्मा पांच वर्ष की अवस्था में हर समय रहते थे, परन्तु यह असम्भव है। इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि ये बालक के समान सरल हृदय के थे। किसी से राग-द्वेष की गांठ नहीं बांधते थे। परन्तु एक बार जब ये विष्णु जी से मिलने जा रहे थे, तब द्वारपाल जय-विजय ने रोका कि भगवान से हम आज्ञा ले आवें, तब आप जायं। इस पर सनकादि क्रोध प्रकट कर उन्हें शाप दिये कि तुम दोनों तीन जन्मों तक राक्षस होओ। जय-विजय तो कोई बुरा नहीं किये, परन्तु तनिक-सी बात में सनकादिकों को इतना क्रोध करना और इतना भयंकर शाप देना कहां तक हृदय की सरलता का परिचायक है! वस्तुतः अवतारवाद सिद्ध करने के चक्कर में यह कहानी गढ़ी गयी और सनकादिकों को क्रोधी बना दिया गया। सनकादि ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। वस्तुतः शिष्य को मानस-पुत्र कहा जाता है।

अम्बरीष

ये अयोध्या के एक सूर्यवंशी राजा थे। इनके पिता का नाम नाभाग, पितामह का नाम वैवस्तमनु था। ये प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। एक बार ये दुर्वासा को निमंत्रण दिये थे। उनके आने तक पारण की अवधि बीत जाने के भय से केवल जल का आचमन कर लिये थे। इतने में दुर्वासा आ गये और देखकर कुपित हुए कि मुझे बिना खिलाये क्यों आचमन कर लिया! दुर्वासा अम्बरीष को मरवाना चाहे, परन्तु विष्णु का चक्र दुर्वासा का पीछा किया। अन्त में दुर्वासा ने अम्बरीष से क्षमा मांगी।

याज्ञवल्क्य

ये ब्रह्मवादी पुरुष थे। बृहदारण्यक के अनुसार इन्होंने जनक की सभा में गार्गी आदि सब पर विजय पायी थी। परन्तु यह भी बात है, जब गार्गी प्रश्न-पर-प्रश्न करती गयी और अन्त में याज्ञवल्क्य विवश-से होने लगे, तब उन्होंने कहा कि हे गार्गी! तू अति प्रश्न मत

कर, नहीं तो तेरा सिर (धड़ से कटकर) गिर जायगा।[1] यह सुनकर गार्गी चुप हो गयी। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने केवल विद्वता से नहीं, प्रत्युत धमकी देकर गार्गी[2] को चुप किया था।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम कात्यायनी था। मैत्रेयी ज्ञानी थी और कात्यायनी केवल स्त्री-स्वभाव वाली, एक गृहिणी मात्र थी। जब याज्ञवल्क्य ने गृहत्याग कर संन्यास लेना चाहा, तब दोनों पत्नियों को आधा-आधा धन बांट दिया। कात्यायनी तो चुप रही, परन्तु मैत्रेयी ने पूछा—क्या धन से अमरता मिल सकती है? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। मैत्रेयी ने कहा—जिससे अमरता मिले वह उपदेश कीजिये। अतएव याज्ञवल्क्य ने उसे ज्ञानोपदेश किया।

जनक

राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम 'निमि' था। इन्होंने वसिष्ठ को अपने यज्ञ में 'होता' बनाने के लिए बुलाया। उस समय वे इन्द्र के यज्ञ में लगे थे, अतः कहला भेजे कि राजा कुछ दिन रुक जायं फिर मैं आऊंगा। राजा निमि ने इसका कुछ उत्तर न दिया। वसिष्ठ ने समझा निमि को हमारी बात स्वीकार है, परन्तु विलम्ब होते देखकर निमि ने गौतम आदि ऋषियों को बुलाकर यज्ञ करा लिया।

वसिष्ठ ने जब सुना तब निमि को शाप दिया। निमि ने भी वसिष्ठ को शाप दिया। फलतः दोनों के शरीर नष्ट हो गये। राजा का कोई उत्तराधिकारी न था, अतः राज्य-व्यवस्था के लिए ऋषियों ने राजा के शरीर का अरणि से मथन किया। पश्चात उनके शरीर से एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम जनक पड़ा। मथन करके उत्पन्न होने से उसका नाम मिथि पड़ा तथा पिता की विदेह अवस्था में पैदा होने से विदेह भी पड़ा। इन्होंने ही मिथिलापुरी बसायी। कहा जाता है इन्हीं की सत्ताइसवीं पीढ़ी में राजा सीरध्वज जनक पैदा हुए थे जिनकी पोष्य पुत्री जानकी थीं, जो श्री राम से ब्याही गयी थीं। उपनिषदों को देखने से पता चलता है कि मिथिलाधीश लोग ब्रह्मज्ञानी होते थे। सीरध्वज स्वयं ब्रह्मज्ञानी थे।

अपने स्वार्थवश निमि को शाप देना वसिष्ठ की बड़ी भूल है। शाप मात्र से निमि का मर जाना असम्भव है। निमि की देह मथकर पुत्र पैदा करना अनर्गल कल्पना है।

भरत

ये प्रसिद्ध राजा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये बहुत दिनों तक राज्य करके अन्त में पुत्रों के हाथ राज्य सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये। एक दिन इन्होंने एक अनाथ मृग का बच्चा देखा। ये उसे लाकर दयावश पालने लगे। धीरे-धीरे राजा की उसमें ममता

---

१. बृहदारण्यक, ३/६/१।

२. गार्गी 'वचक्नु' की पुत्री थी।

हो गयी। फिर भजन-साधन छूट गये। केवल मृगशावक के मोह में ही सदैव निमग्न रहने लगे। कहा जाता है शरीर छूटते समय तक उनका मन उस मृग में लगा रहने के कारण मरने पर वे मृगा का तन पाये। जब कुछ काल मृगा का तन भोगकर वह शरीर भी छूट गया, तब तीसरी बार वे एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिये।

इस जन्म में भी इनका नाम भरत पड़ा। पिता ने पढ़ाना चाहा, परन्तु ये न पढ़े। पिता का शरीर छूट गया। भाई लोगों ने इनको पढ़ने को कहा, परन्तु इनको पूर्वजन्मों के शुद्ध वैराग्य के संस्कार थे। इन्होंने सोचा पुनः विद्यादि के चक्कर में पड़ूंगा तो वैराग्य शून्य हो जायेगा। अतः जड़-भाव धारणकर आत्मचिंतन करते हुए विचरने लगे। इससे इनके नाम में जड़-विशेषण लग गया। लोग जड़भरत कहने लगे। इनसे और राजा रहूगण से धार्मिक सम्वाद हुआ था। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत देखिए।

शेष

हजार फण को धारण करने वाला सर्प, जो क्षीरसागर में रहता है, जिनके ऊपर विष्णु जी की शय्या रहती है। शेष जी अपने हजारों फणों (मुखों) से विष्णु जी के गुण गाते हैं।

क्षीरसागर और शेष वास्तव में दोनों कल्पित हैं। जगत प्रचलित कहानियों के अनुसार कबीर साहेब ने उदाहरण दे दिया है। वस्तुतः नागजाति के मनुष्यों का शेषनाग नाम का महापुरुष राजा था और विष्णु का मित्र था। पीछे विष्णु के भक्तों ने शेषनाग को विष्णु का भक्त घोषित कर दिया। पीछे अज्ञानवश लोग शेषनाग को मनुष्य न समझकर हजार फण वाला सांप मान लिए।

ध्रुव

इनके पिता का नाम उत्तानपाद तथा पितामह का नाम स्वायम्भुव मनु था। इनकी माता का नाम सुनीति और विमाता (सौतेली माता) का नाम सुरुचि था। एक दिन ये अपने पिता की गोद में बैठना चाहे, किन्तु विमाता सुरुचि ने ध्रुव को व्यंग्य वचन कहा कि यदि तुम्हें राजा की गोद में बैठना था, तो मेरे पेट से क्यों नहीं पैदा हुआ? नन्हा ध्रुव दुखी होकर अपनी माता के पास गया और यह बात कह सुनाया। माता ने कहा बेटा! राजा तुम्हारा रक्षक नहीं, रक्षक विष्णु भगवान हैं। ध्रुव घर छोड़कर पांच वर्ष की अवस्था में वन को तपस्या करने चले गये। कहा जाता है कि वे बहुत कठोर तप के पश्चात विष्णु जी के दर्शन पाये, फिर लौटकर घर आये और राजा तथा विमाता आदि सबने आदर किया तथा बहुत काल राज्य भोगकर अन्त में स्वर्ग गये, ऐसी कल्पनाएं कर रखी हैं। विस्तार के लिए श्री मद्भागवत का चौथा स्कंध देखिए।

प्रहलाद

इनके पिता का नाम हिरण्यकश्यपु था। हिरण्यकश्यपु का विष्णु से वैर रहता था। परन्तु प्रहलाद विष्णु-भक्त थे। इनकी कल्पित कथाएं जगत-प्रसिद्ध हैं। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत का सातवां स्कंध देखिए।

विभीषण

इनके पिता का नाम विश्रवा, माता का नाम कैकसी तथा पत्नी का नाम सरमा था। ये अपने बड़े भाई रावण के दुश्चरित्र से घबराकर तथा साथ-साथ राजा बनने की कामना से रावण से विमुख होकर राम के दल में मिल गये और रावण के मारे जाने के पहले ही लंका राजधानी का राजतिलक राम-द्वारा अपने तयीं करा लिये और लंका दुर्ग तथा रावण का सारा भेद देकर राम-द्वारा लंका पर विजय करवायी और अंत में स्वयं लंका का राजा बन गये तथा रावण की पत्नी मन्दोदरी को भी पत्नी के रूप में रख लिये।

शबरी

यह एक नारी थी और मातंग ऋषि की शिष्या थी, जो श्री राम जी के जीवनकाल में थी। यह भक्तिमती थी। सीता की खोज करते हुए लक्ष्मण सहित श्री राम जी इसके आश्रम पर गये थे। अध्यात्म रामायण तथा रामचरित मानस के अनुसार श्री राम ने शबरी को नौधा-भक्ति का उपदेश दिया था। वाल्मीकीय रामायण में शबरी-राममिलन प्रसंग में नौधा-भक्ति नहीं है।

कृष्ण

वसुदेव-देवकी-द्वारा जन्मे तथा नन्द-यशोदा-द्वारा पालित ये तो जगत-प्रसिद्ध हैं। इनके श्रद्धालु लोग इन्हें पूर्ण निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। कहा जाता है इन्होंने वृन्दावन में गोकुल के अहीरों की युवती स्त्रियों को बुलाकर रास-क्रीड़ा (नाच-गान और अमर्यादित व्यवहार) किया था। कहा जाता है इनके स्वयं की भी सोलह हजार एक सौ आठ रानियां थीं। यह निर्गुण ब्रह्म की कितनी बड़ी विडम्बना है? इनकी सोलह हजार स्त्रियों का होना कल्पना ही है। लीला विस्तारपूर्वक जानना हो तो श्रीमद्‌भागवत का दशम स्कन्ध, ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा गर्गसंहिता देखें। वस्तुतः ऋग्वेद (८/८५/१३-१६), छांदोग्य उपनिषद् (३/१७/६) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है कहीं भी उनके द्वारा पर-स्त्री-गमन तथा रास-क्रीड़ा नहीं है। यह तो विषयी पंडितों ने शृंगाररस के जोश में कृष्णचरित्र में रास तथा पर-स्त्री-गमन आदि का प्रसंग जोड़कर उनके चेहरे को विकृत किया है। श्री कृष्ण गृहस्थ अवश्य थे, परन्तु वे राजनीतिज्ञ, शूरवीर, ज्ञानी तथा दार्शनिक थे। वे पर-स्त्रियों को लेकर न रास करते थे न उनके साथ क्रीड़ा और न उनकी सहस्रों पत्नियां थीं।

माया-मोह की सारहीनता

शब्द–१३

राम तेरी माया दुन्द मचावै॥ १ ॥

गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहि नचावै॥ २ ॥

क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी॥ ३ ॥

केतेक घातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी॥ ४ ॥

काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै॥ ५ ॥
ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै॥ ६ ॥
आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—माया = धोखा, सम्मोहन, भ्रम, मूर्च्छा। दुन्द = द्वंद्व, कलह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक। गति = चाल। मति = बुद्धि। शाखा = डाली। अनूपम = अनुपम, विलक्षण। बानी = वाणी मात्र। चातृक = पक्षी, जीव। रुवा = रोवांटा, भूई। सयानी = बुद्धिमानी। ऋतु = रति, प्रेम।

भावार्थ—हे रमैया राम! तेरे मन की माया कलह मचाती है॥१॥ सामान्य लोगों को उसकी गति-मति नहीं समझ पड़ती। यह मन की माया सुर, नर तथा मुनि को नचाती रहती है॥२॥ सेमल पेड़ की डालियां बहुत बढ़ीं और उनमें फूल भी अनोखे लाल-लाल लगे, परन्तु उनकी प्रशंसा वाणी मात्र ही तो हुई॥३॥ क्योंकि उसके बड़े-बड़े फूल और फल को देखकर कितने ही पक्षी सुमिष्ट आहार की आशा में उनमें लगे, परन्तु देखते-देखते जब उसके फल पककर फूटे और उनमें से निस्सार रूखे रोयें उड़े, तो पक्षियों को निराश होना पड़ा। संसार के प्राणी-पदार्थों एवं ऐश्वर्य की यही दशा है॥४॥ हे खजूर! तुम्हारी भी क्या प्रशंसा की जाय! तुम्हारे फल तो कोई पाता नहीं है॥५॥ और ग्रीष्म ऋतु आने पर जब गरमी बढ़ती है तब तुम्हारी छाया पथिक का काम नहीं देती। इसी प्रकार मनुष्य के नाम-रूप के साथ लगे बड़प्पन उसको या अन्य को शांति नहीं दे सकते॥६॥ सद्गुरु कहते हैं, हे संतो! सुनो, लोग मायावी पदार्थों की उन्नति में स्वयं बुद्धिमान बनते हैं और दूसरे को उसी की सीख देते हैं। कनक-कामिनी के नैतिक-अनैतिक संग्रह तथा उपभोग में ही अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, और अभिमान रखते हैं कि हम राम के चरणों के प्रेमी हैं॥७-८॥

व्याख्या—कबीर साहेब के विचारों का राम सबकी अपनी अंतरात्मा है। उन्होंने स्वयं कहा है "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"..............."दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[१] बेलि प्रकरण में सद्गुरु ने जीव ही को राम शब्द से ४६ बार सम्बोधित किया है। अतएव जीव ही राम है और उसके मन का मोह माया है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "मन माया की कोठरी" तथा "मन माया तो एक है।"[२] अतएव मनुष्य के मन का धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा, अज्ञान एवं विषयासक्तिजनित मोह ही माया है।

इसलिए सद्गुरु मनुष्य को ही सम्बोधित कर कहते हैं कि हे राम! तुम्हारी माया द्वंद्व मचा रही है। द्वंद्व है राग-द्वेष, हर्ष-शोक, जन्म-मरण। यह द्वंद्व किसी आकाशीय राम का कृत्य नहीं है। यह जीव का ही कृत्य है। जिस द्वंद्व, कलह, दुख-सुख के प्रपंच को हम झेल रहे हैं वह किसी दूसरे राम के कर्मों का फल नहीं है। हम अपने ही बनाये जाल में

---

१. बीजक, रमैनी ४१, शब्द ९७।
२. बीजक, साखी १०४, १०५।

उलझते हैं। हम दूसरे के स्थूल जाल में भी तब तक नहीं उलझ सकते, जब तक स्वयं उसमें न पड़ें। और यह सूक्ष्म जाल, मन एवं कर्मों का जाल तो केवल हमारा ही बनाया रहता है जिसमें हम उलझते हैं। अतएव सद्गुरु जीव ही को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे रमैया राम! तुम्हारे मन की मोह-माया तुम्हारे लिए दुखद झगड़ा खड़ा कर रखी है।

"गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहि नचावै।" मनुष्य माया की गति-मति नहीं समझ पाता। वह तो सुर, नर तथा मुनि को भी नचाती है। माया कोई चेतन व्यक्ति नहीं है कि उसके गति के साथ मति एवं बुद्धि भी हो। अतः यहां गति-मति का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है 'रहस्य' एवं 'भेद'। अपने मन की माया का रहस्य साधारणतया देवता, मनुष्य एवं मुनि भी नहीं जान पाते। मनुष्यों से अलग न कहीं देवता है न दानव, किन्तु लोकधारणानुसार जैसे पुराणों में देवता माने गये हैं और उनके चरित्रों का वर्णन मिलता है, तो वे काफी मलिन आचरण के बताये गये हैं। साधारण मनुष्य तो सामने ही हैं, मुनिजन भी अनेक ऐसे हैं जो माया के चक्कर में विमोहित होकर भटके हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधारणतया मनुष्य, देवता एवं मुनिजन भी अपने मन की माया का भेद नहीं समझ पाते और उनका मायालिप्त मन उनसे घिनौने कर्म करा डालता है। संसार के प्राणी-पदार्थों का मोह ही माया बनता है। सद्गुरु उसकी निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी। केतेक चातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी।" सेमल का पेड़ बड़ा विशाल हुआ, उसमें शाखाएं बहुत बढ़ीं, लाल-लाल बड़े-बड़े फूल बहुत लगे और फल भी बहुत लगे। लेकिन आप जानते हैं कि उसके फूल में न गंध है और न फल में रस। उसके फूल गंध-रहित हैं ही, पककर फूटने पर उसके फल में भी नीरस रूई निकलती है। बहुत-से पक्षी सेमल के बड़े-बड़े फल देखकर उनसे मिष्ट स्वाद एवं भोजन पाने की आशा करते हैं। परन्तु जब फल पककर फूटते हैं तब उनमें से नीरस रोयें निकलते हैं और पक्षी निराश होकर उड़ चलते हैं।

जवानी, सुन्दरता, स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, धन, बल, शासन, स्वामित्व आदि सांसारिक ऐश्वर्य की यही स्थिति है। ये सब दो दिन के लिए देखने भर के हैं। चमकती जवानी थोड़े दिनों में सिकन लिये हुए चेहरे में बदल जाती है और चाम के लावण्य-माधुर्य रूखे दृश्य में परिवर्तित हो जाते हैं। मुंह, हाथ सब में मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं, उभरी छाती बैठ जाती है। रस-भरी खिली आंखें धंस जाती हैं। सुन्दर चमकती दंतपंक्ति खिड़बिड़ी हो जाती तथा उखड़ जाती है और कुछ दिनों में मुंह कुएं के समान हो जाता है। रमणीय पत्नी एक दिन देखने लायक नहीं रह जाती। मनोहर पुत्र कुछ दिनों में जवान तथा प्रौढ़ होकर अपने बीबी-बच्चों में उलझकर अनसुहाते हो जाते हैं। हार्दिक मित्र विमुख या शत्रु हो जाते हैं। धन-दौलत के जाने में देरी नहीं लगती। यदि पास में रहें भी, तो उनसे सन्तोष नहीं मिलता। अधिकार छूट जाते हैं। परिवार और समाज पर शासन करने वाला वही व्यक्ति एक दिन अपने ही घर के कोने में उपेक्षित पड़ा-पड़ा बिलखता रहता है।

तो क्या जिन प्राणी, पदार्थों, पद आदि की अहंता-ममता में पड़कर हमारे मन में

माया अर्थात धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा आदि बनते हैं, वे प्राणी-पदार्थादि सेमल के फूल-फल के समान निस्सार नहीं हैं? संयोगजनित सारे ऐश्वर्य को सेमल के फूल तथा फल के समान सारहीन समझ लेने पर हमारे मन में माया, धोखा, सम्मोह बन ही नहीं सकते। हमें अपने मन में विवेक जगाना चाहिए और संसार के भोगों की सारहीनता तत्त्व से समझना चाहिए।

भोगों की आसक्ति और श्रेष्ठता का अभिमान होने से मन में माया एवं सम्मोह बनते हैं। सद्गुरु ने सेमल का उदाहरण देकर भोगों की सारहीनता पर प्रकाश डाला। अब वे बड़प्पन की सारहीनता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं "काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै। ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै।" खजूर का पेड़ बहुत बड़ा होता है, परन्तु सहजतया उसका फल कोई नहीं पा सकता। गरमी में जब पथिक को छाया की आवश्यकता होती है, तब उसकी छाया भी उसे नहीं मिलती, क्योंकि पेड़ ऊंचा होने से उसकी छाया पेड़ के आस-पास न होकर दूर किसी खाईं-खंदक, खेत-कांटे आदि में पड़ती है।

यही दशा बड़प्पन के अहंकार की है। जाति, वर्ण, विद्या, पद, अधिकार, अवस्थादि चाहे जिसके बड़प्पन का अहंकार हो, उससे किसी का लाभ नहीं होता। किसी वस्तु की क्या बड़ाई है जब उससें किसी का कल्याण नहीं होता। खजूर-पेड़ की तरह अनुपयोगी बड़प्पन का अहंकार मनुष्यों के लिए केवल मन में माया एवं अहंता-ममता का धोखा ही पैदा करता है।

"आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी।" कनक-कामिनी के संग्रह एवं भोग में अपनी बुद्धिमानी समझने वाले लोग स्वयं तो इस लाइन में चतुर होते ही हैं, दूसरों को भी यही सीख देते हैं। दूसरों को कैसे बेवकूफ बनाकर धन ऐंठ लिया, भाई-पट्टीदार तथा दूसरों को किस तरह पट्टी पढ़ाकर अपना धन बढ़ा लिया, अपना हर स्वार्थ का काम बना लेने के लिए कैसे दूसरों को मूर्ख बना देते हैं, कैसे वैध-अवैध, प्राकृतिक-अप्राकृतिक इंद्रिय-भोग करने में अपनी निपुणता दिखा देते हैं, इन सबका वर्णन वे बड़े समारोह के साथ करते हैं, और अगले आदमी को भी सीख देते हैं कि ऐसे ही करने में बहादुरी है। वे कहते हैं अरे यार, आदमी की जिन्दगी पाकर क्या किया यदि चालाकी न सीखी, इच्छा भर भोगों को न भोगा!

उनको पता नहीं है कि यह उनकी अपनी बनायी चतुरता ही उनके मन की माया है जो उन्हें ही निरंतर छल रही है। दूसरों को छलने वाला और इंद्रियों का लंपट कभी विश्राम नहीं पा सकता। ऐसे लोग जीवन के उतार तथा आखिर में तो दुखों के पात्र ही बन जाते हैं। जन्मांतर तो उनका दुखदायी होगा ही। जिनका आज बिगड़ा है, उनका आगे बनने की तो कोई आशा ही नहीं है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी।" यहां 'रति' का कभी लिखावट में ऋतु हो गया लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो, ऐसे आकंठ माया में

डूबे लोग भी कहते हैं कि हम राम के चरणों में प्रेम करते हैं। गोस्वामी जी ठीक ही कहते हैं—

बंचक भक्त कहाय राम के। किंकर कंचन कोह काम के।।

संयोगजनित प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता ही माया है, जो सारे द्वंद्वों का कारण है। विवेक से इसे दूर कर निर्द्वंद्व एवं परम शांतिमय जीवन जीना चाहिए।

संशय-छेदन

शब्द–१४

रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि पकरि यम लूटै।। १ ।।
होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी।। २ ।।
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किन्हु न नासी।। ३ ।।
सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे।। ४ ।।
लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे।। ५ ।।
जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै।। ६ ।।
गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे।। ७ ।।
जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।। ८ ।।
कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना।। ९ ।।

शब्दार्थ—रामुरा = रमैया राम जीव। संशय = अनिश्चय, संदेह। यम = वासनाएं। कुलीन = उच्च कुल। मिस्कीन = गरीब। ये मति = संशय। सुमृति = स्मृति। अनुभव = प्रयोगसिद्ध ज्ञान, अनु (पीछे) भव (उत्पन्न), प्रयोग के पीछे उत्पन्न हुआ ज्ञान। भाव = भावना, अवस्था। हिरण्य = सोना। अमरे = पहुंचना; 'अमरे' शब्द छत्तीसगढ़ी बोली का है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'पहुंचना'।

भावार्थ—हे रमैया राम! तुम्हारे मन के संशय की गांठ नहीं छूटती, इसलिए कामादि वासनाएं तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटती हैं।।१।। तू विवेकसम्पन्न उत्तम मानव कुल में उत्पन्न होकर स्वरूपज्ञान बिना दीन बना है। अथवा तू अनेक बार उच्चकुल वाला बना तथा नीचकुल वाला और गरीब बना, योगी बना, संन्यासी बना और ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता बना; परन्तु इस अनिश्चयात्मक एवं संशयात्मक बुद्धि का नाश नहीं कर पाया।।२-३।। सब लोग स्मृति, वेद, पुराणादि पढ़ते हैं और वाक्य तथा बौद्धिक ज्ञान में निपुण हो जाते हैं, परन्तु प्राप्त ज्ञान का जीवन में प्रयोग कर उस उच्च दशा में स्थित नहीं होते।।४।। यदि लोहा पारस का स्पर्श नहीं करता तो वह भला, सोना कैसे बनेगा? ।।५।। यदि तुम आज इस जीवनकाल में भव-बन्धनों एवं प्रपंच से मुक्त नहीं होते हो तो मर जाने पर क्या मुक्त होओगे? ।।६।। जो व्यक्ति जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है वह वहां अवश्य पहुंचता है।।७।। हे बुद्धिमान मानव! तूने जितने कर्म ज्ञान तथा अज्ञान में किये हैं, उनको समझने की चेष्टा कर और उनके संस्कारों से मुक्ति पा ले।।८।। सद्गुरु कहते हैं कि

हे संतो, ऐसे आदमी को क्या सीख दी जाय, जो जान-समझकर भी गलत रास्ते पर जा रहा है! ॥९॥

व्याख्या—शब्द प्रकरण के शुरू से बारह शब्दों तक सद्गुरु ने सन्तों को सम्बोधित कर अपने शब्द कहे हैं। वे तेरहवें से लेकर इक्कीसवें तक राम को लेकर अपने विचार कहते हैं। राम-प्रकरण का यह दूसरा शब्द है। सद्गुरु कहते हैं कि हे रामुरा, हे रमैया राम! तेरे संशय की गांठ नहीं छूटती है, इसीलिए यमराज तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटता है। "रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि-पकरि यम लूटै।" इस पंक्ति में रामुरा, संशय-गांठि तथा यम—ये तीन शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। रामुरा जीव है, संशय-गांठि वस्तु-बोध का अनिश्चय है और यम वासनाएं हैं।

संशय, अनिश्चय, दुविधा, संदेह मनुष्य की किसी भी दिशा की उन्नति के महान बाधक हैं। कितने लोग वर्षों इसी बात पर विचार करते रह जाते हैं कि कपड़े का व्यापार करें कि बरतन का या कि अनाज का। यहां तक कितने सोचते हैं कि आज बाजार जाकर सौदा ले आवें। फिर मन में विकल्प आता है, कि आज नहीं कल जायेंगे। फिर सोचते हैं आज ही ले आवें। वे उठकर दस कदम चलते हैं और पुनः रुक जाते हैं और सोचते हैं कि कल ही जायेंगे। इस प्रकार सोचते-सोचते उनके सप्ताहों निकल जाते हैं और बाजार जाकर घरेलू काम की चीजें नहीं ला पाते। यह मन की बहुत बड़ी कमजोरी है।

आध्यात्मिक तत्त्वबोध के विषय में जिन साधकों की संशयात्मकदशा रहती है, न वे निर्भ्रांत बोध प्राप्त कर सकते हैं और न अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। "मेरा अपना विश्राम-स्थल, मेरी अपनी स्थिति-दशा मेरी अपनी आत्मा एवं अपना चेतन स्वरूप ही है, या इससे अलग कोई दूसरा ईश्वर-परमात्मा है? मैं जड़ से सर्वथा भिन्न हूं या अभिन्न हूं? कल्याण के लिए कामादि विषयों का सर्वथा त्याग करना चाहिए या उनका उपभोग करते हुए भी कल्याण हो सकता है?" यदि ऐसे संशय मन में बने हैं तो कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। निर्भ्रांत दृष्टि के बिना मंजिल नहीं पायी जा सकती।

अच्छे-अच्छे विद्वान ही नहीं साधन-सम्पन्न साधु-संन्यासी भी केवल परमात्मा को पाने के लिए ही बाहर नहीं भटकते, किन्तु जादू, टोना, मंत्र, तंत्र, यंत्र, दिशाशूल, शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेत, देवी, देवादि जो केवल मिथ्या मान्यताएं हैं, इनमें भटकते रहते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में वेदांत की बड़ी महिमा है जिसका नवीन ढंग से अर्थ लगाया जाता है जड़-चेतन-अभिन्न अद्वैत ब्रह्म, और यह इतना उलझा हुआ है कि इसमें निश्चयात्मक निर्णय है ही नहीं। अद्वैतवादी सुन्दर दास जी कहते हैं—"यदि ब्रह्म ही एक सर्वत्र भरपूर व्याप्त है और उसके अलावा कुछ नहीं है, तो यह कौन बता रहा है कि एक ब्रह्म व्यापक है? यदि कहो यह सब जीव कह रहा है, तो क्या जीव ब्रह्म से अलग है? यदि अलग है तो द्वैत हो गया। यदि कहो कि सर्वज्ञ तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म में से अल्पज्ञ एकदेशी जीव पैदा हो गया, तो यह सूर्य में से अंधियारी कैसे पैदा हुई? सुन्दरदास जी कहते हैं कि मैं यह जानकर मौन हो गया हूं कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धांत में किसी प्रकार भी निर्णय

नहीं हो सकता।"[१]

जड़-चेतन अभिन्न अद्वैतवाद पहले जड़-चेतन तथा भोग-त्याग का पृथक्करण करता है और कहता है कि जड़ से हटकर तथा भोगों का त्यागकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु आगे चलकर वह जड़-चेतन तथा भोग-त्याग मिला देता है। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने अपने महान ग्रंथ पंचग्रंथी में कहा है कि अद्वैतवादी लोग "अज्ञानी ज्ञानी करे, ज्ञानिहिं करे अचेत।" अर्थात साधारण आदमी को तो वे यह बताते हैं कि देहादि का अहंकार त्यागकर तथा विषयों से विरत होकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु जब आगे बढ़ते हैं तब कहते हैं कि तुमसे अलग कुछ नहीं है। सारा जगत तुम्हारा स्वरूप है। अर्थात ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्व भी तुम्हारा स्वरूप है, भोग-त्याग में कोई अन्तर नहीं। "भोगे युवति सदा संन्यासी, शिष्य लहि यह अद्भुत संवाद।"[२] अर्थात युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है।

वेदांतोक्त संन्यास की पुनर्स्थापना करने के लिए जिन स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने बीड़ा उठाया था, वे मंडन मिश्र की पत्नी भारती को कामकला का उत्तर देने के लिए मृतक राजा अमरुक की सौ से भी अधिक सुन्दर पत्नियों से सवा महीने भोग-विलास करते रहे। जब वे उन स्त्रियों से भोग-विलास करने के लिए जाना चाहे, तब उनके शिष्यों ने मत्स्येन्द्रनाथ[३] की कथा कहकर उन्हें रोका कि यह काम संन्यासी का नहीं है। यह बहुत बड़ा पतन है। इसके उत्तर में स्वामी शंकराचार्य से कहलाया गया है—जिस प्रकार गोपियों के संग रहने पर भी श्रीकृष्ण चन्द्र में किसी प्रकार की काम-वासना उत्पन्न नहीं हुई थी, उसी प्रकार आसक्ति-रहित मनुष्य के हृदय में काम उत्पन्न नहीं होता। हे वत्स! इस बज्रोली नामक योग से हमारे व्रत में किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी।[४] स्वामी शंकराचार्य

---

१. व्यापक ब्रह्म रह्यो भरपूर, तो दूसर कौन बतावनहारो।
जो कहि जीव करो परमान, तो जीव कहा कहु ब्रह्म सो न्यारो॥
जो कहि जीव भयो जगदीश से, तो रवि माहि कहा को अन्धारो।
सुन्दर मौन गही यह जानि के, कौनिउ भांति न होय निस्तारो॥

२. विचारसागर।

३. शंकराचार्य आठवीं शताब्दी में हुए हैं तथा मत्स्येंद्रनाथ जो गोरखनाथ के गुरु थे नवीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं, तब शंकराचार्य के शिष्य अपने गुरु के सामने मत्स्येंद्रनाथ का उदाहरण कैसे दे सकते हैं! मत्स्येंद्रनाथ शंकराचार्य से कम-से-कम डेढ़ सौ वर्ष के बाद हुए होंगे।

४. असङ्गिनो न प्रभवन्ति कामा हरेरिवाऽऽभीरवधूसखस्य।
वज्रोलियोगप्रतिभूः स एष वत्सावकीर्णित्वविपर्ययो नः॥ *(शंकरदिग्विजय ९/९०)*

यहां इस संदर्भ में जितने उदाहरण दिये जा रहे हैं सब माध्वाचार्यविरचित शंकरदिग्विजय के हैं तथा उन पर काशीवासी पं० बल्देव उपाध्याय की टीका है। मैं टीका भी अपनी तरफ से न कर उन्हीं की दे रहा हूं। पं० बल्देव उपाध्याय बज्रोली पर अपनी टिप्पणी देते हुए कहते हैं "बज्रोली हठयोग की बड़ी उन्नत साधना है। जिसे यह सिद्ध हो जाती है उसे स्त्री-प्रसंग करने पर भी वीर्य-क्षय नहीं होता। यह कठिन साधना अन्य

आगे और कहते हैं—"घड़ा आदि वस्तुएं मिट्टी से बनी हुई हैं। वे मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न होने वाला यह संसार परमात्मा को छोड़कर त्रिकाल में भी अपनी पृथक सत्ता नहीं धारण कर सकता।"[१] इसका सार यह हुआ कि जब सारा संसार परमात्मा ही है, तब संसार की किसी भी वस्तु में रमण करने से मानो परमात्मा में ही रमण करते हैं। यहां जड़-चेतन का विवेक नितांत खो दिया गया है।

स्वामी शंकराचार्य आगे कहते हैं—"चाहे वह (ब्रह्मज्ञानी) सौ अश्वमेध यज्ञ करे, चाहे ब्राह्मणों की अगणित हत्या करे, परन्तु परमार्थ को जानने वाला पुरुष सुकृत या दुष्कृत में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इन कार्यों के करने में उसका कर्तृत्वभाव नष्ट हो गया रहता है।"[२]

अश्वमेध यज्ञ वैसे ही महापाप है, क्योंकि इसमें सैकड़ों पशु काटकर होमे जाते थे। देखिए वाल्मीकि-रामायण के बालकांड का दशरथ का अश्वमेध यज्ञ, फिर ब्राह्मण आदि मनुष्यों को मारना तो पाप है ही। दुराचरण करने पर भी ज्ञानी को पाप नहीं छूता—यह मान्यता अपनी दुर्बलता छिपाने एवं पाप को अक्षुण्ण रखने का षड्यंत्र है।

उक्त ग्रन्थ शंकरदिग्विजय में लिखा है कि शिष्यों के संरक्षण में अपना शरीर छोड़कर स्वामी शंकराचार्य जी ने मृतक अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश कर स्त्रियों का सहवास किया। शंकरदिग्विजय के दसवें सर्ग में शंकराचार्य का सौ रानियों के साथ जुआ, शराबपान तथा काम-क्रीड़ा का जो सविस्तार वीभत्स वर्णन है वह अत्यन्त शर्मनाक है। एक संन्यासी के लिए यहां जो वर्णन है, वह काम-शास्त्र को भी फीका कर देता है।

यह तो विश्वास नहीं पड़ता कि स्वामी शंकराचार्य ने यह सब किया होगा। पर-कायाप्रवेश तो अपने आप कपोल-कल्पित है। परन्तु अद्वैत ब्रह्मवाद का ऐसा सैद्धांतिक दोष है कि उसमें यह मान ही लिया गया है कि जड़-चेतन तथा भोग-योग में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए तो शंकराचार्य के अनुगामी-भक्त ही ने ब्रह्मज्ञान तथा संन्यास के नाम पर शंकराचार्य ही पर काम-भोग थोपकर ज्ञान और आचरण में गड्डबड्ड पैदा करने का रास्ता खोला लिया है।

सद्गुरु कबीर कितने जागरूक थे। वे कहते हैं "होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी। ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किनहु न नासी।" अर्थात लोग चाहे

साधनाओं के समान गुरु-कृपा से ही संवेद्य है।" टीकाकार पं० बल्देव जी ब्रजोली को बड़ी उन्नत साधना बतलाते हैं। यह नहीं कहते कि कामवासना की पूर्ति के लिए यह बहुत बड़ा और पतन का खुलाद्वार है। ऐसे लोग काम-भोग को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं और अपने त्याग की प्रतिष्ठा भी बनाये रखना चाहते हैं।

१. कलशादि मृत्प्रभवमस्ति यथा मृदमन्तरा न जगदेवमिदम्।
परमात्मजन्यमपि तेन विना समयत्रयेऽपि न समस्ति खलु॥ *(९/९४)*

२. तदयं करोतु हयमेधशतान्यमितानि विप्रहननान्यथवा।
परमार्थविन्न सुकृतैर्दुरितैरपि लिप्यतेऽस्तमितकर्तृतया॥ *(शंकर दिग्विजय ९/९६)*

तथाकथित कुलीन हों चाहे साधारण कुल के एवं गरीब हों, चाहे योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता हों, परन्तु उनके मन की संशय-ग्रंथि नहीं छूटती। अनेक विषयों के आचार्य, विद्वान एवं त्याग-तपोनिष्ठ संन्यासी साधुओं में से कोई ग्रन्थ के ऊपर फूल-पत्ती चढ़ाकर उसकी पूजा करता है, कोई पत्थर की पिंडी पूजता है। शकुन-अपशकुनादि नाना भ्रांतियां तो लोग पालते ही रहते हैं। तात्पर्य यह कि सारी भ्रांतियों एवं संशयों से सर्वथा मुक्त होकर वस्तुपरक एवं आत्मपरक ज्ञान तथा आचरण में ठहरना दुर्लभ है और इसी की महत्ता है। मुंडक उपनिषद् के भी ऋषि कहते हैं "जिसके हृदय की सारी ग्रन्थियां (आसक्तियां) टूट जाती हैं, मन के सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मों के उद्वेग समाप्त हो जाते हैं, उसकी दृष्टि पर-अवर—आर-पार को देख लेती है। वह कृतकृत्य हो जाता है।"[१]

"सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे। लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे।" कबीर साहेब ने काशी में पंडितों को बहुत निकट से देखा था कि वे वेदों-उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हैं, और महाकाव्यों तथा पुराणों का अध्ययन करते हैं। पंडितजन शास्त्र-अध्ययन तो खूब करते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में प्रायः आचरण नहीं करते। इसलिए उनकी वाचिक तथा बौद्धिक बातें उनके जीवन में नहीं उतरतीं। जीवन में जब तक अनुभव-भाव के दर्शन नहीं होते अर्थात जो कुछ बुद्धि से जाना गया है उसका जीवन में जब तक आचरण नहीं होता, तब तक जीवन में मधुमयता एवं शांति नहीं आती। सद्गुरु कहते हैं कि पारस पत्थर का नाम लेने मात्र से लोहा सोना नहीं बन सकता। जब तक लोहा सोना को नहीं छूता तब तक वह सोने के रूप में नहीं बदल सकता। पारस तो एक काल्पनिक पत्थर है जिसका प्रयोग साहित्य-जगत में होता है। यह केवल बातों को समझाने के लिए है। लोहा और पारस के नाम लेकर यहां सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि जब तक हम जानी हुई वास्तविकता का जीवन में प्रयोग नहीं करेंगे तब तक पवित्र एवं सच्चे अर्थ में सुखी नहीं हो सकते। सिद्धांततः एवं स्वरूपतः जीव कल्याणरूप हैं, परन्तु उस प्रकार जीवन में रहनी बनाये बिना कल्याण का अनुभव नहीं हो सकता। ज्ञान केवल कहने की बात नहीं है, किन्तु रहने की बात है।

मानो पंडितों ने कबीर साहेब से कहा हो कि हम उच्च वर्ण के हैं, विद्वान हैं। हम शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। हम मरने के बाद अवश्य संसार से तर जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे। मानो कबीर साहेब ने उत्तर में कहा हो कि "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।" जो इस जीवन में संसार से नहीं तर सका, वह मर जाने पर क्या तरेगा? जब तक हमारे हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, संताप, विकलता, कलह, कल्पना, आशा, तृष्णा आदि बने हैं, तब तक तरने, मुक्त होने तथा कल्याण की छाया भी दूर है। निष्प्रपंच, निर्दोष एवं वासना-मुक्त जीवन ही मुक्त जीवन

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ *(मुंडक उपनिषद् २/२/८)*

है। जब हमारे जीवन में कोई वासना नहीं रहती, कोई क्षोभ नहीं रहता, कोई पीड़ा नहीं रहती और हृदय सदैव आनन्द का सागर बना रहता है, तब यही जीवन्मुक्ति है। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[१] अतएव जो जीवनकाल में मुक्त नहीं है मरने पर क्या मुक्त होगा! हमें आज ही संसार से तर जाना है। जो संसार से अनासक्त है वह इससे तरा हुआ है।

"गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे।" जो मनुष्य जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है, वह वहां पहुंचता है। जो वस्तु हो ही नहीं, केवल नाम हो, और उसमें कोई विश्वास कर ले तो वह उसे कहां पा सकता है? वह तो केवल भटकाव का कारण बन सकती है। बिना आधार के विश्वास मनुष्य को भटकाता है। वस्तुतथ्य हो और उसमें विश्वास हो तो वह उसे पा सकता है। शराब का प्रेमी शराब की दुकान पर जाता है, सिनेमाबाज सिनेमाहाल में, लम्पट वेश्यागृह में जाता है, परन्तु सत्संगी सत्संग में पहुंचता है। विषयों का रागी प्रपंच में भटकता है और विषयों से विरक्त व्यक्ति शांति में रमता है। यह नियम है कि जिसका जिसमें विश्वास होगा, जिसमें प्रेम होगा, जिसमें लगन होगी, वह उसके पाने में सफलता अवश्य प्राप्त करेगा देर हो या सबेर।

यदि किसी को अपने स्वरूप का ठीक बोध हो गया है और दृढ़ विश्वास के साथ स्वरूपस्थिति के अभ्यास में लगा है, तो वह स्वरूपस्थिति अवश्य प्राप्त करेगा। संसार की वस्तुएं तो विश्वास और प्रयत्न के बाद भी हो सकता है कि न मिलें, और मिल भी जाएं, तो उनका छूट जाना निश्चित ही है। परन्तु पूर्ण विश्वास, निष्ठा एवं प्रयत्न के साथ साधना में लग जाने पर स्वरूपस्थिति मिलना तो निश्चित है और वह मिल कर छूट नहीं सकती। जीवन में सबसे सहज, सुलभ और स्वाभाविक है स्वरूपस्थिति का पाना, क्योंकि वही मेरा अपना आपा है, अपना स्वत्व है, केवल विश्वास के साथ उसमें लगना चाहिए।

"जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।" हे बुद्धिमान! तूने जो कुछ ज्ञान तथा अज्ञान में किया है, उन्हें समझ। 'सयाना' शब्द का प्रयोग कर सद्गुरु उनको सम्बोधित करते हैं जो अपने आपको बहुत बड़ा बुद्धिमान एवं विद्वान मानते हैं, लेकिन वे अपने कर्मों पर ध्यान नहीं देते। वे अपने बौद्धिक तथा शास्त्रीयज्ञान के बल से ही संसार-सागर से पार जाना चाहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे विद्या-बुद्धि में प्रवीण लोग, तुम अपने ज्ञान तथा अज्ञान में जो कुछ कर्म किये हो, उसको समझने की चेष्टा करो। कर्मों के संस्कारों से अपने आप को मुक्त करो। पूर्व के हुए ऐसे कर्म पुनः न दोहराओ जो तुम्हारे लिए बंधनों का कारण बने। ध्यान रहे, तुम्हारा बौद्धिक तथा शास्त्रीयज्ञान तब तक कोई काम नहीं देगा, जब तक तुम अपने कर्मों को न सुधारोगे। ईश उपनिषद् के ऋषि भी हमें मरणकाल के लिए उपदेश देते हैं "क्रतो स्मर कृतं स्मर"[२] अर्थात जो आगे करना है तथा जो कर चुके हो उनका स्मरण कर।

---

१. बीजक, साखी ३२२।

२. ईश उपनिषद्, मंत्र १७।

"कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना।" सद्गुरु कहते हैं कि उसको क्या सीख दी जाय जो आंखों से देखते हुए भी भूले मार्ग पर जा रहा है। कबीर साहेब विद्वानों की जड़ता पर दुखी होकर इस पूरे शब्द में उनकी वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं। वे इस शब्द में शुरू से ही कहते हैं कि लोग कुलीन, मिस्कीन, योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, कवि, दाता आदि बनकर भी न संशय से मुक्त हैं और न ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं। इस अन्तिम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि इन विद्या तथा अपने बड़प्पन के अहंकारियों को समझाना बड़ा कठिन है, ये देखकर नहीं देखते, जानकर नहीं जानते। सोते हुए को जगाना सरल है, परन्तु जागते हुए जो सोने की नकल कर रहा है उसे जगाना कठिन है। यद्यपि प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भवसागर से अपने आप को बचाओ

शब्द—१५

रामुरा चली बिनावन मा हो, घर छोड़े जात जोलाहा हो॥ १ ॥
गज नौ गज दस गज उनइस की, पुरिया एक तनाई॥ २ ॥
सात सूत नौ गण्ड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई॥ ३ ॥
ता पट तुला तुलै नहिं गज न अमाई, पैसन सेर अढ़ाई॥ ४ ॥
तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं, करकच करे गहराई॥ ५ ॥
नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लागु तिहाई॥ ६ ॥
भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई॥ ८ ॥
छाड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई॥ ९ ॥

शब्दार्थ—रामुरा = रमैया राम जीव। बिनावन = शरीर रूपी वस्त्र बिनाने के लिए। मा = माया, वासना। हो = हे, संबोधन। घर = शरीर। जोलाहा = नाना कर्म एवं शरीर रूपी वस्त्र बीनने वाला जीव। गज = वस्त्र नापने की एक नाप, तात्पर्य में मन। नौ गज = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन नवों का कर्मवासनामय सूक्ष्म शरीर। दस गज = दस इन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ। उनइस = उपर्युक्त नौ तथा दस मिलकर उन्नीस। पुरिया = ताना, थान, शरीर। सात सूत = रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य। नौ = नौ नाड़ी—पुहूखा, गंधारी, गणेशिनी, कुहू, अलंबुषा, पयस्वनी, हस्तिनी, वारुणी तथा शंखनी। गण्ड = गांठ। बहत्तर = बहत्तर नाड़ियां—१६ कंडराएं (महास्नायु–मोटी नसें), १६ जाल (महीन नसें), ४ रज्जु, ७ सेवनी (सीवन जैसा शरीर के किसी अंग का योग—मस्तक में पांच, जीभ में एक, शिश्न में एक), १४ अस्थि संघात, १४ सीमंत, १ त्वचा। अथवा बहत्तर हजार नाड़ियां। पाट = फैलावा, पनहा, वस्त्र। अधिकाई = उत्तम। गज न अमाई = मन शांत नहीं हुआ। करकच = झगड़ा। गहराई = बहुत। खसम = पति, जीव। बरबस = बलात। तिहाई = तीसरापन-बुढ़ापा। भींगी = विषयलिप्त या जरजर। पुरिया = बाना फैलाने की नरी, ताना,

तात्पर्य में स्थूल-सूक्ष्म शरीर। जोलाहा = जीव। रिसाई = क्रुद्ध, दुखी। जिन = जीव। पसार = माया का विस्तार। भवसागर = वासना, जन्म-मरण।

रूपक—एक जोलाहा तथा जोलाहिन में झगड़ा हुआ। जोलाहा घर छोड़कर चल दिया और जोलाहिन कपड़ा बिनवाने के लिए अन्यत्र चल दी। उसने नौ गज, दस गज, उन्नीस गज एवं नाना आकार में कपड़े बिनवाने के लिए पुरिया तनवायी। उसमें कहीं सात सूत का किनारा लगा, कहीं नौ का और कहीं बहत्तर सूतों की गांठ देकर चित्र-विचित्र बहुत कपड़े बनवाये। कपड़े बहुत बन गये। वह उसे बेचने बैठी तो गज से नाप कर बेचने की बात ही दूर, तराजू में तौल कर बेचने में भी संभव नहीं हुआ। कपड़ा इतना सस्ता पड़ गया कि एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। यद्यपि जोलाहिन ग्राहकों से बहुत झगड़ा करती थी, परन्तु दाम बढ़ने की तो बात ही दूर, उलटे गिरता गया। वह रोज सुबह उठकर पति से भी झगड़ा करती। फिर भी कपड़े का दाम तीन हिस्सा और गिर गया। फिर जोलाहिन ने क्रोधावेश में नये सूत के गट्ठों पर पानी डाल दिया और सारी पुरियां भींग गयीं। अतएव उसका पति क्रुद्ध होकर पुनः घर से निकल गया। वह कबीर साहेब के पास गया। कबीर साहेब अपनी संतमंडली के साथ बैठे थे। उसने अपना दुख कबीर साहेब से कहा। साहेब ने कहा—'हे पगले, तू ही तो यह माया की सृष्टि बनाकर इसमें उलझा है, इसे छोड़ और राम का भजन कर, अन्यथा संसार-सागर से तरना कठिन है।'

भावार्थ—हे रमैया राम! जब जीव रूपी जोलाहा शरीर रूपी घर छोड़कर अन्य खानियों में जाता है, तब उसके साथ आगामी शरीर रूपी वस्त्र बुनवाने के लिए कर्म-वासना रूपी माया चलती है॥१॥ जीव के साथ माता के गर्भ में जाकर वहां उसने जीव के लिए शरीर रूपी वस्त्र बुनने के लिए एक ताना तनवाया जिसमें मन, नौ तत्त्व का सूक्ष्म शरीर, दस इन्द्रियां, सप्त धातु, नौ नाड़ियां एवं बहत्तर कोठे, नसें या बहत्तर हजार नाड़ियां रूपी सामग्री लगी। यह मानव शरीर रूपी वस्त्र अन्य शरीरों से उत्तम बना॥२-३॥ इसकी तुलना मानवेतर शरीरों से नहीं की जा सकती; परन्तु खेद है कि व्यक्ति का मन स्ववश एवं शांत न होने से यह एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। अर्थात मोक्ष-साधन योग्य मानव शरीर तुच्छ विषयों के लिए बिकने लगा॥४॥ उसमें भी मानव के जीवन के जितने दिन बीतते हैं उतना ही उसका मूल्य घटता जाता है; क्योंकि उसके मन में सांसारिक वासना, तृष्णा, कलह एवं द्वन्द्व गहरे होते जाते हैं॥५॥ मनुष्य की सुबह नींद खुलते ही वासना-माया रूपी पत्नी नित्य उठकर बैठ जाती है और अपने जीव रूपी पति से जबर्दस्ती तृष्णा एवं चिन्ता रूपी झगड़ा ठान देती है। इसी माया के द्वन्द्व में जीव का तीसरा पन बुढ़ापा बीत जाता है॥६॥ तृष्णाओं तथा चिन्ताओं से भींगा मन और जरजरता से ढीला तन कल्याण-साधना में काम नहीं देते। अंततः जीवन का आखिर आ जाता है और बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र का वयन करने वाला जीव रूपी जोलाहा दुखी होकर पुनः दूसरा शरीर-वस्त्र-वयन करने चल देता है और पूर्व गर्भवास की स्थिति में पहुंच जाता है॥७॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जिस आत्माराम ने अपने स्वरूप की भूल से विषयासक्त होकर यह जन्म-मरण की सृष्टि की रचना की है, हे पगले! सारे विषयप्रपंच

का पसारा छोड़ कर उस आत्माराम का भजन कर, अन्यथा इस विषयवासना तथा जन्म-मरण रूपी भवसागर से तरना कठिन है।।८-९।।

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में जोलाहे का सुन्दर रूपक देकर जीव के जन्मान्तर का रहस्य समझाया है, और मानव वासनाओं में उलझकर किस तरह अपने शरीर का दुरुपयोग करता है इस पर प्रकाश डाला है।

इस शब्द में पहली पंक्ति में यह बात बतायी गयी है कि जीव जब शरीर छोड़कर जन्मान्तर में चलता है तब वह अकेला नहीं जाता है, प्रत्युत अपने साथ वासनाओं को लेकर जाता है। जोलाहा कपड़ा बुनता है। जोलाहिन उसके काम में सहयोग करती है। जीव-जोलाहा बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र बुनता है। उसमें वासना रूपी जोलाहिन सहयोग करती है। बिना वासना के शरीर धारण हो ही नहीं सकता।

दूसरी और तीसरी पंक्ति में शरीर के भीतर लगी सामग्रियों का वर्णन है। इसके साथ "पाट लागु अधिकाई" कहकर यह बताया गया कि यह मानव शरीर श्रेष्ठ है और "ता पट तुला तुलै नहिं" कहकर बताया गया है कि मनुष्येतर कोई शरीर मानव-शरीर की तुलना में नहीं तुल सकता। मानव शरीर में सबसे दुखद घटना है "गज न अमाई" अर्थात मन शांत न होना। जो शांत-मन वाला नहीं होता उसका शरीर "पैसन सेर अढ़ाई" में बिकता है। अशांत मन वाला अनेक व्यसनों एवं दुर्गुणों में फंसकर जीवन को कौड़ी के मोल में खोता है। मनुष्यों पर दृष्टि डालिए तो पता लगेगा कि ये कल्याणसाधना करने योग्य अत्यंत मूल्यवान मानव-शरीर कैसे तुच्छ बातों में खो रहे हैं। लोग ताश, जुआ, गप्पबाजी, परनिन्दा, शराब, गांजा, भांग, सिगरेट, तम्बाकू, राग-द्वेष, कलह-कल्पना आदि में अनोखा जीवन नष्ट कर रहे हैं।

"तामें घटै बढ़े रतियो नहिं, करकच करे गहराई।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी स्थिति में मानव-जीवन का मूल्य निरंतर घटता ही जाता है, बढ़ने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि ऐसे आदमी निरंतर गहरे कलह में पड़ते जाते हैं। जीवन जीने का गलत तरीका अपनाने से आदमी के जितने दिन बीतते हैं उतना ही वह उलझता जाता है। गेंद छत से जीने पर जब गिरती है तब वह बीच में नहीं रुक सकती। वह एक से दूसरे जीने पर गिरती हुई नीचे आ जाती है। यही दशा जीवन की है। यदि आदमी राग-द्वेष, कलह-कल्पना, चिन्ता-शोक और नाना दुर्व्यसनों एवं विकारों के कारण नीचे जा रहा है और उनसे बचने का प्रयत्न नहीं कर रहा है, तो वह निरंतर नीचे ही जायेगा। मन मलिन होने से जीवन के आचरण गिरते हैं तथा आचरण गिरने से मन और अधिक मलिन होता है। उसके पश्चात वही क्रम चालू रहता है और जीवन उत्तरोत्तर गिरता जाता है। जीवन गिरने का मुख्य लक्षण है 'करकच करे गहराई' मन के द्वन्द्व अधिक बढ़ते जाना। मन में जितना अधिक कलह होगा उतना अधिक कलह जीवन के व्यवहार में बढ़ेगा।

"नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लागु तिहाई।" आदमी सुबह उठता है और उसके साथ उसके मन की वासनाएं तथा गलत आदतें भी उठ बैठती हैं और वे अपने पति देवता जीव से जबर्दस्ती अपनी इच्छाएं पूरी कराने में लग जाती हैं। कितने लोग हैं कि वे बिस्तर पर जागने के बाद ठीक से कुल्ला भी नहीं करेंगे, किन्तु बीड़ी-

सिगरेट जलाकर मुख में खोंस लेंगे या तम्बाकू-चूना मुंह में ठूंस लेंगे। पढ़े-लिखों में तो 'बेड-टी' का प्रचलन ही हो गया है। नींद खुलते ही बिस्तर पर चाय चाहिए। इतना ही क्या, जागते ही गाली-गुत्ता, ईर्ष्या-द्वेष, दूसरों को बेवकूफ बनाने का षड्यंत्र करना, और चिन्ता-शोक में जलना शुरू हो जाता है। जीव ने अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर वासनाओं को ही बलवान बना लिया है। अब वे वासनाएं जीव को निरंतर रुलाती रहती हैं। सद्गुरु कहते हैं 'तापर लागु तिहाई' इन्हीं वासनाओं की उलझन में तीसरापन बुढ़ापा आ जाता है और इन्हीं उलझनों में वह बीत भी जाता है।

"भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई।" सूत का बंडल यदि पानी में भींग जाय तो वह कपड़ा बुनने में काम नहीं दे सकता, इसी प्रकार अनेक वासनाओं, चिन्ताओं एवं उलझनों में डूबा मन तथा जरजरता से पीड़ित शरीर साधना के योग्य नहीं रह जाता। जिसने जीवन भर या जीवन के उत्तरार्ध में खुराफाती काम किये हैं, उनका मन अनेक मानसिक विकारों में उलझ जाता है। इसके साथ शरीर कमजोर होने से शरीर के सारे अंग-सहित बुद्धि भी कमजोर हो जाती है। फिर ऐसी जरजरता में कल्याण-साधना का काम क्या बन सकता है! भर्तृहरि जी कहते हैं "जब तक देह निरोग है, बुढ़ापा दूर है, अंग बलवान हैं, आयु शेष है, तब तक अपने कल्याण का साधन कर लो। अन्यथा घर में आग लगने पर कुआं खोदने न्याय जरजर मन और तन हो जाने पर कुछ नहीं कर सकोगे।"[१] ऐसी मन की उलझी हुई अवस्था में तो जीव दुखी होकर अंततः शरीर छोड़ देता है और पुनः नया शरीर रूपी वस्त्र बनाने चल देता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई। छाड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तूने ही तो यह माया-मोह की सृष्टि बनायी है। तू अपने ही बनाये दुखों की सृष्टि में स्वयं फंसा है। तेरे दुखों के लिए किसी दूसरे ने सृष्टि नहीं बनायी है। तुझे दुख भोगने के लिए कोई तुम्हारे लिए सृष्टि बना दे, यह संभव ही नहीं है। तूने ही अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं माया-मोह एवं अनेक विकारों की सृष्टि बनायी है और उसी में उलझा दुख पा रहा है। हे पगले! इस माया के पसारा को छोड़, प्रपंच से अलग हो और राम का भजन कर। तेरा चेतन स्वरूप ही राम है। तू ही तो राम है। विषयों को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप में विश्राम कर, यही राम-भजन है। जो व्यक्ति स्वरूप राम में रमण करता है, वह विषय-वासनाओं एवं संसार के प्रपंच रूपी भवसागर से सहज ही मुक्त हो जाता है और जो राम-भजन नहीं करता उसको भवसागर तरना कठिन है। मन के विकार ही तो भवसागर हैं। जो आत्माराम हो जाता है,

---

१. जौ लौं देह निरोग और जौ लौं न जरा तन।
अरु जौ लौं बलवान आयु अरु इन्द्रिन के गन।।
तौ लौं निज कल्याण करन को यत्न विचारत।
वह पंडित वह धीर वीर जो प्रथम सम्हारत।।
फिर होत कहा जरजर भये जप तप संयम नहिं बनत।
भव काम उठ्यो निज भवन जब तब क्यों कर कूपहिं खनत।।

उसके मन के विकार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। तू ही मानसिक-सृष्टि रचकर उसमें दुखी है। तेरा कर्तव्य है कि तू उससे उपरत होकर अपने आप में स्थित हो।

हठयोग की कल्पनाओं की परख

शब्द—१६

रामुरा झीझी जन्तर बाजै, कर चरण बिहूना नाचै॥ १ ॥
कर बिनु बाजे सुनै श्रवण बिनु, श्रवण श्रोता सोई॥ २ ॥
पाटन सुबस सभा बिनु अवसर, बूझो मुनि जन लोई॥ ३ ॥
इन्द्रि बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अक्षय पिण्ड बिहूना॥ ४ ॥
जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥ ५ ॥
बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया॥ ६ ॥
बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया॥ ७ ॥
मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई॥ ८ ॥
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई॥ ९ ॥

शब्दार्थ—रामुरा = जीव। झीझी = झींझीं, अनाहतनाद, ध्वनि। जन्तर = यन्त्र, शरीर, ब्रह्मांड, खोपड़ी। बिहूना = रहित। पाटन = नगर। सुबस = भलीभांति बसा हुआ। बिनु अवसर = निरन्तर, सदैव। पिण्ड = शरीर। मंदिर = हृदय। खसम = स्वामी, जीव। अछत = रहते हुए। घर = हृदय। बाँझ = वंध्या। कोख = पेट, उदर। मसि = स्याही। द्वाइत = दवात। सुधि = याद, चेत, होशहवास। जन = मनुष्य।

भावार्थ—हे रमैया राम! योगी लोगों को बड़ा भ्रम है। वे कहते हैं कि खोपड़ी में जो झींझीं करके आवाज होती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। वहां हाथ और पैर के बिना नाच होता है॥१॥ वहां हाथ के बिना बाजा बजता है। तथा श्रवण के बिना सुना जाता है। वहां श्रवण और श्रोता स्वयं साधक ही है॥२॥ वहां सुन्दर नगर बसा है और हर समय वहां सभा लगी रहती है। हे मननशीलो! उसे समझो॥३॥ वहां इन्द्रियों के बिना भोग होता है और जीभ के बिना स्वाद लिया जाता है। वहां शरीर रहित अखंडतत्त्व है॥४॥ सद्गुरु कहते हैं कि यह सब तो वैसे ही हुआ जैसे घर वाले के जागते-जागते घर में से चोर धन चुरा ले जाय और घर में मालिक के रहते हुए भी घर सूना-जैसे लगे॥५॥ इतना ही नहीं, जैसे बीज के बिना अंकुर पैदा हो जाय, पौधे के बिना वृक्ष बन जाय, फूल के बिना फल लग जायं, वंध्या के पेट से पुत्र पैदा हो जाय और कोई बिना पैर के ही पेड़ पर चढ़ जाय॥६-७॥ वस्तुतः निजस्वरूप की स्थिति तो ऐसी है कि उसमें न उक्त योगियों के द्वारा दर्शाये गये नाद, दृश्य आदि की आवश्यकता है और न बाहरी शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी याद तो स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षरों के बिना ही होती है॥८॥ वह बाहरी याद भी नहीं है, शास्त्रज्ञान के बिना ही वह सहज ज्ञाता ज्ञान-निधान है। कबीर साहेब कहते हैं कि वही मनुष्य सच्चा ज्ञानी है जो अपने सहज ज्ञानस्वरूप में रमता है॥९॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में हठयोगियों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है। हठयोगी लोग मानते हैं कि कान बंद करने पर जो खोपड़ी में झींझीं आवाज सुनाई देती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। उस आवाज में वे लोग घंटा, भेरी, मृदंग, शहनाई, बांसुरी आदि के अनेक स्वरों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः कान बंदकर और चित्त एकाग्रकर जब उसे सुना जाता है तब उसमें अनेक स्वरों की कल्पना होने लगती है। ये सब नसों की झनकार हैं। जैसे बिजली के तार के खंभों के पास खड़ा होकर सुनो तो वहां गनगनाहट की आवाज आती सुनाई देगी, वैसे कान बंद करने पर नाड़ियों की गति से उत्पन्न हुई ध्वनि खोपड़ी में सुनाई देती है। न वह ब्रह्मध्वनि है और न उसमें स्थित होने से मोक्ष-गति है। हां, साधक प्रथम अवस्था में अपने मन को रोकने के लिए अनेक साधनाओं में एक साधना यह भी कर सकता है। जब वह ध्वनि में मन लगायेगा, तब संसार-प्रपंच भूल जायेगा। परन्तु साधक को यह समझ लेना चाहिए कि वह ध्वनि उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतन स्वरूप नहीं है, अपितु जड़ शब्द है। उसमें ज्यादा समय के लिए तन्मय होना एक जड़ाध्यास ग्रहण करना है। जैसे कोई गुरु के चित्र का ध्यान करता है, तो यह आरंभिक काल में केवल मन रोकने का साधन है, न कि गुरु के चित्र में मन को सदैव के लिए लगा देना चाहिए। क्योंकि गुरु का चित्र भी जड़ विजाति है। वह जीव का अपना स्वरूप नहीं बन सकता।

इस ग्रन्थ की व्याख्या में इस बात पर कई बार निवेदन किया गया है कि अनाहतनाद का अर्थ होता है बिना चोट के उत्पन्न हुई ध्वनि। परन्तु बिना दो पदार्थों की टक्कर के ध्वनि पैदा ही नहीं हो सकती। नसों में जो रक्त का वहन होता है एवं शरीर की गतिविधि में जो नस-नाड़ियां कंपित होती हैं, उसी से ही ध्वनि पैदा होती है; अतएव जिसे हठयोगी अनाहतनाद कहते हैं वह वस्तुतः आहतनाद ही है। विवेक से देखा जाय तो अनाहतनाद है अन्तरात्मा की आवाज। हर मनुष्य की चेतना बतलाती है कि उसका क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य। मन की एकाग्रता से इसका साफ अनुभव होता है।

हठयोगी लोग तथाकथित अनाहतनाद श्रवण के अलावा त्राटक मुद्रा करके त्रिकुटी में ज्योति-दर्शन करते हैं। किसी जगह नेत्र से एकटक देखने से या आंख बन्दकर अंधकार या गरमी को देखने से अनेक रंगों की ज्योति दिखाई देती है। वह सब भी जड़ दृश्य है। हठयोगी लोग जीभ को उलटाकर तालुमूल में लगाते हैं तो ऊपर से जो पानी टपकता है उसे पीते हुए उसका स्वाद लेते हैं। उसे वे अमृतरस-पान कहते हैं। हठयोगी लोग शरीर के भीतर सारा संसार देखने की चेष्टा करते हैं। उनकी साधना का एक अलग लोक है। वे शरीर के भीतर ही घन-गर्जन, मेह-बरसन, बिजली-चमकन आदि की कल्पना करते हैं। सद्गुरु ने इस शब्द में इन्हीं लहजों में उनकी मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है।

हठयोगियों की कल्पना है कि शरीर के भीतर झीं-झीं स्वर में अनाहतनाद बजता है और वहां बिना हाथ-पैर के नाच होता है। संसार में देखा जाता है कि बिना पैर चलाये तथा बिना हाथ मटकाये किसी का नाचना असंभव है। परन्तु शरीर के भीतर के नाच के लिए हाथ-पैर की आवश्यकता नहीं होती। हठयोग की साधना में तत्त्व-प्रकृतियां मानो अपने आप नाचती हैं। वहां हाथ के बिना अनाहतनाद का बाजा बजता है और उसे कान

के बिना, बल्कि कान को बन्दकर के ही सुना जाता है। वहां पर श्रोता ही मानो श्रवण है। अर्थात सुनने वाला ही कान बन जाता है। "पाटन सुबस सभा बिनु अवसर" हठयोग की साधना करने पर जब ज्योति-दृश्य में एकाग्रता होती है तब कभी लगता है कि मानो मैं किसी नगर में, देवमन्दिर में, प्रकाशपुंज-पथ में पहुंच गया हूं। कभी-कभी लगता है मैं एक विशाल सभा में पहुंच गया हूं और वह सभा निरन्तर लगी रहती है। वहां इन्द्रियों के बिना भोग भोगने का भास होता है और जीभ के बिना स्वाद चखने का आभास होता है। हठयोगी भीतर एक ज्योति की कल्पना करते हैं। वे उसे ब्रह्म तथा अखण्ड स्वरूप मानते हैं। कहना न होगा कि यह सब उनके मन-इन्द्रियों के भास-अध्यास हैं।

उक्त सारे हठयौगिक प्रपंचों पर व्यंग्य करते हुए सद्‌गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं "जागत चोर मन्दिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना।" मकान मालिक जाग रहा हो और उसके घर के भीतर से उसके देखते-देखते धन की चोरी हो जाय, और घर के भीतर घर का मालिक बैठा हो, परन्तु घर सूना लगे, यही दशा हठयोगियों की है। वे स्वयं चेतन स्वरूप होकर जड़ शब्द, ज्योति, दृश्य आदि में भूले हैं। यही मानो उनके जागते हुए भी उनके हृदय-घर से उनके आत्मधन की चोरी हो रही है। जो अपने आत्माराम एवं अपने चेतन स्वरूप में न स्थित होकर मन के भास-अध्यास में रमता है, उसका ज्ञानधन मानो चुरा गया।

"जागत चोर मन्दिर तहँ मूसै" पर एक मनोरंजक कहानी है। एक दम्पती (पति-पत्नी) घर में लेटे थे। दोनों जाग रहे थे। पीछे से ऊपर छत पर चोर चढ़ा और आंगन में उतर आया। पत्नी ने पति से कहा कि घर में चोर घुस आया है। पति ने कहा कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर उस कमरे में गया जहां रुपये, कपड़े तथा जेवर की पेटियां थीं। पत्नी ने उसे पुनः सावधान किया। पति ने पुनः वही बात दोहरायी कि मैं देख तथा जान रहा हूं। जब चोर पेटी लेकर घर के पिछवाड़े के दरवाजे से निकलने लगा, तब पत्नी ने पुनः पति को बताया कि चोर पेटी लेकर जा रहा है। पति ने कहा तू घबराती क्यों है, मैं जान रहा हूं, देख रहा हूं। जब चोर सामान लेकर चला गया तब पुरुष उठकर तथा तलवार-बन्दूक लेकर अपनी बहादुरी दिखाने लगा। वस्तुतः पुरुष डरपोक था और उसके जागते-जागते घर से धन चुरा गया। यही दशा हठयोगियों की है। वे गर्व रखते हैं कि हम ज्ञानी हैं, हमने सत्य का मोती पा लिया है, परन्तु वे भास-अध्यास में पड़कर कंकड़ बटोरते हैं। "खसम अछत घर सूना" खसम मालिक को कहते हैं। इस घर का मालिक, ज्ञान-विज्ञान का स्वामी मनुष्य की अन्तरात्मा है, चेतन जीव है; परन्तु उसका ज्ञान तथा स्थिति न कर मन-इन्द्रियों के दृश्यों में उलझना मानो मालिक के घर में रहते हुए भी घर सूना है। हठयोगी जड़भास में फंसकर अपने आपा को भूल गये हैं। अपना आपा अपनी चेतना है और उसे भूलकर जो कुछ श्राव्य, दृश्य आदि जड़ भास है उसे ही लक्ष्य मान रहे हैं।

"बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया। बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया।" अर्थात हठयोगियों को उनके योगाभ्यास में जो कुछ प्राप्त होता है उसका उनका परमतत्त्व एवं निजस्वरूप होना वैसे ही असंभव है जैसे

बीज के बिना अंकुर होना, पौधे के बिना वृक्ष होना, फूल के बिना फल होना, बांझ को पुत्र होना तथा बिना पैर के पेड़ पर चढ़ना। ये सब जैसे असंभव हैं, वैसे शब्द, ज्योति, भास आदि का मेरा निजस्वरूप, मेरा परमनिधान एवं मेरी चिरस्थिति होना असंभव है।

"मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई। सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई।" इन दोनों पंक्तियों में सद्गुरु बतलाते हैं कि जो अपना प्राप्तव्य है, परमतत्त्व एवं निजस्वरूप की स्थिति है उसके लिए न हठयोग की आवश्यकता है और न शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है। उसके लिए तो स्थितप्रज्ञ सद्गुरु की सेवा कर निज स्वरूप का भेद जानना चाहिए और उसमें स्थित होना चाहिए। उसके लिए स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षर की आवश्यकता नहीं है। उन सबके बिना केवल गुरु उपदेश, स्वविवेक तथा स्वसमाधि से ही अपने घर की सुधि हो जाती है। सुधि कहते हैं याद को, होशहवास एवं चेत को। यह सुधि भी संसारी सुधि नहीं है। यदि आप संसारी याद, संसारी ज्ञान की बात करें, तो मैं कहूंगा कि तो फिर उस सुधि और ज्ञान के बिना ही यह सुधि एवं ज्ञान है। यह सुधि, यह ज्ञान अपने सहज चेतन स्वरूप का है। संसार को भूल जाना ही अपने आपकी सुधि में आना है। "सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता" संसारी सुधि, संसारी व्यवहार, संसारी ज्ञान से हटकर सहज स्वस्वरूप का ज्ञान, स्वस्वरूप की सुधि रखने वाला ही सच्चा ज्ञानी है।

पुरोहित-मीमांसा

शब्द–१७

रामहि गावै औरहि समझावै, हरि जाने बिनु बिकल फिरे॥ १ ॥
जेहि मुख वेद गायत्री उचरे, ताके बचन संसार तरे॥ २ ॥
जाके पाँव जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जीव बद्ध करे॥ ३ ॥
आपन ऊँच नीच घर भोजन, घीन कर्म हठि वोद्र भरे॥ ४ ॥
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिये कूप परे॥ ५ ॥
एकादशी ब्रत नहिं जाने, भूत-प्रेत हठि हृदय धरे॥ ६ ॥
तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे॥ ७ ॥
छीजे साहु चोर प्रतिपाले, सन्त जना की कूटि करे॥ ८ ॥
कहहिं कबीर जिभ्या के लम्पट, यहि विधि प्राणी नर्क परे॥ ९ ॥

शब्दार्थ—घीन कर्म = घृणित कर्म। ढुकि-ढुकि = घुस-घुस। मुग्ध = मूर्ख, अज्ञानी।

भावार्थ—वाचिक ज्ञानी लोग राम के गीत गाते हैं और दूसरों को समझाते हैं, परन्तु राम क्या है इस तत्त्व का उन्हें बोध न होने से अशांत होकर भटकते हैं॥१॥ जिसके मुख से वेदमंत्र और गायत्री मंत्र का उच्चारण होता है संसार के लोग उन्हीं के उपदेशों से मुक्ति प्राप्ति की आशा करते हैं॥२॥ परन्तु जिस तथाकथित ब्राह्मण के पैरों में संसार के लोग सुबह उठकर प्रणाम करते हैं, वे देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करते हैं॥३॥

ब्राह्मण नामधारी अपने आपको ऊंचा मानते हैं, परन्तु स्वार्थ पड़ने पर नीच काम करने वालों के यहां भोजन कर लेते हैं। हिंसा एवं वध-कर्म, प्रेत-कर्म, श्राद्ध, तेरही, सोरही, नितकुम आदि घृणित कर्म करके हठपूर्वक पेट पालते हैं।।४।। सूर्य-चंद्र-ग्रहणादि या अमावस्या के दिन घर-घर घुस-घुसकर भिक्षा मांगते हैं। शास्त्ररूपी ज्ञानदीपक हाथों में लेकर दुष्कर्म रूपी कुएं में गिरते हैं।।५।। दस इंद्रियां और ग्यारहवां मन इन एकादशों को अपने वश में करना मानो एकादशी व्रत है, परन्तु इसे तो वे जानते नहीं, केवल एकादशी तिथि के दिन उपवास रहते हैं और दुराग्रह पूर्वक भूत-प्रेत आदि अनेक भ्रांतियों की बातें अपने हृदय में धारण करते हैं।।६।। स्वरूपज्ञान रूपी कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में भ्रांति रूपी विष बांधते हैं और आत्मज्ञान को खोकर मूर्ख बने भटकते हैं।।७।। साधु-सज्जनों को पीड़ा देते हैं और छली तथा धूर्तों की रक्षा करते हैं तथा विवेकवान सन्तों की मसखरी करते हैं कि ये मुड़िया लोग वेद-शास्त्र के रास्ते से दूर हैं।।८।। कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार जो जीभ के लम्पट लोग हैं वे नरक में जाने के अधिकारी हैं।।९।।

व्याख्या—इस शब्द में उन ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों का वर्णन है जो देवी-देवताओं के नाम पर मूक तथा निरीह प्राणियों की हत्या करते-करवाते रहते हैं। फिर भी वे राम एवं ईश्वर की व्याख्या कर जगत के उद्धार करने का ढोंग करते हैं। वे राम के नाम पर खूब कथा-कीर्तन करते हैं, परन्तु रामतत्त्व के ज्ञान से शून्य ही होते हैं। वे घट-घटवासी आत्मा को राम न समझकर उसे या तो एक व्यक्ति विशेष के रूप में मानते हैं जो कभी जन्म लेकर शरीर त्याग चुका होगा अथवा वे राम की परोक्ष में कल्पना करते हैं। निज स्वरूप चेतन एवं व्यक्ति की आत्मा ही राम[1] है, यह समझ न होने से वे सदैव अशांत बने भटकते रहते हैं। वस्तु अपने पास है, परन्तु उसे न जानकर जो उसे बाहर खोजता फिरता है, वह अशांत न होगा तो क्या होगा! शांति तो तब मिलती है जब भटकना छूट जाता है और आत्मा-राम में विश्राम मिल जाता है।

संसार के लोगों को विश्वास है कि ब्राह्मणों के मुख से उपदेश एवं दीक्षा पाकर ही जीव का कल्याण है। यदि वैज्ञानिक-दृष्टि से देखा जाय तो यह सच है। ब्राह्मणत्व एक उच्चतम मानसिकता है। "जो जितेंद्रिय हो, धर्मपरायण हो, स्वाध्यायनिरत और भीतर-बाहर पवित्र हो, तथा जिसने काम-क्रोध आदि पर पूर्ण विजय पा ली हो उसे विवेकी लोग ब्राह्मण कहते हैं।[2] शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक भाव—ये व्यक्ति के स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्रह्मकर्म हैं।"[3] ये हैं ब्राह्मणत्व के लक्षण और

---

१. श्रुति भी कहती है—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।। *(कठ० उप० २/२/३)*
जो प्राण को ऊपर उठाता तथा अपान को नीचे त्यागता और शरीर के मध्य (हृदय में) स्थिर रहता है, उस भजने योग्य की देवगण (सज्जन लोग) उपासना करते हैं।

२. जितेंद्रियः धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। *(महाभारत, वनपर्व २०६/३४)*

३. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। *(गीता १८/४२)*

ऐसे ब्राह्मणों के मुख से उपदेश पाकर तथा उनके आदर्शों का अनुकरण कर तथा उनकी उपासना करके ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। ऐसे ब्राह्मणों का न कोई कुल-गोत्र होता है, न कोई वर्ण-जाति और न कोई वंश-परम्परा। ये तो स्वभाव से उत्पन्न हुए तथा त्याग-तप-द्वारा अर्जित किये हुए सद्गुणों के धनी लोग हैं। ऐसे सद्गुणों से सम्पन्न लोग ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण थे सनत्कुमार, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि। पूर्ण संत ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इसकी वंश-परम्परा नहीं चलती। यह स्वतः निर्माण का विषय है।

परन्तु खेद है कि भारतवर्ष में ब्राह्मण नामधारियों का एक बहुत बड़ा समूह है और उनमें से लोग आचरण से चाहे जितने गिरे हों, वे भी ब्राह्मण हैं। वे भी जगत-तारक हैं। जो वेद पढ़ता हो, गायत्री जपता हो या यह भी न करता हो, केवल उसका ब्राह्मण नाम हो, फिर चाहे वह देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता हो और सभी घृणितकर्म करता हो, परन्तु वह जगत का उद्धारकर्ता है। "पूजिय विप्र शील गुण हीना" आचरण से भ्रष्ट भी ब्राह्मण नामधारी पूज्य है, भूसुर है, ऐसे महीसुर-चरण की वन्दना करनी चाहिए, इत्यादि। इस मानसिकता ने ब्राह्मणत्व को नष्ट करके रख दिया है।

सद्गुरु कबीर ने इस शब्द में ब्राह्मण कहलाने वाले पतित पुरोहितों का नक्शा खींचा है। यहां जाति के रूप में रूढ़ ब्राह्मण-समाज की निंदा नहीं है। आज-कल कुर्मी, काछी, बनिया आदि की तरह ब्राह्मण एक रूढ़ जाति है जिसके सदस्य भी अन्यों की तरह कमाते-खाते और जीते हैं। जैसे अन्य वर्गों में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं वैसे ब्राह्मण नामधारी समूह में भी अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं। कोई तथाकथित जाति या समूह न पूरा-का-पूरा शुद्ध होता है और न पूरा-का-पूरा अशुद्ध। अच्छे-बुरे हर जगह होते हैं। अतः कमाते-खाते ब्राह्मण कहलाने वाले आम लोगों को यहां कुछ नहीं कहना है। यहां तो सद्गुरु उनको धिक्कारते हैं जो जगत-तारक पुरोहित बनते हैं और घृणित कर्म करते हैं।

ऐसे पुरोहित लोग अपने आपको तो ऊंचा मानते हैं, परन्तु उनके कर्म घिनौने हैं। वे किसी प्रकार कर्मकांड का जाल फैलाकर समाज को चूसना चाहते हैं। आम जनता अनेक आपत्ति-विपत्ति और अभावों से पीड़ित होती ही है, अतः पुरोहित लोग दुख दूर करने का झांसा देकर उन्हें अपने कर्मकांड के जाल में फंसाते हैं। इस प्रकार साधारण मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से पुरोहितवर्ग अपने भौतिक स्वार्थ का लाभ उठाता है। रोग काटने, धन प्राप्त कराने, मुकदमा में विजय दिलाने, भूत-प्रेत पकड़ने, पुत्र पैदा कराने, प्रशासनिक या राजनैतिक पद दिलाने या उसे सुरक्षित रखने, मृत पितरों को स्वर्ग दिलाने-जैसी अगणित बातें हैं, जो आम जनता को फंसाने के लिए प्रलोभन का एक भयंकर जाल है। कर्मकांड, पूजा और तंत्र-मंत्र के नाम पर पुरोहित लोग जनता को मूर्ख बनाते हैं। अपवादस्वरूप कुछ सरल पुरोहितों को छोड़कर शेष पुरोहित लोग यह नहीं चाहते कि जनता में ज्ञान फैले। क्योंकि उनको यह भय रहता है कि जनता जितना प्रबुद्ध होती जायेगी उतना वह कर्मकांडों के जाल तथा तंत्र-मंत्र से दूर हटती जायेगी। यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु प्रायः संसार के सभी समाजों के पुरोहितों का है।

जन्म, मृत्यु, विवाहादि में कुछ संस्कारगत क्रियाकलाप करना पुरोहितों का काम है। उसमें विवाह ही मुख्य है। क्योंकि जन्मा हुआ बच्चा कुछ नहीं जानता कि पुरोहित क्या संस्कार का काम कर रहा है तथा मृतक मनुष्य तो कुछ जान ही नहीं सकता। पुरोहितों को इतने संस्कार कराने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वे पुरोहिताई को पेट का धन्धा बना लेते हैं, इसलिए अधिक धन पाने के लिए वे समाज को झांसा देना शुरू करते हैं। यहीं से उनमें छल, छद्म तथा नाना घृणित कर्म आते हैं।

ग्रहण आकाश के चन्द्र-सूर्य को लगता है। यह आज स्कूल का बच्चा भी जानता है कि सूर्य-चन्द्र-ग्रहण सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से लगता है। यह और कुछ नहीं, किन्तु बीच में एक के आ जाने से दूसरे का अंश या सर्वांश न दिखना मात्र है। इसमें न कोई पाप है और न पुण्य। परंतु पुरोहित इसके उपलक्ष्य में भी जनता से दान लेता है। वे कहते हैं कि ग्रहण लगने से सबको छूत लग गयी है, इसलिए सब स्नान-दान करके शुद्ध बनें। इस प्रकार छलपूर्वक दान लेना तो वैसे है जैसे कोई हाथ में दीपक लेकर कुएं में गिरे। हाथ में दीपक होने से तो हमें आगे सब कुछ देखना चाहिए, परन्तु हम हाथ में प्रकाश लेकर भी कुएं में गिरते हैं तो सुधार का क्या रास्ता है! दीपक धर्मशास्त्र है। पुरोहित वर्ग हाथ में धर्मशास्त्र लेकर भी कुएं में गिरता है। वह शास्त्र का सदुपयोग न कर दुरुपयोग करता है। वह उसका भौतिक स्वार्थ में उपयोग करता है।

एकादशी या किसी तिथि को आहार न लेकर पेट को हलका बनाना तथा उस दिन अधिक स्वाध्याय एवं भजन-पूजन में मन लगाना अच्छी बात है। परंतु एकादशी को अधिक तूल देकर यह कहना कि जो एकादशी को अन्न खाता है वह विष्ठा खाता है तथा पानी पीता है तो पेशाब पीता है, एक पागलपन है। पुरोहितों ने एकादशी का बहुत दुरुपयोग किया है। कितने लोग उस दिन तो अन्न जरूर छोड़ देते हैं, परन्तु दूध-सिंघाड़ा एवं फल-कंद आवश्यकता से अधिक खाकर पेट को खराब कर लेते हैं। एकादशी को उपवास रहने से स्वर्ग में निवास होता है इत्यादि जो पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में लिख रखा है वह उसकी प्रशंसा कर जनता को उपवास की तरफ केवल उन्मुख करना है। परन्तु यह मिथ्या महिमा लोगों का कल्याणकर न होकर उलटे एक भ्रमोत्पादक हुई।

भारतरत्न महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं "एकादशी पर किये जाने वाले उपवास की अतिशय प्रशंसा में पुराणों एवं निबंधों में विस्तार के साथ अत्युक्तियां भरी पड़ी हैं। नारद-पुराण में एकादशी-माहात्म्य पर एक लम्बी उक्ति है (हेमाद्रि, काल पृष्ठ १४६; का० नि० पृष्ठ २७३-२७४) कुछ श्लोकों का अर्थ यों है—'एकादशीव्रत से उत्पन्न अग्नि से सहस्रों जीवनों में किये गये पापों का ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। अश्वमेध एवं वाजपेय जैसे सहस्रों यज्ञ एकादशी पर किये गये उपवास के सोलहवें अंश तक भी नहीं पहुंच सकते। एकादशी स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है, राज्य एवं पुत्र देती है, अच्छी पत्नी देती है और शरीर को स्वास्थ्य देती है। गंगा, गया, काशी, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, नर्मदा, देविका, यमुना, चन्द्रभागा हरि के दिन (एकादशी) के समान नहीं हैं। देखिए पद्मपुराण (आदि खंड ३१/१५७, १६०, १६१ एवं १६२)। अनुशासन (१०७/१३६, १३७ एवं १३९) में उपवास की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा है। पद्मपुराण

(ब्रह्मखंड १५/२-४) में आया है 'एकादशी नाम श्रवण मात्र से यमदूत शंकित हो जाते हैं। सभी व्रतों में शुभ एकादशी पर उपवास करके हरि को प्रसन्न करने के लिए रात्रि भर जागना चाहिए और विष्णु मंदिर के मंडप को पर्याप्त रूप से सजाना चाहिए। जो व्यक्ति तुलसीदलों से हरिपूजा करता है वह एक दल (पत्ता) से ही करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त करता है।' वराह० (अध्याय ३०) में आया है कि ब्रह्मा ने कुबेर को एकादशी दी और उसने (कुबेर ने) उसे उस व्यक्ति को दिया जो संयमित रहता है, शुद्ध रहता है, केवल वही खाता है जो पका हुआ नहीं है; कुबेर प्रसन्न होने पर सब कुछ देता है। पद्म (ब्रह्मखंड १३/५३) ने एक नारी का आख्यान लिखा है—वह अति झगड़ालू थी, अपने प्रेमी (जार) के विषय में सोचती थी और इसके कारण वह अपने पति-द्वारा निंदित हुई और पीटी गयी। वह क्रोधित होकर बिना भोजन किये रात्रि में मर गयी। वह एकादशी की रात थी। वह उपवास करने के कारण (जो जानबूझकर और प्रसन्नतापूर्वक नहीं किया गया था, प्रत्युत क्रोधावेश में किया गया था) शुद्ध हो गयी। गरुड पुराण (१/१२७/१२) में आया है कि यदि एक पलड़े पर सम्पूर्ण पृथ्वी का दान रखा जाय और दूसरे पर हरि का दिन (एकादशी) तो एकादशी महापुण्य एवं श्रेष्ठ ठहरती है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी को महा-एकादशी एवं शयनी कहा जाता है।[१] पुराणों एवं मध्यकाल के निबन्धों में एकादशी के विषय में एक विशाल साहित्य है। यथाशूलपाणि का एकादशी विवेक, रघुनन्दन का एकादशी तत्त्व। इसके अलावा कालविवेक, हेमाद्रि, कालनिर्णय, व्रतराज, कालतत्त्व विवेचन आदि में एकादशी पर बहुत लिखा गया है।''[२]

उक्त लम्बे उद्धरण से सहज समझा जा सकता है कि एकादशी के नाम पर पुरोहितों ने कितना बड़ा भ्रम पैदा किया है। जैसे भाट किसी भी अच्छे-बुरे व्यक्ति की प्रशंसा करता है, वैसे पुरोहित किसी भी सड़ी-गली बात की प्रशंसा का पुल बांधता है। सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची एकादशी है आंख, नाक, कान, जीभ, चाम, हाथ, पैर, मुख, गुदा, लिंग तथा मन—इन ग्यारहों को अपने वश में रखना। एकादशी तिथि के दिन उपवास रहना जीव के सुख, शांति एवं मोक्ष में कारण नहीं बन सकता, किन्तु मन-इंद्रियों पर विजय उसमें कारण बनती है।

भूत, प्रेतादि योनि केवल कल्पित हैं, परन्तु पुरोहित वर्ग उन्हें भी हठपूर्वक सिद्ध कर जनता की मानसिकता को दुर्बल बनाता है। पुरोहित पहले भूत-वाधा, प्रेत-वाधा, ग्रह-वाधा तथा अन्य भी अनेक भावनात्मक भय देकर मनुष्यों के मन को कमजोर बनाता है और पीछे किसी को किसी प्रकार कष्ट होने पर उसके निवारणार्थ वह पूजा करता है और जनता से धन ऐंठता है। पुरोहितों ने सारी दैवी कल्पनाएं मनुष्यों के मन को दुर्बल बनाकर उनसे अपना स्वार्थ साधने के लिए की हैं।

"तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे।" पुरोहितों के उक्त सारे आचरणों को देखते हुए कहना पड़ता है कि इन्होंने ऐसा भोलापन किया है कि जैसे कोई

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृ० ४१-४२।

२. वही, पृ० ४०।

कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में विष बांध ले। आत्मज्ञान, सद्गुण, सदाचार, विश्व के नियम एवं नैतिकता पर न जोर देकर पुरोहित वर्ग भूलभूलैया में स्वयं भटकता रहा और समाज को भटकाता रहा। उसने दैवीकल्पना कर तत्वज्ञान को नष्ट कर दिया तथा कर्मकांड की मिथ्या महिमाएं बढ़ाकर नैतिकता को खोखली कर दिया। जब अंजान में एकादशी का व्रत तथा कोई साधारण-सा कर्मकांड सारे पापों को भस्म कर देता है तब नैतिकता से रहने की क्या आवश्यकता! अतः तत्त्वविवेक तथा नैतिकता रूपी कपूर को छोड़कर पुरोहितों ने अंधविश्वासपूर्ण मिथ्या दैवी कल्पना, चमत्कार, कर्मकांड, मिथ्या महिमाएं रूपी विष को अपनी गांठी में बांध लिया और उसी को समाज में फैलाकर सबको कायर और अनैतिक बनने में सहारा दिया। यही "ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे" का अर्थ है। सत्यज्ञान को खोकर मूढ़ बना संसार भटक रहा है। इसमें बहुत कुछ नाना मत के पुरोहितों का योगदान है।

"छीजे साहु चोर प्रतिपाले" सत्यवादी एवं साधु जन का तिरस्कार तथा चोर की रक्षा यह महा अशुभ लक्षण है। जो सच्चे ज्ञान तथा सच्चे आचरण से रहता है और उन्हीं का प्रचार करता है, पुरोहित वर्ग उससे नाराज रहता है। वह उसे किसी प्रकार शिकस्त देना चाहता है। परन्तु जो मिथ्या महिमा, चमत्कार एवं कर्मकांड का झांसा देकर समाज के ज्ञानधन को चुराता है, लोगों को बेवकूफ बनाता है और उससे धन ऐंठता है, पुरोहित उसकी प्रशंसा करता है; क्योंकि वे समान पेशेवर हैं।

"संत जना की कूटि करे" अपवादस्वरूप कुछ भले पुरोहितों को छोड़कर, शेष पुरोहित संतों का मजाक उड़ाता है। वह कहता है कि ये मुड़िया साधु वेद-शास्त्र-विरोधी हैं। पुरोहितश्रेष्ठ मंडनमिश्र पहलीबार आदि शंकराचार्य को देखकर तुरन्त बोल पड़े थे "कुतो मुंडी" यह अशुभ मुड़िया कहां से आ गया! बहुधा पुरोहित वर्ग नहीं चाहता कि संतों का सच्चा ज्ञान जनता में फैले। उसे अपने पेशे के मिटने का भय हो जाता है। एक पुरोहित भक्त-संतों पर व्यंग्य करते हुए लिखता है "वेद-विहीन लोग शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्र-विहीन लोग पुराण पढ़ते हैं, पुराण-विहीन लोग खेती करते हैं और जो सब प्रकार से भ्रष्ट (गये-बीते) हो जाते हैं वे भगवान के भक्त हो जाते हैं।"[१] पुरोहितों ने देखा कि वैष्णव सन्त कहते हैं कि कर्मकांड के पचड़े की कोई आवश्यकता नहीं, भगवान की भक्ति से सब प्रकार का कल्याण है, तब वे क्षुब्ध हो गये और भगवान के भक्तों को ही भ्रष्ट-बुद्धि कहने लगे। फिर खरे पारखी संतों को पुरोहित जो कुछ कह दे वह थोड़ा है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जो असत बोलता है, समाज को अपनी बातों से गलत निर्देश देता है, अपने भौतिक स्वार्थ में पड़कर दूसरों को बहकाता है, वह स्वयं पतन के गर्त में जाता है तथा समाज को भी पतन के गर्त में ले जाता है।

---

१. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥

(अत्रि ३८४, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १५३)

उपर्युक्त लम्बे विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि पुरोहित वर्ग का कोई व्यक्ति सत्य समझता ही नहीं है। पुरोहित बुद्धि वाला होता ही है। वह केवल अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है। पुरोहितों में भी जिसकी बुद्धि सत्य की तरफ लौट जाती है वह सच्चा ज्ञानी हो जाता है। पुरोहितों में से अनेक सत्यान्वेषी होकर कर्मकांड के जंजाल से मुक्त हो जाते हैं और ज्ञानपथ के सच्चे राही हो जाते हैं। जिस मंडनमिश्र का उदाहरण ऊपर आया है जिन्होंने प्रथम मिलन में स्वामी शंकर का मजाक उड़ाया था, शंकर के ज्ञान से प्रभावित होकर वे उनके संन्यासी शिष्य—मुड़िया ही हो गये थे। पुरोहित वर्ग के कितने ही लोग बौद्ध, जैन, कबीरपंथ तथा अन्य अनेक संत-मत में आकर ज्ञान का कीर्तिमान स्थापित किये या करते हैं। आज इस ईसा की बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में तो पुरोहितों की नयी पीढ़ी के युवक पुरोहिताई करना ही नहीं चाहते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अंधविश्वास समाप्त हो गया है। इसको बढ़ाने वाले नाना मत के बड़े-बड़े महारथी पुरोहित लगे हैं। सत्य-पथ-पथिकों को मिथ्या दैवी कल्पनाओं, कर्मकांड की मिथ्या महिमाओं, चमत्कारों एवं अंधविश्वासों से सदैव जूझना पड़ेगा, और विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्थाओं, कर्म-फल-भोगों की सत्यताओं तथा नैतिकता एवं सदाचार का सदैव प्रचार करते रहना पड़ेगा।

अवतार-समीक्षा

शब्द–१८

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो॥ १ ॥

अबुझा लोग कहाँ लों बूझै, बूझनहार विचारो॥ २ ॥
केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन्ह यह जग बिटमाया॥ ३ ॥
केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ४ ॥
मच्छ कच्छ बराह स्वरूपी, बामन नाम धराया॥ ५ ॥
केतेहि बौद्ध निकलंकी कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ६ ॥
केतेहि सिद्ध साधक संन्यासी, जिन्ह बनवास बसाया॥ ७ ॥
केतेहि मुनिजन गोरख कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ८ ॥
जाकी गति ब्रह्मै नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे॥ ९ ॥
ताके गुण नर कैसेक पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे॥१०॥

शब्दार्थ—गुण = स्वभाव, धर्म, वास्तविकता। अबुझा = अविवेकी। बिटमाया = भ्रम, छल। अन्त = निश्चय, भेद। बौद्ध = बुद्ध। निकलंकी = कल्कि।

भावार्थ—राम की वास्तविकता बिलकुल अलग है॥१॥ अविवेकी लोग इसे कहां तक समझेंगे, विवेकवान ही इस पर विचार करते हैं॥२॥ अयोध्याधीश श्री रामचन्द्र जैसे तपस्वी, जिनकी कथाओं से लोग उनकी ईश्वरता के भ्रम में छले गये हैं, इस पृथ्वी पर बहुत हो चुके हैं; परन्तु वे स्वयं ईश्वर के विषय में थाह नहीं पा सके॥३॥ वंशी बजाने

कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में विष बांध ले। आत्मज्ञान, सद्गुण, सदाचार, विश्व के नियम एवं नैतिकता पर न जोर देकर पुरोहित वर्ग भूलभूलैया में स्वयं भटकता रहा और समाज को भटकाता रहा। उसने दैवीकल्पना कर तत्वज्ञान को नष्ट कर दिया तथा कर्मकांड की मिथ्या महिमाएं बढ़ाकर नैतिकता को खोखली कर दिया। जब अंजान में एकादशी का व्रत तथा कोई साधारण-सा कर्मकांड सारे पापों को भस्म कर देता है तब नैतिकता से रहने की क्या आवश्यकता! अतः तत्त्वविवेक तथा नैतिकता रूपी कपूर को छोड़कर पुरोहितों ने अंधविश्वासपूर्ण मिथ्या दैवी कल्पना, चमत्कार, कर्मकांड, मिथ्या महिमाएं रूपी विष को अपनी गांठी में बांध लिया और उसी को समाज में फैलाकर सबको कायर और अनैतिक बनने में सहारा दिया। यही "ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे" का अर्थ है। सत्यज्ञान को खोकर मूढ़ बना संसार भटक रहा है। इसमें बहुत कुछ नाना मत के पुरोहितों का योगदान है।

"छीजै साहु चोर प्रतिपाले" सत्यवादी एवं साधु जन का तिरस्कार तथा चोर की रक्षा यह महा अशुभ लक्षण है। जो सच्चे ज्ञान तथा सच्चे आचरण से रहता है और उन्हीं का प्रचार करता है, पुरोहित वर्ग उससे नाराज रहता है। वह उसे किसी प्रकार शिकस्त देना चाहता है। परन्तु जो मिथ्या महिमा, चमत्कार एवं कर्मकांड का झांसा देकर समाज के ज्ञानधन को चुराता है, लोगों को बेवकूफ बनाता है और उससे धन ऐंठता है, पुरोहित उसकी प्रशंसा करता है; क्योंकि वे समान पेशेवर हैं।

"संत जना की कूटि करे" अपवादस्वरूप कुछ भले पुरोहितों को छोड़कर, शेष पुरोहित संतों का मजाक उड़ाता है। वह कहता है कि ये मुड़िया साधु वेद-शास्त्र-विरोधी हैं। पुरोहितश्रेष्ठ मंडनमिश्र पहलीबार आदि शंकराचार्य को देखकर तुरन्त बोल पड़े थे "कुतो मुंडी" यह अशुभ मुड़िया कहां से आ गया! बहुधा पुरोहित वर्ग नहीं चाहता कि संतों का सच्चा ज्ञान जनता में फैले। उसे अपने पेशे के मिटने का भय हो जाता है। एक पुरोहित भक्त-संतों पर व्यंग्य करते हुए लिखता है "वेद-विहीन लोग शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्र-विहीन लोग पुराण पढ़ते हैं, पुराण-विहीन लोग खेती करते हैं और जो सब प्रकार से भ्रष्ट (गये-बीते) हो जाते हैं वे भगवान के भक्त हो जाते हैं।"[१] पुरोहितों ने देखा कि वैष्णव सन्त कहते हैं कि कर्मकांड के पचड़े की कोई आवश्यकता नहीं, भगवान की भक्ति से सब प्रकार का कल्याण है, तब वे क्षुब्ध हो गये और भगवान के भक्तों को ही भ्रष्ट-बुद्धि कहने लगे। फिर खरे पारखी संतों को पुरोहित जो कुछ कह दे वह थोड़ा है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जो असत बोलता है, समाज को अपनी बातों से गलत निर्देश देता है, अपने भौतिक स्वार्थ में पड़कर दूसरों को बहकाता है, वह स्वयं पतन के गर्त में जाता है तथा समाज को भी पतन के गर्त में ले जाता है।

---

१. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि ३८४, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १५३)

उपर्युक्त लम्बे विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि पुरोहित वर्ग का कोई व्यक्ति सत्य समझता ही नहीं है। पुरोहित बुद्धि वाला होता ही है। वह केवल अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है। पुरोहितों में भी जिसकी बुद्धि सत्य की तरफ लौट जाती है वह सच्चा ज्ञानी हो जाता है। पुरोहितों में से अनेक सत्यान्वेषी होकर कर्मकांड के जंजाल से मुक्त हो जाते हैं और ज्ञानपथ के सच्चे राही हो जाते हैं। जिस मंडनमिश्र का उदाहरण ऊपर आया है जिन्होंने प्रथम मिलन में स्वामी शंकर का मजाक उड़ाया था, शंकर के ज्ञान से प्रभावित होकर वे उनके संन्यासी शिष्य—मुड़िया ही हो गये थे। पुरोहित वर्ग के कितने ही लोग बौद्ध, जैन, कबीरपंथ तथा अन्य अनेक संत-मत में आकर ज्ञान का कीर्तिमान स्थापित किये या करते हैं। आज इस ईसा की बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में तो पुरोहितों की नयी पीढ़ी के युवक पुरोहिताई करना ही नहीं चाहते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अंधविश्वास समाप्त हो गया है। इसको बढ़ाने वाले नाना मत के बड़े-बड़े महारथी पुरोहित लगे हैं। सत्य-पथ-पथिकों को मिथ्या दैवी कल्पनाओं, कर्मकांड की मिथ्या महिमाओं, चमत्कारों एवं अंधविश्वासों से सदैव जूझना पड़ेगा, और विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्थाओं, कर्म-फल-भोगों की सत्यताओं तथा नैतिकता एवं सदाचार का सदैव प्रचार करते रहना पड़ेगा।

अवतार-समीक्षा

शब्द—१८

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो॥ १ ॥

अबुझा लोग कहाँ लों बूझै, बूझनहार विचारो॥ २ ॥
केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन्ह यह जग बिटमाया॥ ३ ॥
केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ४ ॥
मच्छ कच्छ बराह स्वरूपी, बामन नाम धराया॥ ५ ॥
केतेहि बौद्ध निकलंकी कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ६ ॥
केतेहि सिद्ध साधक संन्यासी, जिन्ह बनवास बसाया॥ ७ ॥
केतेहि मुनिजन गोरख कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ ८ ॥
जाकी गति ब्रह्मै नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे॥ ९ ॥
ताके गुण नर कैसेक पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे॥१०॥

शब्दार्थ—गुण = स्वभाव, धर्म, वास्तविकता। अबुझा = अविवेकी। बिटमाया = भ्रम, छल। अन्त = निश्चय, भेद। बौद्ध = बुद्ध। निकलंकी = कल्कि।

भावार्थ—राम की वास्तविकता बिलकुल अलग है॥१॥ अविवेकी लोग इसे कहां तक समझेंगे, विवेकवान ही इस पर विचार करते हैं॥२॥ अयोध्याधीश श्री रामचन्द्र जैसे तपस्वी, जिनकी कथाओं से लोग उनकी ईश्वरता के भ्रम में छले गये हैं, इस पृथ्वी पर बहुत हो चुके हैं; परन्तु वे स्वयं ईश्वर के विषय में थाह नहीं पा सके॥३॥ वंशी बजाने

वाले श्री कृष्ण जैसे अनेक महापुरुष हो गये वे भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके।।४।। मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, बुद्ध तथा कल्कि जैसे नाम ईश्वरावतार के लिये जाते हैं, परन्तु वे स्वयं ईश्वर का भेद नहीं पा सके।।५-६।। कितने साधक, सिद्ध तथा संन्यासी हुए जिन्होंने वन में जाकर कुटिया रमायी और ईश्वर को खूब खोजा परन्तु रह गये कोरे-के-कोरे।।७।। कितने ही मननशील मुनि हुए तथा कितने गोरख जैसे योगी हुए, परन्तु ये सब भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके।।८।। कबीरदेव कहते हैं कि जिस ईश्वर की दशा ब्रह्मा नहीं जान सके तथा शिव, सनकादि जिसे खोजते-खोजते हार गये, हे मनुष्य! तुम उस ईश्वर का भेद कैसे पाओगे! ।।९-१०।।

व्याख्या—"राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो" इस पंक्ति में आये हुए राम शब्द के अर्थ में श्लेष प्रतीत होता है। श्लेष कहते हैं चिपकने को। इसका रूढ़ अर्थ है किसी शब्द में एक से अधिक अर्थ होने की संभावना। कबीर का राम बहुत साफ है। वे कहते हैं "हृदया बसे तेहि राम न जाना।[1] दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो इहै करीमा रामा।[2] सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।[3] जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहि सो मूर।"[4] अतएव यह राम न अज्ञेय है न दुर्विज्ञेय, जिसका भेद ही न मिले। वस्तुतः यहां उस राम का वर्णन है जिसे रूढ़ अर्थ में ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है, और जिसके विषय में यह धारणा है कि वह सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है। यह केवल धारणा ही है। इसका कोई साक्षात्कार नहीं कर सकता। परन्तु व्यक्ति की अपनी चेतना रूपी राम स्वयं स्वरूप ही है। वह मैं के रूप में विद्यमान सबका द्रष्टा है। इस शब्द में बताया गया है कि जितने माने गये अवतार हैं वे न नित्य उपासनीय आत्माराम बन सकते हैं और न वे वह कल्पित सत्ता ही हो सकते हैं जिसे सर्वव्यापी ब्रह्म कहा जाता है।

इस शब्द का मुख्य विषय है अवतारवाद का खण्डन। पुराणकारों ने मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दस तथा व्यास, दत्तात्रेयादि चौदह गौण अवतारों की कल्पना की है, जो एक भ्रांति है। उक्त अवतारों में मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि तो निरे काल्पनिक ही हैं, परन्तु जो राम, कृष्णादि मनुष्य रूप में हैं वे स्वयं अपने जीवनकाल में ईश्वर के विषय में कल्पनाएं करते रहे, परंतु उसके विषय में कुछ जान नहीं सके।

देश अनन्त है और काल अनन्त है और अवधारणा यह है कि अनन्त देश-काल-व्यापी संसार उस ब्रह्म की सत्ता से चलता है। ब्रह्म देश-काल से भी अतीत तथा परे है। अब ऐसे ब्रह्म से तथा अवतार माने गये जीवों से तुलना की जाय तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता। जितने अवतार माने गये हैं सब संसारी जीव हैं। वे सब थोड़े दिनों की जिंदगी

---

१. रमैनी ४१।

२. शब्द ९७।

३. साखी ३४५।

४. साखी २८२।

पाकर अच्छे-बुरे कर्म कर तथा सुख-दुख भोगकर मर गये। उनमें केवल एक बुद्ध हैं जो राग-द्वेष रहित संत के रूप में हैं, शेष तो राग-द्वेष से भी मुक्त नहीं थे।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनमें विवेक नहीं है वे अवतार माने गये जीवों को ही जगत-नियंता, जगत-उत्पादक और अपना परम आश्रय मान लेते हैं। व्यक्ति की आत्मा से भिन्न जिस ईश्वर की अवधारणा मनुष्यों ने की है उसका रहस्य कोई नहीं जान सका है। राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादि, गोरख, सिद्ध, साधक, संन्यासी कोई उस ईश्वर का भेद नहीं पाया है। फिर हे मनुष्य! तुम उसका भेद क्या पाओगे? केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं "वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाणी, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। (बस यही कह सकते हैं कि) हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[१]

कबीर साहेब के विवेचन के अनुसार जगतकर्ता के रूप में राम को खोजना एक मिथ्या भ्रम है। अवतार कहे जाने वाले तो जगतकर्ता हैं ही नहीं, किन्तु जगत के स्वाभाविक नियमों, विश्व के शाश्वत गुण-धर्मों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था जिसे ऋग्वेद में ऋत भी कहा गया है, उससे अलग नियामक की तलाश करना आकाश नापना है। जगत को समझने के लिए जड़-चेतन के गुण-धर्मों को समझना चाहिए। यदि हम जगत के नियमों को समझ जायं तो उसके नियामक की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसा राम जिसका कोई पता ही न पाया हो, किस काम का? इसलिए इस बीजक में सद्गुरु ने पदे-पदे 'निज तत्त्व'[२] पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यहां तक कहा "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।"[३] राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु (कल्पनाओं) को छोड़ दो।

कबीर साहेब जिस राम की उपासना करने की बात करते हैं, वे जिस राम में रमने तथा स्थित होने की बात कहते हैं वह मेरा अपना 'स्व' है, 'आपा' है, 'चेतना' है। वह कल्पना का विषय एवं अज्ञेय नहीं, किन्तु वही सबका कल्पक, सबका ज्ञाता एवं स्वयं प्रत्यक्ष, अपरोक्ष स्वस्वरूप है।

राम-भजन

शब्द–१९

ये तत्तु राम जपो हो प्रानी, तुम बूझहु अकथ कहानी॥ १ ॥
जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी॥ २ ॥

---

१. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। *(केन उपनिषद् १/३)*

२. साखी २।

३. रमैनी-साखी ३६।

डाइनि डारे स्वनहा डोरे, सिंह रहै बन घेरे॥ ३ ॥
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे॥ ४ ॥
रेहु मृगा संशय बन हाँके, पारथ बाणा मेलै॥ ५ ॥
सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अथवै॥ ७ ॥
जो यह पद को गाय विचारे, आप तरे औ तारै॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तत्तु राम = राम तत्त्व, राम स्वरूप। हरि = राम, आत्मस्वरूप। बिहानी = बिहान, सबेरा, दिन, अंत। डाइनि = माया। डारे = त्यागना। स्वनहा = कामादि कुत्ते। डोरे = संयम की रस्सी में बांध लेना। सिंह = मन। पाँच कुटुम = पांच ज्ञानेन्द्रियां। रेहु = रोह, नीलगाय, मानसिक विकार। पारथ = पारधी, शिकारी, साधक। सायर = समुद्र, संसार। बन = संसार। मच्छ = मछली, मन, शुद्ध मन।

भावार्थ—हे मनुष्यो! तुम निजस्वरूप राम तत्त्व का निरन्तर स्मरण करो, और मन की अकथनीय कहानी को बूझो, अर्थात मन को अपने वश में करो।।१।। जिसका प्रेम निजरूप राम में होता है वह मन-माया से रात-दिन सावधान रहता है, अथवा सावधान होकर माया रूपी रात का अंत कर देता है।।२।। वह माया का त्याग कर देता है, कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेता है और अपने हृदय-वन में मन सिंह को घेर कर स्ववश कर लेता है।।३।। जब साधक पांचों ज्ञानेन्द्रियों के पतनकारी विषयों का त्याग करता है तो ये इन्द्रिय रूपी कुटुम्बी आपस में लड़ने लगते हैं। अर्थात एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इंद्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे शिकारी वन में बाजा बजाते हुए बनैले पशुओं को एक तरफ हांकते हैं और फिर उनका शिकार करते हैं; वैसे साधक रूपी शिकारी अपनी रुचि और समझ के अनुसार अनेक प्रकार के साधन-भजन रूपी बाजे बजाकर अज्ञान, विषयासक्ति तथा संशय रूपी नीलगायों एवं पशुओं को हृदय वन से हांककर और उन पर ज्ञान एवं साधना के बाण चलाकर उनका शिकार करता है।।४-५।। ऐसे साधक के लिए मानो भवसागर तथा संशय-वन जल जाते हैं और शुद्ध मन रूपी मछली रहे-सहे वासना-पशुओं का शिकार करती है।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, जो इस पद का अर्थ करेगा और इस पद को गाकर इसका विचार करेगा, वह स्वयं संसार-सागर से तर जाएगा और दूसरों के तारने में कारण बनेगा।।७-८।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की उक्ति बीच-बीच में बड़ी अद्भुत-अद्भुत आती है। उनके कहने की शैली अपनी निराली है। उनका मस्तिष्क ऐसा था कि उन्हें गजब-गजब की उक्ति सूझ आती थी। इस शब्द में राम-भजन और मन-इन्द्रियों पर स्ववशता प्राप्त करने की चर्चा है। पूरे शब्द में इसी का प्रवाह है। वे कहते हैं कि हे प्राणी, तू माया में क्यों भूल रहा है! सारी माया छूट जायेगी, परन्तु राम तेरे से कभी न छूटेगा; क्योंकि राम तो तेरी आत्मा ही है, तेरा चेतन स्वरूप ही है। इसलिए तू निरन्तर राम का भजन कर, राम का जप कर। राम का जप करना क्या है? विषयों से लौटकर अपनी आत्मा में डूबना ही राम-भजन है। निज स्वरूप की स्थिति ही राम-भजन है। अतः सद्गुरु कबीर

कहते हैं कि हे प्राणी, इस राम तत्त्व का भजन करो। राम तत्त्व ही तुम्हारा चेतन स्वरूप है अथवा तुम्हारा चेतन स्वरूप ही राम तत्त्व है। काम से हटो, राम में रमो।

"जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी।" जिसका प्रगाढ़ प्रेम निज ज्ञानतत्त्व रूपी हरि में है, वह रात-दिन जागता रहता है। "रैनि रात है और बिहानी दिन है।" रात-दिन जागने का मतलब है सदैव मन-माया से सावधान होना। सावधानी ही साधना है। शिथिल साधक विषयों का चिंतन करता है, परन्तु जिसका हृदय वैराग्य से कसा है उसके मन में विषय-चिंतन आ ही नहीं सकते। उसके मन में तो सदैव निज स्वरूप का चिंतन होता है। वह सदैव आत्मा राम में रमता है। "जागत रैनि बिहानी" का अर्थ इस ढंग से भी किया जा सकता है कि वह सावधान साधक जागते ही रात का अंत करता है, अर्थात निरन्तर सावधानी ही में रहकर माया-मोह का अन्त करता है। जब साधक का मन विषयों से सर्वथा मुक्त हो जाता है तभी वह आत्माराम में रमता है। विषयों से सर्वथा मुक्त हुए बिना मन स्वरूपस्थिति में नहीं लीन हो सकता। इसीलिए सद्गुरु कबीर की भाषा में विषय-त्याग ही सच्चा राम-भजन है। इसे आगे चालीसवें शब्द में विस्तार से देखेंगे।

"डाइन डारे स्वनहा डोरे" वही मानो राम-भजन करता है जो डाइन को डाल देता है और कुत्ते को डोरिया लेता है। डाइन है माया। माया है विषयों का एवं संसार का प्रलोभन। जो संसार के आकर्षण का त्याग कर देता है वही मायातीत है। जब हृदय में पूर्ण विवेक उदित होता है, तब संसार में कहीं आकर्षण रह ही नहीं जाता। सारे शरीर हाड़-मांस हैं, सारा धन मिट्टी है और सारा संसार हल्ला-गुल्ला तथा कीचड़-पानी है। विवेकवान की दृष्टि में संसार में कुछ रह ही नहीं जाता है जिसके लिए वह आकर्षित हो। विषयों के प्रति आकर्षण तो मन की एक मूर्खता है। हम चाहे किसी व्यक्ति में ममता-मोह करते हों या पदार्थों, पदों एवं सम्मान के प्रति, सब हमारे मन की मूर्खता है। जिस दिन हमारे मन की मूर्खता समाप्त हो जायेगी उस दिन मानो हमने माया-डाइन का त्याग कर दिया।

स्वनहा कुत्ते को कहते हैं। स्वनहा का शुद्ध शब्द श्वान है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि कुत्ते हैं जिन्हें कितने ही भोग दो, तो भी वे घर-घर चाटने चले जायेंगे। संत पल्टू साहेब कहते हैं "लाख खाय जो श्वान चाटने जायेगा। तजि के काग कपूर विष्ठा को खायेगा।" विवेकवान इन कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेते हैं। साधक काम संयमित होने पर विकारी वृत्ति त्यागकर केवल शरीर के व्यवहार का सम्पादन करता है, क्रोध संयमित होने पर किसी जीव को कष्ट न देकर अपनी बुराइयों का हनन करता है, लोभ संयमित होने पर भौतिक वस्तुओं का लालच न कर ज्ञानार्जन में लग जाता है, मोह संयमित होने पर प्राणियों के प्रति राग न कर गुरु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेमी बन जाता है। इस प्रकार साधक कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध कर रचनात्मक दिशा में लग जाता है।

"सिंह रहै बन घेरे" बीजक में सिंह का बहुतायत अर्थ जीव है, परन्तु कहीं-कहीं मन भी है। यहां सिंह मन को समझना चाहिए। जैसे शिकारी वन में सिंह को घेरकर मार देता

है, वैसे साधक मन को अपने हृदय में घेरकर उसे मार देता है। इसका अर्थ यह है कि साधक अपने मन को बाहर नहीं भटकने देता। वह उसे साधना एवं विचारों के द्वारा घेर-घेरकर हृदय में रखता है और उसके रागात्मक हिंसक स्वभाव को मार देता है, फिर तो मन शुद्ध सात्विक बन जाता है।

"पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे।" पांच कुटुम्बी हैं आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—पांच ज्ञानेन्द्रियां। साधना काल में ये आपस में जूझने एवं लड़ने लगते हैं। एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इन्द्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे जीभ की रसासक्ति का त्याग होने से स्पर्शासक्ति का त्याग होना। इस प्रकार पांचों आपस में मानो लड़कर मर जाती हैं। अर्थात पांचों इन्द्रियां विषय-वासनाओं का त्यागकर सत्यपथगामिनी बन जाती हैं। पहले जब राजे-महाराजे वन में शिकार करने जाते थे तब अपने सिपाहियों-द्वारा बाजा बजवाकर वन में हांका कराते थे। इससे बनैले पशु वन के झुरमुटों से निकलकर एक तरफ भागते थे और अंततः सिपाहियों से घिर जाते थे और इतने में रजवाड़े उनका शिकार कर लेते थे। यहां साधक शिकारी है। वह मानो अनेक प्रकार के साधन-भजन के बाजे बजवाता है। जिस साधक को जैसा विश्वास होता है, जैसी समझ होती है वैसा वह साधना एवं भजन करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के साधन-भजन, मानो हृदय-वन में बहुत-से बाजे बजाकर हांका डलवाना है।

"रेहु मृगा संशय बन हाँके" रेहु का शुद्ध रूप है 'रोह'। रोह कहते हैं नीलगाय को। मृग पशु मात्र का नाम है; किन्तु जंगली जानवर के लिए मृग नाम ज्यादा रूढ़ है। वैसे मृग का अर्थ हिरन भी होता है। मनुष्य के हृदय-वन के नीलगाय एवं बनैले पशु हैं अज्ञान, संशय, विषयासक्ति एवं नाना मनोविकार। साधक अनेक साधना-भजन के हांका देकर इन्हें घेरकर इनका शिकार कर लेता है। "पारथ बाणा मेलै" पारधी बाण चलाता है। साधक मनोविकारों को घेर-घेरकर नष्ट करता है। यही तो राम-भजन है। मन के विकारों को त्यागना ही राम-भजन है।

"सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै।" समुद्र जलता है और वन भी जलता है और मछली उनमें शिकार खेलती है। कबीर साहेब की यह अद्‌भुत उक्ति है। भव का सागर है और संशय का वन है। परिपक्व साधक के ये दोनों जल जाते हैं। साधक का शुद्ध मन उसमें शिकार खेलता है। हृदय के विकार जल जाने पर भी जब तक देह है तब तक पूर्व संस्कार तथा वर्तमान के प्राणी-पदार्थों के संयोग से समय-समय पर विकार आने की सम्भावना रहती है। साधक का शुद्ध मन उन आये हुए विकारों का शिकार करता रहता है। सावधान साधक वही है जो सदैव अपने हृदय को देखता है कि उसमें कुछ अन्यथा विचार तो नहीं उठ रहे हैं!

सद्‌गुरु कहते हैं कि जो साधक इस पद का गायन, मनन एवं अर्थ विचार करता है वह स्वयं भी माया से तरता है और दूसरों को तरने में सहयोग करता है। माया-मोह एवं मनोविकार से मुक्त होने पर ही शुद्ध मन स्वरूपराम में विश्राम पाता है। सद्‌गुरु कहते हैं हे प्राणी! काम तजो, राम भजो।

रामरस-पान

शब्द–२०

कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे॥ १ ॥
फल लंकृत बीज नहिं बकला, शुक पन्छी तहँ रस खाई॥ २ ॥
चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई॥ ३ ॥
निगम रसाल चारि फल लागे, तामें तीनि समाई॥ ४ ॥
एक दूरि चाहें सब कोई, जतन जतन काहु बिरले पाई॥ ५ ॥
गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै॥ ६ ॥
कहैं कबीर स्वामी सुखसागर, राम मगन होय सो पावै॥ ७ ॥

शब्दार्थ—लंकृत = अलंकृत, शोभायमान, सुन्दर। बकला = छिलका। अंग नहिं भीजै = मन शीतल नहीं होता। दास भँवर = भक्त भंवरे। निगम = वेद। रसाल = आम का पेड़। चारि फल = अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। समाई = सामान्य, नाशवान। एक = मोक्ष। जतन-जतन = साधन करते-करते। बसन्त = वसन्त ऋतु, जवानी, वासना। ग्रीषम ऋतु = गरमी ऋतु, बुढ़ापा, ज्ञानाग्नि की प्रचंडता। तरिवर = वृक्ष, शरीर। मगन = मग्न, डूबा हुआ, तन्मय।

भावार्थ—है कोई राम का रसिक! यदि है, तो क्या वह रामरस पीयेगा! यदि पीयेगा तो निश्चित ही अमरत्व प्राप्त करेगा॥१॥ जिसमें रामरस भरा है वह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। उसमें न बीज है न छिलका है। साधक रूपी शुक पक्षी उसके अमृत का रसास्वादन करते हैं॥२॥ यद्यपि भक्त-भंवरे भी उसके इर्द-गिर्द मंडराते हैं, परंतु उनके ऊपर राम-रस की बूंद भी नहीं चूती और न उनका मन संतुष्ट होता है॥३॥ वेद रूपी आम के पेड़ में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष—चार फल लगे हुए हैं। इनमें पहले वाले तीन तो सामान्य एवं क्षणभंगुर हैं, परंतु अन्त का एक चौथा मोक्ष फल अमर और आत्यंतिक सुखद है, पर वह बहुत दूर लगा है। उसे चाहते तो सब हैं, परंतु निरन्तर साधना करते-करते कोई विरला पाता है॥४-५॥ हे मानव! इस फल के लिए शीघ्र प्रयत्न कर! देख, जवानी चली जा रही है। चार दिनों में बुढ़ापा आ जायेगा और मृत्यु हो जायेगी। फिर तो मोक्ष फल फलने वाले मानव शरीर रूपी इस वृक्ष के नीचे आने का अवसर पता नहीं कब मिले, अथवा जिसका विवेक-द्वारा वासना की वसन्तऋतु बीत गयी और ज्ञान की प्रचंड गरमी तप रही है, वह पुनः संसार वृक्ष के नीचे नहीं आता॥६॥ सद्गुरु कहते हैं कि निजात्माराम अनन्त अमृत-रस का स्वामी तथा सुख का सागर है, जो उसमें डूबता है वही उसका अनुभव करता है॥७॥

व्याख्या—कबीर साहेब मानो एक भीड़ में चले गये हों और अचानक उससे पूछ बैठे हों—'है इसमें कोई राम-रसिक!' राम-रसिक मिलना दुर्लभ है। संसार में अधिकतम लोग विषय-रसिक हैं। साधनाक्षेत्र में आने वाले लोगों में भी बहुत थोड़े लोग होते हैं, जिनके मन में राम-रस की चाह ज्यादा होती है। जो रात-दिन राम-रस में ही डूबे रहते हैं ऐसे सन्त पुरुष दुर्लभ हैं।

राम व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप है। "मैं" के रूप में विद्यमान आत्मसत्ता ही रामतत्त्व है। स्वरूपचिंतन एवं आत्मचिंतन ही राम-रस है। जो साधक आत्मचिंतन रूपी राम-रस निरन्तर पीता है, उसी के लिए "युग जीयहुगे" वाक्यांश का प्रयोग यहां किया गया है। "युग जीयहुगे" का अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। यहां का अर्थ है कि राम-रस का रसास्वादन करने वाला अमरत्व को प्राप्त करेगा।

स्वरूपस्थिति ही वह फल है जिसमें राम-रस भरा हुआ है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो आत्मचिंतन करता है। उसे आत्मचिंतन करना नहीं पड़ता, किन्तु उसका तो वह स्वभाव बन जाता है। वह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। अन्य फलों में प्रायः बीज और छिलके होते हैं, परंतु इस फल में ये दोनों नहीं हैं। इस फल में संसार में पुनः जन्म लेने के बीज नहीं होते और न मोह-माया का आवरण रूपी छिलका ही होता है। संसार के सुख दुखमिश्रित हैं, परंतु रामरस का सुख केवल सुख है। इसमें दुख रूपी बीज-छिलके नहीं हैं। यह खालिस सुख है। जैसे पेड़ के फलों को सुग्गे तथा अन्य पक्षी खाते हैं वैसे स्वरूपस्थिति रूपी अमृत का आस्वादन साधक एवं सन्त जन करते हैं।

"चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई।" यह पंक्ति सगुण उपासकों पर व्यंग्य है। सगुण उपासक राम को निज स्वरूप न समझकर उसे कहीं बाहर खोजते हैं। वे मन से उसके नक्शे बनाते हैं धनुर्धारी रूप में, चतुर्भुज रूप में, वंशीधारी रूप में, शून्य, ज्योति, सर्वव्यापक, लोक विशेष, एकदेशी आदि रूपों में; परन्तु यह सब मन के कल्पित नक्शे हैं। जहां तक मन का सृजा राम है, काल्पनिक है। जब मन मौन हो जाता है, मन के शांत होने पर निजस्वरूप की अनुभूति होती है। मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान को ढाकती है। मनोवृत्ति के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को अपनी आत्मा का बोध होता है। यह निज चेतन स्वरूप ही राम है। सगुण-उपासकों को ऐसा ज्ञान न होने से वे मन से कल्पित राम की भावना में भटकते हैं। इसलिए उनको सच्चा राम-रस नहीं मिलता। उनका मन सन्तुष्ट नहीं होता। वे तो समझते हैं कि हमें एक दिन राम आकर मिलेगा और निश्चित समझ लो कि ऐसा कोई राम मिलने वाला नहीं है। यदि किसी भक्त को राम-दर्शन होते हुए प्रतीत होता है तो वह उसके मन का भास-अध्यास है। अतएव अच्छे-अच्छे रामभक्त भी माने हुए राम के दर्शन न पाकर जीवन से निराश हो जाते हैं। "चुवै न बुन्द अंग नहीं भीजै" यह उनके लिए मार्मिक वचन है। फल के रस का आस्वादन पक्षी ही करते हैं, भंवरे नहीं। इसी प्रकार राम का अनुभव विवेकवान साधक करते हैं, भावुक भक्त नहीं।

"निगम रसाल चारि फल लागे" इस वाक्यांश में सद्गुरु के मन में वेदों के लिए कितना आदर झलकता है! वे कहते हैं कि वेद रूपी आम्रवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये चार फल लगे हैं। फल तो दो हैं काम और मोक्ष, अर्थ और धर्म उनके साधन हैं। परंतु चारों को ही फल या पुरुषार्थ कहा जाता है। अर्थ, धर्म और काम तो साधारण कोटि के फल हैं, चौथा मोक्ष ही सर्वोच्च फल है। इसे सभी विवेकियों ने दुर्लभ कहा है। वस्तुतः मनुष्य का मन विषयों का अध्यासी है। विषय-वासनाओं का त्याग हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिलता। वासना-त्याग ही तो मोक्ष है। मन की सारी वासनाएं, सारी

इच्छाएं शांत हो जायं, यही मोक्ष है। मनुष्य वासनाओं को शीघ्र नहीं छोड़ता, इसीलिए मोक्ष को दुर्लभ कहा जाता है।

मोक्ष के विषय में सद्गुरु कहते हैं "चाहें सब कोई" जान तथा अंजान में सब मोक्ष चाहते हैं। हर आदमी जो अप्रिय से छुटकारा चाहता है यही तो मोक्ष की इच्छा है। और सारी वासनाओं का त्याग किये बिना कोई सारे अप्रिय से नहीं छूट सकता। वासनाओं के छूट जाने पर जीव असंगता का अनुभव करता है। मन से असंग हो जाना मोक्ष है। मनुष्य को सदैव प्रिय के छूटने का भय रहता है परन्तु विजाति जो कुछ है चाहे वह कितना ही प्रिय हो, अन्ततः छूटकर रहेगा। विवेकवान पहले ही प्रिय-अप्रिय सबकी वासना छोड़ देते हैं, इसलिए शरीर रहते-रहते मुक्त हो जाते हैं। मिलने-छुटने की लालसा और भय से सर्वथा छूटा हुआ व्यक्ति मुक्त है।

कहा जा सकता है कि ऐसा होना बड़ा कठिन है। परन्तु कठिन काम भी धीरे-धीरे सरल हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जतन जतन काहु बिरले पाई।" उद्योग करते-करते निरन्तर साधना में लगे-लगे कोई विरला ही इस उच्चतम दशा को पहुंचता है। साधक को निश्चय करना चाहिए कि हम इस दशा को प्राप्त कर सकते हैं। जो काम दूसरे मनुष्य कर सकते हैं, हम क्यों नहीं कर सकते!

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" साहेब चेतावनी देते हैं कि हे मानव! जवानी ही साधना करने का समय है। तू इसमें ही अपने आपको साधना में लगा। यह थोड़े दिनों में बीत जायेगी, फिर बुढ़ापा आ जायेगा। मृत्यु तो किसी भी समय सम्भव है। जो सुनहला समय आज मिला है, आगे पता नहीं मिले या न मिले। तुम किसलिए अपने कल्याण का काम रोक रहे हो। सब कुछ छूटने वाला है। किसी के राग-द्वेष में फंसकर अपने कल्याण का काम न रोको।

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" इसको इस तरह भी समझा जा सकता है कि विवेकज्ञान-द्वारा जिसकी वासना रूपी वसंत ऋतु बीत गयी है और स्वरूपज्ञान रूपी गरमी प्रचंड है वह पुनः शरीर रूपी वृक्ष के नीचे नहीं आता। इस अर्थ में उलटवांसी का पुट है। वसन्त ऋतु बीतने पर जब ग्रीष्म ऋतु आती है तब गरमी के कारण लोग पेड़ों की छाया ढूंढ़ते हैं। परन्तु साहेब कहते हैं कि वासना का वसन्त बीतने पर जब ज्ञान का ग्रीष्म आता है, तब जीव पुनः पेड़ के नीचे नहीं आता। यह पेड़ शरीर एवं संसार है। ज्ञान की प्रचंड गरमी साधक के हृदय को शीतल करती है और वह मुक्त हो जाता है।

"कहैं कबीर स्वामी सुख सागर, राम मगन होय सो पावै।" वासनाओं से मुक्त आत्मा ही स्वामी है, सुखसागर है। वासना ही विष है, पीड़ा है और भवव्याधि है। इसका सर्वथा अन्त ही अमृत है, परमानन्द है, परमसुख है। सद्गुरु ने कहा है "हो हजूर ठाढ़ कहत हौं"[1] अर्थात मैं खड़ा होकर कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो। व्यवहार में कोई पूज्य, संत एवं गुरु तुम्हारा स्वामी हो सकता है; परन्तु परमार्थ एवं अध्यात्म स्थिति में

१. रमैनी, साखी २४।

तुम्हारा कोई दूसरा स्वामी हो ही नहीं सकता। तुम स्वयं अपने स्वामी हो। इस तुम्हारे स्वामित्व की चरितार्थता तुम्हारी वासना-विजय में है। जो सचमुच अपने आप का स्वामी हो जाता है वह सुखसागर हो जाता है। यह अवस्था तभी मिलती है जब राम में ही रात-दिन डूबा रहे। जो निरन्तर आत्माराम में लीन है, वह कृतकृत्य है, सुखसिंधु एवं आनंदकंद है।

तीर्थ, मंत्रादि के पाखंड एवं विषयों को छोड़कर राम में रमो

शब्द–२१

राम न रमसि कौन डण्ड लागा, मरि जैबे का करिबे अभागा॥ १ ॥
कोइ तीरथ कोइ मुण्डित केसा, पाखण्ड मन्त्र भरम उपदेसा॥ २ ॥
विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्तकाल मुख फाँके छारा॥ ३ ॥
दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै॥ ४ ॥
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी॥ ५ ॥

शब्दार्थ—डण्ड = दंड, पाप। छारा = छार, धूल। कलि = समय की एक काल्पनिक माप, कलह, झगड़ा, पापबुद्धि। करवा = मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन। टोटी = टोंटी, नली।

भावार्थ—हे मानव! तू विषयों को छोड़कर राम में लीन नहीं होता, तुझे कौन-सा पाप लगा है। हे अभागे! आज-कल में मरकर संसार से बिदा हो जायेगा तब क्या कर सकेगा? ॥१॥ मुक्ति के लिए कोई तीर्थों में भटकता है, कोई प्रयागादि में केश मुड़वाता है, कोई मन्त्र-तन्त्र के पाखंड में उलझता है और कोई उपदेश तो सुनता है परन्तु भ्रम से भरे हुए॥२॥ कोई कुछ विद्याएं पढ़कर तथा वेद-शास्त्र-अध्ययन कर उसी के मद में चूर रहता है, परन्तु ये सब लोग आत्मशांति से विहीन बने अन्त समय में निराशा ही में शरीर छोड़ते हैं॥३॥ आदमी पाप-पुण्य सारे काम करके तथा जीवन में नाना सुख-दुख सहकर कुटुम्ब का पालन करता है, परन्तु मरती बार या मरणांतर में कर्मफल का दुख तो अकेला ही भोगता है॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही उसकी टोंटी से निकलेगा। जीवन में जिसकी कमाई होगी, उसी का फल उसके सामने आयेगा॥५॥

व्याख्या—परम तृप्ति, आत्यंतिक सुख, पूर्ण सन्तोष, अनन्त आनन्द तथा चिरशांति की प्राप्ति हर जीव की लालसा है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि दुखों की अत्यन्त निवृत्ति सबको प्रिय है। इसका एक ही उपाय है राम में लीन होना। जो सदैव राम में रमता है वह मानो सब समय परम सुख के सागर में निमज्जन करता है। राम व्यक्ति का निज स्वरूप है। निज चेतन स्वरूप में विश्राम ही तो संसार-सागर से पार जाना है। स्वस्वरूपस्थिति ही राम में रमण है। यही परम सुखसिंधु है। परन्तु यह अभागा आदमी इधर झांकता भी नहीं। वह तो निरन्तर विषयों में ही लीन रहना चाहता है। सद्गुरु कहते

हैं, हे मानव! तुझे कौन-सा पाप लगा है जो पवित्र निजात्मराम को छोड़कर मलिन काम में डूबता है!

मुक्तिसुख को प्राप्त करने के लिए अनेक लोग तीर्थों में भटकते हैं। इसमें कारण है कि पुरोहित पंडितों ने अनेक धर्मशास्त्रों एवं महाकाव्यों में तीर्थों की अति महिमा लिख डाली है। उसे पढ़-सुनकर विद्वान-अविद्वान सबको एक सनक सवार हो गयी है कि तीर्थों में स्नान करने मात्र से कल्याण हो जायेगा। महाभारत के वनपर्व में आता है "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कोई भी महात्मा ब्रह्मा जी के तीर्थ (पुष्कर) में स्नान कर लेते हैं, वे किसी योनि में जन्म नहीं लेते।[१] स्त्री हो या पुरुष जीवन भर में जितने भी पाप किये हों, पुष्कर तीर्थ में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं।"[२] तीर्थों के विषय में अतिमहिमाएं तथा उसके कुफल का चित्रण साखी प्रकरण की २१४ से २१६ वीं साखियों की व्याख्या में पढ़ें, देखें किस तरह पुरोहितों ने तीर्थों के नाम पर समाज को बेवकूफ बनाया है। यह ठीक है कि मनोरंजन, देशाटन, जानकारी, जलवायु-परिवर्तन, देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, संतों एवं विद्वानों के दर्शन तथा उनके उपदेश सुनने के लिए तीर्थों में जाइये; परन्तु वहां जाते ही मुक्ति मिल जायेगी, यह धारणा एक पागलपन है। परन्तु इस पागलपन में आज भी हजारों लोग तीर्थों की खाक छानते हैं।

"कोई तीरथ कोई मुंडित केसा" तीर्थ तो तीर्थ, तीर्थ में सिर के बाल का मुंडन करा लेने मात्र से भी कल्याण की प्राप्ति मान ली गयी। कहा गया "यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, काशी में मरण एवं कुरुक्षेत्र में दान करने की क्या आवश्यकता।"[३] त्रिस्थली सेतु, तीर्थ चिंतामणि, गंगा वाक्यावली, तीर्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रयाग में गये यात्री स्त्री-पुरुषों के बालमुंडन की लम्बी-लम्बी व्याख्याएं की गयी हैं। कहा गया सधवा स्त्री को भी अपने वेणी (बालों की चोटी) को काटकर प्रयाग की त्रिवेणी में फेंक कर यह कहना चाहिए "वेणी में इस वेणी को फेंकने से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायं, और आने वाले जीवन में मेरा सधवापन ब्रृद्धि को प्राप्त हो।"[४] डॉ० पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है "ऐसा सम्भव है कि सधवा स्त्रियों का वेणी को काटकर फेंकना 'वेणी' (दोनों नदियों के संगम) शब्द से निर्देशित हो गया है, क्योंकि संगम स्थल पर गंगा कुछ दूर तक टेढ़ी होकर बहती है (त्रिस्थली, पृष्ठ ८)।"[५] इस प्रकार बहुत-से भोले लोग प्रयाग में सिर मुड़ाकर ही अपना मोक्ष मान लेते हैं।

---

१. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥८२/३०-३१॥

२. जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणस्यति ॥३३-३४॥ *(महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२)*

३. किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेन किम्।
किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि॥ *(नारदीयपुराण, उत्तर ६३/१०४)*

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० १३३१।

५. वही, पृ० १३३१।

'पाखंड मंत्र' मंत्र का पाखंड संसार में खूब है। कुछ अक्षरों तथा शब्दों का जोड़ मंत्र होता है, परन्तु पुरोहित लोग विचारकों को पहले ही नरकगामी होने की घोषणा कर देते हैं "जो गुरु को केवल मनुष्य मानता है, मंत्र को मात्र अक्षर और प्रतिमा को केवल पत्थर, वह नरक में जाता है।"[1] परन्तु गुरु मनुष्य के अलावा दूसरा क्या हो सकता है! हां, वह ज्ञानी पुरुष है, श्रद्धेय है। मन्त्र केवल अक्षरों का जोड़ होता ही है। उसमें कुछ अर्थ निकलता है तो ठीक है, अन्यथा एक पागलपन है। प्रतिमा पत्थर है ही। उसमें किसी महापुरुष की याद होती है। यही उसका सार है।

नाना मत के पुरोहित जनता को पुत्र, धन, विजय, निरोग्यता, पद, शत्रुनाश, मित्रलाभ, स्वर्ग, मोक्ष—सब कुछ मन्त्र-जप के बल पर देने के लिए तैयार बैठे हैं। इसके लिए वे जनता से मोटी रकमें लेते हैं। गजनवी ने जब सोमनाथ के मन्दिर पर हमला किया था, तब पुरोहित मन्त्र के बल पर ही उसे भगाने की दुराशा में थे। फल यह हुआ कि मन्दिर टूटा, शिवलिंग टूटा तथा अपार सम्पत्ति लुटी। पुराणों तथा महाकाव्यों में कथा के माध्यम से भी यह बातें जगह-जगह जड़ दी गयीं कि अमुक ने मन्त्र से अभिषिक्त करके बाण चलाया तो शत्रु पर विजय हो गयी। मन्त्र के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने का झूठा दावा धर्मग्रन्थों में किया गया। आज भी पुरोहित मन्त्र के नाम पर जनता को वर्गलाने का प्रपंच करता है। नाना मत के पुरोहितों ने अनेक मंत्र बनाये हैं और उनके द्वारा संसार के लोगों की सारी मनोकामनाएं पूर्ण करने का झांसा देते हैं। और तो और, पुराकाल में विश्वामित्र ने जिस गायत्री मन्त्र का प्रणयन ऋग्वेद (३/६२/१०) में सूर्य की उपासना में किया था और उससे सद्बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने का भाव प्रकट किया था उससे पुरोहितों ने सारी ऋद्धि-सिद्धि पाने का झांसा देना शुरू किया। कहा गया "ब्रह्महत्यादि सारे पाप बड़े हों या छोटे, गायत्री जप से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[2] ब्रह्महत्या, शराबपान, चोरी, गुरुपत्नी के साथ गमन आदि जो महान पाप हो गया हो, वह सब गायत्री मंत्र के स्मरण मात्र से नष्ट हो जाता है।[3] दिन के पाप दिन में और रात के पाप रात में गायत्री के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।[4] बेल पेड़ के नीचे एक महीना निवासकर (गायत्री) का जप करने से राज्य की प्राप्ति होती है। बेल पेड़ की जड़, फल, फूल तथा पत्रों को मिलाकर हवन करने से भी राज्य की प्राप्ति होती

---

१. गुरौमनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत॥

२. ब्रह्महत्यादि पापानि गुरूणि च लघूनि च।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्री जपतो द्विजः॥ पद्मपुराण॥

३. ब्रह्महत्या शुरापानं स्तेय गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकादीनि स्मरणान्नाशमाप्नुयः॥ गायत्री पुराण २/२७॥

४. यदह्नात्कुरुते पापं तदह्नात्प्रतिमुच्यते।
यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्प्रतिमुच्यते॥ तै० अ० प्र० १० अ० ३४॥

है।"[१] 'श्री विद्यामंत्र' की महिमा में कहा गया "करोड़ों वाजपेय एवं सहस्रों अश्वमेध-फल 'श्री विद्या' के उच्चारण मात्र के बराबर नहीं हो सकते, इसी प्रकार करोड़ों कपिला गायों का दान भी 'श्री विद्या' के एक उच्चारण के समान नहीं है (ज्ञानार्णव, पटल २४, श्लोक ७४-७६)। अग्निपुराण (१२५/५१-५२) में मंत्र के बल पर शत्रुओं को मारने की बात कही गयी है।"[२]

बौद्ध ग्रन्थों में भी मंत्र-तंत्र का जोर है। बौद्ध ग्रन्थ साधनमाल (पृष्ठ ५७५) में कहा गया है कि यदि उचित विधि अपनायी जाय तो मंत्र-द्वारा सभी कुछ प्राप्त हो सकता है। डॉ० पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—उदाहरणार्थ, इसमें आया है कि एक मंत्र, जो मंत्रों का राजा है, बुद्धत्व देता है, फिर अन्य सिद्धियों के विषय में कहने की आवश्यकता ही क्या है।[३] दूसरे मंत्र से अति दुर्लभ बुद्धत्त्व हाथ के तल में पड़े बदरी फल के समान है।[४] एक अन्य मंत्र (जो निरर्थक शब्दों वाला है) यदि पांच बार कहा जाय और दिन में तीन बार (प्रातः, दोपहर और संध्या) तो एक गधा अर्थात मूर्ख भी तीन सौ ग्रन्थों का जानकार हो जाय।[५]

गणपत का सिद्धि मंत्र है "ओं लवगं चले, सुपारी चले, चन्द्रमा सूरज का बहन चले, तैंतीस करोड़ देवता का बहन चले, आगे अगाड़ी पीछे पछाड़ी, ताला तोड़ भंडार खोल ऋद्धि-सिद्धि खैंच लाओ मेरे पास, गुरु सकत मेरी भगति। पुरो मंत्रा ईश्वरम् वाचा।" इस मंत्र के जप से सारी ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति बतायी गयी है।

सांप-बिच्छू के मंत्र भी इसी प्रकार अन्धविश्वास पर चलते हैं। यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है! पारदर्शी दृष्टि वाले कबीर देव कहते हैं कि बहुत-से लोग मंत्र-तंत्र के पाखंड में उलझे रहते हैं।

आजकल तन्त्र के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले बड़े-बड़े वंचक हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक तक मन्त्र-तन्त्र विशेषांक निकालते, भूत-प्रेत सिद्ध करते तथा येनकेन प्रकारेण समाज को मूर्ख बनाने पर तुले हैं।

---

१. जपेद् विल्व समाश्रित्य मासं राजमवाप्नुयात्।
विल्वं हुत्वाप्नुयाद् द्रव्यं समूलं फल पल्लवम्॥
(श्रीराम शर्मा कृत गायत्री महाविज्ञान, भाग २, पृष्ठ २६-२९)

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५, पृष्ठ ५३।

३. ओं आः ह्री हुं हँ हः अयं मन्त्रराजो बुद्धत्वं ददाति किं पुनरन्याः सिद्धयः।
(साधनमाल, पृष्ठ ५७५)

४. यातु किं बहुवचनीयं परमति दुर्लभं बुद्धत्वमपि तेषां पाणितलावलीनबदरकफलमिवावतिष्ठति।
(वही, पृष्ठ २७०)

५. ओम् चलचल चिलचिल चुलुचुलु कुलुकुलु मुलुमुलु हुंहुंहुं फट्फट्फट्फट्। पद्महस्ते स्वाहा दिने दिने पञ्चवारान् त्रिसन्ध्यमुच्चारयेत् गर्दभोपि ग्रंथशतत्रयं। गृह्णाति। (वही, पृष्ठ ६२)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५, पृष्ठ ५३-५४ से उद्धृत)

'मननात् मन्त्रः' मनन-द्वारा जो निष्कर्ष निकले वह मन्त्र है। या कुछ शब्दों का समूह मन्त्र कहलाता है जिसमें कुछ अर्थ होता है और मनुष्य को चाहिए कि उसका विचार करके जो ग्राह्य-त्याज्य हो उसका ग्रहण-त्याग करे। ऋद्धि-सिद्धि आदि देने के झांसे में चलाये गये सारे मन्त्र केवल पाखंड हैं।

"भरम उपदेशा" कितने गुरुओं के उपदेश भी भ्रम से पूर्ण होते हैं। सुनिये कहीं कथावाचकों की कथा तो वे आकाश-पाताल के कुलावे मिलाते मिलेंगे। कथा की सारी किताबों में तो कारण-कार्य व्यवस्थाओं, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति के गुण-धर्मों से हजारों कोस दूर की बातें भरी हैं। आत्मविवेक और विज्ञान से वहां कोई सरोकार नहीं है। अन्धविश्वास और चमत्कार से पूर्ण ही तो अधिक गुरुओं एवं पंडितों के उपदेश रहते हैं। वे जिस महापुरुष के विषय में कथा कहते होंगे, उन्हें या तो सर्वहर्ताकर्ता ईश्वर सिद्ध करते होंगे या उसका अवतार, पुत्र या पैगंबर। आंख मीचने पर दिखती ज्योति ईश्वर है, कान बन्द करने पर सुनाई पड़ता शब्द ईश्वर है, शून्य ईश्वर है, हमारे या हमारे गुरु के उपदेश या दीक्षा मात्र से मोक्ष मिलता है, अमुक तथाकथित देवी-देवता की उपासना से सब कुछ मिल जायेगा इत्यादि भ्रमपूर्ण उपदेश हैं जिनमें पड़कर संसार के लोग ठगा गये हैं।

"विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्त काल मुख फाँके छारा।" कितने लोग नाना विद्याएं एवं वेद-शास्त्र पढ़कर उसका अहंकार करते हैं, परन्तु उनकी दशा अंततः दयनीय ही होती है। सारी भाषाएं काल्पनिक रूढ़ियां हैं, और सारी लिपियां सांकेतिक चिन्ह हैं। बातों को समझने और समझाने के लिए इन्हें सीखा जाता है। इनका अहंकार करना व्यर्थ है। यदि कई बोलियां, भाषाएं तथा लिपियां सीख लीं, यदि कुछ विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो इनके द्वारा समाज का कल्याण करना चाहिए। इनका अहंकार करना तो केवल अज्ञान है। हमने कई शास्त्र पढ़ लिये, बहुत-से धर्मग्रन्थों को मथ डाले, वेदों के अर्थ करबदर कर लिये तो क्या हुआ यदि राम में नहीं रमते। कितने धुरंधर विद्वान एवं वेद-शास्त्रों के ज्ञाता देखे गये जिन्हें विद्या का सागर कहा जा सकता है, परन्तु वे विषयों के वश, इन्द्रियों के अधीन और कामनाओं में कुम्हार-चक्रवत नाचने वाले हैं, तो उनकी अन्तरात्मा में शांति कहां आ सकती है! शास्त्रज्ञान तथा आत्मसंतुष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है। पढ़ने वाला विद्वान बनता है तथा त्यागी आत्मसंतुष्ट होता है। वासनाओं के त्याग-बिना शांति नहीं मिल सकती।

नारद जी सनत्कुमार जी से कहते हैं—"भगवन! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण रूप पांचवां वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पादज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन विद्या (नृत्यसंगीतादि) यह सब मैं जानता हूं। परन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूं। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है, और मैं शोक करता हूं, अतः मुझे शोक से पार कर दीजिये।"[1]

---

१. छांदोग्य उपनिषद्, अ० ७/ खण्ड १/ मन्त्र २-३।

इसके बाद सनत्कुमार का लम्बा उपदेश चला है और उन्होंने सार रूप में कहा है कि जितना कुछ संयोगजनित है सब अल्प है, क्षणिक है, उसमें चिर सुख नहीं है, भूमा ही, आत्मा ही पूर्ण सुख रूप है जो अनन्त है, न समाप्त होने वाला एवं पूर्ण है। उसी में रमो[1] और कहा कि सारे मन-इन्द्रियों के आहार (विषय) जब शुद्ध हो जाते हैं अर्थात जब विषय-वासनाओं का त्याग हो जाता है तब हृदय शुद्ध हो जाता है, जब हृदय शुद्ध हो जाता है तब चित्त एकाग्र हो जाता है और जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब मन की सभी गांठें खुल जाती हैं।[2] मन की ग्रंथियों का कट जाना ही तो परम सुख है। और भी ऋषि कहते हैं "जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे अविवेकमय निविड़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"[3]

अतएव जो विद्या तथा शास्त्रज्ञान के अहंकार में चूर रहते हैं, उनको अन्त में अशांति में बिलबिलाना पड़ता है।

"दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै।" आदमी अपने आपको एकदम भूलकर धन-परिवार ही सब कुछ माने रहता है और उन्हीं के मोह-लोभ में रात-दिन आकंठ डूबा रहता है। वह अपने माने हुए परिवार के परवरिश के लिए पता नहीं कितने लोगों के हक को मारता है। आदमी जैसे एक सम्मोह में जीता है। वह रात-दिन न करने योग्य कर्म करके अपने माने गये परिवार को सम्पन्न बनाना चाहता है, परन्तु परिवार के वे लोग उसका कोई कल्याण नहीं कर सकते। उसे जीवन भर अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में तथा मरणांतर भी अपने कर्मों का भुगतान करना पड़ता है। आदमी मरकर चाहे अपने घर के दरवाजे पर ही कुत्ते-बिल्ली की योनि में जन्म ले, परन्तु उस घर, धन, परिवार से क्या सम्बन्ध रह जाता है!

"कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी।" सद्गुरु कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। कलियुग ऐसा कुछ नहीं है जो समान रूप से सब पर हाबी हो। कलियुग है पापबुद्धि, दुर्बुद्धि। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यदि हमारे मन में दुर्बुद्धि है तो हमारा पतन रखा-रखाया है। मनुष्य जो कुछ जीवन भर क्षण-क्षण करता है, उन्हीं सबके संस्कार मन में इकट्ठे होकर भीतर जमा होते हैं और उन्हीं के फल उसको आज तथा आगे मिलते हैं। करवा में पानी भरा होगा तो उसकी टोंटी से पानी निकलेगा, दूध भरा होगा तो दूध और यदि कहीं विष भरा है तो विष ही तो निकलेगा! यदि हमने जीवन में अच्छे संस्कारों की कमाई की है तो हमारा मन स्वच्छ एवं प्रसन्न रहेगा, जीवन

---

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। (वही, अ० ७/ खंड २३/ मंत्र १)

२. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। *(छांदो० ७/२६/२)*

३. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपास्ते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।
(शुक्ल यजुर्वेद, अ० ४०/ मंत्र ९, तथा ईश उप० मं० ९)

में शांति रहेगी और आगे भी शांति रहेगी; परंतु यदि हमने जीवन भर खुराफात किये हैं और बुरे संस्कार बनाये हैं तो उनके फल में हमें आज और आगे सदैव भटकना ही भटकना है। ये आज के परिवार, धन, विद्या, पद, पूज्यता सहारा नहीं दे सकते। आदमी इस बात को नहीं समझता। वह केवल स्थूल बुद्धि से बाहरी चमक-दमक ही देखता है और उसी में भूल कर अपने आपको खो देता है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे अभागे! तू अपना माना हुआ सब कुछ छोड़कर एक दिन यहां से चला जायेगा। तेरा कोई साथी नहीं होगा। अतः सबका मोह छोड़कर राम में रमण कर। सब छूटेगा, परन्तु राम नहीं छूटेगा। संसार में तेरा कुछ नहीं है, बस केवल राम तेरा है। तेरी चेतना ही राम है जो तेरा अभिन्न स्वरूप है, सारी वासनाएं छोड़कर उसी में निमग्न हो जा, निज स्वरूप-राम में लीन हो जा।

उच्चतम एवं परमपद की दशा

शब्द—२२

अवधू छाड़हु मन विस्तारा॥ १ ॥

सो पद गहो जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म सो न्यारा॥ २ ॥
नहीं महादेव नहीं महम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं॥ ३ ॥
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥ ४ ॥
असी सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी॥ ५ ॥
चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी॥ ६ ॥
वेद कितेब सुमृत नहिं संजम, नहिं जीवन परिछाँईं॥ ७ ॥
बाँग निमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई॥ ८ ॥
आदि अन्त मन मध्य न होते, आतश पवन न पानी॥ ९ ॥
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥१०॥
कहहिं कबीर सुनो हो अवधू, आगे करहु विचारा॥११॥
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, कृत्रिम किन्ह उपराजा॥१२॥

शब्दार्थ—अवधू = अवधूत, संन्यासी, त्यागी, विरक्त। मन विस्तारा = मनःकल्पना। सो पद = निजस्वरूप चेतन। सद्गति = छुटकारा, मोक्ष। हजरत = महाशय, महात्मा। संजम = संयम, धर्माचरण। परिछाँई = माया। आतश = आग। कृत्रिम = बनावटी। उपराजा = उत्पन्न किया।

भावार्थ—हे त्यागियो! मन के फैलावे एवं कल्पनाओं का त्याग करो॥१॥ और उस निजस्वरूप चेतन की स्थिति ग्रहण करो जिससे तुम्हें दृश्य जगत एवं भव-बंधनों से छुटकारा मिले, यह स्थिति तुम्हारे माने हुए परब्रह्म से भी परे है॥२॥ जब बोधवान मन के फैलाव को छोड़ देता है तब वहां क्या रह जाता है! न वहां महादेव है, न हजरत मुहम्मद है और न हरि एवं विष्णु है, न वहां आदम है, न ब्रह्मा है और न धूप तथा छाया

है, न वहां अस्सी हजार पैगंबर हैं, न अठासी हजार ऋषि-मुनि, न वहां चांद, सूर्य तथा तारागण और न मत्स्य, कच्छप दोनों या दसों-चौबीसों अवतार, वहां वेद, किताब, स्मृतियों एवं धर्माचरणों की भी गुंजाइश नहीं है और न वहां जगत-प्राणियों तथा माया का अस्तित्त्व है, वहां पर बांग, नमाज, कलमा की न बात है और न राम तथा खुदा की बात है, वहां शुरू, बीच तथा आखिर की बात नहीं है, न वहां आग, हवा तथा पानी के होने का प्रश्न है, न वहां चौरासी लाख योनियां एवं संसारी जीव-जन्तु हैं और न साखी, शब्द तथा किसी प्रकार की वाणी ही है ।।३-१०।। मन के विस्तार का अन्त होने पर अर्थात मन समाप्त होने पर तो दृश्यों की शून्यता रहती है। बस, वहां रह जाता है निज चेतन पद। यही सद्गति है। यही मोक्षपद है। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि इसके आगे तुम किसी पूर्णब्रह्म का विचार करते हो तो मैं तुमसे पूछता हूं कि वह कहां से प्रकट हो गया? उस कृत्रिम को कौन पैदा किया है? इस पर विचार करो! उसकी कल्पना करने वाले तुम स्वयं हो ।।११-१२।।

व्याख्या—प्रस्तुत शब्द जीव की उच्चतम स्थिति का निराले ढंग से बोध कराता है। कबीर स्वयं निराले संत हैं। उनको समझने के लिए हमें संस्कारों की चादर को उतारकर अलग रख देना चाहिए। इस पद में वे हमें यही बताते हैं कि तुम राम-रहीम की चादर उतार फेंको और उसकी तली में छिपे हुए सत्य को पहचानो।

पीछे १३ से २१ वें शब्द तक उन्होंने राम शब्द को लेकर विस्तृत विवेचन किया है। अब वे इस २२ वें शब्द से 'अवधू' के विषय में कहते हैं। अवधू का शुद्ध रूप अवधूत है जिसका अर्थ होता है संन्यासी, विरक्त एवं त्यागी। त्यागी वह है जो सब कुछ त्याग दे। यदि उसने कुछ पकड़ रखा है तो वह त्यागी कैसा? इसका कोई अनर्थ न करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि त्यागी को खाना-पीना नहीं चाहिए या छत के नीचे रहना नहीं चाहिए। खाना, पीना और छत के नीचे सब को रहना पड़ता है। यहां सब कुछ के त्याग का मतलब है सारी वासनाओं का त्याग। जगत-वासना को सभी बंधन समझते हैं; परन्तु यदि हम ब्रह्म के नाम पर जगत की व्याख्या करने लगते हैं तो इस ब्रह्म-वासना को लोग बन्धन नहीं समझते। परन्तु यह जगत-वासना से भी भयंकर बन्धन है। जगत-वासना को तो सभी त्यागी बन्धन समझ लेते हैं, उसको सब यथाशक्ति त्यागने का भी प्रयत्न करते हैं, परन्तु ब्रह्म-वासना को बन्धन नहीं समझ पाते।

अब थोड़ा विचार कीजिए। यदि ब्रह्म की यही परिभाषा है कि सारा जगत ब्रह्म है, तो ब्रह्म और जगत नाम दो हुए, वस्तु तो एक ठहरी। कोई कहे कि मैं जगत-वासना का त्याग करता हूं, परन्तु ब्रह्म में रमता हूं, तो उसका कहना वैसे है जैसे कोई कहे कि मैं गुड़ खाता हूं, परन्तु गुलगुले से परहेज करता हूं। अथवा और साफ उदाहरण कि कोई कहे कि मैं जल कभी नहीं पीता, केवल पानी पीता हूं। जिसके ख्याल में सारा विश्वप्रपंच ब्रह्म ही है, तो वह ब्रह्म को पकड़कर विश्वप्रपंच से कैसे मुक्त हो सकता है?

यदि कोई कहे कि जड़ विश्वप्रपंच से ब्रह्म परे है और मुझसे भी परे है, तो यह एक कल्पना का विषय है। कल्पना मन का कार्य है। समाधि में जब कल्पनाएं समाप्त हो जाती

हैं तब वहां न जगत दृश्य रहता है और न किसी प्रकार का कल्पित ब्रह्म रहता है। तब तो केवल शुद्ध चेतन रहता है और विजाति दृश्यों का अन्त रहता है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे अवधूतो, हे त्यागियो, तुम्हारा त्याग पूर्ण तभी माना जायेगा जब मन का फैलाव छोड़ दो, मन की सारी कल्पनाएं, सारी वासनाएं छोड़ दो। जगत-वासना बन्धन है। यदि जगत ही ब्रह्म है तो ब्रह्मवासना भी बन्धन है। यदि तुम्हारी स्व-सत्ता से भिन्न ब्रह्म है तो उसकी वासना भी बन्धन है। तुम अपने आपसे, अपनी चेतना से अलग कुछ भी वासना रखते हो तो वह सब बन्धन है।

यह ज्ञानियों का सर्वमान्य सिद्धांत है कि सारी इच्छाओं का त्याग जीवन्मुक्ति दशा है तथा सारी वासनाओं एवं सारे संकल्पों का त्याग समाधि दशा है। अतएव जब तक हम जगत के विषयों की इच्छा करते हैं और जब तक आत्म-भिन्न किसी ईश्वर-ब्रह्म को पाने की इच्छा करते हैं तब तक वासना में बंधे हैं। मन के संकल्प-विकल्प समाप्त होने पर समाधि होती है। यदि हम समाधि के लिए बैठें और मन में किसी ईश्वर-ब्रह्म का नक्शा बनाएं तो समाधि कहां हुई? यदि हम किसी शरीरधारी को ब्रह्म मानकर उसके विषय में सोचते हैं तो किसी शरीर की कल्पना होगी और यदि निराकार-निर्गुण एवं सर्वव्यापक मानकर उसका नक्शा बनाना चाहेंगे तो ख्याल में कुछ आ नहीं सकता, बस केवल आकाश, बादल, वन, पर्वत, नगर एवं विश्वप्रपंच ही आयेगा। सार यह कि जब तक मन उपस्थित रहेगा तब तक विजाति दृश्य रहेगा चाहे उसका नाम जगत हो और चाहे ब्रह्म हो; परन्तु जब मन शून्य हो जायेगा, तब विजाति दृश्य शांत हो जायेगा। तब रह जायेगा शुद्ध चेतन स्वसत्ता मात्र। यही समाधि है। यही परमपद है। यही सद्गति है। वस्तुतः यही सच्चा अद्वैत भी है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारे माने हुए पारब्रह्म से न्यारा है।

इस शब्द की पहली दो पंक्तियां इस सन्दर्भ के प्राणतत्त्व हैं। पहली पंक्ति पर ध्यान दीजिए। "अवधू छाड़हु मन विस्तारा" सद्गुरु कबीर शब्द प्रयोग करने में बड़े मनोवैज्ञानिक हैं। वे यहां मन के विस्तार, मन के फैलाव, वासनाओं एवं कल्पनाओं के त्याग की बात करते हैं। वे जानते हैं कि इस उच्च उपदेश का अधिकारी अवधूत है, त्यागी एवं सन्यासी है। साहेब कहते हैं कि तुम त्यागी हो तो सब कुछ का त्याग करो। यह ठीक है कि कोई अपने आपका त्याग नहीं कर सकता। अपने आपका त्याग करने की बात सोचना ही अपना पतन है। हम कहीं भी रहें अपने आपा को लेकर रहते हैं। हम अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकते। परन्तु अपने आप में हमारी पूर्ण स्थिति तभी हो सकती है जब हम दूसरे सब की वासना का त्याग कर दें। मन का विस्तार ही बन्धन है। मन की कल्पना, वासना ही विजाति दृश्यों को जीव के सामने ला-लाकर उसे स्व-पद से विचलित करती है। यदि वासना का त्याग कर दिया जाय तो स्वरूपस्थिति ही है। कुछ पाना नहीं है, किन्तु केवल मन के विस्तार को छोड़ना है।

"सो पद गहो जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म सो न्यारा।" वह स्थिति पकड़ो जिसमें सद्गति हो, मोक्ष हो। मोक्ष किस स्थिति में है? मन के विस्तार छोड़ने में। वासना छोड़ना ही तो मोक्ष है। यदि तुम्हारी यह कल्पना है कि परब्रह्म तुम्हारी स्व-सत्ता से कोई अलग वस्तु है, तो सद्गुरु कहते हैं कि उसे भी छोड़ो। क्योंकि वह भी तुम्हारे मन का विस्तार

है, तुम्हारे मन की अवधारणा एवं कल्पना है। जब तक सारी वासनाएं न छूटेंगी, तुम्हारा अपना स्व-पद न मिलेगा।

अब जरा ध्यान दो, जहां सारी वासनाएं छूट गयीं, मन का सारा विस्तार समाप्त हो गया और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वहां महादेव, मुहम्मद, हरि, हजरत, ब्रह्मा, आदम, धूप, छाया, पैगंबर, मुनि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, कल्पित अवतार, वेद, किताब, स्मृतिग्रंथ, धर्माचरण, जीवन, माया, बांग, निमाज, कलमा, राम, खुदा, देश तथा काल की माप—आदि, मध्य, अन्त, आग, पानी, चौरासी लाख जीव-जन्तु, साखी, शब्द, वाणी विस्तार एवं समस्त दृश्य प्रपंच कहां है?

महादेव-मुहम्मद से लेकर साखी-शब्द-बानी तक ऊपर जितने नाम लिये गये हैं वह तो एक संकेत है। इससे हमें सारे दृश्य प्रपंच को समझ लेना चाहिए। मन का विस्तार समाप्त हो जाने पर कोई दृश्य नहीं रहता। लोग महादेव-मुहम्मद, ब्रह्मा-आदम, पैगंबर-अवतार, औलिया-मुनि, नमाज-पूजा, वेद-किताब, राम-रहीम आदि को लेकर लड़ते हैं, अपने आपको आस्तिक, दीनदार, पवित्र बताकर दूसरों को नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र घोषित करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये सब बीच की चीजें हैं। मुहम्मद तथा कुरानादि एवं बांग, नमाज और कलमा जब नहीं थे तब भी धर्म था। जब राम-राम नहीं कहा जाता था तब भी धर्म था।

जो लोग यह मानते हैं कि यह सारी सृष्टि एक दिन नहीं थी। उनसे पूछा जा सकता है कि तब ये महादेव-मुहम्मद, वेद-किताब, राम-रहीम की कल्पना कहां थी? इतना तो सच है कि सृष्टि प्रवाहरूप अनादि होते हुए भी जो कुछ आज-कल है वह सब-का-सब वैसे ही सदैव से नहीं था। यहां सब कुछ सब समय बदलता है। ईसा की छठी शताब्दी तक इस्लाम, मुहम्मद एवं कुरान का धरती पर चिन्ह भी नहीं था। बुद्ध के बाद पांच सौ वर्षों तक इसाइयत की पृथ्वी पर गंध नहीं थी। ईसा के छह सौ वर्ष के पहले बुद्ध और बौद्ध मत के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। बुद्ध के समकालीन जैन के एक बड़े पुरुष महावीर स्वामी के पहले जैन-मत का कोई ग्रंथ नहीं था। ईसा से छह-सात सौ साल पहले हिन्दू शब्द की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, फिर हिन्दू धर्म का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है! बुद्ध के बाद जब ईरानियों ने सिन्ध नदी को हिन्द नदी, इस देश को हिन्द देश तथा इस देशवासियों को हिन्दू कहा तब से धीरे-धीरे हिन्दू शब्द का प्रचलन होता चला गया। इसलिए वेद, वैदिक साहित्य एवं महाकाव्यों तक में हिन्दू शब्द नहीं पाया जाता और न भारतीय मूल की भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ही में पाया जाता है। राम और कृष्ण जो दो मुख्य अवतार माने गये हैं वे बुद्ध के बाद साहित्य में आये हैं। राम-नाम जप का प्रचलन वाल्मीकीय रामायण तक में नहीं है, वेद-शास्त्रादि में होने की तो बात ही नहीं है। राम-नाम-जप का प्रचलन लगभग ईसा के एक हजार वर्ष बाद हुआ है। यदि आज से तीन हजार वर्ष के पूर्व की हमारे पूर्वजों के विषय में बनायी गयी एक फिल्म होती तो हम उसे परदे पर देखकर चकित रह जाते। उसमें आज के धार्मिक प्रचलन का शायद कुछ शतांश ही मिलता।

मानो हम किसी दूसरे लोक में चले जायं। किसी ग्रह में प्राणी हों, मनुष्य हों और हम वहां चले जायं, तो क्या हमें वहां वेद-पाठ, कुरान-पाठ, बाइबिल-पाठ या रामायण-गीतादि का पाठ मिलेगा? क्या वहां राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद को कोई जानता होगा? क्या वहां हमारी पृथ्वी के धार्मिक रस्मोरिवाज होंगे? यह सब कुछ नहीं होगा? उन सबके कुछ अपने नियम, शब्द एवं संस्कार होंगे। परन्तु यदि वे विकसित हैं तो असली धर्म वहां भी वही होगा जो यहां है। वह यह है कि जब हम एक दूसरे से मिलें तो परस्पर प्रेम का व्यवहार करें और यह बड़ी चित्तशुद्धि का फल है। जिसका चित्त शुद्ध होगा वही दूसरों के साथ सुन्दर व्यवहार करेगा।

हमें धर्म और मुक्ति को सारे जंजालों से ऊपर करके देखना चाहिए। धर्म हिन्दू-मुसलमान, मुहम्मद-महादेव, वेद-किताब में सीमित नहीं है। वह मनुष्य के दिल में है और मोक्ष भी किसी बाहरी नाम-रूप में नहीं है, किन्तु वह सारी वासनाओं का त्याग है, मन के विस्तार का अन्त है।

सद्गुरु ने इस शब्द की प्रथम दो पंक्तियों में ही परमपद के विषय में अपना मंतव्य बता दिया है कि मन के संकल्प-विकल्प छोड़ देने पर जो शेष तत्त्व रह जाता है वही सद्गति है। अर्थात वासनाओं के छूट जाने पर निजस्वरूप की स्थिति ही परम पद है। यह माने हुए पारब्रह्म से भी भिन्न है। यदि निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म है तो वह मन की कल्पना होने से मन का ही कार्य है।

इस शब्द की अन्तिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बतलाते हैं कि वासना-रहित स्वरूपस्थिति के अलावा यदि तुम ब्रह्म मानते हो तो उस पर यह विचार करो कि वह पूर्णब्रह्म कहां से प्रकट हुआ हैं? अर्थात उसकी कल्पना किसने की है? यह स्पष्ट है कि जीव ही ने की है। इसका सविस्तार विवेचन "झगरा एक बढ़ो राजाराम" इस ११२ वें शब्द में देखने योग्य है "ब्रह्म बड़ा की जहाँ से आया" इत्यादि। निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म मानकर उसे कृत्रिम बना दिया जाता है। कृत्रिम का कोई कर्ता होता है। कृत्रिम ब्रह्म का मनुष्य जीव ही कर्ता है। साहेब पूछते हैं "कृत्रिम किन्ह उपराजा?"

शब्द का सार यह है कि साधक को न ब्रह्म प्राप्त करना है और न मुक्ति प्राप्त करना है। क्योंकि जो कुछ निजस्वरूप से भिन्न होगा वह माया होगी, दृश्य होगा, जड़ तत्वों का कार्य होगा या मन की कल्पना होगी। अतएव केवल मन के विस्तार को, मन की कल्पना को, मन की वासना को एवं मन के संकल्प-विकल्पों को छोड़ देना है, बस, शेष सद्गति ही है, मोक्ष ही है। अतएव "अवधू छाड़हु मन विस्तारा!"

माया की लीला

शब्द–२३

अवधू कुदरत की गति न्यारी॥ १ ॥
रंक निवाज करे वै राजा, भूपति करे भिखारी॥ २ ॥
याते लोग हरफ ना लागे, चन्दन फूल न फूला॥ ३ ॥

मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला ॥ ४ ॥
रेंड रूख भये मलयागिर, चहुँ दिशि फूटी बासा ॥ ५ ॥
तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में, अँधरा देखै तमाशा ॥ ६ ॥
पंगा मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ॥ ७ ॥
गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद बानी बोलै ॥ ८ ॥
अकाशहि बाँधि पतालहि पठवै, शेष स्वर्ग पर राजै ॥ ९ ॥
कहैं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै ॥१०॥

शब्दार्थ—कुदरत = माया। निवाज = दया करने वाला। हरफ = अक्षर, उपदेश, ज्ञान। मच्छ = माया। सिंह = जीव। रेंड = एरंड। रूख = पेड़।

भावार्थ—हे अवधू, माया की गति विलक्षण है॥१॥ वह गरीब पर कृपाकर उसे राजा बना देती है तथा राजा को भिखारी। अर्थात मनुष्य के मन की अविद्या रूपी माया ने पानी-पत्थरादि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया तथा जीव को उसके सामने घुटने टेककर भीख मांगने वाला॥२॥ इसलिए लोग सत्योपदेश को नहीं ग्रहण कर पाते। जैसे चन्दन सुगंधित होता है और यदि उसमें फूल भी हों तो कितना अच्छा है, परन्तु उसमें फूल नहीं होते। इसी प्रकार चेतन ज्ञानस्वरूप है, परन्तु यदि वह इसे समझकर अपने स्वरूप में स्थित होता तो उसे अमृतत्व की उपलब्धि होती॥३॥ मछली समुद्रादि जलाशय में तथा सिंह जंगल में रहते हैं, परन्तु यहां तो उलटा है, मछली शिकारी बनकर वन में आखेट करती है और उसके डर से सिंह समुद्र में झूलता है। अर्थात माया संसार-वन में शिकार करती है और जीव उससे प्रभावित होकर भ्रम के समुद्र में झूलता है॥४॥ इस अविद्या माया के प्रकोप से एरंड के पेड़ मलयगिरि बन गये और उसकी सुगंधी चारों तरफ फैल गयी अर्थात धूर्त गुरु ज्ञानी तथा सिद्ध कहलाने लगे और उनका देश-विदेश खूब प्रचार हो गया॥५॥ जो अन्धे थे वे तीनों लोकों एवं ब्रह्मांड के सभी खंडों में गुप्त-प्रकट वस्तुओं का तमाशा देखने लगे। अर्थात विवेकहीन लोग मन्त्र-तन्त्र के नाम पर अपने आप को सर्वज्ञ तथा त्रिकालदर्शी घोषितकर जनता की बुद्धि का शोषण करने लगे॥६॥ पंगुला आदमी सुमेरु-जैसे ऊंचे पर्वतों को कूद गया और स्वतंत्र होकर तीनों लोकों में विचरने लगा। अर्थात बिना हाथ-पैर वाला मन ऊंची-ऊंची उड़ानें भरकर आकाश-पाताल में तथा सर्वत्र विचरने लगा॥७॥ गूंगा असीम वाणी बोलकर ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करने लगा। अर्थात विवेकहीन लोग वाचिकज्ञानी बनकर उलटे-सीधे उपदेश हांकने लगे॥८॥ आकाश को बांधकर पाताल में भेज दिया और पाताल में रहने वाले शेषनाग को आकाश में विराजमान कर दिया। अर्थात जो पवित्र हैं जिनका सम्मान होना चाहिएं उनकी उपेक्षा होने लगी और जो नीचकर्मी एवं धूर्त हैं वे समाज में मान्य हो गये, और उनका सर्वत्र आदर होने लगा॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि राम राजा है, वह जो कुछ करता है उसे शोभा देता है। यह व्यंग्य है। अर्थात जीव अपना कर्ताधर्ता है जो करेगा वह भरेगा॥१०॥

व्याख्या—यहां 'कुदरत' का अर्थ ब्राह्मांडिक शक्ति न लेकर मनुष्य के मन की माया, अविद्या एवं कल्पना ली गयी है। क्योंकि मनुष्य के मन की माया एवं अविद्या ही से

मानव के जीवन में नैतिक अव्यवस्था आती है। जीव ही राम है, अपने आप का ईश्वर है, उसको अपने स्वरूप का बोध न होने से विपरीत दिशा में भटकता है और जो नहीं करना चाहिए वह करता है। राम की माया ही राम को भटकाती है। जीव की अविद्या ही जीव को विपरीत दिशा में ले जाती है। जब जीव सत्संग तथा विवेक से अपने स्वरूप को समझ लेता है तब उसका भटकना बन्द हो जाता है।

इस शब्द का अर्थ यह सरलता से किया जा सकता है कि ईश्वर की शक्ति विलक्षण है। वह गरीब को राजा तथा राजा को गरीब, एरंड को चंदन, जीव को माया में पतित, अन्धे को सर्वद्रष्टा, पंगुले को सर्वत्र गतिशील, गूंगे को वक्ता आदि बना देती है। ईश्वर सर्व हर्ताकर्ता है, वह जो कुछ करे उसे शोभा देता है इत्यादि। परन्तु ये बातें विवेक पर नहीं ठहरतीं। यदि ईश्वर ऐसा तानाशाह एवं उन्मादी है जो ऐसा अन्यथा करता रहता है, उसे कारण-कार्य-व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं है, तो उसके गलत आदर्श से समाज में अव्यवस्था ही फैलेगी। यह भावुकतापूर्वक ईश्वर-भक्ति का चित्रण कबीर-जैसे तार्किक पुरुष के विपरीत है। जो कहते हैं "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[१] कबिरन ओट राम की पकरी, अंत चले पछिताई।"[२] आदि। वे यहां इस प्रकार भावुक होकर कैसे तथाकथित ईश्वर के "कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम्" सामर्थ्य का गुणगान करने लगेंगे। यदि इस शब्द का यही अभिप्राय लेकर सद्गुरु ने कहा है तो यह उनका व्यंग्यात्मक मनोरंजन ही होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कबीर साहेब को ऐसा कोई पक्का गुरु नहीं मिला था कि वह उन्हें हर विचार में तुरन्त पक्का कर देता। कहावत के अनुसार उनको गुरु के रूप में स्वामी रामानंद जी मिले थे, जो स्वयं ईश्वर की शक्ति के गुणगान करने वाले थे। इसी प्रकार उन्होंने योगियों की संगत की थी, हठयोग साधा था। परन्तु पीछे उसकी निस्सारता देखकर उसका खंडन किया था। योग-सम्बन्धी उनकी बहुत-सी वाणियां हैं। पहले कबीर साहेब पर उनके इन विषयों का भी प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ा ही होगा। परन्तु वे धीरे-धीरे सत्य का शोधन करते-करते आगे बढ़े होंगे और जब उनके हर विचार पक्के हो गये होंगे तब उनके पक्के विचारों के हर वचन निकलने लगे होंगे। उसके पहले उनके मिश्रित वचन रहे होंगे। सन्त की सभी वाणी आदरणीय समझकर सबका संकलन कर लिया गया होगा। बीजक के बाहर की वाणियों में तो ऐसे अंशों की भरमार है। बीजक की वाणियां ठोस हैं, परन्तु इसमें भी साधारण भक्तों के मनोरंजन के लिए यत्र-तत्र वाणियां हैं। परन्तु इससे उनका सिद्धांत ओझल नहीं है। कबीर का राम, परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की आत्मा से अलग नहीं है, इस भाव का बीजक भर में प्रकाशन है। जो इसके विपरीत है, वह भावुकों के मनोरंजन मात्र के लिए है। कबीर साहेब का सिद्धांत ईश्वर-सम्बन्धी भावुकता होती, तो वे उसका खण्डन न करते। कोई अपने सिद्धांत का एक वचन में भी खण्डन नहीं करता है। अतएव कुछ इधर-उधर लोकप्रचलित भावुकता के वचन पाकर कबीर साहेब के स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान विषयक सिद्धांत को न भूलना चाहिए।

---

१. शब्द ७७।

२. शब्द ८४।

अब थोड़ा मूल शब्द पर विस्तार से विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि माया रंक को राजा तथा राजा को रंक बना देती है। यह मनुष्य के मन की माया ही तो है जिसने मिट्टी-पत्थर आदि की पिंडियों, नदियों, पेड़ों आदि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया और श्रेष्ठ मनुष्य को उसके सामने भिखारी। आदमी उन मूर्तियों के सामने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भीख मांगता है जो अपने ऊपर बैठी मक्खी को भी नहीं उड़ा सकतीं। सारे ज्ञान-विज्ञान का आधार मानव है, परन्तु वह अपनी ही भूल रूपी माया के वश होकर दीन बन गया।

"याते लोग हरफ ना लागे" इसीलिए लोग सही उपदेश एवं सच्चे ज्ञान की बातों में नहीं लगते। जब थोड़े मन्त्र एवं पूजा ही से सारी कामनाएं पूर्ण होने की बातें जड़ दी गयीं, तब कर्म, सदाचार, त्याग आदि की बातें कौन माने! जब नदी में नहाने एवं तीर्थ के नाम लेने मात्र से भोग-मोक्ष मिलने की आशा मिल गयी, तब यथार्थ ज्ञान की खोज, साधना एवं त्याग-तप के परिश्रम में कौन पड़े!

"चंदन फूल न फूला" देहात में पाये जाने वाले लाल चंदन के पेड़ में तो फूल खिलते हैं। हो सकता है मलयगिरि चंदन में फूल न खिलते हों जो मलय पर्वत पर होते हैं। लक्षणा अर्थ में चंदन चेतन मनुष्य है। इसमें सद्गुण के फूल न खिले। जीव माया के अधीन घोर संसारी बन गया। मनुष्य जितना ही विषयों में लीन होता है उतना ही वह सद्गुण रूपी फूलों से शून्य होता है। अंततः स्वरूपस्थिति ही जीवन का उच्चतम फूल है। यदि यह फूल खिल जाय तो जीवन धन्य हो जाय।

"मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला।" मछली शिकारी बनकर संसार-वन में घूमने लगी और जीव-सिंह भ्रम एवं संशय-समुद्र में झूलने लगा। मछली तुच्छ है, सिंह महान है। परन्तु मछली ही से सिंह भयभीत हो गया। माया के लिए यहां मच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है। "मच्छ रूप माया भई, जबरहि खेले अहेर"[1] यहां भी यही भाव है। सद्गुरु यहां माया की निर्बलता बताते हैं, फिर भी जीव उससे मारा जाता है, क्योंकि उसे स्वरूपज्ञान नहीं है।

इस माया, अविद्या एवं मनुष्य के मन की भूल का ही परिणाम है कि धूर्त गुरुओं की प्रतिष्ठा बढ़ती है और सच्चे गुरु का आदर नहीं होता। क्योंकि धूर्तों के पास चमत्कार का झांसा है, परन्तु सच्चे गुरु केवल सत्य कहते हैं और सत्य में रहते हैं।

मन्त्र-तन्त्र का पाखण्ड रचने वाले लोग शिक्षित तथा अशिक्षित सभी मूर्खों को फंसा रखते हैं। तांत्रिक लोग अपने को त्रिकालदर्शी और गुप्त-प्रकट का ज्ञाता सिद्ध कर समाज को मूड़ते हैं, परन्तु वे अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधे होकर ही यह सब करते हैं।

संसार में अर्थात मनुष्यों के जीवन में जितना व्यतिक्रम है, सब उसके अविवेक का फल है। मनुष्य के मन का अविवेक ही माया है। माया ईश्वरीय नहीं, किन्तु मानवीय है। कोई अलग ईश्वर नहीं बैठा है जो हमारे ऊपर माया रूपी कटही कुतिया छोड़ता हो,

---

१. रमैनी, साखी ४६।

परन्तु माया है हमारा अज्ञान, अविवेक एवं विषय-मोह। इसके त्याग हो जाने पर जीव को कोई भटका नहीं सकता।

हठयोग का वर्णन

शब्द–२४

अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो यह पद का करे निबेरा॥ १ ॥
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूले फल लागा॥ २ ॥
शाखा पत्र किछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख गाजा॥ ३ ॥
पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा, बिनु जिभ्या गुण गावै॥ ४ ॥
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु होय लखावै॥ ५ ॥
पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी॥ ६ ॥
अपरमपार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी॥ ७ ॥

शब्दार्थ—तरिवर = पेड़, मेरुदंड, रीढ़ की हड्डी। मूल = जड़। अष्ट गगन = अष्ट कमल के ऊपर का आकाश—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा ये छह चक्र तथा इसके ऊपर सहस्रदल कमल तथा सुरति कमल के ऊपर का आकाश। गाजा = गर्जता है। पौ = पौधा। करह = आधार। तुम्बा = लौकी की खोल का वाद्ययन्त्र। पन्छिक खोज = विहंगममार्ग। मीन को मारग = मीनमार्ग।

भावार्थ—हे अवधूतो! वही योगी मेरा गुरु है जो प्रस्तुत पद का निर्णय करे॥१॥ एक पेड़ है जो बिना जड़ के खड़ा है। उसमें बिना फूल खिले ही फल लगे हैं। अर्थात शरीरस्थ मेरुदण्ड गुदा से खोपड़ी तक एक ऐसा पेड़ है जो बिना जड़ के ही खड़ा है। यही हठयोग का आधार है। इसमें बिना फूल खिले ही षटचक्र रूप फल लगे हैं। इसमें डाली-पत्ते नहीं हैं। यह आठवें सुरति-कमल के आकाश में पहुंचकर गर्जता है॥२-३॥ वहां पौधा के बिना पत्ते हैं। अर्थात सुरतिकमल के पत्ते हैं। वहां डंडी के बिना वीणा का तुम्बा है अर्थात खोपड़ी का अन्तरभाग ही वीणा एवं तुम्बा है। वहां वीणा की मधुर ध्वनि होती है और बिना जीभ के वहां गुणगान होता है अर्थात अनाहतनाद बजता है। वहां गाने वाले के रूप-रेखा नहीं है। वह तो सहज ध्वनि है। कोई योगी सद्गुरु ही इसका रहस्य बता सकता है॥४-५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पक्षी और मछली के गये हुए मार्ग की खोज कर पाना कठिन काम है, इसी प्रकार योगी का पथ है जहां दूसरे के लिए कोई चिन्ह नहीं छूटता, यहां साधक को अपना पथ बनाना पड़ता है अथवा विहंगम-मार्ग और मीन-मार्ग ये दोनों वहां पहुंचने के बड़े पथ हैं॥६॥ जो वहां पहुंच जाता है वह वहां विराजमान अपरम्पार पुरुष पुरुषोत्तम में समर्पित हो जाता है॥७॥

व्याख्या—यह हठयोग का विषय है। कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर साहेब ने हठयोगियों के साथ रहकर हठयोग साधा था। उन्होंने हठयोग का गहरे में अनुभव कर उसकी निस्सारता पर बीजक के अनेक शब्दों में

प्रकाश डाला है। हम लोगों को तो पहले ही विवेकवान सद्गुरु मिल गये और स्वरूपज्ञान बता दिये, इसलिए नाना मतों के चक्कर में नहीं भटकना पड़ा। परन्तु सद्गुरु कबीर ने नाना मतों की खाक छानकर, उनकी साधनाएं कर अपने स्वतः बल पर पारखबोध स्थिर किया था। हम लोगों को तो उपार्जित धन मिला है, परन्तु कबीर देव ने तो स्वतः उपार्जन किया था।

हठयोग में मेरुदण्ड का बहुत बड़ा महत्त्व है। मेरुदण्ड वह मजबूत हड्डी का डंडा है जो मनुष्य के गुदा से लेकर खोपड़ी तक पहुंचा है। हठयोगी नाभि में स्थित एक काल्पनिक कुंडलिनी को जागृतकर इसी मेरुदण्ड के सहारे सुषुम्णा को ब्रह्मांड एवं खोपड़ी में ले जाता है, जहां एक कल्पित अपरम्पार पार पुरुषोत्तम का निवास है। योगी मानता है कि जब कुंडलिनी के ऊपर उन्मुख होने पर सुषुम्णा षटचक्रों को वेधती हुई सातवें सहस्रदल कमल से भी पार आठवें सुरति कमल में पहुंच जाती है, तब वहां दिव्य प्रकाश होता है। वहां बिना डंडे के तुंबा एवं वीणा से, जो सिर ही है, अनाहतनाद उठता है। वहां अनाहतनाद को गाने एवं बजाने वाले का कोई रूप-रेखा नहीं होता। अर्थात वहां स्वतः ध्वनि उठती है। भेरी, शंख, शहनाई, बांसुरी आदि के मधुर बाजे वहां बजते हैं। वहां परम पुरुषोत्तम परमात्मा दिव्य ज्योति के रूप में विराजमान रहता है। योगी वहां पहुंचकर उस दिव्य ज्योति एवं नाद को देखता और सुनता है तथा उसी में समर्पित हो जाता है।

योगियों के तीन नाम के मार्ग है ''पिपीलिकामार्ग, विहंगममार्ग तथा मीनमार्ग।'' पिपीलिका चींटी को कहते हैं। यह धीरे-धीरे चलती है। जो धीरे-धीरे साधना में अग्रसर हो वह मानो पिपीलिकामार्ग से चल रहा है। विहंगम पक्षी को कहते हैं। वह उड़कर चलता है, तेजगति से जाता है और उसके पीछे रास्ते का कोई चिन्ह नहीं रह जाता। मीनमार्ग में दो विशेषताएं हैं। एक तो उसके पानी में चलने पर, उसके पीछे भी उसके रास्ते का कोई चिन्ह नहीं रह जाता, दूसरा यह कि वह पानी की धारा के उलटे चलती है। यह साधक का विषयों के प्रति उलटे चलने का प्रतीक है। कितने बुधजन मीनमार्ग तथा विहंगममार्ग में भेद नहीं मानते। यह साधकों का तीव्र गति से चलने का प्रतीक है।

प्रस्तुत पद में सद्गुरु ने कहा है ''पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी।'' अर्थात जो विषयों से विमुख होकर तीव्रगति से अपनी साधना में बढ़ते हैं वे मानो विहंगममार्ग एवं मीनमार्ग से जाते हैं। उनके पथ की खोज कर पाना कठिन है। दूसरे साधकों को स्वयं अपना साधना-पथ बनाना पड़ेगा। महाभारत में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—''जैसे आकाश में पक्षियों के और पानी में मछलियों के चलने के पद-चिह्न नहीं दिखते वैसे ज्ञानियों की गति का पता नहीं चलता।''[१]

---

१. शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ।।

(महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय १८१, श्लोक १९)

हठयोग में स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान कम, शरीर के भीतर ज्योति-शब्द आदि को अधिक तूल दिया गया है। श्वास को मस्तिष्क में रोककर नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन आदि जो कुछ किया जाता है तथा उन्हीं को परम पुरुषोत्तम या सारशब्द आदि का नाम देकर जो उन्हीं में समर्पित होने का भाव प्रकट किया जाता है, वह सब स्वरूपज्ञान से दूर हो जाने की बात है। शब्द से उसका श्रोता तथा ज्योति से उसका द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है।

योग का सामान्य अर्थ किसी से जुड़ना अवश्य है, परन्तु योगदर्शन के अनुसार योग का अर्थ वियोग है। भोज ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—"पतंजलि मुनि की अपूर्व कही हुई वाणी की जय हो, जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष के वियोग को भी योग कहा गया है।"[1] अर्थात जीव का जड़ से सर्वथा छूटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है।

कबीर साहेब ने इस शब्द में योगियों के योगमार्ग का सकारात्मक वर्णन किया है। इसमें उन्होंने उनका खंडन नहीं किया है। परन्तु बीजक में इसका अनेक स्थलों पर खंडन है। इसके लिए २५, ६६, ७४ आदि शब्द देखने योग्य हैं। यहां योग के खंडन का मतलब हठयोग का खंडन है, योग के असली तत्त्व का खंडन नहीं जिसमें चित्त एकाग्रकर स्वरूपस्थिति होती है।

हठयोग की उपलब्धि माया के भीतर है

शब्द–२५

अवधू वो तत्तु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता॥ १ ॥
मौर के माथे दुलहा दीन्हा, अकथ जोरि कहाता॥ २ ॥
मँड़ये के चारन समधी दीन्हा, पुत्र ब्याहिल माता॥ ३ ॥
दुलहिन लीपि चौक बैठारी, निर्भय पद परकाशा॥ ४ ॥
भातै उलटि बरातिहि खायो, भली बनी कुशलाता॥ ५ ॥
पाणिग्रहण भयो भौ मण्डन, सुषमनि सुरति समानी॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ ७ ॥

शब्दार्थ—वो तत्त्व = ज्योति या नाद। रावल = राव, राजा, योगी, जीव। बाजन = इंद्रियां। बराता = तत्त्व-प्रकृति, नस-नाड़ियां। मौर = मुकुट, ज्योति। दुलहा = जीव। अकथ = न कहने योग्य या जो कहने में न आये। चारन = आचरण, व्यवहार, रीति-रस्म। समधी = सम + धी—समताबुद्धि प्राप्त योगी। पुत्र = जीव। माता = माया, अविद्या। दुलहिन = वृत्ति। लीपि = लय करके। चौक = चतुष्टय अंतःकरण। बैठारी = स्थित किये। भातै = भात, पका चावल, तात्पर्य में अंतःकरण। बरातिहि = तत्त्व-प्रकृति को। खायो = लय किया। पाणिग्रहण = वर-द्वारा वधू का हाथ पकड़ना, स्वीकारना, विवाह। भौ = भव, संसार। मंडन = शृंगार, सिद्धि। सुषमनि = सुषुम्णा नाड़ी। सुरति = लक्ष्य, मनोवृत्ति।

---

१. पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥

कबीर साहेब यहां हठयोग के अभ्यास को एक विवाह के रूपक में समझाते हैं।

भावार्थ—हे अवधूतो! योगी लोग ज्योति तत्त्व में लीन होते हैं। यह ज्योति में लीनता एक मधुर विवाह है। विवाह के समय जब बरात पहुंचती है तब बाजे बजते हैं और बराती नाचते हैं। परन्तु इस विवाह में सब उलटा है। यहां बाजे नाचते हैं और बराती बजते हैं। यहां बाजे इंद्रियां हैं और बराती तत्त्व-प्रकृति हैं। जब योगी ध्यान में तन्मय होता है तब इन्द्रियां कम्पायमान हो जाती हैं यही उनका नाचना है और तत्त्व-प्रकृति बजने लगते हैं। अर्थात अनाहतनाद उठने लगता है।।१।।

संसार में दुलहा के सिर पर मौर अर्थात मुकुट पहनाया जाता है, और विनोद के रूप में न कहने योग्य बातें जोड़-जोड़कर स्त्रियां गीत गाती हैं। यहां मौर के माथे पर ही दुलहा को बैठा दिया गया है। मौर ध्यान में दिखती हुई ज्योति है और जीव सबका ज्ञाता होने से दुलहा है। योगी जीव को अर्थात अपने आपको ज्योति ही में समर्पित कर देता है। अपने आपको ज्योति में चढ़ा देता है। यही मानो मौर पर दुलहा को बैठा देना है। योगी ज्योति को अकथ एवं कहने में न आने वाली अनिर्वचनीया कहता है और उस ज्योति को ब्रह्म मानकर उसकी महिमा में अनेक बातें जोड़-जोड़कर कहता है।।२।।

जिस मंडप के नीचे विवाह होता है उसे सामान्य लोग माड़व कहते हैं। उसमें पंडित एवं धार्मिक नेता बैठकर वर-वधू-द्वारा माड़व का आचरण एवं व्यवहार कराता अर्थात विवाह सम्पन्न कराता है। परन्तु इस यौगिक विवाह में माड़व के रीति-रस्म समधी कराता है। यहां समधी का अर्थ है जिनकी बुद्धि समता को प्राप्त है ऐसे योगी गुरु। सम = समता, धी = बुद्धि—समता बुद्धि को प्राप्त योगी ही यहां समधी है। वह यह यौगिक विवाह कराता है। योगी गुरु ही योगी साधक को योग का मर्म बताकर उसे ज्योति-ब्रह्म तक पहुंचाता है। संसार में भिन्न वंशजों में विवाह होता है। पुत्र माता से विवाह कर ले, यह सोचा भी नहीं जा सकता। यह महापातक है। परन्तु इस विवाह में यही हुआ। जीव ने माया-माता से विवाह कर लिया। माता जन्म देती है, वैसे माया से, निजस्वरूप से भिन्न दृश्य-भास के मोह से जीव संसार में बारम्बार जन्म लेता है। इस यौगिक विवाह में जीव का विवाह एवं सम्बन्ध माया से ही हो गया है। हठयोगी ज्योति, शब्द आदि जो कुछ अपना प्राप्तव्य मानता है और जिसे वह ब्रह्म भी कहता है, वह भास-दृश्य होने से माया ही है। "पुत्र ब्याहिल माता" यह हठयोगियों की मुख्य मान्यता पर ही व्यंग्य है।।३।।

लौकिक विवाह में चौका लीपकर उसमें दुलहिन बैठायी जाती है। परन्तु इस विवाह में दुलहिन लीपकर चौका बैठाया गया। यहां दुलहिन मनोवृत्ति है। उसे लीपकर अर्थात लयकर चतुष्टय अंतःकरण को बैठा दिया गया, स्थित कर दिया गया—मन को चित्त में, चित्त को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में लीनकर अहंकार को ज्योति ब्रह्म में लीन कर दिया। योगी इसे निर्भय पद का प्रकाश मानता है। जब मनोवृत्ति तथा चतुष्टय अंतःकरण ज्योति-ब्रह्म में लीन हो गये तब मानो निर्भय पद का प्रकाश हो गया।।४।।

लोक में बराती भात को खाते हैं, परन्तु इस विवाह में सब उलटा है तो इसमें भी उलटा होना ही चाहिए। यहां भात ही बरात को खा गया। भात उपभोग की वस्तु है। यहां अंतःकरण भात है जो उपभोग की वस्तु है। अतःकरण का ही तो जीवन में

सर्वाधिक उपयोग होता है और यहां उपयोग ही उपभोग है। परन्तु अंतःकरण रूप भात ने तत्त्व-प्रकृति रूपी बरातियों को खा लिया। तात्पर्य यह कि जब मनोवृत्ति तथा अंतःकरण ज्योति में लीन हुए तब तत्त्व-प्रकृति आदि सब ज्योति में लीन हो गये। तब योगीजन कहने लगे कि जीव का भला हुआ, उसका कल्याण हुआ ।।५।।

योगी की सुरति जब सुषुम्णा में लय हुई तब वह ब्रह्मज्योति में लीन हुआ, यही मानो पाणिग्रहण हुआ। अर्थात यही उसका ब्रह्मज्योति के साथ विवाह होना है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह "भव मण्डन" ही हुआ। अर्थात सांसारिक श्रृंगार या संसार की ही सिद्धि हुई। क्योंकि इस प्रक्रिया में जीव अपने स्वरूप में न स्थित होकर विजाति जड़ भास-अध्यास में ही लीन हुआ। ज्योति, अनाहतनाद आदि सब जड़ भास हैं। उनको अपना लक्ष्य मानना सांसारिक वासना की ही सिद्धि करना है ।।६।।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! तुम इसे सुनो, और हे पंडित ज्ञानियो! तुम इसे समझने का प्रयत्न करो ।।७।।

व्याख्या—हठयोगियों की साधना गूढ़, उलझी हुई और रहस्यात्मक होती है, तो उसके भेद को बताने के लिए सद्गुरु के रूपक भी विचित्र-विचित्र होते हैं। हठयोगी पहले नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि क्रियाएं कर शरीर को शुद्ध करता है, प्राणायाम साधता है, और देह को शून्य कर ब्रह्मरंध्र में अर्थात खोपड़ी में एकाग्रता कर ज्योतिदर्शन एवं अनाहतनाद श्रवण करता है तथा इसी को वह ब्रह्मप्राप्ति मानकर विजाति जड़ भास में ही रुक जाता है। इसलिए कबीर साहेब बारम्बार योगियों पर व्यंग्य करते हैं। जीव की वास्तविक स्थिति उसकी अपनी चेतना में होती है। चेतना ही जीव का स्वरूप है। ज्योति-नाद सब जड़ हैं, विजाति हैं, उसे अपना लक्ष्य मानना सांसारिकता से अलग नहीं है। इसलिए सद्गुरु ने "पुत्र ब्याहिल माता" तथा "भयो भौ मण्डन" कहकर उन पर व्यंग्य किया है। अन्त में कबीर साहेब ने सन्तों को केवल सुनने के लिए कहा, परन्तु पंडित-ज्ञानियों को समझने के लिए कहा। क्योंकि सन्त तो जानते हैं। पंडित-ज्ञानियों को भी इसे ठीक से जान लेना चाहिए।

सत्य का पथिक विरला है

शब्द–२६

भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोइ बिरले दोस्त हमारे।। १ ।।
गढ़न भंजन सँवारन आपै, ज्यों राम रखे त्यों रहिये।। २ ।।
आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना।। ३ ।।
छौ दर्शन पाखण्ड छियान्नबे, ये कल काहु न जाना।। ४ ।।
आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना।। ५ ।।
तजि करिगह जगत्र उघाये, मन मो मन न समाना।। ६ ।।
कहहिं कबीर योगी औ जंगम, फीकी उनकी आशा।। ७ ।।
रामहि नाम रटै ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा।। ८ ।।

शब्दार्थ—गढ़न = उत्पत्ति। भंजन = संहार। सँवारन = पालन। बैलाना = मूर्ख एवं निर्बुद्धि हो गया। छौ दर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। पाखण्ड छियान्नबे = उक्त छहों दर्शनों के छान्नबे भेद। कल = शांति। आलम = संसार, जग जीव। करिगह = करघा, तात्पर्य में गृहस्थी। उचाये = उठाये, सिर पर रख लिये।

भावार्थ—हे भाई! बहुत ज्यादा क्या कहूं, मेरे विचारों को समझने वाला मित्र कोई विरला है।।१।। आम लोगों की तो यही धारणा रहती है कि उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाला स्वयं ईश्वर ही समर्थ है, अतः वह हमें जिस ढंग से रखे वैसे हमें रहना चाहिए।।२।। कितने लोग उस ईश्वर को पाने के लिए आसन लगाते हैं, प्राणायाम साधते हैं, योग करते हैं, वेद-उपनिषद्, स्मृति और ज्योतिष पढ़ते हैं, लेकिन इतना करने के बाद भी वे नासमझ ही बने रहते हैं।।३।। छह दर्शन और छान्नबे पाखण्डों में उलझे हुए ये लोग आत्मशांति को नहीं समझते।।४।। ये संसार के लोग तीर्थादि एवं ईश्वर खोज के नाम पर सारी दुनिया में घूम आते हैं, परन्तु आत्म-शांति कहीं से नहीं ला पाते।।५।। कितने लोग घर का करघा तो छोड़ देते हैं, अर्थात गृहस्थी की छोटी प्रवृत्ति तो त्याग देते हैं, परन्तु विरक्त वेष धारणकर इतनी बड़ी उलझन ले लेते हैं कि मानो वे सारे संसार को ही उठाकर अपने सिर पर रख लेंगे। इसलिए उनका मन अपने आप में शांत नहीं होता।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि योगी, जंगमादि और जो चातक की तरह राम नाम रटने में भक्ति का निश्चय निवास समझते हैं वे भक्त, इन सबकी आशा निरर्थक है—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी"[१] ।।७-८।।

व्याख्या—कबीर साहेब का यह कहना "कोइ बिरले दोस्त हमारे" स्वाभाविक है, क्योंकि उनके विचार खरे थे, सारे जड़ संस्कारों से रहित थे। सामान्य जनता यही कहती है कि ईश्वर सब कुछ करने में समर्थ है। वह जैसे रखे वैसे हमें रहना चाहिए। हमें स्वयं विचार-विवेक नहीं करना चाहिए। प्रभु सूत्रधार है। हम कठपुतली हैं। वह हमें जैसे नचावे वैसे हमें नाचना चाहिए। इसी भावधारा में अधिकतम लोग बहते हैं। कबीर साहेब कहते हैं "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[२] कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।[३] करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।[४] हो हजूर ठाढ़ कहत हौं।"[५] इत्यादि, फिर उनका साथी विरला होगा ही। लोग परावलम्बन की बैसाखी लेकर चलना चाहते हैं, परन्तु कबीर साहेब स्वावलम्बन से स्वयं अपने पथ पर चलते हैं और इसी पथ पर संसार के लोगों को भी चलने की बात बताते हैं। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान। जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान।।"[६]

"आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना।" केवल इस एक पंक्ति में

---

१. शब्द ७१।
२. शब्द ७७।
३. शब्द ८४।
४. साखी २७७।
५. रमैनी, साखी २४।
६. साखी ३४५।

कबीर साहेब बहुत बड़ी क्रांति की बातें कह देते हैं। कितने योगी नामधारी चौरासी प्रकार के आसन करते हैं, कितने प्राणायाम में अधिक लगे रहते हैं। इस प्रकार हठयोग में ही वे अपने जीवन के सारे समय और शक्ति का व्यय करते हैं। कितने लोग श्रुति-स्मृति पढ़ने में लगे रहते हैं। उनका पढ़ना बुरा नहीं है; परन्तु खेद है कि सारे वेद, उपनिषद् और स्मृतियों को पढ़ डालने के बाद भी न उन्हें अपनी आत्मा का ठीक से बोध होता है और न वे विषयों को छोड़कर आत्मशांति की प्राप्ति कर पाते हैं। तो उनके शास्त्र-आडोलन का क्या मतलब हुआ? कितने तो ज्योतिष में सदैव लगे रहते हैं। गणित-ज्योतिष की उन्नति पिण्ड-ब्रह्मांड की क्रियाओं को जानने के लिए ठीक है, व्यावहारिक जगत में उनका बहुत बड़ा महत्त्व है, परन्तु अन्ततः स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति जीवन की अत्यन्त उच्च उपलब्धि है। उसके बिना सब थोथा है। जो लोग फलित ज्योतिष के चक्कर में रहते हैं, वे तो स्वयं को धोखा देते ही हैं, जनमानस को भी धोखा देते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि हठयोग, शास्त्रअध्ययन एवं ज्योतिष पढ़कर भी आदमी स्वरूपबोध और स्वरूपस्थिति से कोरा-का-कोरा रहता है। इन सबके लिए 'बैलाना' शब्द बड़ा मार्मिक है। बैल से बैलाना शब्द बन गया है। बैल का लाक्षणिक अर्थ मूर्ख है। जो सब कुछ पढ़-लिखकर भी अपनी आत्मा को नहीं पहचानता और अपनी आत्मा में शांत नहीं होता, वह मूर्ख ही है।

साहेब कहते हैं गिनकर कहां तक बतावें छौ दर्शन छान्नबे पाखण्ड का जहां तक विस्तार है, उनमें उलझे हुए लोग आत्मशांति के पथ को नहीं जानते। "ये कल काहु न जाना" कल का अर्थ शांति है, विकल कहते हैं अशांति को। आत्मशांति जीवन का चरम फल है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाना चाहता है उसके जीवन में शांति कैसे आ सकती है।

"आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना।" आलम सारी दुनिया में घूम आता है। वह दुनिया घूमकर क्या पाता है! माना कि वह कुछ पेड़-पहाड़, नदी-नाले, मकान-दुकान, नर-नारियों को देखकर एक जानकारी तथा चंचलता बटोर लाता है, परन्तु जीवन की जो खास चीज है "ये कल उहै न आना" वही एक शांति को वह नहीं ला पाता। बाहर से शांति मिलने वाली है भी नहीं। शांति को छोड़कर कोई परमात्मा-ब्रह्म नहीं है। लोग मक्का-मदीना तथा गया-बद्री आदि अनेक तीर्थों के चक्कर क्यों लगाते हैं? भगवान को पाने के लिए, मोक्ष को पाने के लिए। परन्तु आत्मशांति के अलावा न कुछ भगवान है न मोक्ष।

"तजि करिगह जगत्र उचाये, मन मों मन न समाना" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। करिगह 'करघा' का बिगड़ा हुआ रूप है। मानो कोई घर का करघा एवं तनना-बुनना छोड़कर साधु वेष धर लिया हो, परन्तु वह साधु बन जाने पर मानो "जगत्र उचा" लिया हो। जगत्र जगत का बिगड़ा हुआ रूप है। हो सकता है लिखने की अशुद्धि से कभी जगत का जगत्र हो गया हो। ऐसी अशुद्धियां उपनिषद्[1] तक में मिलती हैं जो संस्कृत भाषा के ग्रंथ हैं, जिसका व्याकरण बड़ा ठोस होता है। फिर कबीर साहेब की हिन्दी भाषा

१. तैत्तिरीय उपनिषद् (१/२) में 'शीक्षाध्यायः' है जो 'शिक्षाध्यायः' चाहिए। उसी (२/६) में 'त्यत्' है जो 'तत्' चाहिए। उसी (३/१०) में 'नीकाम' है जो 'निष्काम' चाहिए।

की कविता में क्या पूछना जो लता की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलती है। परन्तु लता की वक्रिमा किसको नहीं अच्छी लगती !

इस पंक्ति में "जगत्र उचाये" है। अर्थ हुआ जगत उठाये। कितने लोग हैं जो घर-गृहस्थी की थोड़ी उलझन तो छोड़ दिये, परन्तु साधु बनकर उससे ज्यादा उलझन में पड़ जाते हैं। साहेब कहते हैं कि वे घर का करघा छोड़कर सारे संसार को ही सिर पर उठा लेना चाहते हैं। ऐसे लोगों को साधु वेष में जाने पर भी शांति नहीं मिलती। ध्यान रहे, इस भाव का कोई अनर्थ न करेगा। कोई ज्यादा व्यवहार लेकर भी शांत रहता है और कोई थोड़े व्यवहार तथा बिना व्यवहार के ही अशांत रहता है। जो राग-द्वेष में उलझा है, वही मानो संसार को उठाकर अपने सिर पर रख लेना चाहता है।

ऐसे लोगों के लिए कहा गया है "मन मों मन न समाना" ऐसे लोगों का मन मन में शांत नहीं होता। अर्थात उनका मन अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता। इसी के लिए सद्गुरु ने कहा है "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।"[१] आदमी का दिल जब तक अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता तब तक उसे सब सुख, आत्यंतिक सुख एवं अनन्त सुख नहीं मिलता। लोग हजार राम-रहीम रट डालें, परन्तु आत्मसन्तोष के बिना शांति नहीं।

योगी हों, जंगम हों, राम-नाम रटने वाले हों, आत्मबोध एवं आत्मशांति के बिना सब ऊपर-ऊपर भटक रहे हैं। "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पिवन की हौंस।।"[२] तथा "राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।"[३] यदि राम-राम रटने से मोक्ष मिलता तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता।

साहेब कहते हैं कि मेरा दोस्ता विरला होगा। मैंने तो अपने घर में आग लगा दी है और अब अपने हाथ में लुआठी लेकर खड़ा हूं, जिसे मेरे साथ चलना हो वह अपने घर को फूंककर मेरे साथ चले।[४] यह रहने वाले घर को फूंकने की बात नहीं है। यह घर है भ्रम-मान्यताओं का। सारी अहंता-ममता का घर जलाकर ही कोई मेरे साथ चल सकता है। इसलिए "भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोइ बिरले दोस्त हमारे।"

स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति

शब्द–२७

भाई रे अद्बुद रूप अनूप कथ्यो है, कहौं तो को पतिआई।। १ ।।
जहाँ-जहाँ देखो तहाँ-तहाँ सोई, सब घट रहा समाई।। २ ।।
लक्ष बिनु सुख दरिद्र बिनु दुख, नींद बिना सुख सोवै।। ३ ।।

---

१. साखी २९६।
२. रमैनी, साखी ३३।
३. शब्द ४०।
४. कबीर खड़ा बाजार में, लिये लुआठा हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।।

जस बिनु ज्योति रूप बिनु आशिक, ऐसो रतन बिहूना रोवै॥ ४ ॥
भ्रम बिनु गंजन मणि बिनु नीरख, रूप बिना बहुरूपा॥ ५ ॥
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा॥ ६ ॥
कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी॥ ७ ॥
परिहरि लाख लोभ कुटुम तजि, भजहु न सारंगपानी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अद्‌बुद = अद्‌भुत। अनूप = विलक्षण। पतिआई = विश्वास। सोई = चेतन तत्त्व। लक्ष = लाख की संख्या, तात्पर्य में सम्पत्ति। जस = यश। ज्योति = प्रकाश। आशिक = आसक्त, प्रेम करने वाला। रतन = आत्मतत्त्व। गंजन = अवज्ञा, तिरस्कार, नाश, नीचा दिखाना। नीरख = निरख-परख। थिति = ठहराव, आलम्बन। रहस = आमोद-प्रमोद, राग-रंग। चरित = स्वभाव। हरि = ज्ञान तत्त्व। मानिक = एक प्रसिद्ध रत्न, माणिक्य, लाल। अनुमानी = अनुमान करके, सोच-विचारकर। भजहु = सेवा करो, चिंतन करो। सारंगपानी = विष्णु, तात्पर्य में गुरु या निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे भाई! विवेकियों ने आत्मदेव का अद्‌भुत एवं विलक्षण वर्णन किया है। उसे यदि मैं कहता हूं तो उस पर कौन विश्वास करेगा! ॥१॥ जहां-जहां देखता हूं वहां-वहां सभी शरीरों में वही समा रहा है॥२॥ यदि इस निजस्वरूप चेतन का ज्ञान हो जाय तो सांसारिक सम्पत्ति के बिना ही आदमी सुखी हो जाय, परंतु उसका बोध न होने से दरिद्रता के बिना ही दुख है। जिसे उसका ज्ञान हो गया है वह देह की अवस्थाजन्य नींद के बिना ही सब समय मानो सुख से सोता है॥३॥ इस दिव्य स्थिति में पहुंचकर बाहरी यश-कीर्ति के बिना ही वह सदैव ज्योतिर्मय एवं प्रकाशमय रहता है। उस शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व का कोई बाह्य रूप नहीं है, परन्तु ज्ञानी सदैव उसी का प्रेमी बना रहता है। ऐसे निजस्वरूप ज्ञानरत्न का बोध हुए बिना व्यक्ति संसार के सपने में पड़ा रो रहा है॥४॥ व्यक्ति थोड़ा ध्यान दे तो इस निजस्वरूप चेतन तत्त्व की सत्ता होने में कोई भ्रम नहीं है। परन्तु इधर ध्यान न देने से वह अपनी आत्मा का ही तिरस्कार कर रहा है। यह ठीक है कि वह कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखो, वह तुम्हीं हो। उसका कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है, परन्तु सभी देहों के रूप में वही समाया है॥५॥ इसलिए बाहरी आलंबन के बिना ही ज्ञानी की सुरति निजस्वरूप में स्थित हो जाती है। इस दशा में बाहरी राग-रंग के बिना ही परम आनन्द की स्थिति होती है। इसका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे बन्धुओ! ऐसे निजात्म तत्त्व रूपी ज्ञान-रत्न को अपने मन में विचारकर परखो, और धन का लोभ तथा कुटुम्ब का मोह छोड़कर ऐसे सारंगपाणि का भजन करो न! यह तुम्हारा आत्मदेव ही सारंगपाणि विष्णु एवं हरि है॥७-८॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा एवं अपनी चेतना यद्यपि अपना सहज स्वरूप ही है, परन्तु निजस्वरूप होने से दुर्विज्ञेय-जैसा लगता है। यह नियम है कि निकट की वस्तु दुर्विज्ञेय होती है। हम दूसरों के पहने हुए कपड़ों पर पड़े हुए दागों को खुलासा देख सकते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़ों पर पड़े दाग को देखना थोड़ा कठिन होता है।

वे तो तब दिखाई पड़ते हैं जब हम अपना सिर झुकाकर अपनी ओर देखें। हम अपनी आंखों से दूर के पर्वत, बादल आदि सहज देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे काजल एवं आंखों के पास के बालों को नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से संसार को तो देखते हैं, परन्तु उनसे ही उन्हें नहीं देख पाते। अर्थात हम अपनी आंखों को कभी नहीं देख पाते। यह एक आश्चर्य ही है। परन्तु विवेक से देखा जाय तो यही सहज है। हम अपनी आंखों को जीवन भर भले न देख पायें, परन्तु हमें यह सहज बोध रहता है कि हमारी आंखें हैं। आंखें न होतीं तो देखते कैसे! हम संसार को देखते हैं, इसलिए हमारे शरीर में आखें स्वतःसिद्ध हैं।

इसी प्रकार हम अपनी आत्मा को कभी नहीं देख पाते, परन्तु क्या हम नहीं हैं! सबको प्रमाणित करने वाला क्या स्वयं सत्ताहीन हो सकता है! जीव का अस्तित्त्व इसलिए निर्विवाद है कि वही तो शरीर में रहकर सबको जान रहा है। सबको जानने वाला स्वयं जाना हुआ है, बस थोड़ा उधर ध्यान देने की आवश्यकता है। मैं ही तो सबको जानता हूं। अतएव मैं निर्विवाद सत्य हूं। आत्म-अनुभव ही सबसे सरल ज्ञान है, परन्तु इस तरफ पहली बार ध्यान देने से यह अद्‌भुत लगता है। जो कभी न देखा गया हो, उसे पहली बार अकस्मात देखने से वह अद्‌भुत लगता है। देहाभिमानी जीव अनादिकाल से कभी आत्मा की ओर ध्यान नहीं दिया है, इसलिए इसके विषय में यदि बताया जाता है तो उसे आश्चर्य होता है। पढ़े-लिखे लोगों से भी यदि पूछो कि तुम कौन हो? तो वह कहता है कि मैं मनुष्य हूं। व्यावहारिक दृष्टि से यह कहना ठीक है। परन्तु इसका अर्थ वह यह मानता है कि मैं शरीर हूं। यदि उससे कहा जाय कि तुम जड़ शरीर नहीं, इससे सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हो, तो यह बात उसे अद्‌भुत लगती है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं "कहीं तो को पतिआई" कौन विश्वास करता है अपने आपा पर। इसीलिए तो सब दुखी हैं। गीताकार भी कहते हैं "कोई उसे आश्चर्य के तुल्य देखता है, दूसरा कोई उसे आश्चर्य के तुल्य कहता है, अन्य कोई आश्चर्य के तुल्य सुनता है, परन्तु कोई उसे सुनकर भी नहीं जान पाता है।"[१]

"जहाँ-जहाँ देखो तहाँ-तहाँ सोई, सब घट रहा समाई।" सद्‌गुरु कहते हैं कि वह चेतन जहां-जहां देखता हूं, सभी शरीरों में समाया है। कबीर साहेब चेतन राम को घट-घट में ही बताते हैं, कण-कण में नहीं। उसे कण-कण में कहना अतिशयोक्ति है। वस्तुतः चेतन घट-घट में है।

"लक्ष बिनु सुख" लक्ष कहते हैं लाख की संख्या को। इसका लक्षणा अर्थ है अधिक धन-सम्पत्ति। जिसे "आतम धन" का ज्ञान हो गया है वह लौकिक धन-सम्पत्ति के बिना ही सुखी रहता है। शरीर के लिए रोटी, कपड़े तथा कुछ उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता सबको है। परन्तु मनुष्य का मन आवश्यक निर्वाह की वस्तुओं के अलावा अधिक धन-दौलत, ठाट-बाट एवं तामझाम में आनन्द मानता है। परन्तु वह इसी इच्छा के

---

१. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ *(गीता २/२९)*

अधीन होकर पेट भर दुख भोगता है। परन्तु स्वरूपज्ञानी पुरुष का सुख आत्मानुभव का है जो सम्पत्ति के सुख से उच्चतम है। दुनिया के ऐश्वर्य की उसमें तुलना ही नहीं हो सकती। ऐश्वर्य का सुख खुजली की तरह है। वस्तुजनित सुख क्षणिक होता है और आत्मजनित सुख अनन्त होता है। जिस सुख का आलम्बन बाहरी धन-दौलत है वह सुख स्थिर कैसे रह सकता है! परन्तु जिस सुख का आलम्बन मनुष्य की अपनी आत्मा ही है वह सुख उससे कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। न आत्मा से आत्मा बिछुड़ती है और न आत्मजनित सुख बिछुड़ता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यह सुख इंद्रियों का नहीं है, किन्तु इंद्रियातीत स्वरूपस्थिति का है।

"दरिद्र बिनु दुख" लोक में दरिद्र आदमी दुखी रहता है। सूखी-रूखी रोटी भी पेट भर न मिलना, तन ढकने के लिए ठीक से मोटा-झोटा कपड़ा भी न मिलना, रहने के लिए ठीक से फूस की झोपड़ी भी न मिलना दरिद्रता है और ऐसी स्थिति में मनुष्य को अवश्य क्लेश होगा। ज्ञान न होने से ऐसी दरिद्रता के बिना भी आदमी दुखी रहता है। वह पेट भर खाता है, तन भर पहनता है, छत के नीचे रहता है, परन्तु रात-दिन नाना भोगों एवं सम्मान की लालसाओं में दुखी रहता है। श्रीमद्भागवत में ठीक ही कहा गया है "दरिद्र वही है जो असंतुष्ट है, कृपण वही है जो अ-जितेन्द्रिय है, ईश्वर वही है जो विषयों पर विजयी है और जो विषयों के अधीन है, वही गुलाम है।"[१] किसी को भोजन, वस्त्र एवं आवास न मिले और वह दुखी हो तो यह साधार लगता है, परन्तु खाते-पीते आदमी दुखी रहें तो यह उनका नमकहरामीपन ही है। सद्गुरु तो यहां आध्यात्मिक ढंग से कहते हैं कि हे जीव! तेरे स्वरूप में दरिद्रता नहीं है, परन्तु तू अज्ञान-वश दुखी है। भौतिक दरिद्रता है भोजन, कपड़े तथा आवास का न मिलना और आध्यात्मिक दरिद्रता है, भोग-मान की इच्छा होना। जीव के शुद्ध स्वरूप में कोई इच्छा नहीं है। वह स्वभाव से ही निष्काम है, फिर उसमें दुख कहां है! दुख तो अज्ञान से ही है। अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान न होने से विषयों की इच्छा होती है तथा इच्छा होने से दुख होता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तुम दरिद्रता के बिना दुखी हो। अर्थात तुम अपने निष्काम स्वरूप को न समझने से और जगत-कामना करने से दुखी हो।

"नींद बिना सुख सोवै" यह वाक्यांश बड़ा गम्भीर है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष नींद के बिना भी सुख से सोते हैं। यह बात सुनकर धनी लोग तो बिलकुल ही आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि यह तो अद्भुत बात है। हमें तो नींद के अवसर पर अर्थात रात में भी नींद नहीं लगती, सुख से नहीं सो पाते। जब नींद की गोली लेते हैं तब कहीं सपना देखने के समान कुकुरनिंदिया सो पाते हैं और ये फटी हालत के ज्ञानी लोग बिना नींद के सुख से सोते हैं। यह सुनकर धनियों को केवल आश्चर्य नहीं, ईर्ष्या भी होगी। परन्तु बात बिलकुल सच है "शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठः।"[२] पूछा गया कि सुख से कौन सोता है, उत्तर मिला जो समाधिनिष्ठ है। 'स्व-अपीति' ही तो असली सुषुप्ति है। स्व-

---

१. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ भागवत ११/१९/४४॥

२. स्वामी शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी।

सोया है। वह किससे सोया है? प्रपंच से। क्योंकि सोने-जागने की दो दिशाएं हैं। गीताकार कहते हैं "समस्त साधारण प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है। जिसमें साधारण प्राणी जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि है।"[१] अर्थात संसारी लोग विषयों में जागते हैं और परमार्थ तत्त्व से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं, और ज्ञानी पुरुष परमार्थ तत्त्व में जागते हैं और विषय-प्रपंच से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं। जिसकी अज्ञान की नींद भंग हो जाती है, वही सुख से सोता है। यहां सुख से सोना है सदैव दुखरहित मन वाला रहना। गीताकार कहते हैं "दुखों के संयोग से अलग हो जाना ही योग कहलाता है।"[२] स्वरूपज्ञानी पुरुष को कहां मोह और कहां शोक! वह क्या अपना मानकर उसके लिए शोक करे! जो स्वरूपस्थिति में नित्य सोता है वह धन्य है। संसार के लोग तो जीवनभर बिस्तर बिछाते रह जाते हैं, वे जीवन में सोने का अवसर नहीं पाते और चल देते हैं, किन्तु ज्ञानी जीवन भर निश्चिंतता की नींद में सोता है। यही उसका "नींद बिना सुख सोना" है। जिसकी अज्ञान की नींद भंग हो गयी है वही तो आनन्द से रह सकता है।

"जस बिनु ज्योति" संसार में कई लोग होते हैं जिनका सुयश चारों ओर फैला रहता है। सर्वत्र उनके नाम की महिमा रहती है। ज्ञानी पुरुष को कोई जाने या न जाने, उसकी उच्च स्थिति की ज्योति विलक्षण होती है। हमारे नाम, रूप का यश संसार में हो, हमारे नाम की बहुत महिमा संसार में फैली हो, इससे न हमें आत्मशांति मिलेगी और न शरीर त्याग देने के बाद उसका हमें पता रहेगा। परन्तु हमारी आत्मस्थिति की ज्योति ऐसी है जो अक्षुण्ण है। इसमें हमें जीवन में शांति तो मिलती ही है, अमर जीवन भी मिलता है। नाम-यश का प्रकाश बाहरी है, स्वप्नवत है; किन्तु स्वरूपस्थिति का प्रकाश भीतर का है, यह अपना निज का प्रकाश है और शाश्वत है।

"रूप बिनु आशिक" मेरे आपा का, ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप चेतन का कोई ऐसा रूप नहीं है जो आंखों से दिखाई दे। उसके लिए सद्गुरु ने कहा "जागृत रूपी जीव है।"[३] जीव केवल जागृत रूप है, अर्थात ज्ञानस्वरूप है। परन्तु ज्ञानी उसी का आशिक रहता है। यहां आशिक और माशूक अर्थात प्रेमी और प्रिय दो नहीं हैं। सारे सौंदर्य का केन्द्रबिन्दु अपनी आत्मा ही है। जिसने अपनी चेतना की झांकी पायी है, जिसे अपने चेतन स्वरूप का बोध हो गया है, उसकी दृष्टि में बाहर के रूप फीके हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी रूप के बिना ही आशिक होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति का प्रेमी होता है।

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ *(गीता २/६९)*

२. दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। *(गीता ६/२३)*

३. साखी २५।

"ऐसो रतन बिहूना रोवै" ऐसे स्वरूपज्ञान रूपी मणि को पाये बिना जीव रो रहा है, किसी के घर में अपार सम्पत्ति गड़ी हो, परन्तु वह उसे न जानता हो और अपने आपको दरिद्र मानकर रो रहा हो, या कोई राजा सपने में अपने आपको दरिद्र मानकर पीड़ित हो, वही दशा मनुष्य की है। "आतम धन जेहि ठौर है।"[1] उसे न जानकर संसार के सपने में पड़ा हुआ मनुष्य विकल रहता है। दरिद्र रोता है, धनी रोता है, अपढ़ रोता है, विद्वान रोता है, रंक रोता है, राजा रोता है। सारा संसार तो हाय-हाय करके रो रहा है, क्योंकि उसे अपने ज्ञान-रत्न का पता नहीं। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।"[2] सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग भेद नहीं जानते, इसलिए दुखी बने हैं। यह तो जिसके पास परख होती है, वही उसे पहिचान लेता है और पा लेता है। अपने आपको पहिचान लेना ही तो वह रत्न पाना है।

"भ्रम बिनु गंजन" भ्रम कहते हैं भूल या मिथ्याज्ञान को। मेरी अपनी सत्ता के होने में क्या भ्रम हो सकता है? मैं तो हूं ही। परन्तु मनुष्य सारा खगोल-भूगोल पढ़ डालता है, केवल अपने आपको नहीं पढ़ता। अपने आपका शोधन न करने से वह अपने आपका तिरस्कार करता है। गंजन का अर्थ अवज्ञा, तिरस्कार एवं नाश है। इस प्रसंग में तिरस्कार अर्थ उपयुक्त है। जो सबका निर्धारक, निर्णयकर्ता, कल्पक एवं प्रतिष्ठापक है वह स्वयं जीव ही है, आत्मसत्ता ही है, फिर उसकी सत्ता के होने में क्या भ्रम है? परन्तु मनुष्य इस बात पर न ध्यान देकर मानो वह अपने आपका तिरस्कार कर रहा है। गोस्वामी जी के शब्दों में "आतमहन गति जाय" उसकी दशा है।

"मणि बिनु नीरख" जीव कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखना आवश्यक है। जो सबको परखता है उसको न परखकर ही तो सब भटकाव है। जीव सबको परखता है, केवल अपने आपको नहीं परखता। सब कुछ जाना, अपने को न जाना, सब कुछ ठीक किया, अपने आपको ठीक नहीं किया तथा सब कुछ पाया और अपने आपको नहीं पाया तो उसका सब जानना एवं पाना बेकार है।

"रूप बिना बहुरूपा" रूप बिना भी वह बहुरूपों वाला है। जीव का कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है। वह तो केवल ज्ञानरूप है। इस प्रकार वह लाल, पीला तथा दुबला-मोटा किसी रूप वाला न होकर भी वही तो मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि सभी रूपों में विद्यमान है। जहां तक ज्ञान का लक्षण मिलता है वह सब चेतन रूप ही है। अतः चेतन रूपरहित होकर भी देहोपाधि से बहुरूप वाला है।

"थिति बिनु सुरति" थिति स्थिति का तद्भव रूप है। इसका अर्थ है ठहराव। ठहराव से अर्थ यहां आलंबन है। सामान्य साधक अपनी सुरति एवं ध्यान को किसी आलंबन में ठहराता है, वह चाहे किसी महापुरुष का चित्र हो या ज्योति, नाद हो या कोई भी कल्पित आधार हो। परन्तु यहां तो स्वरूपज्ञानी पुरुष का बिना आलंबन का आधार रहता है। जहां तक लोगों ने ध्यान मान रखा है उन सबका खात्मा ही यहां ध्यान

---

१. बीजक पाठफल, साखी १।

२. कहरा ६।

है। किसी पवित्र आलंबन की कल्पना कर मन को उसमें केन्द्रित करना, ध्यान करना, यह प्रथम साधक के लिए ठीक है। परन्तु सहज समाधि तक पहुंचा साधक सारे आलंबनों को तोड़ देता है। वहां मन ही नहीं रह जाता तब मन की कल्पना कहां रहेगी! वहां तो सारे संकल्पों का अन्त है, सारी यादों, स्मृतियों की समाप्ति है। संकल्पों के समाप्त होने पर शेष चेतन सत्ता ही रहती है। इस दशा में किसी दूसरे आलंबन की आवश्यकता ही नहीं है। जब तक बाह्य आलंबन रहता है, तब तक अंतिम दशा आती भी नहीं।

"रहस बिनु आनंद" रहस आमोद-प्रमोद एवं राग-रंग को कहते हैं। संसार का आनन्द राग-रंग का है, परन्तु उस दिव्य स्वरूपस्थिति का आनन्द राग-रंग से परे है। संसार के राग-रंग क्षणिक हैं, इसलिए उनका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा नित्य है, इसलिए जो अपने आत्म स्वरूप में स्थित होता है उसका आनन्द भी स्थिर होता है। कितने राग-रंग वाले संसारी लोग सन्तों को देखकर उन पर तरस खाते हैं। वे सोचते हैं कि इनका जीवन आनन्द से रहित है, क्योंकि संत बाहर से नीरस दिखते हैं। परन्तु भोले दुनियादारों को यह पता नहीं है कि सच्चे और स्थायी आनन्द के उपभोक्ता सन्त ही हैं। भौतिक ऐश्वर्य दिखाई देता है, परन्तु स्वरूपस्थिति का ऐश्वर्य आंखों से दिखने की वस्तु नहीं है। जो अपने आत्माराम में रमता है, वह श्री रामरहस साहेब के शब्दों में भी "बसै आनन्द अटारी" है। अतएव साधक को अपने मन को संसार के ऐश्वर्यों एवं राग-रंग से हटाकर स्वरूपस्थिति में रमाना चाहिए जो सदा आनन्द स्वरूप है। "सो जन सदा अनन्दा।"[१] सद्गुरु कहते हैं "ऐसो चरित अनूपा" मनुष्य के भीतर के दिव्य तत्त्व का ऐसा विलक्षण स्वभाव है, जो दुनिया के क्षणिक सुखों से परे नित्य सुखस्वरूप है।

"कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी।" कबीर साहेब कहते हैं कि इस संसार में हरि ही परम माणिक्य है। कबीर साहेब का हरि मनुष्य का आत्मस्वरूप है। सद्गुरु कहते हैं कि अपने चित्त में विचारकर, खोजकर इसे देखो एवं समझो। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[२] तथा "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[३] साहेब कहते हैं कि पदार्थों का लोभ और प्राणियों का मोह त्यागकर सारंगपाणि का भजन करो। सारंगपाणि का अर्थ होता है धनुर्धारी। सारंग = धनुष, पाणि = हाथ। जो हाथ में धनुष धारण करता हो। सारंगपाणि का रूढ़ अर्थ है 'विष्णु'। कबीर साहेब विष्णु को उपास्य नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[४] यदि सारंगपाणि श्री रामचन्द्र को माना जाय तो उनको भी कबीर साहेब उपास्य नहीं मानते। कबीर का राम हृदय-निवासी है। उन्होंने कहा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना, रामनाम का मर्म है आना।"[५] ऐसे आशय की उनकी बहुत-सी पंक्तियां हैं। फिर उन्होंने सारंगपाणि

---

१. साखी ३२२।
२. रमैनी ४१।
३. शब्द ९७।
४. साखी १४९।
५. शब्द १०९।

को भजने के लिए क्यों कहा? वस्तुतः कबीर साहेब के समय में हरि, राम, सारंगपाणि आदि शब्द बहुत प्रचलित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन शब्दों का आदर तो किया, परन्तु इनका अर्थ अन्तरात्मा ही माना। और सिद्धांत को निर्भ्रांत रखने के लिए श्री विष्णु, श्रीराम आदि की जगह-जगह आलोचना भी कर दी। जैसे कोई आत्मज्ञानी पुरुष किसी सगुण उपासक से कहे कि भाई भगवान का भजन करो। परन्तु उस ज्ञानी का मन्तव्य आत्म-भिन्न कोई भगवान नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा ही है। कबीर साहेब के मन्तव्य को समझकर ही उनके शब्दों का अर्थ किया जा सकता है, केवल शाब्दिक अर्थ करने से काम नहीं चलता। यही बात सभी ग्रन्थों की है।

इस पूरे शब्द में जो रहस्यात्मक ढंग से स्वरूपज्ञान का वर्णन है उसे देखते हुए ही समझा जा सकता है कि यह किसी देहधारी का वर्णन नहीं है, और न किसी आकाशीय का है, किन्तु व्यक्ति की अन्तरात्मा का है, हृदय-निवासी का है। इसलिए दूसरी पंक्ति में ही कहा गया है "सब घट रहा समाई।" यह पूरा शब्द स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का प्रेरक है।

मनोवृत्ति की स्थिति

शब्द–२८

भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है, गइया भार अभार भौ भारी ॥ १ ॥
नौ नारी को पानि पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई ॥ २ ॥
कोठा बहत्तर औ लौ लावै, बज्र केंवार लगाई ॥ ३ ॥
खूँटा गाड़ि दवरि दृढ़ बाँधेउ, तैयो तोर पराई ॥ ४ ॥
चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई ॥ ५ ॥
एतिक ले गम कीहिसि गइया, गइया अति रे हरहाई ॥ ६ ॥
ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई ॥ ७ ॥
एतिक ले गइया खाय बढ़ायो, गइया तैयो न अघाई ॥ ८ ॥
पुरता में राती है गइया, सेत सींगि है भाई ॥ ९ ॥
अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खइ अखइहिं खाई ॥१०॥
ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई ॥११॥
सिद्ध अनंत वाके खोज परे हैं, गइया किन्हुँ न पाई ॥१२॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै ॥१३॥
जो यह पद को गाय विचारै, आगे होय निबाहै ॥१४॥

शब्दार्थ—गइया = गाय, मनोवृत्ति। बिरंचि = विरंच, ब्रह्मा, विधाता, नियम। भार = भारी, बंधनप्रद। अभार = हलका, मोक्षप्रद। भारी = महान। नौ नारी = नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी—तात्पर्य में नौ नाड़ी-ग्रथित शरीर। लौ = धुन, आशा। बज्र केंवार = आंख, नाक, कान, गुदा, उपस्थ

हाथ-पैर से बन्द करके योगियों-द्वारा लगायी गयी समाधि। खूँटा = आधार, ध्यान का आलंबन। दवरि = रस्सी, ध्यान। चारि वृक्ष = चार वेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। छौ शाखा = छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छंद। वाके = वेदों के। पत्र अठारह = अठारह पुराण। गम कीहिसि = खा गयी। हरहाई = हरहट, चंचल। ई सातों = सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदांत तथा महाकाव्य। औरों हैं सातों = सप्त प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा सम्भव। नौ = नौ व्याकरण। चौदह = चौदह विद्याएं। पुरता = कामना पूर्ण करने में, तृप्ति में। आवरण = अवर्ण, रंगरहित। वरण = वर्ण, रंगवाला। खद्द = भक्ष्य। अखद्द = अभक्ष्य।

भावार्थ—हे भाई! विधाता ने अर्थात प्रकृति के विधान ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है, वह मनुष्य के लिए महान वस्तु है। उसका दुरुपयोग किया गया तो वह बन्धनप्रद बनती है और यदि उसका सदुपयोग किया गया तो वह मोक्षप्रद हो जाती है।।१।। वह नौ नालियों का पानी पीकर भी तृप्त नहीं होती अर्थात नौ नाड़ियों से ग्रथित काया का विषयरस लेकर भी संतुष्ट नहीं होती।।२।। योगी लोग शरीर के छिद्रों को बन्दकर और बहत्तरों कोठों से वायु खींचकर ध्यान के आलंबन स्वरूप ज्योति-रूपी खूंटे में ध्यान रूपी मजबूत रस्सी से इस मनोवृत्ति रूपी गाय को बड़ी मजबूती से बांधते हैं, तब भी यह उसे तोड़कर भाग निकलती है।।३-४।। चारों वेद मानो वृक्ष हैं और उनके छह वेदांग शाखाएं तथा अठारह पुराण पत्ते हैं। हे भाई! इन सबको इस गाय ने चर डाला, परन्तु अघायी नहीं। यह ऐसी चंचल है कि इसने आगे मुंह बढ़ाया।।५-६।। छह शास्त्र, महाकाव्य—ये सात तथा सातों प्रमाण, नौ व्याकरण तथा चौदह विद्याएं—ये सब खाकर भी गैया न अघायी और आगे पैर बढ़ायी अर्थात इन सबके अध्ययन-मनन के बाद भी मनोवृत्ति शांत न हुई।।७-८।। हे भाई! हम यह नहीं कह सकते कि यह गाय रंगवाली है या रंगरहित है। हां, इसकी सींगें उजली हैं। अर्थात लक्षण अच्छे हैं। यह निरंतर पूर्णता पाने एवं तृप्त होने में ही तो लगी है। परन्तु इसकी दिशा गलत होने से यह खाद्य-अखाद्य सब खा रही है।।९-१०।। हे भाई! ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादिक और असंख्य सिद्ध इस मनोवृत्ति रूपी गाय की खोज में पड़े हैं कि उसको लाकर अपने घर में बांध लें। अथवा आत्म-भिन्न मनःकल्पित अवधारणा को सब खोजते रहे, परन्तु वह किसी को न मिली।।११-१२।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, सुनो, जो विचारक इस पद का अर्थ करे और इसको गाकर इसका विचार करे, उसे चाहिए कि मनोवृत्ति रूपी गाय से आगे निज स्वरूप मुकाम पर पहुंच जाय, और उस स्थिति का जीवन-पर्यंत निर्वाह करे।।१३-१४।।

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में चंचल गाय के रूपक में मनोवृत्ति का अच्छा नक्शा खींचा है। लोकधारणा है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की रचना की है और उसी ने उसे सब कुछ दिया है। कबीर साहेब भी जनभाषा में बोलकर कहते हैं कि हे भाई! विधाता ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है। ब्रह्मा या विधाता कोई व्यक्ति नहीं है जिसने संसार या मनुष्यादि को रचा हो। ब्रह्मा प्रकृति के नियमों एवं विधानों का एक काल्पनिक प्रतीक है। वस्तुतः जड़-चेतन के नियमों से ही सारी रचनाएं होती हैं। जितने देहधारी हैं, सब में मन है, परन्तु प्रकृति के नियमों एवं विधानों ने मनुष्य को बड़ा विकसित मन दिया है।

विकसित मन के नाते ही यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। इस विषय को आगे साखी प्रकरण की आरम्भिक साखियों की व्याख्या में मनन करना चाहिए। यदि कबीर साहेब ब्रह्मा को सर्वेसर्वा मानते कि उन्होंने मनुष्य को मन दिया है तो वे आगे इसी शब्द की ग्यारहवीं पंक्ति में उनको भी मन की विवशताओं में फंसा हुआ न कहते और बीजक भर में ब्रह्मादि त्रिदेवों की आलोचना न करते। कबीर साहेब की वाणी को समझने के लिए उनके विचार समझने चाहिए। यह भी सच है कि उनके विचार उनकी वाणियों से ही समझे जा सकते हैं।

"गइया भार अभार भौ भारी" यह मनोवृत्ति गाय भारी है, महान है। इसी से तो सारे ज्ञान-विज्ञान शोधे जाते हैं। मन का बड़ा महत्त्व है। मन न होता तो विचारात्मक कोई सृष्टि ही नहीं होती। मन के दो स्वरूप हैं भार और अभार। भार का अर्थ है बोझिल एवं बंधनप्रद और अभार का अर्थ है हलका एवं मोक्षप्रद। जो मन राग-द्वेष तथा नाना कल्पित मान्यताओं से बोझिल रहता है वही बंधनप्रद है, और जो मन राग-द्वेष एवं सारी कल्पनाओं से रहित है, वह हलका है, मोक्षप्रद है।

"नौ नारी को पानी पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई।" शरीर में सहस्रों नाड़ियां हैं, परन्तु पुहुखा, गंधारी आदि नौ नाड़ियां मुख्य मानी जाती हैं। नौ नाड़ियों से काया चलती है। यहां नौ नाड़ियों का लाक्षणिक अर्थ है नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। अतएव तात्पर्य हुआ कि यह मनोवृत्ति शरीर एवं इंद्रियों के विषय-रस में ही सदैव रमती रहती है। मन सदैव विषयों का रस चखता है, तो भी वह कभी तृप्त नहीं होता। "तृषा तेउ न बुझाई" भोगों को भोगने से कहीं कामनाएं तृप्त होती हैं? राजा ययाति अपने भोगी जीवन से असन्तुष्ट होकर कहते हैं "विषयों के भोगों से काम-वासना कभी शांत नहीं हो सकती। जैसे घी डालने से आग बढ़ती है, वैसे भोगों से वासनाएं प्रबल हो जाती हैं।"[१]

इस मन को वश में करने के लिए हठयोगी लोग बज्रकेंवार लगाते हैं। वे स्थिर आसन से बैठकर दोनों पैरों के गुल्फों और एड़ी से गुदा और उपस्थ को दबा देते हैं। तथा दोनों हाथों की उंगुलियों से कान, नाक और आंखों को बन्द कर लेते हैं। यही बज्रकेंवार लगाना है। वे योगाभ्यास-द्वारा शरीर के बहत्तर कोठों से वायु को समेटकर उसे त्रिकुटी के ऊपर सहस्रदल कमल में ले जाते हैं। वहां गरमी से एक ज्योति का प्रकाश दिखता है। उसी को वे खूंटा या आलंबन मानकर ध्यान की रस्सी से अपनी मनोवृत्ति रूपी गाय को बांधते हैं। तब भी यह गाय उस रस्सी को तोड़कर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि कोई हठयोग से समाधि लगाकर अपने मन को भले अचेत कर दे, परन्तु जब वह समाधि से उठेगा और यदि उसके मन में विवेक-वैराग्य नहीं है तो उसका मन स्ववश नहीं रहेगा। हठयोग में माने गये लक्ष्य भी ज्योति, नाद, बिन्दु आदि हैं। वे उन्हीं को ब्रह्म कहते हैं। यह भी एक मनोवृत्ति रूप ही है। अर्थात वे अपनी कल्पित

---

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। भागवत ९/१९/१४।।

अवधारणा को ही परमात्मा मान लेते हैं जो मन का ही कार्य है। इसलिए हठयोगी मनोवृत्ति के बाहर नहीं हैं।

"चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।" ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व ये चार वेद हैं। ये मानो वृक्ष हैं। इनकी छह शाखाएं हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द। ये छहों, वेदों को समझने के लिए हैं।[१] वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथ बने हैं जैसे ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, गोपथब्राह्मण, सामब्राह्मण आदि। इसके बाद आरण्यक ग्रंथ बने। इसके बाद गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र बने, फिर स्मृतियां, महाकाव्य—महाभारत एवं रामायण। साथ-साथ अठारह पुराण[२] एवं अनेक उपपुराण। इसके अलावा श्रमणों-जैनों-बौद्धों के अपार ग्रंथ बने। साहेब कहते हैं इन सारे ग्रन्थों को पढ़ने के बाद भी यदि मन विषयों में विचरता रहे तो पढ़ने का मतलब क्या हुआ!

"ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई।" इस पंक्ति में दो बार सातों-सातों आये हैं जो संख्यावाचक हैं। इनमें स्पष्ट निर्देश नहीं हैं कि ये दोनों सातों क्या हो सकते हैं। इसलिए इनका अर्थ टीकाकार या अर्थविचारक जो चाहें सो करें, चाहे वे सात ऊपर तथा सात नीचे के लोक करें, चाहे पांच तत्त्व, मन एवं जीव—व्यष्टि तथा पांच विषय, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर—समष्टि करें, चाहें सप्त धातु एवं सप्त स्वर करें, चाहे अन्य सात-

---

१. **शिक्षा**—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें वेदों की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण करने का प्रकार बताया गया है। प्रत्येक वेद की पृथक-पृथक शिक्षाएं हैं। एक-एक वेद के भी कई शिक्षा ग्रन्थ हैं।

कल्प—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें यज्ञ करने का स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप बताया गया है। आकार में संक्षिप्त रखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी कई भेदों के हैं।

व्याकरण—इस वेदांग में वेदों के अर्थों को समझाया गया है और शब्दों का शुद्धस्वरूप निर्धारण किया गया है।

निरुक्त—इसमें शब्दों की उत्पत्ति एवं स्वर-भिन्नता बतलायी गयी है। बहुत पुराना ग्रन्थ निघंटु है। इसी पर यास्क का लिखा बृहत् भाष्य है, जिसका नाम निरुक्त है।

ज्योतिष—इसमें काल (समय) के गणित इत्यादि का वर्णन है। जो कि यज्ञ के लिए आवश्यक है। उचित समय में किया हुआ यज्ञ ही फलप्रद माना है और वेद प्रायः यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं। अतः इनमें ज्योतिष का महत्व है।

छंद—इस ग्रन्थ के ज्ञान से वेद मन्त्रों का उच्चारण ठीक रूप से होता है। वेद छन्दों में हैं, अतः उनके उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान आवश्यक है।

वेदों के उपर्युक्त छह अंग बताये गये हैं। उनमें व्याकरण वेदों का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा प्राण तथा छन्द दोनों पैर हैं (पाणिनीय शिक्षा ४१-४२)।

२. ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कंडेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण तथा ब्रह्मांडपुराण—ये अठारह पुराण हैं।

सात संख्या वाले कोई भी नाम गिनाएं, स्वतन्त्र हैं। परन्तु ये लाइनें वाणी-विस्तार की हैं यह ध्यान में रखना चाहिए। इसीलिए यहां सांख्यादि छह शास्त्र तथा महाकाव्य और प्रत्यक्षादि सात प्रमाण लिये गये हैं। नौ से नौ व्याकरण लिया गया है। व्याकरण तो एक ही विषय है, परन्तु इस पर विचार करने वाले तथा लेखक अनेक हुए हैं। प्रसिद्ध नौ हैं—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्सन, शकटायन, आपिशाली, पाणिनि, कुमार, शाकल्य तथा सारस्वत। इसके बाद चौदह विद्याएं हैं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सद्गुरु कहते हैं कि इन सबको पढ़, गुन, जान तथा समझकर भी यदि आदमी वासनाओं का गुलाम है तो उसका ज्ञान क्या अर्थ रखता है! जीवन में शांति तो मन को वश में करने से आती है और शांति ही जीवन का परम सुख है। हम मन को पहचान लें, उसे अपने वश में कर लें यही जीवन की सफलता है। यदि यह न हुआ तो सारा ज्ञान माटी है।

"पुरता में राती है गइया" यह मनोवृत्ति रूपी गाय 'पुरता में राती है' पुरता का अर्थ है पूर्ण करना, तृप्त होना, राती का अर्थ है लीन होना या लगा हुआ होना। मन सदैव तृप्त होने में लगा रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इस गाय की सींगें श्वेत हैं। अर्थात शीर्ष भाग उज्ज्वल है, लक्षण अच्छे हैं। मन तृप्ति चाहता है, तो यह बुरी बात तो नहीं है। वह तृप्त इसलिए नहीं होता कि उसे हम ऐसी वस्तु नहीं दे पाते जिससे वह तृप्त हो सके। जैसे कोई प्यासा आदमी कुआं खोजता हो; परन्तु जिस कुएं पर जाता हो, वहां का पानी सड़ा मिलता हो, तो स्वाभाविक बात है कि प्यासा उससे आगे बढ़ेगा। जब तक उसे स्वच्छ जल का कुआं न मिलेगा वह न रुकेगा। मन की यही दशा है; यह तृप्ति चाहता है। हम इसे विषय-भोग देते हैं जो सड़े जल के समान है, इसलिए मन तृप्त नहीं होता। विषय मलिन हैं, क्षणभंगुर हैं, छूटने वाले हैं, इनमें तृप्ति की कोई सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य जहां तक अपनी आत्मा से अलग कुछ भी मानकर उसकी कल्पना करता है उसमें मन को तृप्ति मिल ही नहीं सकती। यदि हम मन को स्वरूपज्ञान रूपी अमृत दें, उसे अविनाशी अमृतत्त्व का मधु पिलाएं, तो वह भटकना छोड़ देगा। दोष मन का नहीं है, दोष है हमारा, जो उसका हम सदुपयोग नहीं करते, उसे स्वरूपज्ञान का अमृत-रस नहीं देते।

"अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खद्द अखद्दहिं खाई।" अवर्ण-वर्ण का अर्थ रंगरहित या रंगसहित होना है। साहेब कहते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि यह मनोवृत्ति रूपी गाय रंगरहित है और यह भी नहीं कह सकते हैं कि रंगवाली है। यहां रंग से अभिप्रायः लाल-पीलादि से नहीं है, किन्तु बात मन के स्वरूप की है। मन के स्वरूप की व्याख्या करना एक समस्या है। कोई गाय होती है। वह हरहाई है, चंचल है। उसने किसी की फसल चर ली है। पूछा जाता है कि भाई वह गाय किस रंग की है? लोग बताते हैं काली है, पीली है, सफेद है, बगरी है आदि। उसके रंग जानकर उसे खोजकर पकड़ सकते हैं। मन का रंग पूछे तो कोई क्या बताये? यह अधर्म की शक्ल में रहता है और धर्म की शक्ल भी बनाना जानता है। यह अच्छी शक्ल बनाकर भी गड्ढे में ले जाने

के लिए माहिर है। मन बहुरुपिया है। मन अच्छी बातों की याद कराते-कराते बुरी बातों में ले जाकर जीव को भिड़ा देता है। इसलिए मन से बहुत सावधान रहना चाहिए।

"खद्द अखद्दहिं खाई" गाय तो घास चरती है, मांस नहीं खाती। परन्तु यह मनोवृत्ति रूपी गाय खाद्य-अखाद्य सब कुछ खा जाती है। खाद्य का शुद्ध शब्द है आहार। हम जो कुछ मन तथा इन्द्रियों से आहरण करते हैं वह सब आहार है। आहरण कहते हैं ग्रहण करने को। मन अच्छी और बुरी दोनों बातों का आहरण करता है, इसलिए उसे सद्गुरु ने खाद्य-अखाद्य दोनों को खाने वाला कहा है। साधक का यही प्रयत्न होना चाहिए कि उसकी मनोवृत्ति अखाद्य का त्याग कर दे। वह गलत चिंतन न करने पाये। खराब चिंतन से ही हृदय दूषित होता है। जिसका चिंतन सही है, उसका हृदय शुद्ध होता है।

"ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई। सिद्ध अनन्त वाके खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई।" ये दोनों पंक्तियां बड़े-बड़े नामों को चुनौती देती हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव तो मानो गृहस्थ थे। ये सब संसारी माया जाल में उलझे थे। इनके आचरणों की शिथिलता पुराणों में प्रसिद्ध है। परन्तु विरक्त-चूड़ामणि सनकादि अर्थात सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा असंख्य सिद्ध कहलाने वाले क्या ये भी मन को नहीं परख सके। कबीर साहेब की यहां सूक्ष्म मार है। बड़े-बड़े योगी तथा संन्यासी लोग भी ब्रह्म को अपनी आत्मा से बाहर खोजते हैं। जो वह उनकी एक मनोवृत्ति ही होती है। यदि ब्रह्म खोजा जा रहा है, तो यह मन की एक कल्पना ही है और यह खोजकर कभी नहीं मिल सकता। ब्रह्मादि, सनकादि एवं सिद्धादि लोग "गइया किनहुँ न पाई" कोई ब्रह्म को, ईश्वर को एवं परमात्मा को खोजकर नहीं पाया। जो चीज खोजकर मिलती है, वह तो माया होती है। वस्तुतः सारी खोज खत्म कर देने के बाद, यहां तक इस गैया को, मनोवृत्ति को समाप्त कर देने के बाद जो स्वचेतन सत्ता बच रहती है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। उसे ब्रह्म, ईश्वर कुछ भी कह लें, यह अपनी खुशी है।

जब ज्ञानी लोग यह मानने लगते हैं कि मैं ही परमतत्त्व हूं, परन्तु सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, जड़-चेतन सब कुछ मैं ही हूं, घट-मृतका, जल-तरंग तथा स्वर्ण-भूषण न्याय मैं ही अखिल विश्व हूं, तब यह पुनः मानो गैया में उलझ जाना है। यह सब एक मनोवृत्ति का ही पसारा है। आत्म-अस्तित्त्व की अतिशयोक्ति में यदि हम जड़-चेतन का विवेक ही खो दें तो मानो पुनः मन-मानन्दी में उलझ गये। धर्मशास्त्रों में सनकादिकों के मुख से इन जैसी बातें खूब कहलवा दी गयी हैं। इसलिए सद्गुरु ने आठवीं रमैनी में इस पर खुलकर आलोचना की है और जगह-जगह इस पर विचार किया है। "मैं सर्वत्र व्यापक हूं तथा मैं सारा विश्व हूं" ये दोनों बातें मानसिक भ्रम के अलावा कुछ नहीं हैं। यह भी एक मनोवृत्ति ही है। आत्मा की व्यापकता का अनुभव किसी को नहीं होता है। एक आत्मा व्यापक होने से दूसरे के अस्तित्त्व का होना ही असम्भव है और आत्माएं एक नहीं, असंख्य हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। चेतन के अलावा जड़ तत्त्व भी हैं और वे भी अनेक हैं। एक-एक तत्व में असंख्य परमाणु हैं। इन सारे तथ्यों से आंखें मीचकर यह कह देना कि मैं सर्वत्र व्यापक तथा अखिल विश्व हूं, यह मनोवृत्ति रूपी गैया का ही हरहाईपन है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ब्रह्मादि, सनकादि, सिद्धादि कोई भी

गैया को पकड़ न पाये। मनोवृत्ति को छोड़ देने पर स्वरूप से शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। जो सबको परखता है वह स्वयं पारख-रूप तथा ज्ञान-रूप है। बस, उसकी इससे अधिक व्याख्या करना गैया के पीछे दौड़ना है और उसे न पकड़ पाना है।

अन्त में सद्गुरु कहते हैं कि जो इस पद का अर्थ लगाये, इसे गाये और विचारे उसका काम है कि मनोवृत्ति से आगे हो जाय और इस स्थिति का जीवनभर निर्वाह करे। सद्गुरु कहते हैं कि हठयोग और शास्त्रजाल में मत उलझो। जो मैंने यह शब्द गाया है उसके अभिप्राय का ग्रहण यह होगा कि मन का सदुपयोग करो। बिना मन के जीवन नहीं चलता; किन्तु मन में उलझ कर जीवन का कल्याण नहीं होता। मन को शुद्ध करो, निर्विषय करो, मन की सारी मान्यताओं का परित्याग करो। समाधि में मन को शून्य कर दो, और व्यवहार में मन के साक्षी रहो। यही मन से आगे हो जाना है "आगे होय"। साधक का काम है मन को पीछे छोड़कर खुद आगे हो जाय। परन्तु यह भी जरूरी है कि "निर्बाहै" इस स्थिति का जीवन भर निर्वाह करे। एक क्षण या एक घंटा के मोक्ष से काम नहीं बनेगा। जीवनपर्यंत मोक्षस्थिति बनी रहनी चाहिए।

विषय-निवृत्ति से ही निजस्वरूप की स्थिति

शब्द—२९

भाई रे नयन रसिक जो जागे॥ १ ॥

पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहु के मन लागे॥ २ ॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै॥ ३ ॥
काम-क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि-भरि आवै॥ ४ ॥
ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै॥ ५ ॥
संगहि पोच है ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै॥ ६ ॥
संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक व्याधि शरीरा॥ ७ ॥
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ ८ ॥

शब्दार्थ—नयन रसिक = रूप के प्रेमी, तात्पर्य में विषयासक्त। पारब्रह्म = परम तत्त्व। अविगति = अविगत, अज्ञात। कैसहु के = किसी भी प्रकार। अमली = व्यसनी, आदती। खुमारी = नशा, आंखों में छाया हुआ मद। कुलाल = कलवार, मदिरा बनाने वाला। भाठी = शराब बनाने की भट्ठी। पोच = बुराई, नीचता। कलिमा = कलिकाल, कलह, द्वन्द्व।

भावार्थ—हे भाई! यदि विषयासक्त व्यक्ति भी मोह से जग जाय, तो आज तक उसके लिए जो अज्ञात था, उस अविनाशी परम तत्त्व में किसी प्रकार उसका मन लग जायेगा॥१-२॥ जो लोग विषयों के आदती हैं, उन पर सदैव विषयों की तृष्णा का ही नशा चढ़ा रहता है, वे कहीं भी सन्तोष नहीं पाते॥३॥ काम और क्रोध ये दोनों उन्मादी मनोवेग हैं जो मनुष्य के मन में बारम्बार भ्रम लेकर आते रहते हैं। अथवा काम और

क्रोध में डूबे हुए लोग उन्मत्त होते हैं। उन्हें माया विषय का मदिरा प्याले में भर-भरकर पिलाती है।।४।। कितने ब्रह्मज्ञानी भी एक प्रकार के कलवार हो जाते हैं। वे कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान का मदिरा बनाते हैं, और जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मिलाकर इन्द्रियों के विषय-रस भोगना चाहते हैं।।५।। वे मन में तो विषयासक्ति की बुराई भरे रहते हैं, परन्तु वाणी से ब्रह्मज्ञान की डींग हांकते हैं और कहते हैं कि यह ज्ञान वही पायेगा जो चतुर होगा।।६।। इस द्वंद्व भरे संसार में नाना संकट हैं, चिंताएं हैं, बुराइयां हैं और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां लगी रहती हैं। हे कल्याणर्थियो! जहां धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल सद्गुरु हों वहां विनम्रतापूर्वक जाओ और उनकी शरण में लग जाओ तथा उनके उपदेश को पाकर अपने निश्चल स्वरूप में स्थित हो जाओ।।७-८।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर साहेब से मानो किसी ने कहा हो कि साहेब, हम तो बहुत विषयी-पामर हैं। हमारा मन ब्रह्म में, राम में कहां लग सकता है! हमारे उद्धार का तो कोई रास्ता ही नहीं दिखता। तब कबीर साहेब ने उनसे कहा हो कि हे भाई! यदि तुम जग जाओ, मोह की नींद भंग कर दो तो धीरे-धीरे जिस किसी प्रकार तुम्हारा भी मन उस तत्त्व में लग जायेगा, जो तुम्हारे लिए आज तक अज्ञात है, किन्तु अविनाशी है और तुम्हारा स्वरूप ही है।

रूपासक्त व्यक्ति को नयनरसिक कहते हैं। यह विषयासक्ति का बहुत स्थूल स्वरूप है। जो बहुत विषयासक्त है, परन्तु कल्याण की कामना जग गयी है तो उसे घबराना नहीं चाहिए। उसे चाहिए कि वह साहसहीन न हो। किंतु विवेक करके विषयों के मोह को भंग करे। पुरुषार्थ-द्वारा उसके मन का मोह भी अवश्य टूटेगा। "पारब्रह्म अविगति अविनाशी" पारब्रह्म का शुद्धरूप परब्रह्म है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' अर्थात बृहत् एवं महान को ब्रह्म कहते हैं। 'पर' विशेषण लगाने से उसका अर्थ निर्गुण रूप शुद्ध रूप हो जाता है। परब्रह्म का अर्थ हुआ शुद्ध श्रेष्ठतत्त्व। मनुष्य, स्वस्वरूप के अज्ञानवश श्रेष्ठतत्त्व को अपने से अलग मानता है, इसलिए वह उसे अविगत एवं अज्ञात कहता है। परन्तु जब विषयों का मोह भंग होकर निज स्वरूप का ज्ञान होता है तब पता चलता है कि वह परब्रह्म श्रेष्ठ तत्त्व, वह अविनाशी स्वरूप मेरी आत्मा ही है। फिर धीरे-धीरे विचार करते-करते निजस्वरूप की दृढ़ता होती है। "कैसहु कै मन लागे" का अर्थ है जिस किसी प्रकार उसका मन निज स्वरूप में लग जाता है। इसका अभिप्राय है कि जो बहुत विषयासक्त है उसका परमार्थ में शीघ्र प्रवेश नहीं होता। वह सेवा, भक्ति, परोपकार, शम, दम, तितिक्षा, सत्संग आदि अनेक साधनाएं करता है, तो सर्वांग साधन लेते हुए चलने से किसी-न-किसी प्रकार उसका मन शुद्ध हो जाता है और वह परमार्थ में लग जाता है।

"अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै।" जो व्यक्ति नाना प्रकार के विषयों के भोगने का आदती है, उसे सब समय विषय का नशा चढ़ा रहता है। किसी भी विजाति एवं जड़ वस्तु को भोगने की आदत आदमी के मन को दुर्बल बनाती है। गांजा, भांग, शराब, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, मैथुन, सिनेमा, नाच-तमाशे आदि किसी भी विषय को भोगने की आदत जब हो जाती है, तब आदमी उसके लिए सब समय दीन बना रहता है। कितने लोग कहते हैं कि महाराज, भोजन दो दिन न मिले तो चल सकता है

परन्तु सिगरेट एक घंटा भी न मिले तो नहीं चल सकता। यह उनकी उसके प्रति अधिक आसक्ति ही है। जब उनसे कहा जाय कि आपको जीवन भर सिगरेट दिया जायेगा, परन्तु भोजन कभी नहीं दिया जायेगा, तब उन्हें पता चलेगा।

आदमी जब किसी व्यक्ति से मोह कर लेता है तब उससे बिना मिले, उसे बिना देखे नहीं रह पाता। भोजन में जब मिर्च, खटाई, अधिक नमक, घी, दूध, दही, महीन चावल या अमुक वस्तु में आसक्ति बना ली जाती है तब उसके बिना खाया नहीं जाता। जिस भी वस्तु-व्यक्ति का राग मन में बन जाता है, उसके बिना आदमी बेचैन हो जाता है। यही उसकी दुर्बलता है। विषयासक्ति का एक नशा होता है। इस नशा को सद्गुरु ने खुमारी शब्द से याद किया है। खुमारी के साथ सद्गुरु ने तृष्णा शब्द का प्रयोग किया है। तृष्णा उसे कहते हैं जिसमें कभी तृप्ति नहीं होती। जो जिस विषय में आसक्त है वह उसमें तृप्त नहीं होता।

ऐसे लोग "कतहुँ सन्तोष न पावै।" व्यसनी आदती एवं भोग-तृष्णालु को कभी और कहीं भी संतोष नहीं मिलता। उसका मन नाना भोगों एवं स्थानों के लिए दौड़ता है, परन्तु वहां जाकर या उसे पाकर पुनः असन्तुष्ट ही रह जाता है। विषय भोग, स्थान, भूमिका, सम्मान, पद, अधिकार जिन्हें भी पाने की मन लालसा करता है, उन्हें पा जाने के बाद भी वह अपने आपको असन्तुष्ट ही पाता है। सारे मायावी दृश्यों की यही कथा है। जो मन की शांति छोड़कर भोगों के पीछे भागेगा वह कहीं संतोष नहीं पा सकता। 'कतहुँ संतोष न पावै" यह वाक्यांश मुमुक्षु के मन को मथ देने वाला है।

"काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै।" काम और क्रोध दोनों उन्मत्त वेग हैं। जो मनुष्य के मन में सदैव माया भर-भरकर लहर-पर-लहर आते रहते हैं। माया का अर्थ है व्यामोह एवं भ्रम। काम आने पर मन में एक व्यामोह आता है और आदमी मलिन चीजों को बड़ी प्रिय मान लेता है। इतना ही नहीं, इसके लिए वह लोक-विरुद्ध काम भी करता है। उसके परिणाम में वह अपने भीतर से तो गिर ही जाता है, बाहर लोकदृष्टि में भी गिर जाता है। यही बात क्रोध आने पर होती है। वह नहीं सोचने योग्य बातें सोचता है, नहीं कहने योग्य बातें कहता है तथा नहीं करने योग्य काम करता है। इन सबके परिणाम में वही दशा आती है, भीतर से चंचल, पीड़ित एवं शोकित होता है तथा बाहर से अपमानित। ऐसे व्यक्ति का जीवन अशांत हो जाता है। वस्तुतः काम-क्रोध मन के विकार हैं। जो इनमें जितना पड़ता है, वह उतना ही उन्मादी हो जाता है। काम आने पर क्रोध आना ही है। जब कामना में भंग पड़ता है तब क्रोध आता है और जब कामना सफल होती है तब लोभ आता है। ये सब मन को भ्रमित करने वाले हैं।

"ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।" शराब बनाने वाला भट्ठी पर महुआ आदि शराब की उपादान-सामग्री से शराब बनाता है। कथित ब्रह्मज्ञानी भी कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान की शराब बनाते हैं। शराब पीकर जैसे मनुष्य सारासार-विवेक से शून्य हो जाता है, वैसे ही कथित ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान की शराब पीकर जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष के विवेक से शून्य हो जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि जड़-चेतन में कोई भेद नहीं है, इसलिए भोग-मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। "लै इन्द्री रस चाहै" यह वाक्यांश

इसी का खुलासा है। फिर वे इन्द्रिय-भोगों को भी ब्रह्मरूप मान लेते हैं। वे भोगों को भोगते हुए भी अपने आपको मुक्त ब्रह्म ही मानते हैं। इसका खुलासा पीछे चौदहवें शब्द की व्याख्या और टिप्पणी में पढ़ सकते हैं।

"संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै।" ऐसे लोगों के मन में तो विषयासक्ति की मलिनता और ज्ञान-वैराग्य के दिखावे में भोग-वासना की नीचता रहती है, परन्तु वे ज्ञान की बड़ी-बड़ी डींगें हांकते हैं। मैं निर्लिप्त हूं, निष्काम हूं "भोगहुं विषय कि त्यागहुं इन्द्रिय, मोको लगै न रंचक रंग" का आलाप करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी नामधारियों का अधःपतन है। ऐसे लोग समाज में बिगड़ी घड़ी बनकर साधकों को पथभ्रष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जो चतुर होगा, वह इस ज्ञान को पायेगा। भोग और मोक्ष साथ-साथ सम्पादित करने की बुद्धि चतुरता ही है। परन्तु यह चतुरता जीव को नीचे ले जाने वाली है।

"संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक ब्याधि शरीरा।" इस द्वंद्व भरे संसार में संकट, सोच, पोच और शरीर-व्याधि जीव को पीड़ित करते रहते हैं। किसी प्रकार विरोधी कशमकश एवं विपत्ति को संकट कहते हैं। प्रबल शत्रु का सामना, विरोधियों द्वारा घिर जाना, योग्य साथी का छुट जाना, धन-मकान आदि निर्वाह की चीजों का हट जाना या मिट जाना आदि 'संकट' है। इन तथा इन-जैसी हुई दुर्घटनाओं एवं काल्पनिक संभावनाओं को लेकर मन में चिंता करना 'सोच' है और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के गलत आचरण 'पोच' है। शरीर के नाना रोग 'व्याधि' हैं। इन सबसे मनुष्य हर समय दुखी रहता है।

"जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।" सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षुओ, तुम उठकर अर्थात विनम्र होकर उन सद्‌गुरु की शरण में जाओ जो धीर, गम्भीर तथा अत्यन्त निश्चल हैं। जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मानने वाले ज्ञानियों के चक्कर में न पड़ जाना। जो स्वयं मन की चंचलता के कारण भटक रहे हैं, उनकी झोली में न गिर जाना। तुम उनकी शरण में जाओ जो मन से धैर्यवान हैं, रहनी से गम्भीर हैं तथा अपने अविनाशी पद में अचल स्थित हैं। ऐसे गम्भीर पुरुषों से उठकर मिलो। "तहाँ उठि मिलहु कबीरा" जब किसी बड़े से मिलना होता है तब हम अपनी जगह से उठकर मिलते हैं। उठकर मिलने का अर्थ है विनम्रतापूर्वक मिलना। पूर्ण सद्‌गुरु की शरण से मनुष्य का कल्याण-पथ सरल होता है। अंततः तो अपनी स्वरूपस्थिति ही धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल पद है। वासनाहीन होकर निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही निश्चल पद में पहुंच जाना है। स्वरूपस्थिति ही परब्रह्म पद है। निजस्वरूप के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं।

इस शब्द की दो पंक्तियों "ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै ॥५॥ संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै ॥६॥" का विधेयात्मक अर्थ भी किया जा सकता है जिससे यह पूरा शब्द विधेयात्मक अर्थ वाला हो जाता है। इस अर्थ में ब्रह्म का अर्थ मन करना पड़ेगा। अर्थात मन कलवार है जो विषय-वासना रूपी शराब की भट्‌ठी चढ़ाता रहता है और इन्द्रियों-द्वारा विषयों का रस चखना चाहता है। अन्दर में तो

विषयासक्ति की बुराई रखता है, परन्तु बाहर ज्ञान की डींग हांकता है, और कहता है कि जो चतुर होगा वह भोग और मोक्ष साथ-साथ पा लेगा।

अनेकता में एकता

शब्द–३०

भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने बौराया॥ १ ॥
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥ २ ॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा॥ ३ ॥
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा॥ ४ ॥
वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये॥ ५ ॥
को हिन्दू को तुरुक कहावे, एक जिमी पर रहिये॥ ६ ॥
वेद कितेब पढ़ै वै कुतबा, वै मोलना वै पाँड़े॥ ७ ॥
बेगर - बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भाँड़े॥ ८ ॥
कहहिं कबीर वै दूनों भूले, रामहि किनहु न पाया॥ ९ ॥
ये खसी वै गाय कटावैं, बादिहि जन्म गमाया॥१०॥

शब्दार्थ—हजरत = स्वामी, साहब। कितेब = कुरान। कुतबा = कुतुब, किताब का बहुवचन, बहुत-सी किताबें या खुतवा (प्रार्थना)। बेगर-बेगर = पृथक-पृथक। भाँड़े = बरतन। बादिहि = विवाद में या व्यर्थ में।

भावार्थ—हे भाई! तुम्हें किसने पागल बना दिया है, ये दो ईश्वर कहां से आ गये? अल्लाह और राम, करीम और केशव तथा हरि और हजरत नाम धराकर ईश्वरों की भीड़ कैसी? ॥१-२॥ एक सोना से अनेक आभूषण बनते हैं, स्वरूपतः वे सोने हीं हैं। इसी प्रकार कहने-सुनने के लिए दो मान्यताओं की स्थापना कर ली गयी, एक नमाज की और एक पूजा की; परन्तु इसमें मूलतः दो भाव नहीं हैं। दोनों का सार है मन को कोमल बनाना॥३-४॥ हमारे लिए जैसे श्रद्धेय महादेव और ब्रह्मा हैं वैसे मुहम्मद तथा आदम होने चाहिए और जैसे मुहम्मद तथा आदम हैं वैसे महादेव तथा ब्रह्मा होने चाहिए॥५॥ सभी मानव एक ही जमीन पर रहते हैं, फिर यहां किसको हिन्दू कहा जाय तथा किसको मुसलमान॥६॥ वेदादि शास्त्रों को पढ़ने से एक पंडित कहलाता है और कुरानादि किताबों को पढ़ने से एक मौलवी कहलाता है॥७॥ अलग-अलग नाम अवश्य रख लिये हैं, परन्तु हैं सब एक ही मिट्टी के बरतन॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये दोनों भूल गये हैं। इनमें से किसी ने भी राम या रहीम को नहीं पाया है; क्योंकि एक देव के नाम पर बकरादि प्राणियों का वध कराता है और दूसरा रहीम के नाम पर गाय कटाता है। अतएव दोनों अपने जीवन को व्यर्थ में खोते हैं॥९-१०॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में भारत में मुसलमानों का राज्य था और साथ-साथ उनके मजहब का भी दबदबा था। इधर हिन्दुओं का देश यह है ही। हिन्दू पंडित अपने

सम्प्रदाय में दृढ़ थे। दोनों में काफी खींचतान चलती थी। दोनों अपने-अपने सम्प्रदाय को ईश्वरीय तथा दूसरे को अनीश्वरीय सिद्ध कर रहे थे। दोनों ईश्वर के भक्त थे और दोनों दोनों के विरोधी थे। एक अल्लाह कहता दूसरा ईश्वर कहता, एक राम कहता दूसरा रहीम कहता। वे दोनों एक दूसरे के शब्दों को नहीं सह पाते थे। हिन्दुओं को अल्लाह शब्द सहन नहीं था तथा मुसलमानों को ईश्वर या राम शब्द सहन नहीं था।

हिन्दू कह रहा था परमसत्ता वह है जिसने वेद भेजे हैं, जो राम-कृष्ण रूप में खुद आया है और हिन्दू-शास्त्र ही उसके आदेश हैं। मुसलमान कह रहा था कि परमसत्ता वह है जिसने कुरान भेजा है, इसलाम दिया है तथा मुहम्मद को भेजा है। कुरान ही उसका आदेश है। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर कह रहे थे तथा हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ। एक दूसरे को न समझ कर एक दूसरे के विरोधी बन रहे थे। कबीर साहेब ने कहा कि यदि जगत का कोई मालिक होगा तो एक ही होगा, दो तो नहीं होगा। भले, उसे हम अपनी-अपनी भाषा में ईश्वर या अल्लाह तथा राम या रहीम कह लें, परन्तु यह केवल शब्द एवं भाषा का ही अन्तर होगा, तथ्य का नहीं। जैसे एक ही वस्तु को संस्कृत में जल, हिन्दी में पानी, फारसी में आब, बंगला में जॉल तथा इंगलिश में वाटर कहते हैं, वैसे ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि शब्दों की बात है।

जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता में उसके अपने गुण-धर्म एवं नियम अंतर्निहित हैं। इस विश्वसत्ता के अपने अतंर्निहित नियमों से विश्व निरंतर चल रहा है। इस तथ्य को न समझकर संसार के भावुकों ने अपने-अपने अलग ढंग से जगत का संचालक, पालक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना की है। उस ईश्वर को लोगों ने इतनी स्थूलबुद्धि से गढ़ा है कि उसने अपने आदेश अमुक किताब के जरिये भेजे हैं, उसने अपने दूत, पुत्र या अवतार भेजे हैं, उसने अपने नियम एवं भाषा भेजी है। सचाई यह है कि सभी ईश्वरवादियों ने अपने बनाये किताब, मजहब एवं अपने माने हुए महापुरुष पर तथाकथित ईश्वर की मोहर मारी है जिससे यह सब जनता में सर्वमान्य हो जाय। नाना मतों-द्वारा मानो ईश्वर को गढ़ा ही इसलिए गया है कि उसके नाम पर सही बातों के साथ-साथ ऊलजलूल बातें भी चलायी जा सकें।

प्रकाश की गति एक सेकेण्ड में तीन लाख किलोमीटर है; और ऐसे भी तारे है जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायं। परन्तु वही तारा तो संसार का अंत एवं छोर नहीं है। वस्तुतः देश और काल दोनों ही अनन्त हैं। न काल की कोई सीमा है और न देश—शून्याकाश तथा उसमें फैले जड़ द्रव्यों की। हम अनन्त देश-काल-व्यापी विश्व को सोच भी नहीं सकते हैं। अर्थात हमारे मन में अनन्त देश-काल आ भी नहीं सकते, और ऐसे अनन्त विश्व को कोई वेद भेजने वाले ईश्वर से, कोई कुरान भेजने वाले ईश्वर से तथा कोई अन्य ईश्वर से शासित मानता है। जबकि उनकी किताबें एक क्षेत्र एवं काल की चीजें हैं। विश्व तथा उसमें अंतर्निहित उसके नियम दोनों ही अनादि हैं। ईश्वर-अल्लाह आदि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पनाएं एवं किताबें सब बीच की हैं। संसार के लोग संसार के नियमों का अध्ययन नहीं करते जो सबके लिए एक है, किन्तु स्थूलबुद्धि से पैदा हुए ईश्वर-अल्लाह को लेकर आपस में सिरफुटव्वल कर रहे हैं।

संसार में जमीन, रुपये एवं स्त्री को लेकर इन्सान का जितना खून बहाया गया है, ईश्वर को लेकर उससे कम नहीं बहाया गया। यदि कहीं व्यक्ति-ईश्वर बैठा होता तो क्या अपने भक्तों को इतना भी नहीं रोकता कि वे इतनी मूर्खता का काम न करें। वस्तुतः व्यक्ति-ईश्वर कुछ नहीं, विश्व के अपने अनादि नियम हैं जो अनादि स्वचालित हैं। उन्हीं के तहत संसार की सारी क्रियाएं होती हैं। आदमी अपनी समझ से कर्म करता है और जैसा करता है वैसा भरता है। विश्व के नियम सबके लिए एक तुल्य हैं। आग सबको जलाती है, पानी सबको शीतल करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चांद, सूर्य, तारे सबके हैं। ये किसी मजहब या सम्प्रदाय के नहीं हैं। मनुष्यों के सुख-दुख, भूख-प्यास, मानसिक एवं शारीरिक व्याधियां एक तुल्य हैं। आवश्यकताएं सबकी एक तुल्य हैं। सबको भोजन, पानी, वस्त्र, आवास एवं औषध चाहिए। सबको एक दूसरे से प्रेम चाहिए। सबको मन की शांति प्रिय है। सबके भीतर एक ही समान ज्ञानमय चेतन एवं आत्मा विद्यमान है। अतएव यहां बीच की पैदा हुई मजहबी मान्यताओं को लेकर लड़ना एकदम बेवकूफी है। सबके भीतर रमने वाला चेतन ही राम है, अल्लाह है, ब्रह्म है। जरूरी है कि हम एक दूसरे से प्रेम करें, यही ईश्वर-भक्ति है। इसमें किसी मजहब एवं सम्प्रदाय की आवश्यकता नहीं है। वैसे मजहब एवं सम्प्रदाय अपनी जगह पर बने रहें, परन्तु वे मानवता का पाठ पढ़ाएं, साम्प्रदायिकता का नहीं। यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य सबसे बड़ा है।

"गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा। कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक निमाज एक पूजा।" सोना एक धातु है। उससे कंगन, कंठा, केयूर, करधन आदि अनेक गहने बनते हैं; परन्तु मूल में कोई अन्तर नहीं रहता। सब में सोना है। इसी प्रकार कोई नमाज पढ़ता है, कोई पूजा करता है, कोई प्रार्थना करता है। ये प्रकार का अन्तर हुआ। सबका सार हुआ मन को विषयों से हटाकर किसी पवित्र अवधारणा में लगाना, मन को कोमल एवं साफ बनाना। नमाज, पूजा एवं प्रार्थना करने के बाद यदि उनके करने वालों के मन पवित्र न हों, वे कोमल, सज्जन, ईमानदार एवं सदाचारी न हों तो उन्हें कोई अच्छा नहीं मानता। मूल्य पूजा, नमाज एवं प्रार्थना का नहीं है, मूल्य है मानवता का, इनसानियत का। आदमी कैसा पागल है वह पूजा, नमाज एवं प्रार्थना को भी लेकर लड़ता है। पूजा की शंखध्वनि से मुसलमानों की नमाज खराब होती है तथा मुसलमानों की अजान से हिन्दुओं की पूजा। विशाल हृदय अकबर कवि कहते हैं "मुझे हर दीन के ढंग पर प्रेममग्नता आती है। जब मैं मस्जिद में नमाज पढ़ता हूं उस समय मन्दिर की शंखध्वनि सुनकर नाच उठता हूं।"[१]

"वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।" यहां महादेव और मुहम्मद के व्यक्तित्व की एकता की बात नहीं कही जा रही है। यदि महादेव कोई व्यक्ति थे तो वे मुहम्मद के हजारों वर्षों के पहले के होंगे। अतएव न दोनों का समय एक हो सकता है

---

१. आता है वज्द मुझको हर दीन की अदा पर।
मस्जिद में नाचता हूं नाकूस की सदा पर॥
वज्द = प्रेममग्नता। अदा = ढंग। नाकूस = शंख। सदा = शब्द।

और न व्यक्तित्व। यहां भावना की एकता की बात है। साहेब कहते हैं कि अपने इष्ट में श्रद्धा रखना अच्छी बात है, परन्तु दूसरों के इष्टों के प्रति भी यदि श्रद्धा रखी जाय तो हानि क्या है! यदि तुम महादेव के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो मुहम्मद को भी श्रद्धा की निगाह से देखो, और यदि तुम मुहम्मद के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो महादेव के प्रति भी श्रद्धा रखो। ब्रह्मा और आदम की प्रतीकात्मक एकता भी सम्भव हो सकती है। सामी[१] मजहबों में आदम तथा ब्राह्मण-परम्परा में ब्रह्मा सृष्टि के जनक के प्रतीक हैं। ये दोनों ही कोई व्यक्ति नहीं हो सकते, किन्तु केवल प्रतीक हैं। परन्तु प्रतीक की भावनात्मक एकता स्वाभाविक है। ब्रह्मा भी सृष्टि करता है और आदम भी, तो नाम दो हैं, सत्ता दो नहीं है। अतः आदम और ब्रह्मा दोनों में श्रद्धा रखो।

"को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।" सभी मनुष्य एक जमीन पर रहते हैं, फिर उनमें कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र, कौन इसाई है और कौन पारसी! ये सब नाम-रूप तो मानव की बनायी काल्पनिक सीमाएं हैं। मनुष्य कैसा पागल है वह भिन्न-भिन्न नाम रख लेने के कारण एक दूसरे से अपने आपको दूर मानने लगा है। देखो न, एक वेद-पुराण पढ़ता है और पंडित कहलाता है, एक कुरान पढ़ता है और मौलवी कहलाता है, एक बाइबिल पढ़ता है और पादरी या फादर कहलाता है, परन्तु सबका अर्थ एक है—धार्मिक विद्वान। सब तो एक मिट्टी के बरतन हैं। इनमें मौलिक अन्तर क्या है? केवल नाम का अन्तर है। लोग एकता में अनेकता देखने के आदी हो गये हैं, वे अनेकता में एकता देखने पर ध्यान ही नहीं देते। बाहरी नाम-रूप की अनेकता होते हुए भी सबके भीतर तो वही जड़-चेतन की समान स्थिति है। सबको भूख-प्यास लगती है। सबको जल-भोजन लेने पर तृप्ति होती है। सबके भीतर मानसिक विकार हैं। सबको शांति तभी मिलती है जब उनके मनोविकार दूर हों। सारी बातों में तो एकता है। इस अनेकता में एकता के सूत्र को देखना चाहिए। कोई राम कहा, कोई रहीम कहा, तो इसमें क्या अन्तर हो गया!

दोनों की महती भूल यह है कि एक देवी-देवता के नाम पर बकरा, मुरगा, सूअर आदि निरीह प्राणियों का वध करता है और दूसरा ईश्वर को खुश करने के लिए गाय, ऊंट, बकरे आदि काटता है। इन भले मनुष्यों को इतनी भी समझ नहीं आ रही है कि जो देवी-देवता एवं ईश्वर-ब्रह्म होंगे वे क्या इतने निर्दय होंगे कि वे अपने भक्तों द्वारा जीव-हत्या करने में आनन्द मानते होंगे! किसी को पीड़ा देने से यदि कोई खुश होता है तो वह देवता है कि राक्षस एवं भगवान है कि शैतान! वस्तुतः यह दोष न देवता का है न भगवान का। वे तो बेचारे काल्पनिक हैं। दोष तो है इनसान का, जिसकी जीभ प्राणियों के मांस खाने के लिए लपलपा रही है। इसलिए वह धार्मिक ढोंग बनाकर उसे खाना चाहता है। जीव-हत्या तथा मांसाहार दोनों ही हिंसक जानवरों का काम है। स्वार्थी

---

१. **साम**—अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं। नूह के बड़े पुत्र का नाम 'साम' था। अरब, यहूदी, मिस्री आदि इन्हीं की संतान माने जाते हैं। इसलिए इन्हें सामी कहते हैं।

आदमी ने अपने दोषों को ढकने के लिए उसे धर्म का जामा पहना दिया है। उसने जीव-हत्या करते समय काल्पनिक देव एवं ईश्वर का नाम ले लिया तथा मांस को प्रसाद कह दिया। इस प्रकार यह चतुर बना मनुष्य धार्मिक भी बना रहा और अपनी हिंस्र प्रवृत्ति का पोषण भी करता रहा। ऐसे लोग राम-रहीम के ज्ञान से तथा उसकी स्थिति से दूर ही बने रहते हैं।

अविवेक से उलटी गति

शब्द–३१

हंसा संशय छूरी कुहिया, गइया पीवै बछरुवै दुहिया॥ १ ॥
घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई॥ २ ॥
पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई॥ ३ ॥
धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ॥ ४ ॥
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ॥ ५ ॥
जौलौं कर डोले पगु चाले, तौलौं आश न कीजे॥ ६ ॥
कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे॥ ७ ॥

शब्दार्थ—हंसा = हंस, जीव। कुहिया = कत्ल किया। गइया = माया। बछरुवै = बछड़ा, जीव। घर-घर = घट-घट, हर दिल में। सावज = पशु, जिसका शिकार किया जाय, मन। पारथ = पारधी, शिकारी, जीव। ओटा = परदा, सहारा। पानी = जल, शीतल आत्मा। भुँभरी = तप्त बालुका, मनोवृत्ति। धूरि = धूल, कल्पनाएं। धरती = बुद्धि। बादर = बादल, जीव। भीट = भीटा, टीला। पौराऊ = तैरने योग्य। हंस = जीव। ताल = शरीर। चहले = कीचड़, वासना। बिन्दा = बिंध गया, फंस गया। पाऊ = पैर, लक्ष्य।

भावार्थ—संशय की छूरी मनुष्य का वध करती है। आश्चर्य है कि गाय पीती है और बछड़ा दुहा जाता है। अर्थात माया जीव के ज्ञान का दोहन कर उसे निस्तेज बनाती है॥१॥ शिकार-पशु घर-घर में जाकर आखेट करता है और शिकारी भागकर किसी परदे की आड़ में छिपता है। अर्थात हर दिल में मन जीव का शिकार करने के लिए उस पर हमला करता है और जीव देवी-देवताओं का सहारा लेकर बचना चाहता है॥२॥ शीतल पानी में तप्त बालुका पीड़ित होकर तलमला उठी और धूल में तरंगें उठने लगीं। अर्थात शीतल आत्मा के साथ रहते हुए भी मनोवृत्ति अज्ञानवश निरन्तर जल रही है, और धूलवत तुच्छ कल्पनाएं तरंगें मार रही हैं॥३॥ धरती बरसती है, बादल भीगते हैं और ऊंचे टीले भी पानी में डूब जाने के कारण तैरने योग्य हो गये हैं। अर्थात कल्पनाओं का आधार बुद्धि है वह नाना कल्पनाओं की वर्षा कर रही है और जीव उसमें उमड़-घुमड़कर भीग रहे हैं। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी डूब गये हैं, अतः उनसे भी हटने योग्य हो गया है॥४॥ पहले हंस उड़ गये, तब ताल सूख गया, परन्तु हंस के पैर ताल के कीचड़ में फंस गये। अर्थात जीव शरीर को छोड़कर चल दिया, तब शरीर मुरझा गया। परन्तु जीव का लक्ष्य वासना में फंस गया॥५॥ जब तक हाथ-पैर चलते हैं तब तक किसी की आशा मत

करो। अथवा जीवनपर्यंत आशा-वासना से मुक्त रहो ।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि जो माया जीव के साथ में अंततः नहीं चलती, बात से भी उसका आदर क्यों किया जाय! अथवा जो व्यक्ति पवित्र रहनी में नहीं चलता उसकी बातों पर कैसे विश्वास किया जाय! ।।७।।

व्याख्या—इस मानव-जीव में विवेक के बीज हैं। यह मूलतः विवेकी है। इसलिए सद्गुरु ने इसे नीर-क्षीर-विवेकी के प्रतीक हंस शब्द से व्यक्त किया है। परन्तु दुख यह है कि इसने अपने विवेक का उद्घाटन नहीं किया। इसलिए यह संशय की छूरी से निरन्तर रेता जा रहा है। संशय कहते हैं सन्देह एवं अनिश्चय को। मैं शरीर हूं कि शरीर से भिन्न हूं, अविनाशी हूं कि नाशवान हूं, जड़ हूं कि चेतन हूं, किसी का अंश हूं कि स्वतः हूं, अपूर्ण हूं कि पूर्ण हूं, बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी कि मैं स्वभावतः तृप्त हूं इत्यादि आध्यात्मिक संशय हैं। जगत स्वतः स्वचालित है कि इसका कोई चलाने वाला है, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र सत्य हैं कि झूठे हैं आदि आधिदैविक संशय हैं। जीवन का गुजर कैसे होगा, जीवन-निर्वाह का धंधा बना रहेगा कि छुट जायेगा, परिवार के लोग एवं मित्रजन साथ देंगे कि धोखा दे देंगे, शरीर के रोगी एवं बूढ़ा होने पर इसकी सेवा कौन करेगा इत्यादि आधिभौतिक संशय हैं। उपर्युक्त संशयों की छूरी से मनुष्य सदैव रेता जा रहा है।

इसलिए गाय पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। यहां कबीर साहेब की प्रसिद्ध उलटवांसी शैली का प्रयोग है। संसार में देखा जाता है कि बछड़ा गाय का दूध पीता है और गाय दुही जाती है। परन्तु यहां उलटा है। गाय ही पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। गाय माया है, बछड़ा जीव है। माया जीव को पीती है, अर्थात माया जीव का शोषण करती है और जीव के ज्ञान-विवेक का दोहन हो रहा है। माया में आसक्त होकर संसार के नर-नारी आध्यात्मिक शक्ति से निस्तेज होते हैं। संशय एवं अज्ञान से घायल मनुष्य विषयासक्ति रूपी माया का गुलाम होता है। वह निरन्तर विषयासक्ति में पड़ कर निचुड़ जाता है।

"घर-घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई।" सावज वह पशु है जिसका शिकार किया जाता है जैसे हिरन, खरगोश आदि और पारथ पारधी का टुटा हुआ रूप है जिसका अर्थ है शिकारी। संसार में शिकारी पशुओं का शिकार करने के लिए वन में घूमता है और पशु भाग-भागकर तथा झुरमुट की आड़ लेकर बचने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यहां उलटा है। यहां वन में आखेट नहीं खेला जाता। यहां तो घर-घर में आखेट चलता है। वह घर है मनुष्य का हृदय। मन पशु एवं शिकार है, जिसे जीव शिकारी बनकर मार सकता है। परन्तु जीव के अविवेक से दशा उलटी हो गयी है। मन ही हर दिल में जीव पर हमला कर उसका शिकार कर रहा है। मन ही शिकारी बन गया तथा जीव शिकार। जीव मन के हमले से बचने के लिए देवी-देवताओं तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं का आधार पकड़ता है, जो एक धोखा है। जीव को मन का ही अध्ययन करना होगा, मन को समझना होगा और विचारपूर्वक मन को शिकार बनाना होगा।

"पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई।" भुँभुरी कहते हैं धूप से गरम धूल या बालू को। गरम बालू शीतल पानी में पड़ने से शीतल हो जाती है, परन्तु यहां तो वह

आदमी ने अपने दोषों को ढकने के लिए उसे धर्म का जामा पहना दिया है। उसने जीव-हत्या करते समय काल्पनिक देव एवं ईश्वर का नाम ले लिया तथा मांस को प्रसाद कह दिया। इस प्रकार यह चतुर बना मनुष्य धार्मिक भी बना रहा और अपनी हिंस्र प्रवृत्ति का पोषण भी करता रहा। ऐसे लोग राम-रहीम के ज्ञान से तथा उसकी स्थिति से दूर ही बने रहते हैं।

अविवेक से उलटी गति

शब्द—३१

हंसा संशय छूरी कुहिया, गइया पीवै बछरुवै दुहिया॥ १ ॥
घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई॥ २ ॥
पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई॥ ३ ॥
धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ॥ ४ ॥
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ॥ ५ ॥
जौलौं कर डोले पगु चाले, तौलौं आश न कीजे॥ ६ ॥
कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे॥ ७ ॥

शब्दार्थ—हंसा = हंस, जीव। कुहिया = कत्ल किया। गइया = माया। बछरुवै = बछड़ा, जीव। घर-घर = घट-घट, हर दिल में। सावज = पशु, जिसका शिकार किया जाय, मन। पारथ = पारधी, शिकारी, जीव। ओटा = परदा, सहारा। पानी = जल, शीतल आत्मा। भुँभरी = तप्त बालुका, मनोवृत्ति। धूरि = धूल, कल्पनाएं। धरती = बुद्धि। बादर = बादल, जीव। भीट = भीटा, टीला। पौराऊ = तैरने योग्य। हंस = जीव। ताल = शरीर। चहले = कीचड़, वासना। बिन्दा = बिंध गया, फंस गया। पाऊ = पैर, लक्ष्य।

भावार्थ—संशय की छूरी मनुष्य का वध करती है। आश्चर्य है कि गाय पीती है और बछड़ा दुहा जाता है। अर्थात माया जीव के ज्ञान का दोहन कर उसे निस्तेज बनाती है।।१।। शिकार-पशु घर-घर में जाकर आखेट करता है और शिकारी भागकर किसी परदे की आड़ में छिपता है। अर्थात हर दिल में मन जीव का शिकार करने के लिए उस पर हमला करता है और जीव देवी-देवताओं का सहारा लेकर बचना चाहता है।।२।। शीतल पानी में तप्त बालुका पीड़ित होकर तलमला उठी और धूल में तरंगें उठने लगीं। अर्थात शीतल आत्मा के साथ रहते हुए भी मनोवृत्ति अज्ञानवश निरन्तर जल रही है, और धूलवत तुच्छ कल्पनाएं तरंगें मार रही हैं।।३।। धरती बरसती है, बादल भीगते हैं और ऊंचे टीले भी पानी में डूब जाने के कारण तैरने योग्य हो गये हैं। अर्थात कल्पनाओं का आधार बुद्धि है वह नाना कल्पनाओं की वर्षा कर रही है और जीव उसमें उमड़-घुमड़कर भीग रहे हैं। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी डूब गये हैं, अतः उनसे भी हटने योग्य हो गया है।।४।। पहले हंस उड़ गये, तब ताल सूख गया, परन्तु हंस के पैर ताल के कीचड़ में फंस गये। अर्थात जीव शरीर को छोड़कर चल दिया, तब शरीर मुरझा गया। परन्तु जीव का लक्ष्य वासना में फंस गया।।५।। जब तक हाथ-पैर चलते हैं तब तक किसी की आशा मत

करो। अथवा जीवनपर्यंत आशा-वासना से मुक्त रहो॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो माया जीव के साथ में अंततः नहीं चलती, बात से भी उसका आदर क्यों किया जाय! अथवा जो व्यक्ति पवित्र रहनी में नहीं चलता उसकी बातों पर कैसे विश्वास किया जाय!॥७॥

व्याख्या—इस मानव-जीव में विवेक के बीज हैं। यह मूलतः विवेकी है। इसलिए सद्गुरु ने इसे नीर-क्षीर-विवेकी के प्रतीक हंस शब्द से व्यक्त किया है। परन्तु दुख यह है कि इसने अपने विवेक का उद्घाटन नहीं किया। इसलिए यह संशय की छूरी से निरन्तर रेता जा रहा है। संशय कहते हैं सन्देह एवं अनिश्चय को। मैं शरीर हूं कि शरीर से भिन्न हूं, अविनाशी हूं कि नाशवान हूं, जड़ हूं कि चेतन हूं, किसी का अंश हूं कि स्वतः हूं, अपूर्ण हूं कि पूर्ण हूं, बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी कि मैं स्वभावतः तृप्त हूं इत्यादि आध्यात्मिक संशय हैं। जगत स्वतः स्वचालित है कि इसका कोई चलाने वाला है, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र सत्य हैं कि झूठे हैं आदि आधिदैविक संशय हैं। जीवन का गुजर कैसे होगा, जीवन-निर्वाह का धंधा बना रहेगा कि छुट जायेगा, परिवार के लोग एवं मित्रजन साथ देंगे कि धोखा दे देंगे, शरीर के रोगी एवं बूढ़ा होने पर इसकी सेवा कौन करेगा इत्यादि आधिभौतिक संशय हैं। उपर्युक्त संशयों की छूरी से मनुष्य सदैव रेता जा रहा है।

इसलिए गाय पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। यहां कबीर साहेब की प्रसिद्ध उलटवांसी शैली का प्रयोग है। संसार में देखा जाता है कि बछड़ा गाय का दूध पीता है और गाय दुही जाती है। परन्तु यहां उलटा है। गाय ही पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। गाय माया है, बछड़ा जीव है। माया जीव को पीती है, अर्थात माया जीव का शोषण करती है और जीव के ज्ञान-विवेक का दोहन हो रहा है। माया में आसक्त होकर संसार के नर-नारी आध्यात्मिक शक्ति से निस्तेज होते हैं। संशय एवं अज्ञान से घायल मनुष्य विषयासक्ति रूपी माया का गुलाम होता है। वह निरन्तर विषयासक्ति में पड़ कर निचुड़ जाता है।

"घर-घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई।" सावज वह पशु है जिसका शिकार किया जाता है जैसे हिरन, खरगोश आदि और पारथ पारधी का टुटा हुआ रूप है जिसका अर्थ है शिकारी। संसार में शिकारी पशुओं का शिकार करने के लिए वन में घूमता है और पशु भाग-भागकर तथा झुरमुट की आड़ लेकर बचने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यहां उलटा है। यहां वन में आखेट नहीं खेला जाता। यहां तो घर-घर में आखेट चलता है। वह घर है मनुष्य का हृदय। मन पशु एवं शिकार है, जिसे जीव शिकारी बनकर मार सकता है। परन्तु जीव के अविवेक से दशा उलटी हो गयी है। मन ही हर दिल में जीव पर हमला कर उसका शिकार कर रहा है। मन ही शिकारी बन गया तथा जीव शिकार। जीव मन के हमले से बचने के लिए देवी-देवताओं तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं का आधार पकड़ता है, जो एक धोखा है। जीव को मन का ही अध्ययन करना होगा, मन को समझना होगा और विचारपूर्वक मन को शिकार बनाना होगा।

"पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई।" भुँभुरी कहते हैं धूप से गरम धूल या बालू को। गरम बालू शीतल पानी में पड़ने से शीतल हो जाती है, परन्तु यहां तो वह

और भी तलमला उठी। मनुष्य की शुद्ध आत्मा स्वभाव से शीतल है, परन्तु उसमें रहकर भी मनोवृत्ति जलती रहती है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चेतन स्वरूप स्वरूपतः शुद्ध है। शुद्ध होने से मौलिक रूप में शीतल, शांत एवं कल्याणमय है, परन्तु इस प्रकार जीव को स्वरूपज्ञान नहीं है। इसलिए उसकी मनोवृत्ति अनेक चिंताग्नि में निरन्तर जलती है। "धूरि हिलोरा देई" यहां मन की कल्पनाएं धूल हैं। मन में तुच्छ कल्पनाएं उठती रहती हैं। बूढ़ा आदमी भी बाइस वर्ष का नौजवान होने की, निर्धन धनी होने की तथा अकिंचन सम्पन्न होने की कल्पना करता रहता है। ये कल्पनाएं कितनी तुच्छ हैं। इसलिए सद्गुरु ने इन्हें धूल शब्द से याद किया है। मन में अनहोनी कल्पनाएं उठती हैं तो मानो धूल में तरंगें उठ रही हैं।

"धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ।" संसार में बादल बरसते हैं और धरती भीगती है। परन्तु यहां इसमें भी उलटा है। यहां धरती बरसती है तथा बादल भीगते हैं। जैसे धरती सबका आधार है, वैसे बुद्धि ही कल्पनाओं एवं कर्मों का आधार है। बुद्धि शुद्ध हो तो उससे विवेकज्ञान उत्पन्न होने में सहायता मिलती है, और यदि बुद्धि अशुद्ध है तो उससे अनेक बुरी बातें पैदा होकर जीव उसी में भीग जाता है। अतएव अशुद्ध बुद्धि रूपी धरती अनेक अज्ञान एवं कल्पनाओं की बारिश कर रही है और जीव रूपी बादल उसमें भीग रहे हैं। अभिप्राय है कि मनुष्य अपनी दुर्बुद्धि में तरबतर है। "भीट भये पौराऊ" भीट मिट्टी के ऊंचे टीले को कहते हैं। पानी इतना बरसा कि ऊंचा भीटा भी उसमें डूब गया। वह भी तैरने योग्य हो गया। अभिप्राय है कि दुर्बुद्धि की बारिश में बड़े-बड़े कहलाने वाले भी डूब जाते हैं, इसलिए दुर्बुद्धिग्रस्त बड़े कहलाने वालों से भी सावधान रहने की, उनसे बचे रहने की आवश्यकता होती है। आदमी विद्या, धन, नाम आदि में बड़ा है कि छोटा यह नहीं देखना चाहिए, किन्तु यह देखना चाहिए कि वह विवेकसम्पन्न है या अविवेकी। सदैव अविवेकियों से दूर तथा विवेकवान के हुजूर रहना चाहिए।

"हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ।" संसार में ताल सूखने पर हंस उड़ जाते हैं, परन्तु यहां हंस के उड़ने पर ताल सूखता है। अर्थात जब जीव शरीर को छोड़कर चल देता है, तब शरीर तुरन्त मुरझा जाता है। हंस के उड़ जाने के बाद उसके पैर ताल के कीचड़ में फंस जाने की बात भी अचरज भरी है। परन्तु समझने में बिलकुल ठीक है। जीव शरीर को छोड़कर चल देता है, परन्तु अपने अज्ञानवश उसका लक्ष्य शरीरासक्ति में फंसा रहता है। अर्थात शरीर छोड़ते समय वह शरीर की वासना को नहीं छोड़ पाता, किन्तु वासना को लेकर जाता है। उसका लक्ष्य रूप पैर मानो देहाध्यास के कीचड़ में फंसा हुआ ही रहता है। जिंदगी की यही तो सबसे बड़ी हार है। शरीर तथा संसार को छोड़ने के पहले ही इनकी वासनाएं तथा मोह छोड़ देना जीवन्मुक्ति है। यही जीवन में विजय है। वासनाहीन जीवन ही निर्भय, स्वस्थ, प्रसन्न एवं अनन्त शांति का भंडार होता है। परन्तु मनुष्य इस दिशा में न चलकर वासनाओं में भटक जाता है।

"जौलौं कर डोले पगु चालै, तौलौं आश न कीजे।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझना चाहिए। पहला ढंग है कि मनुष्य को चाहिए कि जब तक अपना बल चले वह दूसरों के सहारे की आशा न करे, सब समय स्वावलम्बी बने रहने का प्रयत्न रखे।

पराश्रित होना अपने आपको बेच देना है। स्वावलम्बन सच्चा सुख है तथा यही उन्नति का पथ है। यह अलग बात है कि आदमी सामाजिक प्राणी है, उसे दूसरों को सहारा देना पड़ता है तथा दूसरों से लेना पड़ता है। इससे कोई बच नहीं सकता। परन्तु इसका अर्थ परावलंबी होना नहीं है। यह तो आपसी लेन-देन है। किसी के ऊपर निर्भर हो जाना परावलंबी होना है। इससे बचना चाहिए। साहेब कहते हैं कि तुम अपनी जिम्मेदारी खुद सम्हालो, किसी पर बोझ न बनो।

उक्त पंक्ति को दूसरे ढंग से ऐसा समझना चाहिए कि जब तक हाथ-पैर चलते हैं, अर्थात जब तक जीवन है, संसार की सारी आशा-वासनाओं को छोड़कर रहो। पूरा जीवन वासनाहीन होकर बिता दो, तो यही तुम्हारा सर्वोच्च पद पर पहुंच जाना होगा। जीवन्मुक्त होने के लिए यही तो करना है कि जीवन भर आशा-वासना छोड़कर जीना, यह बड़ा सरल है। इसमें कोई कठिनाई नहीं। छूटने वाली चीजों की ही तो वासना छोड़नी है। जो अंततः छूटने वाला ही है उसकी आशा-वासना पहले से छोड़ देने पर यदि अमृत पद मिलता है तो यह काम समझदार के लिए बड़ा ही सुकर है। हम चाहे आशा-वासना छोड़ें या न छोड़ें, शरीर तथा संसार छूटेंगे ही, तो क्यों न उनकी आशा-वासना पहले छोड़ दें, जिसका फल सदा आनंद है—"सो जन सदा अनन्दा।"

"कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे।" सद्गुरु कहते हैं कि तन, धन, परिवार, मान, बड़ाई एवं समस्त मायावी पसारा तुम्हारे साथ चलने वाले नहीं हैं, फिर इनकी बात क्या ली जाय! अर्थात बात से भी इनकी क्या प्रशंसा की जाय! जो साथ में रहने वाला नहीं है, उसका मोह त्यागना ही बुद्धिमानी है। इस पंक्ति को दूसरे ढंग से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो पवित्र आचरणों एवं अच्छी रहनी में नहीं चलता उसकी बातों का क्या महत्व है! आचरणहीन कथक्कड़ी की संगत मत करो, किन्तु आचरण-सम्पन्न, रहनी के धनी संत-पुरुषों की संगत करो जिससे तुम्हें सत्प्रेरणा मिलती रहे।

यह पूरा शब्द उलटवांसी में व्यंग्यात्मक ढंग से कहा गया है जो बड़ा ही मार्मिक है। सद्गुरु ने इस शब्द के शुरू में ही मनुष्य को हंस कहकर उसकी मौलिक विवेकसंपन्नता की याद करायी है, परन्तु यह बताया है कि इस विवेक को न जगाने से ही मनुष्य भटक गया है और इसी के परिणाम में यह विपरीत दशा हो गयी है, बछड़े को गाय ही पी गयी, शिकारी को शिकार ही मार दिया, भुंभुरी पानी में ही तलफ गयी, धूल तरंगें मारने लगीं, धरती ने ही बरसकर बादल को भिगा दिया, हंस के उड़ जाने पर भी उसके पैर कीचड़ में फंस गये। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि परावलंबन छोड़ो, संसार की आशा-वासना छोड़ो, और अपने विवेक को जाग्रत कर अपना कल्याण करो।

भ्रामक गुरुओं का परदाफाश एवं युगों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द–३२

हंसा हो चित चेतु सकेरा, इन्ह परपंच कैल बहुतेरा॥ १ ॥
पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा॥ २ ॥

घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै विचारा॥ ३ ॥
भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा॥ ४ ॥
आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिन्हुँ न मानल कहा हमारा॥ ५ ॥
कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा॥ ६ ॥
ये कलि गुरू बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा॥ ७ ॥
वेद कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा॥ ८ ॥
कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावनहारा॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सकेरा = जल्दी। इन्ह = भ्रामक गुरुओं ने। पाखण्ड = छल, दिखावा, बनावटी। खसम = मालिक। धौं = भला। आगे = भूतकाल के। बिसरे = भूलना।

भावार्थ—हे विवेकवान मानव! तू शीघ्र सावधान हो जा। इन वंचक गुरुओं ने अनेक प्रकार के धोखे का जाल फैला रखा है॥१॥ इन्होंने छलावा का रूप त्रिगुण कर्मकांड खड़ा किया है, इस छलावा में सारा संसार भूल गया है॥२॥ घर का मालिक और देश का राजा यदि बधिक बन जाय तो बेचारे परिवार तथा देश के लोग क्या कर सकते हैं! इसी प्रकार यदि गुरु लोग ही जनता को धोखे में फंसाते हों तो प्रजा की दशा क्या होगी, यह सहज समझा जा सकता है॥३॥ ये तथाकथित गुरु लोग भक्ति नहीं जानते, परन्तु भक्त कहलाते हैं। इन्होंने आत्मज्ञान का अमृत छोड़कर अंधविश्वास रूपी विष को ही सत्य मान लिया है॥४॥ भूतकाल के भी कितने बड़े-बड़े कहलाने वाले इसी प्रकार धोखे की धारा में डूब चुके हैं, क्योंकि उन्होंने भी समसामयिक सत्यपथ-प्रदर्शकों की राय नहीं मानी थी॥५॥ मेरी बातों को अपने पल्ले मजबूती से बांध लो और इन वंचकों से रात-दिन सावधान रहो॥६॥ ये कलियुगी गुरु बड़े जालसाज हैं, इन्होंने ठगाई विद्या का जाल डालकर सारे संसार को फंसा लिया है॥७॥ इन्होंने वेद और किताब से सार नहीं लिया है, किन्तु उनके दो जाल फैला रखे हैं जिनमें दूसरों को फंसाते हैं, और ये बेचारे स्वयं भी उनमें उलझे हैं॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे विवेकवान इनमें नहीं भूलेंगे जिनको इन बंधनों से छुड़ाने वाले सच्चे गुरु मिल गये हैं॥९॥

व्याख्या—इस पूरे पद का भाव भ्रामक गुरुओं को दृष्टिगत रखते हुए कहा गया है जो अत्यन्त विदग्धात्मक है। गुरु के नाम पर पाखण्ड करने वाले समसामयिक लोगों को देखकर कबीर साहेब का मन कितना पीड़ित हुआ होगा यह इन जैसे पदों से सहज समझा जा सकता है। उस समय आज-कल से भी ज्यादा पाखण्ड था। जब आज इस वैज्ञानिक युग में हम देखते हैं कि नकली गुरुओं की भरमार है और वे कर्मकांड, अधंविश्वास, मंत्र-तंत्र तथा झूठे आश्वासनों में जनता को फंसाकर उनका वंचन करते हैं तो कबीर साहेब के काल में तो यह सब अधिक ही रहा होगा। परन्तु ध्यान रहे, कबीर साहेब जैसे संतों की चेतावनी आज भी इस विषय में उतनी ही प्रासंगिक है जितनी तब थी; क्योंकि आज भी धर्म के नाम पर लोगों को धोखे में रखकर उनसे अपना भौतिक स्वार्थ साधने वाले सक्रिय हैं।

कबीर साहेब मनुष्य को हंस कहकर उसके मौलिक विवेक की याद दिलाते हैं और कहते हैं कि तुम शीघ्र सावधान हो जाओ। इन पाखण्डी गुरुओं ने तुम्हें फंसाने के लिए बड़ा-बड़ा प्रपंच फैला रखा है। कहीं तो ये अपने आशीर्वाद मात्र से तुम्हें पुत्र, धन, निरोग्यता, विजय, पद, सम्मान सब कुछ दे देने का झांसा करते हैं। कहीं मंत्र-तंत्र के जाल में फंसा कर तुम्हें भोग-मोक्ष देने के लिए तैयार बैठे हैं। कहीं तथाकथित अवतार या सिद्ध बनकर तुम पर हावी होना चाहते हैं। कहीं चमत्कार की जालसाजी कर तुम्हें छलना चाहते हैं। इसलिए ऐसे वंचकों से सदैव सावधान रहो।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा।" इन्होंने त्रिगुणात्मक कर्मकांड का छलावा रूप खड़ा किया है जिसमें संसार के लोग भूल गये हैं। यह यज्ञ करो तो पुत्र की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो राज्य की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो शत्रु का नाश होगा, यह यज्ञ करो तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस ढंग के बहुत झांसे हैं जिनमें जनता भटक गयी है। निर्दोष नवजात शिशु को सत्तइसा एवं मूलगड़ंत आदि काल्पनिक भयंकर दोषों में बताकर उनके निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालते हैं और जनता से धन ऐंठते हैं। किसी के ऊपर अन्य प्रकार की आपत्ति-विपत्ति बताकर उसके निवारण के लिए मन्त्र-जप तथा दक्षिणा का चक्कर डालकर उन्हें बेवकूफ बनाते हैं।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण" त्रिगुण का अर्थ है सत, रज एवं तम गुण। इसका तात्पर्य हुआ मायावी। जितने कर्मकांड हैं सब त्रिगुण में लिप्त एवं मायावी हैं। इसके विषय में गीता में श्रीकृष्ण के मुख से भी कहलवाया गया है। "श्रीकृष्ण गोपालक थे, हिंसामय यज्ञ के विरोधी थे। उन्होंने इंद्र का विरोध किया था।"[१] इन सब बातों को मन में रखकर गीताकार ने श्रीकृष्ण का स्वर गीता में उभारा है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"हे अर्जुन! जो अज्ञानी हैं, वेदों के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे इस प्रकार की सेमलफूल-जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बतलाती हैं। उपर्युक्त वेदवाणी-द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है। अतएव हे अर्जुन ! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपमग्न हो जा।"[२] मुंडक उपनिषद् में यज्ञ को टूटी नावका बताया गया है जो अपने

---

१. ऋग्वेद ८/८५/१३-१५।
सर राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ७९, सन् १९६६ ई०।
अभिलाष दास, गीतासार, आलोचना भाग, संदर्भ: क्रांतिकारी महाराज कृष्ण।

२. गीता २/४२-४५।

पुरोहित तथा यजमान को लेकर डूबती है।[1] यज्ञ एवं कर्मकांड से सब कुछ पाने की आशा रखने वालों को मूर्ख, मिथ्या पंडित तथा अंधे को अंधा चलाने वाला बताया गया है।[2]

सद्गुरु कहते हैं कि यह त्रिगुण कर्मकांड का जाल पाखण्डरूप अर्थात छलावारूप है। इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है। परन्तु "तेहि पाखण्ड भुलल संसारा" इस पाखण्ड में संसार के लोग भूले हैं; क्योंकि गुरुओं ने जनता को कर्मकांड तथा पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा दिया है।

"घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै बिचारा।" घर का मालिक तथा देश का राजा बधिक बन जाय तो परिवार तथा देश के लोग बेचारे क्या करेंगे! यही दशा गुरुओं की है। गुरु ही कल्याणकर्ता कहलाता है और यदि वही समाज को धोखे में डालकर अपना उल्लू सीधा करता हो तो समाज का कल्याण कैसे होगा!

कल्पित जड़ देवी-देवताओं की पूजा करके लोग कहते हैं कि हम भक्ति करते हैं। साहेब कहते हैं कि यह भक्ति नहीं है। अमृत और विष दो हैं। अमृत का ग्रहण तथा विष का त्याग भक्ति है। अमृत है व्यक्ति की अमर आत्मा और विष है जड़ासक्ति। लोग अपनी आत्मा की अवहेलना करते हैं और जड़ाध्यास को ग्रहण करते हैं तो यह कौन-सी भक्ति है! जिसके परिणाम में बाह्य जड़ भास-अध्यास का त्याग होकर निजस्वरूप चेतन में स्थिति हो, वही सच्ची भक्ति है और जिसमें साधक निजस्वरूप से बे-भान होकर बाहरी कल्पनाओं में ही भटकता है वह भक्ति नहीं कही जा सकती । इसीलिए सद्गुरु ने कहा "भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।" निज चेतन स्वरूप अमृत है और निजस्वरूप से जो कुछ अलग है वह विजाति है, जड़ है एवं विष है। भूले गुरुओं ने अमृतरूप निजस्वरूप का विचार त्याग कर दिया है, और केवल जड़ देवी-देवताओं तथा परोक्ष मान्यताओं में स्वयं उलझ रहे हैं तथा दूसरों को उलझा रहे हैं, जो विषवत है। भक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन। इसका अर्थ है

---

१. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ *(मुंडक उपनिषद् १/७)*

अर्थात यह यज्ञ रूपी बेड़ा निश्चित ही कमजोर है। इसमें यज्ञ कराने वाले ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु ये चार तथा इनके तीन-तीन सहायक और यज्ञ करने वाले यजमान दोनों प्राणी—इन अठारहों के हीन कर्म हैं। मूर्ख लोग इसी को कल्याणकारी मान लेते हैं जबकि इससे जरा-मृत्यु तथा जन्म-मरण की ही प्राप्ति होती है।

२. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ *(मुंडक उपनिषद् १/८)*

अज्ञान में पड़े हैं परन्तु अपने आपको बहुत बड़ा पंडित मानते हैं। ऐसे मूर्ख लोग तो जैसे अंधा अंधे को चलाये वैसे एक दूसरे को ठेलते हुए चलते हैं तथा ठोकरें खाते हैं।

विवेकद्वारा अपने आपको जड़देहादि से अलग समझकर असंगभाव में स्थित हो जाना। यही सच्ची भक्ति है।

"आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुँ न मानल कहा हमारा।" पहले के बड़े-बड़े लोग भी इसी तरह निजस्वरूप बोध छोड़ विजाति मान्यताओं में डूब कर जीवन खो दिये हैं। उन्होंने भी मेरी बातें नहीं मानी। यदि इसी प्रकार सीधा अर्थ किया जाय तो पौराणिक कबीरपंथियों को अपनी मान्यता स्थापित करने में सरलता होगी कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर— इन चार नामों से आते और जनता को उपदेश करते रहते हैं। परन्तु जहां कबीर गुरुओं के पाखण्ड का तीव्र रूप से खंडन करते हैं वहां वे स्वयं अपने लिए पाखंड की बात कैसे कर सकते हैं! कबीर का पाखंड से तो कोई समझौता ही नहीं हो सकता है। कबीर पाखंड के घोर विरोधी हैं। अतएव "तिनहुँ न मानल कहा हमारा" में 'हमारा' शब्द पूर्व के यथार्थ गुरुओं के लिए है। कबीर साहेब कहना चाहते हैं कि हम-जैसे विचारक पहले भी रहे, लोग उनकी बातों पर न ध्यान देकर जड़ एवं परोक्ष मान्यताओं में भटकते रहे।

पहले भी स्वतन्त्र विचारक थे। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर आदि स्वतन्त्र चिंतक थे ही; वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि में जगह-जगह स्वतंत्र चिंतन के बीज मिलते हैं। हम पीछे उपनिषद् के दो उदाहरण देख ही लिये हैं। महर्षि कपिल के विचार व्यक्त करते हुए श्री ईश्वरकृष्ण अपनी सांख्यकारिका में लिखते हैं "दृष्ट (लोक) के समान आनुश्रविक (सुने हुए वेदवचन = कर्मकांड) भी अशुद्धि, क्षय तथा अतिशय (विषमता) से पूर्ण होने के नाते दुखनिवृत्ति करने में असमर्थ हैं। उसके विपरीत "व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ" अर्थात दृश्य जड़ जगत, अदृश्य जड़ प्रकृति एवं ज्ञाता चेतन पुरुष का विवेकज्ञान दुखनिवृत्ति करने में समर्थ है।"[१] इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे संसार के सारे भोग नाशवान हैं वैसे वेदवचनों-द्वारा सुने गये सारे स्वर्गसुख भी नाशवान हैं। उन्हें पाने के लिए यज्ञ करने होते हैं जिनमें पशुवध होता है जो अशुद्धि है। स्वर्ग में स्थिति सातिशय अर्थात विषम रहती है। वहां भी कोई बड़ी बिल्डिंग वाला तथा कोई छोटी बिल्डिंग वाला है। अतः वहां भी हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष लगे ही रहते हैं। अन्त में उनका छूट जाना तो निश्चित ही है। ये तो जब स्वर्ग हो तब की बात है, वस्तुतः स्वर्ग ही काल्पनिक है। इसके उलटे सांख्यविचार में तो प्रकृति-पुरुष का विवेक है जिसमें पुरुष प्रकृति से अपने आपको अलग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसके लिए अगली कारिका है—

"जब साधक यह समझ लेता है कि अव्यक्त = अदृश्य प्रकृति तथा व्यक्त = दृश्य कार्य जगत से ज्ञ = ज्ञाता चेतन पुरुष सर्वथा पृथक है, तब "नास्मि, न मे, नाहम्" अर्थात न मैं (क्रियावान) हूं, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं (कर्त्ता) हूं— जब इस प्रकार का पूर्ण अभ्यास हो जाता है, तब कुछ बाकी नहीं रहता है। तब सम्पूर्ण भ्रमों का अन्त होकर

---

१. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ *(सांख्यकारिका, २)*

विशुद्ध, केवल—असंगत्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है।"[१] इससे अधिक स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के विषय में और क्या कहा जा सकता है! महर्षि कपिल का मूल ग्रन्थ तो आज उपलब्ध नहीं है। उनके नाम पर प्रचलित सांख्य सूत्र पीछे की किसी की रचना मानी जाती है। सांख्यदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ दो हजार वर्षों से श्री ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका ही मानी जाती है और उसमें पुरुष (चेतन) के लिए कहीं भी व्यापक तथा इसका पर्यायवाची शब्द नहीं कहा गया है। अतएव पहले भी स्वतन्त्र चिंतक थे।

भुलक्कड़ एवं स्वार्थी गुरुओं से अत्यन्त सावधान करते हुए सद्गुरु जोर से कहते हैं "कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा।" हे कल्याणार्थी, हमारी बातें अपने मन में पक्की कर लो। इन भ्रामक गुरुओं से रात-दिन सावधान रहो। ये तुम्हें फंसाने के लिए भंयकर जाल बिछाकर उसमें मोहक चारा डाल रखे हैं। ये कलियुगी अर्थात धोखाधड़ी करने वाले गुरु बड़े प्रपंची हैं, झमेला बढ़ाकर फंसाने वाले हैं। इन्होंने ठगौरी जाल बिछाकर सबको फंसा रखा है।

सद्गुरु ने यहां कहा है "ये कलिगुरु बड़े परपंची" अतः हम यहां 'युग' पर थोड़ा विचार कर लें। भारत की सर्वाधिक पुरानी पुस्तक ऋग्वेद है। उसमें कम-से-कम ३३ (तैंतीस) बार युग शब्द का प्रयोग हुआ है; परन्तु उनके अर्थ कहीं बैलों को जोतने का बना काष्ठ का 'जुआ', कही अल्पकाल की अवधि, कहीं एक पीढ़ी, कहीं चार-पांच वर्षों की अवधि, कहीं करीब पांच हजार वर्षों की अवधि माने गये हैं, यद्यपि ये सब अर्थ भी बहुत निर्भ्रांत नहीं हैं। इतना पक्का है कि ऋग्वेद में सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग नाम नहीं आये हैं। वेदों में सत्युग का पर्यायवाची शब्द कृत तथा कलि आये हैं परन्तु ये जुआ में पासे फेंकने के अर्थ में हैं।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में चार युगों के नाम व्यावहारिक रूप में आये हैं—"सोने वाला आदमी कलि है, जग जाने वाला द्वापर, उठ जाने वाला त्रेता तथा चलने वाला सत्युग है।"[३]

भारतरत्न डॉ० पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—"वेदांगज्योतिष में भी 'युग' शब्द पांच वर्ष की अवधि का द्योतक है (पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्)। प्राचीन पितामह सिद्धांत के मत में वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका (२१/१) में 'युग' का अर्थ

---

१. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ *(सांख्यकारिका, ६४)*

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड २, पृ० ९८२।

३. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ *(ऐतरेय ब्राह्मण ३३/३)*

मनुस्मृति में सत्युग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलि में केवल दान महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है यथा—
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ *(मनुस्मृति १/८६)*

होता है सूर्य और चन्द्रमा के पांच वर्ष (रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि)। यही अर्थ शांतिपर्व (११/३८) में भी है। निरुक्त (१/२०) ने प्राचीन ऋषियों और पश्चात्कालीन ऋषियों में अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है—प्राचीन ऋषि साक्षात्कृतधर्मा (धर्म के प्रत्यक्षदर्शी) थे और उन्होंने असाक्षात्कृतधर्म वाले ऋषियों को शिक्षा-द्वारा मंत्र ज्ञान दिया। किन्तु इसने न तो चारों युगों के सिद्धान्त का वर्णन किया है और न किसी प्रकार का संकेत ही किया है। गौतम (१/३-४) एवं आपस्तंब धर्मसूत्र (२/६/१३/७-९) ने स्पष्ट कहा है कि प्राचीन ऋषियों में धर्मोल्लंघन एवं साहस के कार्य देखे गये हैं, किन्तु आध्यात्मिक महत्ता के कारण वे पापी नहीं हो सके, किन्तु पश्चात्कालीन मनुष्य को आध्यात्मिक शक्ति दौर्बल्य के कारण वैसा नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह कष्ट में पड़ जायेगा। यहां पर स्पष्टतः प्राचीन ऋषियों एवं पश्चात्कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक गुणों के विषय में अन्तर बताया गया है, किन्तु चारों युगों के नामों अथवा उनके सिद्धान्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र (१/२/५/४) का कहना है कि आगे के मनुष्यों में नियमातिक्रमण के कारण ऋषि उत्पन्न नहीं होते (तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्)। अतः ऐसा कहना संभवतः भ्रामक न सिद्ध होगा कि गौतम एवं आपस्तंब[1] के आरंभिक धर्मसूत्रों के समय में भी युग-सम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, यद्यपि दोनों ने यही कहा है कि वे पतन के युग में हैं और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उपरांत वाले ऋषि लोग निकृष्ट हैं।"[2] ऋग्वेद (१०/१०/१०) में भी यम ने अपनी बहन यमी से कहा है कि आगे आने वाले काल में बहनें अयोग्य कर्म करेंगी। वस्तुतः युगों और कल्पों के सिद्धान्त का उदय ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सदी में हो गया था और ईसा के बाद विकसित हो गया था।"[3] गुप्तकाल में इसका खूब प्रचलन हो गया था।

जब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का प्रचलन हो गया तब चारों के धर्म बताये गये। सत्युग में तप, त्रेता में दार्शनिक ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान परमधर्म है।[4] कलि के इस परम धर्म दान को गोस्वामी तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने खींचकर नाम कर डाला—"कलियुग केवल नाम आधारा। सुमिरि सुमिरि भव होवहिं पारा।"

चारों युगों का निर्धारण हो जाने के बाद भी मनुस्मृति में कहा गया कि युग समय की कोई निश्चित अवधि नहीं है। राजा अपने आचरण से एक युग की विशेषताओं को दूसरे युग में बदल सकता है[5] परन्तु महाभारत तथा पुराणों में कलिकाल को बड़ा बुरा

---

१. गौतम एवं आपस्तंब का काल ६०० से ३०० वर्ष ईसा पूर्व माना गया है।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड २, पृ० ९८३।

३. वही, खंड २, पृ० ९८४।

४. मनुस्मृति १/८५-८६; पराशर १/२२-२३; शांतिपर्व २३२/३२-३८।

५. कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥

कहा गया है और यह धारणा बढ़ती गयी कि कलियुग पतनयुग है। प्रायः सभी पुराणों में कलियुग का भयावह वर्णन किया गया। सारतः सबने यही कहा कि कलियुग में शूद्र तथा म्लेच्छ राजा होंगे, जाति सम्बन्धी कर्तव्यों का उलट-फेर हो जायेगा, वर्णधर्म मिट जायेगा, नास्तिकों का बोलबाला होगा और आदमी की नैतिकता घट जायेगी।

कबीर साहेब के जमाने में कलियुग शब्द का धार्मिक क्षेत्र में बड़ा बोलबाला था। अतः इस शब्द का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा, और उन्होंने अपनी वाणियों में इस शब्द का प्रयोग 'कलि' कहकर किया। परन्तु इसके विषय में उनका अपना अर्थ था। कबीर साहेब के विचार से तो कलि का अर्थ था पुरोहितों का प्रपंच और दुर्बुद्धि, जिनके कारण मनुष्यों के बीच में भेदभाव तथा नाना अधंविश्वास फैले थे। इस शब्द में यही कहा गया "ये कलि गुरू बड़े परपंची"। आगे ४४ वें शब्द में कहा गया है "कलि में रहत अकेली" इत्यादि। कबीर साहेब ने बीजक में यह कहीं नहीं कहा कि खराब समय आ गया या आने वाला है, बल्कि उन्होंने 'कलि' शब्द कहकर उसे दुर्बुद्धि-सूचक के रूप में लिया है।

"वेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा।" यह पंक्ति बड़ी क्रांतिकारी हैं। वेद से अर्थ है हिन्दुओं का धर्मशास्त्र तथा कितेब से अर्थ है मुसलमानों का धर्मशास्त्र। धर्मशास्त्रों में श्रद्धा रखना तथा उनसे सत्य बातें लेकर अपना कल्याण करना तथा समाज को भी सत्प्रेरणा देना यह बड़ी अच्छी बात है। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है। बल्कि कहा यह जाता है कि हमारा धर्मशास्त्र ईश्वर-वचन है। इसमें जो कुछ लिखा है इसका जो हम अर्थ करते हैं वही सत्य है। इसे जो नहीं मानता है वह नरकपंथी, नास्तिक एवं काफिर है और जो इसे मानता है वही स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करता है।

हिन्दू पण्डित कहते हैं कि हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा शूद्र है, अछूत है, मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है। ब्राह्मण आचरणहीन होने पर भी पूज्य है, शूद्र सद्‌गुण सम्पन्न होने पर भी पूज्य नहीं है। शूद्र तप करता हो, ऊंची गद्दी पर बैठकर उपदेश करता हो तो उसकी हत्या कर देनी चाहिए। ऐसा राम तथा बलराम[१] ने किया था। यही वैदिक मर्यादा है। यही प्रभु वचन है। शूद्र का तप, विद्या, संन्यास, मोक्ष किसी में अधिकार नहीं है। यही ईश्वर का आदेश है। शास्त्र ईश्वर-वचन हैं।

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्।। *(मनु ९/३०१-३०२)*

अर्थात सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग ये सब युग राजा के आचरण से होते हैं, अतएव राजा ही युग कहलाता है। राजा यदि उद्यमहीन होकर सोता है तो कलियुग है, उसके जगने पर द्वापर, कर्म में लगे हुए होने पर त्रेता तथा राजा यदि विचरणशील है तो सत्युग है।

१. श्री राम-द्वारा शंबूक-हत्या तथा बलराम-द्वारा सूत-हत्या देखिये क्रमशः वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड, सर्ग ७३ से ७६ तक तथा श्रीमद्‌भागवत १०/७८।

मुल्ला कहते हैं कि कुरान ईश्वर की वाणी है, मुहम्मद ईश्वर का पैगम्बर है तथा इस्लाम ईश्वर का दिया हुआ दीन है। जो इन्हें नहीं स्वीकारता वह काफिर है, नरकगामी है। कुर्बानी के नाम पर ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए पशुओं को मारना ईश्वर का आदेश है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह पंडित-मुल्ला-द्वारा फैलाया गया फंदा है। यही वेद-कितेब का फंदा है। वेद का अर्थ यहां शब्दशः ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व नहीं है। सरल अर्थ है शास्त्र-प्रमाण का जाल, जिसकी आड़ में गुरुओं ने जनता को सदैव अंधकार में रखा है और अपना स्वार्थ साधा है। यहां पण्डित-मुल्ला की तरफ संकेत है। इसी प्रकार पादरी तथा अन्य मत के भ्रामक गुरुओं के लिए भी समझा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि इन भ्रामक गुरुओं ने समाज को तो उलझाया ही है, और वे अबोधी तथा भ्रमित होने से स्वयं भी उसी में उलझे हैं। जो दूसरे के लिए खाई खोदेगा तो उसमें स्वयं भी गिरेगा ही।

"कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावन हारा।" जिनको सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं वे हंस भ्रामक गुरुओं के जाल में नहीं भूलेंगे एवं नहीं फंसेंगे। सच्चा गुरु वही है जो सारासार का पारखी है। जो महापुरुष, शास्त्र तथा परंपरा को आंख मूंदकर नहीं मानता, किन्तु हर जगह नीर-क्षीर विवेक करता है, ऐसा अन्वीक्षक, पारखी एवं विवेकी सद्गुरु जिसको मिल जाते हैं वे हंस जीव धन्य हैं। वे भ्रामक गुरुओं के भ्रम-जाल से बच जाते हैं। जिनको विवेकी सद्गुरु मिल गये वे हंस जीव अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं करते। वे भ्रम से हटकर सदैव आत्माराम में रमण करते हैं।

हंस को चेतावनी

शब्द–३३

हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय॥ १ ॥

जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु विधि केलि कराय॥ २ ॥

सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय॥ ३ ॥

कहहिं कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलो कब आय॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हंस = जीव। सरवर = शरीर। मोतिया = मोती, विषय-भोग। केलि = क्रीड़ा, उपभोग।

भावार्थ—हे प्यारे हंस! तुम शरीर रूपी सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे, इस पर कभी विचार किये हो? ॥१॥ जिस शरीर-सरोवर के बीच में भोग रूपी मोती चुगते थे और अनेक प्रकार विषय-क्रीड़ा करते थे॥२॥ वह शरीर सूख गया। उसे बुढ़ापा ने जरजर कर दिया। चाम रूपी पत्ते ने रक्त रूपी जल को छोड़ दिया, और मुख-कमल, नेत्र-कमल, हृदय-कमल, कर-कमल जहां तक कमलों से उपमा दी जा सकती है, वे सारे अंग सूखकर दुर्बल हो गये॥३॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस, स्वरूपस्थिति किये बिना जब अबकी इस शरीर से बिछुड़ जाओगे तब कब पुनः इस साधनधाम में आकर मिलोगे! अतः आज ही कल्याण-कार्य कर लो॥४॥

व्याख्या—भारतीय परम्परा में जीवात्मा को हंस भी कहा जाता है। कबीर साहेब को हंस शब्द ज्यादा प्रिय है। हंस पक्षी नीर-क्षीर अलग करके केवल क्षीर लेकर नीर त्याग देता है। इस रूढ़ धारणा के कारण कबीर साहेब मानव-जीव को हंस शब्द से याद कर उसे विवेक जगाने के लिए प्रेरित करते हैं।

जीव इस शरीर में रहते-रहते भूलवश इसमें विवेक न जगाकर और साधना-द्वारा वासनाओं से मुक्त होने का काम न कर इस शरीर ही में आसक्त हो जाता है। वह भूल जाता है कि यह देह केवल साधना करने के लिए थोड़े दिनों के लिए मिली है। वह समझ लेता है कि यह इन्द्रियों के भोगों को भोगने के लिए मिला है। वह याद ही नहीं करना चाहता कि इसे एक दिन छोड़ना है। जीव देह-इंद्रियों से मोक्ष-साधना न कर उनका विलासी बन जाता है। वह इस हाड़-चाम के पिंजरे में अत्यन्त मोह कर लेता है। करना था अनासक्ति की साधना और कर लिया मोह। अतएव मोक्ष-साधना तथा देह की मृत्यु की कभी न याद करने वाले तथा देहासक्ति में आकंठ डूबे हुए जीव को कबीर साहेब झकझोरकर जगाते हुए कहते हैं "हे प्यारे हंस, तुम इस शरीर-सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे!"

सद्‌गुरु चाहते हैं कि जीव की तंद्रा भंग हो। वे पहली पंक्ति में दो मार्मिक चोट करते हैं। पहली बात कहते हैं कि तुम नीर-क्षीर विवेकी हंस हो। तुम्हें अपने आप को देह में से विवेक-द्वारा उसी प्रकार अलग कर लेना चाहिए जैसे लोग मूंज में से सींक बेदाग निकाल लेते हैं या जैसे इमली के फल में से उसके बीज निकाल लेते हैं। अर्थात विवेक-द्वारा तुम्हें अपनी आत्मा को हरदम देह से सर्वथा अलग समझना चाहिए। उनकी दूसरी मार है कि तुम शरीर छोड़कर कहां जाकर रहोगे, क्या इस पर कभी विचार किये हो? वस्तुतः तुम शरीराभिमान में डूबे हो। परन्तु समझ लो कि यह अचानक तुमसे अलग होकर जड़ प्रकृति में लीन हो जायेगा, तब तुम कहां रहोगे? किसमें विलास करोगे? तुम्हारा ठहराव उस समय कहां होगा जब यह देह बिखर जायेगी?

जो अपने चेतन स्वरूप को देह से सर्वथा अलग समझकर तथा इस गंदे, क्षणभंगुर एवं दुखपूर्ण शरीर का मोह सर्वथा त्यागकर अपने स्वरूप एवं अपनी आत्मा में ही रमता है एवं अपने स्वरूप में ही स्थित होता है उसके लिए देह का रहना या न रहना बराबर हो जाता है। जो देह में रमता है उसे देह छोड़ने के बाद भटकना है। उसी से सद्‌गुरु का प्रश्न है कि तुम देह छोड़कर कहां जाओगे? परन्तु जो अपनी आत्मा में रमता है उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं। किसी की भी अपनी आत्मा उससे नहीं छूटती। अस्थायी घर में रहने से, घर टूट जाने पर रहने की समस्या उत्पन्न होती है। परन्तु जिसे ऐसा घर मिल जाय जो कभी न छूटने वाला हो, उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निजस्वरूप चेतन ही ऐसा घर है जिसमें स्थित हो जाने पर कभी भटकना नहीं है। मूलतः विवेकवान मानव अपने विवेक को खोकर देह की आसक्ति में डूबा है, इसलिए सद्‌गुरु उसे जगाते हैं कि तुम देहाभिमान छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

हंस मानसरोवर में मोती चुगता है और क्रीड़ा करता है। मोती चुगने की बात एक प्रशंसा मात्र है। अर्थ है हंस मानसरोवर में यथेष्ठ चारा चुगता है और आनंद-विहार करता है। यह रूपक हुआ। इसका अभिप्राय है कि जीव इस देह में इन्द्रियों के विषय

भोगों को भोगता है और क्रीड़ा-विलास करता है। वह आंखों से रूप में ललकता है, जीभ से स्वाद में, नाक से गंध में, कान से शब्द में तथा त्वचा से स्पर्श में और मन से संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है। परन्तु यह सब इन्द्रियों का राग-रंग कब तक चलेगा? ये कितने दिन के हैं? थोड़े ही दिनों में "सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय।" यह शरीर-ताल तो बहुत थोड़े दिनों में सूखने लगता है। सोलह से पचीस वर्ष की उम्र तक जो देह में लावण्य एवं माधुर्य रहते हैं वे तीस तक नहीं रह जाते और जो तीस से पैंतीस तक बची-खुची चमक रहती है वह उसके बाद खो जाती है। फिर तो धीरे-धीरे सभी अंगों का रस-हीन, कांति-हीन एवं सौंदर्य-विहीन होते जाना ही है। दिन-दिन चाम में सिकन आने लगती है। मुख तथा हाथ-पैर में मोटी-मोटी नसें निकलने लगती हैं। कमल सदृश रस-भरी आंखें अनसुहाती हो जाती हैं। मुख-कमल मुरझा जाता है। हृदय-कमल बैठ जाता है। कर-कमल सूखी लकड़ी बन जाते हैं। जीव क्या अहंकार करता है इस हाड़-चाम के क्षणभंगुर ढांचे पर!

थोड़े दिनों में मनुष्य को बुढ़ापा घेर लेता है। जो स्वस्थ अवस्था में साधन-भजन नहीं कर लेता है वह बूढ़ा होकर क्या कर सकता है! "चार दिनों की चांदनी, फेरि अंधेरी रात" थोड़े समय में सब कुछ बदल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस! आज के बिछुरे कब आकर मिलोगे? देखते-देखते यह शरीर-सरोवर खो जायेगा। तुम्हारा क्रीड़ास्थल समाप्त हो जायेगा। इसलिए हे हंस! ऐसे छूटने वाले स्थल में क्रीड़ा मत करो। उसका राग तुम्हें पीड़ा देगा। तुम आत्म-क्रीड़ बनो। आज के सुनहले अवसर को खोओ मत। "आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम, काल बसेरा बड़ी दूर हो रमैया राम।" सद्गुरु कहते हैं कि भाई! शीघ्र सावधान हो जाओ। सत्संग करने, स्वरूपस्थिति करने का दिन आज ही है। कल के धोखे में काल खा लेगा। किसी ने खूब अच्छा कहा है—कीड़ों को खाने के लिए उनके पीछे मेढक दौड़ता है, मेढक को खाने के लिए उसके पीछे सर्प दौड़ता है, सर्प के पीछे मयूर, मयूर के पीछे सिंह और सिंह के पीछे संयोगवश शिकारी दौड़ता है। इस प्रकार अपने भोजन और भोग-वस्तुओं के लिए सब पागल हो रहे हैं। परन्तु पीछे से चोटी पकड़कर काल खड़ा है, उसे कोई नहीं देखता।[१]

हंसदशा का चित्रण तथा हरि और राम शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द–३४

हरिजन हंस दशा लिये डोले, निर्मलनाम चुनी चुनि बोले॥ १ ॥
मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै, मौन रहे कि हरि यश गावै॥ २ ॥

---

१. भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति।
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति॥
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः।
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

मान सरोवर तट के बासी, राम चरण चित अन्त उदासी॥ ३ ॥
कागा कुबुधि निकट नहिं आवे, प्रतिदिन हंसा दर्शन पावे॥ ४ ॥
नीर-क्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हरिजन = हरिभक्त, ज्ञानी, संत। हंस दशा = नीर-क्षीर-विवेक, स्वरूपस्थिति। मुक्ताहल = मोती। चोंच = मुख। मानसरोवर = हिमालय की एक स्वच्छ झील, तात्पर्य में पवित्र मन। अन्त = अन्तःकरण। प्रतिदिन = निरन्तर। निबेरा = निर्णय, अलग-अलग करना।

भावार्थ—ज्ञान रूपी हरि में रमने वाले संतजन नीर-क्षीर विवेक एवं स्वरूपस्थिति रूपी हंसदशा की रहनी धारणकर संसार में विचरण करते हैं, और चुन-चुनकर पवित्र वाणी बोलते हैं॥१॥ वे अपने मुख से ज्ञान के मोती बिखेरकर सज्जनों को सन्मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं। वे मौन रहते हैं और जब बोलते हैं तब हरिगुण अर्थात सत्यज्ञान की चर्चा रहते हैं॥२॥ जैसे हंस साधारण जलाशय में न रहकर हिमालय में स्थित स्वच्छ मानसरोवर में रहते हैं वैसे संतजन सत्संग में एवं पवित्र मन में निवास करते हैं। अर्थात सब समय मन को पवित्र रखते हैं। वे अपने चित्त को सदैव आत्माराम में रखते हैं और संसार का राग-रंग छोड़कर विषयों के प्रति अंतःकरण से उदास रहते हैं॥३॥ कुबुद्धि रूपी कौआ उनके निकट नहीं आते। वे हंसजन निरन्तर आत्मसाक्षात्कार में डूबे रहते हैं॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो दूध और पानी को, जड़ और चेतन को अलग-अलग करे, वही मेरा भक्त एवं प्रेमी है॥५॥

हरि शब्द पर विचार

इस शब्द से लेकर आगे छह शब्दों तक सद्गुरु ने हरि शब्द से ही अपना कथन शुरू किया है। इसलिए यहां हरि के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लिया जाय। यद्यपि इस शब्द पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में अन्यत्र भी विचार किया गया है। ''बृहत् हिन्दी कोश' के कोशकारों ने हरि के अर्थ हरा, हरापन लिये पीला, पिंगल, कपिल, पीत, ले जाने वाला, वहन करने वाला, विष्णु, इन्द्र (मेघ), शिव, ब्रह्मा, यम, सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्य, प्रकाश की किरण, अग्नि, वायु, सिंह, सिंहराशि, अश्व, गीदड़, इन्द्र का घोड़ा, बन्दर, बनमानुष, हंस, कोयल, मेढक, सांप, मोर, तोता, कृष्ण, राम, भर्तृहरि, शुक्र, गरुड का एक पुत्र, एक पर्वत, एक लोक, एक वर्ष, भूभाग, एक बड़ी संख्या इत्यादि किया है। एक कहावत है ''हरि गर्जन सुनि हरि बोलेला, हरि के सबद सुनि हरि चलेला, हरि बीचहिं मिलल, हरि के हरि लिलल, हरि के प्रताप से हरि बचेला।''[१] अर्थात बादल के गर्जन सुनकर मेढक बोलते हैं, मेढक के शब्द सुनकर सांप उन्हें खाने के लिए चलता है, बीच में मोर मिल गया, मोर ने सांप को निगल लिया, इसलिए मोर के प्रताप से मेढक बच गया। अर्थात बादल, मेढक, सांप, मोर—सब हरि हैं।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी रचना 'भारत सावित्री' में हरि का अर्थ विष्णु मानने के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। वे कहते हैं ''विष्णु के लिए

---

१. बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।

हरि शब्द का प्रयोग कुषाणयुग से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व महाभाष्य, अर्थशास्त्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में यह शब्द केवल इन्द्र, अश्व आदि अर्थों में है। अतएव विष्णुवाची हरि शब्द का यह प्रयोग (उद्योगपर्व ६६/१४)[१] इस प्रसंग के बाद में जोड़े जाने का सूचक है।"[२]

अग्रवाल जी आगे उद्योगपर्व का एक श्लोक देकर पुनः लिखते हैं—

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात्॥ (१०८/१३)[३]

"अर्थात हरिमेधस की ध्वजवती नाम की कुमारी कन्या सूर्य की आज्ञा से आकाश में खड़ी हो गयी।" यह श्लोक जितना क्लिष्ट और गूढ़ है उतना ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हरिमेधस कौन है? उसकी कुमारी कन्या ध्वजवती कौन है? सूर्य के आदेश से वह आकाश में क्यों खड़ी है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर भारतीय साहित्य में कहीं नहीं है। इनका उत्तर ईरानी पारसीक धर्म में है। 'अहुरमज्द' ईरानियों के सबसे बड़े देव हैं। उन्हें सासानी युग की पहलवी भाषा में 'हरमुज' कहा गया है। उन्हीं के लिए गुप्तयुग[४] की संस्कृत भाषा में 'हरिमेधस' नाम का प्रयोग हुआ है। देव 'हरिमेधस' का उल्लेख पश्चिम दिशा के संबंध में कितनी ही बार शांतिपर्व के अंतर्गत नारायणी पर्व में आया है (३२३/१२, ३२५/४, ३३५/८ आदि)। वस्तुतः शक-कुषाण[५] काल में सूर्य-पूजा के साथ हरिमेधस देव और उनके धर्म का साक्षात परिचय भारतवासियों को प्राप्त हुआ था। इन्हीं अहुरमज्द की शक्ति या प्रभा हेरेनो कहलाती थी। उसका अंकन प्रभामंडल के भीतर होता था और उसके दोनों ओर फहराता हुआ पट या ध्वज दिखाया जाता था। इसी कारण यहां उसे ध्वजवती नाम दिया गया है। प्राचीन ईरानी और सासानी काल में इस प्रभा रूपी शक्ति को युवती के रूप में आकाश में स्थित दिखाया गया है। अहुरमज्द या हरिमेधस की उस शक्ति का प्रेमी सूर्य है, मानो सूर्य के लिए ही वह आज तक आकाश में व्याप्त है। मित्र या मिहिर की पूजा प्राचीन पारसी धर्म की विशेषता थी। शक-कुषाणों के समय में सासनी या उदीच्य वेशधारी सूर्य की अनेक प्रतिमाएं बनायी गयी हैं। इनमें भी सूर्य के मस्तक से कंधों के पीछे फहराता हुआ पट दिखाया जाता है, जो प्रायः सभी सासानीयुग की मूर्तियों में देखा जाता है। गुप्तकाल में भी वह बहुधा मिलता है। इसी पृष्ठभूमि में इस श्लोक की रचना हुई है।"[६]

"देव हरिमेधस का बार-बार उल्लेख आया है। (शांति पर्व ३२३/११, ३३६/२८, ३३७/५४, ३३५/८) यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी भाषा में उसे हरमुज

---

१. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक उद्योगपर्व के ६८/ १४ में है।

२. भारत सावित्री, भाग २, पृष्ठ ८४ की टिप्पणी।

३. गीताप्रेस संस्करण में यह उद्योग पर्व के ११०/१३ में है।

४. ईसा की चौथी शताब्दी से छठीं शताब्दी तक गुप्तकाल है।

५. शक-कुषाणकाल ईसा की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक है।

६. भारत सावित्री, भाग २, पृष्ठ ११८-११९।

कहा जाता था। इसी का संस्कृत में 'हरि' हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्तकाल के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। वहां हरि शब्द तो है किन्तु इन्द्र या घोड़े के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नहीं, और जो एक-दो-स्थल विष्णुवाची हैं भी, वे संदिग्ध हैं। इतने बड़े महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शब्द विष्णु के लिए नहीं आता।"[1]

उक्त लंबे उद्धरण के बाद यह निश्चित हुआ कि पुराकाल में हरि के अर्थ घोड़ा, इन्द्र तथा वाल्मीकीय रामायण में वानर आये हैं। वस्तुतः पारसी तथा पहलवी में जिसे अहुरमज्द तथा हरमुज कहा गया उसे ही संस्कृत भाषा वालों ने हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़कर हरि शब्द रह गया जो ईसा के चार सौ साल बाद तक विष्णुपरक हो गया। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने हरि शब्द का विष्णुपरक अर्थ पारसी धर्म से आया हुआ माना है। तात्पर्य यह है कि ईसा के पांच सौ वर्ष बाद से हरि शब्द विष्णुपरक के रूप में उत्तरी भारत में प्रचलित हो गया था। इसके एक हजार वर्ष बाद कबीर साहेब होते हैं। तब तक धूमधाम से हरिभजन चल रहा था। कबीर साहेब का संबंध स्वामी रामानन्द एवं वैष्णव संतों से अधिक था ही। अतएव उनके हरि और राम शब्दों का प्रभाव उन पर पड़ना ही था। राम-नाम का भजन भी ईसा के आठ-नौ सौ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। समस्त वैदिक साहित्य ही नहीं, वाल्मीकीय रामायण तक में राम-नाम भजन की चर्चा नहीं है। कबीर साहेब के समय में वैष्णवों में हरि और राम शब्द व्यापक स्तर पर भजन के रूप में व्यवहृत हो गये थे।

कबीर साहेब ने हरि, राम आदि शब्दों को अपने काव्य में लिया; परन्तु उन्हें अंतरात्मा के रूप में ही लिया। यदि इससे अलग उन्हें माना जाय तो इसका उन्होंने खण्डन भी किया। इसी संदर्भ में आगे के शब्दों में "हरि ठग ठगत ठगौरी लाई" आदि कहकर उसकी आलोचना कर दी गयी है। अतएव सारे शब्द देश और काल में बनते, बदलते तथा मिटते भी हैं और वे अपने अर्थ भी बदलते हैं, हमें उनके बीच से सत्यता को लेकर आत्मकल्याणकारी तथा जनकल्याणकारी काम करना चाहिए।

व्याख्या—हरि विष्णु है। कबीर साहेब का इष्ट स्थूल विष्णु नहीं है। उन्होंने उसका बीजक भर में खंडन किया है, क्योंकि वह मायावी है। अतएव विष्णु एवं विशाल अपनी महिमा में व्यापक मनुष्य की अंतश्चेतना है। संसार में कोई अखण्ड वस्तु व्यापक है ही नहीं; क्योंकि एक अखण्ड वस्तु यदि सर्वत्र व्यापक हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। इसलिए जड़तत्व भी अलग-अलग असंख्य परमाणुयुक्त हैं तथा चेतन-जीव भी अलग-अलग अस्तित्त्व वाले हैं। यदि चेतन एवं आत्मा को कोई व्यापक कहता है तो यह एक प्रशंसा सूचक शब्द है। व्यापक का अर्थ अपने गुणों से महिमापूर्ण है। इस प्रकार अपनी महिमा में पूर्ण यह मनुष्य के भीतर निवास करने वाला चेतन जीव ही है। यही शुद्धशः विष्णु है। जो विषयों का त्यागकर निजस्वरूप में स्थित है वह हरिजन है। हरि में

---

१. भारत सावित्री, भाग ३, पृष्ठ २१६।

रमता हो वह हरिजन। हरि मनुष्य की आत्मा है और जो आत्मा-राम में रमता है वह हरिजन है।

ऐसा हरिजन हंसदशा लेकर डोलता है। वह हंसदशा में विचरता है। हंसदशा क्या है? इस पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में कई जगह निवेदन किया है। पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना उसे यहां पुनः दोहरा दिया जाता है। हंस के यहां दो अर्थ हैं एक रूपक का तथा दूसरा हंस शब्द का। हंस सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर में रहता है। वह केवल मोती चुगता है, और दूध भी पी सकता है, परन्तु केवल शुद्ध दूध। यदि कोई उसके सामने दूध और पानी मिलाकर रख दे, तो वह उसमें से केवल दूध ले लेता है और पानी छोड़ देता है। कहा जाता है कि उसमें ऐसी शक्ति होती है। हंस सफेद पक्षी होता है और वह मानसरोवर में रहता है यह सच है, परन्तु वह मोती चुगता है तथा नीर-क्षीर विवेक करता है, यह उसकी प्रशंसा है। हमें इसकी सचाई खोजने की जरूरत नहीं है। हमें इससे क्या प्रेरणा दी गयी है इस पर विचार कर लेना चाहिए।

जो उज्ज्वल चरित्र का है, जो केवल सद्गुण रूपी मोती चुगता है और नीर-क्षीर विवेक करता है, अर्थात जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, राग-विराग, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य को अलग-अलग समझकर कल्याणकारी अंश को ग्रहणकर बुरे अंशों का त्याग कर देता है वह हंस है और यह उज्ज्वल चरित्रता, सद्गुण-ग्राह्यता एवं नीर-क्षीर-विवेक हंसदशा है। स्वरूपज्ञानी एवं आत्मज्ञानी पुरुष इसी दशा में वर्तमान करते हुए लोक में विचरते एवं जीवन-यापन करते हैं।

दूसरा हंस शब्द का शाब्दिक अर्थ है। विद्वान लोग संस्कृत भाषा के 'अहंसः' से टूटकर हंस शब्द बना मानते हैं जो आध्यात्मिक अर्थ वाला है। अहंसः का अर्थ होता है 'मैं वह हूं' अर्थात ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, परमानंद, परमशांति आदि शब्दों को लेकर मैं जिसे खोज रहा हूं, वह मैं ही हूं। 'अहम्+सः=मैं+वह' यह इसका पदच्छेद है। इसमें 'अ' तथा 'स' में लगा विसर्ग (:) उड़कर 'हंस' शब्द बन गया है। इन सबका अभिप्राय हुआ कि 'मैं पूर्णकाम हूं' इस भाव में स्थित होकर विचरण करना एवं जीवन बिताना ज्ञानी पुरुष का हंस-दशा लेकर डोलना है। जो निरन्तर निजस्वरूप में स्थित होकर जीवन व्यतीत करता है वही हरिजन है और हंस-दशा में विचरने वाला है।

"निर्मल नाम चुनी चुनि बोले" वह राम, गोपाल, हरि, वासुदेव आदि निर्मल नाम चुन-चुन कर बोलता है, ऐसे स्थूल अर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं। यहां का अर्थ है कि वह जो कुछ बोलता है निर्मल वाणी होती है। असत्य, कटु, अश्लील, बंधनप्रद, प्रपंचपूर्ण बातें वाणी के मल हैं। जो इन्हें त्याग देता है उसकी वाणी निर्मल हो जाती है। हंस रहनी में चलने वाले साधक की वाणी कोमल, सत्य एवं संयत होती है। वह बिना सोचे नहीं बोलता। वह जो कुछ अनाप-शनाप मन में आ गया वही नहीं बोलता, किन्तु चुन-चुन कर बोलता है। वह 'हिये तराजू तौलकर" मुख के बाहर वाणी लाता है।

"मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै" हंस चोंच में मोती लेकर लोगों को लुभाता है। ज्ञानी हंस है और ज्ञान मोती है। ज्ञानी अपने मुख से ज्ञान की चर्चा करता है और जिज्ञासुओं

तथा मुमुक्षुओं को अपने ज्ञानमार्ग की ओर खींचता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। विशालदेव ने कहा है "जो जेहि मारग में रहै, तेहि दिशि लावन हेत। निज निज प्रेमी के मिलत, तैसी शिक्षा देत।" जो जिस पथ पर चलता है, वह उधर अपने मित्रों को भी ले जाना चाहता है। शराबी शराबपान की तरफ, गंजेड़ी गांजा की तरफ, अन्य व्यसनी अपनी तरफ अपने मित्रों को घसीटते हैं। तो सज्जन सज्जनता की तरफ एवं ज्ञानी ज्ञान की तरफ अपने प्रेमियों को ले जाना चाहेंगे ही।

"मौन रहे कि हरि यश गावै" यही संत का लक्षण है। मौन रहना या ज्ञानचर्चा करना। हंस रहनी में चलने वाले संत 'भक-भक' बोला नहीं करते। वे अपनी वाणी में संयम रखते हैं। वे विशेषतः चुप रहते हैं। उनका अपना ज्ञान कलकलाता नहीं कि बिना बोले रह ही नहीं पावें। वे जो कुछ जानते हैं अपने आप में पचाते हैं। कम बोलना हंस रहनी का उत्तम लक्षण है। जिसके मन में शांति है वह अधिक बोल ही नहीं सकता। भीतर में द्वंद्व होने से ही मनुष्य निरर्थक बातें करता है। जिसके भीतर में शांति है वह मौन रहने में आनन्द मानता है। विवाद से तो वह सैकड़ों कोस दूर रहता है। सत-चर्चा में भी वह विवेकपूर्वक बोलता है। यदि ज्ञानी बोलता है तो हरियश गाता है। हरि ज्ञान है। ज्ञान की वास्तविकता का विवेचन हरियश गाना है। अर्थपूर्ण बात करना हरियश गाना है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं "की मुख पट दीन्हें रहें, यथाअर्थ भाषंत। तुलसी या संसार में, सो विचारयुत संत" (वैराग्य संदीपनी)।

"मान-सरोवर तट के वासी" हंस मानसरोवर के तट का वासी होता है। मानसरोवर नाम की झील हिमालय में है, जो बहुत विशाल, गहरी एवं स्वच्छ है। हंस पक्षी वहीं रहते हैं। हंस रहनी के संतों के मन भी विशाल, गहरे और स्वच्छ होते हैं। संतजन स्वच्छ मन के पास रहते हैं। संतों का मन मानसरोवर होता है। जिसके मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, चिंता, दुख एवं किसी प्रकार की ग्रन्थि नहीं होती, उसका मन मानो मानसरोवर है। इस संसार में वे धन्य हैं जिनका मन स्वच्छ एवं शीतल है। संसार में बहुत लोगों को धन, परिवार, प्रसिद्धि आदि मिले होते हैं, परन्तु स्वच्छ, शीतल और प्रसन्न मन वाले दुर्लभ हैं। सच्चा सुख मन की स्वच्छता में ही है।

"रामचरण चित अंत उदासी" हंस रहनी में रमने वाले संत अपना चित राम के चरणों में रखते हैं तथा भीतर से संसार के विषयों से उदास रहते हैं। कबीर साहेब के राम के चरण नहीं होते। वे किसी हाथ-पैर वाले राम को नहीं मानते। उनका राम तो घट-घट वासी चेतन है, आत्मा है। यहां "रामचरण" का शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। प्रश्न हो सकता है फिर कबीर साहेब ने "रामचरण चित" क्यों कहा? "हृदया बसे तेहि राम न जाना" की ही तरह क्यों नहीं कहा? वस्तुतः कबीर साहेब संत हृदय होने से आगंतुक प्रेमियों की भी भाषा में बोल देते थे जिससे उनके मन को भी सांत्वना मिल जाय, परन्तु उनका भाव अपना होता था जो उनकी वाणियों में छिपा नहीं है।[1] तात्पर्य है कि ज्ञानियों का मन सदैव आत्माराम में लीन रहता है।

---

१. पीछे पचहत्तरवीं रमैनी, आठवां तथा अठारहवां शब्द देखना चाहिए।

"अंत उदासी" इन दोनों शब्दों का भाव बड़ा महत्वपूर्ण है। वे अंतःकरण से उदास रहते हैं। अर्थात भीतर से वे संसार से अनाकृष्ट एवं निर्लेप रहते हैं। अथवा समस्त भौतिक उपलब्धियों का एक दिन अंत समझकर उनसे अनासक्त रहते हैं। जीव को जो कुछ प्राप्त है सब कुछ उससे छूटने वाला है। छूटने वाली वस्तुओं में मोह करने वाला व्यक्ति धोखा खाता है। इस संसार में वही सफल है, विजयी है एवं कृतकृत्य है, जो छूटने वाली समस्त वस्तुओं से सब समय पूर्ण अनासक्त है। संसार से पूर्ण उदास तथा आत्माराम में नितांत लीन मन वाला ही तो संत है।

"कागा-कुबुधि निकट नहिं आवै" ऐसे उच्च कोटि के संतों के पास कुबुद्धि रूपी कौआ फटक भी नहीं सकता। कुबुद्धि के लिए सद्‌गुरु ने कौआ का रूपक दिया। कौआ का मन चंचल एवं सब पर संदेहशील होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा सब कुछ खाने के कारण उसका आचरण भी गंदा होता है। कुबुद्धि के ये ही लक्षण होते हैं। जिसके भीतर कुबुद्धि है वह मन, वाणी तथा कर्मों से चंचल होता है। सच्चे संत के पास कुबुद्धि की गंध भी नहीं होती। इसलिए सद्‌गुरु ने कहा कि कुबुद्धि-काग उसके निकट भी नहीं पहुंच सकते।

"प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै" यहां प्रतिदिन का अर्थ है निरन्तर। पूर्ण साधक निरन्तर आत्मदर्शन एवं स्वरूपसाक्षात्कार में डूबा रहता है। विवेकवान पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वरूपविचार में मग्न होता है। इसी विचार में नींद लेते-लेते वह सो जाता है इसलिए उसको स्वप्न भी कुछ इसी तरह के होते हैं और गाढ़ी नींद में स्वरूपस्थिति के ही बीज रहते हैं। जैसे उसकी नींद खुलती है तुरन्त स्वरूपविचार की दृष्टि आ जाती है। स्वरूपस्थिति की निरन्तरता ही मुक्ति है। इसी को एकरस दशा कहते हैं।

"नीर-क्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा।" कबीर साहेब की, इस शब्द में यह अन्तिम मोहर है। वे कहते हैं कि जो नीर-क्षीर का विवेक करे वह मेरा साथी है, भक्त है, अनुगामी है, शिष्य है एवं प्रेमी है। जो जड़-चेतन को, कर्तव्य-अकर्तव्य को, बंध-मोक्ष को अलग-अलग करता है वही तो हंस है। हंसत्व विवेक है। नीर को त्याग कर केवल क्षीर ले लेना, जड़वासना का त्याग कर शुद्ध स्वरूप चेतन में स्थित हो जाना ही हंसदशा है।

जीव न किसी की पत्नी है न अंश, वह स्वयं पूर्ण है

शब्द–३५

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया॥ १ ॥
हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया, हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥ २ ॥
छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी॥ ३ ॥
कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बहुरिया = दुलहिन। राम बड़ो = ईश्वर व्यापक है। तन की लहुरिया = उसका एक अंश। रहँटा = चरखा। रतन पिउरिया = शुद्ध पिउनी। कुकुरी = आंटी, लपेटा हुआ सूत का लच्छा। बपुरी = बेचारी। सूत = नाम।

भावार्थ—हरि मेरा पति है और मैं उसकी दुलहिन हूं, वह व्यापक एवं अंशी है और मैं उसका अंश हूं।।१।। हरि मेरा चरखा है और मैं उसकी शुद्ध पिउनी हूं—इस प्रकार अपने आपको ईश्वर की पत्नी मानने वाले माधुर्य भक्ति के रसिक भक्त हरि के नाम का सूत कातते हैं।।२।। छह महीने में तागा बना और वर्ष भर में उसकी आंटी एवं लच्छा बना। अर्थात छह महीने के नाम-जप से बाह्य चंचलता शांत होकर मन भगवान में लग गया तथा एक वर्ष के नाम-जप से भगवान में धारणा हो गयी। फिर तो गुरु लोग कहने लगे कि बेचारी ने नाम-जप का सूत अच्छा काता।।३।। कबीर साहेब कहते हैं कि सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह हरि-चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता।।४।।

व्याख्या—उक्त शब्द को लेकर विद्वानों में महा भ्रम है कि कबीर माधुर्य-भक्ति-पथ के पथिक थे। अर्थात कबीर अपने आपको ईश्वर की बहुरिया मानते थे। मुसलिम सूफियों तथा हिन्दू रसिक भक्तों में यह दोष समान रूप से व्याप्त है। सूफी मानते हैं कि हम आशिक हैं और ईश्वर माशूक है। अर्थात हम पुरुष हैं और ईश्वर हमारी प्रेयसी एवं पत्नी है। उनकी धारणा है कि पुरुष का स्त्री में स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतः हम अपने आपको पुरुष तथा ईश्वर को स्त्री मानकर भक्ति करें तो ईश्वर में शीघ्र लगन लग जायेगी। इसलिए वे ईश्वर को अपनी प्रेयसी मानकर उसके विरह-वियोग में पीड़ित रहते हैं।

हिन्दू-रसिक भक्तों की धारा सूफियों से भिन्न है। रसिक भक्त मानते हैं कि हम स्त्री हैं और ईश्वर हमारा पति है। रामोपासकों तथा कृष्णोपासकों—दोनों में रसिक-भक्ति का प्रचलन है। रसिक संप्रदाय के भक्त पुरुष होकर स्त्री के वस्त्र पहनते हैं, महीना-महीना में रजस्वला बनने का स्वांग करते हैं, कभी-कभी बच्चा पैदा करने का भी स्वांग करते हैं। भक्ति के नाम पर रसिक संप्रदाय के भक्तों ने एक महा कुसंस्कार को जन्म दिया है। बहुत-से भक्त कपड़ा तो पुरुषों के ही पहनते हैं, परन्तु मन से वे कृष्ण तथा राम की पत्नी ही बने रहते हैं।

कबीर साहेब ने इस भक्ति का प्रस्तुत पद में मजाक उड़ाया है, परन्तु आश्चर्य है कि बिना सोचे-समझे विद्वानों ने इसी पद के आधार पर कबीर को ही रसिक-भक्त बना डाला है।

पूरे शब्द पर ध्यान देकर पढ़िये—"हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया। हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया" शब्द का इतना अंश रसिक-भक्तों के मुख से कहलाया गया है। इसके बाद कबीर साहेब अपनी तरफ से व्यंग्य में कहते हैं "हरि का नाम ले कतति बहुरिया।"

"छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी।" यह कहकर सद्‌गुरु बताते हैं कि छह महीने आरम्भिक नाम-जप साधना तथा वर्ष भर के नाम-जप से परिपक्वता मानते हैं। इसे देखकर उनके गुरु लोग कहते हैं कि बेचारी ने सूत अच्छा काता। यह भी एक प्रकार का व्यंग्य ही है।

अन्त की पंक्ति में सद्‌गुरु ने इसका साफ खंडन कर दिया है "कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता।" कबीर साहेब कहते हैं कि इन भक्तों ने अपने

आपको पत्नी तथा अंश और ईश्वर को पति तथा अंशी मानकर नाम-जप का सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह ईश्वर रूपी चरखा मुक्ति का दाता नहीं है। दूसरी पंक्ति में भक्तों की तरफ से कहलाया गया है "हरि मोर रहँटा" अर्थात ईश्वर मेरा नाम-जप के सूत कातने का चरखा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता।

इस शब्द में सद्गुरु ने ईश्वर को पति तथा अंशी एवं जीव को दुलहन तथा अंश होने की धारणा का खंडन किया है। कबीर साहेब जीव को पूर्ण बताते हैं। इसे बीजक की अनेक पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है। इस पति-पत्नी, अंश-अशी भाव का अगले शब्द में अधिक खुलासा खंडन करते हुए आप कहते हैं—

शब्द–३६

हरि ठग-ठगत ठगौरी लाई, हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई॥ १ ॥
को काको पुरुष कौन काकी नारी, अकथ कथा यम दृष्टि पसारी॥ २ ॥
को काको पुत्र कौन काको बाप, को रे मरै को सहै सन्ताप॥ ३ ॥
ठगि-ठगि मूल सबन का लीन्हा, राम ठगौरी काहु न चीन्हा॥ ४ ॥
कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पुत्र = अंश। बाप = व्यापक, अंशी।

भावार्थ—निज स्वरूप का भेद न जानने से हरि की कल्पना अलग कर ली गयी, अतएव यह हरि ही मानो मनुष्य को छलने वाला हो गया और यह मानो छल विद्या लेकर संसार को छल रहा है। हे भाई, हरि को अलग मानकर उसके बिछुड़न में तुम्हें शांति कैसे मिलेगी? ॥१॥ कौन किसका पति है और कौन किसकी पत्नी है? अर्थात जीव के ऊपर उसका पति मानना और जीव को पत्नी कहना सर्वथा असत्य है। यह पति-पत्नी-जैसी न कहने योग्य बात कहकर मन रूपी यमराज ने अपनी छलावापूर्ण दृष्टि फैलायी है॥२॥ इसी प्रकार कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है? अर्थात जीव को अंश कहकर उसके ऊपर अंशी की कल्पना करना अनर्गल प्रलाप है। कौन मरता है और कौन दुख सहता है? अंशांशी-भाव क्षणभंगुर वस्तुओं में होता है। ऐसा भाव मानने से जीव का ही पतन है॥३॥ इस अवधारणा ने छलावा करके सबके स्वरूप-विवेक को छीन लिया है। परन्तु इस 'राम-ठगौरी' को, अर्थात ईश्वरवाद के छलावा को कोई पहिचान नहीं सका॥४॥ सद्गुरु कहते हैं कि सबका मन इस छलावा को मान लिया है कि ईश्वर जीव से अलग है। परन्तु जो विवेकवान इस छलावा को पहिचान लेता है उसके सामने से यह गायब हो जाता है॥५॥

व्याख्या—"जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥"[१] कहने वाले कबीर अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य कैसे मान सकते हैं? यदि कोई कहता है कि मनुष्य की आत्मा से उसका लक्ष्य, उसका परमात्मा एवं मोक्ष अलग है तो साहेब कहते हैं कि यह एक छलावा है। लोग कहते हैं कि सबके

---

१. साखी २९८।

हृदय में ही परमात्मा है, तो हृदय में तो एक ही ज्ञाता की अनुभूति 'मैं' के रूप में होती है, उसी को चाहे आत्मा कहें या परमात्मा। हृदय में दो की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव यदि यह कहा जा रहा है कि आत्मा से परमात्मा अलग है एवं जीव से शिव पृथक है तो यह आत्मप्रवंचना है, अपने आप को ठगना है। इस दृष्टि से देखें तो आत्म-भिन्न ईश्वर एक ठग हो गया और उसकी मान्यता ठगौरी विद्या एवं जालसाजी हो गयी। इस ठग ने सबको ठग लिया है। इसी छलावा में सब मनुष्य छले जाकर स्वरूप शोधन के बल से हीन हो गये। सब तो ऊपर वाले की तरफ देख रहे हैं, भीतर वाले की तरफ देखने की छुट्टी ही नहीं है। ईश्वरवाद के छलावा ने मनुष्य के मन में अपने आपके लिए ऐसी हीन भावना पैदा कर दी है कि हर ईश्वरवादी यही कहता है कि मैं तो तुच्छ हूं, मैं तो कुछ नहीं हूं, ऊपर वाला ही सब कुछ है।

साहेब कहते हैं "हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई।" हे भाई, जब तुम ईश्वर को अलग मानते हो तब उसका वियोग सदा ही बना रहेगा। यदि कदाचित कभी मिल भी जाय तो पुनः बिछुड़ जायेगा; क्योंकि यह विश्वसत्ता का नियम है कि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती है। तुम्हारी मान्यता के अनुसार तुम तो अपूर्ण ठहरे, पूर्ण तो ईश्वर है और वह तुम से अलग है। फिर उसके वियोग में तुम्हें पूर्णता कब मिल सकती है! इस स्थिति में तुम कैसे जियोगे, कैसे शांति पाओगे! अलग ईश्वर मानने वाले सदैव उसकी वियोगजनित पीड़ा में ही तड़पते रहते हैं। उन्हें कभी शांति नहीं मिल सकती। अखंड शांति तो तब मिलती है जब अपनी पूर्णता का भान हो। उधारी का सौदा खाकर कोई कब तक जीयेगा! जब यह बोध होता है कि मेरी आत्मा ही परमात्मा है, पूर्णकाम एवं पूर्ण कल्याणमय है तब अपने स्वरूप में विश्राम पाकर जीव कृतकृत्य होता है।

यहां पर "को काको पुरुष कौन काकी नारी" तथा "को काको पुत्र कौन काको बाप" कहकर साधारण स्त्री-पुरुष एवं पिता-पुत्र का वर्णन न होकर पूर्व शब्दकथित ईश्वर-जीव का पति-पत्नी भाव एवं अंशी-अंश भाव की ओर संकेत है और उसका तीव्रभाव से खंडन है। इसके खंडन में "अकथ कथा यमदृष्टि पसारी" कहकर सद्गुरु ने इस भाव पर बड़ी घृणा व्यक्त की है। मैं पत्नी हूं और मेरा पति कहीं अलग एक कल्पित पुरुष है—यह अकथ कथा है, न कहने योग्य बात है, अनर्गल प्रलाप एवं बे-सिर-पैर की बात है। यह मान्यता एवं कथन मानो यम की फैलायी हुई दृष्टि है। यह अविवेकी मन ही यम है। इसी की यह भोड़ी कल्पना है। जो लोग इस घृणित विचार का प्रचार करते हैं वे मानों यम बनकर लोगों को अविवेक में बांधते हैं और उनको स्वस्वरूपशोधन से वंचित कर भवबंधनों में डालते हैं।

जीव अंश है और ईश्वर अंशी है, ऐसा कहने वाले यह भी नहीं सोचते कि अंश-अंशी विकारी होते हैं। जैसे समुद्र का जल अंशी है और उसकी तरंगें अंश हैं, तो यह विचारना चाहिए कि समुद्र के जल की राशि असंख्य परमाणुओं की ढेर होने से वह विकारी है तभी उसमें तरंग-अंश बनते हैं। यदि जल एक, अखंड और ठोस हो तो उसमें अंश बन हीं नहीं सकते। तरंग अंश है तो वह नाशवान है। संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिलता जो ऐसा पदार्थ हो कि वह किसी का अंश हो और अविनाशी भी हो। जो

अंश होगा वह अविनाशी नहीं हो सकता और जो अविनाशी होगा वह अंश नहीं हो सकता। अतएव लोगों ने जीव को अंश बताकर उसके नष्ट होने की सम्भावना पैदा कर दी है। सद्गुरु कहते हैं "को रे मरे को सहे सन्ताप।" अर्थात जीव को अंश मानकर जीव ही की मौत है और उसी को ही अपना पतन देखना है। इसलिए यह अंश-अंशी भाव भी निरर्थक बात है।

"ठगि ठगि मूल सबन का लीन्हा" ईश्वरवाद की अवधारणा ने अपने छलावा में फंसाकर सबका मूल छीन लिया है। ईश्वरवाद की मान्यता व्यक्ति के निजस्वरूप शोधन में अवरोधक है। जब तक अपने दिमाग से ईश्वर का जाल नहीं हटाया जाता तब तक व्यक्ति निज चेतन स्वरूप एवं अपनी आत्मा की पहिचान नहीं कर सकता और न अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। व्यक्ति ने अपनी आत्मा की गरिमा को ईश्वरवाद में खो दिया है। ज्ञान का मूल है अपनी चेतना। हम अपनी चेतना को तुच्छ कहते हैं और कल्पित ईश्वर को महान। इससे अधिक आत्मप्रवंचना और क्या हो सकती है! सद्गुरु कहते हैं "राम-ठगौरी काहु न चीन्हा।" इस राम-ठगौरी की कसौटी किसी ने नहीं की। राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म यदि मेरी आत्मा से अलग बताये जाते हैं तो यह एक छलावा है। यही राम-ठगौरी है। यह "राम-ठगौरी" बड़ा मार्मिक शब्द है।

"कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना।" प्रायः लोगों के मन ने ठग से ही समझौता कर लिया है। संसार के अधिकतम लोग इसी छलावा में हैं कि परमात्मा हमसे अलग है। इसी बात का चारों तरफ शोर मचा है। स्वस्वरूप-शोधन तथा त्याग में कठिनाई पड़ती है। तथाकथित ईश्वर का नाम लेकर सहज ही सब कुछ पा जाने की भावना ने आदमी को परमुखापेक्षी बना दिया और स्वरूपज्ञान से वंचित कर दिया है। परन्तु जिन्होंने इस छलावा की परख कर ली है उसके जीवन से यह सदैव के लिए विदा हो जाता है। जिसे निजस्वरूप का विवेक हो गया है वह कभी परोक्ष मान्यताओं के अन्धकार में नहीं भटकता। उसका राम या हरि निजस्वरूप चेतन ही है।

शब्द–३७

हरि ठग ठगत सकल जग डोलै, गौन करत मोसे मुखहु न बोलै॥ १ ॥
बालापन के मीत हमारे, हमहिं तजि कहँ चलेउ सकारे॥ २ ॥
तुमहिं पुरुष मैं नारि तुम्हारी, तुम्हरी चाल पाहनहु ते भारी॥ ३ ॥
माटी को देह पवन को शरीरा, हरिठग ठग सों डरें कबीरा॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पाहनहु ते भारी = पत्थर से भी भारी वजन, बहुत मंद। माटी को देह = स्थूल शरीर। पवन को शरीरा = सूक्ष्म शरीर।

भावार्थ—आध्यात्मिक-वंचना करने वाले गुरुलोग वंचना करते हुए सारे संसार में घूमते हैं। वे घूमते हुए मुझ-जैसे विचारकों से मिल जाने पर मुख से बात तक नहीं करते ॥१॥ स्वस्वरूप-बोध से वंचित होकर ही जीव कहता है कि हे भगवान, तुम हमारे बालपन एवं गर्भवास के ही मित्र हो। तुम हमें छोड़कर शीघ्रतापूर्वक कहां चले

गये? ।।२।। तुम मेरे पति हो और मैं तुम्हारी पत्नी हूं। मैं तुम्हें बुला रही हूं, परन्तु तुम्हारी चाल तो पत्थर से भी भारी हो गयी है। तुम टस-से-मस नहीं हो रहे हो, दर्शन नहीं दे रहे हो।।३।। मिट्टी की स्थूल देह तथा प्राणवायु के सूक्ष्म शरीर में बंधे ये अबोधी जीव धार्मिक वंचकों से बहुत डरते हैं। वे जैसे इन्हें चलाते हैं वैसे चलते हैं।।४।।

व्याख्या—कबीर साहेब की अद्भुत-अद्भुत वाणियां हैं। उनके कहने के विचित्र तरीके हैं। कबीर साहेब उन गुरुओं को कतई पंसद नहीं करते जो मनुष्यों को उनके आत्मबोध से अलग भटकाते हैं। हरि एवं ईश्वर के नाम पर मनुष्य को यह बताना कि तुम्हारा प्राप्तव्य तुमसे अलग है—आध्यात्मिक छलावा है। ऐसा छलावा करने वाले गुरुओं की भरमार है। उन गुरुओं का भी बहुत दोष नहीं है; क्योंकि वे भी अपनी पूर्व परम्परा से यही पढ़ाये गये हैं। उनमें से जिनको सही दशा मिल जाती है, वे जग जाते हैं।

जो स्वयं भटके हुए तथा जनता को भटकाने वाले गुरु हैं, वे विचारकों से बात नहीं करना चाहते। उन्हें सदैव यह डर रहता है कि कहीं उजाला होने पर हमारा सुरक्षित अंधकार गायब न हो जाय। यथार्थ निर्णय मिलने पर झूठी मान्यताएं टूटने लगती हैं। जिन्हें झूठी मान्यताओं से मोह है। वे नहीं चाहते कि उनके प्रति मन में संदेह हो।

जीव अपने स्वरूप का महत्व न समझकर ही बाहरी ईश्वर को पाने के लिए, उसके दर्शन के लिए रोता-गिड़गिड़ाता है और उसे पति तथा अपने आपको पत्नी मानने का भ्रम करता है। जिसे अपने स्वरूप का बोध हो गया है, जो अपनी आत्मा को समझकर उसमें रम गया है, वह बाहर से किसी ईश्वर के पाने का स्वप्न छोड़ देता है।

"माटी को देह पवन को शरीरा" यहां क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीर की ओर संकेत है। मिट्टी की देह यह स्थूल शरीर है, तथा पवन का शरीर सूक्ष्म शरीर है जिसके साथ जीव जन्मांतरों में भ्रमण करता है। इन सबका अभिप्राय है कि इस जड़ प्रकृति में जीव बंधे हैं। "हरिठग ठग सों डरें कबीरा।" ये जड़-बन्धन में बंधे हुए जीव मानसिक रूप से दुर्बल हो गये हैं और वे हरि-ठग से डरते हैं। निजस्वरूप के बोध से हीन तथा देहासक्ति में जकड़े जीव हर समय भयभीत रहते हैं। उन्हें भ्रामक गुरु लोग आत्मज्ञान से वंचित रखकर परोक्ष देवी-देवताओं की मान्यताओं में बांधे रखते हैं। जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तब उसका सारा भय समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति कर्मकांड के झमेले से मुक्त हो जाते हैं, तो गुरुओं को यह बुरा लगता है, क्योंकि ऐसा होने से उनका वर्चस्व समाप्त हो जाता है। जीव से अलग ईश्वर एवं देवी-देवता बताकर उनको खुश कर उनसे ऋद्धि-सिद्धि एवं कल्याण पाने का प्रलोभन देकर जनता को कर्मकांड में उलझाए रखना गुरुओं का काम है। यह सब जो न करे उसे वे नास्तिक एवं नरकगामी कहते हैं। इसलिए मनुष्य गुरुओं से डरते हैं। ये डरा-धमकाकर मनुष्यों को अपने जाल में रखते हैं। स्वतन्त्र आत्मचिन्तन की छूट देना धर्म का नाश समझते हैं। परन्तु सच्चा धर्म एवं अध्यात्म आत्मचिन्तन, आत्मबोध तथा आत्मस्थिति में ही है। आत्मा ही परमात्मा है जिसे पाना नहीं, किन्तु नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है। बस, केवल समझना है और बाहर से मुड़कर आत्मस्थिति में आ जाना है।

व्यक्ति का निजात्मस्वरूप ही हरि है

शब्द–३८

हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा॥ १ ॥
जहँ-जहँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा॥ २ ॥
योगी कहैं योग है नीका, दुतिया और न भाई॥ ३ ॥
नुंचित मुण्डित मौनि जटाधारी, तिन कहु कहाँ सिधि पाई॥ ४ ॥
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ई जो कहैं बड़ हमहीं॥ ५ ॥
जहँ से उपजे तहँ समाने, छूटि गये सब तबहीं॥ ६ ॥
बायें दहिने तजू बिकारा, निजु के हरिपद गहिया॥ ७ ॥
कहैं कबीर गूंगे गुर खाया, पूछे सो क्या कहिया॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बिगुर्चनि = बिगूचन, उलझन, असमंजस, कठिनाई। गन्दा = मैला, बुरा। अपनपौ = अपनापन, अपना स्वरूप, होश, सुध-बुध, आत्मगौरव। नुंचित = बाल उखाड़ने वाले। मुण्डित = बाल मुड़ाने वाले। बायें दहिने = सब तरफ से।

भावार्थ—यह आत्मदेव ही हरि एवं परमात्मा है—इस रहस्य को जाने बिना लोग भ्रांति तथा बुरी तरह उलझन में पड़े हुए हैं॥१॥ यह जीव हरि को खोजने जहां-जहां जाता है स्वरूपबोध एवं आत्मगौरव को खोकर उन्हीं में उलझ जाता है और बहुत-से बन्धनों में बंध जाता है॥२॥ योगी कहते हैं कि जीवन में पूर्णता पाने के लिए योग ही अच्छा है, हे भाई, इसके लिए दूसरा रास्ता ही नहीं है॥३॥ बाल उखाड़ने वाले जैनी, सिर मुड़ाने वाले प्रयाग तीर्थयात्री या संन्यासी, मौनी तथा जटा-जूटधारी, कहो, इन लोगों ने कहां सिद्धि पायी है? ॥४॥ शास्त्रज्ञानी पंडित, अनेक कलाओं से संपन्न गुणी, शूरवीर, कवि और दाता, ये सभी कहते हैं कि हम ही बड़े हैं, परन्तु इनका सारा ज्ञान तभी निरर्थक हो जाता है जब ये जिस विषयासक्ति-वश जन्म-धारण किये हैं उसी में पुनः डूब जाते हैं॥५-६॥ कल्याण का तो सीधा रास्ता है, वह यह कि सब तरफ से बुराइयों को छोड़ दो, और निजस्वरूप चेतन एवं आत्मदेव ही हरिस्वरूप एवं परमात्मा है यह जानकर उसे ही ग्रहण करो, अर्थात निजस्वरूप में रमो॥७॥ यदि कोई पूछे कि उसका अनुभव कैसा है? तो सद्गुरु कहते हैं कि गूंगे ने गुड़ खाया, तो उससे उसका स्वाद पूछने पर वह क्या बताएगा? वह बताने की वस्तु नहीं, किन्तु अनुभव की वस्तु है॥८॥

व्याख्या—"हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा।" संसार में हरि, राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की भीड़ लगी है। इस भीड़ में मनुष्य भ्रमित हो गया है, उलझ गया है। यह उलझन गंदी बात है। शब्द के शोर में न उलझना चाहिए, किन्तु शोध एवं परख करना चाहिए कि ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह क्या वस्तु हो सकती है! ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह परम प्रेमास्पद वस्तु है। क्या अपनी आत्मा से अलग कोई परम प्रेमास्पद वस्तु हो सकती है! जो केवल परोक्ष हो, कल्पना-लोक की वस्तु हो या मिलकर छूट जाने वाली वस्तु हो वह परम प्रेमास्पद कैसे हो सकती है! जो

कभी न छूटे, वही परम प्रेमास्पद हो सकता है और वह है हमारी अपनी चेतना एवं आत्मा। यही हरि है। यही सर्वोच्च है। परन्तु हम शब्दों की भीड़ में उसे बाहर खोजने की उलझन में पड़ गये हैं; क्योंकि प्रायः गुरुओं ने वैसा ही बता रखा है।

"जहाँ-जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, तू परमात्मा की खोज में जिन-जिन मत-मतान्तरों, मान्यताओं एवं जगहों में जाता है, वहीं-वहीं 'अपनपौ' को खोकर उलझ जाता है। "जहाँ-जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ" बड़ा मार्मिक और महत्वपूर्ण वचन है। "अपनपौ खोयेउ" ध्यान देने योग्य है। "अपनपौ" है अपना स्वरूप-भाव, अपना आपा एवं आत्मगौरव। हम आत्मा से अलग ईश्वर तथा देवी-देवताओं की कल्पना कर उनके सामने घुटने टेकने तथा रोने-गिड़गिड़ाने में अपना कृतकृत्य होना मान लिये हैं। उन्हीं के फंदों में हम बहुत प्रकार से बंध गये हैं। आत्मगौरव को खोकर किसको सुख मिला है! "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" यह मनु-वचन परमादरणीय है। अपनपौ को खोकर कौन परमात्मा मिलेगा!

योगी लोग योग ही को सफलता की कुंजी मानते हैं। यहां योग से अभिप्राय हठयोग है। सामान्य योग जिसमें चित्त का निरोध होता है, यह तो आध्यात्मिक साधक के लिए आवश्यक है ही, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्रों में भी आवश्यक है। बिना एकाग्र हुए किसी दिशा में सफलता नहीं मिल सकती। परन्तु हठयोग तो एक प्रपंच है। हठयोगी कहते हैं कि हठयोग को छोड़कर कल्याण का अन्य रास्ता ही नहीं है। बाल उखाड़ने वाले जैनी घोर तपस्या, यहां तक उपवास करके शरीर छोड़ने में मोक्ष मानते हैं। कर्मकांडियों ने प्रयाग में सिर मुड़ाने मात्र से मोक्ष मान लिया है। कुछ साधक मौनी बने रहने में मोक्ष मानते हैं। कुछ लोग बहुत लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर और भभूत लगाकर तप करते हैं। वे उसी से मोक्ष या परमात्मा के मिलने की आशा करते हैं। कुछ लोग शास्त्रों को खूब पढ़कर बौद्धिक एवं वाचिकज्ञान में ही फूले घूमते हैं। कुछ लोग संगीत, हस्तकला तथा अनेक कलाओं में गुणी बनकर उन्हीं का अहंकार गांठे बैठे रहते हैं। कुछ लोग अपने देह-बल एवं शूरवीरता दिखाने में अपनी बड़ाई समझते हैं। कुछ लोग कविता लिखने तथा मंच पर उन्हें सुनाने में अपने आपको बहुत बड़ा गौरवशाली मानते हैं। कुछ लोग बड़े-बड़े दान कर उसी के मद में इतराते रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये सारे गुण प्रशंसनीय हैं। किन्तु उच्च आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो ये सारे गुण तभी गोबर हो जाते हैं जब इनसे संपन्न लोग मन-इन्द्रियों तथा विषयों के अधीन बने बिलबिलाते हैं "जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सब तबहीं।" विषयों की मलिनता में ही सबके शरीरों की रचना होती है। भव-बन्धनों से वही बच सकता है जो अपने आप को विषयों से बचा ले। भवबन्धन का व्यावहारिक स्वरूप है मन-इन्द्रियों के अधीन बना हुआ संसार में नाचना। जो विषयों की इच्छाओं में दीन बना रहता है उसका सारा ज्ञान-विज्ञान किस काम का! जिसके ज्ञान-विज्ञान उसे परम संतुष्टि न दे सकें, मन-इन्द्रियों की गुलामी तथा नाना व्यसनों से न बचा सकें उसकी क्या प्रशंसा है!

"बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।" यहां बायें-दायें से मतलब है सभी तरफ से विकारों का त्याग करो। सद्गुरु कहते हैं कि जीवन की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए न तो हठयोग करने की आवश्यकता है, न बाल उखाड़ने एवं घोर तप करने की आवश्यकता है, न सिर मुड़ाने, न मौनी बनने तथा न जटाधारी बनने की जरूरत है। इसके लिए बहुत-से शास्त्रों के अध्ययन कर पंडित बनने की भी जरूरत नहीं है। कला-कौशल सीखने, देह को मोटवाने, देह से शूरवीर बनने, कविता लिखने तथा बड़े-बड़े दान करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसके लिए केवल एक काम करना है—सभी मनोविकारों का त्याग।

आप जानते हैं कि लोग अनेक भाषा एवं शास्त्र पढ़ डालते हैं, अनेक कला-कौशल सीख लेते हैं, बहुत-सी कविताएं एवं किताबें रच डालते हैं, बड़े-बड़े दंगलों में पहलवानों को पछाड़ देते हैं, बड़ी-बड़ी तपस्याएं कर डालते हैं जैसे पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, खड़ेश्वरी बने रहना, बाल उखाड़ना, जमीन के भीतर तीन-तीन दिन की समाधि लेना आदि। लोग ज्ञान-विज्ञान के बल पर वायुयान-द्वारा आकाश में उड़ते हैं, जल पर तैरते हैं और अनेक प्रभावशाली कर्तव्य दिखाते हैं; परन्तु मन-इंद्रियों के व्यसनों एवं विकारों को नहीं त्याग पाते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम जीवन में सर्वोच्चस्थिति चाहते हो, तो और कुछ कर पाओ या नहीं, तुम्हें जीवन के सारे विकारों को, विषयासक्ति की मलिनताओं एवं दुर्गुणों को सर्वथा छोड़ना पड़ेगा। विकारों का त्याग ही भजन है।

"निजु कै हरिपद गहिया" विकारों के त्याग के बाद क्या रह जाता है! सारी जड़ासक्ति विकार है और उसके सर्वथा दूर हो जाने पर केवल निर्विकार चेतनस्वरूप मात्र रह जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरिपद है, यही परमात्मपद है। "निजु कै हरिपद गहिया" निजस्वरूप ही हरिस्वरूप है। तुम ऐसा भाव ग्रहण करो कि तुम्हारी आत्मा ही परमात्मा है। जब तुम सारे जड़ाध्यास रूपी विकारों को छोड़कर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में स्थित हो जाओगे तब कुछ बाकी नहीं रह जायेगा। सारे जड़-दृश्यों का मोह छोड़ देने पर निज चेतन स्वरूप मात्र ही रह जाता है। यही तो सांख्य की भाषा में 'विशुद्धम् केवलम्' है। इसी को वेदान्त की भाषा में अद्वैत भी कह सकते हैं बशर्ते जड़-चेतन की अभिन्नता एवं चराचर व्यापक के स्वप्न न देखे जायं। क्योंकि जहां मन का सपना शुरू हुआ, पुनः दृश्य जगत में एवं विकारों में आ गये। जब बोध में निज चेतनस्वरूप के अलावा कुछ नहीं रह जाता है तब यही सर्वोच्च स्थिति है।

उक्त स्थिति का अनुभव कोई पूछे तो बोधवान उसे क्या बतायेगा! गूंगा गुड़ खाया हो तो उससे पूछने पर वह कैसे उसके स्वाद को बतायेगा! गूंगा तो गूंगा ही है, जबान वाला भी इतना ही कहेगा कि गुड़ मीठा है। उसका स्वाद अच्छा है। इसके अलावा पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तो नहीं करा सकता। पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तब होगा जब वह पहले से गुड़ खाये हो या वर्तमान में खाये। इसी प्रकार स्वरूपस्थिति के सुख का अनुभवरस जबान से नहीं बताया जा सकता। जब भौतिकरस का वर्णन असंभव है, तब स्वरूपस्थिति-रस का वर्णन कैसे हो सकता है! उसे तो वही जानेगा जो उसका अनुभव करेगा। वह स्वसंवेद्य है।

सत्य को असत्य परास्त नहीं कर सकता

शब्द–३९

ऐसो हरि सो जगत लरतु है, पाण्डुर कतहूँ गरुड़ धरतु है॥ १ ॥
मूस-बिलाई कैसन हेतू, जम्बुक करै केहरि सों खेतू॥ २ ॥
अचरज एक देखो संसारा, स्वनहा खेदै कुंजर असवारा॥ ३ ॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, इहै सन्धि काहु बिरलै पाई॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हरि = आत्मज्ञानी। पाण्डुर = पनिहा सांप जो विषरहित होता है। गरुड़ = एक पक्षी, कहा जाता है यह सांप को भी खा लेता है। खेतू = युद्ध। स्वनहा = श्वान, कुत्ता। कुंजर = हाथी। सन्धि = भेद, रहस्य, मर्म।

भावार्थ—ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषों से संसार के लोग विवाद करते हैं। परन्तु क्या पनिहा सांप गरुड को पकड़ सकता है? ॥१॥ चूहा बिल्ली का क्या बिगाड़ सकता है? यदि सियार सिंह से युद्ध करना चाहे तो उसकी बेवकूफी है॥२॥ संसार में एक आश्चर्य देखता हूं कि कुत्ता हाथी पर सवार व्यक्ति को खदेड़ना चाहता है॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, इसका भेद कोई बिरला पाया है कि आत्मज्ञानी पुरुष को कोई परास्त नहीं कर सकता, अर्थात सत्य को असत्य मिटा नहीं सकता॥४॥

व्याख्या—३८ वें शब्द के आखिर में कहा गया है "बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।" अर्थात सारे मनोविकारों को छोड़कर और निजस्वरूप को ही हरिस्वरूप समझकर आत्माराम में रमो। फिर ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष ही मानो हरि है। सद्गुरु इस ३९वें शब्द में कहते हैं कि ऐसे आत्मज्ञानी रूप हरि से जगत के लोग विवाद करते हैं कि ये तो किसी का भजन ही नहीं करते। न तो ये राम कहते हैं न रहीम, न पूजा करते हैं न नमाज पढ़ते हैं, न मन्दिर जाते हैं न मस्जिद। जिसे बोध हो गया कि आत्मा ही परमात्मा है वह ऊपर क्यों हाथ उठाये! उसका कोई बाहरी कर्मकांड नहीं होता जिससे संसार के लोग उसे समझ सकें कि यह कोई भजन-पूजन कर रहा है। अतएव अनाड़ी लोग उनसे वाक्-युद्ध करने आते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा ही कैसे परमात्मा हो सकता है? भला, यह जीव शिव कैसे हो जायेगा!

ज्ञानी संत हरि हैं, परमात्मा हैं, क्योंकि वे परम सत्य में स्थित हैं। संसार के अशुद्ध अंतःकरण के लोग उनकी निश्चिंतता, स्वच्छता एवं स्वच्छंदता का सुख देखकर जलते हैं। वे विवाद करके उनको उच्छिन्न करना चाहते हैं। जो सारे आडम्बरों से रहित सत्य में स्थित हैं ऐसे संतों की विद्यमानता में कितने खल लोग अपनी हानि समझने लगते हैं। इसलिए वे उन्हें उखाड़ने के चक्कर में पड़ जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे, सत्य बड़ा अमोघ, अटल और स्थिर होता है। उसे सारा संसार मिलकर भी उखाड़ नहीं सकता। वस्तुतः विश्वसत्ता तो उसका सहायक रहती है, केवल कुछ मूढ़ जीव ही उसका विरोध करते हैं और वे अपने आप मुंह की खाते हैं।

सद्गुरु ऐसे मूढ़ जीवों के लिए निर्बल पनिहा सांप, चूहा, सियार तथा कुत्ते का रूपक देते हैं और संत के लिए सबल गरुड, बिल्ली, सिंह एवं हाथी-सवार का। जैसे

गरुड का सांप कुछ नहीं कर सकता, बिल्ली का चूहा, सिंह का सियार एवं हाथी-सवार का कुत्ता कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वैसे सत्य का असत्य कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सत्य हरि है, असत्य उसका क्या कर सकता है। सारे उदाहरण बड़े मार्मिक, अकाट्य एवं मजेदार हैं। जरा, आप गंभीरता से इन पर सोचिए, आपको हंसी आ जायेगी। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है "हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि। श्वान रूप संसार है, भूकन दे झखमारि।" हाथी पर बैठे हुए व्यक्ति का कुत्ते भौंककर क्या करेंगे! जो सत्य में स्थित है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

रट्टू सुग्गा मत बनो, राम को पहचानो

शब्द–४०

पण्डित बाद बदे सो झूठा॥ १ ॥

राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा॥ २ ॥
पावक कहै पाँव जो डाहै, जल कहै तृषा बुझाई॥ ३ ॥
भोजन कहै भूख जो भाजे, तो दुनिया तरि जाई॥ ४ ॥
नर के संग सुवा हरि बोले, हरि परताप न जानै॥ ५ ॥
जो कबहीं उड़ि जाय जंगल में, तो हरि सुरति न आनै॥ ६ ॥
बिनु देखे बिनु अर्स-पर्स बिनु, नाम लिये क्या होई॥ ७ ॥
धन के कहै धनिक जो होवै, निर्धन रहै न कोई॥ ८ ॥
साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी॥ ९ ॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी॥१०॥

शब्दार्थ—बाद = विवाद, झगड़ा, बहस। बदे = कथन करना, पक्का करना। गति = मुक्ति। खांड़ = चीनी। डाहै = जल जाय। भाजै = भग जाय, दूर हो जाय। सूवा = सुग्गा। यमपुर = मन की मलिनता, गर्भवास।

भावार्थ—पंडित लोग बहस करके जो यह पक्का करते हैं कि राम नाम जपने मात्र से मोक्ष मिल जायेगा, यह बात झूठी है॥१॥ यदि राम-राम कहने मात्र से संसार के लोग मुक्ति पा जाते हैं तो शकर-शकर कहने से मुख अवश्य मीठा हो जाना चाहिए॥२॥ इतना ही क्या, यदि आग-आग कहने से पैर गरम हो जायं, जल-जल कहने से प्यास बुझ जाय और भोजन-भोजन कहने से भूख भाग जाय तो केवल राम-राम कहने से संसार के लोग तर भी सकते हैं॥३-४॥ पिंजरे में बन्द शुक-पक्षी मनुष्य के साथ राम-राम कहता है, परन्तु वह राम के महत्त्व को नहीं जानता; और जब पिंजरे से निकल कर कदाचित जंगल में भाग जाता है, तब राम का ख्याल भी नहीं करता॥५-६॥ बिना देखे और बिना अनुभव किये, केवल नाम लेने से क्या होता है? ॥७॥ यदि लोग केवल जबान से धन-धन कहने से धनी हो जाते, तो संसार में कोई निर्धन रहता ही नहीं॥८॥ संसार के विषयों और माया में हार्दिक प्रेम होना—यही हरि भक्तों के गले की फांसी है॥९॥ सद्गुरु

कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम वासनाओं में बंधकर यमपुर में जाओगे। यमपुर है घिनौने कर्म, यमपुर है गर्भवास ।।१०।।

व्याख्या—मुख से किसी नाम के लेते ही सारे पापों का भस्म एवं मोक्ष प्राप्त होने की मान्यता का पागलपन पुराकाल में नहीं था। पापों के क्षय तथा मोक्ष प्राप्ति के अनेक सस्ते नुस्खे धीरे-धीरे निकले। उनमें राम-नाम-जप मात्र से मोक्ष पा जाने की बात जोर पकड़ने लगी। कबीर साहेब के सैकड़ों वर्ष पूर्व से राम-नाम-जप आरम्भ हो गया था। उनके काल में यह कुछ जोर पकड़ रहा था। वैष्णवों के सम्पर्क में होने से राम-नाम का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा था। उन्होंने दाशरथी राम को उपास्य न मानकर अंतरात्मा को माना था और उसी को उपासनीय राम कहा था। प्रचलित शब्द को स्वीकार कर उसको अपना अर्थ देना विवेकवान का काम है। कबीर साहेब ने यही किया। उन्होंने राम शब्द स्वीकार लिया, और कहा कि वह व्यक्ति की अंतरात्मा ही है। बीजक में बारम्बार राम शब्द आया है। जहां अंतरात्मा के लिए है वहां विधिपरक है और जहां आत्म-बाह्य है वहां निषेधपरक है। कबीर साहेब ने बीजक में "राम नाम भजु राम नाम भजु" निर्देश-वाक्य रूप में भी कई बार कहा है, परन्तु वह औपचारिक है। उन्होंने राम नाम को जानने तथा उस पर विचार करने के लिए ज्यादा कहा है।

रामोपासकों ने राम-नाम की बहुत महिमा बढ़ायी। उन्होंने कहा कि चाहे जितना पाप हो राम-नाम लेते ही सब भस्म हो जायेगा और जीव का मोक्ष हो जायेगा। कबीर साहेब राम से जुड़े थे, अतः उनको यह साधकों के लिए बड़ा अहितकर लगा। कबीर साहेब धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे समाज को धोखा देने वाली बातों से नफरत करते हैं। उनका मंतव्य है कि समाज के मन में उत्साह भरने के नाम पर उसे धोखा न दिया जाय, किन्तु उसे सच्चा रास्ता बताया जाय। वह उस पर आज नहीं तो कल चलेगा। परन्तु यदि उसे हमने बिना पहुंचे ही पहुंचने का धोखा दे दिया है कि तुम पहुंच गये हो तो वह चलने का कभी नाम भी नहीं लेगा।

कुछ पंडित लोग बहस कर रहे थे कि राम-नाम कहने मात्र से जीव का मोक्ष हो जायेगा। तो कबीर साहेब ने पंडितों को दे ललकारा, और उनसे कहा कि ये तुम्हारी बातें झूठी हैं। झूठ को झूठ कहने में साहेब डरते नहीं थे। यह उनकी सबसे बड़ी खूबी थी। वे जो कुछ प्रतिपादित करते थे खरा सत्य रहता था। उसको सिद्ध करने के लिए उनके उदाहरण ज्वलंत होते थे। उन्होंने पंडितों से कहा कि न शकर कहने से मुख मीठा होता है न आग कहने से पैर गरम होते हैं, न पानी कहने से प्यास बुझती है और न भोजन कहने से भूख भगती है, फिर केवल राम कहने से मोक्ष कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है शकर, आग, पानी तथा भोजन भौतिक हैं। कहने मात्र से अवश्य इनका अनुभव नहीं होता, परन्तु नाम-जप मन से संबंध रखता है; अतः नाम जपने से मन पवित्र हो सकता है। यह बात ठीक है कि यदि मन लगाकर कोई ऐसा नाम जपा जाय जिसके लिए पवित्र अवधारणा है तो कुछ-न-कुछ अवश्य मन पवित्र होगा। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम किसी वस्तु में अपने मन को पूर्णतया लगा देते हैं, तब वह दूसरी तरफ नहीं जाता। अतएव कोई भी नाम जिसके प्रति पवित्र भाव है, जपना अच्छा है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए। मोक्ष का तो अर्थ है जीव का बन्धनों से छूट जाना। जीव का स्वरूप क्या है, बंधनों का स्वरूप क्या है तथा जीव बन्धनों से कैसे छूट सकता है, इनका ज्ञान होना चाहिए और तत्पश्चात बंधनों का त्याग होना चाहिए, तब मोक्षदशा आती है। यह केवल किसी नाम रटने का फल नहीं हो सकता। तोतारटंत नाम जपने से कोई बड़ी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। एक उदाहरण लें—

'राम-राम' सुग्गा रटता है, राम नाम क्या वस्तु है, यह नहीं जानता। इसी प्रकार कितने लोग नाम-रटन तो खूब करते हैं, परन्तु राम क्या वस्तु है, यह नहीं जानते।

एक चिड़िया वाला चार सुग्गे लेकर बाजार में बेचने जा रहा था। एक महात्मा ने देखा और कहा कि भाई! इन सुग्गों को छोड़ दो, इन्हें क्यों बन्द कर रखे हो? उसने कहा—महाराज! हमारी यही जीविका है। रोज दो-चार सुग्गे फंसाकर बेचता हूं और उसी से कुटुम्ब पालता हूं। महात्मा पांच रुपये देकर उन सुग्गों को ले लिये और अपने आश्रम पर ले जाकर उन्हें पढ़ाने लगे। महात्मा ने कहा—सुग्गो! पढ़ो—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

सुग्गे उपर्युक्त मंत्र पढ़ लिये और भलीभांति अभ्यस्त कर लिये, तब महात्मा ने उन्हें छोड़ दिया। वे जंगल में उड़ गये और यही रटने लगे। धीरे-धीरे जंगल के सभी सुग्गे यही पढ़ लिये। चारों ओर से वहां यही शब्द हर क्षण होता था।

एक दिन चिड़िया वाला आया। जंगल में पैर रखते ही उन सुग्गों की सावधानी के शब्द सुने। चिड़िया वाले की आकृति फीकी हो गयी। वह बेचारा समझा कि हमारा दावं अब नहीं लगेगा। जाकर अपने पिता से कहा कि जंगल के सभी सुग्गे यही कहते हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

पिता ने कहा—अरे! जाल बिछाया भी कि नहीं? पुत्र ने कहा कि नहीं। पिता ने कहा जाल बिछाकर देख तो! पुत्र गया और जंगल में जाल बिछा दिया। उसमें उसने दाने डाल दिये। सुग्गे आये और जाल में बैठकर दाने चुगने लगे, साथ-साथ अपने मंत्र का पाठ करने लगे हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

इधर बधिक ने डोरी खींची। सब सुग्गे फंस गये। परन्तु वे तो अपने मंत्र अब भी बड़ी उमंग में पढ़ रहे हैं। बधिक जब बाजार में सुग्गों को बेचने गया, तब भी वे अपना आलाप सुना रहे हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

राम-नाम जप में भी प्रायः यही भावना काम कर रही है। राम तो अपना स्वरूप ही है; परन्तु मनुष्य यह भेद नहीं जानते। सारी वासनाएं त्यागकर उसमें स्थित नहीं होते। केवल जिह्वा से राम-नाम कहते रहते हैं।

धन-धन कहने से जैसे कोई धन नहीं पाता, वैसे केवल राम-राम कहने से राम का न परिचय होता है और न राम में स्थिति। हमें राम का परिचय करना होगा कि राम क्या है! वस्तुतः सबका राम अपनी-अपनी चेतना है। व्यक्ति का आत्मअस्तित्व ही रामस्वरूप है। उसमें तभी स्थिति होती है जब जीवन से विषय-वासनाओं का त्याग हो।

"साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी।" साहेब कहते हैं कि यदि हरिभक्त लोग अपना हार्दिक प्रेम विषय-माया से रखते हैं तो यही उनके गले की फांसी है। इस फांसी के कटे बिना राम में विश्राम कैसे मिलेगा? मन एक है। उसमें राम रहे या काम। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। केवल जबान से राम-राम कहते रहें और मन विषयों में तथा संसार के माया-मोह में डूबा रहे तो यह राम-भजन नहीं है। असली राम-भजन तब शुरू होता है जब मन वासनाहीन तथा मोह-माया-रहित हो जाय। यह विवेक उदय होने पर ही होगा। विवेक उदय करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग एवं तत्त्वचिन्तन की आवश्यकता है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।" आपको आश्चर्य होगा कि इस शब्द के शुरू में तो कबीर साहेब कहते कि राम-राम कहने से यदि मोक्ष हो जाता तब तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता, और इस शब्द के आखिर में कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम बंधकर यमपुर में जाओगे। तो क्या यह परस्पर विरुद्ध बात है? विरुद्ध बिलकुल नहीं है। इस शब्द की शुरू पंक्ति से लेकर आठवीं पंक्ति तक सद्गुरु यह दिखलाते हैं कि रट्टू सुग्गा बनने से काम नहीं चलेगा। उससे कोई बड़ी उन्नति होने वाली नहीं है। वे नवीं पंक्ति में बतलाते हैं कि हरिभक्तों का मुख्य बन्धन विषयों तथा मोह-माया का राग है। यदि यह छोड़ा जा सके तो मानो राम का सच्चा भजन हो रहा है। राम तो निजस्वरूप ही है, जब विषय-वासनाएं छूट गयीं तब मन निजस्वरूप में लीन हो गया। यही राम भजन है। यदि यह न हुआ तो जीव को बंधकर यमपुर में जाना पड़ेगा। क्या कबीर साहेब पौराणिकों की तरह यमपुर या यमलोक मानते थे? वस्तुतः कबीर साहेब ऐसा कुछ नहीं मानते थे। उस समय यमपुर शब्द का प्रचलन था। जो पाप करता है वह यमपुर में जाता है, यह उनके समय में लोक-चर्चा थी। इसलिए इस शब्द को उन्होंने भी स्वीकारा, परन्तु इसको अपना अर्थ दिया। कबीर साहेब के ख्याल से यमपुर दुर्वासनाएं हैं, मन की मलिनताएं एवं घिनौने कर्म हैं। मन में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, दुख आदि का बने रहना यमपुर में निवास करना है तथा शील, क्षमा, करुणा, विवेक, वैराग्य, शांति एवं मानसिक प्रसन्नता का बने रहना स्वर्ग में निवास है। काम में लीन व्यक्ति यमपुर में है तथा राम में लीन व्यक्ति स्वर्ग में है। जो काम में लीन है वह बन्धनों में जकड़ा है तथा जो राम में लीन है वह मुक्त है।

छुआछूत पर विचार तथा उसका ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-४१

पण्डित देखहु मन में जानी॥ १ ॥
कहु धौं छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी॥ २ ॥
नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटही में घट सपचै॥ ३ ॥
अष्टकँवल होय पुहुमी आया, छूति कहाँ ते उपजै॥ ४ ॥
लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी॥ ५ ॥
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी॥ ६ ॥
छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया॥ ७ ॥
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया॥ ८ ॥

शब्दार्थ—धौं = भला। छूति = छुआछूत का भाव। नादे = प्राणवायु। बिन्दे = वीर्य। रुधिर = रक्त। घटही में = नारी के गर्भाशय में। घट = शरीर। सपचै = पकता, पुष्ट होता एवं बढ़ता है। अष्टकँवल = माता के उदर से। पुहुमी = पृथ्वी। बासन = बरतन, शरीर। पाट = पीढ़ा, पृथ्वी। जेंवन = भोजन। अँचवन = पानी। उपाया = उत्पन्न। माया = विषयासक्ति एवं मोहासक्ति।

भावार्थ—हे पंडित! मन में समझकर देखो॥१॥ कहो भला, छूत कहां से पैदा हुई जिससे तुमने छुआछूत की भावना पैदा कर ली? ॥२॥ प्राणवायु, वीर्य और रज इकट्ठे होकर शरीर की रचना शुरू होती है और माता के पेट में बच्चे का शरीर बढ़ता, पकता तथा पुष्ट होता है॥३॥ उसके बाद माता के पेट से बच्चा पैदा होकर जमीन पर आता है, फिर छूत कहां से पैदा हो गयी? ॥४॥ चौरासी लाख योनियों के असंख्य शरीर सड़-सड़कर मिट्टी में मिलते हैं॥५॥ उसी एक जमीन रूपी पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठाया है, फिर भला उनमें किसको अशुद्ध मानकर छूत लगा दी जाय? ॥६॥ विचारकर देखा जाय तो भोजन में छूत है, पानी में छूत है बल्कि छूत से तो सबकी पैदाइश ही है॥७॥ कबीर साहेब कहते हैं कि छूत से वही बचा है जिसका मन विषयासक्ति एवं माया-मोह से रहित है॥८॥

व्याख्या—कुछ वर्ग के लोगों को अछूत मानना यह भारत के बाहर के देशों में भी किसी न किसी प्रकार है। अमेरिका एवं दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो (काले) जाति के लोगों के प्रति गोरे लोग बड़ी घृणा करते हैं। वे अपने मकान भी उनको किराये पर नहीं देना चाहते। यहां तक कि गोरों के मोहल्लों में नीग्रो आ नहीं सकते। अब इधर कुछ उदारता बढ़ी है।

भारतवर्ष में और उसमें हिंदूसमाज में छुआछूत की भावना बड़ी प्रबल है। भारत की दो परम्पराएं बहुत पुरानी हैं—ब्राह्मण एवं श्रमण। श्रमण परम्परा में पहले और भी सम्प्रदाय थे, परन्तु वे सहस्राब्दियों से लुप्त हैं। अतएव दो ही के नाम उसमें लिये जा सकते हैं—जैन और बौद्ध। ये दोनों परम्परा ब्राह्मण-परम्परा से छुआछूत के मामले में काफी

उदार हैं। उनमें भी बौद्ध ज्यादा उदार हैं। ब्राह्मण-परम्परा की मूल पुस्तक वेद हैं। उनमें छुआछूत की कहीं चर्चा नहीं मिलती। बल्कि यह चर्चा मिलती है कि हमारी पौशाला एक हो और हम एक साथ बैठकर भोजन लें।[1] छुआछूत नाम की विकृति हिंदूसमाज में धीरे-धीरे फैली है।

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे ने छुआछूत-भावना पैदा होने के कई कारण बताये हैं। वे लिखते हैं—"अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नहीं उत्पन्न होती, इसके उद्‌गम के कई स्रोत हैं। भयंकर पापों एवं दुष्कर्मों से लोग जाति निष्कासित एवं अस्पृश्य हो जा सकते हैं। मनु (९/२३५-२३९) ने लिखा है कि ब्रह्महत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए। न तो कोई उनके साथ खाये, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिताई करे और न उनके साथ कोई विवाह-सम्बन्ध स्थापित करे। वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का दूसरा स्रोत है धर्म सम्बन्धी घृणा एवं विद्वेष, जैसा कि अपरार्क (पृष्ठ ९२३) एवं स्मृतिचंद्रिका (पृष्ठ ११८) ने षटत्रिंशन्मत एवं ब्रह्माण्डपुराण से उद्धरण लेकर कहा है—"बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों (सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ पानी में स्नान कर लेना चाहिए।" ऐसा ही अपरार्क ने भी कहा है।[2] अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण है कुछ लोगों का, जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्तिपूजा करता है), ग्राम के पुरोहित, तथा सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र-परिधान सहित स्नान करना पड़ता था। चौथा कारण है कुछ परिस्थितियों में पड़ जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि में स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शवस्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था (मनु ५/८५)। अस्पृश्यता का पांचवां कारण है म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशों का निवासी होना। इसके अतिरिक्त स्मृतियों के अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति जो गंदा व्यवसाय करते थे, अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त (मछुआ), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध (शिकारी), सौनिक (कसाई), शाकुनिक (पक्षी पकड़ने वाला या बहेलिया), धोबी, जिन्हें छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।"[3]

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यही पता चलता है कि इस प्रकार धीरे-धीरे छुआछूत की भावना बढ़ती गयी। फिर शूद्र तथा अतिशूद्र कहलाने वाला एक बड़ा वर्ग समाज से उपेक्षित होता गया। डॉ० पांडुरंग जी लिखते हैं—"प्राचीनकाल में बहुत से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अतः क्रमशः यह विचार ही घर करता चला गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते हैं जो गंदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य हैं। आज तो स्थिति

---

१. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः। *(अथर्ववेद ३/३०/६)*

२. बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्।
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्।। (अपरार्क पृष्ठ ९२३)

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६८।

यहां तक आ गयी है कि चाहे कुछ जातियों के लोग गंदा व्यवसाय करें या न करें जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते हैं। आश्चर्य! परन्तु पहले यह बात नहीं थी।''[१]

धीरे-धीरे तो यहां तक होता गया कि हल चलाकर अन्न पैदा करने वाले, सब्जी पैदा करने वाले, सूत कातने वाले, कपड़े बुनने वाले, कपड़े सीने वाले, कपड़े धोने वाले, तेल पेरने वाले, बाल बनाने वाले, मिट्टी या धातु के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले, अर्थात समाज के सभी कर्मकरों को शूद्र और अछूत कह डाला गया। उनकी कमाई का फल, अन्न, सब्जी, कपड़े, तेल, बरतन, पलंग, फाटक आदि तो प्रेम से अपना लिये गये, परन्तु उन्हें अछूत घोषित कर दिया गया। कर्मकर ही किसी समाज एवं देश के हाथ-पैर होते हैं, उन्हीं को यदि हीनभावना से देखा जाय और उन्हें अछूत तक घोषित कर दिया जाय तो यह कितना आत्मघाती प्रयास है! ये सारे कर्मकर जिनको एकबारगी शूद्र घोषित कर दिया गया, उन्हें कहा गया, शूद्र ब्राह्मण की सेवा जलती हुई अग्नि के समान दूर से करें, परन्तु क्षत्रिय और वैश्य उनकी सेवा उनका स्पर्श करके कर सकते हैं।[२]

बिना सही आधार के केवल कल्पित जाति के आधार पर छुआछूत की भावना हिंदूसमाज का जबर्दस्त कोढ़ है। इस कोढ़ के लिए जिम्मेदार ब्राह्मण-पुरोहित है जिसे रूढ़ रूप में पंडित भी कहा जाता है। वस्तुपरक बुद्धि रखने वाले परमपारखी कबीर पंडितों से पूछते हैं कि हे पंडितो! मन में विचारो और यह बताओ कि छुआछूत की भावना तुम्हारे मन में कहां से पैदा हो गयी जिससे तुमने दूसरे लोगों को अछूत कह डाला। मानवमात्र के निर्माण की शुरुआत माता के गर्भाशय में होती है। वहां प्राण, रज और वीर्य से शरीर बनने का आरम्भ होता है। रज और वीर्य गंदे हैं। उनसे बनता हुआ शरीर महीनों माता के गंदे गर्भाशय में बढ़ता एवं पकता है। फिर वह नौ-दस महीने में ''अष्टकँवल होय पुहुमी आया'' तब ''छूति कहाँ ते उपजै।'' शरीर गंदगी से बना, माता का गर्भाशय जहां शरीर बना, वह भी गंदा और जिस द्वार से शरीर पैदा हुआ, वह भी गंदा। पैदा होने के बाद एक ही समान सभी के बच्चों की मलिनताएं धोयी जाती हैं और सभी बच्चों को वैसे ही दूध पिलाया जाता है। यह दशा मानवमात्र की उत्पत्ति की है, फिर इसमें कौन पवित्र और कौन अपवित्र ठहरा?

एक बात इसमें आयी है ''अष्टकँवल होय पुहुमी आया'' प्रश्न होता है कि यह 'अष्टकँवल' क्या है? शरीर में गुदा और उपस्थ के बीच से लेकर खोपड़ी तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रसार तथा सुरति—ये आठ चक्र एवं कमल[३] माने गये हैं। इन चक्रों या कमलों को नीचे से गिनने पर ऊपर का सुरतिकमल आठवां होता है और ऊपर से गिनने पर नीचे योनिद्वार में स्थित मूलाधार आठवां चक्र या कमल होता है। अतएव अर्थ हुआ कि नवजात शिशु अष्टकंवल-मूलाधार

---

१. वही, पृष्ठ १६९।

२. दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
संस्पृश्यपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च॥ (महाभारत, अनुशासन पर्व, ५९/३३)

३. इसका विवरण आगे ८७ वें शब्द की व्याख्या में देखें।

स्थानीय योनिद्वार से पृथ्वी पर पैदा होता है। कुछ विद्वान कहते हैं कि नाभिस्थान में रहने वाले मणिपूर चक्र को अष्टकंवल कहा जाता है। अन्य योगियों ने मणिपूर को दस-दलकमल का माना है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे अष्टकमलदल का माना है। कबीर मंशूर का लेखक लिखता है "कबीर साहेब तीसरे मणिपूर चक्र को आठ ही दलों का मानते हैं, बाकी सब योगी उसे दसदल का मानते हैं।"[1] इस दृष्टि से अर्थ हुआ कि अष्टकमलदल मणिपूरचक्र जो नाभि में स्थित है वहां से बच्चा पृथ्वी पर पैदा हुआ। अतएव अष्टकंवल चाहे नाभि में स्थित मणिपूर को माने और चाहे योनिद्वार में स्थित मूलाधार को माने, अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। एक में अर्थ हुआ कि बच्चा पेट से बाहर हुआ और दूसरे में अर्थ हुआ कि योनि से बाहर हुआ। सार यह है कि सभी मनुष्यों की पैदाइश का मूल गंदा है। फिर इसमें कौन शुद्ध और कौन अशुद्ध हुआ? यदि कर्म से नहीं, जन्म से छुआछूत मानते हो, तो सब अछूत हुए।

"लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी। एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी।" कबीर साहेब मूल को पकड़ते हैं। वे कहते हैं कि पृथ्वी एक पीढ़ा है, पाटला है। इसी एक पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठा दिया है। पृथ्वी में ही सारे जानवरों की लाशें सड़कर मिलती हैं और बहुत-सारी गंदगियां समाती हैं। उसी एक पीढ़े पर पंडित जी बैठे हैं और दूसरे सब बैठे हैं, फिर किसकी छूत रह गयी?

साहेब अन्त में बड़े मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं "छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया। कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया।" पैदाइश तो सबकी छूत से है ही, भोजन तथा पानी में भी छूत लगी ही रहती है। सब के भोजन को कभी-न-कभी मक्खियां छू ही लेती हैं और मक्खियां महा गंदी होती हैं। हवा में जो अशुद्धि मिली है वह तो हर चीज को छूकर उसे अपवित्र बना देती है। सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले गंगा जल में कौन-सी गंदगी नहीं मिली है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः छुआछूत से वही अलग है जो मोह-माया से परे हो गया है।

मनुष्य को चाहिए कि वह शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार बरते। मक्खी छू लेती है, गन्दी हवा छू लेती है, पानी में अशुद्धि मिली रहती है, इसलिए शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार भी नहीं करना चाहिए—यह अभिप्राय कबीर साहेब का नहीं है। उनका तो अभिप्राय है कि अन्य प्रकार की छूत को तुम झेल लेते हो जो सचमुच बुरा है, परन्तु यदि पवित्र हाथ से कोई तुम्हारी वस्तु छू ले, तो उसे भिन्न जाति का समझकर तुम छूत का पाखण्ड करते हो। कुत्ते और कौए तुम्हारी थाली में अपने मुंह मार जायं तो तुम थाली को धोकर उसे शुद्ध मान लेते हो, परन्तु वह पवित्र मनुष्य का बच्चा तुम्हारी थाली में भोजन नहीं कर सकता जिसे तुमने जन्मजात अछूत मान रखा है। तुम गाय के, कुत्ते के तथा बकरे के बच्चे को खेला सकते हो, परन्तु मनुष्य के बच्चे को अछूत मानते हो। यह सब पोंगापंथी विचार धर्म के नाम पर चलता है। "मनु और विष्णुधर्मसूत्र (२३/५२) ने लिखा है कि मक्खियों, हौज की बूंदों, मनुष्य की छाया, गाय, अश्व, सूर्यकिरण, धूल, पृथ्वी,

---

१. कबीर मंशूर, पृ० ४२७-४२८।

हवा, अग्नि को पवित्र मानना चाहिए।"[1] इस सूची में गन्दी मक्खियों तक को भी पवित्र मानने की राय दी गयी है, परन्तु केवल उस मानव को ही पवित्र मानने की राय नहीं दी गयी जिसे कभी शूद्र कह दिया गया था।

वस्तुतः जन्म से कोई अछूत नहीं है। कोई अपने गन्दे कर्म से अछूत हो सकता है, वह भी उसी समय तक जब तक वह गन्दा कर्म करता है। यदि वह गन्दा कर्म छोड़ दे तो अछूत नहीं है। गन्दा कर्म है हिंसा का काम, जैसे बधिक या कसाई का काम। मांसाहार गन्दा काम है। एक शाकाहारी व्यक्ति मांसाहारी के हाथ का भोजन नहीं कर सकता। हां, यदि वह मांसाहार छोड़ दे, तो उसके हाथ का भोजन करने में कोई बुराई नहीं। जिसके अंग गन्दे हैं, कपड़े गन्दे हैं, बरतन गन्दे हैं; जो शुद्धाशुद्धि का समुचित ध्यान नहीं रखता, उसके हाथ का भोजन करना गलत है। अशुद्धता अछूत है तथा शुद्धता ठीक है। हम मिथ्या जाति-पांति के अहंकार में डूबकर यह भेदभाव की दीवार बना रखे हैं। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

अहंकार आने नहीं, मैं उत्तम यह नीच।
एकत्त्व सबही समलखै, मानुष खानि के बीच॥ (पंचग्रन्थी)

टट्टी फेंकना गन्दा काम नहीं है। यह तो शुद्ध काम है। टट्टी फेंककर फेंकने वाला जगह को स्वच्छ करता है। अतः उसका काम स्वच्छ है। हर मनुष्य सुबह उठकर अपनी-अपनी टट्टी साफ करता है। यदि टट्टी साफ करने वाले अछूत हैं तो संसार के सभी मनुष्य अछूत हैं। जब आदमी टट्टी की सफाई में लगा हो उस समय वह अछूत है। उसके बाद जब वह नहा-धो कर स्वच्छ हो गया तब शुद्ध है। भिन्न देश तथा भिन्न सम्प्रदाय के लोगों को अछूत कहना अज्ञान एवं द्वेष का फल है। एक दृष्टि से देखें तो जन्म से सब अछूत हैं और इसमें किसी का ठिकाना नहीं होगा। दूसरी दृष्टि से देखें तो जन्म से कोई अछूत नहीं, किंतु गन्दगी ही अछूतपन का लक्षण है, उसे सबको दूर करना चाहिए।

इस शब्द का सार उद्देश्य ही मननीय है। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारी पैदाइश और तुम्हारा सब कुछ अशुद्ध है। अशुद्धि से वही मुक्त है जो माया-मोह का त्यागी है। "यह संसार सकल है मैला, राम गहे ते सूंचा।" सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की मलिनता तो दूर नहीं करते हो, बस, दूसरों को अछूत सिद्ध करते रहते हो।

"कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया।"

मोक्ष-विचार

शब्द–४२

पण्डित शोधि कहो समुझाई, जाते आवागमन नशाई॥ १ ॥
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बसे भाई॥ २ ॥

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७०।

उत्तर कि दक्षिन पूरब कि पच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं॥ ३ ॥
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं॥ ४ ॥
अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं॥ ५ ॥
जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं॥ ६ ॥
पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग-नर्क नहिं जाहीं॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जहाँ का पद तहाँ समाई॥ ८ ॥

शब्दार्थ—शोधि = खोज एवं परख कर। माहीं = मध्य। गोपाल = ब्रह्म। धौं = भला। भव लोग = संसार के लोग। पद = आधार, आश्रय, स्वरूप।

भावार्थ—हे पंडित! अच्छी तरह समझ-विचारकर जनता को उपदेश दो, जिससे उनके जन्म-मरण का बन्धन नष्ट हो॥१॥ हे भाई, यह बताओ कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष किस दिशा में रहते हैं? ॥२॥ वे उत्तर रहते हैं कि दक्षिण, पूर्व रहते हैं कि पश्चिम, आकाश में रहते हैं कि पाताल में, या मध्य अर्थात पृथ्वी पर रहते हैं? ॥३॥ कहा जाता है कि बिना ब्रह्म के कोई जगह खाली नहीं है, अर्थात सब कुछ ब्रह्म ही है, तब भला नरक कहां है जहां नास्तिक लोग जाते हैं? ॥४॥ वस्तुतः जिनको सत्य और असत्य का पता नहीं है ऐसे अनजान लोग ही स्वर्ग और नरक की कल्पना में भटकते हैं। परन्तु जिसने यह जान लिया कि हरि अपना आत्मस्वरूप ही है उसके मन में कहीं आने-जाने का भ्रम नहीं होता॥५॥ अतएव जिस शास्त्र-जाल के बहकावे में पड़कर संसार के लोग भयभीत रहते हैं वह भय हमें नहीं है॥६॥ क्या पाप है और क्या पुण्य है इसके विषय में मुझे शंका नहीं है, इसके लिए मुझे शास्त्रों से पूछना भी नहीं है। न हमें स्वर्ग जाना है और न नरक जाना है॥७॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जैसे हर वस्तु अपने आधार एवं आश्रय में लीन होती है, वैसे हर व्यक्ति का आश्रय अपना आपा, अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा ही है। अतएव जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। कहीं अन्यत्र आना-जाना नहीं॥८॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सत्यासत्यविवेकिनी होती है उसकी बुद्धि पंडा कहलाती है और जिसकी बुद्धि पंडा होती है, वह पंडित होता है। अतएव जो सच्चा पंडित होता है वह तो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है। ऐसे पंडितों का कबीर साहेब आदर करते हैं। वे उनके विषय में कहते हैं "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।[1] कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी।[2] पंडित सो बोलिये हितकारी।"[3] इत्यादि। परन्तु संसार में पंडित नामधारियों की भीड़ है जो पोथी-पुराणों के आधार पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष की अयुक्त व्याख्या करते रहते हैं। कबीर साहेब ने ऐसे पंडितों को टोका है। साहेब कहते हैं कि हे पंडितो, मोक्ष-विषय बड़ा उच्च है। उसे गहराई से सोचो। वह अमुक नाम जपने, अमुक नदी में नहाने, अमुक कर्मकांड

---

१. बीजक, शब्द ५३।
२. बीजक, शब्द ९४।
३. बीजक, रमैनी ७०।

करने, अमुक देवता को खुश करने आदि से नहीं होता। मोक्ष तत्त्व का अनुभव करने के लिए तो आत्मशोधन करना पड़ता है। "शोधि कहो समुझाई" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। कौन बंधा है, किसमें बंधा है, कैसे बंधा है, कैसे छुटेगा, छूटने के बाद स्थिति क्या होगी? इन महत्त्वपूर्ण विषयों के अन्वेषण की आवश्यकता है। विवेकी भावुक बनकर यह नहीं कहता है कि अमुक-अमुक कर्मकांड से मोक्ष मिल जायेगा। जीव विषयों में राग के कारण बंधा है, सत्संग एवं स्वविवेक से समझकर उन्हें छोड़ने पर जीव का मोक्ष होता है। निजस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इन बातों को समझकर जब यह रहनी में उतर आती है तब मोक्ष है। जिसका मन अनासक्त होकर आत्मलीन हो गया, वह मुक्त है। इस विषय को जानकर मुमुक्षुओं को उपदेश देने से उनको पथ मिलेगा, उनके बंधन कटेंगे।

"अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।" पंडित लोग जनता को उपदेश करते हैं कि व्यक्ति अमुक तिथि को यदि प्रयाग त्रिवेणी में, काशी में, अयोध्या में, पुष्कर में नहाये तो मुक्त हो जायेगा, 'जो जाय बद्री सो ना आवे वोद्री।' ब्रह्मसूत्र (४/२/१-२१ तथा ४/३/१-७) में कहा गया है कि मुक्तजीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं, उनमें मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ है। कबीर साहेब कहते हैं कि ये मोक्षादि पुरुषार्थ—पुरुष के प्रयोजन, किस दिशा में बसते हैं? वस्तुतः ये मनुष्य के शरीर में ही बसते हैं। इसके लिए किसी दिशा या लोक में यात्रा नहीं करना पड़ता। श्रम करने से धन मिलता है, संयम करने से धर्म बढ़ता है, शुभ पथ पर चलने से एवं इच्छाओं को जीतने से मानो कामनाएं पूरी होती हैं और वासनाओं का सर्वथा अंत मोक्ष है। ये सब मानव के शरीर में ही रहते हैं। उसी के श्रम का सब फल है। ये नाना दिशाओं में दौड़ने से नहीं सिद्ध होते। हां, इनके लिए सच्चे सद्गुरु एवं सन्तों की संगत की खोज करनी चाहिए।

"बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं।" पंडित लोग यह भी कहते हैं कि सारा विश्व ब्रह्म ही है। साहेब कहते हैं कि फिर नरक कहां है? सब कुछ ब्रह्म ही नहीं है, किन्तु माया भी है। सब कुछ चेतन ही नहीं है, जड़ भी है। लोगों ने भावावेश में कह दिया कि सब कुछ ब्रह्म ही है। बस, इसको परम विधि वाक्य मानकर बिना सोचे-विचारे इसके पीछे पड़ गये। संसार में जड़ अलग है, चेतन अलग है। चेतन ही ब्रह्म कहा जा सकता है जड़ नहीं। यदि जड़ को भी ब्रह्म कहा जाय तो उसके भाव पर विचार करना पड़ेगा, जैसे जलम् ब्रह्म, अन्नम् ब्रह्म आदि। तो यह जल और अन्न की महिमा में कहा गया है न कि वे चेतन हो जायेंगे। बिना विचार किये लोग कहते रहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसा मान लेने पर जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, विधि-निषेध, भक्ष्य-अभक्ष्य, ग्राह्य-त्याज्य सब पर पानी फिर जाता है। इसी का परिणाम है कि कितने तथाकथित ब्रह्मवादी भोग-योग एक में मिला कर हांकते रहते हैं—"भोगहुं विषय कि त्यागहुं इन्द्रिय, मोको लगे न रंचक रंग।"[1]

---

१. विचार सागर।

"अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं।" पंडित लोग स्वर्ग और नरक की व्याख्या भी बड़ी लंबी-चौड़ी करते रहते हैं। जो उनके मान्यतानुसार कर्मकांड से चलता हो उसे वे कहते हैं कि वह स्वर्ग में जायेगा और जो उनके कर्मकांड के अनुसार नहीं चलता, अपितु विचार करता है, उसे वे कहते हैं कि वह नरक में जायेगा। एक-एक एकादशी व्रत करने से बहुत दिनों तक स्वर्ग में निवास बताया गया है। यज्ञ के नाम पर अमुक प्रकार से होम करने से, अमुक तीर्थ-यात्रा से, व्रत से, नाम-जप से लंबी-लंबी अवधि तक स्वर्गवास की बात बतायी गयी है। पवित्र कर्मों से स्वर्ग तथा बुरे कर्मों से जीव का नरकवास माना गया। यह तो तथ्य है कि अपने अच्छे-बुरे कर्मों से जीव को आज तथा आगे सुख-दुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग-नरक का वर्णन एक रूपक है। वस्तुतः पंडितों ने जनता को बुरे मार्ग से हटाकर अच्छे मार्ग में लगाने के लिए ही यह स्वर्ग-नरक की कल्पना की है। फिर इस कल्पना का दुरुपयोग भी किया गया। बड़े सस्ते-सस्ते नुस्खे स्वर्ग पाने के बने तथा अपने विचारों से भिन्न विचार वालों को नरक में जाने की बातें भी कही गयीं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय तो अज्ञानी जीवों के लिए हैं। हरि को समझने वाले के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह समझता है कि मेरा चेतनदेव एवं आत्मदेव ही हरि है जो नित्य प्राप्त है, उसे पाने के लिए किसी स्वर्ग में जाना नहीं है। पवित्र मन वाला मानो सब समय स्वर्ग-सुख भोगता है। वह मन की मलिनता को नरक समझता है और उससे अपने आपको रहित रखता है। वह सारी मलिनताओं को छोड़कर निरन्तर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में विहरता है। उसे नरक में जाने का भय नहीं तथा अलग से स्वर्ग में जाने की आवश्यकता नहीं।

"जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं।" कोशकारों ने भव के अर्थ उत्पत्ति, जन्म, होना, संसृति, प्राप्ति, संसार, अग्नि, शिव, कुशल[1] आदि किये हैं। यहां भव का अर्थ संसार है। भवलोग का तात्पर्य हुआ संसार के लोग। सद्गुरु कहते हैं कि संसार के लोग जिस डर से डरते हैं वह डर मुझे नहीं है। संसार के लोग किस डर से डरते हैं? वह डर है पुरोहितों का। हर मजहब का पुरोहित जो जनता के आचार का उपदेष्टा है, उसने अपने स्वार्थ के लिए बड़ी-बड़ी धांधलियां मचायी हैं। उसने धर्म के नाम पर समाज को विभाजित एवं विखंडित किया और जनता को अंधविश्वास में डालकर उनका बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण किया। उन्होंने जनता को अपनी पकड़ में रखने का सदैव प्रयत्न रखा। कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे किसी भी मजहब के पुरोहितों का डर नहीं है। मैं बुद्धि को तिलांजलि देकर चलने वाला नहीं हूं। मैं स्वयं देखकर चलता हूं और लोगों को राय देता हूं कि वे भी स्वयं देखकर चलें। पुरोहित, पंडित, महात्मा, गुरु—सब मान्य हैं; परन्तु अपने विवेक को खोकर नहीं।

"पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग-नर्क नहिं जाहीं।" कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे इसमें शंका नहीं कि पाप क्या है और पुण्य क्या है? मैं पाप और पुण्य जानने के लिए

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

किसी शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझता। यदि मैं शास्त्र देखकर पाप-पुण्य निर्धारित करूं तो मुझे यज्ञ और देवपूजन के नाम पर पशु-वध, मांस-भक्षण,[१] जन्म से ही किसी वर्ग को ऊंच तथा किसी वर्ग को नीच मानने के लिए विवश होना पड़ेगा जो मानवता के विरुद्ध है। किसी जीव को सताना पाप है तथा किसी जीव के दुख को दूर करना एवं उसे सुख-सुविधाएं पहुंचाना पुण्य है। मानव मात्र को मूलतः समान मानना और उनसे प्रेम रखना तथा जीव मात्र पर करुणा रखना यह पुण्य है। मानव में जन्म से ही किसी को नीच और अछूत मानना तथा किसी को जन्म से ही उच्च तथा पूज्य मानना गलत है। पाप-पुण्य तथा कर्तव्याकर्तव्य क्या है? यह मनुष्य की अंतरात्मा खुद बताती है। साहेब कहते हैं कि मुझे स्वर्ग और नरक में भी नहीं जाना है। मन में मलिनता है ही नहीं, इसलिए नरक का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन सदैव शुद्ध है, मेरे मन में प्राणिमात्र के लिए प्रेम एवं करुणा है, इसलिए मैं निरन्तर स्वर्ग में निवास करता हूं। इसलिए स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय का नाश हो गया। मैं चित्त की निर्मलता रूपी स्वर्ग में निरन्तर विहरण करता हूं।

रही मोक्ष की बात, जो जीवन का उच्चादर्श है। उसके लिए सद्गुरु कहते हैं "जहाँ का पद तहाँ समाई।" हर वस्तु अपने आश्रयस्थल में लीन होती है। यह जीव न किसी का आधार है न आधेय, किन्तु निराधार है। 'असंगो अयम् पुरुषः' यह चेतन पुरुष असंग है, अकेला है। अतः यह वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस आत्मा का आश्रय स्वयं आत्मा ही है। जीव को छोड़कर जीव का अन्य आश्रय नहीं है। जब तक जीव वासनाओं में बहता है तब तक बंधन है और जब वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वही मोक्ष है। मोक्ष में कहीं आना-जाना नहीं है। जहां मन नहीं, वाणी नहीं, प्रकृति-क्षेत्र नहीं, केवल स्वरूपस्थिति है, यही मोक्षपद है। अतएव "जहाँ का पद तहाँ समाई" वासनाहीन जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

शब्द–४३

पण्डित मिथ्या करहु विचारा, ना वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा॥ १ ॥
थूल-अस्थूल पौन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा॥ २ ॥
ज्योति स्वरूप काल नहिं जहँवा, बचन न आहि शरीरा॥ ३ ॥
कर्म धर्म किछुवो नहिं उहँवा, ना वहाँ मन्त्र न पूजा॥ ४ ॥
संजम सहित भाव नहिं जहँवा, सो धौं एक कि दूजा॥ ५ ॥
गोरख राम एकौ नहिं उहँवा, ना वहाँ वेद विचारा॥ ६ ॥
हरिहर ब्रह्मा नहिं शिव शक्ती, तीर्थउ नाहिं अचारा॥ ७ ॥
माय बाप गुरु जहँवा नाहीं, सो धौं दूजा कि अकेला॥ ८ ॥
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ ९ ॥

---

१. आगे ९३ शब्द की व्याख्या देखें।

शब्दार्थ—वहाँ = निरपेक्ष मोक्षतत्व। थूल = स्थूल। अस्थूल = सूक्ष्म। काल = समय की अवधि। संजम = संयम—ध्यान, धारणा और समाधि। एक = असंग। दूजा = द्वैत।

भावार्थ—हे पण्डित! निरपेक्ष मोक्षतत्व में कुछ अन्य के होने की बात यदि सोचते हो तो तुम व्यर्थ ही विचार करते हो। न वहां सृष्टि है न रचयिता ॥१॥ न वहां स्थूलतत्व है न सूक्ष्मतत्व है, न हवा है न आग है, न सूरज है न चांद है, न धरती है, न पानी है ॥२॥ न वहां ज्योति स्वरूप है न समय की अवधि, न वाणी है और न शरीर ॥३॥ वहां कर्म-धर्म कुछ नहीं है। न वहां मन्त्र है न पूजा ॥४॥ वहां धारणा, ध्यान तथा समाधि रूपी संयम के सहित दूसरे का अस्तित्त्वबोध नहीं है, फिर वहां एक कहोगे कि दूसरे की उपस्थिति भी। ॥५॥ वहां न गोरख हैं न अवतार माने गये राम हैं। वहां वेद-विचार भी नहीं है ॥६॥ वहां विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, शिव-शक्ति कुछ नहीं। वहां तीर्थ और आचार के होने का भी कोई प्रश्न नहीं है ॥७॥ वहां माता, पिता और गुरु के होने की भी कोई गुंजाइश नहीं है। फिर बताओ कि वह किसी अन्य के साथ है या अकेला है? ॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं जो आज इस तत्त्व को समझ ले, वह गुरु है। मैं उसका शिष्य बनने के लिए तैयार हूं ॥९॥

व्याख्या—४२ वें शब्द में उठाये गये विषय को इस शब्द में भी सद्गुरु ने लिया है। प्रायः पण्डितजन मोक्ष को भी भौतिक वस्तु बना डालते हैं। वे पुराणों में कहते हैं कि एक दिव्य लोक है। वहां परमात्मा निवास करता है। वहां से वह समय-समय पर सृष्टि करने के लिए उतरता है। उसी की उपासना करने से उसका दिव्य धाम मिलता है। वह ज्योतिस्वरूप है। वह अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक चमकता है। वहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि सब निवास करते हैं। वहां निरन्तर ध्वनि होती रहती है। वह दिव्य धाम अनन्त सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। देखिए वेदांतदर्शन—"वाणी तथा इन्द्रियां मन में मिल जाती हैं, मन प्राण में, प्राण अध्यक्ष जीवात्मा में, आत्मा पांचों भूतों (तत्त्वों) में, अर्थात सूक्ष्मशरीर में स्थित होकर जीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। मुक्तात्मा शरीर से निकलकर सूर्य की किरणों में मिलकर ब्रह्मलोक को चला जाता है। वह सूर्य-किरणों से आगे दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण छह महीने को, छह महीने से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को, वहां से अमानव पुरुष उस मुक्तात्मा को ब्रह्म तक पहुंचा देते हैं। उन मुक्तात्माओं को संकल्प मात्र से भोगों की प्राप्ति होती है। जैसे आग अनेक दीपों में प्रकाश कर जाती है, वैसे मुक्तात्मा अनेक देहों को धर सकता है।"[1]

कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित! यह सब तुम व्यर्थ विचार करते हो। मोक्षावस्था में चांद, सूर्य, पवन, पानी, शरीर, प्राण ये सब कुछ नहीं होते। कबीर साहेब के जमाने में गोरखनाथ जी की बड़ी महिमा थी और श्री राम की महिमा तो पहले से ही थी। साहेब ने कहा कि ठीक है कि ये महापुरुष अपनी-अपनी जगह पर बड़े हैं, परन्तु तुम्हारे मोक्षस्वरूप में इनसे कोई संबन्ध नहीं होगा। धारणा, ध्यान और समाधि को योग की भाषा में संयम

---

१. वेदांत दर्शन के चौथे पाद में देखें।

कहते हैं। साहेब कहते हैं कि देहधारी साधक इसका उपयोग करता है; परन्तु विदेह मोक्ष में यह भी नहीं है। अर्थात किसी आधारबिन्दु में धारणा, ध्यान तथा समाधि की जाती है। विदेह मोक्षावस्था में जहां मन ही नहीं है तो यह संयम किसमें तथा वहां दूसरे का अस्तित्त्वबोध कहां। वहां तो अकेला असंग चेतन है। वहां उससे पृथक दूसरे की बात ही नहीं हो सकती। वहां वेद-विचार का क्या स्थान! जहां स्थूल-सूक्ष्म शरीर नहीं, वहां जीव का दृश्य जगत से किसी प्रकार संबंध होने की गुंजाइश कहां हो सकती है!

माता, पिता एवं गुरु का होना देह संबंध में ही संभव है। शुद्ध चेतन मात्र एवं मोक्षावस्था में यह सब कुछ नहीं। सदेह में ही जब साधक संकल्पों को छोड़कर स्व-स्वरूप में स्थित होता है, तब वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति होती है। वहां अन्य कुछ नहीं होता, फिर विदेह मोक्ष में तो कहना ही क्या! वहां तो केवल प्राण निकल गये और चेतन अपने आप रह गया। उसे न कहीं आना है न जाना। सद्गुरु पंडित से पूछते हैं कि स्वरूपस्थिति में "दूजा कि अकेला" वहां अकेला है कि दूसरा और कुछ है? वस्तुतः वहां कोई दूसरा नहीं। वहां चेतन मात्र है। इस विचार का श्रुतियां भी समर्थन करती हैं तथा जैन और बौद्ध विचार भी।

सद्गुरु कहते हैं कि जो आज इस विषय को समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं। "अबकी बूझै" में बूझने में रहनी भी है। अर्थात जो इसे समझकर निजस्वरूप में स्थित हो जाय, वह गुरु है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो गुरु है, महान है। साहेब उसके सामने झुकने के लिए तैयार हैं। यह उनकी प्रसिद्ध विनम्रता है। जो आज सत्य समझकर अपना कल्याण करे, कबीर साहेब उसको उच्च्व-दृष्टि से देखते हैं, उसे आदर देते हैं। यह सत्यशोधकों एवं कल्याणार्थियों के लिए कितना बड़ा प्रोत्साहन है।

थोड़ा स्वयं उस स्थिति का अनुभव करके देखो। सारे संकल्पों को छोड़ दो। यदि सारे संकल्प छूट गये, तो क्या रहा! संकल्पों में ही जगत दिखता है। संकल्पों के शांत हो जाने पर जीव का जगत से संबंध कट जाता है। तब वह केवल शुद्ध चेतन रह जाता है। वहां सारा प्रपंच शांत है। जो यह स्थिति प्राप्त करे वह प्रशंसा-भाजन है। यह सारे सम्प्रदायों से परे, परमतत्व एवं मोक्ष की सर्वोच्च व्याख्या है।

माया-विचार

शब्द—४४

बुझ बुझ पण्डित करहु विचारा, पुरुषा है कि नारी॥ १ ॥
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती, योगी के घर चेली॥ २ ॥
कलमा पढ़ि-पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥ ३ ॥
बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी॥ ४ ॥
कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी॥ ५ ॥
मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों॥ ६ ॥
कहैं कबीर मैं युग युग जीवों, जाँति पाँति कुल खोवों॥ ७ ॥

शब्दार्थ—ब्राह्मणी = ब्राह्मणपन, छलपूर्ण बुद्धि। चेली = शिष्या बनकर मोहित करने वाली। कलमा = मुसलमानों के धर्म विश्वास का मूलमंत्र—"ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" तुरुकनी = मुसलमानपन, भ्रामक बुद्धि। कलि = कलिकाल, पाप बुद्धि। बर = दूल्हा। बरे = वरण करना, ब्याह करना। कारे मूँड़ = काले बाल वाले नवयुवक, तात्पर्य में अज्ञानी मनुष्य। आदि = शुरू, सदा से, मूलतः। कुमारी = कुंआरी। मैके = नैहर, सांसारिकता, प्रपंचासक्ति। ससुरे = ससुराल, ज्ञानदशा। साँई = स्वामी, चेतन स्वरूप, आत्मा। युग-युग = सदा के लिए।

भावार्थ—हे पण्डित! बारम्बार विचार करके समझो कि यह माया नारी है या पुरुष। अर्थात माया भले स्त्रीलिंग है, परन्तु अपनी प्रबल गतिविधियों से वह पुरुष-जैसी बलवती लगती है॥१॥ यह माया ब्राह्मणों के घर आकर उनकी छलबुद्धि बन गयी, और उन्हें छलने लगी; यह योगियों एवं साधु-संन्यासियों के आश्रमों में आकर चेली बन गयी और उन्हें छलने लगी॥२॥ यह माया कलिकाल में कलमा पढ़-पढ़कर एक नयी भ्रामक बुद्धि बन गयी कि ईश्वर एवं सत्य का द्वार इसलाम, कुरान एवं मुहम्मद ही है, अन्य नहीं॥३॥ यह माया ऐसी स्त्री है किसी दूल्हे का वरण नहीं करती और अपना किसी एक से ब्याह नहीं करती परन्तु असंख्य बच्चे पैदा करती रहती है। अर्थात वह केवल एक जगह बंधकर नहीं रहती, सभी क्षेत्रों एवं मत-मजहबों में उसका आधिपत्य है, वह हर जगह भ्रांति की सृष्टि करती रहती है॥४॥ वह एक भी अज्ञानी को अपने जाल से नहीं बचने देती; परन्तु सदा से आज तक कुंआरी बनी है। अर्थात अज्ञानियों के वह अधीन नहीं होती, और ज्ञानी उससे दूर रहते हैं इसलिए वह सदैव कुंआरी ही बनी रहती है॥५॥ वह सदैव प्रपंचासक्ति रूपी नैहर में ही रहती है। परमार्थ रूपी ससुराल में नहीं जाती, और कहती है कि मैं चेतन स्वामी के साथ नहीं सोऊंगी, अर्थात स्वरूपस्थिति रूपी समाधि से वह भागती है॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मैं जाति-पाति एवं कुल-सम्प्रदाय आदि सारे मायावी बन्धनों को तोड़कर तथा अमर चेतन स्वरूप में स्थित होकर सदा जीवित रहूंगा। अर्थात मायारहित स्वरूपस्थिति अमर है॥७॥

व्याख्या—पंडित सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं। असली पंडित का अर्थ किसी तथाकथित जाति-वर्ण से नहीं है; किन्तु जो भी सत्यासत्य विवेकी हो वही पंडित है। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, पुनः-पुनः गंभीरतापूर्वक विचार करो और अच्छी तरह समझकर बताओ कि माया स्त्री है कि पुरुष? यह सब जानते हैं कि माया स्त्रीलिंग शब्द है, फिर उसको पुरुष होने का क्या प्रश्न हो सकता है? सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री को लोग अबला कहते हैं। परन्तु माया तो इतनी बलवान है कि सबको नचा रही है तब इसे अबला कैसे कहें, स्त्री कैसे कहें! यह तो सबल पुरुष की तरह है। इसलिए जब लोग माया को स्त्री कहते हैं तब मुझे शंका होती है कि यह नारी है कि पुरुष? इस माया की बलवत्ता को आगे बताते हैं।

"ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती" यह माया ब्राह्मण के घर में जाकर ब्राह्मणी हो गयी है। यहां ब्राह्मणी से मतलब ब्राह्मण-नारी नहीं है, किन्तु ब्राह्मणपन है। एक ब्राह्मणपन होगा ब्रह्मज्ञानी हो जाना एवं सारे विकारों को छोड़कर आत्मानुभूति की उच्चतम दशा में स्थित हो जाना। परन्तु यह भाव यहां नहीं है। यहां तो माया ब्राह्मणी बन गयी है।

अतएव यहां ब्राह्मणी का अर्थ है रूढ़ ब्राह्मण वर्ण एवं जाति का प्रपंच और उनकी छल-बुद्धि। ब्राह्मण वर्ण भगवान के मूड़ से पैदा हुआ है, वह जन्म से ही शुद्ध है, वह बुरे कर्मों में लिप्त रहे तो भी उसे पूजना चाहिए, दूसरे गुण-ज्ञान-संपन्न हों, तो भी उन्हें नहीं पूजना चाहिए। ब्राह्मण नामधारी ही वेद-शास्त्र पढ़ने का, किसी उच्च स्थान पर जाने का, अध्यापन करने का, संन्यास एवं मोक्ष का अधिकारी है, एक बड़ा समाज शूद्र है, वह केवल मोटी सेवा का काम कर सकता है, विद्या, शिक्षा एवं उच्च स्थान पर नहीं जा सकता, वह शुद्ध होने पर भी अछूत है, उसमें अति शूद्र माने गये लोग मंदिर तक में नहीं प्रवेश कर सकते, कर्म से नहीं, जन्म से ही भिन्न-भिन्न जाति-वर्ण के कहलाने वाले छोटे और बड़े हैं—यह सब ब्राह्मणपन है, ब्राह्मण नामधारियों का समाज के साथ छलावा है। और यही माया है, जो ब्राह्मणों के घर में, उनके मन में जमकर बैठ गयी है।

वस्तुतः जन्म से सब मनुष्य समान हैं। कर्म से ही लोग ऊंच-नीच होते हैं। कोई मनुष्य बिना सद्गुण पूज्य नहीं है, सद्गुण जिसमें हैं वही पूज्य है। अशुचिता की अवस्था में कोई भी अछूत है, शुचिता की अवस्था में कोई अछूत नहीं। हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अधिकारी है। इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मानव मात्र का मूलतः समान अधिकार है, जैसे जिसके कर्मों की योग्यता हो वह वैसा बढ़े यह तथ्य है। इसके उलटा समझना और करना मनुष्य-समाज के साथ छलावा है। यह छलावा-बुद्धि माया है जो ब्राह्मण कहे जाने वालों के मन में बैठ गयी है।

"योगी के घर चेली" यहां योगी का अभिप्राय हर सम्प्रदाय के विरक्तों के लिए है। कितने साधु-संन्यासी स्त्रियों के उद्धार के लिए उन्हें शिष्या एवं दासी बनाकर अपने आश्रमों एवं समाज में ले लेते हैं, और उन्हें साथ में रखते हैं, यह उनकी मर्यादा के विरुद्ध तो है ही, उनके आचरण में भी दाग लगाने वाला है। कोई विरला ही साथ में दासी रखकर आचरण से ठीक रहता है, आदर्श तो उसका भी खराब होता है, शेष लोग तो उसी में डूब जाते हैं। साधु ने साधुनी, संन्यासी ने संन्यासिनी एवं महंत ने महंतिनी बनाकर उन्हें साथ में रख लिया यह उनके मन की माया है। माया अर्थात मोह जब मन में बैठता है तब विरक्त कहलाने वाले लोग स्त्रियों को शिष्या बनाकर पास में रखते हैं। यही बात साधिका स्त्रियों के लिए भी है, यदि वे पुरुषों का अभिन्न सम्बन्ध करेंगी, चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-वेषधारी, तो उनके लिए कुसंग हो जायेगा। स्त्री साधिकाओं को पुरुषों के संसर्ग से सर्वथा अलग तथा पुरुष साधकों, साधुओं एवं संन्यासियों को स्त्रियों से सर्वथा अलग रहना चाहिए, तभी वे साधना में बने रह सकते हैं। सद्गुरु ने ६९ वीं रमैनी की साखी में कहा है—

सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥

"कलमा पढ़ि-पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥" यह माया कलमा पढ़-पढ़कर तुरुकबुद्धि के रूप में बन गयी। यहां का सरल अर्थ है कि माया मुसलमानों के मन में मुसलमानपन बनकर बैठ गयी। मुसल्लम हो ईमान जिसके वह है मुसलमान, यह अभिप्राय यहां नहीं है। मुसलमान नाम रखकर एक समाज साधना में चले, यह अच्छा

है। यहां तो माया मुसलमानिन बन गयी है। मुसलमानों का मुख्य कलमा है "ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" इसका अर्थ होता है "अल्लाह के समान कोई दूसरा अल्लाह नहीं और मुहम्मद अल्लाह का दूत है।" सार यह हुआ कि ईश्वर के अलावा अन्य देवी-देवता नहीं मानना चाहिए और मुहम्मद को ईश्वर का संदेशवाहक मानना चाहिए। जब तक दुनिया का प्रलय नहीं हो जायेगा तब तक मुहम्मद के बताये रास्ते पर चलकर ही इनसान स्वर्ग जा सकता है। जो व्यक्ति मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को नहीं मानता है, वह अनंतकाल तक नरक की आग में जलाया जायेगा। मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को छोड़कर कहीं स्वर्ग का रास्ता ही नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि इस भाव के कलमा एवं मंत्र पढ़-पढ़कर मुसलमानों के मन में एक भ्रामक बुद्धि बैठ गयी है जो माया है। यह मजहबी एवं सांप्रदायिक खाईं माया ही है। माया का अर्थ है जो जीव को भटका दे और यह सांप्रदायिक कूपमंडूकता महा माया है। कुआं का मेढक कुआं को ही बड़ा जलाशय समझता है। क्योंकि उसने अन्य जलाशयों को कभी देखा ही नहीं। वह कुआं में जन्मा और कुआं में ही जीवन बिता रहा है। एकमात्र अपना सम्प्रदाय ही मोक्ष-पथ है और दूसरे का नरक-पथ है, यह मान्यता माया ही नहीं, महा माया है। इस धारणा ने ही घोर साम्प्रदायिकता का विष बोया है। यहां तक कहा गया "मुसलमानों को चाहिए कि मुसलमानों को छोड़कर काफिरों को अपना दोस्त न बनावें और जो वैसा करेगा, तो उससे अल्लाह से कुछ सरोकार नहीं।"[१] इसका अर्थ यह नहीं है कि कुरान में इन-जैसी ही बातें बतायी गयीं हैं। भाईचारे का व्यवहार, परहेजगारी तथा अनेक अच्छी शिक्षाएं हैं। परन्तु अंततः स्वर्ग का रास्ता रूढ़ इसलाम के घरौंदे में बन्द कर देना माया में बंध जाना है। यह माया कलिकाल में अकेली रहती है। अर्थात यह अपना किसी को जोड़ा नहीं रखती। यह मानो अद्वैत है, अकेली है, यह अपना किसी का सानी नहीं रखती है। यहां कलि से अभिप्राय कल्पित युग न समझकर पापबुद्धि एवं मलिनता समझना चाहिए। "कलि में रहत अकेली" अर्थात यह मलिनता उत्पन्न करने में बेजोड़ है।

"बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी।" यह माया किसी एक से ही जुड़ी नहीं रहती है, किन्तु घूमती रहती है और सभी असावधान लोगों को ठगती रहती है। ऊपर तो केवल ब्राह्मण, योगी तथा मुसलमान के ही नाम लिये गये। नाम कहां तक लिये जायेंगे। आप इसाइयों को देखिये, वहां केवल ईसा ही स्वर्ग-द्वार है। इसाइयत छोड़कर स्वर्ग का रास्ता नहीं है। इसी प्रकार प्रायः सभी मतों को समझ लें। यह माया हर जगह घुसकर मनुष्यों को किसी-न-किसी प्रकार विचलित करती है। यह माया किसी को काम में, किसी को क्रोध में, किसी को लोभ में, किसी को मोह में, किसी को ईर्ष्या-द्वेष में, किसी को जाति-वर्ण के मिथ्या अहंकार में, किसी को सम्प्रदाय एवं मजहब की जड़ता में तथा किसी को अन्य भुलावन में भटकाकर पतित करती है। यह माया किसी दूल्हे से ब्याह किये बिना अनेक पुत्रों को जन्म देने वाली है। अर्थात यह किसी एक ही जगह न रहकर सब क्षेत्रों में अपना जाल फैलाती है और अपने प्रपंच की सृष्टि करती है। भवचक्र,

---

१. कुरान (पारा ३, रुकू ३, आयत १०/२८) पृष्ठ ७२-७३।
श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ, छठां संस्करण।

जंजाल, छलावा, धोखा, झमेला, बखेड़ा ही प्रपंच है। यही माया के पुत्र हैं। यही माया की सृष्टि है।

"कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।" युवकों के बाल काले रहते हैं, अतः कारे मूड़ से अर्थ है जिनके सिर के बाल काले हैं वे नवयुवक। माया एक भी नवयुवक को नहीं छोड़ती, यह स्थूल अर्थ यहां नहीं है। क्योंकि कितने ही नवयुवक माया-त्यागी होते हैं। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ है। यहां अर्थ है कि माया एक भी अविवेकी को नहीं छोड़ती। कारे मूड़ अविवेकी आदमी जितने हैं सबको माया किसी न किसी प्रकार छलती है। यह माया सारे अज्ञानियों को अपने जाल में फंसा लेने के बाद भी "आदि कुंआरी" है। माया अज्ञानियों को पतित करती है, परन्तु उनके द्वारा वह स्वयं नहीं पतित की जाती। अर्थात कोई अज्ञानी माया का स्वामी नहीं होता, उसको जीतने वाला नहीं होता। और जो ज्ञानी है उसके पास माया जाती ही नहीं। इस प्रकार माया अज्ञानियों से अजेय तथा ज्ञानियों से दूर रहने के कारण सदैव कुंआरी बनी रहती है।

"मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों।" लड़की जहां पैदा होती है वह उसका मैके एवं नैहर है और जहां ब्याह कर जाती है अपने दूल्हे के पास, वहां सासुर है। यह माया अविद्या से पैदा हुई है, इसलिए अविद्या ही इसका मैके है। यह माया सदैव अविद्या रूपी मैके में ही रहना चाहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य का मन जो माया में लिप्त है वह सदैव अविद्या एवं अन्धकार में ही रहना पसन्द करता है। माया की ससुराल है ज्ञान अवस्था। जब कोई ज्ञानी इस माया को ब्याह लेता है, अर्थात इसे अपने अधीन बना लेता है तब मानो यह ससुराल में चली जाती है। परन्तु यह माया बहुधा ससुराल में जाना ही नहीं चाहती। माया का अर्थ रागात्मक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति ज्ञान अवस्था से दूर भागती है। मनुष्य की मनोवृत्ति माया-लिप्त होने से स्वरूपज्ञान में प्रवेश नहीं करती है। वह कहती है "साँई संग न सोवों" अर्थात मैं ज्ञानी पुरुष के साथ समाधि में नहीं जाऊंगी। साधारणतया लोगों का मन समाधि में कहां प्रवेश करता है! यह माया का ही तो आवरण है! परन्तु ज्ञानी पुरुष माया को जीतकर समाधि में सोता है। ज्ञानी पुरुष के आगे मनोवृत्ति रूपी माया को विवश हो जाना पड़ता है और वह समाधि में प्रवेशकर सांई के साथ सो जाती है। अर्थात मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में लीन हो जाती है।

"कहैं कबीर मैं युग-युग जीवों, जाति-पाँति कुल खोवों।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं जाति-पांति, कुल, गोत्र, संप्रदाय तथा संसार की सारी मोह-माया को नष्टकर अविनाशी बोध में स्थित हूं, जो सदा जीवितस्वरूप है। माया को जीत लेने पर ही यह अमरत्व मिलता है। 'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

इस शब्द में माया को बलवती कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि माया कोई स्वतन्त्र प्राणधारी है। माया है मन का मोह, मन का भ्रम। वह मनुष्य की भूल से बलवती लगती है; किन्तु मनुष्य जग जाय तो माया मर जाती है। बिना सूर्य उदय हुए अन्धकार प्रबल लगता है, परन्तु सूर्य के उगते ही अन्धकार समाप्त हो जाता है।

देह सबकी नाशवान है, वासना-त्याग ही अमरत्व है

शब्द—४५

को न मुवा कहो पण्डित जना, सो समुझाय कहो मोहि सना॥ १ ॥
मुये ब्रह्मा विष्णु महेशू, पार्वती सुत मुये गणेशू॥ २ ॥
मूये चन्द्र मुये रवि शेषा, मुये हनुमत जिन्ह बाँधल सेता॥ ३ ॥
मूये कृष्ण मुये कर्तारा, एक न मुवा जो सिर्जनहारा॥ ४ ॥
कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागवन न होई॥ ५ ॥

शब्दार्थ—को = कौन। न = नहीं। मुवा = मरा। मोहि सना = मेरे से। कर्तारा = दक्ष-प्रजापति। सिर्जनहारा = चेतनतत्व।

भावार्थ—हे पंडितो! कौन शरीर धारण किया और नहीं मरा, यह मुझे समझाकर कहो!॥१॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर भी शरीर त्यागकर चले गये, पार्वती-पुत्र गणेश जी भी मृत्यु को प्राप्त हुए॥२॥ चंद्रमा एवं आदित्य नाम के जो महापुरुष थे वे तथा शेषजी, बली हनुमान जी, तथा समर्थ श्रीराम जी जिन्होंने लंका की चढ़ाई में समुद्र पर पुल बंधवाया था—ये सबके सब शरीर छोड़-छोड़कर चले गये॥३॥ श्रीकृष्ण जी नहीं रहे और दक्षप्रजापति चले गये। हां, जिसकी सत्ता से सारे ज्ञान-विज्ञान का सृजन होता है वह चेतनतत्त्व नहीं मरता॥४॥ सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः वही नहीं मरता जो वासना त्यागकर आवागमन से मुक्त हो जाता है॥५॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत पुरुष हैं। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ऐसे युगपुरुष हैं जो वस्तुपरक बुद्धि रखते हैं। वे श्रद्धाविह्वल भावुकों की मिथ्या धारणाओं का विवेक की रोशनी में उजागरण करते हैं। वे मिथ्या ज्ञान से समाज को जगाते हैं। सर्वसाधारण लोगों में यह भ्रम फैला है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, गणेश, चंद्रमा, आदित्य, हनुमान, राम, कृष्ण आदि अभी भी स-शरीर हैं या जब चाहें तब शरीर धारणकर मेरे पास आ सकते हैं। कितने धार्मिक लोग आज अपने दिवंगत गुरुओं को समझते हैं कि वे हमारे बुलाने पर आ सकते हैं। कई बार लोग ईसा की अगवानी करते हैं। कई लोग कहते हैं कि जब हमारे गुरु को हमलावरों ने मारना चाहा, तो उनके दिवंगत गुरु उनकी रक्षा में पीछे खड़े दिखे। ऐसी सारी भावुकताओं, अंधविश्वासों एवं अज्ञानपूर्ण बातों का कबीर साहेब खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो शरीर धारण करने के बाद नहीं मरा, और जो एक बार मर गया, वह दोबारा उसी शरीर से कभी नहीं आ सका। आने की कोई कारण-कार्य-व्यवस्था ही नहीं है।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि रज, सत तथा तम गुण के केवल प्रतीक न होकर देहधारी थे तो वे कुछ दिनों तक जीकर अपने-अपने कर्म करके कब के शरीर छोड़ चुके होंगे। यदि गणेश जी व्यक्ति थे, तो पहली बात यह कि वे जिस ढंग से चित्रित किये गये हैं उस तरह से हाथी के मुंह वाले न होकर पूरे मानवाकार रहे होंगे और वे भी थोड़े दिनों जीकर चले गये होंगे।

यहां चन्द्र तथा रवि शब्द के अर्थ में आकाश में दिखते हुए जड़ पिंडों को न लिया जाय तो अच्छा है। चन्द्रमा तथा आदित्य नाम के व्यक्तियों की चर्चा पुराणों में आती है। चन्द्रमा ने वृहस्पति की पत्नी को हड़प लिया था तथा आदित्य अर्थात सूर्य ने कुन्ती को कुंआरी अवस्था में ही गर्भवती किया था, इनकी चर्चा पुराणों में विदित है। सद्गुरु ने पीछे ८१ वीं रमैनी में भी यह बात कही है। अतएव चन्द्र, सूर्य दो व्यक्ति थे जो बहुत प्रसिद्ध थे। पुराणों के अनुसार शेष एक सांप थे जिनके एक हजार फण थे। इस पर विष्णु सोते थे। क्षीरसागर में शेषनाग के ऊपर विष्णु को लेटा हुआ चित्रित किया जाता है। डॉ० रांगेयराघव ने महायात्रा गाथा में लिखा है कि शेष, नागजाति का पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। नागवंशी मानव पूरे भारत में थे। उनकी राजधानी भोगवती आज का इलाहाबाद है जिसके राजा वासुकि थे। भारत के अन्य क्षेत्रों के नागवंशीय लोग हिन्दुओं के चारों वर्णों में पच गये। केवल आसाम के जंगलों के नागवंशीय अभी अपना अलग चिह्न बनाये हुए हैं। ये सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।[1]

हनुमान भी पूंछ वाले वानर नहीं, किन्तु वानर गोत्रिय आदिवासी परिवार के सदस्य थे जो अपने मकानों, ध्वजाओं में वानर का चिह्न रखने से वानर कहलाते थे। ये सुग्रीव के मन्त्री और शूरवीर थे। इन्होंने सीता-उद्धार में श्रीराम का काफी सहयोग किया था। पीछे से लेखकों ने हनुमान को देवता बना डाला और अष्ट सिद्धि तथा नौ निद्धि के दाता भी। और धारणा यह है कि वे हर जगह मौजूद हैं। उन्हें जब जहां बुलाओ पहुंच जाते हैं। यदि लड्डू चढ़ा दो तो सारा काम कर देते हैं। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को तो प्रसिद्ध परमात्मा बना ही डाला गया है जो अपने-अपने समय के महापुरुष थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब मानव थे। सब ने एक-एक दिन शरीर धारण किया था और एक-एक दिन इन सबके शरीर छूट चुके हैं। अब ये न हमें मिल सकते हैं और न ये हमारा कुछ अहित या हित कर सकते हैं। इनमें जो अच्छे आदर्श हैं वे मानव मात्र के लिए प्रेरणाप्रद हैं। बस, उन अच्छे आदर्शों से हमें शिक्षा लेनी चाहिए और अपना कल्याण करना चाहिए। और इनमें जो गलत आदर्श हों उन्हें छोड़ देना चाहिए।

कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि एवं राम-कृष्णादि मर गये तो क्या कबीर नहीं मर गये? कबीर अपने विषय में भी यही कहना चाहेंगे कि कबीर भी मर गये। शरीर तो सबका छूटता है। कबीर का भी शरीर छूट गया। आज उनके आदर्श एवं वाणी ही हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। यह कोई चारा नहीं है कि कबीर आज आकर हमारा कल्याण कर सकें। उनकी वाणियों से प्रेरणा लेकर हमें स्वयं अपना कल्याण करना होगा।

इस शब्द में सद्गुरु यह बताते हैं कि इन पुरुषों को तुम देह से अविनाशी या पुनः प्रकट हो जाने वाले बताते हो, यह भूल है। सबका शरीर एक दिन बनता है तो एक दिन मिटता है। दूसरी एक शिक्षा यह है कि जब इतने बड़े-बड़े पुरुष संसार में नहीं रह गये

---

१. महायात्रा गाथा, भाग १, अध्याय २-३।

तब हमारा शरीर कैसे रह जायेगा! अतः हमें देहाभिमान छोड़कर अविनाशी निजस्वरूप में रमना चाहिए।

"एक न मुवा जो सिर्जनहारा" सारे ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि करने वाला चेतन है। यह चेतन अमर है। यह कभी नहीं मरता। कबीर साहेब कहते हैं कि सबकी देहें मरती हैं, मिटती हैं और धूल में मिल जाती हैं, परन्तु उनमें रहने वाले चेतन नहीं मरते। जीव अविनाशी है। यह चेतन ही ज्ञान-विज्ञान का जनक है।

"कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागवन न होई।" सद्गुरु कहते हैं कि वह व्यक्ति मानो नहीं मरा जो आवागमन से मुक्त हो गया। यह कैसे जाना जाय कि अमुक व्यक्ति अब शरीर छोड़कर आवागमन एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो गया है। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि हम यह जान पावें कि अमुक व्यक्ति देह छोड़कर सदा के लिए मुक्त हो गया है। वस्तुतः देह रहते-रहते जिसे मरने का भय छूट गया वही मानो अमर है। निर्भयता अमरता है। जिसके मन की वासनाएं, हलचल, तृष्णाएं एवं द्वन्द्व सर्वथा शांत हो गये हैं, वह आज ही कृतार्थ है। जो अपनी असंगता के बोध में सदैव तृप्त है, जिसका कुछ छूटने वाला नहीं है, क्योंकि जिसने पहले ही अपने मन से सब कुछ को छोड़ दिया है, यहां तक कि जो देह को भी सदैव छूटी हुई के समान देखता है, जिसने सारे जड़ दृश्यों को मन से सर्वथा त्याग दिया है, वह इसी जीवन में अमरत्व का बोध करता है। उसके लिए देह का रहना और न रहना दोनों बराबर है। वासनाओं से ही आवागमन होता है। जिसकी सारी वासनाएं छूट गयीं, वह मानो मुक्त ही है।

इस पूरे शब्द का सार हुआ कि तथाकथित देवी-देवता जो वासनाओं में लिपटे थे, वे अमर नहीं हुए, किन्तु अमर तो वासना-विजयी संत हैं, और देह सबकी छूटती है। इस शब्द के आरम्भ का पद 'कौन मुवा' पाठ होने से अर्थ होगा कि कौन मुवा, जड़ या चेतन? दोनों तो नित्य हैं। दोनों के योग से बना शरीर केवल मरता है, परन्तु जड़-चेतन नित्य रहते हैं।

हिंसक और मांसाहारी पण्डितों से प्रश्न

शब्द-४६

पण्डित एक अचरज बड़ होई॥ १ ॥

एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरे सिझे रसोई॥ २ ॥
करि अस्नान देवन की पूजा, नौ गुण काँध जनेऊ॥ ३ ॥
हँड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब षट कर्म बनेऊ॥ ४ ॥
धर्म करे जहँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई॥ ५ ॥
जो तोहरा को ब्राह्मण कहिये, तो काको कहिये कसाई॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई॥ ७ ॥
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई॥ ८ ॥

शब्दार्थ—नौ गुण = शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक्य।[1] षटकर्म = अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह;[2] दूसरे ढंग से षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा हवन। अपरम्पार = असीम, बेहद। पार पुरुषोत्तम = हद-बेहद से परे कृतार्थ रूप। या गति = सर्वोच्च स्थिति।

भावार्थ—हे पण्डित जी! एक बड़ा आश्चर्य होता है॥१॥ किसी के घर में यदि कोई आदमी मर जाय तो जब तक दस दिन बीतकर शुद्धि-कर्म न हो जाय तब तक उसके घर में तुम भोजन नहीं करते हो, और दूसरे बकरा, मछली आदि को मारकर उनकी लाशों की रसोई पकती है और उसे आस्वादनपूर्वक जीम जाते हो॥२॥ तुम नित्य स्नान करते हो, देवताओं की पूजा करते हो, कंधे पर नौ गुण-सूचक नौ तागे का जनेऊ पहनते हो॥३॥ परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो और मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की दशा अच्छी बन जाती है।॥४॥ यज्ञ, पूजा आदि धर्म के नाम लेकर जहां जीव हत्या की जाती है, हे मेरे प्रिय बन्धु! यह प्रत्यक्ष दुष्कर्म है॥५॥ अब बताइए, इस स्थिति में यदि तुम्हें ब्राह्मण कहा जाय तो बधिक किसे कहा जाय? ॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथ-गामी हैं॥७॥ पुरुषों में उत्तम वही है जो हद और बेहद से परे है, परन्तु यह सर्वोच्च स्थिति विरला प्राप्त करता है॥८॥

व्याख्या—आज-कल के व्यंग्यकार जिनका ध्यान कबीर पर गया है उन्हें अपना आदिगुरु मानते हैं। आप किसी भी समाचार पत्र में देखें जहां व्यंग्यात्मक स्तंभ होगा वहां कबीर-वाणी के आधार पर वह स्तंभ होगा, जैसे चक्की चलती, सुनो भाई साधो, जग बौराना, कबीर चौरा इत्यादि। कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में व्यंग्यात्मक कथन का जो पुट जगह-जगह दिया है मनुष्य के दिल को झकझोर देता है।

यहां कबीर साहेब उन पंडितों से व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं जो देवपूजन में जीववध करते हैं तथा मांस खाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे पंडित! हमें एक बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। वह आश्चर्य यह है कि यदि किसी के घर में ही नहीं, उसके कुल-गोत्र में कहीं कोई मर गया हो तो उसे तुम अशुद्ध घोषित कर देते हो। उसके घर में तुम जल तक नहीं ग्रहण करना चाहते। जब दस दिन बीत जाते हैं, लोगों के बाल बन जाते हैं, सबके स्नान हो जाते हैं, घर की लिपाई-पोताई हो जाती है, महा ब्राह्मण खा लेते हैं, तब जाकर तेरहवें दिन तुम उसके घर में भोजन करते हो। परन्तु दूसरी तरफ बकरे, कबूतर, मुर्गे, मछली या अन्य जानवरों को मारकर उनकी लाश हंडी में पकाकर, थाली में रखकर तथा मुख में चबाकर खा जाते हो। अतएव यह तुम्हारी शुद्धाशुद्धि का विवेक कहां तक समीचीन है, इस पर जरा ध्यान देकर विचार करो और जो उचित हो वह करो।

---

१. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ *(गीता १८/४२)*

२. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्मा विप्र उच्यते॥

तुम ध्यान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम सब कुछ करते हो, देवताओं की बड़ी आराधना करते हो और गीता में बताये हुए ब्राह्मणों के नौ गुण—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता के चिह्न के रूप में कंधे पर नौ तागे का यज्ञोपवीत पहनते हो। चलो, यह तो सब ठीक है, परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो तथा मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की कितनी इज्जत रह गयी? ब्राह्मणों के छह कर्म दो प्रकार से हैं यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान देना तथा लेना नैमित्तिक षटकर्म हैं। दूसरे नित्य षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम। परन्तु तुम्हारे तो षटकर्म हो गये हैं हंडी में हाड़-मांस, थाली में हाड़-मांस तथा मुंह में हाड़-मांस! ये अच्छे षटकर्म बने।

आज भी भारतवर्ष के विविध क्षेत्रों के पंडित मांसाहार उचित सिद्ध करने के लिए प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं—"मांस सर्वश्रेष्ठ भोजन है।[1] राम ने खाया था,[2] पहले के ऋषि-मुनि सब खाते थे।"[3] भले आदमी, यह सब कलिवर्ज्य है।[4] विद्वानों ने कलिकाल में इसके खाने पर मनाही कर दी है। इसलिए आज नहीं खाना चाहिए। पहले के युग में पाप नहीं लगता था, परन्तु आज पाप लगेगा।

यह सबका मतलब क्या है! मतलब हुआ पुराने लोगों को आदर देते हुए उनके घृणित आहार को अस्वीकार देना। वह युग ऐसा था कि आदमी आहार पर इतना नहीं सोच सका था। वह आहार की दिशा में असभ्य था। ब्राह्मणों के कर्मकांड एवं मांसाहार से हटकर बौद्धों, जैनों तथा वैष्णवों के ज्ञान-भक्ति के आंदोलन शुरू हुए और मांसाहार त्याग पर बल दिया जाने लगा। धीरे-धीरे पंडितों को भी सूझ हुई कि मांसाहार घृणित है, हिंसा से प्राप्त होता है। इसलिए उन्होंने कहा कि उन तीन युगों में मांसाहार में दोष नहीं था, किन्तु कलिकाल में इसे खाने से दोष लगेगा। इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए। यह विचारों की उदारता का फल है। हमारे पूर्वज जो कुछ करते रहे हों वह सब सच नहीं हो सकता। उनकी गलतियों को हमें छोड़ देना चाहिए। हमें उन्हें बुरा नहीं कहना चाहिए, परन्तु उनकी बुराइयों को हमें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

"धर्म करे जहाँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई।" पहले यज्ञ और पूजा में खूब पशु-वध होता था। पूजा में तो इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी जगह-जगह पशु-वध होता है। अश्वमेध यज्ञ करके समझते थे कि हमारे समस्त पाप कट गये जब कि इस यज्ञ में तीन सौ पशु काट दिये जाते थे।[5] अनेक यज्ञों में कैसे पशु काटे जाते थे यह तो धर्मशास्त्र पढ़कर स्वयं पता लग जाता है।[6] मनगढ़ंत देवताओं को खुश करने के लिए

---

१. शतपथ ब्राह्मण *(११/७/१/३)।*

२. वाल्मीकीय रामायण २/५२/१०२, २/५५/३२, २/९६/१-२।

३. देखिए आगे ९३ वें शब्द की व्याख्या।

४. देखिए आगे ९३ वें शब्द की व्याख्या।

५. देखिए वाल्मीकीय रामायण बालकांड, सर्ग १४।

६. देखिए कात्यायन ९/८/४, आपस्तंब १२/१८/१३; आदि।

मूक प्राणियों का वध। आज भी ईश्वर को खुश करने के लिए मुसलमानों के यहां बकरीद के दिन दुनिया में करोड़ों पशु काट दिये जाते हैं। ब्राह्मण समाज में पुराकाल में यज्ञ में पशु-वध सर्वाधिक था। कबीर साहेब के समय में भी बहुत था। वे ऐसे पंडितों से पूछ बैठते हैं कि हे भाई पंडितो, यदि धर्म में जीव-वध होता है तो अधर्म में फिर क्या होगा! तुम पूजा में प्राणि-वध करते हो तो तुम्हें यदि ब्राह्मण कहा जाय तो बधिक किसे कहा जाय? यह ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर न पंडित के पास है न मुल्ला के पास और न अन्य के पास। ब्राह्मण या हिन्दू समाज का यह जंगलीपन आज बहुत मिट गया है, परन्तु मुसलमानों का आज भी नहीं मिटा है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथगामी हैं। उन्हें विपरीत कर्म करके कल्याण का भ्रम है। वे वास्तविकता को भूल गये हैं। वे परम धर्म अहिंसा को भूल गये तथा धर्म के नाम पर जीव-वध करने से अपना कल्याण समझ लिये। यज्ञ में जीव-वध करने वाले ब्राह्मणों को आस्तिक कहना तथा जीव-हिंसा त्याग कराने के प्रयत्न में लगे तथागत बुद्ध को नास्तिक कहना, इससे अधिक भ्रम और भूल क्या होगी! भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है "ब्राह्मणों ने श्राद्ध, मधुपर्क, यज्ञादि में मांस खाना अच्छा माना है तथा बौद्धों की निन्दा की है जो मांस खाना वर्जित मानते हैं।"[१] इतना ही नहीं, पुरोहितों ने हिंसा-मांसाहार-विरोधी वैष्णव-भागवतों को भी गाली दी है। उन्होंने कहा "जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता वह शास्त्र पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ना जानता वह पुराण पढ़ता है, जो पुराणों को भी नहीं पढ़ना जानता वह खेती करता है, परन्तु जो सब प्रकार से भ्रष्ट होता है वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[२] वैष्णव, जैन, बौद्ध ये तीन हिंसा तथा मांसाहार का विरोध कर रहे थे, इसलिए पुरोहित पंडित इन तीनों पर कुपित थे। वे अपनी भूल से सुपथ को विपथ तथा विपथ को सुपथ मानते थे।

सद्गुरु कहते हैं कि यह न ब्राह्मणत्व है और न पांडित्य। ऐसे तथाकथित ब्राह्मण एवं पण्डित अपने आप को सर्वोच्च मानते हैं और दावा करते हैं कि लोग उन्हें सर्वोच्च मानें।

"अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि सर्वोच्च एवं पुरुषोत्तम तो वह है जो हद और बेहद से परे है।[३] जो समस्त सांसारिक वासनाओं को त्याग देता है, और निरन्तर अपने चेतन स्वरूप में रमता है वह सर्वोच्च है, वह पुरुषोत्तम है। जो दृश्यमान लोक तथा कल्पित स्वर्गादि, ईश्वर एवं देवादि की सारी वासनाएं छोड़ देता है वह अपरम्पार पार पुरुषोत्तम है। परन्तु "या गति बिरले पाई" यह दशा, यह जीवन्मुक्ति स्थिति कोई विरला ही पाता है। जो इस दिशा में ध्यान देता है वह

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड २, पृ० ९९९।

२. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि ३८४। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५३)

३. देखिए साखी १८९, हद्द चले सो मानवा..........।

पाता है। यह सर्वोच्च स्थिति तो जीव का सहज स्वरूप ही है, इधर ध्यान देना चाहिए। इधर विरला ध्यान देता है, इसलिए इस स्थिति को विरला ही पाता है।

छुआछूत का धोखा

शब्द–४७

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी॥ १ ॥

जेहि मटिया के घर में बैठे, तामें सृष्टि समानी॥ २ ॥
छप्पन कोटि यादव जहँ भीजे, मुनि जन सहस अठासी॥ ३ ॥
पैग-पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भौ माटी॥ ४ ॥
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया॥ ५ ॥
नदिया नीर नरक बहि आवै, पशु मानुष सब सरिया॥ ६ ॥
हाड़ झरी-झरि गूद गली-गलि, दूध कहाँ से आया॥ ७ ॥
सो ले पाँड़े जेवन बैठे, मटियहि छूति लगाया॥ ८ ॥
वेद कितेब छाँड़ि देहु पाँड़े, ई सब मन के भरमा॥ ९ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो पाँड़े, ई सब तुम्हरो करमा॥१०॥

शब्दार्थ—भीजे = मरकर सड़ गये। मच्छ = मछली। कच्छ = कच्छप। हाड़ झरी-झरि = हाड़ के झरनों से झड़कर। गूद = मांस। गली-गलि = गलियों-नलियों-द्वारा। जेवन = जीमना, खाना।

भावार्थ—हे पंडित जी! किसी के आचरण को पवित्र देखते हुए भी तुम उससे जाति पूछकर उसके हाथ का पानी पीने या न पीने का निर्णय लेते हो॥१॥ परन्तु क्या तुम्हें यह पता नहीं है कि जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो उसमें पूर्व की पूरी प्राणि-सृष्टि ही सड़कर समायी हुई है!॥२॥ छप्पन करोड़ यादव और अट्ठासी हजार ऋषि मर और सड़कर इसी मिट्टी में मिल चुके हैं॥३॥ पग-पग पर पैगम्बर इस मिट्टी में गाड़े गये हैं और वे सड़कर मिट्टी बन गये हैं। इसी मिट्टी से घड़ा बना है जिसमें तुम पानी भरकर पीते हो। परन्तु जिसे तुम विजाति मानते हो वह उस घड़े को स्वच्छ हाथ से भी छू दे तो तुम उस घड़े का पानी नहीं पीते हो॥४॥ पानी की भी दशा यही है। मछली, मेढक कुएं में तथा मछली, कछुए, घड़ियाल आदि नदी में प्रजनन करते हैं, उनके शरीर के रक्त से मिश्रित पानी कुएं और नदी के जल में मिल जाता है॥५॥ गांव तथा शहर का नरक भी बहकर नदी के जल में आकर मिलता है, मरे हुए पशु तथा मनुष्य नदी में फेंक दिये जाते हैं, वे सब सड़कर उस पानी में मिलते हैं। ऐसे पानी को सब पीते हैं, फिर स्वच्छ हाथ से उसे कोई छू ले तो क्या बुरा हो गया!॥६॥ दूध कहां से पैदा होता है क्या इसे नहीं जानते हो! हड्डियों के झरनों तथा मांस की गलियों एवं नलियों से ही तो दूध झर-झरकर आता है!॥७॥ इसे लेकर तो पंडित जी जीमने बैठ गये, परन्तु स्वच्छ दिखते हुए भी किसी के मिट्टी के घड़े में छूत लगा दिये॥८॥ तुम कहते हो जाति को लेकर छुआछूत मानना

शास्त्रसम्मत है, तो हे पंडित! ऐसे शास्त्रों की दोहाई देना छोड़ दो। ये सब तुम्हारे मन का भ्रम है ।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित जी! सुनो, यह सब तुम्हारा पाखंडपूर्ण कर्म-प्रपंच है ।।१०।।

व्याख्या—मानवतावादी समाज तथा राष्ट्र जो आज सोच रहे हैं, उसे कबीर देव ने पंद्रहवीं शताब्दी में ही सोच लिया था। भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है छुआछूत। यहां आदमी आदमी को जन्म से ही अछूत मानता है। यह घोर मानसिक अपराध है। कोई गंदे आचरण से हो, उसके अंग गंदे हों, कपड़े गंदे हों, तब बात समझ में आती है कि उसके हाथ का छुआ जल नहीं लेना चाहिए। यदि स्वच्छ है तो उसे अछूत बताना अपराध है।

कबीर साहेब कितने संवेदनशील हैं, वे किसी बात को कितनी गहराई से सोचते हैं और कितने निर्भयतापूर्वक निश्चिंत होकर खरे सत्य को कह देते हैं यह उनकी वाणियों को पढ़कर सोचते ही बनता है। वे डर नाम की चीज जानते ही नहीं थे। सत्य-उपासक अपने आप निर्भय हो जाता है।

यह कैसी विडंबना है कि मनुष्य पशु को तो पूज्य मान लेता है। उसके बच्चे को गोद में खेला लेता है, परन्तु मनुष्य को अछूत मानता है। केवल ब्राह्मणनामधारी दूसरों को अछूत मानते हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु तथाकथित दूसरी जाति वाले भी एक दूसरे को अछूत कहते हैं। ब्राह्मण नामधारियों में भी परस्पर अछूत की भावना होती है। आज तक एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र के ब्राह्मण का बनाया कच्चा भोजन नहीं खाता था। हां, पक्का भोजन चल जाता था। जैसा कि हम ४१ वें शब्द में देख आये हैं कि वेदों में छुआछूत की बात नहीं है, परन्तु पीछे छुआछूत की भावना बहुत बढ़ी और यह बात शास्त्रगत हो गयी। इतना ही नहीं कि किसी एक शास्त्र में लिख दिया गया हो, किन्तु अनेक शास्त्रों में छुआछूत को काफी मजबूत किया गया।

आचार-विचार और स्वच्छता को प्रधानता देनी चाहिए, मिथ्या जाति एवं वर्ण को नहीं। मानव की केवल एक जाति है। जन्म से कोई अछूत नहीं। उसके कर्म तथा आचरण से ही वह अच्छा-बुरा हो सकता है। यह बात सत्य होते हुए भी पंडित लोग कहते हैं कि शास्त्र में छुआछूत की बात लिखी है। शास्त्र भगवद्वचन है, प्रभुवचन है, त्रिकालदर्शी आर्ष ऋषियों का वचन है। अतः उसे मानना पड़ेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित! यह शास्त्र-प्रमाण का चक्कर छोड़कर सत्यासत्य विचार कीजिये। यहां 'वेद-कितेब' से मतलब प्रसिद्ध वेद या कुरानादि किताब नहीं है, किन्तु शास्त्र-प्रमाण का मोह है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसकी चिंता न करो किस ग्रन्थ में लिखा है तथा किस पुरुष ने लिखा है, किन्तु यह विचारो कि क्या लिखा है। कोई ग्रन्थ लेखक न विश्वनियंता रहा है, न सर्वज्ञ, किन्तु सभी लेखक मनुष्य होते हैं। सभी वाणियों पर विचार करना मनुष्य का कर्तव्य है। यदि पंडित सारासार विचार को महत्त्व न देकर आंख मूंदकर शास्त्र-प्रमाण को महत्व देता है, तो सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, यह तुम्हारे मन का भ्रम है। कोई बात लिखी जाने से प्रमाणित नहीं होती, किन्तु सच होने से प्रमाणित होती है। साहेब कहते हैं कि ऐ पंडित, आचार-विचार छोड़कर केवल झूठे जाति-वर्ण के आधार पर

छुआछूत मानना तुम्हारा कर्मकांडी जंजाल है। सत्य को समझो। छुआछूत के पचड़े को छोड़ो। तुम मानव हो तथा दूसरे लोग भी मानव हैं। मानव के साथ मानव प्रेम करे यह उसका परम धर्म है। किसी को जन्मजात अछूत मानना महापाप है।

इस शब्द में छुआछूत का निषेध किया गया है। साहेब ने तर्क दिया है कि तुम मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध नहीं मानते हो, तो मनुष्य को अछूत क्यों मानते हो? मनुष्य ने शुद्ध हाथ से कुछ छू लिया तो वह वस्तु अशुद्ध कैसे हो गयी? ध्यान रहे, यहां सद्गुरु का यह उद्देश्य नहीं है कि मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध माना जाय तथा उनका उपयोग न किया जाय। दूध को कोई न भी ले, किन्तु मिट्टी, पानी के बिना तो जीवन ही नहीं चल सकता। अतएव यहां इनका निषेध अभिप्राय नहीं है। यहां अभिप्राय है कि छुआछूत का पाखंड छोड़ो।

पृथ्वी में अनादिकाल से सर्वत्र मुर्दे गड़े हैं, इसलिए मिट्टी बुरी नहीं। उसका रूप बदलकर वह शुद्ध होती रहती है। नदी आदि के जल में जो गंदगी मिलती है, प्रकाश और वायु से उसकी शुद्धि होती रहती है। अतः शुद्ध होने पर जल अशुद्ध नहीं। गाय-भैंस के अस्थि-चर्ममय शरीर में से दूध आने के कारण, दूध गंदा नहीं है। क्योंकि गाय-भैंस के शरीर जिंदा हैं। जानदार जीभ, दांत, बाल, खाल आदि में घृणा-गंदगी नहीं होती, परन्तु वे ही टूट या कटकर पृथक हो जायं, तो मुख में नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार जानदार गाय-भैंस के शरीर से दूध दुहकर लेना बुरा नहीं।

मांस-रक्त का रूपान्तरण दूध नहीं है, प्रत्युत खाद्य-वस्तु का रूपान्तर है। बिनौला, खली, नमक आदि दुधार-वस्तुएं गाय-भैंस को शाम को खिला दो, तो प्रातःकाल दूध बढ़ जायगा। यदि खाद्य वस्तु का रूपान्तर रस, रस से रक्त और रक्त से दूध बनता होता, तो चारा खाने के चार-छह-आठ घंटे में दूध नहीं बढ़ता।

यदि कोई रक्त का ही रूपांतर दूध माने तो भी रक्त-मांस नहीं खाना चाहिए और दूध खाना चाहिए। क्योंकि दूध लेने में हिंसा नहीं करनी पड़ती, और मांस लेने के लिए हिंसा करनी पड़ती है।

हां! गाय-भैंस का पेट भरकर, बछड़ा-बछड़ी एवं पड़वा-पड़िया का पेट दूध, अन्न, चारा आदि से भर कर तब दूध लेना चाहिए। मादा या बच्चे को कष्ट देने वाले अपराधी हैं।

खेत में मल-मूत्र बिखेरकर साग-अन्न बोये जाते हैं। जहां मल-मूत्र अधिक होंगे, वहां साग-अन्न अधिक होंगे। अतएव मल-मूत्र का रूपांतर अन्न-साग में अवश्य आता है। परन्तु लोग साग-अन्न खाते हैं, मल-मूत्र नहीं, इसी प्रकार यदि सचमुच रक्त का रूपांतर दूध हो, तो भी दूध खाना चाहिए रक्त-मांस नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न-साग आदि खाना भी तो मांसाहार हुआ, क्योंकि वृक्ष-वनस्पति एवं लता भी जीवधारी हैं। परन्तु यह केवल भ्रम है। यद्यपि इस सिद्धांत का आजकल बहुत बड़ा बोलबाला है। 'वृक्षादि में भी जीव होते हैं', इसको सिद्ध करने के लिए बहुत युक्तियां गढ़ी गयी हैं, परन्तु इनमें कोई सार नहीं है।

यदि वृक्ष-वनस्पतियों में जीव हैं, तो इनको सुख-दुख क्यों नहीं होते? वृक्ष को काटते समय, वे अपनी डालियों को क्यों नहीं फड़फड़ाते? लाजवंती का प्रमाण व्यर्थ है। जिसको आंख नहीं, उसको लज्जा कहां! जोर से वायु चलने पर भी तो लाजवंती मुरझा जाती है। सो क्यों? वास्तव में ठोकर लगने से मुरझा जाना उसका स्वभाव है।

एक वृक्ष-लता आदि से अनेक कलमें लग जाती हैं, क्या जानदार एक मनुष्य या बैल के हाथ-पैर को काटकर उन हाथ-पैरों को जीवित सर्वांग मनुष्य या बैल बनाया जा सकता है?

वृक्षादि में कोई इंद्रिय नहीं है, फिर उनमें जागृत अवस्था कैसे होगी! बिना जागृत के न वासना का ग्रहण होगा और न स्वप्न होगा। जागृत-स्वप्न के बिना मात्र सुषुप्ति-अवस्था कहने में कोई तत्व नहीं है। अतः जिसमें तीन अवस्थाएं नहीं, वहां जीव मानना भूल है।

चुम्बक-पत्थर के सामने लोहा पड़ने पर वह चुम्बक में आकर्षित हो जाता है। इससे चुम्बक लोहा-भक्षी नहीं। यदि किसी वृक्ष के पत्ते के पास जाने से देहधारी जीव उस पत्ते में आकर्षित हो जाते हों और पत्ते संपुट हो जाते हों, तो इससे उस वृक्ष को मांस-भक्षी नहीं कह सकते या उसे जीवधारी नहीं बना सकते। वृक्ष में और जीवों के अंगों में रहे हुए कुछ ऐसे तत्व होंगे, जो मेल रखते होंगे, इससे देहधारी जीव आकर्षित हो जाते होंगे।

जल, मिट्टी, प्रकाश, वायु इन चारों से बढ़ने, पुष्ट होने एवं बीजी असर अनुसार वृद्धि, फल, फूल को प्राप्त होने वाले वृक्ष-लतादि केवल जड़ हैं। तत्वों के परमाणुओं से कंकड़-पत्थर जैसे बनते-बढ़ते रहते हैं; तेल, अग्नि, बत्ती आदि से दीपक में जैसे ज्योति बनती रहती है, वैसे केवल जड़ तत्वों से वृक्ष-वनस्पति आदि बनते-बढ़ते रहते हैं।

प्राणियों के शरीर से जीव के निकल जाने पर, वे तुरन्त कांतिहीन हो जाते हैं, परन्तु वृक्षों को काट देने पर यदि बदली और पानी की नमी रहे तो वे कई दिन हरे बने रहते हैं। उनमें से जैसे-जैसे क्रमशः जलांश निकलता है, वैसे-वैसे वे सूखते हैं।

अतएव वृक्ष-वनस्पति, लतादि सर्वथा निर्जीव हैं, इसलिए अन्न-सागादि खाना हिंसा-मांसाहार नहीं। हां! उन्हें अमनिया कर धो-पोछकर खाना चाहिए।[१]

श्री अमरचन्द्र जी महाराज लिखते हैं—

"संसार में पापों की कोई गणना नहीं है। एक-से-एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मांसाहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निंदनीय है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता है, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर, उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी नहीं सहन कर सकता, रात भर छटपटाता रहता है, तब भला

---

१. वृक्षों में जीवों के निषेध के विषय में सद्गुरु श्री विशाल साहेब रचित भवयान के सप्तम प्रकरण के उन प्रसंगों को पढ़ना चाहिए, जहां ये बातें कही गयी हैं। टीका-सहित भवयान पढ़ने में ठीक समझ सकेंगे।

दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छूरी चला देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है? जरा शांत-चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा! अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मारकर लाश बना देना, कितना जघन्य आचरण है! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले।

आहार-विहार में होने वाली साधारण-सी हिंसा भी जब निंदनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर कार्य है। बधिक जब चमचमाता हुआ छूरा लेकर मूक पशुओं के गर्दन पर प्रहार करता है, तब वह दृश्य कितना भयंकर होता है? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आंखों से देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियां इधर-उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खंड इधर-उधर बिखरे पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि पक्षी मंडरा रहे हों। इस घृणित दशा में मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप में तो ऊंचे प्रतिष्ठित जज कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह जाता। हृदयहीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता रह भी कहां सकती है?" (जैनत्व की झांकी)

श्रीमान एडोल्फ जस्ट महोदय लिखते हैं—

"प्रकृति ने मनुष्य को मांस खाने वाला शिकारी जानवर नहीं बनाया है।

मनुष्य को कच्चा मांस अच्छा नहीं लगता। उसे उसके बनाने, पकाने, बघारने, छौंकने और उसमें मसाला मिलाने की जरूरत होती ही है। उसे मांस के साथ और कुछ न सही, नमक तो चाहिए ही।

जब हिंसक पशु अपना शिकार मार लेता है तब वह उल्लास से भर जाता है और ताजा खून पीकर मतवाला-सा हो जाता है।

पर मनुष्य जो पूर्णतया पशु नहीं हो गया है, हत्या करने से घबराता है। जब वह पशु को जिसे मनुष्य का सजातीय ही कहना चाहिए, मारने के लिए खूंखार अस्त्र उठाता है तो उसका विवेक उसे हमेशा ऐसा करने से रोकता है। मरते हुए पशु का छटपटाना देखकर कठोर-से-कठोर हृदय पिघल जाता है। मांस खाने वालों को यदि जानवर को स्वयं अपने हाथों मारकर खाना पड़े तो अधिकांश न खाना ही पसन्द करेंगे। कच्चा बिना पका मांस अथवा कसाई की दुकान में रखी पशु की लाश देखकर सभी का मन घृणा से भर जाता है। अतः अनेक स्थानों में मांस को खुला ले जाने के विरुद्ध कानून बन गये हैं।

मनुष्य इस सम्बन्ध में भी प्रकृति, अपने विवेक, घ्राणशक्ति, आंख और नैसर्गिक प्रकृति की बात क्यों नहीं सुनता? क्या ऐसा कर सकना बहुत सरल नहीं है!

मनुष्य इस प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान में कि वह पशु का मांस खाने वाली जाति का है या सर्वभक्षी सूअर-भालू आदि की जाति का है, क्यों अपनी शक्ति व्यर्थ खर्च करता है? पशु की ये दोनों जातियां तो मनुष्य को सदा से ही क्रूर और निर्दय प्रतीत होती रही हैं और इस नाते वह इनसे सदा घृणा करता रहा।

मांस मनुष्य के लिए उचित भोजन है या नहीं इस प्रश्न की छान-बीन मनुष्य उन सरल साधनों से नहीं करता जो प्रकृति ने उसे दिये हैं। वह दांत और आंत का अध्ययन करता है, मांस के अवयवों को जानने की कोशिश करता है—यह मनुष्य की अस्वस्थ ज्ञान-पिपासा का दूसरा प्रमाण है।

अनेक विद्वानों ने, जिन्हें मांस खाना निश्चय ही बहुत प्रिय रहा है, कहा है कि मनुष्य के दांतों को देखकर कहा जा सकता है कि मनुष्य अंशतः मांसाहारी है और आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो उनके इस राग को बिना समझे-बूझे आलाप रहे हैं।

जो कुछ भी हो, अपने शिकार को पकड़ने और फाड़ने के जैसे नाखून और दांत शिकारी जानवरों के होते हैं वैसे मनुष्य के नहीं हैं। इसी तरह मांस-भक्षी पशु की पाचन-प्रणाली भी मनुष्य की पाचन-प्रणाली से सर्वथा भिन्न होती है।

शिकारी जानवर, मसलन कुत्ता, मांस के साथ-साथ हड्डी भी खा सकता है, पर मनुष्य तो ऐसा नहीं कर सकता। इससे यह साबित होता है कि मनुष्य का आमाशय इन पशुओं से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

मनुष्य के दांत और आंख की फल और शाक खाकर रहने वालों एवं मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दांतों और आंखों से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य शिकारी पशुओं की जाति का न होकर फल और शाक खाने वाली जाति का ही है। हाथी और चूहों के दांतों में जो साम्य है उससे अधिक साम्य मनुष्य और मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दाढ़ और आतों में नहीं है। मनुष्य की आतों की लम्बाई भी बताती है कि मांस उसके अनुकूल नहीं है।

यदि प्रकृति ने मनुष्य के लिए मांस नहीं बनाया है तो उसका उपयोग मनुष्य के लिए अवश्य ही क्षतिकारक है। मनुष्य मांस खाकर स्वस्थ और मजबूत नहीं बनता, वरन बीमार पड़ता है और कमजोर होता है।

कहा जाता है कि मनुष्य को मांस खाना चाहिए, क्योंकि उसमें चर्बी होती है, जो आदमी को सर्दी से बचाती है। अगर यही बात है तो शरीर में आवश्यक गरमी स्नेहप्रधान मेवे खाकर क्यों नहीं उपजायी जाती? इन मेवों में मनुष्य के लिए प्राकृतिक चिकनाई पायी जाती है और उनमें वे सब चीजें नहीं होतीं जो मनुष्य के लिए हानिकारक और जहरीली हैं।

ग्रीनलैंड में न शाक होते हैं न मेवे जिनसे वहां के निवासी, जिन्हें एस्किमों कहते हैं, पोषण पा सकें। अतः वे लोग उत्तरी ध्रुव की कड़ाके की सरदी मांस और पशु की चर्बी खाकर बर्दाश्त करते हैं। यह हो सकता है कि चर्बी के आहार के कारण एस्किमों उत्तर की सरदी में रह पाता है, पर उसके इस अप्राकृतिक भोजन के कारण उसका शरीर कुरूप और भद्दा हो गया है और उसका मस्तिष्क बिलकुल जड़।

लोग अक्सर अपने अप्राकृतिक जीवन, मांस और शराब की आदत को खराब मौसम के बहाने के पीछे छिपाते हैं। मौसम की आड़ लेकर वे प्राकृतिक जीवन के विरुद्ध बड़े-

बड़े पाप करते हैं, मौसम उनका विवेक दबा देता है। फलाहार अप्राकृतिक खाद्यों की अपेक्षा मनुष्य को सरदी और गरमी सहने की अधिक शक्ति देता है।

ऐसा मानने की तो गुंजाइश नहीं है कि मनुष्य, जो पृथ्वी का सर्वाधिक विकसित प्राणी है, पृथ्वी के एक अंश पर ही रहने के लिए बनाया गया था। बाइबिल कहती है— "पृथ्वी को परिपूर्ण करो।"

पर सारी पृथ्वी को भरने के लिए, पृथ्वी के प्रत्येक भाग में रहने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने प्राकृतिक भोजन को छोड़े।

उष्ण कटिबन्ध के उष्णतम भाग और उत्तर के शीततम भाग मनुष्य के रहने योग्य नहीं हैं। पर यदि यह समझा जाय कि प्रकृति ने मनुष्य को गरम जगह में रहने के लिए बनाया है तो भी उसे अपना अप्राकृतिक जीवन छोड़कर प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करना आरम्भ करना चाहिए। इससे उसकी नैसर्गिक प्रकृति अधिकाधिक जाग्रत होगी और वह गरम जगह में रहना पसंद करेगा। पर वास्तव में शीतोष्ण कटिबन्ध ही मनुष्य के रहने के अधिक उपयुक्त है। अपने इस कथन पर मैं अधिक निवेदन आगे करूंगा।

मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। उसे इस पृथ्वी की बादशाहत भलमंशाहत और दयालुता के साथ करनी चाहिए। जब वह अपने भोजन के लिए पशु की हत्या करता है या उसकी हत्या का कारण होता है तो वह अपने अन्तर्नाद के विरुद्ध चलता है। आज तो मनुष्य अपने इन बन्धुओं के खून से अपना हाथ लाल कर रहा है। भोजन प्राप्त करने के लिए किये गये इस पाप के फलस्वरूप उसे बहुत बड़ी सजा भुगतनी पड़ेगी।

इस दृष्टि से मांस खाना अप्राकृतिक रिवाज है, प्रकृति की अवज्ञा है जिसका परिणाम बहुत बुरा और खतरनाक होना चाहिए। मांस और अन्य अप्राकृतिक खाद्यों को खाने पर उनका ठीक पाचन नहीं हो पाता। मांस न पचने पर पेट में पड़ा सड़ता रहता है, सड़न से उठा हुआ खमीर शरीर और रक्त में फैलता रहता है जिसकी वजह से अनेक प्रकार की सूजन उत्पन्न करने वाली और बुरी-बुरी बीमारियां पैदा होती हैं।

यूनान की पौराणिक कथाओं में ओरेस्टेस की कथा आती है जिसमें उसने कोई भयानक हत्या की थी। इसका बोझ उसकी आत्मा पर बराबर पड़ता रहता था, उस हत्या का बदला लेने के लिए इरिनिस नामक देवता उस पर बराबर सवार रहता था। आज मनुष्य जाति का विवेक इन हत्याओं के बोझ से दबा पड़ा है और उसे पृथ्वी पर कहीं सुख-शांति नहीं मिल रही है।

मांस की गरमी और उसे स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें डाले गये मसाले और नमक हमेशा नशीले पेय और मद्य पीने की इच्छा पैदा करते हैं। इस प्रकार मांस खाना छिपे हुए शैतान, मद्य के लिए घर का दरवाजा खोल देता है। मद्य मांस का भाई है, जो निहायत ही पाजी और शरारती है और हमेशा अपने भाई के साथ रहता है। मद्य तनिक-सा पिया जाय या बहुत-सा, पर क्या किसी से भी इसका हानिप्रद और खतरनाक रूप छिप सकता है!

शराब नाड़ियों को उत्तेजित करती है और इसको पीने वाला सुन्दर सपनों की माया में पहुंच जाता है, पर जब नशा उतरता है तो उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि यह

दुनिया उसे नीरस और शून्य लगती है, उसकी यथार्थता उसे कष्ट और पीड़ा पहुंचाती है। शराब पीने वाले समझते हैं कि शराब से उन्हें शक्ति मिलती है, पर वास्तव में वे धोखे में रहते हैं। बनावटी तरीके से पैदा की गयी उत्तेजना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है। यदि शराब के क्षणिक प्रभाव के भुलावे में न पड़ा जाय तो यह तुरन्त समझ में आ जाता है कि शराब शरीर को बहुत कमजोर कर रही है और नाड़ियां खास तौर से छिन्न-भिन्न होती जा रही हैं। शराब से आत्मा पतित और मस्तिष्क कमजोर होता है। फलतः मनुष्य पाप और दोष की ओर अग्रसर होता है।

जो मांस नहीं खाता उसकी मानसिक-वृत्ति सदा ऐसी रहती है कि उसे शराब का सुन्दर किन्तु क्षणिक, साथ ही मायावी स्वप्न-सुख भोगने की इच्छा नहीं होती।

पर यदि मांस शरीर और आत्मा के लिए इतना हानिकारक है तो सवाल यह उठता है कि क्या बाइबिल और ईसा ने मांस का विरोध नहीं किया है! क्या ही अच्छा होता यदि हम फिर, अपने जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए ईसा और बाइबिल से अधिक-से-अधिक प्रथ-प्रदर्शन ग्रहण करते।

तौरेत के पुराने अनुवादों में अनेक भूलें हैं और कुछ तो इतनी भद्दी भूलें हैं कि उनसे मांस के सम्बन्ध के उपदेश उलटे अधिक अस्पष्ट हो गये हैं।

'बाग के हर पेड़ के फल तू खुशी से खा सकता है, पर ज्ञान के भले और बुरे की समझ वाले पेड़ से पैदा हुए को न खाना, अगर तूने उसे खाया तो तुझे मौत की सजा मिलेगी।'

भला ज्ञान का पेड़ क्या हो सकता है? कहीं पेड़ में भलाई और बुराई समझने की ताकत होती है?

इसलिए बाइबिल में वृक्षों से पशुओं को अलग करने के लिए "बुराई और भलाई समझने वाला" यह वाक्यांश जोड़ा गया है। बाइबिल में पशु को एक जगह 'सजीव वृक्ष' कहा है, अर्थात वृक्ष (प्राणी) जिसमें जीवन हो। अतः बाइबिल में यदि "भलाई और बुराई समझने वाला प्राणी" लिखा होता तो ज्यादा सही होता और इस प्राणी से जो यह समझ सकता है कि क्या बुरा है और क्या भला है, क्या हानिकर और क्या लाभदायक है, और जिसे मनुष्य की तरह अनुभव की शक्ति है, किसी अन्य का नहीं, पशु का ही बोध होगा। मनुष्य के पतन का आरम्भ यहीं से हुआ, उसने पहला पाप यही किया कि उसने पशु[१] का निषिद्ध मांस खाया।

---

१. तौरेत में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य का पहला पाप यही था कि उसने मांस खाया था। आरम्भ में लोग अपने इस पाप को पहचानते थे और इससे बचने की कोशिश करते थे, पर धीरे-धीरे ये फिसलते गये। अन्त में वे अपने इस पाप का समर्थन करने लगे और यहां तक समझने लगे कि मनुष्य ईश्वर की ओर से मांस खाने के लिए स्वतन्त्र है।

हिन्दू-धर्म के ग्रन्थों में, जिनका अनुवाद जर्मन-भाषा में सही-सही मिलता है, पशु का मांस खाना निषिद्ध ठहराया गया है।

प्रकृति के प्रांगण की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि केवल मांस खाने वाले प्राणी हत्या करते हैं। प्रकृति मांसाहारी में हत्या की इच्छा प्रतिष्ठित करती है। मनुष्य ने अपने पतन के बाद पहला या यों कहिये कि एक ही बुरा काम किया था, वह था हत्या—भ्रातृ-हत्या। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य के पतन का कारण मांसाहार है, अन्यथा हत्या का यहां कोई अर्थ नहीं है।

ऐसी स्थिति में ईसा मांस कैसे खा सकते थे! ईसा सबसे अधिक मृदुता और दया की शिक्षा देते थे। तो क्या उन्होंने अपनी आत्मा और ईश्वर की आवाज के विरुद्ध मनुष्य को राक्षस बनाने वाला पशु-मांस खाया होगा, जिसे जबह करने में दया को एकबारगी तिलांजलि दे देनी पड़ती है। यह कार्य ईसा की दया का विरोधी होता, वह हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सकते थे। भला, ईसा शरीर और आत्मा को रुग्ण बनाने वाले, पाप और दोष में फंसाने वाले मांस को स्वीकार कर सकते थे!

तौरेत के अनुवाद में की गयी गलती के समान ही बाइबिल के अनुवाद में भी गलती मिलती है। प्राचीन समय में लोग मांस खाने के पाप के प्रायश्चित स्वरूप देवताओं को शान्त करने के लिए पशु की बलि दिया करते थे। इतिहासकारों का कहना है कि एसेन जाति के लोग, जिनसे ईसा सम्बद्ध थे, पशु-बलि नहीं देते थे। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि वे मांस भी नहीं खाते थे। धर्मशास्त्रियों की भी यही मान्यता है।

इसको इस तरह से भी कह सकते हैं कि वे लोग पशु की बलि नहीं चढ़ाते थे, मांस नहीं खाते थे। ईसा और उनके शिष्यों ने कभी कोई बलि नहीं दी। उन्होंने तो पशु-बलि का निषेध भी किया है।

"मुझे दया चाहिये, बलि नहीं।"

जिस किसी ने बाइबिल की भावना को समझा है और खास तौर से तौरेत को, जानता है कि ईसा ने मांस खाना साफ-साफ मना किया है और इसमें शक और शुबहे की जगह ही नहीं है कि ईसा मांस नहीं खाते थे।

तर्क के बच्चे सांप से पैदा हुआ विज्ञान मनुष्य को आज भी उसी प्रकार पथ-भ्रष्ट कर रहा है जिस प्रकार इसके पिता सर्प ने आदम को स्वर्ग में किया था। यह आज भी पढ़ा रहा है कि प्रकृति-पथ का त्याग करने से मनुष्य की आत्मा और शरीर को अनेक लाभ मिलेंगे।

अभी एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य ने परिष्कृत एवं वैज्ञानिक जीवन अपनाकर बड़ी उन्नति की है और अन्त में यह देवताओं की तरह अमर हो जायेगा।

पर विज्ञान धोखा देने और भुलावे में रखने के सिवा अधिक क्या कर रहा है!

प्रत्येक स्थिर बुद्धि और निष्पक्ष व्यक्ति यह कहेगा कि मनुष्य अप्राकृतिक जीवन को अपनाकर देवता नहीं बन सकता, इसके विपरीत वह रोगी, दुखी, पापी, मूर्ख और सच्चे अर्थ में दानव ही तो बनेगा।"

(एडोल्फ जस्ट के 'रिटर्न टु नेचर' का अनुवाद 'प्राकृतिक जीवन की ओर')

अतएव सब प्रकार मांसाहार, मद्यपान, हिंसा एवं असत्य आचारों को त्यागकर सच्चे अर्थ में मानव बनना चाहिए।

अनेकता में एकता के सूत्र

शब्द–४८

पण्डित देखहु हृदय विचारी, को पुरुषा को नारी॥ १ ॥
सहज समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा॥ २ ॥
वाको नाम काह कहि लीजै, न वाके वर्ण न रूपा॥ ३ ॥
तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा॥ ४ ॥
राम खुदाय शक्ति शिव एकै, कहु धौं काहि निहोरा॥ ५ ॥
वेद-पुराण कितेब कुराना, नाना भाँति बखाना॥ ६ ॥
हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना॥ ७ ॥
छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना॥ ८ ॥
कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना॥ ९ ॥

शब्दार्थ—समाना = प्रविष्ट। चरित = स्वभाव। अनूपा = विलक्षण। वर्ण = रंग। धौं = भला। निहोरा = प्रार्थना। कल = मधुरता, शांति। छौ दर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। परवाना = प्रमाणित, सिद्ध। पै = परन्तु, पर। खलक = संसार के लोग।

भावार्थ—हे पण्डित! हृदय में विचारकर देखो, कौन स्त्री है और कौन पुरुष! अर्थात शरीर स्त्री और पुरुष है, चेतन तो सबमें समान ही है॥१॥ जिनका सहज स्वरूप ही चेतन है वे जीव सभी देहों में प्रविष्ट होकर बोल रहे हैं। उनका स्वभाव जड़ से विलक्षण ज्ञानमय है॥२॥ उन चेतन जीवों को क्या नाम लेकर पुकारोगे! उनका कोई भौतिक रंग-रूप नहीं है। अतएव उन्हें हिन्दू-मुसलमान एवं ब्राह्मण-शूद्रादि नहीं कहा जा सकता॥३॥ हे पगले मानव! मिथ्या जाति और सम्प्रदाय को लेकर तू-तू, मैं-मैं क्या करता है! यहां क्या मेरा है और क्या तेरा है!॥४॥ राम, खुदा, शक्ति, शिव आदि एक चेतन सत्ता मात्र है, फिर भला निज चेतन स्वरूप की स्थिति छोड़कर किस एक की प्रार्थना, वन्दना के भुलावे में पड़ा जाय!॥५॥ वेदों, पुराणों, किताबों तथा कुरान ने नाना प्रकार से वर्णन किया है, परन्तु नाना प्रकार के वर्णन होने से सत्य नाना प्रकार का नहीं हो जायेगा॥६॥ हिन्दू, मुसलमान, जैनी, योगी आदि नानत्व में एकत्व की मधुरता को नहीं समझ पाते॥७॥ योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण तथा अनेक संप्रदाय वाले जो कुछ जहां सत्य मान लिये हैं वे उन्हीं के मनमानी गीत गा रहे हैं॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि परन्तु समाज की एकता को भंग करने वाले इन संप्रदायवादियों के बीच में हम ही पागल सिद्ध हो जाते हैं, और ये सब संसार के लोग समझदार बन जाते हैं॥९॥

व्याख्या—वर्णाभिमानी, जात्याभिमानी एवं संप्रदायाभिमानी लोग एकता में अनेकता देखते हैं। कबीर साहेब अनेकता में एकता देखते हैं। वे परिश्रमपूर्वक समन्वय नहीं करते,

किन्तु उनकी दृष्टि स्वाभाविक समन्वित है। वे एक ऐसे मौलिक एकता-विचार के पुरुष हैं कि उनकी दृष्टि में कहीं आपस में टकराने की गुंजाइश ही नहीं है। यदि कबीर के विचारों को संसार मान ले तो कहीं झगड़े का स्थान ही न रह जाय।

"पण्डित देखहु हृदय विचारी" वे विचार करने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। पंडित दो प्रकार के होते हैं। पंडित का सही अर्थ होता है सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी, जो कोई भी हो सकता है। दूसरे प्रकार का पंडित है कर्मकांडी, पत्राधारी जो भेदभाव की बातें बहुत करता है। इन दोनों प्रकार के पंडितों को विचार करना चाहिए। सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी ही विचार कर सकता है, अतः उसे तो विचारना ही चाहिए, परन्तु कर्मकांडी पत्राधारी को भी विचार करना चाहिए जिससे वह भेदभाव करना छोड़े।

साहेब इस शब्द में पहला विचार रखते हैं "को पुरुषा को नारी।" वे प्रश्नवाचक विचार रखते हैं कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष है? वस्तुतः शरीर स्त्री और पुरुष है। शरीर में रहने वाले चेतन जीव स्त्री-पुरुष नहीं हैं। स्त्री, पुरुष, नपुंसक अथवा प्राणि मात्र के भीतर एक ही प्रकार चेतन सत्ता निवास करती है। लोग कहते हैं "कबीर ने तो नारी को अच्छा स्थान ही नहीं दिया है। वे जिस दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान तथा ब्राह्मण-शूद्र को एक देख सके उसी दृष्टि से नर-नारी को एक नहीं देख सके।" वस्तुतः ऐसा कहने वाले विद्वानों ने कबीर साहेब के प्रामाणिक ग्रन्थ इस बीजक को मनोयोगपूर्वक नहीं देखा। कबीर साहेब प्रस्तुत पद में कहते हैं कि स्त्री हो या पुरुष, दोनों के भीतर एक समान चेतन सत्ता विद्यमान है, इसलिए दोनों का महत्व बराबर है। वे आगे ७५ वें शब्द में भी इस बात को दोहराते हैं—"को पुरुषा को नारी।" यही नहीं, वे इसके आगे ९७ वें शब्द में कहते हैं "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।" अर्थात संसार में जितने औरत तथा मर्द पैदा होते हैं वे सब तुम्हारे स्वरूप हैं। इससे अधिक स्त्री-पुरुष की एकता की बात और क्या कही जा सकती है! अतएव किसी के विषय में गहराई से ज्ञान प्राप्त किये बिना हम उसके सम्बन्ध में समीक्षा करने के अधिकारी नहीं हैं। कबीर स्त्री-निंदक थे इसे कहने से पहले हम कबीर की वाणी का सम्यक अध्ययन करें। हां, यह सच है कि कबीर ने अपनी वैरागीवृत्ति के कारण कामिनी नाम से आलोचना की है। वह स्त्री-निंदा नहीं, किन्तु स्त्री और पुरुष दोनों को कामासक्ति से बचाने के लिए समीक्षात्मक विचार है। कवि स्त्रियों के अंगों की प्रशंसाकर शृंगारिक वर्णन-द्वारा लोगों के मन में कामोद्दीपन करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष वर्ग नारी को सताता है और उसे पथभ्रष्ट करता है। परन्तु सन्तों-द्वारा स्त्री-देह में दोष-दर्शन कराकर पुरुष को उससे उपरत होने की दिशा मिलती है। नारी की रक्षा होती है। यहां सद्गुरु कहते हैं कि नर-नारी के भीतर समान चेतन सत्ता है, अतएव दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है। वे दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अपना-अपना कल्याण करें। जैसे पुरुष अपना सर्वांग कल्याण करने का अधिकारी है, वैसे नारी भी।

सद्गुरु इस शब्द में दूसरी बात यह कहते हैं कि केवल नर-नारी के भीतर ही समानता नहीं है, किन्तु मानव मात्र के भीतर समानता है। "सहज समाना घट घट बोले" चेतन सहज ही सभी दिलों में समाया है। सभी देहों में रहकर जो बोल रहा है वह कौन

है? ब्राह्मण है कि शूद्र, हिन्दू है कि मुसलमान, पारसी है कि इसाई? "वाको नाम काह कहि लीजै, न वाके वर्ण न रूपा।" चेतन का कोई रंग-रूप नहीं है। उसे तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण में परिगणित नहीं कर सकते। "कहहिं कबीर सुनो हो भोंदू, बोलनहारा तुरुक कि हिन्दू।" कबीर साहेब की इतनी-सी बात हम समझ लेते तो आपसी भेदभाव की खाई पट जाती। व्यक्ति का असली स्वरूप देह नहीं, चेतन है, और सभी देहों में चेतन समान है। वह हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र नहीं है। उसका अन्य कोई नाम नहीं रखा जा सकता। अतएव मानव मात्र की अन्तश्चेतना की जाति एक है। सबके भीतर केवल चेतना ही परम गुण है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। सबका निजस्वरूप ज्ञान मात्र है। देह के सारे नाम-रूप मिथ्या हैं। वैसे देह भी सबकी एक समान जड़तत्वों की है। उसमें भी परस्पर भेद नहीं है। वही तत्व, वही इन्द्रियां तथा हाड़-मांस का ढांचा सबके शरीर में हैं। यहां पर सद्गुरु ने व्यक्ति को निजस्वरूप पहचानने के लिए प्रेरित किया है। वे कहते हैं कि सबका स्वरूप एक समान चेतन है जो सारे भेदभावों से रहित है।

साहेब इस शब्द में तीसरी बात यह कहते हैं कि सांप्रदायिक एवं मजहबी खींचतान में क्या रखा है? "तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा।" हर संप्रदाय एवं मजहब वाला यही कहता है कि हमारा राम बड़ा, हमारा खुदा बड़ा, हमारा शिव बड़ा, हमारी शक्ति (देवी) बड़ी इत्यादि। साहेब कहते हैं कि यह बताओ कि ये सब जड़ हैं कि चेतन? यदि ये सब चेतन हैं तो विवाद की बात खत्म हो गयी। चेतन में दो लक्षण नहीं होते। राम चेतन, खुदा चेतन, शिव चेतन और शक्ति चेतन—फिर इनमें से किस एक ही को श्रेय देकर उसका निहोरा किया जाय, उसके सामने रोया-गिड़गिड़ाया जाय। राम, खुदा, शिव, शक्ति आदि के विशेष लक्षण मानव-द्वारा कल्पित हैं। वस्तुतः चेतन का सामान्य लक्षण केवल ज्ञान है। जो पारदृष्टि वाला होता है वह विशेष लक्षण, जो मायिक हैं, उनमें नहीं उलझता। वह तो सामान्य लक्षण की ही उपासना करता है। जैसे विवेकवान तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान आदि कल्पित लक्षणों को श्रेय नहीं देता, किन्तु सबमें विद्यमान सामान्य तात्विक लक्षण मनुष्यत्व को श्रेय देता है, वैसे वह राम, खुदा, शिव, शक्ति कल्पित लक्षणों से संबलित अवधारणाओं की उपासना नहीं करता जो मनुष्य को बांटती हैं, किन्तु वह चेतन अस्तित्व की उपासना करता है, जो निजस्वरूप है और सबके भीतर एक समान विद्यमान है। सारे स्मरणों एवं सारे ख्यालातों को छोड़कर अपनी आत्मा में ही तो स्थिति होती है, फिर बाहर किसका निहोरा किया जाय! अतएव तू-तू मैं-मैं का चक्कर छोड़ो और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सद्गुरु चौथी बात यह कहते हैं कि वेद-पुराण, किताब-कुरान नाना प्रकार से वर्णन करते हैं, तो वर्णन के प्रकार में अन्तर होने से क्या तथ्य में अन्तर हो जायेगा? सारे धर्मशास्त्र एक दूसरे से भिन्न देश और काल में बने हैं तथा बनते हैं। इसलिए उनमें भाषा, शैली, मान्यता, विश्वास, चिंतन आदि में अन्तर होना स्वाभाविक है। अन्तर ही नहीं, विरोधी भाव भी होना सहज है। इतना तथ्य है कि दुनिया के सारे धर्मशास्त्र मनुष्यों के बनाये हैं। मनुष्यों के अलावा किसी देव या ईश्वर की कल्पना भावना मात्र है, फिर

उसके द्वारा शास्त्र रचने की बात तो और हास्यास्पद है। यह अपने धर्मशास्त्र को तथाकथित ईश्वर का भेजा हुआ बताकर उसकी बातें समाज पर बलात थोपने का षड्यंत्र मात्र है। धर्मशास्त्रों को ईश्वरप्रदत्त मान लेने से सारी जड़ता, हठ, हिंसा एवं सांप्रदायिक भावनाएं पैदा होती हैं। ईश्वरवादी अपनी सड़ी-गली बातों को भी प्रभुवचन बताकर उसे सत्य सिद्ध करने की कठहुज्जती करता है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं तथा उसके अलावा कोई शास्त्र-रचयिता नहीं। सभी शास्त्र मनुष्य के रचे हुए हैं। उनकी तरह-तरह की बातों से सार लो। इस जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का तथ्य एक है। नाना प्रकार से वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों के वचनों से विश्वसत्ता को मत तौलो, किन्तु विश्वसत्ता की कसौटी से धर्मशास्त्रों को कसो। हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।[१] अमुक धर्मशास्त्र में लिखा है, इसलिए हम उसके अनुसार विश्वसत्ता न मान लें, किन्तु जैसी विश्वसत्ता है उसके अनुसार लिखे वचन प्रमाण हो सकते हैं। धर्मशास्त्र में लिखा है कि चन्द्रमा तथा सूर्य को राहु ग्रसता है इसलिए हम ऐसा नहीं मान सकते, किन्तु तथ्य है कि चन्द्र, सूर्य तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है, अतः ऐसी बात ही मान्य हो सकती है। हम विश्वसत्ता को समझने के लिए धर्मशास्त्रों का केवल सहारा लें, उन पर पूर्णतया अवलंबित न हों। धर्मशास्त्रों में बहुत-सारी अच्छी प्रेरणाप्रद बातें होने के बावजूद विवाद और उलझनें भी बहुत हैं। यहां तक कि उनमें ज्ञान के नाम पर अज्ञान भी बहुत भरे हैं। अतएव मनुष्य को अपने विवेक का भरोसा करना चाहिए। मनुष्य में विश्वज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है, बस, उसे केवल सब तरफ से निष्पक्ष होकर सोचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि परम्परा, गुरुजन एवं शास्त्रों का आधार लेते हुए अपने स्वतन्त्र विवेक से अपने आपको तथा विश्व के नियमों को पहचाने। अमुक धर्मशास्त्र की दोहाई न दे, किन्तु सभी धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए सत्यान्वेषी हो।

सद्‌गुरु पांचवीं बात कहते हैं "हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना।" अर्थात संप्रदायों की जड़ता में उलझे हुए लोग इस 'कल' को नहीं समझ सके। 'कल' का अर्थ है 'मधुर'। जैसे कहा जाता है कि सुबह पेड़ों पर पक्षी कलरव कर रहे थे, अर्थात मधुर ध्वनि कर रहे थे। सद्‌गुरु कहते हैं कि मैंने इस शब्द में जो कुछ कहा है वह अनेकता में एकता का सूत्र है। यह अनेकता में एकता देखना ही मधुरता है। विचारकर देखने पर इस संसार में न कुछ अपना है और न पराया। यहां न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न हिंदू है न मुसलमान, न स्त्री है न पुरुष, न राम, खुदा, शिव, शक्ति एवं वेद, पुराण, किताब, कुरान को लेकर सत्य में बटवारा है। सबके घटों में समाया हुआ सहज स्वरूप चेतन है। चेतन ही निजस्वरूप है। वही सभी मनुष्यों का स्वरूप है। जो मैं हूं वही दूसरा है। यह बोध अनेकता में एकता की मधुरता है। यही तथ्य है। परन्तु मजहबी भावना वाले इसे नहीं समझते। वे सत्य को काट-काटकर देखना चाहते हैं। सत्य पर हिंदुआनी, मुसलमानी, इसाइयत एवं अन्य अनेक रंग चढ़ाकर उसे भ्रमपूर्ण बना देते हैं। सभी मनुष्यों की आत्मा एक समान है तथा

---

१. ना ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे। *(भामती)*

सभी को एक दूसरे से प्रेम चाहिए। प्रेम ही भक्ति है। प्राणितिरस्कार करके भक्ति का क्या मूल्य है!

साहेब छठीं बात कहते हैं "छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना।" अर्थात मजहबी भावना वाले जो कुछ प्रमाण मान लेते हैं उसी के नाम पर अपनी मान्यता बना लेते हैं। वे मान्यता के घेरे में अपने आपको इतना मजबूती से बांध लेते हैं कि उससे निकलकर सोचना भी नहीं चाहते। जो केवल रूढ़ियों की लकीर पर चलना चाहेगा, उससे थोड़ा भी हटकर सोचना नहीं चाहेगा उसे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का एकलौता पुत्र है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का संदेशवाहक-दूत है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष स्वयं साक्षात भगवान एवं ईश्वर है। कोई कहता है कि मेरी किताब ईश्वर की वाणी है। कोई कहता है कि मेरा मजहब ही दीन है, धर्म है, बाकी बेदीन हैं, अधर्म हैं। कोई कहता है कि मेरा मजहब, संप्रदाय एवं समाज ही आस्तिकता का पंथ है, शेष नास्तिक या काफिर हैं। इस प्रकार सभी ने एक बार जो कुछ प्रमाण एवं सत्य मान लिया है उसी की मान्यता के घरौंदों में बंद हैं। उससे निकलकर विशाल सत्य को देखना ही नहीं चाहते।

अतएव सद्गुरु अंतिम सातवीं बात कहते हैं "कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना।" ये संसार के मजहबी लोग ही सयाने हैं, ये ही सच्चे समझदार हैं, बल्कि मैं ही पागल हूं जो इनके बीच में अकेला आ गया। अथवा ये सब सयाने लोग हमारे ऊपर ही पागलपन का दोषारोपण कर रहे हैं कि कबीर तो पागल है। यह न ईश्वरीय किताब मानता है, न अवतार मानता है, न पैगंबर मानता है, न जाति-पांति मानता है, न वर्ण-व्यवस्था मानता है, न छुआछूत मानता है। यह हमारे अलग-अलग बनाये भगवान के चेहरों को भी मिटाकर केवल सामान्य एवं सहज चेतन में ही उन्हें पर्यवसित कर देना चाहता है। यह कबीर तो हमारी अलग पहचान को ही समाप्त कर देना चाहता है। यह पागल है। इसे समाज से खदेड़ो।

पुरोहितों ने कबीर को समाज से खदेड़ने का भरपूर प्रयास किया, परन्तु दिन जितने बीत रहे हैं कबीर के विचार समाज पर छाते जा रहे हैं। उनके विचारों के अनुसार सरकारें कानून बनाती जा रही हैं। पुरोहित भी उन्हें समझकर उनके निकट आने का प्रयास कर रहे हैं। जो कबीर को ठीक से समझ लेता है, वह तत्काल उनके निकट आ जाता है और उन्हें अपनी आंखें मान लेता है। अंत में कबीर को पागल कहने वाला अपने आपको स्वयं पागल मानने लगता है।

समाधि एवं मोक्षतत्व का वर्णन

शब्द–४९

बुझ बुझ पण्डित पद निर्बान, साँझ परे कहवाँ बसे भान॥ १ ॥
ऊँच नीच पर्वत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा उठे गीत॥ २ ॥
ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ, सहसों धेनु दुहावें तहवाँ॥ ३ ॥

नित अमावस नित संक्रान्ति, नित नित नौग्रह बैठे पाँति॥ ४ ॥
मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना॥ ५ ॥
कहहिं कबीर इतनो नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पद निर्बान = निर्वाण पद, बुझा हुआ, शांत, मुक्त। साँझ = समाधि, विदेहमुक्ति, मृत्यु। भान = सूर्य, चेतनजीव। सहसों धेनु = आनन्द की हजारों वृत्तियां। अमावस = कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि, इसमें चंद्रमा और सूर्य एक साथ रहते हैं। संक्रान्ति = साथ गमन, मिलन, एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक का मार्ग, सूर्य या किसी ग्रह का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करना, गुरु से शिष्यों का विद्या-ग्रहण। नौग्रह = सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु, तात्पर्य में पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्तःकरण। केहि खना = किस क्षण, कब।

भावार्थ—हे पंडित! जहां सारी वासनाएं बुझ जाती हैं उस मोक्षपद को बारम्बार समझने का प्रयत्न करो। ध्यान दो, संध्या होने पर सूर्य कहां निवास करता है? पौराणिक लोग कहते हैं कि सूर्य सुमेरु पर्वत के पीछे छिप जाता है, परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सूर्य को छिपने के लिए ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट कुछ नहीं है। वह तो जहां रहता है अपने आप में सदैव उदित ही रहता है केवल पृथ्वी का ही आड़ा हो जाता है। इसी प्रकार सूर्यवत ज्ञानस्वरूप चेतन समाधि में एवं मोक्ष में अपने स्वरूप में रहता है। उसके रहने की अन्य जगह की आवश्यकता नहीं है। समाधिलीन जीव को छिपने के लिए कोई ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट नहीं है, किन्तु वृत्तियों के अभाव होने से वह संज्ञाशून्य-जैसा लगता है। स्वरूपस्थ पुरुष के हृदय में तो बिना गायन किये अनाहतनाद के गीत के स्वर उठते रहते हैं। अर्थात उसका चित्त वासनाहीन हो जाने से, उसे अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनाई देती है॥१-२॥ वहां पानी की जगह पर ओस तक नहीं है और न उसकी प्यास ही है। अर्थात न वहां भोग है और न भोगतृष्णा। वहां निवास के लिए न मंदिर है न उसकी आवश्यकता, वहां स्वरूपस्थिति ही मन्दिर है। फिर भी वहां दूध पीने के लिए मानों हजारों गायें दुही जाती हैं। अर्थात वहां आनन्द की हजारों वृत्तियों की वर्षा होती है॥३॥ संसार में समय-समय पर अमावस्या तथा संक्रांति के दिन आते हैं, परन्तु समाधिलीन पुरुष के लिए मानो रोज ज्ञान और मन रूपी सूर्य और चन्द्रमा के मिलन की अमावस्या है तथा रोज जड़ प्रकृति बिन्दु से स्वरूपस्थिति बिन्दु में जाने की संक्रांति है। आकाश के नौ ग्रहों का एक पंक्ति में बैठना असंभव है, परन्तु यहां तो रोज पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्तःकरण रूप नौ ग्रह संयम की एक पंक्ति में बैठ जाते हैं॥४॥ हे पंडित! मैं तुमसे पूछता हूं कि हृदय में मोह-माया का आवरण किस समय पड़ा या पड़ता है? ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि तुम इतना भी नहीं जानते हो, तो तुम्हारे गुरु ने तुम्हें कैसा ज्ञान दिया है? ॥६॥

व्याख्या—इस शब्द में भी कबीर साहेब निर्वाण पद एवं मोक्षपद को समझने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। यहां कबीर साहेब मोक्षपद को निर्वाणपद संज्ञा से याद करते हैं। निर्वाण का सीधा अर्थ है बुझ जाना। बौद्धों ने माना है कि जैसे दीपक में ज्योति जलती है, वह ज्योति कोई परिनिष्ठित पदार्थ नहीं है, किन्तु बत्ती के आधार में

नीचे पात्र में से तेल ऊपर चढ़ता है और ज्योति में मिलकर ज्योति बन जाता है तथा ज्योति जलकर ऊपर उड़ जाती है, ऐसा क्रम बराबर चलता है, परन्तु हमें लगता है कि वही ज्योति रात भर बराबर जलती रही है, परन्तु ज्योति का आकार तो नीचे से आया हुआ तेल का प्रवाह है, जो बराबर ज्योति बनकर और उड़कर समाप्त होता रहा है, वैसे जो प्राणियों के भीतर एक चेतना है वह क्षणिक विज्ञान का एक प्रवाह है। वह कोई स्थायी पदार्थ नहीं है। वह ज्ञानद्वारा बुझ जाने पर मोक्ष में कुछ नहीं रह जाता।

कबीर साहेब का मत इससे भिन्न है। वे मानते हैं कि शरीरों में जो चेतना है उसका आधार प्रति शरीर में अविनाशी जीव एवं आत्मा है जो परिनिष्ठित एवं अजर-अमर तथा अखंड है। क्षणिक विज्ञान में संस्कारों का कोई स्थायी धारक न होने से बीते हुए समय की घटनाओं की याद बिलकुल नहीं होगी। परन्तु सौ वर्षों की उम्र वाले आदमी को नब्बे वर्ष पुरानी बातें भी याद आती हैं। क्षणिक विज्ञान के सिद्धांत में कर्म एक विज्ञान करेगा तथा फल दूसरा विज्ञान भोगेगा।[1]

कबीर साहेब यहां निर्वाण पद कहते हुए भी जीव के लिए दीपक ज्योति का रूपक न देकर भान अर्थात सूर्य का रूपक देते हैं। दीपक की लौ क्षणिक है, परन्तु सूर्य स्थायी है। बौद्धों का विज्ञान क्षणिक है, परन्तु कबीर की आत्मा अमर है। वह सूर्य-तुल्य है। सूर्य का उदाहरण केवल समझाने के लिए है। जीव के समान तो केवल जीव ही है। यहां निर्वाण का अर्थ केवल वासनाओं का बुझ जाना है। सद्गुरु पंडितों से पूछते हैं कि जब वासनाएं बुझ जाती हैं, साधक समाधि में लीन हो जाता है, तब जीव कहां निवास करता है? इसके लिए वे सूर्य का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जब संध्या होती है तब सूर्य कहां जाकर बसता है? पौराणिक पंडित कहते हैं कि एक सुमेरु पर्वत है। यह सोने का बना है। यह पर्वत इलावृत्त[2] वर्ष में अवस्थित है। इसी की आड़ में सूर्य छिप जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। ''ऊंच नीच पर्वत ढेला न ईंट'' अर्थात सूर्य के छिपने के लिए कोई ऊंच-नीच, पर्वत, ढेला, ईंट की आड़ नहीं चाहिए। सूर्य किसी पर्वत की आड़ में छिपता हो तब रात होती हो ऐसी बात नहीं है। सूर्य तो हर समय

---

१. इस विषय को समझने के लिए पढ़िए कबीर दर्शन, अध्याय ३ का 'जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन अस्तित्व'।

२. भागवत (५/१६/७) में लिखा है कि इलावृत्त वर्ष के बीच में पर्वतों का राजा 'सुमेरु' स्थित है। वह मानो भूमंडलरूप कमल की कर्णिका है। वह नीचे से ऊपर तक सोने का है तथा एक लाख योजन ऊंचा है। उसके शिखर का विस्तार बत्तीस हजार योजन तथा तलैटी में सोलह हजार योजन है। वह सोलह हजार योजन ही जमीन में घुसा है तथा भूमि के बाहर उसकी ऊंचाई चौरासी हजार योजन है।

उक्त सारी बातें अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। दो, चार तथा आठ कोस का योजन की मान्यता है। अधिकतम चार कोस को एक योजन मानते हैं। सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा था। अर्थात चार लाख कोस या आठ लाख मील जिसे आप करीब बारह लाख किलोमीटर से अधिक समझें। आज वैज्ञानिक पूरी पृथ्वी की परिधि लगभग पचीस हजार मील बताते हैं। परन्तु पुराणों की कृपा से उस पर आठ लाख मील ऊंचा सुमेरु पर्वत ही है।

उदित रहता है। वह जहां रहता है अखंड प्रकाशरूप रहता है। केवल पृथ्वी का आड़ा हो जाता है तब इधर अंधकार हो जाता है। इसी को हम रात कहते हैं। संध्या होना, रात होना न सूर्य का पर्वत में छिपना है और न उसका मिट जाना है, किन्तु केवल पृथ्वी की आड़ हो जाना है। इसी प्रकार जीव जब समाधि में जाता है या इसका मोक्ष हो जाता है तब यह किसी ऊंच या नीच, पर्वत, ढेला एवं ईंट की आड़ में छिप नहीं जाता है और न नष्ट हो जाता है, किन्तु वासनाओं के बुझ जाने के कारण वह संसार को नहीं जानता। परन्तु संसार को न जानते हुए भी उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। गाढ़ी नींद में जीव कुछ नहीं जानता, परन्तु इससे वह मिट नहीं जाता। जागकर पुनः अपने पूर्व संस्कारों को लेकर काम करता है।

"साँझ परे कहवाँ बसे भान" में 'साँझ' शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों का श्लेष है। अर्थात सांझ शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों अर्थ चिपके हैं। दो प्रश्न हैं, समाधि में जीव कहां बसता है तथा विदेह-मोक्ष में जीव कहां बसता है? जीव को भान कहकर मानो उत्तर भी दे देते हैं कि सूर्य का कभी अभाव नहीं होता। वह सदैव अपने स्वरूप में रहता है, भले कभी पृथ्वी का आड़ा होने से हमें न दिखे। इसी प्रकार समाधि में सारी स्मृतियों को छोड़ देने से जीव शांत हो जाता है, परन्तु रहता है। उसकी वासनाएं शून्य हो जाती हैं न कि जीव शून्य हो जाता है। अतएव समाधि में सारी स्मृतियों के बुझ जाने पर भी चेतन का अपना अखंड अस्तित्व रहता है। जब वह विदेहमुक्त हो जाता है तब भी अजर-अमर एवं अखंड होने से अपने आप में रहेगा ही। वह प्रकृति-संबंध से छूट जाने से सदैव के लिए क्लेश-रहित हो जाता है। बस, इसके आगे उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

जो व्यावहारिक है उस समाधि को लेकर कबीर साहेब आगे बढ़ते हैं "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत" जो समाधिलीन है उसके भीतर बिना गायन किये गीत के स्वर उठते हैं। बड़ा अद्भुत है। जो संसार के गीत छोड़कर समाधि में चला जाता है उसके भीतर एक स्वसंवेद्य गीत उठने लगता है। वह गीत है अंतरात्मा की आवाज। जैसे स्वच्छ और निस्तरंग जल में मनुष्य अपने चेहरे के प्रतिबिम्ब को साफ देख लेता है और जैसे स्वच्छ दर्पण में भी, वैसे स्वच्छ और निर्द्वन्द्व मन में मनुष्य अपने आपको ठीक से समझता है। जैसे किसी की कही हुई बातें हम तब सुन पाते हैं जब वहां हल्ला-गुल्ला न हो, वातावरण शांत हो, वैसे हम अपनी अंतरात्मा की आवाज तब समझ पाते हैं जब मन की हलचल समाप्त हो जाय। जो साधक मन के संकल्पों को छोड़कर समाधि में चला जाता है वह अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनने लगता है। मनुष्य के भीतर से ज्ञान का स्वर उठता है; दया, सत्य, क्षमा, प्रेम आदि के स्वर उठते हैं, परन्तु वह उनकी अवहेलना कर देता है। निरन्तर अवहेलना करने वाले के स्वर एकदम दब जाते हैं। कसाई की अंतरात्मा की दया के स्वर दब जाते हैं। निरंतर जीव-वध करते रहने से उसे अपनी अंतरात्मा के स्वर नहीं सुनाई देते। इसी प्रकार निरंतर झूठ बोलने वाले का झूठ के विषय में हो जाता है। परन्तु जिसका मन जितना स्वच्छ होता है वह उतना ही अपने भीतर से अच्छी राय जान सकता है। जो समय-समय पर समाधि-लीन हो जाता है, उसका तो कहना ही क्या। उसका मन अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है। अतएव वह उत्तम-से-उत्तम राय अपने भीतर से

पाने लगता है। समाधिनिष्ठ का मित्र एवं गुरु मानो उसकी अंतरात्मा ही हो जाती है। इस अंतस्संगीत के सामने बाहर के संगीत तुच्छ हैं। समाधिनिष्ठ साधक सदैव अंतस्संगीत का रसास्वादन करता है "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत।"

"ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ" उस समाधि में, उस स्वरूपस्थिति की दशा में पानी की जगह पर ओस का कण भी नहीं है और न उसके लिए प्यास है। इसका अर्थ है कि समाधिनिष्ठ पुरुष के मन में ओसकणवत तुच्छ भोग की प्यास नहीं रह जाती। वहां कहां भोग और कहां भोगों की तृष्णा! 'कहा विषय को भोग, परम भोग इक और है। जाके होत संयोग, नीरस लागत इन्द्र पद।।"[1] समाधि सुख का उपभोग करने वाले की दृष्टि में विषय-भोग घृणित हो जाते हैं और सदैव के लिए उनका त्याग हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "मंदिर नहिं जहवाँ" वहां कोई लोहा, पत्थर, ईंट, सीमेंट का मंदिर एवं भवन नहीं बना है, परन्तु समाधि मानो स्वयं अक्षय मंदिर है, क्योंकि इसका फल अनंत स्वरूपस्थिति है। अपने कार्य-क्षेत्र में दिन भर थके हुए मनुष्य के विश्राम के लिए एक मंदिर एवं भवन चाहिए। इसी प्रकार संसार से थके हुए साधक के लिए समाधि-मंदिर चाहिए जहां पहुंचकर जीव को परम विश्राम मिलता है। हर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भीतर बिना मंदिर का मंदिर बनाये। "बे दरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।" यह समाधि ही वह मंदिर है जो गिरने एवं छूटने वाला नहीं है। जो साधक समाधिनिष्ठ होता है, वह व्यवहारकाल में अनासक्त रहने से मानो सब समय समाधि में ही रहता है। इस प्रकार वह जीवन भर समाधि में विराजमान रहते हुए विदेहमोक्ष रूपी अचल समाधि में पहुंच जाता है। अतएव जो जीवन में अविचल भाव से समाधि मंदिर पा गया वह मानो अचल मन्दिर में प्रवेश पा गया। उसके सारे भय समाप्त हो जाते हैं।

"सहसों धेनु दुहावैं तहवाँ" वहां मानो हजारों गायें दुही जाती हैं। जिसके घर में हजारों गायें दुही जाती हों उसकी संपत्ति एवं सुख को क्या पूछना! सद्गुरु कहते हैं कि जो साधक निर्वाणपद में चला जाता है, समाधि में लीन हो जाता है, मत समझना कि वह गरीब हो जाता है। वह बहुत बड़ा संपदाशाली हो जाता है। सारी संपदा सुख के लिए है। परन्तु ज्यादातर देखा जाता है कि संसार की संपदा वाले दुखी रहते हैं। उनका मन बेचैन रहता है। क्योंकि उनका मन तमाम इच्छा वाला होता है। परन्तु जो साधक समाधि में पहुंच जाता है, उसकी सारी इच्छाएं बुझ जाती हैं। जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं वह मानो महा-संपदाशाली हो गया। उसके जीवन की शुद्ध हुई हजारों मनोवृत्तियां रूपी गायें मानो उसके लिए दूध वर्षाती हैं। समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी हरदम निर्विकल्प समाधि में तो नहीं बैठा रहता है। निर्विकल्प समाधि में तो वह समय-समय पर होता है, शेष समय व्यवहार में होता है। परन्तु उसका मन तो मक्खन बन जाता है। उसकी हजारों मनोवृत्तियां दुग्धवर्षिणी, मधुवर्षिणी, अमृतवर्षिणी एवं आनन्दवर्षिणी ही

---

१. भर्तृहरि वैराग्य शतक का हिन्दी अनुवाद, प्रतापसिंह।

होती हैं। श्री रामरहस साहेब ने इसी अवस्था के लिए कहा है "आनन्द लहरि के समुद्र अगाध।"[१]

"नित अमावस नित संक्रान्ति" संसार में न रोज अमावस्या रहती है और न संक्रांति। परन्तु समाधिलीन एवं जीवन्मुक्त पुरुष के लिए मानो रोज अमावस्या एवं रोज संक्रांति के पर्व हैं। अमावस्या कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि है। इसमें चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं। 'अमा' (एक साथ या घर) एवं 'वस' (वास करना) से अमावस एवं अमावस्या शब्द बना है।[२] मन का देवता चन्द्रमा तथा आंख का देवता सूर्य माना गया है। अतएव चन्द्रमा मन का प्रतीक तथा सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। आंख से देखकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अन्य प्रमाण माने जाते हैं। अतएव सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, चन्द्रमा मन का प्रतीक है ही। समाधिलीन पुरुष का मन सदैव ज्ञान सहित होने से उसके लिए मानो हर समय अमावस्या का पर्व है। जैसे आकाश में चांद और सूरज का एक साथ होना अमावस्या है, वैसे हृदय में ज्ञान और मन का एक साथ होना आध्यात्मिक अमावस्या है। अमावस्या उत्तम पर्व माना जाता है। अथर्ववेद में इसको देवता कहा गया है।[३] सद्गुरु कहते हैं कि समाधि में स्थित पुरुष के लिए तो रोज अमावस्या है, रोज पर्व है। वह स्वयं परम देव है।

"नित संक्रांति" साहेब कहते हैं कि उसके लिए रोज संक्रांति की पुण्य तिथि है जिसका मन पवित्र है, जो समाधिनिष्ठ है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाने को संक्रांति कहते हैं। कुल बारह राशियां हैं—मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ तथा मीन। जब सूर्य धनु राशि को छोड़कर मकर राशि में प्रवेश करता है तब इसे मकर संक्रांति कहते हैं। यह बहुत प्रसिद्ध तथा पुनीत माना जाता है और उत्सव के रूप में भी मनाया जाता है। इसी प्रकार एक राशि से दूसरी राशि में सूर्य का क्रमशः जाना संक्रांति है।[४] ब्रह्मांड में संक्रांति रोज नहीं रहती। परंतु समाधिनिष्ठ पुरुष का रोज संक्रांति-पर्व है। वह रोज जड़ प्रकृति-क्षेत्र को छोड़कर चेतन-क्षेत्र में गमन करता है। ज्ञानी जब तक देह में रहता है तब तक संसार उसके सामने बना ही रहता है। अतएव वह उसे छोड़-छोड़कर अंतर्मुख होता रहता है। दृश्यों को छोड़-छोड़कर द्रष्टा चेतनस्वरूप में अवस्थित होना ही आध्यात्मिक संक्रांति है। संक्रांति एक पर्व है जो एक वर्ष में बारह बार होता है, परन्तु ज्ञानी का संक्रांति-पर्व रोज होता है। उसके लिए रोज उल्लास एवं पर्व के दिन हैं।

"नित नित नौ ग्रह बैठे पाँति" हमारे आकाश में नौ ग्रह हैं। ये एक दूसरे से बहुत दूर-दूर हैं। ये नौ ग्रह एक पंक्ति में आकर बैठ नहीं सकते। परन्तु समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए तो नौ ग्रह आकर एक पंक्ति में रोज-रोज बैठ जाते हैं। ये हैं—आंख, नाक, कान,

---

१. पंचग्रंथी, गुरुबोध, उत्तर ८।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड ४, पृष्ठ २५।

३. अथर्ववेद ७/७९।

४. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।

जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए ये आकर एक संयम की पंक्ति में बैठ जाते हैं। अर्थात उसके इन्द्रिय-मन स्ववश होते हैं।

मानो काशी के गंगा-घाट पर एक यात्री बैठा था। एक पंडित जी आकर उसे कहने लगे कि तुम्हें ग्रह ने पकड़ रखा है। वह तुम्हारा अशुभ करेगा। तुम पूजा करवाकर ग्रह-शांति करवा लो। इतने में पीछे से कबीर साहेब आ गये। उन्होंने उसे वर्गलाते देख पंडित से पूछ लिया "मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" हे पंडित, मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारे हृदय में यह मानसिक ग्रहण कब से लगा जो आकाश में रहे हुए ग्रह को मनुष्य पर कुपित बतलाते हो? यदि इस पर ग्रह कुपित है, तो हम लोगों पर क्यों नहीं कुपित है? सूर्य का प्रकाश और गरमी सभी पर बराबर रहते हैं। पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रभाव से पूरे समुद्र में ज्वार आता है। यदि इसी प्रकार ग्रह का प्रकोप मनुष्य पर हो तो सभी मनुष्यों पर होना चाहिए। सब पर प्रकोप न होकर किसी-किसी पर ही प्रकोप क्यों? मान लो, इस व्यक्ति पर ग्रह का प्रकोप है, तो पूजा करने से वह शांत कैसे हो जायेगा? क्या पूजा करने से सूरज की गरमी शांत हो जायेगी? बताओ पंडित! यह अज्ञान तुमको कब से घेर लिया जो ग्रह का प्रपंच खड़ाकर मनुष्यों का वंचन कर रहे हो?

पंडित बेचारा कबीर साहेब के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाया। तब कबीर साहेब उससे पुनः पूछ बैठे "कहहिं कबीर इतनो नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान।" पंडित जी, आप इतना भी नहीं जानते? तुम्हारे गुरु तुम्हारे कान में कौन-से ज्ञान के शब्द या मंत्र सुनाये थे? "इतनो नहिं जान" वाक्यांश में पंडित की छिछली और वंचकबुद्धि के लिए मार्मिक व्यंजना है।

उक्त दोनों पंक्तियों का आध्यात्मिक अर्थ इस ढंग से समझना चाहिए। "मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" साहेब कहते हैं कि हे पंडित, हृदय में अज्ञान का ग्रहण जीव को कब लगा या लगता है? यहां दो प्रकार से प्रश्न हो सकते हैं। पहला यह कि जीव को कब अज्ञान घेर लिया? तथा दूसरा यह कि जीव को कब अज्ञान घेरता है? पहले वाले का उत्तर पंडित न दे सके तो वह दोषी नहीं है, क्योंकि उसका उत्तर कोई नहीं दे सकता। उसका उत्तर यदि है तो यही कि जीव के ऊपर अज्ञान का आवरण अनादि से है। जीव कब अज्ञान में पड़ा यह नहीं कह सकते। यही कह सकते हैं कि जीव अनादिकाल से अज्ञान में पड़ा है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर व्यावहारिक है कि जीव को कब अज्ञान घेरता है, हे पंडित, इसका विचार करो। जो व्यक्ति अपने मन को निरन्तर देखता है वही समझ सकता है कि मेरे मन में कब अज्ञान आया। जब भी मन में देहाभिमान, काम, मोह, लोभ, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता, शोक आदि मनोविकार आयें तब समझ लो कि हृदय में ग्रहण लग गया। आदमी विद्वान हो जाता है, पण्डित हो जाता है, संसार के बहुत ज्ञान उसे हो जाते हैं, परन्तु वह अपने हृदय के ग्रहण को नहीं समझ पाता। जो क्षण-क्षण लगने वाले अपने हृदय के ग्रहण को समझ ले वह साधक है, और जब हृदय को ग्रहण लगना बन्द हो जाय तब वह सिद्ध है।

साहेब कहते हैं कि यदि अपने हृदय के ग्रहण को न समझ सके, अपने मन की मलिनता को न समझ सके और उसे न निकाल सके तो उसका सारा पांडित्य निरर्थक है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में समाधि एवं मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

संसार-वृक्ष से छुटकारा लो

शब्द—५०

बुझ बुझ पंडित बिरवा न होय, आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय॥ १ ॥
बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गयी पतारा॥ २ ॥
बारह पखुरिया चौबिस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास॥ ३ ॥
फूले न फले वाकी है बानी, रैन दिवस बेकार चुवै पानी॥ ४ ॥
कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बिरवा = वृक्ष, संसार, जन्म-मरण। पुरुष = चेतन। जोय = पत्नी, प्रकृति। स्वर्ग = आकाश। पतारा = पाताल। पखुरिया = पंखड़ी, पत्ते या फूल के गुच्छे। बरोह = जटा, बरगद की जटा। बानी = स्वभाव। अछलो = था।

भावार्थ—हे पंडित! इस तत्त्व को समझने की बारम्बार चेष्टा करो जिससे जन्म-मरण का वृक्ष पुनः न पैदा हो। इस वृक्ष के आधे में चेतन बसता है तथा आधे में जड़ प्रकृति। अथवा स्त्री-पुरुष की पारस्परिक आसक्ति से यह जन्म-मरण का वृक्ष बना रहता है॥१॥ यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसका शिखर भाग आकाश में तथा जड़ पाताल में चली गयी है॥२॥ इसमें बारह महीने मानो बारह पंखड़ियां हैं और चौबीस पखवारे पत्ते हैं। इसके चारों तरफ आसक्ति की मानो सघन जटाएं लगी हैं जिनने मजबूती से जीव को जकड़ रखा है॥३॥ इसका स्वभाव ऐसा है कि यह फूलता-फलता नहीं। अर्थात जो इसमें आसक्त रहता है वह दुखी रहता है। उसको जीवन में सच्चा सुख नहीं मिलता। इसमें रात-दिन कामादि मलिनता का ही पानी चूता रहता है॥४॥ कबीर साहेब जनभाषा में कहते हैं कि जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कोई प्रपंच नहीं था॥५॥

व्याख्या—संसार रूपी वृक्ष एक बाहर है तथा दूसरा मनुष्य के मन के भीतर। बाहर का वृक्ष सदैव बना रहेगा। उसके बने रहने से हमारी कोई हानि नहीं है, किन्तु हमारे मन के भीतर का संसार-वृक्ष उखड़ जाना चाहिए। हमारे मन के भीतर का वृक्ष जड़ासक्ति है। इसको उखाड़ फेंकने से ही हमें परमशांति की उपलब्धि होगी। सद्गुरु कबीर पंडितों, सूक्ष्मदर्शियों एवं विवेकियों को यही राय देते हैं कि वे इसे समझने की चेष्टा करें ''बुझ-बुझ पण्डित बिरवा न होय।'' यही इस शब्द का उद्देश्य है कि हमें ऐसी समझ होनी चाहिए कि संसार-वृक्ष उखाड़ फेंके, मन की जड़ासक्ति नष्ट कर दें।

''आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय'' बाहर का संसार प्रकृति तथा पुरुषमय है। पुरुष कहते हैं देहधारी चेतन को। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर (गांव) में सोये, निवास करे, वह पुरुष है। यह चेतन जीव पुरुष है। दूसरी है जोय, जोय कहते हैं पत्नी को। इसका लक्षणा अर्थ है प्रकृति। प्रकृति का मतलब है जड़ कारण-कार्य का पसारा।

संसार में दो ही लक्षण की सत्ताएं हैं जड़ और चेतन। जड़ और चेतन को छोड़कर तीसरा लक्षण नहीं होता। संसार में जहां कहीं भी ज्ञानयुत क्रिया है वहां चेतन का निवास है तथा जहां स्वाभाविक क्रिया है वहां जड़ मात्र है। हमारा जीवन भी जड़-चेतन का संयोग है। जड़ तत्वों से शरीर बना है तथा चेतन उसमें निवास करता है। जैसे संसार के सम्पादन में जड़ और चेतन का योग है, वैसे भवबंधनों के सम्पादन में स्त्री-पुरुष का योग है। स्त्री और पुरुष परस्पर दैहिक आसक्ति में पड़कर एक दूसरे को मोहग्रस्त करते हैं तथा स्वयं मोहग्रस्त होते हैं। यह जो बाहर के शरीर-संसार हैं इनकी आसक्ति ही भवबंधन है और यही जीव के लिए मानो संसार-वृक्ष है। इसी को उखाड़ फेंकने से जीव को जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति होती है। जो जीवन्मुक्त होता है, वही विदेहमुक्त होता है।

"बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसकी चोटी स्वर्ग में है तथा जड़ पाताल में। स्वर्ग का अर्थ होता है आकाश। आकाश तो सर्वत्र है, अतएव स्वर्ग का अर्थ है ऊपर, बहुत ऊंचा। पाताल का अर्थ है बहुत नीचा। यह ऊंचा-नीचा भी सापेक्ष दृष्टि से ही कहा जा सकता है। यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में आंक नहीं सकते। न इसके देश की सीमा है और न काल की। इसलिए इसके विषय में जितना कुछ कहा जायेगा वह सापेक्ष होगा, अधूरा होगा, केवल एक पहलू का कथन होगा। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है। ऐसा प्रकाश यदि खरबों वर्ष चलता रहे तो क्या कहीं दीवार मिल जायेगी! यदि दीवार मिल जाय तो वह भी देश ही है। दीवार के आगे फिर आकाश होगा। कहां तक होगा? प्रश्न ही गलत है। आकाश होगा ही होगा। अतएव हम संसार के विषय में सही अनुमान नहीं कर सकते। बस, इतना ही कह सकते हैं कि "आधे बसे पुरुष, आधे बसे जोय" यह प्रकृति-पुरुषमय है।

"बारह पखुरिया चौबिस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास।" सद्गुरु द्वारा संसार का वर्णन कितना आलंकारिक एवं कितना मोहक है। इसमें बारह पंखड़ियां हैं, चौबीस पत्ते हैं तथा इसके चारों ओर सघन बरोह लगे हैं, जटाएं लगी हैं। संसार देश तथा कालमय है। सद्गुरु ने दूसरी पंक्ति में संसार के देश का रूपक दिया था "स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" इस तीसरी पंक्ति में सद्गुरु ने काल का रूपक दिया है। बारह पखुरिया हैं तथा चौबीस पत्ते हैं। पंखड़ी का टुटा हुआ शब्द पखुरिया है। पंखड़ी का अर्थ है 'फूल का वह पत्ते के समान अवयव जिसके संकोच से वह मुकुलित (अधखिला) रहता है और फैलाव से खिलता है, फूल की पत्ती, पुष्पदल।'[१] ये काल के बारह महीने ही मानो संसार की पंखड़ी हैं तथा चौबीस पखवाड़े पत्ते हैं। इसके चारों ओर बरोह लगे हैं। आपने बरगद के पेड़ में देखा होगा कि उसकी डालियों से जटाएं निकलकर जमीन तक पहुंच जाती हैं और धीरे-धीरे जमीन में प्रवेश कर जाती हैं। वे स्वयं एक पेड़ की तरह बन जाती हैं। धीरे-धीरे मूल वृक्ष का तना एवं जड़ चाहे गल जायं परन्तु ये बरोह, ये जटाएं उस वृक्ष को मजबूत बनाये रखने के लिए काफी होती हैं। बरोह के अर्थ में चाहे काल के सूक्ष्म भाग

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

घंटा, मिनट, सेकंड आदि को ले लें, चाहे भौतिक द्रव्यों की गतिशीलता को ले लें। ये ही संसार वृक्ष को मजबूत बनाये हुए हैं। वस्तुतः हमारे मनोमय वृक्ष की जटाएं आसक्ति है जिसने जीव को संसार में जकड़ रखा है।

''फूले न फले वाकी है बानी'' बानी का अर्थ है स्वभाव। इस संसार का स्वभाव है कि यह फूलता-फलता नहीं। अर्थात इसका स्वरूप स्थायी प्रसन्नतादायक नहीं होता। जो व्यक्ति संसार में जितना ही आसक्त होता है वह उतना ही पीड़ित एवं शोकित होता है। जीव को प्रसन्नता, स्थायी सुख एवं परमानन्द तो तब मिलता है, जब वह संसार-वृक्ष के मोह को त्याग देता है। जो संसार-वृक्ष के फलों (विषयों) को चखता है, वह मोह-शोक में डूबा रहता है।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि ने बड़ा अच्छा कहा है—''सुन्दर पंख वाले दो पक्षी हैं जो एक समान पेड़ पर रहते हैं। उनमें से एक उस पेड़ के फल को खाता है, और दूसरा केवल देखता है, खाता नहीं।''[१] इसका अर्थ है रागी और त्यागी दो प्रकार के जीव इस शरीर वृक्ष पर रहते हैं। वे दोनों मूलतः समान हैं और उनके शरीर भी समान हैं। परन्तु दोनों की समझ में बड़ा अन्तर है। एक विषयों का उपभोग कर मलिन होता है और दूसरा केवल द्रष्टा रहकर उनसे अनासक्त रहता है। इस मंत्र के अर्थ के पूरक के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने एक मंत्र बड़ा अच्छा कहा है ''समान ही पेड़ पर रहते हुए भी एक पुरुष (चेतन) विषयों में डूबा है, अनीश (असमर्थ) है और विमोहित होकर शोक करता है। परन्तु जब वह उस पुरुष (चेतन) को देखता है कि वह प्रसन्न है, ईश (समर्थ) है तथा महिमापूर्ण है, तब वैसे वह भी हो जाता है और वह भी शोक से मुक्त हो जाता है।''[२] संस्कारी जीवात्मा जब त्यागी को देखता है तब उसके मन में भी त्याग की भावना जगती है।

सार यह है कि संसार-वृक्ष शांति एवं आनन्दरूपी फल-फूल से रहित है। उसका स्वभाव ही क्षणभंगुर है। उससे परम संतोष रूपी फूल-फल की आशा बेकार है। वह तो ''रैन दिवस बेकार चुवै पानी'' रात-दिन विकारों का पानी चूता है। विकार भौतिक भी है और मानसिक भी। विकारों का अर्थ है परिवर्तन तथा मल। भौतिक क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन होता है तथा मन में मलिनता आती है। संसार का यही फल है। संसार का हर भौतिक पदार्थ अपने वर्तमान रूप को छोड़कर दूसरे रूप में क्षण-क्षण जाता है। चारों ओर परिवर्तनशीलता का विकार बहता है। इधर संसारासक्तिवश मन के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषादि विकार प्रवाहित रहते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष निरन्तर विकार का पानी बरसाता है और उसमें जीव भीगकर मलिन होते हैं।

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ *(ऋग्वेद १/१६४/२०)*

२. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ *(श्वेताश्वतर ४/६)*

"कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया।" जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कुछ नहीं था—यह एक जनभाषा का प्रयोग है। इन-जैसी बातों को ही पारखी संत जीवमुख या मायामुख कहते हैं। जो लोगों के सहज मनोरंजन के लिए सद्गुरु ने यत्र-तत्र कह दिया है। इसमें सिद्धांत की गहराई देखने की आवश्यकता नहीं है। जड़-चेतन नित्य हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अंतर्निहित नित्य हैं। उनसे जगत का प्रवाह नित्य है। यह सत्तात्मक जगत असत्ता से नहीं आ गया है। जगत को समझने के लिए किसी हरि या देव की जरूरत नहीं है, किन्तु जगत के शाश्वत नियमों को समझने की आवश्यकता है। सद्गुरु ने यह पांचवीं पंक्ति बच्चों जैसे भावुकों के लिए कही है। यही उनकी उदारता तथा मस्तानगी है। नाना प्रकार के लोग उनके पास आते थे, इसलिए वे कभी-कभी उन लोगों के मनोरंजन के लिए उन-जैसी बातें कर देते थे।

इस शब्द का मुख्य विषय यह नहीं है कि संसार-वृक्ष कैसे बना, किसने बनाया, किन्तु इसका मुख्य विषय है कि यह नीरस है, सुखरहित है, मलिन है, बंधनप्रद है, इसकी आसक्ति को जीतना चाहिए और इससे मुक्त होना चाहिए। सद्गुरु का इस शब्द में पहला वाक्य है कि ऐसा ज्ञान प्राप्त करो, ऐसी रहनी में चलो जिससे इस संसार-वृक्ष से छुटकारा हो। दुर्जन-तोष न्याय यदि कोई संसार-वृक्ष का निर्माता हो भी, तो उसमें हमें प्रेम नहीं करना है, हमें तो उस सद्गुरु से प्रेम करना है जो संसार-वृक्ष से छुड़ाये "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।"[1]

मनोदशा का वर्णन

शब्द–५१

बुझ बुझ पंडित मन चितलाय, कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय॥ १ ॥
खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह॥ २ ॥
नदिया नहिं साँसरि बहै नीर, मच्छ न मरे केवट रहै तीर॥ ३ ॥
पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट, पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट॥ ४ ॥
कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख॥ ५ ॥

शब्दार्थ—खन = क्षण। औगाह = अवगाह, पानी के भीतर पैठकर खोजना, थाह लेना, छानबीन, खोज। रतन = रत्न, ज्ञान। साँसरि = संसरण, निरन्तर बहना। मच्छ = मछली, कामादि। केवट = मछुआरा, साधक। पोहकर = पोखरा, पुष्कर, तालाब। पुरइनि = पुरइन, पत्ते और तने, तात्पर्य में आधार। कँवल = कमल फूल, तात्पर्य में ऐश्वर्य। चोख = तेज।

भावार्थ—हे पंडित! मन को चित्त लगाकर समझने का बारम्बार प्रयत्न करो। यह मन, मानो एक नदी है। यह कभी तो भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। अर्थात

---

१. शब्द ७७।

कभी मन में जीवन बड़ा सरल लगता है और कभी बड़ा भयावह दिखता है ।।१।। यह जीव इस मन-नदी में कभी तो घबराकर किंकर्तव्यविमूढ़ और बेचैन हो जाता है, कभी डूबकर इसमें रस लेने लगता है, और कभी समस्याओं के समाधान के लिए खोजबीन करने लगता है, परन्तु यथार्थ ज्ञानरूपी रत्न न पाने से समाधान नहीं कर पाता ।।२।। यद्यपि यह कोई बाहरी नदी नहीं है, तथापि इसमें संकल्प-विकल्प का पानी निरंतर बहता रहता है। साधक रूपी मछुआरा कामादि मछलियों को नहीं मार पाता, क्योंकि वह आलस्यपूर्वक किनारे बैठा रहता है ।।३।। अन्तःकरण कोई बाहरी जलाशय नहीं है, परन्तु उसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हैं। कमल-फूल तो दिखते हैं, परन्तु उनके आधारस्वरूप दंडे एवं पत्तेरूप पुरइन नहीं हैं। अर्थात जिसमें मन लुभता है वह मायिक ऐश्वर्य नापायेदार एवं आधाररहित है ।।४।। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के मन का यह धोखा है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा रहता है, परन्तु शीघ्रतापूर्वक अपने लक्ष्य पर पहुंचना भी चाहता है ।।५।।

व्याख्या—मन को समझने के लिए यह शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति ही पंडित है। सद्गुरु उसको कहते हैं कि तुम मन को चित्त लगाकर समझो। चित्त अंतःकरण की वह वृत्ति है जिससे यथार्थ की खोज की जाती है। चित्त अनुसंधानात्मक वृत्ति है। इसलिए सद्गुरु बड़े मनोविज्ञानपूर्वक कहते हैं कि हे पंडित, मन का अनुसंधान करो। उसे ठीक से समझो। हम सारा संसार समझने की चेष्टा करते हैं, केवल अपने मन को समझने का प्रयत्न नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपनी आध्यात्मिक-उन्नति से दूर रह जाते हैं। जो व्यक्ति अपने मन को नहीं जानता, वह उसे वश में भी नहीं कर सकता। देहधारी जीव का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मन से होता है। मन ही संसार को जीव के सामने करता है। यदि मन समझ में आ जाय, वह वश में हो जाय, तो मानो सारा संसार वश में हो गया। मन वश में हो जाने पर कुछ भी वश में करने की चेष्टा ही नहीं रह जाती।

"कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" सद्गुरु कहते हैं कि मन-नदी की ऐसी दशा है कि वह कभी भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। इस शब्द में प्रथम तीन पंक्तियों में मन को समझने के लिए नदी का रूपक दिया गया है। मान लो कोई एक ऐसी नदी है कि वह कभी तो अपने दोनों तटों को छूती हुई भरकर बहती है और कभी एकदम सूख जाती है और उस नदी में दिन में ऐसा कई बार होता हो। हो सकता है कि ऐसी नदी कहीं हो या न हो, परन्तु मन की नदी ऐसी ही है और वह सबके भीतर है। सुबह सोकर उठे, और एक-दो प्रतिकूल बातें याद आ गयीं। वे बातें सचमुच प्रतिकूल हैं या मन ने वैसा मान लिया है यह भी निर्णय नहीं है। मन ने मान लिया कि पत्नी बात नहीं मानती, पुत्र भी अपनी मां का पक्षपात करता है, या भाई छल-कपट रखता है, धन की कमी है, गुजर कैसे होगा, व्यापार रुक न जाय, नौकरी छूट न जाय, खेती डूब न जाय, बुढ़ापा में कौन रक्षा करेगा, या इसी तरह कुछ अन्य बातें सोचकर मन की नदी सूख गयी। मन बेचैन हो गया। अब सब कुछ बुरा लगने लगा। घर में खाने-पीने की चीजें हैं, परिवार के लोग हैं, अपना शरीर स्वस्थ है, रोटी का धन्धा है, परन्तु मन परेशान है। घंटों इसी

स्थिति में बेचैनी बनी रही। इतने में मन दूसरी तरफ गया, दो-चार अनुकूल बातें सोच ली गयीं, मन प्रसन्न हो गया, मन की नदी भरकर बहने लगी। बाहर की भौतिक स्थिति दोनों में बराबर है। केवल मन के चढ़ाव-उतार में हर्ष और शोक के द्वंद्व आते रहते हैं।

यह संसार का परम सत्य है कि सभी साथियों का स्वभाव एक नहीं हो सकता। स्वभाव एवं थोड़े विचारों की भिन्नता को लेकर हम समय-समय से साथियों के सम्बन्ध में तनावग्रस्त हो जाते हैं। यह हमारी बेवकूफी है। इस अपनी बेवकूफी को जो नहीं समझ पाता, वह अपने मन को अपने साथियों के सम्बन्ध में बराबर तनावग्रस्त रखता जाता है। इसका बुरा परिणाम अगले लोगों पर भी पड़ता है और घर या समाज विषाक्त हो जाता है। कभी ऐसा अवसर आता है कि अगला आदमी बहुत बुरे स्वभाव का होता है, उससे बचना पड़ता है। परन्तु वहां भी हम तनावग्रस्त न होकर केवल उसकी मानसिक दुर्बलता को देखते हुए उस पर करुणा करें और उससे बचें। ज्यादातर छोटी-छोटी सामान्य बातों को लेकर ही परस्पर तनाव बढ़ता है। सामान्य मतभेद तो संसार का स्वभाव है। वह तो रहेगा ही। उसको लेकर अपने मन को तनावग्रस्त करना हद दर्जे की भूल है।

कभी-कभी हम अपने मन को निराधार ही तनावग्रस्त बना लेते हैं। हम अगले आदमी को बहुत बुरा तथा अपना विरोधी मान लेते हैं जबकि ऐसी बात नहीं रहती। तिल का ताड़ बनाना मन की मूर्खता है। यदि संसार में सभी का मन मूर्खता छोड़ दे तो संसार स्वर्ग बन जाय। हमें चाहिए कि हम अपने मन की मूर्खता छोड़ दें। हम संदेही स्वभाव के न हों। बिला वजह संदेह मन को पापी बनाता है। हम दूसरों पर बिला वजह संदेह करते हैं। मन ऐसी ही नदी है जो अकारण या थोड़ा कारण पाकर भरकर बहती है या सूख जाती है। जो अपने मन को ठीक कर लेता है उसका मन सामान्य हो जाता है। उसकी मन-नदी मानो सब समय भरकर बहती है। उसके मन में सब समय आनन्द-ही-आनन्द रहता है।

"खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह।" मनुष्य का दुर्बल मन क्षण में जीवन से, परिवार से, समाज से तथा संसार से घबरा जाता है और सोचता है कि इन सबको छोड़कर कहीं भाग जायं। उसे यह पता नहीं है कि यदि हमारे भीतर बेवकूफी बनी है तो हम जहां जायेंगे वहां ऐसी ही परिस्थिति बना लेंगे। जरूरत भागने की नहीं है, किन्तु अपने मन को बदलने की है। एक उल्लू आदमी अपने गांव से घबराकर असी कोस पर चला गया। एक कुएं पर बैठा था। जगह छोटी थी। एक आदमी पानी भरने आया। उसने कहा आप यहां से हट जायं, पानी भरना है। वह उठा तो, परन्तु पुनः वहीं बैठ गया। दूसरे ने कहा—यार, तुम बड़े उल्लू हो, उठकर भी फिर बैठ गये। हटते नहीं हो। उसने कहा 'असी कोस पर छोड़ा गांव, तू क़स जानेव उल्लू नाव?' अपना गांव छोड़कर असी कोस दूर आ गया हूं, फिर तुम कैसे जाने कि इसका नाम उल्लू है? अगले आदमी ने उत्तर दिया "कूद कुदइया दाहिन बांव, तब मैं जाना उल्लू नाव।"

ऊबने से, घबराने से समस्या का समाधान कभी नहीं होता। उससे तो समस्याएं बढ़ती हैं। बाहर कोई समस्या नहीं है। सारी समस्या मन की उलझन है। वह ठीक हो जाय तो बाहर क्या समस्या है? आदमी क्या लेकर आया है और क्या लेकर जायेगा!

जीवन-गुजर सबका होगा। समस्या तो मन का पाजीपन है। मन समस्या बना लेता है और उसमें पड़कर ऊबता-घबराता रहता है।

"खन डूबै" जिस जीवन, परिवार, समाज एवं संसार को छोड़कर कहीं भाग जाना चाहता था, क्षण में ही मन की स्थिति ऐसी आ जाती है कि वह उन्हीं में डूबकर रस लेने लगता है। एक सज्जन ऐसे थे कि जब क्षण में ही गुस्से में आते थे डंडा लेकर घर के बरतन-भांड़े फोड़ने लगते थे। कभी-कभी घर वालों पर भी डंडा जमा देते थे। कहते कि अब घर में आग लगा दूंगा और सदा के लिए यहां से चला जाऊंगा। और क्षण में वे अपने किये तथा कहे हुए पर पश्चाताप करते थे और घर वालों के मोह में लिपटकर उन्हीं में डूब जाते थे। जब उन्हें कभी कहा जाता कि अमुक जगह सत्संग है, चलिए, तब वे कहते, घर में बड़ा काम है, फुरसत नहीं है। यही मन की लीला है। जिनसे ऊबकर वह एक क्षण में भागना चाहता है, दूसरे क्षण में उन्हीं में डूबकर रस लेता है। ये दोनों ही बातें गलत हैं। सांसारिकता में रस लेने के कारण ही उससे चोट लगती है तब आदमी घबराता है। परन्तु घबराना कोई वैराग्य तो नहीं है। वह तो मन के दूसरे छोर की बात है। जो संसार में डूबेगा वह उससे ऊबेगा और जो ऊबेगा वह डूबेगा। विवेकवान इन दोनों से दूर होता है। वह संसार में डूबता नहीं, इसलिए उसे कोई घबराहट नहीं।

"खन औगाह" अवगाह कहते हैं थाह लगाने, खोजबीन करने एवं समाधान ढूंढ़ने को। मनुष्य का मन कभी-कभी समाधान भी ढूंढ़ता है। वह सोचता है कि आखिर यह समस्या क्यों है? मेरा दूसरे लोग क्यों विरोध करते हैं? सचमुच लोग विरोध करते हैं कि मेरे मन का भ्रम है? यदि कोई विरोध करता है तो उसमें मेरी त्रुटि ही कारण है या उसका अविवेक? आर्थिक स्थिति एवं पारिवारिक स्थिति कैसे संभलेगी? इन सब बातों पर वह खोजबीन करता है, परन्तु "रतन न मिलै पावै नहिं थाह" समुद्र से मोती निकालने वाले गोताखोर लोग जब समुद्र में थाह पा जाते हैं, उन्हें जमीन मिल जाती है, तब उनके हाथों में मोती लग जाते हैं। परन्तु यहां मन समुद्र की बात अलग है। सद्‌गुरु कहते हैं कि लोगों के हाथों में रत्न नहीं लगते इसलिए वे थाह नहीं पाते। यहां रत्न ज्ञान है, अच्छी समझ है और थाह समस्याओं का समाधान है। जब तक मनुष्य को ज्ञान न होगा, अच्छी समझ नहीं होगी तब तक उसकी समस्याओं का समाधान न होगा।

समस्या चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक, वह सब मानसिक है। केवल मन सुलझ जाय तो सब सुलझा-सुलझाया ही है। मन की समस्या तब सुलझती है, जब मन में ज्ञान हो, सच्ची समझ हो। हम कहीं उलझे हैं इसका मतलब है कि हमारी समझ उस समय ओछी है। समझ सही हो जाने पर सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

"नदिया नहिं साँसरि बहै नीर" सद्‌गुरु कहते हैं कि मन कोई बाहरी नदी नहीं है, परन्तु उसमें अनवरत संकल्प-विकल्पों का पानी बहता है। नदी में तो ऊपर से पानी आता है तब वह बहती है। यदि ऊपर से पानी बहकर न आये तो नदी सूख जाये। परन्तु मन की नदी में कहीं बाहर से पानी नहीं आता। इसलिए मन बाहरी नदी की तरह नहीं है। मन में तो संकल्प-विकल्प का पानी स्वयं पैदा होता है और सांसरि ढंग से बहता है। सांसरि का शुद्ध शब्द है संसरण। संसरण का अर्थ होता है गतिशीलता। 'संसरति इति

संसारः' जो निरन्तर सरकता रहे, चलता रहे, उसे संसार कहते हैं। एक संसार बाहर है और दूसरा संसार मनुष्य के भीतर है। बाहर का संसार भौतिक है तथा भीतर का संसार मानसिक। बाहरी भौतिक संसार में निरन्तर परिवर्तनशीलता है। जैसे नदी अबाध गति से अनवरत बहती है, वैसे संसार के सारे पदार्थ अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर आगे नया रूप लेते जाते हैं। सब कुछ सब समय बदलता जाता है। हमारे भीतरी संसार की भी यही कथा है। मन की धारा भी अनवरत चलती है। यह संकल्प-विकल्पों की धारा है। ज्ञानोदय होने पर यह धारा समाधि में जाकर रुक जाती है। वहां सब कुछ थम जाता है। संकल्प-विकल्प ही आंदोलन है, समाधि में इसके न रहने से निर्द्वन्द्व अवस्था होती है। व्यवहारकाल में ज्ञानी पुरुष के मन में भी प्रवाह रहता है, परन्तु वह शुद्ध तथा संयत होता है। उसका मन स्वरूपज्ञान एवं हंसरहनी में ही प्रवाहित रहता है। उसकी समाधि अवस्था में तो अमृत रहता ही है, किन्तु व्यवहारकाल में भी उसके मन में मानो अमृत का प्रवाह बहता है। वह सब समय अमृत-ही-अमृत होता है। परन्तु ज्ञान तथा ज्ञान का आचरण न होने से मन में कूड़े-कबाड़ों का प्रवाह चलता रहता है और जीव उसमें बहता हुआ दुखी बना रहता है।

"मच्छ न मरे केवट रहै तीर" मच्छ का अर्थ है मछली तथा केवट कहते हैं कैवर्त, मल्लाह, निषाद एवं मछुआरे को। केवट का शुद्ध अर्थ नावका चलाने वाला है। परन्तु ये मछली भी बहुत मारते हैं, इसलिए इन्हें मछुआरा भी कहते हैं। यहां केवट से मछुआरा ही अर्थ है। जैसे कोई मछुआरा हो वह नदी पर मछली मारने गया हो, परन्तु अपने आलस्य के कारण वह नदी के तट पर ही बैठा रहे, नदी में प्रवेश न करे, तो वह मछली कैसे मार सकता है! वैसे जो साधक त्याग-वैराग्यपूर्वक साधना नहीं करेगा, वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि विकारों का नाश कैसे कर सकेगा! यहां साधक ही मछुआरा है, कामादि विकार ही मछलियां हैं। जैसे नदी में कूदकर मछलियां मारी जा सकती हैं, वैसे साधना में कूदकर ही मनोविकारों का ध्वंस किया जा सकता है। परन्तु साधक आलसी एवं रागी बनकर बैठा है, इसलिए उसके मन के विकार ज्यों-के-त्यों बने हैं।

एक घर पर एक लालची पहुना आ गया, वह कई दिनों तक टिका रहा। घर वाला चाहता था कि वह चला जाय, परन्तु वह नहीं गया। घर वाले ने अपने घर के भीतर जाकर अपनी पत्नी से कहा कि मैं और तुम बनावटी झगड़ा करें। मैं दीवार पीटूं और तुम रोओ। शायद वह यह समझकर चला जाय कि ये लोग आपस में झगड़ रहे हैं, इसलिए अब मुझे यहां नहीं रहना चाहिए। घर वाला डंडा लेकर दीवार पीटने लगा, उसकी पत्नी रोने लगी। पहुना दरवाजे से चला गया। घर वाला दरवाजे पर आकर देखा कि वह नहीं है। उसने खुश होकर घर में जाकर कहा "मैं तुम्हें सचमुच थोड़े मारता था!" इतने में उस पहुना ने घर के भीतर से कहा "मैं भी सचमुच थोड़े गया हूं!" वस्तुतः वह दरवाजे से उठकर पिछवाड़े के रास्ते से घर में आकर बैठ गया था।

हमारी कमजोर साधना का फल यही होता है। हम जैसे अधूरे मन से साधना करते हैं, वैसे हमारी आध्यात्मिक प्रगति होती है। "मच्छ न मरे केवट रहै तीर" का यही अभिप्राय है। कबीर साहेब यह पंक्ति कहकर मानो हम पर व्यंग्य करते हैं।

"पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट" पोहकर का शुद्ध शब्द है पुष्कर, जिसे पोखरा, तालाब एवं जलाशय कहा जाता है। किसी भी पोखरे के चार घाट होते हैं पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण। मनुष्य का अन्तःकरण कोई बाहरी पोखरा नहीं है, परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। मन से स्मरण, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निर्णय तथा अहंकार से करतूति होती है। मनुष्य हर समय किसी-न-किसी विषय को मन में लेता है, अर्थात उसका स्मरण करता है, चित्त उस पर खोज एवं छानबीन करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार स्वीकार करता एवं उसे कार्य रूप देता है। इस प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण रूपी तालाब के चारों घाटों का व्यवसाय चलता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह सही विषय को ले, जिससे उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार सही दिशा में काम करें। सद्गुरु कहते हैं कि अन्तःकरण कोई बाहरी तालाब नहीं है। परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। जैसे घाटों से लोग तालाब में प्रवेश करते हैं, वैसे मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार से नाना वासनाएं अन्तःकरण में उतरती हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार पर सावधान रहे, इन्हें शुद्ध रखे।

"पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट" पुरइन कहते हैं कमल के पत्ते और तने को। पहले पुरइन के तने होते हैं और उसके पत्ते, तब पीछे कमल-फूल खिलते हैं। यहां सद्गुरु कहते हैं कि कमल-फूल तो हैं, परन्तु उनमें पत्ते तथा तने रूप पुरइन नहीं हैं। यह कबीर साहेब की उलटवांसी है। सारी उलटवांसियां ऊपर से देखने में अचरज भरी उलटी लगती हैं, परन्तु समझ लेने पर वे सही हो जाती हैं। कोई आदमी कमल के फूल किसी तालाब के पानी में लाकर जगह-जगह रोप दे, तो किसी नये आगंतुक के देखने में तो यही लगेगा कि इस तालाब के कमल-फूल में पुरइन नहीं है। वे फूल भी कुछ घंटे में सूख जाएंगे, क्योंकि वे बिना जड़ के हैं। यहां कमल का लक्षणा अर्थ है ऐश्वर्य। शरीर के सुन्दर अंगों से कमलों की उपमा दी जाती है। जैसे मुख-कमल, नेत्र-कमल, कर-कमल, हृदय-कमल आदि। यहां कमल का अर्थ है मायिक ऐश्वर्य। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मायिक ऐश्वर्य में तुम्हारा मन मोहित होकर पतित होता है उसमें आधार नहीं है। वह नापायेदार, बेजोड़ तथा क्षणभंगुर है। जवानी की चमक, वैवाहिक उत्सव तथा प्रथम वर-वधू-मिलन, पुत्रों का संयोग, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा सब कुछ तो क्षणभंगुर है। तुम जिसमें भूल रहे हो, वह नाशवान है।

"कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख।" सद्गुरु कहते हैं कि यह साधक के मन की चाल है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा है, परंतु जल्दी ही अपनी मंजिल पर पहुंचना भी चाहता है। कितने साधक कहते हैं कि मन वश में नहीं होता। परंतु उन्हें समझना चाहिए कि वे तत्परतापूर्वक इस काम में लगते कहां हैं! सेवा, सत्संग, भक्ति, सदाचार, त्याग, संयम, मनोनिग्रह का अभ्यास आदि जो कुछ करना चाहिए वह वे दिल लगाकर कहां करते हैं! जो साधक निश्चलतापूर्वक दृढ़ता से एकरस साधना में जुट जायेगा, निश्चित ही उसे देर-सबेर सफलता मिलेगी। यदि उसके पूर्व के संस्कार ज्यादा शुद्ध हैं तो शीघ्र सफलता मिलेगी और यदि ज्यादा शुद्ध नहीं हैं तो देरी से सफलता

मिलेगी। सफलता न मिलने की तो कोई बात ही नहीं है। नौकरी, व्यापार, पुत्र-प्राप्ति, खेती, उन्नति आदि भौतिक क्षेत्र में यह भी हो सकता है कि कभी सफलता न भी मिले। परन्तु मन को संयत एवं शुद्ध करने में तो सफलता मिलना निश्चित है। बस, लगन से लगना चाहिए। परन्तु जो साधक अपने मन के धोखे में रहेगा, वह गिरेगा।

इस प्रकार इस शब्द में सद्गुरु ने मन के स्वरूप का वर्णनकर हमें जगाया है। हम सावधान हों। हम अपने मन को समझें। मन को ठीक कर लेने पर सब सुख प्रकट हो जाता है। जिसका मन स्ववश है वह आनन्दकंद है।

ब्रह्मज्ञानियों को चेतावनी

शब्द–५२

बूझ लीजै ब्रह्मज्ञानी ॥ १ ॥

घूरि घूरि बरसा बरसावै, परिया बुन्द न पानी ॥ २ ॥
थिउँटी के पग हस्ती बाँधो, छेरी बीग रखावै ॥ ३ ॥
उदधि माँह ते निकरि छाँछरी, चौड़े ग्रह करावै ॥ ४ ॥
मेढुक सर्प रहत एक संगे, बिलैया श्वान बियाई ॥ ५ ॥
नित उठि सिंह सियार सों डरपै, अदबुद कथ्यो न जाई ॥ ६ ॥
कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले ॥ ७ ॥
उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेले ॥ ८ ॥
कहहिं कबीर यह अदबुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै ॥ ९ ॥
बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशे, जीवहि मरण न सूझै ॥१०॥

शब्दार्थ—छेरी = बकरी। बीग = भेड़िया। उदधि = समुद्र। छाँछरी = मछली। चौड़े = मैदान में। ग्रह = गृह-घर। अदबुद = अद्भुत। मृगा = मन-मृगा। बन = संसार। पारथ = पारधी, शिकारी। भूपते = मनुष्य सम्राट से। मच्छ = मछली, माया। अहेरा = शिकार।

भावार्थ—हे ब्रह्मज्ञानी! इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि तुम उमड़-घुमड़कर ब्रह्मज्ञानोपदेश की वर्षा करते हो, परन्तु लोगों के ऊपर उसकी एक बूंद भी नहीं पड़ती है॥१-२॥ तुम्हारा ब्रह्मज्ञानोपदेश तो वैसा ही है कि जैसे मानो कोई चींटी के पैरों में हाथी को बांध दिया हो, भेड़िया को बकरी की रक्षा में बैठा दिया हो॥३॥ इतना ही नहीं, मानो समुद्र में से मछलियां निकलकर मैदान में अपने रहने के लिए मकान बनवाने लगी हों, मेढक और सांप एक साथ रहने लगे हों, बिल्ली श्वान पैदा करने लगी हो॥४-५॥ इतना ही क्या, आश्चर्य की बात कही नहीं जाती कि मानो सिंह रोज सुबह उठकर सियार से भयभीत रहने लगा हो॥६॥ किस संशय में पड़कर मन-मृगा वाणी एवं संसार वन में घिरा है? क्योंकि भ्रमोपदेशक पारधी उस पर बाण चला रहे हैं॥७॥ इस मनुष्य-सम्राट ने ही संशय-समुद्र को पैदा किया है, परन्तु उससे वह स्वयं उसी प्रकार जल रहा है जैसे समुद्र के खारे पानी से सींचने पर पौधे जल जाते हैं। यह मनुष्य के मन से ही निर्मित

माया-मच्छ मनुष्य का शिकार करती है[१] ।।८।। कबीर साहेब कहते हैं कि यह अद्‌भुत ज्ञान है। इसे कौन समझने वाला है! ।।९।। जीव बिना पंख के आकाश में उड़ जाना चाहता है। इसे अपना पतन नहीं दिखाई देता ।।१०।।

व्याख्या—कबीर साहेब ने विगत ४० वें शब्द से लेकर ५१ वें अर्थात बारह शब्दों तक पण्डितों को संबोधितकर अपने विचार कहे। उन्होंने इन शब्दों में पण्डितों को फटकारा, झकझोरा, दुलारा, प्यार दिया और सूक्ष्म विषयों को समझने के लिए निमंत्रित किया। इन सभी शब्दों के भाव कितने मार्मिक रहे पाठक स्वयं समझते हैं। अब इस ५२ वें शब्द में साहेब तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों को जोर से फटकारते हैं। वे कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो! तुम ब्रह्मज्ञान का उपदेश उसी प्रकार करते हो, जैसे सावन-भादों के बादल उमड़-घुमड़कर वर्षा करते हैं। सावन-भादों के घनघोर मेघ यदि अनवरत जल-वृष्टि करें, परन्तु किसी के ऊपर उसकी बूंद भी न पड़े तो यह बहुत आश्चर्य का विषय होगा। उदाहरण में तो ऐसा नहीं होता। जब जल की वर्षा होती है तब लोग भींगते हैं। परन्तु साहेब जिस ब्रह्मज्ञान की बात कर रहे हैं उसमें ठीक यही बात है कि ब्रह्मज्ञान का हजार उपदेश हो जाने पर भी इस जगत में आज तक किसी एक व्यक्ति को भी ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

यहां ब्रह्मज्ञान का अभिप्राय है—अद्वैतवाद का सिद्धांत, जिसमें यह माना जाता है कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है और वह ब्रह्म है। एक ब्रह्म के अलावा दूसरा कुछ है ही नहीं। अतएव यदि किसी को ब्रह्मज्ञान हो गया होता तो उसका मोक्ष हो गया होता, और एक के मोक्ष हो जाने पर संसार होता ही नहीं। ये नाना जीव और जगत कुछ भी न होते, क्योंकि सत्ता एक ही है। उसके मुक्त हो जाने के बाद, फिर संसार रह ही नहीं जाता। परन्तु संसार प्रत्यक्ष गतिमान है। इसलिए आज तक किसी को ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत तीनों काल में नहीं है। यह दिखता हुआ जगत मिथ्या है और आनुभविक आत्माएं भी मिथ्या हैं, केवल एक ब्रह्म सत्य है, परन्तु वह दुर्विज्ञेय है। तो जो अनुभव में आता है और जो अनुभव करता है वे दोनों मिथ्या ठहरे और जो उनके ख्याल से सत्य है उस ब्रह्म का किसी को पता नहीं चल सकता तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहा।"[२]

वेदांत का एक जीववाद यही कहता है कि आज तक न किसी को ब्रह्मज्ञान हुआ है और न किसी का मोक्ष हुआ है, क्योंकि जीव अर्थात ब्रह्म एक ही है, उसका यदि मोक्ष हो गया होता तो जगत रहता ही नहीं।

---

१. मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर।। *(रमैनी, साखी ४६)*

२. आगे ६७ वें शब्द की व्याख्या तथा कबीर दर्शन के तीसरे अध्याय का 'अद्वैतब्रह्मवाद' संदर्भ देखिए।

प्रसिद्ध वेदांत-चिन्तक श्री अप्पयदीक्षित के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धांतलेश संग्रह' में अंतिम संदर्भ मुक्तिविचार है। उसमें टिप्पणीकार एक जीववाद के सिद्धांत को लेकर लिखते हैं— "जीव के एक होने से उसका मूल अज्ञान भी एक ही है। इसलिए एक जीव के किसी भी अन्तःकरण में तत्वसाक्षात्कार के उदित होने पर अज्ञान का देव, तिर्यक, मनुष्यादि संपूर्ण स्वकार्यों के साथ उसी क्षण नाश हो जाता है। यदि इस विषय में शंका हो कि शुक आदि के अन्तःकरण में उत्पन्न तत्वज्ञान से ही सब प्रमाताओं के संसार का समूल विलय हो जाना चाहिए, अतः इस समय संसार की अनुवृत्ति कैसे देखी जाती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुकादि की मुक्ति में कोई प्रमाण ही नहीं है और शुकादि के मुक्ति-प्रतिपादक वाक्य स्वार्थ में उपचरित हैं, अतः संसार की अनुवृत्ति में कोई हानि नहीं है।"[१]

अर्थात अद्वैतवाद के अनुसार जीव एक ही है। यदि वह मुक्त हो गया होता तो संसार रहता ही नहीं, परन्तु संसार है, इसलिए आज तक वह मुक्त नहीं हुआ। लोग कहते हैं कि शुकदेव मुक्त हो गये, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अद्वैतवाद के अनुसार आज तक किसी की मुक्ति नहीं हुई।

गंगाधरेन्द्र सरस्वती लिखते हैं "संपूर्ण जीवों की मुक्ति जब तक न हो तब तक अविद्यावत्पुरुष से कल्पित सत्यकाम और सत्यसंकल्प से कल्पित जगत की स्थिति, लय और उत्पत्ति में समर्थ और मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्य स्वतः चिदूघन अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं।"[२]

अद्वैत वेदांत के जगत, आत्मा तथा मुक्ति विषयक विचार इतने गड्डबड्ड हैं कि उनसे सही निर्णय मिल ही नहीं सकता।

जैसे जल और उसकी तरंगें एक है, मिट्टी और उससे बने बरतन एक है, सोने तथा उससे बने गहने एक है, वैसे ब्रह्म और उससे बना जगत एक है। ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, निर्विकार है, अखंड है, फिर वह टूटकर असद्, अचिद् तथा अ-आनन्द जगत कैसे बन गया? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। ब्रह्म और जगत एक मान लेने के कारण ही वेदांत में अन्ततः भोग-योग एक मान लिया जाता है। पीछे १४ वें शब्द की व्याख्या में आप पढ़ आये हैं कि किस प्रकार ज्ञानी मैथुनादि कर्म करते हुए भी निर्लिप्त मान लिया गया है। वेदांती निश्चलदास जी ने विचारसागर में लिखा "भोगे युवति सदा संन्यासी" युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ब्रह्मज्ञानी सदैव संन्यासी है। इस धारणा का मूल योगवासिष्ठ के चूड़ाला तथा शिखध्वज की कथा तथा अन्य वेदांत ग्रंथों में है।

इसलिए स्वतन्त्र चिंतक कबीर साहेब कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो! तुम ब्रह्मज्ञान का

---

१. सिद्धांतलेश संग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।

२. आसर्वमुक्ति परकल्पितसत्यकामसङ्कल्पकल्पितजगत्स्थितिभङ्गसर्गे।
शक्तं स्वतस्तु सुखचिद्घनमद्वितीयं मुक्तोपसृप्यमहमस्मि विशुद्धतत्वम्॥

(वेदांतसिद्धांत सूक्त मंजरी, ४/२४)

उपदेश तो बहुत करते हो, परन्तु उसके छींटे किसी पर नहीं पड़े। एक को ब्रह्मज्ञान हुआ होता और वह मुक्त हो गया होता, तो तुम्हारे मत के अनुसार जगत रहता ही नहीं।

साहेब कहते हैं कि इस तरह के ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना क्या है मानो चींटी के पैरों में हाथी बांधना है। क्या इससे चींटी का कल्याण हो सकता है! वह तो हाथी के पैरों में रगड़ जायेगी। यदि बकरी की रक्षा में भेड़िया को बैठा दे तो बकरी का कहां कल्याण! यदि समुद्र में से निकलकर मछलियां अपने रहने के लिए मैदान में मकान बनवाने लगें तो क्या उनका जीवन सुरक्षित रहेगा! क्या मेढक सांप के साथ तथा बिल्ली कुत्ते के साथ सुरक्षित रह सकेंगे! इसी प्रकार जिस ब्रह्म का स्वरूप जड़ से अभिन्न है, जिस ब्रह्म का ही विकार यह सारा जगत है, क्या उस ब्रह्म में स्थित होने से जीव का उद्धार संभव है! जिस ब्रह्मवाद में जीव भी ब्रह्म, देह भी ब्रह्म, माटी भी ब्रह्म, गोबर भी ब्रह्म, चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म है, क्या वहां कोई निर्णय है! जहां भोगी, त्यागी, राजा और कर्मकांडी सबकी एक स्थिति बतायी गयी है।[1] जहां सब धान साढ़े बाईस पसेरी है, वहां न सच्चा न्याय है, न सच्चा बोध है और न वहां जड़ाध्यास का त्याग होकर स्वरूपस्थिति ही हो सकती है। वहां बकरी-भेड़हा, मेढक-सांप एक जगह कर दिये गये हैं। भला, जड़ से सर्वथा पृथक अपना चेतनस्वरूप समझे बिना कहां यथार्थ स्थिति हो सकती है! ये चींटी, हाथी, छेरी, बीग, मछली का समुद्र में से निकलकर मैदान में मकान बनवाना, मेढक, सांप, बिल्ली, कुत्ता, सिंह, सियार के रूपक जो इस शब्द में दिये गये हैं, सब ब्रह्मज्ञान पर व्यंग्य है। साहेब कहते हैं कि यह तो सिंह का नित्य उठकर सियार से डरना है। अपनी आत्मा को न पहचानकर अंधकार में किसी कल्पित ब्रह्म को टटोलना है।

"कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले।" साहेब कहते हैं किस संदेह में पड़कर मनुष्य का मन-मृगा संसार एवं वाणियों के वन में घिर गया है! सद्गुरु स्वयं उत्तर देते हैं "पारथ बाणा मेले" अर्थात बड़े-बड़े उपदेष्टा-शिकारी जीव पर शास्त्र-प्रमाण के बाण चलाते हैं। वे कहते हैं कि श्रुति में यही लिखा है, इसलिए मानना पड़ेगा। एक निर्विकार ब्रह्म कैसे सविकार जगत बन गया? यह हम नहीं बता सकते। श्रुति ऐसा ही कहती है, इसलिए हमें मान लेना चाहिए। सत्ता केवल एक अखंड ब्रह्म की है, दूसरा कुछ नहीं है, तब यह गतिशील संसार कैसे दिखाई देता है? वेदांती कहते हैं यह मत पूछो, ऐसा ही श्रुति में लिखा है इसलिए मान लो। प्रत्यक्षादि सारे प्रमाणों की अपेक्षा शब्द-प्रमाण ही प्रबल है। इसलिए श्रुति-प्रमाण मान लेना चाहिए। यदि शास्त्र-प्रमाण कोई नहीं मानेगा तो वह नास्तिक होगा। इस प्रकार उपदेशक पारधी हो गये, शिकारी हो गये। वे शास्त्र-प्रमाण की दोहाई के बाण मनुष्यों पर चलाते हैं। इसलिए मनुष्य का मन-पशु वाणियों के वन में घिर गया है। वह संशय में पड़ गया कि आंख से तथा विवेक से कुछ दूसरा दिखता है और शास्त्र-प्रमाण कुछ दूसरा बताते हैं। अब क्या करें, क्या मानें? ठीक है "अपनी देखी

---

१. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवो।
वसिष्ठः कर्मकर्त्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः।।

दूर कर, भले आदमी का कहा कर!"

यह सबको समझ में आ सकता है कि जड़ और चेतन अलग-अलग हैं। चेतन द्रष्टा है जड़ दृश्य, चेतन ज्ञाता है जड़ ज्ञेय, चेतन साक्षी है जड़ साक्ष्य। जड़ तत्व अनेक हैं। एक तत्व में भी असंख्य परमाणु हैं। इन कारण-कार्य जड़ तत्वों से सर्वथा भिन्न चेतन हैं। चेतन जीव भी असंख्य हैं। सभी चेतन जीवों का लक्षण एक चैतन्य है, परन्तु सभी चेतन जीवों का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग-अलग है। इतना प्रत्यक्ष सत्य होते हुए भी यह मानना कि सब कुछ एक ही है, यह शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देकर ही मनवाया जाता है। अनुभव द्वैत का है तथा कथन अद्वैत का! यह किस संशय से है? क्योंकि यही गुरुओं का उपदेश है। यदि अद्वैत न कहें तो नास्तिक बनना पड़ेगा। इस प्रकार जो शास्त्र-प्रमाण के पशु बना दिये गये हैं, उनका मन उन्हीं में घिर गया है। वे स्वतन्त्र चिन्तन करना अपराध मानते हैं।

"उदधि भूपते तरिचर डाहै, मच्छ अहेरा खेले।" साहेब कहते हैं कि यह वाणी का उदधि, यह वाणी का समुद्र कहां से बना है? मनुष्य रूपी भूप से ही बना है। यह मनुष्य जीव भूप है, सम्राट है। यही समस्त ज्ञान-विज्ञान का जनक है। इस मनुष्य-भूप से ही वाणी का समुद्र बना है और लौटकर वही वाणी-समुद्र मनुष्य को भस्म कर रहा है। समुद्र के खारे पानी से यदि पेड़-पौधे सींचे जायं तो जल जायेंगे। परन्तु वही समुद्र का जल यदि भाप बनकर बादल बन जाय और फिर बादल से पानी की बारिश हो तो उस पानी से पेड़-पौधे हरे-भरे हो जायेंगे। मनुष्य ने ही वाणी बनायी है और वह भ्रामक वाणी मनुष्य के ही यथार्थ ज्ञान एवं कल्याण में बाधक बन गयी है। परन्तु यदि उन्हीं वाणियों में सारासार विचार लिया जाय, आंख मूंदकर प्रमाण न मानकर उनमें नीर-क्षीर विवेक कर लिया जाय तो उनमें से कल्याणकारी अंश की वाणियां निकल सकती हैं। श्रुतियों में "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म" के वाक्य बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनके अर्थ हैं मैं ब्रह्म हूं, तू ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्म का मतलब है बड़ा। बृहत्वात् ब्रह्म। जो बड़ा हो, वह ब्रह्म। मनुष्य की आत्मा ही तो बड़ी है। वही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का भूप है। अतएव यह मनुष्य की आत्मा ही ब्रह्म है, श्रेष्ठ है, महान है। संकल्पों को छोड़कर समाधि में लीन हो जाने पर जीव असंग हो जाता है, यही उसका अद्वैत-पद है। जहां दूसरा न हो वही तो अद्वैत है। समाधि में मन समाप्त हो जाने पर जीव अकेला रह जाता है। मन ही संसार को, द्वैत को जीव के सामने करता रहता है और जब मन ही लीन हो गया तब चेतन असंग हो गया, अद्वैत हो गया। यही विवेकपूर्ण अद्वैत ब्रह्म होना है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले इस विवेक-पथ को छोड़ दिये। वे ब्रह्मवाद की भावुकता में, शास्त्र-प्रमाण के उलटे-सुलटे जोड़ में पड़कर यथार्थ ज्ञान को गड्ड-बड्ड कर दिये। इसलिए जीव का बनाया वाणी-समुद्र जीव को ही झुलसाने लगा, और "मच्छ अहेरा खेले" माया जीव पर शिकार खेलने लगी। जीव की ही बनायी वाणी जीव को बांधने के लिए माया बन गयी। इसीलिए अनुभूत ज्ञान की अवहेलना होने लगी, और कल्पित अवधारणा को सिद्धांत मान लिया गया।

"कहहिं कबीर यह अद्बुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै।" साहेब कहते हैं कि मेरा

ज्ञान लोगों को अद्भुत लग सकता है। लोग सोच सकते हैं "कबीर तो अचरज की बात करते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी वेदांती सारा जड़-चेतन एक अद्वैत मानते हैं, एक जीववाद मानते हैं और कबीर नानत्वपूर्ण संसार स्वीकार करते हैं, वे नाना जीव मानते हैं।" वस्तुतः गलत बातों का यदि ज्यादा अभ्यास हो जाय तो वही सत्य लगती है और सत्य का अभ्यास न होने से वह अद्भुत लग सकता है। कबीर कहते हैं कि मेरे ज्ञान को कौन समझेगा! वही उसे समझेगा जो शास्त्र-प्रमाण के जाल से मुक्त हो जायेगा। "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।"[१] शास्त्र-प्रमाण आदरणीय है किन्तु स्वानुभूत सत्य का वध करके नहीं, अपने विवेकज्ञान को ताख पर रखकर नहीं।

"बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशै, जीवहि मरण न सूझै।" मनुष्य बिना पंख के आकाश में उड़ना चाहता है। उसका फल गिरकर मर जाना है। परन्तु उसे यह बात नहीं सूझती। तात्पर्य है कि बिना विवेक मनुष्य कल्पना की उड़ान भरता है। वह स्वानुभूत सत्य को आदर न देकर कल्पना का लड्डू खाता है। सारी वासनाओं को छोड़कर निज स्वरूप में ही स्थिति होती है। जब वासनाएं शांत हो जाती हैं तब जीव जगत से छूटकर निज स्वरूप मात्र रह जाता है। यह स्वानुभूत सत्य है। यही परमार्थ है। सारा जड़-चेतन एक हो जाना परमार्थ नहीं है। संकल्पों का त्याग निराधार स्थिति है। इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। जड़-चेतन-अभिन्नता एवं चराचर व्यापक की अवधारणा न अनुभूत सत्य है और न यथार्थ अद्वैत है। यह तो मन का जोश है, ब्रह्मवाद की भावुकता है। इसलिए हे ब्रह्मज्ञानी, अपने ब्रह्मज्ञान पर पुनर्विचार कर लो। जगत अपने क्षेत्र में प्रवाहरूप गतिशील रहते हुए भी सत्य है, ठोस है। उससे भिन्न नाना चेतन जीव हैं। जो जीव वासना त्याग देगा वह मुक्त हो जायेगा। चराचर व्यापक अद्वैतवाद में तो मुक्ति संभव ही नहीं है।

संसार-वृक्ष और एषणा-लता

शब्द—५३

वै बिरवा चीन्हे जो कोय, जरा-मरण रहित तन होय॥ १ ॥
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तिनि डारा॥ २ ॥
मध्य की डारि चारि फल लागा, शाखा पत्र गिने को वाका॥ ३ ॥
बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी॥ ४ ॥
कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा॥ ५ ॥

शब्दार्थ—वै बिरवा = वह वृक्ष, संसार। तिनि डारा = रज, सत, तम। मध्य = सत। चारि फल = अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। बेलि = लता, एषणा, वासना, तृष्णा।

भावार्थ—जो महापुरुष इस संसार-वृक्ष को पहचान लेता है, वह इसकी वासना त्यागकर बुढ़ापा, मृत्यु और शरीर धरने के चक्कर से मुक्त हो जाता है॥१॥ यह सारा विश्व मानो एक वृक्ष है। इस एक विश्व-वृक्ष में रज, सत एवं तम तीन डालियां निकली

---

१. रमैनी २४।

हैं।।२।। बीच की सत्व-डाली में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष ये चार फल लगे हुए हैं। इसके अलावा इस संसार-वृक्ष की छोटी-छोटी डालियां तथा पत्ते बहुत हैं उन्हें कौन गिनकर बता सकता है! ।।३।। इस अद्भुत संसार-वृक्ष से एषणा (इच्छा) की एक लता निकली है जो नीचे, ऊपर और मध्य के समस्त लोकों के प्राणियों के मन में लिपट गयी है। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी बंधे हुए हैं और वे नहीं छूट रहे हैं।।४।। सद्गुरु कहते हैं कि हम पुकारकर कहे जा रहे हैं, जो सूक्ष्मदर्शी पण्डित होगा वह इसका विचार कर लेगा।।५।।

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह संसार एक वृक्ष है। जो इसे समझ लेता है वह फिर जन्म नहीं धारण करता। जो जन्म नहीं धारण करता वह शरीर यात्रा के उपद्रव, रोग, विपत्ति, बुढ़ापा एवं मरण के संताप से छूट जाता है। हमें चाहिए कि हम इस संसार को ठीक से समझकर अपने आपको इससे मुक्त करें।

बाहरी भौतिक क्षेत्र से लेकर मन तक सारा संसार त्रिगुणात्मक है। परन्तु इस त्रिगुणात्मक जगत से मेरा चेतनस्वरूप एवं मेरी आत्मा अलग है। जब हम अपने आप को संसार-वृक्ष से अलग समझकर तथा अनासक्त होकर व्यवहार करते हैं तब संसार-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि संसार-वृक्ष की तीन बड़ी शाखाएं हैं, वे हैं रज, सत एवं तम गुण। सभी गुणों का अपना महत्व है, परन्तु बीच के सत्वगुण का महत्व सर्वाधिक है। इसी में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष चारों फल फलते हैं। भौतिक क्षेत्र में जहां तक क्रिया है वह रज-गुण का स्वभाव है, जहां तक पुष्टि है सत-गुण का स्वभाव है तथा क्षय तम-गुण का। इसी प्रकार मन में इच्छा-क्रिया रज-गुण है। ज्ञान-प्रसन्नता सत-गुण है तथा आलस्य-निद्रादि तम-गुण है। जीवन में सभी गुणों का उपयोग है। जीवननिर्वाह में शुद्ध इच्छा भी चाहिए, क्योंकि खाना, पीना, सोना-जागना तथा उनके लिए कुछ करना आवश्यक है। सत-गुण का व्यवहार ज्ञान-प्रसन्नता तो चाहिए ही, आलस्य-निद्रादि तम-गुण का व्यवहार भी अति आवश्यक है। प्रकाश सत-गुण है और अन्धकार तम-गुण। व्यवहार करने के लिए, यह ग्रन्थ लिखने तथा पढ़ने के लिए भी प्रकाश चाहिए, परन्तु सोने के समय अन्धकार चाहिए। सोना बहुत आवश्यक है तथा उसके लिए अन्धकार भी बहुत आवश्यक है।

विवेकवान पुरुष सारे मनःकल्पित भोगों का त्यागकर अनासक्तिपूर्वक केवल शुद्ध जीवन-निर्वाह लेता है। वह इस त्रिगुणात्मक जगत से अपने आपको सदैव अलग समझता है। अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ एवं पुरुष के प्रयोजन माने जाते हैं और इन्हीं को चार फल भी कहते हैं। वस्तुतः फल तो काम और मोक्ष हैं, उनके साधन अर्थ और धर्म हैं। परन्तु साधन रूप अर्थ तथा धर्म को भी फल एवं पुरुषार्थ में गिन लिया जाता है। अंततः जीवन का मात्र एक पुरुषार्थ—मोक्ष है। उसके लिए साधन धर्म है। परन्तु शरीर की रक्षा के लिए सबको कुछ-न-कुछ अर्थ चाहिए। संसार में मोक्षार्थी तो थोड़े होते हैं, शेष सांसारिक कामना वाले ही होते हैं, इसलिए काम भी एक फल माना जाता है। काम का अर्थ है सांसारिक इच्छाएं। उनकी कुछ अंशों में पूर्ति अर्थ से होती है। वैसे इच्छाएं भोगों से नहीं पूर्ण होतीं, प्रत्युत उनका विवेक से त्याग होता है। जब इच्छाओं का त्याग हो जाता है, तब मानो कामना पूर्ण हो गयी। परन्तु इस ऊंचे भाव को समझने वाले

लोग संसार में बहुत कम हैं, शेष तो भोगों से ही कामना-पूर्ति का भ्रम किये बैठे हैं। "शाखा पत्र गिने को वाका" का अभिप्राय है कि त्रिगुण मुख्य शाखाओं की उपशाखाएं एवं उनके पत्ते कौन गिन सकता है! त्रिगुण की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि अनेक शाखाएं-उपशाखाएं हैं, वह न संपूर्ण गिनाया जा सकता है और न उनकी यहां आवश्यकता है।

"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। संसार रूपी वृक्ष में एक लता है। जो तीनों भुवनों में लिपटी है। तीन भुवन का अर्थ है ऊपर, नीचे तथा मध्य। यह भी सापेक्ष कथन है। परन्तु जिस पृथ्वी पर हम हैं उसी को तो मध्य मानेंगे। जो व्यक्ति जहां रहता है उसके लिए वही मानो संसार का बीच भाग है। वस्तुतः यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में समा नहीं सकते। अर्थात मन-द्वारा इसकी सीमा का अन्दाज नहीं कर सकते। त्रिभुवन का लाक्षणिक अर्थ है समस्त संसार तथा इससे भी अधिक व्यावहारिक अर्थ त्रिगुणी जीव है। सद्गुरु कहते हैं संसार-वृक्ष के सारे जीवों को उस लता ने लपेट रखा है। उस लता में बंधकर ज्ञानी भी नहीं छूट रहा है। यह बेलि है एषणा। एषणाएं तीन मानी गयी हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा। एषणा का अर्थ है इच्छा। इसको वासना-तृष्णा भी कह सकते हैं। परन्तु एषणा का मुख्य अर्थ इच्छा ही है। पुत्रैषणा के भीतर ही शिष्यैषणा है। पुत्र की चाह, शिष्य की चाह, धन की चाह तथा लोकप्रसिद्धि की चाह। इस चाह की बेलि ने संसार को लपेट रखा है। कितने लोग पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा छोड़ देते हैं तो लोकैषणा नहीं छोड़ पाते। मनुष्य का मन हर समय संसार से कुछ पाना चाहता है। अनुकूल प्राणी मिल जाय, धन मिल जाय, कोई अनुकूल वस्तु मिल जाय, प्रशंसा एवं सम्मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, बस, हर समय यह चाहना बनी रहती है कि कुछ मिल जाय। शास्त्रों की बहुत बातें जानकर भी, साधना में बहुत दूर तक चलकर भी कितने ज्ञानीजन किसी-न-किसी सूक्ष्म इच्छा एवं वासना की बेलि में बंधे रहते हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" इस एषणा की लता में, तृष्णा-वासना की बेलि में ज्ञानी कहलाने वाला भी बंधकर नहीं छूट रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सब ज्ञानी एषणा-बेलि में बंधे हैं। अर्थ इतना ही है कि बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले इस बेलि से भीतर-भीतर लिपटे हैं। अतएव उन्हें भी अपने मन को देखते रहना चाहिए कि हम किसी एषणा में तो नहीं बंधे हैं। हमारे भीतर कोई सूक्ष्म सांसारिक इच्छा तो नहीं अंकुरित है। संसार का काम करने के लिए इच्छा चाहिए। बिना इच्छा के संसार का काम नहीं हो सकता। परन्तु यह प्रसंग बिलकुल अलग है। यहां तो जीव के संसार-वृक्ष से उतरने की बात है और जरा-मरण तथा शरीर के प्रपंच से सदैव के लिए मुक्त होने की बात है।

आज के विज्ञान-युग का आदमी इसे एक काल्पनिक आदर्श मात्र मानेगा। जन्म-मरण से मुक्त होने की बात उसे भले काल्पनिक आदर्श लगे, परन्तु उसका जो आज का व्यावहारिक स्वरूप है उसे तो कोई भी समझ सकता है कि वह सुखद जीवन का उच्चतम

शिखर है। जिसके मन में पुत्र, वित्त एवं लोक किसी की भी एषणा नहीं है, जिसके मन से इच्छा, वासना, तृष्णा समाप्त हो गयी हैं, उसके हृदय के आनन्दसागर का क्या वर्णन हो सकता है! वासनाहीन सुख से बढ़कर तो कोई सुख है ही नहीं, इसके समान भी कोई सुख नहीं है। यहां तक इसका आधा या पाव सुख भी कहीं नहीं है। तृष्णा, वासना, उद्वेग, आग्रह, शिकायत, पश्चाताप, ग्लानि एवं समस्त मानसिक द्वंद्वों से रहित प्रशांत मन वाला हो जाना ही जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाना है।

"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा।" सद्गुरु कहते हैं कि हम पुकारे जा रहे हैं, जो पण्डित होगा वह इस सम्बन्ध में विचार लेगा। कबीर साहेब के मन में पण्डितों का कितना बड़ा आदर था, यहां निश्चित है कि पत्राधारी पण्डित नहीं है। यहां पण्डित का अर्थ सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि वाला सूक्ष्मदर्शी है। यह किसी कुल-गोत्र का नहीं होता, किन्तु जिसके भीतर अन्वीक्षकी बुद्धि हो वही पण्डित है। इस पंक्ति में दो महत्वपूर्ण बातें हैं, पहली बात है कबीर साहेब का निरालापन। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा" साहेब कहते हैं कि हम कहीं रुक नहीं रहे हैं। लोककल्याण को लेकर भी हम कहीं बंधे नहीं हैं। हम तो सबसे विरक्त, निस्पृह होकर जा रहे हैं, परन्तु हां, अपना सजाति जानकर कल्याणार्थियों को पुकारे भी जा रहे हैं। सच्चे ज्ञानी का यही अर्थ ही होता है कि वह लोगों को रास्ता बता दे, परन्तु कहीं बंधे न। इसमें दूसरी महत्वपूर्ण बात वही है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है "पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

निजस्वरूप से पृथक परमतत्व खोजने वालों पर व्यंग्य

शब्द–५४

साँई के संग सासुर आई॥ १ ॥

संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई॥ २ ॥
जना चारि मिलि लगन सोधाये, जना पाँच मिलि माँड़ो छाये॥ ३ ॥
सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख-सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥ ४ ॥
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई॥ ५ ॥
अर्घा दै लै चली सुवासिनि, चौके राँड़ भई संग साँई॥ ६ ॥
भयो विवाह चली बिनु दुलहा, बाट जात समधी समुझाई॥ ७ ॥
कहैं कबीर हम गौने जैबै, तरब कन्थ लै तूर बजैबै॥ ८ ॥

शब्दार्थ—साँई = सांईं, स्वामी, पति, निजस्वरूप, आत्मदेव। सासुर = संसार। जना चारि = मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। जना पाँच = पांच तत्व, पांच विषय। सखी सहेलरि = पांच ज्ञानेंद्रियां। भाँवरि = परिक्रमा, चक्कर। भाई = अज्ञान। अर्घा = अर्घ; दूब, दूध, चावल आदि मिला हुआ जल, जो नयी दुलहन के आने पर डोले से उतरने के बाद उसके आगे-आगे गिराते हुए उसे घर में ले जाते हैं। सुवासिनि = सुआसिन, सुहागिन स्त्री, पति वाली, अहिबाती, तात्पर्य में ईश्वरपरायण गुरु। चौके = पूजा की वेदी, अन्तःकरण।

राँड़ = पतिविहीन। समधी = सगुणोपासक गुरु। कन्थ = कंत, पति, भगवान। तूर = तुरही, एक प्रकार का बाजा।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी दुलहन जीवरूपी पति के साथ ही संसार में आती है, परन्तु इसका ज्ञान न होने से वह न उसके साथ सोती है, न उसके स्वाद का अनुभव करती है, प्रत्युत उसकी जीवनरूपी जवानी स्वप्न के समान बीत जाती है।।१-२।। मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन अपने आत्मदेव एवं चेतनस्वरूप पति को न जानकर संसार में अलग ही पति एवं सुख का आश्रय खोजने लगती है। वह अलग पति मानकर उसके साथ विवाह रचना चाहती है। उसमें मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चारों पर-पति से सम्बन्ध करने के लिए लग्न शोधते हैं। अर्थात मन मनन करता है, चित्त अनुसंधान करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार कर्त्तव्य करता है। पंच तत्वों ने तो पहले से ही शरीर रूपी मड़वा छा ही दिया है जिसमें विवाह सम्पन्न हो सके।।३।। पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी सखी-सहेलियां मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन को बहिर्मुख करने के लिए विषयों के राग-रंग एवं सगुण उपासनादि के गीत गाने लगीं, और सांसारिक द्वंद्वरूपी सुख-दुख की हल्दी उसके मस्तक पर मलने लगीं।।४।। नाना भोगों तथा कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार मन में पड़ना ही मानो मनोवृत्ति का परोक्ष पति के साथ फेरे पड़ना है। इस मनोवृत्तिरूपी दुलहन ने अपने भाई अज्ञान से ही मानो ग्रंथिबन्धन कर उसी पर पति होने का विश्वास कर लिया।।५।। परोक्ष पतिपरायण बने गुरुओं ने भ्रामक वाणीरूपी पानी गिराते हुए अर्थात उसका उपदेश करते हुए मनोवृत्तिरूपी दुलहन को परोक्ष ईश्वर के कल्पित भवन में ले जाकर बैठा दिया। दुखद घटना हुई कि दुलहन वेदी में बैठी हुई पतिविहीन एवं रांड़ हो गयी जबकि आत्मदेव-पति उसके साथ है, परन्तु वह तो बाहर पति खोज रही है। वह न मिला, अतः उसने अपने को रांड़ मान लिया।।६।। मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी कल्पित परोक्ष-पति से अपना विवाह तो कर लिया, परन्तु वह कभी न मिला, अतएव दुलहन बिना पति के ही चली। रास्ता चलते समय उसे समधी ने समझाया। अर्थात भक्ति-मार्ग में चलते हुए साधकों की मनोवृत्ति को गुरुओं ने समझाया कि तुम व्याकुल मत होओ, प्रत्युत प्रेमलक्षणा भक्ति करती चलो, ईश्वर अवश्य मिलेगा। आज नहीं तो मरने पर स्वर्ग में मिलेगा।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि यह बात सुनकर भक्तों की मनोवृत्तिरूपी दुलहन उत्साहित हो गयी, और कहने लगी कि अभी पति नहीं मिला तो नहीं मिला, दुबारा गौन जाने पर तो मिलेगा ही। अतः हम बाजा-गाजा बजवाते हुए भगवान के धाम गौने जायेंगी और पति-परमेश्वर को लेकर कृतार्थ हो जायेंगी।।८।।

व्याख्या—इस पूरे शब्द में उन पर व्यंग्य है जो अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को परमतत्व एवं अपना परम आश्रय न मानकर, अलग अपना पति खोजते हैं। कबीर साहेब व्यंग्य-लेखकों के आचार्य हैं। इतना बड़ा व्यंग्य करने वाला, चुटकी काटने वाला और लोगों की आंखों में उंगली डालकर जगाने वाला दूसरा मिलना मुश्किल है। हम इस शब्द की एक-एक पंक्ति पर खुलासा चिंतन करें।

"साँई के संग सासुर आई। संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई।" जैसे कोई दुलहन अपने पति के साथ में ही ससुराल आयी हो, परन्तु उसका दुर्भाग्य कि वह अपने पति के साथ का सुख कभी न पायी हो। उसकी जवानी पति के संयोगजनित सुख के सपने देखते ही बीत गयी हो, कभी उसे अपने पति का आलिंगन न मिला हो। यही दशा मनुष्य की मनोवृत्ति की है। वह सदैव परमानन्द के आश्रय में पहुंचने के सपने देखती रहती है, परन्तु उसे जीवन में कभी भी परमानन्द का आश्रय नहीं मिलता। क्यों नहीं मिलता? क्योंकि वह उसे बाहर खोजती है। परमानन्द, परमशांति एवं आत्यंतिक सुख का आश्रय तो उसके साथ उसका चेतन देव है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं है। यह मनोवृत्ति दुलहन है, चेतनदेव उसका पति है। जब आदमी संसार में जन्म लेता है, तब दोनों साथ ही आते हैं। परन्तु दोनों साथ रहते हुए भी, अज्ञान के कारण परस्पर वियोग बना रहता है। इसीलिए मनोवृत्ति अपने अमृतस्वरूप चेतनदेव के साथ नहीं सोती, अर्थात समाधि में लीन नहीं होती। मनुष्य की मनोवृत्ति को स्वरूपस्थिति का स्वाद नहीं मिलता। उसे वह सुख नहीं मिलता जिसमें दुख की किरकिरी नहीं है और जो अनन्त है। मनुष्य का जीवन बीत जाता है, किन्तु उसके लिए परम सुख सपना ही बना रह जाता है। निजस्वरूप को न जानने का यही फल है। ऐसा भ्रम कि पति के साथ रहते हुए भी पति से वियोग! भला अपनी आत्मा को कोई छोड़कर कैसे रह सकता है! अपनी आत्मा से अपना कभी वियोग होना संभव ही नहीं है, परन्तु ज्ञान न होने से वियोग-जैसा है। लोक कहावत है "लड़िका कांधे गांव गोहार!"

"जना चारि मिलि लगन सोधाये" दुलहन अपने पास में रहने वाले पति को न जानकर किसी दूसरे दूल्हे से विवाह करने के लिए लग्न शोधवाने लगी। उसे चार पंडित मिल गये। वे उसका लग्न शोधने लगे अर्थात मनुष्य की मनोवृत्ति अपने आत्मदेव पति को न जानकर सुख का आश्रय बाहर खोजने लगी। वह बाहरी पति की तलाश में पड़ गयी। बाहरी दूल्हे से विवाह करने के लिए मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चार पंडित लग्न शोधने लगे। इसका अर्थ यह है कि मन बाहरी विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं की कल्पना करने लगा, चित्त उसका अनुसंधान करने लगा, बुद्धि उसी का निश्चय करने लगी तथा अहंकार उसी को स्वीकार करने लगा। विषयों में सुख ढूंढ़ने लगे या कल्पित देवी-देवताओं में।

"जना पाँच मिलि माँड़ो छाये" पांच जने मिलकर पहले से ही माड़व अर्थात मंडप छा दिये थे जिसमें विवाह होना था। ये पांच जने हैं पांच तत्व। तत्वों से शरीर-मंडप पहले ही बनकर तैयार है। इसमें मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन नये-नये पति से विवाह करती रहती है। अर्थात अपने आत्मदेव से विमुख बनी वह नाना विषयों एवं देवी-देवताओं में भटकती रहती है।

"सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख-सुख माथे हरदि चढ़ावैं।" विवाह होने के पूर्व से ही सखी-सहेलियां विवाह के मंगल गीत गाने लगती हैं और संभावित दुलहन (कन्या) के शरीर में हल्दीयुत उबटन लगाने लगती हैं। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां मनोवृत्ति की मानो सहेलियां हैं। ये विषयों के गीत गाती हैं अर्थात मनोवृत्ति

को ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन विषयों की तरफ खींचती हैं और सुख-दुख की हल्दी मनोवृत्ति दुलहन के मस्तक पर मलती हैं। इन सबका अर्थ यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप में न रमने से वह पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमती है, और उसके परिणामस्वरूप संसार के सुख-दुख द्वंद्व सहती है। विषयों में क्षणिक सुख मिलता है और पेट भर दुख।

"नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई।" विवाह के समय वर-वधू के कपड़े की एक में गांठ बांधकर वे अग्नि के चारों ओर सात फेरे लगाते हैं। यहां नाना प्रकार के विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार जो मन में पड़ते हैं वही मानो फेरा पड़ना है। यहां फेरा का अर्थ है चक्कर। संस्कारों एवं भ्रांतियों के चक्कर में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती रहती है। इस मनोवृत्ति-दुलहन ने अपने भाई से ही ग्रन्थिबंधन कर उसी को अपना पति होने का विश्वास कर लिया। अज्ञान तथा मनोवृत्ति दोनों की उत्पत्ति अविद्या से होने के कारण दोनों मानो भाई-बहन हैं। निज चेतनस्वरूप से अलग जो कुछ अपना आश्रय माना जाता है वह सब मानो अज्ञान ही है। जीव उन्हीं से अपना ग्रंथिबंधन करता है। यही तो जड़-चेतन की ग्रन्थि है। मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक अपनी अवधारणाओं को पति मानती है, सुख का कारण मानती है, वह सब अज्ञान है। इसी के लिए "गाँठि जोरि भाई पतियाई" व्यंग्य है।

"अर्घा दै लै चली सुवासिनि" जब दुलहन विवाह के बाद ससुराल पहुंचती है, तब दरवाजे पर उसके डोले के पास स्त्रियां आकर दुलहन के सामने जल गिराती हुई उसे घर में ले जाती हैं। जल गिराना, अर्घ देना कहलाता है। यह अर्घ देने का काम सुआसिन करती है। सुआसिन का अर्थ है सुहागिन, पतिवाली। विधवा यह काम नहीं करती। विधवा उस अवसर पर अशुभ मानी जाती है। सुहागिन शुभ मानी जाती है। अतः सुहागिन अर्घ देते हुए दुलहन को घर में ले जाती है। यहां सुहागिन है परोक्ष ईश्वर तथा देवी-देवताओं के उपासक भक्त-गुरु, क्योंकि वे पतिवाली हैं। उन्होंने अपनी आत्मा से अलग किसी कल्पित ईश्वर या देवता को अपना पति मान रखा है। वे मनुष्यों की मनोवृत्ति के सामने कल्पित वाणियों का उपदेश करते हैं। यही मानो वे अर्घ देते हैं। वे अपनी रोचक वाणियों से मनुष्यों की मनोवृत्तियों को अपनी ओर खींचते हैं।

दुख यह है कि "चौके रॉड़ भई संग साँई" दुलहन चौके में एवं ससुराल की वेदी में पहुंचते ही रांड़ हो गयी। अचरज तो यह है कि उसका पति उसके साथ है, परन्तु वह विधवा हो गयी। तात्पर्य है कि मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन यह तो जानती नहीं है कि अपना चेतनदेव-पति अपने साथ ही है। स्वरूपज्ञान से वह एकदम अनभिज्ञ है, और जिस कल्पित-ईश्वर या देवी-देवता को अपना पति माना वह तो मिला ही नहीं। वह मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल मन की कल्पना है। अतएव उसने जिन्हें पति माना वह न मिलने से अपने आपको रांड़, विधवा एवं अभागिन समझने लगी। मनुष्य को अपने दिव्य आत्मदेव का परिचय न होने से वह बाहर भटकता है और बाहर से उसे सन्तोष मिलता नहीं। बड़े-बड़े संत-भक्त सदैव इसी अभाव में दुखी रहते हैं कि ईश्वर ने हमें दर्शन नहीं

दिये। उन्हें यह पता नहीं कि अपने चेतनदेव के अलावा बाहर कोई ईश्वर नहीं, जो दर्शन दे। अतएव वे स्वरूपज्ञान तथा आत्मज्ञान के अभाव में अपने आप को सदैव विधवा माने बैठे रहते हैं।

"भयो विवाह चली बिनु दुलहा" विवाह हो जाने के बाद दुलहन बिना दूल्हे के चले तो उसका दुर्भाग्य है। मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी परोक्ष ईश्वर एवं देवादि से अपनी सगाई तो कर ली, परन्तु उसे न पाने से वह बिना दूल्हे के चली। यहां चली का मतलब है जीवन-यापन करना। अर्थात ईश्वर की भक्ति करते हुए भक्त जीवन-यापन कर रहा है। उसके बहुत समय बीत गये परन्तु उसे दूल्हा न मिला। उसे मिलने वाला भी नहीं है। बाहर से जीव को कोई दूल्हा, कोई ईश्वर नहीं मिलने वाला है। संसार में जो मिलता है वह छूटता है। माया की चीजें मिलती हैं और मिलकर छूट जाती हैं। यदि ईश्वर भी कुछ है और वह मिलता है तो मिलकर अवश्य छूट जायेगा। न छूटने वाला ईश्वर तो मनुष्य की अपनी आत्मा ही है। परन्तु वह उसे समझता ही नहीं है और बाहर ईश्वर खोजता है, इसलिए वह भटकता है। अपने आपको बिना दूल्हे के समझता है।

"बाट जात समधी समुझाई।" समधी भक्त-गुरु हैं। वे भक्त-साधकों को भक्ति-पथ में चलते समय उन्हें धैर्य देकर समझाते हैं। वे कहते हैं कि तुम घबराओ मत। तुम्हें परमात्मा अवश्य मिलेगा। ध्रुव को मिला, प्रहलाद को मिला और उसने बहुत भक्तों को साक्षात दर्शन दिये। घबराने की जरूरत नहीं है। ईश्वर अवश्य मिलेगा। यदि जीवन में नहीं मिलेगा तो मरने के बाद स्वर्ग में पहुंचने पर मिलेगा। तुम प्रेम-लक्षणा भक्ति करते जाओ। तुम अपने आपको समझो कि तुम उसकी पत्नी हो और वह तुम्हारा पति है। तुम मन ही मन उसको भोजन कराओ, उसकी आरती उतारो, उसके पैर दबाओ, उसको पान के बीड़े दो, उसके साथ लिपट जाओ, वह अवश्य कृपा करेगा और तुम्हें अपना प्रेयसी बना लेगा। माधुर्य भक्ति करने वाले ऐसी ही भक्ति करते हैं। क्या वे सब समझदार नहीं हैं! तुम्हें ईश्वर अवश्य मिलेगा।

"कहैं कबीर हम गौने जइबै, तरब कन्थ लै तूर बजैबै।" कबीर साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सुनकर भक्त-साधकों को उत्साह जग जाता है। वे कहते हैं कि हम बाजा-गाजा के सहित कथा-कीर्तन कर भगवान के धाम गौने जायेंगी और अपने भगवानपति से मिलकर कृतकृत्य हो जायेंगी।

उक्त पूरा शब्द सगुण-उपासकों पर व्यंग्य है। जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है और उसको पाना चाहता है, साहेब उसको आड़े हाथों लेते हैं। कितने विद्वान नीचे की पंक्ति से कबीर साहेब को ही कहने लगते हैं कि कबीर स्वयं भगवान के धाम गौने जाना चाहते हैं। वे पूरे शब्द के अर्थप्रवाह को समझना ही नहीं चाहते, क्योंकि उनको अपना मंतव्य इसी में सिद्ध दिखता है। परन्तु किसी का अनर्थ नहीं करना चाहिए। कबीर साहेब अन्तरात्मा को ही परमतत्व मानते हैं। जो निजस्वरूप को छोड़कर बाहर ईश्वर खोजता है उसे वे अनेक तर्कों एवं व्यंग्यों से जगाते हैं। गहरे में गड़े हुए भ्रम को उखाड़ने के लिए तीव्र वाणी की आवश्यकता होती है।

मनुष्य की विपरीतता पर व्यंग्य

शब्द–५५

नर को ढाढ़स देखो आई, कछु अकथ कथ्यो है भाई॥ १ ॥
सिंह शार्दुल एक हर जोतिनि, सीकस बोइनि धानै॥ २ ॥
बन की भुलैया चाखुर फेरें, छागर भये किसाने॥ ३ ॥
छेरी बाघै ब्याह होत है, मंगल गावै गाई॥ ४ ॥
बन के रोझ धरि दायज दीन्हों, गोह लो कन्धे जाई॥ ५ ॥
कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते॥ ६ ॥
माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाव बराते॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अथवै॥ ८ ॥
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै॥ ९ ॥

शब्दार्थ—ढाढ़स = साहस, धैर्य। अकथ = न कथने योग्य, अन्होंन। शार्दुल = शार्दूल, एक पक्षी।[1] सीकस = ऊसर जमीन। भुलैया = लोमड़ी। चाखुर फेरें = जुते हुए खेत से घास निकालना। छागर = बकरा। छेरी = बकरी। गाई = गाय, इन्द्रियां। रोझ = नीलगाय। धरि = पकड़कर। गोह = छिपकली जाति का एक जहरीला जंतु, जो नेवले के बराबर आकार का होता है।

भावार्थ—मनुष्य का साहस तो देखो। हे भाई, इसने कुछ अनहोनी बातें कहीं और की हैं।।१।। इसने सिंह और शार्दूल पक्षी को एक हल में जोत दिया है, ऊसर में धान बो दिया है, वन की लोमड़ियों ने जुते खेत की घास को निकालने का काम किया है और बकरे ने किसानी की है। अर्थात जीव सिंह को मन की मान्यतारूपी शार्दूल पक्षी के साथ जोत दिया गया है, मनुष्य ने अपने शक्ति-बीजरूपी धान को निरर्थक क्रियारूपी ऊसर में बो दिया है। संसार के मोह एवं भ्रांतियों में जो स्वयं भूले हैं ऐसे गुरु जीव का अज्ञान दूर करने लगे हैं और बकरे-जैसे कायर लोग धर्म की खेती करने लगे हैं।।२-३।।

बकरी और बाघ का विवाह होने लगा है, गायें मंगल गाने लगी हैं, वन की नीलगायें पकड़कर दायज में दी जाने लगी हैं और विषैले गोह वर-वधू की डोली अपने कंधे पर लेकर बिदा करने चल दिये हैं। अर्थात जीव का माया के साथ ग्रंथिबन्धन होने लगा है। इन्द्रियां उसमें आनन्द के गीत गाने लगी हैं, नीलगाय के समान मन की चंचलता मानो इसमें दहेज एवं भेंट दी गयी है तथा राग-द्वेष से आवृत्त विषैले लोग अपने कंधे पर तरन-तारन होने का भार उठा लिये हैं।।४-५।।

कौए अपने कपड़े धोने लगे हैं, बकुले अपने दांत किटकिटाकर कपड़े पर इस्तरी फेरने लगे हैं, मक्खियां सिर के बाल मुड़वाने लगी हैं कि हम भी बरात जाएंगी। अर्थात

---

१. शार्दूल का अर्थ सिंह भी है और शार्दूल नाम का एक पक्षी भी होता है। सिंह इस पंक्ति में पहले आ चुका है। इसलिए यहां शार्दूल का अर्थ पक्षी ही होना चाहिए।

कौए के समान चंचल लोग सफेदपोश होने लगे हैं, बकुले के समान कपटी लोग ठाट-बाट से रहकर अपने भेद छिपाने लगे हैं, और मक्खी के समान मलिन मन वाले मूड़ मुड़ाकर साधु-संन्यासी होने लगे हैं।।६-७।।

कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो जो इस पद का अर्थ लगायेगा और सावधान हो जायेगा, वही पण्डित है, वही ज्ञाता है और वही भक्त कहलाने योग्य है।।८-९।।

व्याख्या—कबीर साहेब की जितनी उलटवांसियां होती हैं सब प्रायः उन पर व्यंग्य होती हैं जो समाज में रहकर विपरीत आचरण करते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग साहसी होते हैं और न करने योग्य काम करते हैं। सिंह और शार्दूल-पक्षी का एक हल में जोत देना ऐसी ही घटना है। सिंह जीव है और शार्दूल-पक्षी मन है। मन का अर्थ है मन की मान्यताएं। मान्यताएं का अभिप्राय है व्यर्थ मान्यताएं एवं अहंता-ममता। जीव शुद्ध चेतन है, अपने आप में पूर्णकाम है। यदि वह अपने आपको समझकर अपने आप में स्थित हो तो कृतार्थ है, परन्तु वह बाहरी अहंता-ममता में पड़कर दुखी है।

"सीकस बोइनि धानै" सीकस में, ऊसर जमीन में धान बोना हद दर्जे की बेवकूफी है। हम अपने जीवन में ऐसी ही बेवकूफी करते रहते हैं। हम जीवनभर ऊसर में धान बोते हैं। हम अपनी शक्ति को जीवनभर राग, द्वेष, परनिन्दा, पर अपकार एवं निरर्थक ही नहीं, अनर्थक क्रियाओं में खोते हैं। हीरा-जैसे जीवन के समय एवं शक्ति को व्यर्थ में खोकर अंत में असफल होकर संसार से विदा होते हैं। यह गलती साधारण लोग ही नहीं, किन्तु विद्वान और ज्ञानी कहलाने वाले लोग भी करते हैं।

"बन की भुलैया चाखुर फेरें" जब खेत जोतकर लकड़ी के पाटले से उसे बराबर कर दिया जाता है, तब उसमें से उखड़ी हुई घासों को निकाला जाता है। उस घास को चिखुरी या चाखुर कहा जाता है। यदि वन की लोमड़ियां आकर घास निकालने लगें तो यह आश्चर्य है। लोमड़ियों को भुलैया क्यों कहा गया? क्योंकि वे प्रायः अपने खोदे हुए बिल को भूल जाती हैं, इसलिए फिर दूसरा खोदती हैं। यहां वन के भुलैया हैं संसार के भूले गुरु लोग जो संसार के अज्ञानरूपी घास को निकालने का दावा करते हैं। वे स्वयं तो भूले हैं। उनको सारासार का स्वयं विवेक नहीं है। वे स्वयं अनेक अन्धविश्वासों में जकड़े हैं। उन्हें स्वयं विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है और न वे स्वयं स्वरूप को ही समझते हैं। परन्तु वे जगत के गुरु बनकर चाखुर फेरते हैं। वे सबके अज्ञान को दूर करने एवं सबको मुक्ति देने की ठेकेदारी लेते हैं।

"छागर भये किसाने" बकरे किसान हो गये। बकरे कमजोर और कायर जानवर होते हैं। यदि उनके ऊपर पानी की चार बूंदें पड़ें तो वे में-में करके भागकर कोई छाया ढूंढ़ते हैं। ऐसे बकरे क्या किसानी करेंगे! इसी प्रकार जो कायर और कपूत हैं वे क्या धर्माचरण करेंगे। परन्तु संसार में कायर लोग ही धर्मध्वजी बन गये हैं। वे त्याग और संयमरूपी धर्म से तो सैकड़ों कोस दूर रहते हैं, हां, वे धार्मिक ढोंग अवश्य करते हैं।

"छेरी बाघै ब्याह होत है" बकरी और बाघ का विवाह होना अपने आप में आश्चर्य है। सिंहवत मनुष्य जीव दीन बकरीवत माया में आसक्त होता है। सिंह अपने स्वरूप को

भूलकर ही तो बकरी से विवाह करेगा। इसी प्रकार जीव अपनी महान शक्ति को भूलकर ही तो माया को अपना सहधर्मिणी बनाकर उसके अधीन होता है। माया है सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति आसक्तिरूपी कायरता। यह सिंहवत शुद्ध चेतन जीव तुच्छ विषयों का गुलाम हो जाता है। कोई तम्बाकू का गुलाम, कोई बीड़ी-सिगरेट का गुलाम, कोई गांजा-भांग का गुलाम, कोई शराब-ताड़ी का गुलाम, कोई काम-भोग का गुलाम, कोई अन्य राग-रंग का गुलाम, कोई लोभ का गुलाम, कोई ममता का गुलाम। अर्थात कहीं-न-कहीं तुच्छ वस्तुओं का यह सिंह-जीव गुलाम बना रहता है। जो सारी आसक्तियों को छोड़कर अपने आप में जग जाता है, वही मानो अपने समर्थ-सिंहस्वरूप चेतन को समझ सका है। बाक़ी तो मूलतः सिंह होकर भी गीदड़ बन गये हैं।

"मंगल गावै गाई" सिंह और बकरी के विवाह में गायें मंगल-गीत गा रही हैं। अर्थात जीव के माया में लिप्त होने पर इंद्रियां आनन्द मना रही हैं। जो जितना माया लिप्त होगा वह उतना इंद्रिय-लंपट होगा। इन सबके फल में जीव को मिलेगी चंचलता। यही मानो उसे विवाह में नीलगाय का दहेज मिलना है। बन के रोझ हैं नीलगायें। ये बड़ी चंचल एवं भागने वाली होती हैं। माया-लिप्त एवं इंद्रिय-लिप्त व्यक्ति को इस मायिक विवाह में दहेज चंचलता के अलावा क्या मिलेगा! उसका मन निरंतर भागता रहेगा।

"गोह लो कन्धे जाई" गोह विषैले जानवर हैं। वे वर-वधू के डोले को अपने कन्धे पर लेकर उन्हें उनके घर पहुंचाने लगे। संसार में ऐसे कितने धार्मिक गुरु हैं जो जनता के तरन-तारन बनते हैं। वे स्वयं राग-द्वेष एवं अनेक बुराइयों से विषधर हैं। परन्तु शिष्यों को उनकी मंजिल तक पहुंचाने की ठेकेदारी लेते हैं। ऐसे लोगों के विषय में "गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछिताना।" वाली बात याद आती है। वे स्वयं मानसिक दुखों में डूबे रहते हैं और दूसरों को प्रांजल एवं प्रशांत मोक्ष देने की जिम्मेदारी लेते हैं।

"कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते। माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाब बराते।" ये सारी बातें चंचल, कपटी एवं मलिन मन वालों पर व्यंग्य है। ऐसे-ऐसे कपटी-कुचाली एवं मलिन लोग समाज के रहबर, मार्गदर्शक, नेता, धार्मिक एवं साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। ऐसे लोग ही परिवार, समाज, देश तथा धर्म के स्वरूप को गंदा एवं लांछित करते हैं। कर्मचारी-समाज, अधिकारी-समाज, डाक्टर-समाज, वकील-समाज, राजनीतिक-समाज, शिक्षक-समाज, विद्वान-समाज, व्यापारी-समाज, गृहस्थ-समाज, विरक्त-समाज, सभी क्षेत्रों को तो ये बाहर से अपने भव्य रूप बनाने वाले भीतर से चंचल, कपटी, मलिन और धूर्त लोगों ने ही खराब किया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै। सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै।" कबीर साहेब अपनी बातें सन्तों से कहते हैं। सन्त वह है जो निश्छल और निर्मल है। वे संसार के सभी लोगों को निश्छल एवं निर्मल रूप देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति हमारे इस पद का अर्थ लगाये वही पण्डित है, ज्ञानी है और भक्त है। इस पद में कथन शैली व्यंग्यात्मक एवं उलटवांसियों से भरी है, इसीलिए इसका अर्थ करना थोड़ा कठिन है, केवल इसीलिए सद्गुरु ने ऐसा नहीं कहा है। किन्तु उनका अभिप्राय है कि जो व्यक्ति हमारे कथन के अभिप्राय को समझ ले और समझकर अपनो

विपरीत चाल को छोड़ दे, वही पण्डित, ज्ञाता तथा भक्त है। पांडित्य, ज्ञान तथा भक्ति न शब्दचातुर्य है, न चमत्कारिक अर्थ-प्रस्तुति है और न व्याख्यानवाचस्पति होना है, किन्तु सत्यासत्य समझकर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण है। विषयों की मलिनता, इन्द्रियों की लंपटता, छल, कपट तथा स्वार्थपरता का त्याग करना ही पण्डित होना है, ज्ञानी होना है तथा भक्त होना है।

सच्चा पथ जानो

शब्द—५६

नर को नहिं परतीत हमारी॥ १ ॥

झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी॥ २ ॥
षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी॥ ३ ॥
राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी॥ ४ ॥
इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी॥ ५ ॥
ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी॥ ६ ॥
इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी॥ ७ ॥
जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी॥ ८ ॥
कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी॥ ९ ॥
अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी॥१०॥

शब्दार्थ—परतीत = प्रतीत, विश्वास। बनिज = व्यापार। पूँजी = जमा, मूलधन। षट-दर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। तिरदेवा = ब्रह्मा, विष्णु, शंकर; रज, सत, तम त्रिगुणात्मक क्षेत्र। अधिकारी = शासक। राजा = पंथाचार्य। देश = संप्रदाय। परपंची = प्रपंची, धोखेबाज, छलिया। रैयत = प्रजा, रिआया। उजारी = उजाड़, वीरान, जनशून्य, ध्वस्त। इत-उत = लोक-परलोक, जन्मांतर, विचलित। यम = मन, वासना। साँड़ = सांड़िया, ऊंट। कपि = वानर। परारी = दूसरे के हाथ, वासनावश। पेड़ = मूल। सुरति = सुरत, ध्यान, याद, लक्ष्य। सँभारी = संभाल लेना, रोक लेना, संयत कर लेना।

भावार्थ—मनुष्यों को मेरी बातों पर विश्वास नहीं है।।१।। मनुष्यों ने झूठे लोगों से नकली माल का व्यापार किया है, और सब मिलकर अपनी जमा पूंजी खो चुके हैं।।२।। योगी-जंगमादि नाना सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने पंथ चला रखे हैं जिनकी सारी पहुंच वहीं तक है जहां तक तीनों गुणों का शासन है।।३।। इन पंथाचार्यों के सम्प्रदाय तो बड़े छलावापूर्ण एवं बाहरी आंडबरों से भरे हैं। ये अपनी प्रजा एवं अनुगामियों को उजाड़ एवं निष्फलक्रिया में ले जाते हैं।।४।। इनके चक्कर में पड़कर यह जीव वासनारूपी ऊंट की सवारी पर चढ़कर इधर से उधर तथा उधर से इधर एवं जन्मांतरों में भटकता रहता है।।५।। यह जीव उसी प्रकार अपने स्वरूप के अज्ञानवश अपनी खुशी से अपने आपको बंधनों में बंधाकर जगत-नगर में नाचता है जिस प्रकार चने के लोभ में पड़कर बंदर

सुराही में अपनी खुशी से हाथ डालकर मुट्ठी बांधता है और कलंदर-द्वारा रस्सी में बांधकर द्वार-द्वार नचाया जाता है ॥६॥ यह निजस्वरूप की भूल तथा विषयों का प्रलोभन ही जन्म-मरण का मूल है। विषय तो सारे ही मलिन होते हैं, वे चाहे स्थूल भोग के हों और चाहे ऋद्धि-सिद्धि एवं लोक-लोकांतरों के हों ॥७॥ परन्तु संसारी आदमी तो मानो बिना नाक के होकर उसी प्रकार विषयों में आकंठ डूबा रहता है जैसे कुत्ते गंदी वस्तुओं को खाने में खुश रहते हैं ॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान लोगों को आश्चर्यजनक लगता है, इसलिए कौन मेरी बात मानने वाला है! लेकिन यदि कोई अपने ध्यान को सम्भाल ले, अर्थात अपने को प्रपंच से हटा ले तो मैं उसे भवबंधन से छुड़ा लूंगा ॥९-१०॥

व्याख्या—"नर को नहिं परतीत हमारी" मार्मिक वचन है। कौन विश्वास करे ऐसे फक्कड़ पर जो न अपने आपको अवतार कहता है, न ईश्वर-पुत्र कहता है, न पैगम्बर कहता है, न देवता कहता है, न कोई चमत्कार दिखलाता है, न किसी खुदाई किताब की दुहाई देता है। अपनी बातें मनवाने के लिए दुनिया के लोगों को कोई झांसा तो देना चाहिए। कुछ नमक-मिर्च मिलाये बिना, कुछ झूठ बिना कौन सुनता है आवाज! खालिस ज्ञान तथा खालिस आत्मकल्याण चाहने वाले संसार में कितने हैं! अधिकतम लोग तो सांसारिक सफलता चाहते हैं, ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं, अपने किये हुए पाप एवं अपराधों का चुटकी बजाते क्षय चाहते हैं, कमल के समान सुन्दर हाथ, पैर, मुख वाले भगवान के दर्शन चाहते हैं और यदि मोक्ष चाहते हैं तो बिना कोई परिश्रम किये। तो क्या इन लाभों का उपाय है कबीर के पास! कबीर तो इन सबका खंडन करते हैं। वे खरे ज्ञान की बात करते हैं, और कहते हैं कि तुम्हें अपने श्रम से कल्याण करना होगा, तो इतना महंगा सौदा कौन पूछे! कौन करे इन पर विश्वास! जो धर्म के नाम पर एक भी झूठ नहीं बोलता, प्रत्युत सारी धार्मिक झुठाइयों की कड़ी आलोचना करता है, उसकी बात कौन सुने! धर्म के प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी गप्पें चाहिए। जो बिला सिर-पैर की बातें नहीं करेगा वह धर्मोपदेशक नहीं माना जायेगा। फिर इसके उलटे जो सारी धार्मिक गप्पबाजियों की धज्जियां उड़ाता है उसकी बातों पर कौन विश्वास करे!

"झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी।" कबीर की वही बात सामने आ गयी जो संसार को अनसुहाती लगती है। वे कहते हैं कि मनुष्यों ने झूठे लोगों से मिलकर नकली माल का व्यापार किया है और सभी अपनी-अपनी जमा पूंजी गवां दिये हैं। जिस धन से व्यापार शुरू किया जाता है वह जमा पूंजी है, मूलधन है। व्यापार करने पर धन बढ़ना चाहिए परन्तु यदि जमा पूंजी ही खो जाय तो व्यापार असफल है। मनुष्य का अपना आपा, अपनी चेतना, अपनी आत्मा ही उसकी जमा पूंजी एवं मूलधन है। अपने आपा को लेकर ही तो हम धार्मिक या आध्यात्मिक व्यापार करते हैं। अपने आपा को अलग रखने का उपाय ही नहीं है। हम अपनी आत्मा को लेकर ही धर्म के मार्ग में, अध्यात्म के मार्ग में चलते हैं। इसमें फल मिलना चाहिए भवबंधनों से छुटकारा, वासना का क्षय, विजाति जड़ दृश्यों का बंधन कटकर स्वरूपस्थिति! परंतु यदि हम धार्मिक तथा आध्यात्मिक कहलाकर अपनी आत्मा को ही भूल जायं, अपने चेतनस्वरूप का ही हमें भान न रह जाय, हम अपने आपको अंश, तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास आदि मान लें, तो

मानो हमारी पूंजी भी चली गयी। भवबंधन तो कटा नहीं, उलटे अपने आपको ही भूल बैठे। इन सबका कारण यह है कि हमने नकली माल का व्यापार करने वालों से व्यापार शुरू किया। जो गुरुजन परोक्ष मान्यता और बाह्याचार में ही उलझे हैं, जिनके पास स्वरूपविवेक है ही नहीं, उनके साथ मिलकर आध्यात्मिक व्यापार करेंगे तो हमारी जमा पूंजी तो खो जायेगी ही। "पूँजी सबन मिलि हारी" गुरु-शिष्य सब मिलकर अपना मूलधन गवां बैठे हैं। किसी को भी निजस्वरूप का ज्ञान नहीं है। सब कर्मकांड में भटक रहे हैं।

"षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी।" योगी-जंगमादि षट दर्शनियों ने अपने-अपने संप्रदाय चलाये हैं। सभी संप्रदायों से समाज को कुछ-न-कुछ सद्प्रेरणा मिलती है, यह सब मान्य है, परन्तु अन्तिम लक्ष्य को देखने से पता लगता है कि सभी सम्प्रदाय वहीं तक पहुंचते हैं जहां तक तीनों देवताओं का शासन है। तीन देवता हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। ये तो प्रतीकात्मक नाम हुए। असली मतलब है त्रिगुण। सारा भौतिक एवं मानसिक जगत रज, सत एवं तम से व्याप्त है। जहां तक सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि पाने की इच्छा है वह त्रिगुण एवं मायिक है। स्वर्ग की कल्पना है, वह भी त्रिगुण के भीतर है। किसी देवी-देवता, हाथ-पैर वाले भगवान या मन से अवधारित बाह्य ईश्वर से मिलने की इच्छा, सब त्रिगुण-शासन के भीतर है। लोकांतर में मोक्ष की कल्पना भी त्रिगुणात्मक ही है। जहां तक भौतिक जगत है और जहां तक मन चलता है सब त्रिदेव के अधिकार के भीतर है, सब त्रिगुणात्मक है। गुणातीत तो निज चेतनस्वरूप ही है। मन की सारी मान्यताओं के समाप्त होने पर यह अवस्था आती है।

"राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी।" किसी देश का राजा ऐसा हो जो धोखेबाज हो, वह अपनी प्रजा से छल-बलपूर्वक धन छीन ले और उन्हें ले जाकर जंगल या जनशून्य रेगिस्तान में बसा दे तो प्रजा का कल्याण कहां है! संसार के अनेक सम्प्रदायाचार्यों की भी यही दशा है। उनके संप्रदाय में बड़े-बड़े छल-प्रपंच हैं। धर्म के नाम पर असत्य बोलने में वे डरते ही नहीं। विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था, वस्तुपरक एवं आत्मपरक बुद्धि से उन्हें दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। कर्मकांड, आशीर्वाद एवं पूजा के बल पर जनता को सब कुछ देने का झांसा, बात-बात में देवी-देवताओं एवं भगवान की दुहाई, अपने कर्म और श्रम पर विश्वास ही नहीं। अतएव इन राजाओं के देश, इन संप्रदायाचार्यों के संप्रदाय "बड़ो परपंची" हैं। इससे सहज बात है "रैयत रहत उजारी"। यथार्थ ज्ञान एवं रहनी के बिना अनुगामीजन शून्य में भटकेंगे ही। जहां कुछ नहीं है वहां उन्होंने सब कुछ मान लिया है। निजस्वरूप-विवेक छोड़कर अपने लक्ष्य को बाहर खोजना मानो उजाड़ में भटकना है।

"इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी।" यह जीव अपने स्वरूप को न पहचानकर और अपने आप में न स्थित होकर इधर से उधर तथा उधर से इधर भटकता है। क्यों भटकता है? क्योंकि इसे यम की सांड़ सवारी मिली है। पहले जमाने में लोग दूर-दूर की यात्रा ऊंट पर करते थे। ऊंट को सांड़िया तथा ऊंटनी को सांड़िनी कहते हैं। यहां सांड़िया को ही सद्गुरु ने सांड़ कहा है। यम सांड़िया है, ऊंट है। यम है वासना। वासना बाहरी चीजों एवं बाहरी अवधारणाओं की ही होती है। कोई अपनी आत्मा में

अनुरक्त हो तो उसे भटकने की आवश्यकता ही नहीं है। भटकना तो तब होता है जब हम अपना लक्ष्य, अपना मोक्ष तथा अपना परमात्मा बाहर मानते हैं। बाहरी दृश्यों की ही वासनाएं होती हैं। वे ही जीव को लेकर भटकाती रहती हैं। जीव वासनावश संसार में यत्र-तत्र भटकता रहता है और जन्मांतरों में भी भटकता रहता है। अतएव भटकने का कारण है वासना, शांत होने का कारण है वासना का त्याग।

"ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी।" कलंदर जंगल में जाकर सुराही में चने डालकर उसे वहीं रख देता है। बंदर आता है, वह चने के लोभ से सुराही में हाथ डालकर उन्हें अपनी मुट्ठी में लेता है। इतने में कलंदर उसे पकड़ने आ जाता है। बंदर चने के लोभ से न चने से भरी मुट्ठी खोलता है न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है और कलंदर बंदर को पकड़ लेता है। फिर तो उसे डोरी में बांधकर गांव-गांव एवं द्वार-द्वार नचाता है। यह बंदर "अपनी खुशी परारी" हुआ है। अर्थात अपनी खुशी से पराये के हाथ में बंधा है। यह जीव इसी प्रकार अपने आप को खुशी से बंधाता है। इसे अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान नहीं है। यह विषयों में प्रलुब्ध हो जाता है और खुशी से अपने हाथ-पैर रंगकर अपने को बंधा लेता है। यह पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा में बड़ी खुशी से अपने आप को बांधता है। "आपन पौ आपुहि बिसर्‌यो" इस ७६वें शब्द में सद्गुरु ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यदि तुम कहते हो कि तुम्हें दूसरे ने बांध दिया है तो तुम झूठे हो। तुम्हें दूसरा कोई भी नहीं बांध सकता। हां, तुम्हें बांधने में संसार के महारथी लोग सहायक अवश्य होते हैं। लोग अपनी जेब से देकर तुम्हें तम्बाकू खाना सिखा देंगे। बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग पीना-खाना सिखा देंगे, शराब-ताड़ी पीना सिखा देंगे। चोरी, व्यभिचार, छल, छद्‌म क्या नहीं सिखा देंगे! कोई धंधा पाने के पहले तुम्हें बड़े ठाट-बाट एवं समारोह के साथ शादी में फंसा देंगे। बस, तुम थोड़ा ढील हो जाओ, तुम्हें फंसाने के लिए लोग तैयार बैठे हैं। अतएव यह सच है कि तुम्हारे बन्धनों में लोग सहयोग करने वाले हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो, तो तुम्हें सारा संसार मिलकर भी नहीं बांध सकता। बाहर के लोग तो तुम्हारी खुशी में शामिल हो जाते हैं। तुम बन्धनों में खुश न होओ तो तुम्हें कोई बांध नहीं सकता। तुम तो अपने मूढ़तावश स्वयं बन्धनों में आनन्द मानकर बंधते हो।

"इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी।" जन्म-मरण का यही मूल है। संसार में भटकने का यही कारण है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा विषयों का प्रलोभन हमें संसार में पटक देते हैं। हम अपने आपको नहीं पहचानते, इसलिए मूढ़वत विषयों में लोभते रहते हैं। विषय तो सब विकार उत्पन्न करने वाले हैं। वे चाहे स्थूल हों और चाहे सूक्ष्म। पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से भी भयंकर बंधन लोकैषणा हो जाती है। लौकिक विषयों से भी प्रबल बन्धन पारलौकिक कहे जाने वाले विषय होते हैं। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एवं मोक्ष की तलाश भी महा बन्धन है। स्वरूपज्ञान चरमज्ञान तथा स्वरूपस्थिति चरमलक्ष्य है। इसके अलावा सब कुछ विषय है, और "विषया सबै विकारी" विषय तो सभी विकारपूर्ण ही हैं।

"जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी।" कुत्ते सूखी हड्डी को बड़े चाव से चूसते हैं। और भी वे गंदी-गंदी चीजों को खाने में बहुत खुश होते हैं। यही दशा संसार में

डूबे हुए लोगों की है। जिनमें चित्त की चंचलता है, मलिनता है, क्षीणता है और इच्छाओं की वृद्धि है ऐसे भोगों में संसारी जीव डूबे रहते हैं। नीमकीट सदृश प्राणी ऐसा विषयकीट बन गया है कि उसे यह पता भी नहीं है कि इसको छोड़कर भी कोई सुख है। वस्तुतः विषयों का त्याग कर देने के बाद आत्मानुभूति का परम दिव्य सुख प्राप्त होता है, जो नित्य है। इन्द्रियजन्य सुख मलिन एवं क्षणभंगुर हैं और उनके पीछे इच्छा-वासना तथा भटकाव का प्रबल दुख है, किन्तु आत्मजनित सुख प्रशांत, अनन्त एवं निर्मल है।

"कहहिं कबीर यह अद्बुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी।" सद्गुरु कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान अद्भुत है, विलक्षण है और आश्चर्यजनक है। नयी वस्तु देखने में आश्चर्य लगता ही है। किन्तु समझ जाने के बाद कोई आश्चर्य न लगेगा। यह तो व्यक्ति का सहज स्वरूप ही है। जीव का सहज स्वरूप चेतन है और विषय उससे सर्वथा अलग हैं। अतएव विषयों को त्यागकर अपनी चेतना में स्थित होना बड़ी सहज दशा एवं स्वाभाविक बात है। परन्तु कौन मानता है मेरी इस बात को! प्रायः लोग किसी भगवान से मुलाकात करना चाहते हैं जो संभव नहीं। अपनी चेतना में नहीं रमना चाहते जो उनका सहज स्वरूप है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यदि कोई अपने ध्यान को सम्हाल ले, अपने मन को सांसारिक प्रपंच से हटाकर आत्मकेन्द्रित हो जाय, तो मैं उसे आज ही भवबन्धनों से छुड़ा लूं। मनुष्य उलटे मार्ग में जा रहा था। किसी ने बता दिया कि तुम अपनी मंजिल से विपरीत दिशा में जा रहे हो। उसे होश हो गया। उसने उधर पीठ दे दी। उसने अपनी मंजिल की ओर मुख कर लिया, तो रास्ता सीधा हो गया। अब बस चलना बाकी है। अपनी मंजिल का सही रास्ता पा जाना बहुत बड़ी बात है। यदि हमारी दिशा गलत है तो वर्षों चलने पर भी मंजिल पर नहीं पहुंच सकते, और यदि दिशा सही हो गयी, तो आज नहीं, कल, हम मंजिल पर अवश्य पहुंचेंगे। हम भागे जा रहे थे बाहर। इतने में सद्गुरु मिले और बताये कि बाहर कहां जा रहे हो! जिसे तुम खोजते हो वह स्वयं तुम्हीं हो। इतना सुनकर हम रुक गये और रुक जाने से पा गये। बाहर से कुछ पाने का भ्रम मिट गया और हमारा अपना आपा नित्य प्राप्त ही है। अतएव सद्गुरु का यह महावाक्य "अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी।" बड़ा महत्वपूर्ण है। गुरु तो टेर रहे हैं कि तुम गलत रास्ते पर जा रहे हो, परन्तु हम अपने ध्यान को सम्हालकर उसे उनकी टेर पर लगा ही नहीं रहे हैं तो कैसे विपथ से रुकें और अपनी मंजिल की ओर अभिमुख हों! यदि हम अपनी सुरत, अपना ध्यान सम्हालकर उनकी बातों की तरफ लगायेंगे तो निश्चित है हमारा कल्याण होगा।

दूसरों की सेवा और आत्म-शोधन ही हरि-भजन है

शब्द–५७

ना हरि भजसि न आदत छूटी॥ १ ॥

शब्दहि समुझि सुधारत नाहीं, आँधर भये हियहु की फूटी॥ २ ॥

पानी माहिं पषाण की रेखा, ठोंकत उठै भभूका॥ ३ ॥

सहस घड़ा नित उठि जल ढारै, फिर सूखे का सूखा॥ ४ ॥

सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढ़ु अधिकाई ॥ ५ ॥
जो सन्निपात रोगियन मारे, सो साधुन सिद्धि पाई ॥ ६ ॥
अनहद कहत-कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी ॥ ७ ॥
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी ॥ ८ ॥
सतगुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सतगुरु शब्द सुधारें ॥ ९ ॥
कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै ॥१०॥

शब्दार्थ—हरि = आत्मस्वरूप चेतन। भजसि = भजना, चिन्तन करना, सेवा करना, अपने स्वत्व को समझकर विषयों से अलग हो जाना। आदत = गलत आदत। रेखा = टुकड़ा। भभूका = आग, क्रोध। सेतहिं सेत = बाल उजले होते जाना। सितंग = अंग शिथिल होना। सैन = सोना, निद्रा, आलस्य। सन्निपात = कफ-पित्त-वात त्रिदोष से उत्पन्न उन्मादी ज्वर, तात्पर्य में काम-क्रोध-लोभ के एकत्रीकरण का उन्माद। सिद्धि = मोक्ष। अनहद = असीम। निकट पयाना = जाने का समय निकट आ गया। एकै बानी = अहंकारपूर्ण वाणी।

भावार्थ—मनुष्य न आत्मचिन्तन करता है और न उसकी गलत आदतें छूटती हैं ॥१॥ वह निर्णय शब्दों को समझकर अपने आपको सुधारता नहीं। यह मानो बाहर की आंखों से अंधा हो गया है और इसके भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूट गये हैं ॥२॥ पानी में हजारों वर्षों से भी पत्थर का टुकड़ा पड़ा हो, परन्तु उसको पानी से निकालकर यदि उसमें चोट मारी जाय तो वह आग उगलता है। इसी प्रकार मनुष्य पचास वर्षों से ज्ञान की वाणियों का पाठ करता हो परन्तु यदि उसे उसकी गलतियों के लिए टोका जाय तो वह उनका सुधार न कर क्रोधाभिभूत हो जाता है ॥३॥ पत्थर पर हजारों घड़े पानी रोज डालो, परन्तु वह पुनः सूखा-का-सूखा ही रहता है, नरम नहीं होता। इसी प्रकार कितने लोग हैं जिन्हें हजार उपदेश करो, परन्तु वे नरम न होकर अकड़े ही रह जाते हैं ॥४॥ आदमी के दिन तो बीतते ही हैं। उसके बाल उजले होते-होते एक दिन सब उजले हो जाते हैं और कुछ दिनों में उसके शरीर के सारे अंग भी शिथिल होकर दुर्बल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में तो बस केवल आलस्य-निद्रा ही अधिक बढ़ जाती है। वह जीवनभर काम, क्रोध और लोभ के सन्निपात से ग्रसित रहा, अब बुढ़ापा में क्या सुधार होगा? परंतु ध्यान रहे! जिस कामादि त्रिदोष से संसार के लोग मानसिक रोगी बनकर पतित होते हैं, उसी त्रिदोष का मार्गांतरीकरण कर, अर्थात काम को भक्ति में, क्रोध को वैराग्य में तथा लोभ को ज्ञान में बदलकर साधुजन मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥५-६॥ ज्ञान की बेहद वाणी कहते-कहते भी उनके आचरण किये बिना संसार के लोग पतित होते हैं। अनन्त ज्ञान के सूत्र तो पूरी सृष्टि में समाये हुए हैं, हमें समझना चाहिए ॥७॥ परन्तु हम कहां ध्यान देते हैं! हमारा संसार से जाने का समय निकट आता जाता है, परन्तु फिर भी हम अहंकारभरी बातें करते हैं कि हमारा यह है, हमारा वह है ॥८॥ यदि मनुष्य को सच्चे सद्गुरु मिल जायं और वह उनकी बातों पर श्रद्धा-बुद्धिपूर्वक ध्यान दे तो उसे बहुत सुख मिलेगा। क्योंकि सद्गुरु शब्द-सुधार करते हैं। वे मिलित शब्दों का नीर-क्षीर विवेक कर

सही रास्ता बताते हैं।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग सदैव के लिए सुखी होंगे जो इस पद का विचारकर इसके आचरण करेंगे।।१०।।

व्याख्या—"ना हरि भजसि न आदत छूटी" हम पीछे ३४ वें शब्द की व्याख्या में हरि शब्द पर ऐतिहासिक विचार कर लिये हैं। ईस्वी सन् की शुरुआत में ही हरि विष्णुपरक शब्द हो गया था तथा उसके बाद वह ईश्वरपरक एवं आत्मपरक हो गया। मान लो हरि का अर्थ ईश्वर है, तो हमें यह विचार करना पड़ेगा कि उसका स्वरूप क्या है और उसका भजन कैसे करना चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि हरि भीतर भी है और बाहर भी है। हमें इस कथन को परख की कसौटी में कसना चाहिए। सबके शरीर के भीतर एक चेतना एवं ज्ञान-ज्योति है जो मैं के रूप में विद्यमान है। एक शरीर में दो चेतन की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव भीतर का हरि अपनी चेतना, आत्मा एवं जीव ही है। इसके अलावा भीतर कोई दूसरा हरि नहीं है। अब बाहर के हरि पर विचार कर लें।

यह मानना कि इस समस्त जड़ ब्रह्मांड में एक चेतन हरि व्याप्त है और वही ब्रह्मांड की सारी क्रिया करता है, एक असमीक्षात्मक दृष्टि है। इस दृष्टि के मूल में है पूर्वग्रह और जड़तत्वों के शाश्वत नियमों का अज्ञान। हम विश्वसत्ता के नियमों को जानना भी नहीं चाहते, क्योंकि हमें भय है कि इससे हमारा सर्वव्याप्त ईश्वर उड़ जायेगा। परन्तु इस जड़ प्रकृति एवं ब्रह्मांड के भीतर किसी चेतन ईश्वर के रूप में नियामक को खोजना भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। हमें प्रकृति-सत्ता के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सर्वत्रव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ नियामक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, चोरी, हत्या, व्यभिचार, डाकाजनी, कत्ल, ईश्वर के नाम पर सामूहिक कत्ल, आतंकवाद तथा हजारों-हजारों अव्यवस्था नहीं होने देता। एक अल्पज्ञ एवं असमर्थ सज्जन आदमी भी सुव्यवस्था चाहता है। फिर सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सब जगह मौजूद ईश्वर ही सुव्यवस्था न चाहे यह बात गलत है। अतएव भावुकतापूर्ण हरि की व्याख्या "श्रद्धधानेषु शोभते" केवल श्रद्धालुओं को शोभा देती है, विवेकियों को नहीं। फिर उसका हम भजन भी कैसे कर सकते हैं जिसका साक्षात्कार होना कभी संभव ही नहीं है। यदि कहा जाय कि विश्व के नियम ही दूसरे शब्दों में ईश्वर के नियम हैं, तो फिर विश्व के नियमों का पालन करना ही उसका भजन या उसकी सेवा होगी। इसके अलावा कुछ नहीं।

वस्तुतः हमसे बाहर जो यह प्राणियों का समूह है यही बाहर का हरि है। एक व्यक्ति व्यष्टि तथा सभी व्यक्तियों का समूह समष्टि कहलाता है। जन भाषा है "पंचपरमेश्वर।" अतएव हर व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा भीतर का हरि है और उससे बाहर प्राणिजगत बाहर का हरि है।

अब थोड़ा भजन पर विचार कर लें। विद्वानों ने भजन का मुख्य अर्थ सेवा माना है, दूसरा अर्थ स्मरण-चिन्तन। भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी किया गया है।[1]

---

१. वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी कोश में 'भज्', के अर्थ—हिस्से करना, वितरित करना, निर्दिष्ट करना, अनुभाजन करना, किसी के लिए प्राप्त करना, हिस्सा लेना, स्वीकार करना, आश्रय लेना, समर्पण करना, पहुंच रखना, अभ्यास करना, अनुगमन करना, पालन

सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढु अधिकाई॥ ५ ॥
जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई॥ ६ ॥
अनहद कहत-कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी॥ ७ ॥
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी॥ ८ ॥
सतगुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सतगुरु शब्द सुधारें॥ ९ ॥
कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै॥१०॥

शब्दार्थ—हरि = आत्मस्वरूप चेतन। भजसि = भजना, चिन्तन करना, सेवा करना, अपने स्वत्व को समझकर विषयों से अलग हो जाना। आदत = गलत आदत। रेखा = टुकड़ा। भभूका = आग, क्रोध। सेतहिं सेत = बाल उजले होते जाना। सितंग = अंग शिथिल होना। सैन = सोना, निद्रा, आलस्य। सन्निपात = कफ-पित्त-वात त्रिदोष से उत्पन्न उन्मादी ज्वर, तात्पर्य में काम-क्रोध-लोभ के एकत्रीकरण का उन्माद। सिद्धि = मोक्ष। अनहद = असीम। निकट पयाना = जाने का समय निकट आ गया। एकै बानी = अहंकारपूर्ण वाणी।

भावार्थ—मनुष्य न आत्मचिन्तन करता है और न उसकी गलत आदतें छूटती हैं॥१॥ वह निर्णय शब्दों को समझकर अपने आपको सुधारता नहीं। यह मानो बाहर की आंखों से अंधा हो गया है और इसके भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूट गये हैं॥२॥ पानी में हजारों वर्षों से भी पत्थर का टुकड़ा पड़ा हो, परन्तु उसको पानी से निकालकर यदि उसमें चोट मारी जाय तो वह आग उगलता है। इसी प्रकार मनुष्य पचास वर्षों से ज्ञान की वाणियों का पाठ करता हो परन्तु यदि उसे उसकी गलतियों के लिए टोका जाय तो वह उनका सुधार न कर क्रोधाभिभूत हो जाता है॥३॥ पत्थर पर हजारों घड़े पानी रोज डालो, परन्तु वह पुनः सूखा-का-सूखा ही रहता है, नरम नहीं होता। इसी प्रकार कितने लोग हैं जिन्हें हजार उपदेश करो, परन्तु वे नरम न होकर अकड़े ही रह जाते हैं॥४॥ आदमी के दिन तो बीतते ही हैं। उसके बाल उजले होते-होते एक दिन सब उजले हो जाते हैं और कुछ दिनों में उसके शरीर के सारे अंग भी शिथिल होकर दुर्बल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में तो बस केवल आलस्य-निद्रा ही अधिक बढ़ जाती है। वह जीवनभर काम, क्रोध और लोभ के सन्निपात से ग्रसित रहा, अब बुढ़ापा में क्या सुधार होगा? परंतु ध्यान रहे! जिस कामादि त्रिदोष से संसार के लोग मानसिक रोगी बनकर पतित होते हैं, उसी त्रिदोष का मार्गांतरीकरण कर, अर्थात काम को भक्ति में, क्रोध को वैराग्य में तथा लोभ को ज्ञान में बदलकर साधुजन मोक्ष प्राप्त करते हैं॥५-६॥ ज्ञान की बेहद वाणी कहते-कहते भी उनके आचरण किये बिना संसार के लोग पतित होते हैं। अनन्त ज्ञान के सूत्र तो पूरी सृष्टि में समाये हुए हैं, हमें समझना चाहिए॥७॥ परन्तु हम कहां ध्यान देते हैं! हमारा संसार से जाने का समय निकट आता जाता है, परन्तु फिर भी हम अहंकारभरी बातें करते हैं कि हमारा यह है, हमारा वह है॥८॥ यदि मनुष्य को सच्चे सद्गुरु मिल जायं और वह उनकी बातों पर श्रद्धा-बुद्धिपूर्वक ध्यान दे तो उसे बहुत सुख मिलेगा। क्योंकि सद्गुरु शब्द-सुधार करते हैं। वे मिलित शब्दों का नीर-क्षीर विवेक कर

सही रास्ता बताते हैं।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग सदैव के लिए सुखी होंगे जो इस पद का विचारकर इसके आचरण करेंगे।।१०।।

व्याख्या—"ना हरि भजसि न आदत छूटी" हम पीछे ३४ वें शब्द की व्याख्या में हरि शब्द पर ऐतिहासिक विचार कर लिये हैं। ईस्वी सन् की शुरुआत में ही हरि विष्णुपरक शब्द हो गया था तथा उसके बाद वह ईश्वरपरक एवं आत्मपरक हो गया। मान लो हरि का अर्थ ईश्वर है, तो हमें यह विचार करना पड़ेगा कि उसका स्वरूप क्या है और उसका भजन कैसे करना चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि हरि भीतर भी है और बाहर भी है। हमें इस कथन को परख की कसौटी में कसना चाहिए। सबके शरीर के भीतर एक चेतना एवं ज्ञान-ज्योति है जो मैं के रूप में विद्यमान है। एक शरीर में दो चेतन की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव भीतर का हरि अपनी चेतना, आत्मा एवं जीव ही है। इसके अलावा भीतर कोई दूसरा हरि नहीं है। अब बाहर के हरि पर विचार कर लें।

यह मानना कि इस समस्त जड़ ब्रह्मांड में एक चेतन हरि व्याप्त है और वही ब्रह्मांड की सारी क्रिया करता है, एक असमीक्षात्मक दृष्टि है। इस दृष्टि के मूल में है पूर्वग्रह और जड़तत्वों के शाश्वत नियमों का अज्ञान। हम विश्वसत्ता के नियमों को जानना भी नहीं चाहते, क्योंकि हमें भय है कि इससे हमारा सर्वव्याप्त ईश्वर उड़ जायेगा। परन्तु इस जड़ प्रकृति एवं ब्रह्मांड के भीतर किसी चेतन ईश्वर के रूप में नियामक को खोजना भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। हमें प्रकृति-सत्ता के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सर्वत्रव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ नियामक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, चोरी, हत्या, व्यभिचार, डाकाजनी, कत्ल, ईश्वर के नाम पर सामूहिक कत्ल, आतंकवाद तथा हजारों-हजारों अव्यवस्था नहीं होने देता। एक अल्पज्ञ एवं असमर्थ सज्जन आदमी भी सुव्यवस्था चाहता है। फिर सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सब जगह मौजूद ईश्वर ही सुव्यवस्था न चाहे यह बात गलत है। अतएव भावुकतापूर्ण हरि की व्याख्या "श्रद्धधानेषु शोभते" केवल श्रद्धालुओं को शोभा देती है, विवेकियों को नहीं। फिर उसका हम भजन भी कैसे कर सकते हैं जिसका साक्षात्कार होना कभी संभव ही नहीं है। यदि कहा जाय कि विश्व के नियम ही दूसरे शब्दों में ईश्वर के नियम हैं, तो फिर विश्व के नियमों का पालन करना ही उसका भजन या उसकी सेवा होगी। इसके अलावा कुछ नहीं।

वस्तुतः हमसे बाहर जो यह प्राणियों का समूह है यही बाहर का हरि है। एक व्यक्ति व्यष्टि तथा सभी व्यक्तियों का समूह समष्टि कहलाता है। जन भाषा है "पंचपरमेश्वर।" अतएव हर व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा भीतर का हरि है और उससे बाहर प्राणिजगत बाहर का हरि है।

अब थोड़ा भजन पर विचार कर लें। विद्वानों ने भजन का मुख्य अर्थ सेवा माना है, दूसरा अर्थ स्मरण-चिन्तन। भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी किया गया है।[1]

---

१. वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी कोश में 'भज्', के अर्थ—हिस्से करना, वितरित करना, निर्दिष्ट करना, अनुभाजन करना, किसी के लिए प्राप्त करना, हिस्सा लेना, स्वीकार करना, आश्रय लेना, समर्पण करना, पहुंच रखना, अभ्यास करना, अनुगमन करना, पालन

अतएव हमें भजन में क्या करना चाहिए? सेवा, स्मरण, स्वत्वबोध एवं विभाजन करना चाहिए। जो हरि बाहर है उसकी सेवा तथा जो भीतर है उसका चिन्तन, उसको ही अपना स्वत्व समझना तथा उसे जड़ प्रकृति से विभक्त कर लेना ही भजन है। हम प्राणिसमूह रूपी हरि की सेवा करें। हमारी शक्ति सीमित होने से हम सबकी सेवा तो नहीं कर सकते, परंतु सेवा का भाव रख सकते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार सेवा कर सकते हैं। जो लोग कहते हैं कि ईश्वर की सेवा करनी चाहिए वे प्राणियों की सेवा से हटकर कौन-से ईश्वर की सेवा करेंगे! क्या पत्थर की पिंडी को नहलाना! इसीलिए समझदार लोग प्राणि-सेवा को ही ईश्वर-सेवा एवं हरि-सेवा मानते हैं। प्राणियों के अलावा ईश्वर एवं हरि का कोई प्रत्यक्ष स्वरूप भी नहीं हो सकता।

दूसरा भजन भीतरी हरि का है जो मेरी अपनी आत्मा है। आत्मचिंतन ही भीतरी हरि का भजन है। यह सब समय बोध होना कि मेरा स्वत्व, मेरा अधिकार मेरी आत्मा पर ही है, मैं ही मेरा हूं और ऐसा समझकर अपने चेतनस्वरूप को समस्त जड़ वर्ग से अलग कर लेना सच्चा हरि-भजन है। आत्मचिन्तन रूपी हरि-भजन से ही गलत आदतें छूट सकती हैं। आत्मचिन्तन का अंतिम अर्थ तो अपने शुद्ध चेतन का स्मरण ही है, परंतु उसका एक अर्थ है अपने पूरे व्यक्तित्व का चिन्तन। अर्थात जीव और देह के संयुक्त जो यह व्यक्तित्व है इसके विषय में निरख-परख, जैसे मेरे में कितनी बुरी आदतें अवशेष हैं, कितनी छूट गयी हैं, बुरी आदतें बढ़ रही हैं कि घट रही हैं, इत्यादि। सद्गुरु ने इस शब्द की शुरुआत ही में कहा है "ना हरि भजसि न आदत छूटी" बुरी आदतें तभी छूट सकती हैं जब व्यक्ति आत्मचिन्तन रूपी हरि-भजन करे। जिसे अपने आपके विषय में होश-हवास ही नहीं है, उसकी गलत आदतें कैसे छूट सकती हैं! सद्गुरु इसी पर आगे पूरा शब्द कहते हैं।

"शब्दहि समुझि सुधारत नाहीं, आँधर भये हियहु की फूटी।" मनुष्य निर्णय के शब्दों को, पहली बात, सुनना ही नहीं चाहता, यदि सुन ले तो समझना नहीं चाहता और यदि समझ भी ले तो उस ढंग से अपने आप का सुधार करना नहीं चाहता। इसीलिए साहेब उस पर खीजकर कहते हैं कि यह मनुष्य मानो बाहर का अन्धा है और भीतर का भी। बाहर के दो चर्म-चक्षु हैं, वे नष्ट हो गये हैं। क्योंकि वह आंखों से सब कुछ नश्वर देखते हुए भी संसार से सावधान नहीं होता। और उसके भीतर के विवेक-विचार नेत्र भी फूटे हैं क्योंकि वह यह नहीं समझता कि जो मिला है वह छूटेगा, जिसका संयोग हुआ उसका वियोग होगा, यह संसार का स्वभाव है।

आदमी ज्ञान की बातें जानता है। वह खूब ग्रंथों को पढ़ता है। उसे बहुत ग्रन्थ, दोहा, शब्द, श्लोक, दृष्टांत याद हैं। उसे अवसर दो तो वह लोगों के बीच में निचोड़कर सार-सिद्धांत कह देगा, परन्तु अपने जीवन में उन बातों के आचरण की जगह पर वह कोरा-

---

करना, उपभोग करना, अधिकृत करना, रखना, भोगना, अनुभव करना, मनोरंजन करना, सेवा करना, आराधना करना, सत्कार करना, पूजा करना, छांटना, चुनना, पसंद करना, स्वीकार करना, शारीरिक सुखोपभोग करना, अनुरक्त होना, भक्त बनना, अधिकार में करना, भाग्य में पड़ना आदि किये हैं, जो नाना ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं प्रमाणित हैं।

का-कोरा रहता है। यदि उसे सुझाव दो कि तुम ज्ञान की बातें इतनी-इतनी जानते हो तो अपने आचरणों को क्यों नहीं सुधारते, तो वह इतना सुनकर क्रोध में लाल हो जायेगा। इसी बात को समझाने के लिए सद्गुरु इस शब्द में दो महत्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। पत्थर का टुकड़ा बहुत दिनों से पानी में पड़ा है। उसे निकालकर ठोंको, तो उसमें आग निकलेगी। बहुत दिनों तक पानी में रहने पर भी उसके आग का स्वभाव गया नहीं। दूसरा उदाहरण है कि अपने दरवाजे पर एक पत्थर रख लो। उस पर रोज एक हजार घड़ा पानी डाला करो और पानी डालकर जरा उसे उंगली से दबाकर देखो कि वह कुछ नरम हुआ है कि नहीं, तो देखोगे वह ज्यों-का-त्यों कठोर है। केवल कथक्कड़ी ज्ञानी की यही दशा रहती है। कितने भजनोपदेशक एवं प्रवक्ता को देखोगे कि उनका मुंह चूल्हा बना रहता है। वे उसमें पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट सब कुछ जा-बेजा खोसते रहेंगे। कितने लोग स्त्री और बाल-बच्चों वाले हैं, परन्तु वे साधु का वेष बनाकर महीनों दूर तक घूमते रहते हैं, लोगों को उपदेश कर धनार्जन करते रहते हैं और वह सब घर में लाकर परिवार पोषते रहते हैं। कितने ज्ञानी नामधारियों में दूसरे-तीसरे प्रकार की हठधर्मिता रहती है। कहने का सार यह है कि वे जानेंगे बहुत, परन्तु रहेंगे कोरे-के-कोरे, और सुझाव देने पर रुष्ट होंगे।

"सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढ़ु अधिकाई।" आदमी असावधानी में ही जीवन का समय बिता देता है। वह अपनी जवानी एवं स्वस्थ-अवस्था को विषय-भोग, राग-द्वेष एवं प्रपंच में नष्ट कर देता है। धीरे-धीरे उसके बाल पकने शुरू होते हैं। जब उसकी मूंछों में इक्के-दुक्के बाल पकते हैं तब उन्हें उखाड़कर फेंक देता है। जब कई पकने लगते हैं, तब कैंची से काट देता है और जब ज्यादा पकने लगते हैं तब खिजाब लगाकर काला बनाना चाहता है। परन्तु बाल बढ़ने पर नीचे से उजले ही निकलते हैं और वे साक्षी देते हैं कि हम पक गये हैं। इस प्रकार बाल श्वेत होते-होते उसके शरीर के अंग शिथिल हो जाते हैं। आंखों पर चश्मा लग जाता है, दांत उखड़ने लगते हैं। हाथ-मुंह में सर्वत्र झुर्रियां पड़ जाती हैं और मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं। देखते-देखते वह कुछ दिनों में अति बूढ़ा हो जाता है, फिर तो "सैन बाढ़ु अधिकाई" उसका आलस्य-नींद में पड़ा रहना ही अधिक होता है। ऐसी अवस्था में न तो उसके पास लोग बैठना चाहते हैं और न उससे बात करना चाहते हैं। वह जीवन भर के किये-धरे संस्कारों में ऊबता-डूबता रहता है।

"जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" कफ, पित्त और वात जब तीनों नाड़ियां इकट्ठी होती हैं तब मनुष्य को सन्निपात ज्वर होता है। वह उस अवस्था में विक्षिप्त हो जाता है, उठकर भागना चाहता है, अन्यथा बातें करता है तथा बहुत पीड़ित होता है। मानसिक संताप इससे भी भयंकर है। काम, क्रोध तथा लोभ में से केवल एक जब प्रबल होता है तब उतने मात्र से आदमी पागल हो जाता है। देखते नहीं, काम के वश होकर आदमी मर्यादाविहीन होकर अपना पतन करता है और समाज में लज्जित होता है। इसी प्रकार क्रोध और लोभ में पड़कर न जाने कैसे-कैसे कर्म इनसान कर डालता है। उनका परिणाम भीतर मन से तथा बाहर समाज से, इतना ही नहीं, राजदंड से भी भुगतता है। यदि तीनों इकट्ठे हो जायं तो क्या पूछना! जिसके जीवन में काम, क्रोध

तथा लोभ ये तीनों प्रबल हैं वह यहां सन्निपात से पीड़ित है। संसार के लोग इस सन्निपात से अत्यन्त रोगी होकर मरते हैं। कम-बेश सारा संसार मानो इस सन्निपात से ग्रसित होकर बिलबिला रहा है।

सद्गुरु इस पंक्ति में एक बात बहुत मार्के की कहते हैं। वे कहते हैं कि जिस मानसिक सन्निपात से, जिस काम, क्रोध तथा लोभ के प्रभाव से संसारी आदमी पतित होते हैं, उन्हें ही साधुजन दूसरे मार्ग में बदल देते हैं और उनके द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं। शक्ति का दुरुपयोग पतनकारक है तथा सदुपयोग कल्याणकारक। विष को शोधकर उसकी औषध बन जाती है और वह प्राण बचाने वाला हो जाता है, परन्तु अन्न अमृत है, उसका दुरुपयोग करने से, अधिक खाने से वह जहर बन जाता है। हर वस्तु का सदुपयोग हितकर तथा दुरुपयोग अहितकर है।

साधु पुरुष काम को भक्ति के रूप में मोड़ देते हैं, क्रोध को वैराग्य की तरफ तथा लोभ को ज्ञान की तरफ। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कहा है कि हर मनुष्य के मन में "लिबिडो" होता है, जिसे हम अपनी भाषा में एषणा कह सकते हैं। काम एषणा है। काम एक रागात्मिका वृत्ति है। जब यह वृत्ति विषयों की तरफ लगती है तब इसे काम कहते हैं, परन्तु जब इष्ट एवं गुरु की तरफ लगती है तब यह भक्ति बन जाती है। मन का विषयों की तरफ आकर्षण ही तो काम है, परन्तु यदि इष्ट की तरफ एवं गुरु-संतों की सेवा-उपासना की तरफ मन का आकर्षण हो जाय तो यह भक्ति बन जायेगा। दमित वासना ही भक्ति, उपासना, सेवा, काव्य, कला आदि के रूप में फूटकर निकल आती है। अतएव साधक एवं साधु के जीवन में काम दमित होकर भक्ति बन जाता है।

क्रोध एक मनोविकार है जो किसी-द्वारा हमारे प्रतिकूल घटना होने पर मन में उठता है। हमें क्रोध सदैव प्राणियों पर ही होता है और उसमें भी ज्यादातर मनुष्यों तथा स्वजनों पर। साधुजन अपनी क्रोधवृत्ति को प्राणियों पर से लौटाकर अपने दोषों पर करने लगते हैं। साधु किसी प्राणी पर क्रोध नहीं करता, किन्तु अपने दोषों, गलत आदतों एवं कमजोरियों पर करता है। इसलिए उसका क्रोध उसके कल्याण में सहायक बन जाता है। इसी प्रकार वह अपनी लोभवृत्ति को पदार्थों पर से हटाकर ज्ञान पर करता है। साधु भौतिक पदार्थों एवं धन का लोभी नहीं होता। वह ज्ञान का लोभी होता है। वह चाहता है मुझे ऐसा ज्ञान मिले जिससे मैं भवबन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाऊं। एक राजा ने एक संत से कहा था कि महाराज, आप महान त्यागी हैं। संत ने कहा था कि मैं तो महालोभी हूं। महान त्यागी तो तुम हो। इस पर राजा ने स्पष्टीकरण मांगा। महात्मा ने कहा कि तुम ज्ञानधन जो महान है उसे छोड़कर तुच्छ धन सांसारिक पदार्थों में ही संतुष्ट हो, इसलिए तुम महान त्यागी हो, और मैं तो तुच्छ सांसारिक धन का त्यागकर महान धन ज्ञान का लोभी हूं। इसलिए मैं त्यागी नहीं, लोभी हूं। अतएव साधु अपनी लोभवृत्ति को सांसारिक धन एवं पदार्थों से हटाकर ज्ञान पर करता है। वह ज्ञान का संचय कर कृतार्थ हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" जिन काम, क्रोध तथा लोभ के सन्निपात से संसार के लोग पतित होते हैं उन्हीं को साधु शोधकर उनका कल्याण-मार्ग में उपयोग करते हैं।

"अनहद कहत-कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी।" लोग ज्ञान की अनहद वाणी कहते हैं। अनहद का अर्थ है सीमातीत। लोग इतना ज्ञान जानते हैं कि यदि उनसे पूछो तो तुम सुनने में घबरा जाओगे, परन्तु वे कहने में नहीं घबरायेंगे। परन्तु यदि ज्ञान का बेहद व्याख्यान करते-करते भी संसार की मलिनता में ही डूबना है तो उस ज्ञान का क्या मतलब! इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि मनुष्य बेहद ज्ञान कहते-कहते आचरण के बिना विनशता है। विचारकर देखें तो सृष्टि में तो अनंत ज्ञान समाया हुआ है। ज्ञान के असंख्य सूत्र सत्तात्मक संसार में मिलेंगे। आदमी को आंखें तथा विवेक होना चाहिए, उसके चारों ओर ज्ञान के सूत्र फैले हैं। यह प्रकृति, यह विश्वसत्ता ज्ञान की खुली किताब है। इसी से तो लेकर कागज की सारी किताबें बनी हैं। असली किताब तो यह जड़-चेतनात्मक संसार है। कागज की किताब तो उसकी एक प्रतिकृति एवं प्रतिबिम्ब है। यह ठीक है कि साधारण लोग विश्वसत्ता से उतना ज्ञान नहीं ग्रहण कर पाते, अपितु कागज की किताबों से ज्यादा ग्रहण कर सकते हैं। सार तो यहां यह है कि हम बेहद ज्ञान जानते और कहते हैं, परन्तु सांसारिकता में ही पतित होते रहते हैं तो ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने किताबीज्ञान का क्या गर्व करते हो! अनंत ज्ञान तो सृष्टि में समाया है। उसकी केवल थोड़ी छाया किताबीज्ञान लेकर तुम अहंकार करते हो। ज्ञान का अर्थ है उसका आचरण होना।

"निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी।" शास्त्रज्ञान का बोझा ढोते-ढोते संसार से पयान करने का समय निकट आता जाता है। हम रोज मौत के पास सरकते जाते हैं, लेकिन हमारी संसार की गरमी नहीं जाती। हम एक ही वाणी बोलते हैं—"हम बड़े विद्वान हैं, धनवान हैं, बलवान हैं, सबसे बड़े पूज्य हैं, हमारे पास इतने-इतने प्राणी-पदार्थ या विद्या है।" हमारा अहंकार नहीं जाता, और एक दिन अचानक काल आकर सब कुछ को समाप्त कर देता है। "बोलै एकै बानी" का मतलब है अहंकार की वाणी बोलना।

"सद्‌गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सद्‌गुरु शब्द सुधारें।" सच्चे सद्‌गुरु का मिलना जीवन की बहुत बड़ी सुखद घटना है। हम धर्मशास्त्रों के नाम पर बहुत वाणियों को पढ़ते-सुनते हैं, परन्तु स्वयं परख न होने से उनमें दिग्भ्रमित बने भटकते रहते हैं। यह पारखी सद्‌गुरु की महिमा है कि वे जब मिल जाते हैं तब परख की ऐसी कसौटी देते हैं जिससे हम सारासार का निर्णय कर सकें।

"सद्‌गुरु शब्द सुधारें" सद्‌गुरु शब्दों का सुधार करते हैं। वे रोचक, भयानक तथा यथार्थ की मिलित वाणियों में से यथार्थ को निकालकर सत्य वस्तु दर्शा देते हैं और यह भी बता देते हैं कि यह-यह बातें धर्म, अध्यात्म एवं भगवान के नाम पर चलाया गया जाल है। पारखी सद्‌गुरु बतलाते हैं कि सारी वाणियां जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता की व्याख्या करती हैं। इसमें यह ध्यान रहे कि किसी वाणी के वैसा कहने से विश्वसत्ता वैसी नहीं होती, किन्तु विश्वसत्ता जैसी है वैसा कहने वाली वाणी ही सही मानी जा सकती है। अर्थात किसी शास्त्र की वाणी स्वतः प्रमाण नहीं होती, किन्तु यदि जिस तरह विश्वसत्ता के नियम हैं वैसा ही वर्णन वाणी करती है तो वह प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण नहीं है, विश्वसत्ता प्रमाण है। विश्वसत्ता को पढ़ो कि उसके नियम क्या हैं, संसार के कारण-कार्य की

व्यवस्था कैसी है! फिर उससे शास्त्रों की वाणियों को कसो। जो संसार के नियमों के अनुसार हों, उन्हीं वाणियों को मानो, शेष छोड़ो। इस प्रकार पारखी सद्गुरु यथार्थ ज्ञान देकर जीव को निर्भ्रांत कर देते हैं। फिर जीव अनंत सुख का भागी होता है "सद्गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये" वह व्यक्ति धन्य है जिसको सच्चे सद्गुरु मिल गये। सच्चा सद्गुरु का पाना ही मानो अनंत सुख का द्वार पा जाना है। बस, हमें उनके ज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

"कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै।" सद्गुरु कहते हैं कि वह अनंत सुख पायेगा एवं अनंत काल के लिए सुखी हो जायेगा जो इस पद का विचार करेगा, और इन विचारों को जीवन में उतार लेगा।

मनोविकारों की दावाग्नि बुझाओ

शब्द–५८

नरहरि लागि दौं बिकार बिनु इन्धन, मिले न बुझावनहारा॥ १ ॥
मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा॥ २ ॥
पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी॥ ३ ॥
एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी॥ ४ ॥
शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा॥ ५ ॥
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥ ६ ॥
कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा॥ ७ ॥
करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा॥ ८ ॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई॥ ९ ॥
कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई॥१०॥

शब्दार्थ—हरि = ज्ञान, निजस्वरूप। दौं = दौ, दव, वनाग्नि, आग, संताप। बुझावनहारा = सद्गुरु। अंकुर = अंश। एक = वासना। नौ नारी = नौ[1] नाड़ियों से ग्रथित शरीर। शहर = हृदय। पहरू = साधक। पुरिया = पुड़िया, गठरी, वासना की ग्रन्थि। वस्तु निज = जीव का निजस्वरूप चेतन। विकल = अशांत। राम = जीव। रंग = भाव। कुबजा = कुबड़ा, नपुंसक। सरधा = श्रद्धा, वासना। खीसे = क्षीण। असाधा = असंयत, साधना-रहित।

भावार्थ—हे मनुष्य! आत्मज्ञान में लग। तेरे भीतर तो मनोविकारों की दावाग्नि लगी हुई है, जिसमें कोई बाहरी इंधन नहीं है। इस दावाग्नि को बुझाने वाले सद्गुरु तुम्हें नहीं मिले॥१॥ हे मनुष्य! मैं अच्छी तरह जानता हूं कि यह आग तुम्हारी ही भूल से लगी है। सारा संसार अपनी-अपनी आग में जल रहा है॥२॥ गरम पानी में अग्नि का अंश रहता

---

१. पीछे २८वें शब्द के शब्दार्थ में देखें।

है, परन्तु वह पानी जलती हुई आग को बुझा देता है। इसी प्रकार तुम भले ही कामादि तापों में पीड़ित हो, परन्तु तुम्हीं गुरु-द्वारा यथार्थ दृष्टि पाकर इस ताप को बुझा सकते हो, क्योंकि तुम्हारा मौलिक स्वरूप शीतल है।।३।। लोगों के मन की वासना नहीं जलती, केवल नौ नाड़ियों से ग्रथित काया जलती है तो इससे क्या कल्याण होगा! कोई यह युक्ति नहीं जानता कि काया जलने के पहले वासनाएं जला देनी चाहिए।।४।। जैसे किसी शहर में आग लगी हो और पहरेदार सुख से सो रहे हों। जब पहरेदारों को कोई चेतावनी दे, तो वे कहें कि हमारा शहर तो सकुशल है। यही दशा असावधान साधक की है। उसका हृदय कामादि तापों में जल रहा है, किन्तु वह कहता है कि मेरे घर का कुशल है, भजन हो रहा है।।५।। यदि गठरी जल जाय तो उसमें रही हुई अपनी वस्तु बच जाय अर्थात यदि वासना जल जाय तो निजात्म तत्व का उद्धार हो जाय। हे राम! तेरी भावनाएं अशांत हैं। अर्थात मनुष्य वासनाओं के कारण उद्विग्न है।।६।। किसी युवती को नपुंसक पुरुष मिल गया हो तो उसके मन की साध जैसे पूरी नहीं होती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं की उपासना से साधक को अखंड तृप्ति नहीं मिल सकती।।७।। अतएव साधक साधना एवं परमशांति के विचार ही करता रह गया और उसकी जिंदगी घिस गयी, वह बूढ़ा हो गया, अन्ततः यह जीवन साधनाहीन असंयत ही रह गया।।८।। जो लोग ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी विषयों में डूबे रहते हैं वे जान-बूझकर अपने आपके साथ छलावा करते हैं। ऐसे लोगों के समान कोई अन्य मूर्ख न होगा।।९।। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे मूढ़ का कल्याण किस प्रकार हो सकता है! ।।१०।।

व्याख्या—सद्गुरु इस शब्द में मनुष्यों को पहला आदेश देते हैं 'हे नर! तू हरि में लग!' हरि है ज्ञान, हरि है निजस्वरूप। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको पहचाने और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! देख, तेरे भीतर बिना इंधन के दावाग्नि लगी है। दव कहते हैं जंगल को और उसमें लगी हुई आग को दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र से भी दावाग्नि का अर्थ प्रकट हो जाता है। जंगल में आग लगती है तो उसमें लकड़ी, पत्ते, कोयला आदि इंधन रहते हैं। अन्य प्रकार से भी आग लगने पर तेल, पेट्रोल आदि इंधन होते ही हैं। परन्तु जो दावाग्नि मनुष्य के भीतर लगी है, उसमें अन्य कोई इंधन नहीं है। उसमें तो केवल मनोविकार हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, तृष्णा, चिंता, शोक, विकलता आदि की आग है। दावाग्नि जब लगती है, तब उसमें रहने वाले जीव उसी में घिरकर जल मरते हैं। कदाचित कोई जानवर उससे भागकर निकल भी सकता है, परन्तु मन के भीतर लगी हुई दावाग्नि से बचने के लिए भागकर काम नहीं बनता। मनुष्य चाहे जहां भागकर जाय वहीं उसके भीतर वह दावाग्नि जलती रहती है, क्योंकि वह तो मनोविकारों की आग है। मन तो सदैव मनुष्य के साथ ही रहता है। जब तक मन शुद्ध न किया जायेगा तब तक मानसिक दावाग्नि से बचने का कोई साधन नहीं है।

स्थान परिवर्तन से मन में एकाएक थोड़ा परिवर्तन लगता है, परन्तु वह क्षणिक होता है। जब तक चित्त शुद्ध न कर लिया जाय, तब तक आदमी चाहे कहीं भी चला जाय, वह वहीं जलता रहेगा। तीर्थों में जाय, मंदिरों में निवास करे, जंगलों-पर्वतों में रहने लगे,

परन्तु कोई स्थायी अन्तर नहीं आयेगा। वह देवी-देवता पूजे, ईश्वर-ईश्वर पुकारे या कुछ भी करे, चित्त शुद्ध किये बिना उसकी मानसिक दावाग्नि ठंडी नहीं होगी। आप देखते नहीं हैं कि सारे अपराध तीर्थों एवं मंदिरों में होते हैं। कितने देवता और ईश्वर वाले तथा धार्मिक वेषधारी भी राग-द्वेष की आग में जलते हैं। अतएव स्थान-परिवर्तन और बाह्याचार ज्यादा काम नहीं करेगा। इस मन की दावाग्नि को तो चित्तशुद्धि से ही बुझाया जा सकता है।

"मिले न बुझावनंहारा" कबीर साहेब कहते हैं कि इस आग को बुझाने वाले सद्गुरु हैं। वे तुम्हें नहीं मिले। इसलिए तुम आज पर्यंत इस दावाग्नि में जल रहे हो। वस्तुतः सद्गुरु अपने उत्तम आदर्शों एवं वचनों से साधकों को प्रेरित करते हैं और साधक उनसे प्रेरणा लेकर अपने मन को शुद्ध करने के लिए साधना करता है। इस प्रकार साधक का मन शीतल होता है।

"मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं यह भली-भांति जानता हूं कि यह आग तुम्हीं से फैली है। 'घर में लगा दी आग घर के चिरागों ने।' क्या तुम्हारे मन की आग किसी दूसरे ने लगायी है! ऐसा कदापि न समझना। कोई भगवान या कोई शैतान तुम्हारे मन में आग नहीं पैदा कर सकता। तुम्हारी अच्छी और बुरी वृत्तियों के अलावा कोई भगवान और शैतान है भी नहीं। तुम स्वयं अपने मन को खराब करते हो और रात-दिन जलते हो। तुम्हारे मन के खराब होने में बाहरी प्राणी-पदार्थ साधन अवश्य बनते हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो तो दूसरा कोई साधन नहीं बन सकता। संसार कब प्राणी-पदार्थों से शून्य होगा! संसार में सब समय सब कुछ रहेगा। तुम्हें स्वयं जगना पड़ेगा। तुम्हारी अपनी गलती से, अपनी दुर्बुद्धि से, अपने मन के पाप से तुम्हारे भीतर दावाग्नि लगी है। यही बात दूसरों के लिए भी है। "जरत सकल संसारा" सारा संसार अपनी बनायी हुई आग में जल रहा है। सद्गुरु ने ३३२ वीं साखी में भी कहा है "ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आग।" अपनी बुराइयों के लिए हर मनुष्य स्वयं जिम्मेदार है। "अपनी कमाई आप का, न माई न बाप का।"

"पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी।" साहेब कहते हैं, परन्तु घबराना नहीं। यह मत समझना कि तुम से आग लगी है तो तुम आग रूप ही हो। यह भ्रम मत कर बैठना कि मानसिक विकार तुम्हारा स्वरूप है। इसके लिए सद्गुरु उक्त पंक्ति में गरम पानी का बड़ा सटीक उदाहरण देते हैं। देखो, गरम पानी में अग्नि का अंश होता है, परन्तु ऐसा गरम पानी भी यदि जलती हुई आग पर पड़ जाय तो उसे बुझा देता है। इसलिए पानी गरम नहीं था। पानी में जो आग का अंश था, वही गरम था। पानी का स्वभाव ही शीतल है। वह कभी गरम नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव का स्वभाव ही शीतल है, वह कभी विकारस्वरूप नहीं हो सकता। उसमें तो विकार प्रक्षिप्त है, बाहर से पड़ा हुआ है। तुमने तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब की आदत बना ली, अब तुम उन आदतों में जल रहे हो, तो क्या ये सब आदतें तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है! यह सब तो तुमने बना रखा है। काम, क्रोध, राग-द्वेषादि सारे मनोविकार तुम बना लेते हो और जिस क्षण जो विकार तुम्हारे मन में रहता है उस क्षण तुम्हें यह भ्रम होता है कि तुम वही हो।

काम आने पर तुम्हें भ्रम होता है कि तुम कामरूप हो, क्रोध आने पर क्रोधरूप, लोभादि आने पर लोभादिरूप। श्री निर्मल साहेब के वचनों में कहें तो "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन" प्रतीत होता है। परन्तु मनोविकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप अपने आपके लिए विरोधी नहीं होता। आग के लिए आग विरोधी नहीं होती, न पानी के लिए पानी विरोधी होता है। यदि कामादि विकार तुम्हारे स्वरूप होते तो वे तुम्हारे लिए दावाग्नि न बनते। वे तुम्हारे लिए दुखदायी हैं, इसलिए वे तुम्हारे स्वरूप नहीं। तुम काम-क्रोधादि में क्षण मात्र के लिए पड़ते हो तो तुम्हारा नरक हो जाता है, तुम उद्विग्न हो जाते हो। तुम उन्हीं में जीवन भर नहीं रह सकते, परन्तु निष्काम-निष्क्रोध दशा में जीवनभर सुख से रह सकते हो। अतएव तुम्हारा स्वरूप निर्विकार है। हर वस्तु अपने स्वरूप में ही ठीक से रह सकती है। तुम यह मत समझो कि तुम विकारग्रस्त हो तो विकारों को नष्ट नहीं कर सकते हो। देखो, गरम पानी आग को बुझा देता है, वैसे तुम विकारग्रस्त होने पर भी वास्तविकता को समझकर विकारों को नष्ट कर सकते हो। वास्तविकता यह है कि तुम स्वरूपतः निर्विकार हो, अतः बाहर से आये हुए इन विकारों को नष्ट कर सकते हो। यह तुम्हारे द्वारा लगायी हुई दावाग्नि तुम्हारे द्वारा ही नष्ट हो सकती है। तुम्हारे मन की दावाग्नि न दूसरे ने लगायी है और न दूसरा नष्ट कर सकता है। इस दावाग्नि के लगाने वाले तुम हो और इसे बुझाने वाले भी तुम हो। संत-गुरु तो केवल बाहर से सहारा दे सकते हैं।

"एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी।" एक है वासना, यह नहीं जलती, जलती है नौ नारी। नौ नारी का अर्थ है नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। नौ नारी का लाक्षणिक अर्थ हुआ नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। सद्गुरु कहते हैं कि नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर तो एक दिन जल जाता है, परन्तु एक वासना नहीं जलती। "मन मरै न माया मरे, मरि-मरि जात शरीर। आशा तृष्णा न मरै, यों कथि कहहिं कबीर।" वासना न जलने से पुनः शरीर की प्राप्ति होती है। "युक्ति न काहू जानी" लोग यह तरीका नहीं जानते कि शरीर जलने के पहले ही वासना जल जानी चाहिए। सुखद जीवन वही है जिसमें देह रहते-रहते वासना का त्याग हो जाय। वासनाहीन जीवन आनन्द का सागर है, शांति का अनन्त स्वरूप है। जिसकी वासनाएं क्षीण हो चुकी हैं, उसके लिए शरीर रहना और न रहना दोनों बराबर है।

"शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा।" किसी शहर में आग लगी हो और शहर के पहरेदार सुख से सो रहे हों, किसी के जगाने पर भी वे कहते हों कि नहीं, सब ठीक है, हमारा शहर सकुशल है, तो इससे अधिक प्रमाद क्या हो सकता है! असावधान साधकों की यही दशा है। उनके हृदय मानसिक विकारों की दावाग्नि से जल रहे हैं, परन्तु वे समझते हैं कि हमारा कुशल-मंगल है। वे औपचारिक पूजा-पाठ आदि को साधना की इतिश्री मान लेते हैं। कितने साधकों के मोटे दोष छूट जाते हैं, वे थोड़ा भजन-पूजन से चलने लगते हैं और इतने में वे संतुष्ट होकर बैठ जाते हैं। उन्हें सूक्ष्म विवेक नहीं है कि हृदय-शहर में अभी दावाग्नि लगी है। अभी भी वे मन की मलिनता से

मुक्त नहीं हुए हैं। उन्होंने अपनी थोड़ी उन्नति को ही बड़ी उन्नति मान ली है। वे रास्ते पर दस कदम चलकर ही वहीं मंजिल मानकर बैठ गये हैं। आगे बढ़ना ही नहीं चाहते।

"पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा।" एक गठरी है। उसमें वस्तु रखी है। कहने वाला कहता है कि यदि गठरी जल जाय तो उसमें रखी अपनी वस्तु बच जायेगी, और यदि गठरी न जली तो उसमें रखी वस्तु नहीं बचेगी। सुनने वाले को यह आश्चर्य लगेगा। गठरी जलने पर तो उसमें रखी वस्तुएं भी जल जाती हैं। गठरी जलने पर उसमें रखी वस्तुओं के सुरक्षित रहने की कोई संभावना ही नहीं है। परन्तु साहेब कहते हैं कि नहीं, मेरी बात सच है। यदि गठरी नहीं जली तो उसमें रखी वस्तु सुरक्षित मत समझिए। यदि गठरी जल जाय तो वस्तु बच जायेगी। यह पुरिया, यह गठरी है वासना। इसके जल जाने से अपनी वस्तु बच जायेगी। अपनी वस्तु है, अपनी चेतना, अपनी आत्मा। जीव का उद्धार तभी होगा जब वासना की गठरी, अहंता-ममता की गठरी जल जायेगी। सद्‌गुरु ने ३२२ वीं साखी में कहा है "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" परन्तु हम तो ऐसे मूढ़ हैं कि अहंता-ममता की गठरी मजबूत कर रखे हैं। इसको जलने से बचाने में लगे हैं। हमें सांसारिक वासनाओं में, अहंता-ममताओं में मोह हो गया है। हम उनकी गठरी बांधे रखना चाहते हैं। इसीलिए हम अपनी वस्तु को खोये हैं, अपनी स्वरूपस्थिति से वंचित हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि तुम आत्मस्थिति चाहते हो तो वासना, अहंता-ममता की गठरी में आग लगा दो।

"बिकल राम रंग तेरा" राम यह रमैया राम जीव है। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे जीव! तेरा रंग विकल है। तेरा मनोभाव अशांत है। तेरा हृदय उद्विग्न है, तेरे मन में सदैव संताप की भट्‌ठी जल रही है। क्योंकि तू संसार की वासनाओं में, राग-द्वेष में उलझा है। छोड़ इस दुनिया के झमेले को। क्या रखा है संसार के कूड़े-कचड़े में। जिस माया से तेरे को केवल संताप मिलता है, उसमें तू क्यों पड़ा सड़ रहा है!

"कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा।" नपुंसक पुरुष के आलिंगन से युवती के मन की साध पूरी नहीं हो सकती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं तथा मन की अवधारणाओं से साधक को चिर शांति एवं संतोष नहीं मिल सकता। करते रहो तीर्थ-व्रत, पूजते रहो पानी-पाषाण, भटकते रहो मंदिर-मसजिद एवं काबा-कैलाश, मानसिक मनोरंजन के अलावा वहां कुछ नहीं मिलेगा। हमारा मन जहां तक निजस्वरूप से अलग भटकेगा वहां तक परम शांति नहीं मिल सकती। परम शांति का आश्रय तो निजात्मदेव में विश्राम ही है।

"करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा।" आदमी जीवन भर परम शांति का केवल विचार करता रहा, वह उस पथ पर चल नहीं पाया। प्राणिमात्र की अंतरात्मा अनन्त सुख चाहती है। मानव तो अधिक प्रबुद्ध है ही। वह जीवनभर यही सोचता है कि हमें ऐसा सुख मिले जो हमारी सारी इच्छाओं को तृप्त कर दे और वह सुख कभी घटे नहीं। धार्मिक पुस्तकों में अनन्त सुख, अक्षय सुख, परमानन्द, ब्राह्मी स्थिति, स्वरूपस्थिति, निर्वाणपद आदि अनेक उच्चतम भाव के शब्द सुनकर मनुष्य कुछ भजन-भक्ति तथा धर्म-कर्म में तो लग जाता है, परन्तु वह यथार्थ सद्‌गुरु के अभाव तथा अपने विवेक और

त्याग की कमी के कारण जीवनभर कर्मकांड एवं बाह्याचार में ही लगा रहता है, और उसने जो परमानन्द एवं परम सुख के उच्च शब्द सुन रखे थे तथा जो उसकी अंतरात्मा निरन्तर चाहती है वह केवल मानसिक विचारों में रह जाता है। जीवन में उसका उसे अनुभव नहीं होता और उसका जीवन क्षीण हो जाता है। अविद्वान से विद्वान, निर्धन से धनवान, चपरासी से राष्ट्रपति जीवनभर अनन्त सुख के केवल सपने देखते हैं। इन्हीं सपनों में निर्बल होते-होते वे जीर्ण हो जाते हैं, परन्तु अनन्त सुख नहीं मिलता। अन्ततः उनका जीवन असंयत, अ-साध एवं निष्फल ही रह जाता है।

"जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई। कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई।" साहेब कहते हैं कि जो अजान है उसकी बात छोड़िये, जो समझता ही नहीं उसको क्या दोष दिया जाय। तरस तो उस पर आती है जो शास्त्रों एवं सद्ग्रन्थों को खूब पढ़ा-लिखा है, अध्यात्म विषय को अच्छी तरह समझता है, परन्तु फिर भी अपने आप को धोखा देता है। जानना कुछ तथा करना कुछ दूसरा, यह अपने आपके साथ कपट करना है। आदमी अपने आप को निरन्तर छलता है। वह जानता कुछ है, मानता कुछ है तथा करता कुछ है। ऐसे जीवन में शांति आने का क्या प्रसंग है! सद्गुरु ऐसे आदमी के लिए यहां मन्द और मूढ़ दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। जो व्यक्ति सोया है उसे पुकारने पर वह जग जायेगा, परन्तु जो जागते हुए सोने की नकल कर बैठा है, वह हजार हांक पर भी नहीं बोल सकता। अज्ञानी चेत सकता है, पतित ज्ञानी के चेतने का कोई उपाय नहीं।

इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने विविध युक्तियों से मानसिक विकारों, वासनाओं एवं अहंता-ममताओं को मिटाने पर जोर दिया है। उन्होंने मन के विकारों को दावाग्नि बताकर उसे बुझाने के लिए साधकों को प्रोत्साहित किया है।

माया ठगनी का पर्दाफ़ाश

शब्द–५९

माया महा ठगिनी हम जानी॥ १ ॥
त्रिगुणी फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी॥ २ ॥
केशव के कमला है बैठी, शिव के भवन भवानी॥ ३ ॥
पण्डा के मूरति है बैठी, तीरथ हूँ में पानी॥ ४ ॥
योगी के योगिनि है बैठी, राजा के घर रानी॥ ५ ॥
काहू के हीरा है बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥ ६ ॥
भक्ता के भक्तिनि है बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—त्रिगुणी फांस = सत, रज, तम-युक्त बन्धन। केशव = विष्णु। कमला = लक्ष्मी। भवानी = पार्वती।

भावार्थ—हमने यह अच्छी तरह जान लिया है कि माया महा धोखेबाज है।।१।। यह अपने हाथों में त्रिगुणात्मक बन्धनों की फांसी लेकर घूमती है और मीठी-मीठी बातें करके लोगों को बांध लेती है।।२।। यह माया विष्णु के घर में लक्ष्मी बनकर और शिव के घर में भवानी बनकर बैठ गयी।।३।। पंडे-पुजारियों के यहां मूर्ति बनकर बैठ गयी और तीर्थों में पानी बनकर लोगों को छलने लगी।।४।। यह त्यागी साधु-संन्यासियों के घर में साधुनी एवं संन्यासिनी बनकर और राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी।।५।। यह माया किसी के घर में अधिक संपत्ति बनकर और किसी के घर में थोड़ी संपत्ति बनकर बैठ गयी।।६।। यह भक्तों के घर में भक्तिनि तथा ब्रह्मा के घर में सरस्वती बनकर बैठ गयी।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, इस माया की कथा गिनकर बताने भर की नहीं है।।८।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर का यह जगत-प्रसिद्ध शब्द है जिसे लोग खूब झूम-झूमकर गाते हैं। साहेब अपनी वाणियों में सर्वत्र माया को ठगिनी तथा धोखेबाज कहते हैं। "मन माया की कोठरी" तथा "मन माया तो एक है"[1] कहकर आपने मन में टिके हुए मोह को ही मुख्य माया कहा है। परन्तु जो कुछ मोह का आलंबन बन जाय, अर्थात जिन-जिन प्राणी-पदार्थों के द्वारा मोह एवं भ्रम पैदा हो वह सब भी माया है। साहेब कहते हैं कि माया अपने हाथों में त्रिगुणी फांस लेकर घूमती है। यह त्रिगुणी फांस क्या है! साहेब ने अपनी वाणियों में त्रिगुणबन्धन की कई जगह चर्चा की है। पीछे ३२ वें शब्द में भी आपने कहा है "पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण।" गीताकार ने भी कहा है "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"[2] अर्थात हे अर्जुन, सभी वेद त्रिगुण का ही उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ। वस्तुतः भौतिक जगत और मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है, जो भाव इन्हीं दोनों में जीव को फंसाये रखे वह त्रिगुणात्मक माया है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होता है। सत, रज और तम के कार्य हैं, सुख, इच्छा तथा मूढ़ता। आध्यात्मिक सुख स्वच्छ, निष्कंटक, अनन्त एवं निर्दोष है। उसमें इच्छा तथा मूढ़ता पैदा नहीं होती। परन्तु भौतिक-क्षेत्र के सुख में, सावधान न रहने पर, इच्छा तथा मूढ़ता पैदा होती हैं। जिस सुख में इच्छा बन जाय और उसके बाद विजाति भास-अध्यास में जड़ता हो जाय वह त्रिगुणी फांस है। जहां तक जीव अपनी चेतना से बाहर आकर्षित होता है वह त्रिगुणी फांस है। जिसमें आदमी धोखा खा जाय वही माया। हम शरीर और प्राणी-पदार्थों को अपना माने रहते हैं, परन्तु ये एक दिन छूट जाते हैं। अतएव इन्हें अपना मानना एक धोखा है और यही माया है। यह माया मानो मीठी वाणी बोलकर लोगों को रिझाती है और रीझ जाने पर फंसाती है। वस्तुतः मीठी वाणी बोलकर फंसाने वाले नर-नारी हैं। क्योंकि मनुष्य के पास ही वर्णात्मक वाणी है। जो नर या नारी मधुर वाणी बोलकर किसी व्यक्ति को मोह में उलझा दें वे मानो माया बन गये।

---

१. साखी १०४-१०५।

२. गीता २/४५।

साहेब इस शब्द में विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा को इसलिए माया में ग्रस्त बताते हैं कि उनके घरों में लक्ष्मी, भवानी तथा ब्रह्मानी बैठी हैं। विद्वानों को सोचना चाहिए कि यदि कबीर स्वयं लोई या किसी स्त्री के संयुक्त होते तो वे विष्णु आदि पर कैसे उंगली उठा सकते थे! कबीर-जैसे खरे विरक्त संत को पत्नी-बच्चे वाला कहना विद्वानों का भ्रम है। साहेब कहते हैं कि यह माया राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी, भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर और साधु-संन्यासियों के आश्रमों में साधुनी तथा संन्यासिनी बनकर बैठ गयी। इस क्रम में साहेब ने स्त्रियों को माया कहा है। प्रायः साधक स्त्रियों की संगत में फिसलकर अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। जितने साधक गिरते हैं स्त्रियों की संगत से ही। चूंकि कबीर पुरुष थे और विरक्त थे, इसलिए उन्होंने स्त्रियों को माया कहा। यही कथन कल्याणार्थी स्त्रियों एवं साधिका-साधुनियों को पुरुषों पर लगा लेना चाहिए। उनके लिए पुरुष ही माया बन सकते हैं। वैसे माया अपने मन का मोह है, परन्तु स्त्री-पुरुष का परस्पर अभेद बरताव होने से यह माया-मोह उत्पन्न हो जाता है। इसलिए साधक-साधिकाओं को सावधान रहना चाहिए और संगदोष का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार साहेब ने कहा कि प्राणियों के रूप में रहकर माया हमें दिग्भ्रमित करती है।

दूसरी है पदार्थों के रूप में माया "काहू के हीरा" और "काहू के कौड़ी कानी" इसका मतलब है किसी के पास बहुत संपत्ति है और किसी के पास थोड़ी संपत्ति है, परन्तु जिसके पास जितनी है वह उसी में आसक्त है। वैसे संसार की संपत्ति काम की चीज है। उसी से जीवन-निर्वाह होता है, परन्तु यदि वह मोह का कारण बने, आसक्ति का हेतु बने तो वह माया हो जाती है। जिन पदार्थों के संयोग से हमारे मन में लोभ-मोह पैदा हों, काम, क्रोध, वैर, व्यसन, अहंकार तथा नाना प्रकार मन की मलिनताएं उत्पन्न हों वे सब मानो माया बन गये।

साहेब कहते हैं कि 'पण्डा के मूरति तथा तीरथ में पानी' भी माया बन गये। पत्थर आदि निर्जीव मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा होती है, उन्हें सुलाया, जगाया, खिलाया, पिलाया जाता है, उनके सामने घुटने टेककर भोग-मोक्ष मांगा जाता है। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खी को उड़ा नहीं सकती, वह निर्जीव मूर्ति चेतन मनुष्य का तारक बन गयी। मनुष्य उसे गढ़कर खड़ा करता है और स्वयं उसके सामने गिड़गिड़ाकर अपनी कल्याण-कामना करता है। यह माया नहीं तो क्या है! मूर्ति या चित्र केवल स्मारक हैं। वे जिन पुरुषों की प्रतिकृति हैं उनकी याद दिलाते हैं। बस, इतना ही उनका उपयोग है, परन्तु यदि उनसे भोग-मोक्ष पाने का भ्रम हो गया तो यह माया नहीं तो क्या है! माया धोखा देती है, यह ठगिनी है, तो साफ है कि इसमें हम ठगाते हैं। यही बात तीर्थ में पानी की है। गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा कोई भी नदी हो, उसमें नहाने से शरीर साफ हो सकता है। भावना होने से मानसिक प्रसन्नता भी हो सकती है, परन्तु यह मानना कि इन नदियों के नाम लेने से, इनके इतने योजन के मध्य बसने से, इनके दर्शन करने से तथा इनमें डुबकी लगाने से सारे पाप कट जायेंगे और मोक्ष हो जायेगा, यह अपने आपको तथा जनता को धोखा देना नहीं तो क्या है, और ऐसी स्थिति में यह तीर्थ का पानी माया बन गया। पारदर्शी

दृष्टि वाले कबीर की नजरों से माया छिप नहीं सकती। कबीर कोई ऐसे-वैसे ज्ञानी नहीं हैं। कबीर संसार में अद्वितीय ज्ञानी हैं।

कबीर साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हे संतो! ''ई सब अकथ कहानी'' इस माया की सूची इतनी लम्बी है कि गिनकर बता पाना असम्भव है। कहां तक बताया जाय कि यह माया है वह माया है। तुम्हारी आत्मा के अलावा सब माया है। इसलिए कहीं भी आसक्त नहीं होना, कहीं भी नहीं फंसना!

सद्गुरु-भगवान ही मोह-पाश से छुड़ा सकता है

शब्द–६०

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा ॥ १ ॥
जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना ॥ २ ॥
शब्द गुरू उपदेश दीन्हों, तैं छाडु परम निधाना ॥ ३ ॥
ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशू न पेखै आगि ॥ ४ ॥
काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि ॥ ५ ॥
शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार ॥ ६ ॥
सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार ॥ ७ ॥
कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय ॥ ८ ॥
कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—निधाना = आश्रय, आधार। हुलसै = प्रसन्न होते हैं। पशू = पशु, मूर्ख। निरखें = देखते हैं, पढ़ते हैं। तरण = मुक्त। तारण = अन्य को मुक्त करने वाला। भगवन्त = ज्ञान-वैराग्यादि सद्गुणयुत सद्गुरु। भजु = सेवा-भक्ति कर।

भावार्थ—माया के मोह ने मनुष्य को विमूढ़ बना दिया है। इसलिए मानो उसने उसका ज्ञान-रत्न छीन लिया है ॥१॥ जीवन तो ऐसा है कि मानो जैसा सपना हो। निश्चय समझो कि जीवन सपना के समान है ॥२॥ सद्गुरु तुम्हें निर्णय वचनों का उपदेश कर रहे हैं। अतएव हे ज्ञान का परम आश्रय मनुष्य! तू माया-मोह छोड़ दे ॥३॥ अग्नि की ज्योति देखकर पतिंगे प्रसन्न होते हैं और उसमें कूद पड़ते हैं। वे मूर्ख यह नहीं समझ पाते कि यह आग है, मुझे जला डालेगी ॥४॥ इसी प्रकार मोहरूपी काल की फांसी में फंसा हे मूढ़ मानव! तू कनक-कामिनी में लिपटकर जल रहा है। उनसे सावधान नहीं होता ॥५॥ शेख और सैयद इसलामी किताबें पढ़ते हैं तथा पंडित लोग स्मृतियों और धर्मशास्त्रों का विचार करते रहते हैं, परन्तु सच्चे सद्गुरु से यथार्थ ज्ञान न पाने के कारण हे मौलवियो और पंडितो! तुम हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी तथा बलि के नाम पर जीव-वध करते हो ॥६-७॥ इसलिए विचार करो और माया-मोह तथा हिंसारूपी विकारों का परित्याग करो। सद्गुरु ही स्वयं मुक्तरूप तथा दूसरों को मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने में समर्थ हैं ॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! ज्ञान-वैराग्य संयुक्त सच्चे सद्गुरु भगवान की सेवा-भक्ति करो। तुम्हारा पथ-प्रदर्शक उनके अलावा कोई नहीं है ॥९॥

व्याख्या—यह शब्द कैसा मार्मिक है, विचारते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह ने मनुष्य को मूढ़ बना दिया है। मन का मोह ही माया है। हम जब किसी चीज में मोह जाते हैं तब मूढ़ बन जाते हैं। फिर हमें सारासार का विवेक नहीं रह जाता। रावण-जैसा प्रतापी वेद-विद्वान जब सीता के सौंदर्य में मोह गया तब वह मूढ़ हो गया और न करने योग्य काम किया पर-स्त्री-हरण। इतना ही नहीं, स्वपक्ष के पूरे योद्धाओं के युद्ध में मर जाने के बाद भी सीता को न लौटाया और स्वयं भी युद्ध में मारा गया। राम और सीता-जैसे उदार राज्य को ठोकर मारकर जंगल चले जाने वाले जब एक सुनहले एवं सुन्दर हिरन में मोह गये तब ऐसा विवेक खो दिये कि लक्ष्मण के सावधान करने पर भी दोनों नहीं समझ पाये। पृथ्वीराज संयोगिता में मोहकर अपने आप का पतन किये ही, भारत के पतन में भी कारण बने। आदमी जब किसी प्राणी एवं पदार्थ में मोहित हो जाता है तब उसके हृदय का ज्ञान-रत्न छिन जाता है। मोह जितना बढ़ता है विवेक उतना ही नष्ट होता है, और विवेक नष्ट हो जाने पर वह इतना गिर जाता है कि उसे पशु भी नहीं कह सकते, क्योंकि पशु अपने प्राकृतिक नियमों का परित्याग नहीं करता, परंतु ऐसे पतित आदमी के लिए कोई नियम नहीं रह जाता। आदमी का मन बड़ा भावुक होता है। वह किसी के रूप, गुण, वाणी, व्यवहार आदि को अपने मन के अनुकूल पाकर उसमें मोहासक्त हो जाता है। मनुष्य प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर विमूढ़ हो जाता है।

"जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना।" सद्गुरु इस पंक्ति में दो बार घूम-घूमकर कहते हैं कि जीवन सपना के समान है। वे हमारे मोहासक्त मन पर हथौड़ा मारते हैं कि हे मूढ़, तू किसमें मोहासक्त हो रहा है! क्या तेरा है! क्या सपने में मिले हुए अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ जागने पर रह जाते हैं! वैसे क्या ये जागृत में मिले हुए प्राणी-पदार्थ तेरे साथ सदैव रहेंगे! आंखें खुलने पर सपने का ऐश्वर्य गायब हो जाता है और आंखें मुंदने पर जागृत का ऐश्वर्य गायब हो जाता है। हम रोज चार छह घंटे गाढ़ी नींद में पहुंचकर अपने माने हुए शरीर तक को भूल जाते हैं। जिस दिन सदा के लिए आंखें बन्द कर लेंगे उसी दिन से हमारा सब कुछ अपना माना हुआ खो जायेगा। जीवन की सार्थकता है पर-सेवा तथा आत्म-संयम। इसके अलावा इस जिन्दगी में क्या रखा है!

"शब्द गुरू उपदेश दीन्हों, तैं छाड़ु परम निधाना।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तू ज्ञान-विज्ञान का परम आश्रय है। मानवेतर प्राणियों में तो बहुत-थोड़ा ज्ञान होता है, किन्तु मानव ज्ञान का परम निधान है। ऐसा मूलतः ज्ञाननिधान मानव मोह-माया में मूढ़ बनकर भटकता रहे तो इससे अधिक तौहीनी और क्या होगी! कबीर साहेब कहते हैं कि हे मानव! सद्गुरु तुम्हें निर्णय शब्दों का उपदेश दे रहे हैं! तू उस तरफ ध्यान दे और माया-मोह का त्याग कर।

"ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशू न पेखै आगि। काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि।" मनुष्य की मोह-मूढ़ता पर कैसा सटीक तथा सचोट उदाहरण है। दीपक की ज्योति देखकर पतिंगे उसे घेर लेते हैं। वे उस ज्योति के मोह में पड़कर हर्षायमान हो जाते हैं और ज्योति में चिपकने का प्रयास करते हैं। फल यह होता है कि वे उसमें ऐंठ-

ऐंठकर जल मरते हैं। उन मूर्ख पतिंगों को ज्योति में आग नहीं दिखती, किन्तु आनन्द दिखता है। वे उसमें अपनी मौत नहीं देख पाते, किन्तु सुख देखते हैं। यही दशा मनुष्य की है। वह संसार के प्राणी-पदार्थों के मोह में लिपटकर कौन-सा अनर्थ नहीं करता है! छल, धोखा, चोरी, व्यभिचार, डाका, हिंसा, हत्या, पर-स्वत्वापहरण कौन-सा अपराध मोहासक्त आदमी नहीं करता। आदमी संसार के प्राणी-पदार्थ एवं प्रतिष्ठा के मोह में लिपटकर मूढ़ बन जाता है। वह उन्हीं में रात-दिन जलता है। यह मोह ही तो काल की फांसी है। मौत काल नहीं है। मौत केवल शरीर को मारती है। मोह मनुष्य की आत्मा का पतन करता है। परन्तु कनक-कामिनी[1] में लिपटा आदमी इस मोह की फांसी को नहीं देख पाता। जैसे मोह-मूढ़ पतिंगे को ज्योति में आग नहीं दिखती वैसे विमोहित मानव को काल की फांसी नहीं दिखती।

"शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार। सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" मुसलमानों की मुख्य चार जातियां मानी गयी हैं—शेख, सैयद, मुगल तथा पठान। परन्तु शेख को शैख बनाकर इसके अर्थ होते हैं वृद्ध, गुरुजन, धार्मिक साहित्य का पंडित, खानकाह एवं दरगाह का खलीफा, मंहत, अरब कबीलों का सरदार। इस शब्द में प्रयुक्त शेख का अर्थ महन्त ही है जो अपनी मजहबी किताबों का पंडित होता है। सैयद के अर्थ हैं नेता, सरदार, इमाम, मुहम्मद की पुत्री फातिमा से उत्पन्न अली का वंश तथा इस वंश का वंशज। साहेब कहते हैं कि शेख और सैयद लोग कुरान, हदीस तथा अनेक अपनी मजहबी किताबों को पढ़ते हैं। दूसरी तरफ हिन्दू पंडित स्मृतियों और शास्त्रों का अध्ययन, मनन एवं विचार करते हैं, परन्तु खेद है कि वे हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी और बलि का नाम लेकर जीवहत्या करते हैं। हिन्दू-मुसलिम आदि सभी मजहबों के धर्मग्रन्थों में अहिंसा, मेहरबानी, रहम, दया, करुणा आदि की प्रशंसा की गयी है, और सबका दिलरूपी धर्मशास्त्र तो हर क्षण बताता ही है कि दूसरों पर दया करो। जब तुम स्वयं पीड़ा नहीं चाहते हो तो दूसरों को पीड़ा देना मानवता कहां है! ऐसा जानकर भी ये मजहब एवं धर्म वाले धर्म के नाम पर जीव हत्या करते हैं, यह कितना दुखजनक है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसमें एक मुख्य कारण है इनके गुरुओं के उपदेश की त्रुटि। मुसलमानों के धर्मशास्त्रियों ने कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या धर्म बतला दिया, वैसे हिन्दुओं के धर्मशास्त्रियों ने बलि के नाम पर जीव-हत्या उचित ठहरा दिया। इन्हें सच्चे सद्‌गुरु के उपदेश नहीं मिले। "सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मुल्ला और पंडितो! तुम्हें सच्चे सद्‌गुरु नहीं मिले, उनके उपदेश से तुम लोग वंचित हो, इसलिए जीव-हत्या गलत जानते हुए भी उसे करते हो। यह भी माया-मोह है, यह पूर्व-पुरुषों का एवं धर्मशास्त्रों का मोह है कि जो पूर्व पुरुषों तथा धर्मशास्त्रों ने कहा है वह सच है। ऐसा मोह भी मनुष्य को मूढ़ बनाता है। हमें परंपरा और पोथी से सार लेते हुए स्वतन्त्र विचार करना चाहिए कि उचित क्या है तथा आज के संदर्भ में प्रासंगिक क्या है!

---

१. "कनक कामिनी देखि के" इस १४८ वीं साखी में इसकी परिभाषा देखें।

"कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय। कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय।" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विचार करो, आंख मूंदकर न चलो। न प्राणी-पदार्थों एवं प्रतिष्ठा के मोह में मूढ़ बनो तथा न तो धार्मिक परंपरा एवं धार्मिक पोथियों के वचनों में मूढ़ बनो, किन्तु "कर विचार" अर्थात स्वतन्त्र विचार करो। और विचार करने पर जो लगे कि यह विकार है, दोष है, मलिनता है, उसका निर्मम होकर त्याग करो। विकार को विकार जान लेना पहली बात है, परन्तु उस जानने की सफलता होगी उसके त्याग में। जो विचारकर विकारों का परित्याग करता है वही तरण है और वही तारण है। वह स्वयं मुक्त है तथा दूसरों को मुक्ति की तरफ प्रेरित करने वाला है। मोह-माया एवं विषयासक्ति विकार है तथा सब प्रकार की हिंसा विकार है। जो इन्हें सर्वथा छोड़ दे वही तो तरण-तारण है, वही तो सद्गुरु है। कबीर साहेब कहते हैं कि विषयासक्ति और हिंसा को त्यागे हुए ज्ञान-वैराग्यसंपन्न सद्गुरु भगवान[1] को भजो, उनकी सेवा करो, उनकी उपासना करो उनके अलावा तुम्हारा अन्य पथ-प्रदर्शक नहीं है। विकारों को जीते हुए मनुष्य रूप में सद्गुरु होता है। वही हमारा पथ-प्रदर्शक होता है। अतएव वही भगवान है। वही कल्याणर्थियों का रक्षक है। इस शब्द में ऊपर दो बार सद्गुरु का श्रद्धापूर्वक नाम लिया गया है और कहा गया है कि उन्हीं के निर्णय शब्दों से तुम्हें सच्चा ज्ञान मिलेगा। अतएव शब्दांत में उन्हीं को भगवान शब्द से यादकर उनकी सेवा-भक्ति करने का निर्देश किया गया है। हम सत्यता के धरातल पर देखें तो यह परम सत्य है कि सद्गुरु के अलावा कोई साधक का रक्षक नहीं है। संत तो सद्गुरु रूप ही हैं। अतएव संत-सद्गुरु ही सच्चे भगवान हैं। वे ही उपासनीय हैं, वे ही रक्षक हैं।

जो लोग सद्गुरु से अलग भगवान मानते हैं, वे भी कहते हैं कि भगवान जगत का रचयिता, पालक तथा संहर्ता है। इस तरह भगवान जीव का उद्धारक न होकर संसार में डुबाने वाला ही है। वस्तुतः सद्गुरु ही भवबंधनों से जीव को बचाता है। सुन्दरदास जी एक सुन्दर कविता कहते हैं—

गोविन्द के किये जीव जात है रसातल कौं,
गुरु उपदेसे सुतौ छूटैं जम फंद तें।
गोविन्द के किये जीव सब परें कर्मनि कैं,
गुरु के निवाजे सो फिरत हैं स्वछन्द तें।
गोविन्द के किये जीव बूड़त भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व तें।
और ऊ कहाँ लौं कछू मुखतें कहौं बनाइ,
गुरु की महिमा अधिक है गोविन्द तें।।[2]

---

१. ज्ञान विराग श्रीयुत, यश अरु धर्म निधान।
ऐश्वर्य षट भागयुत, ताहि कहत भगवान।।

२. सुन्दर ग्रन्थावली २२, पृष्ठ ३९२।

देहाभिमानी की दुर्गति

शब्द–६१

मरिहो रे तन का लै करिहो, प्राण छुटे बाहर लै डरिहो॥ १ ॥
काया बिगुर्चन अनबनि भाँती, कोइ जारे कोइ गाड़े माटी॥ २ ॥
हिन्दु ले जारे तुरुक ले गाड़े, यहि बिधि अंत दुनों घर छाड़े॥ ३ ॥
कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा॥ ४ ॥
राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा॥ ५ ॥
कहहिं कबीर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जैहो॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बिगुर्चन = बिगूचना, उलझन। अनबनि = बिगड़ाऊ, विविध, अनेक। अन्त = मरने पर। गोबरौरा = एक उड़ने वाला कीड़ा जो गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काता हुआ चलता है। या घर = नरतन। वा घर = पशु आदि खानि।

भावार्थ—हे देहाभिमानी! जब तू मरेगा तब अपने माने हुए शरीर को लेकर क्या करेगा! ध्यान रख, प्राण छूटते ही तेरा शरीर बाहर डाल दिया जायेगा।।१।। शरीर तो एक उलझनरूप है और अनेक जोड़ों से बना बिगड़ाऊ है। जीव के निकल जाने पर कोई इसे जला देता है और कोई मिट्टी में गाड़ देता है।।२।। विशेषतः इसे हिन्दू जला देते हैं और मुसलमान गाड़ देते हैं। इस प्रकार प्राणी के मर जाने पर दोनों सम्प्रदाय वाले इसे तिरस्कृत कर देते हैं।।३।। जैसे धीमर जाल फैलाकर मछलियों को पकड़कर उन्हें मार लेता है, वैसे मनरूपी यम ने मानो कर्मों के फांस का जाल फैलाकर जीव को बांध लिया है।।४।। हे मनुष्य! आत्माराम के ज्ञान बिना तुम्हारी वही दशा होगी जो गुबरैले कीड़े की होती है। वह गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काते हुए रास्ते में चलता है और मनुष्य एवं पशुओं के पैर लगकर नष्ट हो जाता है।।५।। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा जब तुम इस शरीर को छोड़कर अन्य योनियों में जाने की तैयारी करोगे।।६।।

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में शरीर की अन्तिम दशा का दिग्दर्शन कराया है। हम अबोधवश शरीर को सब कुछ मानकर इसी में आसक्त हो जाते हैं। हम जानते हुए अनजान बने रहते है। हम जानते हैं कि शरीर अवश्य एक दिन नष्ट हो जायेगा, परन्तु यह भ्रम सदैव बना रहता है कि अभी नहीं, कभी बिछुड़ेगा। सर्वाधिक अहंकार शरीर का होता है, किन्तु यह इतना क्षणभंगुर है कि अचानक खो जाता है। काष्ट, मिट्टी, पत्थर, लोहा, सीमेंट से बने मकान या अन्य वस्तुओं की अवधि निर्धारित की जा सकती है, परन्तु इस शरीर की कोई अवधि नहीं मानी जा सकती। यह कब मिट जायेगा, कोई नहीं जानता है। साहेब कहते हैं, हे प्रमादी जीव, इसका क्या गर्व करता है!

शरीर छूटने पर इसको कोई लेकर क्या करेगा! मिस्र[1] के रजवाड़ों के मृत शरीर ईसा के हजारों वर्ष पूर्व सैकड़ों फीट ऊंचे अभेद्य पत्थर के पिरामिडों में मोटी और मजबूत

---

१. मिस्र उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का एक देश है जिसकी सभ्यता की गणना संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में की जाती है।

सोने के संदूकों में रखे गये, परंतु उनका क्या हुआ! वे जीव कभी भी अपनी देह में न आ सके। शरीर से जीव के निकलने का समय आ जाता है, तब लोग उसके शरीर को खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं। यह प्रथा भारत में तो है ही, यूरोप में भी है।[1] इस प्रकार मरने की संभावना होते ही आदमी ऐश्वर्य भरे घर से निकालकर जमीन पर लेटा दिया जाता है। जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तब सब लोग कहते हैं कि अब इसे ले चलो, इसकी अंत्येष्टि कर दो, हंसा तो उड़ गया, अब तो केवल मिट्टी पड़ी है। जीव के निकल जाने पर पिता पिता नहीं रह जाता, माता माता नहीं रह जाती, पुत्र पुत्र नहीं रह जाता, गुरु गुरु नहीं रह जाता। केवल रह जाती है मिट्टी। उस समय कोई नहीं कहता कि पिता लेटे हैं, माता लेटी हैं, पुत्र लेटा है, गुरु लेटे हैं। तब लोग कहते हैं कि मिट्टी पड़ी है। जीव के निकलते ही जिस शरीर की यह दशा होती है उसका क्या गर्व किया जाय!

"काया बिगुर्चन अनबनि भाँती" यह शरीर बिगुर्चन है और अनबन भांती है। बिगुर्चन एवं बिगुचने का अर्थ है उलझ जाना। १६४ वीं साखी में भी सद्गुरु ने "सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख" कहकर बिगुर्चन शब्द का प्रयोग किया है। वहां भी इसका अर्थ उलझ जाना ही है। अर्थ है कि हे सुग्गे, तू सेमल के फूल-फल को जल्दी छोड़ दे। तेरे पंख सेमल-फल के रोवांटे में बहुत उलझ गये हैं। यह काया बिगुर्चन, उलझनरूप है। आदमी अपने माने हुए शरीर के विकारों में कैसा उलझ जाता है, यह सर्वविदित है। यह मानव शरीर तो मन को सुलझाने की जगह है, परन्तु जीव इसी में आकर अपने मन को अधिक उलझा लेता है। पशु-पक्षियों के मन वैसे नहीं उलझे रहते हैं जैसा मनुष्य का मन उलझा रहता है। मनुष्य ज्यादा समझता है, अतएव वह अपनी समझदारी को विपरीत दिशा देकर ज्यादा उलझ जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, तृष्णा, चिन्ता, नाना दुर्व्यसन एवं गलत आदतें बनाकर जीव उलझ जाता है। यही सब तो बिर्गुचन है। "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास" करना चाहिए था अनासक्ति का व्यवहार, राग-द्वेष रहित प्रशांत मन, परन्तु कर डाला उलझन। यही जीवन की असफलता है। सद्गुरु कहते हैं कि काया बिगुर्चन एवं उलझन का स्थान तो बन ही जाती है, यह "अनबनि भाँती" भी है। अनबन का अर्थ है बिगड़ी स्थिति या अनेक। शरीर अनेक गांठों एवं जोड़ों से बना है और बहुत कच्चे सामान से बना है तथा अनेक विधि से बना है। इसके बिगड़ने और मिटने में देरी लगती है यही आश्चर्य है, यदि यह मिट जाय तो बिलकुल आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इतनी कच्ची काया संसार में अनेक ठोंकरें खाती हुई कई वर्षों तक बनी रहती है यही आश्चर्य होता है। इसके बिगड़ने और मिटने में क्या आश्चर्य! सद्गुरु ने २८३ वीं साखी में भी कहा है "दश द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन। रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥"

"कोइ जारे कोइ गाड़े माटी" शरीर छूटने पर इसे कोई जला देता है, कोई मिट्टी में गाड़ देता है। विशेषतः हिन्दू जलाते हैं तथा मुसलमान गाड़ देते हैं। कबीर साहेब के

---

१. एडगर्टन दि आवर आव डेथ। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० ११९२।

समय में हिन्दू और मुसलमान दो परम्पराएं मुख्य थीं, इसलिए इन दोनों के द्वारा मृतकों की की गयी अंत्येष्टि का संकेत किया गया है। वैसे इसाई लोग भी मृत शरीर को जमीन में गाड़ते हैं। सब मिलाकर मृत शरीर के अंत्येष्टि-संस्कार अनेक प्रकार से किये जाते हैं, जैसे जलाना, गाड़ना, पानी में फेंक देना, खुले मैदान में छोड़ देना जिससे उसे चील्ह-गीध आदि खा लें, ऐसा पारसी करते हैं। मिस्र के लोग शव को गुफाओं में रखते थे। वैसे भारत में शव को जलाये जाने का ही प्रचलन बहुत प्राचीन है। डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"प्राचीन भारतियों ने शवदाह की वैज्ञानिक किन्तु कठोर हृदयवाली विधि किस प्रकार निकाली, यह बतलाना कठिन है। प्राचीन भारत में शव को गाड़ देने की बात अज्ञात नहीं थी (अथर्ववेद ५/३०/१४ 'मा नु भूमिगृहो भुवत्' एवं १८/२/३४)। अंतिम मन्त्र का रूप यों है—हे अग्नि! उन सभी पितरों को यहां लाओ, जिससे कि वे हवि ग्रहण करें, उन्हें भी बुलाओ जिनके शरीर गाड़े गये थे, या खुले रूप में छोड़ दिये गये थे, (या जला दिये गये थे।) या ऊपर (पेड़ों पर या गुहाओं में?) रख दिये गये थे।"[1]

हिन्दुओं में भी चेचक आदि विशेष बीमारियों में मरने वालों को, बच्चों को एवं साधु-संन्यासियों को जमीन में गाड़ा ही जाता है। लोकधारणा है कि शरीर छोड़ देने के बाद आत्मा पुनः गाड़े हुए शरीर के आस-पास भटकती है, इसलिए इसे जला देना चाहिए, क्योंकि शव को जला देने पर आत्मा वहां भटकने नहीं आयेगी। रही साधु-संन्यासियों की बात, तो वे देह रहते-रहते ही देह का मोह छोड़ देते हैं इसलिए उनके शव गाड़ देने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी आत्माएं संतुष्ट होती हैं। वे भटकने नहीं आतीं। मुसलमानादि में जो शव गाड़ते हैं वे यह विश्वास रखते हैं कि गाड़ने के बाद फ़रिश्ते आकर उसके कर्मों का लेखा-जोखा लेते हैं। जला देने पर वे उससे हिसाब कैसे लेंगे! वस्तुतः यह सब अंधविश्वास मात्र है। मृत शरीर की अंत्येष्टि कर देना है, जहां जैसे रस्म हो या सुविधा हो वह सब ठीक है। यहां सद्गुरु के कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि यह शरीर छूटता है और इसे गाड़, जला आदि कर सब इसे त्यागते हैं। जीव के निकल जाने पर इस नरक को कोई क्या करेगा! यदि इसे थोड़े समय के लिए रख छोड़ो तो सड़कर गंधाने लगता है। इसलिए इसे सभी को हटा-देना पड़ता है।

"कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।" धीमर अपना जाल फैलाकर मछलियों को फंसा लेता है और उन्हें मारकर खा जाता या बेच लेता है। इसी प्रकार यमराज ने कर्म-फांस का जाल फैलाकर जीवों को फंसा रखा है। यह यमराज कौन है? यह है विकारी मन। विकारी मन ही यमराज है। यह कर्मों का जाल फैलाता है जो जीव के लिए फांसी बन जाता है। कर्मों के जाल का अभिप्राय है राग-द्वेषपूर्ण कर्मों का विस्तार। शरीरधारी को तो कर्म करने ही हैं। बिना कर्म के तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता, विशेष उन्नति तो दूर की बात है। कर्मशील कबीर निष्क्रिय होने का उपदेश

---

१. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वास्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ *(अथर्ववेद १८/२/३४)*
धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० ११३६।

भी कैसे दे सकते हैं। यहां तो उन कर्मों को फांसी एवं जाल बताया गया है जो यमराज-द्वारा कराया जाता है। यह मलिन मन यमराज है। इस मलिन मन ही की प्रेरणा से तो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, हत्या, व्यभिचार, वैर-विवाद, राग-द्वेष एवं सारे असंयत कर्म करता है और इन्हीं के जाल एवं फांसी में पड़कर पेट भर दुख भोगता है। राग-द्वेष एवं चिंता-शोक की आग में जलते रहना ही तो यमयातना है। कहा है "स्वर्ग वही है जिससे मन को प्रीति मिलती है, नरक इसका उलटा (विपर्यय) है, पुण्य एवं पाप को ही क्रम से स्वर्ग एवं नरक कहा जाता है, सुख एवं दुख से युक्त मनःस्थिति ही स्वर्ग एवं नरक की परिचायक है।"[१] अतएव यह मन जब मलिन होता है तब मानो यह यमराज बन जाता है और इसका सारा विस्तार नरक बन जाता है, किन्तु जब मन पवित्र हो जाता है तब यह देव हो जाता है और इसका विस्तार स्वर्ग। सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरा मन तो यमराज बन गया है, और तुम्हें राग-द्वेष के कर्मजाल में फंसाकर नरक में गिरा रहा है।

"राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा।" कबीर देव कहते हैं कि राम-भजन बिना आदमी गोबरकीट के समान जीवनभर मानो मैले की गोली बनाकर इसे ढकेल रहा है। आप देखते नहीं गुबरैला गोबर एवं मल की गोली बनाता है और उसे ढकेलते हुए ले चलता है। पता नहीं लगता कि इसका पार्सल कहां जायेगा! इतने में किसी मनुष्य या पशु का पैर पड़ता है, गोली दूर जाकर पड़ती है या दब जाती है और गुबरैला भी अपनी जान खो बैठता है। यही दशा देहाभिमानी की है। वह इस मल-मूत्र की पोटली देह के अहंकार में चूर होकर इसे जीवनभर संसार में ढकेलता है। काल की ठोकर लगते ही यह नष्ट हो जाता है और जीव दूसरा शरीर बनाने के लिए उड़ जाता है। इस जीवन में एक राम है तथा दूसरा शरीर है। राम चेतन है, व्यक्ति का निजस्वरूप है, दिव्य है, उससे कभी न छूटने वाला है। परन्तु यदि मनुष्य ने अपने राम-स्वरूप को न पहचाना, उसमें विश्राम न पाया, किन्तु इस मलिन देह के अभिमान में डूबा रहा तो वह गुबरैला कीड़े के समान ही रहा। जो आत्माराम में लीन है वह दिव्य है, जो देहाभिमान में लीन है वह गुबरैला कीड़ा है।

"कहहिं कबीर पाछे पछतैहो, या घर से जब वा घर जैहो।" कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पाछे पछताना पड़ेगा जब इस घर को छोड़कर उस घर में जाओगे। यह घर क्या है और वह घर क्या है? कबीर साहेब लोकांतर में कोई स्वर्ग-नरक नहीं मानते, किन्तु जन्मांतर मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जीव अमर है। वह वासनावश नाना योनियों में भटकता रहता है और जब वह वासना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इस पंक्ति में वे कहते हैं कि यह जीव इस मानव शरीर को पाकर अहंकार और विषयासक्ति में डूबा है। इसको पीछे पछताना पड़ेगा

---

१. मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः ॥
ब्रह्मपुराण (२२/२४); विष्णुपुराण (२/६/४६) मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः। ब्रह्मपुराण (२२/४७)। (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० ११०६)

जब यह शरीर छूट जायेगा और पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि योनियों में जाकर अंधकार में भटेगा। प्रश्न हो सकता है कि क्या जीव जब अन्य योनियों में जायेगा, तब उसे यह याद रहेगा कि मैं पहले मनुष्य खानि में था और वहां मैंने प्रमाद में जीवन बिताया था जिसके फल में मुझे पशु आदि योनियों में आना पड़ा ? याद तो नहीं रहेगा, परन्तु दुख तो भोगना ही पड़ेगा। वस्तुतः पछतावा शरीर छूटते समय होता है। जो संसार के धोखे में जीवनभर पड़ा रहता है उसे जाते समय पछतावा होगा ही।

इस प्रकार इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने जो कुछ कहा है उसका सार यह है कि देहाभिमान को छोड़ो और आत्माराम में रमो।

स्वरूपस्थिति एवं सहज समाधि की रहनी

शब्द–६२

माई मैं दूनों कुल उजियारी॥ १ ॥

सासु ननद पटिया मिलि बँधलो, भसुरहि परलों गारी॥ २ ॥
जारों माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी॥ ३ ॥
जना पाँच कोखिया मिलि रखलों, और दुई औ चारी॥ ४ ॥
पार परोसिनि करों कलेवा, संगहिं बुधि महतारी॥ ५ ॥
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिउँ मैं पाँव पसारी॥ ६ ॥
आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी॥ ७ ॥
एक नाम मैं निजु के गहलौं, ते छूटल संसारी॥ ८ ॥
एक नाम मैं बदि के लेखों, कहहिं कबीर पुकारी॥ ९ ॥

शब्दार्थ—माई = चेतना-शक्ति, आत्मा। मैं = स्वरूपस्थ-वृत्ति। दूनों कुल = व्यवहार-परमार्थ। सासु = संशय। ननद = कुमति। भसुरहि = भसुर, जेठ, अहंकार। तासु नारि = अविद्या। सरवर = सरोवर, अंतःकरण। धमारी = उपद्रव। जना पाँच = पांच जने, पांच ज्ञान इन्द्रियां। कोखिया = कोख, कुक्षि, पेट। दुई = शुभ-अशुभ। चारी = चतुष्टय अंतःकरण। पार परोसिनि = साधारण दुर्व्यसन। कलेवा = सबेरे का जलपान। सहजे = सहज, स्वरूपज्ञान। साहेब = सद्गुरु। मेट = नष्ट कर दिया। लगारी = आसक्ति, लगाव। संसारी = संसारीभाव, विषयासक्ति। बदि कै = प्रतिज्ञापूर्वक। लेखों = विचार करता हूं, मानता हूं।

रूपक—एक लड़की अपनी ससुराल पहली बार जाकर अपने नैहर लौटी। हर मां अपनी लड़की से उसकी ससुराल की बात पूछती है। मां ने पूछा—"बेटी, तेरी ससुराल की स्थिति क्या है? तेरे सासु, ननद, जेठ, अन्य घर वाले, पड़ोसी तथा तेरा पति कैसा है? इन सबसे तू कैसे निपटती है?"

पुत्री ने जो उत्तर दिया वह आश्चर्यजनक है। उसने कहा "मां, मैं नैहर-सासुर दोनों कुल की प्रकाशिका हूं। जब ससुराल में गयी तब मैंने पहले ही दिन सासु और ननद को

अपनी खाट की पाटी में बांध दिया और जेठ को खूब गाली दी। ये ही लोग बहू को ज्यादा दबाने वाले हो सकते हैं और इन्हें मैंने पहले दबा दिया। मेरे घर में उपद्रव मचाने वाली एक स्त्री थी, मैंने उसकी मांग जला दी, अर्थात उसके पति को मार डाला, इसलिए उसकी तो हिम्मत ही बैठ गयी। घर में अन्य कई लोग हैं, उनमें से पांच को तो मैंने बगल में रखकर रगड़ दिया तथा दो-चार और थे, उनकी भी दशा यही कर दी। पार-पड़ोसिनें थीं, वे मुझे परेशान कर सकती थीं, तो मैंने उनका जलपान कर लिया। रह गयी मेरे पतिदेव की बात, वे तो बेचारे बड़े सरल एवं सहज हैं। वे मेरे शरीर की सेवा के सारे काम कर देते हैं, यहां तक कि वे रात में मेरी शय्या भी बिछा देते हैं और मैं बस, केवल पांव पसारकर सो जाती हूं। माता जी, मेरी ससुराल बड़ी अच्छी है। चैन की बंसी बज रही है।''

गृहस्थ पाठक यदि ऐसी बहू पा जायं तो उनका क्या बीतेगा, यह सहज समझा जा सकता है। शायद ऐसी बहू दुनिया में कहीं न हो, परन्तु कबीर साहेब की एक-एक बात मजेदार रहती है और साथ-साथ गूढ़ अध्यात्म एवं उच्चतम साधनापरक भी। अब हम इस शब्द के आशय को समझें।

भावार्थ—स्वरूपस्थ-वृत्ति चेतनाशक्ति एवं आत्मा से कहती है कि हे माता, मैं व्यवहार तथा परमार्थ दोनों क्षेत्रों को उज्ज्वल बनाने वाली हूं।।१।। जब मैं अपनी स्वरूपस्थितिरूपी ससुराल में गयी तब मैंने संशय और कुबुद्धि रूपी सासु और ननद को स्थिति-शय्या की पाटी में बांध दिया और अहंकार रूपी जेठ को तिरस्कृत कर दिया।।२।। अविद्यारूपी नारी ने ही मेरे अंतःकरण-सरोवर में उपद्रव मचाया था, तो उसको विधवा कर दिया, अर्थात उसे शक्तिहत बना दिया ।।३।। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी— इन पांच बलवान जनों को तो मैंने पेट में रख लिया, अर्थात इनको पूर्णतया वश में कर लिया। और शुभ तथा अशुभ कर्मवासनाएं तथा मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार का भी शमन कर लिया।।४।। पारपड़ोसिनि हैं नाना प्रकार के दुर्व्यसन एवं गलत आदतें, मैंने उनका जलपान कर लिया। अर्थात उनको भी पूर्ण स्ववश कर लिया, परन्तु हे मां-आत्मा, मैं बुद्धि को एक दूसरी मां मानकर उसको सदैव साथ रखती हूं।।५।। सहज स्वरूपज्ञानरूपी पति ने मेरे लिए स्वरूपस्थिति एवं समाधि की शय्या बिछा दी है और मैं पैर पसारकर निश्चिंत हो उस पर सो रही हूं।।६।। हे चेतनाशक्ति-मां, अब मुझे संसार में आना-जाना एवं जन्मना-मरना नहीं है, क्योंकि इसका कारण संसार की आसक्ति थी, लगाव था, उसे सद्गुरु साहेब ने उपदेश देकर मिटा दिया है ।।७।। मैंने तो अन्य सारी मान्यताएं एवं बाह्याचार सर्वथा छोड़कर केवल एक संज्ञा, निज चेतनस्वरूप को ही पकड़ रखा है। इसी से मेरी सारी संसारी-वासनाएं छूट गयी हैं।।८।। कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं अपना यह विचार प्रतिज्ञापूर्वक रखता हूं कि निजस्वरूप चेतन ही परम तत्व एवं परम पद है।।९।।

व्याख्या—जो मनोवृत्ति समाधि में लीन हो जाती है वह अमृत बन जाती है। उसी-द्वारा इस पूरे शब्द के भाव का वर्णन है। कबीर साहेब की उक्तियां विलक्षण-विलक्षण होती ही हैं। स्वस्वरूपलीन, आत्मलीन एवं समाधिलीन मनोवृत्ति कहती है कि मैं दोनों

कुल को उजागर करने वाली हूं। दो कुल हैं व्यवहार तथा परमार्थ। जिसका मन शुद्ध होता है, आत्माराम में लगा हुआ होता है उसका मन निर्मल एवं शांत होता है, अतः उसका परमार्थ तो मानो बना-बनाया ही है, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल होता है। जिसकी मनोवृत्ति निर्मल है वह अपने साथियों से न विवाद करेगा, न उनके प्रति तनावग्रस्त रहेगा, न भोगों की चाहना रखेगा। भोगों की चाहना को लेकर ही तो सारे विवाद होते हैं और जब वही नहीं है तब किससे झगड़ा! वह मान-सम्मान को तुच्छ समझेगा। वह न किसी को कटु कह सकता है, न स्वार्थपरायण हो सकता है। वह अपने साथियों से तथा बाहरी मिलने वालों से शुद्ध प्रेमपूर्ण एवं मधुर व्यवहार करता है। जिसका मन मक्खन हो गया, अमृत बन गया है, मधु हो गया है उससे विष कैसे निकल सकता है! मन का विष ही तो व्यक्तित्व, परिवार, समाज तथा देश में जहर घोलता है और जब मन ही अमृत बन गया तो मानो उसका पूरा व्यक्तित्व ही अमृत बन गया, अतएव उसके द्वारा दूसरों को उद्वेग पहुंचने की बात ही समाप्त हो जाती है। वह आनन्दकंद होता है तथा दूसरों को भी अपने संपर्क मात्र से आनन्द देता है। इस प्रकार समाधि में लीन मन वाले को परमार्थ तो प्राप्त ही हो गया, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल हो गया। उसके व्यवहार में प्रेम का सागर है तथा परमार्थ में अनासक्ति के हिमालय का शिखर। अतएव वह प्रेम का स्वर्ग-सुख तथा अनासक्ति का मोक्ष-सुख एक साथ भोगता है। समाधि में लीन मनोवृत्ति व्यवहार तथा परमार्थ दोनों की प्रकाशिका है, यह परम सत्य है।

ऐसी मनोवृत्ति संशय और कुमति को अपनी स्थिति-शय्या की पाटी में बांध लेती है। "सासु ननद पटिया मिलि बँधलो।" खराब स्वभाववाली सासु और ननद बहू को परेशान करने वाली होती हैं और अच्छे स्वभाव वाली सासु-ननद बहू को सुख देती हैं। यहां सासु संशय तथा ननद कुमति एवं कुबुद्धि है। जिसकी मनोवृत्ति समाधि में लीन होती है उसके भीतर आध्यात्मिक और आधिभौतिक किसी प्रकार का संशय एवं संदेह नहीं रह जाता। वह परमार्थ तथा व्यवहार दोनों में निस्संदेह होता है। वह समझता है कि निज चेतनस्वरूप ही परम तत्व है और निज स्वरूपस्थिति परमपद। वह यह भी समझता है कि जीवन-निर्वाह निश्चित ही होगा, उसके साधन जुटते रहेंगे, केवल मुझे श्रम एवं संयम से रहना चाहिए। इस प्रकार वह संदेहरहित होता है। उसकी कुमति मिट गयी रहती है। उसकी कुमति सुमति के रूप में तथा संशय बोध के रूप में बदल जाते हैं। यही मानो सासु-ननद को पाटी में बांध लेना है।

"भसुरहि परलों गारी" भसुर कहते हैं ज्येष्ठ को। यह बहू के पति का बड़ा भाई होता है। तात्पर्य में है अहंकार। अहंकार ही तो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है जो सारे संसार को नचाता है। "शरीर मेरा है, धन-परिवार मेरे हैं, मैं सबसे श्रेष्ठ हूं, मेरे सामने सब तुच्छ हैं" यह भाव ही तो अहंकार है। यही भाव तो जीव को संसार में बांधता है। समाधि में रमने वाली मनोवृत्ति ने इसको खूब गाली दी, इसका तिरस्कार किया और कहा "देख शठ अहंकार! तू धोखे में है। यहां तेरा कुछ नहीं है। शरीर नश्वर है, प्राणी-पदार्थ भी छूटने वाले क्षणभंगुर हैं, मान-सम्मान नाम-रूप के हैं जो नाशवान हैं। इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। मूर्ख अहंकार, तेरा घमंड करना तेरी निचाई है। संसार के बड़े-बड़े प्रतापी, धनी,

बली, विद्वान कहलाने वाले मिट्टी में इस तरह सो गये कि दुनिया से उनके नामोनिशान मिट गये। अतएव तेरा यहां कुछ नहीं है। सारा संबंध झूठा है।'' जिसकी मनोवृत्ति समाधि में रमती है उसमें अहंकार की गंध भी कहा हो सकती है!

''जारों माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी।'' मनुष्य का अंतःकरण एक विशाल सरोवर है। इसमें उपद्रव मचाने वाली अविद्या है। अविद्या कहते हैं विपरीत समझ को। अनित्य, अशुचि, दुख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्म-बुद्धि होना अविद्या है।[१] यह शरीर अनित्य है, गंदा है, दुखपूर्ण है तथा अनात्म एवं जड़ है, परन्तु इसे यह मानना कि यह नित्य बना रहेगा, यह रमणीय एवं पवित्र है, यह सुखद है तथा यह मेरा स्वरूप है—यह भाव ही अविद्या है। इस अविद्या के कारण ही मनुष्य के मन में उपद्रव मचा है। देहादि में अहंकार करके ही सारे विकार उत्पन्न होते हैं और यह विपरीत समझ का फल है। इस विपरीत समझ एवं अविद्या के कारण ही आदमी न सोचने योग्य बात सोचता है, न बोलने योग्य बात बोलता है, न करने योग्य काम करता है तथा न खाने योग्य वस्तु खाता है। इन्हीं सबके परिणाम में उसे सारी उलझनें मिलती हैं। मनुष्य के मन-सरोवर में उपद्रव मचाने वाली यह अविद्या, यह विपरीत समझ ही है। समाधिनिष्ठ मन ने उसका नाश कर दिया। उसने अविद्या को समाप्त कर दिया।

''जना पाँच कोखिया मिलि रखलों'' समाधिलीन मनोवृत्ति पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने पेट में समा लेती है। इसका मतलब है उनको पूर्णतया वश में कर लेना। भजनानंदी व्यक्ति की इन्द्रियां संयत होती हैं। वह जान-बूझकर ऐसे दृश्यों को नहीं देखता जिससे मन मलिन हो, वह न ऐसे स्पर्श करता है, न ऐसे शब्द सुनता है, न ऐसे गंध ग्रहण करता है तथा न ऐसे रस चखता है जिनसे मन मलिन हो। वह अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है। इतना ही नहीं, ''और दुई औ चारी'' दो-चार को और अपने वश में कर लेता है। दो हैं शुभ-अशुभ कर्म और चार हैं मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। विवेकवान अशुभ भाव एवं अशुभ कर्म तो करता ही नहीं, वह शुभ भाव रखते तथा शुभ कर्म करते हुए भी उनमें अहंकार नहीं रखता। अतएव वह शुभाशुभ को जीत लेता है। इसी प्रकार दो की संख्या में आने वाले राग-द्वेष एवं हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमानादि वृत्तियों को वह जीत लेता है, यह भी कह सकते हैं। ये सारे अर्थ समाधिलीन पुरुष में समाहित हैं। इसके साथ उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार उसके अधीन होते हैं। वे अनियंत्रित नहीं भटकते। उसका मन आज्ञाकारी होता है और सदैव सद्विचार में रमने वाला होता है। उसका चित्त स्वरूपानुसंधान करता है। उसकी बुद्धि स्वरूपस्थिति-सुख की निश्चयवाली होती है। उसका अहं देहादि में नहीं, किन्तु निजस्वरूप चेतन में होता है। अतएव उसकी सारी वृत्ति बाहर से सिमिटकर अतंर्मुख हो जाती है।

''पार परोसिनि करों कलेवा'' समाधि में लीन मनोवृत्ति कहती है कि मैंने पारपड़ोसिनियों को जलपान में खा लिया है। पारपड़ोसिनि हैं अनेक छोटे-छोटे दुर्व्यसन एवं गलत आदतें जैसे तम्बाकू, पान, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, शराब, मांस, चुगली,

---

१. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। *(योगदर्शन २/५)*

निंदा, लाई-लगाई आदि की आदतें। यह सब तो साधक के पहले ही दूर हो जाते हैं। परन्तु स्वस्वरूपस्थवृत्ति कहती है "संगहिं बुधि महतारी" हे माता, मैं बुद्धि को एक दूसरी माता मानकर उसे सदैव साथ में रखती हूं। यहां एक अच्छे मनोविज्ञान का परिचय है। जीवन में सद्बुद्धि की महती आवश्यकता है। सद्बुद्धि के अभाव में ही साधक आगे चलकर एकरस रहनी में नहीं चल पाता। वह यह नहीं सोच पाता कि कितने प्राणी-पदार्थों का संग्रह करना चाहिए, कितने नहीं और कैसे-कैसे प्राणी-पदार्थ संग्रहणीय हैं तथा कैसे-कैसे नहीं। सद्बुद्धि के अभाव में ही आदमी अपने साथियों में टकराता है तथा जड़ वस्तुओं में उलझता है। अतएव पवित्र मन वाले एवं आत्माराम में रमने वाले व्यक्ति के पास में सदैव सद्बुद्धि होती है।

"सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिउँ मैं पाँव पसारी।" सहज है स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान। मनुष्य को जो कुछ मिलता है सब असहज एवं अस्वाभाविक है, साथ ही सब कुछ बदल जाने वाला है। शिशुपन गया, बालपन गया, कैशोर गया, जवानी गयी, परिपक्वावस्था गयी, बुढ़ापा भी चला जाता है, परन्तु इन सभी समयों में 'मैं हूं' यह भाव एक समान रहता है। अतएव अपना आपा, अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान, मैं पन का बोध सहजज्ञान है। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान सब बैठे हों, उनके बाहरी दिखावे में तो विविधता है, परन्तु वे सब आंखें मूंदकर भीतर अनुभव करें तो क्या है, केवल चेतन। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के देवताओं तथा अनेक भगवानों एवं आत्म-भिन्न ईश्वर की कल्पना सब मन तक ही है जो विविध हैं। मन के समाप्त होने पर केवल चेतन रह जाता है। संकल्पों में ही सारा शुभाशुभ प्रपंच है, किन्तु संकल्प-शून्य हो जाने पर केवल चेतन है और गहरी शांति। चेतन ही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव इस सहज स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान बेचारे ने मानो सहज समाधि की शय्या बिछा दी। जब निजस्वरूप चेतन के अलावा सारे भासों-अध्यासों एवं वासनाओं का त्याग हो गया तब चेतन मात्र रह गया। यही अपना सहज स्वरूप है और इसी में स्थित होना सहज समाधि में रमना है। ऐसा साधक अभ्यासकाल में संकल्प-शून्य हो जाता है, और व्यवहारकाल में राग-द्वेष एवं हर्ष-शोक-शून्य रहता है। इसलिए वह मानो सब समय सहज समाधि की शय्या पर पैर पसारकर सोता है। पूर्णतया निश्चिन्त हो जाना ही पैर पसारकर सोना है।

एक राजा एक महात्मा के दर्शन करने चले। वे महात्मा उस राजा के पूर्वाश्रम के परिचित थे। राजा को आते देखकर महात्मा पैर पसारकर लेट गये। राजा ने पूछा "आपने पैर पसारना कब से सीखा?" महात्मा ने कहा "जब से हाथ पसारना छोड़ दिया।" इस प्रकार स्वस्वरूपस्थ-वृत्ति सदैव सहज समाधि में डूबी रहती है। वह निर्विकल्प अवस्था में तो समाधि में रहती ही है, व्यवहार में भी मानो समाधि में ही रहती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष खाते-पीते, बोलते-चालते, चलते-फिरते भी मानो समाधिलीन है। जिसकी वृत्ति सब समय पदार्थ-पार है वह सब समय समाधि में है।

"आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी।" आना-जाना, मरना-जीना लगाव से एवं आसक्ति से होते हैं। परन्तु यहां तो सद्गुरु साहेब ने ऐसा बोध दे दिया है कि सब तरफ से लगाव ही छूट गया है। अब कहीं लगाव, चिपकाहट, मोह, ममता नहीं

रहे, फिर किस वासना को लेकर जीव जगन्नगर में भटकेगा! जिसका शराब से लगाव है वह शराब की दुकान पर जाता है, गांजा से लगाव है वह गांजे के अड्डे पर जाता है। इसी प्रकार जहां जिसका लगाव है वह वहां जाता है। यहां ज्ञानी पुरुष का दृश्य मात्र में कहीं लगाव नहीं रह गया। फिर वह किस संस्कार को लेकर देह में आयेगा! निश्चित ही यह बड़ी उच्चतम स्थिति है, किन्तु मनोवैज्ञानिक है। सारी आसक्तियों का अन्त ही जीवन्मुक्ति है।

'एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छूटल संसारी।'' संसारी-भाव कैसे छूटता है? अर्थात समस्त विषय-वासनाओं का त्याग कैसे होता है? इसके उत्तर में सद्‌गुरु कहते हैं कि निजु कै नाम गहने से। यहां नाम शब्द उपलक्षण मात्र है। यहां का अर्थ है निज चेतनस्वरूप। वैसे यहां नाम निजु कै ही कहा गया है। तो व्यक्ति का निज का नाम चेतन ही है। हमारा निजस्वरूप चेतन ही है, अतएव जो निज चेतनस्वरूप का भाव दृढ़तापूर्वक पकड़ता है उसी की सांसारिकता छूटती है। साधक जहां तक रंग-रूप वाले भगवान एवं मनःकल्पित आकारों को ग्रहण करता है। वहां तक संसारी-भाव ही है, क्योंकि भौतिक जगत तथा मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही निजस्वरूप में स्थिति होती है। निज चेतनस्वरूप में स्थिति होने पर ये दोनों छूट जाते हैं। अतएव दृढ़तापूर्वक स्वरूपस्थिति में निमग्न होने पर ही संसारी-भाव छूटता है।

''एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी।'' कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं इस एक नाम को, अर्थात इस चेतनस्थिति को प्रतिज्ञापूर्वक मोक्षदशा मानता हूं। कबीर साहेब नाम-जप मात्र से जो लोग मोक्ष होने की प्रतिज्ञा करते हैं, उनका खंडन करते हैं। इसे आप पीछे चालीसवें शब्द ''पण्डित बाद बदे सो झूठा'' में अच्छी तरह देख आये हैं। वहां साहेब कहते हैं- कि हे पंडित, आप राम-नाम जप मात्र से मोक्ष होने की प्रतिज्ञापूर्वक बात करते हैं, यह असत्य है। परन्तु यहां स्वयं कबीर साहेब ''बदि कै लेखों'' कहते हैं, क्योंकि वहां केवल नाम-जप से मोक्ष मानने की बात थी और यहां दृश्य विषयों को छोड़कर निज चेतनस्वरूप में स्थित होने की बात है। इस बात का संकेत सद्‌गुरु ने वहां (४० वें शब्द में) भी कर दिया है ''साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी। कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।'' वहां भी यही बात है विषय एवं संसारी-भाव का त्याग और राम का भजन। राम-भजन निज चेतनस्वरूप की स्थिति ही है। अतएव वहां के ''बाद बदे सो झूठा'' तथा यहां का 'बदि कै लेखों' में विरोध नहीं है, किन्तु प्रसंगानुकूल ही है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में स्वरूपस्थिति की दिव्य रहनी का वर्णन है।

गगन-मंडल के फूल

शब्द–६३

मैं कासों कहौं को सुने को पतियाय, फुलवा के छुवत भँवर मरि जाय॥ १ ॥
जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय॥ २ ॥

गगन मण्डल बिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला॥ ३ ॥
फूल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल॥ ४ ॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पतियाय = विश्वास करना। फुलवा = फूल, विषय-वासना, भोग। छुवत = स्मरण या स्पर्श करते ही। भँवर = भ्रमर, मन। मरि जाय = विवेकशून्य हो जाता है। गगन मण्डल = मस्तिष्क। मलिनि = मालिन, माली, माली का काम करने वाली स्त्री, चित्तवृत्ति। गाँथल = गूंथना, माला बनाना।

भावार्थ—मैं किससे कहूं, कौन सुनेगा, यदि सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। अर्थात इस बात के सुनने तथा समझने वाले कम लोग हैं कि भोगों का स्मरण करते ही मन विवेकशून्य हो जाता है।।१।। बिना जोते, बिना बोये, बिना सींचे तथा बिना डाली-पत्ते के एक फूल होता है, वह है विषयवासना।।२।। मनुष्य के मस्तिष्क-प्रदेश में विषय-वासना के एक प्रकार के फूल खिलते हैं। इसकी शाखाएं नीचे तथा जड़ ऊपर हैं अर्थात विचार की जड़ मस्तिष्क ऊपर है तथा इन्द्रिय-शाखाएं नीचे हैं।।३।। मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासना के फूल खूब खिले और चित्तवृत्ति रूपी मालिन ने उसकी स्मरणरूपी अच्छी माला गूंथी। परन्तु जब भोग नष्ट हो गये तब मन-भंवरा दुखी हो गया।।४।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो! साधारण की क्या कहें, विद्वान लोग भी इन फूलों में विमोहित हैं।।५।।

व्याख्या—संसार में देखा जाता है कि जहां सुगंधित फूल होते हैं वहां भंवरे अपने आप आ जाते हैं। लोक कहावत है कि फूलों में सुगंध आती है तब भंवरों को निमंत्रित नहीं करना पड़ता, वे स्वयं आ जाते हैं। भंवरे फूलों में बैठकर उनके रस लेते हैं और उनमें खूब मस्त रहते हैं। जब बाग में फूल नहीं रहते तब भंवरे वहां से उड़ जाते हैं। कबीर साहेब तो अपनी उलटवांसी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं कि मैं किससे कहूं! मेरी उलटी-सी बात कौन सुनेगा! यदि कोई सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा! वह यह बात है कि फूल का स्पर्श करते ही भंवरा मर जाता है।

साहेब कहते हैं कि मैं सच कहता हूं कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। फूल है विषय-वासना तथा विषय-भोग। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। ये क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से भोगे जाते हैं। भोगने के बाद मन में इनकी वासनाएं बन जाती हैं। वे वासनाएं मन को बारम्बार विषयों की तरफ खींचती रहती हैं। फिर तो वासनाएं ही चंचलता का मूल हो जाती हैं। उन्हीं के कारण जीव बारम्बार विषयों की ओर प्रभावित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनाएं मानो फूल हैं और बाहर संसार में पांच विषय फूल हैं। मुख्य हैं विषय-वासनाएं, उनसे प्रेरित होकर ही मनुष्य स्थूल भोगों में पड़ता है। यह मन भंवरा विषय-वासनाओं का स्मरण करते ही विवेकशून्य हो जाता है, उसका विवेकशून्य होना ही मानो मरना है। भंवरा मन है, फूल विषय-वासना है, छूना स्मरण करना है तथा मर जाना विवेकशून्य हो जाना है।

"जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।" फूल पैदा करने के लिए खेत को जोतना, गोड़ना, बोना तथा सींचना पड़ता है। उसके पौधे होते हैं, शाखाएं होती हैं, उसमें पत्ते निकलते हैं, तब कहीं जाकर उसमें फूल खिलते हैं। साहेब कहते हैं, परन्तु इस विषय-वासना रूपी फूल के लिए यह सब नहीं करना पड़ता। इसमें न जोतना है, न बोना है, न सींचना है, न इसमें पौधे होते हैं, न शाखाएं और न पत्ते। इसमें तो ख्याल करते ही फूल खिल जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये फूल कहां खिलते हैं? साहेब इसे अगली पंक्ति में बतलाते हैं—

"गगन मण्डल बिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।" ये फूल खिलते हैं आकाश-मंडल के बीच में। यहां मस्तिष्क ही आकाश-मण्डल है। यही तो विचारों का केन्द्र है। यहीं मलिन-विचार आकर विषय-वासनाओं के फूल खिलते रहते हैं। अच्छे या बुरे सारे विचार पहले मस्तिष्क में आते हैं, यदि वे समाप्त नहीं कर दिये गये तो उनके अनुसार कुछ-न-कुछ इन्द्रियों में क्रियाएं होती हैं। इस प्रकार इन विषय-वासनाओं के फूल मस्तिष्करूप गगन-मण्डल के बीच में ही खिलते हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या इसमें बिलकुल ही पेड़ तथा शाखाएं नहीं होते? साहेब कहते हैं कि नहीं, दूसरे प्रकार से देखिए तो इस फूल के भी पेड़ तथा शाखाएं हैं। परन्तु संसार के पेड़ तथा शाखाओं से उलटे हैं। विषय-वासनाओं के फूल जिस पेड़ में खिलते हैं उसकी जड़ तो ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर लटकी हुई हैं। अर्थात मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है जिसमें विषय-वासनाओं के फूल खिलते हैं। वही मूल है और वह इस शरीर में बिलकुल ऊपर है तथा इन्द्रियां शाखाएं हैं, वे नीचे लटकी हैं। मूल एवं जड़ में पानी डालने से पूरा वृक्ष हरा-भरा होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के आने से शाखाएं अपने आप आंदोलित हो जाती हैं। यदि कोई अपने मस्तिष्क को विषय-विचारों से सींचता रहे तो उसकी इन्द्रियां अपने आप विषयोन्मुख बनी रहेंगी।

"फुल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल।" मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के फूल खूब खिले और चित्तवृत्तिरूपी मालिन ने उनकी अच्छी माला बनायी। अर्थात मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-विकार आते गये और चित्त उनका अनुसंधान करता गया, क्षण-क्षण विषयों का स्मरण करता गया और भोगों के शेखचिल्ली के भवन खड़ा करता गया। परन्तु अन्त में हुआ क्या! विषय-वासनाओं के फूल विनष्ट हो गये और मन-भंवरा निराश हो गया। मन में जो कुछ विषय-वासनाओं का नक्शा बनाया था वह निष्फल गया। भोगों से शक्ति क्षय होने पर मनुष्य का मन हताश ही होता है। शरीर बूढ़ा होता है। इंद्रियां निर्बल होती हैं। अनुकूल प्राणी-पदार्थ बदल जाते हैं। अन्त में विषयी मन-भंवरा संसार से निराश होकर दूसरे बाग की शरण लेने उड़ जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई।" साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो, साधारण लोग इस विषय-वासना के फूल में उलझे रहें तो लगता है कि वे अज्ञानी हैं, परन्तु शास्त्रों एवं अनेक विषयों तथा अनेक भाषाओं के विद्वान एवं पण्डित भी इस फूल में प्रलुब्ध हैं। यह आश्चर्य है। पंडित एवं विद्वान सब कुछ जानते हैं। वे

बारम्बार संसार की नश्वरता, विषय-वासनाओं की सारहीनता तथा उनकी दुखरूपता का व्याख्यान करते हैं, परन्तु फिर भी वे इनमें भूले रहते हैं। अतएव शास्त्रज्ञान से कोई भव-सागर नहीं पार कर सकता। इसके लिए भक्ति, स्वरूपज्ञान, वैराग्य तथा त्याग चाहिए।

इस शब्द का एक अर्थ योगपरक भी किया जा सकता है। गगन-मंडल अर्थात खोपड़ी में एक सहस्रदल कमल की कल्पना की जाती है और उसमें एक ज्योति की अवधारणा की जाती है जो गगन-मंडल का फूल है। वह फूल ऊपर सहस्रदल में है तथा उसकी शाखा सुषुम्णा है जो नीचे नाभि और शिश्न के मध्य मूलाधार चक्र तक पहुंची है। इस सुषुम्णा को यौगिक-क्रिया-द्वारा जगाकर योगी ऊपर ले जाता है और ऊपर सहस्रदल कमल में ब्रह्माग्नि का प्रकाश कर देता है। यही वहां का फूल है। योगियों की मनोवृत्तिरूपी मालिन इसकी अच्छी तरह से माला गूंथती है। अर्थात उनका चित्त इसी में तदाकार होता है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह ब्रह्म माना गया ज्योतिरूपी फूल केवल शरीर का भास-अध्यास है। यह अभ्यास के बाद नष्ट हो जाता है और शरीर छूटने पर शरीर के साथ सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, तब योगियों को निराश होना पड़ता है। साहेब कहते हैं कि इस फूल में बड़े-बड़े पंडित लुब्ध हैं। वे इसे सत्य तथा आत्मस्वरूप मान बैठे हैं। परन्तु इस कल्पित फूल के स्पर्श से मन विवेकशून्य हो जाता है। निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक भास-अध्यास में अनुराग है वह जीव को भटकाने वाला ही है।

जो लोग असंभव काम करने को सोचते हैं उन्हें लोग व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश के फूल तोड़ना चाहते हैं। यहां भी गगन-मंडल के फूल की बात है। चाहे विषय-वासना एवं विषय-भोग हो और चाहे खोपड़ी में कल्पित ज्योति हो, सब मन के आयाम की चीजें हैं, सब जीव के निजस्वरूप चेतन एवं आत्मा से अलग होने से छूटने वाले तथा विनश्वर हैं। अतः इनमें नित्य तृप्ति की आशा करना आकाश के फूल तोड़ने की कामना के समान मिथ्या प्रयास है। इसके परिणाम में व्यक्ति को निराशा ही हाथ लगेगी। इसलिए सारे विजाति दृश्यों को त्यागकर निजस्वरूप में ही तृप्त होना चाहिए।

साधारण लोगों को उपदेश

शब्द–६४

जोलहा बीनहु हो हरि नामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना॥ १ ॥
ताना तनै को अहुठा लीन्हा, चरखी चारिउ बेदा॥ २ ॥
सरकुण्डी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे कामा॥ ३ ॥
भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें माँड़ी साना॥ ४ ॥
माँड़ी का तन माँड़ि रहा है, माँड़ी बिरले जाना॥ ५ ॥
चाँद सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हा, माँझ दीप कियो माँझा॥ ६ ॥
त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे, श्याम मुररिया दीन्हा॥ ७ ॥

पाई के जब भरना लीन्हा, वै बाँधन को रामा ॥ ८ ॥
वै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधे, कोई न रहत उबाना ॥ ९ ॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हा, दिग मग कीन्हों ताना ॥१०॥
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना ॥११॥

शब्दार्थ—अहुठा = अहुठ, साढ़े तीन, तात्पर्य में साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर। चरखी = सूत कातने का यन्त्र। सरकुण्डी = ताने के सूत को भिन्न रखने वाली खूंटियां। कठवत = काठ का बड़ा पात्र। माँड़ी = पकाये हुए चावल का पसेव, जो सूत पर चढ़ाया जाता है। चाँद = ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी। सूर्य = पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी। गोड़ा = दो टेढ़ी बंधी हुई लकड़ियां जिन पर सूत तानते हैं। माँझ दीप = मध्य भाग, सुषुम्णा नाड़ी। माँझा = मांड़ी चढ़ा हुआ सूत। त्रिभुवननाथ = मन। माँजन लागे = मांड़ी चढ़े हुए सूत को सम और पुष्ट करने के लिए कूंची से मांजा जाता है। श्याम = गाढ़ा रंग, जिससे उस पर दूसरा रंग न चढ़े। मुररिया = टूटे हुए सूत के दोनों सिरे को एक में मिलाकर मरोड़ देना। पाई = सूत को सुलझाकर उसे शुद्ध करना। भरना = कमचियों के बीच से सूत निकाल लेना। वै = कपड़े बुनते समय सूत को ऊपर-नीचे होने के लिए पहले ही राछ की कमचियों के छिद्रों में एक-एक सूत निकाल-निकालकर बांधते हैं इसे वय-बंधन कहते हैं। तिहुँ लोकहिं = नाभि, हृदय, त्रिकुटी। उबाना = जो सूत बाहर रह जाता है। तीनि लोक = नाभि, हृदय, त्रिकुटी। करिगह = करघा, कपड़ा बुनने का यन्त्र। दिगमग = दशों इंद्रियां।

भावार्थ—हे जोलाहे! सूत के वस्त्र बुनने के साथ-साथ हरि नाम के भी वस्त्र बुनो, जिसका सुर, नर तथा मुनि ध्यान धारण करते हैं॥१॥ हरि नाम-वस्त्र बुनने के लिए जो ताना तनना पड़ता है उन्हें नापने के लिए गज यह मानो साढ़े तीन हाथ का शरीर है, और चारों वेद चरखी हैं जिससे भक्ति का सूत काता जा सकता है॥२॥ राम और नारायण नाम सरकंडे हैं जो तुम्हारे भक्तिजनित वस्त्र-वयन के काम को पूर्ण प्रकट करते हैं॥३॥ यह भव-सागर संसार मानो एक विशाल कठौता है जिसमें माया की मांड़ी सानी गयी है॥४॥ यह शरीर जो शोभायमान हो रहा है यह माड़ी का ही है। अर्थात दिखावा मात्र है। परन्तु इसे कोई विरला समझता है कि यह दिखावा मात्र एवं नश्वर है॥५॥

योगी लोग ईडा और पिंगला को दो गोड़ा बनाते हैं जिस पर श्वास के सूत कसते हैं और सुषुम्णा को मांड़ी चढ़ा हुआ सूत॥६॥ योगियों का मन इसे मांजता है। अर्थात वे श्वास-सूत को अभ्यास से सूक्ष्म बनाते हैं। इन सूतों को वे गाढ़ा रंग देते हैं, जिससे उन पर दूसरा रंग चढ़ न सके। अर्थात वे प्रति श्वास में अपने भाव का रंग भरते हैं जिससे अन्य भाव न प्रविष्ट हों। टूटे हुए सूतों के सिरों को एक में जोड़ने के लिए उन्हें मरोड़ देते हैं। अर्थात सभी श्वासों का निग्रहकर योगाभ्यास करते हैं॥७॥ वे श्वास को शुद्ध कर कुंभक करते हैं, यही मानो पाई करके भरना देना है। राम में मन को जोड़ना ही मानो उनका वय-बंधन करना है॥८॥ वय-बंधन कर जब भरनी करते हैं अर्थात राम में मन जोड़कर जब योग का पट बुनते हैं, तब यह पट नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी—इन तीनों लोकों में फैला रहता है। कोई श्वास इस वस्त्र-वयन से अलग नहीं रहता। अर्थात श्वास-

श्वास में वे नाम-स्मरण करते हैं।।९।। योगी लोग नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी रूपी तीनों लोकों का मानो एक करघा बना लेते हैं और दशों इंद्रियांरूपी दशों दिशाओं के पथ को ताना बना लेते हैं, और आदि पुरुष चेतन में अपने मन को लीन करने का प्रयास करते हैं, परन्तु वे उसे न कर ज्योति में लीन हो जाते हैं। अर्थात वे कल्पित ज्योति को ही आदि पुरुष चेतन मान लेते हैं।।१०-११।।

व्याख्या—बीजक भर में अनेक रूपकों के साथ जुलाहे के वस्त्र-वयन के रूपक के खंडरूप यत्र-तत्र आये हैं, परन्तु इस शब्द में उसका अधिक सम्पन्न रूपक आया है। इसमें जोलाहा, बीनना, ताना, अहुठा, चरखी, सरकुंडी, कठवत, मांड़ी, सानना, गोड़ा, मांझा, मांजना, मुररिया, पाई, भरना, वय, उबाना, करिगह आदि शब्द एक साथ संग्रहीत हैं। इनमें से कई ऐसे शब्द हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं। वे आज से पांच सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थे। इन रूपकों को लेकर सर्वसम्मत अर्थ तो असम्भव है, परन्तु पूरे शब्द का आशय क्या है यह समझ में आ जाता है।

कबीर साहेब मस्तमौला संत थे। वे विविध समयों में विविध स्थानों में विविध ढंग से अपनी बात कहते थे। उनके सामने अनेक प्रकार के पात्र होते थे, इसलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की बातें कहीं हैं। इस शब्द से लगता है कि कबीर साहेब मानो जोलाहों की झोपड़-पट्टियों में चले गये हों और उन्होंने उनको सरल भाव से उपदेश दिया हो हरिनाम के वस्त्र बुनने का। वे जब पंडितों के समूह में जाते हैं तब दार्शनिक बातें कहते हैं। परन्तु यहां वे सरल, अशिक्षित एवं अबोध जोलाहों के बीच में पहुंचते हैं इसलिए वे कहते हैं कि हे जोलाहो, तुम लोग सूत के कपड़े अवश्य बुनो, परन्तु उसके साथ-साथ हरिनाम के वस्त्र का भी वयन करो। साहेब कहते हैं कि इसके लिए बाहरी गज, चरखा, ताना, सरकंडे, कठौता, मांड़ी इत्यादि की जरूरत नहीं है। हरिनाम वस्त्र बुनने के लिए तो तुम्हारा शरीर ही काफी है। इसी में हरिनाम-वस्त्र-वयन की सामग्री प्राप्त है। इसमें साहेब एक विशेष बात कहते हैं कि तुम्हें सूत कातने के लिए चारों वेदों का चरखा बनाना पड़ेगा। यहां वेदों के प्रति श्रद्धा का भाव है।

एक से पांचवीं पंक्ति के बाद वे इस शब्द में योगपरक वाणियों का प्रयोग करते हैं। रूपक जोलाहे का ही रहता है, किन्तु हरिनाम-वस्त्र-वयन की अपेक्षा वह गूढ़ हो जाता है। उसमें ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा-द्वारा श्वास साधना और नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी इन तीनों लोकों का करघा बना कर हरिनाम-वस्त्र-वयन या योगसमाधि-वस्त्र-वयन की बात आती है।

जहां साहेब योगी की बात करते हैं वहां वे प्रायः उनके अंतिम लक्ष्य ज्योति की बात अवश्य कर देते हैं। योगी लोग खोपड़ी में एक ज्योति की कल्पना करते हैं। उसे वे ब्रह्म कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह है तत्वों का प्रकाश या एक अवधारणा। साहेब किसी साधक का इस ज्योति में समाना कभी पसंद नहीं करते। मानो वे योगियों पर व्यंग्य करते हैं कि योगी लोग तो आदिपुरुष, अर्थात मूलपुरुष चेतन में लीन होने के लिए समाधि में बैठे थे, परन्तु लीन हो गये ज्योति में। उन्होंने जड़-ज्योति को ही मूलतत्व मान लिया। इसी ज्योति पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु ने कहा है **"झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु।**

गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु।।''[1] तथा ''ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी।''[2]

अगले ६५ वें एवं ६६ वें शब्द में योगियों के नाम लेकर उनकी आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

योगियों पर विचार

शब्द–६५

योगिया फिरिगौ नगर मँझारी, जाय समान पाँच जहाँ नारी।। १ ।।
गयेउ देशान्तर कोइ न बतावै, योगिया बहुरि गुफा नहिं आवै।। २ ।।
जरि गयो कन्थ धजा गइ टूटी, भजि गयो डंड खपर गयो फूटी।। ३ ।।
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहे करवा सो निकरे टोटी।। ४ ।।

शब्दार्थ—नगर = ब्रह्मांड, खोपड़ी। पाँच नारी = पांच नाड़ियां—धनंजय, कूर्म, कृकल, नाग तथा देवदत्त। देशान्तर = दूसरी देह। गुफा = ब्रह्मांड, खोपड़ी। कन्थ = कंथा, गुदड़ी, देह। धजा = ध्वजा, श्वास। भजि = नष्ट। डण्ड = मेरुदंड। खपर = खोपड़ी। कलि = कल्पना, विषय, मलिन बुद्धि। खोटी = बुरी। करवा = मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन, अंतःकरण। टोटी = मोरी, मुख, मार्ग, वासना।

भावार्थ—योगी लोग पिंड से श्वास को लौटाकर कृकल आदि पांच नाड़ियों के संयुक्त जहां ब्रह्मांडरूप नगर है उसके मध्य कल्पित ज्योति-शब्द-शून्य आदि में समाधिस्थ हुए।।१।। परन्तु इन भूले हुए लोगों को यह कोई नहीं बताता कि एक दिन जब शरीर त्यागकर दूसरी देह में जायेंगे तब योगी लोग पुनः उक्त ब्रह्मांड एवं भ्रमरगुफारूप माने हुए सुरक्षित घर में ज्योति-शब्द-शून्य आदि में मिलने के लिए नहीं आयेंगे।।२।। तब तो शरीररूपी गुदड़ी जल जायेगी, श्वासरूपी ध्वजा टूट जायेगी, सुषुम्णा नाड़ी का मार्गरूप मेरुदण्ड नष्ट हो जायेगा और इन्होंने जो ब्रह्मज्योति का सुरक्षित घर मान रखा है वह खोपड़ी फूट जायेगी।।३।। कबीर साहेब कहते हैं कि यह मलिन बुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही मोरी से निकलेगा, दूध है तो दूध और पानी है तो पानी। हृदय में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव एवं दुख होगा ही ।।४।।

व्याख्या—कबीर साहेब ने स्वयं हठयोग साधा था और अन्त में उसकी निस्सारता देखकर उसकी आलोचना की थी। वे हठयोग के नहीं, राजयोग के ही पक्षधर रहे। हठयोगी लोग शरीर संज्ञाहीन बनाकर खोपड़ी में एकाग्र होते हैं। वहां ज्योति-शब्द-शून्य आदि की कल्पना कर उन्हें ही ब्रह्मरूप एवं परमतत्वरूप मानते हैं। साहेब कहते हैं कि ज्योति-शब्द आदि शरीर के कार्य हैं, भास-अध्यास मात्र हैं। ये शरीर के छूटते ही समाप्त हो जायेंगे। इनका साक्षी चेतन ही व्यक्ति का अपना स्वरूप है, अतएव यही परमलक्ष्य है।

---

१. साखी ४२।
२. शब्द ९४।

निजस्वरूप में स्थिति ही परमार्थ है। ज्योति, नाद, शब्द आदि नहीं। इन सबके साधन देह, श्वास, मेरुदण्ड, खोपड़ी आदि सब नाशवान हैं।

साहेब कहते हैं कि जो करवा में रहता है वही उसकी टोंटी से निकलता है। दूध है तो दूध निकलेगा और पानी है तो पानी। 'कलि' मलिनता है। यह बुरी वस्तु है। यदि हमारे मन में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव ही होगा। यदि योगी दृश्य-भास एवं जड़ाध्यासों में पड़ा है तो उसका भटकना नहीं मिट सकता। भटकना तो तब बंद होगा जब सारे दृश्य-भासों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो।

इस शब्द का अर्थ दूसरे ढंग से भी किया जा सकता है। "योगिया फिरिगौ नगर मँझारी" इस अर्धाली में आये हुए 'योगिया' शब्द में श्लेष है। इस शब्द में हठयोगी और जन्मांतरों में भटकने वाले जीव दोनों अर्थ प्रतिबिंबित होते हैं। अतएव दूसरे अर्थ में 'योगिया' का अर्थ वासनावशी जीव मानकर इस शब्द का यह अर्थ किया जा सकता है—

इस जीव ने शरीर छोड़कर और पुनः लौटकर दूसरा शरीर धारण करने के लिए गर्भवासरूपी नगर में प्रवेश किया जहां प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान रूपी पांच नाड़ियां निवास करती हैं। जीव किस दूसरी योनिरूपी देशांतर में गया इसे कोई नहीं बता सकता, और वह जीव लौटकर त्यक्त शरीर में आ नहीं सकता कि स्वयं बता जाये। यहां तो जीव-योगी की प्राण-ध्वजा टूट गयी, मेरुदण्ड नष्ट हो गया, खोपड़ी-खप्पर फूट गया और देह-गुदड़ी जलकर राख हो गयी है। अतएव पूर्व शरीर में लौटकर आने की बात ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि जगत-वासनाएं ही कलि हैं, जीव को भटकाने वाली हैं। जो करवा में रहेगा वही टोंटी से निकलेगा, जीव वासनावश है तो जगन्नगर में अवश्य भटकेगा। अथवा जीव पहले गर्भवास में जाता है तभी तो गर्भ से सजीव देह निकलती है। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी" यह तथ्य है।

शब्द–६६

योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई॥ १ ॥
ये योगिया के उलटा ज्ञान, काला चोला नहिं वाके म्यान॥ २ ॥
प्रगट सो कंथा गुप्ताधारी, तामें मूल सजीवन भारी॥ ३ ॥
वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै॥ ४ ॥
अमृत बेली छिन-छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै॥ ५ ॥

शब्दार्थ—नगर = समाज। काला चोला = मैला मन। म्यान = मियान, मध्य भाग, तलवार आदि रखने का खोल, तात्पर्य में सुरक्षा। कन्था = गुदड़ी, शरीर। गुप्ताधारी = गुप्तरूप से धारण करने वाला। मूल सजीवन = संजीवनी बूटी, तात्पर्य में अमर चेतन। भारी = महान। युक्ति = चाल, रीति, स्वभाव। त्रिभुवन = सारा विश्व। अमृत बेली = अमृतलता, स्वरूप-स्मरण। युग-युग जीवै = मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—योग की आड़ में भौतिक-सुख की इच्छा रखने वाले योगियों के समाज में कोई मत जाओ, क्योंकि जो उनके संग में रहेगा वही "कच्चा सिद्ध माया प्यारी"[1] के अनुसार भ्रांत योगी बन जायेगा।।१।। इन योगियों का ज्ञान उलटा है, पाना चाहिए निजस्वरूप की स्थिति, तो ये पाने की कोशिश करते हैं संसार के भोग। अतएव इनका मन मैला है, इनकी संगत में आत्मज्ञान की सुरक्षा नहीं है।।२।। मानो यह जीव ही योगी है, इसका प्रत्यक्ष शरीर इसकी गुदड़ी है, इसके भीतर गुप्तरूप से महान अमर चेतन विद्यमान है।।३।। इस जीव-योगी के स्वभाव को जो समझ जायेगा कि यह शुद्ध चेतन मात्र है, वह अपने स्वरूप-राम में ही निरन्तर रमण करने लगेगा। वह सारे विश्व का साक्षी बनकर सबसे अलग हो जायेगा।।४।। वह क्षण-क्षण अपने चेतनस्वरूप का स्मरणरूपी अमृतपान करेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसा आत्मस्थ योगी सदा के लिए अमरत्व पा जायेगा, अर्थात वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जायेगा।।५।।

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में योगियों का बहुत अधिक प्रचार था। योगी के नाम पर ज्यादा तो ऐसे लोग थे जो आसन, मुद्रा आदि का दिखावा कर समाज को आश्चर्यचकित करते थे, और उनसे धन एवं भोग वस्तुओं को प्राप्तकर उन्हीं में लीन रहते थे। कुछ लोग इनसे ऊपर उठते थे तो वे ज्योति, नाद, शब्द एवं शून्य को अपने योग का लक्ष्य मानकर दृश्यभास में ही रुक जाते थे। निजस्वरूप का बोध तथा सारे भास-अध्यासों को छोड़कर निज स्वरूपस्थिति की बातें दुर्लभ थीं।

इसलिए सद्गुरु ने कहा "योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई।" संगत का प्रभाव तो पड़ता ही है। हठयोग की प्रक्रिया सीखकर हाट-बजारे समाधि लगाना और जनता को आकर्षित कर उनसे सम्मान एवं भोग पाने की आशा करना तो कल्याणपथ से भटक जाना है। यही तो इन योगियों का उलटा ज्ञान है । योग का मतलब है मन की एकाग्रता, चेतन का जड़ प्रकृति से वियोग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना, अर्थात सारी जड़ासक्ति का त्यागकर जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना, परन्तु काम करने लगे इसके उलटा लोक-रिझावा, तो इसका परिणाम उलटा होगा ही। यही उनका 'काला चोला' होना है। चोला कहते हैं ढीले-ढाले अंगरखे को। दूसरे अर्थ में शरीर है। काला का अर्थ काला है ही। अतः काला चोला का लाक्षणिक अर्थ है 'मैला मन'। साहेब कहते हैं कि योग की आड़ में सम्मान और भोग चाहने वाले योगियों का मन मैला है। "नहिं वाके म्यान" म्यान किसी वस्तु को रखने का खोल होता है। उसमें किसी वस्तु की सुरक्षा रहती है जैसे तलवार म्यान में सुरक्षित रहती है । साहेब कहते हैं कि इन योगियों के पास आत्मकल्याण की सुरक्षा नहीं है। जब ये स्वयं भटके हुए हैं तब दूसरों को क्या सुरक्षा दे सकते हैं!

"प्रगट सो कन्था गुप्ताधारी, तामें मूल सजीवन भारी।" साहेब कहते हैं कि इन वेषधारी योगियों के आस-पास चक्कर काटना छोड़ दो और यह समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य जीव मानो योगी है। योगी गुदड़ी ओढ़कर चलता है, तो प्रत्येक जीव-योगी का यह

---

१. रमैनी ६९।

प्रकट शरीर ही मानो गुदड़ी है, जिसके भीतर गुप्तरूप से महान तत्व अमर चेतन विद्यमान है। बाह्य योगी अमरता प्रदान करने का दावा करता है। उसका दावा तो झूठा है, क्योंकि शरीर से कोई अमर नहीं हो सकता, परन्तु इस शरीर के भीतर विद्यमान महान चेतन स्वरूपतः अमर है। यदि हमें अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान हो जाय तो मृत्यु-भय रह ही नहीं जायेगा, क्योंकि चेतन अमर है। इस शरीर-गुदड़ी में गुप्तरूप से बसा हुआ मूल सजीवन अमर आत्मा ही है जो भारी है, महान है, दिव्य है और व्यक्ति का अपना स्वरूप है।

"वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै।" इस जीव-योगी की युक्ति जो बूझेगा वह अपने रामरूप में ही रमण करने लगेगा, उसे सारा संसार सूझेगा। यहां योगिया की युक्ति क्या है? युक्ति के कई अर्थ हैं—योग, मिलन, तर्क, ऊहा (सुधार), दलील, उचित, विचार, हेतु, कारण, न्याय, नीति, कौशल, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति[1] आदि। हम यहां इनमें अंतिम वाला अर्थ लें चाल एवं रीति, इसका सरल शब्द स्वभाव है। यदि इस जीव-योगी का स्वभाव समझ में आ जाय, अर्थात अपने चेतनस्वरूप का लक्षण हम ठीक से समझ लें कि वह शुद्ध चेतन मात्र है तो अपने स्वरूप में ही रमने लगेंगे। अपना चेतनस्वरूप ही तो राम है और जो उसमें रमने लगेगा उसे त्रिभुवन सूझेगा। "त्रिभुवन सूझै" को हम दो ढंग से समझ सकते हैं, एक तो यह कि वह जड़-चेतन के गुण-लक्षणों को ठीक से जान लेता है इसलिए उसी परख से वह सारे संसार को समझ जाता है कि संसार जड़-चेतनमय है और अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से चल रहा है। बटलोई के एक चावल को छूकर सभी चावल का ज्ञान हो जाता है कि पके हैं कि नहीं। इसी प्रकार आत्मविवेकी पुरुष अपने विवेक से मानो सारे संसार की गुण-धर्मात्मक वास्तविकता को समझ लेता है, यही त्रिभुवन सूझना है। इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार समझ सकते हैं कि राम में रमने वाला स्वरूपज्ञानी पुरुष सारे संसार का साक्षी बन जाता है। अर्थात वह अपने आपको सबसे अलग कर लेता है।

"अमृत बेली छिन छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै।" अमृत का अर्थ है जो मृत न हो, अमर हो, वह जीव ही है।[2] अमृत का दूसरा अर्थ मीठा है। जो वस्तु बहुत मीठी होती है उसे लोग कहते हैं कि यह तो अमृत है। बेलि कहते हैं लता को, यहां इसका लाक्षणिक अर्थ होगा स्मरण। अतएव अमृत बेलि को क्षण-क्षण पीने का अर्थ है अपने अमृत-स्वरूप का निरन्तर स्मरण। युग-युग जीने का अर्थ है आवागमन से मुक्त होकर सदैव के लिए एकरस स्थिति प्राप्त कर लेना। जो सारी जड़ासक्तियों को त्यागकर निजस्वरूप के स्मरण का अमृत-पान निरन्तर करता है वह जीवन में शोकमुक्त हो जाता है तथा आगे सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाता है। अंततः स्वरूपज्ञानी पुरुष को स्वरूप-स्मरण नहीं करना पड़ता। वह तो सदैव निजस्वरूप में ही विश्राम करता है।

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

२. अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय।। *(रमैनी, साखी १०)*

जगत के उपादान स्वरूप ब्रह्म-मान्यता की समीक्षा

शब्द–६७

जो पै बीज रूप भगवान, तो पण्डित का पूछो आन॥ १ ॥
कहाँ मन कहाँ बुधि कहाँ हंकार, सत रज तम गुण तीन प्रकार॥ २ ॥
विष अमृत फल फले अनेका, बहुधा वेद कहै तरबे का॥ ३ ॥
कहहिं कबीर तै मैं क्या जान, को धौं छूटल को अरुझान॥ ४ ॥

शब्दार्थ—आन = अन्य, दूसरा। बहुधा = बहुत प्रकार। धौं = भला। छूटल = मुक्त। अरुझान = बंधा।

भावार्थ—यदि जगत का बीजस्वरूप, अर्थात अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण परब्रह्म ही है, तो हे पण्डितो! दूसरी बात क्या पूछते हो? ॥१॥ मन, बुद्धि, अहंकारादि चतुष्टय अंतःकरण अद्वैत में कहां संभव है? सत-रज-तम—ये तीन प्रकार के गुण शुद्ध ब्रह्म में कहां से आ गये? ॥२। संसाररूप परब्रह्म-वृक्ष में पाप-पुण्यकृत सुख-दुख के अनेक फल फलते हैं—यह भी कैसे? उन सुख-दुखों से मुक्त होने के लिए वेद नाना प्रकार से मार्ग बतलाते हैं—यह भी अयुक्त है॥३॥ सद्‌गुरु कहते हैं अद्वैत ब्रह्म में तैं-मैं भी क्या जानते हो? कौन भला मुक्त होता है और कौन बन्धन में पड़ता है?॥४॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि जल और उसकी तरंग, मिट्टी और उससे बने घट, स्वर्ण और उससे बने विभिन्न आभूषण जैसे दो नहीं होते, वैसे ब्रह्म से बना जगत, ब्रह्म से पृथक नहीं। इस न्याय से सब कुछ ब्रह्म ही है।

सद्‌गुरु उपर्युक्त मत की आलोचना करते हैं कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो हे अद्वैतवादी विद्वानो! तुम किससे बोलते हो? ब्रह्म के अतिरिक्त मन-बुद्धि आदि एवं त्रिगुण और शरीर भी दूसरा क्या है? आपके मत से तो सब ब्रह्म ही है, फिर अध्यारोप (अन्य में अन्य का आरोपण) तथा अपवाद (खंडन) किसमें किसका करते हो?

एक ब्रह्म में पाप-पुण्य एवं सुख-दुखरूप विष-अमृत भी आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? वेद-उपनिषद् जो मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं, वह भी किसको? एक ब्रह्म अपने आपको उपदेश करता है, यह भी क्या लीला है?

ब्रह्म को ब्रह्म कहने की क्या गर्ज है?
जानना ब्रह्म ऐसा किसका फर्ज है? (श्री निर्मल साहेब)

जब एक ही ब्रह्म है, तब तू-तू, मैं-मैं क्या करते हो? आप अद्वैतवादी बड़े, दूसरे द्वैतवादी छोटे, यह भूल कहां से आती है? सद्‌गुरु श्री पूरण साहेब ने त्रिज्या में सत्य कहा है—

"अद्वैत उपदेश तो सबने किया, परन्तु द्वैत सबको भासा।
जो द्वैत नहीं भासा, तो उपदेश किसको किया?"

एक ब्रह्म में कौन मुक्त होगा और कौन बन्धन में पड़ेगा? क्योंकि मुक्त एकदेशी होता है, सर्वदेशी विभु मुक्त नहीं होता। यदि व्यापक आत्मा मुक्त हो जाय तो बन्धन में

कौन रहे? यदि बन्धन में कोई नहीं है, तो संसार में सर्वत्र हाय-हाय क्यों है? अद्वैती ब्रह्मवादी उपदेश किसको करते हैं? जगत से वैराग्य कर देहादि की निन्दा कर, पहले अपनी आत्मा को सब दृश्यों से पृथक किया, फिर अन्त में जल-तरंग-न्याय सारा जड़-चेतन जगत-ब्रह्म एक हो गया "दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाओं हेत?" (बीजक, रमैनी ७१)

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है—

"सारा दिन पिसान पीसा, चलनी में उठाया, हलाय देखा, तो खाली-का-खाली।

मृगतृष्णा का तोय अरु, बाँझ पूत को न्याय।
अस विचार वेदान्त का, अन्त न कछू लखाय।।"

इस सड़सठवें शब्द की व्याख्या बीजक शिक्षा में भी देखने योग्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं—

"इस ब्रह्म को प्रपंच का कारण प्रतिपादन करने में श्रुति का केवल यही तात्पर्य है कि जिससे लोग परमाणु-प्रकृति आदि जड़ वस्तुओं को इसका कारण न मान लें।

"इसमें यह शंका हो सकती है कि दृश्य असत, जड़ एवं दुख-स्वरूप है, उसका कारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्य में सर्वथा कारण के गुणों की अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्य की विजातीयता प्रायः देखने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है; परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता होती भी देखी गयी है। देखो, जड़ गोबर से बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन-ब्रह्म से जड़ प्रपंच की उत्पत्ति भी सम्भव हो सकती है।

"इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में तो ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन किया जाता है, तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपंच की उत्पत्ति ही नहीं हुई। इसलिये यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही दिखाई देता है। इसी से यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात बन्ध-मोक्ष अज्ञानजनित ही हैं।"[१]

अब देखिये इस अद्वैतवाद को। श्रुति-लेखकों के मन में यह महान भय समा गया था कि यदि हम ब्रह्म को जगत का कारण नहीं कहेंगे, तो नैयायिक या सांख्यवादी आदि जगत का कारण परमाणु-प्रकृति आदि सिद्ध कर देंगे, तो हमारे अद्वैतवाद का पाया उठ जायगा।

जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब जगत और उसके कारण प्रकृति-परमाणु आदि तथा उनके सिद्ध करने वाले व्यक्ति—इनका अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए। यदि सचमुच इनका अस्तित्व नहीं है, तो ब्रह्मवादी इनसे डरते क्यों हैं? डरते हैं तो वे भीतर-भीतर इनके अस्तित्व से प्रभावित हैं, केवल ऊपर से अद्वैत की बात करते हैं।

---

१. कल्याण, भाग १०, संख्या ७, पृष्ठ ११६७।

सत-चिद-आनन्द ब्रह्म से असत-अचिद्-दुखस्वरूप जगत हो गया। कैसे हो गया? जैसे जड़-गोबर से चेतन-बिच्छू हो जाते हैं। ये वाक्य और भाव घोर भौतिकवाद को कितना पुष्ट करते हैं! जड़-गोबर में पहले ही वासनावशी अविनाशी जीव न आयें, तो चेतन-बिच्छू हो ही नहीं सकते। चावल में, गेहूं में, फल में तथा अन्य पदार्थों में देहधारी जीव पैदा हो जाते हैं तो उनमें केवल जीवों की देहों का निर्माण होता है, अमर जीवों का नहीं।

अतः नाना चेतन और जड़ सर्वथा पृथक-पृथक हैं, न चेतन से जड़ होगा, न जड़ से चेतन। कारण-कार्य के गुण-धर्मों की समानता होती है। जिस मूल द्रव्य में जो गुण-धर्म हैं ही नहीं, वे उनके कार्यों में कहां से आ जायेंगे!

सृष्टि के कारण प्रकृति-परमाणु आदि जड़-तत्वों को मानने वाले द्वैतवादियों के भय से ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति बतला दी; अन्यथा उनके विचार से 'सृष्टि या जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ। यह जगत है ही नहीं। वास्तव में यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात ब्रह्म-चेतन और जगत एक ही है।' अहो! घोर अंधकार है। जड़-चेतन की पृथकता, चेतन से पृथक जड़ जगत की प्रवाहरूप नित्य स्थिति सरलता से समझ में आ सकती है। पांच ज्ञान-इन्द्रिय एवं छठे मन से प्रतिक्षण दृश्यमान अनादि-अनन्त जगत को कौन विवेकी सर्वथा मिथ्या कह सकता है! जिस जगत को मिथ्या कहा जा रहा है, उसी के सारे प्रमाण—जल-तरंग, घट-मृतिका, रज्जू-सर्प—लेकर ब्रह्म को सिद्ध किया जा रहा है।

जब मुझसे पृथक जगत है ही नहीं, यह सारा प्रपंच मैं ही हूं; तब बन्ध-मोक्ष भी झूठे तथा पाप-पुण्य, विधि-निषेध भी व्यर्थ, कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ रहा नहीं। इन्द्रियां भोगों में लगी हैं, तो मेरा क्या बिगड़ता है? मैं निर्लेप आत्मा हूं। जब सब कुछ मैं ही हूं, तब क्या त्याग करूं और क्या ग्रहण करूं? जब बन्ध-मोक्ष दोनों मिथ्या हैं, तब भोग-त्याग का विचार भी व्यर्थ। केवल अद्वैत का ज्ञान हो जाना चाहिए। ज्ञान हो जाने के पश्चात भोग-त्याग की मर्यादा नहीं। यदि शुकदेवादि त्यागी थे, तो श्रीकृष्ण, जनक, वसिष्ठ, शिखध्वज आदि—भोगी थे, किन्तु सभी एक समान ज्ञानी थे। ब्रह्म के अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं, तब कुछ ग्रहण करने में भय क्या! यह है अद्वैत ब्रह्मवाद का निर्लिप्तवाद! इस पर हैं विचित्र-विचित्र वेदान्तिक उक्तियां! प्रमाण तो थोड़ा ही पर्याप्त है।

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनक राघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

'कृष्ण भोगी, शुकदेव त्यागी, जनक और राम राजा तथा वसिष्ठ कर्मी थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'

गौड़पादाचार्य जी कहते हैं—

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतद् उभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥ आगम-शास्त्र १/५॥

"तीनों अवस्थाओं में जो भोज्य है और जिसे भोक्ता कहा गया है जो इन दोनों, भोज्य तथा भोक्ता को समझ लेता है वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता।"[1] हम यहां अद्वैतवाद की कुछ युक्तियों पर विचार करें।

कारण-कार्यवाद—"जैसे कंगन-कंठादि आभूषणों का उपादन-कारण स्वर्ण है, घट का मिट्टी है और तरंग का जल है, वैसे जड़-चेतनात्मक समस्त विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है।" यह ब्रह्मवाद है, परन्तु विवेक-द्वारा देखने से यह मत उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वर्ण, मिट्टी तथा जल विकारी हैं, अनेक परमाणुओं के समूह हैं, विरोधी तत्वों के उद्वेग से वे उद्वेगित होकर गतिशील होते हैं, इसलिए उनमें कार्य-पदार्थों का बनना सम्भव होता है। विरोधी तत्व न हों तो एक तत्व से कोई पदार्थ ही नहीं बन सकता। फिर निर्विकारी, निरवयव, अखण्ड चेतन से विकार फूट-फूटकर यह चन्द्र, सूर्य, तारागण, पेड़, पहाड़, समुद्र तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हो गये—यह मानना कहां तक उचित है! पुनश्च उपर्युक्त सिद्धान्त में वेदान्त का प्रमुख 'विवर्तवाद' भी एकदम समाप्त हो जाता है और सांख्यवादियों का परिणामवाद सिद्ध हो जाता है। सत्तायुत पदार्थ का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाना, जैसे मिट्टी का घट हो जाना, दूध का दही हो जाना, सोना का आभूषण एवं जल का तरंग हो जाना, यही तो सांख्य का परिणामवाद है कि प्रकृति ही विकृत होकर महत, अहंकार, पंचतन्मात्रादि हो गये। ब्रह्मवादियों ने कहा ब्रह्म ही विकृत होकर यह सब हो गया। प्रकृति तो त्रिगुण की समष्टि है इसलिए उसमें विकृति सम्भव भी है, परन्तु निर्विकार-अखण्ड ब्रह्म में यह सब सम्भव नहीं।

विवर्तवाद—अब 'विवर्तवाद' को देखिये। विवर्त के तो कई अर्थ होते हैं, जैसे घूमना, गोलाई में चक्कर लगाना, लुढ़कना, समूह, नाच, रूपान्तर, भ्रम, आकाश, परिवर्तन, सुधार, भंवर, अविद्याजन्य मिथ्या रूप आदि, परन्तु वेदान्त के 'विवर्त' का अर्थ है 'मिथ्या परिवर्तन' अर्थात जिसमें परिवर्तन हुआ तो न हो, अपितु भ्रमवश परिवर्तन प्रतीत होता हो। जैसे दूर से रस्सी को देखकर सर्प की भ्रांति होती है, सीपी को देखकर चांदी की तथा बालुका देखकर जल की भ्रांति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म को देखकर जगत की भ्रांति होती है।

प्रश्न होता है कि जिसने प्रथम सर्प को, चांदी को तथा जल को देख रखा है वही रस्सी देखकर सर्प का भ्रम, सीपी देखकर चांदी का भ्रम तथा बालुका देखकर जल का भ्रम कर सकता है। जिसने कभी सर्प को न देखा हो उसे रस्सी देखकर सर्प की भ्रांति होगी ही नहीं। फिर जब जगत तीनों काल में है ही नहीं, तो उसे कैसे देखा गया जिससे कि उसका भ्रम ब्रह्म को देखकर हुआ। इसके अतिरिक्त सर्प और रस्सी में, चांदी और सीपी में सादृश्य है, इसलिए पूर्वकाल में सर्प और चांदी को देखने वाला कालान्तर में रस्सी देखकर उसमें सर्प का भ्रम तथा सीपी देखकर उसमें चांदी का भ्रम कर सकता है, परन्तु जगत और ब्रह्म में सादृश्य नहीं है। क्योंकि जगत स्थूल, क्रियाशील, साकार है

---

१. १४वें शब्द की व्याख्या भी देखें।

जबकि ब्रह्म को निष्क्रिय-निराकार बतलाते हैं, फिर निराकार में साकार का भ्रम कैसे होगा?

सर्प, रस्सी तथा जिसको भ्रम होता है वह मनुष्य—ये तीनों सत्य हैं। जिस काल में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उस काल में रस्सी में तो सर्प नहीं है, परन्तु अन्यत्र है ही, किन्तु ब्रह्मवाद में एक ही ब्रह्म होने से ये सभी दृष्टांत अघटित हैं। ब्रह्म में जगत का भ्रम हुआ किसको, जब केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता है? इसका उत्तर ब्रह्मवाद में नहीं है (देखिए आगे ११२वें शब्द की व्याख्या)।

स्वप्नवाद—स्वप्न का दृष्टान्त ही अद्वैतवाद की जान है। अब इसको देखें। कहा जाता है जैसे मनुष्य सोते समय अर्धनिद्रा में स्वप्न देखता है, स्वप्न में चन्द्र, सूर्य, पेड़-पहाड़ सब दिखते हैं, वहां ये सब कहां हैं? वहां स्वप्नद्रष्टा स्वयं दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है, वैसे ब्रह्म अपना ही दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है।

प्रश्न होता है कि यदि जागृत अवस्था में प्रत्यक्ष एवं सत्य-जगत का अनुभव न किया जाय तो स्वप्न होगा ही नहीं। जागृत की अपेक्षा से ही स्वप्न होता है। जागृत में जिन-जिन प्राणी-पदार्थों-परिस्थितियों को देखा, सुना या भोगा जाता है उन्हीं के संस्कार मन में टिके रहते हैं और अर्धनिद्रा में वे ही भासते हैं। जागृत के पदार्थ बिम्बरूप से हैं, अंतःकरणरूपी दर्पण पर वे ही संस्कार प्रतिबिम्ब रूप हैं जो अर्धनिद्रा में स्वप्नरूप में भासते हैं। जो कभी देखा, सुना और भोगा नहीं जायेगा उसका स्वप्न होगा ही नहीं। जिस पदार्थ का चित्र मन में कभी नहीं पड़ा रहेगा उसका स्वप्न कैसे हो सकता है? जन्मांध को रंग-रूप का स्वप्न कभी नहीं दिखता। अतएव बिना प्रत्यक्ष जगत देखे ब्रह्म का स्वप्न देखना भी विचित्र है।

कहा जाता है ऐसे भी अनेक स्वप्न होते हैं जिनका जागृति में कभी विचार नहीं किया गया है। अर्थात जो जीवन में कभी नहीं सोचा गया, उसका स्वप्न कभी-कभी आ जाता है, जैसे मैं उड़ रहा हूं, किसी अपरिचित स्थान पर गया हूं, मैं मर गया हूं, मेरा शव पड़ा है, उसे मैं देख रहा हूं, इत्यादि। परन्तु उपर्युक्त युक्ति में कोई बल नहीं है। दिन भर हम जितनी बातें सोचते तथा देखते-सुनते हैं, उन सब में कुछ का ही स्मरण रहता है, बाकी भूल जाता है। कभी-कभी पूर्व के देखे-सुने-भोगे हुए का एकाएक स्मरण हो जाता है। कभी स्मरण करने पर स्मरण होता है। बहुत-सी बातें एकदम भूल जाती हैं। परन्तु उनमें से बहुतों के संस्कार मन में रहते हैं, जिनका कभी-कभी स्वप्न में आ जाना स्वाभाविक है। मनुष्य स्वयं का भी उड़ना सोचता है, वायुयान-पक्षी आदि को उड़ते देखता ही है, मनुष्य को मरते देखता है, प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी अपनी मृत्यु को भी सोचता है। स्वप्न में कितने ही अपरिचित पदार्थ हों, जड़-चेतन पदार्थ सब परिचित ही हैं और ये ही पदार्थ वहां रहते हैं। स्वप्न में स्थिरता नहीं रहती। स्वप्न देख रहे हैं कि हम काशी में हैं, इतने में क्या देखते हैं कि हमारे सामने लखनऊ का दृश्य आ गया है। जागृति-अवस्था में मन में दृढ़त्व रहता है, निद्रा में वह दृढ़त्व नहीं रहने से स्वप्न विकृत रूप से दिखते हैं, परन्तु होते हैं वे जागृति के संस्कार ही।

जड़ शरीर, मन तथा प्रत्यक्ष जगत के सम्बन्ध में संस्कार बनते हैं, वे ही निद्रा में स्वप्नरूप भासते हैं। शुद्ध अद्वैत चेतन में न जागृत अवस्था बनेगी न स्वप्न। जब ब्रह्म के शरीर और मन हो, वह प्रत्यक्ष सत्य-जगत में रहकर इन्द्रियों से क्रिया-व्यवहार करे और फिर सो जाय, तभी वह स्वप्न देख सकता है। तो ऐसा व्यवहार सब जीव कर ही रहे हैं, जड़-जगत तथा अविनाशी अगणित चेतन जीव प्रत्यक्ष हैं ही, फिर ब्रह्म की कल्पना और जगत को उसका स्वप्न कहने का क्या प्रयोजन है!

एक काल में एक व्यक्ति जो स्वप्न देखता है, वह स्वप्न दूसरे तीसरे आदमी नहीं देखते, परन्तु इस जगत को एक काल में सभी एक समान देखते हैं। केशव के लिए बारह बजे दिन है तो माधव के लिए भी। रमेश के लिए गंगा की बायीं ओर काशी बसी है तो दिनेश के लिए भी। इसके अतिरिक्त जो स्वप्न एक बार देखा गया, दूसरी बार वही नहीं देखा जाता, परन्तु जो जगत आज देखा गया, कल वही देखा जाता है। इसलिए जगत स्वप्नवत नहीं, अपितु यथार्थ है। हां, उसका हमारा सम्बन्ध मनोमय-द्वारा है, छूट जाने वाला है, इसलिए वैराग्य की दृष्टि से जगत को विवेकी स्वप्नवत भी कहते हैं। परन्तु अद्वैतवादियों का स्वप्नवाद उचित नहीं।

व्यापकवाद—जड़-चेतन कोई भी वस्तु व्यापक नहीं है। पृथ्वी आदि तत्वों के असंख्य परमाणु हैं। वे सब व्यापक नहीं। आकाश कोई द्रव्य नहीं, वह पोल या शून्य है। तत्वों के अखण्ड परमाणुओं में तथा अखण्ड चेतन जीवों में सन्धि न होने से उनमें आकाश व्याप्त नहीं हो सकता, इसलिए सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो आकाश भी सर्वत्र व्यापक नहीं, वह अखण्ड परमाणुओं तथा अखण्ड चेतन जीवों के बाहर ही है।

यदि चेतन एक और व्यापक होता तो दूसरी वस्तु रहने का स्थान न होता, क्योंकि चेतन अखण्ड है। एक अखण्ड वस्तु से सब जगह घिर जाने से दूसरी वस्तु को रहने का स्थान कैसे हो सकता है? परन्तु प्रत्यक्ष ही नाना चेतन तथा असंख्य परमाणुओं के सहित पृथ्वी आदि अनेक तत्व और पोल-शून्य भी संसार में हैं। एक अखण्ड निर्विकार-निष्क्रिय चेतन-ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने से क्रिया, परिवर्तन, विकार, निर्माण-कर्म सम्भव ही नहीं हैं, परन्तु क्रियादि संपूर्ण कार्य संसार में हो रहे हैं, अतएव चेतन की अद्वैतता और उसकी व्यापकता—दोनों समीचीन नहीं हैं।

यदि चेतन सर्वत्र व्याप्त है और वह चेतन मैं ही हूं, तो सर्वत्र की बातें क्यों नहीं जानता? यदि कहिये अंतःकरण के माध्यम से बाह्यज्ञान होता है, सो तो ठीक है; परन्तु संसार में सर्वत्र अन्तःकरण भी व्यष्टिरूप में हैं, तो उन-उन अन्तःकरणों द्वारा हमें वहां-वहां ज्ञान करना चाहिए। जैसे व्यापक होने से हम चेतन अमेरिका में भी हैं, और वहां असंख्यों अन्तःकरण भी हैं, वे सब अन्तःकरण मेरे में ही हैं, फिर उनके माध्यम से वहां की बातें मुझे जानना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। शरीर के हाथ-पैर आदि में कहीं कष्ट हो तो उसका अनुभव मुझे ही होता है। इसी प्रकार संसार में किसी भी शरीर-अन्तःकरण में कष्ट होने पर उसका अनुभव मुझे ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव चेतन का एक होना और व्यापकता—दोनों विवेक और युक्ति-विरुद्ध हैं।

उत्पत्ति और लयवाद—अद्वैतवादी कहते हैं—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।[१] फिर अद्वैतअवस्था को प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को जल में लय करें, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लय करें, फिर केवल एक आत्मा ही अद्वैत है।"

अब इस उत्पत्ति और लय-प्रक्रिया को देखिये। आत्मा अखंड, निर्विकार और व्यापक माना गया है। फिर उसमें विकार उठना, सत्-चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) का टूटकर असत्-अचिद्-अआनन्द पृथ्वी आदि जगत का बनना कितना असम्भव है! माना हुआ निराकार अखण्ड आत्मा आकाश हो गया, वायु हो गया, माटी-पानी हो गया, यह कितनी बड़ी भ्रान्ति है!

आत्मा से आकाश उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि पहले आकाश नहीं था। सर्वत्र ठोस था। फिर किस वस्तु से ठोस था? वह वस्तु कहां हटाकर कर दी गयी जिससे आकाश बनाया जा सका। वह वस्तु जहां की गयी वहां पहले आकाश रहा होगा, तब तो आकाश पहले सिद्ध हो गया। आकाश तो पोल है, उसकी उत्पत्ति क्या होगी? आकाश गुण-धर्म-द्रव्य-रहित शून्य को कहते हैं, फिर उससे गुण-धर्म द्रव्य-युत वायु कैसे उत्पन्न हो गया? अभाव से भाव नहीं होता।[२] वायु के विपरीत धर्म वाली अग्नि तथा अग्नि के विपरीत धर्म वाला जल एवं जल के विपरीत पृथ्वी ये क्रमशः एक-से-एक कैसे उत्पन्न हो जायेंगे? कारण के अनुसार ही कार्य होता है। अर्थात "उपादान कारण के सदृश ही कार्य में गुण देखे जाते हैं।"[३] इस न्याय से यदि सत्-चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) ही सबका कारण हो, तो उसका क्रमिक विकास (कार्य) रूप जगत भी सत्-चिद्-आनन्द ही होना चाहिए। परन्तु पूर्व प्रमाण में यह भी देखा जा चुका है कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धांत में जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ है और न जगत तीनों काल में है। फिर यह आकाशादि क्रम से जगत की उत्पत्ति की बात कैसी? वास्तव में यह सिद्धांत ही ऐसा डांवांडोल है कि इसमें बिना पूर्वापर विचार किये क्षण में कुछ कहा जाता है और क्षण में कुछ।

अब लय-प्रक्रिया देखिये।"पृथ्वी को जल में लय करें, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लयकर अद्वैत बन जाय।" परन्तु पोथीज्ञान के अतिरिक्त इसमें क्या सार है? न पृथ्वी जल में लीन होगी, न जल अग्नि इत्यादि में। मिट्टी को जल में घोल दीजिये, परन्तु जल के कण उड़ जाने पर मिट्टी बनी ही रहती है। एक तत्व दूसरे तत्व में कुछ काल के लिए मिश्रित भले हो जायं, परन्तु सभी तत्वों का स्वरूपतः अस्तित्व पृथक-पृथक ही रहता है। मिलते-मिलते सब तत्व एक नहीं हो

---

१. आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। *(तैत्तिरीयोपनिषद् २/१)*

२. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। *(गीता २/१६)*
अर्थात—असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता।

३. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः। *(वैशेषिक दर्शन २/१/२४)*

जाते। कहा जाता है कि कितने ही ब्रह्मज्ञानी अद्वैत-अवस्था को प्राप्त होकर मुक्त हो गये; परन्तु जगत के सभी तत्व पृथक-पृथक ही बने हैं, वे उनको एक में नहीं मिला सके। अद्वैतवादानुसार जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब पृथ्वी आदि उससे पृथक मानकर उनको लय करने की प्रक्रिया बताना—यह भी भ्रम ही है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी आदि जड़ तत्वों को शुद्ध चेतन में लय करने की भावना एक महा कुसंस्कार है।

प्रमाणवाद—कहा जाता है कि अद्वैतवाद की सिद्धि के लिए तर्क तथा युक्ति का कोई महत्व नहीं है, अथवा तर्क और युक्ति से उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी सिद्धि के लिए तो शास्त्र-प्रमाण ही पर्याप्त है।

प्रश्न होता है कि वेदों में तो संसार को सच माना गया है और सांसारिक भोगों की सिद्धि के लिए नाना देवी-देवताओं की उपासनाएं की गयी हैं। उसमें अद्वैतवाद-जैसी बात तो पुष्ट होती नहीं दिखती। उपनिषदों में भी कहीं अद्वैत-जैसी बात है, तो कहीं स्पष्ट द्वैतवाद का प्रबल समर्थन है। जगत तीनों काल में नहीं है यह उपनिषदों के विचार नहीं हैं।

वेदानुसारी प्रसिद्ध छह शास्त्र हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत। उनमें वेदान्त को छोड़कर शेष पांचों शास्त्र द्वैतवाद के समर्थक हैं, तथा चेतन के साथ-साथ जड़ को भी वे सच (परमार्थसत्ता) मानते हैं। वेदान्त में भी लोक-लोकान्तरों में जीवों का गमनागमन-जैसी अनेक बातें द्वैत का समर्थन करती हैं। इसके अतिरिक्त यदि वेदान्त को हम अद्वैतपरक ही मान लें, तो अन्य पांच शास्त्रों में तो स्पष्ट द्वैतवाद ही है। शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण शास्त्र सांख्य है, वह जगत को सच तथा चेतन को नाना सिद्ध करता है। अद्वैतवादी कहते हैं "सांख्य-न्याय आदि शास्त्र वेद-विरोधी या गौण हैं इसलिए अप्रमाण हैं।" वे क्यों वेद-विरोधी हैं, जब वेद में कोई निश्चित मत खड़ा ही नहीं किया गया है, जब छहों शास्त्र वेद-प्रमाण मानते हैं, तब कोई भी वेद-विरोधी नहीं। वेदान्त के अतिरिक्त शास्त्रों को वेद-विरोधी कहना अपने मन की बात है। इस प्रकार तो सांख्यवादी आदि भी वेदान्त को वेद-विरोधी कह सकते हैं। जब अद्वैत के समर्थन के लिए तर्क की प्रतिष्ठा न कर शास्त्र-श्रद्धा ही सम्बल है, तो समस्त वैदिक शास्त्रों में अवश्य श्रद्धा होनी चाहिए। अन्ततः तो केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त भ्रम से खाली नहीं हो सकता। शास्त्रप्रमाणों की आड़ में बहुत-सी झूठी बातें सच बनायी जा सकती हैं, जो स्वतन्त्र मानव-विवेक के सर्वथा प्रतिकूल है।

तर्क और युक्ति से अद्वैत नहीं सिद्ध होता, इसकी सिद्धि के लिए यदि वेद-शास्त्र ही प्रमाण हैं, तो प्रश्न होता है कि वेद-शास्त्र जगत के भीतर हैं या बाहर? यदि भीतर हैं, तो जगत मिथ्या होने से वेद-शास्त्र भी मिथ्या हुए, फिर मिथ्या का प्रमाण मान्य नहीं होगा और यदि वेद-शास्त्र जगत के बाहर और सत्य हैं तो अद्वैत नहीं रहा। एक ब्रह्म और दूसरे वेद-शास्त्र हुए।

एक निष्पक्ष व्यक्ति यदि शास्त्र-प्रमाण से अपना सिद्धान्त स्थिर करना चाहे, तो वह किस शास्त्र का अवलम्ब ले? शास्त्रों में परस्पर कुछ विरुद्ध बातें हैं। सभी शास्त्र

महापुरुषों के बनाये हैं। एक को सिरे से स्वीकार कर लेना और अन्य को नास्तिक कह देना यह पक्ष से खाली नहीं होगा। अतएव सभी शास्त्रों में श्रद्धा रखने की आवश्यकता है, साथ-साथ विवेक भी। विवेक-द्वारा सभी शास्त्रों के सत्यों को बिना न नु न च किये ग्रहण करना चाहिए, किन्तु पक्ष किसी का भी नहीं लेना चाहिए। इसलिए केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त स्वतन्त्र विवेकी मानव को कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकता।

सत्य को समझने के लिए श्रद्धा और साथ-साथ बुद्धि की महान आवश्यकता है। केवल श्रद्धा अन्धी है और केवल बुद्धि नास्तिका है। श्रद्धा और बुद्धि का जहां समन्वय है वहां विवेक की प्रतिष्ठा है और विवेक-द्वारा ही सत्यज्ञान की उपलब्धि होती है।

अतएव जड़ से पृथक नाना चेतन जब विवेकसिद्ध हैं, तब शास्त्र-प्रमाण की दोहाई खींचकर उस पर भ्रम लादना किसी के लिए हितकर कैसे होगा! शास्त्र-प्रमाण मान्य हैं, परन्तु विवेकसम्मत ही। द्रष्टव्य है श्री ईश्वरकृष्णरचित एक कारिका—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

प्रश्न—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है या एक?

उत्तर—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है क्योंकि आत्मा में नये-नये शरीर के सम्बन्धरूप जन्म तथा उसका त्यागरूप मरण और चक्षु-श्रोत्र आदि करणों की व्यवस्था देखने में आती है, यदि सभी शरीर में आत्मा एक माना जाय तो एक के पैदा होते सब पैदा हों, एक के मरने से सब लोग मर जायं तथा एक के अन्धे या बहिरे होते ही सभी लोग अन्धे तथा बहिरे हो जायं, ऐसी अवस्था हो जायेगी, इसलिए अनेक पुरुष मानना आवश्यक है। और यदि आत्मा सब शरीरों में एक ही हो तो एक पुरुष की धर्म में प्रवृत्ति होने से सारे संसार के मनुष्य एकदम धर्म ही में प्रवृत्त होने लगेंगे, ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई धर्म में प्रवृत्त है तो कोई अधर्म में, कोई ज्ञान में तो कोई अज्ञान में। इस प्रकार संसार के प्राणियों की प्रवृत्ति अलग-अलग देखने में आती है। इसी तरह सत, रज, तम इन तीनों गुणों के विपर्यय-परिणाम भेद से भी आत्मा की अनेकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि कहीं-कहीं केवल सुख ही (जैसे देवताओं में), कहीं-कहीं केवल दुख ही (जैसे मनुष्यों में), कहीं-कहीं मोह (जैसे नारकीय जीवों में) पाया जाता है। अथवा त्रिगुण होने से आत्माओं का सात्विक, राजस तथा तामस भेद होता है इसलिए आत्मा अनेक हैं यह मानना आवश्यक है। यदि एक मानें तो एक पुरुष के सुखी या दुखी होने पर सभी संसारी जीव सुखी या दुखी हो जायेंगे, और त्रिगुणों के भेद से नीच, ऊंच, मध्यम इत्यादि व्यवस्था भी नहीं बनेगी ॥१८॥[1]

श्री गुरुदयाल साहेब जी कहते हैं—

---

१. सांख्यकारिका १८, टीका पं० श्री दुण्ढिराज शास्त्री।

शब्द

पण्डित संशय गाँठि न छोरे।
संशय सन की गाँठि परी, तेहि दुविधा जल में बोरे।।१।।
जग उतपति कहैं एक ब्रह्म ते, पुनि जग में ब्रह्म बताई।
मुक्ति कहै ब्रह्म के जाने, फिर चौरासी आई।।२।।
जगको चारि खानि चौरासी, बड़े-बड़े कहैं सुजाना।
तेहि जग को बैराट बखाने, विश्वरूप भगवाना।।३।।
नित उतपति नित परलय होई, जाको जगत ब्रह्म कहो भाई।
विश्वरूप भगवान भयो, तब चौरासी केहि ठाँई।।४।।
छिन में जग को ब्रह्म बताओ, छिन में ईश बखानी।
छिन में जगत को जीव कहत हो, छिन में माया मानी।।५।।
जग छूटन की शरण ईश की, ईश ब्रह्म जग आया।
काकी शरण जाय दुख छूटै, मोहि कहो करि दाया।।६।।
निजहित कोई विदेश गया जो, वहां से कोई जो आया।
पूछै कुशल चार विधि बोलै, कहौ कौन थिति पाया।।७।।
ज्ञान कहानी अद्‌बुद बानी, स्थिति बिनु भये दुखारी।
कहहिं कबीर समुझि कहु पण्डित, साँच एक कि चारी।।८।।

अर्थात—पंडितजन अज्ञानग्रंथि को नहीं खोलते। सन की गांठ पड़ने के समान उक्त अज्ञानग्रंथि को दुविधा के जल में डुबाकर अधिक पुष्ट कर रहे हैं।।१।। कहते हैं जल-तरंग न्याय एक ब्रह्म से ही जगत उत्पन्न हुआ है, फिर उपादानरूप होने से ब्रह्म को जगतस्वरूप ही बतलाते हैं। परन्तु कहते हैं कि ब्रह्म को जानकर उसमें स्थित होने से ही मोक्ष होगा, इससे तो पुनः चौरासी-संसार में आ गये, क्योंकि ब्रह्म-जगत एक है।।२।। वेद-वेदान्त के बड़े-बड़े ज्ञानी जगत को चार खानी चौरासी का स्थान कहते हैं (वास्तव में है भी), परन्तु उसी जगत को भगवान का विराटस्वरूप या विश्वरूप भगवान कहते हैं (फिर भगवान कहो या जगत एक ही बात हुई)।।३।। भाई! जिसको जगत या ब्रह्म कहते हो, उसमें तो सदैव परिवर्तन बना रहता है। यदि सारा विश्व भगवान या ब्रह्म ही है, तो चौरासी चक्कर किस स्थान पर है? ।।४।। क्षण में कहते हो कि ईश्वर जगत का केवल निमित्त कारण है और जगत में व्याप्त है। क्षण में कहते हो कि जगत तो जीवों के भोग-मोक्ष के लिए बना है। क्षण में जगत को माया मात्र, सत-असत से विलक्षण—अनिर्वचनीय प्रतीत मात्र कहते हो।।५।। जगत-बंधनों से छूटने के लिए ईश्वर या ब्रह्म की शरण लेनी चाहिए—ऐसा कहते हो, ब्रह्म-ईश्वर जल-तरंग न्याय या विराटरूप से जगत ही है। फिर किसकी शरण में जाने से जगत-बन्धनों का दुख छूटेगा कृपापूर्वक समझाने का कष्ट करो?।।६।। कोई अपने स्वार्थवश परदेश गया, वहां से कोई दूसरा व्यक्ति आया, परदेश-स्थित व्यक्ति के घर वालों ने अपने आदमी का कुशल पूछा तो उत्तर में उस व्यक्ति

ने चार बातें कहीं—"वह तो वहां गया नहीं। वह वहां अच्छी नौकरी पा गया है। वह बहुत-सा पैसा कमाकर आ रहा है। वह तो मर गया।" अब बताइए! पूछने वाले को सन्तोष कैसे हो?॥७॥ इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों की ज्ञान-कहानी आश्चर्यजनक वाणी-जाल है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति बिना ये सब दुखी हैं। श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं ऐ पंडित! समझकर कहिये, सच्ची एक है कि उपर्युक्त चारों बातें? ॥८॥

क्षण में जगत का अस्तित्व ही न मानना, क्षण में अद्वैत कहना, क्षण में जगत का अस्तित्व मानकर ग्रन्थ-पन्थ-मत प्रचार करना, क्षण में किसी को आस्तिक किसी को नास्तिक कहना, क्षण में जड़-चेतन भिन्न विवेक करना, क्षण में जड़-चेतन एक कहना—यह सब असम्बद्ध-प्रलाप नहीं तो क्या है!

अतएव अद्वैत मत किसी प्रकार भी समीचीन नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पृथक-पृथक हैं और उनसे सर्वथा भिन्न नाना चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़-चेतन एक मानना ही शास्त्रों में अविद्या कही गयी है। वस्तुतः सारे संकल्पों का त्यागकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाना ही असंगता है, यही अद्वैत है। अकेला रह जाना ही अद्वैत है।

भवचक्र-चरखे का वर्णन

शब्द–६८

जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै॥ १ ॥
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥ २ ॥
बाबा मोर बियाह कराव, अच्छा बरहि तकाय॥ ३ ॥
जौ लौं अच्छा बर ना मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय॥ ४ ॥
प्रथमें नगर पहुँचते, परिगौ सोग सन्ताप॥ ५ ॥
एक अचम्भव हम देखा, जो बिटिया ब्याहिल बाप॥ ६ ॥
समधी के घर लमधी आये, आये बहू के भाय॥ ७ ॥
गोड़े चूल्हा दै दै, चरखा दियो दृढ़ाय॥ ८ ॥
देव लोक मरि जायँगे, एक न मरे बढ़ाय॥ ९ ॥
यह मनरंजन कारणे, चरखा दियो दृढ़ाय॥१०॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय॥११॥
जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागवन न होय॥१२॥

शब्दार्थ—चरखा = शरीर, भवचक्र। बढ़ैया = मन। सूत हजार = हजारों कर्म। बाबा = अबोधी गुरु। बरहि = वर, दूल्हा, देवता। नगर = अंतःकरण। बिटिया = पुत्री, अविद्या। बाप = पिता, जीव। गोड़े = गोड़, पैर, ज्ञान की गतिशीलता। चूल्हा = भट्ठी, अज्ञानाग्नि की भट्ठी। बढ़ाय = बढ़ई, मन। मनरंजन = मनोरंजन, मन का बहलाव, मन का विषयों के राग-रंग में फंसे रहना।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय। जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागवन न होय।" साहेब कहते हैं कि सुनो, हे सन्तो! कोई भवचक्र के चरखे को नहीं समझ पाता। साधारण लोगों को कौन कहे, बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग भी इस चरखे को नहीं समझ पाते कि यह हमारे बंधन का कारण है। यह शरीर के अहंकार का चरखा, भोग-वासनाओं का चरखा, राग-द्वेष का चरखा, संसार के राग-रंग का चरखा, मन को कहीं भी बाहर भटकाने का चरखा यदि दुखरूप समझ में आ जाय तो जीव अवश्य इस चरखे से अलग हो जाय, वह आज ही परम शांतिपद में प्रतिष्ठित हो जाय तथा आगे सदैव के लिए कृतार्थ हो जाय।

शरीर-वीणा का वादक चेतन श्रेष्ठ है

शब्द–६९

जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे॥ १ ॥
तू ही बाजे तू ही गाजे, तूहि लिये कर डोले॥ २ ॥
एक शब्द मों राग छतीसों, अनहद बानी बोले॥ ३ ॥
मुख कै नाल श्रवण कै तुम्बा, सतगुरु साज बनाया॥ ४ ॥
जिभ्या के तार नाशिका चरई, माया का मोम लगाया॥ ५ ॥
गगन मण्डल में भया उजियारा, उल्टा फेर लगाया॥ ६ ॥
कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया॥ ७ ॥

शब्दार्थ—जन्त्री = यंत्री, बाजा बजाने वाला, चेतन। जन्त्र = यंत्र, वीणा, बाजा। अनूपम = अनुपम, विलक्षण। अष्ट = आठवां सुरति कमल, जो खोपड़ी में सबसे ऊपर माना है। गगन = खोपड़ी का आकाश। मुख = द्वार। गाजे = गर्जन करना, ध्वनि होना। अनहद = अनाहतनाद, बेहद। नाल = डंडी, वीणा की लम्बी डंडी। तुम्बा = लौकी का खोल, जो वीणा में दोनों तरफ लगा रहता है। चरई = खूंटी, जिसमें तार कसे रहते हैं। माया = चाम। गगन मंडल = ब्रह्मांड, खोपड़ी। जन्त्री = चेतन।

भावार्थ—हे वीणावादक चेतन! यह तेरी शरीर-वीणा अद्भुत बज रही है। इस वीणा के सर्वोच्च शिखर आठवें सुरतिकमल के द्वार के आकाश पर निरन्तर गर्जना हो रही है॥१॥ यह वीणा तो जड़ है, वस्तुतः तू चेतन ही इसे बजा रहा है, इसलिए मानो तू ही बज रहा है, तू ही गर्जना कर रहा है, तू ही मानो इस शरीर-वीणा को अपने हाथों में लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस प्रकार की रागिनियों को ध्वनित करते हुए निस्सीम वाणियां बोल रहा है॥२-३॥ इस तेरी शरीर-वीणा के अवयव इस प्रकार हैं—मुख की डंडी है, कान के दोनों तुम्बे हैं, जीभ का तार है, नाक की खूंटी है और चाम का मानो मोम लगा है। सद्गुरु ही इस साज को संवारकर इसका अच्छा उपयोग करने की युक्ति बताता है॥४-५॥ जब योगी नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को, कुण्डलिनी जागृत कर और सातों चक्रों को वेधकर, ऊपर सुरति-कमल में ले जाता है तो यही मानो उलटा फेर लगाना है और तब गगन-मंडल एवं सुरतिकमल में प्रकाश हो जाता है और योगी उसी में

तन्मय हो जाता है।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकी तो वे जन हैं जो इस वीणायन्त्र और इसके कार्य में न रमकर वीणावादक यन्त्री चेतन में अपने मन को लीन करता है।।७।।

व्याख्या—रूपकों तथा अलंकारों में अपनी बातें कहने में प्रवीण कबीर देव ने इस शब्द में इस शरीर को वीणा के रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि यह शरीर मानो एक वीणा है। इसमें मुख डंडी है, कान दोनों तरफ लगे तुम्बे हैं, जीभ तार है, नाक खूंटी है और मोम की जगह पर चाम लगा है। "माया का मोम लगाया" यह चाम ही तो माया बना हुआ रहता है। इसी को तो देख-देखकर आदमी रीझता रहता है। इसलिए "माया का मोम लगाया" का अर्थ है किं वीणा के कुछ अवयवों को चिपकाने के लिए जो मोम की आवश्यकता होती है वह मानो माया है, यह चाम है। यह चाम ही तो शरीर-वीणा के अंगों को एक में चिपकाकर व्यवस्थित रखता है। यह शरीर-वीणा अद्भुत बजती है। ऐसी वीणा न आज तक बनी है और न शायद आगे ही बनने की संभावना है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि हे वीणावादक चेतन! यह सब तेरी महिमा है। वीणा भला स्वयं कहीं बजती है! यदि उसका बजाने वाला न हो तो वह ध्वनिरहित पत्थरवत पड़ी रहेगी। विशेषता तो बजाने वाले की है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतनदेव! तू महान है, तू ही इस वीणा को बजा रहा है। तू ही इसे लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस रागिनियां छेड़ रहा है। शब्द तो एक ही है, उसमें छह राग तथा छत्तीस रागिनियां हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. श्रीराग—मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी तथा पहाड़ी।

२. वसंतराग—देशी, देवगिरि, वैराटी, टौरिका, ललित तथा हिंडोला।

३. पंचमराग—विभास, भूपाली, कर्णाटी, पटहंसिका, मालवी तथा पटमंजरी।

४. भैरवराग—भैरवी, बंगाली, सेंधवी, रामकली, गुर्जरी तथा गुणकरी।

५. मेघराग—मल्लारी, सैरिटी, सावेरी, कैशिकी, गांधारी तथा हरशृंगार।

६. नटनारायण राग—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सरंगी तथा हम्मीरी।

इसके अतिरिक्त दूसरे भेदों से भी इसका वर्णन मिलता है।

उक्त छह राग तथा छत्तीस रागिनियों की कल्पनाकर इनका वर्गीकरण करने वाला तथा इनका उपयोग करने वाला चेतन ही है। यदि इस शरीर-वीणा का बजाने वाला चेतनदेव एवं आत्मदेव न हो तो यह बेकार हो जाय। "अनहद बानी बोले" अनहद, बेहद एवं बेशुमार वाणियों को बोलने वाला भी तू ही है। तू ही ने वेद बोले, शास्त्र बोले, बाइबिल तथा कुरान बोले, तू ही ने ज्ञान-विज्ञान की असीम वाणियां बोलीं। इस विराट विश्व में चेतन ही की सर्वोच्च महत्ता है। यदि भोक्ता चेतन न होता तो भोग्य जड़ वस्तुओं का क्या मूल्य होता! यदि फूलों की सुगंधी ग्रहण करने वाला कोई चेतन प्राणी न हो तो फूलों का क्या प्रयोजन! इस सृष्टि में चेतन ही तो सम्राट है। चेतन के उपयोग के लिए ही जड़-विश्व है। साहेब कहते हैं कि हे चेतन! तुम्हारा ही सर्वोच्च महत्त्व है।

"सतगुरु साज बनाया" इस शरीर-वीणा का साज सद्गुरु ने बनाया है। यहां बनाया का अर्थ निर्मित करना नहीं है। शरीर तो जीव के कर्म-वासनावश माता-पिता के संयोग से बनता है, उसके कारण प्रकृति में निहित हैं। यहां "सतगुरु साज बनाया" का अभिप्राय है कि सद्गुरु इस शरीर-वीणा को बजाने का कायदा बताता है। वीणा रखी हो, परन्तु यदि उस्ताद उसका भेद न बताये तथा बजाने का कायदा न बताये तो वीणा ठीक से नहीं बजायी जा सकती। इसी प्रकार शरीर तो बहुत जीवों को मिला है, परन्तु वे सब इसका अच्छा उपयोग कहां कर पा रहे हैं! जब सद्गुरु मिलते हैं और इस शरीर का भेद बतलाते हैं तथा इसका सही उपयोग करने की बातें बतलाते हैं तभी यह सार्थक होता है। अतएव इस शरीर-वीणा का वादन कैसे करना चाहिए इसका भेद सद्गुरु ही बताते हैं। इसलिए मानो सद्गुरु ने ही इस वीणा-साज को बनाया है, सार्थक किया है।

"गगन मण्डल में भया उजियारा, उल्टा फेर लगाया।" तथा "अष्ट गगन मुख गाजे" इस पर थोड़ा विचार कर लें। यह सब हठयोग की प्रक्रिया है। कबीर साहेब ने तो हठयोग भी साधा था, पीछे उसे सारहीन जानकर छोड़ दिया था। परन्तु उसका उन्हें अनुभव था। आगे ८७वें शब्द की व्याख्या में इसका विस्तार किया जायेगा। हठयोगियों-द्वारा कल्पित शरीर में छह चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। इसके ऊपर दो चक्र और मानते हैं—सहस्रसार तथा सुरतिकमल। यह सुरतिकमल आठवां चक्र है जो सिर में सबसे ऊपर है। हठयोगी लोग सुषुम्णा को नीचे मूलाधार से उठाकर सभी चक्रों को पार करते हुए सबसे ऊपर आठवें सुरतिकमल में ले जाते हैं! यही 'उल्टा फेर लगाया" का अर्थ है। अर्थात नीचे से उलटकर सुषुम्णा को ऊपर ले जाते हैं। जब सुषुम्णा ऊपर आठवें सुरतिकमल में पहुंचती है, तब वहां प्रकाश हो जाता है। यही गगन मंडल में उजियारा होना है। यहीं आठवें सुरतिकमल के द्वार पर गगन में अनाहतनाद की गर्जना होती है, यही "अष्ट गगन मुख गाजा" का अभिप्राय है। हठयोगी इन्हीं शब्द और ज्योति के श्रवण-दर्शन में तन्मय हो जाता है।

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है कि सद्गुरु कबीर ने इसका अनुभव किया था, परन्तु इसे जड़ दृश्य-भास समझकर इसका त्याग कर दिया था। वे स्वतः चेतनस्वरूप की स्थिति में रम गये थे और उन्होंने अन्य जिज्ञासुओं को उसका रास्ता बताया था जिसे इस शब्द की अंतिम पंक्ति में यहां भी वे कहते हैं "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया।" सद्गुरु विवेक को महत्त्व देते हैं। विवेक है जड़-चेतन, देह-देही तथा द्रष्टा-दृश्य का पृथक्करण। यह जीव द्रष्टा है यह दृश्य को देखता है, यह श्रोता है शब्द को सुनता है। दृश्य और शब्द से द्रष्टा और श्रोता श्रेष्ठ होता है। दृश्य और शब्द दोनों जड़ हैं, उनका द्रष्टा एवं श्रोता जीव चेतन है। यह चेतन ही यन्त्री है, जो इस शरीर यन्त्र (वीणा) को बजाता है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि वही विवेकी है जो शरीर-वीणा तथा उसके कार्यों में आसक्त नहीं होता, शरीर के कार्य दृश्य एवं शब्दों में नहीं रमता, किन्तु अपने मन को अपने चेतन स्वरूप में लगाता है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम शब्द को सुनते हो, तुम्हें शब्द नहीं सुनते तथा तुम दृश्यों को देखते हो, दृश्य तुम्हें नहीं देखते, अतएव जड़ दृश्य ज्योति एवं शब्दों के द्रष्टा साक्षी एवं श्रोता तुम उनसे श्रेष्ठ एवं महान हो। तुम

जड़ के कार्यों में न रमकर अपने चेतनस्वरूप में रमो। विवेकी वही है जो यन्त्र में नहीं, यन्त्री में मन लगाता है, वीणा में नहीं, वीणावादक में मन लगाता है एवं दृश्यों में नहीं निजस्वरूप चेतन में रमता है!

जीव-वध और मांसाहार त्याज्य है

शब्द–७०

जस मास पशु की तस मास नर की, रुधिर-रुधिर एक सारा जी॥ १ ॥
पशु की मास भखें सब कोई, नरहिं न भखें सियारा जी॥ २ ॥
ब्रह्म कुलाल मेदनी भइया, उपजि बिनशि कित गइया जी॥ ३ ॥
मास मछरिया तै पै खइया, ज्यों खेतन में बोइया जी॥ ४ ॥
माटी के करि देवी देवा, काटि-काटि जिव देइया जी॥ ५ ॥
जो तोहरा है साँचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया जी॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम नाम नित लेइया जी॥ ७ ॥
जो कछु कियहु जिभ्या के स्वारथ, बदला पराया देइया जी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—एक सारा = एक समान। ब्रह्म = ब्रह्मा। कुलाल = कुम्हार। मेदनी = पृथ्वी। भइया = हुआ।

भावार्थ—जैसा मांस पशु का होता है वैसा ही मनुष्य का होता है। दोनों के रक्त भी एक समान होते हैं॥१॥ पशु का मांस तो सभी मांसाहारी खा जाते हैं; परन्तु मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते॥२॥ लोकधारणानुसार पृथ्वी पर ब्रह्मा-जैसे कुम्हारवत सृष्टि-रचयिता हो गये, परन्तु वे भी उत्पन्न होकर और मिटकर कहां गये, कोई नहीं जानता। फिर तुम्हारी क्या बिसात है जो देह को मजबूत करने के भ्रम में मांस-मछली को उसी प्रकार खा जाते हो जैसे मानो तुमने उसे खेत में बो रखा था॥३-४॥ मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हो और उनकी पूजा के नाम पर प्राणियों को काट-काटकर चढ़ा देते हो; परन्तु यदि तुम्हारे देवता सच्चे हैं, और मांस खाने के भूखे हैं तो मैदान में चरते हुए पशु-पक्षियों को पकड़कर क्यों नहीं खा जाते!॥५-६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, संसारी लोग राम-नाम तो रोज जपते हैं, परन्तु प्रति घट रमने वाले राम पर दया करना नहीं जानते। जिनमें राम रमता है उन्हीं को काट डालते हैं। परन्तु हे संसार के लोगो, ध्यान दो, तुम जीभ-स्वाद के स्वार्थ में पड़कर जो कुछ हिंसा-हत्या करोगे, उसका बदला तुम्हें एक दिन देना पड़ेगा॥७-८॥

व्याख्या—मनुष्य मनुष्य के मांस को घृणित समझता है। उसे समझना चाहिए कि पशु, पक्षी, मछली आदि का भी मांस उसी तरह घृणित होता है। आदमी का दांत उखड़ जाय तो वह उसे अपने मुख में लिये नहीं रख सकता। इसी प्रकार असावधानी से अपने दांतों से अपने ओष्ठ का मांस कट जाय तो उसे वह न खा पायेगा और न तो अपने मुख में लिये रह पायेगा, किन्तु तुरंत उगल देगा। परन्तु वही मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि आदि के हाड़-मांस को अपने मुख में रखकर बड़े आस्वादनपूर्वक ज़ीमता है। यह कैसा पागलपन है!

"नरहिं न भखें सियारा जी" मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते। कहते हैं कि सियार मनुष्य का मांस काट भले दें, परन्तु खाते नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि चाव से नहीं खाते। यदि खाते हैं तो थोड़ा खाते हैं। साहेब कहते हैं कि सबका मांस घृणित है, अतः किसी का मांस नहीं खाना चाहिए। जैसे मनुष्य का मांस गंदा है वैसे पशु आदि का भी।

लोग मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हैं, उन निर्जीव पिंडियों के सामने सजीव की हत्या करते हैं और कहते हैं कि हम देवता को प्रसाद अर्पित कर रहे हैं। लोग देवता, देवी, ईश्वर, अल्लाह के नाम पर जीव-वध करते हैं। भला, यदि देवादि सच्चे हैं और मांस खाने की उन्हें आदत है तो एक दिन तो पता चलना चाहिए कि वे अमुक जगह अमुक पशु-पक्षी को पकड़ कर खा गये हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने जीभ-स्वादवश कल्पित देवी-देवताओं का आधार लेता है और उनकी पूजा के नाम पर अपना स्वाद पूरा करता है। ऐसे लोग उदाहरण देते हैं "ब्रह्मा ने यज्ञों में बलि चढ़ाने के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ संपूर्ण संसार की उन्नति के लिए है, इसलिए यज्ञ में पशु का वध, वस्तुतः वध नहीं है।"[1] यह सब घोर अज्ञान का फल और जंगलीपन है। देवता और ईश्वर किसी मासूम प्राणी की हत्या करने पर प्रसन्न होते हैं, यह धारणा अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। यज्ञ में संसार का कल्याण तो कुछ नहीं है, हां, पुरोहितों का स्वार्थ जरूर सधता है। यज्ञ केवल पुरोहितों का पेटधंधा है।

कितने लोग खूब राम-नाम जपते हैं, पूजा करते हैं, गायत्री जपते हैं, परन्तु मांस-मछली खाये बिना नहीं रह सकते। साहेब कहते हैं अपने किये का बदला तो देना ही पड़ेगा। जो दूसरे का सिर काटेगा, उसका सिर एक दिन काटा ही जायेगा। अपनी करनी का फल सभी जीवों को भोगना पड़ता है चाहे देर हो या सबेर। जबान से राम-नाम जप भजन नहीं है, किन्तु सब घटों में राम का वास समझकर सब पर दया एवं प्रेम का व्यवहार करना सच्चा भजन है।

ढूंढो मत, ठहरो

(षटकर्मों का वर्णन)

शब्द—७१

चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी॥ १ ॥
जेहि जल नाद-बिन्द को भेदा, षट कर्म सहित उपानेउ बेदा॥ २ ॥
जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा॥ ३ ॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा॥ ४ ॥

शब्दार्थ—चातृक = चातक, पपीहा, हल्के काले रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जो वसंत और वर्षा ऋतु में मीठे बोल बोला करता है, इसकी बोली में 'पी कहां-पी कहां' की लोग

---

१. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ *(मनु० ५/३९)*

कल्पना करते हैं, कहते हैं कि यह केवल स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, बाकी समय बादल की तरफ देखते हुए पुकारता रहता है। जल = पानी, तृप्ति, चेतन। नाद = शब्द। बिन्द = बूंद, वीर्य। षटकर्म = अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह। जीव = सामान्य जीव। शीव = शिव, कल्याणरूप, कृतार्थरूप। अमर = अविनाशी।

भावार्थ—हे चातक! तू अपना लक्ष्य दूर समझकर कहां पुकार रहा है! तू जिस जल को दूर समझ रहा है वह तो पृथ्वी पर जगह-जगह पूरी तरह भरा हुआ है। इसी प्रकार हे मनुष्य! तू परम तृप्ति के आश्रय को दूर समझकर बाहर कहां पुकार रहा है! वह तृप्तिकारक साधन तो इस संसार में ही परिपूर्ण है॥१॥ परम तृप्तस्वरूप तेरी अपनी आत्मा ही है। तेरा चेतनस्वरूप ही वह स्वच्छ जल है जिससे तू सदैव के लिए तृप्त हो सकता है। इस चेतन ही ने वीर्य-शक्ति से शरीर का निर्माण किया है और शब्द-शक्ति से अध्ययन-अध्यापनादि षटकर्मों के सहित चारों वेदों की रचना की है। यही नाद-बिन्द भेद से चैतन्य सृष्टि है॥२॥ इस चेतन-जल में ही जीव और शिव का वास है। अर्थात यह चेतन ही जब तक अबोध है जीव है और जब अपने स्वरूप को पहचानकर स्थित हो गया तब यही शिव है। यह शीतल चेतन-जल इस पृथ्वी पर अविनाशीरूप से प्रसिद्ध है और अपना ज्ञान फैला रहा है॥३॥ जिस चेतन से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है, उसी का रहस्य व्यक्ति नहीं जानता, यही उसके भटकाव का कारण है॥४॥

व्याख्या—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।" कवि लोग अपनी बातों को समझाने के लिए नयी-नयी कल्पना कर लेते हैं। कवि मानते हैं कि चातक पक्षी केवल स्वाति-नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, शेष समय तो वह आकाश की तरफ देखता रहता है और 'पी कहां-पी कहां' रटता रहता है। साहेब कहते हैं कि हे चातक! तुम दूर कहां पुकार रहे हो? न तो आकाश में कहीं कोई पीव बैठा है और न जल के लिए ही आकाश देखते रहने की आवश्यकता है। तू प्यासा है, जल पीना चाहता है, तो वह जल जगत में इस पृथ्वी पर नदी-तालाबों में परिपूर्णरूप से भरा है, उनमें से पीकर तृप्त हो जा! यह तो उदाहरण मात्र है।

यहां तो मनुष्य की तरफ संकेत है। यह मनुष्य चातक है। यह आकाश की ओर हाथ उठाकर और अपनी दृष्टि गड़ाकर पुकारता है कि हे भगवान! हमारा उद्धार करो, हमें परम शांति दो। आकाश की विशालता में उसे आशा होती है कि वहां कहीं अमृत की धारा होगी, वहां कहीं परमशांति का आश्रय परमात्मा होगा। साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य, यह तेरी भूल है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर कहां पुकार रहे हो! जिस जल, जिस अमृत, जिस परम शांति के आश्रय को तुम आकाश में मान रहे हो वह वहां नहीं है, वह तो इस जगत में ही है। तुम सारी इच्छाओं को छोड़कर इस संसार में जीना सीखो तो देखोगे कि तुम्हारे लिए सारा संसार आनन्द दे रहा है। तुम अपने मन, वाणी तथा इन्द्रियों की बुराइयों को सर्वथा छोड़ दो, तुम अपनी विषय-इच्छाओं को मिटा दो, तुम अपने आप को बाहर से मोड़कर भीतर आ जाओ, देखोगे सारा संसार तुम्हारे लिए मानो अमृत बरसा रहा है। जिस सुख की आशा तुम आकाश से, दूसरे लोक-लोकांतरों से करते हो जो केवल कल्पित है, वह सुख इसी संसार में तुम्हें मिल सकता है। मनुष्य की यही

सबसे बड़ी भूल है कि वह जहां रहता है वहां न संतुष्ट होकर दूसरी जगह से संतुष्ट होने की आशा करता है। यदि हम वर्तमान में संतुष्ट नहीं हैं, तो भविष्य में संतुष्ट होने की क्या आशा है! यदि हम प्राप्त परिस्थिति में तृप्त नहीं हैं तो कभी तृप्त नहीं हो सकते। हम स्वर्ग या मोक्ष की कल्पना अपनी आत्मा से अलग करते हैं, जहा हैं वहां से दूर करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपनी आत्मा को पहचानो उसमें रमो, बस, इसी संसार में मोक्ष है, स्वर्ग है।

इस शब्द में परम सुख एवं परमशांति के लिए जल शब्द का प्रयोग किया गया है, साथ ही चेतनतत्व के लिए भी जल शब्द का प्रयोग है। जल स्वभाव से ही शीतल होता है। साहेब कहते हैं कि शीतलता तुम्हारा स्वभाव ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप शुद्ध है, शीतल है, सारे ज्ञान-विज्ञान का कारण है और सृष्टि में महत्तम तत्व है। तुम अपने आपको पहचानो। तुम जिस जगत में रह रहे हो उसको तुच्छ मत समझो। इसी जगत में रहकर, इसी शरीर-द्वारा अपने शुद्धस्वरूप चेतनदेव का साक्षात्कार होगा। इसी राग-द्वेष तथा धूल-धड़क्के भरे संसार तथा हाड़-चाम के ढांचे शरीर में रहते-रहते तुम्हें अमृतबोध मिलेगा। तुम इस संसार से अलग दिव्य लोक का स्वप्न मत देखो। यह तुम्हारा जगत दिव्य लोक है, बशर्ते तुम अपनी इच्छाओं को जीत लो, वासनाओं को छोड़ दो, अपने स्वरूप को पहचान लो। पूरे संसार को निर्दोष एवं अमृत नहीं बना सकते हो, परन्तु यदि तुम निर्दोष बन जाओ तो तुम्हारे लिए मानो पूरा संसार निर्दोष तथा अमृत हो जायेगा। तुम स्वयं अपने अमृतस्वरूप को पहचान लिये, उसमें रम गये, बस तुम अमृत हो, इसी संसार में रहकर तृप्त हो।

"जेहि जल नाद-बिन्द को भेदा, षट कर्म सहित उपानेउ वेदा।" इसी चेतन सत्ता से नाद-बिन्द के भेद से चैतन्य सृष्टि पैदा होती है। यहां जल शब्द चेतन के लिए व्यवहृत समझ लो, अतएव जल शब्द हटा दो, चेतन ले लो। यह चेतन ही अपनी सत्ता से नाद और बिन्द इन दो सृष्टियों की उत्पत्ति करता है। नाद कहते हैं शब्द को। शब्द-शक्ति मानव में ही विकसित है। इसने अपनी नाद-शक्ति अर्थात शब्द-शक्ति से वेदादि समस्त शास्त्रों की रचना की है और यह माना है कि पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और लेना ये ब्राह्मणों के षटकर्म हैं।[१] स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम—ये भी ब्राह्मणों के नित्य षटकर्म माने जाते हैं। आगम तंत्र के अनुसार शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेष, उच्चाटन और मारण[२]—ये षटकर्म कहलाते हैं। रोग, कृत्या,[३] ग्रह आदि का निवारण 'शांति' कहलाता है। सेवा करके सबको वश में कर लेना 'वशीकरण' है। सब

---

१. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्मा विप्र उच्यते॥

२. शान्ति-वश्य-स्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥ *(हिन्दूधर्म कोश)*

३. मन्त्र प्रयोग से किसी को मारने के लिए एक शक्ति पैदा करने की कल्पना की जाती है, इसे कृत्या कहते हैं।

की प्रवृत्ति को रोक देना 'स्तंभन' है। मित्रों में क्लेश उत्पन्न करना 'विद्वेष' है। अपने देश से उखाड़ उत्पन्न करना 'उच्चाटन' है। प्राणियों का प्राण हरण कर लेना 'मारण' है। रति, वाणी, रमा, जेष्ठा, दुर्गा और काली इनके क्रमशः देवता मानते हैं। तांत्रिक लोग इनकी सिद्धि करने का पाखंड करते हैं। हठयोग के षटकर्म हैं--धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपालभाति।[1]

१. धौति—मुख से वायु खींचकर तथा पेट में फिराकर पुनः मुख से निकाल देना, कंठ तक पानी पीकर तथा पेट में फिराकर गुदा से निकाल देना, पेट की नाभि को सिकोड़कर पीठ की हड्डी में सटा देना, सूखी मिट्टी आदि से दांतों को सुबह-शाम रगड़कर खूब धोना, हाथ की उंगलियों से जीभ के मूल तक रगड़कर खूब धोना तथा रोज मक्खन जीभ में लगाकर उसको धीरे-धीरे बढ़ाना, फिर जीभ के अग्रभाग को लोहे के चिमटा से पकड़कर धीरे-धीरे खींचना, इससे जीभ बढ़ जाती है, उंगलियों से कानों को नित्य साफ करना, प्रतिदिन गले के भीतर के कौवे को अंगूठे से धोना, चिकने बेल के दंडे को मुख से हृदय तक डालकर धीरे से बाहर निकालना, खूब पानी पीकर उसका वमन कर देना—ये सब धौति कर्म में आते हैं, परन्तु मुख्य है महीन कपड़े को, जो चार अंगुल चौड़ा तथा कम-से-कम पांच हाथ लम्बा हो, मुख से निगलकर निकालना, इस क्रिया में कपड़े का एक सिरा हाथ से पकड़े रहते हैं और निगल कर आंती को साफ करते हैं।

२. वस्ति—पेट तक पानी में बैठकर गुदाद्वार सिकोड़ना-फैलाना तथा जमीन पर भी बैठकर सिकोड़ना-फैलाना।

३. नेति—सूत नाक में डालकर मुख से निकालना।

४. नौलिकी—पेट को वेगपूर्वक दोनों तरफ घुमाना।

५. त्राटक—किसी छोटी चीज पर नेत्र गड़ाकर उसे तब तक अपलक देखना जब तक आंसू न गिरे।

६. कपालभाति—यह तीन प्रकार का होता है वातक्रम, व्युत्क्रम तथा शीतक्रम। ईडा (नाक के बायें छेद) से वायु धीरे-धीरे खींचकर छाती में भरना तथा पिंगला (नाक के दायें छेद) से उसे धीरे-धीरे निकालना, इसी प्रकार दायें से भरकर बायें से निकालना—वातक्रम कपालभाति है। दोनों नाकों से पानी पीकर मुख से गिराता जाय तथा मुख से पीकर नाक से गिराता जाय—यह व्युत्क्रम कपालभाति है। मुख से शीत्कार कर अर्थात सुर-सुर कर पानी पीना और दोनों नाकों से गिरा देना शीतक्रम कपालभाति है। यह सब घेरंड संहिता के प्रथम उपदेश में वर्णित है। इनका फल शरीर-शुद्धि तो माना ही है, इनसे रोग, बुढ़ापा, मृत्यु का भी दूर हो जाना माना है और सुन्दरता तथा देवदेह का पाना भी माना है। वस्तुतः ये षटकर्म हठयोग के लिए आवश्यक होते हैं। बिना योग्य गुरु के यह सब नहीं करना चाहिए। वैसे भी प्रायः इनकी आवश्यकता नहीं है।

---

१. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत॥ *(घेरंड संहिता १/१२)*

षटकर्म के और भी जितने रूप हों सब चेतन मानव-द्वारा ही कल्पित किये गये हैं। सारे वेद तथा शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण छह वेदांग एवं विश्व के सारे शास्त्रों की रचना मनुष्य के नाद से एवं शब्द से ही हुई है। बिंद से अर्थात वीर्य से जीव की सत्ता-द्वारा देहों की रचना होती है। यही नाद-बिंद का भेद है। जीव की सत्ता से बिंद-द्वारा देहों की सृष्टि होती है तथा नाद-द्वारा शास्त्रों एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि होती है। दोनों सृष्टियों में चेतन का ही महत्त्व है जिसके लिए इस शब्द में लाक्षणिक शब्द जल कहा गया है।

"जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा।" जिस जल में जीव और शिव दोनों का निवास है वह जल इस धरती पर अमर रूप से प्रकट है। जल तो लाक्षणिक शब्द हुआ, मुख्य अर्थ है चेतन। एक चेतन सत्ता में ही जीव और शिव दोनों हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक चेतन सर्वत्र व्याप्त है और जीव-शिव दोनों उसके प्रतिबिंब हैं। इस उलझी हुई तथा असंभव बात की यहां चर्चा नहीं है। जब एक अखंड चेतन सर्वत्र रहेगा तब वहां जीव, शिव, जगत कुछ कैसे रह सकता है! यदि एक अखंड वस्तु सर्वत्र व्याप्त हो तो दूसरी सत्ता का रहना संभव ही नहीं है। अतएव यहां का अभिप्राय है कि जीव नाना हैं, परन्तु सभी का लक्षण एक चैतन्य है। सभी जीवों का लक्षण एक चैतन्य होने से सबमें चैतन्यता एक समान है, किन्तु सबका व्यक्तित्व अलग-अलग है। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। इन्हीं चेतन जीवों में कोई जीव है तथा कोई शिव है। जो अपने स्वरूप को नहीं पहचान सका है वह जीव है और जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया है, जड़वासनाओं का त्याग कर दिया है और जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी है, वह शिव है, कल्याणरूप है। श्री विशाल साहेब के वचनों में "अवश्य होय भव पार वह, पार जो समझे जीव। केवल निश्चय क्षीण है, निश्चय पलटि सो शीव।"[1] पारखी संत मानते हैं कि जब जीव गुरु हो जाता है तब पूर्ण हो जाता है। इसीलिए वे जीवमुख की बात न मानकर गुरुमुख की बात मानते हैं। यह गुरु हो जाना, शिव हो जाना एक ही बात है। दोनों का अर्थ है जगत से निष्काम होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना। इस प्रकार मूलतः एक ही प्रकार के चेतन में कोई जीव है और कोई शिव है। ऋग्वेद की भाषा में कोई पक्षी फल खाता है और दुखी है तथा कोई पक्षी केवल देखता है इसलिए शोकरहित है।[2] एक जीव विषयों में उलझा है इसलिए शोकित है, दूसरा केवल उसका द्रष्टा है, उससे अलग है, इसलिए चिंताहीन है। यही तो जीव-शिव का भेद है। दोनों में मौलिक भेद नहीं है, किंतु अबोध-बोध एवं तज्जन्य स्थिति का भेद है।

"सो जल धरणी अमर परकासा" यही अमर चेतन इस धरती पर अपना ज्ञान फैला रहा है। इस धरती पर जहां कहीं कुछ ज्ञान का विस्तार है वह किसकी विभूति है? वह सब इसी चेतन की है। इस संसार में जड़ और चेतन दो सत्ताएं हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, समुद्र, पर्वत, नदी, झरने, वृक्ष, वनस्पति, सब जड़ का

---

१. भवयान, साखी सुधा, साखी १६।

२. ऋग्वेद १/१६४/२०।

पसारा है। इससे भिन्न चारों खानियों की देहें, कला-कौशल तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान जड़ का संयोग लेकर चेतन की महिमा है। "सो जल धरणी अमर परकासा" यही अविनाशी चेतन इस धरती पर अपनी ज्ञान-रश्मियां फैला रहा है। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड में कहीं भी ज्ञान-विज्ञान होगा वह सब चेतन की ही कला होगी।

"जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा।" साहेब कहते हैं कि जिस चेतन की सत्ता से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है उस चेतन के रहस्य को लोग नहीं जानते, इसीलिए वे आकाश में दूर पुकारते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतन मनुष्य! तू अपने स्वरूप को समझ! तू चेतन है, अमर है, सारे ज्ञान-विज्ञान तेरी देन है, वेद-शास्त्र सब तेरी रचना है। तू अपने आप में पूर्ण है, महान है। तू स्वयं तृप्तस्वरूप है। जगत-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद तू स्वयं आनंदकंद है। तू दूर कहां पुकार रहा है! तेरे अलावा तेरा क्या है! तू परमात्मा का परमात्मा एवं परमानंद का परमानंद है। तू अपने आपको समझकर अपने आप में तृप्त हो जा, अपने आप में स्थित हो जा। तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर क्या पुकार रहा है! जिसे तू पुकार रहा है, वह स्वयं तू ही है!

देहाभिमान छोड़कर राम-भजन करो

शब्द–७२

चलहु का टेढ़ो-टेढ़ो-टेढ़ो॥ १ ॥

दशहूँ द्वार नरक भरि बूड़े, तूँ गन्धी को बेड़ो॥ २ ॥
फूटे नैन हृदय नहिं सूझे, मति एकौ नहिं जानी॥ ३ ॥
काम क्रोध तृष्णा के माते, बूड़ि मुये बिनु पानी॥ ४ ॥
जो जारे तन भस्म होय धुरि, गाड़े किरमिटी खाई॥ ५ ॥
सीकर श्वान काग का भोजन, तन की इहै बड़ाई॥ ६ ॥
चेति न देखु मुग्ध नर बौरे, तोहि ते काल न दूरी॥ ७ ॥
कोटिन यतन करो यह तन की, अन्त अवस्था धूरी॥ ८ ॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना॥ ९ ॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥१०॥

शब्दार्थ—दशहूँ द्वार = दो नाक, दो कान, दो नेत्र, मुख, गुदा, शिश्न तथा एक छिद्र खोपड़ी के तालु में माना है। गन्धी = गंदगी। बेड़ो = जहाज। किरमिटी = कीड़े तथा मिट्टी। सीकर = सियार। मुग्ध = विमोहित। अयाना = भोला, अज्ञानी। सयाना = शास्त्रज्ञानी।

भावार्थ—अहंकार में भरकर क्या टेढ़े-टेढ़े चलते हो!॥१॥ नेत्र-कर्णादि दसों दरवाजे तो नरक भरकर डूबे हैं। तू यह शरीर नरक का जहाज लेकर ही तो घूम रहा है॥२॥ तेरे बाहर के नेत्र फूटे हैं और भीतर हृदय से भी नहीं सूझता, तेरे में थोड़ी भी सद्बुद्धि नहीं आयी॥३॥ तू काम, क्रोध और तृष्णा से उन्मत्त होकर बिना पानी के संसार में डूब

मरा।।४।। मृत शरीर जला देने पर राख एवं धूल हो जाता है, गाड़ देने पर कीड़े और मिट्टी खा लेते हैं और यदि वह मैदान में पड़ा रहे तो सियार, कुत्ते और कौओं का आहार बन जाता है। तुम्हारे प्रिय माने हुए शरीर की यही विशेषता है।।५-६।। हे विमोहित पागल मनुष्य! सावधान होकर देख न, मौत तुमसे दूर नहीं है। इस शरीर को सुरक्षित रखने के लिए चाहे तुम करोड़ों उपाय करो, अंतकाल में यह धूल में मिलेगा ही।।७-८।। तू बालू के घर में बैठा है, तेरा शरीर क्षणभंगुर है। हे मूढ़! तू सावधान क्यों नहीं होता!।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि एक राम के भजन बिना बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले भी संसार-सागर में डूब गये।।१०।।

व्याख्या—इस शरीर से जब आत्म-उद्धार के लिए साधना की जाय तथा दूसरे की सेवा की जाय, तब इसकी सार्थकता है। यही इसकी शोभा है। परन्तु हम तो साधना एवं सेवा न कर इस देह का अहंकार करने लगते हैं। हमें इस देह का ही गर्व हो जाता है। इस देह की बनावट, अंगों का लालित्य, बल और बुद्धि का इतना अहंकार हो जाता है कि हम टेढ़े होकर चलने लगते हैं। अहंकारपूर्ण व्यवहार करना ही टेढ़े होकर चलना है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम क्या टेढ़े होकर चलते हो! जिस शरीर के घमंड में इतराकर टेढ़े होकर चलते हो उस पर विचार करो, वह क्या है! दोनों आंखों, दोनों नाकों और कानों में गंदा पानी, कीचड़ और अन्य गंदी वस्तुएं भरी हैं। मुख थूक से भरा एक गड्ढा है। टट्टी-पेशाब की जगह महान अपावन है इसे कौन नहीं जानता! खोपड़ी में भी हड्डी-मज्जा आदि गंदी वस्तुओं के अलावा क्या है! पूरा शरीर ही हड्डी की एक झोपड़ी है। उसमें मल-मूत्र भरे हैं, गीला चाम लपेटा है। साहेब कहते हैं कि हे मानव! तू तो नरक का जहाज बना है। इसी नरक की पोटली पर तू अहंकार करता है। लगता है कि तेरी बाहर की आंखें फूटी हैं और भीतर की भी। तू बाहर की आंखों से देखकर समझ सकता है कि तू जिस पर अहंकार करता है वह कूड़ा-कचड़ा है। जैसे तुम देखते हो कि किसी घूरे पर कचड़ा पड़ा रहता है, यह तुम्हारे शरीर की सारी सामग्री उससे अधिक नहीं है। नाशवान तो ऐसा है कि पलक झपकते यह भूलुंठित हो जाता है और सदा के लिए बीत जाता है। यदि तुम्हारे पास विवेक-विचार के नेत्र होते तो तुम इस तथ्य को अवश्य समझते। परन्तु तुम्हारे ये भीतर के नेत्र फूटे हैं और मानो बाहर के भी फूट गये हैं। हम देखते हैं कि जवान-जवान लोग भी इस संसार से क्षण में उठ जाते हैं। इतना ही क्या, बड़े-बड़े धनपति, बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े राजनेता क्षण-पल में सदैव के लिए चले जाते हैं। अवधि आने पर मौत किसी को नहीं छोड़ती। अपने जीवन की घटनाओं से इतिहास बनाने वाले दुनिया के बड़े लोगों को भी जाते देरी नहीं लगी, फिर तू किस अहंकार में भूल रहा है!

यह देहाभिमानी मनुष्य निरंतर काम, क्रोध तथा तृष्णा में मतवाला बना रहता है। इसमें काम धुरी है जिसके चारों तरफ क्रोध और तृष्णा नाचते हैं। यदि आदमी की कामना में भंग पड़ता है तो वह क्रोध से भभक उठता है और यदि कामना पूर्ण होती है तो तृष्णा की ज्वाला बढ़ जाती है। इसलिए ये क्रोध और तृष्णा काम के ही विस्तार हैं। यदि मनुष्य के मन से काम विदा हो जाय, वह विषयों की एवं सांसारिक वस्तुओं की

कामना छोड़ दे तो उसके पास क्रोध तथा तृष्णा फटकेंगे भी नहीं। परन्तु मनुष्य काम का कीड़ा बना रहता है। वह आजीवन नाना विषय-कामनाओं में डूबा रहता है। स्त्री पुरुष की कामना करती है, पुरुष स्त्री की कामना करता है, फिर पुत्र की कामना, अधिक धन की कामना, प्रसिद्धि की कामना, पद-प्रतिष्ठा की कामना, विरोधियों के विध्वंस की कामना, अनुकूलों को संपन्न बनाने की कामना, कहां तक गिनाया जाय, कामनाओं की कोई गणना नहीं हो सकती। इसीलिए मनुष्य क्रोध और तृष्णा का जीवन भर शिकार बना रहता है। कामनाओं के न पूर्ण होने पर चिड़चिड़ाते, भड़भड़ाते एवं क्रोधावेश में जलते रहना और किंचित कामनाओं के पूर्ण होने पर उसकी तृष्णा में चित्त का जलते रहना, यही इस संसार-कीट मनुष्य का स्वभाव हो गया है। साहेब कहते हैं कि काम, क्रोध तथा तृष्णा में पागल हे मूढ़ मनुष्य! तू बिना पानी के डूब मरा। कोई नदी-तालाब के पानी में डूब जाय तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु मनुष्य तो बिना पानी के डूबता है। अपने अज्ञानपूर्ण कार्य में डूब जाना ही मानो बिना पानी के डूबना है।

हे देहाभिमानी! तू इस तथ्य को समझ! जिस देह का तुम्हें बड़ा घमंड है उसकी अंतिम दशा क्या होती है! क्या तू इसे जानता नहीं है! जानता अवश्य है, परन्तु तुम्हें प्रमाद है कि हम बहुत दिनों तक संसार में रहेंगे। याद रखो, तुम चाहे जितने दिनों तक संसार में रहो, परन्तु जिस दिन जाने का समय आयेगा वह दिन आज-जैसा ही रहेगा। यह कोई नहीं जानता कि हम कब इस संसार से उठ जायेंगे। जब जीव शरीर से निकलता है, यह शरीर केवल काष्ठ के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता है। तुरन्त इसे श्मशान ले चलो, ले चलो लोग कहते हैं। इसे यदि जला दिये तो यह राख एवं धूल हो जाता है। जब जवाहर लाल नेहरू की लाश दिल्ली के शांति-वन में जलायी गयी तब जल जाने के बाद एक विदेशी पत्रकार ने कहा था कि जो दुनिया का एक बड़ा राजनेता था वह एक घंटा में एक मुट्ठी राख हो गया। यदि इस देह को गाड़ दें तो इसे कीड़े खा जाते हैं और यह मिट्टी में बदल जाता है। यदि यह मृत शरीर कहीं जंगल, पर्वत एवं मैदान में पड़ा रहे या वहां डाल दिया जाय तो इसे सियार, कुत्ते, चील, गीध, कौए एवं अन्य जानवर खा जाते हैं। यदि इसे पानी में फेंक दें तो मछली-कछुए खा जाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरे शरीर की यही अंतिमी बड़ाई है। यदि तूने इसे न आत्मकल्याण की साधना में लगाया और न पर-सेवा में लगाया तो इसका क्या उपयोग हुआ! जीवनभर इस कूड़े-कचड़े का अहंकार लादे रहा और अन्त में इसका सर्वनाश हो गया।

हे विमोहित, पागल मनुष्य! तू जागकर देख तो, तुझसे काल दूर नहीं है। जन्म के साथ मृत्यु पीछे पड़ जाती है। क्षण-क्षण बीतता है और आदमी मौत के मुख में जाता है। लोग अपना और अपने साथियों तथा बाल-बच्चों के जन्म-दिन मनाते हैं। उन्हें यह होश नहीं है कि आज उनके जीवन का एक वर्ष और बीत गया। संसार के अनेक आश्चर्यों में यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि दूसरों को मरते देखकर भी अपनी मौत की उसे याद नहीं होती। यक्ष ने जब पूछा कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"प्रतिदिन प्राणी यमसदन को जा रहे हैं, परन्तु बचे हुए लोग सदैव जीवित रहना

चाहते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा!"[1] यदि आदमी हरक्षण अपनी मौत की याद रख पाता तो उससे कोई बुराई न होती। तुम्हें यदि कोई पक्का निश्चय करा दे कि तुम आज शाम तक मर जाओगे तो देखोगे तुम्हारा मन कैसा हो जायेगा! तुम्हें यह दुनिया दूसरे ढंग से दिखेगी। कई अहंकारी लोग भी मरने के समय अपने शत्रुओं से भी हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हैं। जो व्यक्ति अपनी मौत को हरक्षण याद रखता है उसके ख्याल में न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। आदमी इतना घोर प्रमादी है कि इस दो दिन के जीवन में इतना अत्याचार में उतर आता है कि मानो इसे इसी संसार में सदैव रहना है। देहधारी को याद रखना चाहिए कि मौत नित्य उसके निकट आ रही है। मौत को याद रखें या नहीं, किन्तु वह तो हमारे सोते-जागते हर समय हमारी ओर बढ़ रही है।

प्रमादी लोग इस शरीर को अमर बनाने के लिए भी बड़ा-बड़ा प्रयोग करते हैं। कायाकल्प कर शरीर को बहुत दिनों तक रखने का भ्रम पाला जाता है। हठयोग के बल पर तो कई सौ वर्षों तक जीवित रहने की सनक रखी जाती है। इसमें सहायक होती हैं पौराणिक मिथ्या कहानियां जिनमें लिखा मिलता है कि अमुक-अमुक व्यक्ति इतने हजार एवं लाख वर्षों तक जीवित रहे। भागवतकार ने तो यहां तक लिख डाला है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष तक राज्य करते रहे।[2] वस्तुतः वेद के ऋषियों की बात ही सच है, उन्होंने सौ वर्षों तक जीने की कामना की है "जीवेम शरदः शतम्"। कुछ दिन पूर्व पाश्चात्य वैज्ञानियों को एक भ्रम सवार हुआ था कि बन्दरों के शरीर में एक नस है जिसे निकालकर मनुष्य के शरीर में फिट कर दिया जाय तो वह सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहेगा। कितने लोग समझते हैं कि अधिक रस-रसायन एवं भस्म खाकर शरीर को बहुत दिनों तक रखा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव! तू इस शरीर को रखने के लिए चाहे करोड़ों उपाय कर ले, परन्तु अन्त अवस्था में तेरे शरीर की व्यवस्था धूल में ही होगी। यह तेरे उपायों से बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता। यह तो क्षण में ही तुम्हें धोखा देकर चला जायेगा।

हे भोले! तू मत समझ कि पक्के भवन में बैठा है। यह तेरा लोहा, सीमेंट एवं ईंटों से बना मकान कुछ निश्चित अवधि रखता है। इंजीनियर इसे बता सकता है कि इस मकान की अवधि इतने वर्षों की है। परन्तु तेरे शरीर की अवधि नहीं बतायी जा सकती। यह समझ, कि तू बालू के घर में बैठा है। बालू के घर को गिरने में क्या देरी! इसी प्रकार तेरी काया विनशने में देरी न लगेगी। फिर भी तू इतना भोला बना है कि सावधान नहीं हो रहा है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना।" सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना बड़े-बड़े ज्ञानी और समझदार कहलाने वाले भी भवधारा में डूब गये। राम है चेतनदेव जो हर दिल में बसा हुआ है। यह जीव, यह चेतनदेव, यह आत्मा

---

१. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।। *(महाभारत, वनपर्व ३१३/११६)*

२. भागवत (५/१/२९)।

अविनाशी है, ज्ञानरूप है। यह देह में केवल कुछ समय के लिए रहता है; किन्तु इसका लक्षण जड़-देह से अलग ज्ञानमय है। यह देह से सर्वथा भिन्न है। यह स्वभावतः पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। यह अपने इस दिव्य स्वरूप को न जानकर ही मलिन देह का अभिमान करता है, विषयों की कामना करता है और क्रोध, तृष्णा, चिन्ता-शोक आदि में जलता है। अपने पूर्णकाम चेतनस्वरूप का स्मरण करना तथा उसी भाव में स्थित रहना—यही राम-भजन है, यही जीवन की दिव्य स्थिति है, यही कृतार्थ अवस्था है। इस राम-भजन में न रहने से ही, शास्त्रज्ञान बहुत हो जाने पर भी आदमी काम, क्रोध, तृष्णा आदि की भवधारा में डूबता है। हमें केवल शास्त्र-ज्ञान मानसिक भवधारा से नहीं बचा सकता। बड़े-बड़े विद्वान तथा धुरंधर पंडित भी अत्यंत मलिन आदतों में जीवनभर लिपटे रहते हैं। इसलिए शास्त्रीय एवं बौद्धिक ज्ञान जीव का बेड़ा नहीं पार कर सकता। मनुष्य तो तभी इस जीवन में कृतकृत्य होता है जब वह राम-भजन में लीन रहता है। विषयों से विरति तथा निज चेतनस्वरूप में निरति, यही राम-भजन है।

शब्द–७३

फिरहु का फूले-फूले-फूले॥ १ ॥
जब दश मास ऊर्ध्व मुख होते, सो दिन काहेक भूले॥ २ ॥
ज्यों माखी सहते नहिं बिहुरे, सोचि सोचि धन कीन्हा॥ ३ ॥
मुये पीछे लेहु-लेहु करें सब, भूत रहनि कस दीन्हा॥ ४ ॥
देहरि लों बर नारि संग है, आगे संग सुहेला॥ ५ ॥
मृतक थान लों संग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला॥ ६ ॥
जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई॥ ७ ॥
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की इहै बड़ाई॥ ८ ॥
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल वश कूवा॥ ९ ॥
कहहिं कबीर नर आप बँधायो, ज्यों ललनी भ्रम सूवा॥१०॥

शब्दार्थ—सहते = कष्ट सहनकर। बिहुरे = बिहुरना, छोड़ना। भूत = भूति, धन-संपत्ति। देहरि = देहलि, देहली, दरवाजे की चौखट में की नीचे वाली लकड़ी। सुहेला = प्रियजन। मृतक थान = चिताभूमि। खटोला = खटिया, अर्थी, टिकठी। हंस = जीव। कुम्भ = घड़ा। उदक = पानी। रमसि = रमना, निवास करना, स्थित होना। काल = अज्ञान। कूवा = कूप। ललनी = बांस की नली, बांस की वह छोटी चरखी जिसमें सुग्गा फंस जाता है। सूवा = सुग्गा, शुक पक्षी।

भावार्थ—हे मानव! तन-धनादि के अहंकार में क्या फूले-फूले फिरते हो! ॥१॥ जब दस महीने माता के गर्भ में उलटे मुख लटके थे वह दिन क्यों भूल गये! ॥२॥ जैसे मधुमक्खियां बहुत कष्ट सहते हुए नाना फूलों से पुष्परस लाकर मधु बनाती तथा इकट्ठा करती हैं और उसे छोड़ नहीं पातीं और मधु निकालने वाले आते हैं तथा उन्हें आग में झुलसाकर मधु निकाल ले जाते हैं, वैसे आदमी सोच-सोचकर अच्छे-बुरे सभी उपाय करके

धन इकट्ठा करता है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं करता।।३।। परिणाम यह होता है कि उसके जीते ही उसे चोर, डाकू या राजकर्मचारी पीड़ितकर उसके संचित धन को ले जाते हैं या उसके मर जाने के बाद हकदार बने अनेक लोग उसके संचित धन को लूटने के लिए आ धमकते हैं। भला, उसे वे सब सुरक्षित रहने कैसे देंगे!।।४।। मर जाने पर लाश के साथ दरवाजे तक श्रेष्ठ साथी मानी गयी पत्नी जाती है, आगे श्मशान तक प्रियजन जाते हैं और चिताभूमि तक अर्थी जाती है। इसके बाद तो फिर जीव को अकेला ही जाना पड़ता है।।५-६।। मृत शरीर को यदि आग में जला दिया गया तो वह राख हो जाता है, यदि गाड़ दिया गया तो उसे मिट्टी खा जाती है।।७।। जैसे मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरने पर वह उसमें ज्यादा समय तक टिक नहीं पाता, बरतन गलकर नष्ट हो जाता है और पानी बह जाता है, वैसे इस कच्चे साज शरीर की भी विशेषता है। यह भी देखते-देखते नष्ट हो जाता है और जीव चला जाता है।।८।। हे मोह में मतवाला आदमी! तू अपने ज्ञानस्वरूप चेतन-राम में नहीं स्थित होता, बल्कि अज्ञानवश सांसारिकता के कुएं में डूबता है।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि मनुष्य ने विषयों में सुख-भ्रम करके अपने आप को वैसे ही स्वतः बंधा लिया है, जैसे ललनी-यन्त्र में लगे हुए लाल मिर्चे के खाने के मोह में पड़कर सुग्गा अपने आपको स्वयं बंधा लेता है।।१०।।

व्याख्या—आदमी थोड़े दिनों के लिए संसार में आता है। वह यहां कुछ दिनों के लिए जवानी, सुन्दरता, बल, धन, पद, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि पा जाता है और अपनी ओछी बुद्धि के कारण इन सबके अहंकार में फूल जाता है। वह अपने समान किसी को नहीं जोरता। वह नम्रता त्यागकर ऐंठ-ऐंठकर चलने लगता है, किसी से सीधे मुख बात भी नहीं करता। कबीर देव ऐसे लोगों से कहते हैं कि तुम क्या फूले-फूले फिर रहे हो! जिसमें तुम फूले-फूले फिर रहे हो वे कितने दिन के हैं! "मन में सोच-विचार बुलबुला पानी का। दो दिन में मिट जाये नशा जवानी का।" ऐसे ही जिन-जिन का हमें नशा होता है वे सब थोड़े दिनों के ऐश्वर्य होते हैं। ऊंचा-से-ऊंचा पद छूटता है। प्राणी-पदार्थों का सारा संगम हवा के झोंके के समान है। फिर यह मूढ़ मानव किसमें फूलता है! इन नश्वर वस्तुओं का अहंकार करना हद दर्जे की भूल है।

"जब दश मास ऊर्ध्व मुख[1] होते, सो दिन काहेक भूले।" मनुष्य नौ या दस महीने तक माता के गर्भाशय में शिशुरूप में उलटे मुख लटका रहता है। साहेब कहते हैं कि तुम वे दिन क्यों भूल गये! तुम नौ-दस महीने माता के मैले गर्भाशय में उलटे मुख लटके रहे। वहां तुम कितने असहाय एवं दीन-मलिन रहे! यदि कुछ दिनों तक तुम्हारा शरीर रह जायेगा तो अत्यन्त जरजर होने पर तुम्हारी दशा पुनः दयनीय हो जायेगी।

---

१. यहां ऊर्ध्व मुख पाठ है जिसका अर्थ होता है ऊपर किये हुए मुख। चिकित्सक लिखते हैं—"गर्भधारण के बाद कई महीनों तक जब भ्रूण बहुत छोटा रहता है उस समय उसका माथा ऊपर की ओर रहता है और धड़ नीचे की ओर। पर पिछले महीनों में माथा नीचे की तरफ हो जाता है और नितंब ऊपर की तरफ।" *(पारिवारिक चिकित्सा, पृ० ८९, एम० भट्टाचार्य एण्ड कं०, ७३ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-१)*

कितने बूढ़ों को तुम देखते नहीं हो कि उनके मुख की लार उनके शरीर पर ही बह जाती है और वे उसे नहीं सम्हाल पाते। पैर रखते हैं कहीं और चले जाते हैं कहीं और। जवानी में जो रोब-दाब परिवार पर रहता है क्या बुढ़ापा में वह सब कुछ रह जाता है! रोब-दाब की तो बात ही दूर, उससे कोई बात करने वाला नहीं मिलता, उसके पास कोई बैठना नहीं चाहता। याद रखो, तुम्हारे अहंकार का नशा कुछ ही दिनों में झड़ जायेगा। तुम जिन प्राणियों पर स्ववशता का अहंकार करते हो वे ही तुम्हें अंगूठा दिखायेंगे। जिन पदार्थों का तुम्हें मद है वे खो जायेंगे। जिस शरीर का गर्व है वह निर्बल होकर असहाय हो जायेगा।

मधुमक्खियां उड़-उड़कर वनस्पतियों पर बैठती हैं। वे वहां से पुष्पों से रस खींच-खींचकर लाती हैं और अपने छत्ते में भरती हैं। मधु निकालने वाले आते हैं वे मक्खियों को आंच तथा धुवां दिखाते हैं। मक्खियां अपना छत्ता छोड़ना नहीं चाहतीं, अतएव वे आंच से झुलस जाती हैं और मधु निकालने वाले मधु निकाल ले जाते हैं। यही दशा उनकी होती है जो जायज-नाजायज धन तो बटोरते हैं, परन्तु उनका अच्छा उपयोग नहीं करते। धन की सार्थकता है उसको स्वयं तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना और दूसरों की सेवा में खर्च करना। सूम लोग यह सब नहीं करते। वे दान करना, दूसरों की सेवा में लगाना तो जानते ही नहीं, परन्तु स्वयं उपभोग करना तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना भी नहीं जानते। वे तो पैसा-पैसा जोड़ना जानते हैं। ऐसे लोग सदैव मन से मलिन तथा भयभीत रहते हैं। उनके जीवन में ऐसा भी अवसर पड़ सकता है कि चोर-डाकू आयें और उनको बांध-मारकर उनका संचित धन उठा ले जायं, या सरकारी कर्मचारी आकर उनका धन ले जाकर राजकोष में डाल दें। अंततः उसके मर जाने पर हकदार लोग लेहु-लेहु करके तो दौड़ते ही हैं। यदि दूसरे का संचित धन किसी को मिल जाय तो वह प्रायः लम्पट ही हो जाता है। जो धन अपना कमाया होता है उसे संयम से खर्च किया जाता है, परन्तु जो धन दूसरे का कमाया होता है और यों ही मिल जाता है तो मिलने वालों को उसका भूत सवार हो जाता है। संयमी लोगों की बात अलग है। वे तो अपने कमाये हुए तथा दूसरे से पाये हुए सभी धन का अच्छा उपयोग करते हैं, परन्तु संसार में संयमी तो थोड़े लोग होते हैं। इसीलिए धन का ज्यादा संग्रह करना मनीषियों ने पाप कहा है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कमाये हुए धन का अच्छा उपयोग करता रहे। उसे बटोरकर अहंकार की गठरी न बांधे।

आदमी चाहे जितनी माया बटोरे, उसे एक दिन मरना तो है ही। मर जाने पर उसके साथ क्या जाने वाला है! धन तो घर के अन्दर ही पड़ा रह जायेगा। उसकी लाश के साथ उसकी पत्नी केवल देहली तक अर्थात दरवाजे के चौखट तक जाती है। वह परदा करने वाली होती है, इसलिए वह देहली के बाहर कदम नहीं रख सकती। आगे उसकी लाश के साथ मित्र एवं प्रियजन चलते हैं। जो अब दुनिया से चला ही गया है उसकी लाश को श्मशान तक पहुंचा देना सब अपना कर्त्तव्य समझते हैं। परन्तु क्या जीव के साथ कोई चल सकता है! कोई चलना भी चाहे तो उपाय नहीं है। अतएव जीव जिसके अहंकार में फूला-फूला फिरता था उन सबको यहीं छोड़कर अकेला चला जाता है। जीव अकेला आता है और अकेला जाता है। वह अपने मूढ़तावश यहां के थोड़े दिनों की माया

में प्रमत्त होकर फूला-फूला घूमता है। सर्वाधिक अहंकार देह का होता है और उसकी अन्तिम परिणति है राख हो जाना, मिट्टी हो जाना। शरीर की क्षणभंगुरता पर साहेब मिट्टी के कच्चे घड़े का मार्मिक उदाहरण देते हैं। मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी भर दिया जाय तो वह उसमें कब तक टिक पायेगा! यह हाड़-चाम का कच्चा शरीर संसार में कब तक चलता रहेगा। हर देहधारी मानो दया का पात्र है, क्योंकि हर देह दुखेमी और क्षणभंगुर है। वे लोग बड़े बदहवास होते हैं जो दूसरे प्राणियों को छूरा भोंकते हैं। हर आदमी का जीवन स्वयं ही दुख तथा क्षणभंगुरता से घिरा है। वह दूसरे को दुख देकर अपने दुखों को और बढ़ाता है।

आदमी जीवनभर अज्ञान और मूढ़ता के कुएं में पड़ा रहता है। मनुष्य प्रलोभन में पड़कर अपने आपको स्वयं बंधा लेता है। सुग्गे को फंसाने के लिए लोग बांस की एक चरखी रख देते हैं। उसके ऊपर लाल मिर्ची लगा देते हैं। सुग्गा लाल मिर्ची को खाने के लोभ से चरखी पर बैठता है और चरखी घूम जाती है तथा वह उसमें फंस जाता है। उसके प्रलोभन ने ही उसे चरखी में फंसाया। इसी प्रकार हम सांसारिक भोग, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के लोभ में पड़कर स्वयं अपने आपको बंधनों में फंसा लेते हैं। साहेब कहते हैं कि हे मोह में उन्मत्त आदमी, इसीलिए तू राम में नहीं रमता। जिसका मन सांसारिकता में डूबा हो उसका मन निजस्वरूप में कैसे स्थित हो सकता है!

योग के नाम पर प्रपंच तथा अ-समीक्षा

शब्द–७४

ऐसो योगिया बदकर्मी, जाके गमन अकाश न धरणी॥ १ ॥
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा॥ २ ॥
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा॥ ३ ॥
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती॥ ४ ॥
सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती॥ ५ ॥
मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना॥ ६ ॥
उत्पति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना॥ ७ ॥
योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी॥ ८ ॥
औषध मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥ ९ ॥
नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी॥१०॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी॥११॥

शब्दार्थ—बदकर्मी = गलत काम करने वाला। गमन = यात्रा। रेखा = चिह्न। हाट = बाजार। हटवाई = बाज़ार का काम, सामान बेचने-खरीदने का काम, दुकानदारी। बयाई = तौलाई, तौलने की मजदूरी, दलाली। लेखा = हिसाब, आय-व्यय का ब्योरा, अन्दाज, विचार। युक्ती = युक्ति, उपाय। सींगी = हिरन के सींग का बना हुआ बाजा जिसे योगी

बजाते हैं। पात्र = बरतन, भिक्षापात्र। भुक्ती = भुक्ति, भोजन, आहार, भोग, ऐश्वर्य। आन = अन्य, दूसरा, आकर। नटवट = नटवत, चौरासी आसन दिखाना। बाजा = सींगी बजाना। पेखनी = मुद्रा। पेखे = देखते हैं। बाजी = तमाशा। राज = सुव्यवस्था। बिराजी = अव्यवस्था, भ्रष्टता।

भावार्थ—कुछ ऐसे योगी होते हैं जो गलत काम करने वाले होते हैं। उनकी यात्रा न आकाश में होती है न पृथ्वी पर। अर्थात न वे इधर के होते हैं न उधर के।।१।। वे एक तरफ तो यह कहते हैं कि हम उस आत्मा में स्थित हैं जिसमें हाथ, पांव, रूप-रेखा कुछ नहीं है। फिर भी वे बिना बाजार के अपनी दुकान लगाकर बैठते हैं और अपनी धार्मिक दलाली का पारिश्रमिक मांगते हैं।।२-३।। वे एक तरफ तो परम सिद्ध बनते हैं और कहते हैं कि कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे हम मुक्त हैं। मैं पूछता हूं कि सींगी और भिक्षापात्र भी तो उसमें नहीं हैं, तो फिर सींगी बजाकर भिक्षा क्यों मांगते हैं? एवं ऐश्वर्य की कामना क्यों करते हैं? ।।४-५।। मैंने तुम्हें समझ लिया और तुमने मुझे समझ लिया तो मानो मैं तुममें समा गया। अर्थात जैसा मैं हूं वैसा तुम हो, इस प्रकार सजातीयता का बोध हो गया।।६।। परन्तु यदि इसका अर्थ अजातवाद का सिद्धांत रखकर यह किया जाय कि निर्माण, परिवर्तन एवं जगत है ही नहीं, केवल एक ब्रह्म है, तब कहो भला ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है जो योगी बनने का ढोंग कर रहा है? ।।७।। योगियों ने तो निजस्वरूप राम से हटकर एक अन्य ही कल्पना खड़ी कर रखी है कि रामतत्व केवल एक है और वही सर्वत्र भरा है। न उसमें ज्ञान-वैराग्यादि औषध चाहिए और न जिस कारण से औषध की आवश्यकता है वह जगत-रोग ही है। वह राम अपने आप संजीवनी बूटी है।।८-९।। ये योगी लोग नट के समान चौरासी आसन दिखाते हैं, सींग का बाजा बजाते हैं, त्राटक आदि मुद्रा देखते हैं और बाजीगर के तमाशा की तरह "हाट बजारे लावै तारी"[1] का तमाशा करते हैं।।१०।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, राज से बे-राज हो गया। अर्थात इन लोगों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान और साधना दोनों गड्डमड्ड कर दिया।।।११।।

व्याख्या—यह इस ग्रन्थ में कई बार निवेदन किया गया है कि कबीर साहेब के समय में योगियों का काशी-कोशल क्षेत्र में काफी विस्तार था। जिसका विस्तार बहुत अधिक हो जाता है उसमें अधिक विकार आ जाता है यह संसार का स्वभाव है। उस समय योगियों में काफी विकृति हो गयी थी। इसीलिए कबीर साहेब ने यहां कहा "ऐसो योगिया बदकर्मी।" प्रायः योगी लोग ऐसे दिखावे तथा गलत आचरण में लग गये थे जिससे उनका वास्तविक लक्ष्य छूट गया था। इसीलिए उनके लिए सद्गुरु ने कहा "जाके गमन अकाश न धरणी" न उनकी यात्रा आकाश की ओर है और न पृथ्वी की ओर अर्थात न वे परमार्थ ही साध पा रहे हैं और न ठीक से सांसारिक भोग ही प्राप्त कर पा रहे हैं। अतएव वे "न इधर के रहे न उधर के रहे, न खुदा ही मिले न बिसाले सनम।"

---

१. रमैनी ६९।

"हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा। बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा।" ये एक तरफ तो हाथ-पांव, रूप-रेखा से परे आत्म-तत्त्व का उच्च व्याख्यान करते हैं और दूसरी तरफ बिना बाजार के दुकान लगाते हैं। अर्थात जहां-तहां चमत्कार का पाखंड फैलाकर धार्मिक दुकान लगाते हैं, धार्मिक दलाली करते हैं और उसी तरफ रात-दिन सोचते हैं जो अपने आप में बहुत बड़ा छलावा है।

"कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती। सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती।" वे अपने आपको परम सिद्ध और गुणातीत प्रदर्शित करते हुए यह कहते हैं कि हम कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे परे हैं। फिर भी वे सींग का बाजा बजाते हैं और भोग-ऐश्वर्य चाहते हैं। सच्चा योगी, सच्चा ज्ञानी तो सादे ढंग से केवल शरीर का निर्वाह लेता है। वह भोग-ऐश्वर्य का ठाट नहीं ठटता। एक तरफ गुणातीत होने का दावा करना तथा दूसरी तरफ ऐश्वर्य की कामना रखना पूर्णतया विसंगत है।

"मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना।" यदि मैंने तुम्हें तत्व से जान लिया और तुमने मुझे तथ्यतः जान लिया, तो मानो मैं तुममें समा गया और तुम मुझमें समा गये। यह एक सजातीय बोध और भावनात्मक एकता का कथन है। मैं शुद्ध चेतन हूं, इसी प्रकार तुम शुद्ध चेतन हो। जितने ज्ञाता चेतन हैं जो मैं के रूप में अपने अस्तित्त्व का बोध करते हैं वे सब सजाति चेतन हैं। उन सबका लक्षण एक है—चैतन्य। ठीक से मैं और तुम जान लिये तो मानो मैं तुम में लीन हो गया और तुम मुझमें लीन हो गये। इसका अर्थ यह नहीं हो गया कि हमारा और तुम्हारा चेतनस्वरूप एक में घुलमिलकर जम गया। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि हम दोनों को यह बोध हो गया कि दोनों का लक्षण एक है। यहां दोनों का तात्पर्य सभी चेतन जीवों से है। इस वास्तविकता का बोध हो जाने पर जीवों में परस्पर दया, प्रेम, करुणा, परोपकार आदि उच्च भावों का संचार होगा। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "सब तेरे तू सबन का" सब तुम्हारे हैं और तुम सबके हो। इसी को गीताकार कहते हैं कि जो अपने में सबको तथा सब में अपने को देखता है वही सच्चा ज्ञानी या भक्त है। इस कथन का अभिप्राय लोग गड़बड़ा देते हैं। वे समझ लेते हैं कि सबकी आत्मा एक है। वे यह नहीं समझ पाते कि यदि आत्मा एक होती तो 'सबकी' न कहना पड़ता। सब हैं तो आत्मा एक नहीं है, किन्तु सभी आत्माओं के चैतन्य गुण एक हैं, परन्तु वे व्यक्तित्व में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भिन्न तथा अनेक हुए बिना दया, करुणा, प्रेम, समता आदि सद्गुणों की आवश्यकता ही न पड़ती।

"उतपति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना।" अद्वैत ब्रह्मवाद में अंततः यह माना जाता है कि यह संसार है ही नहीं। इसकी उत्पत्ति एवं प्रलय कहना निरर्थक है। गौड़पाद ने अपने आगमशास्त्र में[१] अजातवाद, अलातवाद नाम देकर यही बताया है कि संसार कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो है ही नहीं। केवल एक ब्रह्म की सत्ता है। साहेब कहते हैं कि यदि निर्माण तथा परिवर्तनमय यह जगत नहीं है और केवल एक ब्रह्म ही है तो यह बताओ कि ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है?

---

१. देखिए 'कबीर दर्शन' अध्याय ४, स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद संदर्भ।

जगत और जीव यदि हैं ही नहीं तो ब्रह्म की जिज्ञासा किसे होती है, कौन ब्रह्म का विचार एवं ध्यान करता है? इस नानत्व भरे संसार को कैसे झुठलाया जा सकता है!

"योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी। औषध मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी।" योगियों ने हृदय-निवासी राम से हटकर एक दूसरे राम की कल्पना खड़ी कर रखी है कि राम सर्वत्र व्याप्त है। न उसमें जगत-रोग है और न उसके निवारण करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादिरूप औषध की आवश्यकता है। वह खुद संजीवनी बूटी है। "योगी आन" में 'आन' शब्द का अर्थ दो ढंग से समझ सकते हैं। आन का एक अर्थ होता है 'दूसरा' तथा 'अन्य' और दूसरा अर्थ होता है 'आकर' दोनों अर्थों में मुख्य भाव में अन्तर नहीं पड़ता। पहला अर्थ ऊपर लिया ही गया है। दूसरे में अभिप्राय होगा कि योगियों ने 'आकर' एक कल्पना खड़ी की है। वस्तुतः व्यक्तियों की आत्मा एवं चेतना के अलावा कोई सर्वव्यापक राम एवं ब्रह्म है यह एक अ-समीक्षात्मक अवधारणा है। यह चर्चा कई बार की गयी है कि एक अखंड तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होने से दूसरे तत्त्वों का रहना संभव ही नहीं होगा और न गति होगी, न जगत होगा। इसी आशंका को लेकर ब्रह्मवादी कहते हैं कि जगत और जीव तो हैं ही नहीं। परन्तु ऐसा किसी के कह देने से तो जगत और जीव का अभाव नहीं हो जायेगा। किन्हीं पूर्वजों ने जैसे भी उलटा-सुलटा लिख दिया हो उसी को लेकर सत्ता की व्याख्या करने से कभी सच्चा ज्ञान संसार के सामने नहीं रखा जा सकता। किन्तु सत्ता के गुण-धर्मों के अनुसार ही सत्ता की व्याख्या करनी चाहिए। जो सत्ता के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या हो उसे प्रमाण मानना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। कहीं शास्त्र में लिखा हो कि संसार तीनों काल में नहीं है इसलिए संसार उड़ नहीं जायेगा। संसार के लोगों को समझाने के लिए ही ब्रह्मवादी लोग सारा माथापच्ची करते हैं, फिर कहते हैं कि संसार है ही नहीं। राम कण-कण में है यह भावना एक भावुकता है और तथ्य से दूर है। राम घट-घट में है यह अनुभूत सत्य है। राम अर्थात चेतनस्वरूप में जगत-रोग नहीं है, परन्तु जगत का रोग मन में तो है ही। मन के जगत-रोग को दूर करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादि औषध की आवश्यकता है। राम स्वयं संजीवनी बूटी है यह सच है, निजस्वरूप के बोध तथा स्थिति से सारे भवरोग समाप्त हो जाते हैं। परन्तु योगी लोग अनुभविता एवं निजस्वरूप चेतन राम को छोड़कर कल्पित राम का पचड़ा गाते रहते हैं जो सत्य के जिज्ञासुओं के लिए त्याज्य है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी।" बाजीगर जैसे तमाशा दिखाता है वैसे योगी लोग चौरासी आसन लगाकर जनता को तमाशा दिखाते हैं। वे सींग का बाजा बजाते हैं, कान मूंदकर अनाहतनाद भी सुनते हैं, कोई आधारबिन्दु बनाकर और उस पर दृष्टि गड़ाकर एकटक देखना रूपी मुद्रा देखते हैं, अनेक चमत्कार दिखाते हैं जो एक छल-कपट रहता है। साहेब कहते हैं कि यह कोई योग नहीं है। यह तो योग के नाम पर बदकर्म है। आरंभिक साधना में मन को एकाग्र करने के लिए मुद्रा देखना तथा अनाहतनाद श्रवण आदि तो ठीक है, परन्तु ये सब साधक के लक्ष्य नहीं हैं। इसके अलावा आसन-प्रदर्शन तथा योग के नाम पर नाना प्रकार के तमाशा दिखाना, चमत्कार प्रदर्शित करना, यह सब तो योग के

नाम पर एक भ्रम पैदा करना है। यही है "राज बिराजी।" यह राज से बे-राज हो जाना है। जो योग का फल मन-निरोध तथा स्वरूपस्थिति होना चाहिए, वह हो गया लोक-रंजन, छल-कपट और देह-भोग का साधन। योग का फल व्यवस्था होती है, परन्तु यह तो अव्यवस्था हो गयी।

जाति, धर्म और अध्यात्म की एकता

शब्द–७५

ऐसो भरम बिगुर्चन भारी॥ १ ॥

वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी॥ २ ॥
माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना॥ ३ ॥
घट बिनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥ ४ ॥
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा॥ ५ ॥
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥ ६ ॥
रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर, सतोगुणी हरि होई॥ ७ ॥
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई॥ ८ ॥

शब्दार्थ—भरम = भ्रम, मिथ्या ज्ञान, भटकाव। बिगुर्चन = बिगूचना, उलझन। दीन = मजहब, सम्प्रदाय। दोजख = नरक। घट-साज = शरीर की सामग्री एवं अंग। नादे = नाद, प्राण, सूक्ष्म शरीर। बिन्द = वीर्य। अहमक = अज्ञानी। गूदा = मांस।

भावार्थ—संसार में ऐसा भ्रम एवं भारी उलझन है कि वेद-कुरानादि धर्मशास्त्रों, संप्रदायों एवं मजहबों का अन्तर डालकर एक दूसरे को नरकगामी बतलाते हैं और स्त्रियों को नीच दृष्टि से देखते हैं, परन्तु कौन पुरुष है और कौन स्त्री है! सबकी चेतना एक समान है। स्त्री-पुरुष तो केवल शारीरिक लक्षण हैं॥१-२॥ स्त्री हो या पुरुष, सबके सारे अंग मिट्टी आदि जड़ तत्वों से बने हैं। सबके शरीर प्राण एवं रज-वीर्य से ओतप्रोत हैं॥३॥ शरीर नष्ट होने पर जीव का क्या नाम रखोगे? हे जड़मति! तू भूल रहा है, अतः सत्य की परख कर॥४॥ सबके शरीर में एक प्रकार के चाम लगे हैं और एक ही प्रकार के हाड़, मल, मूत्र, रक्त और मांस भरे हैं, एक ही प्रकार के रज-वीर्य से पूरे मानव की सृष्टि-रचना है, फिर इनमें कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र? ॥५-६॥ हम तो त्रिदेवों को भी मानव में ही देखते हैं, जैसे अधिक रजोगुणी लोग मानो ब्रह्मा है, अधिक तमोगुणी लोग शंकर तथा अधिक सतोगुणी लोग विष्णु हैं॥७॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आत्माराम में रमण करो, यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान, किन्तु सब रामरूप हैं॥८॥

व्याख्या—अप्रतिम स्वतंत्र चिन्तक, मानवतावादी, विशाल-हृदय कबीर देव की बातें कितनी मार्मिक, कितनी साफ, कितनी सत्य तथा कितनी जनकल्याणकारी हैं यह सोचते ही बनता है। साहेब कहते हैं कि धर्मशास्त्रों तथा मजहबों को लेकर संसार में भारी भ्रम तथा उलझन है। वेदवादी केवल अपने आपको आस्तिक मानते हैं। वे दूसरे सभी को

नास्तिक कहते हैं। जो नास्तिक है वह स्वर्ग एवं कल्याण का अधिकारी तो हो ही नहीं सकता, वह तो सीधे नरक का अधिकारी है। परन्तु वैदिक कौन है इस बात को लेकर वैदिकों में भारी उलझन है। वेदांती शंकराचार्य ने पांचरात्र वैष्णवों को अवैदिक कहा है।[१] वे ईश्वर को जगत का केवल निमित्तकारण मानने वालों को अवैदिक कहते हैं, अतः इसमें वैष्णव ही नहीं आर्यसमाजी भी आ जाते हैं। ब्रह्मवादी निश्चल दास जी कहते हैं "उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) का उपदेश वेदसम्मत है, शेष सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा वेदविरुद्ध होने से नास्तिक हैं।[२] वैष्णव माधवाचार्य के अनुगामी नारायण ने अपनी रचना मणिमंजरी तथा मध्वविजय में शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[३] वैष्णव रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में शंकराचार्य को छिपा हुआ बौद्ध कहा है और उनके मत को हास्यास्पद बताया है। पद्म-पुराण में शिवजी के मुख से शंकराचार्य के मायावादी मत को अवैदिक करार दिलाया गया है "मायावादं अवैदिकम्"। शिव से कहलवाया गया "माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धांत है और बुद्ध मत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धांत का प्रचार किया था।"[४] परांकुशदास ने रामानुज के श्री भाष्य पर टीका लिखते हुए शंकराचार्य के अनुयायियों को बौद्धों की तरह वेदविरोधी कहा है और कहा है—हे शंकराचार्य के अनुयायियो! तुम्हारे लिए "वेदोऽनृतः" वेद झूठे हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है "मायावादी अद्वैत वेदांती पांचवें नास्तिक हैं जो कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।"[५] इतना ही नहीं, वैदिक कहे जाने वाले समस्त सम्प्रदाय एवं शाखा वाले एक दूसरे को पूर्णतः या आंशिक अवैदिक कहते हैं।

यही दशा मुसलमानों की है। शिया तथा सुन्नी में काफी कटाकटी रहती है। शिया लोग मानते हैं कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके दामाद अली को खलीफा होना चाहिए था जो हजरत की एकमात्र पुत्री फातिमा के पति थे। इसलिए शिया लोग प्रथम दो खलीफाओं को गलत उत्तराधिकारी मानकर प्रार्थना में उनके नाम नहीं लेते हैं। इन बातों को लेकर शिया-सुन्नी एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं। इतना ही नहीं, मुसलमानों में दर्जनों फिरके (संप्रदाय) हैं जिनमें हर एक अपने आपको कुरान, इसलाम तथा मुहम्मद

---

१. शारीरिक भाष्य २/२/४२-४५।

२. उत्तर मीमांसा उपदेशा। वेद विरुद्ध न जामे लेशा।।
शास्त्र पंच ते वेद विरुद्धं। याते जानहु तिनहि अशुद्धं।।
(विचार सागर, तरंग ७, चौपाई १०३-१०४)

३. महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ २१५, संस्करण १९६४।

४. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा।। *(पद्मपुराण, उत्तर खंड, २३६)*

५. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ २१४, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली, संस्करण विक्रम २०३१।

का रहनुमा एवं पथप्रदर्शक मानता है और दूसरे सबको गुमराह, इसलिए उन्हें नरकपंथी भी कहता है। यही दशा इसाइयों के रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट में एवं उनकी अवांतर शाखाओं में है। गिनाया कहां तक जाय, प्रायः हर संप्रदाय वाला अपनी किताब को ईश्वरप्रदत्त, अपने मत को ईश्वरीय तथा अपने मूलपुरुष को ईश्वर का भेजा या उसका अवतार मानकर स्वयं को ही स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी मानता है, शेष को अंधकार में भटकने-भटकाने वाला।

कबीर साहेब कहते हैं कि न कोई किताब अलौकिक है, न कोई संप्रदाय और न कोई महापुरुष। सब इसी संसार के हैं। सभी शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु सबसे केवल सचाई लेनी है। सब शास्त्रों में नीर-क्षीर-विवेक करना है। जो निर्णय से सही हो वही प्रमाण है, शेष वचन किसी भी ग्रन्थ के हों, चाहे वेद के या कुरान के, या बाइबिल या किसी अन्य के, त्याज्य हैं। सारे संप्रदाय मनुष्यकृत हैं। किसी संप्रदाय में रहने मात्र से किसी का कल्याण नहीं है, किंतु सच्चे ज्ञान एवं सच्चे आचरण से कल्याण है। जिसका मन पवित्र है वह स्वर्ग-सुख भोगता है और जिसका मन गंदा है वह नरक-दुख भोगता है। स्वर्ग-नरक तथा बंध-मोक्ष किसी संप्रदाय की मुट्ठी में नहीं है कि जिसे चाहे स्वर्ग दे दे और जिसे चाहे नरक दे दे।

नाना संप्रदाय वालों ने पुरुषों को तो श्रेय दिया, परन्तु नारियों के अधिकार को चुनौती दी। नारियां वेदमन्त्र एवं गायत्री-मन्त्र नहीं पढ़ सकतीं, वे पुरुषों के साथ मसजिद नहीं जा सकतीं। कितने मत वालों ने उन्हें मुक्ति की अधिकारिणी भी नहीं माना। कबीर साहेब कहते हैं "को पुरुषा को नारी" अर्थात कौन पुरुष है और कौन नारी है? दोनों के शरीरों में केवल कुछ अंगों की रचना में अन्तर है, इसलिए उनकी भिन्न मर्यादाएं रखना ठीक है। परंतु वे दोनों मनुष्य हैं। दोनों को कर्म-संस्कार लगते हैं, इसलिए दोनों समान कल्याण के अधिकारी हैं और दोनों हर दिशा में उन्नति करने के हकदार हैं। अतएव स्त्री-पुरुषों में केवल कुछ अंगों का अन्तर है, न कि उनकी मानवता एवं चेतनता में।

देखो "माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।" सबके शरीर के अंग मिट्टी आदि जड़तत्त्वों से बने हैं। सबके शरीर प्राण, रज, वीर्य से ओतप्रोत होने से एक समान हैं। अतएव भौतिक दृष्टि से सभी मिट्टी के पुतले हैं और सभी के भीतर एक ही समान चेतन निवास करते हैं। शरीर मिट जाने पर चेतन का क्या नाम रखोगे स्त्री या पुरुष, ब्राह्मण या शूद्र तथा हिन्दू या मुसलमान? "अहमक खोज भुलाना" मानव-मानव में किसी प्रकार का भेदभाव मानने वाले को कबीर साहेब अहमक कहते हैं। अहमक का अर्थ होता है जड़बुद्धि एवं अज्ञानी। वे कहते हैं कि मानव में जो भिन्न जातियों की कल्पना करते हैं वे भूले हैं। इसलिए साहेब उन्हें खोज करने की राय देते हैं कि वे इस बात पर अनुसंधान करें, चिन्तन और मनन करें। निष्पक्ष विचार न करने से ही मानव-मानव के बीच जाति-पांति की खाईं बनायी जाती है। यदि थोड़ा विचार कर ले तो बात सहज समझी जा सकती है। वस्तुतः हमें पूर्व के जड़-संस्कार सत्य को नहीं समझने देते हैं। हमें जड़-संस्कारों के परदे को फाड़ फेंकना पड़ेगा।

जरा विचार करो, सबके शरीर में वही चाम लगा है, वही हाड़-मांस लगे हैं। सबके शरीर में एक ही समान रक्त बह रहा है। सबके शरीर में एक ही समान टट्टी-पेशाब भरी हुई हैं। सबके शरीर वे ही गंदे रज-वीर्य से बने हैं। फिर इनमें कौन ब्राह्मण है तथा कौन शूद्र है! सारे साहित्य एवं शास्त्रों को पढ़कर इतनी भी अक्ल नहीं आयी! जो अनपढ़ भी समझ सकता है, वह बात तथाकथित पंडित एवं विद्वान नहीं समझ पा रहे हैं, यह कितना आश्चर्य है! शरीर तो सबके गंदी सामग्री से बने हैं। जो सदाचारी तथा आत्मज्ञानी है वह ब्राह्मण है और जो मूढ़ तथा मलिन आचरण वाला है वह शूद्र है। इसमें जाति-पांति और परंपरा से कोई मतलब नहीं।

साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव को भी मनुष्य समाज से बाहर मत खोजो। वैसे हर मनुष्य में तीनों गुण होते हैं, अन्तर यह रहता है कि किसी में रजोगुण प्रधान है, किसी में सतोगुण तथा किसी में तमोगुण। जो रजोगुण प्रधान है उसे ब्रह्मा, जो सतोगुण प्रधान है उसे विष्णु एवं जो तमोगुण प्रधान है उसे महादेव के रूप में देखो। इस प्रकार पूरा मानव समाज त्रिदेव मानकर पूजनीय है। इसमें किसका तिरस्कार करोगे!

"कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई।" सद्गुरु कहते हैं कि यहां हिन्दू-मुसलमान कौन है! सबके अन्दर में तो एक ही समान चेतनराम रम रहा है। इसलिए भेदभाव की दीवार को तोड़ो। तुम्हारा चेतनस्वरूप राम है, उसमें विश्राम करो। जो निजस्वरूप में विश्राम करता है वही राम में रमता है। अपने चेतन-राम में विश्राम तथा दूसरों को रामरूप मानकर उनके प्रति प्रेम का व्यवहार करना, यही हर मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसी में सारे भ्रम तथा उलझनों का अन्त है। शास्त्र-प्रमाण, संप्रदाय, मजहब, जाति, वर्ण, लिंग आदि के भेदभावों के संकुचित दायरों से ऊपर उठकर सबके भीतर रमने वाले राम को समझो। भीतरी राम में विश्राम तथा बाहरी राम का आदर, यही ज्ञान है, यही धर्म है, यही दिव्य स्थिति है, यही मानवता है और इसी में सारे विवादों का अन्त है।

जात कहते हैं पैदा होने को। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए पूरे मानव की जाति एक है। घोड़ी और बैल से, ऊंट और हथिनी से, बकरी और शूकर से बच्चे नहीं होते इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अन्य योनियों के प्राणियों को भी समझ सकते हैं। परन्तु इस संसार के किसी भी नर तथा नारी से बच्चे पैदा हो जाते हैं इसलिए पूरे मानव की जाति एक है।

संप्रदाय अनेक भले हों, परन्तु धर्म एक है। धर्म है शील, सदाचार। हम जो बरताव दूसरों से अपने लिए चाहते हैं वही दूसरों के साथ करना धर्म है। अतएव मानवता ही धर्म है। मानवता है आत्मसंयम तथा पर-सेवा। बस, यही धर्म है। इसलिए मानव मात्र का एक धर्म है।

सबके भीतर एक ज्ञानगुण वाले चेतन रमते हैं। किसी की चेतना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। इसी चेतन को राम, रहीम, खुदा, गॉड कुछ भी कह लो। इस चेतन को छोड़कर अलग कोई परमतत्त्व नहीं। अतएव आत्म-अस्तित्त्व में भी सबके समान गुण होने से एकता है। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि जातीय एकता, धार्मिक एकता तथा

आध्यात्मिक एकता को समझकर इनका आचरण करने से ही सारे भ्रमों तथा उलझनों का अंत है।

हम अपने स्वरूप को स्वयं भूल गये हैं

शब्द–७६

आपन पौ आपुहि बिसर्‌यो॥ १ ॥

जैसे श्वान काँच मन्दिर में, भरमित भूसि मर्‌यो॥ २ ॥
ज्यों केहरि बपु निरखि कूपजल, प्रतिमा देखि पर्‌यो॥ ३ ॥
वैसे ही गज फटिक शिला में, दशनन आनि अर्‌यो॥ ४ ॥
मर्कट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिर्‌यो॥ ५ ॥
कहहिं कबीर ललनी के सुवना, तोहि कवने पकर्‌यो॥ ६ ॥

शब्दार्थ—आपन पौ = अपना स्वरूप। भूसि = भूंकना। केहरि = सिंह। बपु = देह। प्रतिमा = परिछाईं। गज = हाथी। फटिक शिला = कांचवत स्फटिक पत्थर। दशनन = दांत। अर्‌यो = टक्कर मारना। मर्कट = बंदर। नहिं बिहुरे = बंधनों से नहीं छूटा। ललनी = सुग्गा फंसाने की बांस की चरखी। सुवना = सुग्गा, शुकपक्षी।

भावार्थ—व्यक्ति अपने चेतनस्वरूप को स्वयं भूल गया है; जैसे कुत्ता कांच के मन्दिर में अपने प्रतिबिम्ब को भ्रमवश दूसरा कुत्ता मानकर उसके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया, जैसे सिंह कुएं के पानी में अपनी प्रतिछाया देखकर तथा उसे अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उसे मारने के लिए कुएं में कूदकर मर गया; जैसे हाथी स्फटिक पत्थर में अपनी परिछाईं देखकर तथा उसे अपना बैरी मान उसमें अपने दांतों का टक्कर मार-मारकर मर गया; जैसे बंदर संकरी सुराही में रखे हुए चने के स्वादवश उसमें हाथ डालकर चने को मुट्ठी में भरा और मुट्ठी सुराही से न निकलने से वह फंस गया और कलंदर-द्वारा पकड़ लिया गया और छूटा नहीं, तथा घर-घर दांत निपोरते हुए नाचता फिरा और जैसे शुकपक्षी नलिका-यंत्र में लाल-मिर्ची के लोभ में फंसकर बधिक के हाथों में पड़ गया, वैसे यह मनुष्य अपने कल्पनात्मक राग-द्वेष एवं भोगलिप्सा में फंसकर अपना पतन कर डालता है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे ललनी के सुवना! तुम्हें किसने पकड़ रखा है? वस्तुतः तू लोभवश अपने आप को पकड़ा लिया है॥१-६॥

व्याख्या—मनुष्य को भुलाने वाला अन्य न कोई भगवान है और न शैतान। इसने स्वयं अपने अज्ञान से अपने चेतनस्वरूप को, अपनी आत्मा को एवं अपने आपा को भूल रखा है। इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए हमें स्वयं अपनी ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा।

यह जीव कैसे अपने आपको भूलकर कहीं-न-कहीं फंस जाता है, इसको समझने के लिए सद्गुरु यहां पांच उदाहरण देते हैं। वे उदाहरण हैं कुत्ता, सिंह, हाथी, बंदर एवं शुक-पक्षी के।

एक कुत्ता कांच के मन्दिर में घुस गया। उसमें उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसे लगा यह दूसरा कुत्ता है। कुत्ते अपरिचित कुत्ते के शत्रु होते हैं। उसने कभी अपना चेहरा तो देखा नहीं था, अतः उसे अपने चेहरे की परिछांईं ही अपरिचित लगी। वह समझा कि यह कोई दूसरा कुत्ता है। उसको उसने अपना विरोधी मानकर उस पर भूंकना शुरू किया। प्रतिबिम्ब की तरफ से भी उसे भूंकने की क्रिया का आभास हुआ। कुत्ते को अधिक क्रोध आया और उसे अपना शत्रु मानकर भूंकता ही रहा और इस प्रकार भूंक-भूंककर मर गया।

हमारी दशा यही है। यह संसार एक शीशमहल है। हम इसमें अपने ही प्रतिबिम्ब देख-देखकर भूंकते हैं। जैसी हमारे मन की धारणा होती है, हमें संसार वैसा ही लगता है। हम अपनी मनोमालिन्यता के प्रतिबिम्ब दूसरों में देखते हैं। चूंकि हमारा मन अशुद्ध है इसलिए हम समझते हैं कि संसार के सारे लोगों का मन अशुद्ध है। हम अपनी आत्मा से अपरिचित हैं, इसलिए हम दूसरों में अपनी आत्मा को नहीं देख पाते, अर्थात हम यह नहीं समझ पाते कि सब जीव हमारे सजाति हैं। हम अपने अज्ञान तथा मनोमालिन्यतावश दूसरों को शत्रु मानकर जीवनभर जलते हैं। इस जलन को दूसरा कैसे मिटा सकेगा! इसे तो हमें स्वयं ही समझना होगा और मिटाना होगा। यदि कुत्ता समझ लेता कि इस मन्दिर में मेरे अलावा कोई दूसरा कुत्ता नहीं है तो उसे भूंकने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार यदि हम समझ लेते कि हमारे अज्ञान के अलावा हमारा कोई दूसरा शत्रु नहीं है तो लोगों से वैर-विरोध में कभी न पड़ते। यदि हम समझ लेते कि सब जीव मेरे सजाति हैं तो हमारे मन में सबके लिए प्रेम का सागर उमड़ता।

एक सिंह था। वह अपने खाने के अलावा निरर्थक ही अन्य जानवरों को मार दिया करता था। जंगल के जानवरों ने बैठक की और सर्वसम्मति से राय पास कर सब सिंह के पास गये। उनमें से एक ने सिंह से निवेदन किया कि आप हमारे वन के राजा हैं। आप अपने आहार के लिए स्वयं पशु की खोज करने न जायं, किन्तु हम लोग स्वयं पारी बांधकर एक-एक प्रतिदिन आपके पास आते रहेंगे। इससे आपको परिश्रम नहीं पड़ेगा तथा आपकी प्रजा का व्यर्थ विध्वंस नहीं होगा। उक्त बातें सुनकर सिंह ने उनकी बातें मान लीं। महीनों बीत गये। एक-एक जानवर उसके आहार के लिए आते रहे। एक दिन एक खरगोश की बारी आयी। उसने अपने परिवार वालों से कहा कि आज मैं सिंह को मारकर ही लौटूंगा। सबको आश्चर्य हुआ।

खरगोश सिंह के पास देर से पहुंचा। सिंह क्रोध में बोला—मूर्ख, तूने देरी क्यों की? खरगोश ने कहा—हुजूर, हम दो भाई आपके आहार के लिए आ रहे थे, क्योंकि हम छोटे जानवर हैं। एक से सरकार का पेट नहीं भरता। रास्ते में एक दूसरा सिंह मिला। उसने हमें खाना चाहा। हमने बताया कि हम दोनों आज अपने राजा के आहार हैं। वह आग-बबूला हो गया। उसने कहा कि इस वन का तो मैं राजा हूं। यहां दूसरा कौन राजा हो सकता है। अपने राजा को बुला लाओ। वह मुझसे लड़कर विजयी बन जाय तब इस जंगल का राजा बने। हुजूर, उसने हमारे एक भाई को पकड़ रखा है। अब आपकी जो इच्छा। वैसे नीति यही है कि शत्रु को मारकर ही भोजन किया जाय।

सिंह अधिक क्रोधपूर्ण होकर कहा कि वह कहां है? खरगोश ने कहा कि वह दूर एक कुएं में रहता है। खरगोश उसे एक कुएं के पास ले जाकर बताया कि इसी में आपको चुनौती देने वाला शत्रु है। सिंह ने कुएं के पास जाकर गर्जना की। उसकी परिछांई कुएं में दिखाई दी तथा गर्जना की प्रतिध्वनि भी उसे सुनाई दी। वह उसमें सचमुच दूसरा सिंह समझा और उसको मारने के लिए उसमें कूदा तथा अपने प्राण खो बैठा।

इसी प्रकार एक मोटे-ताजे हाथी को देखकर एक सियार तथा लोमड़ी के मुंह में पानी आने लगा। उन दोनों ने सोचा कि इसका मांस खाने को कैसे मिले। दोनों ने युक्ति सोच ली। दोनों ने जाकर उसका नमस्कार किया और कहा—सरकार, आप तो इस वन के राजा बनने योग्य हैं। हाथी ने प्रतिष्ठा में फूलकर कहा कि तो इसके लिए मुझे क्या करना पड़ेगा? उन दोनों ने कहा—सरकार! आपको केवल इतना ही करना पड़ेगा कि इस वन में एक पर्वत में आप सरीखा एक दूसरा हाथी रहता है, उसको आप मार दें, क्योंकि एक राज्य में राजा का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहना चाहिए। हाथी प्रतिष्ठा में फूलकर उस पर्वत के पास गया। पर्वत स्फटिक पत्थरों का था। उसमें हाथी का अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उसने उसे दूसरा हाथी मानकर अपने दांत के टक्कर मार-मारकर अपनी जान खो दी। उसे सियार तथा लोमड़ी बहुत दिनों तक खाते रहे।

उक्त दोनों कल्पित कहानियां इस बात को समझाने के लिए हैं कि आदमी अपनी झूठी प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा में पड़कर और अपनी ही परिछांईं से लड़-लड़कर मरता है। मन में वैर, क्रोध एवं प्रतिष्ठा के प्रलोभन का भ्रम पड़ने पर हम अपनी परिछांईं को शत्रु मान लेते हैं। हमारी मलिन भावनाएं हमारे चारों तरफ प्रतिबिंबित होती हैं और हम अपने मलिन प्रतिबिम्ब-शत्रुओं से घिरकर मारे जाते हैं। यदि हमारा मन क्रोध, वैर, विषय एवं प्रतिष्ठा-प्रलोभन से मुक्त हो तो हमें कोई पतित नहीं कर सकता है।

चौथा उदाहरण बन्दर का है। बन्दर फंसाने वाले कलंदर वन में जाकर सुराही में चने डालकर वहीं रख देते हैं। बन्दर आकर उसमें हाथ डालकर चने से मुट्ठी भरता है। सुराही का मुंह संकरा होने से मुट्ठी नहीं निकलती और चने का लोभ छोड़कर वह मुट्ठी छोड़ना नहीं चाहता। इतने में कलंदर आकर बन्दर को पकड़ लेता है। फिर वह जीवनभर कलंदर की डोरी में बंधा डंडे खाता तथा द्वार-द्वार दांत निपोरकर नाचता रहता है।

हमारी यही दशा है। हमने संसार के भोगों को मजबूती से पकड़ रखा है। हम न उन्हें छोड़ते हैं और न स्वयं संसार के बंधनों से छूटते हैं। चने का लोभ छोड़कर बन्दर मुट्ठी छोड़ देता और भाग जाता तो वह न पकड़ा जाता। उसे चने के लोभ ने बांध दिया। इसी प्रकार हमें विषयों के लोभ संसार में बांधते हैं। यदि हम विषयों का लोभ छोड़ दें, तो हमें बांधने वाला संसार में कोई नहीं है।

पांचवां उदाहरण शुक-पक्षी का है। वह नलिका यन्त्र में लगी हुई लालमिर्ची को खाने के लोभ में उस पर आकर बैठता है। बैठने से यन्त्र घूम जाता है। शुक-पक्षी भ्रमवश समझता है कि मैं पकड़ लिया गया जबकि वही उस यन्त्र को मजबूती से पकड़ लेता है और बधिक के हाथों पड़ जाता है। कबीर साहेब बड़े प्यार से कहते हैं "कहहिं कबीर

ललनी के सुवना, तोहि कवने पकस्यो'' हे नलिका-यन्त्र में फंसा शुक-पक्षी! तेरे को किसने पकड़ रखा है? अरे तूने ही लालमिर्ची को खाने के प्रलोभन में पड़कर नलिका-यन्त्र पकड़ रखा है। तू स्वयं अपनी मूर्खता से उसमें फंस गया है।

हमारी भी ऐसी ही मूर्खता है। हम संसार के पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा में पड़कर स्वयं अपने आप को बांध लेते हैं। हम अपने परम दिव्य चेतनस्वरूप का बोध नहीं रखते जो पूर्णकाम, आप्तकाम एवं निष्काम है। हम अपने आपको देह मानकर इन्द्रियों के भोगों के पीछे अपने आपको संसार-प्रपंच में बेच देते हैं।

इसलिए सद्गुरु हमें इशारा करते हैं कि तुम मानसिक विकारों में पड़कर स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हो। इसलिए तुम्हें ही विकारों को हटाकर जगना पड़ेगा। तुम अपने आपको शुद्ध चेतन न मानकर जड़ देह मानते हो, यही सारे दुखों का कारण है। तुम दूसरे से राग-द्वेष एवं भोगों का प्रलोभन छोड़ो, अपने आपको देह मत मानो, किन्तु अपने आपको पूर्णकाम अविनाशी चेतन समझो और सबका साक्षी बनकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सूरदास जी के सूरसागर में भी इस पद से मिलता-जुलता एक पद है । प्रश्न हो सकता है कि इसका असली रचयिता कबीर हैं कि सूर! यह सर्वविदित है कि कबीर साहेब के जीवनकाल के बाद सूरदास हुए हैं। परन्तु यह तो संभव ही नहीं है कि सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि कबीर-रचित पद में थोड़ा हेराफेरी कर अपने नाम की छाप लगा लें। अतएव यह हो सकता है कि सूरदास जी को भी वैसा ही पद उनके हृदय में फुर गया हो जैसा कबीर साहेब ने पहले रच दिया था। फिर इसमें दो पंक्तियां अधिक भी हैं जिसके भाव भी भिन्न हैं। या सूरसागर का कोई संपादक भ्रमवश कबीर साहेब के पद में थोड़ा रद्दोबदल कर सूरदास के नाम का छाप लगा दिया हो और सूरसागर में जोड़ दिया हो।

सूरसागर का पद यह है—

आपनुपौ आपुन ही बिसर्यो।
जैसे श्वान काँच मन्दिर मैं भ्रमि भ्रमि भूकि मर्यो॥
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृन सूंघि फिर्यो।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्यो॥
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै आपुन कूप पर्यो।
जैसे गज लखि फटकिसिला मैं दसननि जाय अर्यो॥
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यो।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौने पकर्यो॥ (सूरसागर २/२६)

अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो

शब्द–७७

आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा॥ १ ॥
इन्द्री कहाँ करे विश्रामा, सो कहाँ गये जो कहत होते रामा॥ २ ॥

सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय मृतक वह पदहि समाना ॥ ३ ॥
रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बहुतेरा = बहुत प्रकार से, सब प्रकार से। विश्रामा = शांति। सयाना = बुद्धिमान, कला-कौशल-निपुण।

भावार्थ—हे मानव! सब प्रकार से अपने पुरुषार्थ पर आशा-भरोसा रखो। ईश्वर का रहस्य तो कोई नहीं समझ सका है ।।१।। देहवादी तथा इन्द्रिय-लंपट लोगों को कहां शांति मिल सकती है! और उनकी स्थिति भी कहां हुई जो कहते थे कि राम हमें तार देंगे ।।२।। बुद्धिमान और कला-कौशल में निपुण लोगों को भी कहां विश्रांति मिल सकती है! जीवन्मुक्तिपद में तो वह लीन होता है, जो संसार की अहंता-ममता से मर जाता है, अर्थात जो सारी अहंता-ममता को छोड़ देता है ।।३।। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं कह-कहकर थक गया कि आत्माराम के अलावा कोई राम नहीं है जो व्यक्ति की चिरविश्रांति का आश्रय बन सके, परन्तु स्वामी रामानन्द बाहरी राम के रस में माते रह गये ।।४।।

व्याख्या—कबीर साहेब समाज-सुधारक, जननेता तथा कवि होने के साथ एक उच्चकोटि के संत एवं अध्यात्म में लीन परमार्थपरायण पुरुष हैं, परन्तु वे सभी दिशाओं में क्रांतिकारी हैं। जब वे समाज-सुधार पर बोलते हैं तब उनकी वाणी में आग रहती है। आपको आश्चर्य होगा कि जब वे अध्यात्म पर बोलते हैं तब भी उनकी वाणी में आग रहती है। कबीर साहेब के विचार राख नहीं हैं, किन्तु आग हैं। आग ही जिन्दा है, राख तो मुरदा है। वे यहां कहते हैं "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।" प्रायः सारे अध्यात्मवादी यही कहते हैं कि हम तो तुच्छ हैं, प्रभु ही समर्थ है। उसका ही भरोसा है। साहेब इसके विपरीत कहते हैं कि अपने आपका भरोसा करो, आज तक हरि का रहस्य कोई नहीं जान सका है कि वह है भी कि नहीं।

मनुष्य जब तक अपना पुरुषार्थ नहीं करेगा, उसे कुछ भी मिलने वाला नहीं है। एक अनपढ़ हलवाहक भी यह जानता है कि जब तक हम हल नहीं चलायेंगे तब तक कोई देव या ईश्वर हमारा खेत नहीं जोत देगा। अतः वह किसी देव या ईश्वर के भरोसे न बैठकर स्वयं हल चलाता है। इसी प्रकार व्यापारी व्यापार का काम करता है, नौकरी करने वाला अपनी ड्यूटी में जाता है। बिना 'घुट' किये तो मुख का ग्रास भी अन्दर नहीं जा सकता, तो अन्य काम बिना परिश्रम किये कैसे सफल हो सकता है! मोक्ष का काम जो बिलकुल व्यक्तिगत है उसके लिए दूसरे का आशा-भरोसा करना बिलकुल भोलापन है। खेत तो हम नौकर रखकर भी उससे जोतवा सकते हैं। इसी प्रकार दुकान पर नौकर रखकर भी दुकान का काम उससे करवा सकते हैं, परन्तु मोक्ष का काम तो दूसरा बिलकुल ही नहीं कर सकता। हमारे मन की जड़-वासनाएं ही हमारे लिए बन्धन हैं और उनको नष्ट केवल हम ही कर सकते हैं। गुरु-संतजन केवल युक्ति बतायेंगे, काम हमें ही करना पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि लोग खेती करते हैं, व्यापार करते हैं परन्तु वे असफल भी हो जाते हैं। सूखा, दाहा, कीड़ों एवं बीमारी का प्रकोप होने पर फसल नष्ट हो जाती है। इसी

प्रकार व्यापार में घाटा हो जाता है। अतः अपने करने से कुछ नहीं होता। ईश्वर देता है तभी होता है। इसका मतलब यह हुआ कि देने-लेने की शक्ति ईश्वर अपने पास रखता है। आदमी चाहे जो करे, जब तक ईश्वर न चाहेगा तब तक आदमी कुछ नहीं पा सकता। इसका मतलब है कि आदमी ने खेती या व्यापार में खूब परिश्रम किया परन्तु वह सफल न हुआ, तो ईश्वर ने उसे सफल न होने दिया। तो क्या ईश्वर ईर्ष्यालु या क्रूर है जो दूसरे के काम में रोड़े अटकाता रहता है? यदि उसकी खुशामद की जाय, सेवा-पूजा एवं प्रार्थना की जाय तब वह किसी का पुरुषार्थ सफल होने देता है तो इसका मतलब है कि वह आततायी मनुष्यों के समान है जो बे-वजह दूसरों के काम में विघ्न डालते हैं और जब उनके सामने हाथ जोड़ लो तथा उन्हें कुछ दे दो तब वे काम होने देते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि पूजा-प्रार्थना करने वाले भक्तों के काम में भी वह विघ्न डाल देता है और उन्हें सफल नहीं होने देता। देखा जाता है कि बहुत-से भगवान-भक्त बहुत दुखी रहते हैं, तो कहा जाता है कि ईश्वर उनकी कसनी करता है या उनके अपने पूर्वजन्मों के ऐसे कर्म ही होते हैं जिनके फल बुरे हैं। उसे ईश्वर भी बदल नहीं सकता। हर हालत में भक्त लोग ईश्वर की बड़ी रक्षा करते हैं। वे उसे हर तरह से जिलाये रखना चाहते हैं। क्योंकि कमजोर मनवालों के लिए वह सहारा है; अन्धों की लकड़ी है।

वस्तुतः हम आत्म-भिन्न ईश्वर एवं देवी-देवताओं की कल्पना कर कमजोर मन वाले हो गये हैं। हम जितने ही परमुखापेक्षी होंगे उतने ही स्वावलंबन से दूर होते जायेंगे। हम जितने कल्पित देवी-देवताओं एवं ईश्वर के भरोसे रहेंगे उतना ही अपनी उन्नति में रोड़े अटकायेंगे। कहा जाता है कि काशी नगरी की रक्षा शिव जी छह सौ देवताओं के साथ करते हैं, विश्वेश्वरनाथ काशी के राजा हैं। उनके मुख्य कोतवाल भैरव हैं, जो विश्वेश्वरनाथ मन्दिर से एक मील उत्तर एक मोटी गदा लिये नगर रक्षा में डटे हैं। परन्तु औरंगजेब-द्वारा अनेक मंदिरों सहित जब विश्वेश्वर मंदिर को तोड़ दिया गया, तब विश्वेश्वर तथा भैरव सहित छह सौ देवता असहाय होकर मूक दर्शक बने रहे। जिनके तीसरे नेत्र खुलने से विश्व के महाप्रलय होने की कल्पना की जाती है वे महादेव टुकुर-टुकुर ताकते रह गये और सोमनाथ का विशाल मंदिर तोड़कर तथा उसमें से शिव-लिंग को उखाड़कर उसके साथ करोड़ों की संपत्ति महमूद गजनवी ले गया। हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, इसाई आदि सबके ईश्वर सब जगह मौजूद हैं और वे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ भी बताये जाते हैं, परंतु चोरी, घूसखोरी, मिलावटबाजी, डाका, हत्या, आतंक, धर्म तथा ईश्वर के नाम पर सामूहिक हत्या सब समय होते रहते हैं, परन्तु तथाकथित ईश्वर बेचारा असहाय बना देखता रह जाता है। दशवीं ईसा शताब्दी के उदयन जिसने ईश्वर-सिद्धि में प्रसिद्ध पुस्तक 'न्यायकुसुमांजलि' लिखी, आगे चलकर ईश्वर से अपनी मनोकामना पूर्ण न होते देखकर कहा—"हे ईश्वर! तुम अपने ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो गये हो और मेरा तिरस्कार करते हो, जबकि तुम बलशाली बौद्धों-द्वारा रगड़े जा रहे थे और मैंने ही तुम्हारी जान बचायी है।"[1]

---

१. ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि ममवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

(उद्धृत सर राधाकृष्णन कृत भारतीय दर्शन २/३७)

जब तक हम देवी-देवता एवं ईश्वर की धारणा से अपने आपको सर्वथा अलग नहीं कर लेते, तब तक अपने बल को नहीं समझ सकते और न अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। देश-रक्षा, समाज-रक्षा एवं आत्म-रक्षा किसी ईश्वर या देवी-देवता-द्वारा संभव नहीं है, किन्तु यह सब मनुष्य-द्वारा संभव है। ईश्वर के विराट रूप की तो केवल कल्पना है, परन्तु मनुष्य का विराट रूप जगत में जाज्वल्यमान है। मनुष्य ही मनुष्य का भक्षक है तथा मनुष्य ही मनुष्य का रक्षक है। मनुष्य की बुद्धि ठीक होने पर ही सब ठीक होगा।

कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपने पुरुषार्थ पर भरोसा कर! तेरे अपने किये हुए कर्मों का फल-भोग ही तुम्हें मिलता है। उसमें दूसरा कोई परिवर्तन करने वाला नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सहायक हो सकता है, परन्तु कर्म तो स्वयं ही करना पड़ेगा। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता एवं विधाता है। अतएव तुम अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखो। हरि का मर्म तो कोई नहीं समझ सका। लोग हरि के विषय में केवल कल्पना करते हैं, रहस्य नहीं समझते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही हरि है, ईश्वर है तथा ब्रह्म है। अपनी आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं।

"इन्द्री कहाँ करे विश्रामा" जो लोग इन्द्रियपरायण हैं, विषयों में डूबे हैं, देह ही तक जिनकी बुद्धि है, उनको जीवन में कहां विश्राम मिल सकता है! विश्राम कहते हैं आराम एवं शांति को। देहवादी एवं इन्द्रियों के विषयों में डूबे हुए मनुष्यों को स्थायी शांति मिलना असंभव है। देहबुद्धि से इन्द्रिय-भोग ही उद्देश्य समझ पड़ता है। विषय-भोगों से इच्छाएं बलवान होती हैं। इच्छाओं की प्रबलता से मनुष्य का मन स्थिर नहीं होता। भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग, यह ऐसा घनचक्कर है जिसमें कहीं विश्राम नहीं है। मनुष्य की देह तथा इन्द्रियशक्ति सीमित होती है। ये जरजर तथा शिथिल भी होती हैं। भोगों के आदतवश मन में इच्छाएं बलवान होने से उसे शांति नहीं लेने देतीं। अतएव जो देहेंद्रियों के विषय-भोगों में शांति एवं विश्रांति चाहता है वह भोला है। अनन्त शांति तो विषयों के त्याग से ही संभव है।

"सो कहाँ गये जो कहत होते रामा" उनको कहां विश्राम मिला जो यह कहते थे कि राम मुझे तारेंगे, या जो केवल जबान से राम-राम रटने में लगे रहे, उन्हें कहां बोध तथा कहां विश्राम! राम को तो समझना होगा, केवल राम-राम रटने से क्या होगा! राम-राम या किसी शब्द को बारंबार दोहराने से कुछ समय के लिए भावना का केन्द्रीकरण भले हो जाय, परन्तु उससे न स्वरूपबोध होगा और न तो अनन्त शांति मिल सकती है। हम जब तक माने रहेंगे कि हमारा लक्ष्य हमसे बाहर है तब तक भटकते रहेंगे।

"सो कहाँ गये जो होत सयाना" जो लोग बुद्धि में तेज, कला-कौशल में निपुण, चिकित्सा, विधि-विधान, यन्त्र, वास्तु, संगीत, भाषा, व्याकरण, यान, नृत्य, खेल, युद्ध आदि में पारंगत होते हैं, वे अपने-अपने क्षेत्र में सयाने होते हैं, और उनका उन-उन क्षेत्रों में महत्त्व भी है। परन्तु क्या उनको पूर्ण शांति मिलती है! स्व-स्वरूपबोध तथा

स्वरूपस्थिति के बिना कहां अनन्त शांति मिल सकती है! तुम सांसारिक कला-कौशल में पारगत हो जाओ और अखबार, रेडियो तथा टेलीविजन-द्वारा पूरी दुनिया में गूंज जाओ, करोड़ों तथा अरबों की संपत्ति के मालिक बन जाओ, परन्तु आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति के बिना तुम्हारा चित्त स्थायी शांति कभी नहीं पा सकता।

"होय मृतक वह पदहि समाना" उस अनन्त शांतिपद में, निर्वाण में, जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थितिपद में तो वही समा सकता है, वही लीन हो सकता है जो संसार से मर जाता है। अर्थात जो देहाभिमान छोड़कर दृश्य मात्र की अहंता-ममता का त्याग कर देता है। यह बात सामान्य व्यक्ति को अजूबी लग सकती है, परन्तु तथ्य है। सांसारिकता एवं विषयासक्ति का पूर्ण अभाव हुए बिना कोई स्वरूपस्थिति में पूर्णतया नहीं पहुंच सकता।

यदि इस चौपाई की प्रथम अर्धाली के भाव का पीछे की अर्धाली पूरक मानी जाय तो पूरी चौपाई का अर्थ इस ढंग से होगा—जो सांसारिकबुद्धि में श्रेष्ठ थे वे कहां गये? उत्तर है कि मरकर पुनः गर्भवास में गये। सांसारिक बुद्धि वाले पुनः सांसारिकता में ही तो भटकेंगे। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी।"

"रामानंद रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" यहां रामानंद शब्द भाववाचक नहीं किन्तु व्यक्तिवाचक है। स्वामी रामानंद एक प्रसिद्ध संत थे। जो कबीर साहेब के समय में विद्यमान थे। इनका जन्म प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ। इनका पहला नाम रामदत्त था। ये आरम्भ से ही प्रतिभावान थे। ये बारह वर्ष की उम्र में ही एक अच्छे विद्वान हो गये और दर्शन-शास्त्र पढ़ने के लिए काशी चले गये। एक दिन स्वामी राघवानंद से इनकी भेंट हुई और उन्होंने इनको धर्म का उपदेश दिया। ये उनसे प्रभावित हो गये और दीक्षा ले लिये। पीछे इन्हीं रामदत्त का नाम रामानंद पड़ा और एक प्रमुख तथा उदार वैष्णव संत हुए।

कहा जाता है कि कबीर साहेब अपने कैशोर से ही स्वामी रामानंद से जुड़ गये और उन्होंने स्वामी रामानंद की शिष्यता स्वीकार ली। अन्य साधु-संन्यासियों की अपेक्षा स्वामी रामानंद ज्यादा उदार थे। इसलिए कबीर साहेब को स्वामी रामानंद ज्यादा पसंद आये होंगे। यह जगत-प्रसिद्ध है कि कबीर साहेब स्वतंत्र चिंतक थे। दिन बीतते गये और उनके विचार परिपक्व होते गये। कबीर साहेब मूर्तिपूजा एवं अवतार नहीं मानते थे। कबीर का राम अंतरात्मा थी। स्वामी रामानंद राम की कल्पना अपनी आत्मा से बाहर करते रहे होंगे। दोनों की काफी सन्निकटता एवं प्रेम होने से कबीर साहेब ने स्वामी रामानंद को इस विषय पर बारम्बार समझाया होगा, परंतु स्वामी जी अपने भाव पर दृढ़ रहे होंगे। इसलिए कबीर साहेब के कंठ से यह पंक्ति निकल गयी होगी "रामानंद रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" रामरस में तो कबीर साहेब भी लीन रहते थे, परन्तु उनका रामरस आत्मरस था, परन्तु स्वामी रामानंद का रामरस आत्मभिन्न एक अवधारणा में था या अवतार-मान्यता में था। माते शब्द प्रायः बीजक भर में खण्डनपरक है।

इस पंक्ति में "रामरस माते" और "हम कहि-कहि थाके" शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। "हम कहि-कहि थाके" यह भाव उसी के लिए व्यक्त किया जा सकता है, जो अति निकट का हो तथा प्रेमास्पद हो। कोई दूसरों को बहुत नहीं कहता। अपनों को ही बहुत

कहा जा सकता है। इस पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब और स्वामी रामानंद का सम्बन्ध अकाट्य है, साथ ही दोनों के दार्शनिक विचारों का अन्तर भी अकाट्य है।

यदि यह कहा जाय कि रामानंद के साथ जो "रामरस माते" शब्द हैं वे विधिपरक हैं। अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि स्वामी रामानंद सच्चे रामरस में लीन थे, तो फिर "कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके" कहने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। आखिर कबीर साहेब स्वामी रामानंद को क्या कह-कहकर थक चुके थे! इसलिए इसका भाव साफ है जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है।

हरिबाजी से हटकर आत्माराम में रमो

शब्द-७८

अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल॥ १ ॥
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरी लेत सकेल॥ २ ॥
हरि बाजी सुर नर मुनि जहँड़े, माया चाटक लाया॥ ३ ॥
घर में डारि सकल भरमाया, हृदया ज्ञान न आया॥ ४ ॥
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी॥ ५ ॥
कहहिं कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भइ तैसी॥ ६ ॥

शब्दार्थ—हरिबाजी = ईश्वरीय धोखा। खेल = तमाशा। डंक = डंका, नगाड़ा, धौंसा। डंक बजाय = जोर-शोर से कहकर सबको सुनाना। बहुरी = पुनः। जहँड़े = ठगा गये, हानि उठाये। चाटक लाया = प्रिय वचन कहकर ठगना, चाहना लगा देना। घर में डारि = अपने वश में कर लेना। बाजी = धोखा, तमाशा। बाजीगर = ईश्वर। मति = समझ। गति = स्थिति, दशा, हालत।

भावार्थ—अब मैंने ईश्वरीय धोखा का तमाशा जान लिया है।।१।। बाजीगर डंका बजाकर लोगों को इकट्ठा करता है और तमाशा दिखाकर फिर समेट लेता है तथा भिक्षा में मिले पैसे-अन्न आदि को लेकर चल देता है, कहते हैं ईश्वर इसी प्रकार सृष्टि का तमाशा फैलाकर, फिर समेट लेता है। पता नहीं वह जनता से कौन-सी भीख चाहता है! ।।२।। इस ईश्वरीय धोखे में सतोगुणी, रजोगुणी एवं मननशील-मुनिजन भी ठगा गये हैं। इन्हें मीठे वचन सुनाकर ठग लिया गया है। माया ने इनके मन में आत्मभिन्न ईश्वर पाने की चाहना उत्पन्न कर दी है और सब को अपने फंदे में डालकर भ्रमित कर दिया है तथा अपने अधीन बना लिया है। इसीलिए लोगों के हृदय में सच्चा ज्ञान उदित नहीं हुआ।।३-४।। नाना मत के साधुओं की समझ यह है कि बाजीगर ईश्वर तो सच्चा है, परन्तु उसकी बाजीगरी, उसका बनाया तमाशा जगत झूठा है।।५।। कबीर साहेब कहते हैं जिन्होंने जैसा समझा उसकी वैसी गति हुई।।६।।

व्याख्या—'बाजी' फारसी भाषा का शब्द है। इसके अर्थ हैं खेल, तमाशा, करतब, शर्त, दावं, बारी, समय, धोखा तथा चालाकी। यहां खेल तथा धोखा दो ही शब्द उपयुक्त

हैं। खेल इस पंक्ति में आगे आ गया है, इसलिए हरिबाजी में बाजी का अर्थ धोखा है जिसका भाव अगली पंक्तियों में विस्तृत है जिसमें सुर, नर तथा मुनिजन का ठगा जाना बताया गया है। साहेब कहते हैं "अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल।" अर्थात ईश्वरीय धोखा का खेल हमने जान लिया है। हरि तो हृदय-भीतर आत्मदेव है, परंतु लोगों को यह धोखा है कि वह कहीं बाहर है और वही पूरे संसार को बनाता-बिगाड़ता रहता है। लोगों ने हरि को बाजीगर बना डाला है, जो धन पाने के लिए तमाशा दिखलाता है। बाजीगर छल-कपटपूर्वक अपने हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट, दवाई आदि से कुछ-का-कुछ-जैसे दिखलाता है। यह सारे छल-कपटपूर्ण तमाशा दिखाने के फल में वह पैसे-अन्न आदि पाता है। भावुक भक्तों ने ईश्वर को भी बाजीगर बना डाला है। परन्तु ईश्वर किस स्वार्थ के लिए छल-कपट करता है?

बाजीगर अपने तमाशे दिखाकर जनता का मनोरंजन करता है और फल में धन पाता है। कहा जाता है कि ईश्वर जीवों पर करुणा कर सृष्टि बनाता है। प्रश्न होता है कि जब सृष्टि थी ही नहीं तब जीव भी नहीं थे, फिर ईश्वर ने करुणा किस पर की? यदि सृष्टि होने पर जीव दुखी हुए तब ईश्वर ने करुणा की, तो जीव के दुख का कारण तो ईश्वर की सृष्टि ही हुई। तो यह बताना चाहिए कि करुणा से सृष्टि होती है या सृष्टि होने पर करुणा? "करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति।"[१]

यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से अनादि-अनंत है, परन्तु भावुक-भक्तों ने इसका रचयिता एक बाजीगर-ईश्वर खड़ा कर दिया है। जो सत्य को समझने में महा उलझन है। इस बाजीगर की भावुकतापूर्ण अवधारणा में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी ठगा गयी है। इसी हरिबाजी में, इसी ईश्वरीय-वंचना में देवता, मनुष्य एवं ऋषि-मुनि सब ठगे गये हैं। सुर, नर, मुनि सब मनुष्य ही हैं। मनुष्य से अलग न देवता हैं और न मुनि हैं। तात्पर्य यह है कि संसार के बड़े-छोटे कहलाने वाले सभी लोग इस भावुकतापूर्ण वाणी-जाल में उलझ गये हैं कि जगत एक तमाशा है, एक धोखा है और इसका फैलाने वाला बाजीगर ईश्वर है। यह मनुष्य के मन की भ्रांति है। यही माया है। इसी ने मनुष्य के मन में किसी बाहरी ईश्वर से मिलने के लिए एक प्रबल चाहना पैदा कर दी है। इस मन की माया ने अपने फंदे में डालकर सबको भ्रमा दिया है। "घर में डारि सकल भरमाया" घर भ्रांति का घेरा है, भ्रांति का फंदा है। उसी में पड़कर सब भ्रमित हैं। इसीलिए "हृदया ज्ञान न आया" मनुष्य के हृदय में सच्चा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि ईश्वर बाहर नहीं, हृदय के भीतर चेतना के रूप में है। बाहर है तो वह भी मेरी आत्मा-जैसा सजाति है। मनुष्य जब तक ईश्वर को बाजीगर मानता रहेगा और उसे बाहर खोजता रहेगा, तब तक उसे सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं। ईश्वर यदि धोखे का जाल फैलाकर हमें भ्रम में डालता है तो ऐसे ईश्वर से सावधान रहना पड़ेगा। हरिबाजी में ही तो सुर, नर, मुनि जहंड़े हैं। तो कौन समझदार अपने आप को जहंड़ाना एवं ठगाना चाहेगा।

---

१. माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह, सांख्य दर्शन १०।

साहेब कहते हैं कि नाना मत के साधुओं की यही समझ है कि ईश्वर का तमाशा तो झूठा है, लेकिन वह स्वयं सच्चा है। प्रश्न होता है कि जब वह सच्चा है तब झुठाई एवं धोखे का काम क्यों करता है? वह माया का जाल बिछाकर सबको क्यों जहंड़ाता है, सबको क्यों ठगता है? जिसमें सच्चाई होती है उसकी सारी क्रियाएं लोगों के लिए सच्चे ज्ञान एवं शांति प्रदायक होती हैं। जो सच्चा होता है वह बाजीगरी नहीं करता। सच्चा तो उलझे हुए को सुलझाता है। साहेब कहते हैं कि जो जैसा समझता है वैसी उसकी दशा होती है। जो बाजीगर को ही सच्चा मानता है वह उसके धोखे में पड़ेगा। परन्तु जिसने समझ लिया कि यह सब मन का खेल है, बाजीगर माना हुआ ईश्वर ही मन का खेल है, वह काल्पनिक ईश्वर में न उलझकर अपने आत्मदेव की उपासना करता है जो सच्चा ईश्वर है। ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा-जैसे सारे शब्दों की चरितार्थता व्यक्ति की अपनी आत्मा में ही है। अतएव हमें किसी धोखेबाज बाजीगर के पीछे न लगकर अपने आत्मदेव की उपासना करनी चाहिए, अपने चेतनस्वरूप में रमना चाहिए। निजस्वरूप आत्माराम ही हमारा परम उपासनीय एवं विश्रामस्थल है। इस भाव को समझने के लिए अगला शब्द मनन करने योग्य है।

निजस्वरूप-स्थिति ही परम प्राप्तव्य है

शब्द–७९

कहहु हो अम्मर कासों लागा, चेतनहारा चेत सुभागा॥ १ ॥
अम्मर मध्ये दीसे तारा, एक चेता एक चेतवनहारा॥ २ ॥
जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं॥ ३ ॥
कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अम्मर = अविनाशी चेतन। लागा = आसक्त होना। चेतनहारा = चेतनेवाला, ज्ञानवाला। सुभागा = भाग्यवान। अम्मर = आकाश। तारा = तारे, नक्षत्र, सितारे। उहवाँ = विजाति में, जड़ में, आकाश में। अमरपद = चेतनस्वरूप, आत्मस्वरूप। पद = निजस्वरूप का विषय।

भावार्थ—कहो, हे अविनाशी चेतन! तू किसमें आसक्त हो रहा है! तू जिसमें आसक्त हो रहा है, वह नाशवान है और तू अविनाशी है। हे सौभाग्यशाली ज्ञानवान चेतन! तू मोह-नींद से जग जा! ॥१॥ जैसे सारे ज्योतिपिंड तारे आकाश के भीतर दिखते हैं, वैसे सारे ज्ञान-विज्ञान तेरे अन्दर दिखते हैं। सभी मनुष्य ज्ञानस्वरूप हैं। बस, अन्तर इतना ही है कि एक जगने वाला एवं ज्ञान की प्रेरणा लेने वाला शिष्य है तथा दूसरा जगाने वाला ज्ञानप्रेरक गुरु है॥२॥ जिस परमशांति एवं परमविश्राम को खोज रहे हो वह न विजाति विषयों में है, न आकाश में है और न आकाश में बिखरे किसी जड़-पिंड में है; वह तो तुम्हारे अविनाशी चेतनस्वरूप में है॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि निज अविनाशी चेतनस्वरूप एवं आत्मपद को वही समझ सकता है जिसके वाणी और मन में एक ही सत्य समाया हो॥४॥

व्याख्या—मनुष्य का शरीर तो नाशवान है, परन्तु इसमें रहने वाला चेतन अविनाशी है। यह अविनाशी चेतन ही व्यक्ति का निजस्वरूप है। परन्तु वह इस तथ्य को नहीं समझता। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में न रमकर जड़ विजाति देह, गेह, प्राणी, पदार्थों एवं विषयों में रमता रहता है। जीव हर समय अपने आपको भूलकर अपने से भिन्न छूटने वाली नाशवान वस्तुओं में आसक्त होता रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहहु हो अम्मर कासों लागा" यहां वे संबोधन में ही मानो हमें हमारे स्वरूप की याद दिला देते हैं कि तू अविनाशी है और जिसमें तू लग रहा है, जिसमें आसक्त हो रहा है वह नाशवान है। साहेब कहते हैं कि हे अविनाशी ! तू किसमें मोह कर रहा है! राग करना या द्वेष करना यही संसार में लगना है। हम जिन वस्तुओं को लेकर राग-द्वेष करते हैं वे क्षणभंगुर एवं नाशवान हैं। नाशवान वस्तुओं के लिए मुझ अविनाशी का विचलित होना मेरा घोर अज्ञान है। मनुष्य का चित्त विषयों में निरन्तर भटकता रहता है। वह अपने स्वरूप के अज्ञानवश उन्हीं का निरन्तर चिन्तन करता रहता है जो क्षण-क्षण छूटने वाले हैं। ये शरीर-संसार जीव के कभी नहीं हो सकते, परन्तु यह इन्हीं के राग-द्वेष में सदैव पचता रहता है। बड़े-बड़े अहंकारी राजे-महाराजे सब कुछ यहीं छोड़-छोड़कर चले गये, फिर भी हमारी आंखें नहीं खुल रही हैं। अति प्रिय मानी गयी देह तक जीव के साथ नहीं जाती, फिर हम किसका अहंकार कर रहे हैं!

"चेतनहारा चेत सुभागा" सद्गुरु कहते हैं कि हे सौभाग्यशाली मनुष्य! तू ज्ञानस्वरूप है, जागनेवाला है। तू अपने आप में जग जा! छोड़ दे सारे छूटने वाले प्राणी-पदार्थों का मोह। जीव का मानव-शरीर में आना ही उसका सौभाग्य है; क्योंकि इस शरीर में विवेक-साधन है। यह साधन अन्य योनियों में नहीं है। जीव मानव चोला को पाकर भी अविवेक में डूबा रहे, इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा! साहेब याद दिलाते हैं कि हे चेतन! तू मानव-शरीर में रहने के कारण सौभाग्यवान है। तू आज मोह-माया को छोड़कर सावधान हो जा।

"अम्मर मध्ये दीसे तारा" पहली पंक्ति का 'अम्मर' शब्द अविनाशी चेतन के अर्थ में था। परन्तु इस पंक्ति का 'अम्मर' शब्द आकाश के अर्थ में है। सारे तारे आकाश में होते हैं। यह कल्पना ही व्यर्थ है कि कोई तारा आकाश के बाहर भी होगा। आकाश का अर्थ है खाली जगह, शून्य। शून्य में, अवकाश में ही तो सारे पदार्थ रहते हैं। इसलिए समस्त जड़ वस्तुएं आकाश में रहती हैं। इसमें यह भाव छिपा है कि इसी प्रकार सारा ज्ञान-विज्ञान जीव में रहते हैं। यह चेतन ही तो ज्ञान-विज्ञान का आधार है। जीव को हटा देने पर ज्ञान-विज्ञान का कोई आधार नहीं रह जायेगा।

"एक चेता एक चेतवनहारा" मानव से कीट तक सभी देहों में रहने वाले जीव चेतनस्वरूप हैं। मूलतः सब ज्ञानस्वरूप हैं। परन्तु मानव में विवेक है, इसलिए विशेष ज्ञानोदय यहीं हो सकता है। सभी मानव में विवेक-शक्ति है। उनमें अन्तर इतना ही होता है कि एक चेतता है दूसरा चेताता है, एक जागता है तथा दूसरा जगाता है। जो जागना चाहता एवं जगता है वह शिष्य कहलाता है और जो जगाता है वह गुरु कहलाता है। हर क्षेत्र में जगने-जगाने वाले होते हैं। एक सीखता है दूसरा सिखाता है, एक पढ़ता है दूसरा

पढ़ाता है, एक बोध लेता है दूसरा बोध देता है, एक शिष्य कहलाता है दूसरा गुरु कहलाता है, परन्तु वे सब मूलतः एक ही समान चेतन होते हैं। गुरु-शिष्य में मौलिक अन्तर नहीं है। हर जीव में गुरुत्त्व है, एक-दूसरे द्वारा उसका उद्घाटन होता है। ज्ञान की पूर्ण दशा प्राप्त हो जाने पर गुरु तथा शिष्य दोनों समान स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। देह व्यवहार में उनकी गुरु-शिष्य मर्यादा रहती है, परन्तु ज्ञान तथा स्थिति में दोनों समान स्तर के हो जाते हैं। इस प्रकार सब जीव ज्ञाननिधान हैं।

''जो खोजो सो उहवाँ नाहीं'' तुम जो खोजते हो वह वहां नहीं है। जीव क्या खोजता है? जीव खोजता है परम विश्राम, परम शांति। परन्तु वह वहां नहीं है। 'वहां' या 'उहवां' का क्या भाव है? व्यक्ति की अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से जो कुछ अलग है वह 'उहवाँ' है, उससे दूर है। आकाश में किसी स्वर्ग की कल्पना, अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना या संसार के किसी प्राणी-पदार्थ, भोग-वस्तु, पद, अधिकार, मान, पूज्यता, प्रतिष्ठा आदि में परमविश्राम एवं परमशांति खोजना महान भूल है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारी चेतना से, तुम्हारे आपा एवं तुम्हारे स्व से अलग होगा वह तुम्हारा परम विश्रामस्थल, परमशांति का निधान बन ही नहीं सकता। तुम्हारी स्थिति पर-स्वरूप में कैसे हो सकती है! अपनी आत्मा से हटकर कहां शांति है! तुम अपने आपको छोड़कर बाहर स्थायी सुख-शांति खोजते हो, परन्तु ध्यान रहे, तुम बाहर कभी शांति न पाओगे। तुम्हें बाहर कहीं कोई न परमात्मा मिलने वाला है न अनंत शांति।

''सो तो आहि अमरपद माहीं'' वह तो अमरपद में है। अनंत सुख, अनंत शांति, परमानंद, परमविश्राम, ब्राह्मीसुख, आत्यन्तिक सुख तुम जितने नाम लेते हो इन सबकी चरितार्थता स्वरूपस्थिति एवं पारखस्थिति में ही है। अमरपद तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारा चेतनस्वरूप है। उसमें ही स्थित होने पर तुम्हारे सारे दुखों का अन्त होगा और दूसरे शब्दों में तुम्हें परमशांति मिलेगी। यह निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा को, ब्रह्म को, खुदा को, गॉड को, परमपद को, परम निर्वाण को पा जाना है। क्योंकि निज चेतनस्वरूप के अलावा सब धोखा है, सब शब्दों का बवंडर है। इसलिए अपना परमविश्राम वहां न खोजकर अमरपद में खोजो। खोजना भी कुछ नहीं है, बाहर की सारी वासनाएं छोड़ दो, सारी दौड़ छोड़ दो और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ, बस, मानो सारा श्रेय मिल गया।

''कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई।'' सद्गुरु कहते हैं कि इस अविनाशी पद को, अमर स्थिति को वही समझ सकता है, वही इसमें विश्राम पा सकता है जिसके मुख में तथा हृदय में एक ही सत्य समाया हो। जैसी ज्ञान की बातें मुख से कही जाती हैं, वैसे जब मन में उनको धारण किया जाता है, तभी अमर स्थिति हो सकती है। यदि हम मुख से पाठ करते हैं ''काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै............अजरहम्, अमरहम् अनाशी स्वरूपम्............मैं चेतन निष्काम स्वरूप'' आदि और हमारे हृदय में भय, कामनादि द्वंद मचा रहे हैं तो यह ''मुख कछु और हृदय कछु आना, सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना'' की बात हुई। हमें राग, भय, कामना, तृष्णा सारे मानसिक विकारों को सर्वथा छोड़ना होगा। मोक्ष मन की अनासक्ति है, अनासक्ति वैराग्य की पक्की दृढ़ता है।

जिस संसार से हमें सब कुछ छोड़कर जाना ही है, वहां की वस्तुओं के लिए हमें क्या मोह, क्या राग तथा क्या द्वेष करना चाहिए! हमें एक दिन शरीर छोड़कर अकेला हो जाना है, फिर शरीर के छूटने का भय क्यों! हम राग-द्वेष-विहीन, निर्भय, निष्काम, निर्द्वंद्व, तृष्णागत, परमशांति आदि बड़े-बड़े उच्च भाववाचक शब्दों को जबान से सैकड़ों बार दोहरा लेते हैं, फिर उनके भाव हृदय में क्यों नहीं धारण करें! किस कामना से हम अपने ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते! शांति से बढ़कर क्या लाभ हो सकता है! इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि स्वरूपस्थिति वही समझ सकता है, वही उसमें स्थित हो सकता है जिसमें कथनी-करनी की एकता होगी।

अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो

शब्द–८०

बन्दे करिले आप निबेरा॥ १ ॥

आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥ २ ॥

यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा॥ ३ ॥

कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बन्दे = गुलाम, वशवर्ती। आप = स्वयं। निबेरा = निबेड़ा, छुटकारा, मोक्ष। ठौर = स्थान, जगह, स्थिति। काल = वासना, अज्ञान, कल्पना, मृत्यु। घेरा = जाल, फैलाव, विस्तार, आक्रमण।

भावार्थ—हे बंधमान जीव! तू अपने आप का स्वयं छुटकारा कर॥१॥ जीवन रहते ही अपने आपको समझ कि मैं कौन हूं तथा अपने आपकी स्थिति कर! तू इसे समझ कि शरीर न रहने पर तेरा निवास कहां होगा॥२॥ हे मनुष्य! यदि तू इस सुनहले समय में नहीं सावधान हुआ तो समझ ले कि अन्त में तेरा कोई सहायक नहीं होगा॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो, सुनो, काल का आक्रमण जबर्दस्त है॥४॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने उक्त चार पंक्तियों में मनुष्य-जीवन का सार कह दिया है। इतना ही सोचा-समझा जाय तथा आचरण में उतार लिया जाय तो बेड़ा पार हो जाय। वे इस शब्द में पहली बात कहते हैं "बन्दे करिले आप निबेरा।" इस छोटी पंक्ति में महत्वपूर्ण बात है कि तुम अपने आप का स्वयं छुटकारा कर लो। इसका मतलब है कि हम बंधे हैं, तभी हमें छुटकारा करने की राय दी जाती है। साहेब इसकी याद सम्बोधन के शब्द में ही "बन्दे" कहकर दिला देते हैं। बन्दे का अर्थ ही है जो वशवर्ती हो, बंधा हो, गुलाम हो। वैसे विनम्रता के लिए भी बड़े पुरुषों के सामने अपने आप को बन्दा, दास, सेवक, गुलाम कहा जाता है। परन्तु दोनों में भाव का बड़ा अन्तर होता है। जो शरीर तथा संसार की वासनाओं, अहंता-ममताओं में बंधा है, तथा जो अपनी विनम्रता के लिए अपने आपको बन्दा कहता है, दोनों में कोई समानता ही नहीं है। कितने लोग 'दास' शब्द गुलामी का सूचक मानकर अपने नाम में नहीं लगाते। यह उनकी भावना है। वैसे यह समझा जा सकता है कि किसी के नाम में दास न होने से वह मुक्त नहीं होता तथा किसी के नाम में दास जुड़ा होने से वह बंधनयुक्त नहीं होता।

सद्गुरु कबीर बन्दे कहकर हमें संकेत करते हैं कि तुम वासनाओं के बन्धनों में बंधे हो। उस पर ध्यान दो और उससे अपने आपको छुड़ाओ। ध्यान रहे, तुम्हारे बन्धनों को तुमसे अलग कोई दूसरा नहीं छुड़ा सकता। बन्धन मन के हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंता, ममता, वासना ये ही सब बन्धन हैं और ये सब मनोगत हैं। इन्हें हमने ही बनाये हैं। इन्हें हम ही मिटा सकते हैं। बाहर के बन्धन होते रस्सी, जंजीर एवं कारावास के तो दूसरा छुड़ा सकता था। ये तो मन के बन्धन हैं जिनके निर्माता हम हैं, साक्षी हम हैं, और हम ही इन्हें नष्ट भी कर सकते हैं। संत-गुरु अपनी वाणी तथा उच्च आदर्श से हमें केवल प्रेरणा दे सकते हैं। उनकी प्रेरणा को भी हमें ही समझना तथा ग्रहण करना पड़ेगा। हमारा कोई मकान बना सकता है, भोजन बना सकता है, बिस्तर बिछा सकता है और अन्य हमारे कई काम कोई दूसरा कर सकता है, परन्तु हमारे मन के बन्धन कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। इसे हमें ही मिटाना है। इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे वासनाओं में बंधा जीव! तू इन वासनाओं से अपने आप को छुड़ा ले।

"आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने तीन बातें कही हैं। पहली बात है जीवन रहते-रहते अपने आपको देख लो, समझ लो कि तुम कौन हो। हम सबको देखते हैं, किन्तु अपने आपको नहीं देखते। अपने आपको देखने का मतलब है अपने आपको समझना। हम सारे संसार को समझने की चेष्टा करते हैं; चिकित्सा, व्याकरण, संगीत, भौतिकविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान, नाना कला-कौशल, सबको समझने का प्रयास करते हैं, केवल यही नहीं समझते कि 'मैं कौन हूं'। और इसके समझे बिना हमारा सारा ज्ञान अन्त में काम नहीं देता। हमें दूसरा ज्ञान परमशांति नहीं दे पाता। अपने आपको दो ढंग से समझा जाता है एक है अपने मन-स्वभाव को समझना और उन्हें सुधारना तथा दूसरा है अपने परिनिष्ठित चेतनस्वरूप को समझना कि मैं जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध चेतन हूं, असंग हूं, अकेला हूं, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त हूं।

इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर ने दूसरी बात कही है "आप ठौर करु" अपना ठौर करना, अपने लिए जगह बना लेना बहुत बड़ी बात है। जब कोई पढ़ाई में, नौकरी में, व्यापार में, खेती में, राजनीति में, फिल्म में, खेल में, संगीत में, पत्रकारिता में, साहित्य में या कहीं भी किसी क्षेत्र में अपनी जगह बना लेता है, तब वह अपने क्षेत्र में सफल माना जाता है। परन्तु जीवन की अंतिम सफलता के लिए हमें अपना ठौर खोजना होगा, हमें जगह बनानी होगी। यदि भटकते हुए आदमी को एक स्थायी मकान मिल जाय तो उसकी खुशी वही जान सकता है। हमारे भटकते हुए मन की जगह कहां है, वह कहां स्थित हो सकता है, जहां से फिर न उठना पड़े! इस जगह की हमें खोज करनी चाहिए। हमें अपनी जगह बनानी चाहिए। यह जगह है मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा। किसी के पास स्थायी घर न हो तो वह जहां-तहां भटकता है। यदि उसे स्थायी घर मिल जाय तो उसका भटकना छूट जाता है। हमारा मन इसलिए भटकता है कि उसे स्थायी घर नहीं मिला है। जहां अपनी चेतना के स्थायी घर का परिचय हो जायेगा, वह कहीं नहीं भटकेगा। "आप ठौर करु" अर्थात स्वरूपस्थिति करो, अपनी आत्मा में लीन होओ।

तुम्हारी स्थायी जगह तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप ही तुम्हारा परमाश्रय है।

इस पंक्ति में तीसरी बात है "मुये कहाँ घर तेरा" मर जाने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा! मनुष्य को सबसे बड़ा भय और अनिश्चितता यही है कि मर जाने के बाद क्या होगा! मृत्युकाल में, किसी प्रकार शारीरिक कष्ट हो तो अलग बात है, अन्यथा कोई कष्ट नहीं होता। यदि उस समय मन में कोई कष्ट होता है तो केवल इसलिए कि यहां का अपना माना हुआ सब छूट रहा है तथा मरने के बाद की स्थिति का पता नहीं है। इसीलिए धार्मिकों ने कहा है कि तुम अच्छा काम करो तो मर जाने के बाद यहां से भी अच्छी जगह तुम्हें मिलेगी। स्वर्गलोक एवं मोक्षलोक की कल्पना इसी सांत्वना के लिए है। स्वर्ग और मोक्षलोक की कल्पना तो केवल रूपक है, परन्तु उसमें छिपी बातें सत्य हैं। जीव जड़ तत्वों से विलक्षण होने से अमर है। वह इस शरीर के मिट जाने पर भी नहीं मिटता। यदि वह वासनाओं के अधीन है तो जैसे उसके अच्छे-बुरे कर्म होंगे वैसे उसे आगे जन्मांतर में फल मिलेंगे। सत्कर्म करने वाले को कोई भय नहीं है। शरीर छूट जाने के बाद भी उनके लिए सुख का साम्राज्य है। आज अच्छे कर्म करने वाला जन्मांतर में भी सुखी रहेगा। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जो हम आज हैं वही कल हैं। आज हमें ठीक होना चाहिए तो कल हम अपने आप ठीक रहेंगे। यदि जीव ने वासनाओं का त्याग कर दिया है, यदि वह आज ही सारी वासनाओं से मुक्त है, तो उसे मर जाने के बाद की चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसका घर तब कहां होगा। बोधवान तो जानता है कि अपना स्थायी घर अपनी स्वरूपस्थिति है। जब तक हम अपना घर देह समझते थे तब तक तो भय था कि वह छूट जायेगी, परंतु जब यह समझ आ गयी कि अपना घर अपनी चेतना है, अपनी आत्मा है, तब अब अपना घर छूटने का भय कहां रहा! देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थ तो छूटते हैं, परंतु व्यक्ति से उसकी अपनी आत्मा कभी नहीं छूटती। ज्ञानी पुरुष समझता है कि अपना चेतनघर, अपना आत्मारामघर, अपना पारखप्रकाशघर मिल गया है, अब यह कभी छूटने वाला नहीं है। अतएव साहेब कहते हैं कि मरने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा इसे समझो। जो अपने अविनाशी चेतन-धाम को पा गया उसे मरने के बाद की चिन्ता मिट गयी। जो अपने आत्माराम में रम गया उसका शरीर कुछ दिन बना रहे या चाहे जब छूट जाय उसके लिए दोनों बराबर हैं। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एकरस और अमर है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्भय होता है। उसे भूत, भविष्य की चिन्ता नहीं होती।

"यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा।" यह मार्मिक चेतावनी है। आज हमारा सुनहला अवसर है। साधना के लिए स्वस्थ शरीर है, साधु-संगत मिली है, अच्छे साहित्य मिले हैं, पथ-प्रदर्शक शरणरक्षक गुरु मिले हैं, समझ भी कुछ-न-कुछ मिली है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए। हमें अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए और सारी जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना चाहिए। सारे भय जड़ पदार्थों के राग का फल है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि दृश्य-जगत में हमारी अहंता-ममता एवं वासना लगी है, यही हमारे भय का कारण है। हमें तत्काल सारी

अहंता-ममता छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए, जिससे हमारा सारा भय छूट जाय और कच्ची स्थिति से मुक्त होकर पक्की दशा में पहुंच जायं। यदि हमने यह काम अभी नहीं कर लिया तो अन्त में हमारा साथी कोई नहीं होगा। जब शरीर साथ नहीं देता तब अन्य कौन साथ देगा!

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! काल का घेरा बड़ा कठिन है। यहां 'काल' शब्द में श्लेष है। इसमें दो अर्थ चिपके हैं। काल का अर्थ है अज्ञान और काल का अर्थ है मौत। इस अज्ञान का घेरा, अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। जीव थोड़ा भी असावधान हो तो तुरन्त अज्ञान के जाल में पड़ जाता है; क्योंकि अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। यह कोई साधक ही समझ पाता है कि उसे क्षण ही में अज्ञान कहां ले जाकर पटक दे सकता है। इसलिए वह सावधान रहता है। हमारे मन का अज्ञान हमें क्षण-क्षण भव में डुबाने के लिए मानो तैयार बैठा है। हमें उससे सतत सावधान रहना चाहिए। साहेब ने साखीग्रंथ में कहा है "मन को मिरतक जानि के, मत कीजै विश्वास। साधु तहाँ तक भय करें, जहँ तक पिंजर सांस।" अतएव साधक वही है जो अन्तिम सांस तक सतत सावधान रहता है।

दूसरा काल मौत है। इसका भी विस्तार कठिन है। यह इस शरीर के जन्मकाल से इसे निरन्तर मार रहा है। इस शरीर को काल निरन्तर निगल रहा है। यह इसे कब पूरा निगल लेगा, इसे कोई नहीं जानता। इसीलिए अपने कल्याण का काम अति शीघ्र कर लेना चाहिए। घर में आग लगने पर कुआं खोदने का उपक्रम करना बेकार होगा। जब तक जरा अवस्था दूर है, मौत नहीं आयी है, अपने कल्याण का काम कर लो। शीघ्रातिशीघ्र सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थिति कर लो। यही अपने आपको संसार से छुड़ाना है। यही अपने आप का निबेड़ा करना है। अहंता-ममता एवं वासना ही बंधन है, इसको मिटा देने पर जीव मुक्त है।

परोक्ष-भक्तिरूपी चुनरी का चित्रण तथा राम और कृष्ण-भक्ति का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द–८१

ऊतो रहु ररा ममा की भाँती हो, सब सन्त उधारन चूनरी॥ १ ॥
बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव॥ २ ॥
कर्म बिनौरा होई रहा हो, सूत काते जयदेव॥ ३ ॥
तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश॥ ४ ॥
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश॥ ५ ॥
विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश॥ ६ ॥
सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत॥ ७ ॥
चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ॥ ८ ॥
बिने कबीरा चूनरी, मैं नहिं बाँधल बारि॥ ९ ॥

शब्दार्थ—ऊतो = भक्तजन। ररा ममा की भाँती = रामनाम की तरह। उधारन = उद्धार के लिए। बन = कपास[1]। बिनौरा = बिनौला, कपास के बीज। हेत = प्रेम। कैंड़ा = औजार, वह यंत्र जिससे किसी वस्तु का नक्शा उतारा जाता है, मानदंड, पैमाना। निराकार = परमात्मा, शिव, विष्णु[2]। राछ = ताने का तागा उठाने-गिराने का जुलाहों का एक औजार। कबीरा = उपासक, भक्त। चूनरी = चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों, तात्पर्य में भक्तिरूपी साड़ी। बारि = वारि, हाथी बांधने की जंजीर, हाथी फंसाने का गड्ढा या फंदा, हाथी बांधने का स्थान, तात्पर्य में बन्धन[3]।

भावार्थ—वे तो सब भक्ति-पथ के संतजन संसार के उद्धार के लिए राम-नाम की भांति किसी नाम का आधार लेकर भक्ति की चुनरी बुनते रहे।।१।। इस क्रम में सर्वप्रथम वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण लिखकर और श्री रामचन्द्र का महत्व प्रदर्शित करके मानो इस दिशा में कपास बोया। पीछे शुकदेव मुनि ने आकर उसे चुन लिया और कृष्ण-भक्ति पर प्रकाश डाला।।२।। कर्मरूपी बिनौले निकालकर प्रसिद्ध भक्त जयदेव ने गीतगोविन्द लिखकर मानो उसका सूत कात डाला।।३।। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के नाम पर संसार में भक्तिरूपी चुनरी बुनने का ताना तना गया।।४।। इस प्रभाव में आकर मुनिजन, देवताओं के सहित इन्द्र तथा समस्त भक्त राजे-महाराजे भी नाम जपते-जपते थक गये, परन्तु उस नामी को नहीं पाये।।५।। पंडितों ने पुराणों में विष्णु की जबान से ऐसे भगवान तथा स्वर्ग का गुणगान करवाया जो बिना बस्ती के देश के समान घोर काल्पनिक है। जैसे कोई सूने एवं निर्जन घर में पहुना जाय तो उसका क्या स्वागत होगा, वैसे पंडितों ने भक्तों को कल्पित भगवान तथा स्वर्गरूपी सूने घर का पहुना बनाया और कहा कि उन्हीं से प्रेम करो।।६-७।। सभी मत के भक्तों ने अपना भक्ति-नक्शा खींचने के लिए चारों वेदों को अपना औजार बनाया और परमात्मा तथा सगुणरूप विष्णु और शिव को राछ बनाया और भक्ति-चुनरी बुनने लगे। कबीर साहेब कहते हैं किन्तु मैं इस बन्धन में किसी को नहीं बांधता।।८-९।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने यहां सगुण भक्ति को एक चुनरी के रूपक में उपस्थित कर उसका खाका खींचा है और उसका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके घोर काल्पनिकरूप का दिग्दर्शन कराया है, जो बड़ा ही रोचक तथा मार्मिक है।

"ऊतो रहु ररा ममा की भाँती हो, सब सन्त उधारन चूनरी।" वे सभी संत जो सगुण भक्ति-पथ के पथिक थे जगत-जीवों के कल्याण करने के विषय में सोचते रहे। उन्होंने सोच-विचार कर भक्ति की चुनरी बुनना शुरू किया। उस चुनरी के साथ राम-नाम जुड़ा। इसी भांति कृष्ण-नाम, नारायण-नाम, शिव-नाम आदि अनेक नाम जुड़े। अर्थात नारायण, शिव, कृष्ण, राम आदि की भक्ति चलने लगी।

भक्ति-भावना मनुष्य के जीवन के साथ से है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनकी प्रार्थनाएं की गयी हैं। ऋग्वेद के

---

१. २. ३. बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।

विष्णु सूक्त तथा वरुण सूक्त में भक्ति के बीज हैं। वैदिक साहित्य में 'भक्ति' शब्द संभवतः पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ"[1] अर्थात जैसे देव में परम भक्ति होती है वैसे गुरु में होती है।

प्रवृत्तिमूलक रागात्मक सगुण भक्ति का प्रथम सूत्रपात संभवतः यादवों में हुआ। जहां से यदुवंश का आरम्भ हुआ है उसके मूल में 'अंशु' नामक एक पुरुष थे। उनके पुत्र 'सत्वत' थे जो महान प्रतापवान राजा हुए हैं। इन्हीं के नाम से 'सात्वत-वंश' चला। 'सात्वत-वंश' को आगे चलकर यादव वंश कहा जाता है। इन सात्वतों में ही वैष्णवों का भागवत संप्रदाय शुरू हुआ। कूर्म पुराण के अनुसार सत्वत ने नारद से भागवत-धर्म का उपदेश पाया। सात्वतों के द्वारा मथुरा-वृन्दावन से लेकर मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिल आदि क्षेत्रों में भागवत-भक्ति फैली और ईसा के एक हजार वर्ष बाद तमिल एवं द्रविड़ देश से लौटकर कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात होकर मथुरा-वृन्दावन में आयी। इससे प्रभावित होकर भागवतकार ने यहां तक बता दिया कि भक्ति द्रविड़ में पैदा हुई, कर्नाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में कुछ पुष्ट हुई, गुजरात में बूढ़ी हो गयी, परन्तु वृन्दावन में पहुंचकर पुनः युवती हो गयी।[2]

सात्वतों की भक्ति परम्परा को सात्वत-संप्रदाय कहा जाने लगा। इसमें पहले नारायण की उपासना थी। परन्तु सात्वत-वंश में आगे चलकर श्री कृष्ण एक युगपुरुष हुए जिन्होंने स्वयं नारायण का स्थान ग्रहण कर लिया। कृष्ण पहले नारायण एवं विष्णु के अवतार माने गये। आगे चलकर परब्रह्म परमात्मा बन गये। पहले यह सम्प्रदाय एकांतिक, नारायणीय तथा सात्वत नाम से जाना जाता था। जब यह कृष्ण की उपासना से जुड़ गया तब से भागवत-संप्रदाय कहलाने लगा।

ऐतिहासिक अध्ययन के अनुसार ईसा के चार सौ वर्ष पहले गीता की रचना हुई। इसमें श्री कृष्ण पूर्ण परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। तब तक दाशरथि राम की प्रतिष्ठा परमात्मा के रूप में नहीं थी। तब तक वे एक शस्त्रधारी वीर के रूप में माने जाते थे। गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से कहलवाया है कि मैं शस्त्रधारियों में राम हूं—रामः शस्त्रभृतामहम् (१०/३१)। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण-भक्ति ईसा के सैकड़ों वर्षों के पूर्व से प्रचलित थी, परन्तु दशरथ-पुत्र श्री राम ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग विष्णु के अंशावतार माने गये हैं, परन्तु उनकी पूजा-उपासना ग्यारहवीं शताब्दी तक शुरू हुई। सर रामगोपाल भंडारकर का भी कहना है कि यद्यपि ईस्वी सन् के आरम्भ से राम विष्णु के अवतार माने गये, किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही आरम्भ हुई।

इतिहासवेत्ता डॉ० राजबली पांडेय लिखते हैं "वाल्मीकीय रामायण में राम का ऐश्वर्यस्वरूप तथा चरित्र बहुत ही उच्च तथा आदर्श नैतिकता से भरपूर है। परवर्ती कवियों, पुराणों और विशेषकर भवभूति (आठवीं शताब्दी का प्रथमार्ध) के दो संस्कृत-

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/२३।

२. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य १/४८-५०।

नाटकों ने राम के चरित्र को और अधिक व्याप्ति प्रदान की। इस प्रकार रामायण के नायक को भारतीय जन ने विष्णु के अवतार की मान्यता प्रदान की। इस बात का ठीक प्रमाण नहीं है कि राम को विष्णु का अवतार कब माना गया, किन्तु कालिदास के रघुवंश काव्य से स्पष्ट है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में यह मान्यता हो चुकी थी।·········यद्यपि राम का देवत्व मान्य हो चुका था, परन्तु राम-उपासक कोई संप्रदाय इस दीर्घकाल में था, इस बात का प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि ११ वीं शताब्दी के बाद रामसंप्रदाय का आरम्भ हो चुका था।''[१]

पहले कुरुक्षेत्र के आसपास भारत की रचना हुई। पीछे गंगा-यमुना के संगम के आस-पास वाल्मीकीय रामायण का छोटा रूप बना। इसके बाद महाभारत का रूप तैयार होकर भारत महाभारत हो गया। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के पात्रों तथा कथानक की चर्चा नहीं है और रामकथा के पात्रों तथा वाल्मीकीय रामायण का भी महाभारत में वर्णन है। ''शांख्यायन आदि सूत्रों तथा पाणिनि में भारत के विषय में निर्देश मिलते हैं, रामायण के विषय में नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'भारत' की रचना रामायण के पूर्व हो चुकी थी।''[२] महाभारत के प्राचीन अंश (भारत) रामकथा के पात्रों की ही चर्चा करते हैं, रामायण की नहीं, किन्तु महाभारत के अपेक्षया नवीन अंश रामायण की चर्चा करते हैं। ईसा के चार सौ वर्ष पहले हुए पाणिनि के अष्टाध्यायी के व्याकरण के नियमानुसार वाल्मीकीय रामायण की रचना है ऐसा विद्वान मानते हैं। रामायण के पात्रों की चर्चा तो लोकगीत में बहुत पहले से थी; परन्तु वाल्मीकि की रामायण ईसा के तीन सौ साल के पहले से बनना शुरू हुआ।

सद्गुरु कबीर सामान्य हिन्दू-परम्परा की मान्यता के आधार पर कहते हैं ''बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव।'' वाल्मीकि महाराज ने रामायण नाम का आदिमहाकाव्य लिखकर मानो भक्तिरूपी चुनरी बुनने के लिए बन बो दिया। बन कहते हैं कपास को और वन कहते हैं जंगल को, यह भेद ध्यान में रखना चाहिए। वाल्मीकि ने रामायण संक्षिप्त में लिखी और उसमें राम का मानवीय रूप रखा, वह रूप उदात्त था। पीछे के कवियों ने उसमें कथा जोड़कर राम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार घोषित कर दिया। उसके बाद अन्य कवियों ने अपनी नयी-नयी रामायणों में उन्हें अनन्त ब्रह्मांड-नायक बना दिया। वाल्मीकीय रामायण में राम को उच्चदृष्टि से देखा गया, परन्तु उनके नाम-जप की उसमें कहीं चर्चा नहीं की गयी कि राम-राम जपने से मोक्ष होगा या पाप कटेगा। यह तो पीछे की रामायणों में राम को भक्तवत्सल कहा गया तथा उनका कथा-कीर्तन करना रामायण का अर्थ माना जाने लगा। शुकदेव जी ने इस भक्ति के कपास को चुन लिया। उन्होंने ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन भागवत आदि ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। अथवा कहना चाहिए कि पंडितों ने शुकदेव के मुख से भागवत पुराण में ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन करवाया। भागवत पुराण भक्ति का प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें रास

---

१. राम—हिन्दूधर्म कोश।

२. रामकथा, पृष्ठ ४६।

पंचाध्यायी तक है, उसके साथ है "महाभारत का शांतिपर्व, भगवद्गीता, पांचरात्रसंहिता, सात्वतसंहिता, शांडिल्यसूत्र, नारदीय भक्तिसूत्र, नारदपंचरात्र, हरिवंश, पद्मसंहिता, विष्णुतत्त्वसंहिता, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के ग्रंथ।"[१]

"कर्म बिनौरा होइ रहा हो, सूत काते जयदेव।" कर्मरूपी बिनौले को निकालकर जयदेव ने इसका सूत काता। जयदेव का संस्कृत भाषा में लिखा गीतगोविन्द एक महत्वपूर्ण तथा ललित काव्य है। भाषा प्रांजल, सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। यह राधामाधव का विरह काव्य श्रृंगाररस से पूर्ण है। गीतगोविन्द का प्रभाव कृष्ण चैतन्य पर भी पड़ा, जिनके द्वारा बंगाल में राधामाधव को श्रेय देकर एक भक्ति आंदोलन खड़ा हुआ ।

"तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश। नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश।" तीन लोक का अर्थ है पूरा संसार और यह पूरा संसार मानो भारतवर्ष ही है। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव की मान्यता भारतवर्ष या बृहत्तर भारत में ही है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर ने संसार में भक्ति का ताना तना। अथवा पंडितों ने इनके नाम के आधार पर भक्तिकाव्य फैलाया। अथवा रज, सत, तम मानो तीन लोक हैं और ये ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हैं। इन तीनों गुणों वाले मनुष्यों में भक्ति का प्रचार मानो भक्ति का ताना फैलाना है । सरल अभिप्राय यह है कि किसी देहधारी भगवान की अवधारणा कर उसके नाम-जपादि रूप भक्ति का प्रचलन हुआ। उस नाम को जपते-जपते मुनि, इन्द्र तथा सभी भक्त राजे-महाराजे भी हार गये, परन्तु वह भगवान उन्हें नहीं मिला। तात्पर्य यह कि भक्त-गण अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना कर उसके नाम रटते रहे, उसका कथा-कीर्तन करते रहे, उसके लिए रोते-धोते रहे, परन्तु वह कभी भी उन्हें दर्शन नहीं दिया। कितने भक्त अपने भावावेश में एवं अपने मन की कल्पना में उसे देखते रहे, परन्तु कभी उन्हें उसका साक्षात्कार नहीं हुआ। इसलिए भक्तों के लिए 'हारिया" शब्द का यहां प्रयोग किया गया।

"विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश। सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत।" पंडितों ने पुराणों में विष्णु के मुख से या वैष्णव महात्माओं के मुख से स्वर्ग का सुन्दर खाका खिंचवाया है। साकेतलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक एवं शिवलोक तथा अनेक नाम लेकर स्वर्ग का बड़ा मनोरम वर्णन किया गया है और उसमें रहने वाले भगवान की तो सुन्दरता का वर्णन ही असंभव है। उनमें अनादि से अनन्त काल तक होने वाली रासलीला का भी प्रबन्ध कर लिया गया है। साहेब व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यह सब बिना बस्ती के देश का वर्णन है। भक्त लोग ऐसे देश का वर्णन करते हैं जहां कोई बस्ती नहीं है। अर्थात यह सब घोर कल्पना एवं निराधार बातें हैं। सूने घर में पहुना जाय तो उसका कौन स्वागत करे! ऐसी जगह में हेत लगाना, ऐसी जगह में प्रेम करना जहां मन की कल्पना को छोड़कर कुछ नहीं है, वहां जीव को क्या मिलेगा!

"चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ। बिने कबीरा चूनरी" भक्तों ने चारों वेदों को कैंड़ा बनाया है। कैंड़ा का अर्थ है मानदंड एवं नक्शा बनाने का यंत्र। कोई भी

---

१. हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ ४६५।

संप्रदाय निकला तो उसके प्रवर्तक ने यही कहा कि यह वेद समर्थित है, जिस भक्ति का मैं प्रचार कर रहा हूं, उसका मूल वेदों में है। यहां तक कि वेद के 'राधा'[१] शब्द को घसीटकर उस 'राधा' से जोड़ दिया गया जो न महाभारत में है और न रासपंचाध्यायी वाले भागवत पुराण में है, जो पीछे से भक्त-कवियों-द्वारा कृष्ण की प्रेयसी बना दी गयी है। वेद विस्तृत हैं उनमें अनेक ऐसी संज्ञाएं हैं जिनके उनके अपने अर्थ हैं; किन्तु उनमें से जो शब्द अपने अनुकूल पड़ते हैं संप्रदाय-प्रवर्तक लोग उसे अपना अर्थ देकर कहते हैं कि देखो, मेरे मत का वर्णन वेदों में है। यहां तक कि पौराणिक कबीरपंथियों ने ऋग्वेद (१०/१०३/१) के 'एकवीरः' को ऐ कबीर, अर्थ कर उसमें कबीर की तलाश कर ली जबकि वहां उसका अर्थ अद्वितीय वीर है, जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

कबीर साहेब यहां कहते हैं कि समस्त भक्तिपथ के पथिकों ने वेदों को अपना कैंड़ा बनाया, अपने भक्ति-नक्शा को खींचने का औजार बनाया अथवा भक्ति-साड़ी बीनने के लिए सूत नापने का गज बनाया और निराकार को राछ बनाया। राछ वह यंत्र है जो वस्त्र बुनते समय ताने को उठाता-गिराता है। यहां निराकार का अर्थ परमात्मा या उसके सगुणरूप शिव और विष्णु है, जिसे इसके शब्दार्थ में देख लिया गया है। हिन्दू समाज के सारे भक्ति-संप्रदाय शिव और विष्णु की धुरी पर नाचते हैं। त्रिदेवों में ब्रह्मा को भक्ति-आलंबन की जगह से खारिज कर दिया गया है, केवल शिव और विष्णु ही भक्ति के आलंबन बनाये गये। पीछे के जितने महापुरुषों को परमात्मा का रूप दिया गया उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया या शिव का। निराकार का अर्थ लोक-प्रसिद्ध परमात्मा तो है ही, जिसके तथाकथित सारे अवतार भक्ति के आलंबन बने। साहेब कहते हैं कि इन्हीं आधारों को लेकर भक्तजन भक्ति की चुनरी बुनते हैं। पहले एक ईश्वर की कल्पना की जाती है, इसके बाद उसके सगुण-रूप में शिव तथा विष्णु की कल्पना की जाती है, इसके बाद इनके अनेक अवतारों की कल्पना की जाती है और इन पर वेद की मुहर मारकर सर्वमान्य भक्ति का रूप देने का प्रयास किया जाता है।

"मैं नहिं बाँधल बारि" 'बृहत हिन्दी कोश' में वारि के अर्थ—जल, वर्षा, सुगंधबाला, ह्रीवेर (एक गंध द्रव्य), एक वृत्त, सरस्वती आदि हैं तथा हाथी बांधने की जंजीर, फंदा आदि भी हैं। यहां पर वारि का अर्थ बन्धन है। साहेब कहते हैं "मैं नहिं बाँधल बारि" मैं किसी को उक्त प्रकार की भक्ति के बन्धन में नहीं बांधता हूं।

व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा से अलग परमात्मा, उसके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूप, उसके अवतार आदि सब काल्पनिक हैं। इन्हीं कल्पनाओं की भाव-विह्वलता में पड़कर भक्त लोग भक्ति की चुनरी बुनते हैं और अपने अनुगामियों को उसे पहनाते हैं। अर्थात उन्हीं मान्यताओं में उन्हें बांधते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं ऐसा बन्धन किसी को नहीं देता। आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है जिसके चक्कर में

---

१. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ *(ऋग्वेद १/३०/५)*
अर्थ—धन-रक्षक और स्तोत्र-पात्र इन्द्र! तुम्हारा ऐसा स्तोत्र तुम्हारा प्रतिभाप्रिय और सत्य हो। *(टीका—रामगोविन्द त्रिवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग)*

पड़कर भटका जाय। इसीलिए साहेब ने उसे "बिनु बस्ती का देश" तथा भक्तों को 'सूने घर का पाहुना" कहकर उन पर व्यंग्य किया है; और अन्त में अपने आपको इस काल्पनिक भक्ति के माया-जाल से अलग बता दिया है।

कबीर साहेब ने वैराग्य-बोधसंपन्न प्रत्यक्ष सद्गुरु-संतों की उपासना बतलायी है "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।"[१] गुरु से निज स्वरूपबोध प्राप्तकर अपनी चेतना में स्थित हो जाना ही परा भक्ति है। कबीर साहेब के ख्याल से जीव ही शिव है, आत्मा ही परमात्मा है और अपनी आत्मा में स्थित हो जाना ही सर्वोच्च भक्ति है।

वाल्मीकि

एक वाल्मीकि महर्षि कश्यप तथा अदिति के नवम पुत्र वरुण (आदित्य) से पैदा हुए माने जाते हैं। इनकी माता का नाम चर्षणी तथा भाई का नाम भृगु कहा जाता है। वरुण का दूसरा नाम प्रचेत भी है इसलिए वाल्मीकि को प्राचेतस भी कहा जाता है। इनके विषय में विविध कथाएं मिलती हैं। कोई इन्हें ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न मानता है और कोई शूद्र-कुल में। हो सकता है दोनों कुलों में भिन्न-भिन्न वाल्मीकि हुए हों। कौन वाल्मीकि रामायण लेखक थे कहना कठिन है। वैसे रामायण के लेखक को लोग यही मानते हैं कि वे निम्न कहे जाने वाले कुल में जन्मे थे। उनका नाम रत्नाकर था तथा वे कर्म से डाकू थे। वे जंगल में रहते थे और जो राहगीर मिलता था उसका सब कुछ छीनकर उसे मार डालते थे। उन्हें एक बार सप्तऋषि या नारद मिले। उनके साथ भी उन्होंने वही बरताव करना चाहा। उन्होंने कहा कि क्या यह सब पाप तुम्हारे परिवार वाले बटायेंगे? परिवार वालों से पूछने पर वे पाप के भागीदार होने से अस्वीकार कर दिये। रत्नाकर को ग्लानि हुई। वे इस पाप कर्म को परित्याग करने का प्रण करके तपस्या में लग गये। समाधि में बैठे रहने से इनके चारों तरफ दीमकी का ढूह लग गया। दीमकी के ढूह को वल्मीक कहते हैं। जब वे समाधि से उठकर वल्मीक से निकले तो उनको वाल्मीकि कहा जाने लगा। ये तमसा नदी के तट पर रहते थे। ये एक बार स्नान करने जा रहे थे। रास्ते में एक घटना घटी। एक क्रौंच एक क्रौंची परस्पर काममोहित होकर आलिंगन में थे। उसी समय एक व्याध ने बाण से क्रौंच को मार दिया। नर क्रौंच मर गया। क्रौंची व्याकुल हो उठी। यह दृश्य देखकर करुणावेश में वाल्मीकि के कंठ से यह अनुष्टुप छंद निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अर्थात "हे निषाद! तूने काम-मोहित युगल क्रौंच में से एक, अर्थात नर-क्रौंच का वध किया है, इसलिए तू बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकेगा।" कहा जाता है कि इसी छन्द के बाद उन्होंने रामायण की रचना की जिसका नाम वाल्मीकीय रामायण पड़ा।

---

१. साखी ३०४।

शुकदेव

महर्षि वेदव्यास-द्वारा किसी शुकी नामक स्त्री में शुकदेव को पैदा किया गया था। शुकदेव अपनी किशोर-अवस्था में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये थे। ये एक परम विरक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जयदेव

कहा जाता है कि बंगाल में अजय नदी के तट पर किंदुबिल्व नामक ग्राम में जयदेव जी रहते थे। कहते हैं कि केंदुली नाम से यह ग्राम आज भी प्रसिद्ध है। इनका जीवन-काल तेरहवीं शताब्दी में माना जाता है। ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि ये विरक्ति भाव से रहते थे, परन्तु आगे चलकर इन्होंने एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया। विवाह के पश्चात इन्होंने संस्कृत में 'गीतगोविन्द' नामक काव्य की रचना की। ये ज्यादा राधा के भक्त थे। इनका गीतगोविन्द शृंगार रस से पूर्ण है और जगह-जगह ज्यादा अश्लीलतापूर्ण है। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के काव्यों से चैतन्य महाप्रभु बहुत प्रेम रखते थे तथा उन्हें गाया करते थे। बंगला में 'राधाकृष्णगीत' नाम का काव्यग्रंथ भी जयदेव जी का ही माना जाता है।

हठयोग का दिग्दर्शन, मन के संयम से शांति

शब्द–८२

तुम यहि विधि समझो लोई, गोरी मुख मन्दिर बाजै॥ १ ॥
एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना वृषभ कोल्हू माचा॥ २ ॥
ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमै, मच्छ गगन चढ़ि गाजा॥ ३ ॥
नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै॥ ४ ॥
सुरभी भक्षण करत वेद मुख, घन बर्से तन छीजै॥ ५ ॥
त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे, औघट अम्मर छीजै॥ ६ ॥
पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी॥ ८ ॥
सदा रहे सुख संयम अपने, बसुधा आदि कुमारी॥ ९ ॥

शब्दार्थ—लोई = लोगों। गोरी मुख = कुंडलिनी। मन्दिर = नाभि। एक सर्गुण = त्रिगुणयुत मन। षटचक्रहिं = मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। वृषभ = बैल। माचा = जोत दिया, नांधना, नहना। ब्रह्महिं = रजोगुण को। अग्नि = योगाग्नि। मच्छ = मछली, श्वास। गगन = ब्रह्मांड, ब्रह्मरंध्र। गाजा = गर्जने लगा, अनाहतनाद बजने लगा। ग्रासे = ग्रास, कौर। सुरभी भक्षण = गोमांसभक्षण, जीभ से तालुमूल का रसपान। वेदमुख = श्रेष्ठ मुख। घन = बादल, गगनगुफा। छीजै = क्षीण होना, छूना, तरबतर होना। यहां अर्थ है छूना, भीगना—'आनंद घन रसरासि पाय कै क्यों जग-छीलर छीजै।' त्रिकुटी कुण्डल = दोनों भौंहों के बीच का घेरा। मन्दिर = स्थान।

औघट = दुर्गम स्थान, गगनगुफा। पुहुमि = पृथ्वी, पिंड। पनिया = श्वास। अम्मर = अम्बर, आकाश, ब्रह्मरंध्र, खोपड़ी। बसुधा = पृथ्वी। आदि कुमारी = सदा से कुंआरी, किसी की नहीं।

भावार्थ—हे लोगो! तुम हठयोगियों की बातें इस प्रकार समझो, कहते हैं कि कुंडलिनी के पास नाभि में सदैव 'परा' शब्द बजता रहता है। यह परा शब्द ही पश्यन्ति और मध्यमा के रूप में बदलकर मुख में आकर बैखरी बन जाता है अथवा जब योगी कुंडलिनी जाग्रत करता है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है।।१।। यह त्रिगुणात्मक मन छह चक्रों को क्रमशः वेधते हुए ब्रह्मांड में पहुंच जाता है। यह मानो बिना बैल के कोल्हू जोत देना है।।२।। योगी लोग रजोगुण को पकड़कर योगाग्नि में होम देते हैं और उनका श्वास ब्रह्मांड में पहुंचकर अनाहतनाद की गर्जना करने लगता है।।३।। ईडा तथा पिंगलारूप चन्द्र और सूर्य को सुषुम्णा में लय करने से योगी के लिए मानो रोज अमावस्या और ग्रहण लगे रहते हैं। इस प्रकार मानो रोज योगी राहु को भोजन देता है।।४।। योगी अपनी जीभ को उलटाकर और तालुमूल में लगाकर अपने श्रेष्ठ मुख से अमृतरसपान रूप गोमांस भक्षण करता है। उसकी गगनगुफा में बादल अमृत बरसते हैं और योगी उसमें भीगता है।।५।। दोनों भौंहों के बीच के घेरे के ऊपर गगनगुफा में अनाहतनाद का बाजा बजता है। यही मानो त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बजना है। इस गगनगुफा के दुर्गम घाट में योगी पहुंचकर तरबतर हो जाता है।।६।। जमीन का पानी जैसे भाप बनकर आकाश में मानो भर जाता है, वैसे योगी पिण्ड के प्राण समेटकर ब्रह्मांड में एकाग्र कर देता है। इस आश्चर्य की बात को कोई विरला समझता है।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, योगियों को लौकिक सिद्धि प्रिय है।।८।। परन्तु सदा रहने वाला एवं अनन्त सुख तो अपने मन के संयम से होता है। इसके लिए इस हठयोग की कोई जरूरत नहीं। हठयोग से जो लौकिक सिद्धि पाने की लालसा की जाती है, यह महाभ्रम है। यह वसुधा तो सदा से कुंआरी है—"यह वसुधा काहू की न भई।" लौकिक सिद्धि नाशवान हैं।।९।।

व्याख्या—"गोरी मुख मन्दिर बाजै" यह एक प्रतीकात्मक कथन है। इसका सरल अर्थ हुआ कि गोरी के मुख-मन्दिर पर बाजा बजता है या गोरी का मुख-मन्दिर बजता है। इसमें 'गोरी' मुख्य शब्द है। यह हठयोग का प्रसंग है। हठयोग में कुंडलिनी का बड़ा महत्त्व है जो एक काल्पनिक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के नीचे एक सर्प की कुंडली जैसी नस है, उसे कुंडलिनी कहते हैं। परन्तु डाक्टरों की राय से वहां ऐसा कुछ नहीं है। तब योगी कहते हैं कि कुंडलिनी कोई नस नहीं, केवल एक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के पास कुंडलिनी का जहां निवास है वहां 'परा' शब्द की ध्वनि सब समय होती है। उसे योगी ही सुन सकता है, सामान्य लोग नहीं। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी कल्पना है कि जब कुंडलिनी जाग्रत हो जाती है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी माना जा सकता है कि जब कुंडलिनी जाग्रतकर सुषुम्णा को ऊपर ब्रह्मांड में ले जाते हैं तब जो वहां अनाहतनाद उठता है वही गोरी मुख मन्दिर बजना है।

"एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना बृषभ कोल्हू माचा।" रज, सत तथा तम ये तीन गुण हैं। मन इन तीनों गुणों वाला है। यही 'एक सर्गुण' है, जो षटचक्रों को वेधता है। मन के बिना तो कोई काम नहीं होता। योगी का मन मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा—इन छहों चक्रों को वेधकर ऊपर भ्रमरगुफा में पहुंचता है, फिर वहां अनाहतनाद उठता है और ज्योति-प्रकाश होता है। यह बिना बैल के कोल्हू माचना है। कोल्हू, हल या गाड़ी कहीं भी बैल को जोड़ देना 'माचना' कहलाता है। साहेब कहते हैं कि योगियों का षटचक्रवेधन, नादश्रवण तथा ज्योतिदर्शन का जो निरन्तर चलने वाला कोल्हू है यह बिना बैल का चलता है।

"ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमै, मच्छ गगन चढ़ि गाजा।" यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण है। ब्रह्म का अर्थ होता है बढ़ना। बढ़ना क्रिया है। क्रिया रजोगुण है। इसलिए यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण करना उपयुक्त है। योगी लोग ब्रह्म को अर्थात रजोगुण को पकड़कर योग की अग्नि में होम देते हैं। इसका अर्थ है कि योगसाधना से वे रजोगुण को शांत कर देते हैं। "मच्छ गगन चढ़ि गाजा" मछली आकाश में चढ़कर गर्जने लगती है। यह मच्छ एवं मछली क्या है? इसे मन या श्वास कह सकते हैं। श्वास जब ऊपर खोपड़ी में एकाग्र होता है तब अनाहतनाद होने लगता है। इसी को ऐसा भी कह सकते हैं कि मानो मन ही गगनगुफा एवं खोपड़ी में चढ़कर गर्जने लगता है।

"नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै।" चन्द्र-सूर्य का एक साथ हो जाना अमावस्या है। इसका विवरण पीछे ४९ वें शब्द में दिया जा चुका है। हठयोग में ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी चन्द्र कहलाती है तथा पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी सूर्य कहलाती है। इनका इकट्ठा होकर सुषुम्णा में मिल जाना हठयोग की अमावस्या है। सुषुम्णा कहते हैं नाक के दोनों छिद्रों में सम श्वास चलने को। योगी चन्द्र-सूर्य नाड़ियों को सम करके रोज योगाभ्यास करते हैं। इसलिए उनके लिए मानो रोज अमावस्या लगी रहती है और उनके लिए रोज ग्रहण भी लगा रहता है। सुषुम्णा मानो राहु है और वह चन्द्र तथा सूर्य दोनों नाड़ियों को ग्रहणकर उन्हें अपने में पचा लेती है तो योगियों के लिए मानो रोज ग्रहण लगा रहता है। जब रोज ग्रहण लगा रहता है तब मानो योगी रोज राहु को ग्रास देता है, भोजन देता है। ग्रास कहते हैं ग्रहण करने को, ग्रसने को, पकड़ने को और ग्रास का अर्थ कौर, निवाला, आहार, निगलना भी होता है। ये सब अर्थ एक भाव के द्योतक हैं। पौराणिक कहानियों के अनुसार राहु चन्द्र और सूर्य को खाने के लिए भूखा रहता है, तो योगी मानो रोज चन्द्र-सूर्यरूप भोजन राहु को देता है। "राहु ग्रासे नित दीजै" सुषुम्णा-राहु को चन्द्र-नाड़ी तथा सूर्य-नाड़ीरूपी ग्रास रोज दिया जा रहा है।

पुराण की कथा है कि विप्रचित्ति नामक पिता और सिंहिका नामक माता से राहु पैदा हुआ था। राहु बहुत बलवान था। समुद्र मथने पर जब अमृत निकला, तब देवताओं की पंक्ति में बैठकर उसने अमृत पी लिया था। उसके आस-पास में बैठे चन्द्रमा और सूर्य इस क्रिया को देख लिये और विष्णु को बता दिये। इसलिए विष्णु ने चक्र से राहु का सिर काट दिया। परन्तु अमृत पी लेने से वह मरा नहीं। सिर राहु तथा धड़ केतु के नाम से अमर हो गये। राहु ने चन्द्रमा और सूर्य से बदला लेने की ठानी। इसलिए राहु चन्द्रमा

और सूर्य को समय-समय से ग्रस लेता है, निगल लेता है, इसी को चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण कहते हैं। आज एक छोटा विद्यार्थी भी जानता है कि पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है। इसे कोई राहु नहीं ग्रसता है। पौराणिक कथाओं के आधार पर योग में राहु, ग्रहण आदि का प्रतीकात्मक वर्णन है।

"सुरभी भक्षण करत वेदमुख" सुरभी कहते हैं गाय को, वेदमुख का अर्थ ज्ञानमुख एवं श्रेष्ठमुख है। योगी अपने श्रेष्ठमुख से गाय खाता है एवं गोमांस भक्षण करता है। यह भी प्रतीकात्मक कथन है। हठयोगी अपनी जीभ को उलटकर कपाल-कुहर अर्थात तालु में लगाते हैं। ब्रह्मरंध्र के सहस्रसार कमल के मूल में 'योनि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र मानते हैं। यही चन्द्रमा का स्थान माना जाता है। कहते हैं कि इससे अमृत झरता है। योगी जीभ से उसी का पान करता है। इस क्रिया को योग के पारिभाषिक शब्द में 'गोमांस भक्षण' कहा जाता है। यही "सुरभी भक्षण करत वेदमुख" का तात्पर्य है। "अवधू गगन मंडल घर कीजै। अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनाल रस पीजै।" हठयोगप्रदीपिका में बताया गया है "जो योगी नित्य गोमांस भक्षण करता है तथा अमर वारुणी का पान करता है उसको मैं कुलीन मानता हूं। इसे न करने वाले लोग कुलघातक हैं। यहां गो-शब्द का अर्थ जीभ है और उसे तालुमूल में प्रवेश कराना गोमांसभक्षण है जो महान पापों का नाश करने वाला है।"[1] यह हठयोगियों की धारणा है।

'घन बर्से तन छीजै" बादल बरसते हैं और शरीर भीगता है। योगियों की कल्पना है कि खोपड़ी की गगनगुफा के बादल गर्जनापूर्वक वर्षा करते हैं और योगी उसमें भीगता है। अर्थात योगी उस अनुभव-आनन्द में तरबतर हो जाता है। नाद होना गर्जना है, प्रकाश की चिमचिमाहट होना बिजली चमकना है, उसका अनुभव वर्षा है। "छीजै' के अर्थ क्षीण होना तथा छूना दोनों हैं। दोनों अर्थ योगी में लग जाते हैं। योगी योग-साधना में अपने शरीर को स्वल्पाहार देता है। इसलिए उसका शरीर क्षीण अर्थात दुबला हो जाता है, परन्तु शरीर दुबला होने पर भी उसके मुख का तेज बढ़ जाता है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धि के आठ लक्षण बताये गये हैं—"शरीर दुबला हो जाता है, मुख प्रसन्न हो जाता है, नाद प्रकट होता है, नेत्र निर्मल हो जाते हैं, रोग का अभाव हो जाता है, वीर्य पर विजय हो जाती है, अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा नाड़ी शुद्ध हो जाती है।"[2] इस प्रकार योगी का शरीर क्षीण होता है। छीजै का अर्थ छूना, स्पर्श करना एवं तरबतर होना भी है। योगी अपने अनुभव में तरबतर होता है।

---

१. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः॥
गोशब्देनोच्यते जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ *(हठयोग प्रदीपिका ३/४७-४८)*

२. वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥ *(हठयोग प्रदीपिका)*

"त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे" दोनों आंखों के ऊपर दोनों भौंहों के बीच के स्थान को 'त्रिकुटी' कहते हैं। यदि 'कुण्डल' का अर्थ कुण्डलिनी लिया जाय तो अर्थ होगा कि कुंडलिनी के पास स्थित मूलाधार चक्र से लेकर त्रिकुटी स्थित आज्ञाचक्र तक छहों चक्रों का वेधना ही त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजना है। यदि त्रिकुटी से लेकर ऊपर गगनगुफा के गोलक को कुण्डल कहा जाय, तो गगनगुफा में होता हुआ अनाहतनाद ही मन्दिर बाजने का मतलब होगा। अर्थात गगनगुफा रूपी मन्दिर में अनाहतनाद के बाजे बजते हैं। यही अर्थ ज्यादा ठीक लगता है। "औघट अम्मर छीजै" अर्थात उस दुर्गमघाट रूपी गगनगुफा के अमृत-रस से योगी भीगता है। यहां भी छीजै का अर्थ स्पर्श करना एवं भीगना अधिक उपयुक्त लगता है।

"पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै।" पृथ्वी का पानी गरमी और हवा के संयोग से भाप बनकर आकाश में भर जाता है, इस अचरज भरी बात को कोई विरला समझता है। इसी प्रकार नीचे पिंड के श्वास को योगी ऊपर ले जाकर गगनगुफा एवं सहस्रकमल में भर देता है जहां नाद होने लगता है तथा प्रकाश जल जाता है। इस आश्चर्य भरे विषय को कोई योगी ही समझता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी।" कबीर साहेब संतों से कहते हैं कि इन योगियों को सिद्धि बहुत प्यारी लगती है। ये जनता को चमत्कार भरे काम दिखाकर उनसे ऐश्वर्य, सम्मान एवं पुजापा पाने की चेष्टा रखते हैं। यदि चुहिया को पाने के लिए पहाड़ खोदा जाय तो यह मिथ्या श्रम है। यदि हठयोग के बहुत परिश्रम के बाद केवल नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन फल माना जाय और लोगों को चमत्कार दिखाकर लौकिक धन एवं सम्मान पाने की चेष्टा हो, तो यह कोई विवेक की बात नहीं हुई।

"सदा रहे सुख संयम अपने" सदा रहने वाला सुख, आत्यंतिक सुख, परमानन्द, परमशांति तो अपने मन का संयम करने में है। ये षटचक्र वेधन, जीभ उलटाकर खोपड़ी का मैला पानी चाटना, खोपड़ी की ध्वनि तथा प्रकाश सब व्यर्थ का श्रम है। अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए तो विवेक एवं द्रष्टा-अभ्यास-द्वारा केवल अपने मन को वश में कर लेना चाहिए। जहां अपने मन का पूर्ण संयम हुआ, वहां एकरस समाधि-सुख है। सिद्धि-द्वारा संसार के ऐश्वर्य और सम्मान पाने का मोह तो महा अज्ञान है। यह माया किसकी चेरी बनकर रही है! 'बसुधा आदि कुमारी" है। "यह बसुधा काहू की न भई।" संसार की माया किसके पास रहने वाली है! अर्थात संसार के सारे ऐश्वर्य और सम्मान नाशवान हैं, अतः इनके मोह को छोड़कर और मन को अपने वश में करके सच्चे अर्थ में सुखी होना चाहिए।

धर्म के नाम पर हत्या करना निंदनीय है

शब्द–८३

भूला बे अहमक नादाना, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥ १ ॥
बरबस आनि के गाय पछारी, गरा काटि जिव आपु लिया॥ २ ॥

जीयत जीव मुर्दा करि डारे, ताको कहत हलाल हुआ॥ ३ ॥
जाहि माँसु को पाक कहत हो, ताकी उत्पति सुन भाई॥ ४ ॥
रजो-बीर्य से माँस उपनी, सो माँस नपाकी तुम खाई॥ ५ ॥
अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया॥ ६ ॥
उसकी खून तुम्हारी गर्दन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया॥ ७ ॥
स्याही गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुआ॥ ८ ॥
रोजा बाँग निमाज क्या कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुवा॥ ९ ॥
पण्डित वेद पुराण पढ़ै सब, मुसलमान कुराना॥१०॥
कहहिं कबीर दोउ गये नरक में, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥११॥

शब्दार्थ—बे = अरे, अबे। अहमक = जड़मति। नादाना = नादान, नासमझ। हरदम = हर सांस, हर प्राणधारी। बरबस = जबर्दस्ती, बलपूर्वक, व्यर्थ। पछारी = पैर बांधकर गिरा देना। हलाल = जायज, विहित। पाक = पवित्र। उपानी = पैदा हुआ। स्याही गई = काले बाल वाली जवानी चली गयी। सफेदी आई = उजले बाल वाला बुढ़ापा आ गया। रोजा = रमजान के महीने में नित्य दिन भर उपवास रहना। बांग = अजान, ईश्वर को पुकारना। निमाज = नमाज, मुसलमानों की प्रार्थना-पद्धति। हुजरे = हुजरा, कोठरी, उपासना करने का कमरा जो प्रायः मसजिद के पास होता है।

भावार्थ—अरे जड़मति नासमझ! वह गहरी भूल में है जो हर प्राणधारी को राम नहीं समझता॥१॥ बलपूर्वक गाय को घसीट लाया, उसके पैरों को बांध दिया और बे-रहम होकर उसके गले को रेतकर काट डाला, इस प्रकार तूने खुद उसकी जान ले ली॥२॥ जीवित प्राणी को मुर्दा कर दिया और इसे कहता है कि यह जायज काम हुआ॥३॥ हे भाई! जिस मांस को तू पाक कहता है, जरा उसकी पैदाइश तो सुन!॥४॥ वह मांस वस्तुतः रज और वीर्य से पैदा हुआ है, इसलिए वह नापाक है, परन्तु तूने उसे खा लिया॥५॥ हे जड़मति ! तू इसे क्यों नहीं कहता कि यह बेहद बेरहमी है और गंदी चीज खाना है। तू कहता है कि हमारे बड़ों का यह आदेश है तथा उन्होंने ऐसा किया है॥६॥ परन्तु ध्यान रहे, जिन्होंने तुम्हें ऐसा उपदेश दिया है इस हत्या का पाप उन पर भी जायेगा और एक दिन तुम्हारी भी गरदन कटेगी॥७॥ स्याही चली गयी, सफेदी आ गयी, परन्तु तुम्हारा दिल तो अभी भी सफेद नहीं हुआ॥८॥ ऐसे बेरहमी का काम करने वाले के लिए रोजा रहना, बांग पुकारना तथा नमाज पढ़ना क्या मतलब रखता है! प्रार्थना की कोठरियों में बैठकर मरने से भी क्या लाभ होगा!॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पंडित लोग वेद-पुराण पढ़ते हैं और मुसलमान लोग कुरान पढ़ते हैं; परन्तु जिन्होंने हर प्राणधारी को राम नहीं समझा और जीव हत्या करते रहे तथा उसे धर्म बताते रहे, वे सब नरक में जायेंगे॥१०-११॥

व्याख्या—जो धार्मिक कहलाने वाले लोग ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और जीवों का वध करते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि यह उनकी भूल है, जो हर प्राणी को ईश्वर नहीं समझते हैं। यदि देहधारी जीवों को हटा दिया जाय तो राम-रहीम का क्या मतलब होगा!

क्या इन देहधारी जीवों के अलावा कोई राम-रहीम है! और इनके साथ रहमदिली के व्यवहार के अलावा कोई पूजा-उपासना है! प्रत्यक्ष राम-रहीम पर छूरी चलाना और शून्य में राम-रहीम पुकारना हद दर्जे की नासमझी है।

लोगों की अक्ल तो देखो! ये ईश्वर के भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मूक प्राणधारियों को लाकर, उनके पैरों को बांधकर और उन्हें गिराकर उनके गले पर छूरी रेतते हैं और इसके साथ निहायत रहम करने वाले रहीम का नाम लेते हैं। भला, रहम करने का स्वभाव वाला बेरहमी के काम से खुश होगा! क्या ऐसा भी ईश्वर हो सकता है जो मासूम जानवरों की हत्या करने से खुश होता हो! यह ईश्वर की व्याख्या क्रूर शैतान में क्यों कर रहे हो! जीव-हत्या तो हराम का काम है, यह हलाल कैसे हो गया! इसे जायज कहें, धर्मानुकूल कहें तो अधर्म किसे कहें! यह अन्धविश्वास कि किसी जीव की हत्या करने से कोई देव या ईश्वर खुश होता है घोर जंगलीपन है और साथ-साथ इसके नाम पर मांस खाने का लोभ है। आज के विज्ञान-युग में भी आदमी जंगलीपन से छूट नहीं पाया है। अनपढ़ ही नहीं, पढ़े-लिखे लोग भी घोर अन्धविश्वासी हैं। सभ्य और शिक्षित होने की डींग मारने वाला आदमी अभी भी मानो पत्थर युग में है।

किसी देवता या ईश्वर का नाम लेकर जीव-हत्या करने से उसका मांस कैसे पवित्र हो गया! मांस कैसे बनता है इसे कौन नहीं जानता। रज-वीर्य से मांस बनता है। लोग रज और वीर्य को कितनी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पेशाब के कतरे को कितना नापाक माना जाता है! परन्तु उसी पेशाब से बना मांस पाक कैसे हो गया! और फिर मांस का वर्तमान स्वरूप भी गन्दा है। इस कारण पेशाब पर न भी ध्यान दें तो कार्यरूप मांस स्वयं गन्दी चीज है।

लोग कितने जड़मति हैं! वे स्वयं अपनी आंखों की देखी बातों पर विश्वास नहीं करते, कहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने ऐसा फ़रमान किया है और उन्होंने खुद ऐसा किया है। हमारे पूर्वजों ने जो कुछ कहा या किया है वह सब जायज नहीं हो जायेगा। हमें यह देखना पड़ेगा कि हम जो करने जा रहे हैं यह उचित है कि अनुचित। कहा जाता है कि हमारे पूर्वज इब्राहीम ने ईश्वर के नाम पर अपने पुत्र की कुर्बानी की थी। तो वहां बेटा न कटकर एक दुम्मा भेड़ा कटकर गिर पड़ा।[1] यह कथन ही कपोलकल्पित है। जब बेटे को

---

१. यह कथा बाइबिल में लोक कहावत से हटकर इस प्रकार है—

पुरानी बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण के २२वें अनुच्छेद में लिखा है कि ईश्वर ने इब्राहीम की परीक्षा लेने के लिए उसको आज्ञा दी कि तुम अपने पुत्र इसहाक की होमबलि करके चढ़ा, अर्थात उसकी कुर्बानी कर। जब इब्राहीम ने परमेश्वर की आज्ञा मानकर और सूखी लकड़ियों पर इसहाक के हाथ-पैर बांधकर लेटा दिया और छूरी निकाल उसका वध कर उसकी लाश का हवन करना चाहा, तो परमेश्वर ने आवाज देकर रोक दिया और कहा कि तुम्हारी परीक्षा पूरी हुई। इब्राहीम ने सिर उठा कर देखा तो वहां झाड़ी में एक भेड़ा उलझा है। उसने उसको लाकर उसकी परमेश्वर के नाम पर होमबलि की।

उपर्युक्त कहानी ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप की कथा की याद दिलाती है। जिसमें

छूरी से काटा जायेगा तब बेटा ही कटेगा, वहां दुम्मा भेड़ा कैसे कट जायेगा। यदि यह ठीक है और अपने पूर्वजों की लीक पर चलना है तो लोग अपने बेटे की कुर्बानी करें और वहां अपने आप दुम्मा भेड़ा कट जाय तो बात मान ली जाय। किसी ने कहा है—

जो तू दावा करे दावा मुसलमानी करे।
अपने बेटे की खुदा के नाम कुर्बानी करे॥

वस्तुतः कुर्बानी तो किसी की भी नहीं करनी चाहिए। कुर्बानी करनी चाहिए अपने मन के मोह की। कुर्बानी का असली अर्थ है अहंता-ममता का त्याग। जीव-हत्या करने वाले तथा जीव-हत्या का आदेश देने वाले दोनों अपराधी हैं, परंतु धर्म के नाम पर जीव हत्या करने वाले तो घोर अपराधी हैं।

लोगों के काले बाल उजले हो जाते हैं, परन्तु यदि उनके मन नहीं उजले हुए तो बाल उजले होने से क्या हुआ! यदि आदमी में प्राणियों के प्रति दया-रहम का भाव एवं बरताव न आये तो उसका शारीरिक बुढ़ापा होने से क्या हुआ। मनुष्य का मन वृद्ध होना चाहिए। अगर दिल पाक नहीं है तो रोजा, बांग और नमाज बेकार हैं। जिसका दिल बेरहम है वह धार्मिक क्रियाकांड एवं बाह्याचार करके क्या फल पायेगा! घण्टों प्रार्थना की कोठरी हुजरा में बैठकर इबादत करना बेकार है, अगर दिल में दया नहीं है "हुजरे भीतर पैठि मुवा" यह तो प्रार्थना की कोठरी में बैठकर केवल जड़मति होना है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं केवल मुसलमानों को नहीं, किन्तु सबको कहता हूं। हिन्दू पंडितों को भी देखता हूं कि वे वेद-पुराण पढ़ते हैं और भी अपने अनेक धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं, मुसलमान लोग कुरानशरीफ तथा अन्य अनेक किताबें पढ़ते हैं। यह सब ठीक है। धर्मग्रन्थ पढ़ना चाहिए। धर्मग्रन्थ पढ़ने का मतलब यही होना चाहिए कि हमारे ख्याल ठीक हों, विचार अच्छे हों, हमारे दिल में दया और रहम का राज्य हो। परन्तु सारे धर्मग्रन्थ पढ़ने के बाद यदि जबान और हाथों में छूरी है तो धर्मग्रन्थ पढ़ने का क्या मतलब है! कबीर साहेब के सामने हिन्दू और मुसलमान कहलाने वाले लोग थे, इसलिए इन दोनों के नाम उन्होंने लिये; परन्तु उनका कथन सार्वभौमिक है। साहेब कहते हैं कि वे सभी लोग नरक में जायेंगे जो हर प्राणी को राम-रहीम न समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। नरक की कोई अलग जगह नहीं है, मन की मलिनता ही नरक है और इसके परिणाम में जन्म-जन्मांतरों तक दुख पाना निश्चित है। जो दूसरों को दुख देने की आज्ञा देगा या स्वयं दुख देगा वह देर-सबेर दुख पायेगा। "जो सिर काटे आन कै, अपनो होय कटाय।"

अजीगर्त ब्राह्मण ने राजा हरिश्चन्द्र से कुछ गायें लेकर अपने पुत्र शुनःशेप का वध कर उसका हवन करना चाहा था और शुनःशेप के करुण-क्रंदन पर विश्वामित्र ने उसे बचाया था। यह कथा संक्षिप्ततः कबीर दर्शन, अध्याय ४ के 'स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज' संदर्भ में दी गयी है।

एक मानव जाति, एक मानवता धर्म तथा आत्माराम का बोध बाह्याचार में ढक गये हैं

शब्द–८४

काजी तुम कौन कितेब बखानी ॥ १ ॥
झंखत बकत रहहु निशि-बासर, मति एकौ नहिं जानी ॥ २ ॥
शक्ति अनुमाने सुन्नति करतु हो, मैं न बदोंगा भाई ॥ ३ ॥
जो खुदाय तेरी सुन्नति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई ॥ ४ ॥
सुन्नति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिये ॥ ५ ॥
अर्ध शरीरी नारि बखानी, ताते हिन्दू रहिये ॥ ६ ॥
पहिरि जनेउ जो ब्राह्मण होना, मेहरी क्या पहिराया ॥ ७ ॥
वो जन्म की शूद्रिन परसे, तुम पाँड़े क्यों खाया ॥ ८ ॥
हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन्ह यह राह चलाया ॥ ९ ॥
दिल में खोजि देखु खोजादे, बिहिस्त कहाँ ते आया ॥१०॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर करतु हैं भाई ॥११॥
कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई ॥१२॥

शब्दार्थ—कितेब = किताब, धर्मग्रन्थ। बखानी = व्याख्या, वर्णन, बड़ाई। झंखत = झींखना, दुखी होना, दिमाग पचाना। बकत = बकना, बकवास करना। मति = समझ, अभिप्राय, मतलब। शक्ति अनुमाने = ईश्वरीय शक्ति का अनुमान करके। सुन्नति = सुन्नत, खतना। बदोंगा = बदना, मानना। बिहिस्त = बिहिश्त, स्वर्ग। जोर = बल प्रयोग, जबरदस्ती। कबिरन = भटके हुए लोग। ओट = सहारा। राम = ईश्वर।

भावार्थ—काजी साहब! तुम किस किताब की व्याख्या एवं बड़ाई करते रहते हो?॥१॥ तुम किताबों में रात-दिन दिमाग पचाते तथा बकवास करते हो; परन्तु एक भी असली मतलब नहीं समझते हो॥२॥ तुम ईश्वरीय शक्ति का अनुमान कर तथा उसकी दुहाई देकर बच्चों का खतना करते हो और उनकी पेशाब इन्द्रिय के आगे की खाल बेदर्दी से काट देते हो। परन्तु हे भाई! मैं इस काम को अच्छा नहीं मान सकता॥३॥ यदि सचमुच खुदा तुम्हारी सुन्नति करना चाहता है तो उतनी खाल गर्भवास से ही कटकर बच्चे को पैदा होना चाहिए था॥४॥ यदि खतना कराकर ही मुसलमान हुआ जाता है तो अपनी बीबी को क्या कहोगे?॥५॥ उसका खतना तो हो नहीं सकता। पत्नी को पुरुष का आधा शरीर माना जाता है। इस तथ्य को देखते हुए तुम आधा हिन्दू ही बने रह गये। अथवा पत्नी जीवनपर्यन्त हिन्दू रहती ही है तब खतना न कराकर तुम भी हिन्दू ही बने रह जाते ॥६॥ इसी प्रकार हे ब्राह्मण कहलाने वालो! यदि जनेऊ पहन करके ही ब्राह्मण हुआ जाता है तो तुमने अपनी श्रीमती को क्या पहनाया है? उसे तो तुमने वेद, गायत्री तथा जनेऊ—सबसे वंचित रखा है॥७॥ जनेऊ-संस्कार से रहित होने से वह तो जन्म से ही शूद्रा बनी हुई है, फिर हे पंडित, उसका परोसा भोजन तुम क्यों खाते

हो? ।।८।। सभी मनुष्य तो एक समान हैं, ये हिन्दू-मुसलमान आदि रूपी विभाजक रेखाएं कहां से पैदा हो गयीं? ये गलत रास्ते किसने चला दिये? ।।९।। हे खोजी इनसान! अपने दिल में खोजकर देख, ईश्वर तो तेरे दिल में बसा है, सातवें आसमान में कहां से स्वर्ग आ गया, जहां तू ईश्वर की कल्पना करता है? ।।१०।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, हे भाई! ये हिन्दू और मुसलमान नामधारियों के अगुआ अपनी-अपनी मजहबी भावनाओं को लोगों पर जबदस्ती लादते हैं। ये जड़मति लोग अपनी सांप्रदायिक बातें सिद्ध करने के लिए ईश्वर का सहारा लेते हैं, परन्तु इसके फल में इन्हें पछतावा ही हाथ लगेगा ।।११-१२।।

व्याख्या—इसलाम मजहब के कानून-कायदे का निर्णय देने वाला काजी कहलाता है। कबीर साहेब काजी से प्रश्न करते हैं कि तुम अपनी किताबों की बड़ी बड़ाई करते हो। तुम कहते हो कि हमारी किताब और हमारे सारे कानून खुदाई हैं। जब तक संसार का प्रलय नहीं हो जाता तब तक इसलाम के ही कानून संसार में चलेंगे। तुम्हारी बातें बड़ी लम्बी-लम्बी रहती हैं, परन्तु तुम इतनी-सी बात नहीं समझ सकते हो कि यदि ईश्वर को यह पसंद होता कि पुरुष की पेशाब-इन्द्रिय के आगे की खाल नहीं रहनी चाहिए तो वह उसे वैसे ही बनाता। सारा शरीर खुदा बना सकता है तो क्या उतनी-सी खाल वह काट नहीं सकता है? उसकी अक्ल में यह बात नहीं आयी, जो तुम वह काम पैदा होने के बाद करके उसकी अक्ल की गलती का सुधार कर रहे हो!

"शक्ति अनुमाने सुन्नति करतु हो, मैं न बदोंगा भाई।" साहेब कहते हैं कि तुम किसी ईश्वरीय शक्ति का अनुमान कर उसी की आड़ में अपने सारे कानून चलाते हो। तुम कहते हो कि यह सुन्नत करना भी खुदाई हुक्म है, परन्तु कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई! मैं इसे नहीं मान सकता। यदि ऐसा खुदा करना चाहता तो उसे ऐसा करने में कोई मुश्किल नहीं थी। जो इतने बड़े शरीर को बना सकता है, वह उसी के साथ सुन्नत भी कर सकता है। सुन्नत करने से ही आदमी मुसलमान होता है यह सच भी नहीं है। ऐसी स्थिति में मुसलमान कहलाने वालों के घरों की नारियां मुसलमान नहीं कहला सकतीं। किसी भी गृहस्थ-समाज का स्त्री आधा अंग है। इस दृष्टि से मुसलमानों में सदा ही आधे मुसलमान हैं और आधे हिन्दू हैं। पुरुष मुसलमान तथा उनकी नारियां हिन्दू हैं।

कबीर जब मुसलमानों को लताड़ रहे थे, पंडित बहुत प्रसन्न थे कि कबीर ने क्या खूब कहा! कबीर ने पंडितों की तरफ निगाह फेरी और उन्हें भी आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा हे पंडितो, तुम्हारे ब्राह्मणत्व का चिन्ह जनेऊ है। परन्तु यदि जनेऊ पहन करके ही कोई ब्राह्मण होता है तो तुम्हारी घरवाली को क्या कहा जाय! तुमने अपने घर की नारियों को तो जनेऊ पहनाया नहीं, न उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, न उन्हें गायत्री मंत्र सुनाया गया और न उन्हें वेद पढ़ने का ही अधिकार दिया गया। उन्हें द्विजत्व संस्कार से एकदम अलग रखा गया। इसलिए तुम्हारे घर की नारियां जन्म से आज तक शूद्रा ही बनी हैं और मरते दम तक वे बेचारी शूद्रा ही रहेंगी। फिर उनका पकाया और परोसा भोजन तुम क्यों खाते हो? तथाकथित ब्राह्मण लोग शूद्रों को अछूत मानते हैं। शूद्र वही है जो यज्ञोपवीत संस्कार से रहित है। इस प्रकार ब्राह्मण के घर की नारियां भी

संस्कारहीन शूद्रा ही हैं। आश्चर्य है कि ब्राह्मण नामधारी जीवनभर शूद्रा का ही परोसा भोजन करता है और दूसरे शूद्रों को अछूत कहता है। यह तो ऐसा ही हुआ "अपने मुख की वार्ता, सुनै न अपने कान।" ब्राह्मण कहे जाने वाला अपना ही सिद्धांत नहीं समझ पा रहा है। जब वह जीवनभर शूद्रा का परोसा खाता ही है तो दूसरे शूद्र कहे जाने वाले बेचारे क्यों अछूत बनाकर रखे जाते हैं!

"हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन्ह यह राह चलाया।" कबीर साहेब कहते हैं कि मानव की तो एक जाति है। इसमें द्वैत कहां से आ गया? कबीर साहेब के समय में हिन्दू-तुरुक का जोर था। इसलिए उन्होंने ये दोनों नाम लेकर उन्हें ललकारा। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे अन्य मजहब वालों को नहीं कह रहे हैं। कबीर किसी को छोड़ने वाले नहीं हैं। जो भी एक मानवता में विभाजक-रेखा खींचता हो, उनमें से किसी को भी कबीर क्षमा करने वाले नहीं हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मानव एक जाति है तथा मानवता एक धर्म है। इनमें जितनी भेदपरक दीवारें खड़ी की जाती हैं, सब मानव की बनायी हैं। वेद से लेकर बाइबिल, कुरानादि सब किताबें मानव की बनायी हैं। सारे मजहब एवं संप्रदाय मानव के गढ़े हुए हैं और सारे सांप्रदायिक चिन्ह मानव के बनाये हुए हैं। साहेब कहते हैं "किन्ह यह राह चलाया" इसलाम का रास्ता, इसाइयत का रास्ता, हिन्दुत्व का रास्ता या अन्य हजारों रास्ते केवल मनुष्य के चलाये हैं। हां, अपनी गलत और सही सारी बातें समाज से मनवाने के लिए उन पर किसी आकाशीय ईश्वर की मोहर लगा ली है। मजहब वालों ने ईश्वर की अवधारणा का इतना दुरुपयोग किया है कि उसकी आड़ लेकर अपने मत के सारे बकवासों को मनुष्यों पर बलात थोपने का प्रयास किया है।

"दिल में खोजि देखु खोजादे, बिहिस्त कहाँ ते आया।" मत-मजहब वालों ने सातवें लोक या सातवें आकाश पर स्वर्ग की कल्पना कर रखी है, वहां पर उनमें तामझाम के साथ ईश्वर को बैठा रखा है। हर ने यह ढिंढोरा पीट रखा है कि हमारे मजहब से चलकर उस स्वर्ग या ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि ये बिहिश्त, स्वर्ग तथा ईश्वर कहां से आ गये? ये ईश्वर और स्वर्ग तुम्हारी कल्पनाएं हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि अपने दिल में खोजो। तुम्हारे दिल के अन्दर की चेतना, दिल के अन्दर का नूर ईश्वर है, खुदा है। वह सब समय सबको प्राप्त है। वह किसी मत-मजहब की डिबिया में नहीं बंद है, किन्तु तुम्हारे दिल में बंद है। तुम किसी ईश्वरीय नामधारी मत-मजहब के मुहताज नहीं हो। किसी तथाकथित ईश्वरीय मोहर लगे हुए कार्ड से वह नहीं मिलेगा। वह तो तुम्हारे दिल की चीज है। वह तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारा अपना स्वरूप है, उसके लिए सच्चे सद्गुरु के निर्देश की आवश्यकता है। तुम्हें बाहर से लौटकर दिल में झांकने की जरूरत है। यही बात स्वर्ग की है। स्वर्ग का टिकट भी किसी मजहबी मोहर से नहीं मिलता। स्वर्ग भी आकाश में नहीं है। वह भी तुम्हारे दिल के भीतर है। जिसके हृदय में पवित्रता और प्रेम की गंगा बहती है उसके हृदय में स्वर्ग है। इसके अलावा कहीं स्वर्ग नहीं है। यदि हमारे हृदय में राग-द्वेष की गन्दगी है, तो मानो यही नरक है। हमें चाहिए कि हम मन को साफ करें और मानव-मात्र के प्रति प्रेम तथा प्राणिमात्र के प्रति करुणा

का भाव रखें। जिसका दिल शुद्ध है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति करुणा और प्रेम है, वह मानो नित्य स्वर्ग में विद्यमान है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर करतु हैं भाई। कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।" साहेब कहते हैं कि संतो! ये मजहबी तथा संप्रदायी लोग अपने-अपने गलत-सही विचारों को ईश्वर-निर्देश एवं प्रभु-वचन का जामा पहनाकर लोगों पर जोर-जबरदस्ती से लादना चाहते हैं। हमारी किताब प्रभु-वचन एवं खुदाई है, हमारा मजहब ईश्वरीय है तथा हमारे महापुरुष ईश्वर के पुत्र, पैगम्बर या अवतार हैं; ये सारी बातें सत्यज्ञान एवं सत्यधर्म का गला घोंटने के लिए हैं। ये सारी बातें जोर देकर लोगों से मनवायी जाती हैं और उनकी बुद्धि में ताला लगा दिया जाता है जिससे वे स्वतंत्र सोच न सकें और उनके मजहब के पशु बने रहें। मजहब, महापुरुष तथा किताबों पर ईश्वरीय मोहर लगाकर उनमें अतिश्रद्धा करायी जाती है और यह अतिश्रद्धा हिंसा का रूप धारण कर आगे खड़ी होती है। अपनी पोथी, मजहब तथा महापुरुष पर ईश्वर का भूत उतारने वालों ने ही ईश्वर और धर्म के नाम पर इनसान का खून बहाया है। अतएव कबीर साहेब यहां अपने दिल के दर्द के साथ कहते हैं कि "जोर करतु हैं भाई" हे भाई! ये ईश्वर के खतरनाक भक्त अपने तथाकथित ईश्वरीय मजहब के प्रचार के लिए जोर करते हैं। वे कहते हैं कि यदि हमारी किताब को प्रमाण न मानोगे; हमारे अवतार, पैगंबर एवं ईश्वर-पुत्र को अपना उद्धारक न मानोगे और हमारे सम्प्रदाय एवं मजहब को न कबूल करोगे तो तुम नास्तिक हो, अपवित्र हो या काफिर हो, तुम्हारा नरक होगा, तुम दोजख में जाओगे।

इस प्रकार ये जड़मति लोग राम की ओट पकड़कर, ईश्वर की आड़ लेकर जाति, धर्म और अध्यात्म सब में गड्डमड्ड करते हैं। ये मनुष्य की बुद्धि स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहते। ये मानव की एक जाति के टुकड़े-टुकड़े करते हैं। ये धर्म को मानवीय गुण तक रहने न देकर उसे बाह्याचार में उलझा देते हैं। ये ईश्वर को मानव की आत्मा से काटकर अलग कर देते हैं। इसलिए इन्हें मानव की हत्या करने में दर्द नहीं लगता। परन्तु ऐसा काम करके मानव को अंत में पछताना पड़ता है। "कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।"

यहां 'कबिरन' शब्द का प्रयोग उनके लिए है जो मतवाद में उलझे हैं। ग्यारहवीं पंक्ति में सद्गुरु ने अपने नाम की छाप लगा दी है "कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो" कहकर। अतएव अब उसके नीचे बारहवीं पंक्ति में 'कबिरन' नाम देकर पुनः अपने नाम की छाप लगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यहां 'कबिरन' भूले-भटके लोगों के अर्थ में ही है और प्रायः बीजक भर में ऐसी बात है। अभी आप आगे ८६वें शब्द में देखेंगे कि पांच बार 'कबिरा' तथा 'कबीरा' सर्वनाम के अर्थ में कहकर तब सद्गुरु ने छठीं बार में अपने नाम की छाप लगायी है।

धर्म और ईश्वर के ठेकेदारों की सांप्रदायिक भावनाओं, संकीर्णताओं तथा अज्ञान से समाज जिस आग में जल रहा था, उसे देखकर कबीर साहेब का दिल पीड़ित था, इसलिए वे बारम्बार अपनी धारदार वाणियों से उस पर प्रहार करते थे। आज भी कबीर-जैसे

सोचने वालों के दिल पीड़ित हैं। वे चाहते हैं कि मानव-मानव के बीच की सारी दीवारें भहराकर ध्वस्त हो जायं, आदमी चित्तपवित्रता का स्वर्गसुख भोगे और ईश्वर के लिए बाहर न भटककर अपने दिल-दरगाह के नूर में लीन हो।

देह-गेह तुम्हारे नहीं हैं

शब्द–८५

भूला लोग कहैं घर मेरा॥ १ ॥

जा घर में तू भूला डोले, सो घर नाहीं तेरा॥ २ ॥
हाथी घोड़ा बैल बाहना, संग्रह कियो घनेरा॥ ३ ॥
बस्ती मासे दियो खदेरा, जंगल कियो बसेरा॥ ४ ॥
गाँठी बाँधि खर्च नहिं पठयो, बहुरि न कीयो फेरा॥ ५ ॥
बीबी बाहर हरम महल में, बीच मियाँ का डेरा॥ ६ ॥
नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझे, जन्म-जन्म उरझेरा॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, यह पद का करहु निबेरा॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बाहना = वाहन, सवारी। घनेरा = बहुत। बीबी = विवाहिता पत्नी, सद्वृत्ति। बाहर = पांच विषय, जगत। हरम = अंतःपुर, स्त्रियों के रहने का घर, रखेल बनायी हुई बांदी, यहां अर्थ रखेल या वेश्या ही है, कुवृत्ति। मियाँ = जीव। डेरा = पड़ाव, आसन, स्थिति। नौ मन = पांच विषय तथा चतुष्टय अंतःकरण, अथवा पांच विषय, तीन गुण और मन। यह पद = प्रस्तुत शब्द, निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—वे लोग भूले हैं जो कहते हैं कि यह घर मेरा है।।१।। जिस घर के अहंकार में तुम भूले फिर रहे हो वह तुम्हारा नहीं है।।२।। तुमने हाथी, घोड़ा, बैल तथा अनेक सवारियां और माया की बहुत चीजें इकट्ठी कर रखी हैं।।३।। परन्तु ध्यान रखो, एक दिन तुम अपने माने हुए मकान एवं बस्ती में से खदेड़ दिये जाओगे और तुम्हारा निवास जंगल में होगा।।४।। जाते समय तुम्हारे घर वाले तुम्हारी गांठ में बांधकर तुम्हारे लिए कुछ खर्च नहीं भेज सकेंगे और न तुम ही कभी लौटकर कुछ ले जा सकोगे।।५।। तुमने जीवन भर तो वैसे ही अपने आप को छलने का काम किया है जैसे कोई अपनी विवाहिता पत्नी को घर में से निकाल कर बाहर कर दे और बाहर से लाकर रखेल या वेश्या को रख ले और उसी में अपना आसन जमाये। तूने अपने हृदय से सद्वृत्ति को निकाल बाहर किया और अपने हृदय में कुवृत्ति टिकाये रखा तथा उसी में आनन्द माना।।६।। इसका फल यह हुआ कि नौ मन सूत उलझ गया। अर्थात पंच विषयों में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंवृत्ति उलझ गये और ये जन्म-जन्मांतरों से उलझते ही रहे। इसे सुलझाने पर ध्यान कभी नहीं दिया गया।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, अबकी बार इनसे अपनी आत्मा का छुटकारा कर लो।।८।।

व्याख्या—हम एक भूखंड खरीदते हैं। उसका अपने नाम से बैनामा कराते हैं। उस पर हम मिट्टी, ईंटे, सीमेंट, लोहे, लकड़ी आदि से मकान खड़ा करते हैं और कहते हैं

कि यह मकान मेरा है। व्यवहारतः यह सब ठीक है। इस शरीर के निर्वाह के लिए तथा शरीर के साथियों के लिए यह सब करना पड़ता है, करना चाहिए भी। परन्तु जरा इस पर भी ध्यान दो कि अंततः यह सब तुम्हारा नहीं है। जिस भूखंड पर मकान का ढांचा खड़ा है न वह तुम्हारा है और न मकान का ढांचा तुम्हारा है। जिस जमीन का तुमने अपने माने हुए नाम पर बैनामा करवाया है, उस पर आज तक करोड़ों लोगों का कब्जा हो चुका है और उनसे छूट चुका है । जमीन बैनामा कराने वाले कुछ दिनों में उसी जमीन में दफना दिये जाते हैं। जमीन का बैनामा कराते तथा जमीन पर कब्जा करते समय मानो जमीन हंसती है कि बेवकूफो, तुम मेरा बैनामा क्या कराओगे, मैं तुम्हारा बैनामा करा लूंगी। जमीन के करोड़ों मालिक बनकर आये और इसी जमीन में समा गये।

ध्यान रहे, जिस मकान को तुम अपना मानते हो उसमें हजारों चींटियां, कीड़े, मच्छर, छिपकिलियां तथा अन्य जानवर रहते हैं, जो उस पर अपना जन्मजात अधिकार मानते हैं। तुमने तो केवल मकान बनवाया है, परन्तु वे तो उस मकान में पैदा हुए हैं। जो तुम्हारे घर में पैदा होता है वह तुम्हारे घर का हकदार हो जाता है, फिर वे कीड़े-मकोड़े जो उसी घर में पैदा हुए हैं उस घर के हकदार क्यों नहीं ! अतएव जिसे तुम अपना घर मानते हो उसे हजारों-लाखों जीव-जन्तु अपना घर मानते हैं और सब थोड़े दिनों में उसी घर या जमीन में लीन हो जाते हैं।

ध्यान रखो, घर केवल कुछ दिन रहने की धर्मशाला है। घर बनाकर अहंकार नहीं करना, उसे अपना नहीं मानना। तुम्हें पता है कि दादा-बाबा अपने घर छोड़-छोड़कर चले गये हैं। तुम कब तक इस घर में रहने वाले हो! "इस घर की यह रीति है, एक आवे एक जाय।" अतएव जो एकदम बदहवास है, वही कहता है कि यह घर मेरा है। जो सत्य को समझता है वह कभी नहीं मान सकता कि यह घर मेरा है। व्यवहार के लिए पूछने पर उसे भले कहना पड़े कि यह मेरा घर है, परन्तु वह अपने हृदय से उसे कभी अपना नहीं मान सकता। जो जाग रहा है वह इस संसार के एक तृण को भी अपना नहीं मान सकता। वो तो जो भूले हैं, नशा खाये हैं, वे मानते हैं कि यह घर मेरा है, यह परिवार मेरा है।

आदमी अपने जीवन में हाथी, घोड़े, बैल, सवारी बहुत इकट्ठा करता है। कबीर साहेब आज होते तो उन्हें सायकल, स्कूटर, मोपेड, कार, जीप, ट्रक आदि के भी नाम लेने पड़ते; परन्तु वे सवारी कहकर मानो इन सबके लिए गुंजाइश कर दिये हैं। हम अपनी क्षमता के अनुसार माया की बहुत वस्तुएं इकट्ठी कर लेते हैं। उनसे केवल देहगुजर लें इतना ही नहीं रहता, किन्तु हम उनमें राग-भोग की दृष्टि रखते हैं, उनके अहंकार में इतराते घूमते हैं। हम अपने घर में कुछ लोहा-लक्कड़ आदि कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा कर लेते हैं और उसके नशे में चूर रहते हैं। हम चार लोगों के साथ बैठते हैं तब उसी के गीत गाते हैं, हमारे यह है, हमारे वह है।

कबीर साहेब कहते हैं कि भोले, तू इस मकान में से चार दिनों में खदेड़ दिया जायेगा और तेरा निवास तो जंगल में होगा। तू समझ कि यह मकान तेरा क्षणिक निवास है, स्थायी निवास तो जंगल है। एक पेड़ के नीचे एक महात्मा बैठे थे। उधर से एक

बना-ठना बाबू घोड़े पर बैठा आ गया। उसने साधु से पूछा 'बस्ती किधर है?' महात्मा ने उसे श्मशान की तरफ इशारा कर दिया। वह श्मशान में पहुंचकर बहुत हैरान हुआ। लौटकर पुनः साधु के पास पहुंचा और उन्हें भला-बुरा कहा। महात्मा ने कहा वही असली बस्ती है। जिसे लोग बस्ती कहते हैं, मैं उसे श्मशान कहता हूं और जिसे लोग श्मशान कहते हैं, मैं उसे बस्ती कहता हूं। जहां लोग मरते हों उसे श्मशान कहना चाहिए तथा जहां लोग एक बार बसकर कभी न उजड़ें उसे बस्ती कहना चाहिए। जिसे तुम लोग बस्ती कहते हो वहीं तो लोग मरते हैं। जिसे तुम लोग श्मशान कहते हो क्या वहां आज तक कोई मरा है? वहां तो लोग आकर बसते हैं, और जो वहां एक बार बस गया, फिर वहां से कभी नहीं उजड़ता। इसलिए लोगों की दृष्टि में जो बस्ती है, वह मेरी दृष्टि में श्मशान है और जो लोगों की दृष्टि में श्मशान है वह मेरी दृष्टि में बस्ती है। वह घोड़ा-सवार बाबू संत की बातों से दंग रह गया। उसने पहले उस साधु को बेवकूफ समझ लिया था, परन्तु अब वह उसके सामने स्वयं बेवकूफ बन गया। मोहलिप्त संसार कहता है कि इन महात्माओं की खोपड़ी उलटी होती है। 'राजा योगी अगिन जल इनकी उलटी रीति' यह उदाहरण देता है। परन्तु साधु की खोपड़ी सीधी होती है, क्योंकि वे मोह से परे हैं। उलटी खोपड़ी तो मोहग्रस्त लोगों की होती है। वे जो अपना नहीं है उसे अपना माने बैठे रहते हैं।

ध्यान रहे, चाहे तुम जितना माया का संग्रह कर लो, सब कुछ यहीं छोड़कर अकेला जाना पड़ेगा। एक दिन तुम इस घर से निकाले जाओगे। एक रियासतदार की मौत जब करीब आयी, वे अपने महल से निकालकर अयोध्या ले जाये जाने लगे कि मौत वहीं हो तो अच्छा है। जब वे अपने माने हुए विशाल तथा भव्य भवन से निकालकर कार में लिटाये गये, तब एक बार भवन की तरफ देखकर कहे "अब 'चन्द्रभवन' सदा के लिए छूट रहा है।" उन्होंने उस भवन को स्वयं बनवाया था और उसका नाम रखा था 'चन्द्रभवन'। उनकी ही नहीं, सबकी यही दशा है। चाहे झोपड़ी हो या भवन, सबका निवास उसके लिए चन्द्रभवन है और वह सबका छूटता है।

जब आदमी मर जाता है, तब उसे लोग श्मशान में ले जाकर जला या गाड़ देते हैं या पानी में फेंक देते हैं। पारसी लोग लाश को सूनसान में छोड़ देते हैं, और उसे पशु-पक्षी खा लेते हैं। मरे हुए आदमी के लिए घर वाले गांठी बांधकर कुछ भेज नहीं पाते। भेजने का कोई साधन नहीं है। उसके पास कोई बीमा, पार्सल या मनीआर्डर नहीं जा सकता। यह भी संभव नहीं कि गया हुआ आदमी पुनः लौटकर अपने माने हुए घर से कुछ ले जा सके। अतएव जो आदमी अपने जीवन में सत्कर्म नहीं कर लेता, वह धोखा खाता है। जीवन में सत्कर्म करने वाला मानो अपनी गांठ में बांधकर अपने साथ ले जाता है। जो सत्कर्म नहीं करता, वह अपना यह जीवन तथा अगला जीवन भी दुखों से भरता है।

मानो एक मियां जी हों। उन्होंने अपनी समझदार तथा श्रद्धालु विवाहिता पत्नी को घर से निकालकर बाहर कर दिया हो और वेश्या को लाकर अपने घर में टिका लिया हो और वे चाहें कि मुझे सुख मिले तो यह उनकी नासमझी है। भूला जीव ऐसा ही करता

है। वह अपने हृदय से शील, क्षमा, विचार, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सद्वृत्तियों को निकालकर बाहर कर देता है और राग-द्वेष, विषय-वासना, तृष्णा, अविवेक आदि लाकर बसा लेता है। इस जीव-मियां ने सद्गुणों का तिरस्कारकर दुर्गुणों में ही अपना डेरा जमा रखा है। जो व्यक्ति दुर्मति एवं दुर्गुणों में जीता है, उसे कहां चैन मिल सकता है! धन तो लोगों के पास कम-बेश होता है। पेट-परदा सबका चलता है। जीवन में सच्चा सुख वही पाता है जिसके मन में अच्छे विचार हैं और जीवन में सद्गुण तथा सदाचार हैं। इनके बिना करोड़पति नहीं, विश्वपति भी हो तो दुखों में पड़ा बिलबिलाता रहेगा। सुख का स्रोत बाहर नहीं है, किन्तु भीतर है। चित्त की स्वच्छता सुख का स्रोत है। इसके बिना सुख कहीं नहीं है।

थोड़ा-सा सूत उलझ जाय तो उसे सुलझाने में बड़ा परिश्रम लगता है, परन्तु यदि नौ मन सूत उलझ जाय तो क्या दशा होगी? ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार उलझ गये हैं। मन पांचों विषयों का निरंतर स्मरण करता है, चित्त उन्हीं का अनुसंधान करता है, बुद्धि उन्हीं में सुख निश्चय करती है तथा अहंकार उन्हीं में जमकर क्रिया करता है। जीव अपने चतुष्टय अंतःकरण से पांचों विषयों में निरन्तर डूबा रहता है, यही नौ मन सूत का उलझना है। इसको थोड़ा दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पांचों विषयों तथा रज, सत, तम इन तीनों गुणों में मन का उलझे रहना मानो नौ मन सूत का उलझ जाना है। दोनों तरीकों से अभिप्राय एक है मन का विषयों में उलझ जाना। कबीर साहेब अपनी सारी बातें प्रायः रूपकों एवं अलंकारों में कहते हैं। यहां भी उन्होंने नौ मन उलझे हुए सूत की प्रतीकात्मक भाषा में मन का विषयों और तीनों गुणों में उलझने की बात बतायी है। हमारा मन पांचों विषयों तथा तीनों गुणों में क्यों उलझा है? क्योंकि हमने अपनी सद्वृत्ति को बाहर कर दिया है और दुर्वृत्ति को भीतर लाकर टिका लिया है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा मन पांचों विषयों तथा तीनों गुणों में उलझ गया है और जन्म-जन्म से उलझता आ रहा है। तुम इसे आज भी नहीं सुलझाना चाहते हो तो यह कब सुलझेगा! यह समझ लो कि मन का पूर्णतया सुलझाव ही जीवन की परम उपलब्धि एवं सर्वोच्च स्थिति है।

इसलिए सद्गुरु अंतिम पंक्ति में कहते हैं कि इस पद का निबेरा करो। यहां पद में 'श्लेष' है। पद का अर्थ यह शब्द है तथा पद का अर्थ आत्मस्वरूप है। हम इस शब्द में आये हुए विचारों को समझें और उन्हें समझकर अपनी आत्मा को सबसे छुड़ावें। निबेरा या निबेड़ा के अर्थ हैं—छुटकारा, त्राण, बचाव, एक में मिली वस्तुओं के पृथक होने या किये जाने का काम या भाव, सुलझाव, निबटारा, निर्णय, दूरीकरण, हटाव, पूर्ति, पूरा करना।[1] हमारा मन संसार के विषयों में फंसा है। राग या द्वेष में पड़े रहना मन का फंसना है। इसी से सारे भय, चिन्ता, शोक-मोह एवं उपद्रव हैं।

हमें यह सोचना चाहिए कि हम अपने मन को संसार में उलझाकर क्या पाते हैं। हम जिनके प्रलोभन में पड़कर अपने मन को संसार में उलझाते हैं, वे सब एक दिन छूट जाते

१. निबेड़ा—बृहत् हिन्दी कोश।

हैं, किन्तु हमारा मन उलझकर जीवनभर अशांत रहता है और जन्मांतर में भी दुखों का कारण बनता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि "यह पद का करो निबेरा" अपने चेतनस्वरूप को सबसे अलग समझकर मन को सारे विषयों तथा सांसारिक चीजों से हटा लो। देह, गेह, परिवार, प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा सब नाशवान एवं छूटने वाले हैं। इनकी अहंता-ममता छोड़ो। ये सब तुम्हारे नहीं हैं। तुम्हारा केवल तुम्हारी आत्मा है। आत्माराम बनो।

तुम्हारा प्राप्तव्य तुम्हारी हृदय-गुहा में ही विद्यमान है

शब्द–८६

कबिरा तेरो घर कन्दला में, यह जग रहत भुलाना ॥ १ ॥
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना ॥ २ ॥
सकल ब्रह्म मों हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा ॥ ३ ॥
मन्मथ कर्म धरे सब देही, नाद-बिन्द बिस्तारा ॥ ४ ॥
सकल कबीरा बोले बानी, पानी में घर छाया ॥ ५ ॥
अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया ॥ ६ ॥
कामिनी रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिन्दा होई ॥ ७ ॥
बड़-बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई ॥ ८ ॥
ब्रह्मा बरुण कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा ॥ ९ ॥
हरणाकुश नख बोद्र बिदारा, तिन्ह को काल न राखा ॥१०॥
गोरख ऐसो दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदेव दासा ॥११॥
तिनकी खबर कहत नहिं कोई, उन्ह कहाँ कियो है बासा ॥१२॥
चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा ॥१३॥
दम-दम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा ॥१४॥
चारि दृग महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच डिल्ली ॥१५॥
तेहि ऊपर कछु अजब तमाशा, मारो है यम किल्ली ॥१६॥
सकल अवतार जाके महि मंडल, अनन्त खड़ा कर जोरे ॥१७॥
अद्‌बुद अगम औगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे ॥१८॥
सकल कबीरा बोले बीरा, अजहूँ हो हुशियारा ॥१९॥
कहहिं कबीर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहिं पुकारा ॥२०॥

शब्दार्थ—कबिरा = मनुष्य जीव। घर = निवास। कन्दला = कंदरा, गुफा। अमहल = बेघर वाले साधु-संन्यासी। महल = घर वाले गृहस्थ। मों = में। कबीरा = जीव। मन्मथ = काम, काम-वासना। नाद = शब्द, प्राण। बिन्द = वीर्य। सकल कबीरा = सब जीव। घट = हृदय। कामिनी रूपी मृगा चरिन्दा = कामिनी रूपी चरने वाला पशु, तात्पर्य में काम-पशु।

पुरन्दर = इन्द्र। दत्त = दत्तात्रेय। चौपर = चौसर। पासा = चौसर के खेल में फेंका जाने वाला वह चौपहला लंबोतर हड्डी या लकड़ी का बड़ा टुकड़ा जिस पर बिंदिया बनी होती हैं। दम-दम = क्षण-क्षण। चारि दृग = चार दिशाएं—नाभि, हृदय, कंठ तथा त्रिकुटी। महि मण्डल = पृथ्वी मंडल, शरीर। रूम = तुर्की, पश्चिम, तात्पर्य में पीठ। शाम = श्याम, थाइलैण्ड, पूर्व, तात्पर्य में छाती। दिल्ली = भारत की राजधानी, तात्पर्य में हृदय। यम = वासना। किल्ली = अज्ञान का खूंटा, सिटकिनी, कुंजी। महिमण्डल = पृथ्वी पर। अगम = अपार। औगाह = अवगाह, अथाह। बीरा = मन पर विजयी संतजन। सिकली = सान चढ़ाने या मांजने की क्रिया।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरा वास्तविक स्वरूप चेतन तो हृदय-गुहा में विद्यमान है। तू उसे न समझकर इस बाहरी जगत में भूला रहता है ॥१॥ कोई गुरु के उपदेशों का पालन नहीं करता है। साधु हो या गृहस्थ सब अपने आत्मस्वरूप को न समझकर बाहरी कल्पनाओं में उन्मत्त हैं॥२॥ सभी जीव मानो मूलतः ब्रह्म एवं शुद्धरूप ही हैं। परन्तु उनमें देहोपाधि से विवेक या अविवेक के कारण कोई हंस है और कोई काक है। जो हंस है वह नीर-क्षीर विवेक करता है और जो काक है वह सब कुछ खाने के लिए अपना मुख फैलाता है॥३॥ सब जीव सकाम कर्म करके नाना देहें धारण करते हैं और नाद-बिन्द से अपनी सृष्टि का विस्तार करते हैं॥४॥ वैसे सब मनुष्य ज्ञान की बातें करते हैं, परन्तु अपने घर छाते हैं पानी में। अर्थात ज्ञान की बातें करते हुए अपने आचरण जगत में डूबने वाले रखते हैं॥५॥ इसलिए हृदय के भीतर रहे हुए अनन्त आत्मिक धन की लूट हो रही है और जीव अपने घट भीतर का हाल नहीं जान पा रहा है॥६॥ कामनारूपी पशु सब के हृदय-खेत को चर रहा है॥७॥ बड़े-बड़े शास्त्रज्ञानी और श्रेष्ठ मुनि लोग भी थक गये, परन्तु इस कामना-पशु को नहीं पकड़ पाये कि इसे वश में कर लें॥८॥ ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा, प्रहलाद और प्रहलाद को बचाकर अपने नखों से हिरण्यकश्यपु के पेट को फाड़कर उसे मारने वाले नृसिंह इन किसी को भी काल ने नहीं रहने दिया॥९-१०॥ और इतना ही क्या, गोरख ऐसे महायोगी, दत्तात्रेय दिगम्बर, नामदेव तथा जयदेव भक्त, इनका कोई संदेश नहीं बतलाता है कि इन सबने अपने निवास कहां बनाये ॥११-१२॥ सबके हृदय में मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार का चौसर-खेल हो रहा है और बारम्बार नाना योनियों में भटकने के पासे पड़ रहे हैं, अथवा इस खेल में जीव अपने जीवन को दावं पर लगाकर उसे हार रहा है॥१३॥ क्षण-क्षण हृदय में क्या चक्कर चल रहा है, इसका कोई पता नहीं लगाना चाहता और बिना इस बात को समझ लिये कोई अपना भवबंधनों से छुटकारा भी नहीं कर सकता॥१४॥ इस शरीररूपी पृथ्वी मण्डल पर नाभि, हृदय, कंठ तथा त्रिकुटीरूपी मानो चार दिशाएं बनायी गयीं हैं, और जैसे रूम और श्याम के बीच में दिल्ली नगर पड़ता है, वैसे पीठ और छाती के बीच में हृदय-नगर पड़ता है जहां चेतन-सम्राट की गद्दी है॥१५॥ परन्तु उसके ऊपर कुछ अजब तमाशा हो गया, वह यह कि वासनारूपी यमराज ने वहां अज्ञान का खूंटा ठोंक दिया॥१६॥ पृथ्वीमंडल पर जिसके देहधारणरूपी सारे अवतार हैं और अनन्त प्रकृति मानो जिसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी है, और जिसने अद्भुत, अपार और अथाह ज्ञान-विज्ञान का सागर रच

डाला है, हे मानव! यह सब तेरी विभूति है, तेरी शोभा है।।१७-१८।। हे कल्याणार्थियो! मन पर विजयी वीर संतजन सभी मनुष्यों को हित का रास्ता बताते हैं, तुम उनसे निर्देश लेकर आज भी सावधान हो जाओ तो तुम्हारा बेड़ा पार हो जायेगा।।१९।। कबीर साहेब कहते हैं कि गुरुजन रूपी सिकलीगर तुम्हारे हृदय को मांजकर उसे दर्पण के समान स्वच्छ करने के लिए तुम्हें हरदम पुकार रहे हैं, तुम उनकी तरफ ध्यान दो।।२०।।

व्याख्या—"कबिरा तेरो घर कन्दला में, यह जग रहत भुलाना।" इस शब्द में एक बार कबिरा तथा चार बार कबीरा कहकर जीव-समूह, विशेषतः मानव-समूह को इंगित किया गया है और छठीं बार में कबीर साहेब ने अपने नाम की छाप लगाते हुए 'कहहिं कबीर' कहा है। वे पहली पंक्ति में कहते हैं कि हे कबिरा, हे मानव, तेरा घर तो कंदरा में है। हृदय-गुहा में तेरी चेतना निवास करती है। तू अपनी आत्मा को अपनी हृदय-गुहा में खोज, बाहर क्या भटक रहा है! यह कथन भी भ्रम उत्पन्न कर सकता है। वस्तुतः वह हृदय निवासी तो तू ही है। तेरी अपनी स्मृति अपनी तरफ घूम जाना ही अपनी खोज करना है। तू तो अपने आपको न पहचानकर इस जगत की चमक-दमक एवं तड़क-भड़क में भूल रहा है। यम नचिकेता से कठ उपनिषद् में कहते हैं—"जो स्वरूप में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और गुणों में महान से भी महान है वह आत्मा सभी प्राणधारियों की हृदय-गुहा में विद्यमान है। उसे ठीक से वही समझता है जो कर्मजाल से छूटा हुआ और शोक से पार है। वह अपने मन की स्वच्छता से अपनी आत्मा में ही महिमावान है।"[१] जो अपने हृदय-मन्दिर के आत्मदेव को जान लेता है, वह संसार में नहीं भटकता।

"गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना।" सच्चे सद्गुरु जो बताते हैं कि तू अपनी आत्मा को पहचान, इस आदेश का पालन कोई नहीं करना चाहता। मनुष्य अपने अविनाशी स्वरूप को न पहचानकर ही दीवाना बना भटक रहा है। अमहल और महल, अर्थात बे-घर तथा घर वाले सब बाहर से परमात्मा, मोक्ष एवं निर्वाण पाने के लिए पागल हैं। बे-घर साधु-संन्यासी हैं तथा घर वाले गृहस्थ हैं। जैसे गृहस्थ भटक रहे हैं, वैसे साधु-संन्यासी भी भटक रहे हैं। बाहर से मोक्ष और परमात्मा पाने का पागलपन गृहस्थ-विरक्त सबको भटका रहा है।

"सकल ब्रह्म मों हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा।" सकल कबीरा मानो ब्रह्म हैं। अर्थात सब जीव स्वरूपतः शुद्ध-बुद्ध हैं। जीव का मौलिक स्वरूप ही ब्रह्म है, महान है, निर्मल है। परन्तु देहोपाधि से उनमें कोई हंस है तथा कोई कौआ है। सभी जीव का मौलिक स्वरूप शुद्ध है, परन्तु देहधारी होने के नाते वे जैसे अपने मनोभाव एवं आचरण रखेंगे वैसे उनके हंस या काकरूप सामने आयेंगे। जो जड़-चेतन का विवेक करेगा, खाद्याखाद्य, ग्राह्य-त्याज्य, राग-विराग, बंध-मोक्ष, दुर्गुण-सद्गुण का अलग-अलग विचारकर नीर त्यागकर क्षीर ग्रहण करेगा वह हंस है, विवेकी है। जिसका आहार शुद्ध है, जो राग-द्वेष और दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुण में रमता है, जो जड़ासक्ति छोड़कर निजस्वरूप चेतन

---

१. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।। (*कठ उपनिषद् १/२/२०*)

में स्थित है वह हंस है। परन्तु जो व्यक्ति काक-बुद्धि का है, वह तो सब कुछ खाने के लिए अपनी चोंच फैलाता है। उसके लिए न कुछ विधि है और न निषेध है। उसे न जड़-चेतन का भिन्न विवेक है और न वह विषयों को छोड़कर अविनाशी पद समझता है। उसके लिए सब धान साढ़े बाइस पसेरी है। उसे विवेक-विचार एवं सदाचार से क्या लेना-देना!

"मन्मथ कर्म धरे सब देही, नाद-बिन्द बिस्तारा।" मन्मथ कहते हैं काम को और देही का अर्थ है देहधारी जीव, जो देह को धारण करता है, परन्तु कविता में देही का अर्थ देह भी होता है। एक में अर्थ होगा सब देहधारी जीव सकाम कर्म धारण करते हैं और दूसरे में अर्थ होगा कि सकाम कर्म से सब जीव देह धारण करते हैं। अतएव मूल भाव में अन्तर नहीं है। जीव सकाम कर्मवश ही देह धारणकर भटक रहे हैं, या यों कहिए कि मनुष्य सकाम-कर्मवश ही नाना लालसाओं के कारण संसार में भटक रहे हैं। "नाद-बिन्द बिस्तारा" नाद-बिन्द का सरल अर्थ है प्राण और वीर्य। जीव इन्हीं उपादानों से शरीर धारण करता है। जीव निमित्त कारण है, सकाम कर्म साधारण कारण है तथा प्राण-वीर्य उपादान कारण हैं। इन्हीं सबसे शरीर-रचना का विस्तार होता है। "नाद-बिन्द बिस्तारा" को एक ढंग से ऐसा भी समझा जा सकता है कि नाद का अर्थ शब्द है। शब्दों-द्वारा उपदेश करके धार्मिक क्षेत्रों में शिष्यों का विस्तार होता है तथा बिन्द वीर्य है उससे गृहस्थी में बाल-बच्चों को पैदा करके उसका विस्तार होता है। वैसे पहले वाला अर्थ ही यहां अधिक उपयुक्त है।

"सकल कबीरा बोले बानी, पानी में घर छाया।" सभी जीव ज्ञान की बातें बोलते हैं, परन्तु अपने घर छाते हैं पानी में। "पानी में घर छाया" बहुत बड़ा व्यंग्य है। हम ज्ञान की बातें तो करते हैं, परन्तु अपने जीवन के आचरण ऐसा करते हैं जिससे अपना पतन हो। कोई अपना मकान पानी में बनायेगा तो वह कब तक टिकेगा! जिसके पेंदा में छेद-ही-छेद है वह डूबेगा ही। ज्ञान की बातें कहना मात्र पर्याप्त नहीं है, किन्तु उनके अनुसार आचरण करने की महती आवश्यकता है।

"अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया।" सबके भीतर रहने वाली उसकी अनन्त एवं अविनाशी आत्मा है, वह काम, क्रोधादि डाकुओं द्वारा लूटी जा रही है। यहां अनन्त में श्लेष है। हम यहां के 'अनन्त' शब्द को जीव का स्वरूपवाची भी मान सकते हैं तथा लूट का विशेषण भी। दोनों भावों में मुख्य अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। एक में अर्थ होगा कि हमारी अनन्त आत्मा लूटी जा रही है और दूसरे में अर्थ होगा कि हमारी आत्मा की अनंत लूट हो रही है। अर्थात वह हर तरह से लूटी जा रही है। यह जो क्षण-क्षण काम, मोह, देहाभिमान, द्वेष, क्रोध, लोभ, चिन्ता, शोक आदि हमारी अन्तरात्मा को मलिन करते रहते हैं यह मानो हमारी अनन्त आत्मा की लूट हो रही है। अथवा हमारी आत्मा अनन्त प्रकार से लूटी जा रही है। परन्तु "घट का मर्म न पाया" हम अपने घट का मर्म नहीं जान पाते। हमें हृदय में होने वाली क्षण-क्षण की लूट के रहस्य का पता नहीं लगता। इतनी हमारी असावधानी है। हम जिस घर में रहते हों उसी घर में क्षण-क्षण लुटेरे घुस-घुसकर हमारे माल-टाल की लूट मचा रहे हों और हमें इसका पता ही न लगे

तो इससे अधिक हमारी अचेती क्या होगी! हमारे हृदय-मंदिर में जो कामादि डाकू हमारे ज्ञान तथा शांति-धन को लूटते हैं हम उससे जीवनभर अनभिज्ञ बने रहते हैं। इससे अधिक दुख की बात क्या होगी! इसलिए साधक को चाहिए कि वह सब समय अपने हृदय को देखे। जो अपने मन का सब समय साक्षी बना रहता है, वही सच्चा साधक है। जो हृदय-घर की सदैव निगरानी रखता है, उसके दिल में चोरी नहीं होगी। सतत सावधानी ही साधना है। जो हर समय अपने मन को देखता है, उसका मन चालबाजी नहीं कर पाता। इसलिए साधक को चाहिए कि वह आवश्यक काम करते हुए सब समय साक्षी-भाव से रहे। मन को देखता रहे कि वह क्या कर रहा है। जो सावधान होकर सदैव मन को देखता रहेगा उसका हृदय स्वच्छ रहेगा।

"कामिनी रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिन्दा होई।" सकल कबीरा अर्थात सभी मनुष्य जीवों को कामिनी रूपी मृगा चर रहा है। कामिनी का अर्थ है काम-वासना। यह एक ऐसा पशु है जो चरिन्दा है, चरता है। मनुष्यों के हृदयरूपी खेत के ज्ञान और शांति-फसल को कामवासना रूपी पशु निरन्तर चर रहा है। यदि खेत की फसल को पशु बराबर चरते रहें, तो फसल होना असंभव है। इसी प्रकार जिसके हृदय में काम-वासनाएं बराबर बनी रहती हैं उसके हृदय में कहां ज्ञान की स्थिति होगी और कहां शांति होगी!

"बड़-बड़ ज्ञानी मुनविर थाके, पकरि सके नहिं कोई।" शास्त्रों के बड़े-बड़े ज्ञानी तथा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इस पशु को पकड़ने का प्रयत्न किये कि इसे पकड़कर बांध दें जिससे फसल की रक्षा हो, परन्तु कोई पकड़ न सका। लोग इस कामना-पशु के पीछे दौड़ते-दौड़ते स्वयं थककर गिर पड़ते हैं, परन्तु इसे पकड़ नहीं पाते। इस कामना-पशु का एक रूप नहीं है। इसके अनेक रूप हैं। यह अपनी शक्ल बदलने में माहिर है। काम-वासना का मतलब केवल स्त्री-पुरुष के अंग-मिलन की चाह ही नहीं है। यह तो है ही। यह तो बहुत मलिन है। परन्तु इसके अलावा बाहर से कुछ भी पाने की कामना, कामना ही है। अपने चेतन को छोड़कर, अपनी आत्मा से हटकर हम जो कुछ पाने की कामना करते हैं, वह मानो मन का भटकाव है। यदि हम किसी विषय से सुख पाना चाहते हैं, तो कामना है, बाहर से ईश्वर या मोक्ष पाना चाहते हैं तो कामना है। हम स्थूल विषयों की मलिनता से अपने आप को मुक्त भी कर लेते हैं, परंतु इसके बाद यदि बाहर से ईश्वर या मोक्ष पाना चाहते हैं, तो मानो कामना-रूपी पशु के द्वारा हमारा हृदय-खेत चरा जा रहा है। इसीलिए साहेब कहते हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी और मुनि भी थक गये, परन्तु कामना-पशु को पकड़ नहीं सके। उसे पहचानकर उससे मुक्त नहीं हो सके। ज्ञानी और मुनिजन समझते हैं कि हमने विषयों का त्याग कर दिया, अब केवल परमात्मा के दर्शन की भूख रह गयी है। अब तो हम कामनाओं से मुक्त हैं। परन्तु हमें समझना चाहिए कि यदि परमात्मा अपनी आत्मा से अलग है और उसके दर्शन होतें हैं तो वह भी विषय है। निज चेतनस्वरूप के बाद सब विषय है। इस प्रकार कामना-पशु का बड़ा सूक्ष्म रूप है। इसे पकड़ पाना, इसे वश में कर पाना बड़ी परख की बात है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—

ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इंद्र, पीपा, प्रहलाद, नृसिंह, गोरख, दत्तात्रेय दिगंबर, नामदेव, जयदेव या इसी लाइन में और भी जितने नाम गिना लें, यदि ये सब अपनी स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के अलावा भी ऋद्धि-सिद्धि, ईश्वर-मोक्ष आदि कुछ चाहते रहे तो ये मानो कामना-पशु के पीछे दौड़ते रहे।

यहां जो ब्रह्मादि कई नाम गिनाये गये हैं और इन्हें काल के अधीन बताया गया है और यह कहा गया है कि "तिनकी खबर कहत नहिं कोई, उन्ह कहँ कियो है बासा।" इसमें दो अर्थ हैं। पहला तो यह है कि इनमें से किसी के प्रति जो देवता एवं अतिमानव होने की कल्पना है उसका खंडन है। कबीर साहेब मानव के अलावा कोई देवता नहीं मानते, और यही तथ्य है। यह देववाद तथा अतिमानव की कल्पना ही सारी भ्रांतियों की जड़ है। साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा हों या वरुण, कुबेर हों या इंद्र और चाहे हिरण्यकश्यपु के पेट को अपने नख से फाड़ने वाले नृसिंह ही क्यों न हों, यदि ये सब देहधारी थे, तो मानव से बढ़कर वे कुछ नहीं थे। इनकी भी एक दिन मौत हो गयी होगी, अन्यथा ये आज दिखाई देते। गोरखनाथ जी को लोग अमर कहते हैं। साहेब कहते हैं यह भी गलत है। जो एक दिन देह धारण करता है, वह एक दिन अवश्य मरता है। यह समस्त देहधारियों के लिए प्रकृति का अकाट्य नियम है। इसके अलावा ये ब्रह्मादि तथा पीपा, प्रहलाद, दत्त, दिगंबर, नामदेव, जयदेव आदि यदि अपनी आत्मा से अलग किसी ईश्वर-परमात्मा को पाने की कामना अपने मन में बनाये रखे रहे हों तो ये कामना-पशु के द्वारा मानो चरे जा चुके हैं। इसका पता कौन बताये कि ये किस ईश्वर के पास किस लोक में जाकर निवास पाये! लोग कहते हैं कि प्रहलाद बैकुंठधाम को चले गये तथा अन्य भक्त लोगों में से कोई ब्रह्मलोक, कोई गोलोक, कोई शिवलोक आदि में चले गये। साहेब कहते हैं कि यह खबर तुम्हें कैसे मिली? यह सब कामना-पशु का राज्य है। ज्ञानी के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह जीवनकाल में ही चेतनस्वरूप में स्थित हो गया, वह अपने आत्माराम में लीन हो गया, और जो आज सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ है, वह मानो सदैव के लिए स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ है, क्योंकि उसकी कामनाएं सर्वथा मिट गयी हैं। जब कोई कामना नहीं हो तो कहीं आना-जाना नहीं। इसके अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।

"चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा। दम-दम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा।" सब के हृदय में चौपड़ का खेल हो रहा है। लोग कपड़ा बिछा लेते हैं। उस पर गोट या पासा फेंककर खेल खेलते हैं। खेल में जीतते हैं या हारते हैं। हड्डी या लकड़ी का एक लंबा तथा चौपहला टुकड़ा होता है। जिस पर बिंदियां बनी रहती हैं। उसे पासा कहते हैं। उसे फेंक-फेंककर चौपर एवं चौसर खेलते हैं। इसमें रुपये-पैसे या अन्य प्रकार के धन दावं पर लगाते हैं। यही जुआ कहलाता है। इसी जुआखेलाई में तो कौरवों तथा पांडवों का विध्वंस हुआ था। इस चौसर एवं जुआ में हारने तथा जीतने वाले दोनों मानो अपने जीवन को हारते हैं।

साहेब कहते हैं कि सबके घट के भीतर, सबके दिल में एवं हृदय में चौपड़ खेल हो रहा है और यह खेल अनवरत होता है। इस चौसर में हृदय मानो बिसात अर्थात फैलायी

हुई चद्दर है; मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार का चौपहला पासा है। इस पासे को फेंक-फेंककर मनुष्य अपने पूरे जन्म को एवं जीवन को दावं पर लगा देता है। मनुष्य अपना पूरा जीवन मन के खेल में लगा देता है। वह क्षण-क्षण मन से विषयों का स्मरण करता है, चित्त से उनका अनुसंधान करता है, बुद्धि से उन्हीं में सुख निश्चय करता है तथा अहंकार से उन्हीं की करतूति करता है। वस्तुतः एक ही अंतःकरण विषयों का सरल चिन्तन करता है तब मन की अवस्था है, जब विषयों की गहराई में उतरता है तब चित्त की अवस्था है, जब उनमें सुख निश्चय करता है तब बुद्धि की अवस्था है और जब उनके भोगों में प्रवृत्त होता है तब अहंकार की अवस्था है। इस प्रकार मनुष्य के घट-भीतर यह चौसर, यह जुआ, यह पासे का फेंकना चला करता है, और आदमी अपने जीवन को, अपने सर्वस्व को उसके साथ हारता रहता है। मन के बहकाव में चला जाना ही मानो अपने जीवन को, अपने सर्वस्व को हार जाना है। "जन्म का पासा डारा" का यही अर्थ है कि मनुष्य ऐसा पासा फेंकता है जिसमें अपने जीवन को हार जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीव नाना योनियों में भटकने के लिए ही मानो यह पासा फेंकता है। यदि जीव विषयों के चिन्तन ही में रहेगा तो योनियों में भटकता ही रहेगा।

"दम-दम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा।" दिल के भीतर क्षण-क्षण क्या घटना घट रही है इसका किसी को पता नहीं है। आदमी हर समय अपने दिल को लेकर ही जीता है, परन्तु दिल में क्या-क्या हो रहा है इसकी खबर उसे नहीं है। जब तक घर के भीतर का झगड़ा न जाना जाय तब तक उसका निपटारा भी कैसे किया जा सकता है! जो लोग रात-दिन मन की धारा में बहते हैं उनकी तो बात ही छोड़िये, जो मन को देखने का प्रयास करते हैं, वे भी समय-समय से मन को देखते-देखते उसमें इस ढंग से बह जाते हैं कि उनको पता भी नहीं लगता कि हम कब बह गये और कहां गये। मन की वासनाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। जो सतत सावधान रहता है वही इससे बचता है। वस्तुतः मन की धारा से उबरने के लिए वैराग्य और अभ्यास दोनों चाहिए। संसार-शरीर की नश्वरता और दुखरूपता का सदैव भान रहना वैराग्य है और मन का साक्षी बनकर उसे शांत करते रहना अभ्यास है। इसमें वैराग्य प्रबल साधन है। मन में तीव्र वैराग्य आने से हृदय की हलचल अपने आप शांत हो जाती है। साधक को चाहिए कि वह सदैव विषयों के प्रति अनासक्ति रूपी वैराग्य तथा मन का साक्षी-भावरूप अभ्यास को जाग्रत रखे।

साधक वही है जो अपने दिल को सदैव देखता है। विशाल देव ने कहा है "जो सद्बुद्धिमान तथा गुणग्राही है वह अपने दिल को देखता है कि हमारे दिल-घर में क्या-क्या काम हो रहा है। हृदय में स्ववशता, स्वतन्त्रता एवं निर्विषय स्वरूपस्थिति का राज्य है या विषय वासनाओं की प्रबलता एवं जीव की विवशता का जोर है। सच्चा साधक विषय-वासनाओं के वश होना मौत से अधिक दुखद समझता है। इसलिए वह सदैव निर्विषय एवं स्ववश होने के लिए प्रयत्नवान रहता है। वह अन्य सारे काम छोड़कर रात-दिन इसी लक्ष्य में तत्पर रहता है कि हमारा मन, हमारा हृदय सब समय निर्विषय एवं

स्ववश रहे।"[1]

"चारि दृग महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच डिल्ली। तेहि ऊपर कछु अजब तमाशा, मारो है यम किल्ली।" यह शरीर मानो महि-मण्डल अर्थात भूमंडल है। भूमंडल पर चार दिशाओं की कल्पना होती है जिसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण कहते हैं। इस शरीररूपी भूमंडल पर नाभि, हृदय, कंठ तथा त्रिकुटी ही मानो चार दिशाएं हैं। हमारे भारतवर्ष की राजधानी बहुत दिनों से दिल्ली है। वहीं हमारे देश का बादशाह रहता है। हमारे देश की राजधानी दिल्ली रूम और श्याम के बीच में है। रूम है तुर्की जो दिल्ली से पश्चिम है और श्याम है आजकल का थाइलैंड जो दिल्ली से पूर्व है। इस प्रकार रूम और श्याम के बीच में दिल्ली है। इस शरीररूपी भूमंडल पर पीठ रूम है तथा छाती श्याम है और दोनों के बीच में हृदय दिल्ली है। जहां इस शरीर-देश के बादशाह-चेतन की गद्दी है। साहेब कहते हैं, परन्तु इस हृदय-दिल्ली में कुछ अजब तमाशा हो गया है। यहां पर यम ने किल्ली गाड़ दी है। यम वासना है और किल्ली अज्ञानरूपी खूंटा है। इन सारे अलंकारों के जंजाल को हटाकर अर्थ बड़ा सरल है कि इस मनुष्य-शरीर के हृदय में ही चेतन-सम्राट एवं आत्मदेव निवास करता है, परन्तु हृदय में उसका राज्य न रहकर वासना एवं अज्ञान का राज्य है। जीव हृदय में रहता अवश्य है, परन्तु वह वासना के अधीन है। उसका हृदय चेतन की स्ववशता में न रहकर विषयों की विवशता में रहता है। यही अजब तमाशा है। यही उलटा खेल है।

प्रश्न होता है कि क्या चेतन-सम्राट अपने स्वरूपस्थिति-राज्य को प्राप्त नहीं कर सकता? क्या वह वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकता? साहेब कहते हैं कि बिलकुल हो सकता है, क्योंकि यह जीव महान समर्थ है। साहेब इस चेतन की प्रशंसा में कहते हैं "सकल अवतार जाके महि मण्डल, अनन्त खड़ा कर जोरे। अद्बुद अगम औगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे।" हे जीव! इस पृथ्वी मंडल पर सारे अवतार तुम्हारे ही हैं। अनादिकाल के दौरान में पृथ्वी पर जो भी देहधारण हुआ है वह तेरी ही तो विभूति है। तू ही तो व्यास हुआ, वसिष्ठ हुआ, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर हुआ, तू ही जरथुस्त्र, लाओत्जे, मूसा और ईसा हुआ, तू ही सुकरात और मुहम्मद हुआ। यह प्राणियों का जन्म ही तो अवतार है। कबीर साहेब वैसा अवतार नहीं मानते कि कोई सुप्रीम पावर है और वह ऊपर से उतरता है। कबीर साहेब के ख्याल से सारे प्राणी ही मानो अवतार हैं। उनमें मनुष्य की मुख्य भूमिका है। संसार में जो बड़ी-बड़ी विभूतियां हुईं या होती हैं, अन्य मनुष्य भी मूलतः उन्हीं के समान हैं। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का विलक्षण-विलक्षण अनुसंधाता आखिर कौन है? यह मनुष्य ही है। यही अद्भुत, अपार और अथाह ज्ञान-विज्ञान का जनक है। इस जड़-प्रकृति क्षेत्र में जिसने ज्ञान-विज्ञान की हलचल मचा रखी

---

१. सद्बुद्धी गुणग्राह्यता, देखै अपनी ओर।
क्या क्या दिल घर काम हो, स्ववश विवश कर जोर॥
विवश मरण से अधिक लखि, स्ववश हेतु परियत्न।
निश दिन तत्पर याहि में, और तजै सब यत्न॥ *(मुक्तिद्वार, शांतिशतक ४३-४४)*

है वह यह मनुष्य जीव ही है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! यह सारा ज्ञान-विज्ञान तेरी शोभा है, तेरी विभूति है। तूने ही वेद बनाये, बाइबिल बनायी, कुरान बनाया और हजारों धर्मग्रन्थ बनाये। तूने ही व्याकरण, संगीत, नृत्य तथा प्रकृति-शक्ति के ज्ञान-विज्ञान के हजारों आयाम खोले। तूने ही ईश्वर, अवतार, पैगंबर, देवी-देवता तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना की। तू न होता तो ज्ञान-विज्ञान का नामोनिशान न होता। चन्द्रमा भी एक पृथ्वी है। वहां तू नहीं है, तो वहां कहां ज्ञान-विज्ञान है! इसलिए ज्ञान-विज्ञान का तू ही मूल है। तेरे सामने यह अनन्त प्रकृति मानो हाथ जोड़कर खड़ी है । तू इसका भोक्ता एवं द्रष्टा है। यह जड़ दृश्य है। अतएव तू ऐसा महान होकर अपने आपको वासनाओं से मुक्त क्यों नहीं कर सकता है! सारी वासनाएं, सारी आदतें तेरी रची हैं इसलिए तू इन सबको एकदम छोड़ सकता है। तू वासनाओं को त्यागकर ही हृदय-दिल्ली का बादशाह हो सकता है। बाहरी देश का बादशाह तो बेचारा वासनाओं में फंसा दीन है। असली बादशाह तो वही है जो वासनाओं से सर्वथा मुक्त है।

"सकल कबीरा बोले बीरा, अजहूँ हो हुशियारा।" हे सकल कबीरा! हे सम्पूर्ण मनुष्यो! वासना-विजयी संतजन तुम्हें ज्ञान की बातें समझा रहे हैं। वे तुम्हें अपने उच्चादर्श से तथा वाणी से—दोनों से प्रेरित कर रहे हैं। इन वासना-विजयी-वीर संतों की आवाज सुनकर तो तुम्हें जग जाना चाहिए। आचरणहीन वक्ताओं का कोई प्रभाव न पड़े तो यह स्वाभाविक-सी बात है, परन्तु जो वीर हैं, जिन्होंने अपने मन की सारी वासनाओं को जीत लिया है, ऐसे संतों के वचनों से, आचरणों से तो प्रेरणा लेनी चाहिए। तुम ऐसे संतों से प्रेरणा लो और आज ही होशियार हो जाओ, सावधान हो जाओ। तुम्हारे दिल की वासनाएं ही तुम्हें रात-दिन लूट रही हैं। तुम रात-दिन अन्दर-ही-अन्दर लूटे जा रहे हो। अतएव इन अन्दर के लुटेरों से सावधान हो जाओ।

"कहहिं कबीर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहिं पुकारा।" कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु सिकलीगर होते हैं। वे निर्णय-विवेक के सान पर शिष्य के मैले-मन को मांजकर उसे दर्पणवत स्वच्छ बना देते हैं। पत्थर की एक चक्की होती है उसे 'सान' कहते हैं। उसको घुमाते हैं और उस पर उस्तरा आदि लोह के औजार रखकर उसे मांजते हैं। मांजने को 'सिकली' कहते हैं और जो मिस्त्री मांजता है उसे 'सिकलीगर' कहते हैं। यहां निर्णय-विवेक मानो 'सान' है, सद्गुरु 'सिकलीगर' हैं और उनका निर्णय-विवेक-द्वारा शिष्य को बोध देना मानो 'सिकली' करना एवं मांजना है। कबीर साहेब कहते हैं कि सद्गुरु तो तुम्हें हरदम पुकार रहे हैं, वे हरदम तुम्हें अपनी ओर खींचते हैं। तुम्हीं ऐसे जड़मति हो गये हो कि उनकी पुकार सुन नहीं रहे हो। तुम गुरु की आवाज की तरफ ध्यान दो, निश्चित ही तुम्हारा बेड़ा पार होगा।

सद्गुरु ने इस शब्द में पूरे मानव समाज को संबोधित कर यह समझाने का प्रयास किया है कि मनुष्य का प्राप्तव्य उसका निज चेतनस्वरूप है, आत्मदेव है और वह उसकी हृदय-गुहा में सब समय विद्यमान है। परन्तु मनुष्य अपने उस दिव्य स्वरूप को नहीं समझता है, इसलिए वह सकाम कर्मों में लिपटा वासना का शिकार बना रहता है। उसके हृदय में चेतन का साम्राज्य होना चाहिए, परन्तु अज्ञानवश वासना का साम्राज्य बना रहता

है। मनुष्य में महान बल है। उसे अपने बल की याद करनी चाहिए। उसे वासना-विजयी संत-गुरुजन जगाते हैं। इसलिए उनसे प्रेरणा लेकर और अपने स्वरूप को पहचानकर समस्त जड़-वासनाओं को जीत लेना चाहिए। और इसी जीवन में सम्राट हो जाना चाहिए। जो वासना-विजयी है वही सम्राट है।

वरुण

ये देवताओं के रक्षक, दैत्यों के नाशक तथा जल के स्वामी कहे जाते हैं। पुराणों के अनुसार वरुण पश्चिम दिशा के दिग्पाल माने गये हैं। ये पाश-अस्त्र लिये रहते हैं, ऐसी कल्पना है। उपर्युक्त वरुण तथा साथ-साथ मित्र ये दोनों वैदिक माने जाते हैं। परन्तु इन दोनों के आचरण अत्यंत शिथिल बताये जाते हैं। देखिए वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड का ५६ वां सर्ग। वैसे ऋग्वेद के सातवें मंडल के छियासिवें से नवासिवें सूक्त में वरुण एक वह शक्ति है जिसके द्वारा ऋत की व्यवस्था की गयी है। लगता है वहीं से लेकर पुराणों में उसका विकृत रूप पंडितों ने गढ़ा है।

कुबेर

इनके पिता का नाम विश्रवा तथा पितामह का नाम पुलस्त्य था। कुबेर रावण के बड़े भाई थे। जो दूसरी माता से पैदा हुए थे। ये देवताओं के कोषाध्यक्ष भी माने जाते हैं। इनका निवास कैलाश की तराई अलकापुरी नामक ग्राम में बताया जाता है।

पीपा

ये एक राजा थे। गागरोन नामक गढ़ इनकी राजधानी था। इन्होंने एक लम्बे पद में कबीर साहेब की बड़ी प्रशंसा की है।[1] ये स्वामी रामानन्द के शिष्य बताये जाते हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भक्त थे। इनका देहावसान कबीर साहेब के काल में ही हो गया था।

नामदेव

ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वैष्णव संत हैं। इनका काल विक्रमी १३वीं-१४वीं शती के बीच माना जाता है। इन्होंने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया था।

जयदेव का परिचय पीछे ८१ वें शब्द में आ चुका है।

हठयोग-द्वारा षटचक्र वेधन का स्वरूप

शब्द–८७

कबीरा तेरो बन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै॥ १॥
बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि-रुचि सर मेलै॥ २॥
चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूल बाँधे॥ ३॥

---

१. जो कलि माँझ कबीर न होते।
तो ले बेद औ कलियुग मिलि कर भगति रसातल देते॥ *(पीपा)*

ध्यान धनुष ज्ञान बाण, जोगेश्वर साधे॥ ४ ॥
षट चक्र बेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा॥ ५ ॥
काम क्रोध लोभ मोह, हाँकि सावज दीन्हा॥ ६ ॥
गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती॥ ७ ॥
दास कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे संग औ साथी॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कबिरा = मनुष्य। कन्दला = कंदरा, गुफा, हृदय। मानु = मन। अहेरा = शिकार। बफुवारी = बपु-बारी—शरीररूपी बाग। आनन्द मृगा = आनन्दरूपी मृग। रुचि-रुचि = इच्छानुसार। सर = बाण। मेले = चलाना, फेंकना। चेतत = सावधान होना। रावल = राजा, श्रेष्ठ योगी। पावन = पवित्र। खेड़ा = छोटा गांव, शरीर। सहजै = सरल ढंग से। मूल बाँधे = मूलबंध मुद्रा। सावज = पशु। गगन = आकाश, ब्रह्मरंध्र, सहस्रार। संग और साथी = तत्व-प्रकृति।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे हृदय-कानन में मन शिकार खेल रहा है।।१।। शरीररूपी बाग के आनन्द-मृग पर इच्छानुसार बाण चला रहा है, अर्थात जीवन की सुख-शांति को नष्ट कर रहा है।।२।। योगी मन से सावधान हो जाता है। वह अपने शरीर को धौति-वस्ति आदि षटकर्म से शुद्ध कर लेता है और सरल ढंग से मूलबंध मुद्रा में स्थित हो जाता है।।३।। तत्पश्चात योगेश्वर ध्यानरूपी धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाकर लक्ष्य पर वार करता है।।४।। वह मूलाधार आदि छह चक्रों एवं तत्रस्थित कमलों को वेधकर और सहस्रार एवं गगन-गुफा में पहुंचकर प्रकाश कर देता है।।५।। वह योगी वहां से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पशुओं को हांककर मानो खदेड़ देता है।।६।। सभी द्वारों को रोककर योगी गगन-गुफा सहस्रार में समाधिलीन हो जाता है। जहां पर न दिन है और न रात, किन्तु एक समान स्थिति है।।७।। योगी उस उच्च स्थिति में पहुंच जाता है जहां पहुंचने के पहले ही तत्व-प्रकृतिरूपी संगी-साथी छूट जाते हैं।।८।।

व्याख्या—मन की घातक-प्रवृत्ति तथा हठयोग के साधना-द्वारा उसको मारकर समाधि में पहुंचने का कितना सुन्दर वर्णन इस शब्द में हुआ है, यह सोचते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं "कबिरा तेरो बन कंदला में, मानु अहेरा खेलै।" हे कबिरा, हे मानव! तेरी हृदय-कंदरा के वन में अर्थात तेरे हृदय-कानन में मन निरंतर शिकार खेलता है। यहां मनुष्य के हृदय को वन और कंदरा दो रूपकों से व्यक्त किया गया है। कंदरा शब्द में मनुष्य के मन की गहराई की व्यंजना है और वन शब्द में उसकी विशालता एवं जटिलता की व्यंजना है। मनुष्य का हृदय बड़ा गहरा, बड़ा विशाल तथा बड़ा जटिल है। मनुष्य के हृदयरूपी इस बीहड़ वन में मन-शिकारी निरंतर शिकार खेलता है। इसके शिकार का लक्ष्य बनता है 'आनन्द-मृग'। मन-शिकारी के बाण से मनुष्य का 'आनन्द-मृग' मारा जाता है। "बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि-रुचि सर मेलै।" सद्गुरु इस शरीर को एक बाग एवं फुलवारी के रूप में भी चित्रित करते हैं। हृदय-कानन हो या शरीर-बाग हो, सार तात्पर्य एक है कि मनुष्य जीवन के आनन्द-मृग को मन-शिकारी अपनी रुचि के अनुसार मार-मारकर क्षत-विक्षत कर देता है। हम इसको और सरल ढंग से कहें तो यह होगा कि

अविवेकी मन हर समय इस ढंग से सोचता है जिससे जीवन का आनन्द, जीवन का सुख खो जाता है।

मनुष्य के हृदय-कानन में रहने वाला आनन्द-मृग सुरक्षित नहीं रहने पाता। अविवेकी मनरूपी शिकारी उसके पीछे लगा रहता है। मन जीवन के सुख पर बाण चलाता रहता है। मनुष्य को रोटी मिलती है, कपड़े मिलते हैं, रहने के लिए घर भी मिलता है, परन्तु हरदम मन कुछ ऐसा सोचता है कि जिससे जीवन का सुख खोया रहता है। हर आदमी के हृदय-कानन का आनन्द-मृग क्यों मरा-मरा है? क्यों आदमी हर समय पीड़ा-पीड़ा का अनुभव करता है? क्योंकि मन के सोचने का तरीका ही मूर्खतापूर्ण है। बाहर से हम चाहे जितने सम्पन्न, सम्मानित तथा प्रतिष्ठित हो जाएं, जब तक हमारे मन के सोचने का तरीका अच्छा नहीं होगा, तब तक हम दुखी बने रहेंगे।

जो वस्तुएं हमारे पास हैं उनमें हम संतुष्ट नहीं रहते, किन्तु जो नहीं हैं, उनके अभाव-अनुभव, उनकी आकांक्षा एवं कल्पना को लेकर जलते रहते हैं। हम अपने साथियों की रुचियों, उनके स्वभावों तथा उनके सोचने के तरीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उनसे विनम्रतापूर्वक सामंजस्य स्थापित करने एवं तालमेल बैठाने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके प्रति नाना प्रकार के संदेहों में उलझकर मन में तिल का ताड़ बनाते हैं और अपने साथियों से सदैव तनावग्रस्त स्थिति में रहते हैं। विषयों की इच्छा ऐसी आग है जो भोग रूपी आहुति पाकर प्रज्वलित होती है। विषयासक्तिवश हम इस तथ्य को नहीं समझते और विषयों में अपना पतन समझते हुए भी दीप-पतिंगेवत उनमें जलते हैं। अज्ञान और विषयासक्ति के कारण मन के सोचने का तरीका बहुत खराब हो गया है, इसलिए हमारे जीवन का आनन्द उड़ गया है। यही मानो मन-शिकारी-द्वारा हमारे हृदय-कानन तथा जीवन-फुलवारी के आनन्द-मृग को मारना है।

"चेतत रावल पावन खेड़ा" श्रेष्ठ योगी इन मानसिक दुखों से मुक्त होने के लिए सावधान होता है। वह पहले अपने खेड़ा को, इस छोटे-से गांव शरीर को पावन करता है। हठयोगी अपने शरीर को पहले धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति इन षटकर्मों द्वारा शुद्ध करते हैं[१] फिर "सहजै मूल बाँधे" अर्थात अभ्यस्त होने से वे सहज ही मूलबंध-मुद्रा में स्थित हो जाते हैं। गुदा-द्वार पर बायें पैर का गुल्फ (एड़ी के ऊपर की गांठ) रख योनि[२] आकुंचनपूर्वक मेरुदंड में नाभि-ग्रन्थि को दबाकर शिश्न के मूल पर दाहिने पैर का गुल्फ दृढ़ रूप से जमा देने से मूलबंध मुद्रा की साधना होती है। इस प्रकार मूलबंध मुद्रा में स्थित होकर श्रेष्ठ योगी ध्यान के धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाता है और मन को मार गिराता है।

---

१. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥ *(घेरंड संहिता १/१२)*
पीछे ७१ वें शब्द में भी धौति आदि षटकर्मों का विवरण दिया गया है।

२. गुदा एवं शिश्न के बीच का स्थान 'योनि' कहलाता है।

"षट चक्र बेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा।" हठयोगी इसके लिए बड़ी कठिन साधना करता है। वह है षटचक्र का वेधन। उसका विवरण इस प्रकार है—

कहा जाता है कि इस शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां हैं, जिनमें ईडा, पिंगला और सुषुम्णा मुख्य हैं। मेरुदण्ड के बाहर बायीं ओर से ईडा नाड़ी तथा दायीं ओर से पिंगला नाड़ी लिपटी हुई हैं। मेरुदंड के भीतर कन्द भाग से आरम्भ होकर सुषुम्णा नाड़ी कपाल में स्थित सहस्रदल कमल में जाती है। जैसे केले के स्तंभ में परतें होती हैं, इसी प्रकार बज्रा, चित्रिणी एवं ब्रह्मनाड़ी—सुषुम्णा में—ये तीन परतें हैं। जाग्रत कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी-द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर पुनः लौट आती है। कहा जाता है मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में छह कमल पिरोये हुए-से हैं, ये षटचक्र कहे जाते हैं अर्थात छह स्थानों पर नाड़ी की ग्रन्थियां चक्र के समान प्रतीत होने से चक्र कही जाती हैं।

छह चक्र ये हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध तथा (६) आज्ञा।

षटचक्र-विवरण तथा वेधन-क्रिया

मूलाधार—यह चक्र गुदा स्थान में माना है, यह चतुर्दल कमलयुक्त है। यह रक्तवर्ण है तथा इसका लोक 'भू' माना है। यहां से "व, श, ष, स" इन चार वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां द्विरण्ड नामक सिद्ध और डाकिनी देवी अधिष्ठात्री तथा गणेश देवता माना है। यहां छह सौ श्वासों का जप माना है।

इस मूलाधारचक्र को वेधने के लिए पहले गणेश-क्रिया करके गुदा साफ करते हैं। फिर जलवस्ति करते हैं। नाभि तक डूबे हुए जल में बैठकर उत्कट आसन द्वारा गुदा का आकुंचन-प्रसारन कर जल को ऊपर खींचते हैं। इसी को जलवस्ति कहा जाता है। इस प्रकार तीन बार जल को ऊपर खींचकर छोड़ देने से यह कार्य सिद्ध होता है। तब इस चतुर्दल कमलयुक्त मूलाधारचक्र को वेधकर वायु ऊपर चढ़ाते हैं।

ऊपर जो उत्कट-आसन कहा गया है, उसका लक्षण यह है—पैर के दोनों अंगुष्ठों-द्वारा मृतका का स्पर्श करते हुए दोनों गुल्फों (एड़ी के ऊपर की गांठों) को निरालम्ब भाव से रखकर, उन पर गुदाद्वार को स्थापन करने से उत्कटासन कहलाता है। गुदा का मल साफ करने की एक यौगिक क्रिया को गणेश-क्रिया कहते हैं।

स्वाधिष्ठान—यह चक्र नाभि से छह अंगुल नीचे, पेडू स्थान, शिश्न के मूल में माना है। यह छहदल कमलयुक्त है। यह सिन्दूर वर्ण है तथा इसका लोक 'भुवः' है। यहां से "ब, भ, म, य, र, ल" इन छह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां वाण नामक सिद्ध और राकिणी देवी अधिष्ठात्री तथा ब्रह्मा देवता माना है। यहां छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस स्वाधिष्ठान चक्र को वेधने के लिए गजक्रिया करते हैं। लोह या शीशे का बारह अंगुल का पतला गज बनाकर, शिश्न में प्रवेशकर उसे साफ करते हैं, फिर शिश्न से क्रमशः जल, दूध और शहद खींचते हैं। शहद खींचने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। गुदाद्वार से अपानवायु को चढ़ाकर स्वाधिष्ठान चक्र वेधते हुए अपानवायु को समानवायु में मिलाते हैं।

मणिपूर—यह चक्र नाभि स्थान में माना है। यह दशदल कमलयुक्त है। यह नीलवर्ण है तथा इसका लोक 'स्वः' है। यहां से "ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ" वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां रुद्रनामक सिद्ध और लाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं विष्णु देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस मणिपूरचक्र को वेधने के लिए 'धौति-क्रिया करते हैं। अर्थात रेशम आदि के कोमल वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी और पन्द्रह हाथ लम्बी धोती को सायंकाल मीठे रस में डुबा देते हैं। उसे प्रातःकाल निगलते (लीलते) हैं। उसका एक कोना पकड़े रहते हैं और खड़े होकर नाभि को पृष्ठभाग में आकुंचन करके पुनः बाहर निकालते हैं। ऐसा तीन बार करने से यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर नाभि से वायु उठाकर मणिपूरचक्र वेधते हैं और अपान-समान वायु को हृदयस्थ प्राण वायु में मिलाते हैं।

अनाहत—यह चक्र हृदय स्थान में माना है। यह द्वादश कमलयुक्त है। यह अरुणवर्ण है तथा इसका लोक 'महः' है। यहां से "क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ" इन बारह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां पिनाकी सिद्ध और काकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं महादेव देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस अनाहतचक्र को वेधने के लिए 'कुंजल क्रिया' करते हैं। पेट भर जल पीकर और सवा हाथ रस्सी की दातून को मुख में डालकर चलाते हैं। फिर जल को गिरा देते हैं। इस प्रकार तीन बार करने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर अनाहतचक्र वेधते हैं और अपान, समान, प्राण को उठाकर कंठस्थ उदान-वायु में मिलाते हैं।

विशुद्ध—यह चक्र कंठ स्थान में माना है। यह षोडसदल कमलयुक्त है। यह धूम्र वर्ण है तथा इसका लोक 'जनः' है। यहां से "अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः" इन सोलह स्वरों की उत्पत्ति मानी है। यहां छगलांड सिद्ध और शाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं जीवात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस विशुद्धचक्र को वेधने के लिए 'लम्बिका योग' करते हैं। इसमें दूध-आहार करते, बोल-चाल-संगत सबका संयम करते, मक्खन और सेंधा नमक से जिह्वा की तली रगड़ते, प्रातःकाल जिह्वा दोहन करते, लोह यन्त्र से भी दोहनकर जिह्वा को बढ़ाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर जिह्वा के नीचे चाम को काट देते हैं, इस प्रकार जिह्वा को बढ़ाकर और उलटकर उर्ध्वद्वार में लगाते हैं। ऊपर खोपड़ी का एक जलीय विकार चूता है, उसे अमृत मानकर पीते हैं, जिससे शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है। तब वायु को उठाकर विशुद्धचक्र को वेधते हैं।

आज्ञा—यह चक्र भृकुटि स्थान (दोनों भौंहों के बीच) में माना है। यह द्विदल कमलयुक्त है। यह श्वेत वर्ण है तथा इसका लोक 'तपः' है। यहां से 'ह, क्ष' इन दो वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां महाकाल सिद्ध और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं परमात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस आज्ञाचक्र को वेधने के लिए 'नेति क्रिया' करते हैं। अर्थात नाक में एक बीता बत्ती (सूत्र) चलाकर, उसे साफ करते हैं। फिर कंठस्थ विशुद्धचक्र से उदानवायु को

उठाकर आज्ञाचक्र वेधते हैं। यानी रेचक-पूरक-कुम्भक (प्राणायाम) करके आज्ञाचक्र को वेधकर वायु को ऊपर ले जाते हैं। जब वायु ऊपर पहुंच जाता है, तब जिह्वा को उलटकर उर्ध्वद्वार में लगा देते हैं। जिससे वायु लौट न आये।

इस प्रकार षटचक्र एवं तत्र स्थित षट कमलों को वेधकर दशमद्वार[1] सहस्रार (सत्यलोक) में जाकर ज्योति प्रकाश कर देते हैं। अर्थात वहां वायु का निरोध होने से जो अग्नि का प्रकाश होता है, उसी को ब्रह्म का स्वरूप मानकर योगी लोग बेभान होते हैं। इस स्थान का भी एक हजार श्वासों का जप माना है।

मुख्य इन छह चक्रों के अतिरिक्त आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार या सहस्रदल कमल माना है और उसके ऊपर भी आठवां सुरति कमल माना है। इस प्रकार कहीं-कहीं अष्टकमल का वर्णन होता है।

इनमें वर्णित सिद्ध, अधिष्ठात्री देवी एवं देवतादि सब कल्पित हैं। वर्णों का उच्चारण भी कंठ, तालू, ओष्ठादि से ही होता है, जो प्रत्यक्ष है। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में तन्त्र सिद्धांत का वर्णन करते हुए लिखते हैं "चक्रों को बहुधा लोग आधुनिक शरीर-विज्ञान-द्वारा प्रदर्शित स्नायुओं के गुच्छों के समान मानते हैं, किन्तु बात वास्तव में वैसी है नहीं। संस्कृत ग्रन्थों में जिस कुंडलिनी एवं चक्रों का वर्णन है, वे स्थूल देह से सम्बन्धित नहीं हैं, प्रत्युत वे सूक्ष्म-देह में अवस्थित होते हैं।"[2] अब यही सोचिए कि जब ये छह चक्र स्थूल शरीर से सम्बन्धित नहीं हैं तो इनके वेधने की बात भी गलत है। सूक्ष्म-शरीर तो केवल प्राण एवं वासनाओं का पुंज माना जाता है, उसमें चक्र-वक्र का क्या मतलब हो सकता है! वस्तुतः यह श्वास रोकने की प्रक्रिया के अलावा कुछ नहीं है।

इस योगी की चित्तवृत्ति जब सुरति-कमल में पहुंचती है और वहां की ज्योति में लीन हो जाती है तब वहां से कामादि पशु मानो हांक दिये गये। वहां सारी बाह्य वृत्ति समाप्त होकर योगी केवल नाद या ज्योति में ही लीन रहता है।

"गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती। दास कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे संग औ साथी।" गगनगुफा में योगी जब पहुंचता है और नीचे के द्वार रोककर जब नाद एवं प्रकाश में लीन होता है तब वहां बाहरी संसार से कोई मतलब नहीं रह जाता। वहां न दिन है और न रात। वहां तो एकरस आनन्दमग्नता है। योगी के तत्व-प्रकृतिरूपी सारे संगी-साथी वहां पहुंचने के पहले ही छूट गये रहते हैं। वहां वह केवल अकेला होता है। वहां वह मन के द्वंद्व से मुक्त होता है। हठयोगी लोग प्रसुप्त कुंडलिनी-शक्ति को साधना-द्वारा जाग्रतकर सहस्र-चक्र में ले जाते हैं। सहस्र-चक्र तक शारीरिक-मानसिक प्रभाव रहता है और समाधि-भंगकाल में वासनाओं का आक्रमण योगी पर हो सकता है, परन्तु कहते हैं

---

१. दो नाक, दो कान, दो आंख, मुख, गुदा और शिश्न—ये नौ द्वार (बड़े-बड़े छिद्र) हैं और दसवां द्वार शिर के तालू में माना है जहां बच्चों का लप-लप करता है।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५, पृष्ठ २४।

कि उसके भी ऊपर जो 'सुरति कमल' है, उसमें पहुंच जाने पर योगी को भय नहीं रहता।

अब हम इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो उक्त साधना सबके क्या, बहुतों के वश की बात नहीं है। इसमें बहुत बातें काल्पनिक हैं, यह अलग बात है। दूसरी बात हठयोग-द्वारा जब तक साधक चाहे आज्ञाचक्र में चाहे सहस्त्रार में और चाहे सुरति कमल में, हठयोगी कुछ भी नाम लें, पहुंचकर समाधि में रहेंगे तब तक संसार भूला रहेगा और जैसे ही उससे उतरकर व्यवहार में आयेंगे वैसे पुनः वासनाओं में चंचल हो जायेंगे। अतः विचार, अनासक्ति तथा साक्षी-भाव की साधना ही सरल तथा सुरक्षित है। जड़-चेतन तथा आत्मा-अनात्मा का निरन्तर विचार करते-करते देह तथा देह-सम्बंधी सारे प्राणी-पदार्थों से अनासक्ति हो जाती है। अनासक्ति के बाद साक्षी-भाव दृढ़ हो जाता है। साधक अभ्यासकाल में मन का साक्षी बनकर उसे शांत कर देता है और संकल्पहीन होकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाता है। जब वह व्यवहार में आता है, तब भी उसका चित्त समस्त दृश्यों से अनासक्त होने से वह असंग होता है और खाते-पीते तथा अपने शरीर का सारा व्यवहार करते हुए भी वह साक्षीभाव में बरतता है। यही संतों का सहजमार्ग, राजमार्ग तथा सुरक्षित पथ है। हठयोगी तो शब्द और ज्योति में लीन होता है जो जड़-भास है। विवेकी सारी आसक्ति तथा संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है जो अपनी आत्मा है। कबीर साहेब ने पहले हठयोग साधा था इसलिए वे उस पर जगह-जगह प्रकाश डालते हैं, परन्तु वे सावधान करते हैं "योगिया के नगर बसो मति कोई" आदि। ये अपना पथ स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति ही बतलाते हैं।

तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं है

शब्द–८८

सावज न होइ भाई सावज न होई, वाकी माँसु भखै सब कोई॥ १ ॥
सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता॥ २ ॥
पेट फारि जो देखिये रे भाई, आहि करेज न आँता॥ ३ ॥
ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल-पल माँसु बिकाई॥ ४ ॥
हाड़-गोड़ ले घूर पवाँरिनि, आगि धुवाँ नहिं खाई॥ ५ ॥
शिर सींगी किछुवो नहिं वाके, पूँछ कहाँ वे पावै॥ ६ ॥
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिरा बनौरी गावै॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सावज = साउज, वह जानवर जिसका शिकार किया जाय, लक्ष्य, ब्रह्म। अविगति = अविगत, अज्ञात। घूर = घूरा, कूड़े-कचरे का ढेर। पवाँरिनि = फेंक दिया। आग धुँवा = ज्ञानाग्नि का चिन्ह। धंधे = धंधा, गोरख-धंधा। कबिरा = साधारण मनुष्य। बनौरी = बनाये हुए गीत।

भावार्थ—हे भाई! वह कोई ऐसा शिकार-जानवर नहीं है जिसे तुम अपना लक्ष्य बनाकर जीवन में सफल हो सको, फिर भी सब लोग उसका मांस खाना चाहते हैं॥१॥

वह ऐसा सर्वप्रिय शिकार एवं लक्ष्य हो गया है जिसकी प्रसिद्धि पूरे संसार में हो गयी है, परन्तु उसका पता-लता कोई नहीं जानता।।२।। हे भाई! यदि उसका पेट फाड़कर देखा जाय तो न उसमें कलेजा है और न अंतड़ी। अर्थात वह कुछ नहीं है।।३।। परन्तु हे भाई! उसके मांस की मिठाई की ऐसी प्रसिद्धि हो गयी है, कि सभी धार्मिक दुकानों पर उसका मांस क्षण-क्षण बिक रहा है।।४।। विवेकवान तो उसके हाड़-गोड़ सहित उसे कचरे के ढेर में फेंक देते हैं। आग और धुआं भी वह नहीं सह पाता है।।५।। उसके सिर तथा सींग कुछ भी नहीं है तब उसमें लोग पूंछ कहां पायेंगे।।६।। परन्तु सभी पंडित मिलकर उसको खोजने के गोरखधंधे में पड़े हैं और साधारण मनुष्य उसके सम्बन्ध में पंडितों के बनाये गीत गाते हैं।।७।।

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की खोज पर यह पूरा शब्द व्यंग्य है। हम भूलवश अपना लक्ष्य, अपना शिकार एक ब्रह्म को मानते हैं और उसे अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से अलग समझते हैं। हम उसी पर अपना मन लगाना चाहते हैं। साहेब कहते हैं कि हे भाई! तुम्हारी अपनी आत्मा से तुम्हारा लक्ष्य अलग नहीं है। परन्तु उस शिकार का मांस सब खाना चाहते हैं। अर्थात सब अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म खोजते हैं।

"सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता।" ब्रह्म हमारा शिकार है, लक्ष्य है, यह बात सारी दुनिया में गूंजती है। इस पर बड़ी-बड़ी चर्चाएं होती हैं, भाषण होते हैं, पोथियां लिखी जाती हैं, परन्तु उसका पता-लता किसी को नहीं है। तथागत बुद्ध ने कहा है कि एक आदमी बांस-पर-बांस जोड़ता हुआ लम्बी सीढ़ी बना रहा था। उससे पूछा गया कि इसे कहां लगाओगे? उसने कहा यह तो नहीं जानता हूं, परन्तु बना रहा हूं। हमारी दशा यही है। हम अपने आत्मारूपी परमात्मा को छोड़कर बाहर परमात्मा खोज रहे हैं, परन्तु उसका पता किसी को नहीं है। "अविगति वाकी बाता" उसकी बात सबको अज्ञात है।

"पेट फारि जो देखिये रे भाई, आहि करेज न आँता।" यदि हम उस पर विचार करते हैं, तो हमारे हाथ में कुछ नहीं लगता है। यदि हम पांचों ज्ञानेन्द्रियों से कुछ पाते हैं तो वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। और यदि मन से कुछ रूप खड़ा करते हैं तो वह मन का संकल्प-विकल्प मात्र है। इन्द्रिय और मन का व्यापार समाप्त हो जाने पर हमारा बाहर से सम्बन्ध ही कट जाता है, तब रह जाती है स्वचेतन सत्ता मात्र। अतएव स्वचेतन सत्ता एवं अपनी आत्मा को छोड़कर ब्रह्म या ईश्वर खोजना आकाश नापने के समान मिथ्या प्रयास सिद्ध होता है।

"ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल-पल माँसु बिकाई।" परन्तु आत्मभिन्न ब्रह्म की चर्चा बहुत है। जिस धार्मिक दुकान पर देखो वहीं उसके दर्शन कराने का झांसा दिया जाता है। ईश्वर के नाम पर धर्म का माल खूब बिकता है। ईश्वर-दर्शन कराने की बात कहो तो तुम्हें लोग घेर लेंगे। तुम्हारी दुकान खूब चलेगी।

"हाड़-गोड़ ले घूर पवाँरिनि, आगि धुवाँ नहिं खाई।" विवेकवान इस कल्पना को रद्दी की टोकरी में डाल देते हैं। मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा विद्यमान ही है

जो पूर्णकाम, आप्तकाम, अकाम, निष्काम एवं प्राप्तकाम है। इस स्वयं प्रत्यक्ष ब्रह्म को छोड़कर बाहर ब्रह्म खोजने के पचड़े में क्यों पड़ें! जिसको परख-विवेक नहीं होगा वही बाहर ब्रह्म खोजेगा। जिसे परख है, विवेक है वह तो अपने चेतनस्वरूप में ही स्थित होकर कृतार्थ हो जाता है। स्थिति अपने स्वरूप में ही हो सकती है। बाहरी वस्तु में व्यक्ति की स्थिति नहीं होती। धुआं जहां भी हो वहां आग का होना सिद्ध होता है। अतः धुआं आग का चिन्ह है। यहां ज्ञान आग है, उसका लक्षण मानो धुआं है। ज्ञान का थोड़ा लक्षण भी यह कल्पित सावज नहीं सह पाता। अर्थात थोड़ा भी विचार करने पर अपनी आत्मा से अलग परमात्मा नहीं ठहरता।

"शिर सींगी किछुवो नहिं वाके, पूँछ कहाँ वे पावै।" उस सावज के न सिर है न सींग है, फिर उसमें पूंछ कहां मिलेगी? तैत्तिरीय उपनिषद् में आनंदमय कोश का वर्णन करते हुए बताया गया है "उसका प्रिय ही सिर है, मोद दाहिना पंख या भाग है, प्रमोद बायां पंख या भाग है, आनन्द शरीर का आत्मा (मध्यभाग) है और ब्रह्म पूंछ एवं आधार है।"[१] साहेब कहते हैं कि यह सारा वर्णन भौतिक है। उसमें न सिर है न सींग है, फिर ब्रह्म-पूंछ कहां से मिलेगी।

"सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिरा बनौरी गावै।" सभी पण्डित मिलकर उसको सिद्ध करने तथा खोजने के गोरखधन्धे में पड़े हैं और साधारण लोग उनकी कही हुई बातों को दोहरा रहे हैं। पण्डित लोग तो भगवान को एक धन्धा ही बना रखे हैं "बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना।"[२] वे अपनी आत्मा से अलग बाहर ईश्वर का रूप खड़ा करके ही अपना धंधा चला सकते हैं। पंडित पहले ईश्वर का रूप खड़ा करता है, तब वह स्वयं साधारण मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में मध्यस्थ बनता है। वह अपनी पूजा-प्रार्थना के बल पर ईश्वर को खुशकर साधारण जनता को भोग और मोक्ष देने का दावा करता है। यदि आत्मा ही परमात्मा है यह बोध हो जाय तो पण्डित का धन्धा बन्द हो जायेगा। इसलिए पण्डित नहीं चाहता कि लोगों को स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान हो। वह बाहर ईश्वर की कल्पना खड़ाकर लोगों को अपने मायाजाल में उलझाये रखना चाहता है। कबीर साहेब कहते हैं "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।"[३] राम ऐसा नाम तुम्हारा ही है, यह जानकर खोटी वस्तु—बाहर राम खोजना छोड़ दो।

इस पूरे शब्द का भाव यही है कि हमारा शिकार, हमारा लक्ष्य, हमारा उद्देश्य हमारी अपनी आत्मा से अलग नहीं है। अलग खोजना केवल पण्डितों का गोरखधन्धा है या धन्धेबाजी है। यहां पण्डित का अर्थ केवल ब्राह्मण-पंडित नहीं, किन्तु संसार के सभी पुरोहितों की बात है।

---

१. तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः।
आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। *(तैत्तिरीय उपनिषद् २/५)*

२. रमैनी ३६।

३. रमैनी, साखी ३६।

जीवन क्षणभंगुर है, शीघ्र भव-बंधनों से मुक्ति लो

शब्द–८९

सुभागे केहि कारण लोभ लागे, रतन जन्म खोयो॥ १ ॥
पूर्वल जन्म भूमि कारण, बीज काहेक बोयो॥ २ ॥
बुन्द से जिन्ह पिण्ड सँजोयो, अग्नि कुण्ड रहाया॥ ३ ॥
जब दश मास माता के गर्भे, बहुरी लागल माया॥ ४ ॥
बारहु ते पुनि वृद्ध हुआ, होनहार सो हूवा॥ ५ ॥
जब यम अइहैं बाँधि चलैं हैं, नैनन भरि-भरि रोया॥ ६ ॥
जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वासा॥ ७ ॥
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति डारो पासा॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पूर्वल जन्म = पहले के जन्म। भूमि = आधार। कारण = बीज-वासना। बीज = वासना। बुन्द = वीर्य। पिण्ड = स्थूल शरीर। सँजोयो = संजोना, सजाना, एकत्र करना, पूरा करना, संपादित करना। अग्नि कुण्ड = माता की जठराग्नि। यम = मृत्यु। बाजी = खेल, जुआ का खेल। पासा = चौसर खेल में फेंका जाने वाला वह चौपहला लंबोतरा हड्डी या लकड़ी का बना टुकड़ा जिस पर बिंदियां बनी होती हैं।

भावार्थ—हे सौभाग्यशाली मानव! किस प्रयोजन से तुम सांसारिक विषयों के प्रलोभन में फंसकर अपने रत्नतुल्य जन्म को खो रहे हो? ॥१॥ इस जन्म के आधार एवं कारण पहले जन्म के वासना-बीज हैं, अब उन्हीं वासना-बीजों को पुनः क्यों बो रहे हो? ॥२॥ जिन वासना-बीजों ने जीव को गर्भ में ले जाकर रज-वीर्य की बूंदों से लेकर स्थूल देह का संपादन किया और माता के पेटरूप अग्नि-कुण्ड में उसे पकाता रहा, इस प्रकार दस महीने माता के पेट में रहकर जब पैदा हुआ तब तू मायारूपी उन्हीं विषय-वासनाओं में पुनः फंस गया॥३-४॥ तू धीरे-धीरे बालक से जवान होकर थोड़े दिनों में बूढ़ा हो गया और तेरे अविवेक के कारण जो होना था वह हो गया मोह-माया का बंधन। परन्तु समझ ले, कि जब मृत्यु आयेगी तब तुझे बांधकर ले चलेगी और तू नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोयेगा॥५-६॥ इस जिन्दगी के लिए बड़ी लंबी आशा न रखो कि यह बहुत दिनों तक बनी रहेगी। मृत्यु तुम्हारी सांस-डोरी को पकड़कर अपनी ओर निरंतर खींच रही है, आज मरो कि कल॥७॥ हे लोगो, यह समझ लो कि यह जिन्दगी एक जुआ का खेल है; अतः मन में सावधान होकर पासा फेंको "जनम जुआ मत हार" ॥८॥

व्याख्या—मानव-शरीर विवेक-साधनसंपन्न है, इसलिए जिस जीव को मानव-शरीर प्राप्त है वह सौभाग्यशाली है। वह विषय-वासनाओं के सारे भवबंधनों को तोड़कर इसी जीवन में कृतार्थ हो सकता है। परन्तु दुख की बात यह है कि वह जहां आकर अपने सारे बंधन काट सकता है वहीं वह नये-नये बंधन बनाता है। मानव-शरीर ज्यादा समझदारी की जगह है। इसलिए यहां बंधन भी बनाये जा सकते हैं तथा बंधन तोड़े भी जा सकते हैं। जीव को दुख इष्ट नहीं है। बंधनों में जीव को दुख मिलते हैं, इसलिए समझदारी की बात यह है कि हम बंधन बनायें न, किन्तु उन्हें समाप्त करें।

सद्गुरु करुणाविगलित होकर कहते हैं कि हे सौभाग्यशाली, तू किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए सांसारिक विषयों के मोह में फंसकर अपना रत्नतुल्य जीवन बरबाद कर रहा है! सपने में मिले हुए इन प्राणी-पदार्थों से तू अपना क्या समाधान चाहता है? जरा ठहरकर सोच, इनसे तुझे क्या मिलने वाला है? जिस मन और इंद्रियों की चंचलता को तू सुख मानता है, वही तेरे गले की फांसी है। संसार के प्राणी-पदार्थों से तुझे केवल मन और इन्द्रियों की खुजलाहट मिल सकती है, जो सारी पीड़ाओं की जननी है। अंत में जीव के साथ कुछ नहीं है। यदि उसने अपने आपको माया-मोह में उलझाया है तो उसके फल में उसे केवल बंधनों की प्राप्ति होती है। यदि हम अपने समय और शक्ति को विषयों की उलझन में लगाते हैं तो रत्नतुल्य जीवन को मानो व्यर्थ में बरबाद कर रहे हैं और व्यर्थ ही नहीं, अपने गले में काल की फांसी लगा रहे हैं।

हमारे इस देह-बंधन के कारण हैं पहले जन्म के संस्कार एवं विषय वासनाएं। यह जीव संसार की वासनाओं में बंधकर ही जन्म-मरण के घटीयंत्र में घूमता है। "पूर्वल जन्म भूमि कारण" आज के हमारे जन्म की भूमिका, आधार एवं कारण पूर्वल-जन्म के कर्म-संस्कार हैं, वासनाएं हैं। साहेब कहते हैं "बीज काहेक बोयो" अब पुनः वही बीज क्यों बो रहे हो? जो वासनाएं तुम्हें जन्म-मरण में भटकाती हैं उन्हीं का संग्रह क्यों कर रहे हो? इस प्रकार कबीर साहेब पुनर्जन्म को दृढ़ता से मान रहे हैं। वे पूर्व भारतीय-परंपरानुसार मान रहे हैं कि जीव विषय-वासनाओं में फंसकर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। जब यह विषय-वासनाओं को सर्वथा छोड़ देता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। व्यवहार में देखा जाता है कि आदमी वहीं जाता है जहां उसकी वासना लगी रहती है। जहां उसकी वासना नहीं, आकर्षण नहीं, वहां वह नहीं जाता। इस प्रमाण से जब जीव सारी वासनाएं छोड़ देता है और सभी प्रकार के मोह समाप्त कर देता है तब उसकी स्थिति अपने आप में हो जाती है। यही छुटकारा है।

"बुन्द से जिन्ह पिण्ड सँजोयो, अग्नि कुण्ड रहाया।" जो बुन्द से पिण्ड बनाने में कारण बनते हैं, जिन कारणों से रज-वीर्य के छोटे कतरे से स्थूल शरीर का निर्माण होता है, वे पूर्वजन्म के कर्म संस्कार हैं, विषय-वासना एवं कर्म-बीज हैं। ये पूर्वजन्म के संस्कार ही मानो गर्भवास में पिंड को संजोते हैं, संवारते एवं संपादित करते हैं। नौ-दस महीने माता की गर्भाग्नि में बच्चे का शरीर पकता है। फिर वह गर्भ से बाहर आता है। बाहर आते ही उसे पुनः माया लग जाती है। वह माता को देखता है। उसमें उसकी ममता बनती है। फिर माता-द्वारा धीरे-धीरे संसार के अन्य लोगों का परिचय प्राप्त करता है। माता-पिता, भाई-बंधु-द्वारा उसे राग-द्वेष का पाठ पढ़ाया जाता है। मैनावती तथा मदालसा-जैसी माता, उद्दालक-जैसा पिता, याज्ञवल्क्य-जैसा पति, चूडाला-जैसी पत्नी लोगों को कहां मिलते हैं? मैनावती ने अपने पुत्र गोपीचन्द को वैराग्य का उपदेश देकर उसे संन्यासी बना दिया था। मदालसा ने अपने बच्चों को लोरी[1] में ही बताया था कि तुम देह नहीं अमर आत्मा हो,

---

१. बच्चों को सुलाते समय गाने के गीत को 'लोरी' कहते हैं।

शुद्ध-बुद्ध हो[1]। उद्दालक[2] ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मज्ञान का उपदेश दिया था 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। याज्ञवल्क्य[3] ने संन्यास लेने के पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मज्ञान दिया था 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'। चूडाला[4] ने अपने पति शिखध्वज को आत्मज्ञान की तरफ प्रेरित किया था।

संसार के लोग माता, पिता, भाई, भगिनी, भाभी, मित्र सब मिलकर बच्चे को देहाभिमान, संसारासक्ति, माया-मोह एवं विषय-वासना का पाठ पढ़ाते हैं। बचपन से ही मनुष्य के नस-नस में संसारासक्ति का विष व्याप्त होने लगता है। तरुणाई आते-आते वह विषय-वासनाओं में बदहवास हो जाता है। वह भोगों को जीवनलाभ समझता है। वह भोगों के लिए न्याय-अन्याय सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। उसके जीवन में निरंतर गलत आदतें एवं दुर्गुणों का जहर इकट्ठा होता जाता है। फिर प्रौढ़ अवस्था आ जाती है। पत्नी, बच्चे एवं परिवार की चिंता में उसका चित्त चाक बना रहता है इसी सोच, फिक्र एवं प्रयत्न में उसके दिन बीतते जाते हैं और धीरे-धीरे वह बूढ़ा हो जाता है। "बारहु ते पुनि वृद्ध हुआ, होनहार सो हूवा।" आदमी बालक से देखते-देखते बूढ़ा हो गया। जो उसका होनहार था वह हो गया। उसका क्या होनहार था? संसार की उलझनों में उलझकर अशांत हो जाना। यहां होनहार का मतलब कोई दैवी प्रकोप नहीं है, किन्तु मनुष्य का अपना अज्ञान है।

"जब यम अइहैं बाँधि चलैं हैं, नैनन भरि-भरि रोया।" शरीर तथा संसार के मोह में आकंठ डूबे हुए आदमी की जब मौत निकट आती है, तब वह बिलख-बिलखकर रोता है। वह आज तक जिसको अपना मान रखा था वह सब सदैव के लिए छूट रहा है। वह उसी प्रकार व्याकुल हो जाता है जैसे मछली को पानी में से निकाल कर जमीन पर रख दिया गया हो और वह तड़पती हो। मोही मनुष्य इसलिए व्याकुल होता है कि उसने जिसे अपना मान रखा था वह सब छूट रहा है और आध्यात्मिक एवं धार्मिक कमाई न होने से आगे अंधकार है। जिसने भी सांसारिकता में विश्वास किया वह जीवन में धोखा खाया। संसार के मोह में धोखा खाने के अलावा कुछ है ही नहीं। यहां चाहे जितना राज-काज, प्राणी-पदार्थों का संग्रह हो जाय, सबको छोड़कर अकेले जाना है। हम इनमें आसक्त होकर अपने गले की फांसी ही बनाते हैं।

"जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वासा।" वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि जिंदगी की आशा मत रखो कि यह अभी बनी रहेगी। इसके जाते देर नहीं लगती। कितने आदमी बिस्तर पर सोते हैं और सोये ही रह जाते हैं। कितने बैठे थे और बैठे रह गये। कितने चलते-चलते गिरकर समाप्त हो जाते हैं। लोहे-लक्कड़ की चीजों की तो कुछ मियाद भी है, इस जिन्दगी की तो कुछ भी मियाद नहीं है। तुम्हारी

---

१. मदालसा, मार्कंडेय पुराण।

२. उद्दालक, छांदोग्य उपनिषद्, छठां प्रपाठक।

३. याज्ञवल्क्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, दूसरा अध्याय, चौथा ब्राह्मण।

४. चूडाला, योगवासिष्ठ।

सांसरूपी डोरी को मौत अपने हाथों में पकड़ रखी है। वह हर समय तुम्हें अपनी तरफ खींचती है। तुम उससे भागकर बच नहीं सकते हो। तुम अवधि से ज्यादा रह नहीं सकते हो। अवधि का भी तुम्हें पहले से पता नहीं चल सकता है। अतएव जीने की आशा छोड़ दो। जितने क्षण तुम इस जीवन में हो, वासनाओं के त्याग करने में प्रयत्न करो। जीवन रहते-रहते यहां के सब प्रकार के मोह से मुक्त हो जाओ। देह छोड़ने के पहले संसार के राग-द्वेष छोड़ दो। बंधकर संसार से मत जाओ, किन्तु मुक्त होकर जाओ।

"बाजी है संसार कबीरा, चित चेति डारो पासा।" हे बंधुओ! इस संसार में यह जीवन तो जुआ का खेल है। इस खेल में अधिकतम लोग अपनी बाजी हार-हारकर यहां से जाते हैं। जुआ में हारे युधिष्ठिर की-सी दशा यहां सबकी है। कोई विरला ही यहां से जीतकर जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं "चित चेति डारो पासा।" मन में सावधान होकर पासा फेंको। कुछ जीतने के लिए, पाने के लिए ही तो पासा फेंका जाता है। यहां क्या पाओगे? जरा सोचो कि तुम्हें संसार से क्या मिलने वाला है? यहां तो जो कुछ मिलता है वह छूट जाता है। यहां बन्धनों का मिलना हार है तथा मोक्ष मिलना जीत है। जो संसार में उलझकर गया वह जीवन-जुआ हार गया और जो सुलझकर, शांत एवं संतुलित होकर गया, वह जीवन-जुआ को जीतकर गया। इसलिए "चित चेति डारो पासा' बहुत सावधान होकर दावं खेलो। यहां बहुत सजग होकर जिंदगी बिताओ। यहां कहीं राग किये तो हार गये, द्वेष किये तो हार गये, काम-क्रोध, मोह, वैर, शोक, संताप में उलझ गये तो हार गये। इस संसार में जीवन की बाजी वही मानो जीत लिया जो मन की समस्त ग्रन्थियों, समस्त वासनाओं को तोड़कर अपने आपा को सबसे मुक्त कर लिया।

इस शब्द में शुरू से ही सदगुरु ने यही कहा है कि हे सौभाग्यशाली मानव! तू किस प्रलोभन में पड़कर अपने आपा को संसार में उलझा रहा है! ये संसार की वासनाएं ही तुम्हें जीवन में तथा जन्मांतरों में नचा रही हैं। इन्हें छोड़ो और सबसे मुक्त हो जाओ।

वीतराग संतपुरुष तथा निजात्मदेव ही उपासनीय है

शब्द–९०

सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई॥ १ ॥
दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधु भुलाना॥ २ ॥
सलिल मथि घृतकै काढ़िन, ताहि समाधि समाना॥ ३ ॥
गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना॥ ४ ॥
ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरा, पारब्रह्म नहिं जाना॥ ५ ॥
वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्या सम्पूरण, राम ऐसे शिष - शाखा॥ ६ ॥
जाहि राम को करता कहिये, तिनहुँ को काल न राखा॥ ७ ॥
हिन्दू कहैं हमहिं लै जारों, तुरुक कहैं हमारो पीर॥ ८ ॥
दोऊ आय दीन में झगरैं, ठाढ़े देखैं हंस कबीर॥ ९ ॥

शब्दार्थ—काल = समय, वासना। साधु = उत्तम। सलिल = पानी। घृतकै = घृत मानकर। संयम = एक ध्येय वस्तु में धारणा, ध्यान तथा समाधि करना। पारब्रह्म = परब्रह्म, शुद्ध आत्मतत्व। दीन = धर्म, मजहब। हंस = विवेकी।

भावार्थ—हे संतो और महंतो! उसका स्मरण करो जो काल के बंधनों से मुक्त है।।१।। अवधूत दत्तात्रेय जी उस अविनाशी तत्व का रहस्य न जानकर तथा मिथ्या वस्तु को ही उत्तम समझकर भूल गये।।२।। उन्होंने पानी मथकर घी निकालना चाहा। वे कल्पित वस्तु को सत्य मानकर उसी की समाधि में लीन हुए।।३।। गोरखनाथ जी महाराज ने प्राणों का निरोध खूब किया, परन्तु वे निजस्वरूप का तथ्य नहीं समझ सके। उन्होंने योग के विषय में काफी युक्तियों का अनुमान किया, किसी ध्येय-वस्तु में धारणा, ध्यान एवं समाधिरूप संयम भी उन्होंने बहुत किया। वे ऋद्धि-सिद्धि पाने के लिए हठयोग के धंधे में लगे रहे, परन्तु शुद्ध आत्मतत्व को नहीं समझ सके।।४-५।। वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्वान थे, वे संपूर्ण वेद-विद्या के ज्ञाता थे। उनकी शिष्य-परंपरा में मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम-जैसे महापुरुष थे, परन्तु वे वसिष्ठ जी भी जीवन भर केवल धार्मिक तथा राजनैतिक राजगुरु ही बने रह गये, सांसारिकता के ऊपर तथा परमतत्व की स्थिति तक नहीं पहुंच सके।।६।। जिस श्रीराम को लोग जगतकर्ता कहते हैं उन्हें भी मौत ने नहीं रहने दिया और उन्होंने साथियों सहित सरयू में प्रवेशकर अपने जीवन का अंत किया।।७।। हिन्दू कहते हैं कि हम तो मुरदे को लेकर जलायेंगे और मुसलमान कहते हैं कि अपने पीरों के फरमान से हम मुरदे को गाड़ेंगे। इस प्रकार दोनों छोटी-छोटी बातों को धर्म के मुद्दे बनाकर आपस में झगड़ते हैं। विवेकवान ऐसी बातों को तटस्थ होकर देखते हैं, झगड़े में नहीं पड़ते।।८-९।।

व्याख्या—साहेब संतों और महन्तों दोनों को निर्देश देते हैं कि 'सुमरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।'' इस पंक्ति में 'सोई' शब्द महत्वपूर्ण है। यह 'सोई' सर्वनाम यहां किसके लिए प्रयुक्त है? जो काल-फांस से बचा हो। काल के दो अर्थ हैं समय तथा वासना। इसी प्रकार सोई के भी दो अर्थ हैं अविनाशी निजस्वरूप चेतन तथा वासनाओं से मुक्त महापुरुष। यह निजस्वरूप चेतन, यह आत्मा अमर है। यह काल-फांस से, समय की सीमा से परे है। यह तीनों कालों में विद्यमान अजन्मा एवं अविनाशी है। सद्गुरु निर्देश करते हैं कि संत-महंतो! परिणामी भौतिक पदार्थों का स्मरण एवं चिन्तन छोड़कर अपने अविनाशी चेतनस्वरूप का स्मरण करो। परन्तु इस स्वरूपबोध में स्थित होने के लिए सहारा चाहिए, तो सहारा उन महापुरुषों का लो जो वासना-काल से परे हैं। जिनके मन में राग-द्वेष, ममता-मोह-द्रोह तथा किसी प्रकार मलिनता नहीं है, जो स्वच्छ-चित्त निर्मल संत पुरुष हैं उनकी शरण लो, उनकी सेवा करो, उनका ध्यान करो, उनको समर्पित हो जाओ। वे तुम्हें वासनामुक्त होने में सहयोग करेंगे। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने भी कहा है "उन्हीं का चरणोदक लेना ठीक है, उन्हीं का महाप्रसाद लेना ठीक है तथा उन्हीं के नित्य दर्शन करना ठीक है जिनकी उपाधि मिट गयी है, जिसके मन के सारे मोह-शोक बीत गये हैं।"[1]

---

१. तिनको चरणोदक सही, तिनको महा प्रसाद।
तिनको दर्शन नित्य सही, जिनकी मिटी उपाध।। *(वैराग्य शतक)*

प्राणी, पदार्थ, सम्मान, प्रतिष्ठा तथा माया के ऐश्वर्यों से संपन्न महामंडलेश्वरों, आचार्यों तथा जगद्गुरुओं की तो भीड़ है। इनमें भी राग-द्वेष से पार पुरुष हो सकते हैं। परन्तु साधकों को चाहिए कि वे बड़े-बड़े नामों के चक्कर में न पड़ें, किन्तु जो मन के स्वच्छ संत हैं उनकी शरण लें, उनकी सेवा करें, प्रथम मन-निरोध के लिए उनका ध्यान करें। जो राग-द्वेष में लिपटा हो उसकी उपासना से मन शुद्ध नहीं हो सकता। उसकी उपासना से तो मन और खराब होगा। अतः जो काल-फांस से बचा हो, राग-द्वेष की फांसी से मुक्त हो, ऐसे स्वच्छ संत की शरण, स्मरण, उपासना साधकों के लिए कर्तव्य है। साधु को भी ऐसे संतों की उपासना करनी चाहिए तथा महन्तों को भी। महंत मठ या समाज का प्रबन्धक होता है। उसे उसके गर्व में नहीं पड़ जाना चाहिए। उसका कल्याण भी तभी होगा जब वह वासना एवं राग-द्वेषरूपी काल से छूटे हुए संतों की उपासना करेगा।

निर्मल संतों एवं सद्गुरु से प्रेरणा लेकर अंततः तो निज चेतनस्वरूप में ही स्थित होना होगा। हमारा मन हर समय देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का स्मरण करता है, जो जड़, अनात्म, नाशवान तथा छूटने वाले हैं। इसीलिए हम भवबन्धनों में बंधकर संसार-सागर में बहते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि परिणामी तथा अनात्म वस्तुओं का स्मरण एवं राग छोड़ दो। तुम निरंतर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप का स्मरण करो। मैं अजन्मा हूं, अविनाशी हूं, नित्य हूं, अमर हूं, कालातीत हूं—इस भाव में रमण करो। यही शोकमुक्त होने का पथ है, यही जीवन्मुक्ति का मार्ग है। इसके अलावा सब भटकाव है।

दत्तात्रेय जी बहुत बड़े अवधूत हुए। उन्होंने तपस्या की, यह ठीक है, परन्तु उन्होंने अग-जग सारा विश्व अपना स्वरूप मान लिया। उन्होंने जड़-चेतन का विवेक ही नहीं किया। उनके ख्याल से चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म। 'मैं सबका साक्षी हूं' इस दशा में न रहकर जड़-चेतन एक में मिला दिये। 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सारा विश्व मेरा स्वरूप है' यह एक मिथ्या अवधारणा है, परन्तु इसे ही साधु मान लिया गया, "मिथ्या साधु भुलाना" मिथ्या को उत्तम एवं सत्य समझ लिया गया। यह तो मानो पानी मथकर घी निकालने-जैसी बात हुई। जड़-चेतन एक समझना ही अविद्या है और इस अविद्या को ही यहां ज्ञान मान लिया और इसी भावधारा में समाधि लगायी गयी, इसी भाव में अपना मन लीन किया गया, तो जड़-प्रकृति से छुटकारा कहां हुआ!

महाराज गोरखनाथ जी महान तपस्वी और हठयोगी हुए। उन्होंने प्राणायाम को खूब साधा, हठयोग की नयी-नयी युक्तियां निकालीं, नाद-ज्योति आदि को अपना ध्येय बनाकर उनमें धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम किया, इन सबसे ऋद्धि-सिद्धि के भी काफी प्रपंच जुड़े। किसी एक ध्येय में जब धारणा, ध्यान तथा समाधि हो जाती है तब इस एकाग्रता को 'संयम' कहा जाता है। योगदर्शन में बताया गया "पदार्थों के परिणाम में संयम कर लेने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञान हो जाता है। शब्द, अर्थ तथा ज्ञान में संयम कर लेने पर सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा का ज्ञान हो जाता है। संस्कारों में संयम कर लेने पर पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। शरीर का संयम कर लेने पर योगी अतंर्धान हो जाता है। बलों में संयम कर लेने पर हाथी-जैसा बल हो जाता है। प्रकाश में

संयम कर लेने पर देश-विदेश तथा परदे में पड़ी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। सूर्य में संयम कर लेने पर समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है। मूर्धा की ज्योति में संयम कर लेने पर सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं। यहां तक कि विभिन्न संयम कर लेने पर योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है, पानी-कीचड़ पर चलते हुए भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता, वह आकाश में उड़ता है, वह अपने रूप को छोटा बना लेता है, बड़ा बना लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है इत्यादि।'' इसके लिए योगदर्शन का तीसरा पाद देखने योग्य है।

उक्त काल्पनिक एवं मायावी बातों में यदि योगी पड़ा रहा तो वह परब्रह्म को कैसे जान सकता है? 'पर' कहते हैं एकदम निराले को। जो तीनों गुणों से अलग है, वह 'पर' है; 'ब्रह्म' कहते हैं श्रेष्ठ को। जो जड़-प्रकृति से एकदम निराला, पृथक एवं श्रेष्ठ है वह निजस्वरूप चेतन ही है। अतएव व्यक्ति की शुद्धचेतना ही परब्रह्म है। परन्तु ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर में पड़ा हुआ एवं नाद तथा ज्योति को अपना लक्ष्य समझने वाला योगी निजस्वरूप का मर्म नहीं जान सकता। नाद-ज्योति, कल्पित ऋद्धि-सिद्धि आदि सबका त्याग करके ही निज चेतनस्वरूप में स्थिति होती है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वसिष्ठ जी अपनी जगह पर महान हैं। वे वेद-विद्या के सम्पूर्ण ज्ञाता माने जाते हैं, श्रीराम-जैसे महापुरुष उनके शिष्य हैं। वे रघुवंश के धार्मिक पथप्रदर्शक रहे और राजनीति में भी उनकी राय जितनी सुनी जाती थी, वे देते थे। वे राजा दशरथ को यह राय नहीं दे सके थे कि भरत-शत्रुघ्न को बुलाकर श्रीराम का राजतिलक होना चाहिए। सीतानिर्वासन करने के समय श्रीराम ने गुरुमहाराज की राय लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतएव वसिष्ठ एक राजघराने के गुरु तथा पुरोहित रहे तथा राजा की राय में 'हां' करने वाले थे और संसारी आदमी थे। संसारासक्ति से अलग होकर निजस्वरूप में स्थिति की बात इन सबसे अलग होती है। वसिष्ठजी गृहस्थ-गुरु हैं। काल-फांस से बचे हुए गुरु तो विरक्त होते हैं। संत विरक्त गुरु की उपासना करते हैं, गृहस्थ गुरु की नहीं।

यदि श्रीराम को कोई उपासना का विषय बनाये तो उसकी भावना है, वह बना सकता है। परन्तु यह समझना चाहिए कि वे संसार के हर्ता-कर्त्ता नहीं थे कि उनकी उपासना करने से वे खुश होकर तुम्हें मुक्ति दे देंगे या अपने स्वर्गलोक में बुला लेंगे। वे भी सामान्य मनुष्य की तरह मां-बाप से पैदा होकर एक दिन शरीर त्यागकर चले गये। दूसरी बात वे वासना से भी मुक्त नहीं थे। वे एक राजा थे, बाल-बच्चे वाले गृहस्थ थे और सांसारिकता में लिपटे थे। साधक को तो उपासना का विषय वीतराग को बनाना चाहिए। योगदर्शन कहता है ''वीतरागविषयं वा चित्तम्''[१] अर्थात जिनके राग-द्वेष बीत गये हैं उनका ध्यान करने से मन निर्मल होता है। श्रीराम हमारे पितामह हैं, श्रद्धेय हैं, आदरणीय हैं, यह सब ठीक है; परन्तु साधक की उपासना का विषय तो विरक्त ही बन सकता है। संत गृहस्थ की उपासना नहीं करता, वह विरक्त की उपासना करता है। ''सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।'' कोई भी साधक हो, गृहस्थ हो या

---

१. योगदर्शन १/३७।

विरक्त, उसे राग-द्वेष से छूटे हुए विरक्त संत की उपासना करनी चाहिए और अंततः निज अविनाशी स्वरूप चेतन एवं आत्माराम की, न कि श्रीराम की।

साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि मजहबी भावना वाले लोग साधारण बातों को धर्म के मुद्दे बना लेते हैं और उन्हीं तुच्छ बातों को लेकर आपस में लड़ते रहते हैं। जैसे हिन्दुओं ने मुरदे को जलाना परम धर्म मान लिया, मुसलमानों ने उसे गाड़ना परम धर्म मान लिया—इन बातों में क्या रखा है! शरीर से जब जीव निकल जाता है तब इसका फुकंत, गड़ंत तथा लुटंत होता है। इसे जला दिया या जमीन में गाड़ दिया या जल या किसी सुनसान में छोड़ दिया जिसे जलजंतु या चील-गीध, सियार-बीग खा गये। जहां जैसी योग्यता हो वहां वैसा कर देना चाहिए। गाड़ने की जगह नहीं है और गाड़ने का हठ किये बैठे हैं, जलाने की सुविधा नहीं है और जलाने का हठ किये बैठे हैं। यह गलत बात है। लाश को ठिकाने लगाना है, जब जैसी सुविधा हो वैसा कर देना चाहिए। किसी एक रूढ़ि की पूंछ पकड़कर बैठे नहीं रहना चाहिए। कबीर साहेब कहते हैं कि जो हंस है, नीर-क्षीर विवेकी है वह बड़ी-बड़ी कही जाने वाली बातों में नहीं उलझता, तो इन तुच्छ बातों में क्यों उलझेगा! वह यह सब तमाशा खड़ा होकर देखता है, वह सबका तटस्थ द्रष्टा रहता है, मध्यस्थ रहता है, किसी की पूंछ पकड़कर रूढ़िवादी नहीं होता।

आशा-तृष्णा-वश सब देहधारी दुखी हैं

शब्द–९१

तन धरि सुखिया काहु न देखा, जो देखा सो दुखिया॥ १ ॥
उदय अस्त की बात कहत हैं, सबका किया विवेका॥ २ ॥
बाटे-बाटे सब कोई दुखिया, क्या गिरही बैरागी॥ ३ ॥
शुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहि माया त्यागी॥ ४ ॥
योगी-जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना॥ ५ ॥
आशा-तृष्णा सब घट व्यापी, कोइ महल नहिं सूना॥ ६ ॥
साँच कहौं तो सब जग खीजे, झूठ कहा ना जाई॥ ७ ॥
कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई॥ ८ ॥

शब्दार्थ—उदय अस्त = सारा संसार। बाटे-बाटे = अपने-अपने क्षेत्र में, अपने-अपने ढंग से। शुकाचार्य = शुकदेवमुनि। जंगम = लिंगायत सम्प्रदाय के लोग, शिवाचारी। तापस = तपस्वी। खीजे = खीजना, कुढ़ना, क्रोध करना।

भावार्थ—मैंने किसी शरीरधारी को सुखी नहीं देखा, जिसे देखा वह दुखी है॥१॥ मैं सारे संसार की बात कहता हूं, मैंने सबका विवेक कर लिया है॥२॥ क्या गृहस्थ और क्या विरक्त अपने-अपने क्षेत्र में तथा अपने-अपने ढंग से सब दुखी हैं॥३॥ इस संसार के दुख को देखकर शुकदेव मुनि बालकपन से ही माया-मोह का त्यागकर वैराग्यवान बन गये

थे ।।४।। योगी और शिवाचारी लोग तो अति दुखी हैं और तपस्वियों का दुख तो दूना है ।।५।। क्योंकि सबके हृदय में आशा-तृष्णा व्याप्त है, किसी का दिल-महल इससे खाली नहीं है ।।६।। यदि सत्य कहता हूं तो सारा संसार कुढ़ता है, गुस्सा करता है, परन्तु अपने राम से तो झूठ कहते नहीं बनता ।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि मूलतः तो वे ही दुखी हुए जिन्होंने ऐसा रास्ता चलाया कि व्यक्ति का सुख, मोक्ष या परमात्मा कहीं बाहर है और उसे पाना है ।।८।।

व्याख्या—शरीर बनता ही है असंख्य जड़कणों से मिलकर। उन जड़कणों का स्वभाव ही है परिवर्तन। परिवर्तन की धारा पर बैठकर स्थिरता की चाह रखना घोर अज्ञान है। शरीर तो दूसरों की सेवा तथा स्वयं के लिए संयम करने का साधन मात्र है। हम इस असंख्य कणों के विकारी जोड़ शरीर को सत्य तथा अपना स्वरूप मान लेते हैं और चाहते हैं कि यह स्थिर रहे, तो हम दुखी होंगे ही। हमारा शरीर परिवर्तनशील है, साथियों का शरीर परिवर्तनशील है, धन के नाम पर मिले हुए सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं। इतना ही नहीं, हमारा तथा हमारे साथियों का मन भी परिवर्तनशील है। इतनी घोर परिवर्तनशीलता के बीच में बैठकर हम उन सबकी एकरस स्थिति चाहते हैं तो हमें दुखी होना ही होगा। जहां सब कुछ बदल रहा हो और मिलकर छूट रहा हो वहां यह आशा करें कि हम जो कुछ चाहें वह होता रहे तथा सारे अनुकूल प्राणी-पदार्थ एक समान बने रहें, घोर प्रमाद है।

विवेक से सब कुछ परिवर्तनशील है ही, इतिहास उठाकर देखो तो पता लगेगा कि बड़े-बड़े कहलाने वालों के जीवन में उनका सब कुछ कितना बदलता रहा। एक चित्रकार ने श्रीराम की चित्रावली बनायी । उसे श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मण देखने लगे। जब जनकपुर से बरात लौटकर अयोध्या पहुंचती है चित्र के उस अंश को देखकर श्रीराम आंसू बहाते हुए कहने लगे—"उन दिनों पिताजी जीवित थे, नूतन विवाह का अवसर था और माताएं इस चिंता में थीं कि हमारे पुत्र कैसे सुखी होंगे; हमारे वे दिन चले गये।"[१] श्रीराम का जन्म, घर-आंगन तथा सरयू तट पर खेलना, मृगया, ताड़कावध, धनुष-यज्ञ, विवाह, राज्याभिषेक की तैयारी का उत्साह, दूसरे ही दिन चौदह वर्ष का दारुण वनवास, घोर जंगलों में चौदह वर्षों तक भटकना, सीता-हरण, रावण से घोर युद्ध, सीता की वापसी का तिरस्कार, पुनः ग्रहण, अयोध्या में आकर राज्याभिषेक, पुरवासियों के अपवाद करने पर पुनः सीता का वननिर्वासन, सीता का पृथ्वी में प्रवेश, श्रीराम का सभी साथियों के सहित सरयू में प्रवेश—कितना भयानक दृश्य! सर्वाधिक दुखी राम! इसीलिए दुखभरी कहानी के अर्थ में 'राम कहानी' मुहावरा चल पड़ा। जब कोई बहुत देर तक अपना दुख रोने लगता है तब लोग कहते हैं कि क्या यार अपनी रामकहानी सुनाने लगे। महाराज कृष्ण का जीवन देखो, पूरा जीवन उथल-पुथल से भरा। जीवन भर युद्ध, सत्तरह बार जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई, अंततः कृष्ण का भागकर द्वारका बसाना, महाभारत का

---

१. जीवत्सु तातपादेषु नूतने दारसंग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः।। *(उत्तर रामचरितम् नाटक, १/१९)*

दारुण युद्ध और उससे कहीं भयंकर श्रीकृष्ण के परिवार—यादवों का घोर पतन, सबका शराबी होकर आपस में कट मरना, बलराम का समुद्र में प्रवेश तथा वन में व्याध के बाण से श्रीकृष्ण का भी प्राणांत! इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि तनधारी को तो किसी को भी सुखी नहीं देखा, सबका विवेक कर लेने के बाद मैं यह बात करता हूं। उदय-अस्त की बात कहता हूं, पूरे संसार की बात कहता हूं।

"बाटे-बाटे सब कोई दुखिया, क्या गिरही बैरागी।" गृहस्थ हो चाहे वैरागी एवं त्यागी संप्रदाय हों अपने-अपने ढंग से सभी दुखी हैं। गृहस्थी झंझटों तथा उलझनों की जगह है ही, परन्तु वैराग्य-मार्ग का वेष-संप्रदाय अपने ढंग से उलझा रहता है। शुद्ध वैराग्य तो सर्वोच्चदशा है। मन में उसके आ जाने पर तो कोई दुख रहता ही नहीं है, परन्तु वैरागी-त्यागी-संन्यासी नाम से फैला हुआ संप्रदाय जहां हजारों-लाखों का झुंड हो गया है, जिनमें अधिकतम केवल त्याग-वेष की औपचारिकता में उलझे हैं, अपने-अपने मतवाद, वेष, मर्यादा, गद्दी-महंती, मूल और शाखा के मिथ्या रगड़े-झगड़े में राग-द्वेष-लिप्त हैं, इनमें कहां शांति है! मठ-मन्दिर, चेले-चाटी, मान-पूज्यता के लिए तू-तू, मैं-मैं करने वाले इन त्यागी वेषधारियों में कहां शांति है! बस, सबके दुखों का अपना-अपना ढंग है। गृहस्थ अपने ढंग से दुखी हैं, तथा वेषधारी अपने ढंग से दुखी हैं।

"शुकाचार्य दुखही के कारण, गर्भहि माया त्यागी।" महर्षि वेदव्यास के पुत्र शुकदेव मुनि जब माता के गर्भ में आये तब वे उसी में बारह या सोलह वर्ष इसीलिए रह गये कि संसार में बड़ा दुख है, और जब पैदा हुए तो 'नारबेवार' लेकर जंगल की ओर भाग खड़े हुए और विरक्त हो गये। वस्तुतः गर्भस्थ शिशु अचेत रहता है, उसे कहां ज्ञान होगा कि संसार में पैदा होने पर क्या दुख है और गर्भवास में ही क्या सुख रखा है जिसमें शुकदेव मुनि आनन्द-विहार करते रहे हों। इन सबका अर्थ इतना ही है कि शुकदेव मुनि बारह या सोलह वर्ष की उम्र में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये। श्रीमद्भागवत में यही लिखा है कि "जिनका अभी यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था उन शुकदेव को संन्यास लेने के उद्देश्य से जाते हुए देखकर उनके पिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विरहकातर होकर उन्हें बेटा-बेटा कहकर पुकारा। शुकदेव वैराग्य में इतने तन्मय थे कि उन्होंने पिता की बात पर ध्यान भी नहीं दिया, तो वेदव्यास को मानो वृक्षों ने ही उत्तर दिया। ऐसे सबके श्रद्धास्पद शुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूं।"[१] यहां है "गर्भहि माया त्यागी" अर्थात वे जन्मजात विरक्त थे। वे अपने पूर्वजन्म से वैराग्य के इतने प्रबल संस्कार ले आये थे कि बचपन से ही उनके व्यक्तित्त्व से वैराग्य टपकता था। वस्तुतः वैराग्य ही दुखों का अन्त कर सकता है। जो सच्चा वैराग्यवान है वही सुखी है। चाहे किसी गृहस्थ के हृदय में या चाहे किसी साधुवेषधारी के हृदय में, वैराग्य अर्थात अनासक्ति की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतना दुखों से मुक्त होगा। दुखों से पूर्ण मुक्त तो वही होता है जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य है।

---

१. यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भागवत १/२/२)

"योगी जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना।" योगी ऐसे कम होते हैं जो अपने मनोनिग्रह की साधना में लगे, ज्यादा लोग तो ऐसे होते हैं जो अपने बाह्य आसनों का जनता में प्रदर्शन करते, चमत्कार दिखाते, ऋद्धि-सिद्धि के प्रलोभन में भटकते तथा वेष के बल पर जनता से प्रतिष्ठा पाने के भूखे रहते हैं। जंगमों एवं शिवाचारी आदि अनेक वेष-भगवानों की इन-जैसी अपने-अपने ढंग से दशा रहती है। तपस्वीजन तो आवश्यकता से अधिक अपने शरीर को संताप देने में लगे रहते हैं, घोर उपवास, ठण्डी में जलशयन, गरमी में अग्नितापन, वर्षा में खुले आकाश में निवास, केशलुंचन तथा अन्य नाना कष्ट उठाते रहते हैं। इसलिए इनका दुख दूना समझिए।

खास बात है "आशा-तृष्णा सब घट ब्यापी, कोइ महल नहिं सूना।" जो सबके हृदय में पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा का राज्य है, सबके मन में किसी-न-किसी प्रकार संसार की आशा-तृष्णा लगी है, यही दुखदायी है। इन्द्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थ, मान-प्रतिष्ठा, पूज्यता-सत्कार आदि पाने की आशा-तृष्णा तो दुखदायी हैं ही, परन्तु यदि संसार में अधिक-से-अधिक धर्म, सत्यज्ञान तथा सदाचार की बातें प्रचार कर देने की आशा-तृष्णा है तो यह भी एक पागलपन एवं दुखद ही है। विवेकवान सबका हित चाहता है और शक्ति के अनुसार जनकल्याण का प्रयास करता है, परन्तु वह उसके लिए मन से व्याकुल तथा बेचैन नहीं रहता। वह धर्मप्रचार की आशा-तृष्णा नहीं करता। कोई भी काम किया जाय या वस्तुओं का उपयोग किया जाय, यदि सावधानी न बरती जाय तो उसमें तृष्णा अपना घर बनाती है। अनुकूल खान-पान, वस्तुओं तथा स्थानों के उपयोग में तृष्णा; मान-प्रतिष्ठा एवं पूज्यता में तृष्णा; शिष्य-शाखा, मठ-मन्दिर एवं धन-द्रव्य में तृष्णा; प्रचार-प्रसार में तृष्णा; जन-समूह, भाषण तथा लेखन में तृष्णा। इसी प्रकार दृश्य मात्र में तृष्णा पैदा होती है। यदि हम सावधानी न बरतें तो हर जगह तृष्णा अपना घर बनाती है। अच्छा काम करना ठीक है, परन्तु उसकी भी तृष्णा ठीक नहीं है। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह आशा-तृष्णा सब घट में व्याप्त है। किसी का हृदय-घर इससे बचा नहीं है। इस कथन पर जोर देने का मतलब है कि इससे कोई विरला बचा होगा। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले गलत कामों को छोड़े, संसार के राग-रंग एवं भोगों को छोड़े और अपने लिए मान-प्रतिष्ठा की भावना का परित्याग करे। वह शुभ काम करने में, जन-कल्याण करने में पहले तृष्णा रखे यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर सारी तृष्णाओं का अन्त होना चाहिए। यदि मनुष्य चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायं तो वह अपने मन से शुभाशुभ सारी बातों में लगने वाली आशा-तृष्णा का त्याग करे।

सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं सच्ची बात कहता हूं तो सारा संसार गुस्सा करता है, परन्तु झूठ तो अपने से कहा नहीं जा सकता। गृहस्थ दुखी हैं, वेषधारी दुखी हैं, वे सब क्यों दुखी हैं? क्योंकि वे बाहर से कुछ पाने की आशा-तृष्णा में पड़े हैं। यह सत्य है। इसे सुनकर नाराज होने की कोई बात ही नहीं होनी चाहिए। "कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि वही दुखिया हुआ, जिसने यह रास्ता चलाया, जिसने यह रीति निकाली कि बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी। भोग-विषय तो जड़ हैं ही, वे बाहरी चीजें हैं ही, परन्तु यदि मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म तथा राम-रहीम भी

बाहर से मिलते हैं तो यह दुखदायी रास्ता है। बाहर से तो जो कुछ मिलता है वह भौतिक है, परिवर्तनशील है। वह मिलकर छूट जायेगा। यदि मोक्ष एवं परमात्मा जीव को बाहर से मिलते हैं, तो वे मोक्ष तथा परमात्मा के नाम पर भौतिक वस्तु ही हैं। वस्तुतः मोक्ष एवं परमात्मा आत्मा की कृतार्थ अवस्था का नाम है। वे आत्मा एवं जीव से कोई अलग वस्तु नहीं हैं, परंतु यह बात सुनकर संसार के लोग खीजते हैं। वे विचार नहीं करते, किन्तु सुनी-सुनायी बातों की भावना में बहते हैं। उन्हें यह पता नहीं है कि भावना से सत्य ऊपर होता है।

संसार के प्राणी-पदार्थों को पाने की आशा-तृष्णा तो हमारी छुटनी ही चाहिए; जीने, करने, भोगने, देखने, सुनने आदि की भी आशा-तृष्णा छुटनी चाहिए। यहां तक कि बाहर से मोक्ष, परमात्मा तथा ब्रह्म पाने की आशा-तृष्णा भी छूट जानी चाहिए। जब सारी आशा-तृष्णाओं का सर्वथा अन्त हो जाता है, तब मन में कोई दुख नहीं रह जाता। यदि मन इस प्रकार दुखरहित हो जाय तो कभी-कभार शरीर में आये हुए रोगजनित दुख जीव को क्षुब्ध नहीं कर सकते। वस्तुतः मन का दुख ही बड़ा दुख है, जिसकी जननी है आशा-तृष्णा। जिनकी सारी आशा-तृष्णाएं छूट गयीं वह परम सुखी हो गया।

मन के पारखी बनो

शब्द–९२

ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई॥ १ ॥
सनक सनन्दन जैदेव नामा, भक्ति सही मन उनहुँ न जाना॥ २ ॥
अम्बरीष प्रहलाद सुदामा, भक्ति हेतु मन उनहुँ न जाना॥ ३ ॥
भरथरि गोरख गोपीचन्दा, ता मन मिलि-मिलि कियो अनन्दा॥ ४ ॥
जा मन को कोइ जान न भेवा, ता मन मगन भये शुकदेवा॥ ५ ॥
शिव सनकादिक नारद शेषा, तन के भीतर मन उनहुँ न पेखा॥ ६ ॥
एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नामा = नामदेव। भेवा = भेद, रहस्य। एकल निरंजन = एक मन। कबीरा = जीव।

भावार्थ—हे मेरे बंधु! उस मन की पहचान करो जो तुम्हारा संसार से सम्बन्ध कराने में कारण है। इस बात पर विचार करो कि शरीर छूट जाने पर मन कहां लीन होगा?॥१॥ सनक, सनन्दनादि तथा जयदेव, नामदेव आदि महापुरुषों ने भक्ति अवश्य की, परन्तु मन की परख उन्होंने नहीं की॥२॥ अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा आदि महानुभाव भी अधिक भक्ति-भावना के कारण मन की परख नहीं कर सके॥३॥ भर्तृहरि, गोरखनाथ और गोपीचन्द जैसे योगीजनों ने भी उस मन में मिल-मिलकर आनन्द माना॥४॥ जिस मन का कोई रहस्य न जान सका, उसी मन में मिलकर शुकदेव मुनि भी निमग्न हो गये॥५॥ यहां तक कि शिव, सनकादि, नारद, शेषजी आदि ने भी शरीर के भीतर में

रहने वाले मन की परख नहीं की।।६।। एक मन का जंगल सभी देहधारियों के अन्दर फैला हुआ है और उसी में सब जीव भटक-भटककर उलझ रहे हैं।।७।।

व्याख्या—मन न हो तो जीव का सम्बन्ध जगत से न हो। प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है तो उस समय जीव को शरीर का भी भान नहीं रहता। इस प्रकार हर आदमी प्रतिदिन चार, छह या आठ घंटे तक नींद में जाकर अपने माने हुए शरीर को भूल जाता है। अतएव चेतन का जड़ से सम्बन्ध कराने में यह मन ही कारण है। मन ही जड़-चेतन में पुल है। जो दोनों को जोड़ता है। बाहर से कुछ भी प्राप्त करने का नक्शा मन बनाता है और मन के खोने के साथ बाहर का नक्शा भी खो जाता है। जीव को बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांच विषयों के अलावा कुछ भी नहीं मिलता। यदि हम बाहर से मोक्ष एवं ईश्वर का नक्शा बनाते हैं और उन्हें पाना चाहते हैं तो वे भी मन के आयाम से बाहर नहीं होते।

इस शब्द में सद्‌गुरु कबीर ने बड़े-बड़े नाम लिये हैं और यह बताया है कि वे सब मन के आयाम से बाहर न जा सके। भक्तिभावना में विह्वल लोग किसी देहधारी को जो वर्तमान में है या शरीर छोड़ चुका है भगवान एवं जगत-नियंता मानकर उसके पीछे अपनी सुध-बुध खोये रहते हैं। जो भक्त देहधारी को न मानकर ऐसे ही कल्पना करते हैं कि एक ऐसा ईश्वर है जो सब जगह व्याप्त है, उसका भी ईश्वर उसकी मान्यता होता है। जब मन शांत हो जाता है उस समय किसी ईश्वर का नक्शा नहीं रह जाता। जयदेव, नामदेव, अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा, नारद, शेष आदि जितने भी भक्तों के नाम लिए जायं, ये अपने मन में किसी प्रकार के ईश्वर का नक्शा बनाकर उसकी भक्तिभावना में डूबे रहे। यह सच है कि उन्होंने इस प्रकार की भक्ति की, परन्तु वे यह नहीं समझ सके कि हम मन के आयाम, मन के फैलाव के भीतर ही रम रहे हैं। वे मन को परख नहीं सके। वे यह नहीं समझ सके कि हम मन को ही ईश्वर मानकर उसी में रम रहे हैं।

योगी लोग मन से नाद, बिन्दु, ज्योति आदि का नक्शा बनाकर उन्हीं में मग्न होते हैं। ज्ञानी कहलाने वाले लोगों की कल्पना हुई कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। यह भी एक मन का ही विस्तार है। ईमानदारी से सोचें तो सहज ज्ञात होगा कि "मैं सर्वत्र व्याप्त हूं"—यह किसी का अपना अनुभव नहीं है, परन्तु अधिसंख्यक ज्ञानी कहलाने वाले ऐसी ही कल्पना करते हैं। अतएव सब मन के नक्शे में ही उलझे रहते हैं। इस प्रकार भक्त, योगी, ज्ञानी आदि सब मन के विस्तार को ही मन का परम आश्रय मान लेते हैं। संसार के कर्म-प्रपंच, विषय-भोग तथा राग-रंग तो मन के विस्तार हैं ही, परन्तु यदि मन का परम विश्रामस्थल भी मन के विस्तार को मान लिया गया, तो मन को परखकर उससे ऊपर उठने की बात ही कहां हुई!

कबीर देव इस शब्द के शुरू ही में कहते हैं "ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहँाँ समाई।" यहां साहेब सामान्य मनुष्यों के मन को नहीं कह रहे हैं। यहां भक्त, योगी, ज्ञानी-जैसे परमार्थपरायण के मन की बात कर रहे हैं। शरीर रहते-रहते जहां मन लगा रहता है, शरीर छूटने पर मन वहीं समाता है। यदि व्यक्ति का मन बाहर किसी शुभ या अशुभ नक्शे में लगा है, तो वह आज भी बाहर भटक रहा है, और शरीरांत के बाद

भी भटकने की ही स्थिति में रहेगा। परन्तु यदि मन बाहर के सारे नक्शे छोड़कर चेतना एवं आत्मा में लौट आया है, तो भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन जब संकल्प-शून्य हो जाता है, तब कोई नक्शा नहीं रहता। तब केवल आत्मा विद्यमान रहती है एवं ज्ञानस्वरूप मात्र रहता है और गहरी शांति रहती है।

विवेकवान का काम है कि वह मन के सारे नक्शों को खो दे। वस्तुतः जो मन को ही परख-परखकर उसका अभाव करता रहता है, उसके सामने से सारे नक्शे, सारी अवधारणाएं एवं सारी कल्पनाएं खो जाती हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "ता मन को चीन्हो मोरे भाई" मन को चीन्हो, मन को परखो, तो मन शून्य हो जायेगा। हम एक विशेष ध्यान की अवस्था में बैठकर मन को परख-परखकर उसे शून्य कर देते हैं यह तो ठीक ही है, परन्तु हमें चाहिए कि अन्य समय में भी, लेटते, उठते, बैठते, खाते-पीते तथा कोई काम करते हुए मन को परखते रहें। मन हमें वर्तमान से हटाकर नये-नये नक्शे में ले जाता है। यदि हम हर समय मन को परखते रहते हैं तो इससे बड़ी और कोई साधना नहीं होगी। साधक को किसी मुक्ति या भगवान का नक्शा नहीं बनाना है, किन्तु मन को परख-परखकर उसे छोड़ते रहना है। मन ही हमें भव में जोड़ता है, मन ही हमें संसार एवं प्रपंचों में मिलाता है। यदि हमने मन को ही परखकर उसे छोड़ने का अभ्यास करना शुरू कर दिया तो मानो हमारे लिए भवसागर ही समाप्त हो गया। हमें बाहर से न मोक्ष पाना है और न कोई भगवान पाना है, हमें केवल अपने मन को देखते रहना है, उसे परख-परखकर अपनी सत्ता, अपनी चेतना को अपनी ओर लौटाते रहना है। इस प्रकार जब हम अपनी सत्ता मन को नहीं देते, तब मन शून्य हो जाता है। मन के शून्य हो जाने पर सारे नक्शे समाप्त हो जाते हैं। फिर तो जीव असंग होकर अपने आप में पूर्ण स्थित हो जाता है। इस स्थिति को पाने के बाद शरीर का अभी कुछ दिन रहना या आज ही उसका छूट जाना उसके लिए बराबर है। जो मन का साक्षी बन जाता है, उसके भवबन्धन का सारा खेल समाप्त हो जाता है। अतएव वह हर समय कृतार्थ है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि शरीर छूटने के पहले मन को परखकर उसे छोड़ दो। समझ लो मन तथा मन के सारे नक्शे झूठे हैं वे चाहे शुभ हों और चाहे अशुभ।

सद्गुरु कहते हैं कि इस तथ्य को न समझकर जीव मन को ही अपना स्वरूप मान लेता है। वह हर क्षण मन के विस्तार ही में डूबा रहता है। वह कहीं अशुभ नक्शे में तथा कहीं शुभ नक्शे में, हर हालत में हर समय मन के नक्शे में ही उलझा रहता है। "एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा।" यहां निरंजन का अर्थ मन है। साहेब कहते हैं कि यह एक मन सब शरीरों में विद्यमान है। यहां एक का मतलब यह नहीं है कि सभी शरीरों में एक ही मन है। वस्तुतः सभी शरीरों में अलग-अलग मन है। तात्पर्य यह है कि हर जीव एक अपने मन के बनाये जंगल एवं भूलभुलैया में भटक-भटककर रह रहा है। हर आदमी अपने मन के जाल में उलझा है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें मन के जाल को तोड़ना है। तुम्हें कुछ पाना नहीं है। कुछ पाने की भावना ही भ्रम है। तुम्हें केवल मन के जाल को तोड़कर मुक्त हो जाना है। मन के साक्षी बन गये, मन के पारखी बन गये, मन को अपने आप से अलग कर दिये, बस कृतार्थ!

सुदामा

ये एक गरीब ब्राह्मण थे। इन्होंने सांदीपनि के आश्रम में रहकर श्रीकृष्ण के साथ विद्याध्ययन किया था। अन्त में श्रीकृष्ण ने इनको धन-धान्यसंपन्न बना दिया था।

भर्तृहरि

ये उज्जैन के राजा थे। इनके छोटे भाई का नाम विक्रमादित्य तथा पत्नी का नाम पिंगला था। ये पिंगला में बहुत आसक्त थे। परन्तु पिंगला घोड़ादरोगा में आसक्त थी। यह भेद खुलने पर भर्तृहरि को वैराग्य हो गया और वे राज-पाट छोड़कर विरक्त हो गये। पीछे विक्रमादित्य को राजगद्दी मिली। भर्तृहरि के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं शृंगारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशतक। ये तीनों ग्रंथ संस्कृत-श्लोकों में हैं।

गोपीचन्द

ये महाराज भर्तृहरि के भांजे थे। अपनी माता मैनावती के वैराग्यमय उपदेशों से जागृत होकर राज-पाट छोड़कर इन्होंने वैराग्य ले लिया। इन्होंने प्रसिद्ध योगी जालंधर से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद अपनी रानी से प्रथम भिक्षा ग्रहण की। ये वैराग्यवान पुरुष थे। मंगते योगी सारंगी बजाकर इनके जीवन-चरित को गाते हैं।

संसार की विपरीतता

शब्द–९३

बाबू ऐसो है संसार तिहारो, इहै कलि ब्यौहारो ॥ १ ॥
को अब अनुख सहत प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो ॥ २ ॥
सुमृति सोहाय सबै कोइ जानै, हृदया तत्व न बूझै ॥ ३ ॥
निर्जिव आगे सर्जिव थापे, लोचन किछउ न सूझै ॥ ४ ॥
तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बाँधिन खोटा ॥ ५ ॥
चोरन दीन्हों पाट सिंहासन, साहुन से भौ ओटा ॥ ६ ॥
कहहिं कबीर झूठे मिलि झूठा, ठग ही ठग ब्यौहारा ॥ ७ ॥
तीनि लोक भरपूरि रहा है, नाहीं है पतियारा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कलि = कलिकाल, पापबुद्धि। अनुख = झंझट, खुराफात। रहनि = रहना। सुमृति = स्मृतियां, धर्मशास्त्र। सोहाय = अच्छा लगता है। तत्व = सच्चाई। निर्जिव = मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता। सर्जिव = सजीव देहधारी। थापे = वध करते। अँचवै = आचमन, पीना। खोटा = असत्य, बुरा। चोरन = वंचक गुरुआ। साहुन = विवेकी संत। ओटा = मुख छिपाना।

भावार्थ—हे बाबू! तुम्हारी दुनिया बड़ी अजीब है। यहां तो सर्वत्र पापबुद्धि का व्यवहार हो रहा है ॥१॥ तुम लोगों के बीच में रोज-रोज की खुराफात कौन सहे! यहां तो हमें अपने रहने लायक नहीं लगता ॥२॥ स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों की हिंसा-विधायक बातें

सबको अच्छी लगती हैं। ये लोग हृदय से सच्चाई को नहीं समझना चाहते।।३।। ये बेजान जड़ देवी-देवताओं के सामने पूजा तथा यज्ञ के नाम पर जीवधारी पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं। इनकी आंखों से कुछ नहीं सूझता।।४।। ये अमृत को त्यागकर जहर क्यों पीते हैं और सत्य को त्यागकर अपनी गांठ में बुरी वस्तु क्यों बांधते हैं!।।५।। ये लोग छलने वाले वंचक गुरुओं का आदरकर उन्हें पाटला और सिंहासन देते हैं और विवेकी संतों से अपने मुख छिपाते हैं।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि झूठे लोग झूठों से मिल रहे हैं तथा ठग लोग ठगों से मिलकर ठग-विद्या का व्यवहार कर रहे हैं।।७।। सारे संसार में तो भ्रांति ही भरी है। ये सत्य पर विश्वास करने वाले नहीं हैं।।८।।

व्याख्या—"बाबू ऐसो है संसार तिहारो, इहै कलि ब्यौहारो।" क्षत्रियों को, पढ़े-लिखे लोगों को या आदरणीय लोगों को 'बाबू' कहा जाता है। प्यार से छोटों को भी बाबू कहा जाता है। शायद कुछ पढ़े-लिखे लोग जिनमें ब्राह्मण कहलाने वाले भी हों, कबीर साहेब के पास आये हों और उन्हें संबोधित कर उन्होंने कहा हो कि हे बाबू! तुम्हारा संसार ऐसा ही है। तुम लोगों का जगत बड़ा विचित्र है। मैं तो मानता हूं कि जो तुम लोग धर्म के नाम पर निर्दयता का तांडव करते हो यही कलि-व्यवहार है। कलि और कुछ नहीं है, किन्तु तुम लोगों का व्यवहार ही कलि हो गया है।

"को अब अनुख सहत प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो।" तुम लोगों के बीच में रहकर कौन रोज-रोज झंझट सहे। तुम लोगों के बीच में हमें रहने लायक नहीं है। मानसिक दुर्बलतावश लोग जो गलत आचरण करते हैं वह तो गलत है ही, धर्म का नाम लेकर बड़ा-बड़ा पाप होता है और इसे देखकर मन को बड़ा कष्ट होता है। 'अनुख' के अर्थ झंझट, खुराफात या दुख होते हैं। हत्या तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है। परन्तु धर्म का नाम लेकर हत्या करना बड़े दुख की बात है।

"सुमृति सोहाय सबै कोइ जानै, हृदया तत्व न बूझै।" सुमृति स्मृति का अपभ्रंश शब्द है। अतएव सुमृति का अर्थ स्मृति है। स्मृति कहते हैं धर्मशास्त्र को। धर्मशास्त्रों में यज्ञ में तथा जड़ देवी-देवताओं के सामने पशु-पक्षियों का वध करने-कराने का विस्तृत विधान है। साहेब कहते हैं कि ये बातें लोगों को बड़ी अच्छी लगती हैं, परन्तु वे हृदय से सच्चाई नहीं समझते कि जीव-हत्या अपराध है। यह एक विचित्र बात है कि पुराकाल से यज्ञ, देवपूजन तथा अतिथि-सत्कार के नाम पर घोड़ों, बैलों, सांड़ों, गायों, भेड़ों, बकरियों आदि की बलि चढ़ाकर उसके मांस खाने का विधान किया था।[1] वसिष्ठ धर्मसूत्र ने तो यहां

---

१. ऋग्वेद १०/८६/१४; १०/२७/२; १०/७९/६; १०/९१/१४; ८/४३/११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/९/८; शतपथ ब्राह्मण ३/१/२/२१; ऐतरेय ब्राह्मण ६/८; वेदांत सूत्र ३/१/२५; बृहदारण्यक उपनिषद् ६/४/१८; शतपथ ब्राह्मण ११/७/१/३; आपस्तंब धर्मसूत्र २/७/१६/२५; आश्वलायन गृह्यसूत्र १/२४/२२-२६; वसिष्ठ धर्मसूत्र ४/८; हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र २/१५/१; बौधायन गृह्यसूत्र २/५; बैखानस ४/३; आश्वलायन गृह्यसूत्र ४/९-१०; गौतम १७/२७/३१; याज्ञवल्क्य १/१७७; विष्णुधर्मसूत्र ५१/६; वाल्मीकीय रामायण किष्किंधाकांड १७/३९; मार्कंडेय पुराण ३५/२-४। धर्मशास्त्र का इतिहास १/४२०-४२२।

तक कह डाला कि श्राद्ध या देवपूजनों में मारे गये पशु का मांस यदि यति को दिया जाय और वह न खाये तो उसे असंख्य वर्षों तक नरक में रहना पड़ता है।[१] मनु ने तो उसे इक्कीस जन्मों तक ही नरक में रहना बताया जो श्राद्ध तथा मधुपर्क के मांस को नहीं खाता।[२] मनु ने कहा "ब्राह्मण यज्ञ के लिए तथा रक्षणीय परिवारों की रक्षा के लिए पशु-पक्षियों का वध करे, ऐसा अगस्त्य ऋषि ने पहले से किया था।"[३]

कबीर साहेब के जमाने में ब्राह्मण तथा अन्य द्विजाति लोग ये सारे उदाहरण दे-देकर यज्ञ एवं देवपूजन के नाम पर जीव-हत्या करते थे तथा मांस भक्षण करते थे। धीरे-धीरे गाय एक उपयोगी जानवर सिद्ध होने से वैदिक युग में ही उसे आगे चलकर अघन्या[४] (न मारने योग्य) घोषित कर दिया गया था। पहले दूध देने वाली गायों का वर्जन हुआ, फिर सभी गायों का। मनुस्मृति में जीव-हत्या तथा मांसभक्षण के त्याग की भी बात बतायी गयी।[५] वेदव्यास को खिन्न देखकर नारद उनसे कहते हैं "संसारी लोग स्वभाव से ही विषयों में फंसे हुए हैं। धर्म के नाम पर आपने उन्हें निंदित (पशुहिंसायुक्त) सकाम-कर्म करने की भी आज्ञा दे दी है, यह बहुत ही उलटी बात हुई; क्योंकि मूर्ख लोग आपके वचनों से पूर्वोक्त निंदित कर्म को ही धर्म मानकर 'यही मुख्य धर्म है' ऐसा निश्चय करके उसका निषेध करने वाले वचनों को ठीक नहीं मानते।"[६]

भारतीय-परंपरा की यह विशेषता है कि वह विचारक होती है। यदि देश, काल तथा ज्ञान के कारण पहले के आचरण अब उचित न लगते हों तो उन्हें त्यागने में वह हिचक नहीं करती। मुसलमानों में ईश्वर के नाम पर पशुवध करना आज भी बंद न हो सका। मक्का में पर्व के दिन आज भी हजारों ऊंट काट डाले जाते हैं। भारत में बकरीद के दिन लाखों पशु मेहरबान ईश्वर के नाम पर बड़ी बेरहमी के साथ मौत के घाट उतार दिये जाते हैं; परन्तु ब्राह्मण परंपरा में जिनके शास्त्रों में पशुवध का घोर विधान है, उसे वे करीब-करीब छोड़ चुके हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से तो 'कलिवर्ज्य' की सूचियां बनने लगी थीं कि कलिकाल में क्या-क्या त्यागने योग्य है। डॉ० पांडुरंग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में कलिवर्ज्य की सूची में ५५ विषय रखे हैं जो धर्मशास्त्रों से संकलित हैं। उन्होंने कलिवर्ज्य के लम्बे अध्याय के अन्त में लिखा है—

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र ११/३४; धर्मशास्त्र का इतिहास १/४२२।

२. मनुस्मृति ५/३५।

३. यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥ *(मनुस्मृति ५/२२)*

४. ऋग्वेद १/१६४/२७-४०; ४/१/६; ५/८३/८; ८/६९/२१/; १०/८७/१६। धर्मशास्त्र का इतिहास १/४२०।

५. मनुस्मृति, अध्याय ५, श्लोक ४८, ४९, ५०, ५१, ५५।

६. जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥
(भागवत १/५/१५, टीका गीताप्रेस)

"उपर्युक्त कलिवर्ज्य संबंधी विवेचन उन लोगों का मुंहतोड़ जवाब है जो 'अप्रगतिशीलपूर्व' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीनकाल के अत्यधिक स्थिर समाजों के अंतर्गत भी सामाजिक भावनाओं एवं आचारों में पर्याप्त गंभीर परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत-से ऐसे आचार एवं व्यवहार, जिनके पीछे पवित्र वेदों (जो स्वयमुद्भूत एवं अमर माने गये हैं) का आधार था, और जिनके पीछे आपस्तंब, मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों की प्रामाणिकता थी, वे या तो त्याज्य ठहराये गये या प्रचलित मनोभावों के कारण गर्हित माने गये। महान विचारकों ने कलियुग के लिए ऐसी व्यवस्थाएं प्रचलित कीं जिनके फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारों एवं नैतिकता संबंधी भावनाओं में यथोचित परिवर्तन किया जा सका। कलिवर्ज्य वचनों ने ऐसे लोगों को भी पूर्ण उत्तर दिया जो धर्म (विशेषतः आचार धर्म) को अपरिवर्तनीय एवं निर्विकार मानते रहे हैं। इस अध्याय के विवेचन से पाठकों को लगा होगा कि वेद एवं प्राचीन ऋषियों तथा व्यवहार-प्रतिपादकों के अत्यंत प्रामाणिक सिद्धांत अलग रख दिये गये, क्योंकि वे प्रचलित विचारों के विरोध में पड़ते थे। जो महानुभाव भारतीय समाज से संबंध रखने वाले विवाह व उत्तराधिकार आदि विषयों में सुधार करना चाहते हैं, उन्हें इस अध्याय में उल्लिखित बातें प्रेरणा देंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। हमने यह देख लिया है कि कलिवर्ज्य उक्तियों के रहते हुए भी आज बहुत-से घोर और घृणित आचार हमारे समाज में अभी तक घुन की तरह पड़े हुए हैं, यथा मातुल-कन्या-विवाह, संन्यास, अग्निहोत्र और श्रौत पशुयज्ञ। यद्यपि ये अब उतने प्रचलित नहीं हैं।"[1]

कबीर साहेब के काल से दो-तीन सौ वर्ष पहले से ही कुछ पंडितों-द्वारा कलिवर्ज्य के सिद्धांत को लेकर धर्म के नाम पर काटे जाने वाले पशु-पक्षियों पर दया दिखाई जाने लगी थी, परन्तु भ्रांत और मांसभक्षण के लोभी पंडितों और जनता ने उसे काफी चालू रखा था। कबीर साहेब के समय में पुराने धर्मशास्त्रों के प्रमाण दे-देकर लोग देवपूजन एवं यज्ञ के नाम पर पशु काट-काटकर खा रहे थे। इन्हीं सब बातों से करुणाविगलित होकर उन्होंने कहा कि हे बाबू! तुम्हारी दुनिया विचित्र है। यह संसार तो हम-जैसे लोगों को रहने लायक ही नहीं है। यहां तो स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों के हिंसा-मांसाहारपरक उदाहरण ही लोगों को अच्छे लगते हैं। इनके हृदय में सच्चाई का ज्ञान तो होता ही नहीं है कि जीव-हत्या धर्म कैसे हुई! वे कैसे ईश्वर या देवी-देवता हैं जो निर्दोष मूक प्राणियों की हत्या करने से खुश होते हैं। देवी-देवता तो निर्जीव मिट्टी-पत्थर की पिंडी हैं और उनके सामने जीवधारी की हत्या कर देना यह तो मानो भीतर-बाहर की चारों आंखों का फूट जाना है। इस निर्दयता का तांडव अभी भारत आजाद होने के पहले तक अनेक ब्राह्मण कहलाने वालों के घरों तक में भी होता रहा। आज भी भारत में यत्र-तत्र यह चल रहा है और बिहार तथा विशेषतः बंगाल एवं उड़ीसा में देवपूजन में जीववध तथा मांसाहार कम नहीं हैं। ये पंक्तियां जहां कलकत्ता के न्यू अलीपुर में बैठकर लिखी जा रही हैं, पास के काली-मंदिर में अभी भी दयामूर्ति माता काली की पूजा में रक्त की नालियां बहती हैं। इस

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १००९।

विज्ञानयुग में जंगलीयुग कहां समाप्त हुआ है! भारत से लगे हुए विश्व में एकमात्र हिन्दूराष्ट्र नेपाल में देवपूजन में घोर जीववध होता है। श्री निर्मल साहेब ने ठीक ही कहा है "जड़ के पुजारी चेतन का लोचन फुटा है। रंचक न दया-धर्म दुनिया को लुटा है।"

"तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बाँधिन खोटा। चोरन दीन्हों पाट सिंहासन, साहुन से भौ ओटा।" साहेब कहते हैं कि ये धार्मिक कहलाने वाले लोग अमृत को छोड़कर जहर क्यों पीते हैं! दया अमृत है, अहिंसा अमृत है, उसे छोड़कर हिंसा और हत्या जो जहर है उसे क्यों स्वीकार कर रहे हैं! दूसरों को पीड़ा देने से पीड़ा मिलेगी यह प्रकृति का विधान है। पीड़ा हमारे लिए जहर है, तो दूसरों के लिए भी जहर है। आत्मदेव ही सच्चा देव है इसे भूलकर मिट्टी-पत्थर की पिंडियों को देवता मानकर मानो सत्य को त्यागकर खोटा सौदा अपने पल्ले बांध रहे हैं।

जीववध को धर्म बताकर हिंसारूपी कुकृत्य करना-कराना मानो झूठे और ठगों का परस्पर मिलकर असत्य और ठगाई का व्यवहार करना है। धर्म के नाम पर सब जगह तो धांधलेबाजी चल रही है। सही बातों को समझने तथा उस पर विश्वास करने वाले कम लोग हैं।

बाहर ब्रह्म की कल्पना में क्यों भटकते हो?

शब्द–९४

कहो हो निरंजन कौने बानी॥ १ ॥

हाथ पाँव मुख श्रवण जिभ्या नहिं, का कहि जपहु हो प्रानी॥ २ ॥

ज्योतिहि ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कौन सहिदानी॥ ३ ॥

ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी॥ ४ ॥

चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, उन्हुँ न या गति जानी॥ ५ ॥

कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ ६ ॥

शब्दार्थ—निरंजन = निर्गुण ब्रह्म। बानी = वाणी, वर्ण, चमक, स्वरूप। सहिदानी = निशान, पहिचान। दै मारै = समस्त सृष्टि का प्रलय होना। गति = दशा।

भावार्थ—कहो हे भाई! निर्गुण ब्रह्म का क्या स्वरूप है? ॥१॥ कहते हो कि उसके हाथ, पैर, मुख, कान, जीभ आदि कुछ नहीं है, उसका कोई आकार नहीं है, तब हे मनुष्यो! क्या नाम लेकर उसका जप करते हो? ॥२॥ यदि कहो कि वह केवल ज्योतिस्वरूप है और चांद, सितारे, सूर्य आदि समस्त ज्योतियों का कारण है, तो चांद-सितारे आदि तो दिखते हैं, परन्तु तुम्हारी ब्रह्म-ज्योति की क्या पहिचान है? ॥३॥ तुम कहते हो कि चांद-सितारे आदि सारी ज्योतियां प्रलयकाल में ब्रह्मज्योति में मिल जाती हैं; परंतु थोड़ा विचार करो कि तुम्हारी मानी हुई ज्ञानस्वरूप ब्रह्मज्योति में ये भौतिक ज्योतियां कैसे समा जायेंगी? ॥४॥ जिस ब्रह्मा ने चारों वेदों का व्याख्यान किया है, वे भी इस झमेले को नहीं समझ सके॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, ब्रह्मज्ञान का दावा करने वाले इन पंडित-ज्ञानियों से इसके विषय में पूछो। अथवा कबीर साहेब सन्तों

को तो केवल अपनी बातें सुना देते हैं जिन्हें संत पहले से ही जानते हैं, परन्तु वे पंडित तथा ज्ञानियों को राय देते हैं कि तुम लोग विनम्रतापूर्वक इस विषय को संतों से समझने का प्रयास करो।।६।।

व्याख्या—कबीर साहेब धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांतिकारी पुरुष हैं। वे हर बात पर तर्क की कसौटी लगाते हैं। अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की कल्पना कर हम भ्रम पैदा करते हैं। लोग कहते हैं कि हमारी आत्मा से अलग एक ब्रह्म है। वह निर्गुण है; निराकार है; मन, बुद्धि, वाणी से परे है। प्रश्न होता है कि जब वह हमारी आत्मा से अलग है और मन, बुद्धि, वाणी से भी परे है तब उससे हमारा सम्बन्ध होना ही असम्भव है। कहा जाता है कि वह अनुभव से जाना जाता है, परन्तु अनुभव में तो वही आता है जो मन, बुद्धि, वाणी में आये। जिसे हम अपनी इन्द्रियों तथा मन से कभी नहीं ग्रहण कर सकते, उसका हमें कभी अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए कबीर साहेब ब्रह्मज्ञानियों पर व्यंग्य करते हुए उनसे पूछते हैं कि कहो हो ब्रह्मज्ञानी! निर्गुणब्रह्म किस रूप में है या उसका किस वाणी में वर्णन करते हो? जिसके हाथ-पैर आदि कोई चिन्ह नहीं है, जिससे आज तक तुम मुलाकात नहीं कर सके हो, जिसे देख नहीं सके हो, जान नहीं सके हो, क्या कहकर उसका जप करते हो?

"ज्योतिहि ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कौन सहिदानी।" ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि वह तो केवल ज्योतिस्वरूप है। वे यह भी कहते हैं कि संसार की सारी ज्योतियां उसी से पैदा हुई हैं। ये सितारे, ये चांद-सूरज सब ब्रह्मज्योति के कार्य हैं। ब्रह्म इन सबका कारण है। परन्तु यह बात अजीब है! जो तुच्छ कार्य है वह तो दिखता है और जो महान कारण है वह दिखता ही नहीं। श्री निर्मल साहेब की भाषा में कहें तो कहना होगा "लहर दीख पड़ती समुंदर न दिखते। ऐसे अचम्भों को वेदों में लिखते।।" लहर तो दिखाई दे और समुद्र न दिखाई दे यह बात कैसे समझ में आवे? सूरज-सितारे आदि की ज्योति दिखाई दे, जो तुच्छ कार्य हैं और जो इन सबका कारण बड़ी ज्योति ब्रह्म है वह दिखाई ही न दे, तो उस पर कैसे विश्वास किया जाय! फिर तुम्हारी ब्रह्मज्योति की क्या पहचान है? उसे किस चिन्ह से जाना जाय?

"ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी।" कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारे कथनानुसार जब ब्रह्म सारी ज्योतियों को 'दे मारेगा' अर्थात जब वह सबका प्रलय कर देगा तब ये ज्योतियां कहां समायेंगी, किसमें लीन होंगी? ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि एक दिन महाप्रलय होता है, उस समय सारा संसार ब्रह्म में लीन हो जाता है। साहेब कहते हैं कि तुम ब्रह्म को ज्ञानज्योति कहते हो और सूरज-सितारे आदि जड़-ज्योति हैं, तो जड़ एवं भौतिक जगत चेतन एवं अभौतिक तत्त्व में कैसे लीन हो जायेगा? वस्तुतः न चेतन जड़ में लीन हो सकता है और न जड़ चेतन में। जड़ और चेतन एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं एवं दोनों अपने में मौलिक पदार्थ हैं। चेतन साक्षी, द्रष्टा एवं ज्ञाता है और जड़ साक्ष्य, दृश्य एवं ज्ञेय है, तो दोनों एक कैसे हो जायेंगे?

इसके बाद कबीर साहेब बहुत बड़ी चुनौती देते हैं "चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, उनहुँ न या गति जानी।" वेद अनेक ऋषियों की रचनाएं हैं, परन्तु यह विश्वास है कि ब्रह्मा

सबके ज्ञाता थे। साहेब कहते हैं कि जिस ब्रह्मा ने चारों वेदों का व्याख्यान किया है, वह ब्रह्मा भी ब्रह्म के विषय में कुछ नहीं जानता। आत्म-भिन्न ब्रह्म की तो लोग केवल कल्पना करते आये हैं। अतएव वह केवल अनुमान एवं कल्पना का विषय है, अनुभव का विषय नहीं। अनुभव का विषय तो निज चेतनस्वरूप एवं आत्माराम है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी।" साहेब कहते हैं कि पण्डितों और ज्ञानियों को बड़ा घमण्ड है कि हम ब्रह्म को जानते हैं। वे उसके विषय में बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते रहते हैं। इसलिए इनसे पूछना चाहिए कि आप लोग उस ब्रह्म को किस साधन से जाने हैं? जानने के साधन तो सबके पास केवल मन और इन्द्रियां हैं और उनसे वह जाना नहीं जा सकता, फिर उसे वे कैसे जान गये? इसलिए केन उपनिषद् का ऋषि लिखता है कि ब्रह्म को जो नहीं जानता वही जानता है तथा जो जानता है वह नहीं जानता; क्योंकि वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और नहीं जानने वालों के लिए ज्ञात है।[1] अर्थात वह जाना ही नहीं जा सकता।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पंडित ज्ञानी।" इस पंक्ति को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि हे संतो! सुनो और हे पंडितो तथा ज्ञानियो! तुम समझने का प्रयत्न करो। अर्थात संत तो समझते हैं कि ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, खुदा, गॉड चाहे जितने परमार्थ तत्व के नाम लिये जायं उनकी चरितार्थता व्यक्ति की अपनी चेतना में ही है। यह जीव, यह आत्माराम ही परमात्मा है। परन्तु पंडित-ज्ञानी लोग अपनी आत्मा की सुधि भुलाकर बाहर ब्रह्म खोज रहे हैं, अतएव कबीर साहेब उनसे कहते हैं कि हे पंडितो तथा ज्ञानियो! तुम लोग विनम्र होकर संतों की सेवा, सत्संग आदि करके ब्रह्म को समझने की चेष्टा करो।

यदि हम जड़-प्रकृति को उसके अपने अन्तर्निहित गुण-धर्मों से संपन्न स्वतन्त्र समझ पाते तो उसको चलाने के लिए हमें एक असमीक्षात्मक ब्रह्म की कल्पना न करनी पड़ती। ये चांद-सूरज, ये असंख्य तारे तथा विश्व-ब्रह्मांड अपने गुण-धर्मों से चल रहे हैं। ये जिन गुण-धर्मों से चल रहे हैं वे इनमें अन्तर्निहित हैं, स्वभावसिद्ध हैं। सारे संसार का कभी प्रलय नहीं होता, किन्तु सब समय यह संसार परिवर्तनशील बना रहता है। यह संसार किसी निराकार निर्गुण चेतन का कार्य नहीं है, किन्तु यह स्वयं सत्य जड़-पदार्थ है। इसे कोई ब्रह्म चला नहीं रहा है, किन्तु यह स्वतः चल रहा है। इस जड़ प्रकृति से सर्वथा अलग असंख्य चेतन हैं, जो ज्ञानस्वरूप हैं। व्यक्ति का आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है, राम है। इससे अलग कहीं ब्रह्म नहीं मिलेगा।

जग की उलटी रीति

शब्द–९५

को अस करे नगर कोटवलिया, माँसु फैलाय गिद्ध रखवरिया॥ १ ॥
मूस भौ नाव मंजारि कँड़िहरिया, सोवै दादुर सर्प पहरिया॥ २ ॥

---

१. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ *(केन उपनिषद् २/३)*

बैल बियाय गाय भइ बंझा, बछरू दुहिये तिन-तिन संझा ॥ ३ ॥
नित उठि सिंह सियार सों जूझै, कबिरा का पद जन बिरला बूझै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कोटवलिया = कोतवाल का काम, रक्षा। माँसु = भोग। गिद्ध = मन-इन्द्रियां। मूस = जीव। मंजारि = बिल्ली, माया। कँड़िहरिया = कड़िहार का काम, नावका खेनें का काम, उद्धारक। दादुर = मेढक, जीव। सर्प = अहंकार। पहरिया = पहरा देने का काम। बैल = अविवेक। गाय = सद्बुद्धि। बंझा = बंध्या। बछरू = काम, क्रोधादि। तिन-तिन संझा = प्रातः, मध्याह्न तथा सायं, सब समय। सिंह = जीव। सियार = गलत आदतें। कबिरा = कबीर साहेब, जीव। पद = पद्य, शब्द, कविता, स्वरूप।

रूपक—ऐसे नगर की रक्षा कौन करे जहां मांस फैलाकर गिद्ध उसके रक्षक बनाये गये हों, चूहे नावका-यात्री बन गये हों तथा बिल्लियां उन्हें खेने वालीं। मेढक सो रहे हों और सांप उनकी रक्षा में पहरा देते हों, बैल प्रजनन करते हों और गायें बंध्या हो गयी हों तथा बछड़े को तीन-तीन बार दुहा जा रहा हो, और रोज सिंह उठकर सियार से लड़कर परास्त हो रहा हो, सच है कबीर साहेब के गाये पद कोई विरला बूझेगा।

भावार्थ—ऐसे लोगों का उद्धार कौन कर पायेगा जो अपने मन-इन्द्रियों के आस-पास भोग वस्तुओं को फैलाकर संयमशील बना रहना चाहता है! ॥१॥ बिल्ली चूहे का बेड़ा कब पार कर सकती है, अर्थात माया-द्वारा कब जीव का उद्धार हो सकता है! क्या सांप की पहरेदारी में मेढक सो सकते हैं! अर्थात क्या अहंकार के संरक्षण में जीव का कल्याण संभव है? ॥२॥ बैल बछड़े जनते हैं तथा गाय बंध्या हो गयी है, अर्थात अविवेक अपनी कामादि सृष्टि बढ़ा रहा है, किन्तु सद्बुद्धि बांझ बन गयी है। बछड़े प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल में दुहे जा रहे हैं। अर्थात अविवेक से पैदा हुए काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का ही सब समय रस-पान किया जा रहा है ॥३॥ नित्य सिंह उठकर सियार से लड़कर परास्त होता है अर्थात रोज जीव सुबह से ही उठकर अपनी गलत आदतों से युद्ध करके उनसे परास्त होता है। जीव के निर्मल स्वरूप को कोई विरला समझता है ॥४॥

व्याख्या—कबीर साहेब व्यंग्य लेखकों के आचार्य हैं। उनकी जितनी उलटवांसियां हैं वे प्रायः व्यंग्य में कही गयी हैं। इस पद में भी मनुष्यों के विपरीत आचरण पर करारा व्यंग्य है। वे कहते हैं "को अस करे नगर कोटवलिया" नगर कहते हैं शहर को, हर जिले के मुख्य शहर के पुलिस अफसर को कोतवाल कहा जाता है जिसके अधीन वहां के सभी थानेदार होते हैं। इस प्रकार कोतवाल पूरे नगर का रक्षक होता है। परन्तु ऐसे नगर की रक्षा कौन कर पायेगा जहां मांस फैलाकर गिद्ध रखवाले बनाये गये हों। मांस मानो विषय-भोग हैं तथा गिद्ध मन-इन्द्रियां हैं। जो व्यक्ति अपने चारों तरफ विषय-भोगों को फैलाकर उनमें रहता हो और साथ-साथ यह भी चाहता हो कि हम संयम से रहें, यह कैसे हो सकता है! जैसे मांस को देखकर गिद्ध उस पर टूट पड़ता है, वैसे भोगों को सम्मुख पाकर मनुष्य के मन-इन्द्रिय उसके लिए विचलित हो जाते हैं। जो जीवन में संयम, ब्रह्मचर्य एवं शांति चाहे वह भोग-विषयों से दूर रहे। यहां कोतवाल मानो गुरु है। गुरु उस व्यक्ति की रक्षा नहीं कर पायेगा जो भोग-विषयों के कुसंग में अपने आपको बनाये रखना चाहता है।

"मूस भौ नाव मंजारि कँड़िहरिया" नावका को केवट खेता है। मूस नावका-यात्री बन गया और बिल्ली उसे खेने लगी। यह माया के अधीन जीवों पर करारा व्यंग्य है। यदि चूहा बिल्ली को अपना उद्धारक मानता है तो उसकी बुद्धि की बलिहारी है। चूहा तो बिल्ली का आहार है। यदि आदमी संसार के माया-मोह-द्वारा अपना कल्याण समझता है तो उसका घोर पतन रखा-रखाया है। माया-मोह तो बिल्ली है, यदि मनुष्य उससे सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह उसके सामने चूहा बन जायेगा और उसे माया धर-दबोचेगी।

"सोवै दादुर सर्प पहरिया" मेढक सांप को अपना पहरेदार बनाकर सोना चाहता है। मनुष्य अहंकार को अपना रक्षक समझता है। वह अहंकार के बल पर सोता है। परन्तु अहंकार सर्प ही मनुष्य को रात-दिन डंसता है। जिस संसार में जीव का एक तृण भी अपना नहीं है वहां सब कुछ अपना मानने का अज्ञान ही तो अहंकार है और इसी के फल में सारे दुख हैं।

"बैल बियाय गाय भई बंझा" अविवेक बैल है; काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, भय, चिन्ता, शोक आदि उसकी संतानें हैं जिनका वह नित्य प्रजनन करता रहता है। अविवेक की सृष्टि और क्या हो सकती है? अविवेक-बैल से जो कुछ पैदा होगा वह सब मनुष्य के लिए दुखदायी ही होगा। अविवेक के विरोधी पक्ष में सद्बुद्धि रूपी गाय है, वह बंध्या हो गयी है। मलिन हृदय में सद्बुद्धि बंध्या हो ही जाती है। यदि सद्बुद्धि रूपी गाय प्रजनन करती, तो उसकी शील, क्षमा, दया, धैर्य, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, संतोष आदि संतानें होतीं। परन्तु वह तो बंध्या हो गयी है, अतः जीवन में इन सद्गुणों के होने का प्रसंग ही नहीं है। संसार में ज्यादातर यही देखा जाता है कि बैल ही प्रजनन कर रहे हैं और गाय बंध्या हो रही है। अविवेक की ही सृष्टि सर्वत्र है, सद्बुद्धि बांझ बनी पड़ी है। जैसे भागवत के अनुसार भक्ति बूढ़ी हो गयी थी, वैसे सारे संसार में सद्बुद्धि प्रायः बंध्या हो गयी है।

"बछरू दुहिये तिन-तिन संझा" अविवेक-बैल से पैदा हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि बछड़े सब समय दुहे जा रहे हैं। जैसे गाय-भैंसें दुहकर उनका दूध पीया जाता है, वैसे यहां अविवेक-बैल से पैदा हुए कामादि बछड़े ही मानो हर समय हर जगह दुहे जा रहे हैं और उन्हीं का दूध, उन्हीं का रस पीया जा रहा है। रात-दिन में चार संध्यायें होती हैं। दो समयों के मेल को संध्या कहते हैं। रात और दिन का मेल प्रातः पहली संध्या है, दिन के दोनों समयों का मेल मध्याह्न दूसरी संध्या है, दिन और रात का मेल गोधूलि तीसरी संध्या है तथा रात के दोनों समयों का मेल आधी रात चौथी संध्या है। रात में लोग सोते हैं इसलिए आधी रात वाली संध्या को सब छोड़ देते हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीन संध्याओं को ही मनुष्य उपयोग में लाता है, इसलिए इन्हीं तीनों में संध्योपासना करने का विधान बना। तिन-तिन संध्या का यहां लाक्षणिक अर्थ है, सब समय। जीव हर समय सद्बुद्धि से दूर पड़ा अविवेक की सृष्टि का रस लेता है। वह सब समय विषय-वासनाओं तथा नाना विकारों में डूबा रहता है।

"नित उठि सिंह सियार सों जूझै" सिंह रोज सबेरे उठकर सियार से युद्ध करता है और उससे मारा जाता है। कैसा आश्चर्यमय है इस नगर का खेल! सिंह मनुष्य है। वह रोज सुबह उठकर अपनी गलत आदतरूपी सियारों से भिड़ना शुरू करता है। द्वेष, कुढ़न,

ईर्ष्या, मोह, काम, असत्य भाषण, परनिंदा, चुगली, गाली, कलह, स्वार्थ, धोखाधड़ी, वंचना, इतना ही नहीं, किन्तु तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा-भांग, शराब, नामालूम कितनी गंदी आदतें मनुष्यों ने बना रखी हैं। सुबह होते ही, नींद खुलते ही, जीव इन्हीं सबसे भिड़ जाता है। सद्गुरु मनुष्य को याद दिलाते हैं कि तुम सिंह हो, परन्तु सियार से भिड़कर रोज परास्त हो रहे हो। जब लोगों से कहा जाता है कि तम्बाकू-बीड़ी तो तुच्छ आदतें हैं इन्हें छोड़ दो, तब लोग कहते हैं कि महाराज! अन्न दो-चार दिन न दो तो चल जायेगा, परन्तु बीड़ी-तम्बाकू आदि के बिना नहीं चलेगा। मनुष्य सिंह के समान बलवान होकर भी कैसी कायरता की बात करता है! इस प्रकार मनुष्य-सिंह अपनी बनायी मलिन आदतरूपी सियारों से हर समय परास्त हो रहा है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों की रक्षा कौन कर पायेगा? "को अस करे नगर कोटवलिया" ऐसे संसार में कौन इनके कल्याण करने का बीड़ा उठा पायेगा! जो लोग अपने जीवन की सारी प्रक्रिया को ही उलट दिये हैं, उनका बेड़ा पार कैसे होगा !

"कबिरा का पद जन बिरला बूझै" इसका सरल अर्थ है कि कबीर साहेब कहते हैं कि मेरे इन-जैसे उलटवांसी के पद कोई विरला ही बूझेगा। इसका तात्विक अर्थ है कि जीव का शुद्ध स्वरूप कोई विरला समझता हैं। कबिरा से अर्थ जीव है तथा 'पद' का अर्थ स्वरूप है। जो जीव का स्वरूप समझ लेता है, जो जान लेता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध चेतन है, वह अपने आप को सारे विकारों से निकाल लेता है।

मोह-काल से सावधान

शब्द–९६

काको रोवों गैल बहुतेरा, बहुतक मुवल फिरल नहिं फेरा॥ १ ॥
जब हम रोया तब तुम न सम्हारा, गर्भवास की बात बिचारा॥ २ ॥
अब तैं रोया क्या तैं पाया, केहि कारण अब मोहिं रोवाया॥ ३ ॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, काल के बसी परो मति कोई॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गैल = चले गये, पतित हुए। मुवल = मर गये, अपनी स्थिति से गिर गये। काल = अज्ञान, नाशवान वस्तुओं का राग।

भावार्थ—किसके-किसके लिए रोया जाय! जो संसार में आते हैं वे सभी यहां से एक-एक दिन चले जाते हैं। अपने देखते-देखते बहुत लोग मर गये; परन्तु जो एक बार यहां से चला जाता है वह लौटकर नहीं आता॥१॥ हे मनुष्य! मैंने करुणाविगलित होकर जब तुम्हें समझाया तब तुमने अपनी जवानी के प्रमाद में मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया, अपने आपको विषय-वासनाओं से नहीं बचाया, प्रत्युत ऐसी बातों को ही मन में रखा तथा ऐसा आचरण किया जिससे पुनः गर्भवास की प्राप्ति हो॥२॥ अब तू बूढ़ा हो गया है, रोगों से पीड़ित है तथा शिथिल है, अब रोता है तो क्या पाता है! अब तू मुझे क्यों दुखी कर रहा है, अब तो समय निकल गया है॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई सन्तो! सुनो, काल से ग्रसित संसार की आगमापायी वस्तुओं के मोह में कोई मत पड़ो॥४॥

व्याख्या—कबीर देव की एक-एक वाणी तीर जैसी है जो हृदय में घुसकर उसे मथ देती है। उक्त चार पंक्तियों में कितने मार्मिक वचन हैं, यह सोचते ही बनता है। मानो कोई निकट का प्रियजन मर गया हो और लोगों ने आकर सद्गुरु को यह संदेश दिया हो तो उन्होंने कहा हो कि भाई! किसके-किसके लिए रोया जाय! यदि कोई एक-दो आदमी मर जायं, बाकी लोग न मरें तो उन मरने वालों के लिए रोया जाय कि अन्य लोग तो सदा जीवित रहते हैं परन्तु बेचारे अमुक-अमुक ही मर गये। यह तो प्रकृति का एक-दो लोगों पर अन्याय है। यदि ऐसी घटना घटे तो अवश्य चिंता का विषय है कि यदि सभी लोग सदैव जीने के अधिकारी हैं तो वे एक-दो व्यक्ति बेचारे क्या अपराध किये थे जिनके ऊपर प्रकृति का प्रकोप हुआ। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रकृति के नियम सब पर समान रूप से लागू हैं। यहां से सब जाते हैं। जो संसार में शरीर धारणकर आता है वह जाता है। रंक जाता है, राजा जाता है, निरक्षर जाता है, विद्वान जाता है, निर्धन जाता है, धनवान जाता है, जिसे टोला-पड़ोस वाले नहीं जानते वह जाता है और जगत-प्रसिद्ध व्यक्ति भी जाता है। आज संसार में जितने प्राणी हैं कुछ ही वर्षों में सब चले जायेंगे। और जो यहां से एक बार चला गया वह लौटकर कभी नहीं आता। यहां पुनर्जन्म सिद्धान्त का खंडन नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसके तो कबीर साहेब महान पक्षधर हैं जिसकी चर्चा इसके बाद वाली पंक्ति में इसी शब्द में आयी है। यहां तो यह बात बतायी जा रही है कि जिस शारीरिक व्यक्तित्त्व को लेकर मनुष्य आज है, मर जाने के बाद वह तो यहीं मिट जाता है, अतः दह उस व्यक्तित्त्व को लेकर यहां नहीं आ सकता। साधारण की बात ही छोड़िये, बड़े-बड़े राजे-महाराजे, ज्ञानी-मुनि भी इस संसार से जाकर कभी नहीं लौटे।

"जब हम रोया तब तुम न सम्हारा, गर्भवास की बात बिचारा। अब तैं रोया क्या तैं पाया, केहि कारण अब मोहिं रोवाया।" मानो कोई ऐसा आदमी हो, जिसे उसकी जवानी में सद्गुरु ने समझाया हो, उसे धर्म का रास्ता दिखाया हो, किन्तु वह जवानी के प्रमाद में पड़कर साहेब की बातों पर ध्यान न दिया हो और निरंतर विषय-वासनाओं एवं सांसारिकता के उन्माद में डूबा रहा हो और ऐसी विपरीत दिशा में रहते-रहते उसका बुढ़ापा आ गया हो, अब उसके सारे अंग शिथिल हों, शरीर रोगी हो, परिवार से तिरस्कृत तथा चित्त की उद्विग्नता से पीड़ित हो और साहेब के पास आकर अपना दुखड़ा रो रहा हो, तो साहेब ने कहा हो कि भाई! जब मैंने तुम्हारी जवानी एवं स्ववश अवस्था में तुम्हें धर्म की सीख दी थी तब उस पर तुमने ध्यान नहीं दिया, बल्कि अपने ऐसे विचार रखे कि जिससे पुनः तुम्हें गर्भवास में जाने के साधन बनें। उस समय तुम एकदम उन्मत्त बने रहे। तो अब पछताने से क्या होता है! अब तू सब प्रकार निर्बल, शिथिल, उपेक्षित एवं असहाय-जैसा हो गया है। अब रोता है, तो रोने से क्या पायेगा! अब तो सेवा और साधना करने का समय निकल चुका है। अब रो-रोकर मुझे क्यों रुला रहा है। मैंने तो तुम्हारे कल्याण के लिए पहले ही रोया था, करुणापूर्वक तुम्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयास किया था, परन्तु तुमने अपनी जवानी के प्रमाद में पड़कर बात पर कान ही नहीं दिया। अब पछताने से काम बनने वाला नहीं है। समझदार वही है जो पहले से ही अपने

कल्याण का साधन कर ले। जो पहले ऐसा न कर समय चूक जाने पर रोता है, वह मूर्ख है। संसार में अधिकतम लोग अज्ञान तथा अंधकार में पड़ अपने सुनहले अवसर को खोकर बुढ़ापा में मूर्ख बन जाते हैं।

"कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, काल के बसी परो मति कोई।" कबीर साहेब पूरे मानव-समाज को संत और अपना भाई मानते हैं। वे उन सबसे कह रहे हैं कि मेरी बातों पर आप लोग ध्यान दें और कोई काल के वश में न पड़ें। जो आदमी उन वस्तुओं में आसक्त होता है, जो काल के अधीन हैं तो वह भी मानो अपने आपको काल के हाथों बेच रहा है। संसार की सारी वस्तुएं चाहे वह निरे जड़ हों या प्राणियों के शरीर हों सब नश्वर हैं। जो व्यक्ति इन नश्वर वस्तुओं में आसक्त होता है उसके मन का भय कभी नहीं मिट सकता। आदमी चिन्ता, शोक एवं भय से तभी मुक्त होता है जब वह मोह से मुक्त हो। अतएव शरीर का मरना काल के वश में होना नहीं है। मृत्यु तो शरीर को मारती है, किन्तु मोह हमारी आत्मा का पतन करता है, इसलिए यदि हम चाहते हैं कि इस जीवन में पूर्ण निर्भय स्वरूपस्थिति का साम्राज्य प्राप्त करें और सदैव के लिए कृतार्थ हो जायं, तो हमें समस्त नश्वर पदार्थों का राग छोड़ देना चाहिए। अपनी आत्मा के अलावा सब नश्वर है, सब छूटने वाला है।

इस शब्द को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं और यह भी बड़ा स्वाभाविक लगता है। मानो कोई साधक हो। वह अपनी साधना से गिर गया हो। लोगों ने आकर कबीर साहेब को यह संदेश दिया हो तो साहेब ने लोगों से कहा हो कि किसके-किसके लिए रोया जाय, बहुत-से लोग अपनी साधना छोड़कर कुपथ एवं विषयों की धारा में बह गये हैं। बहुत लोग अपने पद से गिर गये और वे उठ नहीं सके। एक बार भूल हो जाने पर अधिकतम लोग उठने की हिम्मत छोड़ देते हैं। वे यह नहीं समझते कि "युद्धक्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही गिरते हैं। वे बच्चे क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलते हैं।"[१] जो साधना-पथ में चलते हैं, उनमें से ही कोई फिसल भी सकता है, परन्तु जो चलता ही नहीं वह क्या फिसलेगा! समझदार किसी को गिरते देखकर उसका उपहास नहीं करते, किन्तु उसे साहस देकर उठाते हैं। परन्तु गिरने वालों में यह बहुत बड़ी कमजोरी आ जाती है कि उनमें अधिकतम अपना साहस ही छोड़ देते हैं। कोई विरला होगा जो गिरने के बाद भी साहस कर उठ सके। होना चाहिए यही, कि भूल हुई सो हुई, आदमी पुनः साहस के साथ उठ खड़ा हो। जो उठ खड़ा होता है उसके वर्तमान तथा भविष्य उज्ज्वल हो जाते हैं।

जो साधक गिर गया था, कबीर साहेब ने मानो उसको उठाने के लिए बहुत साहस दिया हो, परन्तु वह उठ न सका हो और सांसारिकता में डूबकर बुरी तरह उलझ गया हो। कुछ दिनों में उसकी अत्यन्त दयनीय दशा हो गयी हो। इसके बाद वह साहेब से

---

१. गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें।।

मिला हो और अपनी सांसारिकता की बातों का रोना रोया हो तो साहेब ने उसे समझाया हो कि भाई! जब मैंने करुणा करके तुम्हें समझाया तब तो तूने मेरी बातों पर ध्यान ही नहीं दिया। तब तो तुम्हें संसार के भोगों में ही सब सुख दिखा। अब तू जब अच्छी तरह सांसारिक कांटों में उलझ गया है तब मेरे पास रोने आया है तो अब रोने से तू क्या पाता है! इस रोने से तुम्हारे बंधन कटने वाले नहीं हैं। अब तू व्यर्थ में मुझे भी रुला रहा है। तेरे दुखों को देखकर मुझे भी दुख लगता है, परन्तु अब मैं क्या करूं! जब सम्हलने का समय था तब तूने मेरी बातों की अवहेलना कर दी। अब समय निकल चुका है। अब तो तू संसार का कीट बन गया है। आज तू सांसारिकता के परिणाम से तो अवश्य दुखी है, परन्तु सांसारिकता से वैराग्य होना तो तेरे लिए आज और कठिन हो गया है। अब तू अपने बन्धनों के दुख को लेकर मत रो, प्रत्युत जो सुधार कर सकता है। वह सुधार कर।

उस व्यक्ति को समझाने के पश्चात सद्गुरु ने संत-मंडली की तरफ उन्मुख होकर कहा कि हे भाई सन्तो! सुनो, इस प्रकार कोई मोह-काल के अधीन नहीं होना। मोह काल है; काम काल है; क्रोध, लोभ, वासना-तृष्णा काल हैं। यहां तक कि अपने चेतनस्वरूप से अलग शरीर से लेकर संसार के समस्त पदार्थों का राग काल है। इस राग-काल के अधीन नहीं होना। अपनी चेतना, अपने आत्माराम से अलग होकर कहीं भी मोह बनाना मानो काल के अधीन हो जाना है।

साम्प्रदायिकता-विहीन सत्य

शब्द–९७

अल्लाह राम जियो तेरी नाँई, जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई॥ १ ॥
क्या मुण्डी भूईं शिर नाये, क्या जल देह नहाये॥ २ ॥
खून करे मिस्कीन कहाये, अवगुण रहे छिपाये॥ ३ ॥
क्या वजू जप मंजन कीये, क्या महजिद शिर नाये॥ ४ ॥
हृदया कपट निमाज गुजारे, क्या हज मक्के जाये॥ ५ ॥
हिन्दू बरत एकादशी चौबिस, तीस रोजा मुसलमाना॥ ६ ॥
ग्यारह मास कहो किन टारे, एक महीना आना॥ ७ ॥
जो खुदाय महजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा॥ ८ ॥
तीरथ मूरत राम निवासी, दुइमा किन्हुँ न हेरा॥ ९ ॥
पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लह मुकामा॥१०॥
दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा॥११॥
वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे॥१२॥
सब घट एक-एक कै लेखे, भय दूजा के मारे॥१३॥
जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा॥१४॥
कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु-पीर हमारा॥१५॥

शब्दार्थ—जियो = जीव, चेतन। नाँईं = समान। मेहर = मेह्र, प्रेम, कृपा। साँईं = स्वामी। खून = हत्या, जीववध। मिस्कीन = दीन, फकीर। वजू = वुजू, नमाज के पहले विधिपूर्वक हाथ, पैर, मुख आदि धोना। मंजन = मज्जन, स्नान। हज = हज्ज, संकल्प करना, नियत काल पर काबे के दर्शन एवं प्रदक्षिणा करना, मक्के की यात्रा। मक्के = मक्का, अरब का एक प्रधान नगर जो हजरत मुहम्मद का जन्म स्थान है तथा मुसलमानों का मुख्य तीर्थस्थल है। बरत = व्रत, उपवास। तीस रोजा = तीस दिन के रमजान महीने में दिन में उपवास रखना। आना = अन्य, दूसरा, शुद्ध। हेरा = खोजना। करीमा = करम यानि दया करने वाला ईश्वर। घट = शरीर, दिल। लेखे = समझे, समझना चाहिए। उपाने = उत्पन्न हुए। पोंगरा = बालक, बच्चा, पुत्र, पैगंबर, अवतार।

भावार्थ—हे मनुष्य! अल्लाह और राम भी तेरे समान जीव ही हैं। हे मनुष्य! तू सभी ज्ञान-विज्ञान का स्वामी है। तू जिस पर कृपा कर दे उसी को ईश्वर बना दे॥१॥ जड़ मिट्टी-पत्थरादि की पिंडियों के सामने सिर झुकाने से क्या कल्याण होगा, और शरीर को गंगादि नदियों में धोने एवं स्नान करने मात्र से भी क्या लाभ होगा? ॥२॥ बलि और कुर्बानी के नाम पर करे जीव-हत्या और कहलाये दीन-गरीब एवं विनम्र फकीर। वस्तुतः यह विनम्रता अपने दोषों को छिपाने का सिर्फ एक तरीका है॥३॥ केवल वुजू, जप, स्नान करने से और मसजिद में सिर झुकाने से क्या मिलने वाला है? यदि हृदय में कपट-छल बनाये रखे तो नमाज अदा करने तथा मक्के की यात्रा करने से भी क्या लाभ होगा? ॥४-५॥ हिन्दू लोग वर्ष में चौबीस एकादशी व्रत रहते हैं और मुसलमान लोग रमजान महीने के तीस दिनों में रोजा रहते हैं, तो वर्ष में केवल एक ही महीना के दिनों को पवित्र बताकर ग्यारह महीने किसने अपवित्र सिद्ध कर उन्हें व्रत के दिनों से अलग कर दिया? ॥६-७॥ यदि खुदा मसजिद में बसता है तो मसजिद के बाहर का मुल्क किसका है? और यदि तीर्थ, मंदिर तथा मूर्तियों में ही राम निवास करता है तो उनसे अलग फैले हुए विशाल संसार में कौन रहता है? इन हिन्दू-मुसलमानों में से किसी ने भी सत्य की खोज नहीं की॥८-९॥ हिन्दू प्रायः पूर्व मुख करके पूजा करते हैं और भारतवर्ष में मुसलमान पश्चिम मुख करके नमाज पढ़ते हैं तो इससे यह कैसे मान लिया जाय कि हरि पूर्व दिशा में बसता है और अल्लाह पश्चिम दिशा में? हे मनुष्यो! अपने दिल में खोजो, केवल अपने दिल में खोजो, तो पाओगे कि अपने दिल में रमने वाला चेतन-नूर ही दिलकश, दिलदार एवं दिलआराम रहीम और राम है॥१०-११॥ वेद और किताब को किसने झूठा कहा है? झूठा तो वह है जो बिना विचार किये वेद-किताबों की रट लगाता है॥१२॥ मनुष्य को चाहिए कि वह सभी शरीरों में एक समान आत्मारूपी परमात्मा को देखे और दूसरों के दिल दुखाने एवं उनकी हत्या करने से भय करे तथा इस पाप कर्म से सर्वथा दूर हो॥१३॥ हे मनुष्य! संसार में जितने औरत और मर्द हैं सब तुम्हारे स्वरूप हैं॥१४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो अल्लाह और ईश्वर के पैगंबर तथा अवतार माने गये हैं वे गुरु और पीर के समान हमारे आदरणीय हैं॥१५॥

व्याख्या—पंद्रह पंक्तियों का यह शब्द जैसे विशाल है वैसे विशाल भावना से व्याप्त अत्यंत हृदयस्पर्शी है। ईश्वर, ईश्वरीय मजहब तथा ईश्वरीय किताब को लेकर

संसार में हद दर्जे की जाहिली है। धर्म, जो मानवता है, रहमदिली एवं सहृदयता है, वह बाह्याचार एवं बाह्याडंबर में ढक गया है। मजहब वालों ने ईश्वर को जीव से अलग कर दिया है, इसलिए वे प्रायः ईश्वर की तो भक्ति करते हैं और जीव को पीड़ा देते हैं। देखिए हैवानी कि देवता तथा ईश्वर को खुश करने के लिए ऊंट, भेड़े, बकरे, गायें, भैंसे, मुरगे आदि जानवरों की हत्या की जाती है। ईश्वर को जीव से अलग कर देने का परिणाम यह हुआ कि हमने धरती पर के प्राणधारियों एवं इनसानों तक की हत्या करने में हिचक नहीं की और आकाश में, शून्य में ईश्वर को पुकारते रहे। हमने प्रत्यक्ष ईश्वर—प्राणधारियों के साथ बे-रहमी की और शून्य की प्रार्थना करते रहे।

कबीर साहेब कहते हैं कि ईश्वर जीव का गुण विशेष मात्र है। जब जीव निष्काम एवं आप्तकाम हो जाता है, तब वह ईश्वर है। इसीलिए वे इस शब्द के शुरू में ही कहते हैं "अल्लाह राम जियो तेरी नाँई" अर्थात अल्लाह और राम तेरे समान जीव ही हैं। इसका अभिप्रायः है कि कृतार्थ जीव ही अल्लाह और राम हैं। जो व्यक्ति इस जीवन में शोक, मोह एवं भय से मुक्त हो गया है, वही मानो ईश्वर है, और वह तुम्हारे समान ही है। तुम भी वैसे हो सकते हो। क्योंकि तुम्हारा स्वरूप भी उसी प्रकार है। वस्तुतः सब जीवों का स्वरूप शिव है, परन्तु वे अपने स्वरूप को नहीं समझते, इसलिए सामान्य जीव बने भटक रहे हैं। जब उनमें कोई अपने स्वरूप को समझ लेता है और समझकर संसार से निष्काम हो जाता है तब वह मानो शिव हो जाता है। उसी को आप अल्लाह एवं राम कह सकते हैं। यदि इस तथ्य को समझ लिया जाय कि यह जीव ही ईश्वर है तो हम जीव मात्र के प्रति उत्तम व्यवहार करने लगें और अपने आप को संसार की कामनाओं के दलदल से निकाल लें।

लेकिन मजहबी लोग कहते हैं कि जीव से ईश्वर अलग है। नाना मत के लोग तो पानी, पत्थर, पेड़, पहाड़, गोबर, मिट्टी को देवी-देवता बना देते हैं, फिर चांद, सूरज और सितारों को देवी-देवता मान लेना तो अधिक सहज है। लोग अपनी आत्मा को छोड़कर शून्य में ईश्वर की कल्पना करते रहते हैं। इन बातों पर मानो व्यंग्य करते हुए कबीर साहेब कहते हैं "जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई" हे मनुष्य! तू ही सारे ज्ञान-विज्ञान का सांई है, तू ही तो सारी कल्पनाओं का, मनोमय का स्वामी है, अतएव तू जिस पर कृपा कर दे उसी को देवी-देवता तथा भगवान बना दे। जब तूने पशु की टट्टी-गोबर को गौरी-गणेश बनाकर रखा, तब उनकी ही पूजा चल पड़ी। तूने मिट्टी, पत्थर तथा धातु के देवी-देवता बनाये और लोग उनके सामने घुटने टेककर भोग और मोक्ष मांगने लगे। तूने आकाश में ईश्वर का संकेत किया तो उधर लाखों-करोड़ों हाथ उठ गये इबादत एवं प्रार्थना में। हे मनुष्य! तू देवताओं का देवता तथा ईश्वरों का ईश्वर है। सारे देवी-देवता तथा ईश्वर मनुष्य की कृपा पर पल रहे हैं। मनुष्य हाथ खींच ले तो सारे देवी-देवता तथा ईश्वर गिर जायं। उनकी मान्यताएं समाप्त हो जायं। उनको कोई पूछने वाला भी न रहे। "जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई" बड़ा मार्मिक वचन है। हे मनुष्य! तू सबका स्वामी है। तू जिस पर कृपा कर दे उसी को भगवान बना दे। श्री चंडीदास जी ने ठीक ही कहा "हे

भाई मनुष्य! सुनो, तू सबके ऊपर है और तेरे ऊपर कोई नहीं है।"[१]

इसलिए साहेब कहते हैं कि "क्या मुण्डी भूईं शिर नाये, क्या जल देह नहाये।" अपने बनाये देवी-देवताओं की मनौती एवं प्रार्थना कर जमीन में सिर पटकने से क्या फायदा है! या मिट्टी-पत्थरादि की पिंडियों के सामने माथा रगड़ने से क्या मिलेगा! लोग कहते हैं कि गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा आदि में नहाने से सारे पाप कट जाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे धार्मिक कहलाने वालो! तुम लोग संसार के शिक्षित-अशिक्षित भोले लोगों को क्यों धोखा देते हो? पाप तो मन में संस्काररूप से जमे होते हैं वे पानी में नहाने से कैसे कट सकते हैं?

"खून करे मिस्कीन कहाये, अवगुण रहे छिपाये।" लोग धर्म के नाम पर जीव हत्या करते हैं। ईश्वर को खुश करने के लिए हजारों-लाखों ऊंट, बकरे, भेड़े काट दिये जाते हैं, परन्तु काटने वाले कहते हैं कि हम तो मिस्कीन हैं, गरीब हैं, दीन हैं, ईश्वर के सामने नाचीज हैं। इसका अर्थ यह है कि ये ईश्वर के नाम पर हत्या करने वाले बड़े विनम्र भक्त बनते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह इनका भक्त बनना, विनयी बनना एक ढोंग है जिससे इनके हत्या के दोष पर लोगों की दृष्टि न जाय। यह खूनी विनय दो चेहरों वाली तस्वीर है। अन्दर में इनके घोर निर्दयता है और बाहर से भक्ति का स्वांग है। यह अपने अवगुणों को छिपाने का तरीका है।

"क्या वजू जप मंजन कीये, क्या महजिद शिर नाये। हृदया कपट निमाज गुजारे, क्या हज मक्के जाये।" नमाज पढ़ने के पहले विधिपूर्वक हाथ, पैर, मुख आदि का धोना वुजू है, माला या तसबीह पर या यों ही किसी नाम, मन्त्र एवं कलमा को जबान या मन से दोहराना जप है, मंजन कहते हैं दांत मांजने के चूर्ण को, परन्तु यहां मंजन मज्जन का तद्भव रूप है, मंजन का शुद्ध रूप है मज्जन। मज्जन कहते हैं स्नान करने को। साहेब कहते हैं कि तुम वुजू करते हो, जप करते हो, स्नान करते हो और मसजिद में जा सिर झुका-झुकाकर नमाज पढ़ते हो, परन्तु यह सब करके क्या फल मिला जब ईश्वर के नाम पर बेरहमी का काम करते हो? जिस ईश्वर के नाम में पचासों बार करम और रहम जोड़ते हो, उसी को खुश करने के लिए बे-करम और बे-रहम का काम करते हो तो तुम्हारा सारा बाह्याचार किस मतलब का रहा? हृदय में कपट कतरनी है तो नमाज अदा करने से क्या फायदा? मुख से तो कहते हो 'रहीम' और मन में रखते हो 'बे-रहमी' तो उपासना का क्या मतलब हुआ! जब किसी प्राणी के गले पर छूरी रखकर रेतते हो तो कहते हो कि शुरू करता हूं उस अल्लाह के नाम से जो निहायत रहम वाला है। यह कितना कपट-चाल है? रहीम कभी बेरहमी से खुश नहीं हो सकता। इस ढंग का हिंसात्मक व्यवहार रखकर कभी उपासना सफल नहीं हो सकती। "क्या हज मक्के जाये।" हज एवं हज्ज के अर्थ सुख एवं लाभ भी होते हैं, परन्तु इसका ज्यादातर अर्थ मक्के की यात्रा करना है। परन्तु मक्के जाकर भी वही बात होती है। वहां ईश्वर के नाम पर हजारों ऊंट काटे जाते हैं।

---

१. शुनो मानुष भाई, सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई।

हिन्दू वर्ष भर में चौबीस एकादशी व्रत रहते हैं, उन दिनों उपवास रहते हैं और मुसलमान वर्ष में रमजान के महीने में प्रतिदिन दिन भर कुछ नहीं खाते-पीते, केवल रात में खाते-पीते हैं। चलो, साल में कुछ दिन दोनों तपस्या कर लेते हैं। वैसे स्वास्थ्य की दृष्टि से पन्द्रह-पन्द्रह दिनों में उपवास रखने का नियम अच्छा है, परन्तु एकबारगी एक महीना तक दिन में न खाना, केवल रात में खाना एक अजीब बात है। परन्तु इतना तो दोनों को समझना चाहिए कि केवल चौबीस एकादशी के दिन तथा रमजान महीने के तीस दिन ही पवित्र नहीं हैं, किन्तु वर्ष के सारे दिन एक समान पवित्र हैं। हमारा अंधविश्वास कहीं ऐसा नहीं जुड़ जाना चाहिए कि दूसरे दिनों को हम अपवित्र या घटिहा मान लें।

हिन्दू और मुसलमान मंदिर और मसजिद को लेकर बड़ा लट्ठमलट्ठ करते रहते हैं। ये दोनों कहीं-कहीं कुछ ईंट-पत्थर के रोड़े जोड़ लेते हैं, और इनके ईश्वर वहां आकर जम जाते हैं फिर चाहे उनको लेकर इनसान के खून की नदी बहे तो भी इनके ईश्वर वहां से नहीं हटते। ये हिन्दू और मुसलमान के ईश्वर और देवी-देवता कितनी सार्वजनिक जमीनों पर, किन्हीं की व्यक्तिगत जमीनों पर, राहों और सड़कों पर ऐसे जमकर बैठते हैं कि मजाल है इन्हें कोई हटा सके। भले जनता को, राहगीरों को कष्ट हो, परन्तु ये वहां से नहीं हटेंगे। यदि कहीं सरकार इन्हें हटाना चाहे तो धर्म और इसलाम खतरे में है कहकर नारे लगाये जाते हैं, सरकार की छवि खराब करने का प्रयत्न किया जाता है। कितने ही मंदिर और मसजिद इनसानी-दोस्ती की राह में रोड़े ही नहीं खाईं और पर्वत बनकर खड़े हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इनको लेकर मैदाने-जंग में इनसान का खून भी बहने लगता है। ईश्वर और देवता को रहने की जगह न मिलने से ये दयावान हिन्दू और मुसलमान उनके लिए मंदिर और मसजिद बनाते हैं तब कहीं बेचारे ईश्वर और देवता अपने सिर छिपाने की जगह पाते हैं। साहेब कहते हैं कि यदि खुदा मसजिद में रहता है तो मसजिद के बाहर के मुल्क में कौन रहता है? क्या उसमें शैतान रहते हैं? और यदि तीर्थ, मंदिर तथा मूर्तियों में ईश्वर तथा देवता रहते हैं तो उनसे बाहर के संसार में कौन रहता है? इतनी-सी अक्ल लोगों में नहीं आ रही है। ईश्वर का असली स्थान न हिन्दू खोजते हैं और न मुसलमान खोजते हैं। जो इनसान से लेकर सूक्ष्म कीट तक के दिलों में बसा है उसे ये मंदिर-मसजिद की दीवारों के बीच में बन्द कर देना चाहते हैं।

"पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लह मुकामा। दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" हिन्दू द्विजातियों में संध्योपासना में यह विधान है कि सुबह पूर्व तरफ मुख करके, दोपहर उत्तर तथा शाम को पश्चिम तरफ मुख करके संध्योपासना की जाय। संध्योपासना में सूर्य का महत्व होता है। सूर्य जिधर हो उधर मुख करके उपासना करनी चाहिए। परन्तु साधारण हिन्दू जनता न यह विधान जानती है और न विधिपूर्वक संध्योपासना करती है। कोई कर्मनिष्ठ ब्राह्मण कहलाने वाला लाखों में होगा जो एक-दो समय कर लेता होगा। ज्यादातर हिन्दू सुबह से दोपहर तक स्नान करने के बाद पूर्व तरफ मुख करके बैठ जाते हैं और कुछ पूजा कर लेते हैं। मुसलमान जिस तरफ मुख करके नमाज पढ़ते हैं उसे क़िबला कहते हैं और वह मक्का में स्थित काबा है इस

प्रकार मुसलमानों में मक्का एवं काबा मुख्य पूज्य स्थल माना है। काबा भारत से पश्चिम में है। इसलिए वे पांचों वक्त पश्चिम मुख करके नमाज पढ़ते हैं। उनकी मसजिदें भी ऐसी ही बनती हैं जिससे लोग जब दीवार की तरफ मुख करके खड़े हों तो उधर काबा पड़ता हो। कबीर साहेब कहते हैं कि इन ऊपरी बातों को लेकर कोई यह न समझ ले कि पूर्व में हिन्दुओं के ईश्वर हरि रहते हैं तथा पश्चिम में मुसलमानों के ईश्वर अल्लाह रहते हैं। ये काबा-कैलाश, मंदिर-मसजिद बहुत बाहरी हैं। इनमें परम सत्ता को देखने वाले भोले बालक के समान हैं। साहेब कहते हैं "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" हे लोगो! अपने दिल में खोजो, केवल अपने दिल में खोजो। यह जो सभी दिलों में चेतना निवास करती है यही परम तत्त्व है। इसी को ईश्वर, अल्लाह, राम, रहीम, गॉड कुछ भी कह सकते हो। लोग ऊपर वाले को खोजते हैं, भीतर वाले पर ध्यान नहीं देते। ऊपर वाला तो केवल कल्पित है, भीतर वाला अनुभूत स्वसत्ता है, बल्कि कहना चाहिए कि वही सबका अनुभविता, कल्पक एवं ज्ञाता है। "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" यह कबीर साहेब के महासूत्रों में से एक है। जो सभी के दिलों में चेतनरूपी भगवान को समझता है, वह किसी दिल को दुखा नहीं सकता। धोखा यही है कि लोग पत्थर के बने मंदिर-मसजिद में तो भगवान होने का भ्रम कर लेते हैं, किन्तु प्राणियों के दिलों में उसे नहीं देख पाते। इसी का फल है कि वे मंदिर-मसजिद-जैसी बाहरी चीजों की सुरक्षा के लिए लड़ते हैं और ईश्वर के असली स्थान जो प्राणियों के दिल हैं उन्हें दुखाते हैं। कबीर साहेब की पूरी वाणियों में इसी सत्य एवं तथ्य पर जोर है कि ईश्वर प्राणियों के हृदय में है, क्योंकि यही वास्तविकता है और यही मानवता तथा सच्चे धर्म—करुणा के लिए प्रेरक है। यद्यपि यह बात सभी मजहबों एवं संप्रदायों की किताबों में लिखी है, तथापि लोग अपने अज्ञान, अहंकार तथा मिथ्या स्वार्थ में पड़कर उन बातों से अपनी नजरें घुमाकर वही रास्ता अपनाते हैं जो इनसान के लिए बुरा है।

"वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे।" कबीर साहेब की खरी बातें सुनकर लोग उन्हें उलाहना देने पहुंच गये और कहने लगे कि आप तो वेद तथा किताब को झूठा कहते हैं। साहेब ने उन्हें समझाया कि वेद-किताब को कौन झूठा कहता है? झूठा तो वह है जो उन पर विचार नहीं करता; और आंख मूंदकर प्रमाण मानता है। सभी मजहब वाले अपनी-अपनी किताबों को ईश्वरप्रदत्त, आप्तवचन एवं स्वतः प्रमाण मानते हैं। नाना मत के धर्मशास्त्र नाम की पुस्तकों में हजारों वर्षों के बीच में जो कुछ सही-गलत लिख गया है उन सब को प्रभुवाणी, आप्तवचन एवं स्वतः प्रमाण के नाम पर लोगों के गले जबर्दस्ती उतारने की चेष्टा की जाती है। धर्मशास्त्रों में कितनी ऐसी बातें हैं जो भ्रमपूर्ण एवं बिलकुल गलत हैं। कितनी बातें ऐसी हैं कि जब वे लिखी गयीं तब उपयोगी रही होंगी, परन्तु आज वे बिलकुल असंगत हैं, फिर भी वे धार्मिक कहे जाने वाले लोगों-द्वारा जनता पर मढ़ी जाती हैं। साहेब कहते हैं कि मैं वेद, कुरान, बाइबिल तथा समस्त धर्मशास्त्रों को आदर देता हूं और यह चाहता हूं कि उनमें आयी हुई बातों को आंख मूंदकर न मानी जाय, किन्तु उन पर विचारकर जो सत्य हों, कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल युक्तिसंगत, विश्व के नियमों से समर्थित तथा आज के लिए प्रासंगिक हों, उनका

जीवन में उपयोग किया जाय। और जो उनमें युक्ति तथा विवेक-विरुद्ध हों, आज के संदर्भ में अनुपयुक्त तथा हानिकारी हों, उन्हें छोड़ दिया जाय। इस प्रकार वेदों-किताबों तथा धर्मशास्त्रों की बातों में मैं विचार करने की राय देता हूं। मैं यह भी नहीं कहता हूं कि वेद-किताब झूठे हैं। मैं कहता हूं कि वे झूठे हैं जो उनकी बातों पर विचार न कर आंख मूंदकर मानते हैं। अब कोई यदि बारम्बार यही जोर देता है कि मेरे धर्मशास्त्र में लिखा है, यह प्रभुवचन है, किंतु वे ऐसी बातें होती हैं, जो सत्यज्ञान तथा मानवता—दोनों में बाधक होती हैं और यदि ऐसी बातें ईश्वर तथा वेद-किताब के नाम पर कोई जबर्दस्ती गले उतारने के चक्कर में पड़ता है, तब मैं कहता हूं "वेद-कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा"[१] या "नौधा बेद कितेब हैं, झूठे का बाना।"[२] अतएव इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि मैं वेद-किताब को झूठा कहता हूं। मैं वेद-कितेब को आदर देता हूं, परन्तु उनकी बातें विचारपूर्वक मानने तथा न मानने की राय देता हूं।

"सब घट एक-एक कै लेखे, भय दूजा के मारे।" सभी देहों में एक-एक जीव निवास करता है। इन्हीं जीवों को चेतन, आत्मा आदि कहते हैं। अपने शुद्ध रूप में यही परमात्मा हैं। इन्हें कष्ट देने से भय करो। किसी का दिल न दुखाओ। इस पंक्ति में यह महत्वपूर्ण बात है कि सभी देहों में एक-एक आत्मा है जो एक दूसरे से सर्वथा अलग है। कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे हर बात में तथ्य कहते हैं। लोग कहते हैं कि सब में एक ही आत्मा है। साहेब कहते हैं कि यह बात गलत है। सब देहों की आत्माएं एक दूसरे से अलग हैं।[३] हां, सभी जीवों एवं आत्माओं के लक्षण एक हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि सब देहों में रहने वाले चेतन जीवों के गुण एक हैं, परन्तु व्यक्तित्व सबके अलग-अलग हैं। इस पंक्ति में दूसरी बात है कि दूसरों को कष्ट देने से भय करो। पहली बात तो यह है कि यह मानवता नहीं है कि दूसरों को कष्ट दिया जाय, दूसरी बात है कि यदि हम किसी को कष्ट देंगे तो कष्ट पायेंगे। इसलिए हमें दूसरों को कष्ट देने से विरत होना चाहिए।

"जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।" संसार में जितने औरत तथा मर्द पैदा होते हैं वे सब तुम्हारे रूप हैं। यहां सभी जीवों की तात्विक एकता पर प्रकाश डाला गया है। साहेब कहते हैं कि स्त्री और पुरुष तो केवल शरीर के लक्षण हैं, किन्तु उनमें निवास करने वाले जीव एक समान हैं। उनके मूल लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है। कबीर साहेब जैसे तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलिम में एकत्व देखते हैं वैसे स्त्री-पुरुष में भी एकत्व देखते हैं। वे विप्रमतीसी के आखिर में एक ही लपेट में कह जाते हैं कि सब दिलों के भीतर रमने वाले चेतन तत्त्व को क्या कहोगे? उसे काला कहोगे कि गोरा, लाल

---

१. बीजक, शब्द ३२।

२. बीजक, शब्द ११३।

३. केन उपनिषद् के ऋषि भी कहते हैं "भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।" (२/५)
अर्थात—विवेकी पुरुष प्राणी-प्राणी में सत्य को समझकर इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

कहोगे कि पीला, गरम कहोगे कि ठंडा, अवर्ण कहोगे कि सवर्ण, हिन्दू कहोगे कि तुरुक, बूढ़ा कहोगे कि बालक, नारी कहोगे कि पुरुष? जरा, इस पर विचार करो। साहेब यहां कहते हैं कि सब तुम्हारे स्वरूप हैं। इसकी पहली पंक्ति में सद्गुरु ने चेतन जीव के व्यक्तित्व की भिन्नता पर प्रकाश डाला था और इस पंक्ति में सब चेतनों के गुणों की एकता पर प्रकाश डालते हैं और वे कहते हैं कि उसमें नारी-पुरुष का भी भेद नहीं है। लिंग-भेद देह के लक्षण हैं, जीव सबमें समान एवं सजाति हैं।

"कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु पीर हमारा।" पोंगरा कहते हैं बालक-बच्चा एवं पुत्र को। हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि मानते हैं कि हमारे राम, कृष्ण, मुहम्मद, ईसा आदि ईश्वर के अवतार, पैगम्बर एवं पुत्र हैं। साहेब कहते हैं कि ठीक है, मैं उनको अपने गुरु-पीर मानता हूं। कबीर साहेब इस ग्रन्थ में अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का बारम्बार खंडन कर चुके हैं। इसलिए यहां वे पुनः खंडन के माध्यम से नहीं कहते हैं किन्तु मंडन के माध्यम से अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का निषेध कर देते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि आप लोग राम तथा कृष्ण को अवतार मानो, मुहम्मद को पैगम्बर मानो, ईसा को ईश्वर-पुत्र मानो, आप लोगों की मर्जी है। मैं तो उन्हें अपने गुरु-पीर मानता हूं। यहां कबीर साहेब उक्त महापुरुषों को गुरु-पीर कहकर उनका महान आदर करते हैं और साथ-साथ इसी के माध्यम से परोक्षरूप में अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का खंडन कर देते हैं।

सद्गुरु ने इस शब्द के शुरू में ही कह दिया है "अल्लाह राम जियो तेरी नाँई।" सद्गुरु कबीर जीव से अलग ईश्वर नहीं मानते हैं। परन्तु यहां अंतिम पंक्ति में अल्लाह तथा राम के पोंगरे को वे अपना गुरु तथा पीर कह देते हैं। यही उनके संत-हृदय की पहचान है। अल्लाह और राम दोनों का अर्थ है ईश्वर। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के संतोष के लिए अल्लाह और राम अरबी तथा संस्कृत के शब्दों का प्रयोग एक साथ करते हैं। लोगों को केवल अपनी राय दी जा सकती है, किन्तु उनके विचारों को बलपूर्वक बदला नहीं जा सकता। कबीर साहेब ने पूरे शब्द में अपने विचार कह दिये। उन्होंने बता दिया कि मनुष्य की चेतना ही ईश्वर है, भगवान है, परमात्मा है, वह उसे छोड़कर बाहर कुछ नहीं पायेगा। परन्तु इतना कहने के बाद भी वे जानते थे कि कुछ ही लोग इस बात को समझ सकेंगे। शेष लोग तो अपनी लकीर पर ही चलते रहेंगे। वे मानेंगे कि आत्मा से अलग परमात्मा है और राम-कृष्ण उसके अवतार हैं, मुहम्मद उसके पैगम्बर हैं तथा ईसा उसके पुत्र हैं। इसी प्रकार अन्य मत वाले भी मानते रहेंगे। साहेब कहते हैं कि ठीक है भाई! आपके अवतार तथा पैगम्बर को मैं आदर देता हूं। मैं उन्हें अपने गुरु-पीर मानता हूं। वे हमारे पूर्वज हैं, आदरणीय हैं। परन्तु मैं किसी को अवतार तथा पैगम्बर नहीं मानता। मनुष्य के ऊपर कोई ईश्वर नहीं है जो अपना दूत भेजकर संसार में कोई अपना मतवाद चलाता हो। सारे सम्प्रदाय-प्रर्वतक महापुरुष केवल मानव हैं। उन्हें अपने समय में लोक-कल्याण की जो सूझ-बूझ आयी उसे उन्होंने जनता के सामने रखा। जनता ने एवं हर महापुरुष के अनुयायियों ने अपने-अपने महापुरुष को अवतार, पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र आदि बना दिया। इसके पीछे ही सारी सांप्रदायिकता पनपती रही। श्रद्धा अच्छी बात है,

परन्तु अधिक श्रद्धा हिंसा पैदा करती है। जब कुछ लोग किसी महापुरुष को एकलौता सत्य का ठेकेदार, तथाकथित अवतार एवं पैगम्बर मान लेते हैं, तब उससे हटकर दूसरे की बात भी सुनना नहीं चाहते। वे अपने कथित पैगम्बर को स्वर्ग का द्वार तथा दूसरे को नरक का द्वार मानने लगते हैं। धर्म के नाम पर सारी जाहिली इसी से पैदा होती है। अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद असत्य तो हैं ही, अहितकर भी हैं। ये किसी एक में अतिश्रद्धा उत्पन्न कर दूसरे की अवहेलना कराने वाले बन जाते हैं। इसलिए साहेब कहते हैं कि जिसे आप लोग अवतार तथा पैगम्बर मानते हैं, उन्हें मैं गुरु-पीर मानता हूं। गुरु-पीर केवल मनुष्य होता है।

अवतार तथा पैगम्बर के पीछे तो यह झांसा रहता है कि उसकी सब बातें माननी पड़ेंगी। वह जो कुछ कहता है वह सब-का-सब बिलकुल तय है, क्योंकि वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान सत्ता का सन्देशक है। परन्तु गुरु-पीर की बातों में ऐसा नहीं है। गुरु-पीर मानव है। उसकी बातों पर विचार किया जा सकता है। गुरु के गलत आचरण तथा गलत बातों को त्याग देने का अधिकार है। हमें चाहिए कि हम अपने पूर्वजों पर श्रद्धा रखें, परन्तु उनकी गलत बातों को न लें, उनकी केवल अच्छी बातों को लें। श्रुति के ऋषि भी कहते हैं "जो हमारे अच्छे आचरण हैं उन्हें ग्रहण करो और जो गलत आचरण दिखें उन्हें न लो।"[१]

संसार के महापुरुषों को कबीर साहेब कहते हैं कि वे हमारे गुरु-पीर हैं—यह अर्थ किसी को बुरा भी लग सकता है और वह कह सकता है कि कबीर साहेब तो स्वयं परम गुरु थे। वे दूसरे किसी को अपना गुरु नहीं कह सकते। परन्तु ऐसे विचार वाले यह ध्यान रखें कि कबीर साहेब उदार सन्त थे। वे अपने श्रोता तक को गुरु कह देने के लिए तैयार हो जाते हैं जो सत्य को समझता है "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"[२] फिर अपने पूर्वजों को गुरु-पीर कह देना तो बहुत ही शोभनीय है। इस कथन से कबीर साहेब की महत्ता घटती नहीं, किन्तु बढ़ती है। और यह भी तथ्य है कि सभी महापुरुष अपने पूर्वजों से कुछ न कुछ पाते ही हैं। उनकी अच्छाइयों से तो उन्हें मिलता ही है उनकी गलतियों से भी सावधानी मिलती है। और फिर जिस लहजे में यहां सद्गुरु ने "सो गुरु पीर हमारा" कहा है, वह बड़ा मोहक, शालीनतापूर्ण एवं सर्वजन प्रेरक है।

बाह्याडंबर छोड़कर सारतत्त्व पर ध्यान दो

शब्द–९८

आव बे आव मुझे हरि को नाम, और सकल तजु कौने काम॥ १ ॥
कहाँ तब आदम कहाँ तब हव्वा, कहाँ तब पीर पैगंबर हुवा॥ २ ॥
कहाँ तब जिमी कहाँ असमान, कहाँ तब बेद-कितेब कुरान॥ ३ ॥

---

१. यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। *(तैत्तिरीय उपनिषद्, १/११)*
२. बीजक, शब्द १।

जिन दुनियाँ में रची मसीद, झूठा रोजा झूठी ईद॥ ४ ॥
साँचा एक अल्लह को नाम, जाको नइ नइ करो सलाम॥ ५ ॥
कहुँधौं बिहिस्त कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई॥ ६ ॥
कर्ता किरतम बाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई॥ ७ ॥
कहाँ तब दिवस कहाँ तब राती, कहो तब किरतम किन उत्पाती॥ ८ ॥
नहिं वाके जाति नहीं वाके पाँती, कहहिं कबीर वाके दिवस न राती॥ ९ ॥

शब्दार्थ—आव = आ, आओ। बे = अरे। आदम = यहूदी, इसाई, इसलामी आदि सभी सामी मत वालों-द्वारा माना गया सृष्टि का प्रथम पुरुष। हव्वा = हौवा, आदम की पत्नी, सामी मत वालों द्वारा मान्य सृष्टि की आदि माता, जगज्जननी। मसीद = मसजिद। रोजा = रमजान महीने में दिन का उपवास। ईद = मुसलमानों का त्योहार। बिहिस्त = बिहिश्त, स्वर्ग। कर्ता = ईश्वर। किरतम = कृत्रिम, निर्मित, शास्त्र, मत, मजहब आदि। बाजी = खेल, धोखा, चालाकी।

भावार्थ—अरे भोले! इधर आ और सुन! मेरी समझ से तू केवल हरि का नाम ले, हरि के तत्त्व को समझ, शेष सारे बाह्याडंबरों को छोड़ दे। ये दिखावे के धर्म किस काम के हैं? ॥१॥ तब आदम कहां थे और हौवा भी कहां थीं? तब पीर-पैगम्बर भी कहां पैदा हुए थे? ॥२॥ तब जमीन और आसमान भी कहां थे और तब वेद, किताब और कुरान भी कहां थे ? ॥३॥ जिन्होंने दुनिया में मसजिद बनायी वे तब कहां थे? सच पूछो तो रोजा व्यर्थ है और ईद भी व्यर्थ है॥४॥ सच्चा तो एक अल्लाह का नाम है जिसको तुम झुक-झुककर सलाम करते हो॥५॥ कहो भला, ये बिहिश्त कहां से आ गयी जिसको पाने के लिए तुम कुर्बानी का नाम लेकर जीव-हत्या करते हो? किसकी आज्ञा से तुमने मासूम जानवरों पर बेरहमी से छूरी चलायी है? ॥६॥ इन सारे कृत्रिम आडंबरों के मूल में ईश्वर का नाम लेकर और उसके द्वारा इन्हें प्रमाणित बताकर तो मनुष्य के साथ छलावा ही किया गया है और इसी छलावा की आड़ में हिन्दू, तुरुक आदि के अनेक मजहब फैलाये गये हैं जो एक सत्य को निरंतर काटने में लगे रहते हैं॥७॥ तब उसमें दिन कहां था, रात कहां थी? फिर तब बनावटी बातें एवं नाना आडंबर किसने पैदा किये? ॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो सबका प्रेमास्पद एवं परम प्राप्तव्य निज आत्मस्वरूप है न उसमें जाति है और न पांति है, न उसमें दिन है और न रात है॥९॥

व्याख्या—स्वतंत्रचेता, विशालहृदय, पूरी मानवता को एक में समेट लेने की इच्छा रखने वाले परम संत कबीर का हृदय छटपटाता था कि आदमी कैसे उस तत्त्व को समझे जिससे उसके सारे आपसी भेदभाव मिट जायं और संसार में इनसानियत की धारा बहने लगे। मजहबों के बाह्याडंबर ही मनुष्य-मनुष्य के बीच में दीवार बनते हैं। धर्म के असली रूप शील, क्षमा, प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, संयम, परहेजगारी आदि हम जितना ही धारण करें उतना स्वयं सुखी होंगे और दूसरों को सुख पहुंचायेंगे।

कबीर साहेब के समय में हिन्दू और मूसलमान—दो परंपराएं मुख्य थीं जो अपने-अपने बाहरी आडंबरों को लेकर आपस में लड़ रही थीं। लड़ाई के कारण दोनों के केवल

बाहरी आचार थे और वही आज भी हैं, जैसे मंदिर-मसजिद, मुहर्रम, ईद, बकरीद, घंटा, अजान आदि। यह ठीक है कि सभी मनुष्य केवल उच्च ज्ञान को नहीं समझ सकते। यह जरूरी है कि उनके मनोरंजन एवं उपासना-पूजा के लिए कुछ सरल ढंग हो, तीज-त्योहार हो, ईद-बकरीद हो, परन्तु यदि इन सब बातों को लेकर आपस में ईर्ष्या-द्वेष की आग जले तथा लट्ठमलट्ठ हो तो ये सब किस काम के?

इस शब्द में ज्यादातर मुसलमानों के बाह्याडंबर पर कहा गया है। हिन्दू-मुसलमान तथा सभी ईश्वरवादी मत यह मानते हैं कि पहले यह दुनिया नहीं थी। किसी काल में यह बनी। कबीर साहेब कहते हैं कि जब दुनिया नहीं थी, तब आदम, हौवा और पीर-पैगंबर भी कहां थे ? तब तो वेद, कुरान तथा कोई भी धर्मशास्त्र नहीं था। इन सबका अर्थ यह हुआ कि पीर-पैगंबर तथा धर्मशास्त्र की बातें सब पीछे आयी हैं। पहले कभी दुनिया नहीं थी या सदैव से थी, दोनों ही दृष्टियों से यह सिद्ध होता है कि सारी मजहबी भावनाएं, अवतारवाद, पैगंबरवाद, ईश्वरीय किताब आदि की बातें सदा से नहीं थीं। हिन्दू हो या मुसलमान, यहूदी हो या इसाई या अन्य मत-मजहब, सबके अपने इतिहास हैं। सभी मजहबों, वादों तथा पुस्तकों के निर्माण एवं रचना का अपना-अपना काल है। उसके पहले उनकी बातें नहीं थीं। इसलिए किसी मजहब एवं संप्रदाय की किताब, वाद एवं नियम अनादि-अनन्त नहीं हैं और न वे सारी दुनिया के केन्द्रबिन्दु हैं।

यहूदी, इसाई, मुसलमानादि सामी[१] मत वाले सृष्टि का प्रथम मानव आदम को मानते हैं। यहोबा (ईश्वर) ने सोते हुए आदम की बाईं पसली निकालकर हौवा नाम की नारी बनायी और वही आदम की पत्नी बनी तथा सृष्टि की प्रथम नारी। इसकी कथा बाइबिल में लिखी है। पीछे इनमें मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि कई महापुरुष ईश्वर के संदेशवाहक-पैगंबर माने गये। कबीर साहेब सामी मत वालों से कहते हैं कि तुम्हारे मतानुसार पहले केवल ईश्वर था और कुछ नहीं था। तो सादे ढंग से उसी ईश्वर को ही क्यों नहीं जपते हो? आदम, हौवा, पीर, पैगंबर, किताब, कुरान आदि का घमंड लेकर क्यों समाज को तोड़ते हो? मसजिद तुमने बनायी, रोजा, नमाज, ईद-बकरीद तुमने कायम किये तब इन्हीं सब कृत्रिम बातों को लेकर मानव समाज में दरारें क्यों बना रहे हो? जो आदम, हौवा, पैगंबर, कुरान, मसजिद, रोजा, ईद-बकरीद को माने और उसके अनुसार चले वही सच्चा धर्मी है और जो इन सब को न मानता हो, इनका न पालन करता हो, वह धर्मी नहीं है ऐसी संकुचितता क्यों! सच्चा तो अल्लाह का नाम है, इसलिए उसी को श्रेय दो। आडंबर में क्यों उलझते हो जो तुम्हारा ही बनाया है। तुम्हारे मतानुसार ही अल्लाह स्वयंभू है; परन्तु पीर-पैगंबर, मसजिद, रोजा, ईद वगैरह तो तुम्हारे बनाये हैं।

तुमने बिहिश्त की कल्पना कर ली और उसके पीछे यह लगा दिया कि कुरान,

---

१. बाइबिल के अनुसार 'साम' नाम के व्यक्ति 'नूह' के पुत्र थे। अरब, यहूदी, मिस्री आदि 'साम' की ही संतान माने जाते हैं। इसलिए यहूदी, इसाई, मुसलमान आदि के मजहब सामी मजहब कहलाते हैं।

मुहम्मद तथा इसलाम के द्वारा ही उसे पाया जा सकता है। यहां अल्लाह जो सार्वभौमिक धारणा है उसकी उपेक्षा कर दी गयी और कृत्रिम बातों को ऊपर ला दिया गया। अल्लाह को तो राम, ईश्वर आदि अन्य नामों से दूसरे लोग भी जपते हैं, परन्तु कुरान, मुहम्मद और इसलाम सब तो नहीं स्वीकार सकते। इनसान को चाहिए कि वह धर्म के ऐसे आधारबिन्दु पर जोर दे जहां पर सब इकट्ठे हो सकें। बिहिश्त के पीछे एक भयंकर धारणा लगा दी गयी—कुर्बानी के नाम पर जीवहत्या। साहेब कहते हैं कि तुम केवल एक ईश्वर के भक्त बनते हो, तो यह बताओ कि तुम किसकी आज्ञा से मूक प्राणियों पर छूरी चलाते हो? क्या ईश्वर ने आज्ञा दी है? ईश्वर ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता। वह अपने फरजंदों की हत्या करने की आज्ञा कैसे दे सकता है? वह निहायत रहम वाला है, फिर उससे बेरहमी की आज्ञा हो भी कैसे सकती है? अतएव यह जीवहत्या कर स्वर्ग पाने की बात भी तुम्हारी बनावटी है। इसमें तुम्हारा भ्रम तथा जीभ-स्वाद कारण है।

"कर्ता किरतम बाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई।" चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या दूसरे ईश्वर वाले, सबने अपने-अपने बनाये नियमों, किताबों, अवतारों, पैगंबरों को ईश्वर से जोड़ रखा है। सब यही कहते हैं कि हमारी किताब ईश्वरीय है, हमारा महापुरुष ईश्वर का अवतार, पैगंबर आदि है, हमारे मत के सारे नियम ईश्वरप्रदत्त हैं। साहेब कहते हैं कि यह कर्ता कृत्रिम की बाजी है, अर्थात अपने सारे कृत्रिम आडंबरों को कर्ता से जोड़ने का गोरखधंधा है। जब अपने बनाये आडंबर ईश्वर से जोड़ दिये जाते हैं तब वे प्रामाणिकता के जामा पहन लेते हैं। तब वहीं एक दूसरे मत से आस्तिक-नास्तिक, दीनदार-बेदीन तथा पवित्र-अपवित्र का घृणित व्यवहार चलता है।

"कहाँ तब दिवस कहाँ तब राती, कहो तब किरतम किन उत्पाती।" ईश्वरवादानुसार तो सृष्टि के पहले दिन-रात तथा उनमें होने वाले सारे व्यवहार ही नहीं थे, तब इन कृत्रिम बातों को किसने पैदा किया? वस्तुतः सारी कल्पनाएं मनुष्यों की हैं।

आत्मा में कोई जाति-पांति और दिन-रात नहीं है। उसी प्रकार जैसी ईश्वर की अवधारणा है उसके अनुसार ही उसकी भी कोई जाति-पांति नहीं है और न उसमें रात-दिन तथा उनमें होने वाले व्यवहार हैं। इसलिए जब वह सार्वभौमिक है तब उसमें बाह्याडंबर न जोड़कर उसे सार्वभौमिक ही रहने दो। जो सार्वभौमिक है उसे मत-मजहब एवं बाह्याचार की संकुचित डिबिया में न बंद करो।

जो लोग आत्मा से अलग ईश्वर मानते हैं, इस पद में सद्गुरु कबीर ने उन्हें उसी ढंग से समझाया है। इस पूरे पद का सार यही है कि सत्य को बाह्याचार एवं आडंबर में विखंडित मत करो। यदि हर मत वाले अपने बाह्याचार को गौण स्थान दें और केवल सत्य पर जोर दें तो सत्य सार्वभौमिक होने से सब में समन्वय तथा एकता होगी, मानव-समाज के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है।

वस्तुतः हर मनुष्य का प्राप्तव्य उसका अपना आत्मस्वरूप है, और वह शुद्ध चेतन है। वही ईश्वर है, वही अल्लाह है "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए किसी सांप्रदायिकता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सच्चे सद्गुरु की शरण की आवश्यकता है।

जीवन की नश्वरता

शब्द–९९

अब कहाँ चलेउ अकेले मीता, उठहु न करहु घरहु की चिन्ता॥ १ ॥
खीर खाँड़ घृत पिण्ड सँवारा, सो तन लै बाहर कै डारा॥ २ ॥
जो शिर रचि-रचि बाँधहु पागा, सो शिर रतन बिडारत कागा॥ ३ ॥
हाड़ जरे जस जंगल लकड़ी, केश जरै जस घास की पूली॥ ४ ॥
आवत संग न जात सँगाती, काह भये दल बाँधल हाथी॥ ५ ॥
माया के रस लेइ न पाया, अन्तर यम बिलारि होइ धाया॥ ६ ॥
कहहिं कबीर नर अजहु न जागा, यम का मुगदर माँझ शिर लागा॥ ७ ॥

शब्दार्थ—खाँड़ = मीठा। पिण्ड = शरीर । बिडारत = विदीर्ण करना, फोड़कर बिखेरना। पूली = गड्ढा। यम = मौत।

भावार्थ—संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने मानने वाले हे मित्र! अब तुम अकेले किधर के लिए चल दिये? उठकर अपने घर-परिवार एवं स्वजनों की चिन्ता करो न!।।१।। खीर, खांड़ और घी खाकर जिस शरीर को तुमने बहुत चिकना बनाया था, उस तेरे लालित-पालित शरीर को लोगों ने उठाकर बाहर डाल दिया है।।२।। तुम जिस सिर में संवार-संवारकर बड़े कौशल से पाग बांधते थे, उस रत्नतुल्य सिर को कौवे फोड़-फोड़कर बिखेर रहे हैं।।३।। तुम्हारी पुष्ट हड्डियां जंगल की लकड़ी की तरह जल रही हैं और बाल घास के गट्ठे की तरह स्वाहा हो रहे हैं।।४।। न संसार में आते समय साथ में आये हैं और न जाते समय साथ चलेंगे, फिर फौज-फक्कड़ तथा हाथी-घोड़े बांधने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ!।।५।। तू इच्छानुसार माया का आनन्द नहीं ले पाया, इतने में मौत बिल्ली बनकर तेरे ऊपर टूट पड़ी।।६।। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में इस प्रकार मौत का तांडव देखकर भी मनुष्य सावधान नहीं होता और देखते-देखते उसके सिर पर मौत का मुगदर लग जाता है।।७।।

व्याख्या—आदमी संसार में आकर घोर माया-मोह में लिप्त हो जाता है। वह घर-परिवार सम्हालने की चिन्ता में इतना पड़ जाता है कि यह भूल ही जाता है कि यहां से अचानक जाना है। इस नाशवान संसार से सर्वथा अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप-बोध में रमना जीवन का फल है, परन्तु इसका उसे पता ही नहीं रहता। यदि पता भी पा जाय तो भी वह अपने आप को संसार में इतना जोड़ लेता है कि जीवनभर अविनाशी आत्माराम से बेभान ही रहता है।

जो संसार के प्राणी-पदार्थों को दृढ़ कर अपना मानता है, उन्हीं के मोह में डूबा रहता है और ऐसा करते-करते एक दिन अचानक इस संसार से सदैव के लिए चला जाता है,

उसको लक्ष्य करके सद्गुरु कहते हैं कि हे दीवाने! तू तो मानता था कि यह घर मेरा है, परिवार मेरा है, ये मित्र-सम्बन्धी मेरे हैं। तू इनमें लीन होकर सत्संग के लिए थोड़ा भी समय नहीं निकाल पाता था। तू कहता था कि घर-परिवार को सम्हालने में ही मेरे समय चले जाते हैं। ये मेरे अपने लोग हैं। इनके लिए मेरी अपनी जिम्मेदारियां हैं। मेरे बिना ये कैसे रहेंगे। परन्तु हे मोह-मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ आदमी, तू इस संसार से उठकर अकेले कैसे चल दिया? अपने स्वजनों के प्रति पूरी जिम्मेदारी निभाये बिना बीच ही में तू यहां से कहां चला गया, तेरे इतने-इतने साथी, और तू चलते समय किसी एक को भी साथ न ले जा सका। तेरा नकली नक्शा चेष्टाहीन होकर जमीन पर पड़ा है। तू अपने प्यारे स्वजनों के विलाप करते हुए मुख की ओर भी नहीं देखता है। जिनके लिए तू अपनी जान देता था उनके लिए तू इतना विरत हो गया है। उठो न! घर की चिन्ता करो। तुम्हारे अपने माने हुए स्वजन रो रहे हैं। उनके आंसू पोंछो। उन्हें सांत्वना दो। उन्हें स्नेह देकर उनकी रक्षा का आश्वासन दो। परन्तु हाय! यह सब अब सम्भव नहीं है। जो यहां से एक बार उठ गया, वह कभी लौटकर नहीं आया। अदना जीवों की बातें छोड़ो, जो लोग संसार में बहुत प्रसिद्ध हैं क्या वे लौट सके? जिन लोगों को जनता ने भगवान एवं पैगम्बर माना, अपना परम प्रेमास्पद माना, वे भी यहां लौटकर नहीं आ सके। आने का कोई चारा नहीं है।

हम अपने माने हुए शरीर को अनेक पौष्टिक खाद्य पदार्थों का सेवनकर बलवान बनाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। जब तक शरीर है इसे उचित खान-पान के द्वारा स्वस्थ रखना देहधारी का कर्तव्य भी है। परन्तु कितने मोहग्रस्त लोग खीर, खांड़ एवं घृत से ही नहीं अनेक भस्म एवं कीमती-कीमती रस-रसायन सेवनकर इस शरीर को अजर-अमर या कम-से-कम इसे बहुत दिनों तक सुरक्षित रखने की दुराशा करते हैं। परन्तु अनेक यत्न से बहुत लालित-पालित यह शरीर अचानक छूट जाता है। शरीर छूटने की संभावना होते ही लोग उसे खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं और प्राण निकलते ही "ले चल ले चल करते भाई" जीव के निकल जाने पर सब यही कहते हैं कि ऐ भैया, जिस हंसा से नाता था, वह चला गया, अब कोई मिट्टी को रखकर क्या करेगा!

हम अपने माने हुए शरीर के एक-एक अंग के प्रति रागवान होते हैं। आदमी अनेक वस्त्रों एवं अलंकारों से इन्हें सजाता है। शरीर की भयंकर परिणामशीलता का उसे होश नहीं रहता। बहुत प्रकार से सजाये जाने वाले इस शरीर की अन्तिम दशा क्या होती है यह किसी से छिपी हुई नहीं है। यह यदि मैदान में पड़ा रहे तो जानवर फोड़-फोड़कर इसकी दुर्गति कर देते हैं, यदि इसे पानी में डाल दें तो यह कछुआ-मछली आदि का आहार हो जाता है, यदि मिट्टी में गाड़ दिया गया तो यह सड़ जाता है तथा इसे कीड़े-मिट्टी खा लेते हैं और यदि इसे आग में रख दिया गया तो भक्क से जलकर मिनटों में राख हो जाता है। ऐसी है यह अपनी मानी गयी सुरक्षित काया। इसी पर केन्द्रित हैं हमारे सारे अभिमान! कितने धोखे की टट्टी में आदमी जी रहा है!

धन है, जमीन है, मकान है, परिवार है, मित्र हैं, फौज-फक्कड़ है, घोड़े-हाथी हैं, कार-मोटर हैं, मान-अधिकार हैं और पता नहीं कितना-कितना अपना माना हुआ सब कुछ

है। परन्तु ध्यान रहे, इनमें से एक वस्तु भी हमने साथ में लायी नहीं है और न चलते समय एक वस्तु साथ में चलेगी। फिर इनका अहंकार करने से क्या फल होगा! सपने में हम भिखार हैं या राजा, जाग जाने पर क्या हानि-लाभ! संसार के ये सपने मनुष्य को छलते हैं। हम मूढ़ हैं जो इन सपनों में छले जाते हैं। संसार की मानी गयी सारी उपलब्धियां अन्ततः झूठी हैं। मोह-मूढ़ मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने छाती-पेटे लगाये रखने का हठ करता है जो उसके कभी नहीं हो सकते।

आदमी सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से बड़ी लम्बी-लम्बी आशाएं करता है। वह संसार में डूबकर तथा छककर आनन्द लेता है, परन्तु तृप्ति पाये बिना संसार से चला जाता है। वह तृप्त हो भी नहीं सकता। चाहे मनुष्य लाखों वर्षों तक भोगों को भोगने का अवसर पा जाये, परन्तु उसे तृप्ति नहीं मिलेगी। भोगों में किसी को भी तृप्ति नहीं मिलती। जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं है, किन्तु उलटे प्रज्वलित होती है, वैसे भोगों से इच्छाएं बुझती नहीं हैं, किन्तु बढ़ती हैं। अधिकतम लोगों को तो भोग मिलते ही नहीं हैं, कुछ लोगों को मिलते हैं, परन्तु इच्छानुसार नहीं मिलते। और तृप्ति तो किसी की भी नहीं होती। इतने में देहाभिमानीरूपी चूहे पर मौतरूपी बिल्ली कूद पड़ती है। मौत सभी देहाभिमानियों को उनकी अधूरी इच्छाओं के बीच में से ही उठा लेती है। संसार का हर आदमी करने और भोगने की लालसा लेकर ही यहां से जाता है। ऐसा पुरुष दुर्लभ है जिसे ऐसा लगता हो कि मुझे जो कुछ करना था कर लिया और जो कुछ पाना था पा लिया। कृतकार्य और कृतकाम मनुष्य धन्य है। जीवन में पूर्ण सफल वही है जो कृतकार्य एवं कृतकाम है, अर्थात जिसने सारी कामनाएं त्याग दी हैं।

तुम समर्थ हो, माया-मोह की दीनता छोड़ो

शब्द–१००

देखउ लोगा हरि केर सगाई, माय धरि पूत धियऊ संग जाई॥ १ ॥
सासु ननद मिलि अचल चलाई, मँदरिया के गृह बैठी जाई॥ २ ॥
हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा॥ ३ ॥
कहहिं कबीर ये हरि के बूता, राम रमेते कुकुरि के पूता॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हरि = ज्ञानस्वरूप चेतन। सगाई = रिश्ता, नाता, मित्रता। माय = माता, माया। धियऊ = पुत्री, बुद्धि। सासु = संशय। ननद = कुमति। अचल = निश्चल चेतन। मँदरिया = मदारी, बाजीगर, मन। बहनोई = जीजा, वहन करने तथा धारण करने वाला। राम = आत्मतत्त्व। सारा = सत्य। हरि = ज्ञानतत्त्व। हरि के बूता = चेतन की शक्ति, ज्ञानशक्ति। राम = चेतनात्मा। कुकुरि = मुरगी, कुतिया। पूता = पुत्र, बच्चा।

भावार्थ—हे लोगो! यह मनुष्य जो स्वरूपतः हरि है, ज्ञानस्वरूप है, इसकी भूल तो देखो, यह अपना रिश्ता कहां लगा रहा है, यह कहां मित्रता कर रहा है, इस पर ध्यान दो। जैसे पुत्र माता को पकड़ ले तथा पिता पुत्री के साथ आसक्त हो जाये तो यह अनर्थ है, वैसे जिस माया से जीव के जन्मादि बंधन होते हैं उसी में वह पुनः आसक्त होता है

और अपने-द्वारा पैदा की हुई बुद्धि को मलिन बना उसके साथ पतित होकर अनर्थ कर रहा है।।१।। संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद मनरूपी बाजीगर के पास जा बैठीं और उन्होंने स्वरूपतः निश्चल चेतन जीव को चंचल बना दिया। अर्थात मन के संशय और कुमति ने जीव को विचलित कर दिया है।।२।। जैसे मानो ऋष्य शृंग कह रहे हों कि श्री राम की बहिन शांता से मेरा विवाह होने से मैं राम का बहनोई हूं, राम मेरे साले हैं और जिससे राम पैदा हुए हैं वह पुत्रेष्टियज्ञ मेरे द्वारा ही होने से मैं ही मानो राम का पिता हूं और राम मेरे पुत्र हैं; वैसे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वस्तुतः हम चेतन ही ज्ञान-विज्ञान के वहन एवं धारण करने वाले हैं और आत्माराम ही हमारा सार-स्वरूप है। हम ही समस्त ज्ञान-विज्ञान के पिता हैं तथा ज्ञान हमारा पुत्र है।।३।। कबीर साहेब कहते हैं कि यह सारा ज्ञान-विज्ञान चेतन की शक्ति है। राम तो कुकुरी के बच्चे में भी रम रहा है, फिर मनुष्य की बात तो महान है। वह विवेक-साधनसंपन्न है। वह माया को जीतकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।।४।।

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी बातें व्यंग्यात्मक ढंग से कहने में बहुत माहिर हैं। वे इस शब्द में पहला व्यंग्य जीव की स्वरूपतः उच्चता तथा दूसरी तरफ उसकी घृणित जगह लगाव को लेकर करते हैं। वे कहते हैं "देखउ लोगा हरि केर सगाई" यह जीव, यह मनुष्य हरि है, परमात्मा है, उच्चतम सत्ता है। जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञानमात्र एवं पूर्णकाम है, पूर्णकाम ही तो हरि है; परंतु यह मूलतः हरि स्वरूप जीव कहां अपनी सगाई करता है, यह कहां-कहां अपने रिश्ते-नाते जोड़ता है उस पर ध्यान देने से "नाम बड़े दर्शन छोटे" कहावत की याद आती है। यह मूलतः महान होते हुए भी मलिन वस्तुओं में रमता है क्योंकि इसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है।

"माय धरि पूत धियऊ संग जाई" जन्मदात्री माता से यदि पुत्र वासनात्मक व्यवहार करे और पिता अपनी पुत्री से इस ढंग से पेश आये तो ये महान घृणित कार्य हैं। इससे घृणित और क्या हो सकता है? जीव माया से ही तो देहधारण करता है। यहां माया ही मानो माता है जिससे जीव के जन्मादि चक्कर चलते हैं, परन्तु वह उलटकर पुनः उसी में आसक्त होता है। माया में आसक्त होना मानो माता के साथ दुर्व्यवहार करना है। पिता से पुत्री पैदा होती है। अपनी पुत्री के साथ दुर्व्यवहार कभी क्षम्य नहीं हो सकता। मनुष्य से ही बुद्धि पैदा होती है, इसलिए बुद्धि मनुष्य की मानो पुत्री है और मनुष्य अपनी बुद्धि का ही दुरुपयोग करता है अथवा अपनी बुद्धि को मलिन बनाकर उसके साथ बहता है।

"सासु ननद मिलि अचल चलाई, मँदरिया के गृह बैठी जाई।" संसार में यह अधिक देखा जाता है कि सासु और ननद बहू को परेशान करती हैं। साहेब ने इस ग्रन्थ में सासु-ननद को विवाद का पर्याय ही मान लिया है। साहेब-कथित सासु-ननद व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु प्रतीकात्मक हैं। वे हैं क्रमशः संशय तथा कुमति। मन है मदारी अर्थात जादूगर। इस जादूगर मन से पैदा हुए संशय और कुमति अचल जीव को चंचल कर दिये हैं। इस मन-मदारी ने संशय और कुमति को भेजकर जीव को भ्रमित कर दिया है। संशय से ग्रसित होने पर जीव स्थिर नहीं हो पाता, इधर कुमति उसको उलटा पाठ पढ़ाकर हितकर को अहितकर तथा अहितकर को हितकर सिद्ध करती है। जीव स्वरूप से अचल है। कल्पना

करो, यदि तुम्हारे मन में इच्छा, वासना, संदेह एवं भ्रम न हों तो तुम्हारे चंचल होने का कोई कारण ही नहीं है। जीव स्वभावतः अचल है, शांत है, तृप्त है। वह तो मन के उद्वेग से ही चंचल होता है। इस अचल एवं शांत जीव को मन के संशय एवं कुमति ने विचलित कर दिया है। अतएव जिसे शांति प्रिय हो उसे चाहिए कि वह अपने मन से संदेह एवं कुमति को निकाल दे। शुद्ध बोध से संशय समाप्त हो जाता है तथा निष्कपट सेवा-सत्संग से कुमति समाप्त हो जाती है। मनुष्य को व्यवहार तथा अध्यात्म दोनों में संशय रहता है। व्यावहारिक संशय यह है कि जीवन-निर्वाह कैसे होगा, बुढ़ापा तथा रोग में कौन सहयोग करेगा, ये स्वजन द्वेषी न हो जायं, शत्रु हमारी हानि न कर दें इत्यादि। इस संशय का समाधान इस विवेक में है कि देह के साथ प्रारब्ध है वह अटल है। हस्ती से कीट तक सबका देह-निर्वाह होता है तो हमारा क्यों नहीं होगा! आदमी पहले से व्यर्थ में चिन्ता करता है, समय आने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। समय सारी समस्यारूपी रोग की औषध है। हम स्वयं विचार से रहें तो हमारा कोई शत्रु नहीं है और यदि हम गलत व्यवहार करने लगेंगे तो हमारी रक्षा कोई नहीं कर सकता। अतएव प्रारब्ध, परिश्रम तथा पवित्र कर्मों पर जिसे विश्वास हो जाता है उसके व्यावहारिक संशय नष्ट हो जाते हैं। आध्यात्मिक संशय है कि मेरा स्वरूप क्या है? जड़ है कि चेतन? मैं किसी का अंश या प्रतिबिंब हूं या स्वतः? मेरा आश्रय मैं स्वयं ही हूं कि अलग है? जब शुद्ध विवेक उदय होता है तब यह बोध हो जाता है कि मैं किसी का अंश, प्रतिबिम्ब एवं टुकड़ा नहीं, किंतु स्वयं पूर्णस्वरूप हूं। मेरा आश्रय अलग कहीं नहीं, किन्तु मेरी अपनी आत्मा ही है। मैं जड़ से सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हूं। सारी वासनाओं को छोड़कर मैं स्वयं मुक्तस्वरूप हूं। इस प्रकार जिसे ठीक से निजस्वरूप का बोध हो जाता है उसका आध्यात्मिक संशय नष्ट हो जाता है। दूसरी बात है कुमति। यह संतों-गुरुजनों की सेवा, भक्ति, सरलता, निष्कपटता एवं सत्संग से नष्ट हो जाती है। इस प्रकार संशय और कुमति के नष्ट हो जाने पर जीव परम विश्रांति पाता है।

"हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा।" ऋष्य शृंग की पत्नी शांता थी जो वाल्मीकीय रामायण[१] के दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार रोमपाद की पुत्री थी; परन्तु वाल्मीकीय रामायण के गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठ के अनुसार राजा दशरथ की पुत्री थी। अधिक प्रसिद्धि यही है कि दशरथ की पुत्री शांता को अंगदेश[२] के राजा रोमपाद ने गोद ले लिया था। कारण यह है कि पीछे के रामायणों तथा पुराणों में ज्यादातर यही लिखा गया कि शांता दशरथ की पुत्री थी। रोमपाद दशरथ के मित्र थे। वे निःसंतान थे, इसलिए दशरथ ने अपनी पुत्री शांता को उन्हें गोद दे दिया था। परन्तु रामायण के दाक्षिणात्य पाठ में स्वयं दशरथ को 'अनपत्य'[३] अर्थात संतानहीन बताया गया है। इस रामायण के अनुसार दशरथ की साढ़े तीन सौ[४] पत्नियां थीं और किसी से संतान

---

१. वाल्मीकीय रामायण १/९/१३; १/११/१९।

२. पूर्वी बिहार भागलपुर के आस-पास का क्षेत्र अंगदेश कहलाता था।

३. १/११/५।

४. वाल्मीकि दाक्षिणात्य २/३४/१३।

नहीं थी। इसका अर्थ है कि दशरथ में ही संतान देने की योग्यता नहीं थी। इसलिए उन्हें 'अनपत्य' कहा गया। दशरथ तथा अंगदेश के राजा रोमपाद से मित्रता[1] थी। दशरथ अधिक प्रसिद्ध होने से पीछे की रामायणों एवं पुराणों में शांता दशरथ की पुत्री ही बतलायी जाने लगी। आज की जनश्रुति यही है कि शांता दशरथ की पुत्री थी जिसे रोमपाद ने गोद लिया था। इतना तो सब कहते हैं कि शांता ऋष्यश्रृंग की पत्नी बनी।

इस प्रकार अनेक रामायणों और पुराणों तथा जनश्रुति के अनुसार शांता दशरथ की पुत्री होने से श्रीराम की बहिन थी। इसलिए ऋष्यशृंग कह सकते हैं कि मैं राम का बहनोई हूं तथा राम मेरे साले हैं। ऋष्यशृंग के ही द्वारा यज्ञ करने पर रामादि चारों भाई पैदा हुए थे, तो वे मानो राम के पिता हुए और राम उनके पुत्र हुए। यहां इसे प्रतीकात्मक रूप से लिया गया है। यहां का सार अर्थ है कि ज्ञानी कहता है कि मैं ज्ञान-विज्ञान का वहन एवं धारण करने से ज्ञान का बहनोई हूं; ज्ञान की बहिन शांता अर्थात शांति मेरी पत्नी है, ज्ञानी सदैव शांति में रमण करता है। जो ज्ञान का वहन करता है जो ज्ञान को धारण करता है वह निश्चित ही शांति में रमण करता है। राम उसका सार होता है। सार कहते हैं मूलतत्त्व एवं सत्य को।

''हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा'' ज्ञानी कहता है कि मैं पिता हूं और हरि मेरा पुत्र है। यदि हरि का अर्थ आत्मभिन्न ईश्वर माना जाय तो अर्थ होगा कि ज्ञानी कहता है कि मैं ईश्वर का पिता हूं और ईश्वर मेरा पुत्र है। ज्ञानी मनुष्य है और मनुष्य ही ने अपनी कल्पना से ईश्वर को जन्म दिया है। इसलिए ज्ञानी एवं मनुष्य पिता है तथा ईश्वर मनुष्य का पुत्र है। परन्तु यहां हरि का तात्त्विक अर्थ है ज्ञान। ज्ञानी अर्थात जीव पिता है और ज्ञान उसका पुत्र है। जीव ही से ज्ञान पैदा होता है।

''कहहिं कबीर ये हरि के बूता'' हरि चेतन है, बूता बल एवं शक्ति है। सद्गुरु कहते हैं कि सारा ज्ञान-विज्ञान चेतन की शक्ति है। हरि के अर्थ चेतन तथा ज्ञान दोनों हैं। वस्तुतः चेतन एवं ज्ञान एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इसलिए हरि का इस शब्द में जहां जिस अर्थ से संगति बैठती है वैसा किया गया है। संसार की सारी विचार-पद्धतियां चेतन एवं ज्ञान के ही बलबूते का फल है। ''राम रमेते कुकुरि के पूता'' राम तो कुकुरी के पूत में भी रम रहा है, फिर मानव में तो कहना ही क्या! वह तो विवेक-साधनसंपन्न भूमिका में है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने हरिस्वरूप, रामस्वरूप एवं शुद्ध-बुद्ध चेतनस्वरूप को समझे और घृणित माया की सगाई का त्याग करे।

इस शब्द में सद्गुरु ने बताया कि यह जीव, यह मनुष्य स्वयं हरि एवं परमात्मा है। परन्तु इसने मलिन माया से मोह कर लिया है। इसलिए संशय और कुमति से ग्रसित होकर चंचल हो गया है। इसे मनरूपी जादूगर ने नचा डाला है। साहेब मनुष्य को साहस देते हैं कि तुम ज्ञान-विज्ञान के धारक हो, शांति तुम्हारी अभिन्न प्रिया है, तुम्हारा स्वरूप ही राम है, तुम्हीं सारे ज्ञान-विज्ञान के जनक हो, सारा ज्ञानक्षेत्र तुम्हारी शक्ति का चमत्कार है। तुम माया को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हो। अपनी शक्ति की याद

---

१. वाल्मीकि दाक्षिणात्य १/११/३।

है। तुम माया को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हो। अपनी शक्ति की याद करो।

मन की विपरीतता को समझकर उसे छोड़ो

शब्द–१०१

देखि-देखि जिय अचरज होई, यह पद बूझै बिरला कोई॥ १ ॥
धरती उलटि आकाशै जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय॥ २ ॥
बिना पवन सो पर्वत उड़े, जीव जन्तु सब वृक्षा चढ़े॥ ३ ॥
सूखे सरवर उठे हिलोरा, बिनु जल चकवा करत किलोरा॥ ४ ॥
बैठा पण्डित पढ़े पुरान, बिनु देखे का करत बखान॥ ५ ॥
कहहिं कबीर यह पद को जान, सोई सन्त सदा परमान॥ ६ ॥

शब्दार्थ—जिय = जी, जीव, जान, मन, चित्त, तबीयत, जीवट, यहां का अर्थ है मन। यह पद = यह उलटवांसी शब्द। हिलोरा = तरंग। चकवा = एक पक्षी जो जाड़े के दिनों में जलाशयों के किनारे पाया जाता है और जिसके विषय में यह प्रसिद्धि है कि रात में जोड़े से उसका वियोग हो जाता है, चक्रवाक। बखान = वर्णन, बड़ाई, गुणकथन। यह पद = यह उलटवांसी शब्द। परमान = प्रमाण, सत्य।

रूपक—देख-सुनकर मन में बड़ा आश्चर्य होता है। इस उलटे दिखते हुए शब्द के भाव को कोई विरला ही समझेगा। धरती उलटकर आकाश में उड़ी जा रही है, चींटी के मुख में हाथी डूबे जा रहे हैं, बिना पवन के पर्वत उड़ रहे हैं, सभी जीव-जन्तु पेड़ों पर चढ़कर आश्रय ढूंढ़ रहे हैं, सूखे सरोवर में तरंगें उठ रही हैं, बिना जल के चकवे-पक्षी क्रीड़ा-आनन्द कर रहे हैं, पण्डित व्यासगद्दियों पर बैठकर पुराण पढ़ते हैं और बिना देखी बातों की बड़ाई करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि इस पद के अभिप्राय को जो समझकर हृदयंगम करेंगे, वे संत सदैव प्रमाणित एवं सत्य-पथ के पथिक होंगे।

भावार्थ—धर्म के नाम पर चलने वाली लम्बी-चौड़ी बातों को देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है। मैं उन्हें व्यंजना एवं संकेत में कहता हूं, इसलिए कोई विरला समझता है॥१॥ धरती उलटकर आकाश में जा रही है। अर्थात देवता, ईश्वर, स्वर्गादि की धार्मिक कही जाने वाली अजीबोगरीब बातें सुनकर तथा उन्हें सत्य मानकर धरती पर के मनुष्यों के मन आकाश में उड़ने लगते हैं और उन्हें पाने के लिए छटपटाने लगते हैं। यह तो चींटी के मुख में हाथी समाने-जैसी बात हुई। अर्थात मनुष्य के मन में आकाश-पाताल के कुलावे मिलने लगे॥२॥ इतना ही नहीं, बिना पवन के पर्वत उड़ने लगे। अर्थात बिना विचार के बड़े-बड़े विद्वान-ज्ञानी कहलाने वाले लोग भी हवाई-महल बनाने लगे एवं कल्पनाओं में उड़ने लगे। पर्वतों को उड़ते देखकर जैसे भयभीत हो छोटे-छोटे जीव-जन्तु पेड़ों पर चढ़कर अपने रहने का आश्रय खोजने लगे, वैसे बड़े-बड़े विद्वान एवं ज्ञानियों को कल्पनाओं में उड़ते देखकर अशिक्षित सामान्य लोग भी अपनी रक्षा के लिए नाना देवी-देवताओं एवं भूत-प्रेतादि का आश्रय खोजने लगे॥३॥ इतना ही क्या,

सूखे सरोवर में तरंगें उठ रही हैं और बिना जल के चकवे क्रीड़ा कर रहे हैं। अर्थात अपनी आत्मा से भिन्न कहीं कोई देव, ईश्वर एवं स्वर्ग न होने पर भी उनके लिए लोगों के मन में तरंगें उठती हैं और बिना सार के वे उनके कल्पना-लोक में क्रीड़ा करते हैं।।४।। इन सब के मूल में है कि पंडित लोग व्यासगद्दियों पर बैठकर पुराण बांचते तथा उनकी कथा कहते हैं और बिना देखी तथा बिना अनुभव की हुई बातों की बड़ाई करते हैं।।५।। कबीर साहेब कहते हैं कि मेरे इस व्यंजनात्मक शब्द का भाव जो समझ लेगा वह अनर्गल बातों को छोड़कर सत्य-पथ का राही हो जायेगा। सत्य-पथ का राही ही संत है।।६।।

व्याख्या—धार्मिक कहे जाने वाले नाना मतों के पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में स्वर्ग के तथा उसमें रहने वाले देवी-देवताओं, हूरों-गिल्मों तथा ईश्वर के ऐसे लुभावने वर्णन हैं जिन्हें सुनकर अशिक्षित ही नहीं शिक्षित और विद्वान लोग भी वहां पहुंचकर उनका आनन्द लेने के सपने देखने लगते हैं। हिन्दू, मुसलिम, इसाई आदि हर मजहब के पंडित अपने-अपने पुराणों को पढ़ते तथा उनमें लिखी अजीबोगरीब बातों एवं मोहक और आश्चर्यचकित कर देने वाले विषयों का वर्णन करते हैं। वे मुट्ठी भींज-भींजकर उन बातों की बड़ाई करते हैं; परन्तु वह सब उनका "बिनु देखे का करत बखान" रहता है। इन नाना मतों के पण्डितों ने न तो आज तक किसी देव तथा फ़िरिश्ते से भेंट की है, न ईश्वर से और न किसी स्वर्ग को देखा है; परन्तु इन सब की बड़ाई इस ढंग से करते हैं कि मानो ये उन सब को देखकर आये हैं। इन्हीं नाना मत-मजहबों के पंडितों के बहकावे में आकर लोगों के मन में ऐसी बातों में अंधविश्वास हो गया है जिनमें न कारण-कार्य-व्यवस्था है, न जिनसे विश्व के शाश्वत नियमों से कोई प्रयोजन है। सद्गुरु कहते हैं कि हमें इन लोगों के व्यवहार तथा बातें देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है।

इन लुभावनी बातों में पड़कर इस धरती के लोगों का मन आकाश के सातवें लोक एवं सातवें तपक पर घूम रहा है। ब्रह्मलोक, साकेतलोक, गोलोक, सत्लोक, बैकुंठलोक, शिवलोक, विष्णुलोक, बिहिश्त जहां हूरें, गिल्में, शराब, अप्सराएं, देवता, ईश्वर तथा सारे भोगों को पाने के झूठे आश्वासन दिये गये हैं वहां आदमी जाना चाहते हैं। धरती पर प्रेम तथा सदाचार का व्यवहार कर स्वर्ग बसाना चाहिए था, परन्तु आदमी ने राग-द्वेष, हिंसा, छलावा आदि का व्यवहार कर धरती को नरक बना दिया है। वह उलटी बात सोचता है, धरती छोड़कर आकाश की ओर उड़ता है। सद्गुरु कहते हैं कि आकाश में कुछ नहीं है। हमें धरती पर ही प्रेम तथा संयम से स्वर्ग का अनुभव करना होगा। हमें धरती के जीव देवी-देवता के रूप में दिखने चाहिए। इनसे अलग कहीं देवी-देवता नहीं हैं। सबके साथ अहिंसा, प्रेम और भलाई का व्यवहार ही स्वर्ग-सुख है। अपनी आत्मा ही सत्यलोक, स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक है। परन्तु पंडित लोग मनुष्यों को बाहर भटका रहे हैं। चींटी के मुख में हाथी समाने लगे तो यह अचरज होगा। मनुष्यों के मन के कल्पनालोक का विशाल साम्राज्य चींटी के मुख में हाथी समाना है। शरीर, उसके सौंदर्य, बल, उपभोग्य कभी स्थायी एवं अनन्त नहीं हो सकते, परन्तु कल्पित स्वर्गादि में उन्हीं को पाने की असम्भव कल्पना उसी प्रकार है जैसे चींटी के मुख में हाथी समाना।

बिना पवन के पर्वत उड़ रहे हैं। बड़े-बड़े विद्या तथा ज्ञान के अभिमानी लोग कल्पनाओं के लोक में उड़ रहे हैं। सभी मजहबों के मुल्ला, पंडित, पादरी कल्पनालोक के विलासी हैं। सभी मन के दिवास्वप्न में भटक रहे हैं। साहेब कहते हैं कि ये सब बिना विचार के उड़ रहे हैं। विद्याभिमानी, ज्ञानाभिमानी तथा मताभिमानी लोग ईश्वर, देव, स्वर्ग और स्वर्ग में अनन्तकाल तक मिलने वाले भोगों की कल्पना में उड़ते हैं, तो साधारण और अशिक्षित लोग कल्पित भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की पूजा-वंदना कर अपनी सुरक्षा का आश्रय ढूंढ़ते हैं। यही मानो जीव-जन्तु का वृक्षा चढ़ना है। पर्वत आकाश में उड़ते हैं तब जीव-जन्तु वृक्ष पर ही चढ़कर संतोष करते हैं। पढ़े-लिखे लोगों की कल्पना की उड़ान बहुत ऊंची है, तो अशिक्षितों की थोड़ी ऊंची है। परन्तु पर्वत और चींटी, बड़े कहलाने वाले तथा छोटे कहलाने वाले सब बिना विवेक मन की कल्पना में भटक रहे हैं।

"सूखे सरवर उठे हिलोरा, बिनु जल चकवा करत किलोरा।" यही तो कबीर साहेब की उलटवांसी है, जो लोगों की उलटी क्रिया देखकर बन गयी है। अपनी चेतना एवं आत्मारूपी सागर को छोड़कर लोक के विषय हों या कल्पित परलोक के, सब सूखे सरोवर हैं; परन्तु उनके लिए मनुष्यों के मन में तरंगें उठ रही हैं। लोक के विषय-भोग नीरस तथा अर्थहीन हैं और परलोक के भोग केवल काल्पनिक हैं। परन्तु उन्हीं की कल्पना में जीव क्रीड़ा कर रहा है। यह बिना जल के चकवा का क्रीड़ा करना है।

"कहहिं कबीर यह पद को जान" कबीर साहेब कहते हैं कि हमारे इस उलटवांसी पद के अभिप्राय को समझने की चेष्टा करो। मेरा सारा व्यंग्य उन पर है जो अपने चेतनस्वरूप को भूलकर, अपने आत्मदेव से विमुख होकर बाहर भटक रहे हैं। जो मन की कल्पनाओं को छोड़ देता है वह अपने आत्मारूपी देव को पा जाता है। मन की कल्पनाएं ही तो मनुष्य को लोक-परलोक के बाहरी दृश्यों से जोड़ती हैं! अतएव जो मन की सारी कल्पनाओं को छोड़ देता है वह स्वयं को पा जाता है। यह स्वयं स्वरूप चेतन ही प्रमा है, चेतना है, बोध है, और इसको पा जाने वाला सदैव प्रमाणित संत है।

"सोई सन्त सदा परमान" ज्ञान के विषय में जिसकी निर्णय-दृष्टि है वही संत है और उसी की बात सदैव प्रमाणित मानी जायेगी। राजा सगर की पत्नी को एक ही बार में साठ हजार बच्चे पैदा हो गये,[१] राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य किये,[२] काकभुशुंडि एक ही आश्रम पर सत्ताईस कल्प अर्थात एक खरब, सोलह अरब, चौसठ करोड़ वर्ष से रहते थे,[३] शिव जी ने सत्तासी हजार वर्षों तक ध्यान किया[४] इन-जैसी हजारों बातें जो विश्वनियमों के विरुद्ध तथा कारण-कार्य की व्यवस्था से परे हैं, इनके होने में कोई प्रमाण नहीं हैं। ये सब मनुष्य के मन में भ्रम तथा अज्ञान पैदा करने वाली बातें हैं। संत ऐसी बातों को छोड़ देते हैं। वे उन्हें ही प्रामाणिक ज्ञान मानते हैं जो विश्वनियमों के अंतर्गत

---

१. वाल्मीकीय रामायण १/३८/१७-१८।

२. भागवत ५/१/२९।

३. इहां बसत मोहि सुन खगईसा। बीते कलप सात औ बीसा।। *(मानस ७/११४/५)*

४. बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनासी।। *(मानस १/६०/१)*

घटने वाले तथा विवेकयुक्त हों। संत वही है जो प्रामाणिक बातें माने। अंततः तो सभी को प्रमाणित करने वाली व्यक्ति की आत्मसत्ता ही है जो परम प्रमाणित है। संत मन के विस्तार को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में सदैव रमते हैं। यह आत्मस्वरूप ही प्रामाणिक सत्यलोक, ब्रह्मलोक एवं निजलोक है। इस स्थिति में पहुंचकर सारी विपरीतताओं का अंत है।

हृदय-घर के स्वामी आत्मदेव को पहचानो

शब्द—१०२

हो दारी के ले देउँ तोहि गारी, तैं समुझि सुपन्थ बिचारी॥ १ ॥
घरहुक नाह जो अपना, तिन्हुँ से भेंट न सपना॥ २ ॥
ब्राह्मण - क्षत्री बानी, तिन्हुँ कहल नहिं मानी॥ ३ ॥
योगी - जंगम जेते, आपु गहे हैं तेते॥ ४ ॥
कहहिं कबीर एक योगी, वो तो भरमि-भरमि भौ भोगी॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हो = हे। दारी = दासी, बुंदेलखंड में स्त्रियों को दी जाने वाली एक गाली, कुलटा नारी, पुंश्चली, 'अपनो पति छाँड़ि औरनिसों रति ज्यों दारनि में दारी'—स्वामी हरिदास; माया। गारी = गाली। नाह = स्वामी। बानी = बनिया, वैश्य। आपु = स्वयं, आपा, अहंकार।

भावार्थ—हे माया के गुलाम! ले मैं तुम्हें गाली देता हूं। तू विचारकर अच्छे मार्ग को समझ ले!॥१॥ जो अपने हृदय घर का स्वामी चेतन आत्मा है उससे तो तू स्वप्न में भी भेंट नहीं करता, अर्थात कभी भी निजस्वरूप का चिन्तन नहीं करता॥२॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजत्व के अहंकारी निर्णय वचन को नहीं मानते॥३॥ जितने योगी, जंगमादि मतवादी हैं, ये भी अपने-अपने संप्रदाय का अहंकार पकड़कर बैठे हैं॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि षटदर्शनियों में जो एक योगी हैं ये तो योग के नाम पर भटक-भटककर भोगी ही बने हैं॥५॥

व्याख्या—कबीर साहेब विविध ढंग से संसार को समझाते हैं। वे यहां अपने श्रोताओं को गाली देकर समझाते हैं। यह गाली कोई क्रोधपूर्वक नहीं है, किन्तु स्नेहपूर्वक है। जैसे कोई अपने बच्चे को खेलाते समय उसे स्नेह से मुन्ना, बच्चा, बप्पा, बदमाश, बेईमान आदि अनेक शब्द कह देता है, वैसे यहां सद्गुरु ने अपने श्रोताओं को स्नेहपूर्वक 'हो दारी के' कहा है। ऊपर शब्दार्थ में आपने देख ही लिया है कि 'दारी' के अर्थ क्या हैं। दारी दासी या कुलटा नारी है।

यहां दारी शब्द से माया का अभिप्राय है। यह जीव माया का हो गया है। अर्थात यह माया का गुलाम हो गया है। कबीर साहेब के सामने श्रोता इकट्ठे हुए। उन्होंने देखा कि लोग ज्ञान की बातें सुनकर भी माया का मोह छोड़ नहीं पाते हैं। इसलिए उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा कि आओ बैठो, मैं तुम लोगों को गाली देने जा रहा हूं, धिक्कारने एवं लानत-मलामत करने जा रहा हूं। तुम लोग माया के गुलाम हो गये हो। तुम लोग दारी के

हो गये हो, माया के दास हो गये हो। स्नेहपूर्वक अपने श्रोताओं को दी गयी यह गाली तो बहुत मधुर है। ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रस्थानभेद के लेखक प्रकांड पंडित तथा संन्यासी मधुसूदन सरस्वती अन्त में श्रीकृष्ण के रसिकरूप के उपासक हो गये थे, तो श्रद्धाविह्वल हो उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रेम से गाली दे डाली। वे कहते हैं "यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूं; किन्तु क्या करूं एक कोई गोप-वधुओं का प्रेमी शठ है, उसी हरि ने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया।"[1]

यहां सद्गुरु कबीर श्रोताओं को प्रेमपूर्वक उलाहना देते हुए कहते हैं कि तुम लोग ज्ञान की बातें हजार बार सुनकर भी आध्यात्मिक दिशा में अपेक्षित सुधार नहीं करते हो, यह तुम्हारी प्रबल मायासक्ति का लक्षण है। ये कल्याणार्थियो! तुम विचार करो और उस सुपंथ को समझने का प्रयास करो, जिस पर चलकर तुम्हारा जीवन आनंदमय हो। वही काम, वही व्यवहार तथा वही रास्ता ठीक है जिससे मन मलिनताओं से मुक्त होकर सदैव प्रसन्न बना रहे। मन की मलिनता दुख है और मन की पवित्रता सुख है।

"घरहुक नाह जो अपना, तिनहुँ से भेंट न सपना।" जो घर का अपना मालिक है उससे तुम्हें सपने में भी भेंट नहीं है। घर है हृदय, उसमें चेतनदेव एवं आत्मदेव निवास करता है। वही तुम्हारा स्वरूप है, वह तुम्हीं हो। वही घर का स्वामी है। वही तो हृदय मंदिर का मालिक है। इतना ही नहीं, वही अपने आपका स्वामी है। उसको सीधा कहें तो तुम्हीं अपने स्वामी हो। परन्तु तुम अपने इस दिव्यस्वरूप का कभी भूलकर स्मरण नहीं करते। तुम स्वयं अपने कर्मों के विधाता हो, अपने आपके स्वामी हो। अपने आपके आश्रय हो। तुम्हारा अपना आत्मस्वरूप ही आश्रय और आश्रित दोनों है। अर्थात तुम स्वयं अपने आपके निधान हो। तुम अपने आप में परमपूर्ण हो; क्योंकि तुम्हारा मौलिक स्वरूप शुद्ध-बुद्ध एवं निष्काम है। परन्तु खेद की बात यह है कि तुम इस अपनी दिव्यता को नहीं समझते हो और अपनी पूर्णता के लिए जगह-जगह भटकते हो। तुम स्वयं सभी भगवानों के भगवान, परमात्माओं के परमात्मा तथा ब्रह्म के ब्रह्म हो, परन्तु अपनी इस परम ऊंचाई को न समझकर भगवान, परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए दर-दर ठोकरें खाते हो। अतः हे साधक! बाहर भगवान, परमात्मा तथा सुख खोजने की मृगतृष्णा छोड़ो। तुम बाहर से लौटकर अपने आप में पूर्ण प्रतिष्ठित होओ।

"ब्राह्मण-क्षत्री बानी, तिनहुँ कहल नहिं मानी।" ये ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अपने द्विजत्व के अहंकार में डूबे हैं। ये निर्णय के वचनों पर ध्यान नहीं देते। यहां कबीर साहेब उक्त तीनों वर्णों को ही ऐसा कहते हैं, अन्तिम चौथे वर्ण को नहीं कहते। इससे ऐतिहासिक क्षेत्र पर प्रकाश पड़ता है। कबीर साहेब पूरी मानवता के पक्षधर थे। ब्राह्मण,

---

१. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

(कल्याण, भक्तचरितांक, पृ० ४९४, सन् १९५२)

क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णव्यवस्थाजनित सुविधाओं तथा प्रतिष्ठाओं के उपभोक्ता थे। कबीर साहेब कहते थे कि पूरा मानव-समाज मूलतः समान सब दिशाओं में उन्नति करने, सुविधाओं को पाने तथा प्रतिष्ठा का अधिकारी है। किसी कुल-परिवार पर किसी व्यवस्था का प्रतिबन्ध न होना चाहिए कि वह अपनी योग्यता के अनुसार अपनी उन्नति ही न कर सके। विदित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा बनिया के बाद शूद्र कहे जाने वाले बंधुओं पर अनेक प्रतिबन्ध थे। वे पढ़ नहीं सकते थे, किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते थे, मंदिर में प्रविष्ट नहीं हो सकते थे, संन्यास नहीं ले सकते थे, वरासन पर बैठ नहीं सकते थे। वे केवल मोटी सेवा का काम कर सकते थे। प्रथम त्रिवर्ण उसी चौथे वर्ण से सारा काम कराकर तथा सारा उपार्जन कराकर सारी सुविधा भोग रहा था, परन्तु वह जिससे सुविधा पा रहा था, उस अन्तिम चतुर्थ वर्ण को सदैव उपेक्षित बनाये रखने के अपने तथाकथित धर्मशास्त्रों में नये-नये नियम-कानून बनाये जा रहा था। वर्णव्यवस्था का ऐसा क्रूर पंजा था कि उसने धर्म का जामा पहनकर चौथे वर्ण के मुंह पर मौन की पट्टी बांध दी थी। वर्णव्यवस्था के भ्रामक और क्रूर नियम ने प्रथम के त्रिवर्ण में मिथ्या अहंकार तथा अन्तिम चौथे वर्ण में झूठी हीनभावना की ग्रन्थि पैदा कर दी थी जिससे समाज का आज भी पूर्ण उद्धार नहीं हो पाया है। पहले कभी मनुष्यों की योग्यता के अनुसार उन्हें काम में नियुक्त किया जाता रहा हो, और वर्णव्यवस्था जन्मजात न होकर केवल काम का बटवारा रहा हो, परन्तु इधर हजारों वर्षों से जो उसका रूप है वह अत्यन्त घृणित है। इस वर्णव्यवस्था ने हिन्दू समाजरूपी शरीर में पक्षाघात का काम किया है। इससे भारतीय समाज को लकवा मार गया। वर्णव्यवस्था ने मनुष्य के मौलिक अधिकार को छीन लिया। आचार और ज्ञान से कोई प्रयोजन न रखते हुए वर्णव्यवस्था की यह मानसिकता है कि ब्राह्मण नामधारी बड़ा है, क्षत्रिय उससे छोटा है, वैश्य उससे छोटा है, शूद्र उससे छोटा है तथा अतिशूद्र एवं अंत्यज उससे छोटा है। शूद्र या अतिशूद्र कहा जाने वाला व्यक्ति आचार और ज्ञान की कितनी ही ऊंचाई पर चढ़कर भी वर्णव्यवस्था के अनुसार श्रेष्ठ एवं पूज्य नहीं हो सकता और ब्राह्मण नामधारी शीलभ्रष्ट होकर भी श्रेष्ठ एवं पूज्य है। इस अज्ञानपूर्ण क्रूर मानसिकता एवं व्यवस्था ने मानव के मूल अधिकार को छीन लिया।

कबीर साहेब इस व्यवस्था के घोर विरोधी थे। वे कहते थे कि पूरा मानव-समाज मूलतः एक समान है। सब एक ही प्रकृति से रचे गये हैं तथा सब में एक ही समान चेतन तत्त्व निवास करता है। अतएव पूरे मानव-समाज के लिए यह छूट होनी चाहिए कि जिसमें जैसी योग्यता हो अपनी-अपनी उन्नति करे, जैसा कि इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वतन्त्र भारत में छूट है। मानव के मूल अधिकार की सुरक्षा के लिए आज भारतीय संविधान है, यह मानो कबीर के विचारों की विजय है। इसके साथ-साथ मनुष्यों की मानसिकता में भी परिष्कार होना चाहिए। कबीर साहेब के इन मानवतावादी विचारों से द्विजातियों को अपने गलत अधिकारों को छीने जाने का भय था। वे देख रहे थे कि वर्णव्यवस्था के पक्षधरों के केन्द्र काशी में ही कबीर ऐसी आग लगा रहा है जिससे द्विजातियों की सुविधा, श्रेष्ठता एवं शोषण-तन्त्र में जबर्दस्त धक्का पहुंचने वाला है। अतएव तथाकथित प्रथम तीनों वर्णों के लोग कबीर से कतराते थे। इसी विशेषता को

लेकर सद्गुरु ने यहां कहा "ब्राह्मण क्षत्रिय बानी, तिनहुँ कहल नहिं मानी।" परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि इन त्रिवर्णों में कोई उदार था ही नहीं। इनमें से अनेक लोग कबीर साहेब के विचारों के प्रभाव में आये और कितने लोग तो उनके शिष्य बन गये। कबीर के अनुयायी ब्राह्मण सर्वाजीत पंडित, क्षत्रिय वीरसिंह बघेल, वैश्य धनपति श्रीजुड़ावन (श्री धर्म साहेब) तो बड़े-बड़े नाम हैं, इन त्रिवर्णों में से उदार चिन्तक लोग कबीर-विचारों में रंगकर समाज को उस दिशा में ले जाने का प्रयास करते रहे। द्विजातियों के पीछे वर्णव्यवस्था-द्वारा लगाये गये पक्षपातपूर्ण नियम बुरे हैं न कि द्विजातियों में उदारतापूर्वक सोचने वालों का अभाव है। कबीर के विचार-पवन को पाकर हजारों-लाखों के अंतर्मन की मानवता की आग सुलगती गयी और वे जो चाहते थे उसका बहुत कुछ अंश आज भारत में संविधान का रूप ले लिया है। उन्होंने छुआछूत की भावना को पाप कहा था तो आज संविधान है कि यदि कोई किसी को अछूत कहता है तो वह न्याय-द्वारा दण्डित हो सकता है। जनता, जो बड़ी तथा असली सरकार है उसमें भी उदारता के विचार दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं।

"योगी-जंगम जेते, आपु गहे हैं तेते।" साहेब कहते हैं कि ये योगी, जंगमादि षटदर्शनी एवं नाना मतवादी अपने-अपने सांप्रदायिक अहंकार में पड़े नाना मान्यताओं में उलझे हैं। सब अपनी मान्यता को सर्वोपरि मानकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से दूर पड़े हैं। "कहहिं कबीर एक योगी, वो तो भरमि-भरमि भौ भोगी।" साहेब कहते हैं कि जो एक योग-संप्रदाय के लोग हैं वे केवल भटकाव में हैं और योग के नाम पर भोगी बने हैं। कबीर साहेब के समय में योगियों का बड़ा प्रचार था। उनका समाज बहुत बढ़ गया था। जो बहुत बढ़ता है उसमें विकृति भी बहुत आती है। लगता है कि कबीर साहेब के समय में योगियों में अच्छे साधकों का बड़ा अभाव हो गया था। सब दिखावा, प्रतिष्ठा एवं धन-धान्य में लीन हो गये थे। इसीलिए कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में उन्हें बारम्बार कोसा है। इस शब्द में भी एक बार योगी-जंगम कहकर षटदर्शनियों के साथ योगियों को याद करते हैं और दूसरी बार अन्तिम पंक्ति में केवल उन्हीं को यादकर उन्हीं की भर्त्सना करते हैं।

इस पूरे शब्द में एक ही मुख्य बात है घर के मालिक के दर्शन "घरहुक नाह जो अपना, तिनहुँ से भेंट न सपना।" जो अपने घर का मालिक हो उससे स्वप्न में भी न भेंट करना कितनी कृतघ्नता है! जो अपने हृदय-मंदिर का आत्मदेव है उसी को भूले रहना कितना बड़ा अपराध है! इसी का फल है हमारा दुखी बने रहना। साहेब स्नेह से कहते हैं कि हे माया के दास, छोड़ माया का मोह, सुविचारित पंथ को पकड़, स्वरूपसाक्षात्कार एवं आत्मसाक्षात्कार कर। वर्णाभिमान, आश्रमाभिमान एवं संप्रदायाभिमान तेरे आत्मसाक्षात्कार में रोड़े हैं। सारे अभिमानों को छोड़ और अपने चेतनस्वरूप आत्मदेव में रमण कर!

क्या काशी क्या मगहर ऊसर?

शब्द–१०३

लोगा तुमहीं मति के भोरा॥ १ ॥

ज्यों पानी-पानी मिलि गयऊ, त्यों धुरि मिला कबीरा॥ २ ॥

जो मैथिल को साँचा ब्यास, तोहर मरण होय मगहर पास॥ ३ ॥
मगहर मरै, मरै नहिं पावै, अन्तै मरै तो राम लजावै॥ ४ ॥
मगहर मरे सो गदहा होय, भल परतीत राम सो खोय॥ ५ ॥
क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसै मोरा॥ ६ ॥
जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कहु कौन निहोरा॥ ७ ॥

भावार्थ—भोरा = भोला, सरल, मूर्ख। धूरि = धुर, पक्का, निश्चल। मैथिल = मिथिला का, मिथिला निवासी। ब्यास = व्यास, पंडित। मगहर = गोरखपुर के पश्चिम बस्ती जिले का एक कस्बा जो आजकल गोरखपुर-लखनऊ रेलवे लाइन पर पड़ता है। अन्तै = अलग। राम लजावै = अपने गलत आचरण से अपनी आत्मा को लज्जित करना। गदहा = गधा। भल = बिलकुल। ऊसर = वह जमीन जिसमें रेह हो तथा कुछ पैदा न हो। जो पै = यदि। निहोरा = एहसान, सहारा।

भावार्थ—हे लोगो! तुम लोग ही बुद्धि के भोले हो॥१॥ जैसे पानी में पानी मिल जाने पर उसे अलग नहीं किया जा सकता, वैसे यह कबीर अपने रामस्वरूप में निश्चलतापूर्वक मिल गया है अब इसे कोई अलग नहीं कर सकता॥२॥ यदि तुम मिथिला के सच्चे पंडित हो तो तुम्हारा मरना भी मगहर के ही पास होना चाहिए॥३॥ क्योंकि यदि व्यक्ति मग + हर—मग = मार्ग, हर = ज्ञान—अर्थात ज्ञान-मार्ग में शरीर छोड़ता है तो वह वस्तुतः मरने नहीं पाता है, किन्तु अमरत्व पाता है, और यदि ज्ञान-मार्गरूपी मगहर छोड़कर शरीर त्यागता है तो अपने गलत आचरण से मानो अपनी अंतरात्मा को लज्जित करता है॥४॥ जो मगहर-गांव में मरता है वह गधा होता है ऐसा मानकर आप लोगों ने रामभजन का विश्वास बिलकुल खो दिया है॥५॥ यदि मेरे हृदय में आत्माराम की स्थिति है अर्थात मैं निरंतर आत्माराम में रम रहा हूं तो मेरा शरीर काशी में छूटे, मगहर में छूटे या ऊसर जमीन में छूटे इससे क्या अन्तर पड़ता है!॥६॥ यदि मुक्ति के लिए कबीर काशी में शरीर छोड़ता है तो रामभजन के सहारा का क्या अर्थ रहा!॥७॥

व्याख्या—कबीर साहेब सभी प्रकार के अन्धविश्वासों को तोड़ने वाले थे। उनके सारे विचार तर्कपूर्ण थे। उन्होंने जीवनपर्यंत भारत तथा भारत के बाहर भ्रमण करते हुए भी काशी अपना मुख्य निवास स्थान रखा। एक सौ अठारह-उन्नीस वर्ष काशी में बिताकर वे अपनी जरजर अवस्था में मगहर जाना चाहे। सामान्यतया यह एक आश्चर्य का विषय हो सकता है, परतु कबीर साहेब के प्रखर विचारों को देखते हुए यह कोई आश्चर्य वाली बात नहीं है।

जीवनपर्यंत काशी में रहकर एक परम सन्त कबीर मरने के लिए सुदूर मगहर में क्यों गये? इस प्रश्न का उत्तर ही यह १०३ वां शब्द है। परन्तु इन उच्च भावों को न समझकर साधारण लोग ही नहीं, विद्वान कहलाने वाले लोग भी अन्यथा बकते हैं, तो कौन किसका मुख पकड़ लेगा। बचपन में तो एक दंतकथा सुनी जाती थी कि काशी के एक ज्योतिषी पंडित ने कबीर साहेब से कहा आपकी मृत्यु मुक्तिदायी काशी में नहीं, किन्तु मगहर में होगी, जहां मरकर मनुष्य गधे की योनि में जाता है। तब कबीर साहेब अपने

दोनों पैर कटाकर काशी में बैठ गये कि अब तो मैं काशी से कहीं बाहर नहीं जा सकता। अब तो मैं निश्चित ही काशी में मरूंगा। परन्तु पंडित की बात सत्य हुई, काल घोड़े के रूप में आकर कबीर साहेब को अपनी पीठ पर बैठा लिया और तुरन्त उसने ऐसी दौड़ लगायी कि एक ही बार में वह कबीर साहेब को मगहर में ही ले जाकर छोड़ा और कबीर साहेब ने मगहर में पहुंचकर वहीं शरीर त्याग किया।

उक्त कथा गंवारों की गढ़ी हुई है, परन्तु शहरी और विद्वान कहे जाने वाले लोग इस विषय में गंवारों से भी गंवार बन जाते हैं। कोई तो लिखता है कि कबीर को सिकन्दर लोदी ने दो बार कष्ट देना चाहा और न दे सका, तब वह संभवतः तीसरी बार कबीर को दंड दिया और वे इससे क्षत-विक्षत होकर मगहर चले गये। फिर वे ये भी लिखते हैं कि इस तीसरे दंड का संकेत कबीर के काव्य में नहीं है। कोई लिखता है कि कबीर काशी के पंडित-मुल्लाओं के विरोध से घबराकर अंत में मगहर चले गये। कोई पंडिताऊ विचार वाला लिखता है कि यह कबीर का एक हठ ही था जो मुक्तिधाम काशी छोड़कर मगहर मरने गये।

उक्त सारे प्रलापों का उत्तर तो यह १०३ वां शब्द ही है, परन्तु विद्वान कहलाने वाले इस पर क्यों ध्यान देने लगे! उन्हें तो एक नयी कही जाने वाली बात गढ़ लेनी है जो उनकी नयी खोज मानी जाय, चाहे उससे प्रतिपाद्य विषय की हत्या ही हो। सिकंदर लोदी (सन् १४८९-१५१७) ने कबीर साहेब को कोई दंड देना चाहा है इसकी चर्चा या संकेत बीजक भर में कहीं नहीं है। हां, अन्य वाणियों में है जो कबीर साहेब के नाम से जुड़ी हैं। अनंतदास की कबीर-परिचई में भी है। परन्तु इन सबमें यही है कि काशी के मुल्ला-पंडित आदि कुछ लोगों के भड़काने से सिकंदर लोदी ने कबीर साहेब को कष्ट देना चाहा था, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अंततः उसने कबीर की सत्यता से प्रभावित होकर उनसे क्षमा-याचना की और उन्हें धन-जागीर आदि देना चाहा, परन्तु कबीर साहेब सिकंदर लोदी को तो क्षमा कर दिये जो कि उनका पहले से ही क्षमाभाव था; परन्तु लोदी से कोई धन-जागीर नहीं लिये। जब तथाकथित तीसरे दंड की कबीर-वाणी में चर्चा ही नहीं है तब उसकी कल्पना कर विद्वान लोग क्यों अपनी भूल सिद्ध करते हैं! इसके अलावा क्षत-विक्षत हुआ आदमी वहीं या कहीं आस-पास ही मरना चाहेगा कि काशी से मगहर दौड़ लगाना चाहेगा, जो करीब पौने दो सौ किलोमीटर है, वह भी पैदल तथा बैलगाड़ी के जमाने में।

जो लोग लिखते हैं कि कबीर काशी के ही अपने विरोधियों से घबरा कर मगहर चले गये थे वे अपने कथन में कोई प्रमाण नहीं दे पाते। हां, वे यह लिखकर अपनी एक नयी खोज का दंभ अवश्य दिखाते हैं। कबीर शुरू से ही क्रांतिकारी थे। उनका कुछ विरोध हुआ होगा तो शुरू में अर्थात उनकी नवजवानी में ही। जितने दिन बीते होंगे लोगों के मन में उनके प्रति श्रद्धा बढ़ी होगी। असलियत न जानकर या स्वार्थवश उलझन होती है। असलियत जान जाने पर लोग सत्य के समर्थक हो जाते हैं और इससे स्वार्थी तत्त्व भी दब जाते हैं। कथाओं से पता चलता है कि हिन्दू-मुसलिम के कुछ पुरोहितों तथा राज्य के कुछ अधिकारियों की ओर से पहले कबीर का विरोध हुआ था, आम जनता तो

तब भी कबीर के साथ थी। कुछ दिनों में तो एकदम पासा पलट गया था और काशीवासी कबीर के प्रशंसक हो गये थे। उनकी जितनी अवस्था बढ़ती गयी, वे लोगों के अधिकाधिक श्रद्धाभाजन होते गये। फिर पूरा जीवन काशी में बिताकर अन्तिम में मगहर जाने की कोई तुक ही नहीं हो सकती जबकि उस समय के काशीनरेश तक कबीर के श्रद्धालु हो गये थे।

जो लोग लिखते हैं कि कबीर का यह हठ ही है जो मुक्तिधाम काशी छोड़कर मगहर मरने चले गये, वे पंडिताऊ विचार के हैं। वे समझते हैं कि कबीर ने ऐसा कर काशी की प्रतिष्ठा में बट्टा लगाया, परन्तु वे यह नहीं समझते कि कबीर ने ऐसा करके एक अन्धविश्वास एवं असत्य का विरोध किया तथा राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ायी। पुरोहिताई विचार वालों को तो राम-भजन के महत्त्व से कुछ लेना-देना नहीं है, उन्हें तो काशी आदि तीर्थों की झूठी महिमा बढ़ाकर तथा जनता की वहां भीड़ जमाकर उनसे पुजवाने की चेष्टा है।

कबीर साहेब काशी छोड़कर मगहर क्यों गये, इसका सुन्दर, स्वस्थ, आत्मविश्वास-जनक, ज्ञानपरक तथा सर्व कल्याणकर समाधान स्वतः कबीर के मुख से ही निकले इस १०३ वें शब्द में प्राप्त है जिसके मूल रूप तथा भावार्थ को आपने ऊपर पढ़ लिया है। अब उस पर थोड़ी व्याख्या का मनन करें।

कबीर साहेब परम सन्त थे, परन्तु वे अन्य संतों की लाइन से हटकर एक क्रांतिकारी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले, सत्य के द्रष्टा तथा आधुनिक भाषा में कहा जाय तो रैश्नल विचार के थे। वे किसी अन्धविश्वास एवं गलत बात को सह नहीं सकते थे। उन्होंने एक सौ अठारह-उन्नीस वर्ष की लम्बी उम्र काशी में बितायी थी। वे पूरे भारत के श्रद्धाभाजन ही नहीं, काशी वालों के भी परम श्रद्धेय थे। उन्होंने देखा कि अब शरीर जाने वाला है। लोगों को भ्रम है कि काशी में मरने से जीव का मोक्ष होता है और यदि मगहर में कोई मरता है तो गधा होना पड़ता है। कबीर साहेब-जैसे पारदर्शी दृष्टि वाले के सामने यह सर्वथा झूठी बात कैसे छिपी रह सकती थी। क्योंकि यह सर्वथा तर्कहीन बात है। मोक्ष है वासना का त्याग, वह ज्ञान से होता है और कहीं भी रहकर यह काम किया जा सकता है। फिर यह काम जीवनकाल में ही होता है, मरते समय नहीं। जो जिन्दगीभर वासना में बंधा हो, वह मरते समय काशी में चला जाय और वहीं शरीर छोड़े तो मुक्त कैसे हो जायेगा! जिसकी वासना पहले से छूट चुकी है वह मगहर आदि कहीं भी शरीर छोड़े तो वह बंधन में कैसे पड़ जायेगा! यह ठीक है कि साधारण आदमी यदि किसी ऐसे स्थल में शरीर छोड़ता है जहां से पवित्रता की भावना जुड़ी है तो उसके लिए अन्य जगह से वह अच्छा है। उसका मरते समय कुछ भाव पवित्र हो सकता है। परन्तु इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना करना बालकपन है। पौराणिक पंडितों ने मोक्ष को लड्डू मान रखा है कि कहीं दुकान से खरीदो और खा लो। वस्तुतः ज्ञानी वासना का पूर्णतया त्यागकर इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। वह सदैव अपने आत्माराम में रमता है। उसका कहीं भी शरीर छूट जाय उसके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मगहर की तरफ गोरखपुर क्षेत्र में कबीर साहेब के समय में सिद्धों तथा नाथपंथियों का प्रचार था, जो बौद्धों का अवशेष था। यदि उधर कोई आकर्षित होता था तो ब्राह्मण-

पुरोहितों को कोई लाभ नहीं था। परंतु यदि लोग काशी में आते थे तो पंडितों-पुरोहितों की पुजाई बढ़ती थी, अतएव पंडितों ने काशी की आंख मूंदकर प्रशंसा की। इससे जनता में अविवेक उत्पन्न होगा, पुरोहित-पंडित इसकी परवाह नहीं करता। वह तो देखता है कि उसका स्वार्थ किसमें है। यह दोष केवल ब्राह्मण-पुरोहित-पंडितों में हो ऐसी बात नहीं, किन्तु यह संसार के हर मजहब एवं समाज के पुरोहित-पंडितों में होता है।

कबीर साहेब ने उक्त अन्धविश्वास को सक्रिय एवं प्रायोगिक रूप में तोड़ने के लिए तथा कर्म, भक्ति, ज्ञान, त्याग, आत्मस्थिति एवं राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने मन में निश्चय किया कि मुझे शरीर काशी में नहीं छोड़ना है, किन्तु मगहर में छोड़ना है। देखते हैं कि बाहरी जगह बंध-मोक्ष का कारण बनती है कि अपने मन की स्थिति। कबीर साहेब ने अपने विचार शिष्य-मंडली और संत समाज को बताया, फिर यह बात पानी में तेल की तरह पूरी काशी में फैल गयी। सभी वर्ग के लोग कबीर साहेब के प्रेमी थे। उनमें पंडित समुदाय भी था। बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग में मिथिला क्षेत्र पड़ता है। वहां हजारों वर्षों से विद्वान होते आये हैं। उपनिषद् काल में जनक की विद्वत्-मंडली मिथिला में ही लगती थी। कबीर साहेब के समय में भी तथा आज भी मिथिला में अच्छे पंडित होते थे तथा हैं। मिथिला के पंडितों का एक अच्छा-खासा समाज काशी में रहता था और वहां अपने पांडित्य का वर्चस्व रखता था। यह बात आज भी है। काशी में आज भी मैथिली ब्राह्मणों एवं पंडितों का अच्छा समाज है। दूसरे पंडितों की अपेक्षा मैथिली पंडित कबीर साहेब के अधिक प्रेमी थे। उन सबने जब सुना कि कबीर साहेब शरीर त्यागने मगहर जा रहे हैं तो वे चकित रह गये। उनका एक समाज कबीर साहेब के आश्रम पर आया और प्रेम में विह्वल होकर प्रेमप्रलाप में कह डाला कि महाराज! आप कैसे भोले हो गये? आपने यह विचार कैसे बना लिया कि मरने के लिए मगहर जाना है? महाराज, काशी में मरने से जीव सहज ही मोक्ष पाता है और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है। फिर आप-जैसे ज्ञानी संत कैसे भोला बन रहे हैं?

मैथिली पंडितों की प्रेम-लपेटी अटपटी बातें सुनकर कबीर साहेब को हंसी आ गयी। उन्होंने स्नेहपूर्वक पंडितों से कहा "लोगा तुमहीं मति के भोरा" हे पंडितो! तुम लोग ही भोले हो। मैं तो किसी बात की गहराई में जाकर ही उसे मुख से निकालता हूं। तुम लोग कहते हो कि काशी में मरने से मुक्ति और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है; परन्तु ये दोनों ही बातें व्यर्थ हैं। बंध-मोक्ष तो मन की वासना तथा वासनाहीनता से होते हैं, उनमें काशी या मगहर आदि स्थानविशेष की क्या अपेक्षा है; और मेरे लिए तो तुम लोगों को कोई चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि "ज्यों पानी पानी मिलि गयऊ, त्यों धुरि मिला कबीरा।" जैसे पानी में पानी मिल जाय, तो क्या कोई पुनः उसे अलग-अलग कर सकता है? इसी प्रकार मैं निश्चलतापूर्वक निजस्वरूपराम में लीन हूं। अब मुझे संसार की कोई भी शक्ति उससे अलग नहीं कर सकती। पानी में पानी मिलने का उदाहरण एक भावनात्मक कथन है। न तो जीव पानी की तरह विकारी है और न उसे अपने स्वरूप से अलग किसी विकारी वस्तु में मिलना है। बूंद-समुद्र का उदाहरण भी भावनात्मक कथन के

तब भी कबीर के साथ थी। कुछ दिनों में तो एकदम पासा पलट गया था और काशीवासी कबीर के प्रशंसक हो गये थे। उनकी जितनी अवस्था बढ़ती गयी, वे लोगों के अधिकाधिक श्रद्धाभाजन होते गये। फिर पूरा जीवन काशी में बिताकर अन्तिम में मगहर जाने की कोई तुक ही नहीं हो सकती जबकि उस समय के काशीनरेश तक कबीर के श्रद्धालु हो गये थे।

जो लोग लिखते हैं कि कबीर का यह हठ ही है जो मुक्तिधाम काशी छोड़कर मगहर मरने चले गये, वे पंडिताऊ विचार के हैं। वे समझते हैं कि कबीर ने ऐसा कर काशी की प्रतिष्ठा में बट्टा लगाया, परन्तु वे यह नहीं समझते कि कबीर ने ऐसा करके एक अन्धविश्वास एवं असत्य का विरोध किया तथा राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ायी। पुरोहिताई विचार वालों को तो राम-भजन के महत्त्व से कुछ लेना-देना नहीं है, उन्हें तो काशी आदि तीर्थों की झूठी महिमा बढ़ाकर तथा जनता की वहां भीड़ जमाकर उनसे पुजवाने की चेष्टा है।

कबीर साहेब काशी छोड़कर मगहर क्यों गये, इसका सुन्दर, स्वस्थ, आत्मविश्वास-जनक, ज्ञानपरक तथा सर्व कल्याणकर समाधान स्वतः कबीर के मुख से ही निकले इस १०३ वें शब्द में प्राप्त है जिसके मूल रूप तथा भावार्थ को आपने ऊपर पढ़ लिया है। अब उस पर थोड़ी व्याख्या का मनन करें।

कबीर साहेब परम सन्त थे, परन्तु वे अन्य संतों की लाइन से हटकर एक क्रांतिकारी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले, सत्य के द्रष्टा तथा आधुनिक भाषा में कहा जाय तो रैश्नल विचार के थे। वे किसी अन्धविश्वास एवं गलत बात को सह नहीं सकते थे। उन्होंने एक सौ अठारह-उन्नीस वर्ष की लम्बी उम्र काशी में बितायी थी। वे पूरे भारत के श्रद्धाभाजन ही नहीं, काशी वालों के भी परम श्रद्धेय थे। उन्होंने देखा कि अब शरीर जाने वाला है। लोगों को भ्रम है कि काशी में मरने से जीव का मोक्ष होता है और यदि मगहर में कोई मरता है तो गधा होना पड़ता है। कबीर साहेब-जैसे पारदर्शी दृष्टि वाले के सामने यह सर्वथा झूठी बात कैसे छिपी रह सकती थी। क्योंकि यह सर्वथा तर्कहीन बात है। मोक्ष है वासना का त्याग, वह ज्ञान से होता है और कहीं भी रहकर यह काम किया जा सकता है। फिर यह काम जीवनकाल में ही होता है, मरते समय नहीं। जो जिन्दगीभर वासना में बंधा हो, वह मरते समय काशी में चला जाय और वहीं शरीर छोड़े तो मुक्त कैसे हो जायेगा! जिसकी वासना पहले से छूट चुकी है वह मगहर आदि कहीं भी शरीर छोड़े तो वह बंधन में कैसे पड़ जायेगा! यह ठीक है कि साधारण आदमी यदि किसी ऐसे स्थल में शरीर छोड़ता है जहां से पवित्रता की भावना जुड़ी है तो उसके लिए अन्य जगह से वह अच्छा है। उसका मरते समय कुछ भाव पवित्र हो सकता है। परन्तु इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना करना बालकपन है। पौराणिक पंडितों ने मोक्ष को लड्डू मान रखा है कि कहीं दुकान से खरीदो और खा लो। वस्तुतः ज्ञानी वासना का पूर्णतया त्यागकर इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। वह सदैव अपने आत्माराम में रमता है। उसका कहीं भी शरीर छूट जाय उसके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मगहर की तरफ गोरखपुर क्षेत्र में कबीर साहेब के समय में सिद्धों तथा नाथपंथियों का प्रचार था, जो बौद्धों का अवशेष था। यदि उधर कोई आकर्षित होता था तो ब्राह्मण-

पुरोहितों को कोई लाभ नहीं था। परंतु यदि लोग काशी में आते थे तो पंडितों-पुरोहितों की पुजाई बढ़ती थी, अतएव पंडितों ने काशी की आंख मूंदकर प्रशंसा की। इससे जनता में अविवेक उत्पन्न होगा, पुरोहित-पंडित इसकी परवाह नहीं करता। वह तो देखता है कि उसका स्वार्थ किसमें है। यह दोष केवल ब्राह्मण-पुरोहित-पंडितों में हो ऐसी बात नहीं, किन्तु यह संसार के हर मजहब एवं समाज के पुरोहित-पंडितों में होता है।

कबीर साहेब ने उक्त अन्धविश्वास को सक्रिय एवं प्रायोगिक रूप में तोड़ने के लिए तथा कर्म, भक्ति, ज्ञान, त्याग, आत्मस्थिति एवं राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने मन में निश्चय किया कि मुझे शरीर काशी में नहीं छोड़ना है, किन्तु मगहर में छोड़ना है। देखते हैं कि बाहरी जगह बंध-मोक्ष का कारण बनती है कि अपने मन की स्थिति। कबीर साहेब ने अपने विचार शिष्य-मंडली और संत समाज को बताया, फिर यह बात पानी में तेल की तरह पूरी काशी में फैल गयी। सभी वर्ग के लोग कबीर साहेब के प्रेमी थे। उनमें पंडित समुदाय भी था। बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग में मिथिला क्षेत्र पड़ता है। वहां हजारों वर्षों से विद्वान होते आये हैं। उपनिषद् काल में जनक की विद्वत्-मंडली मिथिला में ही लगती थी। कबीर साहेब के समय में भी तथा आज भी मिथिला में अच्छे पंडित होते थे तथा हैं। मिथिला के पंडितों का एक अच्छा-खासा समाज काशी में रहता था और वहां अपने पांडित्य का वर्चस्व रखता था। यह बात आज भी है। काशी में आज भी मैथिली ब्राह्मणों एवं पंडितों का अच्छा समाज है। दूसरे पंडितों की अपेक्षा मैथिली पंडित कबीर साहेब के अधिक प्रेमी थे। उन सबने जब सुना कि कबीर साहेब शरीर त्यागने मगहर जा रहे हैं तो वे चकित रह गये। उनका एक समाज कबीर साहेब के आश्रम पर आया और प्रेम में विह्वल होकर प्रेमप्रलाप में कह डाला कि महाराज! आप कैसे भोले हो गये? आपने यह विचार कैसे बना लिया कि मरने के लिए मगहर जाना है? महाराज, काशी में मरने से जीव सहज ही मोक्ष पाता है और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है। फिर आप-जैसे ज्ञानी संत कैसे भोला बन रहे हैं?

मैथिली पंडितों की प्रेम-लपेटी अटपटी बातें सुनकर कबीर साहेब को हंसी आ गयी। उन्होंने स्नेहपूर्वक पंडितों से कहा "लोगा तुमहीं मति के भोरा" हे पंडितो! तुम लोग ही भोले हो। मैं तो किसी बात की गहराई में जाकर ही उसे मुख से निकालता हूं। तुम लोग कहते हो कि काशी में मरने से मुक्ति और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है; परन्तु ये दोनों ही बातें व्यर्थ हैं। बंध-मोक्ष तो मन की वासना तथा वासनाहीनता से होते हैं, उनमें काशी या मगहर आदि स्थानविशेष की क्या अपेक्षा है; और मेरे लिए तो तुम लोगों को कोई चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि "ज्यों पानी पानी मिलि गयऊ, त्यों धुरि मिला कबीरा।" जैसे पानी में पानी मिल जाय, तो क्या कोई पुनः उसे अलग-अलग कर सकता है? इसी प्रकार मैं निश्चलतापूर्वक निजस्वरूपराम में लीन हूं। अब मुझे संसार की कोई भी शक्ति उससे अलग नहीं कर सकती। पानी में पानी मिलने का उदाहरण एक भावनात्मक कथन है। न तो जीव पानी की तरह विकारी है और न उसे अपने स्वरूप से अलग किसी विकारी वस्तु में मिलना है। बूंद-समुद्र का उदाहरण भी भावनात्मक कथन के

अलावा कुछ नहीं है। जीव किसी की बूंद नहीं है। इसे किसी समुद्र में मिलना नहीं है। यहां तो केवल इतना ही लेना है कि पानी में पानी मिल जाने से उसे पूर्ववत अलग नहीं किया जा सकता, वैसे जो ज्ञानी अपने स्वरूप में स्थित हो गया है, उसे उससे कोई विचलित नहीं कर सकता। "त्यों धुरि मिला कबीरा" में 'धुरि' का शुद्ध शब्द है 'धुर' और धुर का अर्थ है पक्का एवं निश्चल। जिसकी सारी वासनाएं निवृत्त हो गयीं तथा जो अविचल भाव से अपने स्वरूप में स्थित हो गया, उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। उसका चाहे जहां शरीर छूटे वह पहले से ही सब समय मुक्त ही है।

"जो मैथिल को साँचा ब्यास, तोहर मरण होय मगहर पास।" पंडितों को लेने के देने पड़ गये। कबीर साहेब ने उन सबसे कहा यदि आप लोग मिथिला के सच्चे पंडित हैं तो आप लोगों का मरना भी मगहर के पास होना चाहिए। पंडितों ने कहा—महाराज! यह तो अच्छी बात हुई। हम लोग आपको मगहर न जाने का अनुरोध करने आये थे और आप हमें ही कहते हैं कि तुम लोग भी मगहर में मरना, लेकिन महाराज, ऐसा क्यों? क्यों हम लोग भी मगहर में मरें?

साहेब ने कहा "मगहर मरै, मरै नहिं पावै, अन्तै मरै तो राम लजावै।" यदि कोई मगहर में मरता है तो मरने नहीं पाता, बल्कि अमरत्व पाता है। तात्पर्य यह कि मगहर में मरने वाले शरीर तो छोड़ देते हैं, परन्तु उनकी आत्माएं बंधनों से मुक्त हो जाती हैं। उनका मोक्ष हो जाता है। यदि कोई मगहर छोड़कर अलग मरता है तो वह मानो अपने गलत आचरणों से अपनी अंतरात्मा को लज्जित करता है।

उक्त बातों को सुनकर पंडितों को बड़ा आश्चर्य हुआ। कैसी है कबीर की खोपड़ी। ये काशी को तो मुक्ति का धाम नहीं मानते, किन्तु मगहर को मुक्ति का धाम मानते हैं। इनकी अजीब बात है। एक साधारण गांव मगहर उसमें मरने वालों को ये बताते हैं कि जीव मुक्त हो जायेगा। पंडितों ने कबीर साहेब से कहा—महाराज! आपके कथन से तो यही लगा कि हम और आप दोनों बराबर अंधविश्वासी हैं। हम कहते हैं कि काशी में मरने से मुक्ति होती है और आप कहते हैं कि मगहर में मरने से मुक्ति होती है। तो आपके अंधविश्वास से हमारा अंधविश्वास अच्छा है; क्योंकि मगहर साधारण गांव है और आमी नदी के तट पर बसा है, परन्तु काशी प्राचीन धर्म और विद्या का केन्द्र तथा नगर है और गंगा-तट पर बसी है। यदि महाराज, इसमें कुछ रहस्य हो तो बताइए; क्योंकि हम लोगों को विश्वास नहीं पड़ता कि आप मगहर-गांव में मरने से मुक्ति मानेंगे।

कबीर साहेब ने हंसते हुए कहा—पंडितो! "मगहर मरै, मरै नहिं पावै" जो मगहर में मरता है वह अमरत्व पाता है, तो वह मगहर गांव नहीं है जो गोरखपुर के पश्चिम है। मेरा मोक्षदायी मगहर है ज्ञान-मार्ग। मग कहते हैं मार्ग को और हर कहते हैं ज्ञान को। जो मगहर में मरता है अर्थात ज्ञान-मार्ग में मरता है वह मुक्त हो जाता है, और जो ज्ञान-मार्ग को छोड़कर काशी-प्रयागादि किसी स्थान विशेष में मरकर मुक्ति की आशा करता है वह मानो राम को लज्जित करता है। वह अपने अविवेक के भद्दे कार्य से अपनी अंतरात्मा के ज्ञान की अवहेलना करता है।

"मगहर मरे सो गदहा होय, भल परतीत राम सो खोय।" जो मगहर-गांव में मरेगा वह गधा होगा। यह मानने का तात्पर्य हुआ कि राम-भजन का विश्वास एकदम छोड़ दिया गया। यह बतलाइए कि मगहर-गांव बड़ा है कि राम बड़ा है। क्या मगहर-गांव इतना बड़ा हो जायेगा कि रामभजन के महत्त्व को ही समाप्त कर देगा। पंडितो! इस पर ध्यान दो! मगहर तो एक अदना गांव है। वह किसी का बंधन नहीं बन सकता। जो व्यक्ति निरंतर राम में रम रहा है, जो सब समय स्वरूपस्थिति में डूबा है मगहर आदि कोई जड़ क्षेत्र उसका क्या बिगाड़ सकता है!

"क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसै मोरा।" यदि मेरे हृदय में आत्माराम की स्थिति है, यदि मैं सब समय राम में, अपनी चेतना में, निज स्वरूप में रम रहा हूं तो मेरा शरीर काशी में छूटे या मगहर में छूटे या ऊसर जमीन में छूटे, क्या अंतर पड़ता है! भोले लोगों ने काशी, प्रयाग, अयोध्या, गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा आदि नगरों, नदियों में निवास एवं स्नान से मोक्ष होने की कल्पना कर डाली है जो एक अज्ञान एवं छलावा है। तीर्थों के पुरोहितों ने जनता को तीर्थ की तरफ घसीटकर उनसे पुजवाने के लिए ऐसी-ऐसी असत्य धारणाएं समाज में फैलायी हैं। यह भी हो सकता है कि कुछ राष्ट्रीय भावना वालों ने राष्ट्रीय एकता के लिए भी यह झूठा प्रलोभन देकर राष्ट्र के हर कोने से मनुष्यों को जोड़ा हो। इसमें उद्देश्य ठीक है, परन्तु मनुष्य आध्यात्मिक ढंग से गुमराह होता है। पंडितों का यह भी लक्ष्य हो सकता है कि तीर्थों की महिमा पढ़-सुनकर जब लोग तीर्थ में आयेंगे, तो उनके कुछ सात्विक मनोरंजन, ज्ञान, त्याग, सदाचार आदि बढ़ेंगे और सत्संग पाकर वे कल्याण-मार्ग में सक्रिय रूप से लग भी सकते हैं। अतएव तीर्थों में घूमना-फिरना, आना-जाना ठीक है। वहां राष्ट्रीय भावना, देश का ज्ञान, अपनी संस्कृति-सभ्यता का परिचय, कुछ धार्मिक भाव, सत्संग आदि के लाभ की दृष्टि से जाना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रहे, वहां मनुष्य को छोड़कर न देवता या भगवान बैठा है और न मोक्ष बिकता है। मोक्ष तो है मोह का क्षय, वासना का त्याग। वह सत्संग-विवेक से होगा। विवेक-द्वारा जिसका मन वासनाहीन है वह सदैव मुक्त ही है। काशी आदि में मरने से मुक्ति मिलती है यह धारणा मुक्तितत्त्व के अनभिज्ञों की है।

"जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कहु कौन निहोरा।" कबीर साहेब ने पंडितों से कहा कि यदि मैं मुक्ति के लिए काशी में शरीर छोड़ता हूं तो रामभजन का निहोरा क्या रहा! मैं काशी के बल पर मुक्ति नहीं मानता हूं, किन्तु रामभजन के बल पर मुक्ति मानता हूं। मुक्ति कोई सौदेबाजी नहीं है, किन्तु मन की वासनाहीन अवस्था है।

कबीर साहेब काशी में अपनी लम्बी उम्र बिताकर बुढ़ापा में शरीर त्यागने के लिए काशी से मगहर क्यों गये? इसका स्पष्ट उत्तर कबीर साहेब के मुख से निकली वाणी में आपने पढ़ा। वे मोक्षतत्त्व के विषय में फैले भ्रम के निवारण के लिए तथा मोक्ष के तात्त्विक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए जरजर अवस्था में काशी छोड़कर मगहर गये। इसके अलावा अन्य कोई कारण नहीं था।

बगुला भक्तों से सावधान

शब्द–१०४

कैसे तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो॥ १ ॥

कैसी तेरी सेवा पूजा कैसे तेरो ध्यान, ऊपर उजल देखो बगु अनुमान॥ २ ॥

भाव तो भुजंग देखो अति बिबिचारी, सुरति सचान तेरी मति तो मंजारी॥ ३ ॥

अति रे विरोधी देखो अति रे सयाना, छौ दर्शन देखो भेष लपटाना॥ ४ ॥

कहहिं कबीर सुनो नर बन्दा, डाइनि डिम्भ सकल जग खन्दा॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तरो = उद्धार होना। नाथ = स्वामी। कुटिल = कुटिलता, छल। बगु = बगुला पक्षी जो सफेद होता है तथा जलाशयों के निकट रहकर जलजंतुओं को खाता है तथा अपने छलावा के लिए प्रसिद्ध है। भुजंग = सांप। बिबिचारी = विविचारी, विचारहीन, कुकर्मी। सुरति = सुरत, ध्यान, मन। सचान = बाजपक्षी। मति = बुद्धि। मंजारी = बिल्ली। सयाना = बुद्धिमान, चालाक, धूर्त। छौ दर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। बन्दा = सेवक, दास, भक्त। डाइनि = डाइन, तथाकथित जादू करने वाली स्त्री, डरावनी सूरत की या दुष्टा स्त्री, तात्पर्य में माया। डिम्भ = दंभ, पाखंड। खन्दा = खा लिया, भटका दिया।

भावार्थ—हे स्वामियो! तुम लोगों का उद्धार कैसे होगा? क्योंकि अब तो तुम लोगों में बड़ा छलावा तथा खुटाई भर गयी है॥१॥ देवताओं तथा ईश्वर के प्रति तुम्हारे द्वारा की जाने वाली सेवा तथा पूजा कैसी दिखावापूर्ण हो गयी है और ध्यान-योग भी कैसे छल से भरा है! बगुला-पक्षी के समान तुम लोग कपटी हो गये हो जो ऊपर से तो उजले तथा संयत दिखते हैं, परन्तु भीतर से पर-हिंसा की कालिमा से भरे रहते हैं॥२॥ देखो, तुम्हारे भाव तो सांप जैसे विषधर, अत्यन्त विचारहीन एवं कुकर्मी हैं और तुम्हारी सुरत और बुद्धि हिंसक बाजपक्षी तथा बिल्ली की तरह हैं॥३॥ देखा जाता है कि षटदर्शनी एवं नाना संप्रदायों के लोग एक-दूसरे के अत्यन्त विरोधी बने राग-द्वेष का बाजार गरम कर रहे हैं। ये अपने-अपने मतवाद को फैलाने में खूब चालाक हैं और अपने-अपने द्वेष के अभिमान में लिपटे हैं॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्यो, हे भक्तो! सुनो इस माया और माया के सहायक दंभ ने सारे संसार को खा लिया है॥५॥

व्याख्या—प्रथम पंक्ति में ही आया है "कैसे तरो नाथ कैसे तरो" यह नाथ शब्द नाथपंथियों से सम्बन्ध रख सकता है जिनका उत्तरी भारत में बड़ा प्रचार था तथा आगे चलकर काफी विकृत हो गया था। कबीर साहेब के समय में नाथपंथियों का ज्यादा उज्ज्वल स्वरूप नहीं था, लेकिन यहां उनका भाव केवल उन्हीं के लिए नहीं है, किन्तु उन समस्त धार्मिकों के लिए है जो धर्म के वेष बनाने में तो आगे हैं, परन्तु करनी में घिनौने हैं। कबीर साहेब ऐसे संदर्भ में प्रायः षटदर्शन का नाम लेते हैं। षटदर्शन में योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण आते हैं। योगी में सिद्ध, नाथ आदि; जंगम में लिंगायत, शिवाचारी; सेवड़ा में जैनी तथा बौद्ध; संन्यासी में दसनामी—तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती, वन, आरण्य, पर्वत, सागर, गिरि और पुरी; दरवेश में सामी संप्रदाय—

इसाई, यहूदी, मुसलमान आदि के साधु, पादरी, फकीर आदि; ब्राह्मण में उनकी सभी शाखाओं के आचार्य आते हैं। परन्तु षटदर्शन का लाक्षणिक अर्थ है संसार के समस्त धार्मिक वेषधारी जो विशेषतः धर्मप्रचारक तथा पूज्य हैं।

भीतर कुछ तथा बाहर कुछ ऐसे कपट भरे दोहरे व्यक्तित्व के कबीर साहेब घोर विरोधी थे। वे दिखावे से पूर्ण धार्मिक वेषधारियों पर दुख प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे स्वामी लोगो, आप लोगों का उद्धार कैसे होगा! आप लोगों के वेष तो बड़े पवित्र दिखते हैं, परन्तु भीतर में बड़ी कुटिलता भरी है। धर्म का स्वरूप अन्दर-बाहर एक तथा सरल होता है, परन्तु तुम लोगों में देखा जाता है तो बड़े-बड़े छल-कपट भरे हैं। जो कपटाचार साधारण आदमी में भी निंदनीय है वह तुम धर्माचार्यों में पूर्ण है। तुम्हारे उद्धार की बात ही दूर है, तुम्हारे तो व्यवहार भी पवित्र नहीं हैं। जब तुम खुद इस प्रकार हो, तब संसार का तुम कौन-सा कल्याण कर सकते हो?

"कैसी तेरी सेवा पूजा कैसे तेरो ध्यान" सेवा तथा पूजा में कर्म तथा उपासना के क्षेत्र आते हैं तथा ध्यान में ज्ञान का क्षेत्र आता है। कर्मकांडी तथा उपासक लोग अनेक कल्पित देवी-देवता तथा ईश्वर मानी गयी मूर्तियों की सेवा करते हैं। वे उन्हें सुलाते, जगाते, नहलाते, खिलाते, पिलाते, पंखा करते, आग तपाते, फूल-मालाएं एवं नाना वस्तुएं चढ़ाते, वन्दना तथा आरती करते इस प्रकार सेवा-पूजा में लगे रहते हैं। यद्यपि पूजा-सेवा के उक्त सारे आलंबन काल्पनिक हैं, तथापि कोई केवल चित्त शुद्धि के लिए सच्चे हृदय से करता है तो उसका कुछ-न-कुछ सात्त्विक मनोरंजन होता है। आलंबन कुछ हो, परन्तु उसके विषय में उसका दिल सच्चा होता है। किन्तु जहां हृदय ही कपटपूर्ण है वहां तो सब कुछ दिखावा के लिए किया जाता है। लोग मुझे धार्मिक समझें, भक्त तथा उपासक समझें, लोग धन चढ़ावें इन सबके लिए ही यदि यह सब किया जाता है तो सेवा-पूजा को केवल भोगों का साधन बनाना हुआ। इसी प्रकार लोगों को दिखाने के लिए ध्यान करना और भीतर मान-भोग की कामना रखना, यह सब अनर्थ है। इसीलिए साहेब ऐसे लोगों से पूछते हैं कि तुम्हारे द्वारा की जाती हुई सेवा-पूजा कैसी है और यह ध्यान भी कैसा है? क्योंकि तुम्हारा जीवनस्तर जब देखा जाता है तब "ऊपर उजल देखो बगु अनुमान" अर्थात तब यही अनुमान होता है कि तुम बगुले के समान ऊपर से तो स्वच्छ धार्मिक हो, परन्तु भीतर काले हो। बगुला-पक्षी जलाशय के निकट बैठता है या जलाशय में भी विचरता है। वह कभी-कभी अर्ध-उन्मीलित नेत्रों द्वारा एक पैर के बल पर ध्यान में बैठा महायोगी लगता है, परन्तु वह यह सब मछलियों को पकड़ने की सुविधा के लिए करता है। इसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किये जाते हुए सेवा-पूजा तथा ध्यान आदि लोकदिखावा के लिए हैं, स्वयं सेवा पूजा पाने के लिए और भौतिक भोग के लाभ के लिए हैं अतः यह तुम्हारा पतन-पथ है।

"भाव तो भुजंग देखो अति बिबिचारी, सुरति सचान तेरी मति तो मंजारी।" भाव तुम्हारे सांप-जैसे हैं। सांप ऊपर से कोमल, चिकने और सुंदर दिखते हैं, परन्तु उनके मुख में विष होता है। वे अवसर पाते ही मनुष्य को डसकर मार डालते हैं। तुम्हारा भाव भी ऐसा है। तुम केवल देखने में स्वच्छ हो, मन तुम्हारा विषधर है। तुम अत्यन्त विचारहीन,

बदचलन तथा कुकर्मी हो। धर्म के नाम पर किस तरह लल्ला-लल्ली बनकर तीर्थों, पुरियों, देव-मंदिरों में दुराचार होते हैं यह सर्वविदित है। रास के नाम पर, लीला के नाम पर, प्रेमा-भक्ति के नाम पर, अमरौली-बज्रौली साधकर योग के नाम पर "भग बिच लिंग लिंग बिच पारा, जो न खसै सो गुरू हमारा" कहकर धार्मिक अपराधी सारा कुकर्म करते हैं। इतना ही नहीं, ज्ञान के नाम पर स्वयं को निर्लिप्त आत्मा एवं ब्रह्म बतलाकर तथा "भोगे युवति सदा संन्यासी" कहकर धर्म के चोंगाधारी कुकर्म की धारा में बहते हैं। साहेब कहते हैं कि तुम्हारा मन बाजपक्षी के समान शिकार पर ही झपट्टा मारने वाला है। बिल्ली जमीन पर दुबकी पड़ी रहती है और चूहे को देखते ही उस पर कूद पड़ती है। तुम्हारी दशा भी ऐसी ही है। तुम देखने में विनम्र, भक्त, ज्ञानी, योगी आदि बनते हो, परन्तु तुम्हारे आचरण क्रूर, भोगपरायण तथा भौतिकवादी हैं।

"अति रे विरोधी देखो अति रे सयाना, छौ दर्शन देखो भेष लपटाना।" देखा जाता है कि इन धार्मिक कहे जाने वाले संप्रदायों में परस्पर अत्यंत विरोधी विचार रखने वाले, एक दूसरे से कटा-कटी करने वाले और द्वेष की आग भी उगलने वाले होते हैं। विचारों की भिन्नता तो संसार का स्वभाव है, परन्तु इसको लेकर राग-द्वेष, कलह, लड़ाई-झगड़े, शास्त्रार्थ के नाम पर वाकयुद्ध, हिंसा, हत्या आदि करके इन सांप्रदायिक दरिंदों ने धर्म को कलंकित कर दिया है। इन सांप्रदायिक स्वामियों में एक-से-एक ऐसे भी सयाने हैं, चालाक एवं महाधूर्त हैं, जो स्वयं को ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि ये मानो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ तथा विशेष अवतार हैं। ये जो चाहें सो कर सकते हैं। इस अपने मिथ्या दैवी एवं ईश्वरीय चमत्कार में वे लोगों को फंसाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है। आज भी धार्मिक धूर्तों का एक दल भारत में अवतार बना बैठा है। ये सांप्रदायिक लोग केवल वेष बनाने में लगे हैं। भक्ति, कर्मों की उज्ज्वलता, सच्चरित्रता, ज्ञान, योग, ध्यान, त्याग, शांति आदि को छोड़कर केवल धार्मिक वेष बनाने तथा उसके बल पर पुजवाने के चक्कर में पड़े हैं।

"कहहिं कबीर सुनो नर बन्दा, डाइनि डिम्भ सकल जग खन्दा।" साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! हे भक्तो! सुनो और सावधान रहो। डाइन और दंभ ने सारे संसार को खा लिया है। इस पंक्ति में डाइन और डिम्भ ये दो शब्द ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। लोगों ने काल्पनिक चुड़ैल को डायन या डाइन कहा है। लोगों का अंधविश्वास है कि कुछ ऐसी स्त्रियां होती हैं जो भूत-प्रेत एवं दैवीशक्ति सिद्ध किये रहती हैं, या वे मंत्र-बल सिद्ध रखती हैं। ऐसी स्त्रियां अपनी इन शक्तियों से जिसको चाहें उन्हें बीमार कर सकती हैं, मार सकती हैं या उनकी बड़ी-से-बड़ी हानि कर सकती हैं। इन्हें लोग डायन या डाइन कहते हैं। लेकिन यह सर्वथा काल्पनिक है। यदि कोई भयंकर एवं क्रूर स्त्री हो उसे भी डाइन कह सकते हैं। चुड़ैल भी एकदम झूठी धारणा है। कुछ स्त्रियों को लोग डाइन या टोनही आदि मानते हैं यह भी केवल अज्ञान का फल है। यहां कबीर साहेब ने तो माया को डाइन कहा है। माया है सांसारिक लिप्सा। सांसारिक भोगों की वासना ही माया है और इसको पूर्ण करने के लिए लोग दंभ करते हैं। दंभ कहते हैं दिखावा को। यहां दंभ अधिक प्रासंगिक है। क्योंकि जो धर्म का चोंगा पहनकर विषयों में डूबे हैं उनका तो प्रतिष्ठित बने रहने का

दंभ ही आधार है। वे धर्म एवं वेष का दिखावा करके ही उसकी आड़ में स्वार्थ एवं भोग साधते हैं। साहेब कहते हैं कि हे नर बंदो! हे मनुष्यो एवं भक्तो! इन जैसे स्वामियों से सावधान रहो। जो व्यक्ति स्वयं निष्कपट नहीं, सदाचारी नहीं और अपने सिद्धांतों के लिए सच्चा नहीं, वह स्वयं डूबा है। फिर वह तुम्हारा क्या उद्धार कर सकता है! ऐसे स्वामियों, धार्मिकों एवं उद्धारकों से सदैव दूर रहना।

ध्यान रहे! सब समय सच्चे सन्त एवं धर्मपरायण लोग रहे हैं जो जगत में तरण-तारणरूप रहे हैं। उन्होंने स्वयं अपना कल्याण किया है तथा वे संसार के प्रेरणास्रोत रहे हैं। आज भी ऐसे महापुरुषों की कमी नहीं है, हमें सच्चे दिल से खोजी बनना चाहिए। परन्तु धूर्तों का जाल पहले भी ज्यादा था और आज भी ज्यादा है। उनसे सावधान रहकर हमें सच्चे संत और सद्गुरु की खोज कर उनकी शरण लेनी चाहिए।

भूत-प्रेत-योनि केवल भ्रम है

शब्द–१०५

ये भ्रम भूत सकल जग खाया, जिन-जिन पूजा ते जहँड़ाया॥ १ ॥
अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही, कोटि-कोटि जिव कौतुक देही॥ २ ॥
बकरी-मुरगी कीन्हेउ छेवा, आगल जन्म उन्ह औसर लेवा॥ ३ ॥
कहहिं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई॥ ४ ॥

शब्दार्थ—खाया = खोखला कर दिया, दुर्बल बना दिया। जहँड़ाया = ठगाया गया, ठगा गया, हानि उठाया। अण्ड = सूक्ष्म शरीर, बीज। पिण्ड = स्थूल शरीर, देह। प्राण = प्राणवायु, सांस। देही = देह का धारक, जीव। कोटि-कोटि = करोड़ों-करोड़ों। कौतुक = कुतूहल, अचंभा, तमाशा। छेवा = वध, हत्या। औसर = अवसर, मौका, दावं, बदला। लोई = लोगों।

भावार्थ— जो वस्तुतः भ्रममात्र है उस भूत-प्रेत की मान्यता ने मनुष्य के मन को दुर्बल बनाकर उसे खोखला कर दिया है। जो लोग भूत-प्रेत की पूजा-अर्चा में पड़े वे मानो अपने आपको ठगा दिये॥१॥ भूत-प्रेत के न सूक्ष्म शरीर है न स्थूल शरीर, न प्राण है और न जीवात्मा। अर्थात वह कुछ नहीं है, फिर भी करोड़ों-करोड़ों लोग इस तमाशे में अपना सिर पटक रहे हैं॥२॥ ये अंधविश्वासी लोग भूत-प्रेतों के नाम पर बकरी-मुरगी आदि निर्दोष प्राणियों का वध करते हैं। ध्यान रहे, भविष्य जन्म में वे अपना बदला इनसे लेंगे। जो दूसरों का सिर काटता है उसका सिर एक दिन कटता है॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे नर-लोगो! सुनो, भूत-प्रेत की मान्यता, पूजा आदि करने से उनका भ्रम मन में दृढ़ होता है, अन्यथा वे कुछ नहीं हैं॥४॥

व्याख्या—यह जगंली युग की धारणा है कि आदमी जब मर जाते हैं तब उनमें से जो अशांत आत्माएं हैं वे भूत-प्रेत की योनि में जाकर भटकती हैं। वे पहले से अधिक बलवान हो जाती हैं। वे मनुष्यों को पीड़ित करती रहती हैं। कहा गया कि जो अशांत स्त्रियां हैं वे मरकर चुड़ैल अर्थात प्रेतिन होती हैं और जो अशांत पुरुष हैं वे मरकर प्रेत

होते हैं जिन्हें भूत कहते हैं। यदि ब्राह्मण मरकर भूत हुआ तो उसे ब्रह्मराक्षस कहते हैं, मुसलमानों के विश्वासानुसार भूत के लिए जिन या जिन्न शब्द है। यह सब केवल शब्द का अन्तर है। वह मूलरूप में भूत-योनि है जिनकी कल्पना करीब-करीब सभी वर्गों में है और जंगली युग की देन है।

प्रेत का अर्थ है गया हुआ तथा भूत का अर्थ है बीता हुआ। जीव शरीर छोड़कर चला गया यही मानो प्रेत हो गया, और चले जाने के बाद बीत गया तो मानो भूत हो गया। बस, भूत-प्रेत का इतना ही अर्थ है। भूत-प्रेत की कोई योनि नहीं है। यदि उनकी योनि होती तो उनके वंशजों का पता चलता। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म देहधारियों को देखा जा सकता है, फिर भूत-योनि के देहधारी क्यों नहीं दिखाई देते! किसी खानि के देहधारी की अपनी प्रजनन-प्रक्रिया होती है, आहार-विहार के ढंग होते हैं। भूत-योनि के संबंध में यह सब कुछ भी पता नहीं चलता।

लोग कहते हैं कि भूत-प्रेत हवा के रूप में घूमते हैं और जब चाहते हैं तुरन्त शरीर धारण कर लेते हैं। वे बिल्ली, बैल, भैंसा, हाथी कुछ भी तुरन्त बन जाते हैं और तुरन्त लुप्त भी हो जाते हैं। यह सब मनुष्य का केवल भ्रम है। जब आदमी भूत-प्रेत की भ्रांति से पहले ही भयभीत रहता है तब रात में किसी प्रकार दूर जलते-बुझते प्रकाश, ठूंठ, पेड़ आदि देखकर उन्हें भूत-प्रेत मान लेता है। कभी-कभी अपने दृष्टि-दोष से कुछ-का-कुछ दिख जाता है और मनुष्य उसे भूत-प्रेत मान लेता है।

साहेब इस शब्द के शुरू में ही कहते हैं "ये भ्रम भूत सकल जग खाया, जिन-जिन पूजा ते जहँड़ाया।" यहां भूत के नाम में भ्रम विशेषण है। भूत क्या है? भ्रम। हमारे मन का भ्रम भूत बनकर खड़ा हो जाता है। यह भूत-प्रेत का भ्रम केवल अनपढ़ गंवारों में ही नहीं, किन्तु शिक्षित, विद्वानों तथा शहरी लोगों में भी है। गंवार तो भूत-प्रेत के विषय में मोटे ढंग से कहेंगे कि हमने उन्हें देखा है, परन्तु शिक्षित कहलाने वाले लोग विज्ञान का दुरुपयोग कर उसके बल से भूत-प्रेत सिद्ध करते हैं। वे कहेंगे कि देखो टेलिविजन-द्वारा दृश्यों का लुप्तीकरण तथा प्रकटीकरण होता है। दृश्य प्रतिबिम्बों का लघु रेडियो तरंगों-द्वारा प्रेषण किया जाता है तथा निकटस्थ या दूरस्थ स्टेशनों पर उन्हीं प्रतिबिम्बों का पुनः निर्माण कर दिया जाता है। इसी प्रकार भूत-प्रेत जब चाहते हैं तब प्रकट होते हैं और जब चाहते हैं तब लुप्त हो जाते हैं। आजकल जितना विज्ञान बढ़ रहा है शिक्षितों का एक वर्ग तो उससे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर प्रबुद्ध हो रहा है, परन्तु शिक्षितों का एक दूसरा वर्ग अधिकाधिक जड़ होता जा रहा है। यह वर्ग उस विज्ञान को आधार बनाकर अंधविश्वास फैलाता है जिससे वस्तुतः अंधविश्वास मिटाया जा सकता है। आजकल कितनी पत्र-पत्रिकाएं तन्त्र-विशेषांक तथा भूत-प्रेत विशेषांक छापती हैं। इनका खंडन करने वाली पत्र-पत्रिकायें तो दुर्लभ हैं, हां, इनकी चमत्कारिक कल्पित बातें छाप-छापकर विद्वान कहलाने वाले लोग समाज का आर्थिक तथा बौद्धिक शोषण करते हैं।

साहेब कहते हैं कि इस भ्रमपूर्ण भूत-योनि की भावना ने संसार के लोगों के मन को दुर्बल बना दिया है। इसी दुर्बलता का फल है कि अशिक्षित-शिक्षित लोग कोई कष्ट होने पर भूत-प्रेत का भ्रम कर झाड़-फूंक के चक्कर में पड़े रहते हैं। लोग औषध-संयम न कर

झाड़-फूंक तथा पूजा-पाठ कराने के फेर में पड़कर रोग तथा मौत बुला लेते हैं। साहेब कहते हैं कि "जिन-जिन पूजा ते जहँड़ाया" जो लोग भूत-प्रेतों की मान्यता एवं पूजा में पड़े वे ठगा गये। जो व्यक्ति वस्तुपरक बुद्धि का परित्याग कर कल्पित भावनाओं में पड़ेगा वह धोखा खायेगा ही।

"अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही, कोटि-कोटि जिव कौतुक देही।" अण्ड कहते हैं वीर्य या बीज को, यहां अण्ड का अर्थ सूक्ष्म शरीर है। पिण्ड तो स्थूल शरीर है ही। प्राण का अर्थ साफ है। जिस वायु से श्वसन क्रिया होती है वह प्राण है। देही कहते हैं जो देह को धारण करता है उस जीव को। साहेब कहते हैं कि भूत-प्रेत में ये अंड, पिंड, प्राण तथा जीव कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। जीव तो एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। अतएव बीच में भूत-प्रेत की कल्पना ही निरर्थक है। शीशम, साखू, आम आदि के बीज से खड़ाऊ, फाटक, कुर्सी, टेबल आदि नहीं बन सकते, किन्तु जब वे बीज जमीन में पड़कर पौधे के रूप में उगते हैं, फिर पेड़ होकर वर्षों में उनकी लकड़ियां पकती हैं, तब उन्हें काटकर कुर्सी, टेबल आदि बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार जीव जब शरीर छोड़ता है तब उसके साथ केवल सूक्ष्म-शरीर एवं संस्कार रहते हैं, उनके बल पर वह कुछ भी नहीं कर सकता। न वह क्षण में देह बना सकता है और न किसी को सता सकता है । वह तो जब किसी योनि में देह धारण कर लेता है तब कुछ कर सकता है। अतएव भूत-प्रेत केवल काल्पनिक हैं। परन्तु आश्चर्य है कि करोड़ों-करोड़ों लोग इस तमाशे में अपने सिर पटकते हैं।

"बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा, आगल जन्म उन्ह औसर लेवा।" भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की मान्यता वाले उनके नाम पर बकरी-मुरगी काटते हैं। वे कहते हैं कि यह भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की तृप्ति के लिए किया जाता है। इनके भूत-प्रेतादि ने आज तक किसी सिंह को खाने की बात नहीं की कि वे अपने भक्तों से कहें कि हमारे नाम पर सिंह चढ़ाओ। यह जीभ का स्वार्थी तथा मूढ़ आदमी बकरी-मुरगी को दीन जानकर उनका वध कर देता है। इस जीव-वध के मूल में मनुष्य का केवल मिथ्या स्वार्थ तथा अंधविश्वास है। साहेब कहते हैं कि जो लोग निरपराध प्राणियों का वध करते हैं उन्हें आगे जन्मों में इसका बदला देना पड़ेगा। तुम जिसको मारोगे वह समय पड़ने पर तुमसे बदला लेगा। पाप करने वालों को देर-सबेर अपने कर्मों के फल तो भोगने ही पड़ेंगे।

"कहहिं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई।" साहेब कहते हैं कि हे नर लोगो! भूत की भावना, भूत की पूजा तथा भूत की मान्यता करने से भूत का भ्रम खड़ा होता है। इनकी भावना, मान्यता तथा पूजा-अर्चा छोड़ दो, बस ये कुछ नहीं हैं।

यहां 'नर लोई' शब्द आया है। 'लोई' शब्द जो कबीर साहेब की वाणियों में 'लोगों' के अर्थ में है, कुछ विद्वानों को इस 'लोई' शब्द से एक कल्पित स्त्री का स्वप्न होने लगता है जिसे वे कबीर साहेब से जोड़ने का अपराध करते हैं। परन्तु बीजक में जहां कहीं 'लोई' शब्द आया है 'लोगों' के अर्थ में है। लोगों के अर्थ में 'लोई' शब्द का प्रयोग अन्य कवियों ने भी किया है, जैसे शेख अब्दुल कुद्दूष गंगोही ने कहा 'अलखदास आखै सुन लोई।" गोरख बानी में है "बंदत गोरखनाथ सुनो नर लोई।" मधुमालती में "अंत हाथ

पछितावा लोई।"[1] इत्यादि।

भूलभुलैया में जीवन मत बिताओ

शब्द–१०६

भँवर उड़े बग बैठे आई, रैन गई दिवसो चलि जाई॥ १ ॥
हल-हल काँपे बाला जीव, ना जानों का करिहैं पीव॥ २ ॥
काँचे बासन टिके न पानी, उड़ि गये हंस काया कुम्हिलानी॥ ३ ॥
काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहहिं कबीर यह कथा सिरानी॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भँवर = काले बाल। बग = उजले बाल। बाला जीव = भोला एवं मूढ़ मनुष्य। पीव = दैव। बासन = बरतन, शरीर। हंस = जीव। कुम्हिलानी = मुरझा गया, सूखने लगा। काग उड़ावत = व्यर्थ का काम करते। भुजा पिरानी = वृद्ध होना। यह कथा = जीवन लीला। सिरानी = समाप्त होना।

भावार्थ— भंवरे उड़ गये और बगुले आकर बैठ गये; अर्थात काले बाल सफेद हो गये और देखते-देखते यों ही रात-दिन बीते चले जा रहे हैं।।१।। यह मूढ़ मानव भावी कर्म-फल-भोगों की दुखद संभावना को लेकर थर-थर कांपता है और सोचता है कि दैव मेरे विषय में पता नहीं क्या करेगा।।२।। मिट्टी के कच्चे बरतन में देर तक पानी नहीं टिक सकता; अर्थात इस क्षणभंगुर शरीर में प्राण ज्यादा दिन नहीं रुक सकते। एक दिन चेतन हंस इस काया को छोड़कर उड़ जाता है और यह मुरझा जाती है।।३।। सद्गुरु कहते हैं कि आदमी जीवनभर विषय सेवन एवं व्यर्थ क्रिया करते-करते बूढ़ा हो जाता है, और इसी में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।।४।।

व्याख्या—"भँवर उड़े बग बैठे आई" यहां भंवर तथा बग रूपक मात्र हैं। भंवरे काले तथा बगुले सफेद होते हैं। यहां भंवरे काले बाल तथा बगुले सफेद बाल हैं। मनुष्य के जीवन के आरम्भ से उसके बाल काले होते हैं। जवानी तक प्रायः काले ही रहते हैं। परन्तु कुछ दिनों में उजले होने लगते हैं। शौकीन मनुष्यों की दाढ़ी-मूँछ में जब कहीं-कहीं बाल उजले होने लगते हैं तब वे उन्हें उखाड़ देते हैं और जब कई बाल उजले होने लगते हैं तब वे उन्हें कैंची से काटते हैं, जब अधिक बाल उजले होने लगते हैं तब उनमें से कुछ लोग औषध का प्रयोग करते हैं जिससे बाल काले दिखें। हम कृत्रिम रूप से बालों को भले ही काले बनाये रखें, परन्तु अवस्था के प्रवाह को नहीं रोक सकते। शरीर तो जवानी से बुढ़ापा की ओर निरंतर जायेगा ही। दिन बीतने के बाद रात तथा रात बीतने के बाद दिन बीतते हैं। इस रफ्तार को कौन रोक सकता है "सुबह होती है, शाम होती है। उम्र यों ही तमाम होती है।" रात और दिन रूपी काले और सफेद चूहे हमारे जीवन-वृक्ष को निरंतर काटते हैं। हर प्राणी हर समय मौत की तरफ निरंतर खिसक रहा है। इस

---

१. विस्तार के लिए देखें 'कबीर जीवनी' पांचवां अध्याय।

प्रवाह को रोकने वाला आज तक संसार में कोई नहीं हुआ। और तथ्य के अनुसार अनुमान होता है कि आगे भी इसे कोई रोक नहीं सकता।

"हल-हल काँपे बाला जीव" यह अबोधी आदमी थर-थर कांपता है कि पता नहीं दैव हमारी क्या दशा करेगा! संसार में सर्वत्र एक कारण-कार्य की व्यवस्था है। मनुष्य के जीवन में भी यह व्यवस्था है। इस व्यवस्था का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जीव जो कुछ भी करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है। डरने और कांपने से फल-भोग नहीं टल सकते। दुखों से बचने का रास्ता सच्चरित्रता है। दूसरों को दुख देने से बचो। ध्यान रहे, तुम दूसरों को असुविधा तथा दुख पहुंचाकर सुखी नहीं हो सकते हो। यदि तुम दूसरे सबका हितचिंतन करते हो और यथासाध्य हित करते हो तो तुम स्वयं सब समय सुखी रहोगे। जो लोग दूसरे की सेवा करके, दूसरों का हित करके यह कहते हैं कि जिसका मैंने हित किया वह मेरा एहसान नहीं माना, वह मेरे उलटा किया, इस बात को लेकर वे बहुत पीड़ित रहते हैं और कहते हैं कि मैं तो परोपकार करके भी सुखी नहीं हूं। तो ऐसे लोगों-द्वारा की गयी पर-सेवा तथा परोपकार के मूल में शुद्ध निष्काम भाव नहीं है। जो पर-सेवा तथा परोपकार करके उसके बदले में सहानुभूति, प्रशंसा तथा कुछ भी चाहता है वह सुखी नहीं हो सकता। आदमी तभी दुखों से मुक्त तथा सुखी हो सकता है जब वह मन, वाणी तथा कर्मों से दूसरों को पीड़ा न दे, प्रत्युत निष्कामभाव से सुख देने का प्रयास करे। परन्तु आदमी ऐसा न कर अपने जीवन में दूसरे का अहित करता है और स्वयं में इन्द्रिय-लंपट रहता है। इसलिए उसका मन सदैव अशांत रहता है। ऐसा आदमी जितना बूढ़ा होता है उतना उद्विग्न तथा अपने भावी संभावित दुखों के लिए आशंकित होता है। जिसने अपने आपको सब ओर से अनासक्त तथा आत्मस्थ नहीं बनाया उसकी नींव बालू-जैसी रहती है। उसके मन में सदैव भय सवार रहता है।

"काँचे बासन टिके न पानी, उड़ि गये हंस काया कुम्हिलानी।" सद्गुरु यहां जीवन की क्षणभुंरता का बड़ा सटीक उदाहरण देते हैं। मिट्टी का कच्चा घड़ा हो, यदि उसमें पानी भर दिया जाय तो आप जानते हैं कि उस घड़े के टूटने में देरी नहीं लगेगी। यह शरीर ऐसे ही दुर्बल है। इसके विनशते देरी नहीं लगती। किसी समय विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह शरीर कब तक है। वायुयान, ट्रेन, बस, कार, स्कूटर, साइकिल आदि से यात्रा करते, पैदल चलते, बिस्तर पर लेटे, कब यह कच्चा साज बिखर जायेगा; इसे कोई नहीं जानता। जहां जीव निकला, यह शरीर कितना ही सुन्दर, सुगठित युवक रहा हो तुरंत कुम्हला जाता है। आदमी अपनी देह का कितना अहंकार रखता है और इस पर यह कितना आशा का महल बनाता है, परन्तु वह सब क्षण में भहरा पड़ता है।

"काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहहिं कबीर यह कथा सिरानी।" यहां इस पंक्ति का जो प्रथम अंश है "काग उड़ावत भुजा पिरानी" एक मुहावरा जैसा है। काग उड़ावत का अर्थ है व्यर्थ काम करना और भुजा पिरानी का अर्थ है शरीर वृद्ध हो जाना। जैसे कोई आदमी घर का कोई सार्थक काम न करे, वह आलसी हो और दिनभर दरवाजे पर बैठा ढेला लेकर कौए उड़ाता रहे और इसी क्रिया में बूढ़ा हो जाय, तो उसका जीवन व्यर्थ ही बीता हुआ माना जायेगा। यहां इन्द्रिय और मन को जीवनभर विषयों में

दौड़ाना यही मानो कौआ उड़ाते जीवन को थकाना है। आदमी जीवन को मन और इंद्रियों की लम्पटता में ही बिता देता है। जो विषयों में क्षीण होते-होते बूढ़ा होता है, उसके जीवन में शांति कहां से आयेगी? कौए जैसे मलिन वस्तुओं को खाते, कर्कश आवाज करते तथा सशंक बने जीवन बिता देते हैं वैसे ये प्रपंची जीव अपने मन, वाणी तथा कर्मों से लम्पट बने जीवन खो देते हैं। इस प्रकार यह जीवन लीला यों ही समाप्त हो जाती है।

विषयों को छोड़कर अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होओ

शब्द–१०७

खसम बिनु तेली को बैल भयो॥ १ ॥
बैठक नाहिं साधु की संगत, नाधे जन्म गयो॥ २ ॥
बहि-बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, यम को दण्ड सह्यो॥ ३ ॥
धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो॥ ४ ॥
खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते, पाप के बीज बोयो॥ ५ ॥
झूठी मुक्ति नर आश जीवन की, उन्ह प्रेत को जूँठ खयो॥ ६ ॥
लख चौरासी जीव जन्तु में, सायर जात बह्यो॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उन श्वान को पूँछ गह्यो॥ ८ ॥

शब्दार्थ—खसम = स्वामी, पति, निजस्वरूप चेतन। नाधे = जुते हुए। पचहु = पचना, जी-तोड़ मेहनत करना, परेशान होना। यम = मलिन वासना, बुरे संस्कार, अशुद्ध मन। खसमहि = निजात्म देव को। राते = आसक्त हुए। प्रेत को जूठ = अनेकों द्वारा अनेक बार भोगी हुए यह जड़-प्रकृति। सायर = समुद्र।

भावार्थ—इस देह में रहने वाले मन, बुद्धि, इंद्रियादि के स्वामी निजात्मदेव के परिचय बिना आदमी तेली के बैल के समान हो गया है जो कोल्हू में जुता हुआ निरंतर चलता है और इसी में जिसका जीवन जाता है। संसारी आदमी की दशा भी यही है। वह कभी साधु-संगत में नहीं बैठता॥१-२॥ वह अपने देहेन्द्रिय-भोगों के मिथ्या स्वार्थ में पड़ा हुआ चरित्रभ्रष्ट होकर निस्तेज होता है और इन सबके लिए जी तोड़ परिश्रम करता एवं परेशान होता है और इन सबके फल में वह मलिन वासनाओं एवं दुष्ट संस्कारों-द्वारा निरंतर प्रताड़ित होता है॥३॥ इसने धन, स्त्री, पुत्र तथा राजकाज के लिए अपने सिर पर दुनियाभर का बोझ उठा रखा है॥४॥ यह अपने आत्मदेव की बोधस्थिति छोड़कर विषयों के रंग में ही डूब गया और उनके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ करके इसने अपने हृदय क्षेत्र में पाप के बीज बो लिये॥५॥ निज चेतनस्वरूप की स्थिति छोड़कर जहां तक मनुष्यों को बाहर मुक्ति की आशा दी जाती है वह सब झूठी है। इस झूठी मुक्ति की आशा में पड़कर मनुष्य मुरदे का जूठा खाता है। यह सारी जड़ प्रकृति अनेकों की भोगी हुई होने से मानो मुरदे का जूठा है॥६॥ चौरासी लाख योनिरूपी समुद्र में सब जीव बहे जा रहे हैं॥७॥ परन्तु सद्गुरु कबीर कहते हैं कि खेद है कि ये मूढ़ मनुष्य कुत्ते की पूंछ

पकड़कर इस विशाल संसार-सागर से तरना चाहते हैं; अर्थात मन की कल्पनाओं का सहारा लेकर उबरना चाहते हैं ।।८।।

व्याख्या—मनुष्य माया में लिप्त होकर किस तरह संसार में पिस-पिस कर जीवन बिताता है और इन सबका उसे क्या फल होता है इन सब विषयों पर इस शब्द में बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। शब्द की पहली पंक्ति है "खसम बिनु तेली को बैल भयो" खसम अरबी भाषा का शब्द है। इसके अर्थ शत्रु तथा स्वामी दोनों होते हैं। यहां स्वामी अर्थ है। "तेली का बैल" मुहावरा है जिसका अर्थ होता है रात-दिन पिसने वाला व्यक्ति। यह मुहावरा क्यों बना, इसका उत्तर सरल है। तेली अपने तेल पेरने के कोल्हू में बैल को जोत देता है, उसकी आंखों पर पट्टी बांध देता है और उसे एक बार हांक देता है, फिर वह उस कोल्हू में अपने आप चलता रहता है। तेली के बैल के लिए कोई रात या दिन का नियम नहीं रहता। वह घर के भीतर ही कोल्हू में जुता निरन्तर चलता रहता है। संसारी मनुष्य की दशा यही है। उसे यह पता नहीं है कि मेरी आत्मा ही सभी ज्ञान-विज्ञान का पति है। वह अपने स्वामित्व को छोड़कर इंद्रियों का गुलाम बना हुआ संसार में नधा चलता रहता है। वह एक बार संसार में जुत जाता है और जीवनभर सांसारिकता में पिसता रहता है। तेली के बैल की तरह उसे कभी फुरसत नहीं मिलती। तेली के बैल को तो चाहे फुरसत मिल भी जाय, परन्तु सांसारिकता में डूबे मनुष्य को फुरसत नहीं मिलती। संस्कृत भाषा के अनुसार ख + सम—ख = आकाश तथा सम = समान अर्थ होता है। खसम अर्थात आकाश के समान। आकाश के समान सब तरह के भावों से रहित। साहेब कहते हैं कि आकाश के समान निर्मलता के बिना तुम तेली के बैल बन गये हो। जिसका मन आकाश के समान निर्मल है वह सांसारिक घनचक्कर में क्यों पड़ेगा!

"बैठत नाहिं साधु की संगत, नाधे जन्म गयो।" जैसे तेली का बैल कोल्हू में नधा हुआ जीवन बिताता है, वैसे मनुष्य सांसारिक धन्धे में जुता हुआ समय बिताता है। उसे फुरसत नहीं कि कभी साधु-सन्तों की संगत में बैठ जाय और उनके शीतल वचनों से अपने आपको शीतल कर ले। मनुष्य की बुद्धि जड़ हो जाने से वह सांसारिक स्वार्थ को तो लाभ समझता है, इसलिए उसके लिए वह रात-दिन धन्धे में नधा रहता है, परन्तु यह नहीं समझता कि मन की शांति परम लाभ है। इसे न समझने से ही वह साधु-संगत के लिए समय नहीं निकालता। समय तो सबके लिए समान है। राजा हो या चपरासी दिन-रात में सबके लिए चौबीस घंटे ही होते हैं। जो लोग कहते हैं कि क्या करें हमें समय नहीं मिलता, इसलिए सत्संग में नहीं जा पाते, वे गलत कहते हैं। यह बात ठीक है कि ऐसी विवशता कभी-कभी हो सकती है, परन्तु यदि वह बराबर यही मानता है कि क्या करें समय नहीं मिलता, तो वह धोखे में है। हम अपने समय को कहां लगाना चाहते हैं, यह हमारे विचारों तथा हानि-लाभ निश्चय पर निर्भर करता है। यदि हमें मानसिक शांति का लाभ निश्चय हो जायेगा, तो निश्चित ही सत्संग के लिए समय निकालेंगे।

"बहि-बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, यम को दण्ड सह्यो।" रात-दिन काम-धन्धे में ही लगे रहना बह-बहकर मरना है। अथवा सांसारिकता में इतना डूब जाना कि अपने नैतिक-नियमों एवं मर्यादा में न रह पाना, पदे-पदे पथभ्रष्ट होना बह-बहकर मरना है।

जीवन में संयम और चरित्र सब कुछ है। जो विषयों में अधिक डूब जाता है उसका यह सब खो जाता है। यही उसका बह-बहकर मरना है। "पचहु निज स्वारथ" अपनी इंद्रियों के भोगों के स्वार्थ में डूबकर रात-दिन जी तोड़ मेहनत करना तथा परेशान होना पचना है। किसी दिशा में अटूट परिश्रम करना उस दिशा में उन्नति का साधन है, किन्तु विषयों की तृष्णा में पड़कर रात-दिन दुनियादारी में नधे रहना आत्मशांति के लिए ठीक नहीं है। भौतिक उन्नति के लिए श्रम करना चाहिए यह ठीक है, परंतु आत्मशांति के लिए भी दूसरी दिशा में समय निकालना चाहिए। आदमी केवल भौतिक पदार्थों का बंडल नहीं है। उसके इस भौतिक देह के भीतर चेतन आत्मा भी है जो उसका सार स्वरूप है। शरीर के लिए भौतिक पदार्थ चाहिए, किन्तु आत्मा के लिए शांति चाहिए। आत्मज्ञान तथा आत्मशांति की अवहेलना कर केवल भोगों और दुनियादारी में डूबा आदमी अनेक मलिन वासनाओं एवं कुसंस्कारों से आबद्ध हो जाता है। ये मलिन वासनाएं एवं कुसंस्कार ही यम बन जाते हैं जिनका दण्ड जीव को रात-दिन सहना पड़ता है। मनुष्य के मन के भीतर जो काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मोह, भय, चिंता, विकलता आदि उसे नोचते रहते हैं यही तो यम का दंड है जो हर संसारी जीव रात-दिन सह रहा है।

"धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो।" इस दुनिया में आकर आदमी धन-परिवार तथा संसार के पसारा में इतना भूल जाता है कि उसे यह होशहवास ही नहीं रहता कि मैं कौन हूं तथा जीवन का लक्ष्य क्या है! आदमी अपने स्वरूप को भूलकर धन, घर, स्त्री, पुत्र, बंधु-बांधव ही सब कुछ मान लेता है। यह ठीक है कि मनुष्य का इन सबके लिए अपना उत्तरदायित्व होता है। उसे पहले तो अपने माने हुए शरीर के लिए ही कुछ करना पड़ता है। इसके बाद उसको स्वजन माने गये लोगों के लिए करना पड़ता है। घर, धन तथा सांसारिक पसारा को भी देखना पड़ता है, क्योंकि उन्हीं में उसका तथा उसके आश्रयीजनों का निर्वाह होना है। परंतु उसे यह भी विचारना चाहिए कि क्या मेरे इतने ही कर्तव्य हैं। उसे यह समझना होगा कि उसका सबसे बड़ा कर्तव्य होगा अपनी आत्मा का उद्धार करना। इस संसार में जीव का कुछ भी अपना नहीं है। उसने जिस धन-परिवार में उलझकर अपने उद्धार का काम दरकिनार कर रखा है वह उसके बंधनों के कारण बनते हैं, कल्याण के नहीं। संसार के धन-परिवार के प्रति मेरे मन के लोभ-मोह ही मेरे लिए फांसी बनते हैं। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जीव अकेला आया है और अकेला ही जायेगा। इसलिए यहां मिले हुए सारे प्राणी-पदार्थों के भुलावे को छोड़कर आत्म-उद्धार के विषय में सचेष्ट रहना चाहिए।

"खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते, पाप के बीज बोयो।" देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि तथा सारे ज्ञान-विज्ञान का पति एवं स्वामी जीव ही है। जीव को चाहिए कि वह अपने स्वामीपने को समझे। वह यह समझे कि मैं मन-इंद्रियों का दास नहीं हूं, किन्तु इनका स्वामी हूं। मुझे चाहिए कि मैं मन और इंद्रियों को जीतकर रहूं। परन्तु जीव को अपने स्वरूप की पहचान नहीं है। वह अपने स्वामीपने को नहीं जानता। इसलिए वह अपने स्वामीपने को छोड़कर इंद्रियों के विषयों के रंग में लीन हो जाता है। "खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते" का यही अभिप्राय है। यहां रंग का अर्थ है भावना और राते का अर्थ है

आसक्त होना। जीव अपनी सर्वोच्च गरिमा को न समझकर विषयों की भावनाओं में ही सदैव डूबा रहता है। साधक भी जितने क्षण विषयों की भावना में रहता है उतने क्षण अपने स्वरूपज्ञान की प्रतिष्ठा से अलग हो जाता है, फिर संसारी जीव की क्या बात, जो हर क्षण विषयों की भावना ही में आकंठ डूबे हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक विषयों में डूबेगा वह उतना अधिक पाप के बीज बोयेगा। विषय-वासना स्वयं में ही महापाप है। जिस भावना के आने पर व्यक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित न रह जाय और विचलित होकर मलिन-मन तथा मलिन-क्रिया वाला हो जाय, वही तो सबसे बड़ा पाप है। मन की मलिनता एवं मन की चंचलता गुरुतर पाप है। यह मन जितना अधिक विषयलीन होता है उतना अधिक पर-अपकार, पर-हिंसा आदि का पाप करता है। संसार के सारे कुकर्मों एवं पापों के मूल में है विषयासक्ति। अतएव सद्गुरु बड़े मनोवैज्ञानिकतापूर्वक कहते हैं कि जीव अपने स्वामित्वपने से वंचित होकर विषयों में डूबता है और यही मानो वह पाप के बीज बोता है।

"झूठी मुक्ति नर आश जीवन की, उन्ह प्रेत को जूँठ खयो।" पापी-पुण्यात्मा, रागी-विरागी सबके मन में मुक्ति का महत्व है। इस प्रकार मुक्ति का महत्व देखकर लोगों ने अपनी धारणा के अनुसार गलत-सही सारी इच्छित वस्तुओं एवं उद्देश्यों की प्राप्ति को ही मुक्ति बतलाना शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने काया-कल्प कर तथा औषध सेवनकर शरीर को अमर बनाने की दुराशा ही मुक्ति मान ली। कुछ लोगों ने काम-भोग को मुक्ति मान लिया। वैयाकरणों ने शब्द-शोधन को तथा संगीतज्ञों ने जीवनभर संगीत में डूबे रहने को मुक्ति मान लिया। कुछ लोगों ने किसी कल्पित लोकविशेष, सातवें स्वर्ग एवं सातवें आसमान पर पहुंचने की दुराशा को मुक्ति मान लिया। कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि भगवान है। उसका एक लोक है। उसके लोक में बसना सालोक्य, उसके पास बसना सामीप्य, उसके आकार का हो जाना सारूप्य तथा उसमें लीन हो जाना सायुज्य मुक्ति है। कुछ लोगों ने माना कि मैं बूंद हूं और समुद्र मुझसे अलग है; अतः उसमें मिल जाना मुक्ति है। इस प्रकार अपनी आत्मा से अलग विषयों एवं अवधारणाओं में स्थिति ही को मनुष्य ने मुक्ति मान लिया। साहेब कहते हैं कि यह मुक्ति झूठी है। जहां तक तुम अपने चेतनस्वरूप से अलग विश्राम एवं मुक्ति मानते हो, वह सब झूठा है; क्योंकि संसार के विषय तथा मन की धारणा तुम्हारा स्वरूप नहीं बन सकते। निज चेतनस्वरूप के अलावा सब कुछ नाशवान, छूटने वाला तथा विजाति है; अतएव वह सब मेरी स्थिति, विश्राम एवं स्थायी ठहराव का आश्रय नहीं बन सकता। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम आत्मस्थिति के अलावा जहां तक मुक्ति की व्याख्या एवं मान्यता करते हो, सब झूठा है। निजस्वरूप की स्थिति छोड़कर मुक्ति की आशा झूठी है। अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा चाहे वह स्थूल विषय हो या मन की अवधारणा, सब जड़ विजाति प्रकृति है, और यह प्रकृति असंख्य पुरुषों-द्वारा असंख्य बार भोगी गयी होने से जूठी है। "प्रेत को जूँठ" का अर्थ है मरे हुओं का जूठा। असंख्य लोग जिसे भोग-भोगकर मर चुके हैं, वह जड़ प्रकृति प्रेत का जूठा है। झूठी मुक्ति की आशा वाले उस जूठी जड़-प्रकृति में किसी-न-किसी प्रकार रमना ही मुक्ति मानते हैं जिसे असंख्यों ने भोगा है। अतएव सद्गुरु जूठी

जड़ प्रकृति से वैराग्य कराकर साधक को संकेत देते हैं कि वह जड़ प्रकृति से लौटकर अपने स्वरूप में स्थित हो। मेरी अपनी आत्मस्थिति किसी अन्य की जूठी नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मस्थिति का उपभोक्ता स्वतः आत्मा ही है, दूसरा नहीं। इसलिए आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति ही विवेकियों का प्राप्तव्य है। स्वरूपस्थिति ही मोक्ष है।

"लख चौरासी जीव जन्तु में, सायर जात बह्यो।" भारतीय लोकधारणा के अनुसार संसार में सब चौरासी लाख योनियां हैं। चौरासी लाख से कम हों या अधिक हों, यहां 'चौरासी लाख' का लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए संसार की सारी योनियां। ये संसार की असंख्य योनियों का समुच्चय मानो विशाल समुद्र है जिसमें सब जीव निरंतर बहे जा रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! इस विशाल संसार-सागर से तरने के लिए लोगों ने कुत्ते की पूंछ पकड़ी है। श्वान की पूंछ पकड़कर नदी पार करना भी कठिन है, फिर उससे समुद्र कैसे पार किया जा सकता है? श्वान की पूंछ एक मुहावरा है जिसमें दुराशा की व्यंजना है। श्वान की पूंछ न कभी सीधी होती है तथा न उसे पकड़कर समुद्र पार किया जा सकता है। इसी प्रकार मन के कुटेवों, विषय-वासनाओं तथा दुर्गुणों को रखकर न कोई सुखी हो सकता है तथा न मन की अवधारणाओं के सहारे कोई संसार-सागर से मुक्त हो सकता है। इसके लिए तो मन की सारी वासनाओं को त्यागकर, मन को भी अपने से अलग समझकर उसका द्रष्टा हो जाना चाहिए तथा मन को छोड़कर अपने आप में स्थित हो जाना चाहिए।

सद्गुरु ने इस शब्द में इस बात पर जोर दिया है कि जीव अपने स्वामित्व को भूलकर विषयों में तथा संसार के प्रपंचों में बह रहा है। इस बात पर लक्ष्य रखकर उन्होंने विषयों तथा सांसारिकता से हटने की ओर तीव्र व्यंजना की है, और दो बार खसम शब्द कहकर साधक को याद दिलाया है कि तुम अपने स्वामीपने को समझो। मन-इन्द्रियों की गुलामी तथा नाना कल्पित अवधारणाओं को छोड़कर अपने आत्मदेव-चेतनदेव में स्थित होओ।

अपरिपक्व साधक का मनोभाव

शब्द–१०८

अब हम भैलि बहुरि जलमीना, पूर्वल जन्म तप का मद कीन्हा ॥ १ ॥
तहिया मैं अछलेउँ मन बैरागी, तजलेउँ मैं लोग कुटुम रामलागी ॥ २ ॥
तजलेउँ मैं काशी मति भई भोरी, प्राणनाथ कहु का गति मोरी ॥ ३ ॥
हमहिं कुसेवक कि तुमहिं अयाना, दुइमा दोष काहि भगवाना ॥ ४ ॥
हम चलि अइलि तुम्हारे शरणा, कितहुँ न देखों हरिजी के चरणा ॥ ५ ॥
हम चलि अइलि तुम्हारे पासा, दास कबीर भल कैल निरासा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—भैलि = हो गया। जलमीना = जल के बिना व्याकुल मछली की तरह। तहिया = साधना के आरंभ काल में। अछलेउँ = था। भोरी = भ्रमित। अयाना = न जानने वाला, न समझने वाला।

भावार्थ—एक सगुणोपासक साधक कहता है—मैं कुछ दिनों पूर्व अच्छा साधक था, परन्तु मुझे यह अहंकार हो गया कि मैं पूर्वजन्मों का तपस्वी एवं दिव्यसंस्कारी हूं, इसलिए मेरा पतन नहीं हो सकता। इस मद में पड़कर मैंने साधना ढीली कर दी। फल यह हुआ कि अब मैं पुनः जल के बिना तड़पती हुई मछली के समान शांति से दूर हो गया हूं।।१।। जब मेरी साधना की शुरुआत थी, तब मैं हृदय से सच्चा विरक्त था। मैंने राम की प्राप्ति के लिए लोग-कुटुम्ब सबका परित्याग कर दिया था।।२।। लेकिन अभिमान के कारण मेरी बुद्धि भ्रमित हो गयी और मैंने सत्संग और ज्ञान की नगरी काशी का परित्याग कर दिया। हे प्राणनाथ! कहिए, मेरी क्या दशा होगी? ।।३।। मेरे-द्वारा की जाती हुई आपकी सेवा ठीक नहीं है या आप मेरी सेवा को समझ ही नहीं पा रहे हैं? हे भगवान, दोनों में किसका दोष है! ।।४।। मैं तो आपकी शरण में चला आया हूं, परन्तु आप हरि जी के चरणों के दर्शन कहीं नहीं हो रहे हैं।।५।। मैं तो आप के पास चला आया हूं, परन्तु आपने मुझे बिलकुल निराश कर दिया है।।६।।

व्याख्या—उपर्युक्त शब्द में "तजलेउँ मैं काशी मति भई भोरी, प्राणनाथ कहु का गति मोरी।" पंक्ति के आधार पर कुछ लोग कल्पना करने लगते हैं कि कबीर साहेब जब काशी से मगहर चले गये तब उनको इस काम पर पश्चाताप होने लगा और उसी पश्चाताप में उन्होंने यह शब्द तथा इस शब्द में यह पंक्ति कही है। परन्तु कबीर साहेब के विषय में इस ढंग से सोचना उनके गहन-गम्भीर तत्त्व को न समझना है। कबीर साहेब कोई कच्चे तागे से नहीं बने थे, किन्तु फौलादी थे। वे भावुकता एवं हठ में काशी से मगहर नहीं चले गये थे, किन्तु वे अपनी स्वरूपस्थिति की परिपक्वता में पूर्ण थे। उनके लिए सब समय काशी, मगहर, ऊसर समान थे। कबीर-जैसे उच्चतम स्थिति प्राप्त पुरुष की व्याख्या करने के लिए कम-से-कम उच्चतम ख्याल तो होने ही चाहिए। अपनी मंचीय कविता तथा अखबारी विवेचन-छाप से कबीर-जैसे स्थितप्रज्ञ पर कुछ नहीं लिखना चाहिए और न बोलना चाहिए। कबीर का मोक्षधाम न तो काशी आदि बाह्य प्रदेश हैं और न उनका हरि चरण-हाथ वाला है जिसके दर्शन के लिए उन्हें बे-ताब होना पड़े। उनका हरि उनकी अंतरात्मा है और उनका मोक्षधाम वासनाहीन स्थिति है। इसलिए उन्हें अपने जीवन में न कोई पश्चाताप है न शिकायत है। वे तो कहते हैं "यदि तुम मेरे समान पूर्ण संतुष्ट होना चाहते हो तो सबकी आशा-वासना छोड़ दो, और मेरे समान सर्वथा निष्काम हो जाओ, फिर सब सुख तुम्हारे पास है।"[1]

इस १०८ वें शब्द का भाव किसी अपरिपक्व सगुणोपासक की कल्पना है। जिसका चित्रण सद्गुरु ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है। कबीर साहेब के पास अनेक प्रकार के लोग आते थे; और ऐसे अनेक अवसर पड़ते थे जब उनके मानसिक बिम्बों को लेकर

---

१. जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझे ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।। *(साखी २९८)*

कबीर साहेब के कंठ से कविता निकल पड़ती थी। अतएव यह पूरा १०८ वां शब्द किसी अपरिपक्व साधक के मनोभाव का चित्रण है।

दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना

शब्द–१०९

लोग बोले दूरि गये कबीर, ये मति कोइ-कोइ जानेगा धीर॥ १ ॥
दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना॥ २ ॥
जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु का कहै उरग सम पेखा॥ ३ ॥
यद्यपि फल उत्तम गुण जाना, हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना॥ ४ ॥
हरि अधार जस मीनहि नीरा, और जतन कछु कहैं कबीरा॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मति = समझ, राय, अभिप्राय। धीर = स्थिर-चित्त, विवेकवान। मर्म = भेद। आना = दूसरा। लेखा = अंदाज, विचार। रजु = रस्सी। उरग = सांप। पेखा = देखा। हरि = अंतरात्मा, चेतनदेव। उनमाना = अनुमान, कल्पना।

भावार्थ—लोग कहते हैं कि कबीर बहुत दूर पहुंच गये हैं। परन्तु इस 'दूर' का अभिप्राय कोई विरला स्थिरचित्त विवेकवान ही समझ सकता है॥१॥ दशरथ-सुत श्रीराम की तीनों लोकों में प्रसिद्धि है; परन्तु राम-ऐसा नाम जिस सार्वभौमिक उपासनीय तत्त्व का है उसका रहस्य कुछ दूसरा ही है॥२॥ जिस व्यक्ति में जैसी समझ होती है, जो जैसा अनुमान करता है, वैसा राम के विषय में कह देता है। देखो, कितने लोग अपने दृष्टि-दोष से रस्सी को सांप समझ लेते हैं॥३॥ यद्यपि दशरथ-सुत श्रीराम में श्रद्धा होने से फल उत्तम होंगे, क्योंकि जाना जाता है कि उनमें अनेक उत्तम गुण थे; परन्तु लोगों की भूल यह है कि उनका मन अपनी अंतरात्मारूपी राम को छोड़कर दशरथ-सुत राम की भक्ति में एवं उनमें मिलकर मुक्ति की कल्पना करने लगता है॥४॥ परंतु कबीर तो मुक्ति के लिए कुछ दूसरा ही साधन बतला रहे हैं, वह है जलमीनवत निरंतर अपनी आत्मारूपी हरि में रमण करना॥५॥

व्याख्या—इस शब्द में सद्गुरु ने मोक्ष के आश्रय-भूत परमतत्त्व का सुन्दर एवं सटीक विवेचन किया है। वे इस शब्द में पहली पंक्ति कहते हैं "लोग बोले दूरि गये कबीर, ये मति कोइ-कोइ जानेगा धीर।" लोग कहते हैं कि कबीर बहुत दूर पहुंच गये हैं। परन्तु यहां बहुत दूर पहुंच जाने का अर्थ क्या हो सकता है? क्या कोई कल्पित धाम, साकेतलोक, ब्रह्मलोक, सत्यलोक, गोलोक, शिवलोक आदि? नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। कहीं कोई लोक नहीं है जहां कबीर पहुंच गये हैं। कबीर तो अपने चेतन स्वरूप में स्थित हैं, वे अपनी आत्मा में लीन हैं। वे सांसारिक विषयों से अलग हो गये हैं। यही मानो वे दूर पहुंच गये हैं। जो मन की सारी कल्पनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित है वही मानो दूर चला गया है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "ये मति कोइ-कोइ जानेगा धीर" कबीर दूर चले गये, इस कथन का अभिप्राय कोई परम विवेकी ही समझ सकेगा। परमतत्त्व में

स्थित पुरुष का कोई अन्य लोक नहीं होता, श्रुति कहती है "हमारा यह आत्मा ही हमारा अपना लोक है। इसलिए ज्ञानी उसी आत्मलोक की प्राप्ति की अभिलाषा रख, घर से बे-घर हो प्रवर्जित होता है।"[१] कबीर साहेब आत्मा को राम कहते हैं जिसके विषय में वे आगे प्रकाश डालते हैं।

"दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" दशरथ-सुत राम का नाम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। यहां तीन लोक लक्षणा मात्र है। इसका अर्थ है कि राम के नाम से दशरथ-सुत लोगों में ज्यादा प्रसिद्ध हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जो राम सबका उपासनीय है वह कुछ दूसरा ही है। वस्तुतः वह है सबकी अपनी अंतरात्मा। कहा है "योगीजन जिसके विषय में रमण करते हैं, वह राम है।"[२] सद्गुरु ने पीछे अनेक स्थलों पर बताया है कि श्रीराम-कृष्ण[३] आदि मनुष्य थे। वे कभी थे। उनको बीते बहुत दिन हो गये। वे तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकेंगे। तुम्हारा कल्याण आत्मज्ञान तथा आत्मस्थिति से होगा। कोई भी देहधारी पहले हुआ हो या वर्तमान में विद्यमान हो, यदि वह पवित्र आचरण वाला है तो उससे अच्छी प्रेरणा ली जा सकती है, परन्तु मोक्ष उसके या अन्य किसी के प्रेम का न फल हो सकता है और न उनमें हमारी स्थिति हो सकती है। सारी वासनाओं का त्यागकर निज चेतनस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इसके अलावा किसी देहधारी में अनुराग मात्र मोक्ष कैसे हो सकता है! वह तो उलटकर बन्धन बन जायेगा।

कबीर साहेब के काल से करीब चार सौ वर्ष पूर्व से ही दशरथ-सुत राम की परमात्मा के रूप में समाज में प्रतिष्ठा हो चली थी। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व जब वाल्मीकीय रामायण का एक छोटा रूप बना, तब उसमें श्री राम को एक उच्च गुणसंपन्न राजकुमार के रूप में चित्रित किया गया था। परन्तु इसके पहले श्रीकृष्ण भगवान के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। अतएव उनकी देखा-देखी ईसा के सौ साल पहले श्रीराम चारों भाई विष्णु के अंशावतार के रूप में मान लिये गये। परन्तु श्रीराम पूर्ण परमात्मा के रूप में ईसा के एक हजार वर्ष बाद माने गये। वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम को दशरथ, कौसल्या, भरत, लक्ष्मण, सीता आदि में से कोई भी ईश्वर नहीं जानता है। श्रीराम वन जाते समय भरद्वाज आश्रम पर जाते हैं और वे भरद्वाज को पांच[४] बार भगवान कहते हैं। वे सुतीक्ष्ण को भी भगवान कहते हैं,[५] और अगस्त्य को भगवान[६] तथा अपना गुरु कहते हैं "गुरुर्नः।"[७] वन में सभी ऋषि श्रीराम को प्रिय अतिथि मानते हैं, कोई उन्हें भगवान नहीं

---

१. नोऽयमात्माऽयं लोकः एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति॥ बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/२२॥

२. रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः।

३. रमैनी ७५, शब्द ८, १८, ११० आदि।

४. वाल्मीकीय रामायण, २/५४/१३, १६, २४, २६ तथा ३७।

५. वाल्मीकीय रामायण, ३/७/६, ३/८/५।

६. वही, ३/१२/२३।

७. वही, ३/१३/१०।

कहता। वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी श्रीराम के लिए भगवान शब्द का प्रयोग नहीं दिखता। अतएव श्रीराम को ईश्वर मानने की कल्पना बहुत पीछे हुई है।

कबीर साहेब तत्त्वविवेकी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले पुरुष थे। उनको यह बात बड़ी असंगत लगी कि संसार में पैदा हुआ कोई क्षणभंगुर मनुष्य संसार का कर्ता-धर्ता है। इसके अलावा मोक्ष-विचार में तो साफ है कि व्यक्ति का अपना आत्मस्वरूप ही उसका निधान हो सकता है न कि कोई दूसरा देहधारी। इसलिए साहेब ने यह अमर वाक्य कहा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" कबीर साहेब की यह पंक्ति उत्तरी भारत में प्रचलित थी, काशी में तो गूंज रही थी। कबीर साहेब के बाद गोस्वामी तुलसीदास जी हुए। उनका भी कार्यक्षेत्र काशी रहा। गोस्वामी जी श्रीराम को परब्रह्म परमात्मा मानने में अग्रणी रहे। अतएव उन्हें कबीर साहेब की यह पंक्ति बहुत खटकी। इसलिए उन्होंने अपने रामचरितमानस में नये-नये उपोद्घात रचे। शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद तथा काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद की वाल्मीकय रामायण में गंध भी नहीं है। परन्तु श्रीराम को परमात्मा सिद्ध करने के लिए उन्होंने इन सारे संवादों की रचना कर डाली। गोस्वामी जी ने इन संवादों के आधार में इन पात्रों के द्वारा श्रीराम को अवतार न मानने वालों को कीट-कीट कर गालियां दीं। यहां केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा जहां गोस्वामी जी ने सद्गुरु कबीर की दशरथसुत वाली पंक्ति को अपने मन में रखकर शिव-पार्वती के काल्पनिक संवाद के सहारे कबीर साहेब का नाम बिना लिये उन्हें या उन-जैसे चिन्तकों को गाली दी है।

गोस्वामी जी के अनुसार पार्वती ने शिव जी से पूछा—"वह उपासनीय राम अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र ही हैं या अजन्मा, निर्गुण तथा अगोचर कोई दूसरा है? यदि वह राजा दशरथ का पुत्र है तो ब्रह्म कैसे, जिसकी पत्नी के वियोगजनित पीड़ा में बुद्धि अत्यन्त बावली हो गयी है। एक तरफ उसका भ्रमित चरित्र देखकर तथा दूसरी तरफ उसकी महिमा सुनकर मेरी बुद्धि चकित हो गयी—

*रामु सो **अवध नृपति सुत** सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥*

*जौं **नृपतनय** त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।*

देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि॥

(रामचरितमानस, १/१०८)

गोस्वामी जी के अनुसार इसका उत्तर शिव जी इस प्रकार देते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' में इस संदर्भ में इन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखा है "इसके उत्तर में गोस्वामी तुलसीदास जी ने शिव जी के मुख से जो उत्तर दिलवाया है वह ध्यान से सुनने लायक है"—

एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी॥

*तुम जो कहा **राम कोउ आना**। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥*

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह-पिसाच।

पाषंडी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच॥११४॥

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर-मन लागी।।
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत-सभा नहिं देखी।।
कहहिं ते बेद-असम्मत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी।।
मुकुर मलिन और नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना।।
जिनके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।।
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं।।
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।।
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना। जिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।।
अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराजु कुमारि, भ्रमतम रबिकर बचन मम।।११५।।

× × ×

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा।।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।।
हरख-बिसाद ज्ञान-अज्ञाना। जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना।।
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रकट परापर नाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ।।११६।।

× × ×

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि **अवधपति** सोई।।
यहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
जौ सपने सिर काटै कोई। बिन जागें दुख दूरि न होई।।
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई।।
आदि-अन्त कोइ जासु न पावा। मति-अनुमान निगम अस गावा।।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहिं धरहिं मुनिध्यान।
सोइ दसरथ-सुत भगत हित, कोसलपति भगवान।।११८।।

गोस्वामी जी के इन मोटे अक्षरों पर ध्यान दीजिये—**अवध नृपति-सुत, नृपतनय, राम कोउ आना, रघुकुल-मनि मम स्वामि सोई, अवधपति** तथा **सोइ दसरथ-सुत**—ये शब्द तथा

भाव कबीर साहेब की इसी पंक्ति-जैसे भाव के उत्तर में लिखे गये हैं—"दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना। रामनाम का मर्म है आना।"

प्रश्न होता है कि क्या कबीर साहेब की उक्त पंक्ति का उत्तर गोस्वामी जी दे सके हैं? वे उत्तर तो नहीं दे सके हैं, हां उन्होंने कबीर साहेब का नाम लिये बिना उन्हें या उन-जैसे तत्त्वचिंतकों को करीब दो दर्जन गालियां दे डाली हैं। यह बात तो पहले ही निवेदित की गयी है कि आदि वाल्मीकीय रामायण में शिव-पार्वती संवाद है ही नहीं। पूरी वाल्मीकीय रामायण में शिव जी कहीं श्रीरामचन्द्र के भक्त नहीं हैं। हां, श्रीराम शिव जी के भक्त अवश्य हैं। लंका से लौटते समय जब श्रीराम रामेश्वर आये हैं तब उन्होंने सीता जी से कहा है "यहां पर पहले महादेव जी ने मेरे ऊपर कृपा की थी"—अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद विभुः।"[१] परन्तु गोस्वामी जी कल्पनाशील एवं प्रतिभावान हैं। वे अपनी कल्पनाशक्ति एवं प्रतिभा का दुरुपयोग कर असत्य कहानी गढ़ते हैं और एक राजपुत्र श्रीराम को अनंत ब्रह्मांडनायक सिद्ध करने के लिए वेद-शास्त्र, इतिहास, विवेक सब कुछ को एक तरफ रखकर अपनी जिद्द पर अड़ जाते हैं। चारों वेदों तथा वैदिक छहों शास्त्रों में तथा समस्त वैदिक साहित्य में अवधपति श्रीराम की कहीं चर्चा ही नहीं है, फिर उनके परब्रह्म होने की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास देखिए तो ईसा के हजार वर्ष बीतने पर श्रीराम को पूर्ण परमात्मा मानने की बात पुराणों तथा अध्यात्म रामायण में आयी है। विवेक तो साक्षी हो ही नहीं सकता कि एक क्षणभंगुर मनुष्य अनंत विश्व का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। फिर भी गोस्वामी जी इस बात के पीछे पड़ गये हैं, और वे एक झूठ सिद्ध करने के लिए अनेक भोली बातें करते तथा काल्पनिक कहानियां गढ़ते हैं। गोस्वामी जी मानते हैं कि जो श्रीराम को परमात्मा नहीं मानता वह 'बेद-असम्मत बानी" कहता है। गोस्वामी जी जब वेद नहीं पढ़े थे, तो उनको ऐसा दावा नहीं करना चाहिए था और यदि वेद पढ़े थे, तब वे ऐसी वेद-विरुद्ध बातें क्यों करते हैं? वस्तुतः कबीर साहेब का अवतारवाद-विरोधी विचार ही वेदसम्मत है, गोस्वामी जी का अवतारवाद वेदसम्मत नहीं है। इसके लिए पाठक स्वयं वेद पढ़कर जान सकते हैं। आजकल तो वेद हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। अवतारवाद न मानने वालों को या श्रीराम को जगत-नियंता न मानने वालों को गोस्वामी जी का इस तरह उत्तेजित होकर गाली देना उनके अपने ही सिद्धांत की दुर्बलता के लक्षण हैं। फिर यह सब गालियां उन्होंने शिव के मुख से दिलवाकर शिव को दूषित करने का भी दोष किया है। गोस्वामी जी को कबीर साहेब-जैसे चिंतकों तथा भविष्य के स्वतन्त्र-चिन्तकों से भी बहुत भय था, इसीलिए उन्होंने आतंकित होकर ये सारे अलीक तथा अशुद्ध वचन कहे हैं।

श्रीरामचन्द्र संसार के हर्ता-कर्ता हैं और साधकों-द्वारा उपासनीय हैं, यह धारणा मुट्ठीभर लोग ही मान सकते हैं, किन्तु सबके हृदय में रमने वाला चेतन ही राम है, वही सबका अपना उपासनीय है, इस बात का विरोध संसार में कोई नहीं कर सकता। गोस्वामी जी का अवधनृपति-सुत, नृपतनय तथा दशरथसुत एक संप्रदाय विशेष का उपास्य

---

१. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग १२३, श्लोक २०।

हो सकता है, परन्तु कबीर साहेब का हृदय-निवासी राम सबका उपासनीय रहेगा। कबीर साहेब का राम मतवाद के जोश का फल नहीं है, किन्तु सबका अपना अनुभूत सत्य है। अतएव "दशरथसुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" यह केवल कबीर का ही अकाट्य वचन नहीं है, किन्तु विश्वसत्ता की शाश्वत स्वीकृति है। कबीर मतवाद की बात नहीं करते हैं, किन्तु विश्वसत्ता के शाश्वत नियम की बात करते हैं। राम नाम के दशरथ-पुत्र हुए यह ठीक है। आज भी बहुत व्यक्ति राम नाम से जाने जाते हैं, परन्तु हर व्यक्ति का उपासनीय राम उसकी अपनी अंतरात्मा एवं शुद्ध चेतनस्वरूप है।

"जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु का कहै उरग सम पेखा।" सद्गुरु इस पंक्ति में नाना संस्कारों के मनुष्यों की मानसिक योग्यता पर विचार करते हुए बड़ी उदारता से कहते हैं कि जिस व्यक्ति की जैसी बुद्धि होती है, जो अपने मन में जैसी कल्पना करता है, उसका वैसा उपास्य बन जाता है। किसी के कल्पित भूत-प्रेत ही उपास्य हैं, किसी के देवी-देवता, किसी के चांद-सितारे-सूरज आदि हैं, किसी के उपास्य कल्पित देहधारी परमात्मा। दृष्टिदोष होने पर रस्सी सांप दिखती है, इसी प्रकार बुद्धि भ्रमित होने पर देह ही को राम मानकर उसकी उपासना होने लगती है। किसी व्यक्ति के हाथ, पैर, मुंह, आंख, नाक, कान, गाल, ओष्ठ, छाती, पेट, नाभि, कमर आदि में कमलों तथा कामदेव आदि की उपमा देकर उनमें ध्यान, रति आदि करने की राय बहुत स्थूल बुद्धि की बात तथा साधना-पथ में केवल क, ख, ग है। परन्तु क्या किया जाय, जिसकी जैसी बुद्धि।

"यद्यपि फल उत्तम गुण जाना, हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना।" यद्यपि श्रीराम में श्रद्धा रखने से फल उत्तम हैं; क्योंकि उनमें सर्वविदित अनेक सद्गुण हैं, तथापि लोग श्रद्धातिरेक में पड़कर श्रीराम को परमात्मा मान लेते हैं और सोचते हैं कि उनकी भक्ति करने से वे हमें मुक्ति दे देंगे, अपने धाम में बुला लेंगे। इस प्रकार लोग अपने आत्मारूपी हरि की स्थिति से वंचित हो जाते हैं। सद्गुरु ने इस पंक्ति में मुख्य दो बातें कही हैं। पहली बात है कि महाराज श्रीराम में अनेक अच्छे गुण हैं, इसलिए उनमें श्रद्धा रखने के फल अच्छे हैं, दूसरी बात है कि श्रद्धातिरेक में पड़कर उन्हें पूजने की वस्तु न बनाओ, किन्तु अपनी आत्मारूपी हरि को समझो।

हम पहली बात को लें। सदैव सद्गुण आदरणीय हैं। हम अपनी पूर्व परम्परा को आदर देते हैं, परन्तु जो उनमें शुभ होते हैं उन्हीं को। हर परंपरा के पूर्वजों में बुरे लोग भी होते हैं। उनको लोग आदर नहीं देते। सत्ता उन्हीं को आदर देती है जो शुभ है। श्रीराम केवल हमारे पूर्वज हैं इसी से हम उनका आदर नहीं करते हैं, किन्तु इसलिए हमें उनमें श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि उनमें अनेक ऐसे सद्गुण हैं जो हमारे लिए प्रेरणाप्रद हैं। उन्हें शाम को राजगद्दी देने की बात सुनाकर सुबह वनवास सुनाया गया, परन्तु वे इससे व्यथित न होकर सहर्ष वन जाने के लिए उसी क्षण तैयार हो गये, और जनता के लाख मनाने पर भी वन चले गये। भरत के बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्होंने अयोध्या लौटने का विचार नहीं किया और कहा कि पिता की आज्ञा में चौदह वर्ष के लिए मेरा वनवास है, अतः उसे मैं पूरा करके ही लौटूंगा। उन्हें वन में नाना कष्ट मिले, परन्तु वे अपने प्रण पर अडिग रहे। उन्होंने भाई भरत के लिए राज्य छोड़ दिया। अतएव माता-

पिता की आज्ञाकारिता, भ्रातृस्नेह, राजलिप्सा का त्याग, गुरुजनों, ऋषियों एवं संतों के प्रति विनम्रता, प्रजा के प्रति शील का व्यवहार ये सब ऐसे सद्गुण हैं जो मानव मात्र के लिए उपयोगी हैं।[१] इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि श्रीराम में श्रद्धा रखने के फल उत्तम हैं, क्योंकि उनमें अनेक श्रेष्ठ गुण हैं। हमें यह गर्व होना चाहिए कि श्रीराम जैसे महान पुरुष हमारे पूर्वज हैं।

गलत वहीं होने लगता है जहां श्रद्धा का अतिक्रमण एवं श्रद्धातिरेक होने लगता है। हम यह मानने लगते हैं कि श्रीराम तो अनंत ब्रह्मांडनायक हैं, उत्पत्ति, पालन, संहारकर्ता हैं। उनके एक-एक रोम में अनंत ब्रह्मांड लटके हैं। वे विश्वनियंता प्रभु हैं, वे तो सर्वसमर्थ ईश्वर हैं, तब उन्होंने बड़े-बड़े काम किये। हम वैसे कहां कर सकते हैं! हम तो उनको पूजकर, उनका नाम संकीर्तन कर मुक्त होंगे।

श्रीराम ने जीवन में कुछ त्याग किया तब वे महान हुए, यह न सोचकर उलटा सोचा जाता है कि वे ईश्वर थे तब बड़े काम कर सके। जब हम किसी को ईश्वर बनाकर उन्हें पूजा की वस्तु मान लेते हैं तब मानो उन्हें दफना देते हैं। सद्गुरु कहते हैं "हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना" हम अपने शुद्ध चेतनस्वरूप-हरि को छोड़कर श्रीराम आदि की आराधना करके मुक्ति की कल्पना करने लगते हैं। श्रीराम हों या श्रीकृष्ण, वे एक देहधारी थे। उनकी देहें बीत गये हजारों वर्ष हो गये। उनकी देहें तो आज मिलने वाली नहीं हैं। उनकी आत्माएं भी अपने कर्मों के अनुसार गति पायी होंगी। अतः उनसे भी मुलाकात नहीं हो सकती। आज श्रीराम, श्रीकृष्ण या किसी महापुरुष के केवल प्रेरक गुणों से हम प्रेरणा ले सकते हैं। प्रथम साधना में मन रोकने के लिए हम ध्यान का कुछ स्थूल आलंबन लेते हैं, उनमें हम राम, कृष्णादि के काल्पनिक चित्र को भी अवलम्ब बना सकते हैं। परन्तु वे गृहस्थ पुरुष थे। आलम्बन का अच्छा साधन वैराग्यवान पुरुष हैं। इसीलिए योगदर्शन ने बताया है "वीतरागविषयं वा चित्तम्"[२] अर्थात वीतराग पुरुष का चित्त से ध्यान करने से मन एकाग्र होता है। परन्तु यह सब अन्तिम साधना नहीं है, क्योंकि बाहर का कोई भी आलम्बन हो वह जड़-विजाति तथा छूटने वाला है। अंततः तो मन के सारे संकल्पों को छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमना होगा। हम अपनी चेतना एवं आत्मारूपी हरि को छोड़कर बाहर मुक्ति का अनुमान करने लगते हैं, यही हमारी भूल है। व्यक्ति की

---

१. शूर्पणखा-विरूपण तथा छिपकर वालीवध श्रीराम के व्यक्तित्व के धप्पे हैं। शूर्पणखा-विरूपण शायद वाल्मीकीय रामायण के पहले संस्करण में नहीं था। सीता वनवास तथा शंबूक वध वाल्मीकीय के उत्तर कांड का विषय है जो शुद्ध प्रक्षेप अंश हैं। शंबूकवध किसी घृणित मन वाले लेखक की कल्पना है। उसने श्रीराम के जीवन से उसे जोड़कर उनके तथा मानवता के साथ घोर अपराध किया है। इस संदर्भ को समझने के लिए 'रामायण-रहस्य' में आठवें अध्याय का ३८ वां संदर्भ "शंबूक" तथा "कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि" में 'शंबूक' पर हुई चर्चा को अवश्य देखें। शंबूक हत्या घृणित ब्राह्मणवादी व्यवस्था की कल्पना है और रामायण में पीछे का प्रक्षेप है।

२. योगदर्शन, १/३७।

स्थिति उसके अपने चेतनस्वरूप में ही होगी, यही मोक्ष है। बाहर किसी में प्रेम लगाना या बाह्य वस्तुओं को ध्यान का विषय बनाना मोक्ष नहीं है।

"हरि अधार जस मीनहि नीरा, और जतन कछु कहैं कबीरा।" कबीर साहेब कहते हैं कि मैं तो मोक्ष के लिए श्रीराम-श्रीकृष्णादि किसी देहधारी की कल्पना में तन्मय होना नहीं बतलाता। मैं इन सबसे हटकर कुछ दूसरा ही उपाय बताता हूं, वह है "हरि अधार जस मीनहि नीरा" जैसे मछली निरन्तर पानी में रहती है, पानी में रमने से ही उसका जीवन है, वैसे निजात्म में रमना ही मोक्ष है। अपनी चेतना को छोड़कर बाहर कहीं भी रमना मोक्ष नहीं है, किन्तु बाहर से लौटकर निज चेतनस्वरूप में एवं आत्मा में रमना ही मोक्ष है। यह ठीक है कि साधक पहले पहल बाहर से बिलकुल नहीं लौट सकता, वह तुरन्त ही अपनी आत्मा में नहीं लीन हो सकता। पहले वह जहां भी अच्छा समझता हो उसे आलम्बन बनाकर उसमें एकाग्र होना चाहिए; परन्तु अंततः उसे सारे दृश्यों को छोड़ना पड़ेगा चाहे वह अशुभ हो या शुभ। सारे दृश्यों को त्यागकर स्वरूपस्थिति मिलती है। अतएव उपासनीय तत्त्व अवधपति श्रीरामादि व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु स्वात्म शुद्ध चेतन है।

कोई देव तुम्हारा कर्म-बंधन नहीं काट सकता

शब्द—११०

आपन कर्म न मेटो जाई॥ १ ॥

कर्म का लिखा मिटै धौं कैसे, जो युग कोटि सिराई॥ २ ॥
गुरु वशिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सूर्य मन्त्र एक दीन्हा॥ ३ ॥
जो सीता रघुनाथ बिवाही, पल एक संच न कीन्हा॥ ४ ॥
तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बधो बरियाई॥ ५ ॥
एक समय ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई॥ ६ ॥
नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हों कपि को स्वरूपा॥ ७ ॥
शिशुपाल की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूठा॥ ८ ॥
पार्वती को बाँझ न कहिये, ईश्वर न कहिये भिखारी॥ ९ ॥
कहहिं कबीर कर्ता की बातें, कर्म की बात निनारी॥१०॥

शब्दार्थ—धौं = भला। सिराई = समाप्त। सुधायो = शोधा गया। संच = सुख। बरियाई = बरिआई, जबर्दस्ती, छलपूर्वक। औसर = अवसर, मौका, बदला। बदन = वदन, चेहरा। कपि = वानर। उपारी = उखाड़ लिया। हरि = कृष्ण। ठूठा = लूला, बिना पंजे का। बांझ = वंध्या। ईश्वर = शिव, महादेव। निनारी = विलक्षण।

भावार्थ—जिनकी आराधना कर तुम अपने किए हुए कर्मों के फलों से छुटकारा चाहते हो उनको अपने ही द्वारा किये गये कर्मों के फलों से छुटकारा नहीं मिला, वे स्वयं अपने कर्म-फल-भोग नहीं मिटा सके॥१॥ चाहे करोड़ों युग बीत जायं, भला कर्मों का लिखा कैसे मिट सकता है? ॥२॥ श्रीराम तथा सीता के विवाह का लग्न गुरु वसिष्ठ ने

विश्वामित्र तथा शतानंद से मिलकर शोधा था और गुरु वसिष्ठ ने श्रीराम को सूर्य-मन्त्र की दीक्षा दी थी। परन्तु जो सीता रघुनाथ से व्याही गयीं, उन्होंने अपने जीवन में एक क्षण सुख न पाया।।३-४।। लोग कहते हैं कि श्रीराम तीनों लोकों के कर्ता-धर्ता हैं, परन्तु उन्होंने वाली को छलपूर्वक छिपकर मारा; तो एक समय ऐसा बन पड़ा कि वे अपने दूसरे जन्म कृष्ण रूप में जब हुए तब जरा नाम के बधिक से मारे गये।।५-६।। विष्णु ने नारद-मुनि का असली मुख छिपाकर उन्हें वानर-मुख बना दिया और जिस युवती को नारद चाहते थे विष्णु ने उसे स्वयं ग्रहण कर लिया, इसके फल में विष्णु को श्रीराम बनकर स्त्री-वियोग में वानरों के साथ वन-वन भटकना पड़ा।।७।। हरि श्री कृष्ण ने शिशुपाल की भुजाएं उखाड़ ली थीं, तो उसके फल में स्वयं जगन्नाथ में लूले होकर बैठे हैं।।८।। पुराणों में यह विदित है कि पार्वती की कोख से कभी कोई बच्चा नहीं हुआ, तो उन्हें क्या वंध्या न कहा जाय! महादेव जी भीख मांगकर खाते थे, तो क्या उन्हें भिक्षु न कहा जाय! विष्णु भी तो वामन बनकर बलि से भीख मांगते हैं।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कर्ता और कर्म की बातें बड़ी विलक्षण हैं। हर जीव जैसा करेगा वैसा भरेगा।।१०।।

व्याख्या—धार्मिक कहे जाने वाले लोग महापुरुषों की मिथ्या महिमा में जनता को उलझाकर उन्हें भूलभूलैया में रखते हैं। यदि अपने भोलापन में जनता को सांत्वना देने के लक्ष्य से ऐसा किया जाता है तो भी जनता के लिए धोखा ही है, और यदि यह सब जानबूझकर जनता के बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण के लिए किया जाता है तो घोर अनर्थ है। प्रायः सभी मजहबों एवं संप्रदायों के पुरोहितों-द्वारा ऐसा कहा जाता है कि तुम्हारे चाहे जैसे पाप-कर्म हों, परन्तु अमुक प्रकार के पूजा-पाठ से, अमुक देवी-देवता की आराधना से तथा ईश्वर की कृपा से वे सब नष्ट हो जायेंगे और तुम्हारा उद्धार हो जायेगा। भारतीय-परम्परा में कर्म तथा कर्म-फल-भोग के विषय में उदार चिन्तन पहले से ही रहा है। धर्मशास्त्र, पुराण तथा महाकाव्य के लेखक पंडितों ने कर्म-फल-भोग के संबंध में किसी को क्षमा नहीं की है चाहे वे देवी-देवता के नाम से जाने जाते हों या ईश्वर-ईश्वरी के नाम से। परन्तु बीच-बीच में ऐसे भी पुरोहित-पंडित हुए हैं जिन्होंने सुविधावादी दृष्टि अपनाकर कर्म-फल-भोग में काफी माफी की गुंजाइश की है। कबीर साहेब धार्मिक क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले युगपुरुष थे। उन्होंने देखा कि कर्म-फल-भोग का सिद्धांत ही मनुष्य को अपने सदाचार में बनाये रख सकता है और सदाचार से ही जीवन, परिवार, समाज, देश तथा विश्व में शांति-व्यवस्था रह सकती है। यदि यह मान लिया जाय कि हम चाहे जैसे पाप-कर्म करें, परन्तु अमुक देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी की पूजा-आराधना करने से वे कट जायेंगे तो इस धारणा से समाज के लोग उच्छृङ्खल होंगे और वे बुरे कर्मों से नहीं डरेंगे। वे बराबर बुरे कर्म करते हुए अमुक देवी-देवतादि की पूजा के बल पर अपने आपको पापों से मुक्त हुआ मानने का धोखा करते रहेंगे। अतएव इस शब्द में सद्गुरु ने पंडितों की लिखी पौराणिक कथाओं के आधार पर ही सिद्ध किया है कि सबको अपने कर्म-फल-भोग भोगने पड़ते हैं।

कुछ महिमापरक पौराणिक वाणियों के आधार पर लोग यह मान लेते हैं कि राम, कृष्ण, विष्णु, महादेव, सीता, पार्वती आदि की आराधना करने से, उनके नाम जपने तथा

उनकी पूजा करने से मनुष्यों के सारे पाप भस्म हो जाते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह मान्यता न तो विवेकसम्मत है और न धर्मशास्त्रों तथा पुराणों के मूल विचारों के अनुसार ही है, यह सहज समझा जा सकता है। 'यः कर्ता स एव भोक्ता' अर्थात जो कर्ता है वही भोक्ता है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं "यह जीव जैसी इच्छा करता है, वैसा प्रयत्न करता है, जैसा प्रयत्न करता है वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है।"[१] पुराण भी बतलाते हैं कि देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी कहे जाने वाले लोग भी अपने कर्म-फल-भोग भोगे हैं। साहेब कहते हैं कि जिन तथाकथित देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी की पूजा के बल पर तुम अपने पाप-कर्मों के कट जाने का धोखा पालते हो उनके ही अपने पाप नहीं कटे हैं। जो कर्म के संस्कार जीव के मन में पड़ गये हैं वे करोड़ों युग बीत जाने पर भी नहीं मिटते। उनके परिणाम एवं फल भोग लेने के बाद ही उनका अंत होता है। यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है "अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। बिना भोग के कर्म नहीं मिटते चाहे करोड़ों कल्प बीत जायं।।"[२]

"गुरु बशिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सूर्य मन्त्र एक दीन्हा। जो सीता रघुनाथ बिवाही, पल एक संच न कीन्हा।" रामायण से यह विदित है कि श्रीराम तथा सीता का विवाह हुआ था। उनके विवाह का लग्न श्रेष्ठ विद्वान गुरु वसिष्ठ ने शोधा था परन्तु आप जानते ही हैं कि विश्वामित्र के साथ ही राम थे और शतानंद जनक के पुरोहित थे। अतएव विश्वामित्र एवं शतानंद ने भी वसिष्ठ जी को लग्न शोधने में सहयोग किया। वसिष्ठ ने सूर्यवंश का वर्णन किया तथा श्रीराम को सूर्य-मन्त्र भी दिया। इतनी सतर्कता और सावधानी के साथ श्रीराम के साथ सीता का विवाह हुआ। परन्तु सीता को श्रीराम के साथ में एक क्षण भी सुख न मिला।

विवाह के बाद अयोध्या-यात्रा में ही परशुराम ने मिलकर श्रीराम को चुनौती दी थी। यह सीता के लिए पहली दुर्घटना थी। अयोध्या पहुंचते ही भरत अपने ननिहाल जाते हैं क्योंकि उनके मामा युधाजित उन्हें बुलाने पहले ही आ गये थे और उन सबके विवाह की बात सुनकर अयोध्या से जनकपुर पहुंचकर दशरथ को अपने पिता का संदेश दे दिये थे कि पिता जी अपने नाती भरत को देखना चाहते हैं। अतएव विवाह के बाद अयोध्या पहुंचते ही भरत शत्रुघ्न को लेकर केकयदेश चले जाते हैं, और इसी के बाद दशरथ राम को राजगद्दी देना चाहते हैं, परन्तु कैकेई के विरोध से उनका चौदह वर्ष के लिए वनवास होता है और वे सीता तथा लक्ष्मण के साथ वन चले जाते हैं। वन में उन्हें नाना कष्ट होते हैं। इसी बीच जयंत अपनी चोंच से सीता को नोचता है। फिर पथ चलते समय विराध राक्षस सीता का अपरहण कर लेता है। पश्चात वे रावण-द्वारा हर ली जाती हैं।

---

१. यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।।
(बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, मन्त्र ५)

२. अश्वयमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।।

लंका की अशोक वनिका में सतायी जाती हैं। रावण-वध के बाद श्रीराम के पास आने पर राम-द्वारा कटु वचनों से आहत की जाती हैं। उन्हें अग्नि परीक्षा देनी पड़ती है। अयोध्या आने पर पुरवासियों-द्वारा निंदित की जाती हैं। फिर राम-द्वारा वन में निकाल दी जाती हैं। अंततः नैमिषारण्य में श्रीराम के यज्ञस्थल में जब वाल्मीकि-द्वारा सीता वहां ले जायी जाती हैं, तब श्रीराम-द्वारा पुनः उनसे चरित्र की प्रामाणिकता मांगे जाने पर वे पृथ्वी में समा जाती हैं। इस प्रकार रामायण देखा जाय तो सीता के जीवन में पदे-पदे दुख है। उनके अनेक दुखों में से केवल एक दुखद घटना का संक्षिप्त उल्लेख काफी होगा। जब श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण ने सीता को गंगापार वन में छोड़कर उन्हें राम का आदेश बताया कि राम ने लोकापवाद के डर से आपको त्याग दिया है, तब यह कठोर वचन सुनकर सीता मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं। जब वे चेत में आयीं तब लक्ष्मण से इस प्रकार कहने लगीं—

"लक्ष्मण! विधाता ने मेरी देह को केवल दुख भोगने के लिए ही बनाया है। आज सारे दुख मूर्तरूप होकर मुझे दिखाई दे रहे हैं।।३।। पूर्व जन्म में मैंने कौन-सा पाप किया था, किस पुरुष का स्त्री से वियोग कराया था, जो मेरे पवित्र आचरण होने पर भी मुझ सती-साध्वी को राजा राम ने त्याग दिया।।४।। मैं पहले वनवास के समय दुख उठाकर भी श्रीराम की सेवा करती हुई आश्रम में रही और प्रसन्नता से उनकी अनुगामिनी बनी रही।।५।। सौम्य! अब परिवार से अलग पड़कर अकेली आश्रम में कैसे रहूंगी और दुख पड़ने पर उसे किसको बताऊंगी? ।।६।। प्रभो! जब मुनि लोग मुझसे पूछेंगे कि महात्मा राम ने तुम्हें किस कारण से त्याग दिया है, तब मैं उनसे अपना कौन-सा अपराध बताऊंगी? ।।७।। मैं अभी गंगा में कूदकर अपना जीवन खो देती, परन्तु ऐसा नहीं करूंगी, क्योंकि मैं गर्भवती हूं। जीवन खोने से मेरे पति का राजवंश ही नष्ट हो जायेगा।।८।।"[1]

---

१. मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते।।३।।
किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः।
याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती।।४।।
पुराहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी।।५।।
सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा।।६।।
किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना।।७।।
न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते।।८।।
(वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, सर्ग ४८)

जब लक्ष्मण रथ पर बैठकर लौट चले, तब कवि कहता है—"रथ दूर होता गया। सीता लक्ष्मण की ओर पुनः-पुनः देखकर व्याकुल हो गयीं। जब लक्ष्मण का रथ सीता की आंखों से ओझल हो गया, तब वे शोक-सागर में डूब गयीं॥२५॥ यश को धारण करने वाली यशस्विनी सीता दुख के बोझ से दब गयीं, क्योंकि उन सती को कोई अपना रक्षक नहीं दिखता था। मयूरों के नाद से गूंजते हुए उस वन में सती सीता दुख में डूबी हुई फूट-फूटकर रोने लगीं॥२६॥"[१]

केवल सीता ही दुखी रहीं, ऐसी बात नहीं है, स्वयं श्रीराम भी जीवनभर दुखों से घिरे रहे। इसलिए बहुत दिनों से 'राम-कहानी' एक मुहावरा बन गया, जिसका अर्थ है दुख भरी कहानी।

"तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बधो बरियाई। एक समय ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई।" लोग कहते हैं कि अयोध्याधीश श्रीराम विश्व के कर्ता-धर्ता हैं; परन्तु वालीवध में इस कर्तापने की ऐसी मिट्टी पलीद हुई है कि साधारण आदमी भी इसके कालापन को समझ सकता है। जब एक बार वाली की मार खाकर सुग्रीव भाग गया था, तब श्रीराम ने सुग्रीव के गले में फूलों की माला पहनाकर भेजा क्योंकि दोनों एक समान चेहरे वाले होने से दूर से यह नहीं समझ में आता था कि कौन वाली है और कौन सुग्रीव। जब सुग्रीव ने दुबारा आकर वाली को ललकारा, तब तारा ने वाली को समझाया कि मैंने अंगद-द्वारा सुना है कि अयोध्या के दो वीर राजपुत्र सुग्रीव के मित्र हो गये हैं। उन्हीं के बल पर सुग्रीव गरज रहा है। वाली ने तारा से कहा "श्रीरामचन्द्र के विषय में सोचकर तुम्हें मेरे लिए विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रीराम धर्म और कर्तव्य को समझते हैं। वे अकारण मुझे मारने का पाप कैसे करेंगे।"[२] परन्तु श्रीराम ने वही पाप किया। सुग्रीव तथा वाली लड़ रहे थे और श्रीराम ने पेड़ की आड़ से छिपकर वाली के सीने में बाण मार दिया। वाली गिर पड़ा। उसने कहा कि मुझे किसने छिपकर मारा है वह सामने आये। श्रीराम सामने आये। वाली ने जब श्रीराम को देखा तो उसे बड़ा दुख हुआ। उसने श्रीराम को बहुत जोर से फटकारा। पूरा विवरण नहीं, केवल चार श्लोक लें। वाली ने कहा—"जब तक मैंने आपको नहीं देखा था तब तक मुझे यही विश्वास था कि आप मुझे धोखा देकर मारने नहीं आयेंगे॥२१॥ परन्तु अब समझ में आया कि आप विवेकहीन, धर्म का ढकोसला करने वाले, वास्तव में अधर्मी, पापपूर्ण विचार वाले तथा घास-फूस से ढके हुए कुएं के समान धोखेबाज हैं॥२२॥ आप मुनिवेष में उसी प्रकार पापाचारी हैं जैसे राख से ढकी हुई आग हो। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगों को

---

१. दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः।
निरीक्ष्यमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत्॥२५॥
सा दुःखभारावनता यशस्विनी यशोधरा नाथमपश्यती सती।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने महास्वनं दुःखपरायणा सती॥२६॥ *(वही, ७/४८)*

२. न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति॥ *(वाल्मीकीय रामायण ४/१६/५)*

धोखा देने के लिए धर्म का वेष धारण कर रखा है।।२३।। न तो मैंने आपके नगर में कोई उपद्रव किया है, न आपका किसी प्रकार से तिरस्कार किया, फिर आपने मुझ निरपराध को क्यों मारा? ।।२४।।"[1]

कहा जाता है कि वही श्रीराम पीछे श्रीकृष्ण हुए। श्रीकृष्ण महाराज का पूरा जीवन युद्धमय था। महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्ष बाद यादवों में घोर उन्माद छा गया। वे सब शराब पीकर उन्मादी हो जाते थे। द्वारकाधीश की तरफ से आज्ञा निकली कि आज से न कोई शराब बनाये और न पीये। यदि कोई शराब बनाये या पीयेगा तो वह अपने भाई-बंधुओं के सहित शूली पर चढ़ा दिया जायेगा—"जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः।"[2] परन्तु शराब बनाना-पीना बंद न हुआ। पूरा यादववंश शराबी बनकर आपस में कट मरा।[3] श्रीकृष्ण ने वासुदेव से कहा "मैंने आज यादवों का विनाश देखा और पहले कौरव-वंश का विनाश देख चुका हूं। अब उन यादव-वीरों के बिना मैं उनकी इस नगरी को देखने में भी असमर्थ हूं।"[4] इतने में स्त्रियों तथा बच्चों का घोर रुदन सुनकर श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि अभी कुछ ही दिनों में अर्जुन हस्तिनापुर से आकर तुम लोगों को वहीं ले जायेंगे। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वन में चले गये। वे वहां योग-समाधि लगाये हुए लेटे थे कि एक जरा नाम के व्याध ने उन्हें हिरन समझकर बाण मार दिया और उनके पैर के तलवे में घाव हो गया। जब व्याध निकट आया तो उसने देखा कि श्रीकृष्ण घायल पड़े हैं। उसने उनके दोनों पैर पकड़ लिये। श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया,[5] और अपना शरीर छोड़ दिया। कहा जाता है कि यह जरा नाम का व्याध पहले जन्म का वाली था और यहां उसने बदला लिया। अथवा जरा नाम का व्याध कोई भी रहा हो, श्रीराम को कृष्ण रूप में अंत में अपना कर्म-फल भोगना पड़ा। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में अनेक युद्ध किये। महाभारत युद्ध के तो वे स्वयं सूत्रधार होकर अठारह दिनों में भयंकर नरसंहार करवाये और उसके बाद स्त्रियों तथा बच्चों का करुण रुदन हुआ। तो

---

१. न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव।।२१।।
स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्।।२२।।
सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम्।।२३।।
विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम्।
न च त्वामवजानेऽहं कस्मात् तं हंस्यकिल्बिषम्।।२४।। *(वाल्मीकीय रामायण, ४/१७)*

२. महाभारत, मौसल पर्व, अध्याय १, श्लोक ३१।

३. वही, मौसल पर्व, अध्याय ३।

४. दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां राज्ञा च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम्।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य।। *(मौसल, ४/९)*

५. मौसल पर्व ४/२२-२४।

उनके इसी जीवन में पूरे यादव-वंश का आपस में कटकर विध्वंस हुआ और उनकी भी स्त्रियां तथा बच्चे करुण रुदनकर दुख में समय बिताये। कर्मों के फल अकाट्य होते हैं यह सर्वथा सच है।

"नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हों कपि को स्वरूपा।" विष्णु ने नारद का असली मुख छिपाकर वानर का बना दिया और उनको इच्छित युवती नहीं लेने दी, बल्कि उसे स्वयं ले ली। इसके फल में नारद के शाप से विष्णु श्रीराम नाम के मनुष्य हुए और उन्हें पत्नी-वियोगजनित पीड़ा भोगनी पड़ी तथा वानरों के साथ वन-वन भटकना पड़ा।

नारद का किसी युवती के मोह में फंसकर वानर-मुंह हो जाना, इसका उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व के तीसवें अध्याय में आया है और शायद यह इस विषय का पहला उल्लेख हो। नारद अपने भांजे पर्वत के साथ सृञ्जय राजा के यहां जाते हैं। उस राजा की युवती कन्या को देखकर नारद मोह जाते हैं। इसे देखकर उनका भांजा पर्वत नारद को शाप देते हैं कि आपका मुंह वानर-सा दिखेगा। फिर नारद पर्वत को शाप देते हैं कि तुम स्वर्ग में प्रवेश नहीं पाओगे। अंततः मामा-भांजे नारद-पर्वत आपस में सुलहकर दोनों परस्पर के शाप का निवारण कर देते हैं, और वह राजकन्या नारद की पत्नी बन जाती है। नारद उसके घर रहने लगते हैं। इस कथा में विष्णु का संबंध नहीं है। लगता है कि यहीं से यह कथा विकसित होकर महाभागवत पुराण, शिवपुराण आदि में गयी है और शिवपुराण से रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने लिया है।

महाभागवत पुराण (११/१०७-११२) में नारद के शाप से विष्णु का सूर्यवंश में जन्म लेने की बात आयी है।[1] विष्णु पुराण में यह कथा विकसित है "श्रीमती को प्राप्त करने के लिए नारद ने विष्णु के पास जाकर हरि रूप मांगा। विष्णु ने उसे हरि अर्थात वानर का मुख दिया और स्वयं श्रीमती के स्वयंवर में जाकर उसे प्राप्त किया। उस स्वयंवर में दो शिवगणों ने नारद का उपहास किया और नारद के शाप के कारण वे रावण और कुंभकर्ण बन गये। नारद ने विष्णु को यह शाप दिया—तुम मनुष्य बनकर वानरों के साथ विरह का दुख भोगो। (रुद्र संहिता, सृष्टि खंड, अध्याय ३-४)।"[2] लगता है यहीं से लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस के बालकांड में शीलनिधि राजा की पुत्री विश्वमोहिनी की कथा लिखी है जिसके प्रति नारद मोहित हुए थे। कबीर साहेब गोस्वामी जी के पहले हुए हैं। अतएव कबीर साहेब ने शिव पुराण से लेकर यहां उद्‌धृत किया होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि विष्णु भी अपने कर्मफल भोगने के लिए विवश हुए।

"शिशुपाल की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूठा।" महाभारत के सभापर्व के ४३ वें अध्याय में कथा आती है कि चेदि[3] नरेश दमघोष की पत्नी श्रुतश्रवा से एक बच्चा पैदा हुआ जिसके मस्तक में एक तीसरा नेत्र था तथा दो स्वाभाविक हाथों के अलावा दो अतिरिक्त हाथ थे। यही शिशुपाल था। राजा-रानी घबरा गये। आकाशवाणी हुई कि तुम

---

१. फादर कामिल बुल्के, राम कथा, अनुच्छेद ३७३।

२. वही, अनुच्छेद ३७३।

३. यमुना-नर्मदा नदियों के बीच का क्षेत्र चेदि राज्य में पड़ता था।

लोग घबराओ मत। यह बच्चा वीर तथा प्रतापी होगा। इसको मारने वाला अन्यत्र पैदा हो गया है, परन्तु यह अभी नहीं मरेगा। जिसकी गोद में जाने से इस बालक का तीसरा नेत्र लुप्त हो जायेगा तथा दोनों अतिरिक्त हाथ गिर जायेंगे, वही एक दिन इसको मारने वाला होगा। अब जो उसे देखने आता उसी की गोद में बालक रखा जाता। हजारों राजे-महाराजे की गोद में रखा गया, कुछ न हुआ। श्रीकृष्ण तथा बलराम ने द्वारका[1] में यह समाचार सुनकर कि मेरी बुआ श्रुतश्रवा को बच्चा पैदा हुआ है, उसे देखने चेदिदेश आये। बुआ ने शिशु को श्रीकृष्ण की गोद में डाला तो उसका अतिरिक्त नेत्र तुरन्त मस्तक में ही लुप्त हो गया तथा अतिरिक्त दोनों हाथ गिर गये। बुआ जी बहुत घबरायीं और श्रीकृष्ण से बच्चे द्वारा भविष्य में होने वाले अपराधों के प्रति क्षमा करने की याचना कीं। श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं इसके ऐसे सौ अपराध क्षमा कर दूंगा जिनको लेकर इसका वध किया जा सकता हो। यही शिशुपाल युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर श्रीकृष्ण की अग्रपूजा होती देखकर जल-भुन उठा था और श्रीकृष्ण को इसने गालियां दी थीं। जब वह सौ से अधिक गाली पर पहुंचा; तब कृष्ण ने चक्र से उसे मार दिया। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण की गोद में आने से शिशुपाल की अतिरिक्त भुजाएं उखड़ी थीं इसलिए श्रीकृष्ण ने जब जगन्नाथ अवतार ग्रहण किया तब उनके हाथों में पंजे नहीं रहे 'आपु भये हरि ठूठा।'

"पार्वती को बाँझ न कहिये" यहां साहेब प्रश्नवाचक स्वर में कहते हैं कि क्या पार्वती को वंध्या न कहा जाय! अवश्य कहा जायेगा। जीवन में कभी उनकी कोख खुली ही नहीं। पार्वती चाहती थीं कि मुझे पुत्र हो, परन्तु उन्हें कोई संतान नहीं हुई। एक बार शिव जी का वीर्य जमीन पर गिर पड़ा तो उससे स्वामि कार्तिकेय पैदा हो गये, और श्रीकृष्ण स्वयं आकर शिव-पार्वती के पास गणेश बन गये। गणेश को शनिश्चर ने देखा तो गणेश का सिर जलकर समाप्त हो गया, क्योंकि उनकी दृष्टि जहां भी पड़ती है, वह वस्तु जल जाती है। इतने में विष्णु ने आकर एक हाथी का सिर काटकर गणेश के धड़ पर लगा दिया। यह कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणपत खंड में लिखी है। महाभारत के वनपर्व के अनुसार गणेश पार्वती के शरीर के उबटन से पैदा हुए और स्वामिकार्तिकेय

---

१. एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ। *(सभापर्व, ४३/१४)*।
श्रीकृष्ण-द्वारा कंस वध होने के बाद ही जरासंध ने शिशुपाल, कालयवन तथा तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर कृष्ण एवं मथुरा पर सत्तरह बार चढ़ाई की थी। उसके बाद श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका बसाते हैं और द्वारका से ही कृष्ण बलराम सहित शिशुपाल का जन्म देखने आते हैं, यह सब कितना भ्रामक तथा अविश्वसनीय है, सहज समझा जा सकता है। जब द्वारका बसाने के बाद शिशुपाल का जन्म होता है तब उसके पहले उसने जरासंध के साथ सत्तरह बार मथुरा पर चढ़ाई कैसे की? चतुरंगिणी सेना का एक परिमाण या विभाग अक्षौहिणी कहलाता है जिसमें १,०९, ३५० पैदल, ६५,६१० घोड़े, २१,८७० रथ और २१,८७० हाथी होते हैं। सत्तरहों बार की हर चढ़ाई में तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना थी। यह भी अतिशयोक्ति ही है।

अग्नि-द्वारा स्वाहा के गर्भ से पैदा किये गये।[1] अन्य पुराणों में अन्य-अन्य ढंग से लिखा गया, परन्तु इन सब कथाओं से सिद्ध होता है कि स्वामिकार्तिकेय तथा गणेश पार्वती के पेट से पैदा हुए बच्चे नहीं हैं। अतएव पार्वती जीवनपर्यन्त वंध्या ही रहीं।

"ईश्वर न कहिये भिखारी" यहां भी साहेब ने प्रश्नवाचक स्वर में कहा है कि क्या ईश्वर को अर्थात महादेव को भिक्षु न कहा जाय? पुराणों में प्रसिद्ध है कि शिव जी भीख मांगकर खाते थे। कबीर साहेब के पीछे के कवियों ने भी यह बात लिखी है। गोस्वामी जी ने शिव को लिखा "भीख मांगि भव खाहिं"[2] अर्थात महादेव संसार में भीख मांगकर खाते हैं। वामन-विष्णु भी बलि से भीख मांगते हैं। कर्म की गति पर तो यह किसी पंडित की पुरानी उक्ति है "जो होनी है, वह अवश्य होकर ही रहती है। देखो नीलकंठ शिव नंगे रहते हैं और विष्णु सांप पर सोते हैं।"[3] न महादेव को कपड़ा जुरता है और न विष्णु को पलंग-गद्दा।

"कहहिं कबीर कर्ता की बातें, कर्म की बात निनारी।" साहेब कहते हैं कि कर्ता और कर्म की बातें बड़ी विलक्षण होती हैं। यह मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु उनके फल भोगने में वह उन्हीं कर्मों के अधीन है। इस शाश्वत नियम में संसार के सारे जीव बंधे हैं, उन्हें चाहे देवी-देवता कहा जाय, चाहे भगवान-भगवती तथा चाहे ईश्वर-ईश्वरी। इसमें किसी के लिए क्षमा की गुंजाइश है ही नहीं।

वैज्ञानिक तर्क के आधार पर देखा जाय तो यह कोई नहीं जानता कि विष्णु ही राम हुए हैं तथा राम ही कृष्ण हुए हैं। इसी प्रकार गणेश, स्वामिकार्तिकेय आदि की उत्पत्ति की बात भी काल्पनिक ढंग से है। सद्गुरु कबीर ने उक्त सारे उदाहरण इसलिए पेश किये हैं कि उन्हें जिनको कर्म-फल-भोग समझाना था, वे इन सब कथाओं के प्रति मान्यता रखते हैं। अतएव सद्गुरु कबीर ने उन्हीं के मान्यतानुसार उन्हें यह समझाने का प्रयत्न किया है कि देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी कहलाने वाले भी अपने कर्म-फल-भोगों को भोगे बिना छुट्टी नहीं पाये हैं, तो इतर जीव उनके नाम जपकर तथा उनकी आराधना कर कर्म-फलों से कैसे बच सकते हैं? अतएव हमें इस भूलभूलैया को छोड़ देना चाहिए कि किसी की कृपा से हमारे कर्म-बंधन मिट जायेंगे। हमें कर्म-बंधनों से छूटने के लिए सदाचार, नैतिकता, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि का सहारा लेना चाहिए। एक वाक्य में कहें तो कर्मों की पवित्रता ही हर जीव के सुख का सुरक्षित पथ है।

ज्ञान-वैराग्य-द्वारा समस्त कर्मों का नाश होता है। २०५ वीं साखी में सद्गुरु ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है "तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगे न सूर। तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर।" जैसे सूर्य उगते ही तारों के प्रकाश

---

१. इस कथा को विवरणपूर्वक समझने के लिए बीजक शिक्षा में "आपन कर्म न मेटो जाई" शब्द की व्याख्या देखें।

२. रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ७९।

३. अवश्यं भाविनोभावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकंठस्य महा अहि शयनं हरे॥

तिरोहित हो जाते हैं, वैसे पूर्ण ज्ञानोदय होने पर सारे कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

दैवासुर संपदा

शब्द—१११

है कोई गुरु ज्ञानी, जगत उलटि बेद बूझै॥ १ ॥
पानी में पावक बरै, अन्धहि आँखि न सूझै॥ २ ॥
गाई तो नाहर खायो, हरिन खायो चीता॥ ३ ॥
काग लंगर फाँदि के, बटेर बाज जीता॥ ४ ॥
मूस तो मंजारि खायो, स्यार खायो श्वाना॥ ५ ॥
आदि को उदेश जाने, तासु बेस बाना॥ ६ ॥
एकहि दादुर खायो, पाँचहिं भुवंगा॥ ७ ॥
कहहिं कबीर पुकारि के, हैं दोऊ एकै संगा॥ ८ ॥

शब्दार्थ—गुरु ज्ञानी = श्रेष्ठ ज्ञानी। उलटि = घूमकर। बेद = वेद, ज्ञान, निजात्मतत्त्व। गाई = गाय। नाहर = सिंह। काग = कौआ। लंगर = एक तेज हिंसक जानवर। फाँदि के = कूद कर। बटेर = एक साधारण पक्षी। बाज = प्रसिद्ध शिकारी पक्षी। मंजारि = बिल्ली। आदि = मूल। उदेश = उद्देश्य, लक्ष्य, इष्ट, प्रयोजन। बेस बाना = धार्मिक पोशाक, भक्ति-साधुत्व के चिन्ह। दादुर = मेढक। भुवंगा = सांप।

भावार्थ—है कोई श्रेष्ठ ज्ञानी, जो संसार से लौटकर ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप को समझे!॥१॥ पानी में आग जल रही है, परन्तु आंखें फूटी होने से वह नहीं दिखाई देती। अर्थात स्वभावतः शीतल आत्मा में कामादि की आग जल रही है, परन्तु इसे विवेकहीन नहीं समझता॥२॥ यहां तो सब कुछ उलटा हो गया है, गाय ने सिंह को खा लिया है, हिरन ने चीते को खा लिया है, कौए ने कूदकर लंगर को धर दबोचा है, बटेर ने बाज पक्षी पर विजय पायी है, चूहे ने तो बिल्ली को खा लिया और गीदड़ ने कुत्ते को खा डाला है॥३-५॥ उसी के धार्मिक वेष-बाना शोभा देते हैं जो अपने मूल उद्देश्य को समझता है तथा उस दिशा में प्रयत्नरत है॥६॥ एक मेढक ने पांच सांप खा लिये॥७॥ कबीर साहेब लोगों को हांक देकर और बुलाकर कहते हैं कि ये दोनों पक्ष एक साथ रहते हैं॥८॥

व्याख्या—मानो कोई भीड़ हो। कबीर साहेब वहां पहुंच गये हों और उन्होंने अचानक भीड़ से पूछ लिया हो—इसमें है कोई श्रेष्ठ ज्ञानी, जो जगत से उलटकर, सांसारिकता से लौटकर वेद को समझता हो? ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप का विवेक करता हो? वस्तुतः श्रेष्ठ ज्ञानी वही है जो जगत से लौटकर वेद को समझता हो। सद्गुरु कबीर वेद का आदर करते हैं। वेद कहते हैं ज्ञान को। जीव का स्वरूप ही ज्ञान है। संसार में दो ही तत्त्व हैं एक जगत तथा दूसरा वेद। जगत जड़ है और वेद चेतन है। जब तक

जगत से नहीं लौटा जायेगा तब तक वेद नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति जगत में डूबा है वह वेद को नहीं समझ सकता। संसारी बुद्धि वाले जिस राग-रंग में आनंद मानते हैं, उससे विमुख होकर ही वेद को, ज्ञान को, निजस्वरूप को समझा जा सकता है। आप समुद्र पर चले जाइये। उसके तट पर खड़े हो जाइये। थल की तरफ पीठ देकर जल की तरफ मुख कीजिए, आपको केवल जल दिखाई देगा। परन्तु जब आप जल की तरफ पीठ करके थल की तरफ देखेंगे तो केवल थल दिखाई देगा। हमारी यही दशा है। यदि हम सांसारिकता की तरफ देखते हैं तो वेद ओझल हो जाता है। सांसारिकता में मन रखने वाला अपनी चेतना में नहीं लौट सकता। जिसका मन अपनी चेतना में लीन है वह सांसारिकता से निश्चित ही विमुख होगा। एक काल में एक साथ दोनों नहीं होंगे। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वही श्रेष्ठ ज्ञानी है जिसने सांसारिकता से, दुनिया के राग-रंग से पीठ दे दी हो और अपने वेदस्वरूप में चेतनस्वरूप में निरन्तर लीन हो।

"पानी में पावक बरै, अन्धहि आँखि न सूझै।" पानी में आग जल रही है, परन्तु फूटी आंखों से यह दिख नहीं पड़ती। मनुष्य की अपनी चेतना, अपनी आत्मा स्वरूपतः शीतल, शांत एवं निर्द्वंद्व है, परन्तु उसमें काम की आग जल रही है, क्रोध की, लोभ की, मोह की, चिंता की, शोक की और राग-द्वेष की आग जल रही है। यह कितना दुखद है कि जो स्वभाव से ही शीतल है वह अपने स्वरूप के अज्ञान तथा तुच्छ विषयों के प्रलोभन में पड़कर मानसिक आग में जल रहा है। जीव संसार में आकर एक-एक गलत आदत का मैल अपने जीवन में लगाता जाता है और उसकी आग में जलता जाता है। तुम ध्यान दो, यदि तुमने बीड़ी पीने की आदत न बनायी होती तो उसको लेकर तुम्हें परेशानी क्यों होती? यदि तुम काम-कीचड़ में न पड़े होते तो इच्छा का उद्वेग तथा सांसारिकता का बोझ तुम्हारे सिर पर क्यों पड़ता? यदि तुम अमुक से वैर-विरोध न करते तो तुम्हें द्वेष की आग में क्यों जलना पड़ता? हम तो अपने अविवेक से न हुए दुखों को बनाते हैं। जो दुख हमारे जीवन में नहीं हैं उन्हें हम अपने अज्ञान से पैदा करते हैं। संसार के सारे दुख हमारे पैदा किये हुए हैं। जीव का मौलिक स्वरूप तो निर्मल है, शीतल है, परंतु उसे अपने दिव्य स्वरूप का ज्ञान नहीं है। इसलिए वह साधारण बुद्धि अपनाकर एवं सांसारिकता में लिपटकर अपने जीवन में दुख बनाता है। स्वभावतः शीतल जीव दुखों की आग में जल रहा है, फिर भी हमारी आंखें फूटी हैं और हम देख नहीं पा रहे हैं कि यह हमारे जीवन में क्या हो रहा है! हमें अपनी स्वभावगत शीतलता, स्वच्छता, असंगता एवं निर्लेपता का ज्ञान होना चाहिए और संसार के कूड़े-कचड़े से हटना चाहिए जो हमारे जीवन में न हुए दुख उत्पन्न करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि अरे अंधे! पानी में आग जल रही है। लोग भले कहें कि यह कबीर की उलटवांसी है, क्योंकि पानी में आग जल ही नहीं सकती। साहेब कहते हैं कि जल तो रही है; परन्तु जब तुम्हारी आंखें ही फूटी हैं, तब तुम इसे देख भी कैसे सकते हो! तुम इसे देख लेते तो आज तक दुखों की आग में जलते ही क्यों! तुम्हारे मूल स्वरूप में तो दुख की गंध भी नहीं है, परन्तु दुनियाभर का लीबड़ लगाकर तुम रात-दिन दुखों में कितना जल रहे हो इसका तुम्हें होश-हवास ही नहीं है।

शीतल पानी में आग जल रही है। जो जीव स्वभावतः शीतल है वह अपने अज्ञान से संसार की तनिक-तनिक-सी बातों को लेकर तथा तुच्छ चीजों में उलझकर क्षण-क्षण पीड़ित हो रहा है। इस विपरीतता को लेकर यहां कबीर साहेब उलटवांसी भरे कई उदाहरण पेश करते हैं। वे कहते हैं कि यह तो मानो ऐसा हुआ कि गाय ने सिंह को खा लिया हो, हिरन ने चीते को, काग ने लंगर को, बटेर ने बाज को, चूहे ने बिल्ली को, गीदड़ ने कुत्ते को तथा एक मेढक ने पांच सांपों को खा लिया हो। इन सारे उदाहरणों में एक ही बात है कि कमजोर पक्ष ने बलवान पक्ष को खा लिया है। गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़, तथा मेढक कमजोर पक्ष के हैं तथा इनके विपक्ष में रहे हुए सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप बलवान पक्ष के हैं। संसार में सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप क्रमशः गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़ तथा मेढक को मारते हैं, परन्तु यहां उलटा हुआ है। यहां गाय आदि के कमजोर पक्ष ने ही सिंह आदि के बलवान पक्ष को धर दबोचा है।

इसका अभिप्राय यह है कि हमारे हृदय में दुर्गुण तथा सद्गुण दोनों के दल रहते हैं। स्वभाव से दुर्गुण दुर्बल पक्ष है और सद्गुण सबल पक्ष। किन्तु दुर्बल पक्ष ने ही सबल पक्ष को धर दबोचा है। दुर्गुण दुर्बल तथा सद्गुण सबल कैसे हैं? यह साफ जाहिर है। काम और विचार को लें। काम अंधकाररूप है और विचार प्रकाशरूप। काम की दशा में आदमी कुछ क्षण रह सकता है, जीवनभर नहीं। वह जितने क्षण काम में रहता है उतना क्षण भी कितना उत्तेजनापूर्ण, भावुकतापूर्ण, मलिन, घृणित एवं अस्त-व्यस्त होता है यह सर्वविदित है। इसके विपरीत विचार है। विचार में पूरा जीवन रहा जा सकता है। हम विचार की अवस्था में निष्काम, संतुष्ट, स्थिरमति एवं निर्द्वंद्व होते हैं। जब तक विचार रहता है, काम आ ही नहीं सकता। विचार इतना सबल है कि उसके सामने काम टिक नहीं सकता। परन्तु विचार न रहने पर काम ही बलवान हो जाता है। अतः लगता है कि मानो काम ने ही विचार को नष्ट कर दिया है। जब घोर अंधकार रहता है तब लगता है कि इस अन्धकार ने ही प्रकाश का नाश कर दिया है, जबकि प्रकाश का अभाव मात्र अंधकार है। प्रकाश सकारात्मक है और अंधकार नकारात्मक। प्रकाश हो तो अन्धकार रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो अन्धकार इसलिए रहता है क्योंकि प्रकाश उपस्थित नहीं है। जहां प्रकाश आया कि अन्धकार गायब हुआ। इसी प्रकार काम-वासना इसलिए है कि विचार मन में उपस्थित नहीं है। जहां विचार आया कि काम समाप्त हुआ। इसी प्रकार क्रोध, तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि इसलिए हैं कि क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में नहीं हैं। जहां क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में विद्यमान हुए कि क्रोध, तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि गायब हुए। ये कामादि दुर्गुण जो विचारादि के अभाव मात्र से अपनी सत्ता रखने वाले मूलतः दुर्बल हैं, लगते हैं कि सबल हैं। लगता है कि कामादि ने विचारादि को नष्ट कर दिया है, परन्तु बात ऐसी है नहीं। वस्तुतः हम विचार, क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में नहीं जगाते, तो काम, क्रोध, तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि जगकर मन में छा जाते हैं।

वस्तुतः कामादि दुर्गुण पक्ष तथा विचारादि सद्गुण पक्ष—दोनों एक साथ मनुष्य के हृदय में रहते हैं। इस शब्द की अंतिम पंक्ति में सद्गुरु ने यही कहा है "कहहिं पुकारि के, है दोऊ एकै संगा।" मनुष्य की स्वतन्त्रता है, वह चाहे तो कामादि विकारों का स्मरण कर उन्हें ही मन में बढ़ाये, अथवा विचारादि को बढ़ाये। ये दैवासुर संपदाएं मनुष्य के मन में रहती हैं। मनुष्य चाहे दैवी-संपदा बढ़ा ले और चाहे आसुरी-संपदा बढ़ा ले। दोनों के फल प्रत्यक्ष हैं। आसुरी संपदा का फल नरक है और दैवी-संपदा का फल कल्याण है।

इस शब्द में आये हुए गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़ तथा मेढक के और इसके विरोधी सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप के कुछ विशेष अर्थ किये जायं या नहीं, कुछ अन्तर नहीं पड़ता। सहज अर्थ यही है कि गाय आदि दुर्बल पक्ष कामादि आसुरी-संपदा के हैं तथा सिंह आदि सबल पक्ष दैवी-संपदा के हैं। मनुष्य की बुद्धि विपरीत होने से दुर्बल आसुरी-संपदा ने ही सबल दैवी-संपदा को ढक-जैसा लिया है। परन्तु जो यह समझ जाता है कि आसुरी-संपदा अंधकार मात्र है जो दैवी-संपदारूपी प्रकाश के सामने नहीं टिक सकती, वह शीघ्र ही दुर्गुणों से मुक्त होकर सद्गुणों में विराजता है।

यदि गाय तथा सिंहादि के विशेष अर्थ किये जायं तो इस प्रकार किये जा सकते हैं—

गाय—अविद्या	सिंह—ज्ञान
हिरन—चंचलता	चीता—शांति
काग—वासना	लंगर—विवेक
बटेर—उत्साहहीनता	बाज—उत्साह
मूस—भय	बिल्ली—निर्भयता
गीदड़—अविवेक	श्वान—विवेक
मेढक—विषयासक्ति	सर्प—पांच ज्ञानेन्द्रियां

इन गाय, सिंह आदि के अर्थ दूसरे मनोभावों में भी किये जा सकते हैं, परन्तु इतना साफ है कि गाय आदि दुर्बल पक्ष के प्राणियों के रूपक आसुरी-संपदा के लिए हैं तथा सिंह आदि सबल पक्ष के प्राणियों के रूपक दैवी-संपदा के लिए हैं। सातवीं पंक्ति में है कि एक मेढक ने पांच सांपों को खा लिया। ज्ञानेन्द्रियां मानो सांप हैं। ये विवेकयुक्त रहें तो विषयासक्ति के ध्वंस में सहायक बन सकती हैं, परन्तु ऐसा न होने से विषयासक्ति ही पांचों ज्ञानेन्द्रिय को पतित कर देती है।

इस शब्द'की छठीं पंक्ति में सद्गुरु ने एक विशेष महत्व की बात कही है "आदि को उदेश जाने, तासु बेस बाना।" जो आदि का उद्देश्य जानता है उसके वेष-बाना सफल हैं। 'आदि' शब्द के मुख्य दो अर्थ हैं। किसी कालखंड के आरम्भ को आदि कहते हैं तथा मूल को आदि कहते हैं। यहां कालखंड का आरम्भ अर्थ नहीं है, किन्तु 'मूल' अर्थ है। "आदि को उदेश" है मूल उद्देश्य। मनुष्य का मूल उद्देश्य है दुखों से अत्यन्त निवृत्ति। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ है कि जो साधक दुखों से अत्यन्त निवृत्तिरूप अपने जीवन के

मूल उद्देश्य को समझता और उस दिशा में चलता है, उसी के धार्मिक वेष-बाना सफल हैं।

हर प्राणी दुखों से छूटना चाहता है। मानव-प्राणी विवेक-साधनसंपन्न होने से दुखों से छूटने में समर्थ है। दुख उत्पन्न होते हैं अपने स्वरूप के अज्ञान तथा दोषों से। जब मनुष्य को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और अपने मन, वाणी तथा शरीर के दोषों को छोड़ने लगता है, तब वह क्रमशः दुखों से मुक्त होने लगता है। दुखों से पूर्ण निवृत्ति तब होती है जब दोषों की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। जो साधक अपने मन में यह सदैव ध्यान रखता है कि मुझे पूर्ण दुखरहित होना है। वह अपने जीवन के एक-एक दोष को निकाल-निकालकर फेंकता है। अपने मूल उद्देश्य—दुखनिवृत्ति को समझने वाला कभी दूसरों के दोषों को देखने की चेष्टा नहीं करता। वह तो सदैव यह ध्यान रखता है कि मेरे दोष दूर हों। मेरे बनाये दोषों को छोड़कर मुझे अन्य कोई दुख दे ही नहीं सकता। अतएव जो अपने मूल उद्देश्य को सदैव अपने मन के सामने रखता है, वह इधर-उधर न उलझकर अपने भीतर बने दोषों को निकालता है तथा नये दोषों से सावधान रहता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के ही वेष-बाना एवं धार्मिक चिन्ह धारण करना सफल है। अन्यथा वेष का स्वांग कोई भी बना सकता है जिससे कोई लाभ नहीं।

इस प्रकार इस शब्द में सद्गुरु ने सांसारिकता एवं विषयासक्ति से लौटकर वेद को, ज्ञान को एवं निजस्वरूप को समझने की प्रेरणा दी है और बताया है कि तुम स्वभाव से ही शीतल एवं कल्याणमय हो, केवल भूल से तुम्हारे मन में दोषों और दुखों की आग जल रही है। दुर्बल दुर्गुण पक्ष ने सबल सद्गुण पक्ष को दबा-जैसा दिया है। परन्तु यदि तुम अपने मूल उद्देश्य को समझो तथा अपने आप में जग जाओ तो कृतार्थ हो जाओगे। सार यह है कि तुम्हें जगत से लौटकर निजतत्त्व को समझना चाहिए।

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है

शब्द—११२

झगड़ा एक बढ़ो राजाराम, जो निरुवारे सो निर्बान॥ १ ॥
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया, बेद बड़ा कि जिन्ह उपजाया॥ २ ॥
ई मन बड़ा कि जेहि मन माना, राम बड़ा कि रामहि जाना॥ ३ ॥
भ्रमि-भ्रमि कबिरा फिरे उदास, तीर्थ बड़ा कि तीर्थ का दास॥ ४ ॥

शब्दार्थ—झगरा = झगड़ा, विवाद। राजाराम = श्रेष्ठ चेतन। निरुवारे = निरवारना, तय करना, न्याय करना, फैसला करना। निर्बान = निर्वाण, सुख, शांति, मुक्ति। आया = पैदा हुआ, कल्पित हुआ। उपजाया = पैदा किया, रचना की।

भावार्थ—हे श्रेष्ठ चेतन! एक बहुत बड़ा विवाद है, जो इसका फैसला कर देता है, वह सारे बंधनों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥१॥ ब्रह्म बड़ा है कि जिसकी कल्पना से ब्रह्म का रूप खड़ा हुआ वह मनुष्य बड़ा है? वेद बड़े हैं कि वेदों के रचयिता बड़े हैं? ॥२॥ यह मन बड़ा है कि मन को मानने वाला जीव बड़ा है? ईश्वर बड़ा है कि

ईश्वर की अवधारणा करने वाला मनुष्य बड़ा है? ॥३॥ संसार के लोग मोक्ष के लिए तीर्थ में मारे-मारे घूमते हैं, परन्तु तीर्थ बड़े हैं कि तीर्थों की स्थापना कर उनका सेवन करने वाले भक्त लोग बड़े हैं? इन विवादों का समाधान करो और कृतार्थ हो जाओ ॥४॥

व्याख्या— कबीर साहेब धर्म और अध्यात्म क्षेत्र के वैज्ञानिक पुरुष हैं। धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलती हुई प्रकृति-विरुद्ध बातों के वे विरोधी हैं। तर्क, युक्ति और विवेकसंगत बातें, जो मानवमात्र के लिए कल्याणकर हैं, उनकी जिसे पिपासा हो वह कबीर साहेब की वाणियों को पढ़े। उसे उनमें सही दिशा मिलेगी। अतएव विचारप्रधान व्यक्ति तथा विवेकी के लिए कबीर साहेब की वाणियां बहुत बड़ा सहारा है।

यहां सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे राजाराम! हे चेतन सरकार! हे ज्ञान-सम्राट मानव! एक बहुत बड़ा विवाद खड़ा है कि ब्रह्म, ईश्वर, वेद तथा तीर्थ श्रेष्ठ हैं कि इनकी जहां से उपज हुई वह श्रेष्ठ है? संसार में अधिकतम लोग तो ऐसे ही हैं जो यही मानते हैं कि ब्रह्म, ईश्वर, वेद तथा तीर्थ श्रेष्ठ हैं। परन्तु कुछ विवेकी होते हैं, उन्हें इस मान्यता पर संतोष नहीं होता। वे कहते हैं कि इन सबका अवधारण जहां से होता है वह श्रेष्ठ है। कबीर देव कहते हैं कि जो इस विवाद को सुलझाकर विवेकसम्मत पथ पकड़ता है वही कल्याण का अधिकारी है। "झगड़ा एक बढ़ो राजाराम" यहां राजाराम मनुष्य की आत्मा के लिए सम्बोधन समझना चाहिए। क्योंकि रामराजा यही है। जो व्यक्ति अपने मन के विवाद एवं संदेह को मिटा देगा वह निर्वाण का अधिकारी हो जायेगा। निर्वाण का अर्थ है बुझा हुआ। यहां अर्थ है वासनाओं का बुझ जाना। सीधा अर्थ हुआ जीव का कृतार्थ एवं मुक्त हो जाना।

"ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया" ब्रह्म का अर्थ श्रेष्ठ है। वह मनुष्य की आत्मा ही है। परन्तु लोगों ने ब्रह्म की कल्पना भिन्न ढंग से की है। उनकी कल्पना है कि सत्ता केवल एक ही तत्त्व की है, उसे जड़ कहो या चेतन। वे मानते हैं कि एक ब्रह्म के अलावा न दूसरा चेतन है न जड़ तत्त्व। यह जगत तो है ही नहीं। यह तो भ्रम से ही भासता है। अद्वैत ब्रह्मवाद पर सुन्दरदास जी की कविता में बड़ा रोचक प्रश्नोत्तर है। इसे ध्यान देकर पढ़ें—

शिष्य पूछता है—गुरुदेव!

गुरु कहते हैं—शिष्य! क्या पूछना है?

शिष्य—मुझे एक शंका है।

गुरु—अभी क्यों नहीं पूछ लेता है।

शिष्य—आप कहते हैं कि एक ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है?

गुरु—मैं अब भी एक ही ब्रह्म कहता हूं।

शिष्य—यदि एक ही है तो अनेक क्यों भासते हैं?

गुरु—यह अनेक का सबको भ्रम है।

शिष्य—जब ब्रह्म के अलावा कोई है ही नहीं, तो यह भ्रम किसको है?

गुरु—भ्रम को ही भ्रम हो गया है।

शिष्य—भ्रम ही को भ्रम कैसे हो गया?

गुरु—इसे जानने की तूने कभी चेष्टा ही नहीं की।

शिष्य—हे स्वामी! मैं इसे कैसे जानूं कि भ्रम को ही भ्रम हुआ है?

गुरु—निश्चय कर लो कि भ्रम को ही भ्रम हुआ है।

शिष्य—हे प्रभु! मैंने इसे निश्चय कर लिया।

गुरु—बस, तब एक ब्रह्म सिद्ध हो गया।[१]

यह है अद्वैत ब्रह्मवाद को जबर्दस्ती सिद्ध करने का प्रयास। भ्रम को ही भ्रम हो गया, यह कोई विवेक की बात हुई? परन्तु इस जबर्दस्ती को छोड़कर अद्वैतवाद सिद्ध करने का कोई साधन भी नहीं है। शिष्यों को श्रद्धा के बल पर मनवाने का प्रयास किया जाता है।

यदि ब्रह्म में ही भ्रम होना कहें तो अपने आपको देखकर अपने आप ही भ्रमित होना अयुक्त है। ब्रह्म के अलावा कोई दूसरा था नहीं जिसे देखकर उसे भ्रम हो। यद्यपि इस असंगति को बैठाने के लिए अद्वैतवादी वाणी का एक बृहत् रूप खड़ा करते हैं, तथापि अद्वैतवाद में सब बातें द्वैत की होती हैं जो उनके सिद्धांत से ही अज्ञानजन्य हैं। अद्वैत प्रतिपादन करना ही अज्ञान है, क्योंकि प्रतिपादक, प्रतिपादन तथा प्रतिपाद्य—त्रिपुटी हो जाती है। अद्वैत रह नहीं जाता। कबीर साहेब कहते हैं कि यह ब्रह्म की कल्पना बड़ी नहीं है, किंतु कल्पना करने वाला जीव बड़ा है। "ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया" ब्रह्म बड़ा है कि जहां से ब्रह्म की कल्पना खड़ी हुई? वस्तुतः ब्रह्म की कल्पना खड़ी हुई जीव से, इसलिए जीव श्रेष्ठ है, ब्रह्म नहीं। यह मनुष्य की आत्मा ही सर्वोपरि है।

"बेद बड़ा कि जिन्ह उपजाया" वेद बड़े हैं कि वेदों की रचना जिसने की वे मनुष्य बड़े हैं? यह सहज ही समझा जा सकता है कि मनुष्य बड़े हैं। यदि मनुष्य न होते तो वेदों की रचना कौन करता? वेद ही क्या, बाइबिल, कुरान तथा संसार के समस्त धर्मशास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान मनुष्य की देन हैं। धर्मावलंबी लोग धर्मशास्त्रों की इतनी दोहाई देने लगते हैं कि उनके ख्याल से मनुष्य से श्रेष्ठ धर्मशास्त्र ही हो जाते हैं। अधिकतम धार्मिकों को यह सनक सवार है कि हमारे धर्मशास्त्र आकाश से आये हैं। उन्हें कोई अतिमानवीय शक्ति ने भेजा है। वे मूर्तिपूजा की जगह पर धर्मशास्त्रों को ही बैठा

---

१. शिष्य पूछे गुरुदेव, गुरु कहे पूछे शिष्य,
मेरे एक शंका अहै, क्यों न पूछे अबहीं।
तुम कहो एक ब्रह्म, अजहूं मैं कहूं एक,
एक तो अनेक कैसे, यह भ्रम सबहीं।।
यह भ्रम काकूं भयो, भ्रम ही को भ्रम भयो,
भ्रम ही को भ्रम कैसे, तू न जाने कबहीं।
कैसे करि जानूं नाथ, गुरु कहैं निश्चय धरु,
निश्चय करि जान्यों प्रभु, एक ब्रह्म तबहीं।।

देते हैं। यह सब दुर्भाग्यपूर्ण है। वेद हो या कुरान, बाइबिल हो या अन्य धर्मशास्त्र सब मनुष्यों की रचनाएं हैं। मनुष्य से बड़ी कोई चेतनाशक्ति नहीं है जो ज्ञान-विज्ञान दे सके। मनुष्य को किसी वस्तु से तुच्छ कहना अनर्थ है। मनुष्य की आत्मा ही वेदों का वेद है।

"ई मन बड़ा कि जेहि मन माना" यह मन बड़ा है कि इस मन को मानने वाला? उत्तर है कि मन बड़ा नहीं है, किन्तु मन को मानने वाला बड़ा है। हम अपने मन में नाना मान्यताएं बना लेते हैं और उन्हें ही श्रेष्ठ मान लेते हैं, परन्तु श्रेष्ठ मन तथा मन की मान्यताएं नहीं हैं किन्तु जो मन-मान्यताओं को खड़ा करता है वह चेतन मनुष्य ही श्रेष्ठ है। यहां मनुष्य से अभिप्राय है मनुष्य शरीर में रहने वाला जीव, चेतन एवं आत्मा। केन उपनिषद् के ऋषि ने भी कहा है "जिसका मन से मनन नहीं होता, किन्तु जिससे मन मनन करता है उसे श्रेष्ठ समझ, न कि उसे, जिसे मन से मानकर उपासना करता है।"[१] साहेब कहते हैं कि मन-मान्यता तुम्हारा खेल है, तुम उससे श्रेष्ठ हो। अर्थात मन और मान्यताओं का जनक जीव है। वह उनसे श्रेष्ठ है।

"राम बड़ा कि रामहि जाना" ईश्वर बड़ा है कि ईश्वर की कल्पना करने वाला? यदि राम, ईश्वर, परमात्मा व्यक्ति की आत्मा से अलग है, तो वह क्या है? यदि वह चेतन है तो सजाति है और उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वस्तुतः मनुष्य अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने से अलग राम-रहीम़ की कल्पना करता है। साहेब कहते हैं कि यदि राम तुम्हारी आत्मा से अलग है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता, किन्तु उसके मानने, जानने तथा कल्पना करने वाले तुम्हीं श्रेष्ठ हो। कबीर साहेब ने मनुष्य की आत्मा को ही राम कहा है "हृदया बसै तेहि राम न जाना"[२] तथा "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।"[३] अर्थात राम ऐसा नाम अपना ही समझकर खोटी बाह्य कल्पनाएं छोड़ दो। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि ईश्वर की कल्पना करने वाला ईश्वर से श्रेष्ठ है। यदि मनुष्य की आत्मा न होती तो ईश्वर की कल्पना न होती। इसलिए मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर का ईश्वर तथा परमात्मा का परमात्मा है।

"भ्रमि-भ्रमि कबिरा फिरे उदास, तीर्थ बड़ा कि तीर्थ का दास।" संसार के मनुष्य तीर्थों में भटकते हैं। वे दुखी होकर वहां परमात्मा तथा मोक्ष खोजते हैं। तीर्थों की बड़ी महिमा बढ़ायी गयी। यहां तक लिखा गया कि अमुक तीर्थ में जाने से, अमुक नदी में नहाने से तथा अमुक देवता के दर्शन करने से सारे पाप कट जायेंगे, मोक्ष तथा परमात्मा मिलेंगे। साहेब कहते हैं कि यह सब तुम्हारे मन का धोखा है। यदि तुम न होते तो तीर्थ कौन बनाता! ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो ईसा के तीन-चार सौ वर्षों के बाद से अर्थात गुप्त काल से तीर्थों, देवमन्दिरों आदि की स्थापना का जोर बढ़ा है। वैदिक तथा

---

१. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। *(केन उपनिषद्, १/५)*

२. रमैनी ४१।

३. रमैनी ३६।

उपनिषद् काल में कहीं भी तीर्थों का पता नहीं चलता। साहेब कहते हैं कि तीर्थ श्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु तीर्थ की स्थापना करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं।

इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने यही दर्शाया है कि जो ब्रह्म तथा ईश्वर की कल्पना करता है, वेदादि समस्त धर्मशास्त्रों की रचना करता है, जो सारे ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण करता है, जो मन-मान्यताओं का जनक है तथा जो सारे तीर्थों की स्थापना करता है, वह मनुष्य ही सर्वोपरि सत्ता है। ज्ञान-विज्ञान का परम निधान मनुष्य है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी गरिमा एवं आत्मगौरव को समझने का प्रयास करे।

साथियों की चिन्ता न कर सत्य के उपासक बनो

शब्द–११३

झूठेहि जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना ॥ १ ॥
तेरे घट ही में ठग पूर है, मति खोवहु अपाना ॥ २ ॥
झूठे की मण्डान है, धरती असमाना ॥ ३ ॥
दशहूँ दिशा वाकी फन्द है, जीव घेरे आना ॥ ४ ॥
योग जप तप संयमा, तीरथ ब्रत दाना ॥ ५ ॥
नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना ॥ ६ ॥
काहू के बचनहिं फुरे, काहू करामाती ॥ ७ ॥
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दू तुरुक जाती ॥ ८ ॥
बात ब्योंते असमान की, मुद्दति नियरानी ॥ ९ ॥
बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी ॥१०॥
कहहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा ॥११॥
साँचे से भागा फिरै, झूठे का बन्दा ॥१२॥

शब्दार्थ—पतियाउ = विश्वास करना। सुजाना = सुजान, ज्ञानी। घट = हृदय। ठग = छली मन। पूर = विद्यमान। अपाना = अपनापन, आत्मज्ञान, आत्मगौरव, होशहवास। मण्डान = घेरा, शृंगार। वाकी = मन की। नौधा = नौधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासभाव, सखापन तथा आत्मनिवेदन। कितेब = किताब, कुरान आदि। बाना = वेष, पहनाव, पोशाक, मुलम्मा। बचनहिं फुरे = वाचासिद्धि, वर-शाप देने की शक्ति। करामाती = करामात दिखाने वाला, चमत्कार प्रदर्शित करने वाला। ब्योंते = नापते हैं। मुद्दति = काल, अवधि। खुदी = अहंकार, गर्व। बूड़े बिनु पानी = (मुहावरा) तुच्छ बातों को लेकर पतित होना। अन्धा = विवेकहीन। बन्दा = दास, गुलाम।

भावार्थ—हे ज्ञानी संतो! सुनो, झूठी बातों पर विश्वास नहीं करना ॥१॥ सावधान! तुम्हारे हृदय ही में मन ठग बैठा है, उसमें मिलकर आत्म गौरव तथा अपने होशहवास को नहीं खो देना ॥२॥ धरती से आकाश तक सारे संसार में झूठे का ही शृंगार है ॥३॥ दसों-

दिशाओं में मन-काल का जाल फैला है। उसने मानो आक्रमण की भांति आकर जीव को घेर लिया है।।४।। यहां तक कि मन ने योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दान, नौधाभक्ति, वेद, कुरान आदि पर भी झूठे का मुलम्मा चढ़ा रखा है।।५-६।। कोई तो वाचा-सिद्धि का ढोंग दिखाकर शाप और वर देने की धमकी तथा प्रलोभन दे रहा है और कोई छल-कपटपूर्वक आश्चर्य भरे लगने वाले करतब दिखाकर अपने आपको चमत्कारी सिद्ध कर रहा है।।७।। उधर हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लोग अपनी-अपनी मान-बड़ाई की डींगें हांक रहे हैं।।८।। ये बातें तो आकाश की करते हैं, परन्तु मलिनता भरे राग-द्वेष में जिन्दगी खो देते हैं।।९।। ये अपने मन में बड़प्पन का बहुत अहंकार रखते हैं और तुच्छ बातों में पड़कर अत्यन्त घिनौने काम करते हैं।।१०।। कबीर साहेब कहते हैं कि यह सब मैं किससे कहूं, सारा संसार तो विवेकहीन बना है। सच्ची राह बताने वालों से दूर भागते हैं और मिथ्या महिमा का मुलम्मा चढ़ाकर झूठी राह में ले जाने वालों की गुलामी करते हैं।।११-१२।।

व्याख्या—कबीर साहेब की एक-एक पंक्ति में आग भरी हुई है, जिसका यदि अपने जीवन में प्रयोग किया जाय तो जीवन का सारा कूड़ा-कचड़ा जल जाय। बारह पंक्तियों का यह शब्द कितना मार्मिक, कितना विदग्धात्मक तथा कितना हृदयस्पर्शी है, यह सोचते ही बनता है। सद्गुरु पहली पंक्ति में कहते हैं "झूठेहि जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना।" हे सुजान संतो! झूठी बातों पर विश्वास मत करना। धर्म के नाम पर झूठी बातें खूब चलती हैं। एक राजनेता, वकील तथा व्यापारी जितना झूठ नहीं बोलता उतना झूठ एक धर्माधिकारी बोलता है। दूसरे लोग तो लुक-छिपकर झूठ बोलते हैं और यदि पकड़ जायं तो कानूनन दंड भी पा सकते हैं, परन्तु धार्मिक कहलाने वाले लोग धर्म की गद्दी पर बैठकर हजार के बजार में घोषणापूर्वक झूठ बोलते हैं, और उनके एक-एक बड़े झूठ पर फूल उछालकर तथा जय बोलाकर उनका स्वागत किया जाता है। उनकी पूजा तथा आरती की जाती है। जो विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था तथा प्रकृति के गुण-धर्मों के भीतर नहीं है वह कथन मनुष्य के साथ एक छलावा है। साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! ऐसी झूठी बातों पर विश्वास नहीं करना, चाहे उसके पीछे कितना ही आप्तप्रमाण का दावा किया गया हो। विश्व के शाश्वत नियम अपने आप ही प्रमाण हैं। उनके विरुद्ध जो कुछ है अप्रमाण है।

"तेरे घट ही में ठग पूर है, मति खोवहु अपाना।" सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारे हृदय में मन-ठग बैठा है। देखना उसके छल-कपट में पड़कर तुम अपने होशहवास को खो नहीं देना। बाहर के लोग धोखा देकर, झूठ बोलकर तुम्हें छलते हैं। ऐसे धोखेबाज तथा झूठे धार्मिक क्षेत्र में भी हैं तथा व्यावहारिक क्षेत्र में भी। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि सबसे बड़ा झूठा और ठग तो तुम्हारे घट-भीतर बैठा है, वह है मन। मन तुम्हारे भीतर बैठा हर समय तुम्हें छल रहा है। वह गंदे शरीर को तुम्हारे सामने खूबी से रमणीय प्रदर्शित करता है, पतनकारी काम-वासना को आनंदरूप सिद्ध करता है। इसी प्रकार सारी मलिनताओं पर वह पवित्रता का स्वर्णिमवरक लगाकर तुम्हें छलता है। मन तुम्हें कब धोखा दे जाता है, इस पर ध्यान रखो। यह धोखेबाज मन ही तो है जो सारी अनुपस्थित अमंगलकारी चीजों

को उपस्थित के समान याद दिला-दिलाकर तुम्हें ठगता है। तुम वस्तुतः साठ वर्ष के हो और मन याद करा रहा है तुम बीस वर्ष के हो, तुम तथ्यतः झोपड़ी में हो और मन याद करा रहा है तुम महल में हो। इसी प्रकार अनेक झूठी बातों से मन तुम्हें क्षण-क्षण ठग रहा है। साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! हे सज्जनो! इस झूठे मन के जाल में मिलकर "मति खोवहु अपाना" अपनापन को, आपा को, अपने होशहवास को मत खोओ। मन के भटकाव में पड़कर अपने आपको मलिनता में डाल देना ही तो अपने आप को खोना है। मन का गलत स्मरण, वाणी का गलत उच्चारण तथा इन्द्रियों का गलत आचरण—यही अपने आपको खोना है, यही अपने आपका पतन है। सद्गुरु कहते हैं कि मन से सावधान रहना तथा अपने आप का पतन नहीं करना।

"झूठे की मण्डान है, धरती असमाना। दशहुँ दिशा वाकी फंद है, जीव घेरे आना।" धरती से आकाश तक जितना श्रृंगार है, झूठा है। मन के फंदे तो दसों दिशाओं में फैले हैं। उसने तो मानो तुम्हें हमलावर की तरह घेर लिया है। यह जीव अपने स्वरूप को क्षण-क्षण क्यों भूलता रहता है? क्योंकि यह संसार के श्रृंगार में, चमक-दमक में फंसता रहता है। साहेब कहते हैं कि संसार के सारे श्रृंगार झूठे हैं। मंडान कहते हैं घेरा को, श्रृंगार को एवं चमक-दमक को। धरती से आकाश तक जितने फैले हुए दृश्य मन को मोहित करते हैं वे झूठे हैं, क्योंकि वे क्षणिक हैं। जैसे युवती पत्नी, सुन्दर बच्चे, सुन्दर भवन, मित्र, गोष्ठी, शासन, स्वामित्व, प्रतिष्ठा, सजी फुलवारियों तथा मनोहर बनों का विहार, देश-विदेश के चमकते दृश्य, नदी, पर्वतों की मनोरमता, बादलों की श्यामता, वर्षा, शरद, वसंत एवं ग्रीष्म के आकर्षक दृश्य—सब कुछ तो क्षणभंगुर हैं। हम जिन दृश्यों में मोह कर अपनी स्थिति से दूर रहते तथा समय नष्ट करते हैं वे नित्य एकरस रहने वाले नहीं हैं और शरीर के साथ एक दिन तो सब छूटने वाले ही हैं। मन के जाल दसों दिशाओं में फैले हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, इन चारों के चारों कोने—आग्नेय, नैॠत, वायव्य तथा ईशान और ऊपर तथा नीचे—ये दस दिशाएं मानी गयी हैं। यहां दसों दिशाओं का लक्षणा अर्थ है सर्वत्र। मन के फंदे तो सर्वत्र फैले हैं। इसका अर्थ है कि इस भावुक तथा अविवेकी जीव के फंसने के लिए हर जगह मोहक फंदे हैं। विवेक से देखने पर संसार में कुछ भी मोहक नहीं है; परन्तु इस अविवेकी मन ने जैसी गलत आदतें एवं वासनाएं बना ली हैं उनके कारण यह पदे-पदे उलझता रहता है। जैसे हमलावर शत्रु पर धावा बोलकर उसे घेर लेते हैं, जैसे जल पर फैली हरी काई जल पर छा जाती है, वैसे मन की वासनाएं मनुष्य पर छा जाती हैं। मन ने जीव को चारों तरफ से घेरकर उसे विषयासक्त बना दिया है। वस्तुतः जीव अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर मन के जाल में उलझा हुआ दुख पा रहा है।

केवल व्यावहारिक क्षेत्र में मन का जाल फैला है ऐसी बात नहीं है, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी मन के जाल का वर्चस्व है। साहेब कहते हैं "योग जप तप संयमा, तीरथ ब्रत दाना। नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना।" योग, जप, तप, संयम, व्रत, दान, नौधा भक्ति, बेद, कुरान आदि सभी को मन ने झूठे का जामा पहना दिया है। मन धोखेबाज है तो धार्मिक क्षेत्र में भी यह अपना धोखा फैलाता है। वस्तुतः जीव विषयासक्त हो गया

है। इसलिए वह अपनी विषय-लोलुपता को पूर्ण करने के लिए धर्म के क्षेत्र को भी धूमिल करता है। योग मन का निग्रह है, जप सावधानी है, तप शारीरिक-मानसिक सहनशीलता है, संयम गलत खान-पान तथा बात-व्यवहार से बचना है, तीर्थ सत्संग है, व्रत सदाचार-पथ पर चलने की प्रतिज्ञा है, दान निष्काम भाव से एवं कर्त्तव्य दृष्टि से किसी प्रकार किसी की सेवा करना है, भक्ति हृदय की कोमलता है तथा वेद-किताबादि संसार के धर्मशास्त्र हैं जिनमें नीर-क्षीर विवेक कर सदैव क्षीर को एवं सत्य को ही ग्रहण करना चाहिए। इस ढंग से इन्हें ग्रहण करने से मनुष्य का कल्याण है। परन्तु योग, जपादि के नाम पर पाखंड फैल गये हैं। लोग इनका नाम लेकर आत्म-प्रवंचना तथा लोक-प्रवंचना करते हैं। लोग योग के नाम पर ऋद्धि-सिद्धि आदि के झूठे जाल फैलाते हैं; जप के बल पर अनिष्टहरण तथा इष्टसिद्धि का झांसा देते हैं; तप के नाम पर अग्नितापन, जलशयनादि हठधर्मिता का व्यवहार कर समाज को गलत दिशा देते हैं; संयम[१] के नाम पर अनेक कल्पित सिद्धियों का भ्रम फैलाते हैं; तीर्थ के नाम पर गया-प्रयागादि पाप काटने तथा मुक्ति देने के ठेकेदार हो ही गये हैं; व्रत के नाम पर अविवेकपूर्ण लंबे-लंबे उपवास होते हैं जिसके फल में स्वर्ग मिलने का झांसा दिया जाता है। दान में भी दिखावा, अहंकार तथा किसी-न-किसी प्रकार प्रतिलाभ की वासना हो गयी है; नौधा भक्ति के नाम पर लीला, रास, लल्ली-लल्ला का राग-रंग तथा आत्महीनता का प्रदर्शन हो गया है; और वेद-किताब के नाम पर विवेक छोड़कर तथाकथित प्रभुवाणी की दोहाई का प्रपंच फैल गया है। यही सब तो इन पर झूठे का बाना, झूठे का लबादा चढ़ गया है। जो कल्याणकारी पक्ष थे मनुष्यों की मन-मलिनता के नाते वे सब अकल्याणकारी बन गये। "ठांव गुण काजर ठांव गुण कारी" वही आंख में लगने पर काजल कहलाता है तथा गाल में लगने पर कालिख। विवेकपूर्वक जो भी हो वह मनुष्य का कल्याण करता है और वही अविवेकपूर्वक होने से अकल्याणकारी होता है। जो अन्न मनुष्य को जीवनदाता है, उसी का दुरुपयोग करने से वह मृत्युदाता भी होता है। मलिन मन सब कुछ का दुरुपयोग कर देता है। इसलिए हम मन से सावधान रहें।

"काहू के बचनहिं फुरे, काहू करामाती।" अजीब संसार है। कोई अपनी वाचासिद्धि का झांसा देकर समाज को बेवकूफ बना रहा है और कोई चमत्कारी बना लोगों को ऋद्धि-सिद्धि देता फिरता है। शाप और वर देने का झांसा पुराकाल में बहुत चलता था। पुराणों को पढ़िए तो उसमें शाप और वर से प्रायः कथाएं व्याप्त हैं। यह धार्मिक कहलाने वाले लोगों का समाज पर दबदबा कायम रखने का हथकंडा था। शाप का भय तथा वर का प्रलोभन देकर वे समाज को अपनी ओर झुकाये रखने की चाल चलते थे। ईश्वर और सिद्धि की कल्पना इस झांसे में सहायक बनती थी। कहा जाता था कि जो लोग ईश्वर और सिद्धि तक पहुंचे हैं वे जो चाहें सो कर दें। ब्राह्मण नामधारी तो स्वतः सिद्ध था।

---

१. किसी एक ध्येय में जब ध्यान, धारणा तथा समाधि हो जाती है तब इस एकाग्रता को संयम कहते हैं। सूर्य में संयम कर लेने पर समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है, प्रकाश में संयम कर लेने पर परदे के भीतर पड़ी देश-विदेश की वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार अनेक संयम से अणिमा, महिमा, लघिमा आदि कल्पित सिद्धियों की प्राप्ति का झूठा प्रचार किया जाता है। देखिये योग दर्शन ३/१४-४९।

उसका जीवन जैसा भी हो, उसके मुंह में अग्नि का वास माना जाता था। वह जो कह दे वही होगा। इसी से मिलते-जुलते करामात दिखाने वाले लोग होते थे। करामत का अर्थ है चमत्कार। करामत का करामात बहुवचन है। करामाती उसे कहते हैं जो करामात दिखाता है अर्थात चमत्कारी। कुछ भोले लोग चमत्कार को आध्यात्मिक शक्ति मानते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि सारे चमत्कार केवल छल-कपट के प्रयोग होते हैं। किसी के लिए भी प्रकृति के नियम बदलते नहीं हैं। साधारण-से-साधारण आदमी से लेकर बड़े-से-बड़े महात्मा एवं धार्मिक लोगों के लिए भी प्रकृति के नियम समान हैं। किसी के भी हाथ में चावल है तो वह चावल ही रहेगा और पत्थर है तो वह पत्थर ही रहेगा। यह अलग बात है कि हाथ की सफाई, बात की सफाई, दवाई, वस्तु की बनावट आदि षड्यंत्र अपनाकर छल-कपट से कोई चमत्कार-जैसा दिखा दे, परन्तु वह चमत्कार नहीं है। वाचा-सिद्धि का ढोंग करने वाले तथा चमत्कार का झांसा देने वाले धूर्त हैं और इसमें फंसने वाले मूर्ख हैं।

"मान बड़ाई ले रहे, हिन्दू तुरुक जाती।" हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियां अपनी-अपनी मान-बड़ाई की डींगें हांक रही हैं कि हम बड़ी हम बड़ी। यहां भला दो ढंग से कहां है? हिन्दू-मुसलमान आदि नाम रखकर उसके साथ एक गहरी मनोभावना बना लेते हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से अलग तथा अपने आप को श्रेष्ठ और दूसरे को तुच्छ मानने की भूल करने लगते हैं।

"बात ब्योंते असमान की, मुद्दति नियरानी। बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी।" वे बात तो आसमान की ब्योंतते हैं, परन्तु अपने जीवन को नहीं समझ पाते और इसी में जीवन का अंत आ जाता है। लोग अपने आप के प्रति बड़ा अहंकार रखते हैं और बिना पानी बूड़ते हैं। उक्त दोनों पंक्तियों में एक-एक मुहावरा है—'आसमान की बात ब्योंतना' तथा 'बिना पानी बूड़ना'। कपड़ा नापकर उसको काटना तथा सिलने के लिए तैयार करना 'कपड़ा ब्योंतना' कहा जाता है। इसमें 'ब्योंतना' का मुख्य अर्थ है 'नाप लेना'। आसमान की बात ब्योंतने का अर्थ है न होने योग्य काम करने की डींग हांकना। आकाश की कोई सीमा नहीं है। इसको कोई क्या नापेगा! इसी प्रकार कोई असंभव बात को कैसे संभव कर सकेगा! साहेब कहते हैं कि लोग बातें तो आसमान की करते हैं, परन्तु धरती पर जीना नहीं जानते। इसी असंतुलन में उनके जीवन की अवधि समाप्त हो जाती है। जो अपने मन में बहुत अहंकार रखता है वह बिना पानी के बूड़ता है। 'बूड़े बिनु पानी' यह मुहावरा उन पर व्यंग्य है जो तुच्छ बातों को लेकर घिनौना कर्म कर डालते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अहंकार तो बहुत बड़ा होता है, परन्तु तुच्छ बातों को लेकर ऐसे कर्म करते हैं जिन्हें देख-सुनकर उन्हें बच्चे भी हंसे। हर अहंकारी की दशा यही होती है। रामायण कथानक के अनुसार रावण-जैसा महाप्रतापवान, विद्वान एवं बलवान अहंकार के कारण एक पर-स्त्री के तुच्छ मोह में पड़कर कुल-परिवार एवं सेना सहित नष्ट हुआ।

"कहहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा। साँचे से भागा फिरै, झूठे का बन्दा।" सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची बातें कही भी किससे जायं, क्योंकि संसार में अधिकतम लोग तो आंखें मूंदकर रहने वाले हैं। उनकी परंपरा में जो मान्य है उसी की

पूंछ पकड़कर वे चलते हैं। उन्हें सत्य से कोई मतलब नहीं है। गलत-सही जो कुछ उन्होंने अपना मान रखा है वे उसी को छाती-पेटे लगाये रखना चाहते हैं। बल्कि वे सचाई से भागे फिरते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि प्रकाश के सामने पड़ते ही हमारा अंधकार समाप्त हो जायेगा। वे अंधकार में आंखें मूंदकर बहुत दिनों से जी आये हैं। अतः उन्हें अंधकार में रहना तथा आंखें बंदकर जीना पसंद है, इसलिए वे प्रकाश से दूर भागते हैं। वे सच्चाई से कतराते हैं और झुठाई की गुलामी करते हैं। जो लोग झूठी बातें करते हैं वे उनको श्रद्धा अर्पित करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किन्तु सत्य निर्णयी से दूर रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि सत्य-इच्छुक! तुम इसकी चिन्ता न करना कि तुम्हारे साथ कितने लोग हैं। तुम केवल सत्य को लेना और झूठे पर विश्वास कदापि नहीं करना। अपने मन के भीतर की असत्यता तथा बाहर की असत्यता कहीं की भी असत्यता को प्रश्रय नहीं देना। असत्य रखकर करोड़ों साथी मिल जायं तो वे निरर्थक हैं, क्योंकि अंत में कोई साथ नहीं देगा, परंतु केवल एक सत्य यदि साथ में हो तो असंख्य साथियों से वह बलवान है। इसलिए सद्गुरु कबीर ने संतों एवं सज्जनों को इस शब्द में बुलाकर कहा है कि हे संतो, हे सज्जनो! सुनो, झूठे के पक्ष में नहीं पड़ना ! भीतर मन तथा बाहर मन के वशीभूत लोग तुम्हें झूठी बातों में फंसाना चाहेंगे परन्तु तुम कहीं भी नहीं फंसना। सदैव केवल सत्य में रमना। सत्य सर्वोच्च है।

सारशब्द एवं निर्णय वचनों से ही कल्याण है

शब्द--११४

सार शब्द से बाँचिहो, मानहु इतबारा हो॥ १ ॥
आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन डारा हो॥ २ ॥
तिरदेवा शाखा भये, पत्र संसारा हो॥ ३ ॥
ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो॥ ४ ॥
विष्णु माया उत्पति कियो, ई उरले व्यौहारा हो॥ ५ ॥
तीन लोक दशहूँ दिशा, यम रोकिन द्वारा हो॥ ६ ॥
कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो॥ ७ ॥
ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन्ह अमल पसारा हो॥ ८ ॥
कर्म की बन्शी लाय के, पकरो जग सारा हो॥ ९ ॥
अमल मिटावो तासु का, पठवों भव पारा हो॥१०॥
कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो॥११॥

शब्दार्थ—सार शब्द = निर्णय वचन। बाँचिहो = बचोगे, सुरक्षित हो सकोगे, दुखों से छूटोगे, असंग हो सकोगे। इतबारा = विश्वास। आदि पुरुष = मूल पुरुष, चेतन। निरंजन = मन। तिरदेवा = रज, सत तथा तम एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। शाखा = डालियां।

सही कियो = प्रमाणित किया, संपादन किया। माया = भक्ति, उपासना। उरले = उरला, पिछला। यम = वासना। कीर = शुक पक्षी, तोता। विष = विषय। ज्योति स्वरूपी = मन, मन की कल्पित अवधारणा। हाकिमा = हाकिम, राजा, शासक। अमल = अधिकार, लत, आदत। बन्शी = बंसी, मछली फंसाने का कांटा, कंटिया। भव = मन का आयाम, जन्म-मरण। टकसारा = टकसाल, सिक्कों की ढलाई का स्थान, निर्दोष वस्तु, निजस्वरूप चेतन, आत्मा।

भावार्थ—यह विश्वास करो कि निर्णय वचनों के सहारे से ही तुम भवबंधनों एवं दुखों से मुक्त होकर अपनी असंग दशा में स्थित हो सकोगे।।१।। यह मूल पुरुष चेतन ही मानो एक वृक्ष है, मन उसकी डाली है; रज, सत, एवं तम ये त्रिगुण उसकी शाखाएं और संसार उसके पत्ते हैं।।२-३।। रजोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रह्मा ने वेदों का संपादन किया और कर्ममार्ग चलाया, तमोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले शिव ने योग-मार्ग का विस्तार किया और सतोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले विष्णु ने भक्ति एवं उपासना-मार्ग का प्रवर्तन किया, जो पीछे से व्यवहार में आया।।४-५।। तीनों लोकों और दसों दिशाओं में वासना ने कल्याण का मार्ग रोक दिया।।६।। जैसे तोते चारे के लोभ से नलिका यन्त्र में फंस जाते हैं वैसे जीव विषयरूपी चारे के प्रलोभन में पड़कर संसार में फंसे हुए हैं।।७।। यह मन जाज्वल्यमान राजा एवं शासक बन गया है और अपना अधिकार चारों तरफ कायम कर लिया है।।८।। इसने कर्मजाल की बंसी फेंककर जगत के सारे जीवरूपी मछलियों को फंसा लिया है।।९।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सज्जनो एवं कल्याण-इच्छुको! तुम मन-राजा का अधिकार मिटा दो। मैं तुम्हें भव से पार भेजता हूं, और निर्भय करता हूं। तुम निर्दोष ज्ञान तथा निजस्वरूप चेतन की परख करो।।१०-११।।

व्याख्या—"सार शब्द से बाँचिहो, मानहु इतबारा हो।" सारशब्द के सहारे से ही बचोगे, यह विश्वास करो। सारशब्द क्या है? वस्तुतः निर्णय वचन को ही सारशब्द कहते हैं। श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रन्थी में सारशब्द का कई जगह वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि काल, संधि, झांईं और सार चार प्रकार की वाणियां होती हैं। बहुत स्थूल बुद्धि से कही गयी वाणियां 'काल वाणी' हैं, अपने स्वरूप से अलग अपना लक्ष्य खोजने की बात 'संधि' वाणी है, अपनी आत्मा को, अपने चेतनस्वरूप को जगत से अलग न समझकर जड़-चेतन मिला-जुला बताने वाली वाणी "झांईं वाणी' है। ये सारी वाणियां बंधनप्रद हैं। इनसे पृथक चौथी 'सार वाणी' है। जड़-चेतन का भिन्न निर्णय कर अपने चेतनस्वरूप को समस्त जड़ वर्ग से अलग सिद्ध करने वाली वाणी सार वाणी एवं सारशब्द है। वस्तुतः जो जैसा है उसको वैसा ही बताने वाला वचन सारशब्द है। यथार्थ निर्णयवचन को सारशब्द कहते हैं।[1] जो कथन विश्व के नियमों एवं कारण-कार्य-

---

१. सारशब्द निर्णय को नामा। जाते होय जीव को कामा।।१।।
सारशब्द कहिये टकसार। त्रिविधि शब्द को परख विचार।।२।।
सारशब्द पाये बिना, जीवहिं चैन न होय।
कालफन्द जाते लखि परै, सारशब्द कहिये सोय।।

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध, सारशब्द निर्णय)

व्यवस्था के अनुकूल तथा प्रकृति-संगत है वह सारशब्द है। सच्चा निर्णयवचन ही सारशब्द है। सार्वभौमिक दृष्टिकोण वाले सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे मानव! तुम सारशब्द के सहारे ही बचोगे। वेद हों या बाइबिल, कुरान हो या जिंदावेस्ता, गुरु-वाणी में हो या दीवार पर लिखा, संत एवं विद्वान के मुख से निकला हो या घोर संसारी तथा अपढ़ के मुख से जो निर्णयवचन है, जो निष्पक्ष न्याय देने वाली वाणी है, वही सारशब्द है। सारशब्द का सिद्धांत यह परवाह नहीं करता कि किसने कहा है तथा किसमें कहा है, वह तो केवल एक बात देखता है कि क्या कहा है! किसी महापुरुष, परंपरा तथा ग्रंथ के गीत गाने मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं होगा। किन्तु सारशब्द एवं निर्णयवचनों से कल्याण होगा। लोग अपनी मानी गयी परंपरा, गुरु तथा पोथी के इतने पक्षपाती हो जाते हैं कि उन्हें निर्णयवचनों की परवाह ही नहीं होती। वे "अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय।" की कहावत चरितार्थ करते हैं। परन्तु निष्पक्ष व्यक्ति अपने-पराये की परवाह न कर केवल सही निर्णय पर ध्यान रखता है। दो और दो चार, इस सत्य निर्णय को ही सारशब्द कहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि सारशब्द के सहारे से ही बचोगे। बचना क्या है? बचने के हम तीन अर्थ कर सकते हैं—अलग रहना, शेष रहना तथा दुखों से पृथक सुरक्षित रहना। अतएव सारे भव-बंधनों से अलग रहना, बचना है; मन सहित सारे जड़भावों को छोड़कर शेष चेतन मात्र रह जाना, बचना है तथा मन से अपने आपको अलग कर लेने से सारे दुखों से छूट जाना एवं सुरक्षित हो जाना, बचना है। विचारकर देखें तो बचने के सारे अर्थ केवल एक ही भाव को व्यक्त करते हैं—दुखों से मुक्त हो जाना। जब तक व्यक्ति अपनी आत्मा को, अपनी चेतना को सबसे अलग नहीं कर लेगा तब तक सारे दुखों से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु अपनी आत्मा को सबसे अलग करने के लिए जड़-चेतन-भिन्न निर्णय की सच्ची समझ चाहिए तथा धर्म और अध्यात्म के क्षेत्रों में फैले हुए नाना भ्रमों के निराकरण के लिए सारशब्द एवं निर्णयवचनों का अभ्यास चाहिए। असार वाणियों ने बड़ी भ्रांति फैला रखी हैं। उन्हें काटकर सत्यस्वरूप की स्थिति के लिए सारशब्द एवं निर्णयवचनों के अभ्यास की महती आवश्यकता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि सारशब्दों के विवेक से ही बचोगे। "मानहु इतबारा हो" इसमें भी विश्वास करने की आवश्यकता पड़ती है। संसार में लोग मिथ्या महिमा में पड़े हैं। वे उसी से अपना कल्याण समझते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मिथ्या महिमा से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। यह विश्वास करो कि तुम्हारा कल्याण सत्य से होगा और सत्य का बोध तब प्राप्त होगा जब सारशब्द एवं निर्णयवचनों को आदर दोगे। तुम केवल परंपरा को प्रश्रय न दो, किन्तु सत्य निर्णय को प्रश्रय दो। इसी से सबका कल्याण है।

"आदि पुरुष एक वृक्ष है" यह कई बार निवेदित किया गया है कि किसी कालखंड के आरम्भ को आदि कहते हैं तथा मूल को भी आदि कहते हैं। जहां आदि का अर्थ मूल होता है वहां आदि का अर्थ अनादि हो जाता है क्योंकि मूल वस्तु अनादि होती है। सांख्यकार ने कहा है "मूल में मूल का अभाव होने से मूल अमूल होता है।"[१] पेड़ की

---

१. मूले मूलाभावाद् मूलममूलम्॥ सांख्यदर्शन, १/६८॥

जड़ होती है, किन्तु जड़ की जड़ नहीं होती। इसी प्रकार संसार-प्रपंच के मूल में जड़ और चेतन एवं प्रकृति और पुरुष हैं। परन्तु जड़-चेतन एवं प्रकृति-पुरुष के कोई अन्य मूल नहीं हैं। यहां सद्गुरु कहते हैं "आदि पुरुष एक वृक्ष है" अभिप्राय हुआ कि अनादि चेतन पुरुष ही मानो वृक्ष है। यहां वृक्ष का अभिप्राय भी मूल ही है। अर्थात हर व्यक्ति के संसार-वृक्ष का मूल उसकी अपनी आत्मा ही है। मेरा अपना माना हुआ संसार मेरी चेतना की सत्ता से ही चलता है। यह चेतन जब बाहर प्रवृत्त होता है तभी तो संसार-वृक्ष हरा-भरा होता है। सारी प्रवृत्ति मन-द्वारा होती है। इसलिए सद्गुरु ने 'निरंजन' को 'डार' बतलाया है। यहां 'निरंजन' का अर्थ मन है।

"तिरदेवा शाखा भये, पत्र संसारा हो।" मनरूपी डाली की तीन अन्य शाखाएं हैं—रज, सत और तम। ये त्रिगुण ही मानो त्रिदेव हैं जो मन की छोटी-छोटी शाखाएं हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग-द्वेषादि मानो संसार हैं जो उसके पत्ते हैं। मन के इन तीनों गुणों की प्रवृत्तियों से संसार-प्रपंच का विस्तार होता है। यहां संसार का अर्थ चांद, सूरज तथा सितारों से भरा यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड न समझकर व्यक्ति के अपने कामादि भव-बंधनों का संसार समझना चाहिए। हमारा व्यक्तिगत संसार ही हमें पीड़ित करता है। अतः हमें अपने माने हुए व्यक्तिगत संसार से ही मोक्ष लेना है। इस प्रकार मन, तीन गुण तथा काम, क्रोधादि मिलकर हमारा संसार-वृक्ष है। इसके मूल में अनादि चेतन पुरुष है जो अपने आप की भूल से इसमें लिपटा है। चेतन पुरुष अपनी सत्ता मन को न दे और अपने आप में स्थित हो जाय तो भव-वृक्ष स्वयं कट जाय।

"ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो। विष्णु माया उत्पति कियो, ई उरले व्यौहारा हो।" संसार के उद्धार के लिए ब्रह्मा, महादेव तथा विष्णु ने कर्मकांड, योगकांड तथा उपासनाकांड का प्रवर्तन किया। ब्रह्मा ने वेदों का संपादन किया। वेदों में कर्मकांड एवं यज्ञ-हवन आदि का विस्तार है जिनके करने के फल में पुत्र, स्त्री, धन, स्वर्गादि पाने का प्रलोभन दिया गया है। इसमें समाज को लाभ तो कोई खास नहीं मिला, हां, यज्ञ के नाम पर पुराकाल में अधिक धन खर्च होता रहा, पशुओं की हत्या होती रही और पंडितों का पेट-धन्धा चलता रहा। इस धन्धा को चलाने के लिए वे यज्ञ के काल्पनिक लम्बे-चौड़े फलों का व्याख्यान करते रहे।

नीरस कर्मकांड के प्रपंच से जब जनता ऊब गयी तब शिव-जैसे योगियों का प्रादुर्भाव हुआ जो ज्ञानपूर्वक मनोनिग्रह में तल्लीन हुए। शिव तो एक प्रतीक-जैसा लगता है जिसकी व्याख्या उपनिषद् के ऋषियों तथा कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर-जैसे महाज्ञानियों एवं योगियों में ही हो सकती है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक योगमार्ग चला। परन्तु सभी मनुष्य इसके अधिकारी नहीं थे। इसलिए विष्णु ने माया उत्पन्न किया। विष्णु भी एक प्रतीक ही है। इसका अर्थ है कि भक्ति भावना के हृदय वालों ने भक्ति का पथ चलाया। यहां माया का अर्थ भक्ति एवं उपासना है "विष्णु माया उत्पति कियो" अर्थात भक्ति-हृदय वालों ने उपासना-भक्ति का मार्ग चलाया। साहेब कहते हैं "ई उरले व्यौहारा हो" अर्थात यह व्यवहार, यह भक्ति का प्रचलन 'उरला' का है। 'उरला' कहते हैं पीछे को। उरला का दूसरा अर्थ निराला एवं विलक्षण भी होता है, परन्तु यहां उरला का अर्थ पीछे करना अधिक उपयुक्त है।

ऐतिहासिक अध्ययन करने पर भी यही बात सही पायी जाती है कि भारतीय परम्परा में पहले कर्मकांड ही था। जिसका प्रतीकात्मक प्रवर्तक ब्रह्मा माना जा सकता है। ब्रह्मा नाम का व्यक्ति हुआ हो या नहीं, किन्तु यज्ञ के चार प्रमुख पुरोहितों—ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु[1] में ब्रह्मा प्रथम है। कर्मकांड के बाद ज्ञान एवं योगकांड का प्रचलन हुआ, और उसके बाद भक्ति एवं उपासनाकांड प्रचार में आया।

हम पीछे ८१ वें शब्द की व्याख्या में देख आये हैं कि भक्ति की भावना तो किसी-न-किसी प्रकार मनुष्य के जीवन के साथ है, परन्तु शायद भक्ति शब्द का प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/२३) में पहली बार आया ''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'' अर्थात जैसे देव में परम भक्ति होती है वैसे गुरु में होती है। प्रवृत्तिमूलक रागात्मक सगुण भक्ति संभवतः प्रथम यादवों में शुरू हुई। अंशु के पुत्र राजा सत्वत थे। उन्होंने नारायण एवं विष्णु की भक्ति चलायी। इसी परंपरा में पीछे श्रीकृष्ण हुए जो कालांतर में स्वयं विष्णु का पूज्य स्थान ग्रहण कर लिये। इस प्रकार कर्मकांड, ज्ञानकांड तथा योगकांड के बाद भक्तिकांड का प्रचार हुआ। इसलिए भक्ति का व्यवहार 'उरला' है, पीछे का है, यह तथ्य है। साहेब ने यहां ''विष्णु माया उत्पति कियो'' कहकर भक्ति को माया शब्द से क्यों याद किया है? वस्तुतः सगुण भक्ति माया वर्ग की है ही। यह ठीक है कि भक्ति मन की कोमलता है जिसकी आवश्यकता है; परन्तु भक्ति का जो आलम्बन भक्त लोग लेते हैं वह 'कर कंज पद कंजारुणम्' सब माया ही है। कीट से लेकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सबकी देहें जड़ प्रकृति से ही निर्मित हैं, और यदि भक्ति तथा उपासना का आलंबन किसी की देह तक ही है तो यह भक्ति माया से बाहर कहां है? जब भक्ति का आलंबन निज चेतनस्वरूप बनता है तब भक्ति माया से परे पहुंच जाती है। परन्तु विष्णु से जुड़ी भक्ति रागात्मक एवं सगुण है। इसलिए वह माया का शुद्ध रूप ही है।

''तीन लोक दशहूँ दिशा, यम रोकिन द्वारा हो।'' तीन लोक तथा दसों दिशाओं का लाक्षणिक अर्थ है पूरा संसार। पूरे संसार में यम ने कल्याण का द्वार रोक दिया है। ध्यान रहे, यम कोई स्वतन्त्र दैत्य नहीं है कि उसने सारे संसार में सबका मोक्ष-द्वार बन्द कर दिया हो। वस्तुतः हर मनुष्य के मन में विषयों की वासनाएं हैं। ये वासनाएं ही यम हैं जिन्होंने मनुष्य के कल्याणमार्ग को रोक रखा है। हमारी बनायी हमारे मन की वासनाएं ही हमें मोक्ष से, शांति से एवं स्वरूपस्थिति से वंचित किये रहती हैं। हमारे कल्याण में न अन्य प्राणी बाधक हैं और न अन्य पदार्थ, केवल हमारे मन की वासनाएं ही बाधक हैं।

---

१. यज्ञ में चार मुख्य पुरोहित होते हैं ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु। ब्रह्मा समस्त यज्ञ के विधि-विधान का निरीक्षक होता है, होता हवन करने वाला, उद्गाता सामगान करने वाला तथा अध्वर्यु वह होता है जो लकड़ी ठीक करे, यज्ञपात्र साफ करे, यज्ञ-पशु का वधकर उसका मेदस् निकाले आदि। इन चारों पुरोहितों के तीन-तीन अन्य सहायक होते हैं। उनके नाम हैं—प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य।

"कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो।" कीर का अर्थ तोता है। तोता नलिका-यंत्र (चरखी) में इसलिए फंस जाता है, क्योंकि वह उसमें लगी लाल-मिर्ची को खाने के प्रलोभन में उस पर बैठता है और उसके बैठते ही चरखी घूम जाती है तथा तोता फंस जाता है। यही दशा सब जीवों की है। सब जीव विषय-भोगों के चारे में फंसते हैं। सद्गुरु ने यहां कितना वैराग्योत्तेजक पंक्ति कही है "कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो।" कीर का अर्थ सर्प भी होता है जो अपने मुख में स्वाभाविक विष की पोटली लिए रहता है। यह अर्थ भी उपयुक्त ही है। इस अर्थ में 'विष' का मूल अर्थ विष ही रहता है तथा लक्षणा अर्थ विषय होता है। जैसे सर्प अपने मुख में स्वाभाविक विष की पोटली रखता है, वैसे संसारी जीव मानो स्वाभाविक ही मन में विषय-वासनाएं रखते हैं। ध्यान रहे, जीव का मौलिक स्वरूप विषय-वासनाओं से सर्वथा रहित है, परन्तु अज्ञानवश सदैव विषयों में डूबे रहने से वासनाएं प्रबल हो गयीं हैं। इन्हीं विषय-वासनाओं के कारण जीव भटक रहा है।

"ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन्ह अमल पसारा हो। कर्म की बन्शी लाय के, पकरो जग सारा हो।" ज्योतिस्वरूपी हाकिम मन है। यह जाज्वल्यमान एवं तेज-तर्रार है, इसलिए सद्गुरु ने व्यंग्य करते हुए कहा है कि इस ज्योतिस्वरूपी हाकिम मन ने जीवों पर अपना शासन जमा रखा है। इस मन ने कर्म की बंसी लगाकर जगत के सारे जीवों को पकड़ लिया है। बंसी के आंकुड़े में चारा लगाकर पानी में डाल दिया जाता है। मछली चारा खाने के लोभ से उसे मुख में लेती है और मछुआरा बंसी खींच लेता है तथा लोह के आंकुड़े में मछली का मुख फंस जाता है। इस प्रकार मछली मारी जाती है। यह मन मानो मछुआरा है। यह कर्म की बंसी में भोगों का चारा लगाता है और जीव उसमें फंस जाता है। संसार के सारे जीव भोग के मोह से कर्मजाल में फंसे पड़े बंधनों का दुख भोग रहे हैं।

"अमल मिटावो तासु का, पठवों भव पारा हो।" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे साधको! ज्योतिस्वरूपी हाकिम-मन का शासन मिटा दो। मैं तुम्हें भव से पार भेज रहा हूं। इस मन से पार हो जाना ही भव से पार हो जाना है। सब जीव मन के शासन में हैं। जो जीव मन पर शासन करता है वही भव से पार है। काम भव है, क्रोध भव है, लोभ भव है। इसी प्रकार समझ लो कि मोह, ईर्ष्या, भय, राग, द्वेष, आशा, तृष्णा, चिंता, विकलता, उद्वेग, परेशानी आदि भव हैं। मन के शासन में ही यह सब भव विद्यमान रहते हैं। जहां मन का शासन जीव पर से हटा, जहां जीव स्वतन्त्र हुआ कि यह भव समाप्त हो जाता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! अपने ऊपर से मन का शासन मिटा दो। भारत को स्वतन्त्र करने में भारतवासियों को अपनी कितनी कुर्बानी देनी पड़ी है! तुम्हें भी मन के शासन से मुक्त होने के लिए त्याग करना पड़ेगा। विषयों के त्याग से तुम्हारे ऊपर से मन का शासन हटेगा। जब मन का शासन हट जायेगा तब तुम मानो भव से पार हो जाओगे।

"कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! हे साधक! मैं तुम्हें निर्भय कर रहा हूं, तुम निर्दोष वस्तुओं को परखो। टकसाल

कहते हैं जहां सिक्के ढलते हैं। इसका अर्थ हुआ प्रामाणिक वस्तु। टकसाल का दूसरा अर्थ निर्दोष वस्तु भी है। दोनों अर्थों में निकटता है। प्रामाणिक वस्तु एवं निर्दोष वस्तु का अभिप्राय एक ही है। जो वस्तु प्रामाणिक होगी वही निर्दोष होगी और जो निर्दोष होगी वही प्रामाणिक होगी। यहां निर्दोष वस्तु को परखने का अर्थ है सभी दिशाओं में सच्चा ज्ञान ग्रहण करना। कोई ज्ञान तभी निर्दोष माना जाता है जब उसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असंभव—ये तीन दोष न हों। जैसे कोई कहता है कि गाय वह है जिसको सींग है, तो यह अतिव्याप्ति दोष है अर्थात यह लक्षण दूसरे पशुओं में भी व्याप्त है। क्योंकि सींग गाय के अतिरिक्त अन्य जानवरों को भी होती है जैसे भैंस, हिरन, बकरी आदि। कोई कहता है कि गाय वह है जिसका रंग लाल है, तो वह अव्याप्ति दोष है अर्थात यह लक्षण सभी गायों में व्याप्त नहीं है; क्योंकि गायें लाल के अलावा काली, उजली, बगरी आदि भी होती हैं। कोई कहता है कि गाय वह है जिसके खुर फटे न हों, तो यह असंभव दोष है; क्योंकि सभी गाय के खुर फटे होते हैं। इस प्रकार अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असंभव—इन तीनों दोषों से सर्वथा मुक्त ज्ञान निर्दोष ज्ञान है। इस शब्द के आरम्भ में ही सद्गुरु ने कहा है "सारशब्द से बाँचिहो" सारशब्द एवं निर्णयवचन से ही निर्दोष ज्ञान होगा। निर्णय शब्दों को छोड़कर धर्म के नाम पर बिना सिर-पैर की हजारों बातें चलती रहती हैं। निर्दोष ज्ञान सहज समझ में आता है।

अन्ततः अपनी आत्मा ही स्वरूपतः निर्दोष है। साहेब कहते हैं बाहरी निर्दोष ज्ञान से तुम्हारी निर्भयता बढ़ेगी, परन्तु पूर्ण निर्भयता तब होगी जब अपने निर्मल निर्दोष चेतन स्वरूप की परख होगी। चेतन से अलग परख-शक्ति नहीं होती। चेतन अपनी ही परख-शक्ति से बाहरी वस्तुओं एवं ज्ञान को परखता है। जीव अपने परख-बल से निजस्वरूप को तथा पर को जितना परखता जाता है उतना निर्भय होता जाता है। जब वह सारशब्द तथा परख-बल से बाहरी ज्ञान को परखता है, तब उसके मन की सारी भ्रांतियां कट जाती हैं और उसका बाह्यज्ञान सच्चा हो जाता है। उसकी दृष्टि में कोई चमत्कार तथा अद्भुत बात रह ही नहीं जाती। वह प्रकृति के शाश्वत नियमों को समझ लेता है और सारे तथाकथित चमत्कार एवं अद्भुत कही जाने वाली बातों के चक्कर तथा अंधविश्वास से मुक्त हो जाता है। वह अपने आपको परख लेने पर पूर्ण निर्भय हो जाता है। जिसे अपने चेतनस्वरूप की परख हो गयी, उसे कहां भय, कहां चिंता और कहां शोक! अतएव सद्गुरु का यह परम वाक्य अत्यन्त आदरणीय है—"कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो।"

सभी की भूल-व्याधि की औषध परख है

शब्द–११६

सन्तो ऐसी भूल जग माहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं॥ १ ॥
पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाँई आपुहि मानी॥ २ ॥
झाँई में भूलत इच्छा कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी॥ ३ ॥
अभिमानी कर्ता होय बैठे, नाना ग्रन्थ चलाया॥ ४ ॥

वोही भूल में सब जग भूला, भूल का मर्म न पाया॥ ५ ॥
लख चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया॥ ६ ॥
जो है सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया॥ ७ ॥
भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिं लखाई॥ ८ ॥
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई॥ ९ ॥

शब्दार्थ—भूल = विस्मरण, भ्रम, चूक, दोष। मिथ्या = असत्य। पहिले = पहले, शुरू में, पुराकाल में। झाँई = झांईं, परिछाईं, धोखा, माया। कर्ता = जगत का रचयिता, जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण। बिटमाया = भ्रम एवं छल किया, निर्माण किया। सनातन = नित्य, अनादि चेतन जीव। खाया = दुर्बल किया, खोखला किया। पारखी = जड़-चेतन एवं गुण-दोषों का विवेकी। पारख = परख, परीक्षा, जड़-चेतन एवं गुण-दोषों के ज्ञान की शक्ति, ज्ञान।

भावार्थ—हे सन्तो! संसार में ऐसी भूल है जिससे जीव असत्य एवं भ्रांति की धारा में बह जाता है॥१॥ आध्यात्मिक क्षेत्र में पहली एवं बढ़-चढ़ करके भूल उनकी है जिन्होंने यह माना कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूं और यह सारा जगत मेरी परिछाईं है। अर्थात मैं ही जगतरूप में भासता हूं॥२॥ इस प्रकार अपनी मानी हुई परिछाईं-माया में भूलकर यह माना कि मैं ही इच्छा करके एक से अनेक हो गया हूं और संसार बन गया हूं। फिर इस अनेकता की इच्छा को लेकर वह जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का अहंकारी बन गया॥३॥ इस प्रकार विश्वाभिमानी अपने आपको जगत का कर्ता मान बैठा और इन भ्रामक मान्यताओं से नाना ग्रन्थों की रचना की गयी॥४॥ फिर ऐसे ग्रन्थों को पढ़-सुनकर सारा संसार भूल गया। इस भूल का रहस्य कोई नहीं समझ सका॥५॥ जीव निजस्वरूप की भूल से ही चौरासी लाख योनियों में भटकते हैं, क्योंकि भूल से जगत के लोग छले गये हैं, अथवा भूल से ही जीव ने अपने मनोमय जगत का निर्माण किया है॥६॥ जो अनादि सनातन चेतन जीव है वह स्वयं अपने स्वरूप को भूला है। वही भूल उसे अब खोखला बना रही है॥७॥ यह भूल तभी मिटेगी जब पारखी संत मिलेंगे और वे कृपाकर पारख लखा देंगे॥८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई! सबके स्वरूप-भूलरूपी रोग को दूर करने के लिए पारख ही औषध है॥९॥

व्याख्या—बीजक में यह दूसरा 'शब्द' प्रकरण ग्यारहों प्रकरणों में बड़ा है। इसमें ११५ शब्द हैं, जिनमें एक-से-एक महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त हुए हैं। इस बृहत् प्रकरण के अन्त में सद्गुरु ने अपने सारे विचारों को नौ पंक्तियों में कह डाला है। इस पूरे शब्द में मुख्य दो बातें हैं—भूल तथा भूल की औषध। सद्गुरु पहली पंक्ति में कहते हैं "सन्तो ऐसी भूल जग माहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं।" हे सन्तो! संसार में ऐसी भूल है जिससे जीव असत्य-पथ में भटक गया है। हर मनुष्य की जिंदगी में सारे दुखों का कारण मात्र एक है—भूल। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी न समझकर उसके विपरीत समझना भूल है। सारे दुखों का कारण ठीक से न समझना है। यदि हम तथ्य को समझ जायं तो सारे दुख मिट जायं। यह प्रश्न किया जा सकता है कितने लोग ऐसे हैं जो तथ्य को तो

ठीक से समझते हैं, परन्तु दुखी हैं। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उनका तथ्य का समझना नहीं माना जा सकता। केवल बौद्धिक ढंग से समझ लेना पर्याप्त नहीं है। जो हृदय से तथ्य को समझ लेता है वह कहीं भी विचलित नहीं होता। जो विचलित होता है वह तथ्य को कहां समझता है! अतएव सारे दुखों का कारण भूल है, अज्ञान है।

"पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाँई आपुहि मानी।" अध्यात्म क्षेत्र की यह पहली एवं भारी भूल है कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूं और जगत मेरा प्रतिबिम्ब एवं आभास है, यह जगत और मैं जल-तरंग, स्वर्ण-भूषण, घट-मृतिका-न्याय एक हूं। जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मैं ही हूं, मैं ही कभी 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयेति' अर्थात मैं एक बहुत प्रजा के रूप में हो जाऊं, ऐसी इच्छाकर जगत बन गया हूं इत्यादि यह सब धारणा ब्रह्मज्ञान का घोर दुरुपयोग है। मैं अखंड ब्रह्म हूं, इसका अभिप्राय इतना ही है कि मैं अविनाशी चेतन हूं। अखंड उसे कहते हैं जो कभी टूटता न हो और वही अविनाशी है। ब्रह्म का अर्थ होता है बड़ा। यह चेतन ही तो बड़ा है। जड़-तत्त्व एवं जड़-कार्य पदार्थ चाहे कितने बड़े हों परन्तु महत्त्व में चेतन ही बड़ा होता है। अतएव अखंड ब्रह्म का सरल अर्थ है अविनाशी चेतन। ब्रह्मवादी कहे जाने वाले महापुरुषों ने उसके लिए भ्रमवश अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषण लगाये तथा अपने शुद्ध स्वरूप को ठीक से न समझने के कारण उन्होंने उसके विषय में अन्यथा चर्चा की।

ब्रह्म को अद्वैत होना चाहिए, तो इसके लिए लोगों ने सोचा कि यह जगत है ही नहीं; क्योंकि यदि जगत की सत्ता स्वीकारी जायेगी तो ब्रह्म अद्वैत नहीं रह जायेगा, किन्तु एक ब्रह्म तथा दूसरा जगत हो जायेगा; परंतु जगत, जो सत्य और सामने है उसको अद्वैतवाद की फूंक से उड़ाया भी नहीं जा सकता। इसलिए कहा गया कि जगत तो ब्रह्म की परिछाईं है। मैं ब्रह्म हूं और यह जगत मेरी परिछाईं है। जैसे प्रतिबिम्ब बिंब से अलग नहीं होता, उसके अलग अस्तित्त्व का केवल आभास होता है वैसे जगत ब्रह्म से अलग नहीं है, केवल आभास होता है कि जगत अलग है। ब्रह्म-जगत की एकता का सिद्धांत गढ़ा गया और इसके लिए कई प्रमाण खड़े किये गये। कहा गया कि जैसे जल और उसकी तरंगें एक हैं, जैसे स्वर्ण और उससे बने आभूषण एक हैं तथा जैसे मिट्टी और उससे बने बरतन एक हैं, वैसे ब्रह्म और ब्रह्म से बना जगत एक है। यह भी ध्यान नहीं रखा गया कि जब ब्रह्म को एक तरफ अखंड एवं निर्विकार कहते हैं तब उससे किसी प्रकार का निर्माण कैसे संभव है! अखंड निर्विकारी ब्रह्म से परिवर्तनशील विकारी जगत कैसे बन जायेगा! सत-चिद्-आनन्द ब्रह्म से असत-अचिद्-अ-आनंद जगत कैसे निर्मित होगा। यह भी कहा गया कि जगत ब्रह्म का स्वप्न है, परन्तु स्वप्न द्वैत के बिना कभी नहीं हो सकता। जाग्रत जगत को देख, सुन, भोग कर सोते समय अर्धसुषुप्ति में स्वप्न होता है। एक अद्वैत में स्वप्न नहीं हो सकता। इन सारी बातों पर आप "जो पै बीज रूप भगवान" शब्द ६७ की व्याख्या में विस्तारपूर्वक पढ़ आये हैं।

"झाँई में भूलत इच्छा कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी।" ब्रह्मवादी लोगों ने अपने मन की भ्रांतिरूपी झांई में भूलकर जगत बनने की इच्छा कर डाली और यह अभिमान कर लिया कि जैसे तरंगों का अधिष्ठान समुद्र है वैसे अनंत विश्व-ब्रह्मांड का अधिष्ठान मैं हूं।

इसी मिथ्या अभिमान का फल हुआ कि वे जगत के कारण-कर्ता बनकर बैठ गये। एक तरफ कहते हैं कि जगत है ही नहीं, और दूसरी तरफ कहते हैं कि जगत का कारण एवं कर्ता मैं ही हूं। व्यक्ति की अपनी आत्मा की सर्वोच्चता महान है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि यह आत्मा ही चांद-सूरज तथा विश्व-ब्रह्मांड है। ब्रह्मवादियों ने भ्रम में पड़कर ब्रह्मज्ञान को तमाशा बना डाला है। कितने ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले लोग भूल के वश होकर एक मानसिक सनक में उतर आये और कहने लगे कि मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, मैं ही अनन्त विश्व-ब्रह्मांड हूं। "अभिमानी कर्ता होय बैठे" यह वाक्य उन्हीं पर व्यंग्य है। ब्रह्मज्ञान होने पर जहां सारा अभिमान छोड़ना चाहिए था, वहां से वे सारे अभिमान को अपने ऊपर धारण कर लिये। जब जीव अज्ञान में रहता है तब वह मानता है कि मैं देह हूं; परंतु तथाकथित ब्रह्मज्ञान के अनुसार जब जीव ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तब मानता है कि मैं अनन्त विश्व-ब्रह्मांड हूं। ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु का यह वचन कितना मार्मिक है "अभिमानी कर्ता होय बैठे" इसमें 'बैठे' शब्द अधिक चुभने वाला है। "पानी कुल्ला भर नहीं, नाम गंगाधर" यह कहावत ऐसे लोगों के प्रति ही सटीक है। निर्माण एक नये बाल का नहीं कर सकते और मान लिये कि मैं समस्त विश्व का कारण एवं कर्ता हूं।

इस भ्रांति को लेकर "नाना ग्रन्थ चलाया" बहुत पुस्तकें बनीं और उन्हें पढ़-पढ़कर लोगों का दिमाग खराब होने लगा। जो अपने पीठ पीछे की बात नहीं जानते वे सारे विश्व के नियंता, सर्वव्यापक और जगत के कारण-कर्ता होने का दंभ करते हुए घूमने लगे। विद्वान कहे जाने वाले लोगों-द्वारा कहा जाने लगा कि यह ब्रह्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। कहना न होगा कि ब्रह्मज्ञान के नाम पर महान भ्रांति खड़ी हो गयी। इसीलिए विवेकवान संतों को ब्रह्म को भ्रम कहना पड़ा। ब्रह्म शब्द अपने आप में बड़ा उच्च, शुद्ध एवं प्यारा है, परंतु ब्रह्मवादियों-द्वारा उसकी परिभाषा ऐसी गड्डमड्ड कर दी गयी कि विवेकवानों को उसे भ्रम कहना पड़ा।

साहेब कहते हैं "वोही भूल में सब जग भूला, भूल का मर्म न पाया।" इस अद्वैतवाद कहे जाने वाले ज्ञान में सारा जगत भूल गया। "सब जग भूला" का लाक्षणिक अर्थ है अध्यात्म के क्षेत्र में अधिक लोगों के मन में यह भ्रांति खड़ी हो गयी कि सब कुछ एक ही ब्रह्म है—यही सच्चा ज्ञान है। लोग यह नहीं समझ सके कि यह भूल के और गहरे गर्त में चले जाना है।

"लख चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया।" जीव अपने स्वरूप को भूलकर ही चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। यहां चौरासी लाख भारतीय मान्यतानुसार कहा गया है। हो सकता है सभी खानियां चौरासी लाख हों, उनसे अधिक हों या उनसे कम हों। तात्पर्य इतना ही है कि जीव संसार-सागर में इसलिए भटकता है कि वह अपने असंग एवं निर्विकार स्वरूप को नहीं समझता। यह जीव अपने पूर्णकाम स्वरूप को न समझकर ही जगत में छला जा रहा है। 'बिटमाया' का अर्थ छला जाना भी किया जा सकता है तथा निर्माण करना भी। अर्थात जीव अपनी स्वरूप-भूल से छला गया अथवा स्वरूप-भूल से उसने जगत बनाया। यहां जगत बनाने का तात्पर्य होगा, अपना मनोमय जगत, माना हुआ जगत।

"जो है सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया।" जो सनातन जीव है वही भूला है। पीछे उसकी अपनी स्वरूप-भूल ही उसे खोखला कर रही है। जीव जैसा नहीं है वैसा अपने आपको मान रहा है और जैसा है वैसा समझ नहीं रहा है। यही दुखों का कारण है।

बाहर का संसार जो जैसा है उसे वैसा समझने के लिए तथा अपनी आत्मा, अपनी चेतना जैसी है उसे उसी ढंग से समझने के लिए अर्थात जीव के स्वरूप की वास्तविकता समझने के लिए आवश्यक है 'पारख'। सद्गुरु कहते हैं "भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिं लखाई। कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई।" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि भूल अवश्य मिटेगी, परंतु जब पारखी गुरु मिलेंगे और पारख लखा देंगे। अर्थात वे वस्तुपरक तथा आत्मापरक बुद्धि देकर विवेक की आंखें खोल देंगे। संसार को समझने के लिए संसार का अध्ययन करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को समझने के लिए अपनी आत्मा का ही अध्ययन करना चाहिए। सबकी भूल-व्याधि मिटाने के लिए पारख ही औषध है। पारख एवं परीक्षा जिसे वस्तु-विवेक भी कह सकते हैं। इसके लिए शास्त्र, गुरु, पंरपरादि समस्त पक्षपातों का त्याग करना पड़ता है। पक्षपात एवं पूर्वग्रह-विहीन दृष्टि ही पारख ग्रहण कर सकती है।

कबीर साहेब ब्रह्मवाद को जहां कहीं लेते हैं उसकी गहरी आलोचना करते हैं। इसका कारण है उसके प्रति आत्मीय भावना। कबीर साहेब स्वसत्ता को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हैं जिसको वे जीव, चेतन, पारख तथा राम शब्दों से ज्यादा याद करते हैं। ब्रह्मवादी भी स्व-सत्ता को ही सर्वोच्च कहते हैं जिसको वे आत्मा एवं ब्रह्म कहते हैं। शब्द तो दोनों के आदरणीय हैं। आत्मा का अर्थ ही है स्वयं तथा ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ, जो जीव एवं चेतन है। उसी को पारख तथा राम कहा जाता है। शब्दों की कोई बात नहीं है, बात है परिभाषा की। ब्रह्मवादी कहे जाने वाले महानुभाव ब्रह्म की परिभाषा अतिशयोक्तिपूर्ण तथा भ्रामक करने लगते हैं, इसलिए कबीर साहेब उनकी उस गलत परिभाषा का खंडन करते हैं।'

कहा जाता है कि चेतन व्यापक है; परन्तु यह केवल महिमापरक शब्द है। संसार में गुण-धर्मयुक्त कोई द्रव्य ऐसा नहीं है जो व्यापक है। एक अखंड द्रव्य सर्वत्र व्यापक हो तो गति, स्फूर्ण एवं संसार रहेगा ही नहीं। इसलिए कोई भी जड़ या चेतन द्रव्य व्यापक नहीं है। अतः व्यापक केवल महिमापरक शब्द है।

चेतन एक है। यह कथन गुणपरक है न कि संख्यापरक। यदि चेतन संख्या में एक ही हो तो भिन्न मत होना तथा संसार का होना ही संभव नहीं है। प्रत्यक्ष है कि चेतन असंख्य हैं। वस्तुतः चेतन व्यक्तित्व में असंख्य हैं तथा गुण में एक। अर्थात सभी चेतन जीव एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं, परन्तु सबका गुण एक ज्ञान है। अतएव गुण में चेतन एक हैं, संख्या में अनेक हैं। इसलिए चेतन एक नहीं है, अपितु सबका गुण ज्ञान एक है।

चेतन अद्वैत है यह कथन समाधिपरक एवं स्वरूपस्थितिपरक है। परन्तु ज्ञानियों ने इस अद्वैत शब्द का बहुत दुरुपयोग किया है। उन्होंने सारा जड़-चेतन एक में मिलाकर सब कुछ एक सिद्ध करने का मिथ्या प्रयास किया है। यहां तक कहा कि आत्मा से

आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और सृष्टि। अब पुनः अद्वैत आत्मा बनने के लिए पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में मिला दें, बस एक आत्मा हो जायेगा। आप जानते हैं कि केवल मिट्टी को पानी में मिलाकर देखें तो कालांतर में पानी के भाप बनकर उड़ जाने पर मिट्टी शेष रह जायेगी। सारे जड़-प्रपंच को शुद्ध चेतन आत्मा में से निकलना तथा पुनः उसी में समाना मानना कितना भ्रम है, यह सहज समझा जा सकता है। वस्तुतः जड़ः तत्त्व अनेक हैं। एक-एक जड़ तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। इस प्रकार कारण-कार्य जड़ तत्त्व विकारी एवं परिवर्तनशील हैं। आत्माएं उससे सर्वथा भिन्न तथा शुद्ध चेतन हैं। वे निर्विकारी एवं पूर्ण हैं। अतएव वासनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित हो जाने पर अकेलापन हो जाता है, यही अद्वैत है। जब तक संकल्प हैं तब तक द्वैत है और जब सारे संकल्प समाप्त हुए तब चेतन स्वयं अकेला रह गया और अद्वैत हो गया। अद्वैत का अर्थ सब कुछ एक में मिलाकर एक हो जाना नहीं है, किन्तु स्व से भिन्न जो कुछ है उन सबको छोड़कर अकेला रह जाना अद्वैत है।

सद्गुरु कबीर हमें राय देते हैं कि सारी भूलों की औषध पारख है। पारख का अर्थ है परीक्षा। पारखी संत निष्पक्ष होते हैं। वे इसलिए किसी बात को मानते या नहीं मानते नहीं कि वह अपने मत की है या पराये की। वे सत्यान्वेषी होते हैं। वे अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक होते हैं। पारखी संत कहते हैं कि जीव ही ज्ञान-विज्ञान का मूल है। इसी को चैतन्य होने से चेतन कहते हैं, स्वस्वरूप होने से आत्मा, सर्वोच्च होने से इसी को ब्रह्म कह सकते हैं, हृदय में रमने से राम, स्वरूपतः अकेला होने से तथा वासनाओं को छोड़ देने के बाद असंग हो जाने पर अद्वैत कह सकते हैं, सभी कल्पनाओं का स्वामी होने तथा शुद्ध होने से परमात्मा कह सकते हैं। अर्थात चेतनपरक सारे विशेषण जीव के ही हैं। मूल में जीव ही है। जीव का ही गुण पारख अर्थात ज्ञान है।

सद्गुरु कहते हैं कि पारखी वह है जो सारे संसार को परखकर छोड़ दे और अपने पारखस्वरूप में, चेतनस्वरूप में स्थित हो जाय। जो परखने में आये वह दृश्य विजाति तथा जो परखता है वह पारखी ज्ञान मात्र है। इसीलिए सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा कि तू जिस ज्ञान तत्त्व से सबको परखता है वही पारख है और वही तुम्हारा स्वरूप है। उसी में स्थित हो जा, झांईंरूपी भ्रमकूप में नहीं जाना।

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँईं भ्रम कूप।।

●

फल छंद

मन-जन्य संसृति भीर जो,
सुनि सत्य रखि सहजिक दुरे।
जिमि तम हटे रवि तेज लखि,
जन पद्म मन प्रफुलित फुरे॥
दिग-भ्रम हटा निज गृह मिला,
अब शोक कलिमल क्यों जुरे।
सबके परे पारख स्व-प्रिय,
जय संत-गुरु महिमा उरे॥

चौपाई

कहहिं परस्पर संत सुबानी।
पइहैं करतल-मुक्ति निशानी॥
निःसंदेह सकल भ्रम हानी।
सत्य देश जय-जय अभिरामी॥

कबीर संस्थान प्रकाशन

सद्गुरु श्री कबीर साहेब कृत		
बीजक मूल	...	१२.५०
कबीर भजनावली	...	१२.५०
कबीर साखी	...	१२.५०
सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कृत		
विवेक प्रकाश मूल	...	७.००
रहनि प्रबोधिनी मूल	...	४.००
बोधसार मूल	...	५.००
संत श्री निर्बंध साहेब कृत		
भजन प्रवेशिका	...	९.००
संत श्री अभिलाष साहेब कृत		
बीजक टीका	...	८५.००
बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या (दो खंडों में)		
प्रथम खंड : रमैनी और शब्द	...	१५०.००
द्वितीय खंड : ज्ञान चौंतीसा से साखी	...	११०.००
बीजक प्रवचन (अजिल्द)	...	३५.००
बीजक प्रवचन (सजिल्द)	...	४५.००
पंचग्रंथी सटीक	...	१५०.००
विवेक प्रकाश सटीक	...	७५.००
कबीर दर्शन	...	९०.००
रामायण रहस्य	...	१००.००
मोक्षशास्त्र	...	७५.००
कबीर बीजक शिक्षा	...	५०.००
संसार के महापुरुष	...	४५.००
गीतासार	...	३०.००
बोधसार सटीक	...	२५.००
कबीर परिचय सटीक	...	१८.००
रहनि प्रबोधिनी सटीक	...	४०.००
कबीर अमृतवाणी सटीक	...	२५.००
कल्याण पथ	...	१५.००
मानसमणि	...	१८.००
तुलसी पंचामृत	...	१५.००
ढाई आखर	...	१८.००
आस्था के पथ	...	१५.००
समझे की गति एक है	...	१५.००
व्यवहार की कला	...	१८.००
ब्रह्मचर्य जीवन	...	१३.००
जगन्मीमांसा	...	१८.००
ज्ञान चौंतीसा	...	७.५०

कबीर जीवनी	...	१५.००
शाश्वत जीवन	...	१२.००
सरल शिक्षा	...	१८.००
सहज समाधि	...	७.५०
संत सम्राट सद्गुरु कबीर	...	१५.००
अंतर्संगीत	...	७.००
वैराग्य संजीवनी	...	—
स्त्री बाल शिक्षा	...	१२.५०
गुरु पारख बोध सटीक	...	७.५०
बुद्धि विनोद	...	५.००
आप किधर जा रहे हैं	...	१०.००
कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि	...	५.००
राम से कबीर	...	७.५०
भजनावली	...	९.००
अनन्त की ओर	...	५.००
बुरहानपुर श्री कबीर निर्णय मंदिर के महापुरुष	...	—
कबीरपंथी-जीवनचर्या	...	५.००
अहिंसा शुद्धाहार	...	७.००
संत महिमा	...	५.००
हितोपदेश समाधान	...	८.००
मैं कौन हूं ?	...	२.५०
Who am I ?	...	५.००
जीवन क्या है ?	...	२.५०
कबीर कौन ?	...	२.५०
नास्तिक कौन ?	...	२.००
कृष्ण कौन ?	...	२.५०
हिन्दू कौन ?	...	२.५०
ब्राह्मण कौन ?	...	३.००
योग क्या है ?	...	४.००
सरल बोध	...	४.००
आदेश प्रभा	...	—
कबीर संदेश	...	२.००
श्रीराम-लक्ष्मण प्रश्नोत्तर शतक	...	२.००
बहाना (भावसिंह हिरवानी)	...	१२.५०
माटी का मोह "	...	१५.००
बाल कहानियां "	...	१२.५०
सन्त वचनामृत (अज्ञात)	...	१.२५
ज्ञानगीता (विष्णुदयालु साहेब)	...	४.००
विवेक कौमुदी (रामजपी शर्मा)	...	२.००
पारख पद पुष्पांजलि (डा० नीलमणि)	...	२.५०
जीवन गीत (श्री जीवन साहेब, सजीवन साहेब)	...	३.००
विनय पद (श्री सजीवन साहेब)	...	५.००
मोहभंग नाटक (श्री शुकदेव दास शास्त्री)	...	४.००
पानी में मीन पियासी (श्री अशोक साहेब)	...	१५.००

पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लह मुकामा।
दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा ।।

झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई ।।

एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा ।।

मानुष तेरा गुण बड़ा, माँसु न आवै काज।
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज ।।

पछापछी के कारने, सब जग रहा भुलान।
निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान ।।

समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर।
कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और ।।

वैष्णव संत श्रीमद् नाभादास जी महाराज के उद्‌गार

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी ।।
भक्ति विमुख जो धर्म ताहि अधरम करि गायो।
योग यग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ।।
हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी ।।
आरुढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी ।।

मुद्रक : जे० के० आर्ट प्रेस, इलाहाबाद